

हिंदी-शब्दसागर

अर्थात्

हिंदी भाषा का एक बृहत् कोश



संपादक

श्यामसुंदरदास बी० ए०

सहायक संपादक

रामचंद्र शुक्ल रामचंद्र वर्मा

भगवानदीन



प्रकाशक

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा

१९२५

मूल्य १)

डाकव्यय अतिरिक्त

संकेताक्षरों का विवरण

अं० = अंगरेजी भाषा	गुज० = गुजराती भाषा	पुर्त्त० = पुर्त्तगाली भाषा	लक्ष्मणसिंह = राजा
अ० = अरबी भाषा	गुमान = गुमान मिश्र	पू० हिं० = पूर्वी हिंदी	लक्ष्मणसिंह
अनु० = अनुकरण शब्द	गोपाल = गिरिधरदास	प्रताप = प्रतापनारायण मिश्र	लल्लू = लल्लू लाल
अने० = अनेकार्थनाममाला	(बा० गोपालचंद्र)	प्रत्य० = प्रत्यय	लश० = लशकरी भाषा;
अप० = अपभ्रंश	चरण = चरणचंद्रिका	प्रा० = प्राकृत भाषा	अर्थात् हिंदुस्तानी
अयोध्या = अयोध्यासिंह	चिंतामणि = कवि चिंतामणि	प्रिया = प्रियादास	जहाजियों की बोली
उपाध्याय	त्रिपाठी	प्रे० = प्रेरणार्थक	लाल = लाल कवि (छत्र- प्रकाशवाले)
अर्द्धमा० = अर्द्धमागधी	छीत = छीतस्वामी	प्रे० सा० = प्रेमसागर	लै० = लैटिन भाषा
अल्पा० = अल्पार्थक प्रयोग	जायसी = मलिक मुहम्मद	फ़० = फ़रासीसी भाषा	वि० = विशेषण
अव्य० = अव्यय	जायसी	फ़ा० = फ़ारसी भाषा	विश्राम = विश्रामसागर
आनंदधन = कवि आनंदधन	जावा० = जावा द्वीप की भाषा	बँग० = बँगला भाषा	व्यंग्यार्थ = व्यंग्यार्थकौमुदी
इब० = इबराती भाषा	ज्यो० = ज्योतिष	बरमी० = बरमी भाषा	व्या० = व्याकरण
उ० = उदाहरण	डि० = डिंगल भाषा	बहु० = बहुवचन	व्यास = अंबिकादत्त व्यास
उत्तरचरित = उत्तररामचरित	तु० = तुरकी भाषा	बिहारी = कवि बिहारोलाल	शं० दि० = शंकर दिग्विजय
उप० = उपसर्ग	तुलसी = तुलसीदास	बुं० खं० = बुंदेलखंडी बोली	शृं० सत० = शृंगार सतसई
उभ० = उभयलिंग	तोष = कवि तोष	बेनी = कवि बेनी प्रवीन	सं० = संस्कृत
कठ० उप० = कठवल्ली	दादू = दादूदयाल	भाव = भाववाचक	संयो० = संयोजक अव्यय
उपनिषद्	दीनदयालु = कवि	भूषण = कवि भूषण त्रिपाठी	संयो० क्रि० = संयोज्य क्रिया
कबीर = कबीरदास	दीनदयालु गिरि	मतिराम = कवि मतिराम	स० = सकर्मक
केशव = केशवदास	दुलह = कवि दुलह	त्रिपाठी	सबल = सबलसिंह चौहान
कौंक० = कोंकण देश की भाषा	दे० = देखो	मला० = मलयालम भाषा	सभा० वि० = सभाविलास
क्रि० = क्रिया	देव = देव कवि	मलूक = मलूकदास	सर्व० = सर्वनाम
क्रि० अ० = क्रिया अकर्मक	(मैनपुरीवाले)	मि० = मिलाओ	सुधाकर = सुधाकर द्विवेदी
क्रि० प्र० = क्रियाप्रयोग	देश० = देशज	मुहा० = मुहाविरा	सूदन = सूदन कवि
क्रि० वि० = क्रियाविशेषण	द्विवेदी = महावीरप्रसाद	यू० = यूनानी भाषा	(भरतपुरवाले)
क्रि० स० = क्रिया सकर्मक	द्विवेदी	यौ० = यौगिक तथा दो	सूर = सूरदास
क० = कचित्, अर्थात् इस	नागरी = नागरीदास	वा अधिक शब्दों के पद	खि० = खियों द्वारा प्रयुक्त
का प्रयोग बहुत कम	नाभा = नाभादास	रघु० दा० = रघुनाथदास	खी० = खीलिंग
देखने में आया है	निश्चल = निश्चलदास	रघुनाथ = रघुनाथ बंदीजन	स्पे० = स्पेनी भाषा
खानखाना = अन्दुरहीम	पं० = पंजाबी भाषा	रघुराज = महाराज	हिं० = हिंदी भाषा
खानखाना	पद्माकर = पद्माकर भट्ट	रघुराजसिंह रीवाँनरेश	हनुमान = हनुमन्नाटक
गि० दा० वा गि० दास =	पर्या० = पर्याय	रसखान = सैयद इब्राहीम	हरिदास = स्वामी हरिदास
गिरिधरदास (बा०	पा० = पाली भाषा	रसनिधि = राजा पृथ्वीसिंह	हरिश्चंद्र = भारतेन्दु हरिश्चंद्र
गोपालचंद्र)	पुं० = पुल्लिंग	रहीम = अन्दुरहीम	
गिरिधर = गिरिधरराय	पु० हिं० = पुरानी हिंदी	खानखाना	
(कुंडलियावाले)			

* यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि यह शब्द केवल पद्य में प्रयुक्त है।

† यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि इस शब्द का प्रयोग प्रांतिक है।

‡ यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि शब्द का यह रूप प्राग्य है।

अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर । जाके अस रथ
होइ दृढ़ सुनहु सखा मति भीर ।—तुलसी । (१) सर्व
श्रेष्ठ । सब से बढ़कर । उ०—महामंत्र जोइ जपत महेसू ।
कासी मुकुति हेतु उपदेसू ।—तुलसी । (२) बहुत बड़ा ।
भारी । जैसे—महाबाहु । महासमुद्र । उ०—(क) बुँद
सोखि गो कहा महासमुद्र छीजई ।—केशव । (ख) कहै
पद्माकर सुवास तैं जवास तैं सुफूलन की रास तैं जगी हैं
महा सास तैं ।—पद्माकर ।

विशेष—ब्राह्मण, पात्र, यात्रा, प्रस्थान, तैल और मांस इन
शब्दों में 'महा' शब्द लगाने से इन शब्दों के अर्थ कुत्सित
हो जाते हैं । जैसे—महाब्राह्मण = कट्टहा ब्राह्मण । महा-
पात्र = कट्टहा पात्र । महायात्रा = मृत्यु । महाप्रस्थान =
मृत्यु । महानिद्रा = मृत्यु । महामांस = मनुष्य का मांस ।
महाअरंभ-वि० [सं० महा + रंभ = शोर, हलचल] बहुत शोर ।
बहुत हलचल । उ०—नीर होइ तर ऊपर सोई । महाअरंभ
समुद्र जस होई ।—जायसी ।

महाअहि-संज्ञा पुं० [सं०] शेषनाग ।

महाई-संज्ञा स्त्री० [सं० मथन हि० महना + आई (प्रत्य०)] (१)
मथने का काम । (२) नील की मथाई । नील के रंग को
मथने का काम । (३) मथने का भाव । (४) मथने की
मजदूरी ।

महाउत-संज्ञा पुं० दे० "महावत" । उ०—हूँलै इतै पर मैं
महाउत लाज के आँदू परे गथि पायन ।

महाउर-संज्ञा पुं० दे० "महावर" । उ०—(क) प्यारो लगै यह जाको
सनेह महा उर बीच महाउर को रंग ।—देव । (ख) मोहिं तो
साध महाउर है री महाउर नाइन तोसों दिवाऊँ ।—दास ।
महाकंकर-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार एक बहुत बड़ी
संख्या ।

महाकंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लहसुन । (२) प्याज ।

महाकच्छ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समुद्र । (२) वरुणदेव । (३)
पर्वत । पहाड़ । (४) एक प्राचीन देश का नाम ।

महाकंबु-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

महाकन्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रवरकार ऋषि का नाम ।

महाकपाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक राक्षस का नाम । (२)
शिव के एक अनुचर का नाम ।

महाकपि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव के एक अनुचर का नाम ।
(२) एक बोधिसत्व का नाम ।

महाकपित्थ-संज्ञा पुं० [सं०] बेल का वृक्ष ।

महाकपोत-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार २६ प्रकार के
बहुत ही विषधर साँपों में से एक प्रकार का साँप ।

महाकपोल-संज्ञा पुं० [सं०] शिव के एक अनुचर का नाम ।

महाकरंज-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का करंज जो बड़ा होता

है । इसका व्यवहार औषध रूप में होता है । वैद्यक
में इसे तीक्ष्ण, उष्ण, कटु तथा विष, कंडु, कुष्ठ, व्रण और
त्वचा के दोषों का नाशक माना है ।

पर्या०—हस्तिचारिणी । विपत्री । काकत्री । मदहस्तिनी ।

मधुमती । रसायनी । हस्तिकरंज । काकभांडी । मधुमत्ता ।

महाकर-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम ।

महाकर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] एक नाग का नाम ।

महाकर्ण-संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्तिकेय की एक मातृका का नाम ।

महाकर्णिकार-संज्ञा पुं० [सं०] अमलतास ।

महाकल्प-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार उतना काल जितने

में एक ब्रह्मा की आयु पूरी होती है । ब्रह्म-कल्प । वि०

दे० "कल्प" । उ०—महाकल्पांत ब्रह्मांड मंडल दवन भवन

कैलाश आसीन कासी ।—तुलसी ।

महाकांत-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

महाकांता-संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी ।

महाकांतार-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन देश का नाम ।

महाकाय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव जी का नंदी नामक गण
और द्वारपाल । (२) हाथी ।

महाकार्तिकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्तिक की वह पूर्णिमा जो
रोहिणी नक्षत्र में हो । यह बहुत बड़ी पुण्यतिथि मानी
जाती है ।

महाकाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सृष्टि और प्राणियों का अंत
करनेवाले, महादेव । शिव का एक स्वरूप । उ०—करालं
महाकाल कालं कृपालं ।—तुलसी । (२) समय जो विष्णु
समान अखंड और अनंत है । (३) शिव के एक गण का
नाम । (४) पुराणानुसार शिव के एक पुत्र का नाम ।

विशेष—कालिका पुराण में लिखा कि एक बार देवताओं ने
अग्नि से शिव का वीर्य्य धारण करने के लिये कहा था ।
जब वह वीर्य्य धारण करने लगी, तब उसमें से दो बुँदें
अलग जा पड़ीं जिनसे महाकाल और भृंगी नामक दो पुत्र
उत्पन्न हुए । एक बार इन दोनों पुत्रों ने भवानी को उस
समय देख लिया था जिस समय वे शिव के साथ विहार
करने के उपरांत बाहर निकल रही थीं । भवानी ने इन्हें
शाप दिया जिससे ये दोनों वैताल और भैरव हुए ।

महाकाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) महाकाल स्वरूप शिव की
पत्नी जिसके पाँच मुख और आठ भुजाएँ मानी जाती हैं ।
(२) दुर्गा की एक मूर्ति । (३) शक्ति की एक अनुचरी का
नाम । (४) जैनों के अनुसार सोलह विद्या-देवियों में से
एक जो अवसर्पिणी के पाँचवें अर्हत की देवी हैं ।

महाकालेय-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम ।

महाकाव्य-संज्ञा पुं० दे० "काव्य" ।

महाकाश-संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्वत का नाम ।

महाकुंड-संज्ञा पुं० [सं०] शिव के एक अनुचर का नाम ।
 महाकुमार-संज्ञा पुं० [सं०] राजा का सबसे बड़ा पुत्र । युवराज ।
 महाकुमुदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंभारी ।
 महाकुल-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बहुत उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ हो । कुलीन ।
 महाकुप-संज्ञा पुं० [सं०] कुप के अट्टारह भेदों में से वह जिसमें हाथ-पैर की उँगलियाँ गलकर गिर जाती हैं । गलित कुप ।
 महाकूट-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक देश का नाम ।
 महाकृच्छ्र-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु का एक नाम ।
 महाकृष्ण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का बहुत जहरीला साँप । (२) एक प्रकार का चूहा ।
 महाकेतु-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।
 महाकोश-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।
 महाकोशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम ।
 महाकोशातकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] ननुआँ या घीआ तरोई नाम की तरकारी ।
 महाक्रतु-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत बड़ा यज्ञ । जैसे—राजसूय, अश्वमेध आदि ।
 महाक्रम-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु का एक नाम ।
 महाक्रोध-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।
 महाक्लीतन-संज्ञा पुं० [सं०] शालिपर्णी ।
 महाक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । (२) विष्णु ।
 महाक्षीर-संज्ञा पुं० [सं०] ईख । ऊख ।
 महाक्षेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] कालिका पुराण के अनुसार एक तीर्थ जो सुमदना नदी के पूर्व ब्रह्मक्षेत्र के पश्चिम में है ।
 महाक्षौभ्य-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार एक बहुत बड़ी संख्या ।
 महाखर्व-संज्ञा पुं० [सं०] एक बहुत बड़ी संख्या जो सौ खर्व की होती है ।
 महागंगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत के अनुसार एक नदी का नाम ।
 महागन्ध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुटज । (२) जल-बैत । (३) चंदन ।
 महागन्धा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नागबला । (२) केवड़ा । (३) चामुंडा का एक नाम ।
 महागज-संज्ञा पुं० [सं०] दिग्गज ।
 महागण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महासमुद्र । (२) लोगों का समूह । भीड़ ।
 महागणपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव के एक अनुचर का नाम । (२) गणपति । गणेश ।
 महागति-संज्ञा स्त्री० [सं०] बौद्धों के अनुसार एक बड़ी संख्या ।
 महागद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ज्वर । बुखार । (२) वह रोग जो

कठिनता से अच्छा हो । जैसे—प्रमेह, कोढ़, भगदर, बवा-सीर आदि । (३) एक प्रकार का औषध जो सोंठ, पीपल और गोलमिर्च आदि से बनती है ।

महागर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

महागर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु । (२) शिव । (३) एक दानव का नाम ।

महागिरि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ा पहाड़ । (२) कुबेर के आठ पुत्रों में से एक जो पिता के शिवपूजन के लिये सैँघकर कमल पुष्प लाया था । इसी दोष पर कुबेर से शाप पाकर वह कंस का भाई हुआ था और कृष्ण के हाथों मारा गया था ।

महागीत-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

महागुद-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के कीड़े जो कफ से उत्पन्न होते हैं । (चरक)

महागुनी-संज्ञा पुं०—दे० “महोगनी” ।

महागुल्मा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सोम लता ।

महागोधूम-संज्ञा पुं० [सं०] बड़े दाने का गेहूँ ।

महागोपा-संज्ञा स्त्री० [सं०] शारिवा । अनंतमूल ।

महागौरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा । (२) पुराणानुसार एक नदी जो विंध्य पर्वत से निकली है ।

महाग्रंथिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह औषध जिसके सेवन से रोग निश्चित रूप से रुक जाय और बढ़ने न पावे ।

महाग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] राहु ।

महाग्रीव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । (२) शिव के एक अनुचर का नाम । (३) पुराणानुसार एक देश का नाम । (४) ऊँट ।

महाधूर्णा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुरा । शराब ।

महाधृत-संज्ञा पुं० [सं०] १११ वर्ष का पुराना धी जो बहुत गुणकारी माना जाता है । वैद्यक में इसे कफनाशक, बल-कारक और मेधाजनक माना है ।

महाघोष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भारी शब्द । (२) हाट । बाजार ।

महाघोषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] काकड़ासिंगी ।

महाचंचु-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साग । चेंच ।

महाचंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यम के दूत । (२) शिव के एक अनुचर का नाम ।

वि० प्रचंड । भयानक ।

महाचंडा-संज्ञा स्त्री० [सं०] चामुंडा का एक नाम ।

महाचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक दानव का नाम ।

महाचक्रवर्ती-संज्ञा पुं० [सं० महाचक्रवर्तिन्] बहुत बड़ा चक्र-वर्ती राजा । सम्राट् ।

महाचक्र जल-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार एक पर्वत का नाम ।

महाचक्र-संज्ञा पुं० [सं० महाचक्र] (१) विष्णु । (२) वह जो पदयंत्र रचने में बहुत प्रवीण हो ।

महाचपला-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह आर्या छंद जिसके दोनों दलों में चपला छंद के लक्षण हों ।

महाचार्य-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

महाचित्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अप्सरा का नाम ।

महाचूड़ा-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्कंद की एक मातृका का नाम ।

महाच्छाय-संज्ञा पुं० [सं०] बट वृक्ष । बड़ का पेड़ ।

महाजंवीर-संज्ञा पुं० [सं०] कमला नींबू ।

महाजंजु-संज्ञा पुं० [सं०] बड़ा जामुन ।

महाजंभ-संज्ञा पुं० [सं०] शिव के एक अनुचर का नाम ।

महाजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ा या श्रेष्ठ पुरुष । (२) साधु । (३) धनी व्यक्ति । धनवान । दौलतमंद । (४) रुपए पैसे का लेन देन करनेवाला व्यक्ति । कोठीवाल ।

उ०—बहुत महाजन सकल बोलाए ।—तुलसी । (५) बनिया । उ०—महतो से मुगुल, महाजन से महाराज डाँड़ि लीन्हे पकरि पठान पटवारी से ।—भूषण ।

(६) प्रामाणिक आचरणवाला व्यक्ति । भलामानुस । उ०—पथ सो जाहि महाजन थापै ।—रघुनाथ ।

महाजनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० महाजन + ई प्रत्य०] (१) रुपए के लेन देन का व्यवसाय । हुंडी पुरजे का काम । कोठीवाली ।

(२) एक प्रकार की लिपि जिसमें मात्राएँ आदि नहीं लगाई जातीं । यह लिपि महाजनों के यहाँ बही खाता लिखने में काम आती है । मुड़िया ।

महाजय-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा ।

महाजल-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र । उ०—मलय तनु मिलि लसति सोभा महाजल गंभीर । निरखि लोचन भ्रमत पुनि पुनि धरत नहि मन धीर ।—सूर ।

महाजवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुमार की अनुचरी एक मातृका का नाम । (२) एक नदी का नाम ।

महाजानु-संज्ञा पुं० [सं०] शिव के एक अनुचर का नाम ।

महाजावालि-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक उपनिषद् का नाम ।

महाजिह्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । (२) पुराणानुसार एक दैत्य का नाम ।

महाज्ञानी-संज्ञा पुं० [सं० महाज्ञानिन्] (१) वह जो बड़ा ज्ञानी हो । (२) शिव ।

महाज्योतिष्मती-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी मालकंगनी ।

महाज्वाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हवन की अग्नि । (२) पुराणानुसार एक नरक का नाम । कहते हैं कि जो लोग अपनी पुत्रवधू या कन्या के साथ बसन करते हैं, वे इस नरक में जाते हैं । (३) महादेव ।

महाज्वाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] जैनियों की एक विद्यादेवी का नाम ।

महातत्त्व-संज्ञा पुं०—दे० “महत्तत्त्व” । उ०—(क) त्रिगुण तत्त्व ते महातत्त्व, महातत्त्व ते अहंकार । मन इन्द्रिय शब्दादि पंची ताते किए विस्तार ।—सूर । (ख) देव, प्रकृति महातत्त्व सद्वादि गुण देवता व्यौम मरुदग्नि अनिलांशु उर्वी ।—तुलसी ।

महातप्तकृच्छ्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक व्रत जिसमें तीन दिन तक गरम दूध, गरम घी या गरम जल पीकर चौथे दिन उपवास किया जाता है ।

महातम-संज्ञा पुं०—दे० “माहात्म्य” । उ०—(क) करि प्रणाम देखत बन बागा । कहत महातम अति अनुरागा ।—तुलसी । (ख) सब सुखनिधि हरि नाम महातम पायो है नाहिन पहिचानत ।—सूर ।

महातल-संज्ञा पुं० [सं०] चौदह भुवनों में से पृथ्वी के नीचे का पाँचवाँ भुवन वा तल । उ०—अतल वितल अरु सुतल तलातल और महातल जान । पाताल और रसातल मिलि सातौ भुवन प्रमान ।—सूर ।

महातारा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बौद्धों की एक देवी का नाम ।

महातित-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महानिब । बकायन । (२) चिरायता ।

महातीक्ष्ण-वि० [सं०] (१) अत्यंत तीक्ष्ण या तेज़ । (२) बहुत कड़वा या झालदार ।

संज्ञा पुं० भिलावाँ ।

महातेज-संज्ञा पुं० [सं० महातेजस्] (१) शिव । (२) पारा ।

महात्मा-संज्ञा पुं० [सं० महात्मन्] (१) वह जिसकी आत्मा या आशय बहुत उच्च हों । वह जिसका स्वभाव, आचरण और विचार आदि बहुत उच्च हों । महानुभाव । (२) बहुत बड़ा साधु, संन्यासी या विरक्त । (३) दुष्ट । पाजी । (व्यंग्य) (४) परमात्मा । (५) पितरों का एक गण । (६) महादेव । शिव । (७) महत्तत्त्व ।

महात्रिफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] बहेड़ा, आँवला और हड़ इन तीनों का समूह ।

महात्याग-संज्ञा पुं० [सं०] दान ।

महात्यागी-संज्ञा पुं० [सं० महात्यागिन्] शिव ।

महादंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यम के हाथ का दंड । (२) यम के दूत ।

महादंडधारी-संज्ञा पुं० [सं० महादंडधारिन्] यमराज । उ०—करै कोतवाली महादंडधारी । सका सेवमाला, शिखी पाक कारी ।—केशव ।

महादंत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव । (२) हाथी-दाँत ।

महादंता-संज्ञा स्त्री० [सं०] नागबेल ।

महादंष्ट्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव । शंकर । (२) एक राक्षस का नाम । (३) विद्याधर ।

महादान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार तुला पुरुष, सोने की गौ या घोड़ा आदि तथा पृथ्वी, हाथी, रथ, कन्या आदि पदार्थों का दान जिससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है । (२) वह दान जो ग्रहण आदि के समय ढोमों, चमारों आदि छोटी जातियों को दिया जाता है ।

महादारु-संज्ञा पुं० [सं०] देवदार ।

महादूत-संज्ञा पुं० [सं०] यमदूत ।

महादूषक-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का धान ।

महादेव-संज्ञा पुं० [सं०] शंकर । शिव ।

महादेवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा । (२) राजा की प्रधान पत्नी या पटरानी की एक पदवी जो हिन्दू काल में भारत में प्रचलित थी ।

महादैत्य-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार भौत्य मन्वन्तर के एक दैत्य का नाम ।

महाद्रावक-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का औषध जो सोनामक्खी, रसांजन, समुद्रफेन, सजी आदि से बनाया जाता है ।

महाद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अश्वत्थ । पीपल । (२) ताड़ । (३) महुआ । (४) पुराणानुसार एक वर्ष या देश का नाम ।

महाद्रोण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । (२) सुमेरु पर्वत ।

महाद्रोणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] द्रोणपुष्पी ।

महाद्वीप-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी का वह बड़ा भाग जो चारों ओर नैसर्गिक सीमाओं से घिरा हुआ हो और जिसमें अनेक देश हों और अनेक जातियाँ बसती हों । जैसे—एशिया, अफ्रीका आदि (आधुनिक भूगोल) ।

महाधन-वि० [सं०] (१) बहुमूल्य । अधिक मूल्य का । उ०—(क) बाहु विशाल ललित सायक धनु कर कंकन केयूर महाधन ।—गुलसी । (ख) तहाँ राजत निज बीर शेषनाग तारें तर कूरम बरात महाधन धीर ।—सूर । (२) बहुत धनी । संज्ञा पुं० (१) स्वर्ण । सोना । (२) धूप । सुगंध धूप । (३) कृषि । खेती ।

महाधिपति-संज्ञा पुं० [सं०] तांत्रिकों के एक देवता का नाम ।

महाध्वनि-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक दानव का नाम ।

महाध्वनिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो पुण्य कार्य के लिये हिमालय में गया हो, और वहाँ मर गया हो ।

महान्-वि० [सं०] बहुत बड़ा । विशाल । जैसे—देशसेवा का कार्य महान् है, जो सब लोग नहीं कर सकते ।

महानंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मगध देश का एक प्रतापी राजा जिसके डर से सिकंदर आगे न बढ़कर पंजाब ही से अपने

देश को लौट गया था । (२) दस अंगुल की मुरली । इस वाद्य के देवता ब्रह्मा माने गए हैं । (३) मुक्ति । मोक्ष ।

महानंदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुरा । शराब । (२) माघ शुक्ल नवमी । इस तिथि को दान, होम और व्रत आदि करने का विधान है । (३) बंगाल की एक छोटी नदी का नाम जो हिमालय के अंतर्गत दार्जिलिंग से निकली है ।

महानक-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का बाजा जिस पर चमड़ा मढ़ा होता था ।

महानग्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रेमी । प्रेम करनेवाला । (२) स्त्री का यार । उपपत्ति । जार । (३) प्राचीन काल का एक राजकर्मचारी जो बहुत ऊँचे पद पर होता था ।

महानट-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

महानद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक नद का नाम । (२) एक तीर्थ का नाम ।

महानवमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] आश्विन शुक्ल नवमी । आश्विन के नवरात्र की नवमी ।

महानस-संज्ञा पुं० [सं०] पाकशाला । रसोईघर ।

महानाटक-संज्ञा पुं० [सं०] नाटक के लक्षणों से युक्त दस अंकोंवाला नाटक ।

वि०—दे० “नाटक” ।

महानाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथी । (२) ऊँट । (३) सिंह । (४) मेघ । बादल । (५) शंख । (६) बड़ा ढोल । (७) महादेव । शिव ।

महानाम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का मंत्र जिससे शत्रु के फेंके हुए शस्त्र व्यर्थ जाते हैं । उ०—पद्मनाभ अरु महानाम दोउ द्वंदहु नाभ सुनाभा ।—रघुनाथ । (२) एक दानव का नाम । (३) पुराणानुसार हिरण्यकशिपु के एक पुत्र का नाम ।

महानारायण-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

महानास-संज्ञा पुं० [सं०] महादेव ।

महानिब-संज्ञा पुं० [सं०] वकायन ।

महानिद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मृत्यु । मरण । मौत ।

महानिधान-संज्ञा पुं० [सं०] बुभुक्षित धातुभेदी पारा जिसे “बावन तोला पाव रत्ती” भी कहते हैं । उ०—महाराज का कल्याण हो, आपकी कृपा से महानिधान सिद्ध हुआ । आपको बधाई है ।—हरिश्चंद्र ।

महानियम-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

महानियुत-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार एक बहुत बड़ी संख्या का नाम ।

महानिरय-संज्ञा पुं० [सं०] एक नरक का नाम ।

महानिर्वाण-संज्ञा पुं० [सं०] परिनिर्वाण जिसके अधिकारी केवल अर्हत् या बुद्ध गण माने जाते हैं ।

महानिशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रात्रि का मध्य भाग। आधी रात। (२) कल्पांत या प्रलय की रात्रि।

महानिशीय-संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के एक संप्रदाय का नाम।

महानीच-संज्ञा पुं० [सं०] धोबी।

महानीवू-संज्ञा पुं० [सं० महा + हिं० नीवू] विजौरा जीवू।

महानीम-संज्ञा स्त्री० [सं० महानिव] (१) बकायन। (२) तुन का पेड़।

महानील-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भृंगराज पक्षी। (२) एक प्रकार का नीलम जो सिंहल द्वीप में होता है। (३) एक प्रकार का गुग्गुलु। (४) एक पर्वत का नाम जो मेरु पर्वत के पास माना जाता है। (५) एक प्रकार का साँप। एक नाग का नाम।

महानीली-संज्ञा स्त्री० [सं०] नीली अपराजिता।

महानुभाव-संज्ञा पुं० [सं०] कोई बड़ा और आदरणीय व्यक्ति। महापुरुष। महाशय।

महानुभावता-संज्ञा स्त्री० [सं०] महानुभाव होने का भाव। बड़प्पन। उ०—यह आपकी महानुभावता है कि आपने अपनी गलती मान ली।

महानृत्य-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महानेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महानेमि-संज्ञा पुं० [सं०] कौआ।

महापंचमूल-संज्ञा पुं० [सं०] बेल, अरनी, सोनापादा, काश्मरी और पाटला इन पाँचों वृक्षों की जड़ों का समूह जिसका व्यवहार वैद्यक में होता है।

महापंचविष-संज्ञा पुं० [सं०] शृंगी, कालकूट, मुस्तक, बलनाग और शंखकर्णी इन पाँचों विषों का समूह।

महापंचांगुल-संज्ञा पुं० [सं०] लाल अडी का वृक्ष।

महापद्म-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गरुड़। (२) उल्लू। (३) एक प्रकार का राजहंस।

महापगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नदी का नाम।

महापथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत लंबा और चौड़ा रास्ता। राजपथ। (२) याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार २१ नरकों में से १६ वाँ नरक। (३) परलोक का मार्ग। मृत्यु। मौत। (४) सुषुम्ना नाड़ी। (५) हिमालय के एक तीर्थ का नाम। (६) शिव।

महापथगमन-संज्ञा पुं० [सं०] मरण। देहांत।

महापथिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो मरने के उद्देश्य से हिमालय पर्वत पर जाय।

महापद्म-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नौ निधियों में से एक निधि। (२) आठ दिग्गजों में से एक दिग्गज जो दक्षिण दिशा में स्थित है। (३) हाथी की एक जाति। (४) फनवाली जाति के अंतर्गत एक प्रकार का साँप। (५) एक प्रकार का दैत्य।

(६) सफेद कमल। (७) महाभारत काल के एक नगर का नाम जो गंगा के किनारे पर था। (८) सौ पद्म की संख्या। (९) कुबेर के अनुचर एक किन्नर का नाम।

महापद्म-संज्ञा पुं० [सं०] महाकाव्य।

महापनस-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का साँप।

महापर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का शाल वृक्ष।

महापवित्र-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

महापातक-संज्ञा पुं० [सं०] मनु के अनुसार पाँच बहुत बड़े पाप जो ये हैं—ब्रह्महत्या, मद्यपान, चोरी, गुरु की पत्नी के साथ व्यवहार और ये सब पाप करनेवालों का साथ करना। कहते हैं कि जो लोग ये महापातक करते हैं, वे नरक भोगने के उपरांत भी सात जन्म तक घोर कष्ट भोगते हैं।

महापातकी-संज्ञा पुं० [सं० महापातकिन्] वह जिसने महापातक किया हो।

महापात्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महाब्राह्मण वा कहला ब्राह्मण जो मृतक कर्म का दान लेता है। (२) महामंत्री। प्रधान मंत्री।

महापाद-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महापाय-संज्ञा पुं० [सं०] महापातक।

महापार्श्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक दानव का नाम। (२) एक राक्षस का नाम।

महापाश-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्रकार का यमदूत।

महापाशुपत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वकुल। मौलसिरी। (२) शैवों का एक प्राचीन संप्रदाय जिसमें पशुपति की उपासना होती थी।

महापासक-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्ध भिक्षुक। भ्रमण।

महापितृयज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का श्राद्ध या पितृयज्ञ जो शाकमेध में दूसरे दिन होता था।

महापीठ-संज्ञा पुं० दे० "पीठ"।

महापीलु-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पीलु वृक्ष।

महापुट-संज्ञा पुं० [सं०] भावप्रकाश के अनुसार रस आदि तैयार करने का एक प्रकार जिसमें दो हाथ लंबा, दो हाथ चौड़ा और दो हाथ गहरा एक गड्ढा खोदकर उसमें एक हजार उपले रखते हैं; और उन उपलों पर मिट्टी के बर्तन में ओषधि आदि डालकर उसका मुँह बंद करके रख देते हैं; और तब ऊपर से पाँच सौ उपले रखकर आग लगा देते हैं।

महापुण्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्त्व का नाम।

महापुण्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक नदी का नाम।

महापुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] लड़के का पुत्र। पोता।

महापुमान्-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक पर्वत का नाम।

महापुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह नगर जो दुर्ग आदि से भली भाँति रक्षित हो। (२) महाभारत के अनुसार एक तीर्थ का नाम।

महापुराण-संज्ञा पुं० दे० “पुराण”।

महापुरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] राजधानी।

महापुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुंद का वृक्ष। (२) काला मूँग। (३) लाल कनेर। (४) सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का कीड़ा।

महापुष्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अपराजिता।

महापुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नारायण। (२) श्रेष्ठ पुरुष। महात्मा। महानुभाव। (३) दुष्ट। पाजी। (व्यंग्य)

महापूजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा की वह पूजा जो आश्विन के नवरात्र में होती है।

महापृष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऋग्वेद के एक अनुवाक का नाम जो अश्वमेध यज्ञ के संबंध में है। (२) ऊँट।

महाप्रकृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार दुर्गा का एक नाम जो सृष्टि का मूल कारण मानी जाती है।

महाप्रजापति-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

महाप्रतिहार-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक उच्च कर्मचारी जो प्रतिहारों अथवा नगर या प्रासाद की रक्षा करने वाले चौकीदारों का प्रधान होता था।

महाप्रभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक नदी का नाम।

महाप्रभु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बलभाचार्य जी की एक आदर-सूचक पदवी। (२) बंगाल के प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य चैतन्य की एक आदरसूचक पदवी। (३) ईश्वर। (४) शिव। (५) इंद्र। (६) विष्णु। (७) राजा। (८) संन्यासी या साधु।

महाप्रलय-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार वह काल जब संपूर्ण सृष्टि का विनाश हो जाता है और अनंत जल के अतिरिक्त कुछ भी बाकी नहीं रहता। ऐसा समय प्रत्येक कल्प अथवा ब्रह्मा के दिन के अंत में आता है। वि० दे० “प्रलय”।

महाप्रसाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईश्वर या देवताओं का प्रसाद। (२) जगन्नाथ जी का चढ़ा हुआ भात। (३) मांस। (व्यंग्य) (४) अखाद्य पदार्थ। (व्यंग्य)

महाप्रसूत-संज्ञा पुं० [सं०] एक बहुत बड़ी संख्या का नाम।

महाप्रस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शरीर त्यागने की कामना से हिमालय की ओर जाना। (२) मरण। देहांत।

महाप्राण-संज्ञा पुं० [सं०] व्याकरण के अनुसार वह वर्ण जिसके उच्चारण में प्राण वायु का विशेष व्यवहार करना पड़ता है। वर्णमाला में प्रत्येक वर्ग का दूसरा तथा चौथा अक्षर महाप्राण है जैसे—

कवर्ग का—ख, घ।

चवर्ग का—छ, क्ष।

टवर्ग का—ठ, ड।

तवर्ग का—थ, ध।

पवर्ग का—फ, भ।

महाबल-वि० [सं०] (१) अत्यंत बलवान्। बहुत बड़ा ताकतवर। उ०—(क) भीष्म कहत मेरे अनुमान हनुमान सारिखो त्रिकाल न त्रिलोक महाबल भो।—तुलसी। (ख) सत मति जय जय धारि त्रिपृष्ठ भट चलयौ महाबल।—गोपाल। (ग) मेघनाद से पुत्र महाबल कुंभकरण से भाई।—सूर।

संज्ञा पुं० (१) पितरों के एक गण का नाम। (२) बुद्ध। (३) तामस और रौच्य मन्वन्तर के इंद्र का नाम। (४) वायु। (५) शिव के एक अनुचर का नाम। (६) एक नाग का नाम। (७) सीसा।

महाबली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सहदेवी नाम की जड़ी। पीली सहदेइया। (२) पिप्पली। पीपल। (३) धौ। (४) नील का पौधा। (५) कार्तिकेय की एक मातृका का नाम। (६) एक बहुत बड़ी संख्या का नाम।

महाबलि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकाश। (२) गुफा। (३) मन। **महाबाहु-वि०** [सं०] (१) लंबी भुजावाला। (२) बली। बलवान्।

संज्ञा पुं० (१) धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम। (२) एक राक्षस का नाम। (३) विष्णु का एक नाम।

महाबुद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के बुद्ध जो साधारण बुद्धों से श्रेष्ठ माने जाते हैं।

महाबुद्धि-वि० [सं०] (१) बहुत बुद्धिमान्। (२) धूर्त।

महाबृहती-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक छंद जो तीन पाद का होता है और जिसके प्रत्येक पाद में १२ वर्ण होते हैं।

महाबोधि-संज्ञा पुं० [सं०] बुद्धदेव।

महाब्राह्मण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह ब्राह्मण जो सतक कृत्य का दान लेता हो। कट्टहा। (साधारणतः लोक में ऐसा ब्राह्मण निन्दित माना जाता है।) (२) निकृष्ट ब्राह्मण।

महाभद्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक पर्वत का नाम। (१) पुराणानुसार मेरु पर्वत के उत्तर के एक सरोवर का नाम।

महाभद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गंगा। (२) कामरी।

महाभय-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार अधर्म के एक पुत्र का नाम जो निर्कृति के गर्भ से उत्पन्न हुआ था।

महाभया-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक नदी का नाम।

महाभाग-वि० [सं०] भाग्यवान्। क्लृप्तवर।

महाभागवत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बारह महाभक्त अर्थात् मनु, सनकादि, नारद, जनक, कपिल, ब्रह्मा, बलि, भीष्म, प्रह्लाद, शुकदेव, धर्मराज और शंभु। (२) २६ मात्राओं के छंदों की संज्ञा। (३) परम वैष्णव। (४) दे० “भागवत” (पुराण)।

महाभाग-संज्ञा स्त्री० [सं०] दाक्षायिणी का एक नाम ।

महाभारत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक परम प्रसिद्ध प्राचीन ऐति-

हासिक महाकाव्य जिसमें कौरवों और पांडवों के युद्ध का वर्णन है । यह ग्रंथ आदि, सभा, वन, विराट्, उद्योग, भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य, सौप्तिक, स्त्री, शांति, अनुशासन, अश्वमेध, आश्रमवासी, मौसल, महाप्रस्थान और स्वर्गारोहण इन अठारह पर्वों में विभक्त है । कुछ लोग हरिवंश पुराण को भी इसी के अंतर्गत और इसका अंतिम अंश मानते हैं । इस ग्रंथ में लगभग ८०-९० हजार श्लोक हैं । ऐतिहासिक और धार्मिक दोनों दृष्टियों से इस ग्रंथ का महत्त्व बहुत अधिक है । यों तो महाभारत ग्रंथ कौरव-पांडव युद्ध का इतिहास ही है, पर इसमें वैदिक काल की यज्ञों में कही जानेवाली अनेक गाथाओं और आख्यानों आदि के संग्रह के अतिरिक्त धर्म, तत्त्वज्ञान, व्यवहार, राजनीति आदि अनेक विषयों का भी बहुत अच्छा समावेश है । कहते हैं कि कौरव-पांडव युद्ध के उपरान्त व्यासजी ने "जय" नामक ऐतिहासिक काव्य की रचना की थी । वैशंपायन ने उसे और बढ़ाकर इसका नाम "भारत" रखा । सब के पीछे सौति ने उसमें और भी बहुत सी कथाओं आदि का समावेश करके उसे वर्तमान रूप देकर महाभारत बना दिया । महाभारत में जिन बातों का वर्णन है, उनके आधार पर एक ओर तो यह ग्रंथ वैदिक साहित्य तक जा पहुँचता है; और दूसरी ओर जैनों तथा बौद्धों के आरंभिक काल के साहित्य से आ मिलता है । हिंदू इसे बहुत ही प्रामाणिक धर्मग्रंथ मानते हैं । (२) कोई बहुत बड़ा ग्रंथ । (३) कौरवों और पांडवों का प्रसिद्ध युद्ध जिसका वर्णन उक्त महाकाव्य में है । (४) कोई बड़ा युद्ध या लड़ाई-झगड़ा । जैसे—यूरोपीय महाभारत ।

महाभाष्य-संज्ञा पुं० [सं०] पाणिनि के व्याकरण पर पतंजलि का लिखा हुआ प्रसिद्ध भाष्य ।

महाभिजु-संज्ञा पुं० [सं०] भगवान् बुद्ध ।

महाभीत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा शांतनु का एक नाम ।

(२) शिव के भृंगी नामक द्वारपाल का एक नाम ।

महाभीत-संज्ञा पुं० [सं०] लजालू ।

महाभीम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा शांतनु का एक नाम ।

(२) शिव के भृंगी नामक द्वारपाल का एक नाम ।

महाभीरु-संज्ञा पुं० [सं०] ग्वालिन नाम का बरसाती कीड़ा ।

महाभीष्म-संज्ञा पुं० [सं०] राजा शांतनु का एक नाम ।

महाभुज-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसकी बाँहें बहुत लंबी हों । आजानुबाहु ।

महाभूत-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पंचतत्त्व । उ०—कालहू के काल महाभूतनि के महाभूत,

करम के करम निदान के निदान हौ ।—तुलसी । वि० दे० "भूत" ।

महाभृंग-संज्ञा पुं० [सं०] नीले फूलवाला भँगरा ।

महाभैरव-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

महाभैरवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] तांत्रिकों के अनुसार एक विद्या का नाम ।

महाभोग-संज्ञा पुं० [सं०] साँप ।

महाभोगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा ।

महाभोगी-संज्ञा पुं० [सं०] महाभोगिन् । बड़े फनवाला साँप ।

महामंत्री-संज्ञा पुं० [सं०] राजा का प्रधान या सब से बड़ा मंत्री ।

महामति-वि० [सं०] जो बहुत बड़ा बुद्धिमान् हो ।

संज्ञा पुं० (१) गणेश । (२) एक यक्ष का नाम । (३) एक बोधिसत्व का नाम ।

महामद-संज्ञा पुं० [सं०] मस्त हाथी ।

महामयूरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बौद्धों की एक देवी का नाम ।

महामह-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत बड़ा उत्सव । महोत्सव ।

महामहोपाध्याय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गुरुओं आ गुरु । बहुत बड़ा गुरु । (२) एक प्रकार की उपाधि जो आज कल भारत में संस्कृत के विद्वानों को ब्रिटिश सरकार की ओर से मिलती है ।

महामांस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गोमांस । गौ का गोदत । (२) मनुष्य का मांस ।

विशेष—कुछ लोग मनुष्य, गौ, हाथी, घोड़े, भैंस, सूअर, ऊँट और साँप इन आठ जीवों के मांस को महामांस मानते हैं । महामांस खाना परम निषिद्ध कहा गया है ।

महामार्ग-संज्ञा स्त्री० [सं०] महा + हिं० मार्ग । (१) दुर्गा । (२) काली ।

महामात्य-संज्ञा पुं० [सं०] राजा का प्रधान या सब से बड़ा अमात्य । महामंत्री ।

महामात्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महामात्य । (२) महावत । (३) हाथियों का निरीक्षक ।

वि० (१) प्रधान । बड़ा । (२) समृद्ध । संपन्न । (३) धनवान् । अमीर ।

महामातसिका, महामानसी-संज्ञा स्त्री० [सं०] जैनियों की एक देवी का नाम ।

महामाया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रकृति । (२) दुर्गा । (३) गंगा । (४) शुद्धोदन की पत्नी और बुद्ध की माता का नाम । (५) आर्या छंद का तेरहवाँ भेद जिसमें १५ गुरु और २७ लघु वर्ण होते हैं ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु । (२) शिव । (३) एक असुर का नाम । (४) एक विद्याधर का नाम । वि० मायावी ।

महामारी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह संक्रामक और भीषण रोग जिससे एक साथ ही बहुत से लोग मरें। ववा। मरी। जैसे—हैजा, चेचक, डेन्ग इत्यादि। (२) महाकाली का एक नाम।

महामाल—संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महामालिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] नाराच छंद का एक नाम।

महामाष—संज्ञा पुं० [सं०] राजमाष। बड़ा उड़द।

महामाषतैल—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का तेल जो साधारण तिल के तेल में चने की दाल, दशमूल और बकरी का मांस आदि मिलाकर पकाने से बनता है।

महामुंड—संज्ञा पुं० [सं०] बोल नामक गंध-द्रव्य।

महामुंडनिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] गोरखमुंडी।

महामुख—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुंभीर नामक जल-जंतु। (२) नदी का मुहाना। वह स्थान जहाँ नदी गिरती है। (३) महादेव।

महामुद्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) योग में अनुसार एक प्रकार की मुद्रा या अंगों की स्थिति। (२) एक बहुत बड़ी संख्या का नाम।

महामुनि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुनियों में श्रेष्ठ। बहुत बड़ा मुनि। (२) कपटी व्यक्ति। ठग। धोखेवाज। (व्यंग्य) (३) अगस्त्य ऋषि। (४) बुद्ध। (५) कृपाचार्य्य। (६) काल। (७) व्यास। (८) एक जिन का नाम। (९) तुंबुरु का वृक्ष।

महामूर्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] विष्णु।

महामूल—संज्ञा पुं० [सं०] प्याज।

महामूल्य—संज्ञा पुं० [सं०] माणिक।

वि० (१) जिसका मूल्य बहुत अधिक हो। बहुमूल्य। (२) महंगा।

महामृग—संज्ञा पुं० [सं०] हाथी।

महामृत्युंजय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) शिवजी का एक मंत्र। कहते हैं कि इसके जप से अकाल मृत्यु टल जाती और आयु बढ़ती है।

महामेघ—संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महामेद—संज्ञा पुं० दे० “महामेदा”।

महामेदा—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का कंद जो मौरंग देश में पाया जाता है। यह देखने में अदरक के समान होता है। इसकी लता चलती है। वैद्यक में इसे शीतल, रुचिकर, कफ और शुक्र को बढ़ानेवाली, दाह, रक्तपित्त, क्षय, वात, और शुक्र को नाश करनेवाली माना है।

विशेष—यह जड़ी आजकल नहीं मिलती। इसके स्थान पर च्यवनप्राश आदि में दूसरी ओषधि डालते हैं।

पर्या०—देवमणि। वसुच्छिद्रा। देवेष्ट। सुरमेदा। दिव्या। त्रिदंती। सोमा।

महामैत्र—संज्ञा पुं० [सं०] एक बुद्ध का नाम।

महामोदकारी—संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्णिक वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में ६ यगण होते हैं। इसका दूसरा नाम क्रीड़ाचक्र भी है।

महामोह—संज्ञा पुं० [सं०] सांसारिक सुखों के भोग की इच्छा जो अधिद्या का रूपांतर मानी गई है।

महामोहा—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

महायज्ञ—वि० [सं० महा] महान्। बहुत। अधिक। ज्यादा। उ०—(क) तीसर अपनो रूप रचि व्यंकट शैल धराय। कही सकल शिष्यन करहु यामें प्रीति महाय।—रघुराज। (ख) याके सनमुख हम दौऊ बैठी रूप बनाय। हमपै तनक तकै नहीं अचरज लगत महाय।—रघुराज।

महायज्ञ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञों का राजा। (२) एक प्रकार के बौद्ध देवता।

महायज्ञ—संज्ञा पुं० [सं०] हिंदू धर्मशास्त्र के अनुसार नित्य किए जानेवाले कर्म। जो मुख्यतः पाँच हैं—(१) ब्रह्मयज्ञ = संध्योपासन, (२) देवयज्ञ = हवन, (३) पितृयज्ञ = तर्पण, (४) भूतयज्ञ = बलि और (५) नृयज्ञ = अतिथि-सत्कार।

विशेष—इन पाँचों कर्मों के नित्य करने का विधान है। कहते हैं कि मनुष्य नित्य जो पाप करता है, उनका नाश इन यज्ञों के अनुष्ठान से हो जाता है।

महायम—संज्ञा पुं० [सं०] यमराज।

महायात्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] मृत्यु। मौत।

महायान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक विद्याधर का नाम। (२) बौद्धों के तीन मुख्य संप्रदायों में से एक संप्रदाय जो महात्मा बुद्धदेव के परिनिर्वाण के थोड़े ही दिनों बाद उनके शिष्यों और अनुयायियों में मतभेद होने के कारण चला था। इसका प्रचार नैपाल, तिब्बत, चीन, जापान आदि उत्तरीय देशों में है जहाँ इसमें तंत्र भी बहुत कुछ मिला हुआ है। जिस प्रकार शिव की शक्तियाँ हैं, उसी प्रकार बुद्ध की कई शक्तियाँ या देवियाँ हैं जिनकी उपासना की जाती है।

महायाम—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम।

महायाम्य—संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

महायुग—संज्ञा पुं० [सं०] सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि इन चारों युगों का समूह जो देवताओं का एक युग माना जाता है।

महायुत—संज्ञा पुं० [सं०] एक बड़ी संख्या जो सौ अयुत की होती है।

महायुध—संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महायोगेश्वर—संज्ञा पुं० [सं०] पितामह, पुलस्त्य, वसिष्ठ, पुलह, अंगिरा, क्रतु और कश्यप जो बहुत बड़े ऋषि और योगी माने जाते हैं।

महायोगेश्वरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा। (२) नागदमनी।

महायोनि—संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक के अनुसार स्त्रियों का एक प्रकार का रोग जिसमें उनकी योनि बहुत बढ़ जाती है।

महायौगिक-संज्ञा पुं० [सं०] २९ मात्राओं के छंदों की संज्ञा।
महारंभ-वि० [सं०] जिसका आरंभ करने में बहुत अधिक यत्न करना पड़े। बहुत बड़ा। उ०—सच है, छोटे जी के लोग थोड़े ही कामों में ऐसा घबरा जाते हैं मानो सारे संसार का बोझ इन्हीं पर है। पर जो बड़े लोग हैं, उनके सब काम महारंभ होते हैं; तब भी उनके मुख पर कहीं से व्याकुलता नहीं झलकती।—हरिश्चंद्र।

महारक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बौद्धों के अनुसार महाप्रतिसरा, महामायूरी, महासहस्रप्रमर्दिनी, महाशीतवती और महामंत्रानुसारिणी ये पाँच देवियाँ।

महारक्त-संज्ञा पुं० [सं०] मूँगा।

महारजत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोना। सुवर्ण। (२) धतूरा।

महारजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुसुम का फूल। (२) सोना।

महारत-संज्ञा स्त्री० [का०] अभ्यास। मक्क।

महारत्न-संज्ञा पुं० [सं०] मोती, हीरा, वैदूर्य, पद्मराग, गोमेद, पुष्पराग (पुखराज), पन्ना, मूँगा और नीलम इन नौ रत्नों में से कोई रत्न।

महारत्नवर्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] तांत्रिकों की एक देवी का नाम।

महारथ-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत भारी योद्धा जो अकेला दस हजार योद्धाओं से लड़ सके। उ०—पूरण प्रकृति सात धीर वीर हैं विलयात रथी महारथी अतिरथी रण साज कै।—रघुराज।

महारथी-संज्ञा पुं० दे० “महारथ”।

महारथ्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] चौड़ा रास्ता। सड़क।

महारस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काँजी। (२) खजूर। (३) कसेरू। (४) ऊख। (५) पारा। (६) कांतीसार लोहा। (७) ईंगुर। (८) सोनामक्खी। (९) रूपामक्खी। (१०) अन्नक। (११) जामुन का वृक्ष।

महाराज-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० महारानी] (१) राजाओं में श्रेष्ठ। बहुत बड़ा राजा। (२) ब्राह्मण, गुरु, धर्माचार्य या और किसी पूज्य के लिये एक संबोधन। (३) एक उपाधि जो आधुनिक भारत में ब्रिटिश सरकार की ओर से बड़े बड़े राजाओं को दी जाती है।

महाराजाधिराज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत बड़ा राजा। अनेक राजाओं में श्रेष्ठ। (२) एक प्रकार की पदवी जो ब्रिटिश भारत में सरकार की ओर से बड़े राजाओं को मिलती है।

महाराजिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के देवता जिनकी संख्या कुछ लोगों के मत से २२६ और कुछ लोगों के मत से ४००० है।

महाराज्ञी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा। (२) महारानी।

महाराज्य-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत बड़ा राज्य। साम्राज्य।

३६२

महाराणा-संज्ञा पुं० [सं० महा + हि० राणा] मेवाड़, चित्तौर और उदयपुर के राजाओं की उपाधि।

महारात्रि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) महाप्रलयवाली रात, जब कि ब्रह्मा का लय हो जाता है और दूसरा महाकल्प होता है। (२) तांत्रिकों के अनुसार ठीक आधी रात बीतने पर दो सुहृत्तों का समय जो बहुत ही पवित्र समझा जाता है। कहते हैं कि इस समय जो पुण्य-कृत्य किया जाता है, उसका फल अक्षय होता है। (३) दुर्गा।

महारावण-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार वह रावण जिसके हजार मुख और दो हजार भुजाएँ थीं। अद्भुत रामायण के अनुसार इसे जानकी जी ने मारा था।

महारावल-संज्ञा पुं० [सं० महा + हि० रावल] जैसलमेर, डूंगरपुर आदि राज्यों के राजाओं की उपाधि।

महाराष्ट्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दक्षिण भारत का एक प्रसिद्ध प्रदेश जो अरब सागर के तट पर, गुजरात के दक्षिण, कर्णाट के उत्तर और तैलंग प्रदेश के पश्चिम में है। कोंकण प्रदेश इसी का दक्षिणी भाग है। बहुत प्राचीन काल में इस प्रदेश का उत्तरी भाग दण्डक वन कहलाता था। यहाँ सातवाहन, चालुक्य, कलचुरी और यादव आदि वंशों का बहुत दिनों तक राज्य था। मुसलमानों के राजत्व काल में यहाँ बहमनी, निज़ामशाही और कुतुबशाही आदि वंशों का राज्य था। पीछे सुप्रसिद्ध वीर महाराज शिवा जी ने इस देश में अपना साम्राज्य स्थापित किया था। यह प्रदेश आधुनिक बंबई प्रांत के लगभग है और यहाँ के निवासी भी महाराष्ट्र कहलाते हैं। (२) इस देश के निवासी, विशेषतः ब्राह्मण निवासी। (३) बहुत बड़ा राष्ट्र। जैसे—अमेरिकन महाराष्ट्र।

महाराष्ट्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की प्राकृत भाषा जो प्राचीन काल में महाराष्ट्र देश में बोली जाती थी। (२) महाराष्ट्र की आधुनिक देशभाषा। (३) जल-पीपल।

महारुद्र-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महारूप-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महारूपक-संज्ञा पुं० [सं०] नाटक।

महारुरु-संज्ञा पुं० [सं०] मृगों की एक जाति।

महारुख-संज्ञा पुं० [सं० महावृक्ष] (१) धूहर। सेंहुड़। स्नुही। (२) एक जंगली वृक्ष जो बहुत सुंदर होता है। इसकी लकड़ी से आरायशी सामान बनता है। इसकी छाल में सुगंध होती है। मद्रास और मध्य प्रदेश में यह अधिकता से पाया जाता है।

महारोग-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत बड़ा रोग। जैसे,—पागलपन, कोढ़, तपेदिक, दमा, भगंदर आदि। कहते हैं कि इस प्रकार के रोग पूर्व जन्म के पापों के परिणाम-स्वरूप होते

हैं। वैद्य लोग ऐसे रोगों की चिकित्सा करने से पहले रोगी से प्रायश्चित्त आदि कराते हैं।

महारोगी-संज्ञा पुं० [सं० महारोगिन्] जिसे कोई महारोग हो।

महारौद्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) २२ मात्राओं के छंदों की संज्ञा।

महारौद्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

महारौरव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक नरक का नाम। कहते हैं कि जो लोग देवताओं का धन चुराते या गुरु की पत्नी के साथ गमन करते हैं, वे इस नरक में भेजे जाते हैं। (२) एक प्रकार का साम।

महार्घ-वि० [सं०] (१) बहुमूल्य। बड़े मोल का। (२) जिसका मूल्य ठीक से अधिक हो। मँहगा।

संज्ञा पुं० महा सोमलता।

महार्घता-संज्ञा स्त्री० [सं०] महार्घ होने का भाव। मँहगी।

महार्घ्य-वि० दे० “महार्घ”।

महार्णव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत बड़ा समुद्र। महासागर। (२) शिव। (३) पुराणानुसार एक दैत्य जिसे भगवान् ने कूर्म अवतार में अपने दाहिने पैर से उत्पन्न किया था।

महार्थ-संज्ञा पुं० [सं०] एक दानव का नाम।

महार्द्रक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जंगली अदरक। (२) सोंठ।

महार्बुद-संज्ञा पुं० [सं०] सौ करोड़ या दस अर्बुद की संख्या।

महार्ह-संज्ञा पुं० [सं०] सफेद चंदन।

वि० दे० “महार्घ”।

महाल-संज्ञा पुं० [अ० महल का बहु० व०] (१) वह स्थान जहाँ बहुत से बड़े मकान हों। मुहल्ला। टोला। पुरा। पाड़ा। (२) बंदोबस्त के काम के लिये किया हुआ जमीन का एक विभाग, जिसमें कई गाँव होते हैं। (३) भाग। पट्टी। हिस्सा। उ०—कैधों रसाल के ताल फले कुच दोऊ महाल जगीर अनंग के।

महालक्ष्मी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लक्ष्मी देवी की एक मूर्ति का नाम। (२) पुराणानुसार नारायण की एक शक्ति का नाम। (३) एक वर्णिक वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में तीन रगण होते हैं। उ०—(क) रात्रि घौसौ रहै कामिनी। पीव की जो मनो-गामिनी। भाषती बोल बोलै अमी। जानिये सो महालक्ष्मी। (ख) राधिका बल्लभै गाइ ले। चित्रनी इंद्र से पाइ ले।

महालय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुँआर का कृष्णपक्ष जिसमें पितरों के लिये तर्पण और श्राद्ध आदि किया जाता है। पितृपक्ष। (२) तीर्थ। (३) पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम। (४) नारायण।

महालया-संज्ञा स्त्री० [सं०] आश्विन कृष्ण अमावास्या, जिस दिन पितृ-विसर्जन होता है। पितृपक्ष की अंतिम तिथि।

महालिङ्ग-संज्ञा पुं० [सं०] महादेव।

महालोक-संज्ञा पुं० दे० “महर्लोक”।

महालोभ-संज्ञा पुं० [सं०] पठानी लोभ।

महालोभ-संज्ञा पुं० [सं०] कौआ।

महालोल-संज्ञा पुं० [सं०] कौआ।

महावज्र-संज्ञा पुं० [सं० महावज्रस] महादेव।

महावट-संज्ञा स्त्री० [हि० माह = माघ + वट (प्रत्य०)] पूस माघ की वर्षा। वह वर्षा जो जाड़े में हो। जाड़े की झड़ी। उ०—पैठी हो मरदी रग रग में और बर्फ निकलता हो पत्थर। झड़ बाँध महावट पड़ती हो और तिस पर लहरें ले लेकर। सन्नाटा बाव का चलता हो तब देख बहारें जाड़े की।—नजीर।

महावत-संज्ञा पुं० [सं० महामात्र] हाथी हाँकनेवाला। फीलवान। हाथीवान। उ०—(क) हूले हूते पर सैन महावत नाज के आँदू परे जउ पाइन।—पद्माकर। (ख) द्वार कुबलया गज ठदियाथा। अयुत नाग बल तासैं पावा। कहेसि महावत ते गोहराई। प्रविशत तैं डारे चँपवाई।—विश्राम।

महावतारी-संज्ञा पुं० [सं० महावतारिन्] २५ मात्राओं के छंदों की संज्ञा।

महावध-संज्ञा पुं० [सं०] वज्र।

महावर-संज्ञा पुं० [सं० महावर्ण ?] लाख से बना हुआ एक प्रकार का लाल रंग जिससे सौभाग्यवती स्त्रियाँ अपने पाँवों को चित्रित कराती हैं। यावक। उ०—(क) पलन पीक अंजन अथर धरे महावर भाल। आज मिले सु भली करी भले बने हौ लाल।—बिहारी। (ख) आई हौ पायँ दिवाय महावर कुंजन तैं करि कै सुख सेनी।—मतिराम। (ग) काहू दियो लाख रस सोई। जासों तुरत महावर होई।—लक्ष्मणसिंह।

महावरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वृष।

संज्ञा पुं० दे० “मुहावरा”।

महावराह-संज्ञा पुं० [सं०] भगवान् का वराह अवतार।

महावरी-संज्ञा पुं० [हि० महावर] महावर की बनी हुई गोली या टिकिया जिससे स्त्रियों के पैर चित्रित किए जाते हैं। उ०—(क) पायँ महावर देन को नाइन वैठी आय। फिरि फिरि जानि महावरी ऐँड़ी मीँडति जाय।—बिहारी। (ख) छैल छबीली की छावा लहि महावरी संग। जानि परे नाइन लगे जबहि निचोरन रंग।—रामसहाय।

महावरेदार-वि० दे० “मुहावरेदार”। उ०—कमिटी ने सिफारिश की कि नंबर १ का तरजमा बहुत महावरेदार देशी भाषा में किया जाय।—सरस्वती।

महावरोह-संज्ञा पुं० [सं०] पलाश।

महावल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] माधवी लता।

महावस-संज्ञा पुं० [सं०] मगर नामक जल-जंतु।

महावसु-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रावरुण का एक नाम ।

महावाक्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) 'सोऽहं' शब्द । (२) शंकराचार्य जी के मतानुयायियों के मत से 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि', 'प्रज्ञानं ब्रह्म' और 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि उपनिषद् के वाक्य । (३) दान आदि के समय पढ़ा जानेवाला संकल्प ।

महावात-संज्ञा पुं० [सं०] जोर की हवा । आँधी । तूफान ।

महावामदेव्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम जो शांति-कर्मों के समय पढ़ा जाता है ।

महावायु-संज्ञा पुं० स्त्री० [सं०] तूफान ।

महावारुणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंगा-स्नान का एक योग ।

विशेष—यदि चैत्र कृष्ण त्रयोदशी को शतभिषा नक्षत्र हो तो उस दिन वारुणी योग होता है । यदि यह योग शनिवार को पड़े तो महावारुणी कहलाता है । पुराणों के अनुसार इस योग में गंगा-स्नान का बहुत अधिक फल होता है ।

महावार्त्ताकिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बनभंटा । जंगली बैंगन ।

महावाहन-संज्ञा पुं० [सं०] एक बहुत बड़ी संख्या का नाम ।

महाविक्रम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिंह । (२) एक नाग का नाम ।

महाविदेहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] योगशास्त्र के अनुसार मन की एक बहिर्बुद्धि ।

महाविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तंत्र में मानी हुई दस देवियाँ जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) काली, (२) तारा, (३) वोड़शी, (४) भुवनेश्वरी, (५) भैरवी, (६) छिन्नमस्ता, (७) धूमावती, (८) बगलामुखी, (९) मातंगी और (१०) कमलात्मिका । इन्हें सिद्ध विद्या भी कहते हैं । कुछ तांत्रिकों का यह मत है कि इन्हीं दस महाविद्याओं ने दस अवतार धारण किए थे । (२) दुर्गादेवी । (३) गंगा ।

महाविद्येश्वरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा की एक मूर्ति का नाम ।

महाविभूत-संज्ञा पुं० [सं०] एक बहुत बड़ी संख्या का नाम ।

महाविभूति-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

महाविल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकाश । (२) अंतःकरण ।

महाविष-संज्ञा पुं० [सं०] वह साँप जिसके काटते ही तुरंत मृत्यु हो जाय ।

महाविषुव-संज्ञा पुं० [सं०] वह समय जब सूर्य मीन से मेष राशि में जाता है और दिन रात दोनों समान होते हैं । मेष संक्रांति । चैत्र की संक्रांति । (इस दिन की गणना पुण्यतिथियों में होती है ।)

महावीचि-संज्ञा पुं० [सं०] मनु के अनुसार एक नरक का नाम ।

महावीत-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार पुष्कर द्वीप के एक पर्वत का नाम ।

महावीर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान जी । (२) गौतम बुद्ध का एक नाम । (३) गरुड़ । (४) देवता । (५) सिंह । (६) मनु के पुत्र मरवानल का एक नाम । (७) वज्र । (८)

सफेद घोड़ा । (९) बाज पक्षी । (१०) जैनियों के चौबीसवें और अंतिम जिन या तीर्थंकर जो महापराक्रमी राजा सिद्धार्थ के वीर्य से उनकी रानी त्रिशला के गर्भ से उत्पन्न हुए थे । कहते हैं कि त्रिशला ने एक दिन सोलह शुभ स्वप्न देखे थे जिनके प्रभाव से वह गर्भवती हो गई थी । जब इनका जन्म हुआ, तब इंद्र इन्हें ऐरावत पर बैठाकर मंदराचल पर ले गए थे और वहाँ इनका पूजन करके फिर इन्हें माता की गोद में पहुँचा गए थे । इनका नाम वर्द्धमान पड़ा था । ये बहुत ही शुद्ध और शांत प्रकृति के थे और भोग विलास की ओर इनकी प्रवृत्ति नहीं होती थी । कहते हैं कि तीस वर्ष की अवस्था में कोई बुद्ध या अर्हत् आकर इनमें ज्ञान का संचार कर गए थे । मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी को ये अपना राज्य और सारा वैभव छोड़कर वन में चले गए और बारह वर्ष तक इन्होंने वहाँ घोर तपस्या की । इसके उपरांत ये ध्रुव उधर घूमकर उपदेश देने लगे । एक बार इन्होंने भोजन त्याग दिया, जिससे वैशाख कृष्ण दशमी को इन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था । इन्होंने मौन धारण करके राजगृह में रहना आरंभ किया । वहाँ देवताओं ने इनके लिये एक रत्न-जटित प्रासाद बनाया था । वहाँ इंद्र के भेजे हुए बहुत से देवता आदि इनके पास आए, जिन्हें इन्होंने अनेक उपदेश दिए और इनके धर्म का प्रचार आरंभ किया । कहते हैं कि इनके जीवन काल में ही सारे मगध देश में जैन धर्म का प्रचार हो गया था । जैनियों के अनुसार ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था; और तभी से वीर संवत् चला है ।

वि० बहुत बड़ा वीर । बहुत बड़ा बहादुर ।

महावीरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] क्षीरकाकोली ।

महावीर्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा । (२) एक बुद्ध का नाम । (३) जैनों के एक अर्हत् का नाम । (४) तामस शौच्य मन्वन्तर के एक इंद्र का नाम । (५) वराहीकंद ।

महावीर्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सूर्य की पत्नी संज्ञा का एक नाम । (२) वनकपास । (३) महाशतावरी ।

महावृत्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेंडुड़ । थूहर । (२) करंज । (३) ताड़ । (४) महापीलु ।

महावृष-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक तीर्थ जो सुरम्य पर्वत के पास है ।

महावेग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । (२) गरुड़ ।

महावेगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्कंद की अनुचरी एक मातृका का नाम ।

महाव्याधि-संज्ञा स्त्री० दे० "महारोग" ।

महाव्याहति-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार ऊपरवाले सात

लोकों में से पहले तीन लोकों का समूह । भूः, भुवः और स्वः ये तीन लोक ।

महाव्यूह-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की समाधि ।

महाव्रण-संज्ञा पुं० दे० "दुष्टव्रण" ।

महाव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेद की एक ऋचा का नाम । (२) वह व्रत जो बारह वर्षों तक चलता रहे । (३) आश्विन की दुर्गा-पूजा ।

महाव्रती-संज्ञा पुं० [सं० महाव्रतिन्] (१) वह जिसने कोई महाव्रत धारण किया हो । (२) शिव ।

महाशंख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ललाट । (२) कनपटी की हड्डी । (३) मनुष्य की ठठरी । (४) नौ निधियों में से एक । (५) बड़ा शंख । (६) एक प्रकार का सर्प । (७) एक बहुत बड़ी संख्या का नाम ।

महाशक्ति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्तिकेय । (२) शिव । (३) पुराणानुसार कृष्ण के एक पुत्र का नाम ।

महाशठ-संज्ञा पुं० [सं०] पीला धतूरा ।

महाशतावरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी शतावरी । वि० दे० "सतावर" ।

महाशय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उच्च आशयवाला व्यक्ति । महा-नुभाव । महात्मा । सज्जन । (२) समुद्र ।

महाशय्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] राजाओं की शय्या या सिंहासन ।

महाशर-संज्ञा पुं० दे० "रामशर" ।

महाशल्क-संज्ञा पुं० [सं०] क्षिणा मछली ।

महाशाखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नागबला । गँगोरन ।

महाशासन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा की आज्ञा । (२) राजा का वह मंत्री जो उसकी आज्ञाओं या दानपत्रों आदि का प्रचार करता हो ।

महाशिव-संज्ञा पुं० [सं०] महादेव ।

महाशीतवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] बौद्धों की पाँच महादेवियों में से एक देवी का नाम ।

महाशीता-संज्ञा स्त्री० [सं०] शतमूली ।

महाशीर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] शिव के एक अनुचर का नाम ।

महाशोल-संज्ञा पुं० [सं०] जन्मेजय के एक पुत्र का नाम ।

महाशुंडी-संज्ञा स्त्री० [सं०] हाथीसूँड़ नामक क्षुप ।

महाशुक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] सीप ।

महाशुक्ला-संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती ।

महाशुभ्र-संज्ञा पुं० [सं०] चाँदी ।

महाशून्य-संज्ञा पुं० [सं०] आकाश ।

महाशोण-संज्ञा पुं० [सं०] सोन नदी ।

महाश्मशान-संज्ञा पुं० [सं०] काशी नगरी का एक नाम ।

महाश्रमण-संज्ञा पुं० [सं०] भगवान् बुद्ध का एक नाम ।

महाश्रावणिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] गोरखमुंठी ।

महाश्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] बुद्ध की एक शक्ति का नाम ।

महाश्वास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का श्वास रोग । (२) वह अंतिम साँस जो मरने के समय चलता है ।

महाश्वेता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सरस्वती । (२) दुर्गा । (३) सफेद अपराजिता । (४) चीनी ।

महाषष्ठी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा ।

महाष्टमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] आश्विन मास के शुद्ध पक्ष की अष्टमी ।

महासंस्कारी-संज्ञा पुं० [सं० महासंस्कारिन्] १७ मात्राओं के छंदों की संज्ञा ।

महासत्त्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुबेर । (२) शाक्य मुनि । (३) एक बोधिसत्त्व का नाम ।

महासत्य-संज्ञा पुं० [सं०] यमराज ।

महासन-संज्ञा पुं० [सं०] सिंहासन ।

महासमंगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कँगही या कंघी नामक पौधा ।

महासर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] जगत् की वह रचना जो महाप्रलय के उपरांत फिर से होती है ।

महासर्ज-संज्ञा पुं० [सं०] कटहल का वृक्ष ।

महासांतपन-संज्ञा पुं० [सं०] एक व्रत जिसमें पाँच दिन तक क्रम से पंचगव्य, छठे दिन कुश-जल पीकर सातवें दिन उपवास किया जाता है ।

महासाहसिक-संज्ञा पुं० [सं०] चोर ।

महासिंह-संज्ञा पुं० [सं०] दुर्गा देवी का वाहन सिंह ।

महासीर-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की मछली जो पहाड़ी नदियों में पाई जाती है और जिसका मांस बहुत अच्छा माना जाता है ।

महासुख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शृंगार । सजावट । (२) बुद्धदेव का एक नाम ।

महासुर-संज्ञा पुं० [सं०] एअ दानव का नाम ।

महासुरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा ।

महासूचि-संज्ञा स्त्री० [सं०] बुद्ध के समय की एक प्रकार की व्यूह-रचना ।

महासूत-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का वाजा जो युद्ध-क्षेत्र में बजाया जाता था ।

महासेन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्तिकेय । स्वामि-कार्तिक । (२) शिव । (३) बहुत बड़ा या सब से प्रधान सेनापति ।

महासौषिर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें दाँतों के मसूड़े सड़ जाते हैं और मुँह में से बहुत दुर्गंध आती है । कहते हैं कि जब यह रोग होता है, तब आदमी सात दिनों के अंदर मर जाता है ।

महास्कंध-संज्ञा पुं० [सं०] ऊँट ।

महास्कंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] जामुन का वृक्ष ।

महासायु-संज्ञा पुं० [सं०] वह प्रधान नाड़ी जिसमें से रक्त बहता है। इसे कंडरा या अस्थिवंधन नाड़ी भी कहते हैं।

महास्मृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

महाहंस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का हंस। (२) विष्णु।

महाहनु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) तक्षक की जाति का एक प्रकार का साँप। (३) एक दानव का नाम।

महाहस्त-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महाहास-संज्ञा पुं० [सं०] जोर से ठाकर हँसना। अट्टहास।

महाहि-संज्ञा पुं० [सं०] वासुकि नाग।

महाहिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का हिचकी का रोग जिसमें हिचकी आने के समय सारा शरीर काँप उठता है और मर्म-स्थान में वेदना होती है।

महाहृद-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महाहृत्स्व-संज्ञा पुं० [सं०] केवाँच। कौल।

महि*-अव्य० दे० “महँ”।

महिजक-संज्ञा पुं० [सं०] चूहा।

महिधक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चूहा। (२) नेवला। (३) भार उठाने का छींका। सिकहर जिसे बहँगी के दोनों छोरों में बाँधकर कहार बोझ उठाते हैं।

महि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पृथ्वी। (२) महिमा। (३) विज्ञान शक्ति। महत्त्व।

महिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] हिम। बर्फ।

महिख*-संज्ञा पुं० दे० “महिष”।

महिखरी-संज्ञा स्त्री० [?] अठ्ठाईस मात्राओं के एक छंद का नाम जिसमें चौदह मात्राओं पर यति होती है।

महिदास-संज्ञा पुं० दे० “महीदास”।

महिदेव-संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण।

महिधर-संज्ञा पुं० दे० “महीधर”।

महिपाल*-संज्ञा पुं० दे० “महीपाल”।

महिफर*-संज्ञा पुं० [सं० मधुफल] मधु। शहद।

महिमा-संज्ञा स्त्री० [सं० महिमन्] (१) महत्व। माहात्म्य। बड़ाई। गौरव। (२) प्रभाव। प्रताप। उ०—सुनि आचरज करइ जनि कोई। सत संगति महिमा नहिं गोई।—तुलसी। (३) अणिमा आदि आठ प्रकार की सिद्धियों वा ऐश्वर्यों में से पाँचवीं जिससे सिद्ध योगी अपने आपको बहुत बड़ा बना लेता है।

महिमावान्-संज्ञा पुं० [सं०] मार्कंडेय पुराणानुसार एक प्रकार के पितृगण।

महिम्न-संज्ञा पुं० [सं०] शिव का एक प्रधान स्तोत्र जिसे पुष्प-दन्ताचार्य ने रचा था।

महियाँ*-अव्य० [सं० मध्य प्रा० भञ्ज = महँ] में। उ०—(क) जेती लाज गोपालहिं मेरी। तेती नाहिं बधू हौं जाकी

अंबर हरत सबन तन हेरी। पति अति रोष करै मनी महियाँ भीषम दई वेद विधि टेरी।—सूर। (ख) सबै मिलि पूजौ हरि की बहियाँ। जो नहिं लेत उठाइ गोवर्धन को बाँचत ब्रज महियाँ। कोमल कर गिरि धन्यो घोष पर शरद कमल की छहियाँ। सूरदास प्रभु तुमरे दरश आनंद होत ब्रज महियाँ।—सूर।

महियाँ-संज्ञा पुं० [हि० महना] ईख के रस का फेन जो उबाल खाने पर निकलता है।

महिर-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य।

महिरावण-संज्ञा पुं० [सं० महि + रवण] एक राक्षस का नाम। कहते हैं कि यह रावण का लड़का था और पाताल में रहता था। यह रामचंद्र और लक्ष्मण को लंका के शिविर से उठा कर पाताल ले गया था। रामचंद्र और लक्ष्मण को ढूँढ़ते हुए हनुमान जी पाताल गए थे और महिरावण को मारकर राम लक्ष्मण को ले आए थे। यह कथा वाल्मीकि रामायण और पुराणों में नहीं पाई जाती।

महिला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्त्री। (२) फूलप्रियंगु। (२) रेणुका नामक गंध द्रव्य।

महिष-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० महिषा] (१) भैंस। (२) वह राजा जिसका अभिषेक शास्त्रानुसार किया गया हो। (३) एक राक्षस का नाम जिसे पुराणानुसार दुर्गा देवी ने मारा था। (४) एक वर्णसंकर जाति का नाम जो स्मृतियों में क्षत्रिय पिता और तीवरी माता से उत्पन्न कही है। (५) एक साम का नाम। (६) पुराणानुसार कुश द्वीप के एक पर्वत का नाम। (७) कुश द्वीप के एक वर्ष का नाम। (८) (८) भागवत के अनुसार अनुहाद के पुत्र का नाम।

महिषकंद-संज्ञा पुं० [सं०] शुभ्रालु। भैंसा कंद।

महिषक-संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्णसंकर जाति का नाम।

महिषघ्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

महिषध्वज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यमराज। (२) जैन शास्त्रानुसार एक अर्हन्त का नाम।

महिषमत्स्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली जो काले रंग की होती है। इसके सेहरे बड़े बड़े होते हैं। यह वलवीर्य-कारी और दीपन-गुण-युक्त मानी जाती है।

महिषमर्दिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा का एक नाम।

महिषमस्तक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का जड़हन धान।

महिषवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] छिरेटा।

महिषवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] यमराज।

महिषाक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] भैंसा गुग्गुलु।

महिषार्दन-संज्ञा पुं० [सं०] स्कंद का एक नाम।

महिषासुर-संज्ञा पुं० [सं०] एक असुर का नाम जो रंभ नामक दैत्य का पुत्र था। कहते हैं कि इसकी आकृति भैंसे की

थी और इसे दुर्गा जी ने मारा था। मार्कण्डेय पुराण में इसकी सविस्तर कथा लिखी है।

महिषी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भैंस। (२) रानी, विशेषतः पट-रानी। (३) सैरिंध्री। (४) एक ओषधि का नाम।

महिषीकंद-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कंद जिसे भैंसा कंद भी कहते हैं। शुभ्रालु।

महिषीप्रिया-संज्ञा पुं० [सं०] शूली नामक घास।

महिषेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महिषासुर। उ०—महामोह महिषेश विशाला। राम कथा कालिका कराला।—तुलसी। (२) यमराज। उ०—कह महिषेश वहाँ ले जाओ। चित्र-गुप्तित्रै वाहि देखाओ।—विश्राम।

महिषोत्सर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ।

महिष्ठ-वि० [सं०] बहुत बड़ा।

महिसुर-संज्ञा पुं० दे० “महीसुर”।

मही-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पृथ्वी। (२) मिट्टी। (३) अवकाश। देश। स्थान। (४) नदी। (५) क्षेत्र का आधार। (६) सेना। (७) झुंड। समूह। (८) एक की संख्या। (९) गाय। (१०) दुरदुर। दुलदुल। (११) एक छंद का नाम जिसमें एक लघु और एक गुरु मात्रा होती है। जैसे—मही, लगी, नदी इत्यादि।

संज्ञा पुं० [हि० महना] मट्टा। छाल। उ०—(क) तुलसी मुदित दूत भयो मानहुँ अमिय लाहु माँगत मही—तुलसी। (ख) छौड़ि कनक मणि रत्न अमोलक काँच की किरच गही। ऐसी तू है चतुर विवेकी पय तजि पियत मही।—सूर। (ग) दूध दही माखन मही बचै नहीं ब्रज माँझ। ऐसी चोरी करतु हैं फिरतु भोर अरु साँझ।—लल्लू।

महीक्षित-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

महीखड़ी-संज्ञा स्त्री० [देश०] सिकलीगरों का एक औजार जिसकी धार कुंद होती है और जिसमें लकड़ी का दस्ता लगा रहता है। इससे बर्तन आदि खुरचकर साफ किए जाते हैं और उन पर जिला की जाती है।

महीज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अदरक। आदी। (२) मंगल ग्रह।

महीतल-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी। संसार।

महीदास-संज्ञा पुं० [सं०] ऐतरये ब्राह्मण के रचयिता एक ऋषि का नाम। यह इतरा नामक दासी के पुत्र थे।

महीदेव-संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण।

महीधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पर्वत। (२) बौद्धों के अनुसार एक देवपुत्र का नाम। (३) शेषनाग। उ०—धर्म करत अति अर्थ बढ़ावत। संतति हित रति कोविद गावत। संतति उपजत ही निशि वासर। साधत तन मन मुक्ति महीधर।—केशव। (४) एक वर्णिक वृत्त का नाम जिसमें चौदह बार

क्रम से लघु और गुरु आते हैं। उ०—सदा सुसंग धारिये नहीं कुसंग सारिये लगाय चित्त सीख मानिये खरी।

महीध-संज्ञा पुं० [सं०] महीधर।

महीध्रक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महीध्र। (२) एक राजा का नाम।

महीन-वि० [सं० महा + नीन (सं० नीण)] (१) जिसकी मोटाई या घेरा बहुत ही कम हो। “मोटा” का उल्टा। पतला। सूक्ष्म। जैसे महीन तागा, महीन तार, महीन सुई आदि। (२) जिसके दोनों ओर के तलों के बीच बहुत कम अंतर हो। जो बहुत कम मोटा हो। बारीक। क्षीना। पतला। जैसे—महीन कपड़ा, महीन कागज़, महीन छाल। उ०—दास मनोहर आनन बाल को दीपित जाकी दीपें सब दीपें। श्रौन सुहाये विराजि रहे मुकुताहल संयुत ताहि समीपें। सारी महीन सी लीन विलोकि विचारत हैं कवि के अवनीपें। सोदर जानि ससीही मिली सुत संग लिए मनो सिंधु की सीपें।—मनोहरदास।

मुहा०—महीन काम = वह काम जिसके करने में बहुत सावधानी और आँख गढ़ाने की आवश्यकता पड़ती हो। जैसे—सीना, चित्रकारी, सूची कर्म आदि।

(३) जो बहुत कम ऊँचा या तेज हो। कोमल। धीमा। मंद (इस अर्थ में यह शब्द प्रायः शब्द वा स्वर के लिए ही आता है)।

संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

महीना-संज्ञा पुं० [सं० मास वा माः मि० फा० माह] (१) काल का एक परिमाण जो वर्ष के बारहवें अंश के बराबर होता है। यह साधारणतया तीस दिन का होता है; पर कोई कोई महीने इससे अधिक और न्यून भी होते हैं। आजकल भारत-वर्ष में कई प्रकार के महीने प्रचलित हैं—देशी, अरबी और अंग्रेजी। देशी वा हिंदी महीने चार प्रकार के होते हैं, सौर मास, चंद्र मास, नक्षत्र मास और सावन मास। (विवरण के लिये देखो “मास”) अरबी महीना एक प्रकार का चंद्र मास है जो शुक्र द्वितीया से प्रारंभ होता है। अंग्रेजी महीना सौर मास का एक भेद है जिसमें संक्रांति से महीना नहीं बदलता, किंतु प्रत्येक महीने के दिन नियत होते हैं। जो काल प्रचलित वा चांद्र वर्ष में, उसे सौर वर्ष के बराबर करने के लिये जोड़ा जाता है, उसे लौंद कहते हैं; और यदि यह काल एक महीने का होता है, तो उसे; लौंद का महीना वा मल मास कहते हैं (देखो “मल मास”)। देशी वर्षों में प्रति तीसरे वर्ष मल मास होता है और उस समय वर्ष में बारह महीने न होकर तेरह महीने होते हैं। अंग्रेजी वर्षों में प्रति चौथे वर्ष लौंद का एक दिन अधिक बढ़ाया जाता है; पर अरबी महीनों के वर्षों में सौर वर्ष से

मेल मिलाने के लिये लैंद का काल नहीं जोड़ा जाता; इस-
लिये प्रति तीसरे वर्ष सौर वर्ष से लगभग एक महीने का
अंतर पड़ जाता है। देशी महीनों के नाम इस प्रकार हैं—

संस्कृत	हिंदी
चैत्र	चैत
वैशाख	वैसाख
ज्येष्ठ	जेठ
आषाढ़	असाढ़
श्रावण	सावन
भाद्र वा भाद्रपद	भादों
आश्विन	कुआर, आसोज वा आसों
कार्तिक	कातिक
मार्गशीर्ष	अगहन वा मँगसर।
पौष	पूस
माघ	साव वा माह
फाल्गुन	फागुन

अरबी महीनों के नाम इस प्रकार हैं—मुहर्रम, सफ़र,
रबी-उल्-अव्वल, रबी-उस्-सानी, जमदिउल्-अव्वल, जमा-
दिउस्सानी, रजब, शाबान, रमज़ान, शौवाल, ज़िकाद,
जिलहिज्ज। अंग्रेजी महीनों के नाम इस प्रकार हैं—
जनवरी, फरवरी, मार्च, अप्रैल, मई, जून, जुलाई, अगस्त,
सितंबर, अक्तूबर, नवंबर, दिसंबर। (२) वह वेतन जो
महीना भर काम करने के बदले में काम करने वाले को
मिले। मासिक वेतन। दरमाहा। (३) स्त्रियों का रजोधर्म
वा मासिक धर्म।

मुहा०—महीने से होना = स्त्रियों का रजस्वला होना। रजोधर्म
से होना।

महीप-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

महीपति-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

महीपाल-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

महीपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] मंगल ग्रह।

महीप्राचीर-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

महीप्रावर-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

महीभर्ता-संज्ञा पुं० [सं० महीभर्तृ] [स्त्री० महीभर्त्री] राजा।

महीभुक्, महीभुज्-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

महीभृत्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा। (२) पर्वत।

महीमंडल-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी। भूमंडल।

महीम-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का गन्ना जो पीलापन लिए
हरे रंग का होता है। इसे पूने का पौदा भी कहते हैं।

महीमृग-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का जंतु।

महीयस्-वि० [सं०] बहुत बड़ा।

महीर-संज्ञा स्त्री० [हिं० मही] वह तलछट जो मक्खन तपाने से

नीचे बैठ जाती है। (२) मट्टे में पकाया हुआ चावल
मट्टे की खीर।

महीरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार धर्म के एक पुत्र का
नाम। यह विश्वेदेवा के अंतर्भूत है।

महीरावण-संज्ञा पुं० [सं०] अद्भुत रामायण के अनुसार रावण
के एक पुत्र का नाम। वि० दे० “महिरावण”।

महीरुह-संज्ञा पुं० [सं०] वृक्ष। पेड़।

महीलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] कंचुआ।

महीश-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

महीसुत-संज्ञा पुं० [सं०] मंगल ग्रह।

महीसुर-संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण।

महीसूनु-संज्ञा पुं० [सं०] मंगलग्रह।

महुँ-अव्य० दे० “महँ”।

महुअर-संज्ञा स्त्री० [हिं० महुआ] (१) वह भेड़ जिसका ऊन
कालापन लिए लाल रंग का होता है। (२) वह रोटी जो
महुआ मिलाकर पकाई गई हो।

संज्ञा पुं० [सं० मधुकर, प्रा० महुअर] (१) एक प्रकार का
बाजा जिसे तुमड़ी वा तूँबी भी कहते हैं। यह कड़वी
पतली तूँबी का होता है जिसमें दोनों ओर दो नलियाँ लगी
होती हैं। एक ओर की नली को मुँह में लगाकर और
दूसरी ओर की नली के छेद पर उँगलियाँ रखकर इसे
बजाते हैं। प्रायः मदारी लोग साँपों को मस्त करने के
लिये इसे बजाते हैं। (२) एक प्रकार का इंद्रजाल का खेल
जो महुअर बजाकर किया जाता है। इसमें दो प्रतिद्वंद्वी
खेलाड़ी होते हैं जिनमें से प्रत्येक महुअर बजाकर दूसरे को
मूर्छित अथवा चलने फिरने में असमर्थ करने का प्रयत्न
करता है।

महुअरि-संज्ञा स्त्री० दे० “महुअर”।

महुअरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० महुआ] वह रोटी जो आटे में महुआ
मिलाकर बनाई जाती है।

महुआ-संज्ञा पुं० [सं० मधूक प्रा० महुअ] एक प्रकार का वृक्ष
जो भारतवर्ष के सभी भागों में होता है और पहाड़ों पर
तीन हजार फुट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

विशेष—इसकी पत्तियाँ पाँच सात अंगुल चौड़ी, दस बारह
अंगुल लंबी और दोनों ओर नुकीली होती हैं। पत्तियों
का ऊपरी भाग हल्के हरे रंग का और पीठ भूरे रंग की
होती है। हिमालय की तराई तथा पंजाब के अतिरिक्त
सारे उत्तरीय भारत तथा दक्षिण में इसके जंगल पाए जाते
हैं जिनमें यह स्वच्छंद रूप से उगता है। पर पंजाब में
यह सिवाय बागों के, जहाँ लोग इसे लगाते हैं और कहीं
नहीं पाया जाता। इसका पेड़ ऊँचा और छतनार होता है

और डालियाँ चारों ओर फैलती हैं। यह पेड़ तीस चालीस हाथ ऊँचा होता है और सब प्रकार की भूमि पर होता है। इसके फूल, फल, बीज, लकड़ी सभी चीजें काम में आती हैं। पेड़ बीस पचीस वर्ष में फूलने और फलने लगता और सैकड़ों वर्ष तक फूलता-फलता है। इसकी पत्तियाँ फूलने के पहले फागुन चैत में झड़ जाती हैं। पत्तियों के झड़ने पर इसकी डालियों के सिरों पर कलियों के गुच्छे निकलने लगते हैं जो कूँची के आकार के होते हैं। इसे महुए का कुचियाना कहते हैं। कलियाँ बढ़ती जाती हैं और उनके खिलने पर कोश के आकार का सफेद फूल निकलता है जो गुदारा और दोनों ओर खुला हुआ होता है और जिसके भीतर जीरे होते हैं। यही फूल खाने के काम में आता है और महुआ कहलाता है। महुए का फूल बीस बाईस दिन तक लगातार टपकता है। महुए के फूल में चीनी का प्रायः आधा अंश होता है; इसी से पशु-पक्षी और मनुष्य सब इसे चाव से खाते हैं। इसके रस में विशेषता यह होती है कि उसमें रोटियाँ पूरी की भाँति पकाई जा सकती हैं। इसका प्रयोग हरे और सूखे दोनों रूपों में होता है। हरे महुए के फूल को कुचलकर रस निकालकर प्रियाँ पकाई जाती हैं और पीसकर उसे आटे में मिलाकर रोटियाँ बनाते हैं जिन्हें “महुअरी” कहते हैं। सूखे महुए को भूनकर उसमें पियार, पोस्त के दाने आदि मिलाकर कूटे जाते हैं। इस रूप में इसे लाटा कहते हैं। इसे भिगोकर और पीसकर आटे में मिलाकर “महुअरी” बनाई जाती है। हरे और सूखे महुए लोग भूनकर भी खाते हैं। गरीबों के लिये यह बड़ा ही उपयोगी होता है। यह गौओं मैसों को भी खिलाया जाता है जिससे वे मोटी होती हैं और उनका दूध बढ़ता है। इससे शराब खींची जाती है। महुए की शराब को संस्कृत में “माध्वी” और आज कल के गँवार “ठरी” कहते हैं। महुए का फूल बहुत दिनों तक रहता है और बिगड़ता नहीं। इसका फल परचल के आकार का होता है और कलेंदी कहलाता है। इसके बीच में एक बीज होता है जिससे तेल निकलता है। वैद्यक में महुए के फूल को मधुर, शीतल, धातुवर्द्धक तथा दाह, पित्त और वात का नाशक, हृदय को हितकर और भारी लिखा है। इसके फल को शीतल, शुक्रजनक, धातु और बलवर्द्धक, वात, पित्त, तृषा, दाह, श्वास, क्षयी आदि को दूर करने वाला माना है। छाल रक्त-पित्त-नाशक और व्रणशोधक मानी है। इसके तेल को कफ, पित्त और दाहनाशक और सार को भूतवाधा निवारक लिखा है।

पार्थिव—मधूक। मधुली। मधुसूता। मधुपुष्प। रोध्रपुष्प। माधव। वानप्रस्थ। मध्वग। तीक्ष्णसार। महादुम।

महुआ दही—संज्ञा पुं० [हि० महना + दही] वह दही जिसमें से मथकर मक्खन निकाल लिया गया हो। मक्खनिया दही।

महुआरी—संज्ञा स्त्री० [हि० महुआ + वारी] महुए का जंगल।

महुर्छा—संज्ञा पुं० [सं० महोत्सव = प्रा० महोच्छ्रव मि० पं० महोछा] महोत्सव। उ०—कथा कीरतन मगन महुर्छा करि संतन धीर। कबहुँ न काज बिगरे नर तेरो, सत सत कहै कबीर।—कबीर।

महुला—वि० [हि० महुआ] [स्त्री० महुली] महुए के रंग का। विशेष—इस शब्द का प्रयोग प्रायः बैलों गौओं आदि के संबंध में होता है।

संज्ञा पुं०—वह बैल जिसके शरीर पर लाल और काले रंग के बाल हों। (ऐसा बैल निकम्मा समझा जाता है।)

महुवरि—संज्ञा स्त्री० [हि० महुअर] महुअर नाम का वाजा। तूँवड़ी। उ०—तैं कत तोन्यो हार नौसर को। मोती बगरि रहे सब वन में गयो कान को तरको ॥ ए अवगुन जो करत गोकुल में तिलक दिये केसरि को। ढीठ गुलाब दही में माते ओढ़न हरि कमरी को ॥ जाइ पुकारै जसुमति आगे कहत जु मोहन लरिको। सूर श्याम जानि चतुराई जेहि अभ्यास महुवरि को।—सूर।

महुवा—संज्ञा पुं०—दे० “महुआ”।

महूख—संज्ञा पुं० [सं० मधूक] (१) महुआ। उ०—(क) छिनक छबीले लाल वह जौ लगि नहिं बतराय। ऊख महूख पियूख की तौ लगि भूख न जाय।—बिहारी। (ख) ऊख रस केतकु महूख रस मीठो है पियूखहू की पैली घाहे जाको नियराइये। (ग) कहाँ ऊख महूख में एती मिठास पियूख हू ना हरिऔध हहै। जितो चारुता कोमलता सुकुमारता माधुरता अधरा में अहै।—हरिऔध। (२) जेठ मधु। मुलेठी।

महूरति—संज्ञा पुं० दे० “मुहूर्त्त”। उ०—धरती अंबर ना हता कौन था पंडित पास। कौन महूरति थापिया चाँद सूर आकास।—कबीर।

महेंद्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) इंद्र। (३) भारतवर्ष के एक पर्वत का नाम जो सात कुल पर्वतों में गिना जाता है। महेंद्राचल।

महेंद्रवारुणी—संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ा इंद्रायण।

महेंद्राल—संज्ञा स्त्री [हि० महेंद्र + अलि] महेंद्री नामक नदी का नाम।

महेंद्री—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम जो गुजरात में बहती है। इसे महेंद्राल भी कहते हैं।

महेर—संज्ञा पुं० दे० “महेरा”।

संज्ञा पुं० [देश०] झगड़ा। बखेड़ा।

मुहा०—किसी बात वा काम में महेर डालना = (१) अड़चन डालना। बखेड़ा खड़ा करना। (२) देर लगाना।

संज्ञा स्त्री० दे० “महेरी”।

महेरा-संज्ञा पुं० [हि० मही + एरा (प्रत्य०)] [स्त्री० महेर, महेरी]

(१) एक प्रकार का व्यंजन जो दही में चावल पकाकर बनाया जाता है। यह दो प्रकार का होता है—सलोना और मीठा। सलोने में हलदी, राई आदि मसाले डाले जाते हैं और मीठे में गुड़ पड़ता है। महेला। महेरी। महेर। (२) एक भोज्य-पदार्थ जो खेसारी के आदे को दही में उबालने से बनता है।

संज्ञा पुं० दे० “महेला”।

महेरि-संज्ञा स्त्री० [हि० महेर वा मही] महेरा नामक खाद्य-पदार्थ।

उ०—भोजन भयो भावती मोहन। तातोइ जेई जाहु गो गोहन। खीर खाइ खाँचरी सँवारी। मधुर महेरि सो गोपन प्यारी।—सूर।

महेरी-संज्ञा स्त्री० [हि० महेरा] उबाली हुई ज्वार जिसे लोग नमक-मिर्च से खाते हैं।

वि० [हि० महेर] अड़चन डालनेवाला। बखेड़ा खड़ा करनेवाला।

महेला-संज्ञा पुं० [हि० माष] पशुओं के खिलाने का एक पदार्थ। यह चने, उर्द, मोठ आदि को उबालकर और उसमें गुड़, घी आदि डालकर बनाया जाता है। इसके खिलाने से घोड़े, बैल आदि पुष्ट होते हैं और गौएँ भैंस आदि अधिक दूध देती हैं।

महेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव। शिव। (२) ईश्वर।

महेशबन्धु-संज्ञा पुं० [सं०] बैल।

महेशान-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० महेशानी] शिव।

महेशानी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

महेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० महेश्वरी] (१) महादेव। शिव। (२) ईश्वर। परमेश्वर। (३) सफेद मदार। (४) सोना। स्वर्ण।

महेषुधि-वि० [सं०] बड़ा धनुर्धारी।

महेष्वस्-वि० [सं०] बड़ा धनुर्धारी।

महेश #-संज्ञा पुं० दे० “महेश”।

महेशिया-संज्ञा पुं० [हि० महेश] एक प्रकार का उत्तम अगहनी धान।

महैकोदिष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] वह श्राद्ध जो मरने के बाद पहले पहल अशौच के अंत में मृत प्राणी के उद्देश्य से किया जाता है।

महैतरेय-संज्ञा पुं० [सं०] ऐतरेय उपनिषद्।

महैरंड-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बड़ा रेंड जिसके बीज भी बड़े होते हैं।

महैला-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी इलायची।

महोक-संज्ञा पुं० दे० “महोखा”।

महोक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] बड़ा बैल।

महोख-संज्ञा पुं० दे० “महोखा”।

महोखा संज्ञा पुं० [सं० मधूक] एक प्रकार का पक्षी जो कौए के बराबर होता है और भारतवर्ष में, विशेष कर उत्तरी भारत में झाड़ियों और बँसवाड़ियों में मिलता है। इसकी चोंच, पैर, और पूँछ काली, आँखें लाल और सिर, गला और डैने खैरे रंग के या लाल होते हैं। यह झाड़ियों के आस पास रहता है और कीड़े मकोड़े खाता है। यह बहुत तेज दौड़ सकता है, पर बहुत दूर तक नहीं उड़ सकता। इसकी बोली बहुत तेज होती है और यह बहुत देर तक लगातार बोलता है।

उ०—(क) हारिल शब्द महोख सुहावा। काग कुराहर करहि सोआवा।—जायसी। (ख) कूजत पिक मानों गज माते। ठेक महोख जँट बिसराते।—तुलसी।

महोगनी-संज्ञा पुं० [अ०] भारत, मध्य अमेरिका और मेक्सिको आदि में होनेवाला एक प्रकार का बहुत बड़ा पेड़ जो सदा हरा रहता है। इसकी लकड़ी कुछ ललाई लिए भूरे रंग की, बहुत ही दृढ़ और टिकाऊ होती है और उस पर यार्निश बहुत खिलती है। यह लकड़ी बहुत महँगी बिकती है और प्रायः मेजें, कुर्सियाँ और सजावट के दूसरे सामान बनाने के काम में आती है।

महोच्छ्व†-संज्ञा पुं० [सं० महोत्सव, प्रा० महोच्छ्व] बड़ा उत्सव। महोत्सव। उ०—मरना भला बिदेस का जहाँ अपना नहीं कोय। जीव जंतु भोजन करें सहज महोच्छ्व होय।—कबीर।

महोछा†-संज्ञा पुं० दे० “महोच्छ्व”।

महोटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बृहती। कटैया।

महोत्री-संज्ञा स्त्री [सं०] बृहती। कटैया।

महोती-संज्ञा स्त्री० [हि० महुआ] महुए का फल। कुलेंदी।

महोत्का-संज्ञा पुं० [सं०] महोत्का। बड़ी उल्का।

महोत्संग-संज्ञा पुं० [सं०] सब से बड़ी संख्या।

महोत्सव-संज्ञा पुं० [सं०] बड़ा उत्सव।

महोदधि-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र। सागर।

महोदय-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० महोदया] (१) आधिपत्य। (२) स्वर्ग। (३) महाभूल। (४) स्वामी। (५) कान्यकुब्ज। (६) बड़ों के लिये एक आदरसूचक शब्द। महाशय। महानुभाव।

महोदया-संज्ञा स्त्री० [सं०] नागबला। गँगोरन। गुलशकरी।

महोदर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक नाग का नाम। (२) एक राक्षस का नाम। (३) धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम। (४) शिव।

वि०—जिसका पेट बड़ा हो।

महोना†—संज्ञा पुं० [हि० मुँह] पशुओं के एक रोग का नाम जिसमें उनका मुँह और पैर पक जाते हैं।

महोवा—संज्ञा पुं० [देश०] उदेलखंड एक प्राचीन नगर। यह हमीरपुर जिले में है और इस नाम की तहसील और परगने का प्रधान नगर है। यहाँ बहुत काल तक चंदेल राजाओं की प्रधान राजधानी थी और इस वंश के मूल पुरुष चंद्रवर्मा की छतरी का चिह्न अब तक रामकुंड के किनारे मिलता है। यहाँ प्राचीन दुर्ग अब तक वर्तमान है। पृथ्वीराज के समय में यहाँ परमाल नामक चंदेल राजा था जिसके यहाँ आल्हा और उदयन वा उदल नामक दो प्रसिद्ध वीर योद्धा थे। यहाँ का पान बहुत अच्छा होता है।

महोवी—वि० [हि० महोवा + ई (प्रत्य०)] महोवे का।

महोबिया—वि० = दे० “महोबी”।

महोबिहा—वि०—दे० “महोबी”।

महोरग—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ा साँप। (२) तगर का पेड़। (३) जैनियों के एक प्रकार के देवताओं का नाम। यह व्यंजन नामक देवगण के अंतर्गत हैं।

महोरस्क—वि० [सं०] जिसका वक्षःस्थल विशाल हो।

महोला—संज्ञा पुं० [अ० मुहल] (१) हीला। बहाना। उ०—
बाहर क्या देखराइये अंतर जपिये राम। कहा महोला खलक
सों परेउ धनी से काम।—कबीर। (२) धोखा। चकमा।
उ०—सती शूर तन ताइया तन मन कीया धान। दिया
महोला पीव को तब मरहट करै बखान।—कबीर।

महोविशीय—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम।

महौय—संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र की बाढ़। तूफान।

महौज—वि० [सं० महौजस्] अति तेजस्वी।

संज्ञा पुं० काल के पुत्र एक असुर का नाम।

महौजस्क—वि० [सं०] अति तेजस्वी। बहुत तेजवान्।

महौदवाहि—संज्ञा पुं० [सं०] आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार एक आचार्य का नाम।

महौषध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भूम्याहुल्य। भुंजित खर। (२) सोंठ। (३) लहसुन। (४) बाराहीकंद। गेंठी। (५) बत्सनाभ। बछनाग। (६) पीपल। (७) अतीस।

महौषधि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दूब। (२) लज्जालू। (३) संजीवनी। (४) कुछ विशिष्ट ओषधियों का समूह जिनका चूर्ण महाज्ञान वा अभिषेकादि के जल में मिलाया जाता है।

महौषधी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सफेद भटकटैया। श्वेत केटका। (२) ब्राह्मी। (३) कुटकी। (४) अतिबला। (५) हिल-मोचिका।

महात्तर—संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक जाति का नाम।

माँ—संज्ञा स्त्री० [सं० अंश या माता] जन्म देनेवाली, माता।

जननी। उ०—दोउ मैया जेवत माँ आगे। पुनि लै वधि
खात कन्हई और जननि पै माँगे।—सूर।

माँ—माँ-जाया = सगा भाई। सहोदर।

‡ ग्रन्थ० [सं० मध्य] में। उ०—(क) इन युग माँ को
बड़ सुखरासी। बोले तब रघुनाथ उपासी।—रघुनाथ।
(ख) कहु गुरु द्रोह केर फल का है। तेरी गति सब शास्त्रन
माँ है।—रघुराज। (ग) लख चौरासी धार माँ तहाँ दोन
जिउ बास। चौदह जम रखवारिया चारि वेद विश्वास।—
कबीर।

माँकड़ी—संज्ञा स्त्री० [हि० मकड़ी] (१) दे० “मकड़ी”। (२)
कमखाव बुननेवालों का एक औजार जिसमें डेढ़ डेढ़ बालिरत
की पाँच तीलियाँ होती हैं और नीचे तिरछे बल में इतनी
ही बड़ी एक और तीली होती है। यह ठाठ सवा गज लंबी
एक लकड़ी पर चढ़ा हुआ होता है जो करघे के लघे पर
रखी जाती है। (३) पतवार के उपरी सिरे पर लगी हुई
और दोनों ओर निकली हुई वह लकड़ी जिसके दोनों सिरों
पर वे रस्सियाँ बाँधी होती हैं, जिनकी सहायता से पतवार
घुमाते हैं। (लश०) (४) जहाज में रस्से बाँधने के खूँटे
आदि का वह बनाया हुआ उपरी भाग जिसमें लकड़ी या
लोहा दोनों या चारों ओर इस अभिप्राय से निकाला हुआ
रहता है, जिसमें उस खूँटे में बाँधा हुआ रस्सा ऊपर न
निकल आवे। (लश०)

माँखण—संज्ञा पुं० [हि०] मक्खन। नवनीत।

माँखना—क्रि० अ० [सं० मख] क्रुद्ध होना। क्रोध करना।
गुस्सा करना। वि० दे० “माखना”।

माँखी—संज्ञा स्त्री० दे० “मक्खी”।

माँग—संज्ञा स्त्री० [हि० माँगना] (१) माँगने की क्रिया या भाव।
(२) बिक्री या खपत आदि के कारण किसी पदार्थ के लिये
होनेवाली आवश्यकता या चाह। जैसे,—आजकल बाजार
में देशी कपड़ों की माँग बढ़ रही है।
संज्ञा स्त्री० [सं० मार्ग ?] (१) सिर के बालों के बीच की
वह रेखा जो बालों को दो ओर विभक्त करके बनाई जाती
है। सीमंत।

विशेष—हिंदू सौभाग्यवती स्त्रियाँ माँग में सिंदूर लगाती हैं
और इसे सौभाग्य का चिह्न समझती हैं।

माँ—माँग चोटी = स्त्रियों का केशविन्यास। माँगजली = विधवा।
राँड़।

मुहा०—माँग कोख से सुखी रहना या जुड़ना = स्त्रियों का
सौभाग्यवती और संतानवती रहना। उ०—आनंद अवनि राज
रानी सब माँगहु कोख जुड़ानी।—तुलसी। माँग पट्टी
करना = केश विन्यास करना। बालों में कंधी करना। माँग पारना

या फारना = केशों को दो ओर करके बीच में माँग निकालना ।

माँग बाँधना = कंधी चोटी करना । (क०)

(२) किसी पदार्थ का ऊपरी भाग । सिरा । (क०) (३) सिल का वह ऊपरी भाग जो कूटा हुआ नहीं होता और जिस पर पीसी हुई चीज रखी जाती है । (४) नाव का गावदुमा सिरा । (५) दे० “माँगी” ।

माँग-टीका-संज्ञा पुं० [हि० माँग + टीका] स्त्रियों का एक गहना जो माँग पर पहना जाता है और जिसके बीच में एक प्रकार का टिकड़ा होता है जो माथे पर लटका होने के कारण टीके के समान जान पड़ता है ।

माँगन†-संज्ञा पुं० [हि० माँगना] (१) माँगने की क्रिया या भाव । (२) याचक । भिक्षुक । भिखमंगा । मंगन । उ०—
(क) नृप करि विनय महाजन फेरे । सादर सकल माँगने देरे ।—तुलसी । (ख) रीति महाराज की निवाजिये जी माँगनो सो दोष दुख दारिद्र्य दारिद्र्य कै कै छोड़िये ।—तुलसी ।

माँगना-क्रि० सं० [सं० मार्गण = याचना] (१) किसी से यह कहना कि तुम अमुक पदार्थ मुझे दो । कुछ पाने के लिये प्रार्थना करना या कहना । याचना करना । जैसे,—(क) मैंने उनसे १० माँगें थे । (ख) तुम अपनी पुस्तक उनसे माँग लो । उ०—(क) सो प्रभु सों सरिता तरिबे कहँ माँगत नाउ करारे है गढ़े ।—तुलसी । (ख) माँगडू दूसर बर कर जोरी ।—तुलसी । (२) किसी से कोई आकांक्षा पूरी करने के लिये कहना । जैसे,—हम तो ईश्वर से दिन रात यही माँगते हैं कि आप नीरोग हों । उ०—माँगत तुलसि-दास कर जोरे । बसहि रामसिय मानस मोरे ।—तुलसी ।

माँगफूल-संज्ञा पुं० दे० “माँग-टीका” ।

मांगल गीत-संज्ञा पुं० [सं० मांगल्य गीत] वह शुभ गीत जो विवाह आदि मंगल के अवसरों पर गाए जाते हैं ।

मांगलिक-वि० [सं०] मंगल प्रकट करनेवाला । शुभ ।

संज्ञा पुं० नाटक का वह पात्र जो मंगल-पाठ करता है ।

मांगल्य-वि० [सं०] शुभ । मंगलकारक ।

संज्ञा पुं० मंगल का भाव ।

मांगल्यकाया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वूब । (२) हल्दी । (३) ऋद्धि । (४) गोरोचन । (५) हरे ।

मांगल्यकुसुमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] शंखपुष्पी ।

मांगल्यप्रचारा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वच ।

मांगल्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गोरोचन । (२) शमी का वृक्ष । (३) जीवंती ।

माँगी-संज्ञा स्त्री० [सं० मार्ग ? हि० माँग] धुनियों की धुनकी में की वह लकड़ी जो उसकी उस डाँड़ी के ऊपर लगी रहती है जिस पर तौत चढ़ते हैं ।

माँच-संज्ञा पुं० [देश०] (१) पाल में हवा लगाने के लिये चलते

हुए जहाज का रख कुछ तिरछा करना । गोस (लश०) (२) पाल के नीचेवाले कोने में बँधा हुआ वह रस्सा जिसकी सहायता से पाल को आगे बढ़ाकर या पीछे हटाकर हवा के रख पर करते हैं । (लश०)

माँचना†-क्रि० प्र० [हि० मचना] (१) आरंभ होना । जारी होना । शुरू होना । उ०—देव गिरा सुनि सुंदर साँची । प्रीति अलौकिक दुहुँ दिसि माँची ।—तुलसी । (२) प्रसिद्ध होना । उ०—श्रीहरिदास के स्वामी स्याम कुंजविहारी की अटल अटल प्रीति माँची ।—काष्ठजिह्वा ।

माँचा†-संज्ञा पुं० [सं० मंच, हि० मंका] [स्त्री० अल्पा० माँचा] (१) पलंग । खाट । मंशा । (२) खाट की तरह की खुनी हुई छोटी पीढ़ी जिस पर लोग बैठते हैं । (३) मचान ।

माँची-संज्ञा स्त्री० [हि० माँचा] बैल-गाड़ियों आदि में बैठने की जगह के आगे लगी हुई वह जालीदार झोली जिसमें माल अस-बाब रखते हैं ।

माँछी-संज्ञा पुं० [सं० मत्स्य] मछली । उ०—आइ सुगुन सुगुनि अइताका । दहिउ माँछ रूपइकर टाका ।—जायसी ।

संज्ञा पुं० दे० “माँच” ।

माँछना-क्रि० प्र० [सं० मध्य ?] घुसना । धँसना । पैटना । (लश०)

माँछर†-संज्ञा स्त्री० [सं० मत्स्य] मछली ।

माँछली†-संज्ञा संज्ञा [सं० मत्स्य] मछली ।

माँछी-संज्ञा स्त्री० दे० “मक्खी” ।

माँजना-क्रि० सं० [सं० मज्जन] (१) जोर से मलकर साफ करना । किसी वस्तु से रगड़कर मैल छुड़ाना । जैसे,—बरतन माँजना । (२) थपुवे के तवे पर पानी देकर उसे ठीक करने के लिये उसके किनारे झुकाना । (छन्हार) (३) सरेस को पानी में पकाकर उससे तानी के सूत रँगना । (४) सरेस और शीशे की बुकनी आदि लगाकर पतंग की नख या डोर को दृढ़ करना । माँझा देना । क्रि० प्र० (१) अभ्यास करना । मशक करना । जैसे,—हाथ माँजना । (२) किसी गीत वा छंद को बार बार आवृत्ति करके पका करना ।

माँजर-संज्ञा स्त्री० [हि० पंजर या पाँजर] हड्डियों की ठठरी । पंजर । उ०—झुर झुर माँजर धन भई बिरह की लागी आग ।—जायसी ।

माँजा-संज्ञा पुं० [देश०] पहली वर्षा का फेन जो मछलियों के लिये मादक होता है । उ०—(क) नयन सजल तन थर थर काँपी । माँजहि खाइ मोन जनु माँपी ।—तुलसी । (ख) तलफल विषम मोह मन मापा । माँजा मनहुँ मोन कहँ व्यापा ।—तुलसी ।

मांजिष्ठ-वि० [सं० मंजिष्ठ] (१) मजीठ का सा । मजीठ के समान । (२) मजीठ के रंग का ।
संज्ञा पुं० एक प्रकार का मूत्र रोग या प्रमेह जिसमें मजीठ के रंग का लाल पेशाब होता है ।

माँझ†-अव्य० [सं० मध्य] में । भीतर । बीच । अंदर ।
उ०—(क) ब्रजहिं चलौ आई अब साँझ । सुरभी सबै लेहु आगे करि रैन होइ पुनि बनही माँझ ।—सूर । (ख) तुम्हरे कटक माँझ सुनु भंगद । मो सन भिरहि कवन योधा बढ ।—तुलसी । (ग) आपुस माँझ महोदर साँचे । क्यों तुम बीर विरोधनि राँचे ।—केशव । (घ) रेज करि सौतिन मजेज सों निकेत माँझ, पर पति हेत सेज साँझ तैं सँवारती ।—प्रताप ।

‡ संज्ञा पुं० (१) अंतर । फरक ।

मुहा०—माँझ पड़ना या होना = बीच पड़ना । अंतर पड़ना ।
उ०—द्वादश वर्ष माँझ भयो तब ही पिता सेवा सावधान मन नीको कर आनिये ।—प्रियादास ।

(२) नदी के बीच में पड़ी हुई रेतीली भूमि ।

माँझा-संज्ञा पुं० [सं० मध्य] (१) नदी के बीच की ज़मीन । नदी में का टापू । (२) एक प्रकार का आभूषण जो पगड़ी पर पहना जाता है । उ०—पैर में लेगर, पाग पर माँझा आदि यावत् प्रतिष्ठा बख़्शता हूँ ।—राधाकृष्णदास । (३) एक प्रकार का ढाँचा जो गोड़ई के बीच में रहता है और जो पाई को ज़मीन पर गिरने से रोकता है । (जुलाहे) (४) वृक्ष का तना । (५) वे पीले कपड़े जो कहीं कहीं वर और कन्या को विवाह से दो तीन दिन पहले हलदी चढ़ने पर पहनाए जाते हैं ।

संज्ञा पुं० [हि० माँजना] पतंग या गुड्डी उड़ाने के डोरे या नख पर सरेस और शीशे के चूरे आदि से चढ़ाया जानेवाला कलफ जिससे डोरे या नख में मजबूती आती है ।

क्रि० प्र०—चढ़ाना ।—देना ।

संज्ञा पुं० दे० “मंझा” ।

माँझिल†-क्रि० वि० [सं० मध्य] बीच का । मध्य का । बीचवाला । उ०—बोला माँझिल तलय तुरंग तेंतीस जू । लावहु मम हित माँगि ग्राम गुरु बीस जू ।—विश्राम ।

माँझी-संज्ञा पुं० [सं० मध्य, हि० माँझ ?] (१) नाव खेनेवाला । केवट । मल्लाह । (२) दो व्यक्तियों के बीच में पड़कर मामला तै करा देनेवाला । उ०—सँवरि रक्त नैनन भरि चुवा । रोइ हँकारेसि माँझी सुवा ।—जायसी । (३) जोरावर । बलवान् । (हि०)

माँड†-संज्ञा पुं० [सं० मट्ठक] (१) मिट्टी का बड़ा बरतन जिसमें अनाज या पानी आदि रखते हैं । मटका । कुंडा । उ०—(क) पुनि कमंडलु धन्यो तहाँ सो यदि गँथो कुंभ धरि बहुरि

पुनि माँट राख्यो ।—सूर । (ख) मानो नील माँट मैं बोरै लै यमुना जु पखारे ।—सूर । (१) घर का ऊपरी भाग । अटारी ।

माँट-संज्ञा पुं० [सं० मट्ठक] (१) मटका । कुंडा । मिट्टी का बड़ा बरतन । (२) नील धोलने का मिट्टी का बना बड़ा बरतन ।

माँटी†-संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) एक प्रकार की फूल धातु की ठली हुई चूड़ियाँ जो पूरब में नीच जाति की स्त्रियाँ हाथ में कलाई से लेकर कोहनी तक पहनती हैं । इसे ‘मठिया’ भी कहते हैं । (२) मट्टी या मठरी नामक पक्वान जो मैदे का बना होता है ।

माँड़-संज्ञा पुं० [सं० मंड] पकाए हुए चावलों में से निकला हुआ लसदार पानी । भात का पसेव । पीच । पसाव ।

संज्ञा स्त्री० [हि० माँडना] माँडने की क्रिया या भाव ।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का राग ।

माँड़ना†-क्रि० स० [सं० मंडन] (१) मर्दन करना । मलना । मसलना । मीजना । सानना । गूँधना । जैसे,—आटा माँड़ना । उ०—तब पीसै जब पहिले धोये । कापर-छान माँड भल होये ।—जायसी । (२) लगाना । पोतना । लेपन करना । जैसे,—मुँह में केसर वा गुलाब माँड़ना । (३) रचना । बनाना । सजाना । (४) किसी अन्न की बाल में से दाने झाड़ना । उ०—माँड़ि माँड़ि खरिहान क्रोध को फोता भजन भरावै । (५) मचाना । ठानना । उ०—और मंत्र कुछ उर जनि आनो आजु सुकपि रन माँड़हि ।—सूर ।

माँड़नी-संज्ञा स्त्री० [सं० मंडन] संजाफ । मग्जी । गोठ । हाशिया । किनारा । उ०—(क) अँगिया नील माँड़नी राती निरखत नैन चुराई ।—सूर । (ख) नील कंचुकी माँड़नि लाल । भुजनि नवइ आभूषणा माल ।—सूर ।

माँड्यो†-संज्ञा पुं० [सं० मंडप] (१) आगतुक लोगों के ठहरने का स्थान । अतिथिशाला । (२) विवाहादि के घर में वह स्थान जहाँ संपूर्ण आहूत देवताओं का स्थापन किया जाता है । (३) विवाह का मंडप । मँडवा । उ०—आए नाथ द्वारिका नीके रच्यो माँड्यो छाय । व्याह केलि विधि रची सकल सुख सौजगनी नहिं जाय ।—सूर ।

माँडलिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो किसी मंडल या प्रांत की रक्षा अथवा शासन करता हो । (२) वह छोटा राजा जो किसी सार्वभौम या चक्रवर्ती राजा के अधीन हो और उसे कर देता हो । (३) शासन कार्य ।

माँडव-संज्ञा पुं० [सं० मंडप] विवाह आदि अथवा दूसरे शुभ कृत्यों के लिये छाया हुआ मंडप । उ०—(क) आलेहि बाँस के माँडव मनगन पूरन हो । मोतिन झालर लागि चहुँ दिसि झलन हो ।—तुलसी । (ख) गुनि गन कहेउ नृप माँडव छावन । गावहिं गीत सुआसिन बाज बधावन ।—तुलसी ।

मांडवी-संज्ञा स्त्री० [सं० माण्डवी] राजा जनक के भाई कुवाध्वज की कन्या जो भरत को व्याही थी । उ०—मांडवी चित्तचातक नवाबुदरन सरन तुलसीदास अभयदाता ।—तुलसी ।

मांडव्य-संज्ञा पुं० [सं० माण्डव्य] (१) एक प्राचीन ऋषि जिनको बाल्यावस्था के किए हुए पाप के अपराध के कारण यमराज ने शूली चढ़वा दिया था । इस पर ऋषि ने यमराज को शाप दिया कि तुम शूद्र हो जाओ, जिससे यमराज दासी के गर्भ से पंडु के यहाँ उत्पन्न हुए थे । उ०—विदुर सुधर्मराइ अवतार । ज्यों भयो कहौं पुनो चितधार । मांडव्य ऋषि जब शूली दयो । तब सो काठ हन्यो है गयो ।—सूर । (२) एक प्राचीन जाति का नाम । (३) एक प्राचीन नगर का नाम ।

माँड़ा-संज्ञा पुं० [सं० मंड] आँख का एक रोग जिसमें उसके ऊपरी पर्दे के अंदर महीन झिल्ली सी पड़ जाती है । इस झिल्ली का रंग चावल के माँड़े के समान होता है और इसके कारण रोगी को दिखाई नहीं पड़ता । यह औषधोपचार या शस्त्र-क्रिया से निकाला भी जाता है ।

संज्ञा पुं० [सं० मंडप] मंडप । मँडवा ।

संज्ञा पुं० [हि० माँडना = गूँथना] (१) एक प्रकार की बहुत पतली रोटी जो मैदे की होती और घी में पकती है । लुचई । उ०—(क) मुदाँ दोजख में जाय या बिहिस्त में, हमें तो अपने हलुवे माँड़े से काम है । (कहावत) (ख) काकी भूख गई बयारि भख बिना दूध घृत माँड़े ।—सूर । (२) एक प्रकार की रोटी जो तवे पर थोड़ा घी लगाकर पकाई जाती है । पराँठा । उलटा ।

माँड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० मंड] (१) भात का पसावन । पीच । माँड़ । (२) कपड़े या सूत के ऊपर चढ़ाया जानेवाला कलफ़, जो भिन्न भिन्न कपड़ों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार से तैयार किया जाता है ।

विशेष—ग्रह माँड़ी आटे, मैदे, अनेक प्रकार के चावलों तथा कुछ बीजों से तैयार की जाती है और प्रायः लेई के रूप में होती है । कपड़ों में इसकी सहायता से कड़ापन या करारापन लाया जाता है ।

क्रि० प्र०—देना ।—लगाना ।

माँड़क-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल के एक प्रकार के ब्राह्मण जो वैदिक मंडूक शाखा के अंतर्गत होते थे ।

माँड़कायनि-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक आचार्य का नाम ।

माँड़क्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक उपनिषद् का नाम ।

वि० मंडूक संबंधी ।

माँड़ौ-संज्ञा पुं० [सं० मंडप] विवाह का मंडप । मँडवा ।

उ०—माँड़ौ गढ़ो रंग-मंदिर कै आँगन वेद बिधाना । ता ऊपर जरकसी रज्जु मणिमय विशद चिताना ।—रघुराज ।

माँढ़ा-संज्ञा पुं० दे० “माँड़व” ।

माँत-वि० [सं० मत] (१) उन्मत्त । मस्त । मत्त । बेसुध । (२) दीवाना । पागल ।

वि० [हि० मात या सं० मंद] (१) बे-रौनक । उदास । बद-रंग । उ०—पड़ा माँत गोरख कर चेला । जिव तन छौड़ि स्वर्ग कहँ खेला ।—जायसी । (२) हारा हुआ । पराजित । मात ।

माँतना-क्रि० अ० [सं० मत + ना (प्रत्य०)] उन्मत्त होना । पागल होना ।

माँता-वि० [सं० मत] मतवाला । उन्मत्त ।

माँत्र-वि० [सं०] मंत्र संबंधी । मंत्र का ।

माँत्रिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो मंत्रों का पाठ करने में पारंगत हो । (२) वह जो तंत्र-मंत्र का काम करता हो ।

माँथ-संज्ञा पुं० [सं० मरतक] माथा । सिर ।

माँथबंधन-संज्ञा पुं० [हि० माँथ + बंधन] (१) सूत या ऊन की डोरी जिससे स्त्रियाँ सिर के बाल बाँधती हैं । पराँदा । चबकी । चँवरी । (२) सिर पर लपेटने या बाँधने का कपड़ा । जैसे,—पगड़ी, साफा आदि ।

माँद-वि० [सं० मंद] (१) बेरौनक । उदास । बद-रंग । (२) किसी के मुकाबले में फीका, खराब या हल्का ।

क्रि० प्र०—करना ।—पड़ना ।—होना ।

(२) पराजित । हारा हुआ । मात ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) गोबर का वह ढेर जो पड़ा पड़ा सूख जाता है और जो प्रायः जलाने के काम आता है । इसकी आँच उपलों की आँच के मुकाबले में मंद या धीमी होती है । (२) हिंसक जंतुओं के रहने का विवर । बिल । गुफा । चुर । खौह ।

माँद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तालाब का जल । (२) ग्रहों की रवि या चंद्र संबंधी नीचोच्च या मंदोच्च गति ।

माँदगी-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) बीमारी । रोग । (२) थकावट ।

माँदर-संज्ञा पुं० [हि० मर्दल] मृदंग का एक भेद जिसे मर्दल कहते हैं । उ०—बाजहिं ढोल दुंदु अरु भेरी । माँदर तूर श्राँस चहुँ फेरी ।—जायसी ।

माँदा-वि० [फा० माँदः] (१) थका हुआ । (२) बचा हुआ । बाकी । अवशिष्ट ।

संज्ञा पुं० रोगी । बीमार ।

माँदार-वि० [सं०] मंदार संबंधी । मंदार का ।

माँदार्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो विषयों या राग-द्वेष आदि से परे हो गया हो । वीतराग ।

माँघ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमी । न्यूनता । घटी । (२) मंद होने की क्रिया या भाव । जैसे,—अग्नि-माँघ । (३) रोग । बीमारी ।

मांघाता—संज्ञा पुं० [सं० मांघात] एक प्राचीन सूर्यवंशी राजा जो युवनाश्व का पुत्र था और जिसकी राजधानी अयोध्या में थी। कहते हैं कि राजा युवनाश्व कोई संतान न होने पर भी संसार त्यागकर वन में ऋषियों के साथ रहने लगा था। ऋषियों ने उस पर दया करके उसके घर संतान होने के लिये यज्ञ किया। आधी रात के समय जब यज्ञ समाप्त हो गया, तब ऋषियों ने एक घड़े में अभिमंत्रित जल भर कर देदी में रख दिया और आप सो गए। रात के समय जब युवनाश्व को बहुत अधिक प्यास लगी, तब उसने उठकर वही जल पी लिया जिसके कारण उसे गर्भ रह गया। समय पाकर उस गर्भ से दाहिनी कोख फाड़कर एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो यही मांघाता था। इंद्र ने इसे अपना अँगूठा चुसाकर पाला था। आगे चलकर यह बहुत प्रतापी और चक्रवर्ती राजा हुआ था और इसने शशविंदु की कन्या विंदुमती के साथ विवाह किया था, जिसके गर्भ से इसे पुरुकुत्स, अंबरीष और मुचुकुंद नामक तीन पुत्र और पचास कन्याएँ उत्पन्न हुई थीं। उ०—कह्यो मांघाता सों जाइ। पुत्री एक देहु मोहिं राइ।—सूर।

माँपना—क्रि० प्र० [हि० माँपना] नशे में चूर होना। उन्मत्त होना। उ०—नयन सजल तन थरथर काँपी। माँजहिं खाइ मीन जनु माँपी।—तुलसी।

क्रि० सं० दे० “मापना”।

माँयँ—अव्य० [सं० मध्य, हि० माँय] में। बीच। मध्य। अंदर। उ०—बरष एक के माँयँ एकादशी चौबिस परैं। सुनो सबन के नाँयँ, फल समेत वर्णन कए।—विश्राम।

मांस—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनुष्यों और पशुओं आदि के शरीर के अंतर्गत वह प्रसिद्ध चिकना, मुलायम, लचीला, लाल रंग का पदार्थ जो शरीर का एक मुख्य अवयव है और जो रेशेदार तथा चरबी मिला हुआ होता है। शरीर का यह अंश हड्डी, चमड़े, नाड़ी, नस और चरबी आदि से भिन्न है। इसका एक अंश कंकाल से लगा हुआ छोटे छोटे टुकड़ों में बँटा रहता है और वह ऐच्छिक कहलाता है; अर्थात् इच्छानुसार उसका संचालन किया जा सकता है। ये टुकड़े आपस में सूत्रों के द्वारा जुड़े रहते हैं और उन सूत्रों के हटाने पर सहज में अलग हो सकते हैं। इन टुकड़ों को मांसपेशी कहते हैं। ये मांसपेशियाँ छोटी, बड़ी, पतली, मोटी आदि अनेक प्रकार की होती हैं। आशयों, नलियों, मागों और हृदय आदि अंगों का मांस पेशियों में विभक्त नहीं होता। इन अंगों में मांस की केवल पतली या मोटी तहें रहती हैं, जो आपस में एक दूसरी से बिलकूल मिली हुई होती हैं। ऐसा मांस अनैच्छिक या स्वाधीन कहलाता है; अर्थात् इच्छानुसार उसका संचालन नहीं किया जा सकता। मांस अथवा मांसपेशी मुका-

यम होने के कारण चाकू आदि से सहज में कट जाती है। शरीर में सभी जगह थोड़ा बहुत मांस रहता है और शरीर के भार में उसका अंश प्रति सैकड़े ४२-४३ के लगभग होता है। शरीर की सब प्रकार की गतियाँ मांस के ही द्वारा होती हैं। मांस आवश्यकता पड़ने पर सिकुड़कर छोटा और मोटा होता है और फिर अपनी पूर्व अवस्था में आ जाता है। सुश्रुत के अनुसार मांसपेशियों की संख्या ५०० तथा आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सकों के मत से ५१९ है। वैद्यक के अनुसार यह रक्त से उत्पन्न तीसरी धातु है। भावप्रकाश के अनुसार जब शरीर की अग्नि अथवा ताप के द्वारा रक्त का परिपाक होता है और वह वायु के संयोग से घनीभूत होता है, तब वह मांस का रूप धारण करता है। वैद्यक के अनुसार साधारणतः सभी प्रकार का मांस वायुनाशक, उपचयकारक, बलवर्धक, पुष्टिकारक, गुरु, हृदयग्राही और मधुर-रस होता है। गोश्त।

पर्य्या०—आमिष। पिशित। पालल। क्रम्य। पल। आम्रज।

यौ०—मांस का घी = चरबी।

(२) कुछ विशिष्ट पशुओं के शरीर का उक्त अंश जो प्रायः खाया जाता है। गोश्त।

विशेष—हमारे यहाँ यह मांस दो प्रकार का माना गया है—जांगल और अनूप। जंगल, विलस्थ, गुहाशय, पर्णमृग, विष्किर, प्रतुद, प्रसह और ग्राम्य इन आठ प्रकार के जंगली जीवों का मांस जांगल कहलाता है; और वैद्यक के अनुसार मधुर, कषाय, रुक्ष, लघु, बलकारक, शुक्रवर्धक, अग्निदीपक, दोषघ्न और वधिरता, अरुचि, वसि, प्रमेह, मुखरोग, श्लीपद और गलगंड आदि का नाशक माना जाता है। कुलेचर, ह्रय, कौशस्थ, पाद्री और मत्स्य इन पाँच प्रकार के जीवों का मांस अनूप कहलाता है; और वैद्यक के अनुसार साधारणतः मधुर रस, जिग्ध, गुरु, अग्नि को मंद करनेवाला, कफकारक तथा मांसपोषक होता है। पक्षियों में से पुरुष जाति अथवा नर का और चौपायों में स्त्री जाति अथवा मादा का मांस अच्छा कहा गया है। इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न जीवों के मांस के गुण भी भिन्न भिन्न होते हैं। साधारणतः प्रायः सभी देशों और सभी जातियों में कुछ विशिष्ट पशुओं, पक्षियों और मछलियों आदि का मांस बहुत अधिकता से खाया जाता है। पर भारत के कुछ धार्मिक संप्रदायों के अनुसार मांस खाना बहुत ही निषिद्ध है। पुराणों में इसका खाना पाप माना गया है। कुछ आधुनिक वैज्ञानिकों और चिकित्सकों आदि का मत है कि मांस मनुष्य का स्वभाविक भोजन नहीं है और उसके खाने से अनेक प्रकार के घातक तथा असह्य रोग उत्पन्न होते हैं।

यौ०—मांसाहारी।

संज्ञा पुं० दे० “मांस” ।

मांसकच्छप-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का रोग जो तालू में होता है ।

मांसकारी-संज्ञा पुं० [सं० मांसकारिन्] रक्त । लहू ।

मांसकीलक-संज्ञा पुं० [सं०] बवासीर का मसा ।

मांसकेशी-संज्ञा पुं० [सं० मांसकेशिन्] वह घोड़ा जिसके पैरों में मांस के गुठले निकलते हैं ।

मांसखोर-संज्ञा पुं० [सं० मांस + प्रा० खोर] मांस खानेवाला । मांसाहारी ।

मांसग्रंथि-संज्ञा स्त्री० [सं०] मांस की गाँठ जो शरीर के भिन्न भिन्न अंगों में निकल आती है ।

मांसच्छ-संज्ञा स्त्री० [सं०] मांसरोहिणी या मांसी नाम की लता ।

मांसज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो मांस से उत्पन्न हो । (२) मांस से उत्पन्न शरीर में की चर्बी ।

मांसतान-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का भीषण रोग जिसमें गले में सूजन होकर चारों ओर फैल जाती है और जिसमें बहुत अधिक पीड़ा होती है । इससे कभी कभी गले की नाली घुटकर बंद हो जाती है और रोगी मर जाता है ।

मांसतेज-संज्ञा पुं० [सं० मांसतेजस्] चर्बी ।

मांसद्रावी-संज्ञा पुं० [सं० मांसद्राविन्] अम्लवेत ।

मांसधरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुश्रुत के अनुसार शरीर के चमड़े की सातवीं तह जो स्थूलपर भी कहलाती है ।

मांसपाक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का लिंग का रोग जिसमें लिंग का मांस फट जाता है और उसमें पीड़ा होती है ।

मांसपिंड-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर । देह ।

मांसपिंडी-संज्ञा स्त्री० [सं० मांसपिंड] शरीर के अंदर होनेवाली मांस की गाँठ । (कहते हैं कि पुरुषों के शरीर में इस प्रकार की ५०० और स्त्रियों के शरीर में ५२० गाँठें होती हैं ।)

मांसपित्त-संज्ञा पुं० [सं०] हड्डी ।

मांसपुष्टिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का पौधा जिसमें सुंदर फूल लगते हैं और जिसे “अमरारि” भी कहते हैं ।

मांसपेशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शरीर के अंदर होनेवाला मांस पिंड । वि० दे० “मांस” । (२) भावप्रकाश के अनुसार गर्भ की वह अवस्था जो गर्भ-धारण के सात दिनों के बाद होती है और प्रायः एक सप्ताह तक रहती है ।

मांसफल-संज्ञा पुं० [सं०] तरबूज ।

मांसफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] भिंडी ।

मांसभक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो मांस खाता हो । मांसाहारी । (२) पुराणानुसार एक दानव का नाम ।

मांसभक्षी-संज्ञा पुं० [सं० मांसभक्षिन्] मांस खानेवाला । मांसाहारी । गोश्तखोर ।

मांसभोजी-संज्ञा पुं० [सं० मांसभोजिन्] मांस खानेवाला । मांसाहारी ।

मांसमंड-संज्ञा पुं० [सं०] मांस का झोल या रसा । शोरबा । यखनी ।

मांसमासा-संज्ञा स्त्री० [सं०] माषपर्णी ।

मांसयोनि-संज्ञा पुं० [सं०] रक्त-मांस से उत्पन्न जीव ।

मांसरक्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मांसरोहिणी । रोहिणी ।

मांसरज्जु-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुश्रुत के अनुसार शरीर के अंदर होनेवाले स्नायु जिनसे मांस बँधा रहता है । (२) मांस का रसा । शोरबा ।

मांसरस-संज्ञा पुं० [सं०] मांस का रसा । यखनी । शोरबा ।

मांसरुहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मांसरोहिणी ।

मांसरोहिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का जंगली वृक्ष जिसकी प्रत्येक डाली में खिरनी के पत्तों के आकार के सात सात पत्ते लगते हैं और जिसके फल बहुत छोटे छोटे होते हैं । वैद्यक में इसे उष्ण, त्रिदोषनाशक, वीर्यवर्धक, सारक और व्रण के लिये हितकारी माना है ।

पर्या०—अतिरुहा । वृत्ता । चर्मकषा । वसा । प्रहावरवल्ली । विकशा । वीरवती । अग्निरुहा । कशामांसी । महामांसी । मांसरोहा । रसायनी । सुलोमा । लोमकर्णी । रोहिणी । चंद्रवल्लभा ।

मांसल-वि० [सं०] (१) मांस से भरा हुआ । मांसपूर्ण । (अंग) जैसे,—चूतड़, जाँघ आदि । (२) मोटा ताजा । पुष्ट । (३) बलवान् । मजबूत । दृढ़ । संज्ञा पुं० (१) काव्य में गौड़ी रीति का एक गुण । (२) उड़द ।

मांसलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मांसल होने का भाव । (२) स्थूलता और पुष्टि ।

मांसलफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भिंडी । (२) तरबूज ।

मांसलित-संज्ञा पुं० [सं०] हड्डी ।

मांसवारुणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रकार की मदिरा जो हिरन आदि के मांस से बनाई जाती है ।

मांसविक्रयी-संज्ञा पुं० [सं० मांसविक्रयिन्] (१) वह जो मांस बेचता हो । कसाब । (२) वह जो धन के लिये अपनी कन्या या पुत्र बेचता हो ।

मांसवृद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] शरीर के किसी अंग के मांस का बढ़ जाना । जैसे,—घेवा, फीलपाँव आदि ।

मांससंवात-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें तालू में कुछ दूषित-मांस बढ़ जाता है । इसमें पीड़ा नहीं होती ।

मांससमुद्भवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] चर्बी ।

मांससार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शरीर के अंतर्गत मेद नामक धातु । (२) वह जो हृष्ट पुष्ट हो ।

मांसस्नेह-संज्ञा पुं० [सं०] चर्बी ।

मांसहासा-संज्ञा पुं० [सं०] चमड़ा ।

मांसाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो मांस खाता हो । (२) राक्षस ।

मांसारि-संज्ञा पुं० [सं०] अम्लवेत ।

मांसार्बुद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का रोग जिसमें लिंग के ऊपर कड़ी फुंसियाँ सी हो जाती हैं । (२) शरीर में मुँके आदि के आघात से होनेवाली एक प्रकार की सूजन जिसमें वह स्थान पत्थर के समान कड़ा हो जाता है और उसमें पीड़ा नहीं होती । ऐसी सूजन असाध्य मानी जाती है ।

मांसाशन-संज्ञा पुं० दे० “मांसाशी”

मांसाशी-संज्ञा पुं० [सं० मांसाशिन] (१) वह जो मांस खाता हो । मांसाहारी । (२) राक्षस ।

मांसाष्टका-संज्ञा स्त्री० [सं०] माघ कृष्ण अष्टमी । प्राचीन काल में इस दिन मांस के बने हुए पदार्थों से श्राद्ध करने का विधान था ।

मांसाहारी-संज्ञा पुं० [सं० मांसाहारिन्] मांसभक्षी । मांस भोजन करनेवाला ।

मांसिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] जटामाँसी ।

माँसी-वि० [सं० माप] उर्द के रंग का ।

संज्ञा पुं० उर्द के रंग के समान एक प्रकार का हरा रंग ।

माँसी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जटामाँसी । (२) काकोली । (३)

मांसरोहिणी । (४) चंदन आदि का तेल । (५) इलायची ।

माँसु-संज्ञा पुं० दे० “मांस” । उ०—जेहि तन पेम कहाँ तेहि

माँसू । क्या न रक्त न नैनन आँसू ।—जायसी ।

माँह-अव्य० [सं० मय्य] में । बीच । अंदर । भीतर ।

माँहा-अव्य० दे० “माँह” ।

माँहि, माहीं-अव्य० दे० “माँह” ।

माँहै-अव्य० दे० “माँह” ।

मा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लक्ष्मी । उ०—सिंधु सुता मा इंदिरा विष्णु-वल्लभा सोइ ।—अने० (२) माता । (३) ज्ञान । (४) दीप्ति । प्रकाश ।

माई, माई-संज्ञा स्त्री० [सं० मातृ] छोटा पूआ जिससे विवाह में मातृपूजन किया जाता है ।

मुहा०—माईन में थापना = पितरों के समान आदर करना ।

उ०—जौ लौं हौं जीवन भर जीवों सदा नाम तुव जपिहौं ।

दधि ओदन दोना करि देहौं अरु माईन में थपिहौं ।—सूर ।

संज्ञा स्त्री० [अनु०] पुत्री । लड़की । कन्या ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० मामा] मामा की स्त्री । मामी ।

माइ-संज्ञा स्त्री० दे० “माई” । उ०—(क) तब पूछियो

रघुराइ । सुख है पिता तन माइ ।—केशव । (ख) मेरे गुरु को धनुष यह सीता मेरी माइ ।—केशव ।

माइका-संज्ञा पुं० [सं० मातृ + गृह] स्त्री के लिये उसके माता-पिता का घर । नैहर । उ०—(क) और तो माँहि सबै सुख री दुख री यहै माइके जान न देत है ।—पद्माकर । (ख) बैठी हुती तिथि माइके में ससुरारि को काहू सँदेस सुनायो ।—मतिराम ।

माई-संज्ञा स्त्री० [सं० मातृ] (१) माता । जननी । माँ ।

यौ०—माई का लाल = (१) उदार चित्तवाला व्यक्ति । उ०—

क्या फिर कोई देवनंदन जैसा माई का लाल न जनमैगा ।—

अयोध्या । (२) वीर । शूर । बली । शक्तिवान् । उ०—

(क) क्या ऐसा कोई माई का लाल नहीं है जो मुझको

इनके हाथों से बचावे ।—अयोध्या । (ख) एक बार एक

पंजाबी हाजी को बद्दुओं ने घेर लिया । उसने अपनी

कमर से रुपये निकालकर सामने रख दिये और ललकार

कर कहा कि कोई माई का लाल हो, तो इसे मेरे सामने से

ले जाय ।—सरस्वती ।

(२) बूढ़ी वा बड़ी स्त्री के लिये आदरसूचक शब्द । उ०—

(क) सत्य कहौं मोहिं जान दे माई ।—तुलसी । (ख)

कहाँहि झूठ फुरि बात बनाई । ते प्रिय तुमहिं करइ मैं

माई ।—तुलसी । (ग) सीय स्वयंबरु माई दोउ भाई आये

देखन ।—तुलसी ।

माउल्लहम-संज्ञा पुं० [अ०] हिकमत में मांस का बना हुआ एक प्रकार का अरक जो बहुत अधिक पुष्टिकारक माना जाता है और जिसका व्यवहार प्रायः जादे के दिनों में शरीर का बल बढ़ाने के लिये होता हो ।

माकंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आम का वृक्ष । (२) दे० “मानकंद” ।

माकंदी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आँवला । (२) महाभारत काल के एक गाँव का नाम ।

विशेष—युधिष्ठिर ने दुर्योधन से जो पाँच गाँव माँगे थे, उनमें से एक यह भी था ।

(३) पीला चंदन ।

माकरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मरुआ ।

माकरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] माघ शुक्ल सप्तमी जो एक पुण्यतिथि मानी जाती है ।

माकलि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा । (२) इंद्र के सारथी मातलि का एक नाम ।

माकुली-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का साँप ।

माकूल-वि० [अ०] (१) उचित । वाजिब । ठीक । (२) लायक ।

योग्य । (३) यथेष्ट । पूरा । (४) अच्छा । बढ़िया । (५)

जिसने वाद-विवाद में प्रतिपक्षी की बात मान ली हो । जो

निरुत्तर हो गया हो ।

मासिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शहद । मधु । (२) सोनामक्खी ।
(३) रूपामक्खी ।

मासिकज-संज्ञा पुं० [सं०] मोम ।

मासिकांत-संज्ञा पुं० [सं०] माधवी नामक मद्य । मधुए की शराब ।

मासिकाश्रय-संज्ञा पुं० [सं०] मोम ।

मासिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मधु । शहद । (२) सोनामक्खी ।
(३) रूपामक्खी ।

माख-संज्ञा पुं० [सं० मख] (१) अप्रसन्नता । नाराजगी ।
नाखुशी । क्रोध । रिस । उ०—(क) देखेउँ आय जो कछु
कपि भाखा । तुम्हरे लाज न रोष न माखा ।—तुलसी ।
(ख) लीवे को लाख करै अभिलाष करै कहूँ माख परै कबहूँ
हँसि ।—बेनी । (२) अभिमान । घमंड । (३) पछतावा ।
(४) अपने दोष को ढकना ।

माखन-संज्ञा पुं० दे० “मखन” । उ०—(क) माखन ते मन
कोमल है यह बानि त जानति कौन कठोर है ।—आनंदधन ।
(ख) ता खिन ते इन आँखिन ते न कदो वह माखन चाखन-
हारो ।—पद्माकर । (ग) माखन सो मेरे मोहन को मन
काठ सी तेरी कटेडी ये बातें ।—केशव ।

यौ०—माखनचोर = श्रीकृष्ण ।

माखना-संज्ञा पुं० [हि० माख] अप्रसन्न होना । नाराज
होना । क्रोध करना । उ०—(क) अब जनि कोउ माखइ
भट मानी । बीर-बिहीन मही मैं जानी ।—तुलसी । (ख)
माखे लखन कुटिल भई भौ हैं । रदपुट फरकत नैन रिसौ हैं ।
—तुलसी । (ग) पत्र सुनत रतनावती मुंडन कीन्हो केश ।
सुनत माखि मारन चहौ रतनावतिहि नरेश ।—रघुराज ।
(घ) कलू न थिरता लहै छनक रीसै छन माखै ।—व्यास ।

माखी-संज्ञा स्त्री० [सं० माखिक] (१) मक्खी । उ०—(क)
दूध की माखी उजागर वीर सो हाय मैं आँखिन देखत
खाई ।—ठाकुर । (ख) चंदन पास न बैठे माखी ।—जायसी ।
(ग) भामिनि भइउ दूध कर माखी ।—तुलसी । (२)
सोनामक्खी ।

मागध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन जाति जो मनु के
अनुसार वैश्य के वीर्य से क्षत्रिय कन्या के गर्भ से उत्पन्न
है । इस जाति के लोग वंशक्रम से विरुदावली का वर्णन
करते हैं और प्रायः “भाट” कहलाते हैं । उ०—(क) मागध
बंदी सूत गण बिरद बदहिं मतिवीर ।—तुलसी । (ख)
मागध बंशावली बखाना ।—रघुराज । (२) जरासंध का
एक नाम । उ०—मागध मगध देश तें आयो लीन्हें फौज
अपार ।—सूर । (३) जीरा (४) पिप्पलीमूल ।
वि० [सं० मगध] मगध देश का ।

३६४

मागधक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मागध । भाट । (२) मगध देश
का निवासी ।

मागधपुर-संज्ञा पुं० [सं०] मगध की पुरानी राजधानी, राजगृह ।

मागधिक-वि० [सं०] मगध देश संबंधी । मगध का ।

मागधिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पिप्पली । पीपल ।

मागधी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मगध देश की प्राचीन प्राकृत
भाषा । (२) जूही । यूथिका । (३) शकर । चीनी ।
(४) छोटी पीपल । पिप्पली । (५) छोटी इलायची ।

माघ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ग्यारहवाँ चांद्र मास जो पूस के
बाद और फाल्गुन से पहले पड़ता है । उ०—माघ मकरगत
रवि जब होई । तीरथपतिहिं आच सब कोई ।—तुलसी ।
(२) संस्कृत के एक प्रसिद्ध कवि का नाम । (३) उपर्युक्त
कवि का बनाया हुआ एक प्रसिद्ध काव्यग्रंथ जिसमें कृष्ण
द्वारा विशुपाल का वध वर्णन किया गया है ।
संज्ञा पुं० [सं० माघ] कुंद का फूल । उ०—मुसुकान कदहिं
रद माघ से फाल्गुन सो जोधा महत ।—गोपाल ।

माघी-संज्ञा स्त्री० [सं० माघ + ई] माघ मास की पूर्णिमा जो मघा
नक्षत्र से युक्त होती है । कहते हैं कि कलियुग का आरंभ
इसी तिथि को हुआ था ।
वि० माघ का । जैसे,—माघी मिर्च ।

माघ्य-संज्ञा पुं० [सं०] कुंद का फूल ।

माच-संज्ञा पुं० दे० “मचन” । उ०—जब यदुपति कुल कंसहिं
माच्यो । तिहूँ भुवन भयो सोर पसाच्यो । तुरत माच तें
धरनि गिरायो । ऐसेहि मारत बिलम न लायो ।—सूर ।
संज्ञा पुं० [सं०] मार्ग । रास्ता ।

माचना-संज्ञा पुं० दे० “मचना” । उ०—(क) इमि संगर
माचत भयो मधुवन के सब ओर ।—गोपाल । (ख) द्वादस
दिवस चहूँ दिसि माच्यो फागु सकल ब्रज माँस ।—सूर ।
(ग) बंदौँ कौसल्या दिसि प्राची । कीरति जासु सकल जग
माची ।—तुलसी । (घ) कहै पदमाकर त्यों तिनकी अवाइन
के, माचि रहे जोर सुरलोकन में सोर है ।—पदमाकर ।

माचल-संज्ञा पुं० [हि० मचलना] (१) मचलनेवाला । जिद्दी । हठी ।
उ०—महा माचल मारिबे की सकुच नाहिन मोहिं । पन्यौं
हौं प्रण किये द्वारे लाज प्रण की तोहिं ।—सूर । (२) मचला ।
संज्ञा पुं० [सं०] (१) ग्रह । (२) रोग । बीमारी । (३)
वंदी । कैदी । (४) चोर ।

माचा-संज्ञा पुं० [सं० मंच] बैठने की पीढ़ी जो खाट की तरह
ठुनी होती है । बड़ी मचिया ।

माचिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मक्खी । (२) अमड़े का वृक्ष ।

माची-संज्ञा स्त्री० [सं० मंच] (१) हल जोतने का जुआ । वह
जुआ जो हल जोतते समय बैलों के कंधे पर रखा जाता है ।
(२) बैल-गाड़ी में वह स्थान जहाँ गाड़ीवान बैठता और

अपना सामान रखता है। (३) बैठने की वह पीढ़ी जो खाट की तरह झुनी हुई होती है।

माचीक-संज्ञा पुं० [सं०] देवदार।

माचीपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साग जिसे सुरपर्ण भी कहते हैं।

माछी-संज्ञा पुं० [सं० मत्स्य] मछली। उ०—चारा मेलि धरा जस माछू।—जायसी।

माछुर-संज्ञा पुं० दे० “मच्छड़”।

संज्ञा पुं० [सं० मत्स्य] मछली। उ०—वह कैलास इंद्र कर बासू। जहाँ न अन्न न माछर माँसू।—जायसी।

माछी-संज्ञा स्त्री० [सं० मत्स्य] (१) मछली। उ०—काँची रोटी कुचकुची परती माछी बार। फूहर बही सराहिये परसत टपकै लार।—गिरधर। (२) बंदूक की मछिया। वि० दे० “मछिया”।

संज्ञा स्त्री० [सं० मत्स्य] मछली। (क०)।

माजरा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) हाल। वृत्तांत। (२) घटना।

माजू-संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक प्रकार की झाड़ी जो यूनान और फारस आदि देशों में बहुतायत से होती है। इसकी आकृति सरो की सी होती है। इसकी डालियों पर से एक प्रकार का गोंद निकलता है जो “माजूफल” कहलाता है और जिसका व्यवहार रंग तथा ओषधि के लिये होता है।

माजून-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) ओषधि के रूप में काम आनेवाला कोई मीठा अवलेह। (२) वह बरफी या अवलेह जिसमें भाँग मिली हो।

माजूफल-संज्ञा पुं० [फ़ा० माजू + फल] माजू नामक झाड़ी का गोटा या गोंद जो ओषधि तथा रँगई के काम में आता है।

पर्या०—मायाफल। माईफल। सागरगोटा।

माट-संज्ञा पुं० [हि० मट्का] (१) मिट्टी का बना हुआ एक प्रकार का बड़ा बरतन जिसमें रँगरेज़ लोग रंग बनाते हैं। इसे ‘मटोर’ भी कहते हैं।

मुहा०—माट बिगाड़ जाना = किसी के स्वभाव का ऐसा बिगाड़ जाना कि उसका सुधार असंभव हो।

(२) बड़ी मटकी जिसमें दही रखा जाता है। उ०—सिर दधि माखन के माट गावत गीत नये। कर झाँझ मृदंग बजाइ सब नैद भवन गये।—सूर।

माटा-संज्ञा पुं० [हि० मटा] लाल च्यूटा जिसके छुंड के छुंड आम के पेड़ों पर रहते हैं।

माटी-संज्ञा स्त्री० [हि० मिट्टी] (१) दे० “मिट्टी”। (२) साल भर की जोताई या उसकी मेहनत। जैसे,—यह बैल चार माटी का चला है। (३) मृत शरीर। शव। लाश। उ०—(क) कहता सुनता देखता लेता देता प्रान। दादू सो कतहूँ गया माटी धरी मसान। (ख) मरनो भलो विदेस

को जहाँ न अपनो कोय। माटी खाँय जनावराँ महा महो-च्छव होय। (ग) काल आइ दिखराई साँटी। उठि जिउ चला छाँड़ि कै माटी।—जायसी। (४) शरीर। देह। (५) पाँच तत्त्वों के अंतर्गत पृथ्वी नामक तत्व। उ०—पानी पवन आग अह माटी। सब की पीठ तोर है साँटी।—जायसी। (६) धूल। रज। उ०—(क) गढ़ गिरि फूटि भये सब माटी। हस्ति हेरान तहाँ का चाँटी।—जायसी। (ख) महँगि माटी मग हू की मृगमद साथ जू।—तुलसी। (मुहा० के लिये दे० “मिट्टी”।)

माठ-संज्ञा पुं० [हि० मीठा] एक प्रकार की मिठाई।

विशेष—मैदे की एक मोटी और बड़ी पूरी पकाकर शक्कर के पाग में उसे पाग लेते हैं। इसी को माठ कहते हैं। यही मिठाई जब छोटे आकार में बनाई जाती है, तब उसे ‘मटरी’ वा ‘टिकिया’ कहते हैं। उ०—भइ जो मिठाई कही न जाई। मुख मेलत खत जाय बिलाई। मतलइ छाल और मरकोरी। माठ पिराँकें और हुँदौरी।—जायसी।

संज्ञा पुं० [हि० मटकी] मिट्टी का पात्र जिसमें कोई तरल पदार्थ भरा जाय। मटकी। उ०—(क) मानो मजीठ की माठ डुरी इक ओर ते चाँदनी बोरत आवत।—शंभु कवि। (ख) धरत जहाँ ही जहाँ पग है सुप्यारी तहाँ, मंजुल मजीठ ही की माठ सी ढरत जात।—पद्माकर। (ग) स्वामिदसा लखि लखन सखा कपि पघिले हैं आँच माठ मानो घिय के।—तुलसी। (घ) दूट कंध सिर परै निरारे। माठ मँजीठ जानु रण दारे।—जायसी।

विशेष—कविता में यह शब्द प्रायः स्त्रीलिंग ही मिलता है।

माठर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य के एक पारिपार्श्वक जो यम माने जाते हैं। (२) व्यास। (३) ब्राह्मण। (४) कलाल।

माटा-संज्ञा पुं० दे० “मट्टा” या “मठा”।

संज्ञा पुं० [हि०] कृपण। कंजूस।

माठी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की कपास जो बंगाल, आसाम और संयुक्त प्रदेश में अधिकता से होती है। आज-कल यह कपास बहुत निम्न कोटी की मानी जाती है। उ०—सूर प्रभु को औसेर अतिही भई अवेर री, बेग चलि सजि श्रंगार काढ़ि माठी खग वारो आइके साज।—सूर।

माड़-संज्ञा पुं० [सं०] ताड़ की जाति का एक पेड़।

संज्ञा पुं० दे० “माँड़”।

माड़ना -क्रि० अ० [सं० मंडन] ठानना। सचाना। करना।

उ०—(क) निरखि यहुवंश को रहस मन में भयो देखि अनिरुद्ध सों युद्ध माड़्यौ।—सूर। (ख) मधुसूदन यह विरह अरु अरि नित माड़त रार। करुनानिधि अब यहि समय अपनो विरद विचार।—रसनिधि। (ग) ताते कठिन कुठार अब रामहिं सों रण माड़ि।—केशव। (घ) हौं तुम

सों फिर युद्धहिं मादौं । क्षत्रिय वंश को बैर लै छाँदौं ।—
केशव । (६) मनोज मख माड्यौ नाभि कुंड में ।—देव ।
क्रि० सं० [सं० मंडन] (१) मंडित करना । भूषित करना ।
(२) धारण करना । पहनना । उ०—सब शोकन छाँदौ
भूषण माड्यौ कीजै विविध बधाये ।—केशव । (२) आदर
करना । पूजना । उ०—ताते ऋषिराज सबै तुम छाँदौ ।
भूदेव सनाढ्यन के पद माड्यौ ।—केशव ।
क्रि० सं० [सं० मर्दन] (१) मर्दन करना । पैर वा हाथ से
मसलना । मलना । उ०—कोउ काजर कोउ बदन माड्यौ
हर्षहिं करहिं कलोल ।—सूर । (२) घूमना । फिरना । उ०—
डटी वस्तु फिर ताहि न छाँदौ । माखन हित सब के घर
माड्यौ ।—विश्राम ।

माडव-संज्ञा पुं० दे० “माँडौ” वा “मंडप” ।

संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्णसंकर जाति जो पुराणानुसार लेट
पिता और तीव्र माता के गर्भ से उत्पन्न है ।

माढा*†-संज्ञा पुं० [सं० मंडप] (१) अदारी पर का वह चौबारा
जिसकी छत गोल मंडप के आकार की हो । (२) अदारी
पर का चौबारा (चाहे वह किसी बनावट का हो) ।
उ०—को पलंग पौढ़ै को माढ़े । सोवनहार परा बँद गाढ़े ।
—जायसी । (३) दे० “माठा” ।

माढी*†-संज्ञा स्त्री० दे० “मदी” । उ०—अँगिया बनी कुचन सो
माढी ।—सूर ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] दाँतों का मूल ।

माणक-संज्ञा पुं० [सं०] मानकंद ।

माणतुंडिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का जलचर पक्षी ।

माणव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनुष्य । आदमी । (२) बालक ।
बच्चा । (३) सोलह लड़ी का हार ।

माणवक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोलह वर्ष की अवस्थावाला
युवक । (२) बीस वा सोलह लड़ी का हार । (३) विद्यार्थी ।
बटु । (४) निदित या नीच आदमी ।

माणवक्रीड़ा-संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्ण वृत्त जिसके प्रत्येक पद में
आठ वर्ण (एक भगण, एक तगण और दो लघु) होते हैं ।

माणिक-संज्ञा पुं० दे० “माणिक्य” ।

माणिक्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल रंग का एक एक रत्न जो
“लाल” कहलाता है । पद्मराग । चुन्नी । वि० दे० “लाल” ।
उ०—(क) परिपूर्ण सिंदूर पूर कैधौ मंगल घट किधौं शक्र
को छत्र मल्लौ माणिक मयूष पट ।—केशव । (ख) अनेक
राजा गणों के मुकुट-माणिक्य से सर्वदा जिनके पदतल लाल
रहते हैं, उन महाराज चंद्रगुप्त ने आपके चरणों में दंडवत
करके निवेदन किया है ।

पर्या०—रविरत्नक । शृंगारी । रंगमाणिक्य । तरुण । रत्ननायक ।
रत्न । सौगंधिक । लोहितिक । कुरुबिन्द ।

(२) भाव प्रकाश के अनुसार एक प्रकार का कैला ।

वि० सर्व श्रेष्ठ । शिरोमणि । परम आदरणीय । उ०—नृप
माणिक्य सुदेश, दक्षिण तिथ जिय भावती । कटि तट सुपट
सुदेश, कल काँची शुभ मंडई ।—केशव ।

माणिक्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] छिपकली ।

माणिवंध-संज्ञा पुं० [सं०] सेंधा नमक ।

माणिमंथ-संज्ञा पुं० [सं०] सेंधा नमक ।

मातंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथी । (२) क्षपण १ चांडाल ।

उ०—मदमत्त यदपि मातंग संग । अति तदपि पतित पावन
तरंग ।—केशव ।

विशेष—इस उदाहरण में श्लेष से यह शब्द दोनों अर्थों में
प्रयुक्त है ।

(३) एक ऋषि का नाम जो शवरी के गुरु शौर मातंगी
देवी के उपासक थे । ये मौन रहा करते थे; इसी लिये
जिस पर्वत पर ये रहते थे, उसका नाम ऋष्यमूक पड़ गया
था । (४) अश्वत्थ । (५) संवर्त्तक मेघ का एक नाम । (६)
एक नाग का नाम ।

मातंगनक्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बहुत बड़ा कुंभीर
(जलजंतु) ।

मातंगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कश्यप की एक कन्या । कहते
हैं कि हाथी इसी से उत्पन्न हुए थे । (२) तांत्रिकों के
अनुसार दस महाविद्याओं में से नवीं महाविद्या ।

मात-संज्ञा स्त्री० दे० “माता” । उ०—तात को न मात को न
भ्रात को कहा कियो ।—पद्माकर ।

संज्ञा स्त्री० [अ०] पराजय । हार । उ०—रघुकुल रवि
प्रताप के आगे रिपुकुल मानत मात ।—राधाकृष्णदास ।

क्रि० प्र०—करना ।—देना ।

वि० [अ०] पराजित । उ०—(क) तुव दग सतरँज बाज
सों मेरो बस न बसात । पातसाह मन को करै छवि सह
देकर मात ।—रसनिधि । (ख) देख्यौ बादशाह भाव, कूदि
परे गहे पाव, देखि करामात मात भये सब लोक हैं ।—
विश्वनाथसिंह । (ग) जासों मातलि मात अरुण गति जाति
सदा रुक ।—गोपाल ।

*वि० [सं० मत्] मदमस्त । मतवाला । (क०)

मातदिल-वि० [अ० मोस्तदिल] मध्यम प्रकृति का । जो गुण के
विचार से न बहुत ठंडा हो और न बहुत गरम ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग प्रायः ओषधियों या जल-वायु
आदि के संबंध में होता है ।

मातना ❧†-क्रि० अ० [सं० मत्] मस्त होना । मदमत्त हो
जाना । नशे में हो जाना । उ०—(क) जो अँचवत मातहिं
नृप तेई । नहिन साधु सभा जिन सेई ।—तुलसी । (ख)
पियत जहाँ मधु रसना मातत नैन । झुकत अतनुगति अध-

रनि कहत बने न ।—रहीम । (ग) साधू रहै लगाये छाता ।
ताहि देखि नृप अमरप माता ।—रघुराज ।

मातबर-वि० [अ० मोतबर] विश्वास करने योग्य । विश्वसनीय ।
जैसे,—इन्हें रुपए दे दीजिए; ये मातबर आदमी हैं ।

मातबरी-संज्ञा स्त्री० [अ०] मातबर होने का भाव । विश्वसनीयता ।

मातम-संज्ञा पुं० [अ०] (१) मृतक का शोक । वह रोना-पीटना आदि जो किसी के मरने पर होता है । उ०—जब बादशाह मर जाता है, तो सारे मुल्क के आदमी सौ दिन तक मातम रखते हैं और कोई काम खुशी का नहीं करते ।—शिव-प्रसाद ।

यौ०—मातमपुर्सी ।

(२) किसी दुःखदायिनी घटना के कारण उत्पन्न शोक ।

मातमपुर्सी-संज्ञा स्त्री० [फा०] जिसके यहाँ कोई मर गया हो, उसके यहाँ जाकर उसे दारस देने का काम । मृतक के संबंधियों को सात्वना देना ।

मातमी-वि० [फा०] मातम-संबंधी । शोक-सूचक । जैसे,—मातमी पोशाक, मातमी सूरत, मातमी रंग ।

मातमुख-वि० [हिं०] मूर्ख ।

मातरिपुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो केवल घर में अपनी माता आदि के सामने ही अपनी वीरता प्रकट करता हो; बाहर या औरों के सामने कुछ भी न कर सकता हो ।

मातरिश्वा-संज्ञा पुं० [सं० मातरिश्वन्] (१) अंतरिक्ष में चलने-वाला, पवन । वायु । हवा । (२) एक प्रकार की अग्नि ।

मातलि-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र के सारथी या रथ हाँकनेवाले का नाम । उ०—सुरपति निज रथ तुरत पठावा । हरष सहित मातलि लै आवा ।—तुलसी ।

यौ०—मातलिसूत = इंद्र ।

मातलिसूत-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र । उ०—कौशिक वासव वृत्रहा मघवा मातलिसूत ।—नंददास ।

मातली-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के वैदिक देवता जो यम और पितरों के साथ उत्पन्न माने गए हैं ।

मातहत-संज्ञा पुं० [अ०] किसी की अधीनता में काम करने-वाला । अधीनस्थ कर्मचारी ।

मातहती-संज्ञा स्त्री० [अ० मातहत + ई (प्रत्य०)] मातहत या अधीनता में होने का काम या भाव ।

माता-संज्ञा स्त्री० [सं० मातृ] (१) जन्म देनेवाली स्त्री । जननी । उ०—जो बालक कह तोतरि बाता । सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता ।—तुलसी । (२) कोई पूज्य वा आदरणीय बड़ी स्त्री । (३) गौ । (४) भूमि । (५) विभूति । (६) लक्ष्मी । (७) रेवती । (८) इंद्रवारुणी । (९) जटामासी । (१०) शीतला । चेषक ।

वि० [सं० मत] [स्त्री० माती] मदमस्त । मतवाला । उ०—(क) आठ गाँठ कोपीन के साधु न मानै शंक । नाम अमल माता रहै गिनै इंद्र को रंक ।—कबीर । (ख) जोर जगी जमुना जलधर में धाम धँसी जल केलि की माती ।—पद्माकर । (ग) चली सोनारि सोहाग सोहाती । औ कलवारि प्रेम-मद माती ।—जायसी ।

मातामह-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मातामही] माता का पिता । नाना ।

मातु-संज्ञा स्त्री० [सं० मातृ] माता । माँ । जननी । उ०—(क) कबहुँ करताल बजाय कै नाचत मातु सबै मन मोद भरै ।—तुलसी । (ख) तुलसी प्रभु भंजिहैं संसु धनु भूरि भाग सिय मातु पितौ री ।—तुलसी ।

मातुल-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मातुला, मातुलानी] (१) माता का भाई । मामा । उ०—कहौ मत मातुल विभीषण हू बार बार अंचल पसारि पिय पाँय लै लै हौं परी ।—तुलसी । (२) धतूरा । उ०—(क) कमलपत्र मातुल चढ़ावैं । नयन मूँदि यह ध्यान लगावैं ।—सूर । (ख) द्वै मृणाल मातुल उभे द्वै कदली खंभ विन पात ।—सूर । (३) एक प्रकार का धान । (४) एक प्रकार का साँप । (५) मदन वृक्ष ।

मातुला, मातुलानी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मामा की स्त्री । मामी । (२) सन । (३) प्रियंगु । (४) भाँग ।

मातुलाहि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साँप ।

मातुली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मामा की स्त्री । मामी । (२) भाँग ।

मातुलुंग-संज्ञा पुं० [सं०] बिजौरा नीबू ।

मातुलेय-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मातुलेयी] मामा का लड़का । ममेरा भाई ।

मातृ-संज्ञा स्त्री० दे० “माता” ।

मातृक-वि० [सं०] माता-संबंधी ।

संज्ञा पुं० माता का भाई । मामा ।

मातृकच्छिद्-संज्ञा पुं० [सं०] परशुराम ।

मातृका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दूध पिलानेवाली दाई । धाय । (२) माता । जननी । (३) उपमाता । सौतेली माता । (४) तांत्रिकों की ये सात देवियाँ—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इंद्राणी और चामुंडा । (५) वर्णमाला की बारहखड़ी । (६) ठोड़ी पर की आठ विशिष्ट नलें ।

मातृकाकुंड-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार गुदा का एक फोड़ा या व्रण जो बहुत छोटे बच्चों को होता है ।

मातृकेशट-संज्ञा पुं० [सं०] मामा ।

मातृगंधिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विमाता । सौतेली माता । (२) पिता की उपपत्नी ।

मातृतीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] हथेली में सब से छोटी उँगली के नीचे का स्थान ।

मातृदेवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] तांत्रिकों की एक देवी का नाम ।

मातृनंदन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्तिकेय । (२) महाकरंज का पेड़ ।

मातृनंदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] शक्तों की एक देवी का नाम ।

मातृपालित-संज्ञा पुं० [सं०] एक दानव का नाम ।

मातृपूजा-संज्ञा स्त्री० [सं० मातृपूजन] विवाह की एक रीति जिसमें विवाह के दिन से एक वा दो दिन पूर्व छोटे छोटे मीठे पूए बनाकर पितरों का पूजन किया जाता है । इसी को 'मातृ-पूजा' या 'मातृकापूजन' कहते हैं ।

मातृबंधु-संज्ञा पुं० [सं०] माता के संबंध का कोई आत्मीय ।

मातृभाषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह भाषा जो बालक माता की गोद में रहते हुए बोलना सीखता है । माता-पिता के बोलने की और सब से पहले सीखी जानेवाली भाषा ।

मातृमंडल-संज्ञा पुं० [सं०] दोनों आँखों के बीच का स्थान ।

मातृमाता-संज्ञा स्त्री० [सं० मातृमातृ] (१) माता की माता । नानी । (२) दुर्गा ।

मातृयज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ जो मातृकाओं के उद्देश्य से किया जाता है ।

मातृरिष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार एक दोष जो संतान के ऐसे बुरे लक्ष में जन्म लेने से होता है जिसके कारण माता पर संकट आवे या उसके प्राण चले जायँ ।

मातृवत्सल-संज्ञा पुं० [सं०] कार्तिकेय ।

मातृशासित-वि० [सं०] मूर्ख ।

मातृध्वसा-संज्ञा स्त्री० [सं० मातृध्वस] माँ की बहन । मासी । मौसी ।

मातृध्वसेय-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मातृध्वसेयी] माँ की बहन का लड़का । मौसेरा भाई ।

मातृसपत्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सौतेली माता । विमाता ।

मात्र-अव्य० [सं०] केवल । भर । सिर्फ । जैसे,—नाम मात्र । तिल मात्र । उ०—(क) रहे तुम सत्य कहावत मात्र । अबै सह सत्य करौ सब गात्र ।—गोपाल । (ख) केवल भक्त चारि युग करे । तिनके जे हैं चरित घनेरे । सोई मात्र कथौ यहि माहीं । कछुक कथा उपयोगिन काहीं ।—रघुराज ।

मात्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परिमाण । मिकदार । जैसे—इसमें पानी की मात्रा अधिक है । (२) एक बार खाने योग्य औषध । (३) उतना काल जितना एक ह्रस्व अक्षर का उच्चारण करने में लगता है । छंदःशास्त्र में इसे मत्त, मत्ता, कल या कला भी कहते हैं । (४) बारहखड़ी लिखते समय वह स्वर-सूचक रेखा जो अक्षर के ऊपर या आगे-पीछे लगाई जाती है । (५) किसी चीज़ का कोई निश्चित छोटा भाग । (६)

हाथी, घोड़ा आदि । परिच्छद । (७) कान में पहनने का एक आभूषण । (८) इंद्रिय जिसके द्वारा विषयों का अनुभव होता है । (९) शक्ति । (१०) अवयव । अंग । (११) रूप । (१२) संगीत में गीत और वाद्य का समय निरूपित करने के लिये उतना काल जितना एक स्वर के उच्चारण में लगता है ।

विशेष—एक ह्रस्व स्वर के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसे ह्रस्व मात्रा कहते हैं; दो ह्रस्व स्वरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसे दीर्घ मात्रा कहते हैं; और तीन अथवा उससे अधिक स्वरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसे ऋत मात्रा कहते हैं ।

मात्रावस्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक की एक क्रिया जिसमें रोगी को दस्त कराने के लिये उसकी गुदा में पिचकारी आदि से तेल आदि मिला हुआ कोई तरल पदार्थ भरते हैं ।

मात्रासमक-संज्ञा पुं० [सं०] एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ और अंत में गुरु होता है । चौपाई नामक छंद के मत्तसमक, बानवासिका, चित्रा और विश्लोक नामक चार भेद इसी के अंतर्गत हैं ।

मात्रिक-वि० [सं०] (१) मात्रा संबंधी । मात्रा का । (२) मात्राओं के हिसाबवाला । जिसमें मात्राओं की गणना की जाय । जैसे—मात्रिक छंद ।

मात्सर्य-संज्ञा पुं० [सं०] मत्सर का भाव । किसी का सुख वा उसकी संपदा न देख सकने का स्वभाव । किसी को अच्छी दशा में देखकर जलना । ईर्ष्या । डाह ।

मात्स्य-वि० [सं०] मछली संबंधी । मछली का ।

संज्ञा पुं० एक ऋषि का नाम ।

मात्स्यिक-संज्ञा पुं० [सं०] मछली मारनेवाला । मछुआ ।

माथ-अ० संज्ञा पुं० दे० "माथा" ।

माथा-संज्ञा पुं० [सं० मस्तक] (१) सिर का ऊपरी भाग । मस्तक ।

मुहा०—माथा कूटना = दे० "माथा पीटना" । माथा घिसना =

नम्रता प्रकट करना । मिन्नत खुरामद करना । माथा खपाना

या खाली करना = बहुत अधिक समझाना या सोचना । सिर

खपाना । मगज-पच्ची करना । (किसी के आगे) माथा झुकाना

या नवाना = बहुत अधिक नम्रता या अधीनता प्रकट करना ।

माथा टेकना = सिर झुकाकर प्रणाम करना । माथा ठनकना =

पहले से ही किसी दुर्घटना या विपरीत बात होने की आशंका होना ।

माथा धुनना = दे० "माथा पीटना" । माथा पीटना = सिर पर

हाथ मारकर बहुत अधिक दुःख या शोक करना । माथा

रगड़ना = दे० "माथा घिसना" । माथे चढ़ाना या धरना =

शिरोधार्य करना । सादर स्वांकर करना । उ०—मम आयसु तुम

माथे धरौ ! छल बल करि मम कारज करौ ।—सूर ।

माथे टीका होना = किसी प्रकार की विशेषता या अधिकता होना ।

जैसे—क्या तुम्हारे माथे टीका है जो तुम्हीं को सब चीजें दे दी जायें ? माथे पड़ना = उत्तरदायित्व आ पड़ना । ऊपर भार आ पड़ना । जैसे—वह तो खिसक गए; अब सब काम हमारे माथे आ पड़ा । माथे पर चढ़ना = दे० “सिर पर चढ़ना” । माथे पर बल पड़ना = आक्रुति से क्रोध, दुःख या असंतोष आदि के विह्वल प्रकट होना । शक्त से नाराजगी जाहिर होना । जैसे—रूप की बात सुनते ही उनके माथे पर बल पड़ गए । माथे भाग होना = भाग्यवान् होना । तकदीरवर होना । माथे मढ़ना = गले बाँधना । गले मढ़ना । जबरदस्ती देना ।* माथे मानना = शिरोधार्य करना । सादर स्वीकार करना । उ०—(क) कह रवि सुत सम कारज होई । माथे मानि करव हम सोई—सबलसिंह । (ख) सूरदास प्रभु के जिय भावै आयसु माथे मानि ।—सूर । माथे मारना = बहुत ही उपेक्षा या तिरस्कारपूर्वक किसी को कुछ देना । बहुत तुच्छ भाव से देना । जैसे—वह रोज़ तगादा करता है; उसकी किताब उसके माथे मारो ।

यौ०—माथा-पच्ची या माथा-पिटन = बहुत अधिक बकना या समझाना । सिर खपाना । मगज-पच्ची करना ।

(२) वह चित्र आदि जिसमें मुख और मस्तक की आकृति बनी हो । (लश०) (३) किसी पदार्थ का अगला या ऊपरी भाग । जैसे—नाव का माथा, अलमारी का माथा ।

मुहा०—माथा मारना = जहाज का वायु के विपरीत इस प्रकार जोर मारकर चलना कि मस्तूल, पाल तथा ऊपरी भागों पर बहुत जोर पड़े ।

(४) यात्रा । सफर । खेप । (लश०) ।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का रेशमी कपड़ा ।

माथुर-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० माथुरानी] (१) मथुरा का निवासी । वह जो मथुरा का रहनेवाला हो । (२) ब्राह्मणों की एक जाति । चौबे । (३) कायस्थों की एक जाति । (४) वैश्यों की जाति । (५) मथुरा प्रांत ।

वि० मथुरा संबंधी । मथुरा का ।

माथे-क्रि० वि० [हि० माथा] (१) माथे पर । मस्तक पर । सिर पर । उ०—नागरि गूजरि ठगि लीनो मेरो लाल गोरोचन को तिलक माथे मोहनी ।—हरिदास । (२) भरोसे । सहारे पर । उ०—सो जनु हमरे माथे काढ़ा । दिन चलि गयउ व्याज बहु बाढ़ा ।—तुलसी ।

माथै-क्रि० वि० दे० “माथे” ।

माद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अभिमान । शेखी । घमंड । (२) हर्ष । प्रसन्नता । (३) मत्तता । मस्ती ।

संज्ञा पुं० [देश०] छोटा रस्सा । (लश०)

मादक-वि० [सं०] नशा उत्पन्न करनेवाला । जिससे नशा हो । नशीला ।

संज्ञा पुं० (१) प्राचीन काल का एक प्रकार का अस्त्र जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि उसके प्रयोग से शत्रु में प्रमाद उत्पन्न होता था । (२) वह चीज़ जिसके खाने से नशा हो । नशा उत्पन्न करनेवाला पदार्थ । जैसे—अफीम, भाँग, शराब आदि । (३) एक प्रकार का हिरन ।

मादकता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मादक होने का भाव । नशीलापन ।

उ०—कनक कनक तैं सौगुनो मादकता अधिकाय । वह खाए बौरात है, यह पाए बौराय ।

मादन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लौंग । (२) मदन वृक्ष । (३) कामदेव । (४) धतूरा ।

मादनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] भाँग ।

मादनीय-वि० [सं०] मादकता उत्पन्न करनेवाला । मादक । नशीला ।

मादर-संज्ञा स्त्री० [फा० मि० सं० मातृ] माँ । माता । जननी ।

मादरज़ाद-वि० [फा०] (१) जन्म का । पैदाइशी । जैसे—मादरज़ाद अंधा । (२) एक माँ से उत्पन्न । सहोदर । (आई) (३) जैसा माँ के पेट से निकला था, वैसा ही । बिलकुल नंगा । दिगंबर ।

मादरिया-संज्ञा स्त्री० दे० “मादर” उ०—सासु ननदि मिलि अदल चलाई । मादरिया घर बेटी आई ।—कबीर ।

मादा-संज्ञा स्त्री० [फा०] स्त्री जाति का प्राणी । नर का उलटा । जैसे,—(क) साँड़ की मादा गाय कहलाती है । (ख) इस कवूतर की मादा कहीं खो गई है ।

विशेष—इस शब्द का व्यवहार बहुधा जीव-जंतुओं के लिये ही होता है ।

मादिक-वि० दे० “मादक” ।

मादिकता-संज्ञा स्त्री० दे० “मादकता” ।

मादिनी-संज्ञा स्त्री० दे० “मादा” ।

मादी-संज्ञा स्त्री० दे० “मादा” ।

मादीन-संज्ञा स्त्री० दे० “मादा” ।

मादा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह मूल तत्त्व जिससे कोई पदार्थ बना हो । (२) शब्द की व्युत्पत्ति । शब्द का मूल । (३) योग्यता । जैसे,—आप में यह बात समझने का मादा ही नहीं है । (४) सवाद । पीव ।

माद्रवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] राजा परीक्षित की स्त्री का नाम ।

माद्रिसुत-संज्ञा पुं० [सं०] नकुल और सहदेव ।

माद्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पांडु राजा की पत्नी और नकुल तथा सहदेव की माता जो मद्र के राजा की कन्या थी । राजा पांडु के मरने पर यह उनके साथ सती हुई थी । (२) अतिविषा । अतीस ।

माद्रेय-संज्ञा पुं० [सं०] माद्री के पुत्र नकुल और सहदेव ।

माधव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु भगवान् । नारायण । (२)

वैशाख मास । उ०—कियो गवन जनु दिननाथ उत्तर सन साधु माधव लिये ।—तुलसी । (३) वसंत ऋतु । (४) एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में ८ जगण होते हैं । इसी का दूसरा नाम 'मुक्तहरा' है । (५) एक राग जो भैरव राग के आठ पुत्रों में से एक माना जाता है । (६) एक प्रकार का संकर राग जो मल्लार, बिलावल और नट नारायण को मिलाकर बनाया गया है । (७) मधूक वृक्ष । महुआ । (८) काला उर्द ।

माधवक-संज्ञा पुं० [सं०] महुए की शराब ।

माधविका-संज्ञा स्त्री० [सं०] माधवी लता ।

माधवी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रसिद्ध लता जिसमें इसी नाम के प्रसिद्ध सुगंधित फूल लगते हैं । यह चमेली का एक भेद है । वैद्यक के अनुसार यह कटु, तिक्त, कषाय, मधुर, शीतल, लघु और पित्त, खाँसी, व्रण, दाह आदि की नाशक मानी जाती है । (२) ओडव जाति की एक रागिनी जिसमें गांधार और धैवत वर्जित हैं । (३) सवैया छंद का एक भेद । (४) एक प्रकार की शराब । (५) तुलसी । (६) दुर्गा । (७) माधव की पत्नी । (८) कुटनी । (९) शहद की चीनी ।

माधवीलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] माधवी नामक सुगंधित फूलों की लता । वि० दे० "माधवी (१)" ।

माधवोद्भव-संज्ञा पुं० [सं०] खिरनी का पेड़ ।

माधी-संज्ञा पुं० [देश०] भैरव राग के एक पुत्र का नाम । (संदिग्ध)

माधुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मैत्रेयक नाम की वर्णसंकर जाति । (२) महुए की शराब ।

माधुपार्किक-संज्ञा पुं० [सं०] वह पदार्थ जो मधुपर्क देने के समय दिया जाता है ।

माधुर-संज्ञा पुं० [सं०] मल्लिका । चमेली ।

माधुरई-संज्ञा स्त्री० [सं० माधुरी] मधुरता । मिठास । उ०—ए अलि या बलि के अधरानि में आनि मदी कछु माधुरई सी ।—पद्माकर ।

माधुरता-संज्ञा स्त्री० [सं० मधुरता] मीठापन । मिठास । उ०—जिती चारुता कोमलता सुकुमारता माधुरता अधरा में अहै ।

माधुरिया-संज्ञा स्त्री० दे० "माधुरी" । उ०—लक्षण को वकसै कछु चाखि सुभाखि कै माधुरिया अधिकाई ।—रघुराज ।

माधुरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मिठास । (२) माधुर्य । शोभा । सुंदरता । उ०—(क) भायप भलि चहुँ बंधु की जल माधुरी सुवास ।—तुलसी । (ख) रामचंद्र की देखि माधुरी दर्पण देख दिखावै ।—सूर । (३) मद्य । शराब ।

माधुर्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मधुर होने का भाव । मधुरता । (२) सुंदरता । लावण्य । (३) मिठाई । मिठास । मीठापन ।

(४) पांचाली रीति के अंतर्गत काव्य का एक गुण जिसके द्वारा चित्त बहुत ही प्रसन्न होता है । यह शृंगार, करुण और शांत रस में ही अधिक होता है । ऐसी रचना में प्रायः ट, ठ, ड, ढ और ण नहीं रखते; क्योंकि इनसे माधुर्य का नाश होना माना जाता है । "उपनागरिका" वृत्ति में यह गुण अधिकता से होता है । (५) सात्विक नायक का एक गुण । बिना किसी प्रकार के शृंगार आदि के ही नायक का सुंदर जान पड़ना । (६) वाक्य में एक से अधिक अर्थों का होना । वाक्य का श्लेष ।

माधुर्य-प्रधान-संज्ञा पुं० [सं०] गाने का एक प्रकार । वह गाना जिसमें माधुर्य का अधिक ध्यान रखा जाय और उसके शुद्ध रूप के बिगड़ने की परवा न की जाय ।

माधूक-संज्ञा पुं० [सं०] मनु के अनुसार एक वर्ण संकर जाति का नाम । इस जाति के लोग मधुर शब्दों में लोगों की प्रशंसा करते हैं; इसी लिये ये "माधूक" कहलाते हैं । कुछ लोग "वन्दी" को ही "माधूक" मानते हैं ।

माधैया-संज्ञा पुं० दे० "माधव" । उ०—हरि हित मेरी माधैया । देहरी चढ़त परत गिरि गिरि कर पल्लव जो गहत है री मैया ।—सूर ।

माधो-संज्ञा पुं० [सं० माधव] (१) श्रीकृष्ण । उ०—(क) जब माधो होइ जात सकल तनु राधा विरह दहै ।—सूर । (ख) शीश नाइ कर जोरि कछो तब नारद सभा सहेस । तत्क्षण भीम धनंजय माधो धन्य द्विजन को मेस ।—सूर । (२) श्री रामचंद्रजी । उ०—आधो पल माधो जू के देखे बिन सोई शशि सीता को बदन कहूँ होत दुखदाई है ।—केशव ।

माधौ-संज्ञा पुं० दे० "माधव" ।

माध्यंदिन-संज्ञा पुं० [सं०] दिन का मध्य भाग । मध्याह्न । दोपहर ।

माध्यंदिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] शुक्ल यजुर्वेद की एक शाखा का नाम ।

माध्यंदिनीय-संज्ञा पुं० [सं०] नारायण । परमेश्वर ।

माध्यम-वि० [सं०] मध्य का । जो मध्य में हो । बीचवाला ।

संज्ञा पुं० वह जिसके द्वारा कोई कार्य संपन्न हो । कार्यसिद्धि का उपाय या साधन ।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बहुत हाल में होने लगा है ।

माध्यमिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बौद्धों का एक भेद । इस वर्ग के बौद्धों का विश्वास है कि सब पदार्थ शून्य से उत्पन्न होते हैं और अंत में शून्य हो जाते हैं । बीच में जो कुछ प्रतीत होता है, वह केवल उसी समय तक रहता है; पश्चात् सब शून्य हो जाता है । जैसे 'घट' उत्पत्ति के पूर्व न तो था और टूटने के पश्चात् ही रहता है । बीच में जो ज्ञान

होता है, वह चित्त के पदार्थतर में जाने से नष्ट हो जाता है। अतः एक शून्य ही तत्त्व है। इनके मत से सब पदार्थ क्षणिक हैं और समस्त संसार स्वप्न के समान है। जिन लोगों ने निर्वाण प्राप्त कर लिया है और जिन्होंने नहीं प्राप्त किया है, उन दोनों को ये लोग समान ही मानते हैं।
(२) मध्य देश। (३) मध्य देश का निवासी।

माध्यस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो दो मनुष्यों या पक्षों के बीच में पड़कर किसी वाद-विवाद आदि का निपटारा करे। पंच। विचवर्द्ध। मध्यस्थ। (२) दलाल। (३) कुटना। (४) व्याह करानेवाला ब्राह्मण। बरेखी।

माध्यस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] मध्यस्थ होने का भाव। मध्यस्थता।
माध्याकर्षण-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी के मध्य भाग का वह आकर्षण जो सदा सब पदार्थों को अपनी ओर खींचता रहता है और जिसके कारण सब पदार्थ गिरकर जमीन पर आ पड़ते हैं।

विशेष—इंगलैंड के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता न्यूटन ने वृक्ष से एक सेब को जमीन पर गिरते हुए देखकर यह सिद्धांत स्थिर किया था कि पृथ्वी के मध्य भाग में एक ऐसी आकर्षण शक्ति है, जिसके द्वारा सब पदार्थ, यदि बीच में कोई चीज बाधक न हो तो, उसकी ओर खिंच आते हैं।

माध्याह्निक-संज्ञा पुं० [सं०] वह कार्य जो ठीक मध्याह्न के समय किया जाता हो। ठीक दोपहर के समय किया जाने-वाला कार्य, विशेषतः धार्मिक कृत्य।

माध्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वैष्णवों के चार मुख्य संप्रदायों में से एक जो मध्वाचार्य का चलाया हुआ है। इस मतवाले काला तिलक लगाते हैं और प्रति वर्ष चक्रांकित होते रहते हैं।
(२) महुए की शराब। (३) मधुर-कंटक नाम की मछली।

माध्वक-संज्ञा पुं० [सं०] महुए की शराब।

माध्वी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मदिरा। शराब। (२) वह शराब जो महुए से बनाई जाती है। (३) मधुरकंटक नाम की मछली। (४) पुराणानुसार एक नदी का नाम।

माध्वीक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महुए की शराब। (२) मधु। मकरंद। (३) दाख की शराब। (४) सेम।

माध्वीका-संज्ञा स्त्री० [सं०] सेम।

माध्वीमधुरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मीठी खजूर।

मान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पदार्थ का भार, तौल या नाप आदि। परिमाण। मिकदार। (२) वह साधन जिसके द्वारा कोई चीज नापी या तौली जाय। पैमाना। जैसे,—गज, सेर आदि। (३) किसी विषय में यह समझना कि हमारे समान कोई नहीं है। अभिमान। अहंकार। गर्व। शेखी। (न्यायदर्शन के अनुसार जो गुण अपने में न हो, उसे

भ्रम से अपने में समझकर उसके कारण दूसरों से अपने आपको श्रेष्ठ समझना मान कहलाता है।)

मुहा०—मान मथना = गान मंग करना। गर्व चूर्ण करना। शेखी तोड़ना। उ०—इन जरासंध मदभंभ सम मान मथि बाँधि बिनु काज बल इहाँ आने।—सूर।

(४) प्रतिष्ठा। इज्जत। सम्मान। उ०—भोजन करत तुष्ट घर उनके राज मान भँग दारत।—सूर।

मुहा०—मान रखना = इज्जत रखना। प्रतिष्ठा करना। उ०—कमरी थोरे दाम की आवै बहुते काम। खासा मलमल बाफता उन कर राखे मान।—गिरधर।

यौ०—मान-महत = आदर-सत्कार। प्रतिष्ठा।

(५) साहित्य के अनुसार मन में होनेवाला वह विकार जो अपने प्रिय व्यक्ति को कोई दोष या अपराध करते देखकर होता है। मान बहुधा खियाँ ही करती हैं। अपने प्रेमी को किसी दूसरी स्त्री को ओर देखते अथवा उससे बातचीत करते देखकर, कोई अभिलषित पदार्थ न मिलने पर अथवा कोई कार्य इच्छानुसार न होने पर ही प्रायः मान किया जाता है। यह लघु, मध्यम और गुरु तीन प्रकार का कहा गया है। रूटना। उ०—विधि विध के निकरै टरै नहीं परेह पान। चितै कितै तै लै धन्यौ इतौ इतै तन मान।—विहारी।

मुहा०—मान मनाना = दूसरे का मान दूर करना। रूठे हुए को मनाना। उ०—घरी चारि परम सुजान पिय प्यारी रीक्षि, मान न मनाओ मानिनी को मान देखि रह्यो।—रघुनाथ।
मान मोरना = मान का त्याग करना। मान छोड़ देना। उ०—मुख को निहारो जो न मान्यो सो भली करी न केशौराय की सौँ तोहिं जो तू मान मोरिहै।—केशव।

(६) पुराणानुसार पुष्कर द्वीप के एक पर्वत का नाम।

(७) सामर्थ्य। शक्ति। (८) उत्तर दिशा के एक देश का नाम। (९) ग्रह। (१०) मंत्र। (११) संगीत-शास्त्र के अनुसार ताल में का विराम जो सम, विषम, अतीत और अनागत चार प्रकार का होता है।

मानकंद-संज्ञा पुं० [सं० माणक] (१) एक प्रकार का मीठा कंद जो बंगाल में बहुत अधिकता से होता है। यह प्रायः तरकारी के रूप में या दूसरे अनाजों के साथ खाया जाता है। यह बहुत जल्दी पचता है, इसलिये दुर्बल रोगियों आदि के लिये बहुत लाभदायक होता है। कहीं कहीं अरारोट या सागूदाने की जगह भी इसका व्यवहार होता है। यह मृदु, विरेचक, मूत्रकारक और बवासीर तथा कब्जियत के लिये बहुत उपयोगी माना जाता है। (२) एक प्रकार की मिखी जो सालिब मिखी के नाम से बाज़ारों में मिलती है।

मानक-संज्ञा पुं० [सं०] मर्निकञ्चू। मानकंद।

मानकञ्चू-संज्ञा पुं० दे० “मानकंद”।

मानकलह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईर्ष्या। डाह। (२) प्रतिद्वंद्विता। चढ़ा-ऊपरी।

मानक्रीडा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सूदन के अनुसार एक प्रकार का छंद। उ०—बदन सुत चाइके। भरतपुर जाइके। थपितु सिरदार कौ। जतन पितरार कौ।—सूदन।

मानगृह-संज्ञा पुं० [सं०] लूठकर बैठने का स्थान। कोपभवन। उ०—बैठी जाय एकांत भवन में जहाँ मानगृह चार।—सूर।

मानग्रंथि-संज्ञा स्त्री० [सं०] अपराध। जुर्म।

मानचित्र-संज्ञा पुं० [सं०] किसी स्थान का बना हुआ नक्शा। जैसे,—एशिया का मानचित्र।

मानज-संज्ञा पुं० [सं०] क्रोध।

वि० मान से उत्पन्न।

मानतरु-संज्ञा पुं० [सं०] खेतपापड़ा।

मानता-संज्ञा स्त्री० [हि० मानना + ता (प्रत्य०)] मनौती। मन्नत।

क्रि० प्र०—उतारना।—चढ़ाना।—मानना।

मानदंड-संज्ञा पुं० [सं०] वह डंडा या लकड़ी जिससे कोई चीज नापी जाय।

मानद-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

मानदुम-संज्ञा पुं० [सं०] सेमल का पेड़।

मानधन-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बहुत बड़ा अभिमानी हो।

मानधाता-संज्ञा पुं० दे० “माधाता”।

मानधानिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] ककड़ी।

मानना-क्रि० प्र० [सं० मानन] (१) अंगीकार करना। स्वीकार करना। मंजूर करना। जैसे,—(क) हम मानते हैं कि आप उनकी बुराई नहीं कर रहे हैं। (ख) मान न मान, मैं तेरा मेहमान। (कहा०) (२) कल्पना करना। फर्ज करना। समझना। जैसे,—मान लीजिए कि हम लोग वहाँ न जा सके, तो फिर क्या होगा? (३) ध्यान में लाना। समझना। जैसे,—बुरा मानना। भला मानना।

संयो० क्रि०—जाना।—लेना।

(४) ठीक मार्ग पर आना। अनुकूल होना। जैसे,—यह लड़का सीधी तरह से नहीं मानेगा।

संयो० क्रि०—जाना।

क्रि० सं० (१) कोई बात स्वीकृत करना। कुछ मंजूर करना। जैसे,—आप किसी का कहना ही नहीं मानते। (२) किसी को पूज्य, आदरणीय या योग्य समझना। किसी के बड़प्पन या लियाकत का कायल होना। आदर करना। जैसे,—(क) उन महात्मा को यहाँ के बहुत से लोग मानते हैं। (ख) लड़ाई क्षण्डा लगाने में मैं तुम्हें मानता हूँ।

विशेष—कभी कभी कर्त्ता को छोड़कर उसके गुण या कार्य के संबंध में भी इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग होता है।

३६५

जैसे,—उनका गाना-बजाना अच्छे अच्छे उस्ताद मानते थे।

(३) दक्ष समझना। पारंगत समझना। उस्ताद समझना।

(४) धार्मिक दृष्टि से श्रद्धा या विश्वास करना। जैसे,—शिव को माननेवाले शैव कहलाते हैं। (५) देवता आदि की भेंट करने का प्रण करना। चढ़ावा चढ़ाने आदि का इद्द संकल्प करना। मन्नत करना। जैसे,—१। के लड़्डू गणेश-जी को मानो तो इस्तहान में पास हो जाओगे। (६) ध्यान में लाना। समझना। जैसे,—यह तो किसी को कुछ भी नहीं मानता। (७) स्वीकृत करके अनुकूल कार्य करना। जैसे,—शिवरात्रि किसी ने आज मानी है और किसी ने कल। (८) किसी पर बहुत अनुरक्त होना। किसी के साथ बहुत प्रेम करना। (बाजारू)

माननीय-वि० [सं०] [स्त्री० माननीया] जो मान करने के योग्य हो। पूजनीय। आदरणीय। मान्य।

मामपात-संज्ञा पुं० दे० “मानकंद”।

मानभाव-संज्ञा पुं० [सं०] चोचला। नखरा।

मानमंदिर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्त्रियों के लूठकर बैठने का एकांत स्थान। (२) वह स्थान जिसमें ग्रहों आदि का वेध करने के यंत्र तथा सामग्री हो। वेधशाला।

मानमनौती-संज्ञा स्त्री० [हि० मान + मनौती] (१) मानता। मन्नत। मनौती। (२) पारस्परिक प्रेम। (३) लूठने और मनाने की क्रिया।

मानमरोर—संज्ञा स्त्री० [हि० मान + मरोर] मन-मुटाव। रंजिश। उ०—राधे सुजान इतै चित दै हित में कत कीजतु मानमरोर है।—वनानंद।

मानमान्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] इज्जत। प्रतिष्ठा।

मानमोचन-संज्ञा पुं० [सं०] साहित्य के अनुसार रुठे हुए प्रिय को मनाना जो नीचे लिखे छः उपायों के द्वारा बतलाया गया है—(१) साम, (२) दाम, (३) भेद, (४) प्रणति, (५) उपेक्षा, और (६) प्रसंग-विध्वंस।

मानरंध्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] जल-घड़ी जिसका व्यवहार प्राचीन काल में समय जानने के लिये होता था।

विशेष—इसमें एक छोटा कटोरा होता था जिसके पेंदे में एक छोटा सा छेद होता था। यह कटोरा किसी बड़े जल-पात्र में छोड़ दिया जाता था और उस छेद के द्वारा धीरे धीरे कटोरे में पानी भरने लगता था। वह कटोरा ठीक एक दंड या घड़ी में भर जाता था और पानी में डूब जाता था। फिर उसे निकालकर खाली करके उसी प्रकार पानी में छोड़ देते थे और इस प्रकार समय का निरूपण करते थे।

मानव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनु से उत्पन्न, मनुष्य। आदमी। मनुज। (२) १४ मात्राओं के छंदों की संज्ञा। इनके ११० भेद हैं।

मानवक-संज्ञा पुं० [सं० मानव] (१) छोटे कद का आदमी । वामन । बौना । (२) तुच्छ आदमी ।

मानवत्-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मानवती] वह जो मान करता हो । रूठा हुआ ।

मानवपति-संज्ञा पुं० [सं०] राजा ।

मानवर्जित-वि० [सं०] नीच । अप्रतिष्ठित ।

मानवर्त्तिक-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन देश का नाम जो पूर्व दिशा में था । जैनों के हरिवंश के अनुसार यह देश वर्त्तमान मानभूमि है ।

मानव शास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसमें मानव जाति की उत्पत्ति और विकास आदि का विवेचन होता है । इस शास्त्र से यह भी जाना जाता है कि संसार के भिन्न भिन्न भागों में मनुष्य की कितनी जातियाँ हैं, सृष्टि के अन्यान्य जीवों में मनुष्य का क्या स्थान है, मनुष्यों की सृष्टि कब और कैसे हुई, उसकी सभ्यता का कैसे विकास हुआ, इत्यादि इत्यादि ।

मानवाचल-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम ।

मानवास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का अस्त्र ।

मानवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्त्री । नारी । औरत । (२) पुराणानुसार स्वर्णमुव मनु की कन्या का नाम ।

वि० [सं० मानवीय] मानव-संबंधी । मनुष्य का ।

मानवीय-वि० [सं०] मानव संबंधी । मनुष्य का ।

मानवेंद्र, मानवेश-संज्ञा पुं० [सं०] राजा ।

मानव्य-संज्ञा पुं० दे० “मानव” ।

मानस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मन । हृदय । उ०—माँगत तुलसिदास कर जोरे । बसहिं राम सिय मानस मोरे ।—तुलसी । (२) मान सरोवर । उ०—रोष महामारी परतोष महतारी दुनी देखिये दुखारी मुनि मानस मरालि के । (३) कामदेव । (४) संकल्प-विकल्प । (५) एक नाग का नाम । (६) शाल्मली द्वीप के एन वर्ष का नाम । (७) पुष्कर द्वीप के एक पर्वत का नाम । (८) मनुष्य । आदमी । उ०—कोमल मृणालका सी मल्लिका की मालिका सी बालिका जु डारी भाड मानस कै पशु है ।—केशव । (९) दूत । चर । उ०—(क) मानस पठाए सुधि लाए साँच आँच लगी करो साष्टांग बात मानी भाग फले हैं ।—प्रियादास । (ख) दैकै बहु भौंति सों पठाए संग मागसहू आवो पहुँचाइ तब तुम पर रीक्षिये ।—प्रियादास ।

वि० (१) मन से उत्पन्न । मनोभव । (२) मन का विचार हुआ । उ०—कलि कर एक पुनीत प्रतापा । मानस पुन्य होइ नहिं पापा ।—तुलसी ।

क्रि० वि० मन के द्वारा । उ०—रहै गंडकी सुत मुख बीचा । पूज्यो मानस शिर करि नीचा ।—विश्राम ।

मानसचारी-संज्ञा पुं० [सं० मानसचारिन्] एक प्रकार का हंस जो मान सरोवर में होता है ।

मानस तीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] वह मन जो राग द्वेष आदि से नितांत रहित हो गया हो ।

मानसपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार वह पुत्र या संतान जिसकी उत्पत्ति इच्छा मात्र से ही हुई हो । जैसे,—सनक, सनंदन आदि ब्रह्मा के मानस-पुत्र हैं ।

मानस पूजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पूजा के दो प्रकारों में से एक । वह पूजा जो मन ही मन की जाय और जिसमें अर्घ्य, पाय आदि बाह्य उपकरणों की आवश्यकता न रहे ।

मानसर-संज्ञा पुं० दे० “मान सरोवर” ।

मान सरोवर-संज्ञा पुं० [सं० मानस + सरोवर] हिमालय के उत्तर की एक प्रसिद्ध बड़ी झील जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि ब्रह्मा ने अपनी इच्छा मात्र से ही इसका निर्माण किया था । इस सरोवर का जल बहुत ही सुंदर, स्वच्छ और गुणकारी है तथा इसके चारों ओर की प्राकृतिक शोभा बहुत ही अद्भुत है । हमारे यहाँ के प्राचीन ऋषियों ने इसके आस पास की भूमि को स्वर्ग कहा है ।

मानस व्रत-संज्ञा पुं० [सं०] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि व्रत ।

मानस शास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसमें इस बात का विवेचन होता है कि मन किस प्रकार कार्य करता है और उसकी वृत्तियाँ किस प्रकार उत्पन्न होती हैं । मनोविज्ञान ।

मानस संन्यासी-संज्ञा पुं० [सं०] दशनामी संन्यासियों के अंतर्गत एक प्रकार के संन्यासी । ऐसे संन्यासी मन में सच्चा वैराग्य उत्पन्न होने पर गृहस्थाश्रम का त्याग करके जंगल में जा रहते हैं और वहीं तपस्या करते हैं । ये लोग गैरिक वस्त्र आदि नहीं धारण करते ।

मानस सर-संज्ञा पुं० [सं०] मानस सरोवर । मान सरोवर ।

मानस हंस-संज्ञा पुं० [सं०] एक वृत्त का नाम । इसके प्रत्येक चरण में ‘स ज ज भ र’ होता है । इसका दूसरा नाम मानहंस या रणहंस है ।

मानसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक नदी का नाम । कहते हैं कि तृणविंदु नामक एक ऋषि इसे मान सरोवर से लाए थे ।

मानसालय-संज्ञा पुं० [सं०] हंस ।

मानसिक-वि० [सं०] (१) मन की कल्पना से उत्पन्न । (२) मन संबंधी । मन का । जैसे,—मानसिक कष्ट । मानसिक चिंता ।

संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

मानसी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मानस पूजा । वह पूजा जो मन ही मन की जाय । उ०—आभरण नाम हरि साधु सेवा कर्ण फूल मानसी सुनथ संग अंजन बनाइये ।—प्रियादास ।
(२) पुराणानुसार एक विद्या देवी का नाम ।
वि० मन का । मन से उत्पन्न । उ०—मानसी सरूप में अग्रदास जबै करत बयार नाभा मधुर सँभार सों ।—प्रियादास ।

मानसी गंगा—संज्ञा स्त्री० [सं०] गोवर्धन पर्वत के पास के एक सरोवर का नाम ।

मानसूत्र—संज्ञा पुं० [सं०] करघनी ।

मानसून—संज्ञा पुं० [अ० मि० अ० मौसिम] (१) एक प्रकार की वायु जो भारतीय महासागर में अप्रैल से अक्तूबर मास तक बराबर दक्षिण-पश्चिम के कोण से चलती है और अक्तूबर से अप्रैल तक उत्तर-पूर्व के कोण से चलती है । अप्रैल से अक्तूबर तक जो हवा चलती है, प्रायः उसी के द्वारा भारत में वर्षा भी हुआ करती है ।

क्रि० प्र०—आना ।—उठना ।—दबना ।

(२) वह वायु जो महादेशों और महाद्वीपों तथा उनके आस पास के समुद्रों में पड़नेवाले वातावरण संबंधी पारस्परिक अंतर के कारण उत्पन्न होती है और जो प्रायः छः मास तक एक निश्चित दिशा में और छः मास तक उसकी विपरीत दिशा में बहती है ।

मानहंस—संज्ञा पुं० [सं०] एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में 'स ज ज भ र' होते हैं । इसके अन्य नाम 'मनहंस' 'रणहंस' और 'मानसहंस' भी हैं ।

मानहानि—संज्ञा स्त्री० [सं०] अप्रतिष्ठा । अपमान । बेइज्जती । हतक इज्जत ।

मानहुँ—अव्य० दे० "मानों" ।

माना—संज्ञा पुं० [इव०] एक प्रकार का मीठा निर्यास जो इटली और एशिया माइनर आदि देशों के कुछ विशिष्ट वृक्षों में से छेव लगाकर निकाला जाता है; अथवा कभी कभी उन वृक्षों पर कुछ कीड़ों आदि की कई क्रियाओं से उत्पन्न होता है और जो पीछे से कई रासायनिक क्रियाओं से शुद्ध करके ओषधि के रूप में काम में लाया जाता है । भारत के कई प्रकार के बाँसों तथा दूसरे अनेक वृक्षों पर भी यह कभी कभी पाया जाता है । यह रेचक होता है और इसके व्यवहार के उपरांत मनुष्य विशेष निर्बल नहीं होता । देखने में यह पीले रंग का, पारदर्शी और हलका होता है और प्रायः बहुत महीना मिलता है ।

माना पुं० [सं० मान] अन्नादि नापने का एक पात्र जिसमें प्रायः भर अन्न आता है । यह लैकड़ी, मिट्टी या धातु का बना होता है । इससे तरल पदार्थ भी नापे जाते हैं ।

क्रि० सं० [सं० मान अथवा हिं० मापना] (१) नापना । तौलना । उ०—देखि विवर सुधि पाय गीध सैं सबनि अपने बलु मायो ।—तुलसी । (२) जाँचना । परीक्षा करना ।

क्रि० अ० दे० "समाना" या "अमाना" । उ०—(क) इतनी बचन श्रवण सुनि हरण्यो फूल्यो अंग न मात । लै लै चरन रेनु निज प्रभु की रिपु के शोणित न्हात ।—सूर ।

(ख) माई कहाँ यह माइगी दीपति जो दिन दो यहि भाँति बदेगी ।—केशव ।

मानिंद—वि० [फा०] समान । तुल्य । सदृश । जैसे,—वे भी आपके ही मानिंद शरीफ हैं ।

मानिक—संज्ञा पुं० [सं० माणिक्य] एक मणि का नाम । यह लाल रंग का होता है और हीरे को छोड़कर सब से कड़ा पत्थर है । रासायनिक विश्लेषण द्वारा मानिक में दो भाग अल्यूमिनम और तीन भाग आक्सिजन का पाया जाता है, जिससे रसायन-शास्त्रियों के मत से यह कुरंड की जाति का पत्थर प्रतीत होता है । इसमें एक और विशेषता यह भी है कि बहुत अधिक ताप से सुहागे के योग से यह काँच की भाँति गल जाता है और गलने पर इसमें कोई रंग नहीं रह जाता । आजकल के रासायनिकों ने काँच से नकली मानिक बनाया है जो असली मानिक से बहुत कुछ मिलता जुलता होता है । मानिक पत्थर गहरे लाल रंग से लेकर गुलाबी रंग और नारंगी से लेकर बैंगनी रंग तक के मिलते हैं । मानिक की प्रधान दो जातियाँ हैं—नरम चुन्नी और मानिक । नरम चुन्नी का विश्लेषण करने से मैग्नेशियम, अल्यूमिनम और आक्सिजन मिलते हैं । उस पर यदि मानिक से रगड़ा जाय, तो लकीर पड़ जाती है । अगस्त जी के मत से मानिक के तीन प्रधान भेद हैं—पद्मराग, कुरुविंद और सौगंधिक । कमल पुष्प के समान रंगवाला पद्मराग, गाढ़ रक्तवर्ण सा हृषत् नील वर्ण सौगंधिक और टेसू के फूल के रंग का कुरुविंद कहलाता है । इनमें सिंदूर में पद्मराग, कालपुर और अंध्र में कुरुविंद और तुंकर में सौगंधिक उत्पन्न होता है । मत्तान्तर से नीलगंधिक नामक एक और जाति का मानिक होता है जो नीलापन लिए रक्त वर्ण या लाखी रंग का माना गया है । इसकी खानें बरमा, स्याम, लंका, मध्य एशिया, यूरोप, आस्ट्रेलिया आदि अनेक भूभागों में पाई जाती हैं । जिस मानिक में चिह्न नहीं होते और चमक अधिक होती है, वह उत्तम माना जाता और अधिक मूल्यवान् होता है । वैद्यक में मानिक को मधुर, स्निग्ध और वात-पित्त-नाशक लिखा है ।

पर्या०—पद्मराग । कुरुविंद । शोणरत्न । सौगंधिक । लौहितक । तरुण । शृंगारी । रविरत्नक ।

संज्ञा पुं० [सं०] आठ पल का एक मान ।

मानिकखंभ-संज्ञा पुं० [हि० मानिक + खंभा] (१) वह खूँटा जो कातर के किनारे गड़ा रहता है और जिसमें धुसे को रस्सी से बाँधकर जाट के सिरे पर अटकाते हैं। मरखम। (२) वह खंभा जो विवाह में मंडप के बीच में गाड़ा जाता है। (३) मालखंभ। मलखम।

मानिकचंदी-संज्ञा स्त्री० [हि० मानिकचंद] साधारण छोटी सुपारी।

मानिकजोड़-संज्ञा पुं० [हि० मानिक + जोड़] एक प्रकार का बड़ा बगुला जिसकी चौंच और ढाँगे लंबी होती हैं।

मानिकजोर-संज्ञा पुं० दे० “मानिकजोड़”।

मानिक रेत-संज्ञा स्त्री० [हि० मानिक + रेत] मानिक का चूरा जिससे गहने साफ किए जाते हैं और उन पर चमक लाई जाती है।

मानिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मद्य। (२) आठ पल या साठ तोले का एक मान।

मानिटर-संज्ञा पुं० [अंग०] पाठशाला की श्रेणियों में वह प्रधान छात्र जो अन्य छात्रों पर कुछ विशिष्ट अधिकार रखता हो।

मानित-वि० [सं०] सम्मानित। प्रतिष्ठित। आदृत।

मानिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मानित्व। सम्मान। आदर। (२) गौरव। (३) अहंकार। गर्व।

मानिनी-वि० स्त्री० [सं०] (१) मानवती। गर्ववती। अभिमान-युक्त। (२) मान करनेवाली। रुष्टा।

संज्ञा स्त्री० साहित्य में वह नायिका जो नायक के दोष को देखकर उससे रूठ गई हो। उ०—मान करत बरजत न हौं उलटि दिवावत सौंह। करी रिसौही जायँगी सहज हँसौहीं भौंह।

माननी-वि० [सं० मानिन्] [स्त्री० मानिनी] (१) अहंकारी। धमंडी। (२) सम्मानित। गौरवान्वित। (३) मनोयोगी।

संज्ञा पुं० (१) सिंह। (२) साहित्य में वह नायक जो नायिका से अपमानित होकर रूठ गया हो।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुंभ। बड़ा। (२) प्राचीन काल का एक प्रकार का मान पात्र जिसमें दो अंजुली वा आठ पल आता था। (३) चक्री के ऊपर के पाट में लगी हुई वह लकड़ी जिसके बीच के छेद में कीली रहती है। जूआ न होने पर यह लकड़ी ऊपर के पाट के छेद में जड़ी रहती है। (४) कुदाल, बसुले आदि का वह छेद जिसमें बेंट लगाई जाती है। (५) किसी चीज में बनाया हुआ छेद जिसमें कुछ जड़ा जाय। (६) अन्न का एक मान जो सोलह सेर का होता है। (७) साधारण छेद।

संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) अर्थ। मतलब। तात्पर्य। (२) तत्त्व। रहस्य। (३) प्रयोजन। (४) हेतु। कारण।

मानुख-संज्ञा पुं० दे० “मानुष्य”।

मानुष-वि० [सं०] [स्त्री० मानुषी] मनुष्य संबंधी। मनुष्य का।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनुष्य। (२) याज्ञवल्क्य स्मृति के

अनुसार प्रमाण के दो भेदों में से एक। इसके तीन उपभेद हैं—लिखित, भुक्ति और साक्षी।

मानुषक-वि० [सं०] मनुष्य संबंधी। मनुष्य का।

मानुषता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मनुष्य का भाव या धर्म। मनुष्य-ता। आदमीयत।

मानुषिक-वि० [सं०] मनुष्य संबंधी। मनुष्य का।

मानुषिबुद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] मनुष्य शरीरधारी बुद्ध। जैसे, गौतम बुद्ध आदि। (ये ध्यानी बुद्ध से पृथक् होते हैं।)

मानुषी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्त्री। औरत। (२) तीन प्रकार की चिकित्साओं में से एक। मनुष्यों के उपयुक्त चिकित्सा। (शेष दो चिकित्साएँ आसुरी और दैवी कहलाती हैं।)

वि० [सं० मानुषीय] मनुष्य संबंधी। मनुष्य का। उ०—दूरि जब लौं जरा रोगरु चलत इंद्री भाइ। आपनो कल्याण करि ले मानुषी तनु पाइ।—सूर।

मानुषीय-वि० [सं०] मनुष्य संबंधी। मनुष्य का।

मानुष्य-वि० [सं०] मनुष्य संबंधी। मनुष्य का।

मानुष्यक-वि० [सं०] मनुष्य संबंधी। मनुष्य का।

मानुस-संज्ञा पुं० [सं० मानुष] मनुष्य। आदमी। उ०—का निश्चित रे मानुस अपनी चिंता आछ। लेहु सजग होइ अग-मन पुनि पछतासि न पाछ।—जायसी।

यौ०—भला मानुस।

माने-संज्ञा पुं० [अ० मानी] अर्थ। मतलब। अशय।

मानों-अव्य० [हि० मानना] जैसे। गोया। उ०—(क) मयन मदन पुर दहन गहन जानि आनि कै सबै को सारु धनुष गढ़ायो है। जनक सदसि जहाँ भले भले भूमिपाल कियो बलहीन बल आपनो बढ़ायो है। कुलिस कठोर कूर्म पीठ तें कठिन अति हठनि पिनाक काहू चपरि चढ़ायो है। तुलसी सो राम के सरोज पानि परसत दूख्यौ मानों बारे ते पुरारि ही पढ़ायो है।—तुलसी। (ख) तिलक भाल पर परम मनोहर गोरचन को दीन्हो। मानों तीन लोक की शोभा अधिक उदय सो कीन्हो।—सूर। (ग) प्रिय पठयो मानों सखि सुजान। जगभूषण को भूषण निधान। निज आई हम को सीख देन। यह किधौं हमारो भरम लेन।—केशव।

मानोखी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की चिड़िया।

मानौं-अव्य० दे० “मानों”।

मान्य-वि० [सं०] [स्त्री० मान्या] (१) मानने योग्य। माननीय। (२) आदर के योग्य। सम्मान के योग्य। पूजनीय। पूज्य। (३) प्रार्थनीय।

संज्ञा पुं० (१) विष्णु। (२) शिव। महादेव। (३) मैत्रावरुण।

संज्ञा पुं० दे० “मान”।

मान्यस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] आदर या मान का कारण।

विशेष—मनु जी ने पाँच मान्यस्थान लिखे हैं—वित्त, बंधु,

वय, कर्म और विद्या। अर्थात् धन-संपत्ति, संबंध, अवस्था, कार्य और योग्यता इन पाँच कारणों से मनुष्य का आदर किया जाता है।

माप-संज्ञा स्त्री० [हि० मापना] (१) मापने की क्रिया या भाव। नाप।

यौ०—माप तौल = जाँच।

(२) वह मान जिससे कोई पदार्थ मापा जाय। अहँड़ा। मान। (३) परिमाण।

मापक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मान। माप। अहँड़ा। पैमाना।

(२) वह जिससे कुछ मापा जाय। मापने की चीज। (३) वह जो मापता हो।

मापना-क्रि० सं० [सं० मापन] (१) किसी पदार्थ के विस्तार, आयत वा वर्गत्व और घनत्व का किसी नियत मान से परिमाण करना। नापना। जैसे—अंगुल के मान से किसी पटरी की लंबाई और चौड़ाई का मान निकालना कि इसकी लंबाई इतने अंगुल वा चौड़ाई इतने अंगुल है। किसी कोठरी के वर्गत्व का मान करना कि वह इतने वर्ग गज की है। उ०—(क) कहि धौं शुक्र कहा धौं कीजै आपुन भए भिखारी। जै जैकार भयो भुव मापत तीन पैड़ भइ सारी।—सूर। (ख) बावन को पद लोकन मापि ज्यों बावन वपु माहँ सिधायो।—केशव। (ग) हँसन लगीं सहचर सबै देखहि नयन दुराइ। मानों मापति लोचननि कर परसनि फैलाइ।—गुमान। (२) किसी मान वा पैमाने में भरकर द्रव वा चूर्ण वा अन्नादि पदार्थों का नापना। जैसे,—दूध मापना, चूना मापना। (३) पदार्थ के परिमाण को जानने के लिये कोई क्रिया करना। नापना।

क्रि० अ० [सं० मत] मतवाला होना। उ०—(क) नयन सजल तर थर थर काँपी। माँजहि खाइ मीन जनु मापी।—तुलसी। (ख) तलफत विषम मोह मन मापा। माँजा मनहु मीन कहँ व्यापा।—तुलसी।

माफ-वि० [अ०] जो क्षमा कर दिया गया हो। क्षमित।

मुहा०—माफ करना = क्षमा करना। उ०—(क) प्रभु जू मैं ऐसो अमल कमायो। साबिक जमा हुती जो जोरी मीजाँ कुल तल लायो।.....बड़ो तुम्हार बरामद हू को लिखि कीन्हों है साफ। सूरदास को वह मुहासिबा दस्तक कीजो माफ।—सूर। (ख) खलनि को योग जहाँ नाज ही में देखियतु माफ करिबेही माहँ होतु कर नाछु है।—गुमान।

माफकत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मुआफिक होने का भाव। अनुकूलता। (२) मेल। मैत्री।

यौ०—मेल-माफकत।

माफिल-संज्ञा पुं० [?] एक प्रकार का खट्टा नींबू।

माफिकी-वि० [अ० मुआफिक] (१) अनुकूल। अनुसार।

क्रि० प्र०—आना।—पड़ना।—होना।

(२) योग्य।

माफिकत-संज्ञा स्त्री० दे० 'माफकत'।

माफी-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) क्षमा।

मुहा०—माफी चाहना वा माँगना = क्षमा माँगना। माफ किए जाने के लिये प्रार्थना करना।

(२) वह भूमि जिसका कर सरकार से माफ हो। बाध।

यौ०—माफीदार = माफी की भूमि का मालिक। जिसकी भूमि की मालगुजारी सरकार ने माफ की हो।

(३) वह भूमि जो किसी को बिना कर के दी गई हो।

क्रि० प्र०—देना।—पाना। मिलना।

मामझ-संज्ञा पुं० [सं० माम] (१) ममता। अहंकार। उ०—

रहहु सँभारे राम बिचारे कहत अहौ जो पुकारे हो। मूँड़ मुड़ाय फूलिकै बैठे मुद्रा पहिर मँजूसा हो। ताहि उपर कछु छार लपेटे भितर भितर घर मूसा हो। गाउँ बसत है गर्व भारती माम काम हंकारा हो। मोहनि जहाँ तहाँ लै जैहै नाहीं रहे तुम्हारा हो।—कबीर। (२) शक्ति। अधिकार। इस्तिथार।

मामता-संज्ञा स्त्री० [सं० ममता] (१) अपनापन। आत्मीयता।

(२) प्रेम। मुहब्बत। अनुराग।

मामरी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का पेड़ जो हिमालय की तराई में रावी नदी से पूर्व की ओर तथा मद्रास और मध्य भारत में होता है। इसकी लकड़ी बहुत मजबूत और चिकनी होती है, जिस पर रोगन करने से बहुत अच्छी चमक आती है। इसकी लकड़ी से मेज़, कुर्सी, आलमारी आदि आरायशी चीजें बनाई जाती हैं। इसकी छाल ओषधि के काम में आती है और जड़ साँप के काटने की ओषधि है। यह बीजों से उगता है। इसे चौरी और रूही भी कहते हैं।

मामलत, मामलति-संज्ञा स्त्री० [अ० मुआमिलत] (१) मामिला। व्यवहार की बात। (२) विवादास्पद विषय। उ०—वही जो मामिलत पहले चुकाई। करौ सो जाइ तेरे हाथ भाई।—सूदन।

मामला-संज्ञा पुं० [अ० मुआमिला] (१) व्यापार। काम। धंधा। उद्यम।

मुहा०—मामला बनाना = काम साधना।

(२) पारस्परिक व्यवहार। जैसे लेन देन, क्रय विक्रय इत्यादि। (३) व्यावहारिक, व्यापारिक वा विवादास्पद विषय।

मुहा०—मामला करना = (१) बात चींच करना। बात पक्की करना। (२) पारस्परिक वैपन्य दूर करके निश्चयपूर्वक कुछ निर्धारण करना। फैसला करना। **मामला बनाना** = काम ठीक करना। बात पक्की करना।

(४) पकी या तै की हुई बात । कौल करार । (५) झगड़ा ।
विवाद (६) मुकदमा ।

मुहा०—दे० “मुकदमा” के मुहा० ।

(७) प्रधान विषय । मुख्य बात । (८) सुंदर स्त्री । युवती ।
(बाजारू) (९) संभोग । स्त्री-प्रसंग ।

मुहा०—मामला बनाना = संभोग करना । प्रसंग करना ।

मामा-संज्ञा पुं० [अनु० मि० सं० मातुल] [स्त्री० मामी] माता का
भाई । माँ का भाई ।

संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) माता । माँ । उ०—आदम आदि
सिद्धि नहीं पावा । मामा होवा कहँ ते आवा ।—कबीर ।
(२) रोटी पकानेवाली स्त्री ।

यौ०—मामागिरी = दूसरों की रोटी पकाने का काम ।

(३) बुद्धी स्त्री । बुद्धिया । (४) नौकरानी । दाई । दासी ।
लौंडी ।

मामिला-संज्ञा पुं० दे० “मामला” ।

मामी-संज्ञा स्त्री० [सं० मा = निषेधार्थक] आरोप को ध्यान में न
लाना । अपने दोष पर ध्यान न देना ।

मुहा०—मामी पीना = दोषारोपण को ध्यान में न लाना । मुकर
जाना । अपने दोष पर ध्यान न देना । उ०—(क) ऊधो हरि
काहे के अंतर्धामी । अजहुँ न आई मिले यहि औसर
अवधि बतावत लामी । कीन्ही प्रीति पुहुप संडा की अपने
काज के कामी । तिनको कौन परेखा कीजै जे हैं गहड़ के
गामी । आई उवरि प्रीति कलई सी जैसे खाटी आमी ।
सूर इते पर खुनसनि मरियत ऊधो पीवत मामी ।—सूर ।
(ख) लाज कि और कहा कहि केशव जे सुनिये गुण ते सब
ठाये । मामी पिथे इनकी मेरी माइ को हे हरि आठहूँ गाँठ
हठाये ।—केशव ।

माँ—संज्ञा स्त्री० [अनु० मि० सं० मातुल] [स्त्री० ममानी] माता
का भाई । मामा । (मुसलमान)

मामूल-संज्ञा पुं० [अ०] (१) देव । लत । (२) रीति । रवाज ।
परिपाटी । (३) वह धन जो किसी को रवाज आदि के
कारण मिलता हो ।

मामूली-वि० [अ०] (१) नियमित । नियत । (२) सामान्य ।
साधारण ।

माय-संज्ञा स्त्री० [सं० मातृ] (१) माता । माँ । जननी ।
उ०—जसुमति माय लाल अपने को शुभ दिन डोल झुलायो ।
—सूर । (२) किसी बड़ी वा आदरणीय स्त्री के लिये संबो-
धन का शब्द । उ०—तब जानकी सासु पग लागी । सुनिय
माय मैं परम अभागी ।—तुलसी ।

संज्ञा स्त्री० [सं० माया] दे० “माया” । उ०—(क) ईश
माय बिलोकि कै उपजाइयो मन पूत ।—केशव । (ख)
मुनि बेप किये कियौ ब्रह्म जीव माय हैं ।—तुलसी ।

अव्य० [सं० मध्य] दे० “माहि” । उ०—पाछे लोकपाल
सब जीते सुरपति दियो उठाय । बरुण कुबेर अग्नि यम
मारुत स्ववस किये क्षण माय ।—सूर ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीतांबर । (२) असुर ।

मायक-संज्ञा पुं० [सं०] माया करनेवाला । मायावी । उ०—(क)
सायक सम मायक नयन रंगे त्रिविधि रंग गात । झरनौ
लखि दुरि जाति जल लखि जलजात लजात ।—विहारी ।
(ख) हंसगति नायक कि गूढ़ गुण गायक कि श्रवण सुहा-
यक कि मायक हैं मय के ।—केशव ।
† संज्ञा पुं० दे० “मायका” ।

मायका-संज्ञा पुं० [सं० मातृ + का (प्रत्य०)] नैहर । पीहर ।
उ०—(क) पठई समुझाय सहेलिन यों कोऊ मायके में
मिलतीं न कहा । (ख) सो जा सखी भरमै मति री यह
खोजा हमारे ही मायके-वारो ।—दूल्हा । (ग) मायके में मन-
भावन की रति कीरति शंभु गिरा हू न गावति ।—शंभु ।

मायण-संज्ञा पुं० [सं०] वेद का भाष्य करनेवाले सायण के
पिता का नाम ।

मायन-संज्ञा पुं० [सं० मातृका + आनयन] (१) वह दिन वा
तिथि जिस में विवाह में मातृका-पूजन और पितृ-निमंत्रण
होता है । उ०—बनि बनि आवत नारि जानि गृह मायन
हो ।—तुलसी । (२) उपर्युक्त दिन का कृत्य । मातृका-पूजन
या पितृ-निमंत्रण आदि कार्य । उ०—अभ्युदयिक करवाय
श्राद्ध विधि सब विवाह के चारा । कृत्य तेल मायन करवैहैं
व्याह विधान अपारा ।—रघुराज ।

मायनी-संज्ञा स्त्री० दे० “मायाविनी” । उ०—प्रचंड कोप
ताड़का अखंड ओज मायनी । गिरी धरा धड़ाक दै सुरेश
शोक-दायनी ।—रघुराज ।

संज्ञा स्त्री० [अ० मानी] अर्थ । मतलब । आशय ।

मायल-वि० [फा०] (१) झुका हुआ । झुजू । प्रवृत्त ।
उ०—इक तो हायल रहत हौं मायल है वा चाय ।
तापर घायल कै गई पायल बाल बजाय ।—रामसहाय ।
(२) मिश्रित । मिला हुआ । जैसे,—सब्जी मायल सफेद
रंग का पक्षी देखने में बहुत सुंदर लगता है ।

मायव-संज्ञा पुं० [सं०] मायु के गोत्र के लोग ।

माया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लक्ष्मी । (२) द्रव्य । धन । संपत्ति ।
दौलत । उ०—(क) माया त्यागो क्या भया मान तजा नहीं
जाय ।—कबीर । (ख) बड़ माया को दोष यह जो कबहुँ घटि
जाय । तौ रहीम मरिबो भलो दुख सहि जियै बलाय ।—
रहीम । (ग) जो चाहै माया बहु जोरी । करै अनर्थ सो
लाख करोरी ।—निश्चल । (३) अविद्या । अज्ञानता । भ्रम ।
(४) छल । कपट । धोखा । चालबाजी । उ०—(क) सुर
माया बस केकई कुसमय कीन्ह कुचाल ।—तुलसी । (ख)

धरि कै कपट भेष भिक्षुक को दसकंधर तहँ आयो । हरि लीन्हों छिन में माया करि अपने रथ बैठायो ।—सूर ।
 (ग) तब रावण मन में कहै करौं एक अब काम । माया को परपंच कै रचौं सु लछमन राम ।—हनुमन्नाटक । (घ) साहस अनृत चपलता माया ।—तुलसी । (५) सृष्टि की उत्पत्ति का मुख्य कारण । प्रकृति । उ०—(क) माया, ब्रह्म जीव जगदीसा । लल्लि अलल्लि रंक अवनीसा ।—तुलसी ।
 (ख) माया माहिं नित्य लै पावै । माया हरि पद माहिं समावै ।—सूर । (ग) माया जीव काल के करम के सुभाव के करैया राम वेद कहै ऐसी मन गुनिये ।—तुलसी । (६) ईश्वर की वह कल्पित शक्ति जो उसकी आज्ञा से सब काम करती हुई मानी गई है । उ०—तहँ लखि माया की प्रभुताई । मणि मंदिर झुचि सेज सुहाई । (७) इंद्रजाल । जादू । छल-मय रचना । उ०—जीति को सकै अजय रघुराई । माया ते अस रची न जाई ।—तुलसी । (८) इंद्रवज्रा नामक वर्ण वृत्त का एक उपभेद । यह वर्ण वृत्त इंद्रवज्रा और उपेंद्रवज्रा के मेल से बनता है । इस के दूसरे तथा तीसरे चरण का प्रथम वर्ण लघु होता है । जैसे,—राधा रमा गौरि गिरा सु सीता । इन्हें विचारे नित नित्य गीता । कटै अपारे अब ओघ मीता । हूँ सदा तोर भला सुबीता । (९) मगण, तगण, यगण, सगण और एक गुरु का एक वर्ण वृत्त । उ०—लीला ही सों वासव जी में अनुरागौ । तीनौ लोकै पालत नीके सुख पागौ ॥ जो जो चाहो सो तुम वा सों सब लीजौ । कीजै मेरी ओर कृपा सो सर भीजौ ।—गुमान । (१०) मय दानव की कन्या जो विश्रवा को व्याही थी और जिससे खर, दूषण, त्रिशिरा और सूर्पनखा पैदा हुए । उ०—माया सुन जनमें करि लेखा । खर दूषण त्रिशिरा सुपनेखा ।—विश्राम । (११) देवताओं में से किसी की कोई लीला, शक्ति, इच्छा वा प्रेरणा । उ०—(क) राम जी की माया । कहीं धूप कहीं छाया । (कहावत) (ख) अति प्रचंड रघुपति कै माया । जेहि न मोह अस को जग जाया ।—तुलसी । (ग) तेहि आश्रमहि मदन जब गयऊ । निज माया बसंत निरमयऊ ।—तुलसी । (घ) बोले बिहँसि महेश, हरि माया बल जानि जिय ।—तुलसी । (१२) कोई आदरणीय स्त्री । (१३) बुद्धि । अकृ । (१४) दुर्गा का एक नाम । (१५) बुद्धदेव (गौतम) की माता का नाम ।

यौ०—मायाकार । मायाजीवी ।

❧ संज्ञा स्त्री० [हि० माता] माता । माँ । जननी । उ०—बिनवै रतनसेन की माया । माथे छात पाट नित पाया ।—जायसी ।

* संज्ञा स्त्री० [हि० ममता] (१) किसी को अपना समझने का भाव । ममत्व । (२) कृपा । दया । अनुग्रह । उ०—(क)

भलेहिं आय अब माया कीजै । पहुनाई कहँ आयसु दीजै ।
 —जायसी । (ख) साँचेहु उनके मोह न माया । उदासीन धन धाम न जाया ।—तुलसी । (ग) डंड एक माया कर मोरे । जोगिनि होउँ चलौं सँग तोरे ।—जायसी ।

मायाकार-संज्ञा पुं० [सं०] जादूगर । ऐंद्रजालिक ।

मायाक्षेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण के एक तीर्थ का नाम ।

मायाचार-संज्ञा पुं० [सं०] मायावी ।

मायाजीवी-संज्ञा पुं० [सं० मायाजीविन्] जादूगरी से जीविका निर्वाह करनेवाला । जादूगर ।

मायातंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का तंत्र ।

मायाति-संज्ञा पुं० [सं०] तान्त्रिकों की वह नर-बलि जो अष्टमी या नवमी को दुर्गा के सामने दी जाती है ।

मायाद-संज्ञा पुं० [सं०] कुंभीर । मगर ।

मायादेवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बुद्ध की माता का नाम ।

मायाधर, मायापट्ट संज्ञा पुं० [सं०] मायावी ।

मायापुरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नगरी का नाम ।

मायाफल-संज्ञा पुं० [सं०] माजूफल ।

माया-मोह-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार विष्णु के शरीर से निकला हुआ एक कल्पित पुरुष जिसकी सृष्टि असुरों का दमन करने के लिये हुई थी ।

मायायंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] किसी को मोहने की विद्या । सम्मोहन ।

मायारवि-संज्ञा पुं० [सं०] संपूर्ण जाति का एक राग जिससे सब शुद्ध स्वर लगते हैं ।

मायावत्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मायावी । (२) राक्षस । असुर । (३) कंस का एक नाम ।

मायावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] कामदेव की स्त्री रति का एक नाम ।

मायावाद-संज्ञा पुं० [सं०] ईश्वर के अतिरिक्त सृष्टि की समस्त वस्तुओं को अनित्य और असत्य मानने का सिद्धांत जिसके अनुसार यह सारी सृष्टि केवल माया या मिथ्या समझी जाती है ।

मायावादी-संज्ञा पुं० [सं० मायावादिन्] ईश्वर के सिवा प्रत्येक वस्तु को अनित्य माननेवाला । वह जो मायावाद के अनुसार सारी सृष्टि को माया या भ्रम समझता हो ।

मायाविनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] छल वा कपट करनेवाली स्त्री । ठगिनी ।

मायावी-संज्ञा पुं० [सं० मायाविन्] [स्त्री० मायाविनी] (१) बहुत बड़ा चालाक । छलिया । धोखेबाज़ । फरेबी । (२) एक दानव का नाम जो मय का पुत्र था और बालि से लड़ने के लिये किष्किंधा में आया था । वाल्मीकि के अनुसार यह वुंदुभी नामक दैत्य का पुत्र था । उ०—मय सुत मायावी तेहि नाऊँ । आवा सो प्रभु हमारे गाऊँ ।—तुलसी । (३) बिल्ली । (४) परमात्मा ।

मायावीज-संज्ञा पुं० [सं०] 'ही' नामक तांत्रिक मंत्र ।

मायासीता-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार वह कल्पित सीता जिसकी सृष्टि सीता-हरण के समय अग्नि के योग से हुई थी । (कुछ पुराणों तथा रामायणों में यह कथा है कि सीता-हरण के समय अग्नि ने वास्तविक सीता को हटाकर उनके स्थान पर माया से एक दूसरी सीता खड़ी कर दी थी ।)

मायासुत-संज्ञा पुं० [सं०] मायादेवी के पुत्र, बुद्ध ।

मायास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कल्पित अस्त्र जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि इसका प्रयोग विश्वामित्र ने श्री रामचंद्र जी को सिखाया था ।

मायिक-संज्ञा पुं० [सं०] माजूफल ।

वि० [सं०] (१) माया से बना हुआ । जो वास्तविक न हो । बनावटी । जाली । उ०—कहि जग गति मायिक मुनि नाथा । कहे कछुक परमारथ गाथा ।—तुलसी । (२) मायावी । माया करनेवाला ।

मायी-संज्ञा पुं० [सं० मायिन्] (१) माया का अधिष्ठाता, परब्रह्म । ईश्वर । (२) माया करनेवाला व्यक्ति । (३) जादूगर । संज्ञा स्त्री० दे० "माई" ।

मायु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पित्त । (२) शब्द । (३) वाक्य ।

मायुक-वि० [सं०] शब्द करनेवाला ।

मायुराज-संज्ञा पुं० [सं०] कुवेर के एक पुत्र का नाम ।

मायूर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह रथ जो मयूरों से चलता हो । (२) मयूर । मोर ।

वि० मयूर-संबंधी । मोर का ।

मायूरक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो जंगली मोरों को पकड़ता हो ।

मायूरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कटूमर ।

मायूरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] अजमोदा ।

मायूस-वि० [फा०] निराश । ना-उम्मेद ।

मायूसी-संज्ञा स्त्री० [फा०] निराशा । ना-उम्मेदी ।

मायोभव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शुभ । अच्छा । (२) सौभाग्य ।

मार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव । (२) विघ्न । (३) विष । जहर । (४) धतूरा ।

संज्ञा स्त्री० [हि० मारना] (१) मारने की क्रिया या भाव ।

(२) आघात । चोट । (३) जिस वस्तु पर मार पड़े । निशाना । (४) मार-पीट । (५) युद्ध । लड़ाई ।

यौ०—मार-कार । मार पीट ।

अव्य० [हि० मारना] (१) अत्यंत । बहुत । उ०—(क) सुनत द्वारावती मार उतसौ भयो.....।—सूर । (ख) सोने की अठारी चित्रसारी मार जारी जैसे वास की अठारी जर गई फिरे बाँस ते ।—राम ।

संज्ञा स्त्री० [हि० माला] माला । उ०—अमल कपोलै आरसी बाहु चंपक मार ।—केशव ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] काली मिट्टी की जमीन । करैल मिट्टी की भूमि । मरवा भूमि ।

मारकंडेय-संज्ञा पुं० [सं० मार्कंडेय] पुराणानुसार एक ऋषि का नाम जो अष्ट चिरंजीवियों में से एक माने जाते हैं । इनके पिता का नाम मृकंड था । इनके विषय में यह प्रसिद्ध है कि ये सदा जीवित रहते हैं और रहेंगे । मार्कंडेय ।

मुह्रां—मारकंडेय की आयु होना = दीर्घजीवी होना । चिरायु होना । (आशीर्वाद)

मारक-वि० [सं०] (१) मार डालनेवाला । मृत्युकारक । संहारक । उ०—(क) लै उतारि यातैं नृपति भलो चढ़ायो बान । निरदोषिन मारक नहीं यह तारक दुखियान ।—लक्ष्मणसिंह । (ख) सुकवि मिलन की आस एक अवलंब उधारक । नहीं तो कैसे बचती माख्यौ मार सु मारक ।—व्यास । (२) किसी के प्रभाव आदि को नष्ट करनेवाला । घात पर प्रतिघात करनेवाला । जैसे,—यह औषध अनेक प्रकार के विषों का मारक है ।

मारका-संज्ञा पुं० [अ० मार्क] (१) चिह्न । निशान । (२) किसी प्रकार का चिह्न जिससे कोई विशेषता सूचित होती हो । संज्ञा पुं० [अ०] (१) युद्ध । लड़ाई । (२) बहुत बड़ी या महत्वपूर्ण घटना ।

मुह्रां—मारके की बात या काम = कोई महत्वपूर्ण या बड़ी बात या काम ।

मार काट-संज्ञा स्त्री० [हि० मारना + काटना] (१) युद्ध । लड़ाई । जंग । (२) मारने काटने का काम । (३) मारने काटने का भाव ।

मारकायिक-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार मार के अनुचर ।

मारकोन-संज्ञा स्त्री० [अ० नैर्किन] एक प्रकार का मोटा कोरा कपड़ा जो प्रायः गरीबों के पहनने के काम में आता है ।

मारखोर-संज्ञा पुं० [फा०] एक प्रकार की बकरी वा भेड़ जो काश्मीर और अफगानिस्तान में होती है । यह प्रायः दो तीन हाथ ऊँची होती है और ऋतु के अनुसार रंग बदलती है । इसके सींग जड़ में प्रायः सटे रहते हैं और इसकी दाढ़ी बहुत लंबी और घनी होती है ।

मारग-संज्ञा पुं० [सं० मार्ग] राह । रास्ता । मार्ग । उ०—(क) दीपक लेसि जगत कहँ दीन्हा । भा निरमल जग मारग चीन्हा ।—जायसी । (ख) मारग हुत जो अँधेर असूझा । भा उजेर सब जाना बूझा ।—जायसी । (ग) मारग चलहि पयादेहि पाये । कोतल संग जाहिं डोरि-याये ।—तुलसी । (घ) सबहिं भाँति पिय सेवा करिहौं । मारग जनित सकल श्रम हरिहौं ।—तुलसी ।

मुह्रां—मारग मारना = रास्ते में पथिक को लूट लेना । उ०—मारग मारि महीसुर मारि कुमारग कोटिक कै धन लीयो ।

—तुलसी । मारग लगना = रास्ते लगना । रास्ता लेना । चला जाना । उ०—(क) जोगी होहु तो जुक्ति सों माँगहु । भुगुति लेहु लै मारग लागहु ।—जायसी । (ख) खप्पर लिये वार भा माँगौ । भुगुति देहु लै मारग लागौ ।—जायसी । (ग) यह सुनि मुनि मारग लगे सुख पायो नर देव ।—केशव । मारग लेना = दे० “मारग लगना” ।

मारगन—संज्ञा पुं० [सं० मार्गण] (१) बाण । तीर । उ०—तानेउ चप खवन लगी छाँड़े बिसिख कराल । राम मारगन-गन चले लहलहात जनु व्याल ।—तुलसी । (२) भिक्षुक । याचक । भिखमंगा ।

मारजन—संज्ञा पुं० दे० “मार्जन” ।

मारजनी—संज्ञा स्त्री० दे० “मार्जनी” ।

मारजार—संज्ञा पुं० दे० “मार्जार” ।

मारजित—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसने कामदेव को जीत लिया हो । (२) बुद्ध ।

मारण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मार डालना । प्राण लेना । हत्या करना । (२) एक कल्पित तांत्रिक प्रयोग जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि जिस मनुष्य के मारने के लिये यह प्रयोग किया जाता है, वह मर जाता है । उ०—(क) मारण मोहन वसिकरण उच्चाटन अस्थंभ । आकर्षण बहु भौति के पदैँ सदा करि दंभ ।—रघुनाथदास । (ख) सीखौ सब मिलि धातु कर्मनि द्रव्य बाढ़त जाइ । आकर्षणादि उचाट मारण वशीकरण उपाइ ।—केशव ।

मारतंड—संज्ञा पुं० दे० “मार्तंड” ।

मारतंड मंडल—संज्ञा पुं० दे० “मार्तंड मंडल” ।

मारतंडसुत—संज्ञा पुं० दे० “मार्तंडसुत” ।

मारतौल—संज्ञा पुं० [पुर्त० मार्तली] एक प्रकार का बड़ा हथौड़ा ।

मारना—क्रि० सं० [सं० मारण] (१) बध करना । हनन करना । घात करना । प्राण लेना । उ०—(क) जिन बेधत सुख लक्ष लक्ष नृप कुँवर कुँवरमनि । तिन वानन बाराह बाघ मारत नहिँ सिंहनि ।—केशव । (ख) धाय सुवा लै मारन गई । समुझि ज्ञान हिये महुँ भई । सुआ सो राजा कर बिसरामी । मारि न जाय चहै जेहि स्वामी ।—जायसी । (२) दंड देने के लिये किसी को किसी वस्तु से पीटना वा आघात पहुँचाना । जैसे,—लात, थप्पड़, मुक्का, लाठी, जूता, तलवार आदि मारना । उ०—(क) एक ठौर देखत भयो वृषभ एक एक गाय । भय बस भागे जात दोउ एक नर मारत जाय ।—विश्राम । (ख) जो न मुदित मन आज्ञा देही । लाग्यो मारन तुरतै तेही ।—विश्राम । (३) जरब लगाना । ठोंकना । उ०—जब मैं परेग को मारतौल से मारता हूँ, तो यह परेग इस लकड़ी में घुसी जाती है ।—बेलेन्द्राइन । (४) दुःख देना । सत्ताना । जैसे,—मुझे तुम्हारी चिंता

मार रही है । उ०—देखी राम दुखित महतारी । जनु सुबेलि अबली हिम मारी ।—तुलसी । (५) कुस्ती या मलयुद्ध में विपक्षी को पछाड़ देना । जैसे,—इस पहलवान को मेरे पहलवान ने दो बार मारा है । (६) बंद कर देना । जैसे,—किवाड़ा मारना । (७) शस्त्र आदि चलाना । फेंकना । जैसे,—उसने कई तीर मारे । उ०—पारथ बाण चहुँ दिशि मारै । यूथ यूथ छत्री संहारै ।—सबलसिंह ।

मुहा०—गोली मारना = (१) किसी को बंदूक की गोली से मार देना । किसी पर बंदूक चलाना वा छोड़ना । (२) जाने देना । त्याग देना । ध्यान न देना । तुच्छ वा अनावश्यक सम्भना । जैसे,—अरे मारो गोली, इस बात में धरा ही क्या है । बंदूक मारना = किसी पर बंदूक की गोली छोड़ना । बंदूक दागना । फेंक करना । उ०—दुश्मनों ने भी हर तरफ से वहाँ आकर मुकाबिले के वास्ते दीवारों और छुरजें बनाईं जिनमें बंदूकों के मारने के वास्ते जगह रखी ।—देवीप्रसाद ।

(८) किसी शारीरिक आवेग या मनोविकार आदि को रोकना । (९) नष्ट कर देना । अंत कर देना । न रहने देना । जैसे,—(क) पाले ने फसल मार दी । (ख) तुमने उनका रोजगार मार दिया । (ग) उसने बार बार उपवास करके अपनी भूख मार ली है । (घ) भूख मारने से अरुचि, तंद्रा, दाह और बल का नाश होता है । (ङ) उसने बहुतेरे घर मारे हैं । (१०) शिकार करना । अहेर करना । आखेट करना । जैसे,—मछली मारना, हिरन मारना । (११) किसी वस्तु को इस प्रकार फेंकना कि वह किसी दूसरी वस्तु से जोर से टकरा जाय । उ०—उसने ढाँके को ऊँचा करके जोर से उस खंभे पर मारा जिससे वह खंभा हिल उठा ।—देवकीनंदन ।

मुहा०—दे मारना = (१) पटकना । (२) पछाड़ना । वह मारा = बस अब कार्य सिद्ध हो गया । विजय प्राप्त हुई । जो चाहते थे, सो हो गया । उ०—यह आपकी मेहरबानी है, मैं किस काबिल हूँ । (मन में) वह मारा—अब कहाँ जाती है । आज का शिकार तो बहुत ही नफीस है ।—राधाकृष्णदास ।

(१२) गुप्त रखना । छिपाना । दबाना । उ०—(क) रिस उर मारि रंक जिमि राजा । विपिन बसै तापस के साजा ।—तुलसी । (ख) खोज मारि रथ हाँकहु ताता । आन उपाय बनहि नहिँ बाता ।—तुलसी । (१३) चलाना । संचालित करना ।

मुहा०—गाल मारना = सीटना । बड़ बड़कर बातें करना । उ०—(क) मूढ़ मृषा जनि मारेसि गाला । राम बैर होइहि अस हाल ।—तुलसी । (ख) काहू को सर सूयो न परै मारत गाल गली गली हाट ।—हरिदास । (ग) मारत गाल कहा इतनो मनमोहन जू अपने मन ऊटे ।—रघुनाथ ।

कुछ पढ़कर मारना = मंत्र से फूँककर कोई चीज किसी पर फेंकना। जैसे,—झूँग मारना। साँप पर सरसों मारना। जादू मारना = किसी पर जादू का प्रयोग करना। किसी पर मंत्र वा तंत्र करना। डींग मारना = शेरखो बघारना। बड़ी बड़ी बातें करना। ऐसी बातें करना जिनका होना असंभव हो। उ०—वाह ऐसा ही था तो चूड़ी पहिर लेते; जवाँमर्दी की डींग क्यों मारते हैं।—देवकीनंदन। मंत्र मारना = जादू करना। मंत्र पढ़कर फूँकना। उ०—गड्डी को एक दिवाल पर फेंक देना और ऐसा मंत्र मारना कि पहिचाना हुआ ही ताश उसमें चिपक जाय, बाकी सब गिर पड़ें।—रामकृष्ण।

(१४) धातु आदि को जलाकर उसकी भस्म तैयार करना। जैसे,—पारा मारना, सोना मारना। (१५) अनुचित रूप से, बिना परिश्रम के अथवा बहुत अधिक प्राप्ति करना। (इस अर्थ में इसका प्रयोग प्रायः माल या रकम आदि शब्दों के ही साथ होता है।) जैसे,—माल मारना, किसी का हक मारना। (१६) करना। लगाना। जैसे—गोता मारना। चक्कर मारना। (१७) विजय प्राप्त करना। जीतना। जैसे,—मैदान मारना। (१८) ताश या शतरंज आदि खेलों में विपक्षी के पत्ते या गोटे आदि को जीतना। (१९) जो कुछ देना बाजब हो, वह न देना। अनुचित रूप से रख लेना। जैसे,—हमारे १००) उसने मार लिए। (२०) बल या प्रभाव कम करना। मारक होना। जैसे,—जहर को जहर मारता है। (२१) किसी योग्य न रहने देना। निर्जीव सा कर देना। जैसे,—इन्हें तो फजूलखर्ची ने मारा है। (२२) डसना। काटना। डंक मारना। (२३) लगाना। देना। जैसे,—टाँका मारना। (२४) गुदा भंजन करना। पुरुष का पुरुष के साथ संभोग करना। (२५) संभोग करना। स्त्री-प्रसंग करना।

विशेष—(क) यह शब्द भिन्न भिन्न संज्ञाओं तथा कुछ विशिष्ट क्रियाओं के साथ मुहावरे के रूप में अनेक प्रकार के अर्थ देता है। जैसे,—दम मारना, लकीर मारना, कोर मारना, धार मारना, पीस मारना, सता मारना आदि। (ख) इसके साथ प्रायः “डालना” और “देना” आदि संयोज्य क्रियाएँ आती हैं।

मारपेच—संज्ञा पुं० [हि० मारना + पेच] वह युक्ति जो किसी को धोखे में रखकर उसकी हानि करने या उसे नीचा दिखाने के लिये की जाय। धूर्तता। चालबाजी।

मारफत—अव्य० [अ०] द्वारा। वसीले से। जरिये से। उ०—(क) सधै मागध मारफत यह काज श्रम विनु आसु।—गोपाल। (ख) नेपाल में एक अँगरेज़ी दूत रहता है। उसे रेज़िडेंट कहते हैं। उसी की मारफत नेपाल राज्य

और हिंदुस्तान की गवर्नमेंट से आवश्यकतानुसार लिखा-पढ़ी होती है।—द्विवेदी।

मारव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मरु देवता। (२) राजतरंगिणी के अनुसार एक प्राचीन देश।

मारवा—संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक संकर राग जो परज, विभास और गौरी को मिलाकर बनाया जाता है। कुछ लोग इसे भ्रम से श्रीराग का पुत्र मानते हैं। (२) एक प्रकार का खयाल जो तिलवाड़ा ताल पर बजाया जाता है।

मारवाड़—संज्ञा पुं० [हि० मेवाड़] (१) मेवाड़ राज्य। दे० “मेवाड़”। (२) राजपूताने का एक प्रांत जहाँ अब बीकानेर और जोधपुर के राज्य हैं। मेवाड़ के आस-पास का प्रांत।

मारवाड़ी—संज्ञा पुं० [हि० मारवाड़] [स्त्री० मारवाड़िन] (१) मारवाड़ देश का निवासी। (२) मारवाड़ देश की भाषा। वि० [हि० मारवाड़] मारवाड़ देश का। मारवाड़ देश संबंधी।

मारवीज—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मंत्र।

मारा*—वि० [हि० मारना] जो मार डाला गया हो। मारा हुआ। निहत। उ०—परखेसु मोहि एक पखवारा। नहि आवहुँ तो जानेसु मारा।—तुलसी।

मुहा०—मारा फिरना, मारा मारा फिरना = व्यर्थ घूमना फिरना। बुरी दशा में इधर उधर घूमना। उ०—टुक हिंस हवा को छोड़ मियाँ मत देस बिदेस फिरे मारा।—नज़ीर।

मारात्मक—वि० [सं०] (१) हिंसक। (२) दुष्ट। (३) प्राण-नाशक। सांघातिक।

माराभिभू—संज्ञा पुं० [सं०] बुद्धदेव।

मारामार—क्रि० वि० [हि० मारना] अत्यंत शीघ्रता से। बहुत जल्दी। उ०—मैं अयोध्या के राजा का सारथी हूँ। दमयंती का स्वयंवर आज ही सुनके मारामार घोड़ों को यहाँ लाया हूँ।—शिवप्रसाद।

संज्ञा स्त्री० दे० “मारपीट”।

मारि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मार डालना। बध करना। (२) मरी (रोग)।

मारिचक—संज्ञा पुं० दे० “मारीच”।

संज्ञा पुं० दे० “मार्च”।

मारित—वि० [सं०] (१) जो मार डाला गया हो। निहत। (२) जो भस्म कर दिया गया हो। (वैद्यक)

मारिष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाटक का सूत्रधार। (२) नाटक में किसी मान्य या प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिये संबोधन। (३) मरसा नामक साग।

मारिषा—संज्ञा स्त्री० [सं०] दक्ष की माता का नाम।

मारी—संज्ञा स्त्री० [हि० मारिना] कोई ऐसा संक्रामक रोग जिसके कारण बहुत से लोग एक साथ मरें। मारी। जैसे,—हैजा,

प्लेग, चेचक इत्यादि । दे० “मरी” । उ०—(क) ईति भीति ग्रह प्रेत चौरानल व्याधि बाधा समनघोर मारी ।—तुलसी ।

(ख) सब जदपि अमारीघर तदपि मारी सम परदल धँसत ।—गोपाल ।

संज्ञा पुं० [सं० मारिन्] हत्या करनेवाला । घातक ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चंडी । (२) माहेश्वरी शक्ति । (३) मरी । (रोग)

मारीच-संज्ञा पुं० [सं०] रामायण के अनुसार वह राक्षस जिसने सोने का हिरन बनकर रामचंद्र को धोखा दिया था ।

मारीचपत्रक-संज्ञा पुं० [सं०] सरल वृक्ष ।

मारीचवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] मिर्च का पेड़ ।

मारीष-संज्ञा पुं० [सं०] मरसा साग ।

मारीची-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के देवता ।

मारीच्य-संज्ञा पुं० [सं०] अग्निश्चिता ।

मारुंड-संज्ञा पुं० [सं०] साँप का अंडा ।

मारुङ्ग-संज्ञा स्त्री० दे० “मार” ।

मारुत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु । पवन । हवा । (२) वायु का अधिपति देवता ।

यौ०—मारुतनंदन, मारुतसुत, मापुतनय = हनुमान ।

मारुतसुत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान । (२) भीम ।

मारुतापह-संज्ञा पुं० [सं०] वरुण वृक्ष ।

मारुताशन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्तिकेय । (२) साँप ।

मारुति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान । (२) भीम ।

मारुदेव-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन पर्वत का नाम ।

मारुध-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन देश का नाम ।

मारु-संज्ञा पुं० [हिं० मारना] (१) एक राग जो शुद्ध के समय बजाया और गाया जाता है । इसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं । यह श्रीराग का पुत्र माना जाता है । उ०—(क) मेरि नफीरि बाज सहनाई । मारु राग सुभट सुखदाई ।—तुलसी । (ख) सैयद समर्थ भूप अली अकबर दल चलत बजाय मारु दुंदुभी धुकान की ।—गुमान । (ग) रण की टंकार गाजे दुंदुभी में मारु बाजे तेरे जीय ऐसो रुद्र मेरी ओर लरैगो ।—हनु० । (२) बहुत बड़ा डंका या नगाड़ा । जंगी धौसा । उ०—उस काल मारु जो बाजता था, सो तो मेघ सा गाजता था ।—लल्लू ।

संज्ञा पुं० [सं० मरुभूमि] मरुदेश निवासी । मारवाड़ी । उ०—प्यासे दुपहर जेठ के थके सबै जल सोधि । मरुवर पाय मतीरहू मारु कहत पयोधि ।—बिहारी ।

वि० [हिं० मारना] (१) मारनेवाला । (२) हृदयवेधक । कटीला । उ०—काजल लगे हुए मारु नयनों के कटाक्ष अपने सामने तरुणियों को क्या समझते थे ।—गदाधरसिंह । संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक प्रकार का शाहबल्लूत जो शिमले

और नैनीताल में अधिकता से पाया जाता है । इसकी लकड़ी केवल जलाने और कोयला बनाने के काम में आती है । इसके पत्ते और गोंद चमड़ा रँगने में काम आते हैं । (२) काकरेजी रंग ।

मारुत-संज्ञा स्त्री० [हिं० मारना ?] घोड़ों के पिछले पैरों की एक भौरी जो मनहूस समझी जाती है ।

संज्ञा पुं० [सं० मारुति] हनुमान । (डि०)

मारे-अव्य० [हिं० मारना] वज्रह से । कारण से । उ०—(क) नैन गये फिरि, फेन बहै सुख, चैन रह्यो नहिं मैं के मारे ।—पद्माकर । (ख) परंतु आश्रम को छोड़ते हुए दुःख के मारे पाँव आगे नहीं पड़ते ।—लक्ष्मणसिंह । (ग) मेरे नाम से चूल्हे की राख भी रखी रहे, तौ भी लोगों के मारे बचने नहीं पाती ।—दुर्गाप्रसाद मिश्र । (घ) कुँवर कछौ वे बृद्ध बिचारे । छाँडेन धर्म प्यास के मारे ।—रघुनाथदास । (ङ) तिस समय एक बड़ी आँधी चली कि जिसके मारे पृथ्वी डोलने लगी ।—लल्लू ।

मार्कंड-संज्ञा पुं० दे० “मार्कंडेय” ।

मार्कंडेय-संज्ञा पुं० [सं०] मृकंड ऋषि के पुत्र जिनके विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे अपने तपोबल से सदा जीवित रहते हैं और रहेंगे ।

मार्क-संज्ञा पुं० दे० “मार्का” ।

संज्ञा पुं० [सं०] भृंगराज । भृंगरैया ।

मार्कर, मार्कव-संज्ञा पुं० [सं०] भृंगराज । भृंगरैया ।

मार्का-संज्ञा पुं० [सं०] कोई अंक वा चिह्न जो किसी विशेष बात का सूचक हो । संकेत । छाप ।

मार्कैट-संज्ञा पुं० [सं०] बाजार । हाट ।

मार्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रास्ता । पंथ । (२) गुदा । (३) कस्तूरी । (४) अगहन का महीना । उ०—हिम ऋतु मार्ग मास सुखमूला । ग्रह तिथि नखत योग अनुकूला ।—रघुनाथदास । (५) मृगशिरा नक्षत्र । (६) विष्णु । (७) लाल अपामार्ग ।

वि० [सं०] मृग-संबंधी ।

मार्गक-संज्ञा पुं० [सं०] अगहन का महीना ।

मार्गण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अन्वेषण । ढूँढ़ना । (२) प्रेम । (३) याचक । भिखमंगा ।

मार्गद-संज्ञा पुं० [सं०] केवट ।

मार्गधेनु-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक योजन का परिमाण ।

मार्गनङ्ग-संज्ञा पुं० [सं० मार्गण] बाण । तीर ।

मार्गप, मार्गपति-संज्ञा पुं० [सं०] राज्य का वह कर्मचारी जो मार्गों का निरीक्षण करता हो ।

मार्गव-संज्ञा पुं० [सं०] एक संकर जाति जिसकी उत्पत्ति निषाद पिता और आर्योगवी माता से मानी जाती है ।

मार्गवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह देवी जो मार्ग चलनेवालों की रक्षा करनेवाली मानी जाती है।
मार्गवेद-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक ऋषिकुमार का नाम।
मार्गशिर-संज्ञा पुं० [सं० मार्गशीर्ष] अगहन का महीना। मार्गशीर्ष।
मार्गशिरस्-संज्ञा पुं० दे० "मार्गशीर्ष"।
मार्गशीर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] अगहन का महीना।
मार्गिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पथिक। यात्री। (२) मृगों को मारनेवाला, व्याध।
मार्गी-संज्ञा स्त्री० [सं०] संगीत में एक सूच्छता जिसका स्वर ग्राम इस प्रकार है—नि, स, रे, ग, म, प, ध। म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स।
संज्ञा पुं० [सं० मार्गिन] मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति। रास्ता चलनेवाला। बटोही।
मार्गीयव-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम गान।
मार्च-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंगरेजी तीसरा मास जो प्रायः फागुन में पड़ता है। फरवरी के बाद और अप्रैल के पहले पड़नेवाला अंगरेजी महीना। (२) गमन। गति। (३) सेना का कूच। सेना का प्रस्थान।
मार्ज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मार्जन। (२) विष्णु। (३) धोबी।
मार्जन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साफ करने का भाव। स्वच्छ करना। (२) सफाई। (३) लोध का वृक्ष। (४) लोध।
मार्जना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सफाई। (२) क्षमा। माफी।
मार्जनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) झाड़ू। बुहारी। (२) मध्यम स्वर की चार श्रुतियों में से अंतिम श्रुति। (संगीत)
मार्जनीय-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि।
वि० मार्जन करने योग्य।
मार्जार-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मार्जारी] (१) बिलार। बिल्ली। (२) लाल चीता (वृक्ष)। (३) पूतिसारवा।
मार्जारक-संज्ञा पुं० [सं०] मोर।
मार्जारकर्णिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] चामुंडा का एक नाम।
मार्जारगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुद्गपर्णी।
मार्जारपाद-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बुरे लक्षणवाला घोड़ा।
मार्जारी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कस्तूरी। (२) गंधनाकुली।
मार्जारो टोड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० मार्जारी + हि० टोड़ी] संपूर्ण जाति की एक रागिनी जिसमें सब कोमल स्वर लगते हैं।
मार्जारीय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिल्ली। (२) शूद्र।
मार्जालीय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिल्ली। (२) शूद्र। (३) शिव। (४) एक ऋषि का नाम।
मार्जित-वि० [सं०] स्वच्छ किया हुआ। साफ किया हुआ।
संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का प्राचीन खाद्य पदार्थ जो

दही, चीनी, शहद और मिर्च आदि को मिलाकर और उसमें कपूर डालकर बनाया जाता था।
मार्तंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य। (२) आक का वृक्ष। (३) सूअर। (४) सोनामक्खी।
मार्तंडवल्लभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सूर्य की पत्नी, छाया।
मार्त्तिकावत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार चेदि राज्य का एक प्राचीन नगर। (२) उस देश का निवासी।
मार्दव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अहंकार का त्याग। अभिमान रहित होना। (२) दूसरे को दुःखी देखकर दुःखी होना। (३) सरलता। (४) एक प्राचीन संकर जाति। इस जाति के लोग बहुत मृदु स्वभाव के होते थे।
मार्दीक-संज्ञा पुं० [सं०] अंगूर की शराब।
मार्फत-अव्य० [अ०] द्वारा। जरिए से। जैसे,—आपकी मार्फत सब काम हो जायगा।
मार्मिक-वि० [सं०] मर्म स्थान पर प्रभाव डालनेवाला। जिसका प्रभाव मर्म पर पड़े। विशेष प्रभावशाली। जैसे,—मार्मिक व्याख्यान। मार्मिक कवित्त।
मार्मिकता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मार्मिक होने का भाव। (२) किसी वस्तु के मर्म तक पहुँचने का भाव। पूर्ण अभिज्ञता।
जैसे,—संगीत के संबंध में आपकी मार्मिकता प्रसिद्ध है।
मार्ष-संज्ञा पुं० दे० "मारिष"।
माल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्षेत्र। (२) कपट। (३) वन। जंगल। (४) हरताल। (५) विष्णु। (६) एक प्राचीन अनार्य जाति। भागवत में इसे म्लेच्छ लिखा है। (७) एक देश का नाम।
संज्ञा पुं० [सं० मल्ल] कुश्ती लड़नेवाला। दे० "मल्ल"।
उ०—(क) कहुँ माल देह बिसाल सैल समान अति बल गर्जहीं।—तुलसी। (ख) योगी घर मेले सब पाछे। उतरे माल आये रन काछे।—जायसी।
† संज्ञा स्त्री० [सं० माला] (१) माला। हार। उ०—(क) बिनय प्रेम-बस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसुकानी।—तुलसी। (ख) पहिरि लियो छन माँझ असुर बल और उ नखन बिदारी। रुधिर पान करि आँत माल धरि जय जय शब्द पुकारी।—सूर। (ग) चंदन चित्रित रंग, सिंधुराज यह जानिए। बहुत बाहिनी संग, मुकुता माल बिसाल उर।—केशव। (घ) कितने काज चलाइयतु चतुराई की चाल। कहे देत गुन रावरे सब गुन निर्गुन माल।—बिहारी। (२) वह रस्सी वा सूत की डोरी जो चरखे में मूड़ी वा बेलन पर से होकर जाती है और टेकुए को घुमाती है। (३) पंक्ति। पाँती। उ०—(क) सेवक मन मानस मराल से। पावन गंग तरंग माल से।—तुलसी। (ख) बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल माल मानो लंक लीलिबे को काल

रसना पसारी है।—तुलसी। (ग) धाम धामनि आगि की बहु ज्वाल माल विराजहीं। पवन के झकझोर ते झँझरी झरोखे बाजहीं।—केशव। (घ) गीधन की माल कहुँ जंबुक कराल कहुँ नाचत बैताल लै कपाल जाल जात से।—हनुमन्नाटक।

संज्ञा पुं० [अ०] (१) संपत्ति। धन। उ०—(क) भली करी उन ध्याम बैधाए। बरज्यो नहीं कह्यो उन मेरी अति आतुर उठि धाए। अल्प चोर बहु माल लुभाने संगी सबन धराए। निदरि गए तैसो फल पायो अब वे भए पराए।—सूर। (ख) धाम औ धरा को माल बाल अबला को अरि तजत परान राह चहत परान की—गुमान। (ग) माखन चोरी सों अरी परकि रहेउ नँदलाल। चोरन लागै अब लखौ नेहिन को मन-माल।—रसनिधि।

यौ०—मालखाना। मालगाड़ी। मालगोदाम। मालजामिन। माल मनकूला। माल गैरमनकूला। मालदार आदि।

मुहा०—माल उड़ाना = (१) बहुत रुपया खर्च करना। धन का अपव्यय करना। (२) किसी की संपत्ति को हड़प लेना। दूसरे का माल अनुचित रूप से ले लेना। माल काटना = किसी के धन को अनुचित रूप से अधिकार में लाना। माल उड़ाना। माल चोरना = पराया धन हड़पना। माल उड़ाना। माल मारना। माल मारना = अनुचित रूप से पराए धन पर अधिकार करना। पराया धन हड़पना। दूसरे की संपत्ति दबा बैठना।

(२) सामग्री। सामान। असबाब। उ०—(क) कहो तुमहिं हम को का वृत्ति। लै लै नाम सुनावहु तुम हीं मो सों कहा अरुत्ति। तुम जानति मैं हूँ कछु जानत जो जो माल तुम्हारे। डारि देहु जा पर जो लागै मारग चलौ हमारे।—सूर। (ख) मिती ज्वार भाटा हू की शीघ्र ही निकारै। लोग कहत हे भरे माल कूँ कृति हु डारे।—श्रीधर।

मुहा०—माल काटना = चलती रेलगाड़ी में से वा मालगुदाम आदि में से माल चुराना। माल टाल = धन संपत्ति। माल असबाब। माल मत्ता = माल असबाब।

(३) क्रय विक्रय का पदार्थ। (४) वह धन जो कर में मिलता है। (५) फसल की उपज। (६) उत्तम और सुस्वादु भोजन।

मुहा०—माल उड़ाना = सुस्वादु और बहुमूल्य भोजन करना।

(७) गणित में वर्ग का घात। वर्ग अंक। (८) किसी वस्तु का सार द्रव्य। वह द्रव्य जिससे कोई चीज बनी हो। जैसे,—(क) इस अँगूठी का माल अच्छा है। (ख) इस कढ़े का माल खोटा है। (ग) एक बीघे पोस्त से दो सेर अच्छा माल निकलता है। (९) सुंदर स्त्री। युवती। (बाजारू)।

मालकङ्गनी-संज्ञा स्त्री० [हि० माल + कङ्गनी] एक लता का

नाम जो हिमालय पर्वत पर झेलम नदी से आसाम तक ४००० फुट की ऊँचाई तक तथा उत्तरीय भारत, बरमा और लंका में पाई जाती है। इसकी पत्तियाँ गोल और कुछ कुछ नुकीली होती हैं। यह लता पेड़ों पर फैलती है और उन्हें आच्छादित कर लेती है। चैत के महीने में इसमें घोंद के घोंद फूल लगते हैं और सारी लता फूलों से लदी हुई दिखाई पड़ती है। फूलों के झड़ जाने पर इसमें नीले नीले फल लगते हैं जो पकने पर पीले रंग के और मटर के बराबर होते हैं, जिनके भीतर से लाल लाल दाने निकलते हैं। इन दानों में तेल का अंश अधिक होता है जिससे इन्हें पेरकर तेल निकाला जाता है। मदरास में उत्तरीय सरकार तथा विजिगापट्टम, दलौरा आदि स्थानों में इसका तेल बहुत अधिक तैयार होता है। यह तेल नारंगी रंग का होता है और औषध में काम आता है। वैद्यक के अनुसार इसका स्वाद चरपरापन लिए कड़ुवा, इसकी प्रकृति रक्ष और गर्म तथा इसका गुण अग्नि, मेधा, स्मृतिवर्द्धक और वात, कफ तथा दाह की नाशक बतलाई गई है।

पर्या०—महाज्योतिष्मती। तीक्ष्णा। तेजोवती। कनकप्रभा।

सुरलता। अग्निफला। मेधावती। पीता इत्यादि।

मालकङ्गनी-संज्ञा स्त्री० दे० “मालकङ्गनी”।

मालक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्थूल पद्म। (२) नीम।

† संज्ञा पुं० दे० “मालिक”।

मालकङ्गनी-संज्ञा स्त्री० दे० “मालकङ्गनी”।

मालका-संज्ञा स्त्री० [सं०] माला।

मालकुंडा-संज्ञा पुं० [हि० माल + हि० कुंडा] वह कुंडा जिसमें नील कढ़ाहे में डाले जाने के पहले रखा जाता है।

मालकोश-संज्ञा पुं० [सं०] एक राग का नाम जिसे कौशिक राग भी कहते हैं। हनुमत् ने इसे छः रागों के अंतर्गत माना है। यह संपूर्ण जाति का राग है। इसका स्वरूप वीर रस युक्त, रक्त वर्ण, वीर पुरुषों से आवेष्टित, हाथ में रक्त वर्ण का दंड लिए और गले में मुंड माला धारण किए लिखा गया है। कोई कोई इसे नील वस्त्रधारी, श्वेत दंड लिए और गले में मोतियों की माला धारण किए हुए मानते हैं। इसकी ऋतु शरद् और काल रात का पिछला पहर है। कोई कोई शिशिर और वसंत ऋतु को भी इसकी ऋतु बतलाते हैं। हनुमत् के मत से कौशिकी, देवगिरी, वरवारी, सोहनी और नीलांवरी ये पाँच इसकी प्रियाएँ और बागेश्वरी, ककुभा, पर्यंका, शोभनी और खंभाती ये पाँच भार्याएँ तथा माधव, शोभन, सिंधु, मारु, मेवाड़, कुंतल, कलिंग, सोम, विहार और नीलरंग ये दस पुत्र हैं। परंतु अन्यत्र बागेश्वरी, बहार, शहाना, अताना, छाया और कुमारी नाम की इसकी रागिनियाँ, शंकरा और जयजयबंती

सहचरियाँ, केदारा, हमीर नद, कामोद, खम्माच और बहार नामक पुत्र और भूपाली, कामिनी, क्षिप्तोटी, कामोदी और विजया नाम की पुत्र-बहूएँ मानी गई हैं। कुछ लोग इसे संकर राग मानते हैं और इसकी उत्पत्ति षट सारंग, हिंडोल, वसंत, जयजयवंती और पंचम के योग से बतलाते हैं। रागमाला में इसे पाटल वर्ण, नीलपरिच्छद, यौवन-मदमत्त, यष्टिधारी और स्त्री-गण से परिवेष्टित, गले में शनुओं के मुँड की माला पहने, हास्य में निरत लिखा है; और चौड़ी, गौरी, गुणकरी, खंभाती और ककुभा नाम की पाँच स्त्रियाँ, मारु, मेवाड़, बड़हंस, प्रबल, चंद्रक, नंद, भ्रमर और खुलर नामक आठ पुत्र बतलाए हैं; और भरत ने गौरी, दयावती, देवदाली, खंभावती और कोकभा नाम की पाँच भाय्याएँ और गांधार, शुद्ध, मकर, त्रिजन, सहान, भक्तवल्लभ, मालीगौर और कामोद नामक आठ पुत्र और धनाश्री, मालश्री, जयश्री, सुधोरायी, दुर्गा, गांधारी, भीमपलाशी और कामोदी नाम की उनकी भाय्याएँ लिखी हैं।

मालकोस-संज्ञा पुं० दे० "मालकोश"।

मालखाना-संज्ञा पुं० [फा०] वह स्थान जहाँ पर माल असबाब जमा होता हो वा रखा जाता हो। भंडार।

मालगाड़ी-संज्ञा पुं० [हि० माल + गाड़ी] रेल में वह गाड़ी जिसमें केवल माल असबाब भरकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाया जाता है। ऐसी गाड़ियों में यात्री नहीं जाने पाते।

मालगुजारी-संज्ञा पुं० [फा०] (१) मालगुजारी देनेवाला पुरुष। (२) मध्य-प्रदेश में एक प्रकार के जमींदार जो किसानों से वसूल करके सरकार को मालगुजारी देते हैं।

मालगुजारी-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) वह भूमि-कर जो जमींदार से सरकार लेती है। (२) लगान।

मालगुर्जरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] संपूर्ण जाति की एक रागिनी जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं। कुछ लोग इसे गौरी और सोरठ से बनी हुई संकर रागिनी मानते हैं।

मालगोदाम-संज्ञा पुं० [हि० माल + गोदाम] (१) वह स्थान जहाँ पर व्यापार का माल रखा जाता है वा जमा रहता है। (२) रेल के स्टेशनों पर वह स्थान जहाँ मालगाड़ी से भेजा जानेवाला अथवा आया हुआ माल रहता है।

मालचक्रक-संज्ञा पुं० [सं०] पुट्टे पर का वह जोड़ जो कमर के नीचे जाँघ की हड्डी और कूल्हे में होता है। कूल्हा। चक्रा।

मालजातक-संज्ञा पुं० [सं०] गंधविडाल। गंधमार्जार।

मालटा-संज्ञा स्त्री० [अ० माल्टा] एक प्रकार की लाल रंग की नारंगी जो देखने में सुंदर और खाने में बहुत स्वादिष्ट होती है। गुजरातवाला और लखनऊ में यह बहुतायत से होती है।

मालति-संज्ञा स्त्री० दे० "मालती"।

मालतिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्तिकेय की एक मातृका का नाम।

मालती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की लता का नाम जो हिमालय और विंध्य पर्वत के जंगलों में अधिकता से होती है। इसकी पत्तियाँ लंबोतरी और नुकीली, ढाई तीन अंगुल चौड़ी और चार पाँच अंगुल लंबी होती हैं। यह शुष्मपत्रक लता है और बड़े से बड़े वृक्ष पर भी घटाटोप फैलती है। यह बरसात के प्रारंभ में फूलती है। इसमें फूलों के घोंद लगते हैं। फूल सफेद होता है जिसमें पँखुडियाँ होती हैं, जिनके नीचे दो अंगुल का लंबा डंठल होता है। इस फूल में भीनी मधुर सुगंध होती है। फूल झड़ने पर वृक्ष के नीचे फूलों का बिछौना सा बिछ जाता है। जब यह लता फूलती है, तब भैंरे और मधुमक्खियाँ प्रातःकाल उस पर चारों ओर गुंजारती फिरती हैं। यह उद्यानों में भी लगाई जाती है; पर इसके फैलने के लिये बड़े वृक्ष वा मंडप आदि की आवश्यकता होती है। यह कवियों की बड़ी पुरानी परिचित पुष्पलता है। कालिदास से लेकर आज तक के प्रायः सभी कवियों ने अपनी कविता में इसका वर्णन अवश्य किया है। कितने कोशकारों ने भ्रमवश इसे चमेली भी लिखा है। उ०—(क) सोनजर्द बहु फूली सेवती। रूप-मंजरी और मालती।—जायसी। (ख) देखहु धौं प्राणपति निकल अली की गति, मालती सों मिल्यो चाहै लीने साथ आलिनी।—केशव। (ग) घाम घटीक निवारिये कलित ललित अलि पुंज। जमुना तीर तमाल तरु मिलित मालती कुंज।—बिहारी। (२) छः अक्षरों की एक वर्णवृत्ति का नाम। इसके प्रत्येक चरण में दो जगण होते हैं। उ०—जो पै जिय जोर। तजौ सब शोर। सरासन तोरि। लहौ सुख कोरि।—केशव। (३) बारह अक्षरों की एक वर्णिक वृत्ति का नाम। इसके प्रत्येक चरण में नगण, दो जगण और अंत में रगण होता है। उ०—विपिन विराध बलिष्ठ देखिये। नृप तनया भयभीत लेखिये। तब रघुनाथ वाण कै हयो। निज निर्णवा पंथ को ठयो।—केशव। (४) सवैया के मत्तगयंद नामक भेद का दूसरा नाम। (५) युवती। (६) चाँदनी। ज्योत्स्ना। (७) रात्रि। रात। (८) पाठा। पाढ़ा। (९) जायफल का पेड़। जाती।

मालतीचारक-संज्ञा पुं० [सं०] सोहागा।

मालतीजात-संज्ञा पुं० [सं०] सोहागा।

मालती टोड़ी-संज्ञा स्त्री० [हि० मालती + टोड़ी] संपूर्ण जाति की एक रागिनी जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं।

मालतीतीरज-संज्ञा पुं० [सं०] सोहागा।

मालतीपत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] जातीपत्री। जावित्री।

मालती फल-संज्ञा पुं० [सं०] जायफल।

मालव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वाल्मीकीय रामायण के अनुसार एक प्रदेश का नाम जिसे लाङ्का ने उजाड़ दिया था। (२)

मार्कण्डेय पुराण के अनुसार एक अनार्य जाति का नाम।

मालव-संज्ञा पुं० [देश०] (१) भागलपुर के पास के एक नगर का नाम जहाँ का आम अच्छा होता है। (२) उक्त नगर के आस पास होनेवाला एक प्रकार का बड़ा आम जो प्रायः कलमी होता है।

मालवही-संज्ञा स्त्री० [हि० मालवह] (१) एक प्रकार की नाव जिसमें माझी छप्पर के नीचे बैठकर खेते हैं। (२) एक प्रकार का रेशमी डोरिया (कपड़ा) जो पहले मालवह में बनता था और जिसके लहंगे बनाए जाते थे।

मालदा-संज्ञा पुं० दे० “मालदह”।

मालदार-वि० [फा०] धनवान्। धनी। संपन्न।

मालद्वीप-संज्ञा पुं० [सं० मलयद्वीप] भारतीय महासागर में भारत-वर्ष के पश्चिम ओर के एक द्वीपसमूह का नाम। इस द्वीप-समूह में चार छोटे छोटे द्वीप हैं।

मालन-संज्ञा स्त्री० दे० “माली”।

मालपुत्रा-संज्ञा पुं० दे० “मालपूआ”।

मालपूआ-संज्ञा पुं० [सं० पू०] एक पकवान का नाम। गेहूँ के आटे वा सूजी को शकर के रस में गीला घोलते हैं। फिर उसमें चिरौजी, पिस्ता आदि मिलाकर धीमी आँच पर घी में थोड़ा थोड़ा डालकर सिलाकर छान लेते हैं। कभी कभी पानी की जगह घोलते समय इसमें दूध वा दही भी मिलाते हैं।

मालपूवा-संज्ञा पुं० दे० “मालपूआ”।

मालवरी-संज्ञा स्त्री० [हि० मालवार] एक प्रकार की ईख जो सूरत में होती है।

मालभञ्जिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन काल के एक प्रकार के खेल का नाम।

मालभंडारी-संज्ञा पुं० [हि० माल + भंडारी] जहाज पर का वह कर्मचारी जिसके अधिकार में लदे हुए माल रहते हैं। (लश०)

मालभूमि-संज्ञा स्त्री० [सं० मलभूमि] एक प्रदेश का नाम जो नेपाल के पूर्व में है।

मालय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंदन। (२) गरुड़ के पुत्र का नाम। (३) व्यापारियों का झुंड।

वि० मलय संबंध।

मालव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मालवा देश। (२) एक राग का नाम, जिसे भैरव राग भी कहते हैं। संगीत दामोदर में इसका रूप माला पहने, हरित वस्त्रधारी, कानों में कुंडल धारण किए, संगीत शाला में स्त्रियों के साथ बैठा हुआ लिखा है। इसकी धनश्री, मालश्री, रामकीरी, सिंधुडा, आसावरी और भैरवी नाम की छः रागिनियाँ हैं। कोई कोई

इसे पाडव जाति का और कोई संपूर्ण जाति का राग मानते हैं। पाडव माननेवाले इसमें ‘मध्यम’ स्वर वर्जित मानते हैं। यह रात को १६ वंश से २० वंश तक गाया जाता है।

(३) मालव देश-वासी वा मालव देश में उत्पन्न पुरुष।

(४) सफेद लोध।

वि० मालव देश संबंधी। मालवे का।

मालवक-वि० [सं०] मालवा देश संबंधी। मालवे का।

संज्ञा पुं० मालव देश का निवासी।

मालवगौड़-संज्ञा पुं० [सं०] पाडव जाति का एक संकर राग जिसमें पंचम स्वर नहीं लगता। इसका स्वर ग्राम म, ध, नि, स, रि, ग, म है। इसका उपयोग वीर रस में किया जाता है। कुछ लोग इसे संपूर्ण जाति का मानते हैं और इसके गाने का समय सायंकाल बतलाते हैं।

मालवर्त्ति-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन जाति का नाम।

मालवश्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] श्रीराग की एक रागिनी का नाम।

यह संपूर्ण जाति की रागिनी है और इसके गाने का समय सायंकाल है। नारद इसे मालव की रागिनी मानते हैं और हनुमत् इसे हिंडोल राग की रागिनी लिखते हैं। हनुमत् इसे ओडव जाति की मानते हैं और इसके गाने में धैवत और गांधार को वर्जित लिखते हैं। इसे मालश्री और मालसी भी कहते हैं।

मालवा-संज्ञा पुं० [सं० मालव] एक प्राचीन देश का नाम जो अब मध्य भारत में है। इसकी प्रधान नगरी अवन्ती है जो सप्तमोक्षदायिनी पुरियों में गिनी गई है और जिसे आजकल उज्जैन कहते हैं। इंदौर, भूपाल, धार, रतलाम, जावरा, राजगढ़, नृसिंहगढ़ और ग्वालियर का राज्य नीमच तक इसी मालवा राज्य की सीमा के अंतर्गत है। यह बहुत प्राचीन देश है और अथर्व वेद की संहिता तक में इसका नाम मिलता है।

संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नदी का नाम।

मालविका-संज्ञा स्त्री० [सं०] निसोथ।

मालविटपो-संज्ञा स्त्री० [सं०] कुंभी वृक्ष।

मालवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) श्रीराग की एक रागिनी का नाम। यह ओडव जाति की है और हनुमत् के मत से इसका स्वर ग्राम नि, सा, ग, म, ध, नि है। इसमें ऋषभ और पंचम स्वर वर्जित हैं। कोई कोई इसे हिंडोल राग की रागिनी मानते हैं। (२) पाड़ा।

वि० दे० “मालवीय”।

मालवीय-वि० [सं०] मालव देश संबंधी। मालवे का। (२)

मालव देश का निवासी। मालवे का रहनेवाला।

मालश्री-संज्ञा स्त्री० दे० “मालवश्री”।

मालसी-संज्ञा स्त्री० दे० “मालवश्री”।

मालहायन-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्र-प्रवर्तक ऋषि का नाम ।

मालांक-संज्ञा पुं० [सं०] भूस्तृण ।

माला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पंक्ति । अवली । जैसे—पर्वतमाला ।

(२) फूलों का हार । गजरा ।

विशेष—मालाएँ प्रायः फूलों, मोतियों, काठ वा पत्थर के मनकों, कुछ वृक्षों के बीजों अथवा सोने, चाँदी आदि धातुओं से बने हुए दानों से बनाई जाती हैं । फूल या मनके आदि धारण में गुँथे होते हैं और धारण के दोनों छोर एक साथ किसी बड़े फूल वा उसके गुच्छे वा दाने में पिरोकर बाँध दिए जाते हैं । मालाएँ प्रायः शोभा के लिये धारण की जाती हैं । भिन्न भिन्न संप्रदायों की मालाएँ भिन्न भिन्न आकार और प्रकार की होती हैं और उनका उपयोग भी भिन्न होता है । हिंदुओं की जप करने की मालाएँ १०८ दानों या मनकों की अथवा इसके आधे, चौथाई वा छठे भाग की होती हैं । भिन्न भिन्न संप्रदायों के लोग भिन्न भिन्न पदार्थों की मालाएँ धारण करते हैं । जैसे वैष्णव तुलसी की, शैव रुद्राक्ष की, शाक्त रक्तचंदन, स्फटिक वा रुद्राक्ष की तथा अन्य संप्रदाय के लोग अन्य पदार्थों की मालाएँ धारण करते हैं । वह माला जिसमें अठारह या नौ दाने होते हैं, सुमिरनी कहलाती है ।

पर्याय—माल्य । लक । मालिका । गुणिका । गुणंतिका ।

मुहा०—माला फेरना = जपना । जप करना । भजन करना ।

(१) समूह । झुंड । जैसे,—मेघमाला । (४) एक नदी का नाम । (५) दूब । (६) भुईँ आँवला । (७) उपजाति छंद के एक भेद का नाम । इसके प्रथम और द्वितीय चरण में जगण, तगण, जगण और अंत में दो गुरु तथा तीसरे और चौथे चरण में दो तगण, फिर जगण और अंत में दो गुरु होते हैं । ‡ (८) काठ की लंबी डोकिया जिसमें बच्चों के लगाने का उबटन और तेल आदि रखा जाता है ।

मालाकंठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपामार्ग । (२) एक गुल्म का नाम ।

मालकंद-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कंद । वैद्यक में इसे तीक्ष्ण, दीपन, गुल्म और गंडमाला रोग को हरनेवाला तथा वात और कफ का नाशक लिखा है ।

पर्याय—मालकंद । वलकंद । पंक्तिकंद । त्रिशिखदला । ग्रंथिदला । कंदलता ।

मालाकार-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मालाकारी] (१) पुराणानुसार एक वर्णसंकर जाति का नाम । ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार यह जाति विश्वकर्मा और शूद्रा से उत्पन्न है; पर पराशर पद्धति के अनुसार यह तेलिन और कर्मकार से उत्पन्न है । (२) माली ।

मालागिरी-संज्ञा पुं० [हिं० मलयागिरि] एक रंग का नाम । यह

रंग टेसू और नासफल से बनाया जाता है । सेर भर टेसू का फूल पानी में आठ दिन तक भिगोया जाता है जिसे दिन में दो बार चलाया जाता है । इसी प्रकार आध सेर नासफल की बुकनी पानी में भिगोई जाती और प्रति दिन दो बार चलाई जाती है । फिर आठ दिन बाद दोनों के रंग अलग अलग छान लिए जाते और फिर मिला दिए जाते हैं । फिर इसमें डेढ़ माशे हरा रंग मिला दिया जाता है और तब उसमें दो बार कपड़ा रंगा जाता है । सुगंध के लिये इसमें कपूर कचरी की जड़ भी पीसकर मिलाई जाती है ।

वि० मालागिरी रंग में रंगा हुआ ।

मालागुण-संज्ञा पुं० [सं०] गले का हार ।

मालागुणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का असाध्य रोग जिसे लूता कहते हैं ।

मालातृण-संज्ञा पुं० [सं०] भूस्तृण ।

मालादीपक-संज्ञा पुं० [सं०] एक अलंकार का नाम । इसमें एक धर्म के साथ उत्तरोत्तर धर्मियों का संबंध वर्णित होता है या पूर्व-कथित वस्तु को उत्तरोत्तर वस्तु के उत्कर्ष का हेतु बतलाया जाता है । इस अलंकार को कविराज मुरारिदान ने संकर अलंकार माना है और इसे दीपक तथा शृंखलालंकार का समुच्चय कहा है । उ०—रस सों काव्य अरु काव्य सों सोहत वचन महान । वाणी ही सों रसिकजन तिन सों सभा सुजान ।

मालादूर्वा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की दूब जिसमें बहुत सी गाँठें होती हैं । इसे गंड दूर्वा भी कहते हैं । वैद्यक में इसका स्वाद मधुर, तिक्त और गुण पित्त तथा कफ-नाशक माना गया है ।

मालाधर-संज्ञा पुं० [सं०] सत्रह अक्षरों के एक वर्णिक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में नगण, सगण, जगण फिर सगण और यगण और अंत में एक लघु और फिर गुरु होता है । उ०—फिरत हम साथ बंधु तुम्हरीहि चिंता भरे ।

मालाधार संज्ञा पुं० [सं०] दिव्यावदान के अनुसार बौद्धों के एक देवता का नाम ।

मालाप्रस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन नगर का नाम ।

मालाफल-संज्ञा पुं० [सं०] रुद्राक्ष ।

मालामंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मंत्र ।

मालामणि-संज्ञा पुं० [सं०] रुद्राक्ष ।

मालामनु-संज्ञा पुं० [सं०] माला-मंत्र ।

मालामाल-वि० [फा०] धन-धान्य से पूर्ण । संपन्न ।

मालारिष्टा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाटी लता जिसके पत्तों की गणना सुगंधि द्रव्य में होती है ।

मालालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पृक्षा । असवरग ।

मालाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] वृक्षा । असवरग ।

मालावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक संकर रागिनी का नाम जो पंचम, हस्मीर, नट और कामोद के संयोग से बनती है ।
कुल लोग इसे मेघ राग की पुत्रवधू भी मानते हैं ।

मालिच-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन पर्वत का नाम ।

मालिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) माली । (२) एक प्रकार की चिड़िया । (३) रजक । धोबी ।

संज्ञा पुं० [अ०] [स्त्री० मालिका] (१) ईश्वर । अधिपति ।

उ०—माया जीव ब्रह्म अनुमाना । मानत ही मालिक बौराना ।—कबीर । (२) स्वामी । (३) पति । शौहर ।

मालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पंक्ति । (२) माला । (३) गले में पहनने के एक आभूषण का नाम । (४) पक्के मकान के ऊपर का खंड । रावटी । (५) द्राक्षा मद्य । अंगूर की शराब । (६) मद्य । (७) पुत्री । (८) चमेली । चंद्रमल्लिका । (९) अलसी । (१०) मालिन । (११) मुरा । (१२) ससला । सातला ।

मालिकाना-संज्ञा पुं० [फा०] (१) वह कर, दस्तूरी वा हक जो मालिक-अदना वा कब्जेदार मालिक ताल्लुकेदार को देते हैं । (२) स्वामी का अधिकार या स्वत्व । सिलखियत । स्वामित्व ।

क्रि० वि० मालिक की भाँति । मालिक की तरह । जैसे,—
मालिकाना तौर पर ।

मालिकी-संज्ञा स्त्री० [फा० मालिक + ई (प्रत्य०)] (१) मालिक होने का भाव । (२) मालिक का स्वत्व ।

मालिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मालिन । (२) चंपा नगरी का एक नाम । (३) स्कंद की सात माताओं में से (जिन्हें मातृकाएँ कहते हैं) एक माता का नाम । (४) गौरी । (५) एक नदी का नाम जो हिमालय पर्वत में है । पुराणा-नुसार इसी के तट पर मेनका के गर्भ से शकुंतला का जन्म हुआ था । (६) मंदाकिनी । गंगा । (७) कलियारी । करियारी । (८) दुरालभा । जवासा । (९) एक वर्णिक वृत्त का नाम । इसके प्रत्येक पाद में १५ अक्षर होते हैं जिनमें पहले छः वर्ण, दसवाँ और तेरहवाँ अक्षर लघु और शेष गुरु होते हैं (न न भ य य) । जैसे,—‘अतुलित बलधामं स्वर्णशैलाभदेहं’ वा ‘दसरथ सुत द्वैषी रुद्र ब्रह्मा न भासै’ । इसे कोई कोई मात्रिक भी मानते हैं । (१०) मदिरा नाम की एक वृत्ति का नाम । (११) महाभारत के अनुसार एक राक्षसी का नाम । (१२) मार्कंडेय पुराण के अनुसार रौच्य मनु की माता का नाम ।

मालिन्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मलीनता । मैलापन । (२) अंधकार । अंधेरा ।

मालिमंडन-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक राजा का नाम ।

मालियत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) कीमत । मूल्य । (२) संपत्ति । धन । (३) मूल्यवान् पदार्थ । कीमती चीज ।

मालिया-संज्ञा पुं० [देश०] मोटे रस्सों में दी जानेवाली एक प्रकार की गाँठ जिसका व्यवहार जहाज के पाल बाँधने में होता है । (लश०)

मालिवान-संज्ञा पुं० दे० “माल्यावान्” ।

मालिश-संज्ञा स्त्री० [फा०] मलने का भाव वा क्रिया । मलाई । मर्दन ।

माली-संज्ञा पुं० [सं० मालिक = प्रा० मालिय ।] [स्त्री० मालिनि, मालिन, मालन, मालिनी ।] (१) बाग को सींचने और पौधों को ठीक स्थान पर लगानेवाला पुरुष । वह जो पौधों को लगाने और उनकी रक्षा करने की विद्या जानता और इसी का व्यवसाय करता हो । उ०—पुलक बाटिका बाग बन सुख सुबिहंग बिहार । माली सुमन सनेह जल सींचत लोचन चार ।—तुलसी । (२) एक छोटी जाति का नाम । इस जाति के लोग बागों में फूल और फल के वृक्ष लगाते, उनकी कलमें काटते, फूलों को चुनते और उनकी मालाएँ बनाते और फूल तथा माला बेचते हैं । इस जाति को लोग शूद्र वर्ण के अंतर्गत माने जाते हैं । इनके हाथ का छूआ जल ब्राह्मण-क्षत्रियादि पीते हैं ।

वि० [सं० मालिन्] [स्त्री० मालिनी] जो माला धारण किए हो । माला पहने हुए ।

संज्ञा पुं० (१) वाल्मीकीय रामायण के अनुसार सुकेश राक्षस का पुत्र जो माल्यवान् और सुमाली का भाई था । (२) राजीवगण नामक छंद का दूसरा नाम ।

वि० [फा०, अ० माल से] माल से संबंध रखनेवाला । आर्थिक । धन संबंधी । जैसे,—आज कल उसकी माली हालत खराब है ।

माली गौड़-संज्ञा पुं० दे० “मालव गौड़” ।

मालीद-संज्ञा पुं० [अ० मालिवडेना ?] एक धातु का नाम जो चाँदी की भाँति उज्ज्वल और चमकदार पर चाँदी से अधिक कड़ी होती है और बहुत तेज आँच में गलती है । इसका अटवी भार ९६ होता है । इसका क्रोमियम, टंगस्टेन और यूरेनियम से रासायनिक संबंध है और उनके सद्दश ही इससे व्युत्पन्न बनता और क्षार के गुणों को धारण करता है । यह सल्फेट के रूप में मिलता है ।

मालीदा-संज्ञा पुं० [फा०] (१) मलीदा । चूरमा । (२) एक प्रकार का ऊनी कपड़ा जो बहुत कोमल और गरम होता है । यह कश्मीर और अमृतसर आदि स्थानों में बनता है । ऊनी चादर को लेकर गरम पानी में खूब मलते हैं जिससे उसके रोएँ बहुत गाढ़े और मुलायम हो जाते हैं । मालीदे की गिनती बढ़िया ऊनी कपड़ों में होती है ।

मालु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक लता का नाम जो पेड़ों में लिपटती है। (२) नारी।

मालुक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मटमैले रंग का राजहंस।

मालुकाचुड़-संज्ञा पुं० [सं०] अश्मंतक। बहेड़ा।

मालुद-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्ध मतानुसार एक बहुत बड़ी संख्या का नाम।

मालुधान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का साँप। (२) आठ नागों में से एक नाग नाम। (३) महापथ।

मालुधानी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक लता का नाम।

मालुक-संज्ञा पुं० [सं०] काली तुलसी। कृष्ण तुलसी।

मालूधानी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की लता।

मालूम-वि० [अ०] जाना हुआ। ज्ञात। उ०—रिपि नारि उधार कियो, सठ केवट मीत पुनीत सुकीर्ति लही। निज लोक दियो सेवरी खग को कपि थाप्यो सो मालूम है सब ही। दससीस-बिरोध-सभीत विभीषन भूप कियो जन लीक रही। कहनानिधि को भजु रे तुलसी रघुनाथ अनाथ के नाथ सही।—तुलसी।

मालूर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बेल का पेड़। (२) कपित्थ। कैथ।

मालोपमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का उपमालंकार जिसमें एक उपमेय के अनेक उपमान होते हैं और प्रत्येक उपमान के भिन्न भिन्न धर्म होते हैं। जैसे,—परम पवित्र है पुनीत पृथिवी में आज, पन प्रजापालन में जैसे अवधेस को। जाके भुज जुगल बिराजै धर्म क्षत्रिन को धारै भुवि भार फन मंडन ज्यों सेस को। भनत मुरार सब जगत उचार रखौ देखौ धन्य भाग यहै मलहर देस को। अथक समंद सोहै, ताप-हर चंद सोहै सुखमा सुरिंद सौहै नंद तल्लतेस को।—मुरारिदान।

माल्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फूल। (२) माला। (३) वह माला जो सिर पर धारण की जाय।

माल्यक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दमनक। दौना। (२) माला।

माल्यजीवक-संज्ञा पुं० [सं०] माला बनानेवाला। मालाकार। माली।

माल्यपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] सन का पेड़। सनई।

माल्यवत-संज्ञा पुं० दे० “माल्यवान्”।

माल्यवत्-संज्ञा पुं० दे० “माल्यवान्”।

वि० [स्त्री० माल्यवती] जो माला पहने हो।

माल्यवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन नदी का नाम।

वि० स्त्री० जो माला पहने हो।

माल्यवान्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक पर्वत का नाम। सिद्धांत शिरोमणि में इसे कैतुमाल और इलावृत वर्ष के बीच का सीमा-पर्वत लिखा है और नील पर्वत से

निषध पर्वत तक इसका विस्तार कहा है। (२) एक राक्षस जो सुकेश का पुत्र था और एक गंधर्व की कन्या देववती से उत्पन्न हुआ था। इसके भाई का नाम सुमाली था जिसकी कन्या कैकसी से रावण उत्पन्न हुआ था। (३) बंबई प्रांत में रत्नागिरि जिले के अंतर्गत एक परगने का नाम।

वि० [सं० माल्यवत्] [स्त्री० माल्यवती] जो माला पहने हो।

माल्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की वास।

माल्ल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक वर्णसंकर जाति जो ब्रह्मवैवर्त में लेट पिता और धीवरी माता से उत्पन्न कही गई है। (२) दे० “मल्ल”।

माल्लवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मल्लों की विद्या या कला।

माल्ह-संज्ञा स्त्री० दे० “माल”।

संज्ञा पुं० दे० “मल्ल”।

मावत 𑂔𑂱-संज्ञा पुं० दे० “महावत”। उ०—दियो पठाथ श्याम निज पुर को मावत सह गजराज। आगे चले सभा में पहुँचे जहँ नृप सकल समाज।—सूर।

मावली-संज्ञा पुं० [देश०] दक्षिण भारत की एक पहाड़ी वीर जाति का नाम। इस जाति के लोग शिवा जी की सेना में अधिकता से थे। उ०—सावन भादों की भारी कुहू की अँधारी चढ़ि दुग पर जात मावलीदल सचेत हैं।—भूषण।

मावस𑂔𑂱-संज्ञा स्त्री० दे० “अमावस”। उ०—दुसह दुराज प्रजान को क्यों न करै अति दंद। अधिक अँधेरे जग करत मिलि मावस रवि चंद।—बिहारी।

मावा-संज्ञा पुं० [सं० मंड, हि० मॉड] (१) मॉड। पीच। (२) सत्त। निष्कर्ष।

मुहा०—मावा निकालना = खूब पीटना। कचूमर निकालना।

(३) वह दूध जो गेहूँ आदि को भिगाकर वा कच्चा मलकर निचोड़ने से निकलता है। (४) प्रकृति। (५) खोया। (६) अंडे के भीतर का पीला रस। ज़रदी। (७) चंदन का द्रव्य जिसे आधार बनाकर फूलों और गंध द्रव्यों का द्रव्य उतारा जाता है। ज़मीन। (८) वह गाढ़ा लसदार सुगंधित द्रव्य जिसे तमाकू में डालकर उसे सुगंधित करते हैं। खमीर। (९) मसाला। सामान। (१०) हीरे की बुकनी जिससे मलकर सोने चाँदी को चमकाते हैं वा उन पर कुंदन या जिला करते हैं।

मावासी 𑂔𑂱-संज्ञा स्त्री० दे० “मवासी”।

माश-संज्ञा पुं० दे० “माष”।

माशा-संज्ञा पुं० [सं० माष, जंद माष, माहः] एक प्रकार का बाट वा मान जिसका व्यवहार सोने, चाँदी, रत्नों और ओषधियों के तौलने में होता है। यह आठ रत्ती के बराबर होता है और एक तोले का बारहवाँ भाग होता है।

संज्ञा पुं० [सं० महाशय] (१) भला आदमी। सज्जन। शरीर। (बंगाली) (२) बंग देश का निवासी। बंगाली।
 माश-संज्ञा पुं० [हि० माष = उड़द] (१) एक रंग जो कालापन लिए हरा होता है। कपड़े पर यह रंग कई पदार्थों में रँगने से आता है जिनमें हड़ का पानी, कसीस, हलदी और अनार की छाल प्रधान हैं। इनमें रँगने के बाद कपड़े को फिटकरी के पानी में डुबाना पड़ता है। (२) जमीन की एक नाप जो २४० वर्ग गज की होती है।
 वि० उड़द के रंग का। कालापन लिए हरे रंग का। माशी रंग का।

माशक-संज्ञा पुं० [अ०] [स्त्री० माशका] वह जिसके साथ प्रेम किया जाय। प्रेम-पात्र।

माशकी-संज्ञा स्त्री० [फ्रा०] माशक होने का भाव। प्रेम-पात्रता।
 यौ०—आशिकी माशकी।

माष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उड़द। (२) माशा। (३) शरीर के ऊपर काले रंग का उभरा हुआ दाग या दाना। मसा।
 वि० मूँख।

ॐ संज्ञा स्त्री० दे० “माख”।

माषक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) माशा (तैल)। (२) उड़द।

माषतैल-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का तेल जो अर्द्धाङ्ग, कंफ आदि रोगों में उपयोगी माना जाता है।

माषना-क्रि० सं० दे० “माखना”।

माषपत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] माषपर्णी।

माषपर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वन माष। जंगली उड़द। वैद्यक में इसको वृष्य, बलकारक, शीतल और पुष्टिवर्द्धक माना है।
 पर्या०—सिंहपुच्छी। ऋषिप्रोक्ता। कृष्णवृन्ता। पांडु। लोमपर्णी।

माषवट्टी-संज्ञा स्त्री० [सं०] उड़द की बनी हुई बड़ी। वि० दे० “बड़ी”।

माषभक्तबलि-संज्ञा पुं० [सं०] तान्त्रिकों के अनुसार एक प्रकार का बलि जो दुर्गा, काली आदि को चढ़ाया जाता है। इसमें उड़द, भात, दही आदि कई पदार्थ होते हैं।

माषयोनि-संज्ञा स्त्री० [सं०] पापड़।

माषरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] माँड़। पीच।

माषरावि-संज्ञा पुं० [सं०] लाट्यायन सूत्रानुसार एक ऋषि का नाम। ये माषराविन् ऋषि के गोत्र में थे।

माषवर्द्धक-संज्ञा पुं० [सं०] स्वर्णकार। सुनार।

माषाद-संज्ञा पुं० [सं०] कछुआ।

माषाश-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ा।

माषीण-संज्ञा पुं० [सं०] माष का खेत।

माष्य-संज्ञा पुं० [सं०] माष बोने योग्य खेत। मशार।

मास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा। (२) महीना। मास।

मास-संज्ञा पुं० [सं०] काल के एक विभाग का नाम जो वर्ष के बारहवें भाग के बराबर होता है। महीना।

विशेष—मास सौर, चांद्र, नाक्षत्र और सावन भेद से चार प्रकार का होता है। (क) सौर मास उत्तने काल को कहते हैं कितने काल तक सूर्य का उदय किसी एक राशि में हो; अर्थात् सूर्य की एक संक्रांति से दूसरी संक्रांति तक का समय सौर मास कहलाता है। यह मास प्रायः तीस, इकतीस और कभी कभी उन्तीस और बत्तीस दिन का भी होता है। (ख) चांद्र मास चंद्रमा की कला की वृद्धि और ह्रासवाले दो पक्षों का होता है जिन्हें शुक्ल और कृष्ण पक्ष कहते हैं। यह मास दो प्रकार का होता है—एक मुख्य और दूसरा गौण। जो मास शुक्ल प्रतिपदा से आरंभ होकर अमावास्या को समाप्त होता है, उसे मुख्य चांद्र मास कहते हैं। इसका दूसरा नाम अमांत भी है। गौण चांद्र मास कृष्ण प्रतिपदा से आरंभ होता और पूर्णिमा को समाप्त होता है। इसे पूर्णिमांत भी कहते हैं। दोनों प्रकार के मास अठ्ठाईस दिन के और कभी कभी छठ बढ़कर उन्तीस, तीस और सत्ताईस दिन के भी होते हैं। (ग) नाक्षत्र मास उत्तना काल है जितने में चंद्रमा सत्ताईस नक्षत्रों में भ्रमण करता है। यह मास लगभग २७ दिन का होता है और उस दिन से प्रारंभ होता है, जिस दिन चंद्रमा अश्विनी नक्षत्र में प्रवेश करता है; और उस दिन समाप्त होता है, जिस दिन वह रेवती नक्षत्र से निकलता है। (घ) सावन मास का व्यवहार व्यापार आदि व्यावहारिक कामों में होता है और यह तीस दिन तक का होता है। यह किसी दिन से प्रारंभ होकर तीसवें दिन समाप्त होता है। सौर और चांद्र भेद से इसके भी दो भेद हैं। सौर सावन मास सौर मास की किसी तिथि से और चांद्र सावन मास चांद्र मास की किसी तिथि वा दिन से प्रारंभ होकर उसके तीसवें दिन समाप्त होता है। प्रत्येक संवत्सर में बारह सौर और बारह ही चांद्र मास होते हैं; पर सौर वर्ष ३६५ दिन का और चांद्र वर्ष ३५५ दिन का होता है, जिससे दोनों में प्रति वर्ष १० दिन का अंतर पड़ता है। इस वैषम्य को दूर करने के लिये प्रति तीसरे वर्ष बारह के स्थान में तेरह चांद्र मास होते हैं। ऐसे बड़े हुए मास को अधिमास वा मलमास कहते हैं। वि० दे० “अधिमास” और “मलमास”।

वैदिक काल में मास शब्द का व्यवहार चांद्र मास के लिये ही होता था। इसी से संहिताओं और ब्राह्मणों में कहीं बारह महीने का संवत्सर और कहीं तेरह महीने का संवत्सर मिलता है।

ॐ-संज्ञा पुं० दे० “मांस”। उ०—बहुक न यदि वहनापने

जब तब बीर बिनास । वचै न बड़ी सखीलहू चीलहू घौसुआ
मास ।—बिहारी ।

मासक-संज्ञा पुं० [सं०] महीना । मास ।

मासचारिक-वि० [सं०] जो एक मास तक कर्त्तव्य हो ।

मासज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दात्यूह नामक पक्षी । वनमुर्गी ।
(२) एक प्रकार का हिरन ।

मासताला-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बाजा ।

मासन-संज्ञा पुं० [सं०] सोमराज के बीज ।

मासना*†-क्रि० अ० [सं० मिश्रण, हि० मीसना] मिलना ।

उ०—पंडित बृद्धि पियो तुम पानी । जा माटी के घर में
बैठे तामें सृष्टि समानी । छप्पन कोटि जादो जहँ बिनसे
मुनि जन सहज अठासी । परग परग पैगंबर गाढ़े ते सरि
माटी मासी ।—कबीर ।

क्रि० स० मिलाना ।

मासप्रवेश-संज्ञा पुं० [सं०] महीने का प्रारंभ होना ।

मासफल-संज्ञा पुं० [सं०] वह पत्र जिसमें फलित ज्योतिष के
अनुसार महीने भर का शुभाशुभ फल लिखा हो । इसे मास-
पत्र भी कहते हैं ।

मासर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का पेय पदार्थ जो
चावल के माँड़ और अंगूर के उठे हुए रस से बनाया जाता
था । इसका प्रयोग यज्ञों में होता था । यह मादक होता
था । (कात्या० श्रौत सूत्र)

पर्या०—अचास । निखाव ।

(२) काँजी ।

मासवर्तिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] श्यामा वा पवई की जाति का
एक पक्षी । सर्पपी ।

मासस्तोम-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का एकाह यज्ञ ।

मासांत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महीने का अंत । (२) अमावास्या ।
(३) संक्रांति ।

मासा-संज्ञा पुं० दे० “माशा” ।

मासाधिप-संज्ञा पुं० [सं०] वह ग्रह जो मास का स्वामी
हो । मासेश ।

मासानुमासिक-वि० [सं०] प्रति मास संबंधी । प्रति मास का ।

मासिक-वि० [सं०] (१) मास संबंधी । महीने का । जैसे,—
मासिक आय । मासिक कृत्य । मासिक वेतन । (२)
महीने में एक बार होनेवाला । जैसे,—मासिक श्राद्ध ।
मासिक पत्र ।

यौ०—त्रैमासिक । षण्मासिक ।

मासी-संज्ञा स्त्री० [सं० मातृषस, पा० मातृच्छा, प्रा० मउच्छा]
माँ की बहिन । मौसी । उ०—हन तो निपट अहीर नावरी
जोग दीजिये जानन । कहा कथत मासी के आगे जानत
नानी नानन ।—सूर ।

मासीन-वि० [सं०] जिसकी अवस्था एक महीने की हो । महीने
भर का । एक महीने का ।

यौ०—द्विमासीन । पंचमासीन । षण्मासीन इत्यादि ।

मासुरकर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] मासुरकर्ण के गोत्र में उत्पन्न पुरुष ।
मासुरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुश्रुत के अनुसार चौर फाड़ के एक
शस्त्र या औजार का नाम ।

मासेष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह इष्टि या यज्ञ जो प्रति मास हो ।

मास्टर-संज्ञा पुं० [अ०] (१) स्वामी । मालिक । (२) शिक्षक ।
गुरु । अध्यापक । उस्ताद । (३) किसी विषय में परम
प्रवीण । (४) बालकों के लिये व्यवहृत शब्द ।

मास्टरी-संज्ञा स्त्री० [अ० मास्टर + ई (प्रत्य०)] (१) मास्टर का
काम । पढ़ाने का काम । अध्यापकी । (२) मास्टर का भाव ।
मास्य-वि० [सं०] महीने भर का । जो एक महीने का हो ।
मासीन ।

माहँ-अव्य० [सं० मध्य, प्रा० मज्ज] बीच । में । उ०—यह
शिखुपाल भजैत श्री दीनबंधु ब्रजनाथ कवै मुख देखिहैं ।
कहि रुक्मिणि मन माहँ सबै सुख लेखिहैं ।—सूर ।

माह*†-संज्ञा पुं० [सं० माघ, प्रा० माह] माघ । उ०—(क)
गहली गरब न कीजिये सदै सुहागहि पाय । जिय की
जीवनि जेठ सो माह न छाँड़ सुहाय ।—बिहारी । (ख)
नाचैंगी निकसि शशिवदनी बिहँसि तहाँ को हमैं गनत मही
माह में भचति सी ।—देव ।

संज्ञा पुं० [सं० माघ, प्रा० माह] माघ । उड्ड ।

संज्ञा पुं० [प्रा०] मास । महीना ।

माहकस्थली-वि० [सं०] (१) माहकस्थली में रहनेवाला ।
(२) माहकस्थली में उत्पन्न । (३) माहकस्थली संबंधी ।
माहकस्थली का ।

माहकस्थली-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन जनपद का नाम ।

माहकि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महक नामक ऋषि के गोत्र में
उत्पन्न पुरुष । (२) एक आचार्य का नाम ।

माहत-संज्ञा स्त्री० [सं० महत्ता] महत्त्व । महत्ता । बड़ाई ।

माहताय-संज्ञा पुं० [प्रा०] (१) चंद्रमा (२) दे० “महतावी” ।

माहतावी-संज्ञा स्त्री० [प्रा०] (१) दे० “महतावी” । (२) एक
प्रकार का कपड़ा जिस पर सूर्य, चंद्रादि की सुनहरी या
रूपहली आकृतियाँ बनी रहती हैं । (३) आँगन में ऊँचा
खुला हुआ चबूतरा जिस पर लोग चाँदनी में बैठते हैं । (४)
तरबूज । (५) चकोतरा नीबू ।

माहन-संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण (जो अवध्य होता है) ।

माहनाक्ष-क्रि० अ० दे० “उसाहना” ।

माहनीय-संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण ।

माहर-संज्ञा पुं० [सं० माहिर = ईद] इन्द्रायन । इनाह ।

मुहा०—माहर का फल = जो देखने में सुंदर हो, पर दुर्गुणों से भरा हो।

वि० दे० “माहिर”।

माहली-संज्ञा पुं० [हि० महल] (१) वह पुरुष जो अंतःपुर में आता जाता हो। महली। खोजा। (२) सेवक। दास। उ०—तुलसी सुभाइ कहै नहीं किए पक्षताप कौन ईस कियो, कीस भालु खास माहली।—तुलसी।

माहवार-क्रि० वि० [फा०] प्रति मास। महीने महीने।

वि० हर महीने का। मासिक।

संज्ञा पुं० महीने का वेतन।

माहवारी-वि० [फा०] हर महीने का। मासिक।

माहाँ 𑂔𑂱-अव्य० दे० “महँ”।

माहात्म्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महिमा। गौरव। महत्व। बढ़ाई। (२) आदर। मान।

माहिँ-अव्य० [सं० मध्य, प्रा० मज्झ] (१) भीतर। अंदर। उ०—कर कमान सर साँधिके खैंचिजो मारा माहिँ। भीतर बिधे सो मारिहै जीव पै जीवै नाहिँ।—कबीर। (२) अधिकरण कारक का चिह्न, में या पर। उ०—बनचर देह धरी छिति माहीं। अनुलित बल प्रताप तिन्ह पाहीं।—तुलसी।

माहिक-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक जाति का नाम।

माहित-संज्ञा पुं० [सं०] महित ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष।

माहित्य-संज्ञा पुं० [सं०] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार एक ऋषि का नाम।

माहित्य-संज्ञा पुं० [सं०] महित ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष।

माहित-संज्ञा पुं० [सं०] मनुस्मृति के अनुसार एक ऋचा का नाम।

माहित-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) तत्व। भेद। (२) प्रकृति। (३) विवरण।

माहियाना-वि० [फा०] माहवार।

संज्ञा पुं० मासिक वेतन।

माहिर-वि० [अ०] ज्ञाता। जानकार। तत्वज्ञ। उ०—सूधी सुधा सी सुभाय भरी पै, खरी रति केलि कलान में माहिर।—जवाहिर।

संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

माहिला 𑂔𑂱-संज्ञा पुं० [अ० मल्लाह] माँझी। मल्लाह। उ०—कविरा मन का माहिला अबला बहै असोस। देखत ही दह में पड़े देइ किसी को दोस।—कबीर।

माहिष-वि० [सं०] (१) भैंस का (दूध आदि)। (२) भैंस संबंधी।

माहिष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन देश का नाम। (२) इस देश में रहनेवाली एक जाति का नाम।

माहिषवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] कालाविधारा। कृष्ण वृद्धदारक।

माहिषवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] छिरहटी।

माहिषस्थली-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन जनपद का नाम।

माहिषाक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] भैंसा गुग्गुलु।

माहिषिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्याभिचारिणी स्त्री का पति।

(२) भैंस से जीविका निर्वाह करनेवाला व्यक्ति।

माहिषिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम।

माहिष्मती-संज्ञा स्त्री० [सं०] दक्षिण देश के एक प्रसिद्ध प्राचीन नगर का नाम। इसका उल्लेख पुराणों, महाभारत और बौद्ध ग्रंथों में आया है। यह माहिष्मंडल नामक जनपद की राजधानी थी। पुराणों में इसे नर्मदा नदी के किनारे लिखा है। सहस्रार्जुन यहीं का रहनेवाला था। महाभारत में माहिष्मती और त्रिपुर का नाम साथ आया है। त्रिपुर को आजकल त्रिपुरी कहते हैं; पर माहिष्मती का अब तक ठीक पता नहीं है। पुरातत्वविद् कनिंघम साहब ने ‘माहिष्मंडल’ के ‘मंडल’ शब्द को लेकर ‘मंडला’ नगर को माहिष्मती लिखा है।

माहिष्य-संज्ञा पुं० [सं०] स्मृतियों के अनुसार एक संकर जाति। विशेष—याज्ञवल्क्य इसे क्षत्रिय पिता और वैश्य माता की औरस संतान मानते हैं। आश्वलायन इसे सुवर्ण नामक जाति से करण जाति की माता में उत्पन्न मानते हैं। सत्यादि खंड में इसको यज्ञोपवीत आदि संस्कारों का वैश्यों के समान अधिकारी कहा है; पर आश्वलायन इसे यज्ञ कराने का निषेध करते हैं। इस जाति के लोग अब तक बालि द्वीप में मिलते हैं और अपने को माहिष्य क्षत्रिय कहते हैं। संभवतः ये लोग किसी समय माहिष्मंडल देश के रहनेवाले होंगे।

माहीं-अव्य० दे० “माहिँ”।

माही-संज्ञा स्त्री० [फा०] मछली।

यौ०—माहीगीर। माहीपुरत। माही-मरातिब।

संज्ञा स्त्री० [सं० माहेय] दक्षिण देश की एक नदी का नाम जो खंभात की खाड़ी में गिरती है।

माहीगीर-संज्ञा पुं० [फा०] मछली पकड़नेवाला। मछुवा।

माहीपुरत-वि० [फा०] जो मछली की पीठ की तहर बीच में उभरा हुआ और किनारे किनारे ढालुआँ हो।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का कारचोबी का काम जो बीच में उभरा हुआ और इधर उधर ढालुआँ होता है।

माही मरातिब संज्ञा पुं० [फा०] राजाओं के आगे हाथी पर चलनेवाले सात झंडे जिन पर अलग अलग मछली, सातो ग्रहों आदि की आकृतियाँ कारचोबी की बनी होती हैं। इस प्रकार के झंडों का आरंभ मुसलमानों के राजत्व काल में हुआ था।

विशेष—(१) सूर्य, (२) पंजा, (३) तुला, (४) अजगर, (५) सूर्यमुखी, (६) मछली और (७) गोले, ये सात शकलें झंडों पर होती हैं।

माहुर—संज्ञा पुं० [सं० मधुर, प्रा० मधुर = विष] विष । जहर ।
उ०—(क) साँप बीछ को मंत्र है, माहुर हारे जाय ।
बिकट नारि के पाले परा काटि करेजा खाय ।—कबीर ।
(ख) दानव देव ऊँच अरु नीचू । अभिय सजीवन माहुर मीचू ।—तुलसी ।

मुहा०—माहुर की गाँठ = (१) भारी विपैली वस्तु । (२) अत्यंत दुष्ट या कुटिल मनुष्य ।

माहुल—संज्ञा पुं० [सं०] महुल के गोत्र में उत्पन्न पुरुष ।

माहुँ—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक छोटा कीड़ा जो राई, सरसों, मूली आदि की फसल में उनके डंठलों पर फूलने के समय या उसके पहले अंडे दे देता है, जिससे फसल नितांत हीन होकर नष्ट हो जाती है। यह काले रंग का परदार भुनगे के आकार का कीड़ा होता है और जाड़े के दिनों में फसल पर लगता है। यदि पानी बरस जाय तो कीड़े नष्ट हो जाते हैं। प्रायः अधिक बदली के दिनों में, जब पानी नहीं बरसता, ये कीड़े अंडे देते हैं और फसल के डंठलों पर फूलों के आस पास उत्पन्न हो जाते हैं।

मुहा०—माहुँ लगना = माहुँ का फसल के हरे डंठल पर अंडे देना ।

माहेंद्र—वि० [सं०] (१) जिसका देवता महेंद्र हो । (२) महेंद्र संबंधी । इंद्र संबंधी ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) जैनियों के एक देवता जो कल्पभव नामक वैमानिक देवगण में हैं। (२) एक अस्त्र का नाम । (३) वार के अनुसार भिन्न भिन्न दंडों में पड़नेवाला एक योग जिसमें यात्रा करने का विधान है। यह योग प्रति वार को क्रमानुसार पंद्रह वार आता है। प्रति दिन के दंडों में ये चार चार योग भिन्न भिन्न क्रम से आते रहते हैं—माहेंद्र, वरुण, वायु और यम । ये चारों योग सप्ताह के प्रति दिन इस प्रकार आया करते हैं :—

दिन	प्रथम दंड	द्वितीय दंड	तृतीय दंड	चतुर्थ दंड
रवि	वायु	वरुण	यम	माहेंद्र
चंद्र	माहेंद्र	वायु	वरुण	यम
भौम	वरुण	यम	माहेंद्र	वायु
बुध	माहेंद्र	वायु	वरुण	यम
गुरु	वायु	वरुण	यम	माहेंद्र
शुक्र	माहेंद्र	वायु	यम	वरुण
शनि	यम	माहेंद्र	वायु	वरुण

इन चारों योगों में माहेंद्र योग विजयाकारक, वरुण धन-प्रद, वायु नित्य फिरानेवाला और यम मृत्युदायक कहा जाता है। (४) सुश्रुत के अनुसार एक देवग्रह जिसके

आक्रमण करने से ग्रहग्रस्त पुरुष में माहात्म्य, शौर्य, शास्त्र-शुद्धि, श्रुत्यभरण आदि गुण एकाएक आ जाते हैं।

माहेंद्रवाणी—संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत के अनुसार एक नदी का नाम ।

माहेंद्री—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) इंद्राणी । (२) गाय । (३) इंद्रा-यन । (४) सात मातृकाओं में से एक । यह स्कंद की अनुचरी है । (५) इंद्र की शक्ति ।

माहेतावा—संज्ञा पुं० [का०] चिलमची ।

माहेय—वि० [सं०] मिट्टी का बना हुआ ।

संज्ञा पुं० मूंगा । विद्रुम ।

माहेयी संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गाय । (२) माही नदी ।

माहेल—संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्र-प्रवर्तक ऋषि का नाम ।

माहेश—वि० [सं०] महेश संबंधी । महेश का ।

माहेशी—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा ।

माहेश्वर—वि० [सं०] महेश्वर संबंधी । महेश्वर का ।

संज्ञा पुं० (१) एक यज्ञ का नाम । (२) एक उपपुराण का नाम । (३) पाणिनि के वे चौदह सूत्र जिनमें स्वर और व्यंजन वर्णों का संग्रह प्रत्याहारार्थ किया गया है। इसके विषय में लोगों का विश्वास है कि ये सूत्र शिवजी के तांडव नृत्य के समय उनके डमरु से निकले थे। सूत्र ये हैं—अइउण् । ऋलृक् । एओङ् । ऐऔच् । हयवरट् । लण् । जमडणनम् । झभञ् । घढधष् । जवगडदश् । खफछठथ-चटतव् । कपय् । शषसर् । हल् । (४) शैव संप्रदाय का एक भेद । (५) एक अस्त्र का नाम । माहेश्वरास्त्र ।

माहेश्वरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा । (२) एक मातृका का नाम । (३) एक पीठ का नाम । (४) एक नदी का नाम ।

(५) वैद्यों की एक जाति ।

माहौँ—संज्ञा स्त्री० दे० “माहुँ” ।

मिंगनी—संज्ञा स्त्री० दे० “मिंगनी” ।

मिंगी—संज्ञा स्त्री० दे० “मिंगी” ।

मिंट—संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह स्थान जहाँ सिक्के ढलते हों । टकसाल । (२) एक प्रकार का बढ़िया सोना । टकसाली सोना ।

† संज्ञा स्त्री० दे० “मिनट” ।

मिड़ाई—संज्ञा स्त्री० [हि० मीड़ना] (१) मीड़ने या मींजने की क्रिया या भाव । (२) मींजने की मजदूरी । (३) देशी छींट की छपाई में एक क्रिया जो कपड़े को छापने के उपरांत और धोने से पहले होती है। इसके लिये पानी से भरी एक नाँद में कुछ रेंडी का तेल और बकरी की मिंगनी तथा दो एक और मसाले डाले जाते हैं; और उसमें छपा हुआ कपड़ा तीन चार दिन तक भिंगोया जाता है। आवश्यकता पड़ने पर यह क्रिया दो तीन बार भी की जाती है। नाँद में से

निकालकर कपड़ा धोत्री के यहाँ भेजा जाता है। इससे छींट का रंग पक्का और चमकदार हो जाता है। इसे तेल-चलाई भी कहते हैं।

मिहदी-संज्ञा स्त्री० दे० “मैहदी”।

मिआद-संज्ञा स्त्री० दे० “मीआद”।

मिआदी-वि० दे० “मीआदी”।

मिआन-वि० दे० “मियाना”।

संज्ञा पुं० दे० “मियाना”।

मिकद-संज्ञा स्त्री० [फा० मिकद] मलद्वार। गुदा।

मिकदार-संज्ञा स्त्री० [अ०] परिमाण। मात्रा। मान। जैसे,—
यह दवा ज्यादा मिकदार में नहीं खानी चाहिए।

मिकनातीस-संज्ञा पुं० [फा०] चुंबक पत्थर।

मिकाडो-संज्ञा पुं० [जा०] जापान के सम्राट् की उपाधि।

मिचकना-वि० अ० [हिं० मिचना] (१) (आँखों का) बार
बार खुलना और बंद होना। (२) (पलकों का) झपकना
या बंद होना।

मिचकाना-वि० अ० [हिं० मिचना] (१) बार बार (आँखें)
खोलना और बंद करना। (२) (पलक) झपकाना या बंद
करके दबाना। जैसे,—आँखें मिचकाना।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

मिचना-क्रि० अ० [हिं० मिचना का अक० रूप] (आँखों का)
बंद होना। जैसे,—मारे नौद के आँखें मिची जाती हैं।

मिचराना-क्रि० अ० [मिचर, चाबने के शब्द से अनु०] बिना भूख
के खाना। इच्छा न होने पर भी भोजन करना। (विशेषतः
बालकों के संबंध में बोलते हैं।)

मिचलाना-क्रि० अ० [हिं० मथना, मतलाना] कै आने को होना।
उबकाई आना। मतली आना।

मिचवाना-क्रि० स० [हिं० मिचना का प्रेर० रूप] मिचने का काम
दूसरे से कराना। दूसरे को मिचने में प्रवृत्त करना। दूसरे
से आँखें बंद कराना।

मिचिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नदी का नाम।

मिचौलना-क्रि० स० दे० “मीचना”।

मिच्छुक-संज्ञा पुं० [सं०] एक बौद्ध स्थविर का नाम।

मिछा-वि० दे० “मिथ्या”।

मिजराब-संज्ञा स्त्री० [अ०] तार का बना हुआ एक प्रकार का
छल्ला जिसमें मुड़े तार की एक नोक आगे निकली रहती
है और जिससे सितार आदि के तार पर आघात करके
बजाते हैं। डंका। नालुना।

मिजाज-संज्ञा पुं० [अ०] (१) किसी पदार्थ का वह मूल गुण
जो सदा बना रहे। तासीर। (२) प्राणी की प्रधान प्रवृत्ति।
स्वभाव। प्रकृति। जैसे,—उनका मिजाज बहुत सख्त है;

वे बात बात पर बिगड़ जाते हैं। (३) शरीर या मन की
दशा। तबीयत। दिल।

यौ०—मिजाज आली। मिजाज शरीफ। मिजाज-पुरसी।

मुहा०—मिजाज खराब होना=(१) मन में किसी प्रकार की
अप्रसन्नता आदि उत्पन्न होना। रूतानि आदि होना (२) अस्वस्थता
होना। मिजाज बिगाड़ना=दे० “मिजाज खराब होना”।
मिजाज बिगाड़ना=किसी के मन में क्रोध, अभिमान आदि
मनोविकार उत्पन्न करना। मिजाज पाना=(१) किसी के स्वभाव
से परिचित होना। (२) किसी को अनुकूल या प्रसन्न देखना।
मिजाज पूछना=(१) तबीयत का हाल पूछना। यह पूछना कि
आपका शरीर तो अच्छा है। (२) अच्छी तरह खबर लेना। दंड
देना। मिजाज में आना=ध्यान में आना। समझ में आना।
जैसे,—अगर आपके मिजाज में आवे तो आप भी वहाँ
चलिए। मिजाज सीधा होना=अनुकूल या प्रसन्न होना।
तबीयत ठिकाने होना।

(४) अभिमान। घमंड। शेखी।

मुहा०—मिजाज आना=अभिमान करना। घमंड होना। मिजाज
में आना=अभिमान करना। घमंड करना। जैसे,—इस
वक्त कुछ न पूछो, आप मिजाज में आ गए हैं। मिजाज न
मिलना=अभिमान के कारण किसी का अलग रहना। घमंड के
कारण बात न करना। जैसे,—आजकल तो आपके मिजाज ही
नहीं मिलते।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बहुधा बहुवचन
में होता है।

यौ०—मिजाजदार।

मिजाज आला-वि० अ० [अ०] एक वाक्यांश जिसका व्यवहार किसी
का शारीरिक कुशल-मंगल पूछने के समय होता है। आप
अच्छे तो हैं ?

मिजाजदार-वि० [अ० मिजाज + फा० दार (प्रत्य०)] जिसे बहुत
अभिमान हो। घमंडी।

मिजाजपीटा-वि० [अ० मिजाज + हिं० पीटना] [स्त्री० मिजाज-
पीटी] जिसे बहुत अधिक घमंड हो। अभिमानी। (स्त्री०)

मिजाजपुरसी-संज्ञा स्त्री० [अ० मिजाज + फा० पुरसी] किसी
से यह पूछना कि आपका मिजाज तो अच्छा है। तबीयत
का हाल पूछना। शारीरिक कुशल-मंगल पूछना।

मिजाज शरीफ-वि० अ० [अ०] एक वाक्यांश जिसका व्यवहार किसी
का शारीरिक कुशल-मंगल पूछने के लिये होता है। आप
अच्छे तो हैं ? आप सकुशल तो हैं ?

मिजाजो-वि० स्त्री० [हिं० मिजाज + ओ (प्रत्य०)] अभिमानी।
घमंडी।

मिभोना-संज्ञा पुं० [सं० मध्य, पुं० हिं० मॉक] वह खूँटी जो हल में
बड़े बल में लगी हुई लकड़ी के बीच में रहती है। (डुंदेल०)

मिटका-संज्ञा पुं० दे० "मटका"

मिटना-क्रि० अ० [सं० मृष्ट, प्रा० मिट्] (१) किसी अंकित चिह्न आदि का न रह जाना । जैसे,—इस पन्ने के कई अक्षर मिट गए हैं । (२) नष्ट हो जाना । न रह जाना । (३) खराब होना । बरबाद होना । जैसे,—घर मिटना । (४) रह होना । जैसे,—विधाता का लेख मिटना ।

संयो० क्रि०—जाना ।

मिटाना-क्रि० स० [हि० मिटना का सक० रूप] (१) रेखा, दाग, चिह्न आदि दूर करना । (२) नष्ट करना । न रहने देना । (३) खराब करना । चौपट करना । बरबाद करना । (४) रह करना ।

संयो० क्रि०—जाना ।—देना ।

मिटिया-संज्ञा स्त्री० [हि० मिट्टा + इया (प्रत्य०)] मिट्टी का छोटा बरतन जिसमें प्रायः दूध आदि रखा जाता है । मटकी ।

वि० [हि० मिट्टी + इया (प्रत्य०)] मिट्टी का ।

मिटियाना-क्रि० स० [हि० मिट्टी + आना (प्रत्य०)] मिट्टी लगाकर साफ करना, रगड़ना या चिकना करना । जैसे,—लोटा मिटियाना ।

मिटिया फूस-वि० [हि० मिट्टिया + फूस] जो कुछ भी दृढ़ न हो । बहुत ही कमजोर ।

मिटिया महल-संज्ञा पुं० [हि० मिट्टिया + फा० महल] मिट्टी का मकान । झोंपड़ी । (व्यंग्य)

मिटिया साँप-संज्ञा पुं० [हि० मिट्टिया + साँप] मटमैले रंग का एक प्रकार का साँप जिसके ऊपर काले रंग की चित्तियाँ होती हैं ।

मिट्टी-संज्ञा स्त्री० [सं० मृत्तिका प्रा० मिट्ठिआ] (१) पृथ्वी । भूमि । जमीन । जैसे,—जो चीज मिट्टी से बनती है, वह मिट्टी में ही मिल जाती है ।

मुहा०—मिट्टी पकड़ना = जमीन पर दृढ़तापूर्वक जम जाना ।

(२) वह भुरभुरा पदार्थ जो पृथ्वी के ओस विभाग अथवा स्थल में साधारणतः सब जगह पाया जाता है और जो उसके ऊपरी तल की प्रधान वस्तु है । खाक । धूल ।

मुहा०—मिट्टी करना = नष्ट करना । खराब करना । चौपट करना ।

जैसे,—रुपया मिट्टी करना, इज्जत मिट्टी करना, शरीर मिट्टी करना, कपड़े मिट्टी करना । मिट्टी के मोल = बहुत सस्ता ।

बहुत ही थोड़े मूल्य पर । जैसे,—वह मकान तो मिट्टी के मोल विक रहा है । मिट्टी डालना = (१) किसी बात को जाने देना । छोड़ देना । (२) किसी के दोष को छिपाना । परदा डालना । (३)

एक प्रकार का प्रयोग जिसमें किसी की कोई छोटी मोटी चीज, विशेषतः गहना आदि, खो जाने पर सब लोग एक स्थान पर जाकर थोड़ी थोड़ी मिट्टी डाल आते हैं । इस प्रकार कभी कभी चुरानेवाला भी भयवरा अथवा और किसी कारण से चुराई हुई चीज उसी मिट्टी के साथ

वहाँ रख आता है, जिससे मालिक को चीज तो मिल जाती है और यह नहीं प्रकट होने पाता कि चोर कौन है । मिट्टी डालना = चोरी गई हुई चीज का पता लगाने के लिये लोगों से किसी स्थान पर मिट्टी डालने के लिये कहना । वि० दे० "मिट्टी डालना" । (३) मिट्टी देना = (१) मुसलमानों में किसी के मरने पर सब लोगों का उसकी कब्र में तीन तीन मुट्ठी मिट्टी डालना जो पुण्य का कार्य समझा जाता है । (२) कब्र में गाड़ना । (मुसल०) मिट्टी पकड़े या कूट सोना होना = भाग्य का प्रवल होना । सितारा चमकना । साधारण काम में भी विशेष लाभ होना । मिट्टी में मिलना = (१) नष्ट होना । चौपट होना । खराब होना । (२) मरना । मिट्टी में मिलाना = नष्ट करना । चौपट करना । बरबाद करना । मिट्टी होना = (१) नष्ट होना । खराब होना । (२) गंदा या मैला कुचैला होना ।

यौ०—मिट्टी का पुतला = मानव शरीर । मिट्टी की सूरत = मानव शरीर । मिट्टी के माधव = मूर्ख । बेवकूफ । भौंड़ । मिट्टी खराबी = (१) दुर्दशा । (२) बरबादी । नारा ।

(३) किसी चीज को जलाकर तैयार की हुई राख । भस्म । जैसे,—पारे की मिट्टी । सोने की मिट्टी । (४) कुछ विशेष प्रकार की अथवा साफ की हुई मिट्टी जो भिन्न भिन्न कामों में आती है । जैसे,—मुलतानी मिट्टी, पीली मिट्टी । (५) शरीर । जिस्म । बदन ।

मुहा०—किसी की मिट्टी पलीद या बरबाद करना = दुर्दशा करना । खराबी करना । (इस अर्थ में यह मुहावरा अर्थ न० ६ के साथ भी लगता है ।)

(६) शव । लाश ।

मुहा०—मिट्टी ठिकाने लगाना = शव की उचित अन्त्येष्टि क्रिया होना । मिट्टी ठिकाने लगाना = शव की उचित अन्त्येष्टि क्रिया करना ।

(७) खाने का गोश्त । मांस । कलिया । (क०) (८) शारीरिक गठन । बदन की बनावट । जैसे,—उसकी मिट्टी बहुत अच्छी है; साठ बरस का होने पर भी जवान जान पड़ता है ।

मुहा०—मिट्टी ढह जाना = शरीर में बुढ़ापे के चिह्न दिखाई देना ।

(९) चंदन की जमीन जो इत्र में दी जाती है ।

मिट्टी का तेल-संज्ञा पुं० [हि० मिट्टी + का + तेल] एक प्रसिद्ध ज्वलन-शील, खनिज, तरल पदार्थ जिसका व्यवहार प्रायः सारे संसार में दीपक आदि जलाने और प्रकाश करने के लिये होता है । यह संसार के भिन्न भिन्न भागों में जमीन के अंदर पाया जाता है । कभी कभी तो जमीन में आप से आप दूरार हो जाती हैं जिनमें से यह तेल निकलने लगता है; और इस प्रकार वहाँ इसके चश्मे बन जाते हैं । पर प्रायः यह जमीन में बड़े बड़े स्राख या छिद्र करके पिचकारी की तरह के बड़े बड़े यंत्रों की सहायता से ही निकाला जाता है ।

कभी कभी जमीन के अंदर की तैसों के जोर करने के कारण भी यह आप से आप फूट निकलता है। कुछ लोग कहते हैं कि जमीन के अंदर जो लोह-मिश्रित बहुत गरम कारवाइड होता है, उस पर जल पड़ने से यह तैयार होता है; और कुछ लोगों का मत है कि जमीन के अंदर अनेक प्रकार के जीवों के मृत शरीरों के सड़ने आदि से यह तैयार होता है। एक मत यह भी है कि इसकी उत्पत्ति का संबंध नमक की उत्पत्ति से है; क्योंकि अनेक स्थानों में यह नमक की खान के पास ही पाया जाता है। इसी प्रकार इसकी उत्पत्ति के संबंध में और भी अनेक मत हैं। अमेरिका के संयुक्त राज्यों तथा रूस में इसकी खानें बहुत अधिक हैं; और इन्हीं दोनों देशों से सब से अधिक मिट्टी का तेल निकलता है। भारत में इसकी खानें या तो पंजाब और बलोचिस्तान की ओर हैं या आसाम तथा बरमा की ओर। परंतु पश्चिमी प्रांतों से अभी तक बहुत थोड़ा तेल निकाला जाता है और पूर्वी प्रांतों से अपेक्षाकृत अधिक। बहुत बढ़िया तेल का रंग सफेद और स्वच्छ जल के समान होता है; पर साधारण तेल का रंग कुछ लाली या पीलापन लिए और घटिया तेल का रंग प्रायः काला होता है। बढ़िया साफ किया हुआ तेल पतला और घटिया तेल गाढ़ा होता है। प्रकाश करने के अतिरिक्त इसका उपयोग छोटे इंजन चलाने, गैस तैयार करने, अनेक प्रकार के तेलों और वारनिशों आदि को गलाने और मोमबत्तियाँ आदि बनाने में होता है। इसमें एक प्रकार की उम्र और अग्रिय गंध होती है। थोड़ी मात्रा में जबान पर लगाने या गले के नीचे उतरने पर यह कै लाता है; और अधिक मात्रा में भीषण विष का काम करता है। मोटरों आदि में जो पेट्रोलियम जलाया जाता है, वह भी इसी का एक भेद है।

मिट्टी का फूल—संज्ञा पुं० [हि० मिट्टी + फूल] मिट्टी या जमीन के ऊपर जम जानेवाला एक प्रकार का क्षार जिसका व्यवहार कपड़ा धोने और शीशा बनाने में होता है। रेह।

मिट्टी खरिया—संज्ञा स्त्री० दे० “खड़िया”।

मिट्टा †—वि० संज्ञा पुं० दे० “मीठा”।

मिट्टी—संज्ञा स्त्री० [हि० मीठा] चुंबन। चूमा। (इस शब्द का व्यवहार खियाँ प्रायः छोटे बालकों के साथ करती हैं।)

क्रि० प्र०—देना।—लेना।

मिट्टू—संज्ञा पुं० [हि० मीठा + ऊ (प्रत्य०)] (१) मीठा बोलनेवाला। (२) तोता।

मुहा०—अपने मुँह से आप मियाँ मिट्टू बनना = अपनी प्रशंसा आप करना। अपने मुँह से अपनी बड़ाई करना।

वि० (१) चुप रहनेवाला। न० बोलनेवाला। (२) प्रिय बोलनेवाला। मधुर-भाषी।

३६६

संज्ञा स्त्री० दे० “मिट्टी”।

मिट्टी—संज्ञा स्त्री० दे० “मिट्टी”।

मिट-वि० [हि० मीठा] मीठा का संक्षिप्त रूप जिसका व्यवहार प्रायः यौगिक बनाने के लिये होता है और जो किसी शब्द के पहले जोड़ा जाता है। जैसे,—मिटलोना, मिठबोला।

मिटबोलना—संज्ञा पुं० दे० “मिटबोला”।

मिटबोला—संज्ञा पुं० [हि० मीठा + बोलना] (१) वह जो मीठी मीठी बातें कहता हो। मधुर-भाषी। (२) वह जो मन में कटप रखकर ऊपर से मीठी बातें करता हो।

मिठरी †—संज्ञा स्त्री० दे० “मठरी”।

मिठलोना—संज्ञा पुं० [हि० मीठा = कम + लोन = नोन] वह जिसमें नमक बहुत ही कम हो। थोड़े नमकवाला।

मिठाई—संज्ञा स्त्री० [हि० मीठा + आई (प्रत्य०)] (१) मीठे होने का भाव। मिठास। माधुर्य। (२) कोई मीठी खाने की चीज़। जैसे,—लड्डू, पेड़ा, बरफ़ी, जलेबी आदि। (३) कोई अच्छा पदार्थ या बात।

मिठास—संज्ञा स्त्री० [हि० मीठा + आस (प्रत्य०)] मीठे होने का भाव। मीठापन। माधुर्य। जैसे,—इसकी मिठास तो बिलकुल मिसरी के समान है।

मिठौरी—संज्ञा स्त्री० [हि० मीठा + बरी] पीसे हुए उड़द या चने की बनी हुई बरी।

मिड़ाई—संज्ञा स्त्री० दे० “मिड़ाई”।

मिडिल—वि० [अ०] किसी पदार्थ का मध्य। बीच।

संज्ञा पुं० शिक्षाक्रम में एक छोटी कक्षा या दरजा जो स्कूल के अंतिम दर्जे इंटेंस से छोटा होता था। अब यह नाम प्रचलित नहीं है।

मिडिलची—संज्ञा पुं० [हि० मिडिल + ची (प्रत्य०)] वह जो मिडिल की परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ हो। मिडिल पास। (उपेक्षा)

मिडिल स्कूल—संज्ञा पुं० [अ०] वह स्कूल या विद्यालय जिसमें केवल मिडिल तक की पढ़ाई होती हो।

मितंगम—संज्ञा पुं० [सं० मितंगम] हाथी।

मित-वि० [सं०] (१) जो सीमा के अंदर हो। परिमित। (२) थोड़ा। कम। जैसे,—मित व्यय। मित-भाषी। (३) फँका हुआ। क्षिप्त।

मितदु—संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र। सागर।

मितभाषी—संज्ञा पुं० [सं० मितभाषिन्] वह जो बहुत कम बोलता हो। थोड़ा बोलनेवाला। समझ बूझकर बात कहनेवाला।

मितमति—संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसमें बहुत कम बुद्धि हो। थोड़ी बुद्धिवाला।

मितव्यय—संज्ञा पुं० [सं०] कम खर्च करना। किफायत।

मितव्ययता—संज्ञा स्त्री० [सं०] कम खर्च करने का भाव।

मितव्ययी-संज्ञा पुं० [सं० मितव्ययिन्] वह जो कम खर्च करता हो। किरायात करनेवाला।

मिताई-संज्ञा स्त्री० [सं० मित्र। हिं० मीत + आई (प्रत्य०)] मित्रता। दोस्ती।

मिताक्षरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] याज्ञवल्क्य स्मृति की विज्ञानेश्वर कृत टीका।

मितार्थ-स्त्री० पुं० [सं०] साहित्य में तीन प्रकार के दूतों में से एक प्रकार का दूत। वह दूत जो बुद्धिमत्तापूर्वक थोड़ी बातें कहकर अपना काम पूरा करे।

मिताशन-संज्ञा पुं० [सं०] कम भोजन करना। थोड़ा खाना।

मिताशी-संज्ञा पुं० [सं० मिताशिन्] [स्त्री० मिताशिनी] वह जो बहुत थोड़ा खाता हो। कम भोजन करनेवाला।

मिति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मान। परिमाण। (२) सीमा। हद। (३) काल की अवधि। दिया हुआ वक्त।

मुहा०—मिति पूजना = आयु के दिन पूरे होना। दे० “मिती”।

मिती-संज्ञा स्त्री० [सं० मिति] (१) देशी महीने की तिथि या तारीख। जैसे,—मिती आषाढ़ सुदी ४ सं० १९८१ की चिट्ठी मिली।

मुहा०—मिती चढ़ाना = तिथि लिखना। तिथि डालना। मिती पुगना या पूजना = हुंडी का नियत समय पूरा होना। हुंडी के भुगतान का दिन आना। जैसे,—इस हुंडी की मिती पूजे दो दिन हो गए, पर रुपया नहीं आया।

(२) दिन। दिवस। जैसे,—उसके यहाँ अभी तीन मिती का ब्याज और बाकी है। (३) वह तिथि जब तक का ब्याज देना हो। जैसे,—इस हुंडी की मिती में अभी चार दिन बाकी हैं। (महाजन)

मुहा०—मिती काटना = सूद काटना।

मितरान-संज्ञा पुं० [सं० मित्र] (१) वह लड़का जो किसी खेल में और सब लड़कों का प्रधान या अगुआ होता है। (२) मित्र। दोस्त।

मित्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो सब बातों में अपना साथी, सहायक, समर्थक और शुभचिंतक हो। सब प्रकार से अपने अनुकूल रहनेवाला और अपना हित चाहनेवाला। शत्रु या विरोधी का उलटा। बंधु। सखा। सुहृद्। दोस्त। (२) अतिविषा नाम की लता। अतीस। (३) सूर्य का एक नाम। (४) बारह आदित्यों में से पहले आदित्य का नाम। (५) पुराणानुसार मरुद्गण में से पहले मरुत् का नाम। (६) वशिष्ठ के एक पुत्र का नाम जो ऊर्जा के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। (७) आर्यों के एक प्राचीन देवता का नाम। ऋक्संहिता में लिखा है कि तनु से अदिति को जो आठ पुत्र हुए थे, उनमें से सात को अपने साथ लेकर अदिति देवलोक को चली गई थी; केवल मार्तण्ड नामक पुत्र को फेंक दिया

था। ये आठ पुत्र मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, अंश, भग, विवस्वान् और आदित्य या मार्तण्ड थे। इनमें से पहले सातों की गिनती आदित्यों में होती है। परंतु महाभारत और पुराणों में द्वादश आदित्य का वर्णन है, जिनमें से एक मित्र भी हैं। वेदों में मित्र ही सर्वप्रधान आदित्य माने गए हैं; परंतु पुराणों आदि में उनका स्थान गौण है। वेदों में मित्र और वरुण की बहुत अधिक स्तुति की गई है, जिससे ज्ञान पड़ता है कि ये दोनों वैदिक ऋषियों के प्रधान देवता थे। वेदों में यह भी लिखा है कि मित्र के द्वारा दिन और वरुण के द्वारा रात होती है। यद्यपि पीछे से मित्र का महत्त्व घटने लगा था, तथापि पहले किसी समय सभी आर्य मित्र की पूजा करते थे। पारसियों में इनकी पूजा ‘मिथ्र’ के नाम से होती थी। मित्र की पत्नी मित्रा भी उनमें पूजनीय थी और अग्नि की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती थी। कदाचित् असीरियावालों की माइलेत्ता तथा अरबवालों की आलिता देवी भी यही मित्रा थी। (८) भारतवर्ष के एक प्रसिद्ध प्राचीन राजवंश का नाम जिसका राज्य उदुंबर और पांचाल आदि स्थानों में था। कुछ लोग इसे शुंग वंश की एक शाखा बतलाते हैं; तथा कुछ लोग इस वंशवालों को शाकद्वीपी ब्राह्मण और कुछ शक शत्रिय मानते हैं। ईसवी पहली और दूसरी शताब्दी में इस वंश का बहुत जोर था। भानुमित्र, सूर्यमित्र, अश्विमित्र, जयमित्र, इंद्रमित्र आदि इस वंश के प्रधान राजा थे। इनके जो सिके पाए गए हैं, उनमें से कुछ में शैवों के, कुछ में वैष्णवों के और कुछ में सौरों के चिह्न पाए जाते हैं।

मित्रकृत्-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार बारहवें मनु के एक पुत्र का नाम।

मित्रघ्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो मित्र की हत्या करनेवाला हो। (२) विश्वासघातक। (३) एक राक्षस का नाम।

मित्रघ्ना-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम।

मित्रज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] एक राक्षस का नाम जो यज्ञ की सामग्री आदि छीन ले जाया करता था।

मित्रता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मित्र होने का भाव। दोस्ती। (२) मित्र का धर्म।

मित्रत्व-संज्ञा पुं० [सं०] मित्र होने का धर्म या भाव। दोस्ती। मित्रता।

मित्रदेव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बारहवें मनु के एक पुत्र का नाम। (२) महाभारत के अनुसार एक राजा का नाम। (३) मित्र नाम के आदित्य। वि० दे० “मित्र”।

मित्रपंचक-संज्ञा पुं० [सं०] घी, शहद, गुंजा, सुहागा और गुग्गुल इन पाँचों का समूह। (वैद्यक)

मित्रपद-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन तीर्थ का नाम।

मित्रबाहु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बारहवें मनु के एक पुत्र का नाम । (२) श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम ।

मित्रभानु-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक राज-कुमार का नाम ।

मित्रभेद-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो दो मित्रों में लड़ाई कराया करता हो । मित्रों में झगड़ा करानेवाला ।

मित्रवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार श्रीकृष्ण की एक कन्या का नाम ।

मित्रवन-संज्ञा पुं० [सं०] पंजाब के सुलतान नामक नगर का प्राचीन नाम ।

मित्रवर्द्धन-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एज राजा का नाम ।

मित्रवान्-वि० [सं० मित्रवत्] [स्त्री० मित्रवती] जिसे मित्र हो । संज्ञा पुं० (१) एक असुर का नाम । (२) बारहवें मनु के एक पुत्र का नाम । (३) पुराणानुसार श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम ।

मित्रवाह-संज्ञा पुं० [सं०] बारहवें मनु के एक पुत्र का नाम ।

मित्रविद्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि । (२) बारहवें मनु के एक पुत्र का नाम । (३) पुराणानुसार श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम ।

मित्रविदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार श्रीकृष्ण की एक पत्नी का नाम ।

मित्रविद्-संज्ञा पुं० [सं०] गुप्तचर । जासूस ।

मित्रवैर-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो मित्र से वैर या द्वेष करता हो ।

मित्र सप्तमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी । कहते हैं कि इसी दिन कश्यप के वीर्य से अदिति के गर्भ से मित्र नामक दिवाकर की उत्पत्ति हुई थी; इसी से इसका यह नाम पड़ा ।

मित्रसह-संज्ञा पुं० [सं०] कल्माषपाद राजा का एक नाम ।

मित्रसाहसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत के अनुसार स्वर्ग में रहनेवाली एक देवी का नाम ।

मित्रसेन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बारहवें मनु के एक पुत्र का नाम । (२) श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम । (३) एक बुद्ध का नाम ।

मित्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मित्र नामक देवता की स्त्री का नाम । वि० दे० "मित्र" (७) । (२) शत्रुघ्न की माता सुमित्रा । (३) महाभारत के अनुसार एक अप्सरा का नाम । (४) पराशर के शिष्य मैत्रेय की माता का नाम ।

मित्राई*†-संज्ञा स्त्री० [सं० मित्र + आई (हि० प्रत्य०)] मित्रता । दोस्ती ।

मित्राक्षर-संज्ञा पुं० [सं०] छंद के रूप में बना हुआ पद ।

मित्रायु-संज्ञा पुं० [सं०] राजा दिवोदास के एक पुत्र का नाम ।

मित्रावरुण-संज्ञा पुं० [सं०] मित्र और वरुण नामक देवता ।

मित्रावसु-संज्ञा पुं० [सं०] विश्वावसु के एक पुत्र का नाम ।

मित्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दशरथ की पत्नी सुमित्रा जो लक्ष्मण और शत्रुघ्न की माता थीं । सुमित्रा ।

मित्रैयु-संज्ञा पुं० [सं०] राजा दिवोदास के एक पुत्र का नाम ।

मिथनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेथी ।

मिथि-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार राजा निमि के पुत्र जनक का एक नाम । कहते हैं कि राजा निमि को कोई पुत्र नहीं था । मुनियों को यह भय हुआ कि निमि के मरने के उपरान्त कहीं अराजकता न उत्पन्न हो, इसलिये उन लोगों ने निमि के शरीर को अरणी से मथा जिससे जनक की उत्पत्ति हुई । ये मथन से उत्पन्न हुए थे; इसलिये इनका एक नाम मिथि भी था । इन्हें उदावसु नामक एक पुत्र हुआ था ।

मिथिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेथी ।

मिथिल-संज्ञा पुं० [सं०] राजा जनक का एक नाम ।

मिथिला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वर्तमान तिरहुत का प्राचीन नाम । राजा जनक इसी प्रदेश के राजा थे । (२) इस प्रांत की प्राचीन राजधानी ।

मिथु-संज्ञा पुं० [सं०] असत्य । मिथ्या । झूठ ।

मिथुन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्त्री और पुरुष का युग्म । मर्द और औरत का जोड़ा । (२) संयोग । समागम । (३) मेष आदि राशियों में से तीसरी राशि जिसमें मृगशिरा नक्षत्र के अंतिम दो पाद, पूरा आर्द्रा नक्षत्र और पुनर्वसु के आरंभिक तीन पाद हैं । इसके अधिष्ठाता देवता गदाधारी पुरुष और वीणाधारिणी स्त्री मानी गई हैं । इसका दूसरा नाम जितुम है । (४) ज्योतिष में मेष आदि लग्नों में से तीसरा लग्न । कहते हैं कि इस लग्न में जन्म लेनेवाला प्रियभाषी, द्विमात्रिक, शत्रुओं का नाश करनेवाला, गुणी, धार्मिक, कार्यकुशल और प्रायः रोगी रहनेवाला होता है; और उसकी मृत्यु मनुष्य, साँप, जहर या पानी आदि के द्वारा होती है ।

मिथुनत्व-संज्ञा पुं० [सं०] मिथुन का भाव या धर्म ।

मिथ्या-वि० [सं०] असत्य । झूठ ।

मिथ्याचर्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] झूठा या कपटपूर्ण व्यवहार ।

मिथ्याचार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कपटपूर्ण आचरण । (२) वह जो कपटपूर्ण आचरण करता हो ।

मिथ्यात्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मिथ्या होने का भाव । (२) माया । (३) जैनों के अनुसार अठारह दोषों में से एक ।

मिथ्यादृष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] नास्तिकता ।

मिथ्याध्यवसिति-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अर्थालंकार जिसमें कोई एक असंभव या मिथ्या बात निश्चित करके तब कोई दूसरी बात कही जाती है; और इस प्रकार वह दूसरी बात

भी मिथ्या ही होती है। उ०—जो आँजै नभ-कुसुम-रस, लखै सो अहि के कान।

मिथ्यानिरसन-संज्ञा पुं० [सं०] शपथपूर्वक किसी सच्ची बात का अस्वीकार करना।

मिथ्यापंडित-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो कुछ न जानता हो और झूठ मूठ पंडित बनता हो।

मिथ्यापुरुष-संज्ञा पुं० दे० “छायापुरुष”।

मिथ्याभियोग-संज्ञा पुं० [सं०] किसी पर झूठ मूठ अभियोग लगाना। अभ्याख्यान।

मिथ्याभिशंसन-संज्ञा पुं० [सं०] किसी पर झूठ मूठ कलंक लगाना।

मिथ्यामति-संज्ञा स्त्री० [सं०] भ्रांति। धोखा। भूल। गलती।

मिथ्यायोग-संज्ञा पुं० [सं०] चरक के अनुसार वह कार्य जो रूप, रस या प्रकृति आदि के विरुद्ध हो। जैसे,—मल, मूत्र आदि का वेग रोकना शरीर का मिथ्या योग है, कठोर वचन आदि कहना वाणी का मिथ्यायोग है; तीव्र गंध आदि सूँघना और भीषण शब्द आदि सुना घ्राण और श्रवण का मिथ्यायोग है।

मिथ्यावादी-संज्ञा पुं० [सं० मिथ्यावादिन्] [स्त्री० मिथ्यावादिनी]

वह जो झूठ बोलता हो। असत्यवादी। झूठा।

मिथ्याव्याहार-संज्ञा पुं० [सं०] किसी विषय को न जानते हुए भी उसमें दखल देना। अनधिकार चर्चा।

मिथ्यासाक्षी-संज्ञा पुं० [सं० मिथ्यासाक्षिन्] वह जो झूठी गवाही देता हो। झूठा गवाह।

मिथ्याहार-संज्ञा पुं० [सं०] अनुचित या प्रकृति के विरुद्ध भोजन करना। जैसे,—मछली के साथ दूध।

मिथ्योत्तर-संज्ञा पुं० [सं०] व्यवहार में चार प्रकार के उत्तरों में से एक प्रकार का उत्तर। अभियुक्त का अपना अपराध छिपाने के लिये झूठ बोलना। (याज्ञवल्क्य स्मृति)

मिनती—संज्ञा स्त्री० दे० “विनति”।

संज्ञा पुं० [अनु० मक्खी के शब्द से] मक्खी की बोली के समान, धीमा, कुछ नाक से निकला हुआ स्वर।

मिनमिन-क्रि० वि० [अनु०] मक्खी की भनभनाहट के रूप में। धीमे दबे हुए स्वर में। कुछ नाक से निकले धीमे स्वर में। जैसे,—वह मिनमिन बोलता है; इसी से उसे सीधा समझते हो।

मिनमिना-वि० [हि० मिनमिन] (१) मिनमिन शब्द करनेवाला। नाक से स्वर निकालकर धीमे बोलनेवाला। (२) थोड़ी सी बात पर कुदनेवाला। (३) सुस्त। मट्टर।

मिनमिनाना-क्रि० प्र० [मिन् मिन् से अनु०] (१) मिन् मिन् शब्द करना। नाक से बोलना। नकियाना। (२) कोई काम बहुत धीरे धीरे करना। बहुत सुस्ती से काम करना।

मिनवाल-संज्ञा पुं० [अ०] करघे में का वह बेलन जिस पर बुना हुआ कपड़ा लपेटा जाता है और जो बुननेवाले के ठीक आगे रहता है।

मिनहा-वि० [अ०] जो काट या घटा लिया गया हो। मुजरा किया हुआ। जैसे,—अभी इसमें दो तीन रकमें मिनहा होने को हैं।

मिनारा—संज्ञा पुं० दे० “मीनार”।

मिनजानिब-क्रि० वि० [अ०] ओर से। तरफ से। (कच०)

मिन्जुमला-क्रि० वि० [अ०] सब में से। कुल में से।

मिन्नत-संज्ञा स्त्री० [अ०, मि० सं० विनति] (१) प्रार्थना। निवेदन। (२) दीनता।

यौ०—मिन्नत खुशामद = दीनतापूर्वक की हुई प्रार्थना।

(३) एहसान। कृतज्ञता। (क०)

क्रि० प्र०—उठाना।

मिमत-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

मिमियाई—संज्ञा स्त्री० [हि० मिमियाना + ई (प्रत्य०)] बकरी।

संज्ञा स्त्री० दे० “मोमियाई”।

मिमियाना-क्रि० प्र० [मिन मिन से अनु०] बकरी या भेंड़ का ‘मि मि’ शब्द करना। भेंड़ या बकरी का बोलना।

मियाँ-संज्ञा पुं० [फा०] (१) स्वामी। मालिक। (२) पति। खसम। जैसे,—मियाँ के मियाँ गए, बुरे बुरे सुपने आए।

यौ०—मियाँ बीबी।

(३) बड़ों के लिये एक प्रकार का संबोधन। महाशय।

(मुसल०) (४) बच्चों के लिये एक प्रकार का संबोधन।

(५) शिक्षक। उस्ताद। (६) पहाड़ी राजपूतों की एक उपाधि। जैसे,—मियाँ रामसिंह। (७) मुसलमान। जैसे,—

वे सब मियाँ ठहरे; एक ही में खा पका लेंगे।

मियाँ मिट्ठू-संज्ञा पुं० [हि० मियाँ + मिट्ठू] (१) मीठी बोली बोलनेवाला। मधुर-भाषी।

मुहा०—अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना = अपने मुँह से अपनी प्रशंसा करना।

(२) तोता।

मुहा०—मियाँ मिट्ठू बनाना = तोते की तरह रवाना। बिना समझाए पढ़ाना।

(३) मूर्ख। बेवकूफ।

मियान-संज्ञा स्त्री० दे० “म्यान”।

संज्ञा पुं० [फा०] मध्य भाग। बीच का हिस्सा।

यौ०—दरमियान = मध्य में। बीच में।

मियानतह-संज्ञा स्त्री० [फा० मियान = मध्य + हि० तह] वह साधारण कपड़ा जो किसी अच्छे कपड़े के नीचे उसकी रक्षा आदि के लिये दिया जाता है। जैसे,—रजाई की मियानतह।

मियानतही-संज्ञा स्त्री० दे० “मियानतह” ।

मियाना-वि० [फा०] न बहुत बड़ा और न बहुत छोटा। मध्यम आकार का ।

संज्ञा पुं० (१) वे खेत जो किसी गाँव के बीच में हों । (२) एक प्रकार की पालक्री । (३) गाड़ी में आगे की ओर बीच में लगा हुआ वह बाँस जिसके दोनों ओर घोड़े जोते जाते हैं । बम । बल्ली ।

मियानी-संज्ञा स्त्री० [फा० मियान + ई (प्रत्य०)] पायजामे में वह कपड़ा जो दोनों पायँचों के बीच में पड़ता है । इसे कहीं कहीं रुमाल भी कहते हैं ।

मियार, मियाल-संज्ञा पुं० [हि० संभार ?] वह लकड़ी जो कूँ के ऊपर दो खंभों पर लगी होती है और जिसमें गराड़ी पड़ी रहती है ।

मियेध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पशु । (२) यज्ञ ।

मिरंगा-संज्ञा पुं० [फा०] प्रवाल । मूँगा ।

मिरकी-संज्ञा स्त्री० [देश०] चौपायों को होनेवाली एक प्रकार की मुँह की बीमारी । (अवध)

मिरखम-संज्ञा पुं० दे० “मिरखम” ।

मिरखम-संज्ञा पुं० [सं० मेरखम्भ, प्रा० मेरखम्भ ।] कोल्हू में वह लकड़ी जो बैठकर हाँकने की जगह खड़े बल में लगी रहती है ।

मिरगञ्ज-संज्ञा पुं० [सं० मृग] मृग । हरिन ।

मिरगचिड़ा-संज्ञा पुं० [हि० मिरग + चिड़ा] एक प्रकार का छोटा पक्षी ।

मिरगछाला-संज्ञा स्त्री० दे० “मृगछाला” ।

मिरगिया-संज्ञा पुं० [हि० मिरगी + इया (प्रत्य०)] वह जिसे मिरगी का रोग हो ।

मिरगी-संज्ञा स्त्री० [सं० मृगी] एक प्रसिद्ध मानसिक रोग जिसका बीच बीच में दौरा हुआ करता है और जिसमें रोगी प्रायः मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है, उसके हाथ-पैर ऐँठने लगते हैं और उसके मुँह से झाग निकलने लगता है । कभी कभी रोगी के केवल हाथ-पैर ही ऐँठते हैं और उसे मूर्च्छा नहीं आती । अपस्मार रोग ।

क्रि० प्र०—आना ।

मिरघ-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार एक बहुत बड़ी संख्या ।

मिरचा-संज्ञा पुं० [सं० मरिच] लाल मिर्च ।

मिरचाई-संज्ञा स्त्री० दे० (१) “मिर्च” । (२) दे० “काला दाना” ।

मिरचियागंध-संज्ञा पुं० [हि० मिर्च + गंध] रुखा घास ।

मिरची-संज्ञा स्त्री० [हि० मिर्च] छोटी, पर बहुत तेज लाल मिर्च ।

मिरज़ई-संज्ञा स्त्री० [फा० मिरजा] एक प्रकार का बंददार अंग जो कमर तक और प्रायः पूरी बाँह का होता है ।

मिरज़ा-संज्ञा पुं० [फा०] (१) मीर या अमीर का लड़का ।

मीर-जाया । अमीर-जादा । (२) राजकुमार । कुँवर । (३) मुगलों की एक उपाधि । (४) तैमूर वंश के शाहजादों की उपाधि ।

वि० कोमल । नाजुक । (व्यक्ति)

मिरजाई-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) मिरजा का भाव या पद ।

(२) सरदारी । नेतृत्व । (३) अभिमान । बमंड । (४) दे० “मिरजई” ।

मिरजान-संज्ञा पुं० [फा०] प्रवाल । मूँगा ।

मिरजामिजाज-वि० [फा० मिरजा + मिजाज] नाजुक दिमाग का ।

मिरत-संज्ञा स्त्री० दे० “मृत्यु” ।

मिरदंग-संज्ञा पुं० दे० “मृदंग” ।

मिरदंगी-संज्ञा पुं० [हि० मिरदंग + ई (प्रत्य०)] वह जो मृदंग बजाता हो । पखावजी ।

मिरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मूर्खा । (२) मदिरा । शराब ।

मिरासी-संज्ञा पुं० दे० “मीरासी” ।

मिरिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की लता ।

मिरिच-संज्ञा स्त्री० दे० “मिर्च” ।

मिरिचिया कंद-संज्ञा पुं० [हि० मिरिच + गंध] रोहिस घास ।

मिर्गी-संज्ञा स्त्री० दे० “मिरगी” ।

मिर्च-संज्ञा स्त्री० [सं० मरिच] (१) कुछ प्रसिद्ध तिक्त फलों और फलियों का एक वर्ग जिसके अंतर्गत काली मिर्च, लाल मिर्च और उनकी कई जातियाँ हैं । (२) इस वर्ग की एक प्रसिद्ध तिक्त फली जिसका व्यवहार प्रायः सारे संसार में व्यंजनों में मसाले के रूप में होता है और जिसे प्रायः लाल मिर्च और कहीं कहीं मिरचा, मरिचा या मिरचाई भी कहते हैं ।

विशेष—इस फली का क्षुप मकोय के क्षुप के समान, पर देखने में उससे अधिक झाड़दार होता है; और प्रायः सारे भारत में इसी फली के लिये उसकी खेती की जाती है । इसके पत्ते पीछे की ओर चौड़े और आगे की ओर अनीदार होते हैं । इसके लिये काली चिकनी मिट्टी की अथवा याही बाँगर मिट्टी की जमीन अच्छी होती है । दुम्मत जमीन में भी यह क्षुप होता है; पर कड़ी और अधिक बालूवाली मिट्टी इसके लिये उपयुक्त नहीं होती । इसकी बोआई असाढ़ से कार्तिक तक होती है । जाड़े में इसमें पहले सफेद रंग के फूल आते हैं और तब फलियाँ लगती हैं । ये फलियाँ आकार में छोटी, बड़ी, लंबी, गोल अनेक प्रकार की होती हैं । कहीं कहीं इसका आकार नारंगी के समान गोल और कहीं कहीं गाजर के समान भी होता है; पर साधारणतः यह उंगली के बराबर लंबी और उतनी ही मोटी होती है । इन फलियों का रंग हरा, पीला, काला, नारंगी या लाल होता है और ये कई महीनों तक लगातार फलती

रहती हैं। प्रायः कच्ची दशा में इनका रंग हरा और पकने पर लाल हो जाता है। मसाले में कच्ची फलियाँ भी काम आती हैं और पकी तथा सुखाई हुई फलियाँ भी। कुछ जाति की फलियाँ बहुत अधिक तिक्त तथा कुछ बहुत कम तिक्त होती हैं। अचारों आदि में तो ये फलियाँ और मसालों के साथ डाली ही जाती हैं, पर स्वयं इन फलियों का भी अचार पड़ता है। इसके पत्तों की तरकारी भी बनाई जाती है। इसका स्वाद तिक्त होने के कारण तथा इसके गरम होने के कारण कुछ लोग इसका बहुत कम व्यवहार करते हैं अथवा बिल्कुल ही नहीं करते। वैद्यक में यह तिक्त, अग्निदीपक, दाहजनक तथा कफ, अरुचि, विशूलिका, व्रण, आर्द्रता, तन्द्रा, मोह, प्रलाप और स्वर-भेद आदि को दूर करनेवाली मानी गई है। त्वचा पर इसका रस लगाने से जलन होती है; और यदि इसका लेप किया जाय तो तुरन्त छाले पड़ जाते हैं। इसके सेवन से हृदय, त्वचा, वृक्क और जननेन्द्रिय में अधिक उत्तेजना होती है। पर यदि इसका बहुत अधिक सेवन किया जाय, तो बल और वीर्य की हानि होती है। वैद्यक, हिकमत और डाक्टरी सभी में इसका व्यवहार ओषधि रूप में होता है।

पर्या०—कटुवीरा। रक्त मरिच। कुमरिच। तीक्ष्णा। उज्ज्वला। तीव्रशक्ति। अजड़ा।

(२) एक प्रकार का प्रसिद्ध तिक्त, काला, छोटा दाना जिसे “काली मिर्च” या “गोल मिर्च” कहते हैं और जिसका व्यवहार व्यंजनों में मसाले के रूप में होता है।

विशेष—यह दाना एक लता का फल होता है। इस लता की खेती पूर्व भारत में आसाम में, तथा दक्षिण भारत में मलाबार, कोचीन, ट्रावनकोर आदि प्रदेशों में अधिकता से होती है। देहरादून और सहारनपुर आदि कुछ स्थानों में भी इसकी थोड़ी बहुत खेती होती है। यह लता प्रायः दूसरे वृक्षों पर चढ़ती और उन्हीं के सहारे फैलती है। यह लता बहुत हड़ होती है और इसके पत्ते पीपल के पत्तों के समान और ५-७ इंच लंबे तथा ३-४ इंच चौड़े होते हैं। इसकी लंबी लंबी डंडियों में गुच्छों में फूल और फल लगते हैं। प्रायः वर्षा ऋतु में पान की बेल की तरह इस लता के भी छोटे छोटे टुकड़े करके बड़े बड़े वृक्षों की जड़ों के पास गाड़ दिए जाते हैं, जो थोड़े दिनों में लता के रूप में बढ़कर उन वृक्षों पर फैलने लगते हैं। नारियल, कटहल और आम के वृक्षों पर यह लता बहुत अच्छी तरह फैलती है। तीसरे या चौथे वर्ष इन लताओं में फल लगने लगते हैं और प्रायः बीस वर्ष तक लगते रहते हैं। कच्ची दशा में ये फल लाल रंग के होते हैं, पर पकने और सूखने पर काले रंग के हो जाते हैं; और प्रायः इसी रूप में बाजारों में मिलते हैं। कभी

कभी इन सूखे फलों को पानी में भिगोकर उनका ऊपरी छिलका अलग कर लिया जाता है जिससे अंदर से सफेद या मटमैले रंग के फल निकल आते हैं और जो बाजारों में “सफेद मिर्च” के नाम से विकते हैं। इस दशा में उनका तीतापन भी कुछ कम हो जाता है। भारतवर्ष में इसका व्यवहार और उपज बहुत प्राचीन काल से होती आई है और यहाँ से बहुत अधिक मात्रा में विदेश में भेजी जाती रही है। वैद्यक में यह कटुवी, हलकी, चरपरी, गरम, रूखी, तीक्ष्ण, अवृष्य, छेदक, शोषक, पित्तकारी, अग्निप्रदीपक, रुचिकारी, तथा कफ, वात, श्वास, शूल, कृमि, खाँसी, हृदय रोग, प्रमेह और बवासीर का नाश करनेवाली मानी गई है। साधारणतः इसका व्यवहार मसाले के रूप में ही होता है; पर वैद्यक, हिकमत और डाक्टरी में यह ओषधि के रूप में भी काम आती है। जिन लोगों को लाल मिर्च अप्रिय या हानिकारक होती है, वे प्रायः इसी का व्यवहार करते हैं; क्योंकि यह उससे तिक्त भी कम होती है, और उत्तेजक तथा दाहजनक भी कम होती है।

पर्या०—मरिच। वेणुज। यवनप्रिय। वल्लीज। कोलक। कृष्ण। शुद्ध। कोलक। धर्मपत्तन। ऊषण। वरिष्ठ। कटुक। वेणुक। शिरोवृत्त। वार आदि।

वि० जिसका स्वभाव बहुत ही उग्र, तीव्र या कटु हो। (क्र०)

मिर्चन—संज्ञा स्त्री० [हि० मिर्च + न (प्रत्य०)] झड़बेरी के फलों का चूर्ण जो नमक मिर्च मिलाकर चाट के रूप में बेचा जाता है।

मिर्चिया—संज्ञा स्त्री० [हि० मिर्च] रोहिस घास।

मिलक—संज्ञा स्त्री० [अ० मिलक] (१) जमीन-जायदाद। जमींदारी। मिलकियत। (२) जागीर। उ०—ब्रज की भूमि इंद्र तैं मानो मदन मिलक करि पाई।—सूर।

मिलकी—संज्ञा स्त्री० [हि० मिलक + ई (प्रत्य०)] (१) वह जिसके पास जमीन-जायदाद हो। जमींदार। (२) वह जिसके पास धन-संपत्ति हो। दौलतमंद। अमीर।

मिलन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मिलने की क्रिया या भाव। मिलाप। भेंट। समागम। योग। (२) मिश्रण। मिलावट।

मिलनसार—वि० [हि० मिलन + सार (प्रत्य०)] जो सब से प्रेम-पूर्वक मिलता हो। सब से हेल-मेल रखनेवाला। सद्ब्यवहार रखनेवाला और सुशील।

मिलनसारी—संज्ञा स्त्री० [हि० मिलनसार + ई (प्रत्य०)] सब से प्रेमपूर्वक मिलने का गुण। सब से हेल मेल रखना। सद्ब्यवहार और सुशीलता।

मिलना—क्रि० सं० [सं० मिलन] (१) एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में पड़ना। सम्मिलित होना। मिश्रित होना। जैसे,—दाल में नमक मिलना। (२) दो भिन्न भिन्न पदार्थों का एक होना। बीच में का अंतर मिटना। जैसे,—अब ये दोनों

मकान मिलकर एक हो गए हैं। (३) सम्मिलित होना। समूह या समुदाय के भीतर होना। जैसे,—(क) हमारी किताबें भी इन्हीं में मिल गई हैं। (ख) अब वह भी जात में मिल गए हैं।

यौ०—मिला जुला = (१) सम्मिलित। (२) मिश्रित।

(४) सटना। जुड़ना। चिपकना। (५) आकृति, गुण आदि में समान होना। बिल्कुल या बहुत कुछ बराबर होना। जैसे,—(क) इन दोनों पुस्तकों का विषय बहुत कुछ मिलता है। (ख) इन दोनों का स्वभाव बहुत कुछ मिलता है।

यौ०—मिलता जुलता = एक सा। समान। तुल्य।

(६) आलिंगन करना। छाती से लगाना। भेंटना। जैसे,—राम और भरत का मिलना। (७) भेंट होना। मुलाकात होना। देखा देखा होना। जैसे,—वह मुझसे रोज मिलते हैं। (८) विरोध या द्वेष दूर होना। मेल-मिलाप होना। (९) संभोग करका। मैथुन करना। (१०) किसी के पक्ष में हो जाना। जैसे,—अब तो आप भी उधर ही जा मिले। (११) लाभ होना। फायदा होना। नफा होना। जैसे,—इस सौदे में आपको भी कुछ न कुछ मिल रहेगा। (१२) प्रत्यक्ष होना। सामने आना। पता लगना। जैसे,—रास्ता मिलना।

संयो० क्रि०—जाना।

(१३) बजने से पहले बाजों का सुर या आवाज ठीक होना।

जैसे,—तबला मिलना। सारंगी मिलना।

ॐ† क्रि० सं० [?] गौ आदि का दूध दूहना।

मिलनी—संज्ञा स्त्री० [हि० मिलना + ई (प्रत्य०)] (१) विवाह की एक रस्म जो कहीं तो कन्यादान हो चुकने के उपरांत और कहीं उससे पहले होती है। इसमें कन्या-पक्ष के लोग वर-पक्ष के लोगों से गले मिलते और उन्हें कुछ नकद देते हैं। कहीं कहीं यह रस्म स्त्रियों में भी होती है। (२) दे० “मिलन”।

मिलपत्र—संज्ञा पुं० [सं०] अश्मंतक वृक्ष। बहेड़े का पेड़।

मिलवाई—संज्ञा स्त्री० [हि० मिलवाना + ई (प्रत्य०)] (१) मिलवाने की क्रिया या भाव। (२) वह धन या पुरस्कार जो मिलवाने के बदले में दिया जाय।

मिलवाना—क्रि० सं० [हि० मिलाना का प्रेर० रूप] (१) मिलने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को मिलने में प्रवृत्त करना। (२) भेंट या परिचय कराना। (३) मेल कराना। (४) संभोग कराना।

मिलाई—संज्ञा स्त्री० [हि० मिलाना + ई (प्रत्य०)] (१) मिलाने की क्रिया या भाव। (२) मिलाने की मजदूरी। (३) विवाह की मिलनी नामक रस्म। वि० दे० “मिलनी”। (४)

जाति से निकाले हुए आदमी को फिर से जाति में मिलाने का काम।

मिलान—संज्ञा पुं० [हि० मिलाना] (१) मिलाने की क्रिया या भाव। (२) तुलना। मुकाबला। (३) ठीक होने की जाँच।

क्रि० प्र०—करना।—मिलाना।—होना।

मिलाना—क्रि० सं० [सं० मिलन। हि० मिलना का सक० रूप] (१) एक पदार्थ में दूसरा पदार्थ डालना। मिश्रण करना। जैसे,—दूध में पानी मिलाना। (२) दो भिन्न भिन्न पदार्थों को एक करना। बीच में अंतर न रहने देना। जैसे,—दोनों दीवारें मिला दी गईं। (३) सम्मिलित करना। एक करना। जैसे,—यह रकम भी उसी में मिला दी गई है।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

(४) सटाना। जोड़ना। चिपकाना। (५) दो पदार्थों में तुलना करना। मुकाबला करना। जैसे,—दोनों कपड़े मिला कर देख लीजिए। (६) यह देखना कि प्रतिलिपि आदि मूल के अनुसार है या नहीं। ठीक होने की जाँच करना। जैसे,—नकल तो पूरी हो चुकी है; पर अभी मिलाना बाकी है।

संयो० क्रि०—लेना।

(७) भेंट या परिचय कराना। (८) दो व्यक्तियों का विरोध या द्वेष दूर करके उनमें मेल कराना। सुलह या संधि कराना। (९) स्त्री और पुरुष का संयोग कराना। संभोग या संबंध कराना।

संयो० क्रि०—देना।

(१०) किसी को अपने पक्ष में करना। अपना भेदिया या साथी बनाना। साँटना। जैसे,—हम उन्हें अपनी ओर मिला लेंगे।

संयो० क्रि०—लेना।

यौ०—मिलाना-जुलाना।

(११) बजाने से पहले बाजों का सुर या आवाज़ ठीक करना। जैसे,—पखावज मिलाना। सारंगी मिलाना।

मिलाप—संज्ञा पुं० [हि० मिलना + आप (प्रत्य०)] (१) मिलने की क्रिया या भाव। (२) मेल या सद्भाव होना। मित्रता।

यौ०—मेल-मिलाप।

(३) भेंट। मुलाकात। (४) एक साथ बजनेवालों बाजों का एक सुर में होना। (५) संभोग। संयोग। (६) दे० “मिलाई”।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग अधिकतर मनुष्यों या प्राणियों के संबंध में होता है, वस्तुओं के मिश्रण के लिए नहीं।

मिलाव—संज्ञा पुं० [हि० मिलाना + आव (प्रत्य०)] (१) मिलाने की क्रिया या भाव। मिलावट। (२) मिलाप।

मिलावट—संज्ञा स्त्री० [हि० मिलाना + आवट (प्रत्य०)] (१) मिलाप

जाने का भाव । (२) किसी अच्छी या बुरी चीज में कोई बुरी या घटिया चीज का मेल । खोट । जैसे,—यह सोना ठीक नहीं है; इसमें कुछ मिलावट है ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग केवल वस्तुओं के मिश्रण के लिये होता है, प्राणियों के संयोग के लिये नहीं ।

मिलिंदक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साँप ।

मिलिक*—संज्ञा स्त्री० [अ० मिलक] (१) जमींदार । मिलिकयत (२) जागीर । उ०—ब्रज की भूमि इंद तें मानो मदन मिलिक करि पाई ।—सूर ।

मिलित-वि० [सं०] मिला हुआ । युक्त ।

मिलेठी*—संज्ञा स्त्री० दे० “मुलेठी” ।

मिलोना*—कि० सं० [हि० मिलाना] (१) दे० “मिलाना” । (२) गौ का दूध दूहना ।

संज्ञा पुं० एक प्रकार की बुरिया जमीन जिसमें कुछ बाल भी मिला होता है ।

मिलौनी-संज्ञा स्त्री० [हि० मिलना + औनी (प्रत्य०)] (१) मुसलमानों में विवाह की एक रस्म जिसमें बरातियों आदि को कुछ नकद या वस्तुएँ भेंट की जाती हैं । मिलाई । (२) किसी अच्छी चीज में कोई खराब चीज मिलाना । (३) दे० “मिलाई” । (४) मिलने की क्रिया या भाव । मिलावट । (५) मिलाने के बदले में मिला हुआ धन ।

मिलक-संज्ञा पुं० [अ०] (१) जमींदारी । (२) जागीर । मुआफी । (३) जमीन की एक प्रकार की मिलिकयत या मालिकाना हक । जिसे यह हक प्राप्त होना है, वह जमींदार को किसी प्रकार का लगान आदि नहीं देता । इस प्रकार की मिलिकयत जमींदारी और कास्तकारी के बीच की होती है और मुरादाबाद आदि कुछ पश्चिमी जिलों में ही पाई जाती है । (४) धन-संपत्ति । (५) अधिकार । मिलिकयत ।

मिलिकयत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) जमींदारी । (२) जागीर । माफी । (३) धन-संपत्ति । जायदाद । (४) वह पदार्थ या धन-संपत्ति जिस पर नियमानुसार अपना स्वामित्व हो सकता हो या अधिकार पहुँच सकता हो । जिस पर मालिकों का सा हक हो । जैसे,—वह सब तो हमारी मिलिकयत ठहरी; हम छोड़ कैसे दें ?

मिलकी-संज्ञा पुं० [अ०] (१) मिलक का स्वामी या अधिकारी । जमींदार । (२) जागीरदार । माफीदार ।

मिल्लत-संज्ञा स्त्री० [हि० मिलन + त (प्रत्य०)] (१) मेल-जोल । घनिष्टता । मिलाप । जैसे,—उन दोनों में बहुत मिल्लत है । (२) मिलनसारी । जैसे,—उनमें मिल्लत बहुत है ।

मुहा०—मिल्लत का = जिसमें मिलनसारी हो । मिलनसार । जैसे,—वह बहुत मिल्लत का आदमी है ।

(३) समूह । मंडली । जत्था । (क०)

संज्ञा स्त्री० [अ०] मजहब । संप्रदाय । पंथ । मत । जैसे,—हर मिल्लत के आदमी से वह अच्छा व्यवहार करता है ।

मिशन-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह जो किसी विशेष कार्य या उद्देश्य से कहीं भेजा जाय । विशिष्ट कार्य के लिये भेजे हुए आदमी । (२) उद्देश्य । (३) वह संस्था, विशेषतः ईसाइयों की संस्था जो संघटित रूप से धर्म-प्रचार का उद्योग करती है । (४) ऐसी संस्था का केंद्र या कार्यालय आदि । (५) राजनीतिक उद्देश्य से भेजा हुआ दूत-मंडल ।

मिशनरी-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह ईसाई पादरी जो किसी मिशन का सदस्य होता है और अनेक स्थानों में ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिये जाता है । (२) ईसाइयों का कोई धर्म-पुरोहित । पादरी ।

मिशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जटामाँसी । (२) मधुरिका । सोआ । (३) सौंफ । (४) मेथी । (५) दाभ । बड़ी डाभी ।

मिश्र-वि० [सं०] (१) मिला या मिलाया हुआ । मिश्रित । संयुक्त । जैसे,—मिश्र धातु । (२) श्रेष्ठ । बड़ा । (३) जिसमें कई भिन्न भिन्न प्रकार की रक्तों (जैसे, रुपया, आना, पाई; मन, सेर, छटाँक) की संख्या हो । जैसे,—मिश्र भाग, मिश्र गुण । (गणित)

संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथियों की चार जातियों में से एक जाति । (२) सन्निपात । (३) रक्त । लहू । (४) मूली । (५) ज्योतिष के अनुसार उग्र आदि सात प्रकार के गणों में से अंतिम या सातवाँ गण जो कृत्तिका और विशाखा नक्षत्र के योग में होता है । (६) सूर्यपारीण कान्यकुब्ज और सारस्वत आदि ब्राह्मणों के एक वर्ग की एक उपाधि ।

मिश्रक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खारी नमक । (२) वैद्यक में एक प्रकार का वंग या राँगा जिसे खुरा राँगा भी कहते हैं । (३) देवताओं का उद्यान । नंदन वन । (४) एक तीर्थ का नाम । (५) जस्ता । (६) मूली ।

वि० (१) मिलानेवाला । मिश्रण करनेवाला । (२) मूलक ।

मिश्रकस्नेह-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का औषध जो त्रिफला, दशमूल और दंती की जड़ आदि से बनाई जाती है और जिसका व्यवहार गुल्म आदि रोगों में होता है । (वैद्यक)

मिश्रकेशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अप्सरा का नाम जो मेनका की सखी थी ।

मिश्रज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो दो भिन्न जातियों के मिश्रण से बना या उत्पन्न हुआ हो । (२) खच्चर ।

मिश्रजाति-वि० [सं०] जो दो जातियों के मिश्रण से उत्पन्न हुआ हो । वर्णसंकर । दोगला ।

मिश्रण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० मिश्रणीय, मिश्रित] (१) दो या

अधिक पदार्थों को एक में मिलाने की क्रिया । मेल ।
मिलावट । (२) जोड़ लगाने की क्रिया । जोड़ना । (गणित)
मिश्रणीय-वि० [सं०] जो मिश्रण करने योग्य हो । मिलाने योग्य ।

मिश्रता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मिश्रित होने का भाव । मिलने या मिलाने का भाव ।

मिश्रधान्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक में मिलाए हुए कई प्रकार के धान्य ।

मिश्रपुष्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेथी ।

मिश्रवन-संज्ञा पुं० [सं०] भंटा ।

मिश्रवर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काला भगर । (२) गन्ना । पौधा ।

मिश्रव्यवहार-संज्ञा पुं० [सं०] गणित की एक क्रिया ।

मिश्रशब्द-संज्ञा पुं० [सं०] खच्चर ।

मिश्रित-वि० [सं०] एक में मिलाया हुआ । मिश्रण किया हुआ ।

मिश्रिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मंदा आदि सात प्रकार की संक्रांतियों में से एक प्रकार की संक्रांति । वह सूर्य-संक्रमण जो कृत्तिका और विशाखा नक्षत्र के समय हो ।

मिश्री-संज्ञा पुं० [सं० मिश्रिन्] (१) मिलानेवाला । मिश्रण करनेवाला । (२) एक नाग का नाम ।

संज्ञा स्त्री० दे० "मिसरी" ।

मिश्रीकरण-संज्ञा पुं० [सं०] मिलाने की क्रिया । मिश्रण करना ।

मिश्रीतुत्थ-संज्ञा पुं० [सं०] खपरिया । खपर । संग बसरी ।

मिश्रेया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मधुरिका । मौरी । (२) एक प्रकार का साग । (३) शतपुष्पा । तालपर्ण ।

मिश्रोदन-संज्ञा पुं० [सं०] खिचड़ी ।

मिष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छल । कपट । (२) बहाना । हीला ।
मिस । (३) डूँघ्याँ । डाह । (४) स्पृष्टाँ । होड़ । (५) दर्शन ।
(६) सेचन । सींचना ।

मिषि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जटामाँसी । (२) सोभा । (३) सौँफ । (४) अजमोदा । (५) खस । उशीर ।

मिषिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सोभा । (२) सौँफ । (३) जटामाँसी । बालछड़ ।

मिषी-संज्ञा स्त्री० दे० "मिषि" ।

मिष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] मीठा रस ।

वि० (१) मीठा । मधुर । (२) सेंका, भूना या पकाया हुआ ।

मिष्टनिब-संज्ञा पुं० [सं०] मीठी नीम ।

मिष्टनिबु-संज्ञा पुं० [सं०] मीठा नीबू । जमीरी नीबू ।

मिष्टपाक-संज्ञा पुं० [सं०] मुरब्बा ।

मिष्टपाचक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बहुत अच्छा भोजन बनाता हो । जिसका बनाया भोजन बहुत स्वादिष्ट होता हो ।

३६६

मिष्टभाषी-संज्ञा पुं० [सं० मिष्टभाषिन्] वह जो मीठा बोलता हो । मधुरभाषी ।

मिष्टवाताद-संज्ञा पुं० [सं०] मीठा वादान ।

मिष्टान्न-संज्ञा पुं० [सं०] मिठाई ।

मिस-संज्ञा पुं० [सं० मिष] (१) बहाना । हीला । जैसे,—उन्होंने उपदेश के मिस ही उन्हें बहुत कुछ खरी खोटी कह सुनाई ।
(२) नकल । पाचंड । उ०—भाँड़ पुकारै पीर-बस, मिस समुझै सब कोय ।—बृंद ।

संज्ञा पुं० [फा०] ताँबा ।

यौ०—मिसगर = ताँवे का काम करनेवाला । तमेरा ।

संज्ञा स्त्री० [अ०] कुँआरी लड़की । कुमारी ।

मिसकीन-वि० [अ० मिसकीन] (१) जिसमें कुछ भी सामर्थ्य या बल न हो । बेचारा । दीन । (२) गरीब । निर्धन । (३) सीधा-सादा ।

मिसकीनता-संज्ञा स्त्री० [अ० मिसकीन + ता (सं० प्रत्य०)]
दीनता । गरीबी । नम्रता । उ०—एही दरबार है गरब तैं सरब हानि, लाभ जोग छेम को गरीबी मिसकीनता ।
—तुलसी ।

मिसकीनी-संज्ञा स्त्री० [अ०] मिसकीन होने का भाव । दीन या दरिद्र होने का भाव ।

मिसन-संज्ञा स्त्री० [हिं० मिसना = मिलना] ऐसी भूमि जिसकी मिट्टी में बालू भी मिला हुआ हो । बालू मिली हुई मिट्टी की जमीन ।

मिसना-क्रि० अ० [सं० मिश्रण] मिश्रित होना । मिलना ।
क्रि० अ० [हिं० मीसना का अक० रूप] मीजा या मला जाना । मीसा जाना ।

मिसर-संज्ञा पुं० दे० "मिस्र" ।

संज्ञा पुं० दे० "मिश्र" ।

मिसरा-संज्ञा पुं० [अ० मिसरअ] कविता, विशेषतः उर्दू या फ़ारसी आदि की कविता का एक चरण । पद ।

मुहा०—मिसरा लगाना = किसी एक मिसरे में अपनी ओर से रचना करके दूसरा मिसरा जोड़ना ।

यौ०—मिसरा तरह ।

मिसरा तरह-संज्ञा पुं० [अ० मिसरा + फा० तरह] वह दिया हुआ मिसरा जिसके आधार पर उसी तरह की गज़ल कही जाती है । पूर्ति के लिये दी हुई (उर्दू या फ़ारसी कविता की) समस्या ।

मिसरी-संज्ञा स्त्री० [मिश्र देश से] (१) मिश्र देश का निवासी । (२) मिश्र देश की भाषा । (३) दोबारा बहुत साफ़ करके जमाई हुई दानेदार या रवेदार चीनी जो प्रायः कूजे या कतरे के रूप में बाजारों में बिकती है । यह वैद्यक में क्षिप्र, धातुवर्धक, मुखप्रिय, बलकारक, दस्तावर, हलकी, तृप्तिकारी,

सब प्रकार के रोगों को शांत करनेवाली और रक्तपित्त को नष्ट करनेवाली मानी गई है।

मुहा०—मिसरी की ढली = बहुत ही मीठा या मधुर पदार्थ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की शहद की मक्खी।

मिसरोटी—संज्ञा स्त्री० [हि० मिस्ता + रोटी] (१) मिस्से आटे की बनी हुई रोटी। वि० दे० “मिस्ता”। (२) कंठे आदि पर सँककर बनाई हुई बाटी। अँगकड़ी।

मिसल—संज्ञा स्त्री० [अ० मिसल] सिक्कों के वे अनेक समूह जो अलग अलग नायकों की अधीनता में स्वतंत्र हो गए थे। (गुरु नानक के बंदा नामक शिष्य की देखा-देखी और भी अनेक सिक्ख सरदारों ने अपने अपने समूह स्थापित कर लिए थे, जिन्हें वे मिसल कहते थे। जैसे,—भंगियों की मिसल, रामगढ़िया मिसल, अहलूवालिया मिसल आदि।

मिसाल—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) उपमा। (२) जैसे,—लोग आँखों की मिसाल बादाम से देते हैं। (३) उदाहरण। नमूना। नज़ीर। जैसे,—यों ही कहने से काम न चलेगा; कोई मिसाल भी दीजिए।

क्रि० प्र०—देना।

(३) कहावत। लोकोक्ति। मसल।

मिसि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जटामाँसी। बालछड़। (२) सौंफ।

(३) सोआ। (४) अजमोदा। (५) खस।

मिसिरी—संज्ञा स्त्री० दे० “मिसरी”।

मिसिल—वि० [अ०] समान। तुल्य। बराबर। दे० “मिस्त”।

संज्ञा स्त्री० (१) किसी एक मुकदमे या विषय से संबंध रखनेवाले कुल कागज़-पत्रों आदि का समूह। (२) किसी पुस्तक के अलग अलग छपे फार्म जो सिलाई आदि के काम के लिये क्रम से लगाकर रखे गए हों।

मुहा०—मिसिल उठाना = पुस्तक के अलग अलग फार्मों को सीने के लिये पहले एक क्रम से लगाना। (दफ्तरी)

मिसिली—वि० [हि० मिसिल + ई (प्रत्य०)] (१) जिसके संबंध में अदालत में कोई मिसिल बन चुकी हो। (२) जिसे न्यायालय से दंड मिल चुका हो। सज़ायाफ्ता।

मुहा०—मिसिली चोर या बदमाश = बहुत बड़ा चोर या बदमाश जिसके अपराध अदालत की मिसिलों तक से प्रमाणित होते हों।

मिसी—संज्ञा स्त्री० दे० (१) “मिसी”। (२) दे० “मिसि”।

मिसीन—संज्ञा स्त्री० दे० “मशीन”।

मिस्कला—संज्ञा पुं० [अ०] सिकली करनेवालों का वह औज़ार जिसकी सहायता से वे सिकली करते हैं।

मिस्कीन—संज्ञा पुं० [अ०] (१) दीन। बेचारा। (२) दरिद्र। गरीब। (३) भूखा-नंगा। कंगाल। (४) सीधा-सादा। सुशील।

यौ०—मिस्कीन सूरत।

मिस्कीन सूरत—वि० [अ० मिस्कीन + का० सूरत] जो देखने में सीधा-सादा या दीन, पर वास्तव में दुष्ट या पाजी हो।

मिस्कीनी—संज्ञा स्त्री० [अ० मिस्कीन + ई (प्रत्य०)] (१) दीनता। (२) गरीबी। (३) सुशीलता।

मिस्कोट—संज्ञा पुं० [अ० मेस = भोज] (१) भोजन। खाना। (२) एक साथ बैठकर खाने पीनेवालों का समूह। (३) गुप्त परामर्श।

मिस्टर—संज्ञा पुं० [अ०] महाशय। महोदय।

विशेष—इस शब्द का व्यवहार प्रायः अँगरेजों में अथवा अँगरेजी ढंग से रहनेवाले लोगों के नाम के साथ होता है।

जैसे,—मिस्टर जॉन, मिस्टर गुप्त।

मिस्टर—संज्ञा पुं० [हि० मिस्त्री ?] (१) काठ का वह औज़ार जिससे राज लोग छत या पल्लस्तर आदि पीटते हैं। पीटना। (२) वह कल जिससे नील की टिकियाँ बनाई जाती हैं।

संज्ञा पुं० [अ०] दफ्ती का वह बड़ा टुकड़ा जिस पर समानांतर पर डोरे लपेट या सी लेते हैं और जो लिखने के समय लकीरें सीधी रखने के लिये लिखे जानेवाले कागज़ के नीचे रख लिया जाता है, अथवा जिस पर रखकर कागज़ दबा लिया जाता है।

संज्ञा पुं० दे० “मेहतर”।

मिस्तरी—संज्ञा पुं० [अ० मास्टर = उस्ताद] वह जो हाथ का बहुत अच्छा कारीगर हो। चतुर शिल्पकार।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग बहुधा लोहारों, बढ़इयों, राज-गीरों और कल-पेंच आदि का काम करनेवालों के लिये ही होता है।

मिस्त्रीखाना—संज्ञा पुं० [हि० मिस्त्री + का० खाना] वह स्थान जहाँ लोहार, बढ़ई या कल-पेंच का काम जाननेवाले बैठकर काम करते हैं।

मिस्ता—संज्ञा पुं० [देश०] (१) वह मैदान जिसमें किसी प्रकार की हरियाली न हो। बंजर। (२) अनाज ढ़ाने के लिये तैयार की हुई सम भूमि।

मिस्र—संज्ञा पुं० [अ० = नगर] एक प्रसिद्ध देश जो अफ्रिका के उत्तर-पूर्वी भाग में समुद्र के तट पर है और जो बहुत प्राचीन काल में अपनी सभ्यता और उन्नति के लिये बहुत विख्यात था। इसके उत्तर में भूमध्य सागर, पूर्व में स्वेज की खाड़ी और पश्चिम में सहारा का रेगिस्तान है। दक्षिण में यह नील नदी के उद्गम तक चला गया है। नील नदी में प्रति वर्ष बहुत बड़ी बाढ़ आती है जिसके कारण उसके आस-पास का प्रदेश बहुत अधिक उपजाऊ है। इसके अंतर्गत चौदह प्रांत हैं। इसका राजनगर काहिरा है और इसका सब से बड़ा बंदरगाह अस्कंदरिया है। इधर बहुत दिनों से यह देश तुर्की के अधीन था और वहीं का राजप्रतिनिधि इसका

शासन करता था; पर अब इसे अंगरेजों ने अपने संरक्षण में ले लिया है। इस देश के विशुद्ध प्राचीन निवासी अब नहीं रह गए हैं और उनकी वर्ण-संकर संतान बची है, जिसका धर्म प्रायः इस्लाम और भाषा अरबी से उत्पन्न है। किसी समय में इस देश के निवासी उन्नति और सभ्यता के बहुत ही उच्च शिखर पर पहुँच गए थे; और यह देश रोम, भारत तथा चीन आदि का समकक्ष माना जाता है; पर अब इसका बहुत कुछ पतन हो गया है। कहते हैं कि नूह के पुत्र मिश्र ने अपने नाम पर एक नगर बसाया था, जिसके नाम पर इस देश का यह नाम पड़ा। बड़े बड़े भवनों और इमारतों के जितने प्राचीन खँडहर इस देश में मिलते हैं, उतने और कहीं नहीं पाए जाते।

मिस्त्रा-संज्ञा पुं० दे० “मिसरा”।

मिस्त्री-संज्ञा स्त्री० दे० “मिसरी”।

मिस्ल-वि० [अ०] समान। तुल्य। बराबर। जैसे,—यह बड़ा मिस्ल तीर के जाता है।

मिस्सा-संज्ञा पुं० [हि० मिसना = मिलना या मीसना = मलना] (१) मूँग, मोठ आदि का भूसा जो भेड़ों और ऊँटों के लिये बहुत अच्छा समझा जाता है। (२) कई तरह की दालों आदि को पीसकर तैयार किया हुआ आटा जिसकी रोटी गरीब लोग बनाकर खाया करते हैं।

यौ०—मिस्सा कुस्सा = बहुत ही मोटा अनाज या उसका बना खाद्य-पदार्थ।

मिस्सी-संज्ञा स्त्री० [फा० मिसी = ताँबे का] (१) एक प्रकार का प्रसिद्ध मंजन जो माजूफल, लोहचून और तूतिप आदि से तैयार किया जाता है और जिसे प्रायः सधवा खियों दाँतों में लगाती हैं। इससे दाँत काले हो जाते और सुंदर जान पड़ते हैं।

क्रि० प्र०—मलना।—लगाना।

मुहा०—मिस्सी काजल करना = खियों का बनाव-सिगार करना। मिस्सी और काजल आदि लगाना।

(२) किसी बेव्या का पहले पहल किसी पुरुष से समागम होना, जिसके उपलक्ष्य में प्रायः कुछ गाना बजाना और जलसा भी होता है। सिर-ढकाई। (मुसलमान बेव्या)

मिह-संज्ञा पुं० [सं०] बरसता हुआ बादल। मेह।

मिहतर-संज्ञा पुं० दे० “मेहतर”।

मिहदार-संज्ञा पुं० [फा० मिह = मिहनत + दार (प्रत्य०)] वह मजदूर जिसे नक़द मजदूरी दी जाती हो, अन्न आदि के रूप में न दी जाती हो। (रूहेल०)

मिहनत-संज्ञा स्त्री० दे० “मेहनत”।

मिहनताना-संज्ञा पुं० दे० “मेहनताना”।

मिहनती-वि० दे० “मेहनती”।

मिहना-संज्ञा पुं० दे० “मेहना”।

मिहमान-संज्ञा पुं० दे० “मेहमान”।

मिहमानदारी-संज्ञा स्त्री० दे० “मेहमानदारी”।

मिहमानी-संज्ञा स्त्री० दे० “मेहमानी”।

मिहर-संज्ञा स्त्री० दे० “मेहर”।

मिहरवान-संज्ञा पुं० दे० “मेहरवान”।

मिहरवानी-संज्ञा स्त्री० दे० “मेहरवानी”।

मिहरा-संज्ञा पुं० (१) दे० “मेहरा”। (२) दे० “महरा”।

मिहराब-संज्ञा स्त्री० दे० “मेहराब”।

मिहरारू-संज्ञा स्त्री० दे० “मेहरारू”।

मिहानी-संज्ञा स्त्री० दे० “मथानी”।

मिहिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आसमान से पड़नेवाला बरफ।

पाला। (२) ओस। (३) कपूर।

मिहिर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य। (२) आक का पौधा।

(३) ताँवा। (४) बादल। (५) हवा। (६) चंद्रमा। (७)

राजा। (८) दे० “बराहमिहिर”।

वि० वृद्ध। बुढ़ा।

मिहिरकुल-संज्ञा पुं० [फा० महगुल का सं० रूप] शाकल प्रदेश के प्रसिद्ध हूण राजा तौरमाण (तुरमान शाह) के पुत्र का नाम जिसने गुप्त सम्राटों पर विजय प्राप्त करके मध्य भारत तक अधिकार जमाया था। यह बौद्धों का बहुत बड़ा शत्रु था। एक बार मगध के राजा बालादित्य ने इसे पकड़ लिया था; पर फिर अपनी माता के कहने से छोड़ दिया था। इसने कुछ दिनों तक काश्मीर पर भी शासन किया था। यह ईसवी छठी शताब्दी के मध्य में हुआ था।

मिहिराण-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

मिही-संज्ञा स्त्री० [देश०] मध्य प्रदेश में होनेवाली एक प्रकार की अरहर जिसके दाने कुछ बड़े होते हैं और जो कुछ देर में तैयार होती है।

मिहीन-वि० दे० “महीन”।

मींगनी-संज्ञा स्त्री० दे० “मिंगनी”।

मींगी-संज्ञा स्त्री० [सं० मुद्ग = दाल] बीज के अंदर का गूदा। गिरी।

मींजना-क्रि० सं० [हि० मींजना] (१) हाथों से मलना। मसलना। जैसे,—छाती मींजना, हाथ मींजना। (२) मर्दन करना। दलना।

मींड़-संज्ञा स्त्री० [सं० मीड़म्] संगीत में एक स्वर से दूसरे स्वर पर जाते समय मध्य का अंश इस सुंदरता से कहना जिसमें दोनों स्वरों के बीच का संबंध स्पष्ट हो जाय; और यह न जान पड़े कि गानेवाला एक स्वर से कूदकर दूसरे स्वर पर चला आया है। जैसे,—‘सा’ का उच्चारण करने के उप-

रांत 'रि' का उच्चारण करते समय पहले कोमल रिपम का उच्चारण करना। गमक।

विशेष—मीड की आवश्यकता किसी स्वर से केवल उसके दूसरे परवर्ती स्वर पर ही जाने में नहीं पड़ती, बल्कि किसी एक स्वर से किसी दूसरे स्वर पर जाने अथवा उतरने में भी पड़ती है। अर्थात् आरोहण और अवरोहण दोनों में उसके लिये स्थान है। जैसे,—सा के उपरांत म का अथवा नि के उपरांत ग का उच्चारण करने में भी मीड का प्रयोग हो सकता और होता है। स्वरों की मूर्च्छनाओं का उच्चारण मीड की सहायता से ही होता है। देशी बाजों में से बीन, रबाब, सरोद, सितार, सारंगी आदि में मीड बहुत अच्छी तरह निकाली जाती है; पर पियानो और हारमोनियम आदि अँगरेजी टंग के बाजों में यह किसी प्रकार निकल ही नहीं सकती। विद्वानों का यह भी मत है कि मीड निकालने के लिये स्त्रियों के कंठ की अपेक्षा पुरुषों का कंठ बहुत अधिक उपयुक्त होता है; और इसका कारण यह है कि पुरुषों की स्वर-नालिका स्त्रियों की स्वर-नालिका की अपेक्षा अधिक लंबी होती है।

मीडना—क्रि० स० [हि० मीडना] हाथों से मलना। मसलना। जैसे,—आटा मीडना।

मीड़ासींगी—संज्ञा स्त्री० दे० “मैंदासींगी”।

मीआद—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) किसी कार्य की समाप्ति आदि के लिये नियत समय। अवधि।

क्रि० प्र०—गुजरना।—बढ़ना।—बढ़ाना।—बीतना।

(२) कारागार के दंड का काल। कैद की अवधि।

मुहा०—मीआद काटना—कारागार का दंड भोगना। सजा भुगतना। मीआद बोलना = कारागार-वास का दंड देना। कैद को सजा देना।

मीआदी—वि० [हि० मीआद + ई (प्रत्य०)] (१) जिसके लिये कोई समय या अवधि नियत हो। जैसे,—मीआदी हुंडी। (२) जो कारागार में रह चुका हो। जो जेलखाने में रह कर सजा भुगत चुका हो। जैसे,—मीआदी चोर।

मीआदी हुंडी—संज्ञा स्त्री० [हि० मीआदी + हुंडी] वह हुंडी जिसका रुपया तुरंत न देना पड़े, बल्कि एक नियत समय या अवधि पर देना पड़े। वह हुंडी जो मित्ती पूजने पर भुगतवाई जाय।

मीचना—क्रि० स० [सं० मिष = झपकना या मिच्छ = रोकना] (आँखें) बंद करना। मूँदना।

मिचु *†—संज्ञा स्त्री० [सं० मृचु, प्रा० मिचु] मृत्यु। मौत।

मीजा†—संज्ञा स्त्री० [अ० मिजाज] (१) अनुकूलता। (२) स्वभाव।

मुहा०—मीजा पटना या मिलना = दो व्यक्तियों का परस्पर मेल जोल होना। स्वभाव मिलने के कारण मेल होना।

(३) सम्मति। राय।

क्रि० प्र०—लेना।

मीजान—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) तुला। तराजू। (२) तुला राशि।

(३) कुल संख्याओं का योग। जोड़। (गणित)

क्रि० प्र०—देना।—लगाना।

(४) दे० “मीजा”।

मीटना†—क्रि० अ० दे० “मीचना”।

मीटिंग—संज्ञा स्त्री० [अ०] परामर्श आदि के लिये एक स्थान पर बहुत से लोगों का जमावड़ा। अधिवेशन। सभा।

मीठा—वि० [सं० मिष्ट, प्रा० मिट्] [स्त्री० मीठी] (१) जो स्वाद में मधुर और प्रिय हो। चीनी या शहद आदि के स्वाद-वाला। ‘खट्टा’ या ‘नमकीन’ का उलटा। मधुर। जैसे,—(क) जितना गुड़ डालोगे, उतना मीठा होगा। (ख) यह आम बहुत मीठा है।

मुहा०—मीठा होना = किसी प्रकार के लाम या आनंद आदि की प्राप्ति होना। अपने पक्ष में कुछ भलाई होना। जैसे,—हमें ऐसा क्या मीठा है, जो हम नित्य दौड़ दौड़कर तुम्हारे पास आया करें।

(२) जिसका स्वाद बहुत अच्छा हो। स्वादिष्ट। जायकेदार। जैसे,—मीठा मीठा हूप, कडुआ कडुआ थू। (३) धीमा। सुस्त। जैसे,—यह घोड़ा कुछ मीठा चलता है। (४) जो बहुत अच्छा न हो। साधारण या मध्यम श्रेणी का। मामूली। (५) जो तीव्र या अधिक न हो। हलका। मद्धिम। मंद। जैसे,—आज सबेरे से पेट में मीठा मीठा दर्द हो रहा है। (६) जिसमें पुंसत्व न हो, या कम हो। नामर्द। नपुंसक। (७) जो गुदा-भंजन कराता हो। औंधा। (८) जो बहुत अधिक सुशील हो। किसी का कुछ भी अनिष्ट न करनेवाला। बहुत अधिक सीधा। जैसे,—इतने मीठे न बनो कि कोई चट कर जाय। (९) प्रिय। रुचिकर। जैसे,—मीठे वचन, मीठी बात। उ०—वह चाहता है कि हम सब से मीठे बने रहें।

संज्ञा पुं० (१) मीठा खाद्य पदार्थ। मिठाई। (२) गुड़। (३) हलुआ। (४) एक प्रकार का कपड़ा जो प्रायः मुसलमान लोग पहनते हैं और जिसे शीरीवाफ़ भी कहते हैं। (५) मीठा तेलिया या बछनाग नामक विष। (६) मीठा नीबू।

मीठा अमृतफल—संज्ञा पुं० [हि० मीठा + अमृतफल] मीठा चकोतरा।

मीठा आलू—संज्ञा पुं० [हि० मीठा + आलू] शकरकंद।

मीठा इंद्रजौ—संज्ञा पुं० [हि० मीठा + इंद्रजौ] कृष्ण कुटज। काली कुड़ा।

मीठा कद्दू—संज्ञा पुं० [हि० मीठा + कद्दू] कुम्हड़ा।

मीठा गोखरू—संज्ञा पुं० [हि० मीठा + गोखरू] छोटा गोखरू।

मीठा चावल-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + चावल] वह चावल जो चीनी या गुड़ के शरबत में पकाया गया हो।

मीठा जहर-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + अ० जहर] वत्सनाभ। बछनाग विष।

मीठा जीरा-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + जीरा] (१) काला जीरा। (२) सौंफ।

मीठा ठग-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + ठग] झूठा और कपटी मित्र। जो ऊपर से मिला रहे, पर धोखा दे।

मीठा तेल-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + तेल] (१) तिल का तेल। (२) पोस्त के दाने या खस-खस का तेल।

मीठा तेलिया-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + तेलिया] बछनाग। वत्सनाभ विष।

मीठा नीबू-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + नीबू] जमीरी नीबू। चकोतरा।

मीठा नीम-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + नीम] एकप्रकार का छोटा वृक्ष जो प्रायः सारे भारत में पाया और कहीं कहीं लगाया जाता है। इसमें से एक प्रकार की मीठी गंध निकलती है। इसकी छाल पतली और खाकी रंग की होती है और पत्ते वक्राकृत या नीम के पत्तों के समान होते हैं। फल भी नीम के फल के ही समान होते हैं जो कच्चे रहने पर हरे, और पकने पर काले हो जाते हैं। इनमें दो बीज रहते हैं। चैत-वैसाख में इसके गुच्छों में छोटे छोटे फूल लगते हैं। इसकी जड़, छाल और पत्तियाँ औषध के रूप में काम आती हैं। वैद्यक में इसे चरपरा, कड़ुआ, कसैला और दाह, बवासीर, शूल आदि का नाशक माना है।

मीठा पानी-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + पानी] नीबू का अँगरेजी सत मिला हुआ पानी जो बाजारों में बंद बोतलों में मिलता है। लेमनेड।

मीठा पोइया-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + पोइया] घोड़े की वह चाल जो न बहुत तेज हो और न बहुत धीमी।

मीठा प्रमेह-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + सं० प्रमेह] मधुमेह।

मीठा बरस-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + बरस] स्त्रियों की अवस्था का अठारहवाँ और कुछ लोगों के विचार से तेरहवाँ बरस जो उनके लिये कठिन समझा जाता है। मीठा साल।

मीठा भात-संज्ञा पुं० दे० "मीठा चावल"।

मीठा विष-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + सं० विष] वत्सनाभ। बछनाग।

मीठा साल-संज्ञा पुं० दे० "मीठा बरस"।

मीठी खरखोड़ी-संज्ञा स्त्री० [हि० मीठी + खरखोड़ी] पीली जीवन्ती। स्वर्ण जीवन्ती।

मीठी छुरी-संज्ञा स्त्री० [हि० मीठी + छुरी] (१) वह जो देखने में मित्र पर वास्तव में शत्रु हो। विश्वासघातक। (२) वह जो देखने में सीधा पर वास्तव में दुष्ट हो। कपटी। कुटिल।

मीठी तूँबी-संज्ञा स्त्री० [हि० मीठी + तूँबी] कदू।

मीठी दियार-संज्ञा स्त्री० [हि० मीठा + दियार] महापील वृक्ष।

मीठी मार-संज्ञा स्त्री० [हि० मीठी + मार] ऐसी मार जिसकी चोट अंदर हो और जिसका ऊपर से कोई चिह्न न दिखाई दे। भीतरी मार।

मीठी लकड़ी-संज्ञा स्त्री० [हि० मीठी + लकड़ी] मुलेठी।

मीढ़-वि० [सं०] (१) पेशाब किया हुआ। मूत्र के मार्ग से निकला या निकाला हुआ। (२) मूत्र के समान। मूत्र का सा।

मीदुष-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र के पुत्र का नाम।

वि० दयार्द्र। रहमदिल।

मीदुष्टम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। महादेव। (२) सूर्य। (३) चोर।

मीन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मछली। (२) मेष आदि राशियों में से अंतिम या बारहवीं राशि। इस राशि में पूर्वभाद्रपद नक्षत्र का अंतिम पद, और उत्तर भाद्रपद तथा रेवती नक्षत्र हैं। इस राशि की अधिष्ठात्री देवियाँ दो मछलियाँ हैं और यह चरण-रहित, कफ-प्रकृति, जलचारी, निःशब्द, पिंगल वर्ण, स्निग्ध, बहुत संतानवाली और ब्राह्मण वर्ण की मानी गई है। कहते हैं कि इस राशि में जो जन्म लेता है, वह क्रोधी, तेज चलनेवाला, अपवित्र और अनेक विवाह करनेवाला होता है।

पर्य्या—कीट। जलज। सौम्य। अंगन। युग्म। सय।

भक्ष्य। गुरुक्षेत्र। दिनात्मक।

(३) मेष आदि बारह लग्नों में से अंतिम लग्न। फलित ज्योतिष के अनुसार इस लग्न में जन्म लेनेवाला कार्यरक्ष, अल्पभोजी, स्त्री का बहुत कम साथ करनेवाला, चंचल, अनेक प्रकार की बातें करनेवाला, धूर्त, तेजस्वी, बलवान्, विद्वान्, धनवान्, चर्मरोगी, विकृतमुख, पराक्रमी, पवित्रता-पूर्वक और शास्त्रानुकूल आचार आदि से रहनेवाला, विनीत, संगीतप्रेमी, कन्या-संततिवाला, कीर्त्तिशाली, विश्वासी और धीर होता है और इसकी मृत्यु मूत्रकृच्छ्र, गुह्य रोग या उपवास आदि से होती है।

मीनक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का नयनांजन। एक तरह का सुरमा।

मीनकाच-संज्ञा पुं० [सं०] सफेद कनेर।

मीनकेतन-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

मीनगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मत्स्यगंधा या सत्यवती का एक नाम।

मीनगोधिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] जलाशय, तलाव या स्त्रीक आदि।

मीनघाती-संज्ञा पुं० [सं० मीनघाति] बगला।

वि० मछली मारनेवाला।

मीननाथ-संज्ञा पुं० [सं०] गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का एक नाम। मछंदरनाथ।

मीननेत्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गाढ़ दृष्टि ।

मीनपित्त-संज्ञा पुं० [सं०] कुटकी नामक ओषधि ।

मीनरंक-संज्ञा पुं० [सं०] जलकौआ । मुरगाबी ।

मीनरंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मछरंग नामक पक्षी जो मछली खाता है । (२) जलकौआ ।

मीनर-संज्ञा पुं० [सं०] शाखोट वृक्ष । सहोरा ।

मीनांडी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की शकर ।

मीना-संज्ञा स्त्री० [सं०] ऊषा की कन्या का नाम जिसका विवाह कश्यप से हुआ था ।

संज्ञा पुं० [देश०] राजपूताने की एक प्रसिद्ध योद्धा जाति । इस जाति के लोग बहुत वीर होते हैं और युद्ध में इनकी बहुत प्रवृत्ति होती है । किसी समय ये बहुत बल-शाली थे और प्रायः लूटमार करके अपना निर्वाह करते थे । महाराणा प्रताप को अपने युद्धों में इनसे बहुत सहायता मिली थी ।

संज्ञा पुं० [फा०] (१) रंग बिरंगा शीशा । (२) एक प्रकार का नीले रंग का कीमती पत्थर । (३) कीमिया । (४) सोने, चाँदी आदि पर किया जानेवाला रंग बिरंग का काम ।

यौ०—मीनाकारी ।

(५) शराब रखने का कंटर या सुराही ।

मीनाकार-संज्ञा पुं० [फा०] वह जो चाँदी या सोने आदि पर रंगीन काम बनाता हो । मीना करनेवाला ।

मीनाकारी-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) सोने या चाँदी पर होनेवाला रंगीन काम । (२) किसी काम में निकाली या की हुई बहुत बड़ी बारीकी ।

मुहा०—मीनाकारी छाँटना = व्यर्थ का छिद्रान्वेषण करना । निरर्थक दोष निकालना । बाल की खाल निकालना ।

मीनाक्ष-वि० [सं०] मछली के समान सुंदर आँखोंवाला ।

संज्ञा पुं० [सं०] एक राक्षस का नाम ।

मीनाक्षी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुबेर की कन्या का नाम । (२) गाढ़ दृष्टि । (३) ब्राह्मी वृद्धि । (४) शकर । चीनी ।

मीनाक्षीण-संज्ञा पुं० [सं०] खंजरीट पक्षी । ममोला । खंजन ।

मीनार-संज्ञा स्त्री० [अ० मनार] (१) ईंट, पत्थर आदि की वह चुनाई जो प्रायः गोलाकार चलती है और ऊपर की ओर बहुत अधिक ऊँचाई तक चली जाती है । यह प्रायः किसी प्रकार की स्मृति के रूप में तैयार की जाती है । स्तंभ । लाठ । (२) मसजिदों आदि के कोनों पर बहुत ऊँची उठी हुई इसी प्रकार की गोल इमारत जो खंभे के रूप में होती है ।

मीनारा-संज्ञा पुं० दे० “मीनार” ।

मीनालय-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र ।

मीमांसक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो किसी बात की मीमांसा करता हो । (२) वह जो मीमांसा शास्त्र का ज्ञाता हो ।

मीमांसा का पंडित । (३) पूर्व मीमांसा के सूत्रकार जैमिनि ऋषि । (४) कुमारिल भट्ट का एक नाम । (५) भाष्यकार शबरस्वामी का एक नाम । (६) रामानुज का एक नाम । (७) माधवाचार्य का एक नाम ।

मीमांसन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० मीमांसित] किसी प्रश्न की मीमांसा या निर्णय करने का काम ।

मीमांसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी तत्त्व का विचार, निर्णय या विवेचन । अनुमान, तर्क आदि द्वारा यह स्थिर करना कि कोई बात कैसी है । (२) हिंदुओं के छः दर्शनों में से दो दर्शन जो पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा कहलाते हैं । (साधारणतः ‘मीमांसा’ शब्द से पूर्व मीमांसा का ही ग्रहण होता है; उत्तर मीमांसा ‘वेदांत’ के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है ।) (३) जैमिनि कृत दर्शन जिसे पूर्व मीमांसा कहते हैं और जिसमें वेद के यज्ञ-परक वचनों की व्याख्या बड़े विचार के साथ की गई है ।

विशेष—सूत्र जैमिनि के हैं और भाष्य शबर स्वामी का है । मीमांसा पर कुमारिल भट्ट के ‘कातंत्रवार्त्तिक’ और ‘श्लोकवार्त्तिक’ भी प्रसिद्ध हैं । माधवाचार्य ने भी “जैमिनीय न्यायमाला विस्तार” नामक एक भाष्य रचा है । मीमांसा शास्त्र में यज्ञों का विस्तृत विवेचन है, इससे इसे ‘यज्ञविद्या’ भी कहते हैं । बारह अध्यायों में विभक्त होने के कारण यह मीमांसा ‘द्वादशलक्षणी’ भी कहलाती है ।

न्यायमाला-विस्तार में माधवाचार्य ने मीमांसा-सूत्रों के विषय को संक्षेप में इस प्रकार बतलाया है—पहले अध्याय में विधि, अर्थवाद, मंत्र, स्मृति और नामधेय की प्रमाणता का विचार है; दूसरे में अपूर्व कर्म और उसके फल का प्रतिपादन तथा विधि और निषेध की प्रक्रिया है; तीसरे में श्रुतिलिङ्ग वाक्यादि की प्रमाणता और अप्रमाणता कही गई है; चौथे में नित्य और नैमित्तिक यज्ञों का विचार है; पाँचवें में यज्ञों और श्रुति-वाक्यों के पूर्वापर संबंध पर विचार किया गया है; छठे में यज्ञों के करने और करानेवालों के अधिकार का निर्णय है; सातवें और आठवें में एक यज्ञ की विधि को दूसरे यज्ञ में करने का वर्णन है; नवें में मंत्रों के प्रयोग का विचार है; दसवें में यज्ञों में कुछ कर्मों के करने या न करने से होनेवाले दोष का वर्णन है; ग्यारहवें में तंत्रों का विचार है; और बारहवें में प्रसंग का तथा कोई इच्छा पूर्ण करने के हेतु यज्ञों के करने का विवेचन है । इसी बारहवें अध्याय में शब्द के नित्यानित्य होने के संबंध में भी सूक्ष्म विचार करके शब्द की नित्यता प्रतिपादित की गई है । मीमांसा में प्रत्येक अधिकरण के पाँच भाग हैं—विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और सिद्धांत । अतः

सूत्रों के समझने के लिये यह जानना आवश्यक होता है कि कोई सूत्र इन पाँचों में से किसका प्रतिपादक है।

इस शास्त्र में वाक्य, प्रकरण, प्रसंग या ग्रंथ का तात्पर्य निकालने के बहुत सूक्ष्म नियम और युक्तियाँ दी गई हैं। मीमांसकों का यह श्लोक सामान्यतः तात्पर्य-निर्णय के लिये प्रसिद्ध है—

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।

अर्थवादोपपत्ती च लिङ्ग-तात्पर्य-निर्णये ॥

अर्थात् किसी ग्रंथ या प्रकरण के तात्पर्य-निर्णय के लिये सात बातों पर ध्यान देना चाहिए—उपक्रम (आरंभ), उपसंहार (अंत), अभ्यास (बार बार कथन), अपूर्वता (नवीनता), फल (ग्रंथ का परिणाम या लाभ जो बताया गया हो), अर्थवाद (किसी बात को जी में जमाने के लिये दृष्टांत, उपमा, गुण-कथन आदि के रूप में जो कुछ कहा जाय और जो मुख्य बात के रूप में न हो) और उपपत्ति (साधक प्रमाणों द्वारा सिद्धि)। मीमांसक ऐसे ही नियमों के द्वारा वेद के वचनों का तात्पर्य निकालते हैं। शब्दार्थों का निर्णय भी विचारपूर्वक किया गया है। जैसे, यज्ञ के लिये जहाँ 'सहस्र-संवत्सर' हो, वहाँ 'संवत्सर' का अर्थ दिवस लेना चाहिए। इत्यादि।

मीमांसा शास्त्र कर्मकांड का प्रतिपादक है; अतः मीमांसक पौरुषेय, अपौरुषेय सभी वाक्यों को कार्य-परक मानते हैं। वे कहते हैं कि प्रत्येक वाक्य किसी व्यापार या कर्म का बोधक होता है, जिसका कोई फल होता है। अतः वे किसी बात के संबंध में यह निर्णय करना बहुत आवश्यक मानते हैं कि वह 'विधि वाक्य' (प्रधान कर्मसूचक) है अथवा केवल अर्थवाद (गौण कथन, जो केवल किसी दूसरी बात को जी में बैठाने, उसके प्रति उत्तेजना उत्पन्न करने आदि के लिये हो)। जैसे,—“रणक्षेत्र में जाओ; वहाँ स्वर्ग रखा है।” इस वाक्य में दो खंड हैं—“रणक्षेत्र में जाओ” यह तो 'विधि वाक्य' या मुख्य कथन है; और “वहाँ स्वर्ग रखा है” यह केवल 'अर्थवाद' या गौण बात है।

मीमांसा का तत्त्व-सिद्धांत विलक्षण है। इसकी गणना अनीश्वरवादी दर्शनों में है। आत्मा, ब्रह्म, जगत् आदि का विवेचन इसमें नहीं है। यह केवल वेद या उसके शब्द की नित्यता का ही प्रतिपादन करता है। इसके अनुसार मंत्र ही सब कुछ हैं। वे ही देवता हैं; देवताओं की अलग कोई सत्ता नहीं। 'भट्टदीपिका' में स्पष्ट कहा है 'शब्द मात्रं देवता'। मीमांसकों का तर्क यह है कि सब कर्म फल के उद्देश्य से होते हैं। फल की प्राप्ति कर्म द्वारा ही होती है। अतः वे कहते हैं कि कर्म और उनके प्रशिपादक वचनों के अतिरिक्त ऊपर से और किसी देवता या ईश्वर को मानने की क्या

आवश्यकता है। मीमांसकों और नैयायिकों में बड़ा भारी भेद यह है कि मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं और नैयायिक अनित्य। सांख्य और मीमांसा दोनों अनीश्वरवादी हैं; पर वेद की प्रामाणिकता दोनों मानते हैं। भेद इतना ही है कि सांख्य प्रत्येक कल्प में वेद का नवीन प्रकाशन मानता है और मीमांसक उसे नित्य अर्थात् कल्पांत में भी नष्ट न होने वाला कहते हैं।

इस शास्त्र का 'पूर्वमीमांसा' नाम इस अभिप्राय से नहीं रखा गया है कि यह उत्तर मीमांसा से पहले बना। 'पूर्व' कहने का तात्पर्य यह है कि 'कर्मकांड' मनुष्य का प्रथम धर्म है; ज्ञान-कांड का अधिकार उसके उपरांत आता है।

मीमांसित-वि० [सं०] जिसकी मीमांसा की जा चुकी हो। जो विचारपूर्वक स्थिर किया जा चुका हो।

मीमांस्य-वि० [सं०] (१) जो मीमांसा करने के योग्य हो। (२) जिसकी मीमांसा करनी हो।

मीर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समुद्र। (२) पर्वत का एक भाग। (३) सीमा। हृद। (४) जल।

संज्ञा पुं० [फा०] (१) सरदार। प्रधान। नेता। (२) धार्मिक आचार्य। (३) सैन्य जाति की उपाधि। जैसे,—मीर सुलतानअली। (४) किसी बड़े सरदार या रईस का पुत्र। (५) ताश या गंजीके में का सब से बड़ा पत्ता। (६) वह जो खेल में औरों से पहले जीतकर या अपना दाँव खेल कर अलग हो गया हो। (लड्डके) (७) वह जो सब से पहले कोई काम विशेषतः प्रतियोगिता का काम कर डाले। किसी काम में लगे हुए कई आदमियों में से वह जो सब से पहले काम कर ले।

मीर अर्ज-संज्ञा पुं० [फा० मीर + अ० अर्ज] वह कर्मचारी जो बादशाहों की सेवा में लोगों के निवेदनपत्र आदि उपस्थित करे।

मीर आतिश-संज्ञा पुं० [फा०] वह कर्मचारी जिसकी अधीनता में तोपखाना हो।

मीरज़ा-संज्ञा पुं० [फा०] (१) अमीर या सरदार का लड्डका। अमीरजादा। (२) मुगल शाहजादों की एक उपाधि। (३) सैन्य मुसलमानों की एक उपाधि। वि० दे० “मिरजा”।

मीरज़ाई-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) मीरजा होने का भाव। (२) मीरजा का पद या उपाधि। (३) सरदारी। अमीरी। (४) अमीरों या शाहजादों का सा ऊँचा दिमाग होना। (५) अभिमान। घमंड। शेखी। (६) दे० “मिरजई”।

मीर फ़र्श-संज्ञा पुं० [फा०] वे गोल, ऊँचे और भारी पत्थर जो बड़े बड़े फ़र्शों या चाँदनियाँ आदि के कोनों पर इसलिये रखे जाते हैं जिसमें वे हवा से उड़ न जायें।

मीर बख्शी-संज्ञा पुं० [फा०] मुसलमानी राजत्व काल का एक प्रधान कर्मचारी जिसका काम वेतन बाँटना होता था।

मीर बहर-संज्ञा पुं० दे० “मीर बहरी”।

मीर बहरी-संज्ञा पुं० [फा०] (१) मुसलमानी राजत्व काल में जल-सेना का प्रधान अधिकारी। (२) वह प्रधान कर्मचारी जो बंदरगाहों आदि का निरीक्षण करता था।

मीर बार-संज्ञा पुं० [फा०] पुराने मुसलमानी समय का वह अधिकारी जो लोगों को किसी सरदार या बादशाह के सामने उपस्थित होने से पहले उन्हें देखता और तब उपस्थित होने की आज्ञा देता था।

मीर भुचड़ी-संज्ञा पुं० [फा० मीर + देश० भुचड़ी] एक कल्पित पीर जिसे हीजड़े अपना आदि पुरुष और आचार्य मानते हैं और जिसके वंश में वे अपने आपको समझते हैं। कहते हैं कि ये क्षत्रियों के वंश में रहते, चरखा कातकर अपना निर्वाह करते और छः महीने स्त्री तथा छः महीने पुरुष रहा करते थे। जब हीजड़ों में कोई नया हीजड़ा आकर सम्मिलित होता है, तब वे इन्हीं के नाम की कड़ाही तलते और उसे पकवान खिलाते हैं। कहते हैं कि जो कोई यह पकवान खा लेता है, वह भी हीजड़ों की तरह हाथ पैर मटकाने लगता है।

मीर मंजिल-संज्ञा पुं० [फा० मीर + अ० मंजिल] वह कर्मचारी जो बादशाहों या लखर आदि के पहुँचने से पहले ही मंजिल या पड़ाव पर पहुँचकर वहाँ सब प्रकार की व्यवस्था करे।

मीर मजलिस-संज्ञा पुं० [फा०] सभा या अधिवेशन का प्रधान अधिकारी। सभापति।

मीर महल्ला-संज्ञा पुं० [फा० मीर + अ० महल्ला] किसी महल्ले का प्रधान या सरदार।

मीर मुंशी-संज्ञा पुं० [फा० मीर + अ० मुंशी] मुंशियों में प्रधान या सरदार। सब से बड़ा मुंशी।

मीर शिकार-संज्ञा पुं० [फा०] वह प्रधान कर्मचारी जो अमीरों या बादशाहों के शिकार की व्यवस्था करता है।

मीर सामान-संज्ञा पुं० [फा०] वह प्रधान कर्मचारी जो अमीरों या बादशाहों की पाकशाला की व्यवस्था करता है।

मीर हाज-संज्ञा पुं० [फा० मीर + अ० हज] हाजियों का सरदार। हाजियों के समूह का प्रधान।

मीरास-संज्ञा स्त्री० [अ०] वह धन-संपत्ति जो किसी के मरने पर उसके उत्तराधिकारी को मिले। तरका। बपौती।

मीरासी-संज्ञा पुं० [अ० मीरास] [स्त्री० मीरासिन] एक प्रकार के मुसलमान जो पश्चिम में पाए जाते हैं। ये प्रायः गाने बजाने का काम करते हैं और भाँड़ों की तरह मसखरापन करके लोगों को प्रसन्न करते हैं।

मीरी-संज्ञा स्त्री० [फा० मीर + ई (प्रत्यय)] (१) मीर होने का

भाव। (२) खेल में किसी लड़के का सर्वप्रथम होना। (३) खेल में लड़कों का अपना दौँव खेलकर खेल से अलग हो जाना।

मील-संज्ञा पुं० [सं०] वन। जंगल।

संज्ञा पुं० [अ०] दूरी की एक नाप जो १७६० गज की होती है। इसे साधारणतः कोस का आधा मानते हैं।

मीलक-संज्ञा पुं० [सं०] रोहित मछली। रोहू।

मीलन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० मीलनीय, मीलित] (१) बंद करना।

जैसे,—नेत्रमीलन। (२) संकुचित करना। सिकोड़ना।

मीलित-वि० [सं०] (१) बंद किया हुआ। (२) सिकोड़ा हुआ।

संज्ञा पुं० एक अलंकार जिसमें यह कहा जाता है कि एक होने के कारण दो वस्तुओं (उपमेय और उपमान) में भेद नहीं जान पड़ता, वे एक में मिली जान पड़ती हैं। उ०—
पँखुरी लगी गुलाब की गात न जानी जाय।

मीवग-संज्ञा पुं० [सं०] एक बहुत बड़ी संख्या का नाम। (बौद्ध)

मीवर-वि० [सं०] (१) हिंसक। (२) पूज्य।

संज्ञा पुं० सेनापति।

मीवा-संज्ञा पुं० [सं० मीवन्] (१) पेट में का कीड़ा। (२) वायु। हवा। (३) सार। तत्त्व।

मीशान-संज्ञा पुं० [सं०] महारग्वध वृक्ष। अमलतास।

मुँगना-संज्ञा पुं० [हि० मुनगा] सहिजन। मुनगा।

मुँगरा-संज्ञा पुं० [सं० मुद्रर] [स्त्री० मुँगरी] हथौड़े के आकार का काठ का बना हुआ वह औजार जो किसी प्रकार का आघात करने या किसी चीज को पीटने-टोंकने आदि के काम आता है। जैसे,—खँटा गाड़ने का मुँगरा, घंटा बजाने की मुँगरी, रँगरेजों की मुँगरी।

† संज्ञा पुं० [हि० मोगरा] नमकीन लुँदिया।

मुंगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक देवी का नाम।

मुँगिया-संज्ञा पुं० [हि० मुँग] एक प्रकार का धारीदार या चार-खानेदार कपड़ा। वि० दे० “मुँगिया”।

मुँगौरी-संज्ञा स्त्री० [हि० मुँग + वरी] मुँग की बनी हुई वरी।

मुंज-संज्ञा पुं० [सं० मुंजातक] मूँज।

मुंजक-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों की आँख का एक रोग जो कीड़ों के कारण नेत्र-पटल पर होता है। जब यह बढ़ जाता है, तब मुंजजालक कहलाता है।

मुंजकेतु-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक राजा का नाम।

मुंजकेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) विष्णु। (३) महाभारत के अनुसार एक राजा का नाम।

मुंजकेशी-संज्ञा पुं० [सं० मुंजकेशिन्] विष्णु।

मुंजग्राम-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन नगर का नाम।

मुंजजालक-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों की आँख के मुंजक रोग का उस समय का नाम जब वह बहुत बढ़ जाता है।

मुंजपृष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन प्रदेश का नाम जो हिमालय पर्वत में था।

मुंजमणि-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुष्पराग मणि। पुखराज।

मुंजमेखला-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूँज की बनी हुई वह मेखला जो यज्ञोपवीत के समय पहनी जाती है।

मुंजमेखली-संज्ञा पुं० [सं० मुंजमेखलिन्] (१) विष्णु। (२) शिव।

मुंजर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल की जड़। (२) कमल की नाल। मृणाल।

मुंजवट-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन तीर्थ का नाम।

मुंजवान-संज्ञा पुं० [सं० मुंजवत्] (१) सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार की सोम लता। (२) महाभारत के अनुसार कैलास पर्वत के पास के एक पर्वत का नाम।

मुंजातक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूँज। (२) मुजरा कंद।

मुंजाद्रि-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम।

मुंजारा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का कंद। मुजरा कंद।

मुंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गरदन के ऊपर का अंग जिसमें केस, मस्तक, आँख, मुँह आदि होते हैं। सिर। (२) पुराणानुसार राजा बलि के सेनापति एक दैत्य का नाम। (३) शुंभ के सेनापति एक दैत्य का नाम जो उसकी आज्ञा से भगवती के साथ लड़ा था और उन्हीं के हाथों मारा गया था। चंड और मुंड को मारने के कारण ही भगवती का नाम चामुंडा पड़ा था। (४) राहु ग्रह। (५) मुंडन करनेवाला, हजाम। (६) वृक्ष का छूट। (७) कटा हुआ सिर। (८) बोल नामक गंध द्रव्य। (९) एक उपनिषद् का नाम। (१०) मंडूर। (११) गायों का समूह या मंडल।

वि० (१) मुँड़ा हुआ। मुंडा। बिना बाल का। (२) अधम। नीच।

मुंडक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मस्तक। सिर। (२) हजाम। (३) एक उपनिषद् का नाम।

मुँडकरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मुँड + करी (प्रत्य०)] घुटनों में सिर देकर बैठना या सोना, जो प्रायः बहुत दुःख के समय होता है।

मुहा०—मुँडकरी मारना = घुटनों में सिर देकर, बहुत दुःखी होकर बैठना।

मुंडकिट्ट-संज्ञा पुं० [सं०] मंडूर।

मुंडचणक-संज्ञा पुं० [सं०] चना।

मुँडचिरा-संज्ञा पुं० [हिं० मुँड + चिरना] (१) एक प्रकार के फकीर जो प्रायः अपना सिर, आँख या नाक आदि खुरे या

किसी नुकीले हथियार से घायल करके भिक्षा माँगते हैं, और भिक्षा न मिलने पर अड़कर बैठ जाते और अपने अंगों को और भी अधिक घायल करते हैं। ऐसे फकीर प्रायः मुसलमान ही होते हैं। (२) वह जो लेन देन में बहुत हुजत और हठ करे।

मुंडचिरापन-संज्ञा पुं० [हिं० मुँडचिरा + पन (प्रत्य०)] लेन-देन आदि में बहुत हुजत और हठ।

मुंडधान्य-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का शालिधान्य जो मुंडशालि भी कहलाता है। बोरो धान।

मुंडन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिर को उस्तरे से मूँडने की क्रिया। (२) द्विजातियों के १६ संस्कारों में से एक जो बाल्यावस्था में यज्ञोपवीत से पहले होता है और जिसमें बालक का सिर मूँड़ा जाता है।

मुंडनक-संज्ञा पुं० [सं०] (२) मुंडशालि नामक धान्य। बोरो धान। (२) वट का वृक्ष।

मुँडना-क्रि० प्र० [सं० मुंडन] (१) मूँड़ा जाना। सिर के बालों की सफाई होना। (२) लुटना। (३) उगा जाना। धोखे में आना। (४) हानि उठाना।

संयो० क्रि०—जाना।

मुंडनिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुंडशालि। बोरो धान।

मुंडसपु-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन जनपद का नाम।

मुंडफल-संज्ञा पुं० [सं०] नारियल।

मुंडमंडली-संज्ञा स्त्री० [सं०] अशिक्षित सेना। बिना सीखी हुई फौज।

मुंडमाल-संज्ञा पुं० [सं०] दे० “मुंडमाला”।

मुंडमाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कटे हुए सिरों या खोपड़ियों की माला जो शिव या काली देवी के गले में होती है। (२) बंगाल की एक नदी का नाम।

मुंडमालिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गले में खोपड़ियों की माला पहननेवाली, काली।

मुंडमाली-संज्ञा पुं० [सं० मुण्डमालिन्] मुंड की माला धारण करनेवाले, शिव।

मुंडलोह-संज्ञा पुं० [सं०] मंडूर।

मुंडवेदांग-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक नागासुर का नाम।

मुंडशालि-संज्ञा पुं० [सं०] बोरो धान।

मुंडा-संज्ञा पुं० [सं० मुंड] [स्त्री० मुंडी] (१) वह जिसके सिर के बाल न हों या मुँड़े हुए हों। (२) वह जो सिर मुँड़ाकर किसी साधू या जोगी आदि का शिष्य हो गया हो। (३) वह पशु जिसके सींग होने चाहिये, पर न हों। जैसे,—मुंडा बैल। मुंडा बकरा। (४) वह जिसके उपरी अथवा इधर उधर फैलनेवाले अंग न हों। जैसे,—मुंडा पेड़। (५)

एक प्रकार की लिपि जिसमें मात्राएँ आदि नहीं होतीं और जिसका व्यवहार प्रायः कोठीवाल करते हैं। कोठीवाली।
(६) एक प्रकार का जूता जिसमें नोक नहीं होती और जो प्रायः सिपाही लोग पहना करते हैं।

संज्ञा स्त्री० [सं०] गोरखमुंडी।

संज्ञा पुं० [देश०] छोटा नागपुर में रहनेवाली एक असभ्य जाति।

मुँडाई-संज्ञा स्त्री० [हि० मुँडना + आई (प्रत्य०)] (१) मुँडने या मुँडाने की क्रिया अथवा भाव। (२) मुँडने या मुँडाने के बदले में मिला हुआ धन।

मुँडाखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गोरखमुंडी।

मुँडासन-संज्ञा पुं० [सं०] योग के अनुसार एक प्रकार का आसन।

मुँडासा-संज्ञा पुं० [हि० मुँड = सिर + आसा (प्रत्य०)] सिर पर बाँधने का साफा।

क्रि० प्र०—कसना।—बाँधना।

मुँडासाबंद-संज्ञा पुं० [हि० मुँडासा + बंद (प्रत्य०)] वह जो कपड़े से पगड़ी बनाने का काम करता हो। दस्तारबंद।

मुँडा हिरन-संज्ञा पुं० [हि० मुँडा + हिरन] पाठी सृग।

मुँडित-संज्ञा पुं० [सं०] लोहा।

वि० मुँडा हुआ।

मुँडितिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] गोरखमुंडी।

मुँडिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कस्तूरी सृग।

मुँडिभ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि जो वाजसनेय संहिता के कई मंत्रों के द्रष्टा या कर्त्ता कहे जाते हैं।

मुँडिया †-संज्ञा स्त्री० [हि० मुँड = सिर का खो०] मुँड। सिर।

संज्ञा पुं० [हि० मुँडना + इया (प्रत्य०)] वह जो सिर मुँडाकर किसी साधू या जोगी आदि का शिष्य हो गया हो। संन्यासी। उ०—जिनके जोग जोग यह ऊबो, ते मुँडिया वसैं कासी।—सूर।

मुँडी-संज्ञा स्त्री० [हि० मुँडना + ई (प्रत्य०)] (१) वह स्त्री जिसका सिर मुँडा हो। (२) विधवा। राँड़। (गाली) (३) एक प्रकार की बिना नोकवाली जूती।

संज्ञा स्त्री० [सं०] गोरखमुंडी।

संज्ञा पुं० [सं० मुँडिन्] (१) वह जिसका मुँडन हुआ हो। मुँडा हुआ। (२) नापित। हजाम। (३) संन्यासी। मुँडिया।

मुँडीरिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] गोरखमुंडी।

मुँडेर-संज्ञा स्त्री० [हि० मुँडेर] (१) मुँडेर। (२) खेत के चारों ओर सीमा पर अथवा क्यारियों में का उभरा हुआ अंश। मेंड़। डोला।

क्रि० प्र०—बाँधना।—बाँधना।

मुँडेरा-संज्ञा पुं० [हि० मुँड = सिर + एरा (प्रत्य०)] (१) दीवार का

वह ऊपरी भाग जो सबसे ऊपर की छत के चारों ओर कुछ कुछ उठा हुआ होता है। (२) किसी प्रकार का बाँधा हुआ पुश्ता।

क्रि० प्र०—बाँधना।—बाँधना।

मुँडेरी-संज्ञा स्त्री० दे “मुँडेर”।

मुँडो-संज्ञा स्त्री० [हि० मुँडना + ओ (प्रत्य०)] (१) वह स्त्री जिसका सिर मुँडा गया हो। (२) स्त्रियों की एक प्रकार की गाली जिससे प्रायः विधवा का बोध होता है। राँड़।

मुहा०—मुँडो का = एक प्रकार की बाजरी गाली जिसका अर्थ हरामी या वर्णसंकर आदि होता है। विधवा स्त्री के गर्भ से उसके वैधव्य काल में उत्पन्न पुरुष।

मुँडिया-संज्ञा स्त्री० [हि० मोड़ा + इया (प्रत्य०)] बैठने का छोटा मोड़ा।

मुंतकिल-वि० [अ०] एक स्थान से दूसरे स्थान पर गया हुआ।

मुहा०—मुंतकिल करना = एक के नाम से हटाकर दूसरे के नाम करना। दूसरे को देना। जैसे, जायदाद मुंतकिल करना।

मुंतजिम-संज्ञा पुं० [अ०] वह जो इंतजाम करता हो। प्रबंध करनेवाला। व्यवस्था करनेवाला।

मुंतज़िर-वि० [अ०] इंतजार करनेवाला। प्रतीक्षा करनेवाला। राह देखनेवाला।

क्रि० प्र०—रखना।—रहना।—होना।

मुँदना-क्रि० अ० [सं० मुद्रण] (१) खुली हुई वस्तु का ढक जाना। बंद होना। जैसे,—आँख मुँदना। (२) लुप्त होना। छिपना। जैसे,—दिन मुँदना। सूर्य मुँदना। (३) छिद्र आदि का पूर्ण होना। छेद, बिल आदि बंद होना।

संयो० क्रि०—जाना।

मुँदरा-संज्ञा पुं० [हि० मुँदरी] (१) एक प्रकार का कुंडल जो जोगी लोग कान में पहनते हैं। (२) एक प्रकार का आभूषण जो कान में पहना जाता है।

मुँदरी-संज्ञा स्त्री० [सं० मुद्रा] (१) उँगली में पहनने का सादा छला। (२) अँगूठी।

मुंशियाना-वि० [अ० मुंशी + हि० इयाना (प्रत्य०)] मुंशियों का सा। मुंशियों की तरह का।

मुंशी-संज्ञा पुं० [अ०] (१) लेख या निबंध आदि लिखनेवाला। लेखक। (२) लिखा-पढ़ी का काम या प्रतिलिपि आदि करनेवाला। मुहर्रिर। लेखक। (३) वह जो बहुत सुंदर अक्षर, विशेषतः फारसी आदि के अक्षर, लिखता हो।

मुंशीखाना-संज्ञा पुं० [अ० मुंशी + फ़ा० खाना] वह स्थान जहाँ मुंशी या मुहर्रिर आदि बैठकर काम करते हों। दफ्तर।

मुंशीगिरी-संज्ञा स्त्री० [अ० मुंशी + फ़ा० गिरी (प्रत्य०)] मुंशी का काम या पद।

मुंसरिम-संज्ञा पुं० [अ०] (१) प्रबंध या व्यवस्था करनेवाला।

इंतजाम करनेवाला । (२) कचहरी का वह कर्मचारी जो दफ्तर का प्रधान होता है और जिसके सपुर्द मिसलें आदि ठीक करना और ठिकाने से रखना होता है ।

मुंसलिक-वि० [अ०] साथ में बाँधा या नथी किया हुआ । (कच०)

मुंसिफ़-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह जो न्याय करता हो । इन्साफ़ करनेवाला । (२) दीवानी विभाग का एक न्यायाधीश जो छोटे छोटे मुकदमों का निर्णय करता है और जो सब-जज से छोटा होता है ।

मुंसिफी-संज्ञा स्त्री० [अ० मुंसिफ़ + ई (प्रत्य०)] (१) न्याय करने का काम । (२) मुंसिफ़ का काम या पद । (३) मुंसिफ़ की अदालत । मुंसिफ़ की कचहरी ।

मुँह-संज्ञा पुं० [सं० मुख] (१) प्राणी का वह अंग जिससे वह बोलता और भोजन करता है । मुख-विवर ।

विशेष—प्रायः सभी प्राणियों का मुँह सिर में होता है और उससे वे खाने का काम लेते हैं । शब्द निकालनेवाले प्राणी उससे बोलने का भी काम लेते हैं । अधिकांश जीवों के मुँह में जीभ, दाँत और जबड़े होते हैं; और उसे खोलने या बंद करने के लिये आगे की ओर ओंठ होते हैं । पक्षियों तथा कुछ और जीवों के मुँह में दाँत नहीं होते । कुछ छोटे छोटे जीव ऐसे भी होते हैं जिनका मुँह पेट या शरीर के किसी और भाग में होता है ।

(२) मनुष्य का मुख-विवर ।

मुहा०—**मुँह आना** = मुँह के अंदर छाले पड़ना और चेहरा सूजना । (प्रायः गरमी आदि के रोग में पारा आदि कुछ विशिष्ट औषध खाने से ऐसा होता है ।) **मुँह का कच्चा** = (१) (बोड़ा) जो लगाम का झटका न सह सके । (२) जिसकी बात का कोई विश्वास न हो । झूठा । (३) जो किसी बात को गुप्त न रख सकता हो । हर एक बात सब से कह देनेवाला । **मुँह का कड़ा** = (१) (बोड़ा) जो हाँकनेवाले के इच्छानुसार न चले । लगाम के संकेत को कुछ न समझनेवाला । (२) कड़ा । तेज । (३) उद्वेगपूर्वक बातें करनेवाला । **मुँह किलना** = मुँह का कीला या बंद किया जाना । **मुँह की बात छीनना** = जो बात कोई दूसरा करना चाहता हो, वही आप कह देना । **मुँह की मक्खी न उड़ा सकना** = बहुत अधिक दुर्बल होना । **मुँह कीलना** = बोलने से रोकना । चुप करना । **मुँह खराब करना** = (१) जवान का स्वाद बिगाड़ना । (२) जवान से गंदी बातें कहना । **मुँह खुलना** = उद्वेगपूर्वक बातें करने की आदत पड़ना । जैसे,—आजकल तुम्हारा मुँह बहुत खुल गया है; किसी दिन थोखा खाओगे । **मुँह खुलवाना** = किसी को उद्वेगपूर्वक बातें करने के लिये बाध्य करना । **मुँह खुदक होना** = दे० “मुँह सूखना” । **मुँह खोलकर रह जाना** = कुछ कहते कहते लज्जा या संकोच के

कारण चुप हो जाना । सहमकर चुप रह जाना । **मुँह खोलना** = (१) कहना । बोलना । (२) गालियाँ देना । खराब बातें कहना । (किसी को) **मुँह चढ़ाना** = (१) किसी को बहुत उद्वेग बनाना । बातें करने में धृष्ट करना । शोक करना । जैसे,—आपने इस नौकर को बहुत मुँह चढ़ा रखा है । (२) अपना पार्श्ववर्ती और प्रिय बनाना । **मुँह चलना** = (१) भोजन होना । खाया जाना । (२) मुँह से व्यर्थ की बातें या दुर्वचन निकलना । **मुँह चलाना** = (१) खाना । भोजन करना । (२) बोलना । बकना । (३) गालियाँ देना । दुर्वचन कहना । (४) दाँत से काटना, विशेषतः घोड़े का काटना । **मुँह चिढ़ाना** = किसी को चिढ़ाने के लिये उसकी आकृति, हाव-भाव या कथन को बहुत बिगाड़कर नकल करना । **मुँह चूमकर छोड़ देना** = लज्जित करके छोड़ देना । शर्मिदा करके छोड़ देना । **मुँह छुआना** = दे० “मुँह छूना” । **मुँह छूना** [संज्ञा मुँह-छुआई] = (१) नाम मात्र के लिये कहना । मन से नहीं, बल्कि ऊपर से कहना । जैसे,—मुँह छूने के लिये वे मुझे भी निमंत्रण दे गए थे । (२) दिखौआ बात करना । **मुँह जहर होना** = कड़ुआ पदार्थ खाने के कारण मुँह में बहुत अधिक कड़ुआहट होना । **मुँह जुठारना या जूठा करना** = नाम मात्र के लिये कुछ खाना । **मुँह जोड़ना** = पास होकर आपस में धीरे धीरे बातें करना । काना फूँसी करना । **मुँह डालना** = (१) किसी पशु आदि का खाद्य पदार्थ पर मुँह चलाना । (२) मुर्गों का लड़ना या आक्रमण करना । (मुर्गबाज) **मुँह तक आना** = जवान पर आना । कहा जाना । **मुँह थकना** = बहुत अधिक बोलने के कारण शिथिलता आना । **मुँह थकाना** = बहुत अधिक बोलकर अपने आपको शिथिल करना । **मुँह देना** = किसी पशु आदि का किसी वरतन या खाद्य पदार्थ में मुँह डालना । जैसे,—इस कूथ में बिछी मुँह दे गई है । **मुँह पकड़ना** = बोलने से रोकना । बोलने न देना । जैसे,—कहो न, कोई तुम्हारा मुँह पकड़ता है ! **मुँह पर न रखना** = तनिक भी स्वाद न लेना । जरा भी न खाना । जैसे,—लड़के ने कल से एक दाना भी मुँह पर नहीं रखा । **मुँह पर बात आना** = (१) कुछ कहने को जी चाहना । (२) कुछ कहना । **मुँह पर मोहर करना** = बोलने से रोकना । कहने न देना । चुप करना । **मुँह पर लाना** = मुँह से कहना । वर्णन करना । जैसे,—अपनी की हुई नेकी मुँह पर नहीं लानी चाहिए । **मुँह पर हाथ रखना** = बोलने से जबरदस्ती रोकना या मना करना । **मुँह पसारकर दौड़ना** = कुछ पाने के लालच में बहुत उत्सुक होकर आगे बढ़ना । **मुँह पसारकर रह जाना** = (१) परम चकित हो जाना । हका बका हो जाना । (२) लज्जित होकर रह जाना । शरमाकर रह जाना । **मुँह पेट चलना** = कै दस्त होना । हैजा होना । **मुँह फटना** = चूना आदि लगने के कारण मुँह में छोटे छोटे घाव हो जाना । **मुँह फाड़कर कहना** = बेधया बनकर

जवान पर लाना । निर्लेज होकर कहना । जैसे,—हमने उनसे मुँह फाड़कर कहा भी, पर उन्होंने कुछ ध्यान ही न दिया । मुँह फैलाना = (१) दे० “मुँह बाना” । (२) अधिक लेने की इच्छा या हठ करना । जैसे,—कचहरीवाले तो ज़रा ज़रा सी बात पर मुँह फैलाते हैं । मुँह फोड़कर कहना = दे० “मुँह फाड़कर कहना” । मुँह बंद करना = चुप कराना । बोलने से रोकना । मुँह बंद कर लेना = बिल्कुल चुप हो जाना । कुछ न बोलना । मुँह बंद होना = चुप होना । जैसे,—तुम्हारा भी मुँह कभी बंद नहीं होता । मुँह बाँधकर बैठना = चुपचाप बैठना । कुछ न बोलना । मुँह बाँधना या बाँध देना = चुप करा देना । बोलने न देना । मुँह बाना = (१) मुँह फाड़ना या खोलना । (२) जँभाई लेना । (३) अपनी हीनता सिद्ध होने पर भी हँस पड़ना । (४) बुरी तरह से हँसना । बेहूदेपन से हँसना । मुँह बिगाड़ना = (१) मुँह का स्वाद खराब होना । जैसे,—तुमने कैसा आम खिला दिया; बिल्कुल मुँह बिगाड़ गया । मुँह बिगाड़ना = मुँह का स्वाद खराब करना । मुँह भर आना = (१) मुँह में पानी भर आना । किसी चीज़ को लेने के लिये बहुत लालच होना । (२) मितली आना । जी मिचलाना । कै करने को जी चाहना । मुँह भरके = (१) मुँह तक । लबालब । (२) जहाँ तक इच्छा हो । जितना जी चाहे । जैसे,—(क) जो कुछ माँगना हो, मुँह भरके माँग लो । (ख) उन्होंने मुझे मुँह भरके गालियाँ दीं । (३) पूरी तरह से । भली भाँति । मुँह भर बोलना = अच्छी तरह बोलना । जैसे,—वहाँ मुझसे कोई मुँह भर बोला तक नहीं । मुँह भरना = (१) रिश्त देना । घूस देना । (२) खिलाना । भोजन कराना । (३) मुँह बंद करना । बोलने से रोकना । मुँह मारना = (१) खाने की चीज़ में मुँह लगाना । (२) दाँत लगाना । काटना । (३) जल्दी जल्दी भोजन कराना । (किसी का) मुँह मारना = (१) किसी को बोलने से रोकना । चुप कराना । (२) रिश्त देना । (३) कान काटना । बढ़कर होना । जैसे,—यह कपड़ा रेशम का मुँह मारता है । मुँह मीठा करना = (१) मिठाई खिलाना । (२) देकर प्रसन्न करना । मुँह मीठा होना = (१) खाने की मिठाई मिलना । (२) प्राप्ति होना । लाभ होना । (३) मँगनी होना । (बात) मुँह में आना = कहने को जी चाहना । कहने की प्रवृत्ति होना । जैसे,—जो कुछ मुँह में आता है, कह चलते हो । मुँह में खून या लहू लगाना = चूँका पड़ना । चाट पड़ना । जैसे,—एक दिन तुम्हें रूपए क्या मिल गए, तुम्हारे मुँह में खून लग गया । मुँह में जवान होना = कहने की सामर्थ्य होना । बोलने की ताकत होना । मुँह में तिनका लेना = बहुत अधिक दीनता या अधीनता प्रकट करना । मुँह में पड़ना = खाया जाना । खाने के काम आना । (बात का) मुँह में पड़ना = बात का मुँह से निकलना या कहा जाना । जैसे,—जो बात तुम्हारे मुँह में पड़ी, वह सारे

शहर में फैल जायगी । मुँह में पानी भर आना = (१) कोई पदार्थ प्राप्त करने के लिये बहुत लालायित होना । बहुत ललचना । जैसे,—सेब का नाम सुनते ही तुम्हारे मुँह में पानी भर आता है । (२) ईर्ष्या होना । मुँह में बोलना या बात करना = इतने धीरे धीरे बोलना कि जल्दी औरों को सुनाई न दे । मुँह में लगाम देना = समझ बूझकर बातें कहना । कम और ठीक तरह से बोलना । मुँह में लगाम न होना = बोलने के समय सचेत न रहना । जो मुँह में आवे, सो कह देना । मुँह लगाना = खाना । चखना । मुँह सँभालना = व्यर्थ बकने या गाली गलौज करने से जवान को रोकना । जवान में लगाम देना । (अपना) मुँह सीना = बोलने से रोकना । मुँह से बात न निकालना । बिल्कुल चुप रहना । मुँह सूखना = प्यास या रोग आदि के कारण गला खुश्क होना । गले और जवान में काँटे पड़ना । मुँह से दूध की बू आना = दे० “मुँह से दूध टपकना” । मुँह से दूध टपकना = बहुत ही अनजान या बालक होना । (परिहास) जैसे,—आप इन बातों को क्यों जानने लगे; आपके मुँह से तो अभी दूध टपक रहा है । मुँह से निकालना = कहना । उच्चारण करना । जैसे,—ऐसी बात मुँह से मत निकाला करो जिससे किसी को दुःख हो । मुँह से फूटना = कहना । बोलना । (उपेक्षा या व्यंग्य) जैसे,—आखिर तुम भी तो कुछ मुँह से फूटो । मुँह से फूल झड़ना = मुँह से बहुत ही सुंदर और प्रिय बातें निकलना । मुँह से बात छीनना, या उचकना = किसी के कहते कहते उसकी बात कह देना । किसी के कहने से पहले ही उसका विचार या भाव प्रकट करना । किसी के मन की बात कह देना । मुँह से बात न निकालना = क्रोध या भय के मारे कुछ बोला न जाना । मुँह से शब्द न निकलना । मुँह से भाप न निकलना = भय आदि के कारण सन्न हो जाना । चूँ तक न करना । मुँह से लार गिरना = दे० “मुँह से लार टपकना” । मुँह से लार टपकना = कोई चीज़ प्राप्त करने के लिये अत्यंत लालच होना । पाने के लिये परम उत्सुकता होना । जैसे,—जहाँ तुमने कोई अच्छी पुस्तक देखी, वहाँ तुम्हारे मुँह से लार टपकने लगी । मुँह से लाल उगलना = दे० “मुँह से फूल झड़ना” ।

(३) मनुष्य अथवा किसी और जीव के सिर का अगला भाग जिसमें माथा, आँखें, नाक, मुँह, कान, ठोड़ी और गाल आदि अंग होते हैं । चेहरा ।

मुहा०—अपना सा मुँह लेकर रह जाना = लज्जित होकर रह जाना । काम न होने के कारण शर्मिदा होना । इतना सा मुँह निकल आना = दे० “मुँह उतरना” । मुँह अंधेरे = प्रभात के समय । तड़के । (किसी के) मुँह आना = किसी के सामने होकर उसे कोई कठोर वचन कहना । किसी से झुझत करना । मुँह उजला होना = प्रतिष्ठा रह जाना । बात रह जाना । इज्जत

न जाना। मुँह उजाले या मुँह उठे = प्रभात के समय। तड़के। बहुत सवेरे। मुँह उठना = किसी ओर चलने की प्रवृत्ति होना। जैसे,—हमारा क्या, जिधर मुँह उठा, उधर ही चल देंगे। मुँह उठाए चले जाना = बेधड़क चले जाना। बिना रुके हुए चले जाना। मुँह उठाकर कहना = बिना सोचे समझे कहना। जो मुँह में आवे, सो कहना। मुँह उठाकर चलना = नीचे की ओर बिना देखे हुए, केवल ऊपर की ओर मुँह करके चलना। अंधाधुंध चलना। मुँह उतरना = (१) दुर्बलता के कारण सुस्त होना। चेहरे पर रौनक न रह जाना। (२) विफलता, हानि या दुःख आदि के कारण उदास होना। विवर्णता होना। चेहरे का तेज जाता रहना। (अपना) मुँह काला करना = (१) व्यभिचार करना। अनुचित संभोग करना। (२) अपनी बदनामी करना। (दूसरे का) मुँह काला करना = उपेक्षा से हटना। त्यागना। जैसे,—मुँह काला करो, क्यों इसे अपने पास रखे हो? मुँह की खाना = (१) थपड़ खाना। तमाचा खाना। (२) बेइज्जत होना। दुर्दशा कराना। (३) मुँह-तोड़ उत्तर सुनना। (४) लज्जित होना। शरमिदा होना। (५) धोखा खाना। चूक जाना। (६) बुरी तरह परास्त होना। मुँह के बल गिरना = (१) ठेकर खाना। धोखा खाना। (२) बिना सोचे समझे किसी ओर प्रवृत्त होना। कोई वस्तु प्राप्त करने के लिये लपकना। मुँह खोलना = चेहरे पर से धूँध आदि हटाना। चेहरे के आगे का परदा हटाना। मुँह चढ़ाना = दे० “मुँह फूलाना”। मुँह चाटना = खुशामद करना। ठकुर सुहाती कहना। लल्लो पत्तो करना। मुँह छिपाना = लज्जा के मारे सामने न होना। मुँह झटक जाना = रोग या दुर्बलता आदि के कारण चेहरा उतर जाना। मुँह झुलसना = (१) मुँह में आग लगाना। मुँह फूँकना। (खि० गाली) (२) दाह-कर्म करना। मुरदे को जलाना। (उपेक्षा) (३) कुछ दे लेकर दूर करना। (अपना) मुँह देढ़ा करना = मुँह फूलाना। अप्रसन्नता या असंतोष प्रकट करना। (दूसरे का) मुँह देढ़ा करना = दे० “मुँह तोड़ना”। मुँह ढाँकना = किसी के मरने पर उसके लिये शोक करना या रोना। (मुसल०) (किसी का) मुँह ताकना = (१) किसी का मुखापेक्षी होना। किसी के मुँह की ओर, कुछ पाने आदि की आशा से, देखना। (२) टक लगाकर देखना। (३) निवारा होकर देखना। (४) चकित होकर देखना। आश्चर्य से देखना। मुँह ताकना = अकर्मण्य होकर चुपचाप बैठे रहना। जैसे,—सब लोग अपने अपने रूपए ले आए, और आप मुँह ताकते रहे। मुँह तोड़कर जवाब देना = पूरा पूरा जवाब देना। ऐसा जवाब देना कि कोई बोल ही न सके। मुँह धुथाना = मुँह की धूँध की तरह बनाना। मुँह फूलाना। क्रोध या अप्रसन्नता प्रकट करना। मुँह दिखाना = सामने आना। मुँह देखकर उठना = प्रातःकाल सोकर उठने के समय किसी को सामने पाना। जैसे,—आज न जान किसका मुँह देखकर उठे थे कि दिन भर भोजन ही न मिला। (प्रायः लोग मानते हैं

कि प्रातःकाल सोकर उठने के समय शुभ या अशुभ आदमी का मुँह देखने का फल दिन भर मिला करता है।) मुँह देख कर बात कहना = खुशामद करना। (किसी का) मुँह देखना = (१) सामना करना। किसी के सामने जाना। किसी के साथ देखादेखी या साक्षात्कार करना। (२) चकित होकर देखना। (अपना) मुँह देखना = दर्पण में अपने मुँह का प्रतिबिम्ब देखना। (किसी का) मुँह देखकर = (१) किसी के प्रेम में लगकर। किसी के प्रेम के आसरे। जैसे,—पति मर गया, पर बच्चों का मुँह देखकर धीरज धरो। (२) किसी को संतुष्ट या प्रसन्न करने के विचार से। जैसे,—तुम तो उनका मुँह देखकर बात करते हो। मुँह धो रखना = किसी पदार्थ की प्राप्ति की ओर से निराश हो जाना। आशा न रखना। (व्यंग्य) जैसे,—आपको यह पुस्तक मिल चुकी; मुँह धो रखिए। मुँह न देखना = किसी से बहुत अधिक घृणा करना। किसी से देखा देखी तक न करना। न मिलना जुलना। जैसे,—मैं तो उस दिन से उनका मुँह नहीं देखना। मुँह न फेरना या मोड़ना = (१) दृढ़तापूर्वक सन्मुख ठहरे रहना। पीछे न हटना। (२) विमुख न होना। अस्वीकार न करना। मुँह निकल आना = रोग या दुर्बलता आदि के कारण चेहरे का तेज जाता रहना। चेहरा उतर जाना। मुँह पर = सामने। प्रत्यक्ष। स्वरूप। जैसे,—(क) तुम तो मुँह पर झूठ बोलते हो। (ख) वह मुँह पर खुशामद करता है और पीछे पीछे गालियाँ देता है। मुँह पर चढ़ना = लड़ने या प्रतियोगिता करने के लिये सामने आना। मुकाबला करना। मुँह पर धूँकना = बहुत अधिक अप्रतिष्ठित और लज्जित करना। मुँह पर नाक न होना = शरम न होना। लज्जा न होना। निर्लज्ज होना। जैसे,—तुम्हारे मुँह पर नाक तो है ही नहीं; तुमसे कोई क्या बात करे। मुँह पर पानी फिर जाना = चेहरे पर तेज आना। प्रसन्न वदन होना। मुँह पर फेंकना या फेंक मारना = बहुत अप्रसन्न होकर किसी को कोई चीज देना। मुँह पर या से बरसना = आक्रुति से प्रकट होना। चेहरे से जाहिर होना। जैसे,—पाजीपन तो तुम्हारे मुँह पर बरस रहा है। मुँह पर बसंत फूलना या खिलना = (१) चेहरा पीला पड़ जाना। (२) उदास या भयभीत हो जाना। मुँह पर मारना = दे० “मुँह पर फेंकना”। मुँह दर मुँह कहना = मुँह पर कहना। सामने कहना। मुँह पर मुरदनी फिरना या छाना = (१) मृग्य के चिह्न प्रकट होना। अंतिम समय समीप आना। (२) चेहरा पीला पड़ना। (३) भयभीत, लज्जित या उदास होना। मुँह पर रखना = किसी के सामने ही कोई बात कह देना। पूरा पूरा उत्तर देना। मुँह पर हवाई उड़ना या छूटना = भय या लज्जा आदि के कारण चेहरा पीला पड़ जाना। जैसे,—मुझे देखते ही उनके मुँह पर हवाई उड़ने लगी। (किसी का) मुँह पाना = प्रवृत्ति को अपने अनुकूल देखना। रख पाना। मुँह पीठ लेना =

बहुत अधिक क्रोध या दुःख की अवस्था में दोनों हाथों से अपने मुँह पर आघात करना। **मुँह फूट होना** = चेहरे का रंग उड़ जाना। विवर्णता होना। भय या आशंका से चेहरा पीला पड़ जाना। **मुँह फिरना या फिर जाना** = (१) मुँह का टेढ़ा, कुरूप या खराब हो जाना। जैसे,—एक थप्पड़ दूँगा, मुँह फिर जायगा। (२) लकवे का रोग हो जाना। (३) सामना करने के योग्य न रह जाना। सामने से हट या भाग जाना। जैसे,—घंटे भर की लड़ाई में ही शत्रु का मुँह फिर गया। **मुँह फुलाना या फुलाकर बैठना** = आक्रुति से असंतोष या अप्रसन्नता प्रकट करना। जैसे,—तुम तो जरा सी बात पर मुँह फुलाकर बैठ जाते हो। **मुँह फूँकना** = (१) मुँह में आग लगाना। मुँह फुसलना। (खि० गाली) जैसे,—ऐसे नौकर का तो मुँह फूँक देना चाहिए। (२) दाह कर्म करना। मुरदे को जलाना। (उपेक्षा) (३) कुछ दे लेकर दूर करना। हटाना। **मुँह फूलना** = अप्रसन्नता या असंतोष होना। नाराजगी होना। जैसे,—मैं कुछ कहूँगा, तो अभी तुम्हारा मुँह फूल जायगा। (किसी का) मुँह फेरना = परास्त करना। दबा लेना। (अपना) मुँह फेरना = (१) किसी की ओर पीठ करना। (२) उपेक्षा प्रकट करना। (३) किस ओर से अपना मन हटा लेना। **मुँह बनना या बन जाना** = ऐसी आक्रुति होना जिससे असंतोष या अप्रसन्नता प्रकट हो। जैसे,—मेरी बात सुनते ही उनका मुँह बन गया। **मुँह बनवाना** = किसी कार्य अथवा प्राप्ति के योग्य अपनी आक्रुति बनवाना। (व्यंग्य) जैसे,—पहले आप अपना मुँह बनवा लीजिए, तब यह कोट माँगिएगा। **मुँह बनाना** = ऐसी आक्रुति बनाना जिससे असंतोष या अप्रसन्नता प्रकट हो। (इसके साथ संयो० क्रि० लेना या बैठना आदि का भी प्रयोग होता है।) **मुँह बिगाड़ना** = चेहरे की आक्रुति खराब होना। (दूसरे का) मुँह बिगाड़ना = (१) मार पीट कर चेहरे की आक्रुति खराब कर देना। बहुत मारना। जैसे,—मारते मारते मुँह बिगाड़ दूँगा। (अपना) मुँह बिगाड़ना = असंतोष या अप्रसन्नता प्रकट करना। **मुँह बुरा बनाना** = असंतोष या अप्रसन्नता प्रकट करना। **मुँह में कालिख पुतना या लगाना** = बहुत अधिक बदनामी होना। कलंक लगाना। (अपना) मुँह मोड़ना = (किसी ओर से प्रवृत्ति हटा लेना। ध्यान न देना। वि० दे० “मुँह फेरना”)। (२) इनकार करना। अस्वीकृत करना। जैसे,—हम कभी किसी बात से मुँह नहीं मोड़ते। (दूसरे का) मुँह मोड़ना = परास्त करना। हराना। जैसे,—थोड़ी ही देर में सैनिकों ने डाकुओं का मुँह मोड़ दिया। (किसी के) मुँह लगाना = (१) किसी के सिर चढ़ाना। किसी के सामने बढ़ बढ़कर बातें करना। उद्दंड बनना। (२) बातें करना। जवाब सवाल करना। जैसे,—सब के मुँह लगाना ठीक नहीं। **मुँह लगाना** = सिर चढ़ाना। उद्दंड बनाना। जैसे,—तुमने भी लड़कों को मुँह लगा रखा

है। **मुँह लपेटकर पड़ना** = बहुत ही दुःखी होकर पड़ा रहना। **मुँह लाल करना** = (१) मुँह पर थप्पड़ आदि मारकर उसे सुजा देना। (२) पान-तमाकू से आदर सत्कार करना। **मुँह लाल होना** = मारे क्रोध के चेहरा तमतमाना। आक्रुति से बहुत अधिक क्रोध प्रकट होना। **मुँह सफेद होना** = भय या लज्जा से चेहरे का रंग उड़ जाना। उदासी छा जाना। **मुँह सिकोड़ना** = आक्रुति से अप्रसन्नता या असंतोष प्रकट करना। नाक भौं चढ़ाना। (अपना) मुँह सुजाना = आक्रुति से असंतोष या अप्रसन्नता प्रकट करना। नाराजी जाहिर करना। (किसी का) मुँह सुजाना = थप्पड़ मार कारकर मुँह लाल करना। **मुँह सुख होना** = क्रोध के मारे चेहरा तमतमाना। गुस्से से चेहरा लाल होना। **मुँह सूखना** = भय या लज्जा आदि से चेहरे का तेज जाता रहना। (५) किसी पदार्थ के ऊपरी भाग का विवर जो आकार आदि में मुँह से मिलता जुलता हो। जैसे,—इस बरतन को मुँह बाँधकर रख दो। (५) सूराख। छेद। छिद्र। जैसे,—दो दिन में इस कोड़े में मुँह हो जायगा। (६) मुलाहजा। मुरव्वत। लिहाज। जैसे,—हमें तो खाली तुम्हारा मुँह है; उससे तो हम कभी बात ही नहीं करते।

यौ०—मुँह-मुलाहजा।

मुहा०—मुँह करना = मुलाहजा करना। खयाल करना। जैसे,—धनवानों का तो सभी लोग मुँह करते हैं; पर गरीबों को कोई नहीं पूछता। **मुँह देखे का** = जो हार्दिक न हो, केवल ऊपरी या दिखावा हो। जो केवल सामना होने पर हो। मुलाहजे का। मुरव्वत का। जैसे,—(क) आपका प्रेम तो मुँह देखे का है। (ख) ये सारी बातें मुँह देखे की हैं। **मुँह पर जाना** = किसी का ध्यान करना। लिहाज करना। जैसे,—मैं तुम्हारे मुँह पर जाता हूँ; नहीं तो अभी इसकी गत बनाकर रख देता। **मुँह मुलाहजे का** = जान पहचान का। परिचित। **मुँह रखना** = किसी का लिहाज रखना। ध्यान रखना। जैसे,—आप इतनी दूर से चलकर आए हैं; आपका मुँह रखो। (७) योग्यता। सामर्थ्य। शक्ति। जैसे,—तुम्हारा मुँह नहीं है कि तुम उसके सामने जाओ।

मुहा०—(अपना) मुँह तो देखो = पहले यह तो देखो कि इस योग्य हो या नहीं। (व्यंग्य) **मुँह देखकर बात करना** = किसी के साथ उसकी योग्यता के अनुसार बात करना।

(८) साहस। हिम्मत।

मुहा०—मुँह पड़ना = साहस होना। हिम्मत होना। जैसे,—उनके सामने कुछ कहने भी का तो मुँह नहीं पड़ता।

(९) ऊपरी भाग। ऊपर की सतह या किनारा।

मुहा०—मुँह तक आना या भरना = पूरी तरह से भर जाना। लबालब होना। जैसे,—तालाब में पानी मुँह तक आ गया है।

मुँहअखरी—वि० [हि० मुँह + अखर] जो केवल मुँह से कहा जाय, लिखा न जाय। जवानी। शाब्दिक।

मुँहकाला—संज्ञा पुं० [हि० मुँह + काला] (१) अप्रतिष्ठा। बेइज्जती। (२) बदनामी। (३) एक प्रकार की गाली। जैसे,—जा तेरा मुँह काला हो।

मुँहचटौवल—संज्ञा स्त्री० [हि० मुँह + चटना + औवल (प्रत्य०)] (१) चुंबन। चूमाचटी। (२) बक बक। बकवादी।

मुँहचोर—संज्ञा पुं० [हि० मुँह + चोर] वह जो दूसरों के सामने जाने से मुँह छिपाता हो। लोगों के सामने जाने में संकोच करनेवाला।

मुँहछुआई—संज्ञा स्त्री० [हि० मुँह + छुना + आई (प्रत्य०)] केवल मुँह छूने के लिये, ऊपरी मन से कुछ कहना।

मुँहछुट—वि० [हि० मुँह + छुटना] जिसका मुँह ओछी या कटु बातें कहने के लिये खुला रहे। मुँहफट।

मुँहजोर—वि० [हि० मुँह + जोर] (१) वह जो बहुत अधिक बोलता हो। बकवादी। (२) दे० “मुँहफट”। (३) जो जल्दी किसी के वश में न आता हो। तेज। उदंड। जैसे,—मुँहजोर घोड़ा।

मुँहजोरी—संज्ञा स्त्री० [हि० मुँहजोर + ई (प्रत्य०)] (१) मुँहजोर होने की क्रिया या भाव। (२) तेज़ी। उदंडता।

मुँहदिखलाई—संज्ञा स्त्री० दे० “मुँहदिखाई”।

मुँहदिखाई—संज्ञा स्त्री० [हि० मुँह + दिखाई] (१) नई वधू का मुँह देखने की रस्म। मुँह देखनी। (२) वह धन जो मुँह देखने पर वधू को दिया जाय।

मुँहदेखा—वि० [हि० मुँह + देखा] [स्त्री० मुँहदेखी] (१) केवल सामना होने पर होनेवाला (काम या व्यवहार)। जो हार्दिक या आंतरिक न हो। जो किसी को केवल संतुष्ट या प्रसन्न करने के लिये हो। जैसे, मुँहदेखी बात। (२) सदा आज्ञा की प्रतीक्षा में रहनेवाला। सदा मुँह ताकत रहनेवाला।

मुँहनाल—संज्ञा स्त्री० [हि० मुँह + नाल = नली] (१) धातु की बनी हुई वह नली जो हुक़े की सटक या नै आदि के अगले भाग में लगा देते हैं और जिसे मुँह में लगाकर धूआँ खींचते हैं। (२) धातु का वह टुकड़ा जो म्यान के सिरे पर लगा होता है।

मुँहपड़ा—संज्ञा पुं० [हि० मुँह + पड़ना] वह जो सब लोगों के मुँह पर हो। प्रसिद्ध। मशहूर। (क्र०)

मुँहफट—वि० [हि० मुँह + फटना] जो अपनी जवान को वश में न रख सके और जो कुछ मुँह में आवे, कह दे। ओछी या कटु बात कहने में संकोच न करनेवाला। जिसकी वाणी संयत न हो। बोलने में इस बात का विचार न करनेवाला कि कोई बात किसी को बुरी लगेगी या भली। बद-जवान।

मुँहबंद—वि० [हि० मुँह + बंद] (१) जिसका मुँह बंद हो, खुला न हो। जैसे,—मुँहबंद बोटल। (२) कुँआरी। अक्षत-योनि। (बाजारी)

मुँहबँधा—संज्ञा पुं० [हि० मुँह + बँधना] जैन साधु जो प्रायः मुँह पर कपड़ा बाँधे रहते हैं।

मुँहबोला—वि० [हि० मुँह + बोलना] (संबंधी) जो वास्तविक न हो, केवल मुँह से कहकर बनाया गया हो। वचन द्वारा निरूपित। जैसे,—मुँहबोला भाई, मुँहबोली बेटी।

मुँहभरई—संज्ञा स्त्री० [हि० मुँह + भरना + आई (प्रत्य०)] (१) मुँह भरने की क्रिया या भाव। (२) वह धन आदि जो किसी का मुँह बंद करने के लिये, उसे कुछ कहने या करने से रोकने के लिये, दिया जाय। रिश्वत। घूस।

क्रि० प्र०—देना।—लेना।

मुँहमाँगा—वि० [हि० मुँह + माँगना] अपनी इच्छा के अनुसार। अपने माँगने के अनुसार। मनोनुकूल। जैसे,—मुँह माँगा घर पाना। मुँह माँगी मुराद पाना। मुँह माँगा दाम पाना। मुँह माँगी मौत नहीं मिलती। (कहा०)

मुँहामुँह—क्रि० वि० [हि० मुँह + मुँह] मुँह तक। अंदर से बिलकुल ऊपर तक। लवालब। भरपूर। जैसे,—(क) गगरा मुँहामुँह तो भरा है, और पानी क्यों डालते हो। (ख) अब की एक ही वर्षा में तालाब मुँहामुँह भर गया।

मुँहासा—संज्ञा पुं० [हि० मुँह + आसा (प्रत्य०)] मुँह पर के वे दाने या फुंसियाँ जो युवा अवस्था में निकलती हैं और यौवन का चिह्न मानी जाती हैं। इनसे चेहरा कुछ भद्दा हो जाता है। इन्हें ‘ढोंडसा’ भी कहते हैं। ये केवल युवावस्था में ही २० से २५ वर्ष तक प्रकट होती हैं; इसके पूर्व या पर बहुत कम रहती हैं।

मुअज़्ज़न—संज्ञा पुं० [अ०] वह जो मसजिद में नमाज के समय अज्ञान देता है। नमाज के लिये सब लोगों को पुकारनेवाला।

मुअत्तल—वि० [अ०] (१) जिसके पास काम न हो। खाली। (२) जो काम से कुछ समय के लिये, दंड स्वरूप, अलग कर दिया गया हो।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुअत्तली—संज्ञा स्त्री० [अ० मुअत्तल + ई (प्रत्य०)] (१) मुअत्तल होने का भाव। बेकारी। (२) काम से कुछ दिन के लिये अलग कर दिया जाना।

मुअम्मा—संज्ञा पुं० [अ०] (१) रहस्य। भेद।

मुहा०—मुअम्मा खुलना या हल होना = रहस्य खुलना। भेद प्रकट होना।

(२) पहेली। (३) घुमाव-फिराव की बात। ऐसी बात जो जल्दी समझ में न आवे।

मुद्रास्त्रिम-संज्ञा पुं० [अ०] इष्ट सिखानेवाला । शिक्षा देनेवाला । शिक्षक ।

मुद्राफ-वि० दे० “माफ” ।

मुद्राफकृत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मुद्राफिक या अनुकूल होने का भाव (२) साथ । दोस्ती । मेलजोल । हेलमेल ।

यौ०—मेल मुद्राफकृत ।

मुद्राफिक-वि० [अ०] (१) जो विरुद्ध न हो । अनुकूल । (२) सदृश । समान । (३) ठीक ठीक । न अधिक, न कम । बराबर । (४) मनोनुकूल । इच्छानुसार ।

मुद्राफिकृत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) अनुरूपता । (२) अनुकूलता । (३) मित्रता । दोस्ती ।

यौ०—मेल मुद्राफिकृत ।

क्रि० प्र०—करना ।—रखना ।

मुद्राफी-संज्ञा स्त्री० दे० “माफी” ।

मुद्रामला-संज्ञा पुं० दे० “मामला” ।

मुद्रायना-संज्ञा पुं० [अ०] देख भाल करना । जाँच पड़ताल । निरीक्षण ।

मुद्रालिज-संज्ञा पुं० [अ०] इलाज करनेवाला । चिकित्सक ।

मुद्रालिजा-संज्ञा पुं० [अ०] इलाज । चिकित्सा ।

यौ०—इलाज मुद्रालिजा ।

मुद्रावज्ञा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) बदला । पलटा । (२) वह धन जो किसी कार्य अथवा हानि आदि के बदले में मिले । (३) वह रकम जो जमींदार को उस जमीन के बदले में मिलती है, जो किसी सार्वजनिक काम के लिये कानून की सहायता से ले ली जाती है ।

क्रि० प्र०—दिलाना ।—देना ।—पाना ।—मिलना ।

मुद्राहिदा-संज्ञा पुं० [अ०] पक्की बातचीत । दृढ़ निश्चय । करार ।

मुकंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुँदरू । (२) प्याज । (३) साठी धान ।

मुकंदक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्याज । (२) एक प्रकार का साठी धान ।

मुकट-संज्ञा पुं० दे० “मुकुट” ।

मुकटा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की रेशमी धोती जो प्रायः पूजन या भोजन आदि के समय पहनी जाती है ।

मुकता-संज्ञा पुं० दे० “मुक्ता” ।

वि० [हि० (प्रत्य०) अ + मुकना = समाप्त होना] [स्त्री० मुकती] जो जल्दी समाप्त न हो । बहुत अधिक । यथेष्ट । जैसे,—उनके पास मुक्ते कपड़े हैं; कहाँ तक पहनेंगे ।

मुकृता-वि० [अ० मुकृत्य] (१) काट छाँटकर दुरुस्त किया हुआ । ठीक तरह से बनाया हुआ । जैसे,—मुकृता दाढ़ी ।

(२) सभ्य । शिष्ट । जैसे,—मुकृता सुरत ।

मुकदमा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) दो पक्षों के बीच का धन, अधि-

कार आदि से संबंध रखनेवाला कोई झगड़ा अथवा किसी अपराध (जुर्म) का मामला जो निबटारे या विचार के लिये न्यायालय में जाय । व्यवहार या अभियोग । जैसे,—वह वकील जो मुकदमा हाथ में लेता है, वही जीतता है ।

क्रि० प्र०—उठाना ।—खड़ा करना ।—चलना ।—चलाना ।—जीतना ।—हारना ।

मुहा०—मुकदमा लड़ना = मुकदमे में अपने पक्ष में प्रयत्न करना । (२) धन का अधिकार आदि पाने के लिये अथवा किए हुए अपराध पर दंड दिलाने के लिये किसी के विरुद्ध न्यायालय में कार्यवाई । दावा । नालिश ।

क्रि० प्र०—दायर करना ।

यौ०—मुकदमेबाज़ी ।

मुकदमेबाज-संज्ञा पुं० [अ० मुकदमा + फा० बाज (प्रत्य०)] वह जो प्रायः मुकदमे लड़ा करता हो ।

मुकदमेबाजी-संज्ञा स्त्री० [अ० मुकदमा + फा० बाजी] मुकदमा लड़ने का काम ।

मुकदम-वि० [अ०] (१) प्राचीन । पुराना । (२) सर्वश्रेष्ठ । (३) ज़रूरी । आवश्यक ।

क्रि० प्र०—जानना ।—समझना ।

संज्ञा पुं० (१) मुखिया । नेता । (२) रान का ऊपरी भाग जो कूल्हे से जुड़ा होता है । (कसाई)

मुकदमा-संज्ञा पुं० दे० “मुकदमा” ।

मुकदर-संज्ञा पुं० [अ०] प्रारब्ध । भाग्य । तकदीर ।

मुहा०—मुकदर आजमाना = भाग्य की परीक्षा करना । मुकदर चमकना = भाग्योदय होना ।

मुकदस-वि० [अ०] पवित्र । शुचि । پاک ।

यौ०—मुकदस किताब = ऐसी धर्मपुस्तक जो अपौरुषेय मानी जाती हो ।

मुकना-संज्ञा पुं० दे० “मुकुना” ।

क्रि० अ० [सं० मुक्त] (१) मुक्त होना । छूटना । (२) खतम होना । चुकना ।

मुकम्मल-वि० [अ०] पूरा किया हुआ । जिसमें कुछ भी करने को बाकी न हो । सब तरह से तैयार ।

मुकरना-क्रि० अ० [सं० मा = नहीं + करना] कोई बात कहकर उससे फिर जाना । कही हुई बात से या किए हुए काम से इनकार करना । नटना । जैसे,—उनका तो यही काम है; सदा कहकर मुकर जाते हैं ।

संयो० क्रि०—जाना ।—पड़ना ।

संज्ञा पुं० कहकर मुकर जानेवाला । वह जो कहे और फिर मुकर जाय ।

मुकरनी-संज्ञा स्त्री० [हि० मुकरना] मुकरी या कह-मुकरी नामक कविता । वि० दे० “मुकरी” ।

मुकराना—क्रि० सं० [हि० मुकरना का सं० रूप] (१) दूसरे को मुकरने में प्रवृत्त करना । (२) दूसरे को झूठा बनाना । (क०)

मुकरी—संज्ञा स्त्री० [हि० मुकरना + ई (प्रत्य०)] एक प्रकार की कविता जो प्रायः चार चरणों की होती है । इसके पहले तीन चरण ऐसे होते हैं, जिनका आशय दो जगह घट सकता है । इनसे प्रत्यक्ष रूप से जिस पदार्थ का आशय निकलता है, चौथे चरण में किसी और पदार्थ का नाम लेकर, उससे इन्कार कर दिया जाता है । इस प्रकार मानों कही हुई बात से मुकरते हुए कुछ और ही अभिप्राय प्रकट किया जाता है । कह-मुकरी । उ०—(क) वा बिन मोको चैन न आवे । वह मेरी तिस आन बुझावे । है वह सब गुन बारह बानी । ऐ सखि साजन ? ना सखि पानी । (ख) आप हिले औ मोहि हिलावे । वाका हिलना मोको भावे । हिल हिल के वह हुआ निसखा । ऐ सखि साजन ? ना सखि पंखा । (ग) रात समय मेरे घर आवे । भोर भए वह घर उठ जावे । यह अचरज है सब से न्यारा । ऐ सखि साजन ? ना सखि तारा । (घ) सारि रैन वह मो सँग जागा । भोर भई तब बिछुड़न लगा । वाके बिछुड़त फाटे हिया । ऐ सखि साजन ? ना सखि दिया ।

विशेष—अमीर खुसरो ने इस प्रकार की बहुत सी मुकरियाँ कही हैं । इसके अंत में प्रायः 'सखि' शब्द आता है, अतः कुछ लोग इसे सखी या सखिया भी कहते हैं ।

मुकरर—क्रि० वि० [अ०] दोबारा । फिर से । दूसरी बार ।

मुहा०—मुकरर सिकरर = दूसरी और तीसरी बार फिर । कई बार ।

मुकरर—वि० [अ०] (१) जिसका इकरार किया गया हो । जो ठहराया गया हो । तय किया हुआ । निश्चित । जैसे,—इस काम का उनसे सौ रुपया मुकरर हुआ है । (२) जो तैनात किया गया हो । नियुक्त । जैसे,—किसी आदमी को इस काम पर मुकरर कर दो ।

क्रि० वि० अवश्य ही । निस्संदेह ।

मुकररी—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मुकरर होने की क्रिया या भाव । नियुक्ति । (२) नियत राजकर । मालगुजारी । (३) नियत वेतन या वृत्ति आदि ।

मुकल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) आरग्वध । अमलतास । (२) गुग्गुल ।

मुकुब्बी—वि० [अ०] ताकत बढ़ानेवाला । बलवर्धक । पुष्टिकारक ।

मुकाबला—संज्ञा पुं० [अ०] (१) आमना सामना । (२) मुठभेड़ । (३) बराबरी । समानता । (४) तुलना । (५) मिलान । (६) विरोध । लड़ाई ।

मुहा०—मुकाबले पर आना = विरोध या प्रतिद्वंद्विता करने अथवा लड़ने के लिये सामने आना ।

मुकाबिल—क्रि० वि० [अ०] सम्मुख । सामने ।

वि० (१) सामनेवाला । (२) समान । बराबर का ।

संज्ञा पुं० (१) प्रतिद्वंद्वी । (२) शत्रु । दुश्मन ।

मुकाम—संज्ञा पुं० [अ०] (१) ठहरने का स्थान । टिकान । पड़ाव । (२) ठहरने की क्रिया । कूच का उलटा । विराम ।

मुहा०—मुकाम बोलना = अधिकारी का अपने अधीनस्थ कर्म-चारियों या सैनिकों को ठहरने की आज्ञा देना । मुकाम देना = किसी के भर जाने पर उसके घर मातमपुरती करने जाना ।

(३) रहने का स्थान । घर । (४) अवसर । मौका । (५) सरोद का कोई परदा । (संगीत)

मुकियल—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बाँस जिसे नल-बाँस या बिशुली भी कहते हैं ।

मुकियाना—क्रि० सं० [हि० मुक्ती + श्राना (प्रत्य०)] (१) किसी के शरीर पर मुकियों से बार बार आघात करना जिसमें उसके अंगों की शिथिलता दूर हो । (२) आटा गूँधने के उपरांत उसे नरम करने के लिये मुकियों से बार बार दवाना । (३) मुक्का लगाना या मारना । घूँसे लगाना । ।

मुकिर—वि० [अ०] (१) इकरार करनेवाला । प्रतिज्ञा करनेवाला । (२) किसी दस्तावेज या अरजीदावे आदि का लिखनेवाला, जिसके हस्ताक्षर से वह प्रस्तुत हो । (कच०)

मुकुटी—संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन काल का एक अस्त्र ।

मुकुंद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुक्ति देनेवाले, विष्णु । (२) पुराणा-नुसार एक प्रकार की निधि । (३) एक प्रकार का रत्न । (४) कुंदरु । (५) पारा । (६) सफेद कनेर । (७) गंभारी नामक वृक्ष । (८) पोई का साग ।

मुकुंदक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्याज । (२) साठी धान ।

मुकुंदु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुंदरु । (२) सफेद कनेर । (३) पारा । (४) गंभारी । (५) पोई का साग ।

मुकु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुक्ति । मोक्ष । (२) छुटकारा । रिहाई ।

मुकुट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल का एक प्रकार का प्रसिद्ध शिरोभूषण जो प्रायः राजा आदि धारण किया करते थे । यह प्रायः बीच में ऊँचा और कँगरेदार होता था और सारे मस्तक के ऊपर एक कान के पास से दूसरे कान के पास तक होता था । यह सोने, चाँदी आदि बहुमूल्य धातुओं का और कभी कभी रत्न-जटित भी होता था । यह माथे पर आगे की ओर रखकर पीछे से बाँध लिया जाता था । इसमें कभी कभी किरीट भी खोसा जाता था ।

पर्या०—मौलि । कोटीर । शेरर । अवतंस । उत्तंस ।

(२) पुराणानुसार एक देश का नाम ।

संज्ञा स्त्री० एक मातृगण ।

मुकुटी—संज्ञा पुं० [सं० मुकुटि] वह जिसने मुकुट धारण किया हो ।

मुकुटेकार्पाण-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का राजकर जो राजा का मुकुट बनवाने के लिये लिया जाता था।

मुकुटेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक शिव-लिंग का नाम। (२) एक प्राचीन तीर्थ का नाम।

मुकुट-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन जाति का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है।

मुकुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुख देखने का शीशा। आईना। दर्पण। (२) बकुल का वृक्ष। मौलसिरी। (३) कुम्हार का वह डंडा जिससे वह चाक चलाता है। (४) मोतिया। (५) कली। (६) बेर का पेड़।

मुकुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कली। (२) शरीर। (३) आत्मा। (४) प्राचीन काल का एक प्रकार का राजकर्मचारी। (५) एक प्रकार का छंद। (६) जमालगोटा। (७) भूमि। पृथ्वी। संज्ञा पुं० दे० “गुगुल”।

मुकुलक-संज्ञा पुं० [सं०] दंती वृक्ष।

मुकुलाग्र-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का अस्त्र जो कली की आकृति का होता था।

मुकुलित-वि० [सं०] (१) जिसमें कलियाँ आई हों। (२) कुछ खिली हुई। (कली) (३) आधा खुला, आधा बंद। कुछ कुछ खुला। (४) सपकता हुआ। (नेत्र)।

मुकुली-संज्ञा पुं० [सं० मुकुलिन्] वह जिसमें कलियाँ आई हों।

मुकुष्ठ-संज्ञा [सं०] मोठ।

मुकुष्ठक-संज्ञा पुं० [सं०] मोठ।

मुक्का-संज्ञा पुं० [सं० मुष्टिका] [स्त्री० अल्पा० मुक्की] हाथ का वह रूप जो उँगलियों और अँगूठे को बंद कर लेने पर होता है और जिससे प्रायः आघात किया जाता है। बँधी मुठ्ठी जो मारने के लिये उठाई जाय।

मुहा०—मुक्का चलाना या मारना = मुक्के से आघात करना।

मुक्का सा लगना = हादिक कष्ट पहुँचना।

यौ०—मुक्केबाजी।

मुक्की-संज्ञा पुं० [हि० मुक्का + ई (प्रत्य०)] (१) मुक्का। धूँसा। (२) वह लड़ाई जिसमें मुक्कों की मार हो। (३) आटा गूँधने के उपरांत उसे मुठ्ठियों से बार बार दबाना जिससे आटा नरम हो जाता है।

क्रि० प्र०—देना।—लगाना।

(४) मुठ्ठियाँ बाँधकर उससे किसी के शरीर पर धीरे धीरे आघात करना, जिससे शरीर की शिथिलता और पीड़ा दूर होती है। (यह हाथ-पैर आदि दबाने की एक क्रिया है।)

क्रि० प्र०—मारना।—लगाना।

मुक्केबाजी-संज्ञा स्त्री० [हि० मुक्का + बाजी (प्रत्य०)] मुक्कों की लड़ाई। धूँसेबाजी। धूसमधूस।

मुक्कैश-संज्ञा पुं० [अ०] (१) चाँदी या सोने का एक विशिष्ट

रूप में काटा हुआ तार जिसे बादला कहते हैं। (२) सुन-हले या रुपहले तारों का बना हुआ कपड़ा। ताश। तमामी। जरबफत।

मुक्कैशी-वि० [अ० मुक्कैश + ई (प्रत्य०)] (१) बादले का बना हुआ। (२) ज़री या ताश का बना हुआ।

मुक्कैशी गोखरू-संज्ञा पुं० [हि० मुक्कैशी + गोखरू] एक प्रकार का महीन गोखरू जो तारों को मोड़कर बनाया जाता है।

मुक्कवी-संज्ञा पुं० [हि० मुख + ई (प्रत्य०)] (१) गोले कबूतर से मिलता जुलता एक प्रकार का कबूतर जो प्रायः उन्हीं के साथ मिलकर उड़ता है और अपनी गरदन ज़रा कसे रहता है। (२) वह कबूतर जिसका सारा शरीर तो काला, हरा या लाल हो, पर जिसके सिर और डैनों पर एक या दो सफेद पर हों।

मुक्त-वि० [सं०] (१) जिसे मोक्ष प्राप्त हो गया हो। जिसे मुक्ति मिल गई हो। जैसे,—काशी में मरने से मनुष्य मुक्त हो जाता है। (२) जो बंधन से छूट गया हो। जिसका छुटकारा हो गया हो। जैसे,—वह कारागार से मुक्त हो गया।

संज्ञा पुं० पुराणानुसार एक प्राचीन ऋषि का नाम।

(३) जो पकड़ या दबाव से इस प्रकार अलग हुआ हो कि दूर जा पड़े। चलने के लिये छूटा हुआ। फँका हुआ। क्षिप्त। जैसे,—बाण का मुक्त होना।

मुक्तचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह साँप जिसने अभी हाल में कँचुली छोड़ी हो।

मुक्तकंठ-वि० [सं०] (१) जो ज़ोर से बोलता हो। चिल्लाकर बोलनेवाला। (२) जो बोलने में बेधड़क हो। जिससे कहने में आगा-पीछा न हो। जैसे—मुक्तकंठ होकर कोई बात स्वीकार करना।

मुक्तक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल का एक प्रकार का अस्त्र जो फेंककर मारा जाता था। (२) एक प्रकार का काव्य जो एक ही पद्य में पूरा होता है। वह कविता जिसमें कोई एक कथा या प्रसंग कुछ दूर तक न चले। फुटकर कविता। ‘प्रबंध’ का उलटा जिसे ‘उद्भट’ भी कहते हैं।

मुक्तकच्छ-संज्ञा पुं० [सं०] एक बौद्ध का नाम।

मुक्तकेशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] काली देवी का एक नाम।

मुक्तचंदन-संज्ञा पुं० [सं०] लाल चंदन।

मुक्तचंदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] चिंचा नामक साग। चंचु।

मुक्तचक्षु-संज्ञा पुं० [सं० मुक्तचक्षुस्] सिंह। शेर।

मुक्तचेता-संज्ञा पुं० [सं० मुक्तचेतस्] वह जिसमें मोक्ष प्राप्त करने की बुद्धि आ गई हो।

मुक्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुक्त होने का भाव। मुक्ति। मोक्ष। (२) छुटकारा।

मुक्तनिर्माक-संज्ञा पुं० [सं०] वह साँप जिसने अभी हाल में केंचुली छोड़ी हो।

मुक्तपत्राढ्य-संज्ञा पुं० [सं०] तालीश।

मुक्तपुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसकी आत्मा मुक्त हो। वह जिसका मोक्ष हो गया हो।

मुक्तबंधना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का मोतिया। (२) बेला।

मुक्तबुद्धि-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसमें मुक्ति प्राप्त करने के योग्य बुद्धि आ गई हो। मुक्तचेता।

मुक्तमाता-संज्ञा स्त्री० [सं०] सीप। शुक्ति।

मुक्तरसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] रासना।

मुक्तलज्ज-वि० [सं०] (१) जिसने लज्जा का परित्याग कर दिया हो। (२) निर्लज्ज। बेहया।

मुक्तवर्चा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अदितमंजरी। रुद्रा।

मुक्तवर्षीय-संज्ञा पुं० [सं०] कुप्पा।

मुक्तवसन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसके शरीर पर कोई वस्त्र न हो। (२) वह जिसने वस्त्र पहनना छोड़ दिया हो। नंगा रहनेवाला। (३) जैन यतियों या संन्यासियों का एक भेद।

मुक्तवास-संज्ञा पुं० [सं०] सीप। शुक्ति।

मुक्तवेणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) द्रौपदी का एक नाम। (२) प्रयाग का त्रिवेणी संगम।

मुक्तव्यापार-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसका संसार के कार्यों या व्यापारों से कोई संबंध न रह गया हो। संसार-त्यागी।

मुक्तशृंग-संज्ञा पुं० [सं०] रोहू मछली।

मुक्तसंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो विषय-वासना से रहित हो गया हो। (२) परित्राजक।

मुक्तसार-संज्ञा पुं० [सं०] केले का पेड़।

मुक्तहस्त-वि० [सं०] [संज्ञा मुक्तहस्तता] जो खुले हाथों दान करता हो। बहुत बड़ा दानी।

मुक्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मोती। (२) रासना।

मुक्ताकेशी-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बहुत बढ़िया बैंगन।

मुक्तागार-संज्ञा पुं० [सं०] सीप। शुक्ति।

मुक्तागृह-संज्ञा पुं० [सं०] सीप। शुक्ति।

मुक्तापात-संज्ञा पुं० [सं०] मुक्ता + हि० पात = पता] एक प्रकार की झाड़ी जिसके डंठलों से सीतलपाटी नामक चटाई बनाई जाती है। यह झाड़ी पूर्व बंगाल, आसाम और बर्मा की नीची तर भूमि में अधिकता से होती है और प्रायः इसकी पनीरी लगाई जाती है।

मुक्तापुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] कुंद का धौधा या फूल।

मुक्ताप्रसू-संज्ञा पुं० [सं०] सीप। शुक्ति।

मुक्ताफल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोती। (२) कपूर। (३) हरफा रेवरी। लवनीफल। (४) एक प्रकार का छोटा लिसोड़ा।

मुक्ताभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] त्रिपुर-मल्लिका। त्रिपुरमाली।

मुक्तामाता-संज्ञा स्त्री० [सं०] सीप। शुक्ति।

मुक्तामोदक-संज्ञा पुं० [सं०] मोतीचूर का लड्डू।

मुक्तालता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मोतियों का कंटा।

मुक्तावास-संज्ञा पुं० [सं०] सीप। शुक्ति।

मुक्तास्फोट-संज्ञा पुं० [सं०] सीप। शुक्ति।

मुक्तिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक उपनिषद् का नाम जिसमें मुक्ति के संबंध में मीमांसा की गई है।

मुक्तिक्षेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वाराणसी। काशी। (२) कावेरी नदी के पास का एक प्राचीन तीर्थ जिसका दूसरा नाम वकुलारण्य भी था।

मुक्तितीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] मुक्ति देनेवाले, विष्णु।

मुक्तिप्रद-संज्ञा पुं० [सं०] हरा मूँग।

मुक्तिमती-संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत के अनुसार एक नदी का नाम।

मुक्तिमुक्त-संज्ञा पुं० [सं०] शिलारस। सिद्धहक।

मुक्तिसाधन-संज्ञा पुं० [सं०] मुक्ति प्राप्त करने की कामना से ईश्वर और आत्मा के स्वरूप का चिंतन करना।

मुक्तेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] एक शिव-लिंग का नाम।

मुखंडा-संज्ञा पुं० [हि० मुख + ङंडा (प्रत्य०)] झारी आदि टोंटीदार बरतनों में किया हुआ वह छेद जिसमें टोंटी जड़ी जाती है।

मुख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुँह। आनन। (२) घर का द्वार। दरवाजा। (३) नाटक में एक प्रकार की संधि। (४) नाटक का पहला शब्द। (५) किसी पदार्थ का अगला या ऊपरी खुला भाग। (६) शब्द। (७) नाटक। (८) वेद। (९) पक्षी की चोंच। (१०) जीरा। (११) आदि। आरंभ। (१२) बड़हर। (१३) मुरगाबी। (१४) किसी वस्तु से पहले पढ़नेवाली वस्तु। आगे या पहले आनेवाली वस्तु। जैसे,— रजनीमुख = संध्या काल।

वि० प्रधान। मुख्य।

मुखलुर-संज्ञा पुं० [सं०] दाँत।

मुखगंधक-संज्ञा पुं० [सं०] प्याज।

मुखचपल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो बहुत अधिक या बढ़ बढ़कर बोलता हो। (२) वह जो कटु वचन कहता हो।

मुखचपलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बहुत अधिक या बढ़ बढ़कर बोलना। (२) कटु भाषण।

मुखचपला-संज्ञा स्त्री० [सं०] आर्या छंद का एक भेद।

मुखचपेटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] कान के अंदर का एक अवयव।

मुखचौरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जीभ। जिह्वा। (२) फाज।

मुखज-वि० [सं०] मुँह से उत्पन्न ।

संज्ञा पुं० ब्राह्मण (जो भगवान् के मुख से उत्पन्न माने गए हैं) ।

मुखड़ा-संज्ञा पुं० [सं० मुख + हि० ङा (प्रत्य०)] मुख । चेहरा । आनन ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग प्रायः बहुत ही सुंदर मुख के लिये होता है । जैसे,—चाँद सा मुखड़ा ।

मुखतार-संज्ञा पुं० [अ०] (१) जिसे किसी ने अपना प्रतिनिधि बनाकर कोई काम करने का अधिकार दिया हो ।

यौ०—मुखतार आम । मुखतार खास ।

(२) एक प्रकार के कानूनी सलाहकार और काम करनेवाले जो वकील से छोटे होते हैं और प्रायः छोटी अदालतों में फौजदारी या माल के मुकदमे लड़ते हैं ।

मुखतार आम-संज्ञा पुं० [अ०] वह गुमास्ता या प्रतिनिधि जिसे सब प्रकार के काम करने, विशेषतः मुकदमे आदि लड़ने का अधिकार दिया गया हो ।

मुखतारकार-संज्ञा पुं० [अ० मुखतार + फा० कार] वह जो किसी काम की देख-रेख के लिये नियुक्त किया गया हो ।

मुखतारकारी-संज्ञा स्त्री० [हि० मुखतारकार + ई (प्रत्य०)] (१) मुखतारकार का काम या पद । (२) दे० “मुखतारी” ।

मुखतार खास-संज्ञा पुं० [अ० मुखतार + फा० खास] वह जो किसी विशिष्ट कार्य या मुकदमे के लिये प्रतिनिधि बनाया गया हो ।

मुखतारनामा-संज्ञा पुं० [अ० मुखतार + फा० नामा] (१) वह अधिकार-पत्र जिसके द्वारा कोई व्यक्ति किसी की ओर से अदालती कार्रवाई करने के लिये मुखतार बनाया जाय । यह दो प्रकार का होता है—मुखतारनामा खास और मुखतारनामा आम । (२) वह अधिकार-पत्र जिसके अनुसार कोई पेशेवर मुखतार कोई मुकदमा लड़ने के लिये नियुक्त किया जाय ।

मुखतारनामा आम-संज्ञा पुं० [हि० मुखतारनामा + फा० आम] वह अधिकारपत्र जिसके द्वारा कोई मुखतार आम नियुक्त किया जाय ।

मुखतारनामा खास-संज्ञा पुं० [हि० मुखतारनामा + फा० खास] वह अधिकारपत्र जिसके द्वारा कोई मुखतारखास नियुक्त किया जाय ।

मुखतारी-संज्ञा स्त्री० [हि० मुखतार + ई (प्रत्य०)] (१) मुखतार होकर दूसरे के मुकदमे लड़ने का काम । (२) मुखतार का पेशा । (३) प्रतिनिधित्व ।

मुखताल-संज्ञा पुं० [हि० मुख + ताल] किसी गीत का पहला पद । टेक ।

मुखदूषण-संज्ञा पुं० [सं०] धाज ।

मुखदूषिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुँह का एक प्रकार का क्षुद्र रोग जिसमें चेहरे पर छोटी छोटी फुन्सियाँ निकल आती हैं । मुँहासा ।

मुखदूषी-संज्ञा पुं० [सं० मुखदूषिन्] लहसुन ।

मुखधौता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भारंगी । भार्गी । (२) ब्राह्मण-यष्टिका ।

मुखद्वस-वि० [अ०] नपुंसक ।

मुखपट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुँह ढकने का वस्त्र । नकाब । (२) घूँघट ।

मुखपाक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जो मनुष्यों और घोड़ों को होता है और जिसमें उनके मुँह में छोटे छोटे घाव हो जाते हैं ।

मुखपान-संज्ञा पुं० [हि० मुख + पान] पान के आकार का पीतल या किसी और धातु का कटा हुआ वह ढकड़ा जो संदूक या अलमारी आदि में ताली लगाने के स्थान में सुंदरता के लिये जड़ा जाता है और जिसके बीच में ताली लगाने के लिये छेद होता है ।

मुखपिंड-संज्ञा पुं० [सं०] वह पिंड जो मृत व्यक्ति के उद्देश्य से उसकी अंत्येष्टि क्रिया से पहले दिया जाता है ।

मुखपिड़िका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुँहासा ।

मुखपूरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुँह में पानी भरकर फेंकना । कुला । (२) मुँह में कुली के लिये लिया हुआ पानी ।

मुखप्रलेक संज्ञा पुं० [सं०] भावप्रकाश के अनुसार मुँह का एक रोग जो श्लेष्मा के विकार से होता है ।

मुखप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो खाने में अच्छा लगे । स्वादिष्ट । (२) नारंगी । (३) ककड़ी ।

मुखफफ-वि० [अ०] जो खफीफ या हलका किया गया हो । जो घटाकर कम किया गया हो ।

संज्ञा पुं० किसी पदार्थ या शब्द आदि का संक्षिप्त रूप । जैसे,—“मीठा” का मुखफफ “मिठ” या “घोड़ा” का मुखफफ “घुड़” होता है ।

मुखबंद-संज्ञा पुं० [सं० मुख + हि० बंद] घोड़ों का एक रोग जिसमें उनका मुँह बंद हो जाता है और जल्दी नहीं खुलता । इसमें उसके मुँह से लार भी बहुत बहती है ।

मुखबंध-संज्ञा पुं० [सं०] किसी ग्रंथ की प्रस्तावना या भूमिका ।

मुखबंधन-संज्ञा पुं० [सं०] मुखबंध । प्रस्तावना ।

मुखविर-संज्ञा पुं० [अ०] खबर देनेवाला । जासूस । गोइंदा ।

मुखविरा-संज्ञा स्त्री० [हि० मुखविर + ई (प्रत्य०)] (१) खबर देने का काम । मुखविर का काम । (२) मुखविर का पद ।

मुखभूषण-संज्ञा पुं० [सं०] तांबूल । पान ।

मुखभेड़-संज्ञा स्त्री० दे० “मुठभेड़” ।

मुखमंडनक-संज्ञा पुं० [सं०] तिल का पौधा ।

मुखमंडिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का मुख-रोग । (२) इस रोग की अधिष्ठात्री देवी ।

मुखमंडितिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बालकों का एक प्रकार का रोग ।

मुखमसा-संज्ञा पुं० [अ० मुखमसा = विकलता या कठिनता] झगड़ा । झमेला । झंझट । बखेड़ा ।

क्रि० प्र०—में पड़ना ।

मुखमाधुर्य-संज्ञा पुं० [सं०] भावप्रकाश के अनुसार श्लेष्मा के विकार से होनेवाला एक प्रकार का रोग जिसमें मुँह मीठा सा बना रहता है ।

मुखमोद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सलई का वृक्ष । शलकी । (२) काला सहिजन ।

मुखम्मस-वि० [अ०] जिसमें पाँच कोने या अंग आदि हों । संज्ञा पुं० उर्दू या फारसी की एक प्रकार की कविता जिसमें एक साथ पाँच चरण या पद होते हैं ।

मुखयंत्रण-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़े या बैल आदि की लगाम ।

मुखर-वि० [सं०] (१) जो अप्रिय बोलता हो । कटुभाषी । (२) बहुत बोलनेवाला । बकवादी । (३) प्रधान । अग्रगण्य । संज्ञा पुं० (१) कौआ । (२) शंख ।

मुखरोग-संज्ञा पुं० [सं०] ओंठ, मसूड़े, दाँत, जीभ, तालू या गले आदि में होनेवाले रोग जो वैद्यक के अनुसार सब मिलाकर ६७ प्रकार के माने गए हैं । इनमें से ओंठों में होनेवाले ८ प्रकार के, मसूड़ों में होनेवाले १६ प्रकार के, दाँतों में होनेवाले ८ प्रकार के, जीभ में होनेवाले ५ प्रकार के, तालू में होनेवाले ९ प्रकार के, कंठ में होनेवाले १८ प्रकार के और सारे मुख में होनेवाले ३ प्रकार के हैं ।

मुखलांगल-संज्ञा पुं० [सं०] सूअर ।

मुखलिसी-संज्ञा स्त्री० [अ०] छुटकारा । रिहाई ।

क्रि० प्र०—करना ।—देना । पाना ।—मिलना ।—होना ।

मुखलेप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का मुख-रोग । मुँह का चट चट करना । (२) वह लेप जो मुँह पर शोभा या सुगंध के लिये लगाया जाय ।

मुखवल्लभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो खाने में अच्छा लगे । स्वादिष्ट । (२) अनार का पेड़ ।

मुखवाचिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] ब्राह्मणी या पाद्री नाम की लता । अंबछा ।

मुखवाद्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुँह से बम् बम् शब्द करना । (शिवपूजन में) (२) मुँह से फूँककर बजाया जानेवाला बाजा । जैसे,—शंख, शहनाई आदि ।

मुखवास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गंधचूष । (२) तरबूज की लता ।

मुखवासन-संज्ञा पुं० [सं०] अनेक प्रकार की सुगंधित ओपधियों

आदि को मिलाकर बनाया हुआ वह चूर्ण जिससे मुँह की दुर्गंध दूर होती है और उसमें सुवास आती है ।

मुखवासिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती ।

मुखविपुला-संज्ञा स्त्री० [सं०] आर्या छंद का एक भेद ।

मुखविष्टा-संज्ञा स्त्री० [सं०] तेलचट या सनकिरवा नाम का कीड़ा ।

मुखवैदल-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का कीड़ा जिसके काटने से वायु-जन्य पीड़ा होती है ।

मुखव्यंग-संज्ञा पुं० [सं०] मुँह पर पड़नेवाले छोटे छोटे दाग । वैद्यक के अनुसार अधिक क्रोध या परिश्रम करने के कारण वायु और पित्त के मिल जाने से ये दाग होते हैं । इनसे कोई कष्ट तो नहीं होता, पर मुख की शोभा बिगड़ जाती है ।

मुखशफ-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो कटु वचन कहता हो । मुखर ।

मुखशुद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मंजन या दातन आदि की सहायता से मुँह साफ़ करना । (२) भोजन के उपरांत पान, सुपारी आदि खाकर मुँह शुद्ध करना ।

मुखशोधन-संज्ञा पुं० [सं०] वह पदार्थ जिसके खाने से मुँह शुद्ध होता हो । (२) दालचीनी । (३) तज । वि० चरपरा ।

मुखशोधी-संज्ञा पुं० [सं० मुखशोधिन] (१) मुँह को शुद्ध करने-वाला पदार्थ । (२) जँबीरी नीबू ।

मुखशोष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तृषा । प्यास । (२) प्यास या गरमी से मुँह सूखना ।

मुखसंभव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भगवान् के मुख से उत्पन्न, ब्राह्मण । (२) पुष्करमूल । पुहकरमूल ।

मुखसिंचन मंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मंत्र जिससे जल फूँककर उस आदमी के मुँह पर छींटे दिए जाते हैं, जिसके पेट में किसी प्रकार का विष उतर जाता है ।

मुखसुर-संज्ञा पुं० [सं०] ताड़ी ।

मुखसूची-संज्ञा स्त्री० [सं०] अमड़े का वृक्ष । आभ्रातक ।

मुखस्थ-वि० [सं०] जो ज़बानी याद हो । कंठस्थ । वर-ज़बान ।

मुखस्नाव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) थूक । लार । (२) बालकों का एक रोग जिसमें उनके मुँह से बहुत अधिक लार बहती है । कहते हैं कि कफ़ से दूषित स्तन पीने से यह रोग होता है ।

मुखाग्नि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जंगल की आग । दावानल । (२) मृत व्यक्ति को चिता पर रखकर पहले उसके मुँह में आग लगाने की क्रिया ।

मुखाग्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ओंठ । (२) किसी पदार्थ का अगला भाग ।

वि० जो ज़बानी याद हो । कंठस्थ । वर-ज़बान । जैसे,—उसे सारी गीता मुखाग्र है ।

मुखातिव-वि० [सं०] जिससे बात की जाय । जिससे कुछ कहा जाय ।

मुहा०—(किसी की तरफ) मुखातिव होना = (१) किसी की ओर धूम कर उससे बातें करना । (२) किसी की बात सुनने के लिये उसकी ओर प्रवृत्त होना ।

मुखापेक्षक-संज्ञा पुं० [सं०] दूसरों का मुँह ताकनेवाला । दूसरों के सहारे रहनेवाला । दूसरों की कृपा पर रहनेवाला ।

मुखापेक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दूसरों का मुँह ताकना । दूसरों के आश्रित रहना ।

मुखापेक्षी-संज्ञा पुं० [सं० मुखापेक्षिन्] वह जो दूसरों का मुँह ताकता हो । दूसरों के सहारे रहनेवाला । दूसरे की कृपा-दृष्टि के भरोसे रहनेवाला । आश्रित ।

मुखामय-संज्ञा पुं० [सं०] मुँह में होनेवाला रोग । मुखरोग ।

मुखार्जक-संज्ञा पुं० [सं०] बनतुलसी का पौधा । बबरी तुलसी ।

मुखालिफ-वि० [अ०] (१) जो खिलाफ हो । विरुद्ध पक्ष का । विरोधी । (२) शत्रु । दुश्मन । (३) प्रतिद्वंद्वी ।

मुखालिफत-वि० [अ०] विरोध । (२) शत्रुता । दुश्मनी ।

मुखालु-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बड़ा मीठा कंद जिसे स्थूलकंद, महाकंद या दीर्घकंद भी कहते हैं । वैद्यक में यह मधुर, शीतल, रुचिकारी, वातवर्धक तथा पित्त, शोष, दाह और प्यास को दूर करनेवाला माना गया है ।

मुखासव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) थूक । (२) लार ।

मुखास-संज्ञा पुं० [सं०] केकड़ा ।

मुखासव-संज्ञा पुं० [सं०] मुँह से बहनेवाली थूक या लार ।

मुखिक-संज्ञा पुं० [सं०] मोखा नामक वृक्ष ।

मुखिया-संज्ञा पुं० [सं० मुख्य + इया (प्रत्य०)] (१) नेता । प्रधान । सरदार । जैसे,—वे अपने गाँव के मुखिया हैं । (२) वह जो किसी काम में सब से आगे हो । किसी काम को सब से पहले करनेवाला । अगुआ । (३) वल्लभ संप्रदाय के मंदिरों का वह कर्मचारी जो मूर्ति का पूजन करता और भोग आदि लगाता है । ऐसा कर्मचारी प्रायः पाक-विद्या में भी निपुण हुआ करता है ।

मुखुली-संज्ञा स्त्री० [सं०] बौद्धों की एक देवी का नाम ।

मुखोलका-संज्ञा स्त्री० [सं०] दावाग्नि ।

मुखतलिफ-वि० [अ०] (१) भिन्न । अलग । पृथक् । (२) अनेक प्रकार का । तरह तरह का ।

मुखतसर-वि० [अ०] (१) जो थोड़े में हो । संक्षिप्त । (२) छोटा । (३) अल्प । थोड़ा ।

मुखतार-संज्ञा पुं० दे० “मुखतार” ।

विशेष—इसके यौगिक शब्दों के लिये दे० “मुखतार” के यौगिक ।

मुख्य-वि० [सं०] सब में बड़ा । ऊपर या आगे रहनेवाला । प्रधान । श्रेष्ठ ।

संज्ञा पुं० (१) यज्ञ का पहला कल्प । (२) वेद का अध्ययन और अध्यापन । (३) अमांत मास ।

मुख्यचांद्र-संज्ञा पुं० [सं०] चांद्र मास के दो विभागों में से एक । शुद्ध प्रतिपदा से लेकर अमावास्या तक का काल जो ‘अमांत चांद्र मास’ भी कहलाता है । वि० दे० “मास” ।

मुख्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुख्य होने का भाव । प्रधानता । श्रेष्ठता ।

मुख्यसर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] स्थावर वृष्टि ।

मुगदर-संज्ञा पुं० [सं० मुदर] लकड़ी की एक प्रकार की गावदुमी, लंबी और भारी मुगरी जिसका प्रायः जोड़ा होता है और जिसका उपयोग व्यायाम के लिये किया जाता है । जोड़ी ।

विशेष—इसमें ऊपर की ओर पकड़ने के लिये पतली मुठिया होती है और नीचे का भाग बहुत मोटा होता है । दोनों हाथों में एक एक मुगदर उठा लिया जाता है और बारी बारी से हर एक मुगदर पीठ के पीछे से घुमाकर सामने लाते और उलटे बल में ऊपर की ओर खड़ा करते हैं । इससे बाहुओं में बहुत बल आता है ।

कि० प्र०—फेरना ।—हिलाना ।

मुगना-संज्ञा पुं० [हि० मुनगा] सहिजन । मुनगा ।

मुगरा-संज्ञा पुं० दे० “मोगरा” ।

मुगरेला-संज्ञा पुं० [हि० मँगरेला] कलौजी या मँगरेला नामक दाना, जिसका व्यवहार मसाले में होता है ।

मुगल-संज्ञा पुं० [फा०] [स्त्री० मुगलानी] (१) मंगोल देश का निवासी । (२) तुर्कों का एक श्रेष्ठ वर्ग जो तातार देश का निवासी था । इस वर्ग के लोगों ने इधर कुछ दिनों तक भारत में आकर अपना साम्राज्य स्थापित करके चलाया था । इस वर्ग का पहला सम्राट् बाबर था, जिसने सन् १५२६ ई० में भारत पर विजय प्राप्त की थी । अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब इसी जाति के और बाबर के वंशज थे । इन लोगों के शासन काल में साम्राज्य बहुत विस्तृत हो गया था । परंतु औरंगजेब की मृत्यु (सन् १७०७ ई०) के उपरांत इस साम्राज्य का पतन होने लगा और सन् १८५७ में उसका अंत हो गया । (३) मुसलमानों के चार वर्गों में से एक वर्ग जो शैखों और सैयदों से छोटा तथा पठानों से बड़ा और श्रेष्ठ समझा जाता है ।

मुगलई-वि० [फा० मुगल + ई (प्रत्य०)] मुगलों का सा । मुगलों की तरह का । जैसे,—मुगलई पाजामा, मुगलई कुरता, मुगलई हड्डी ।

मुगल पठान-संज्ञा पुं० [फा०] एक प्रकार का खेल जो जमीन पर खाने खींचकर सोलह कंकड़ियों से खेला जाता है । गोटी ।

मुगलाई-वि० दे० “मुगलाई” ।

संज्ञा स्त्री० [फा० मुगल + आई (प्रत्य०)] मुगल होने का भाव ।
मुगलपन ।

मुगलानी-संज्ञा स्त्री० [फा० मुगल + आनी (प्रत्य०)] (१) मुगल जाति की स्त्री । (२) कपड़ा सीनेवाली स्त्री । (३) दासी । मजदूरनी । (मुसल०)

मुगली-संज्ञा स्त्री० [फा० मुगल + ई (प्रत्य०)] बच्चों को होनेवाला पसली का रोग जिसमें उनके हाथ पैर एँठ जाते हैं और वे बेहोश हो जाते हैं ।

मुगवन-संज्ञा पुं० [सं० वनमुद्र] वनमूँग । मोठ ।

मुगवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अतिस्त्रवा । मयूरवल्ली ।

मुगलता-संज्ञा पुं० [अ०] धोखा । छल । झूँसा ।

क्रि० प्र०—खाना ।—देना ।—में डालना ।

मुगह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पपीहा । (२) एक प्रकार का हिरन ।

मुग्धम-वि० [देश०] (बात) जो बहुत खोलकर या स्पष्ट करके न कही जाय । संकेत रूप में कही हुई (बात) ।

मुहा०—मुग्धम रहना = (१) चुप रहना । कुछ न बोलना ।
(व्यक्ति के संबंध में) (२) किसी का रहस्य प्रकट न होना । भेद न खुलना । परदा ढका रह जाना ।

संज्ञा पुं० दाँव में वह अवस्था जिसमें न हार हो और न जीत । (जुआरी)

क्रि० प्र०—रहना ।

मुग्ध-वि० [सं०] (१) मोह या भ्रम में पड़ा हुआ । मूढ़ । (२) सुंदर । खूबसूरत । (३) नया । नवीन । (४) आसक्त । मोहित । लुभाया हुआ ।

मुग्धता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुग्ध का भाव । मूढ़ता । (२) सुंदरता । खूबसूरती । (३) मोहित या आसक्त होने का भाव ।

मुग्धवृद्धि-वि० [सं०] जिसकी बुद्धि आंत हो । बेवकूफ ।

मुग्धा-संज्ञा स्त्री० [सं०] साहित्य में वह नायिका जो यौवन को तो प्राप्त हो चुकी हो, पर जिसमें काम-चेष्टा न हो । इसके दो भेद होते हैं—अज्ञात-यौवना और ज्ञात-यौवना । इसकी क्रियाएँ और चेष्टाएँ बहुत ही मनोहारिणी होती हैं । इसका कोप बहुत ही मृदु होता है और इसे साज-सिंघार का बहुत चाव रहता है ।

मुचंगड़-वि० [हिं० मुचा + अंगड़ (प्रत्य०)] मोटा और भद्दा । जैसे,—मुचंगड़ रोट ।

मुचक-संज्ञा पुं० [सं०] लाख । लाह ।

†संज्ञा स्त्री० दे० “मोच” ।

मुचकुंद-संज्ञा पुं० [सं० मुचकुंद] एक बड़ा पेड़ जिसके पत्ते फालसे के पत्तों के आकार के और बड़े बड़े होते हैं । पत्तों में महीन महीन रोई होती है जिससे वे छूने में खुरदरे लगते

हैं । फूल में पाँच छः अंगुल लंबे और एक अंगुल के लगभग चौड़े सफ़ेद दल होते हैं । दलों के मध्य से सूत के समान कई केसर निकले होते हैं । दलों के नीचे का कोश भी बहुत लंबा होता है । फूल की सुगंध बहुत ही मीठी और मनोहर होती है । ये फूल सिर के दर्द में बहुत लाभकारी होते हैं । इसके फल कटहल के प्रारंभिक फलों के समान लंबे लंबे और पत्थर की तरह कड़े होते हैं । इसके फूल और छाल औषध के काम में आती है । वैद्यक में यह चरपरा, गरम, कड़वा, स्वर को मधुर करनेवाला तथा कफ, खाँसी, त्वचा के विकार, सूजन, सिर का दर्द, त्रिदोष, रक्त-पित्त और रुधिर-विकार को दूर करनेवाला माना गया है ।

पठ्या०—छत्रवृक्ष । चित्र । प्रतिविष्णुक । दीर्घपुष्प । बहुपत्र । सुदल । सुपुष्प । हरिवल्लभ । रक्तप्रसव ।

मुचलका-संज्ञा पुं० [तु०] वह प्रतिज्ञापत्र जिसके द्वारा भविष्य में कोई काम, विशेषतः अनुचित काम, न करने अथवा किसी नियत समय पर अदालत में उपस्थित होने की प्रतिज्ञा की जाती है; और कहा जाता है कि यदि मुश्कसे अमुक अनुचित काम हो जायगा, अथवा मैं अमुक समय पर अमुक अदालत में उपस्थित न होऊँगा, तो मैं इतना आर्थिक दंड दूँगा ।

क्रि० प्र०—लिखना ।—लिखाना ।—लेना ।

मुचिर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दाता । उदार । (२) धर्म । (३) वायु । (४) देवता ।

मुचिलिंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुचकुंद वृक्ष । (२) तिलक का पौधा । तिलपुष्पी । (३) एक नाग का नाम । (४) एक पर्वत का नाम ।

मुचिलिंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुचकुंद । (२) तिलक । तिलपुष्पी ।

मुचुक-संज्ञा पुं० [सं०] मैनफल ।

†संज्ञा स्त्री० दे० “मोच” ।

मुचुकुंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुचकुंद । (२) भागवत के अनुसार मान्धाता के एक पुत्र का नाम ।

मुचुटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) उँगली मटकाना । (२) मुट्टी ।

मुच्चा-संज्ञा पुं० [देश०] मांस का बड़ा टुकड़ा । गोश्त का लोथड़ा ।

मुछंदर-संज्ञा पुं० [हिं० मूछ] (१) जिसकी मूछें बड़ी बड़ी हों । (२) कुरूप और मूर्ख । भद्दा और बेवकूफ । (३) चूहा । (क०)

मुछियल-वि० [हिं० मूछ + इयल (प्रत्य०)] जिसकी मूछें बड़ी बड़ी हों ।

मुजकर-वि० [अ०] पुल्लिंग ।

मुजग्मा-संज्ञा पुं० [अ०] चमड़े या रस्ती का वह फेरा जो घोड़े

को आगे बढ़ने से रोकने के लिये उसकी गामची या दुमची में पिछाड़ी की रस्सी के साथ लगा रहता है।

क्रि० प्र०—वाँचना।—लगाना।

मुहा०—मुजम्मा लगाना = ऐसा काम करना जिससे कोई बात या काम रुक जाय। रोक या आड़ लगाना। मुजम्मा लेना = आड़े हाथों लेना। खबर लेना। ठीक करना।

मुजरा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह जो जारी किया गया हो। (२) वह रकम जो किसी रकम में से काट ली गई हो। जैसे,—
१०) हमारे निकलते थे; वह हमने उसमें से मुजरा कर लिए।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—पाना।—लेना।

(३) किसी बड़े या धनवान आदि के सामने जाकर उसे सलाम करना। अभिवादन। (४) वेश्या का वह गाना जो बैठकर हो और जिसमें उसका नाच न हो।

क्रि० प्र०—करना।—सुनना।—सुनाना।—होना।

मुजरद-वि० [अ०] (१) जिसके साथ और कोई न हो। अकेला। (२) जिसका विवाह न हुआ हो। बिन-व्याहा। (३) जिसने संसार का त्याग कर दिया हो।

मुजरब-वि० [अ०] तजरबा किया हुआ। आजमाया हुआ। परीक्षित। जैसे,—मुजरब दवा, मुजरब नुसखा।

मुजराई-संज्ञा पुं० [हि० मुजरा + ई (प्रत्य०)] (१) वह जो मुजरा या सलाम करता हो। (२) वह व्यक्ति जो केवल सलाम करने के लिये बेटन पाता हो। (३) वह जो मरसिया पढ़ता हो। (४) काटने या घटाने की क्रिया। (५) काटी या मुजरा की हुई रकम।

मुजराकंद-संज्ञा पुं० [सं० मुंजर] एक प्रकार का कंद जो उत्तर भारत में होता है और जिसे मुंजात भी कहते हैं। वैद्यक में यह अत्यंत स्वादिष्ट, वीर्यवर्धक तथा वात-पित्त नाशक माना गया है।

मुजरिम-संज्ञा पुं० [अ०] वह जिस पर कोई जुर्मे या अपराध लगाया गया हो। जिस पर अभियोग लगाया गया हो। अभियुक्त।

मुजल्लद-वि० [अ०] जिसकी जिल्द बँधी हो। जिल्ददार।

मुजस्सिम-वि० [अ०] स-शरीर। प्रत्यक्ष। जैसे,—लीजिए, आपके सामने मुजस्सिम खड़े हैं।

मुजारिया-वि० [अ०] जो जारी किया या कराया गया हो। (कच०)

मुजावर-संज्ञा पुं० [अ०] वह मुसलमान जो किसी पीर आदि की दरगाह या रौजे पर रहकर वहाँ की सेवा का कार्य करता हो और चढ़ावा आदि लेता हो।

मुज़िर-वि० [अ०] सुकसान पहुँचानेवाला। हानिकारक।

मुभ-सर्व० [हि० मुभे] मैं का वह रूप जो उसे कर्ता और

संबंध कारक को छोड़कर शेष कारकों में, विभक्ति लगाने से पहले प्राप्त होता है। जैसे,—मुझको, मुझसे, मुझमें।

मुभे-सर्व० [सं० मभम्, प्रा० मज्जम] एक पुरुषवाचक सर्वनाम जो उत्तम पुरुष, एकवचन और उभयलिंग है और वक्ता या उसके नाम की ओर संकेत करता है। यह “मैं” का वह रूप है जो उसे कर्म और संप्रदान कारक में प्राप्त होता है। इसमें लगी हुई एकार की मात्रा विभक्ति का चिह्न है, इसलिये इसके आगे कारक चिह्न नहीं लगता। मुझको। जैसे,—
(क) मुझे वहाँ गए कई दिन हो गए। (ख) मुझे आज कई पत्र लिखने हैं।

मुटकना †-वि० [हि० मोटा + कना (प्रत्य०)] आकार में छोटा या साधारण, पर सुंदर। जैसे,—मुटकना सा बाग।

मुटका-संज्ञा पुं० [हि० मोटा ?] एक प्रकार का देशी वस्त्र जो अधिकतर बंगाल में बनता है और धोती के स्थान में पहनने के काम में आता है।

मुटकी-संज्ञा स्त्री० [देश०] कुलथी नामक अन्न। खुरथी।

मुटमुरी-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का भदई धान।

मुटाई-संज्ञा स्त्री० [हि० मोटा + ई (प्रत्य०)] (१) मोटापन। स्थूलता। (२) पुष्टि। (३) अहंकार। घमंड। शोखी। (४) वह बेपरवाही या अभिमान जो भरपूर भोजन मिलने या कुछ धन हो जाने से हो जाय।

मुहा०—मुटाई चढ़ना = बहुत अधिक अभिमान होना। शेखी होना।

मुटाई झड़ना = अभिमान चूर्ण होना। शेखी टूटना।

मुटाना-क्रि० अ० [हि० मोटा + आना (प्रत्य०)] (१) मोटा हो जाना। स्थूलांग हो जाना। (२) शेखीवाज़ हो जाना। अहंकारी हो जाना। अहंमन्य हो जाना। उ०—हमारे आवत रिस करत अस तुम गये मुटाय।—विश्राम।

मुटासा-वि० [हि० मोटा + आसा (प्रत्य०)] वह जो खाने पीने से मजे में हो जाने या कुछ धन कमा लेने से बेपरवा और घमंडी हो गया हो।

मुटिया-संज्ञा पुं० [हि० मोटा = गठरी + ब्या (प्रत्य०)] बोझ ढोने-वाला। मजदूर।

मुट्टा-संज्ञा पुं० [हि० मूठ] (१) घास, फूस, तृण या डंठल का उतना प्ला जितना हाथ की मुट्टी में आ सके। (२) चंगुल भर वस्तु। जितनी एक मुट्टी में आ सके, उतनी वस्तु। जैसे,—एक मुट्टा आटा। (३) समेटा या बँधा हुआ समूह जो मुट्टी में आ सके। पुलिदा। जैसे,—कागज़ का मुट्टा, तार का मुट्टा। (४) शस्त्र या यंत्र आदि का वह अंश जो उसके प्रयोग के समय मुट्टी में पकड़ा जाय। बंद। दस्ता। (५) धुनियों का बेलन के आकार का वह औजार जिससे रुई धुनते समय तंत पर आघात किया जाता है। (६) कपड़े की गद्दी जो

प्रायः पहलवान आदि बाँहों पर मोटाई दिखलाने या सुंदरता बढ़ाने के लिये बाँधते हैं।

मुद्रामुहूर-संज्ञा स्त्री० [देश०] युवती स्त्री। (कहार)

मुट्टी-संज्ञा स्त्री० [सं० मुष्टिका प्रा० मुष्टिका] (१) हाथ की वह मुद्रा जो उँगलियों को मोड़कर हथेली पर दबा लेने से बनती है। बाँधी हुई हथेली। (२) उतनी वस्तु जितनी उपर्युक्त मुद्रा के समय हाथ में आ सके। जैसे,—एक मुट्टी चावल।

मुहा०—मुट्टी में = कच्चे में। अधिकार में। काबू में। बरा में।

उ०—नीच कहा विरहा करतो सखी होती कहुँ जु पै मीचु मुट्टी में।—पद्माकर। मुट्टी गरम करना = रुपया देना। धन देना। मुट्टी बंद या बाँधी होना = घर का भेद किसी को मालूम न होना। रहस्य प्रकट न होना। मुट्टी में रखा होना = बहुत समीप होना। पास होना। जैसे,—कपड़े क्या यहाँ मुट्टी में रखे हैं जो तुम्हें दे दिए जायें।

(३) उपर्युक्त मुद्रा के समय बाँधे हुए पंजे की चौड़ाई का मान। बाँधी हथेली के बराबर का विस्तार। जैसे,—इसका किनारा मुट्टी भर ऊँचा होना चाहिए। (४) हाथों से किसी के अंगों को विशेषतः हाथ पैर को पकड़ पकड़कर दबाने की क्रिया जिससे शरीर की थकावट दूर होती है। चंपी।

क्रि० प्र०—भरना।

(५) एक प्रकार की छोटी पतली लकड़ी जिसके दोनों सिरों कुछ मोटे और गोल होते हैं और जो छोटे बच्चों को खेलने के लिये दी जाती है। इसे बच्चे प्रायः चूसा करते हैं। चुसनी। (६) घोंड़े के सुम और टखने के बीच का भाग।

मुठभेड़-संज्ञा स्त्री० [हि० मूठ + भिड़ना] (१) टकर। भिड़ंत। लड़ाई। (२) भेंट। सामना।

मुठिका—संज्ञा स्त्री० [सं० मुष्टिका] (१) मुट्टी। उ०—रावण सो भट भयो मुठिका के घाय को।—तुलसी। (२) घूँसा। मुका। उ०—मुठिका एक ताहि कपि हनी। रुधिर बमत धरती दनमनी।—तुलसी।

मुठिया-संज्ञा स्त्री० [सं० मुष्टिका] (१) छुरी, हँसिया आदि औजारों का वह भाग जो मुट्टी में पकड़ा जाय। दस्ता। बेंट। (२) हाथ में रखी या ली जानेवाली वस्तु का वह भाग जो मुट्टी में पकड़ा जाता है। जैसे—छड़ी की मुठिया, छाले की मुठिया। (३) धुनियों का वह औजार जिससे वे धुनकी की ताल पर आघात करते हैं।

मुठी—संज्ञा स्त्री० दे० “मुट्टी”।

मुठकी—संज्ञा स्त्री० [हि० मूठ] काठ का बना हुआ बच्चों का एक खिलौना जिसके दोनों सिरों पर गोलियाँ सी होती हैं और बीच में पकड़ने की मूठ होती है। गोलियों में कंकड़ भरे रहते हैं जिनके कारण छिलाने से वह बजता है। मुट्टी।

३७२

उ०—कोउ मुठकी धुनधुना डुलानें कोउ करताल बजावें।—रघुराज।

मुड़क-संज्ञा स्त्री० दे० “मुरक”।

मुड़कना-क्रि० प्र० दे० “मुरकना”।

मुड़ना-क्रि० प्र० [सं० मुरण = लिपटना, फेरना खाना] (१) छड़ की तरह सीधी गई हुई वस्तु का कहीं से बल खाकर दूसरी ओर फिरना। दबाव या आघात से लचना या झुक जाना। घुमाव लेना। जैसे,—(क) छड़ पर दाव पड़ी, इससे वह मुड़ गई। (ख) यह तार तो मुड़ता ही नहीं है; इसे कैसे लपेटें। (२) किसी धारदार किनारे या नोक का इस प्रकार झुक जाना कि वह आगे की ओर न रह जाय। जैसे,—छुरी की धार या सूई की नोक मुड़ना। (३) लकीर की तरह सीधे न जाकर घूमकर किसी ओर झुकना। वक्र होकर भिन्न दिशा में प्रवृत्त होना। जैसे,—आगे चलकर यह नदी (या सड़क) दक्खिन की ओर मुड़ गई है। (४) चलते चलते सामने से किसी दूसरी ओर फिर जाना। दाएँ अथवा बाएँ घूम जाना। जैसे,—कुछ दूर जाकर दाहिनी ओर मुड़ जाना, तो उसका घर मिल जायगा। (५) घूमकर फिर पीछे की ओर चल पड़ना। पलटना। लौटना।

संयो० क्रि०—जाना।

क्रि० प्र० दे० “मुँडना”।

मुड़ला—संज्ञा स्त्री० [सं० मुंड] [स्त्री० मुड़ली] जिसके सिर पर बाल न हों। बिना बालवाला। मुंडा। उ०—कच खुबिआँ धर काजर कांनो नकटी पहरै बेसरि। मुड़ली पटिया पारि सँवारै कोढ़ी लावै केसरि।—सूर।

मुड़वाना-क्रि० प्र० [हि० मुँडना का प्रेर० रूप] (१) किसी को मुँडने में प्रवृत्त करना। उत्तरे से बाल या रोएँ दूर कराना। (२) दे० “मुँडवाना”।

क्रि० प्र० [हि० मुड़ना का प्रेर० रूप] मुड़ने या घूमने में प्रवृत्त करना।

मुड़वारी—संज्ञा स्त्री० [हि० मुँड + वारी (प्रत्य०)] (१) अठारी की दीवार का सिरा। मुँदेरा। उ०—मुड़वारी रबिमणिन सँवारी। अनल झार छूटी छबिवारी।—गुमान। (२) लेटे हुए मनुष्य का वह पार्श्व जिधर सिर हो। सिरहाना। (३) वह पार्श्व जिधर किसी पदार्थ का सिरा अथवा ऊपरी भाग हो।

मुड़हरा—संज्ञा पुं० [हि० मुँड + हर (प्रत्य०)] (१) स्त्रियों की साड़ी वा चादर का वह भाग जो ठीक सिर पर रहता है। उ०—मुख पखारि मुड़हर भिजै सीस सजल कर झाड़।—विहारी। (२) सिर का अगला भाग।

मुड़ाना-क्रि० प्र० [सं० मुंडन] सिर के सब बाल बनवाना। मुंडन कराना। मुँडाना।

मुड़िया—संज्ञा पुं० [हि० मुँडना + इया (प्रत्य०)] वह जिसका

सिर मुँड़ा हुआ हो। विशेषतः कोई संन्यासी, साधु या वैरागी आदि। उ०—यह निर्गुण है तिनहि सुनावहु जे मुडिया वसैं काशी।—सूर। वि० दे० “मुँडिया”।
[देश०] एक प्रकार की मछली।

मुडरा-संज्ञा पुं० दे० “मुँडरा”।

मुतअल्लिक-वि० [अ०] (१) संबंध रखनेवाला। लगाव रखनेवाला। संबद्ध। (२) मिला हुआ। सम्मिलित।
क्रि० वि० संबंध में। विषय में। जैसे,—उसके मुतअल्लिक मुझे कुछ नहीं कहना है।

मुतक़ा-संज्ञा पुं० [हि० मुँह + टेक] (१) कोठे के छज्जे या चौक के ऊपर पाटन के किनारे खड़ी की हुई पटिया या नीची दीवार जो गिरने से रोकने के लिये हो। (२) खंभा। (३) मीनार। लाट।

मुतदायरा-वि० [अ०] (मुक़दमा) जो दायर किया गया हो।
(कच०)

मुतफ़्नी-वि० [अ०] बहुत बड़ा धूर्त। चालाक। धोखेबाज़।
मुतफ़र्रिक-वि० [अ०] (१) भिन्न भिन्न। अलग अलग। (२) विविध। कई प्रकार का।

मुतबन्ना-संज्ञा पुं० [अ०] गोद लिया हुआ पुत्र। दत्तक पुत्र।
मुतमौवल-वि० [अ०] धनवान्। संपत्तिशाली। अमीर।
मुतरज्जिम-संज्ञा पुं० [अ०] जो अनुवाद करे। तरजुमा करनेवाला। अनुवादक।

मुतलक़-क्रि० वि० [अ०] ज़रा भी। तनिक भी। रक्ती भर भी।

वि० बिलकुल। निरा। निपट।

मुतवफ़्फा-वि० [अ०] परलोकवासी। मृत। स्वर्गीय। (कच०)
मुतवल्ली-संज्ञा पुं० [अ०] किसी नावालिग और उसकी संपत्ति का रक्षक। किसी बड़ी संपत्ति और उसके अल्पवयस्क अधिकारी का कानूनी संरक्षक। वली।

मुतवातिर-क्रि० वि० [अ०] लगातार। निरंतर।

मुतसही-संज्ञा पुं० [अ०] (१) लेखक। मुंशी। (२) पेशकार। दीवान। (३) जिम्मेदार। उत्तरदायी। (४) इंतज़ाम करनेवाला प्रबंधकर्त्ता। (५) हिसाब रखनेवाला। जमा-खर्च लिखनेवाला। (६) मुनीम। गुमास्ता।

मतसिरी-संज्ञा स्त्री० [हि० मोती + सं० श्री] कंठ में पहनने की मोतियों की कंठी। उ०—ग्रीव मुतसिरी तोरि के अँचरा सों बाँध्यो।—सूर।

मतहम्मिल-वि० [अ०] बरदाश्त करनेवाला। सहिष्णु। सहनशील।

मताचिक-क्रि० वि० [अ०] अनुसार। वमूजिब।
वि० अनुकूल।

मुतालबा-संज्ञा पुं० [अ०] उतना धन जितना पाना बाजिब हो। प्राप्तव्य धन। बाकी रुपया।

मुताह-संज्ञा पुं० [अ० मुतअ] मुसलमानों में एक प्रकार का अस्थायी विवाह जो ‘निकाह’ से निकट समझा जाता है। इस प्रकार का विवाह प्रायः शीया लोगों में होता है।

मुताही-वि० [हि० मुताह + ई (प्रत्य०)] (१) वह जिसके साथ मुताह किया गया हो। (२) रखेली (स्त्री)।

मुतिलाडू-संज्ञा पुं० [हि० मोती + लड्डू] मोतीचूर का लड्डू। उ०—मुतिलाडू हैं अति मीठे। वै खात न कबहुँ उबीठे।—सूर।

मुतेहरा-संज्ञा पुं० [हि० मोती + हार] कंकण की आकृति का एक प्रकार का आभूषण जो स्त्रियाँ कलाई पर पहनती हैं।

मुत्तफ़िक-वि० [अ०] राय से इत्तफ़ाक करनेवाला। सहमत।

मुत्तसिल-वि० [अ०] निकट। नज़दीक। समीप। पास। लगा हुआ।

क्रि० वि० लगातार। निरंतर।

मुद-संज्ञा पुं० [सं०] हर्ष। आनंद। प्रसन्नता। उ०—मुद-मंगल-मय संत-समाजू।—तुलसी।

मुदगर-संज्ञा पुं० दे० (१) “मुद्गर”। (२) दे० “मुगदर”।

मुदरा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का मादक पेय पदार्थ जो अफीम, भाँग, शराब और धतूरे के योग से बनता है और जिसका व्यवहार पश्चिमी पंजाब तथा बलोचिस्तान में होता है।

मुदरिस-संज्ञा पुं० [अ०] पाठशाला का शिक्षक। अध्यापक।

मुदा-अव्य० [अ० मुदअ = अभिप्राय] (१) तात्पर्य यह कि। (२) मगर। लेकिन।

संज्ञा स्त्री० [सं०] हर्ष। आनंद। प्रसन्नता।

मुदाम-क्रि० वि० [फा०] (१) सदा। हमेशा। सदैव। उ०—
(क) राम लखत सीता की छवि को सीयराम अभिरामै।
उभय दृगंचल भये अचंचल प्रीति पुनीत मुदामै।—
रघुराज। (ख) अहँ हम सत्य धरा सरनाम। करै रन में पर सत्य मुदाम।—गोपाल। (२) निरंतर। लगातार।
† (३) ठीक ठीक। ठूँ ब-ठूँ। (क०)

मुदामी-वि० [फा०] जो सदा होता रहे। सार्वकालिक।
उ०—दुगी मुकामी केरि सलामी। बाँधी पंचदस जौन मुदामी।—रघुराज।

मुदावसु-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार प्रजापति के एक पुत्र का नाम।

मुदित-वि० [सं०] हर्षित। आनंदित। प्रसन्न। खुश।

संज्ञा पुं० काम शास्त्र के अनुसार एक प्रकार का आलिंगन। नायिका काना यक की बाईं ओर लेटकर उसकी दोनों जाँघों के बीच में अपना बायाँ पैर रखना।

मुदिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परकीया के अंतर्गत एक प्रकार

की नायिका जो पर-पुरुष-प्रीति संबंधी कामना की आकस्मिक प्राप्ति से प्रसन्न होती है । उ०—परखि प्रेमवश पर पुरुष हरषि रही मन मैन । तब लागि झुकि आई घटा अधिक अँधेरी रैन ।—पद्माकर । (२) हर्ष । आनंद । (३) योग शास्त्र में समाधि योग्य संस्कार उत्पन्न करनेवाला एक परिकर्म जिसका अभिप्राय है—पुण्यात्माओं को देखकर हर्ष उत्पन्न करना । (ये परिकर्म चार कहे गए हैं—मैत्री, कृष्णा, मुदिता और उपेक्षा ।)

मुदिर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बादल । मेघ । उ०—(क) धाराधर जलधर जलद जग-जीवन जीमूत । मुदिर बलाहक तदितपति परजन जल-सुपूत ।—नंददास । (ख) करै मतिराम दीने दीरघ दुरद्वंद मुदिर से मेदुर मुदित मतवारे हैं ।—मतिराम । (२) वह जिसे काम-वासना बहुत अधिक हो । कामुक । (३) मेंढक ।

मुद्र—संज्ञा पुं० [सं०] मूँग नामक अन्न जिससे दाल बनाई जाती है । वि० दे० “मूँग” ।

मुद्रगिरि—संज्ञा पुं० [सं०] मूँगेर और उसके आस पास के प्रांत का प्राचीन नाम ।

मुद्रदली—संज्ञा स्त्री० [सं०] मुद्रपर्णी । बनमूँग ।

मुद्रपर्णी—संज्ञा स्त्री० [सं०] बनमूँग । मुगवन ।

मुद्रभोजी—संज्ञा पुं० [सं० मुद्रभोजिन्] बोड़ा ।

मुद्रर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) काठ का बना हुआ एक प्रकार का गावदुमा दंड जो मूठ की ओर पतला और आगे की ओर बहुत भारी होता है । इसे हाथ में लेकर हिलाते हुए पहलवान लोग कई तरह की कसरतें करते हैं । इससे कलाइयों और बाँहों में बल आता है । इसकी प्रायः जोड़ी होती है जो दोनों हाथों में लेकर बारी बारी से पीठ के पोछे से घुमाते हुए सामने लाकर तानी जाती है । मुगदर ।

क्रि० प्र०—फेरना ।—हिलाना ।

(२) प्राचीन काल का एक अस्त्र जो दंड के आकार का होता था और जिसके सिरे पर बड़ा भारी गोल पत्थर लगा होता था । (३) एक प्रकार की चमेली । मोगरा । (४) एक प्रकार की मछली ।

मुद्रल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोहिष नामक वृण । (२) एक गोत्रकार मुनि का नाम, जिनकी स्त्री इंद्रसेना थी । (३) एक उपनिषद् का नाम ।

मुद्रष्ट—संज्ञा पुं० [सं०] मुगवन । बन-मूँग ।

मुद्रा—संज्ञा पुं० [अ०] अभिप्राय । तात्पर्य । मतलब ।

मुद्ई—संज्ञा पुं० [अ०] [स्त्री० मुद्ईया] (१) दावा करनेवाला । दावादार । वादी । (२) दुश्मन । बैरी । शत्रु । उ०—मोहन भीत समीत गो लखि तेरो सबमान । अब सु दगा दै तू चलयो अरे मुद्ई मान ।—पद्माकर ।

मुद्दत—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) अवधि । जैसे,—इस हुंडी की मुद्दत पूरी हो गई है ।

मुहा०—मुद्दत काटना = थोक माल का मूल्य अवधि से पहले देने पर अवधि के बाकी दिनों का सूद काटना । (कोठीवाला)

(२) बहुत दिन । अरसा । जैसे,—बाद मुद्दत के आज आपकी शह्र दिखाई दी है ।

मुद्दती—वि० [अ० मुद्दत + ई (प्रत्य०)] वह जिसके साथ कोई मुद्दत लगी हो । वह जिसमें कोई अवधि हो । जैसे,—मुद्दती हुंडी = वह हुंडी जिसका रुपया कुछ निश्चित समय पर देना पड़े ।

मुद्दाअलेह—संज्ञा पुं० [अ०] वह जिसके ऊपर कोई दावा किया जाय । वह जिस पर कोई मुकदमा चलाया गया हो । प्रतिवादी ।

मुद्दालेह—संज्ञा पुं० दे० “मुद्दाअलेह” ।

मुद्दल—वि० दे० “मुग्ध” ।

मुद्रण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी चीज पर अक्षर आदि अंकित करना । छपाई । (२) ठपे आदि की सहायता से अंकित करके मुद्रा तैयार करना । (३) ठीक तरह से काम चलाने के लिये नियम आदि बनाना और लगाना ।

मुद्रणा—संज्ञा स्त्री० [सं०] अँगूठी ।

मुद्रणालय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह स्थान जहाँ किसी प्रकार का मुद्रण होता हो । (२) छापाखाना । प्रेस ।

मुद्रांक—संज्ञा पुं० [सं०] मुद्रा पर का चिह्न ।

मुद्रांकन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० मुद्रांकित] (१) किसी प्रकार की मुद्रा की सहायता से अंकित करने का काम । (२) छापने का काम । छपाई ।

मुद्रांकित—वि० [सं०] (१) मोहर किया हुआ (२) जिसके शरीर पर विष्णु के आयुध के चिह्न गरम लोहे से दागकर बनाए गए हों । (वैष्णव)

मुद्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी के नाम की छाप । मोहर । उ०—मुद्रित समुद्र सात मुद्रा निज मुद्रित कै, आई दिसि दसो जीति सेना रघुनाथ की ।—केशव । (२) रुपया, अक्षरफ्री आदि । सिक्का । (३) अँगूठी । छाप । छछा । उ०—बनचर कौन देश तें आयो । कहँ वे राम कहँ वे लछिमन क्यों करि मुद्रा पायो ।—सूर । (४) टाइप से छपे हुए अक्षर । (५) गोरखपंथी साधुओं के पहनने का एक कर्णभूषण जो प्रायः काँच वा स्फटिक का होता है । यह कान की लौ के बीच में एक बड़ा छेद करके पहना जाता है । उ०—(क) श्रंगी मुद्रा कनक खपर लै करिहौं जोगिन भेस ।—सूर । (ख) भसम लगाऊँ गात चंदन उतारों तात, कुंडल उतारों मुद्रा कान पहिराय छौं ।—हनुमान । (६) हाथ, पाँव, आँख, मुँह, गर्दन आदि की कोई स्थिति । (७)

बैठने, लेटने वा खड़े होने का कोई ढंग । अंगों की कोई स्थिति । (८) चेहरे का ढंग । मुख की आकृति । मुख की चेष्टा । उ०—मायावती अकेले इस बाग में टहल रही थी और एक ऐसी मुद्रा बनाये हुए थी, जिससे मालूम होता था कि यह किसी बड़े गंभीर विचार में मग्न है ।—बालकृष्ण भट्ट । (९) विष्णु के आयुधों के चिह्न जो प्रायः भक्त लोग अपने शरीर पर तिलक आदि ने रूप में अंकित करते हैं या गरम लोहे से दगाते हैं । (जैसे,—शंख, चक्र, गदा आदि के चिह्न ।) छाप । (१०) तांत्रिकों के अनुसार कोई भूना हुआ अन्न । (११) तंत्र में उँगलियों आदि की अनेक रूपों की स्थिति जो किसी देवता के पूजन में बनाई जाती है । जैसे,—धेनु मुद्रा, योनि मुद्रा । (१२) हठ योग में विशेष अंगविन्यास । ये मुद्राएँ पाँच होती हैं । यथा—खेचरी, भूचरी, चाचरी, गोचरी और उनमुनी । (१३) अगस्त्य ऋषि की स्त्री, लोपामुद्रा । (१४) वह अलंकार जिसमें प्रकृत या प्रस्तुत अर्थ के अतिरिक्त पद्य में कुछ और भी साभिप्राय नाम निकलते हैं । यथा—कत लपटैयत मो गरे सोन जुही निसि सैन । जेहि चंपकवरनी किये गुल अनार रँग नैन ।—बिहारी । (इस पद्य में प्रकृत अर्थ के अतिरिक्त 'मोगरा' 'सोनजुही' 'चंपक' इत्यादि फूलों के नाम भी निकलते हैं ।)

मुद्राकर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राज्य का वह प्रधान अधिकारी जिसके अधिकार में राजा की मोहर रहती है । (२) वह जो किसी प्रकार की मुद्रा तैयार करता हो । (३) वह जो किसी प्रकार के मुद्रण का काम करता हो ।

मुद्रा कान्हड़ा-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का राग जिसमें सब कोमल स्वर लगते हैं ।

मुद्राक्षर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह अक्षर जिसका उपयोग किसी प्रकार के मुद्रण के लिये होता हो । (२) सीसे के ढले हुए अक्षर जो छापने के काम में आते हैं । टाइप ।

मुद्रा टोरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की रागिनी जिसके गाने में सब कोमल स्वर लगते हैं ।

मुद्रा तत्त्व-संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसके अनुसार किसी देश के पुराने सिक्कों आदि की सहायता से उस देश की ऐतिहासिक बातें जानी जाती हैं ।

मुद्राबल-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार एक बहुत बड़ी संख्या का नाम ।

मुद्रामार्ग-संज्ञा पुं० [सं०] मस्तक के भीतर का वह स्थान जहाँ प्राणवायु चढ़ती है । ब्रह्मरंध्र ।

मुद्रायंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] छापने या मुद्रण करने का यंत्र । छापे आदि की कल ।

मुद्राविज्ञान-संज्ञा पुं० दे० "मुद्रा तत्त्व" ।

मुद्रा शास्त्र-संज्ञा पुं० दे० "मुद्रा तत्त्व" ।

मुद्रिक-संज्ञा स्त्री० दे० "मुद्रिका" । उ०—कर कंकण केयूर मनोहर दोत मोद मुद्रिक न्यारी ।—तुलसी ।

मुद्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अँगूठी । उ०—और पाइ पौन-पुत्र डारि मुद्रिका दर्द ।—केशव । (२) कुश की बनी हुई अँगूठी जो पितृ-कार्य में अनामिका में पहनी जाती है । पवित्री । पैती । उ०—पहिरि दर्भ मुद्रिका सुभूरी । समिध अनेक लीन्ह कर रूरी ।—मधुसूदन । (३) मुद्रा । सिक्का । रुपया । उ०—नरसी पै जब संत सब कहे सकोपित बैन । ठग ठगि लीन्ही मुद्रिका चढ्यो मारि तेहि लेन ।—रघुराज ।

मुद्रित-वि० [सं०] (१) मुद्रण किया हुआ । अंकित किया हुआ । छपा हुआ । (२) मुँदा हुआ । बंद । उ०—(क) नासिका अग्र की ओर दिये अध-मुद्रित लोचन कोर समाधित ।—देव । (ख) राजिव दल इंदीवर सतदल कमल कुसेसै जाति । निशि मुद्रित प्रातर्हि वे बिगसत ये बिगसत दिन राति ।—सूर । (ग) नील कंज मुद्रित निहार विद्यमान भानु, सिंधु मकरंदहि अलिंद पान करिगो । (३) त्यागा हुआ । छोड़ा हुआ ।

मुधा-क्रि० वि० [सं०] व्यर्थ । बूधा । बेफायदा । उ०—(क) यह सब जाग्यबल्क कहि राखा । देबि न होइ मुधा मुनि भाषा ।—तुलसी । (ख) तेहि कहँ पिय पुनि पुनि नर कहहू । मुधा सान ममता मद बहहू ।—तुलसी ।

वि० (१) व्यर्थ का । निष्प्रयोजन । (२) असत् । मिथ्या । झूठ । उ०—मुधा भेद जद्यपि कृत माया ।—तुलसी । संज्ञा पुं० असत्य । मिथ्या । उ०—भूतल माहिं बली शिव-राज भो भूपन भाषत शत्रु मुधा को ।—भूषण ।

मुनका-संज्ञा पुं० [अ० मि० सं० मृदका] एक प्रकार की बड़ी किशमिश या सूखा हुआ अंगूर जो रेचक होता और प्रायः दवा के काम में आता है । वि० दे० "अंगूर" ।

मुनगा †-संज्ञा पुं० [सं० मधुगंजन वा देश०] सहिजन ।

मुनव्यतकारी-संज्ञा स्त्री० [अ०] पत्थरों पर उभरे हुए बेल-बूटों का काम ।

मुनमुना-संज्ञा पुं० [देश०] मैदे का बना हुआ एक प्रकार का पकवान जो रस्सी की तरह बटकर छाना जाता है ।

मुनरा †-संज्ञा पुं० [सं० मुद्रा] कान में पहनने का एक प्रकार का गहना जो कमाऊँ आदि पहाड़ी जिलों के निवासी पहनते हैं । यह अधिकतर लोहे का ही बनता है ।

मुनरी †-संज्ञा स्त्री० दे० "मुँदरी" ।

मुनादी-संज्ञा स्त्री० [अ०] किसी बात की वह घोषणा जो कोई मनुष्य डुगी या ढोल आदि पीटता हुआ सारे शहर में करता फिरे । दिंदोरा † डुगी ।

क्रि० प्र०—करना ।—पिटना ।—फिरना ।—फेरना ।—होना ।

मुनाफा-संज्ञा पुं० [अ०] किसी व्यापार आदि में प्राप्त वह धन जो मूल धन के अतिरिक्त होता है। लाभ। नफा। फायदा।

क्रि० प्र०—उठाना।—करना। निकालना।—होना।

मुनारा-संज्ञा पुं० दे० “मीनार”। उ०—भने रघुराज नव पल-वित मलिका के, अमल अगारा हैं मुनारा हैं दुआरा हैं।—रघुराज।

मुनासिब-वि० [अ०] उचित। योग्य। वाजिब। ठीक।

मुनि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो मनन करे। ईश्वर, धर्म और सत्यासत्य आदि का सूक्ष्म विचार करनेवाला व्यक्ति। मनन-शील महात्मा। जैसे,—अंगिरा, पुलस्त्य, ऋगु, कर्दम, पंच-शिख आदि। (२) तपस्वी। त्यागी।

यौ०—मुनिचर, मुनिपट = वस्त्र। मुनिव्रत = तपस्या।

(३) सात की संख्या। उ०—तब प्रभु मुनि शर मारि गिरावा। (४) जिन। (५) पियाल या पयार का वृक्ष। (६) पलास का वृक्ष। (७) आठ वसुओं के अंतर्गत आप नामक वसु के पुत्र का नाम। (८) कौंच द्वीप के एक देश का नाम। (९) युतिमान् के सब से बड़े पुत्र का नाम। (१०) कुरु के एक पुत्र का नाम। (११) दौना। दमनक। संज्ञा स्त्री० दक्ष की एक कन्या जो कश्यप की सब से बड़ी स्त्री थी।

मुनिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] ब्राह्मी का क्षुप।

मुनिच्छद-संज्ञा पुं० [सं०] मेथी।

मुनितरु-संज्ञा पुं० [सं०] बकम। पतंग।

मुनिद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्योनाक वृक्ष। (२) बकम। पतंग।

मुनिधान्य-संज्ञा पुं० [सं०] तिन्नी का चावल। तिनी।

मुनिपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] दौना। दमनक।

मुनिपादप-संज्ञा पुं० [सं०] बकम। पतंग।

मुनिपित्तल-संज्ञा पुं० [सं०] ताँबा।

मुनिपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] दमनक। दौना।

मुनिपुत्रक-संज्ञा पुं० [सं०] खंजन पक्षी।

मुनिपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] विजयसार का फूल।

मुनिप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का धान्य जिसे पक्षि-राज भी कहते हैं। (२) पिंडखजूर। (३) बिरोजे का पेड़। पियार।

मुनिभक्त-संज्ञा पुं० [सं०] तिन्नी का चावल। तिनी।

मुनिभेषज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अगस्त का फूल। (२) हड़। हरे। (३) लंघन। उपवास।

मुनिभोजन-संज्ञा पुं० [सं०] तिन्नी का चावल। तिनी।

मुनियाँ-संज्ञा स्त्री० [देश०] लाल नामक पक्षी की मादा। उ०—छुंड तें झपटि गहि आनी प्रेम पीजरी में, लाल मुनियाँ ज्यों गुण लाल गहि लागी है।—देव।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का धान जो अगहन में तैयार होता है।

मुनिवर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुंडरीक वृक्ष। पुंडरिया। (२) दौना।

मुनिवल्लभ-संज्ञा पुं० [सं०] विजयसार। पियासाल।

मुनिवीर्य-संज्ञा पुं० [सं०] स्वर्ग के विश्वेदेवा आदि देवताओं के अंतर्गत एक देवता।

मुनिवृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] बकम। पतंग।

मुनिशख-संज्ञा पुं० [सं०] सफेद कुश। सफेद दाभ।

मुनिसत्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक यज्ञ का नाम।

मुनिसुत-संज्ञा पुं० [सं०] दौना।

मुनिसुव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के एक तीर्थंकर का नाम।

मुनिहत-संज्ञा पुं० [सं०] राजा पुण्यमित्र की एक उपाधि।

मुनींद्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बुद्धदेव का एक नाम। (२) पुराणा-नुसार एक दानव का नाम।

मुनी-संज्ञा पुं० दे० “मुनि”।

मुनीब-संज्ञा पुं० दे० “मुनीम”।

मुनीम-संज्ञा पुं० [अ० मुनीब = नायब रखनेवाला] (१) नायब। मददगार। सहायक। (२) साहूकारों का हिसाब-किताब लिखनेवाला।

यौ०—मुनीमखाना = वह स्थान जहाँ किसी कोठी के हिसाब-किताब लिखनेवाले मुनीम बैठकर काम करें।

मुनीश, **मुनीश्वर**-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुनियों में श्रेष्ठ। (२) बुद्धदेव का एक नाम। (३) विष्णु।

मुन्ना-संज्ञा पुं० [देश०] (१) छोटी के लिये प्रेमसूचक शब्द। प्रिय। प्यारा। उ०—मुन्ना! मैंने तो यह कहा था कि इस मिट्टी के मोर को देख।—लक्ष्मणसिंह। (२) तारकशी के कारखाने के वे दोनों खँटे जिनमें जंता लगा रहता है।

मुन्नू-संज्ञा पुं० दे० “मुन्ना”।

मुन्यन्न-संज्ञा पुं० [सं०] मुनियों के खाने का अन्न। जैसे,—तिन्नी का चावल आदि।

मुन्ययन-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ।

मुन्यालय-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन तीर्थ का नाम।

मुफ़लिस-वि० [अ०] धनहीन। निर्धन। दरिद्र। गरीब।

मुफ़लिसी-संज्ञा स्त्री० [अ०] गरीबी। निर्धनता। दरिद्रता।

मुफ़सिद-संज्ञा पुं० [अ०] वह जो फसाद खड़ा करे। झगड़ा या फसाद करनेवाला आदमी।

मुफ़स्सल-वि० [अ०] वह जिसकी तफ़सील की गई हो। व्योरेवार। विस्तृत।

संज्ञा पुं० किसी केंद्रस्थ नगर के चारों ओर के कुछ दूर के स्थान। जैसे,—मुफ़स्सल से कई तरह की खबरें आ रही हैं।

मुफ़ीद-वि० [अ०] फायदेमंद। लाभकारी। लाभदायक।

मुक्त-वि० [अ०] जिसमें कुछ मूल्य न लगे। बिना दाम का। सेंट का।

यौ०—मुक्तखोर = वह व्यक्ति जो दूसरों के धन पर सुख-भोग करे। मुक्त का माल खानेवाला।

मुहा०—मुक्त में = (१) बिना दाम के। बिना मूल्य दिए या लिए। जैसे—यह घड़ी मुझे मुक्त में मिली। (२) व्यर्थ। बेकार्यदा। निष्प्रयोजन। जैसे,—(क) मुक्त में उसकी जान गई। (ख) मुक्त में क्यों हैरान होते हो!

मुक्ती-संज्ञा पुं० [अ०] धर्म-शास्त्री।

वि० [अ० मुक्त + ई (प्रत्य०)] जो बिना दाम दिए मिला हो। मुक्त का।

मुबतिला-वि० [अ० मुब्तिला] पकड़ा हुआ। फँसा हुआ। प्रस्त। गृहीत। विशेष—इस शब्द का व्यवहार प्रायः रोग, विपत्ति आदि के संबंध में ही होता है। जैसे,—(क) वे कई दिनों से बुखार में मुबतिला हैं। (ख) मैं भी आजकल एक आफत में मुबतिला हो गया हूँ।

मुबादिला-संज्ञा पुं० [अ०] बदला। पलटा। एवज़।

मुबारक-वि० [अ०] (१) जिसके कारण बरकत हो। (२) शुभ। मंगलप्रद। मंगलमय। नेक। अच्छा।

मुबारकवाद-संज्ञा पुं० [अ० मुबारक + का० बाद] कोई शुभ बात होने पर यह कहना कि “मुबारक हो”। बधाई।

क्रि० प्र०—देना—पाना।—मिलना।

मुबारकवादी-संज्ञा स्त्री० [अ० मुबारक + का० वादी] (१) “मुबारक” कहने की क्रिया। बधाई। (२) वे गीत आदि जो शुभ अवसरों पर बधाई देने के लिये गाए जायँ।

क्रि० प्र०—देना।—पाना।—मिलना।

मुबारकी-संज्ञा स्त्री० दे० “मुबारकवादी”।

मुबालिगा-संज्ञा पुं० [अ०] बहुत बढ़ाकर कही हुई बात। लंबी-चौड़ी बात। अत्युक्ति।

मुबाहिसा-संज्ञा पुं० [अ०] किसी विषय के निर्णय के लिये होनेवाला विवाद। बहस।

मुमकिन-वि० [अ०] जो हो सकता हो। संभव।

मुमतहिन-संज्ञा पुं० [अ०] इस्तहान लेनेवाला। परीक्षा लेनेवाला। परीक्षक।

मुमुत्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुक्ति की इच्छा। मोक्ष की अभिलाषा।

मुमुत्तु-वि० [सं०] मुक्ति पाने का इच्छुक। मोक्ष का अभिलाषी। जो मुक्ति की कामना करता हो।

मुमुत्तुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुमुत्तु का भाव या धर्म।

मुमुचान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो मुक्त हो गया हो। वह जिसका मोक्ष हो गया हो। (२) मेघ। बादल।

ममूर्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मृत्यु की अभिलाषा। मरने की इच्छा।

ममूर्षु-वि० [सं०] जो मरने के समीप हो। जो मर रहा हो। आसन्न-मृत्यु।

मुयस्सर-वि० दे० “मयस्सर”।

मुरंगिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्वा।

मुरंडा-संज्ञा पुं० [देश०] भूने हुए गरमागरम गेहूँ में गुड़ मिलाकर बनाया हुआ लड्डू। गुड़-धानी। उ०—(क) अउर दही के मुरंडा बाँधे। औ सँधान बहु भाँतिन साथे।—जायसी। (ख) पुनि सँधान आने बहु साँधी। दूध दही के मुरंडा बाँधी।—जायसी।

मुहा०—मुरंडा करना = (१) गठरी सा बना देना। समेट कर लड्डू सा कर देना। (२) भून डालना। (३) बहुत मारना-पीटना। (४) मोह लेना। मुग्ध कर लेना। आशिक बना लेना।

वि० सूखा हुआ। शुष्क।

मुहा०—मुरंडा होना = (१) सूख कर काँटा हो जाना। जैसे,—चार दिन की मेहनत में मुरंडा हो गए। (२) मुग्ध होना। मोहित होना।

मुरंदला-संज्ञा स्त्री० [सं०] नर्मदा नदी का एक नाम।

मुरंदा-संज्ञा पुं० दे० “मुरंडा”।

मुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेष्टन। बेटन। (२) एक दैत्य जिसे विष्णु ने मारा था और जिसे मारने के कारण उनका नाम ‘मुरारि’ पड़ा। उ०—मधुकैटभ मथन मुर-भौम केशी-भिदन कंस-कुल-काल अनुसाल हारी।—सूर। अर्थ० फिर। दोबारा।

मुरई + संज्ञा स्त्री० दे० “मूली”।

मुरक-संज्ञा स्त्री० [हि० मुरकना] मुरकने की क्रिया या भाव।

मुरकना-क्रि० अ० [हि० मुड़ना] (१) लचककर किसी ओर झुकना। मुड़ना। (२) फिरना। घूमना। (३) लौटना। वापस होना। फिर जाना। (४) किसी अंग का झटके आदि के कारण किसी ओर तन जाना। किसी अंग का किसी ओर इस प्रकार मुड़ जाना कि जल्दी सीधा न हो। मोच खाना। जैसे,—बाँह मुरकना, कलाई मुरकना। (५) हिचकना। रुकना। उ०—लोचन भरि भरि दोउ माता के कनछेदन देखत जिय मुरकी।—सूर। (६) विनष्ट होना। चौपट होना। उ०—साहि सुव महा बाहु सिवाजी सलाह विन कौन पातसाह की न पातसाही मुरकी।—भूषण।

मुरका-संज्ञा पुं० [देश०] (१) बहुत ऊँचा और बड़े बड़े दाँतों-वाला सुंदर हाथी। (२) गड़रियों का भोज जो वे अपनी विरादरी को देते हैं।

मुरकाना-क्रि० स० [हि० मुरकना का स० रूप] (१) फेरना। घुमाना। (२) लौटाना। घुमाना। वापस करना। (३) किसी अंग में मोच लाना। (४) नष्ट करना। चौपट करना।

मुरकी-संज्ञा स्त्री० [हि० मुरकना = घूमना] कान में पहनने की छोटी बाली ।

मुरकुल-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की लता जो हिमालय में होती है और शिकिम तक पाई जाती है। इसकी शाखाओं में से एक प्रकार का रेशा निकलता है जिससे रस्सियाँ आदि बनाई जाती हैं। इसे 'बेरी' भी कहते हैं।

मुरखाई*†-संज्ञा स्त्री० [सं० मूर्ख + आई (प्रत्य०)] मूर्खता। बेव-कृषी। अज्ञता। उ०—तपु करति हर-हित सुनि बिहँसि बड़ कहत मुरखाई महा ।—तुलसी ।

मुरगा-संज्ञा पुं० [फा० मुरी] [स्त्री० मुरगी] (१) एक प्रसिद्ध पक्षी जो सफ़ेद, पीले आदि कई रंगों का और खड़ा होने पर प्रायः एक हाथ से कुछ कम ऊँचा होता है। इसके नर के सिर पर एक कलगी होती है। यह अपनी शानदार चाल और प्रभात के समय "कुकड़ूँ कूँ" बोलने के लिये प्रसिद्ध है। यह प्रायः चरों में पाला जाता है। लोग इसे लड़ाते और इसका मांस भी खाते हैं। इसके बच्चे को चूज़ा कहते हैं। (२) पक्षी। चिड़िया।

संज्ञा स्त्री० दे० "मूर्वा"।

मुरगावी-संज्ञा स्त्री० [फा०] मुरगे की जाति का एक पक्षी जो जल में तैरता और मछलियाँ पकड़कर खाता है। यह पानी के भीतर बहुत देर तक गोता मारकर रह सकता है। इसके पर कोमल होते हैं और नर मादा दोनों प्रायः एक से ही होते हैं। जल-कुक्कुट। जल-मुरगा।

मुरगाली-संज्ञा स्त्री० [सं० मुरगिका] मूर्वा।

मुरचंग-संज्ञा पुं० [हि० मुँहचंग] लोहे का बना हुआ मुँह से बजाने का एक प्रकार का बाजा जिससे ताल देते हैं। मुँहचंग।

मुहा०—मुरचंग झाड़ना = आनंद करना। चैन करना। (व्यंग्य)

मुरचा-संज्ञा पुं० दे० "मोरचा"।

मुरची-संज्ञा पुं० [सं०] पश्चिम दिशा के एक देश का नाम।

मुरछना ॥-क्रि० प्र० [सं० मूर्च्छन] (१) शिथिल होना। (२) अचेत होना। बेसुध होना। बेहोश होना। उ०—अधर दसनन भरे कठिन कुच उर लरे परे सुख सेज मन मुरछि दोऊ ।—सूर।

मुरछल-संज्ञा पुं० दे० "मोरछल"।

मुरछा-संज्ञा स्त्री० दे० "मूर्च्छा"।

मुरछाना *†-क्रि० प्र० [सं० मूर्च्छा] अचेत होना। मूर्च्छित होना। बेहोश होना। उ०—तात मरन सुधि श्रवण कृपा-निधि धरणि परे मुरछाई। मोह मगन लोचन चल धारा विपति हृदय न समाई ।—सूर।

मुरछावत*†-वि० [सं० मूर्च्छा + वत (प्रत्य०)] मूर्च्छित। बेहोश। अचेत। उ०—धरम धुरंधर श्री रघुराई। मुरछावत भए मुनिराई ।—मधुसूदन।

मुरछित ॥-वि० दे० "मूर्च्छित"। उ०—जोगी अकंटक भए पति-गति सुनत रति मुरछित भई ।—तुलसी।

मुरज-संज्ञा पुं० [सं०] मृदंग। पखावज। उ०—(क) कोउ मंजु मुरज अमोल डोलन तबल अमल अपार हैं ।—रघुराज। (ख) रुज मुरज डफ ताल बाँसुरी झालर को झंकार ।—सूर।

मुरजफल-संज्ञा पुं० [सं०] कटहल का वृक्ष।

मुरजित्-संज्ञा पुं० [सं०] मुर नामक राक्षस को जीतनेवाले, श्रीकृष्ण। मुरारि।

मुरभाना-क्रि० प्र० [सं० मूर्च्छन] (१) फूल या पत्ती आदि का कुम्हलाना। सूखने पर होना। (२) सुस्त हो जाना। उदास होना। उ०—(क) गिरि मुरझाई दया आइ कछु भाय भरे दर प्रभु ओर मति आनंद सों भीनी है ।—प्रिया-दास। (ख) सखी कुरंगिके, यह हिम-उपचार तो मुझ कमल की लता को और भी मुरझा देगा ।—हरिश्चंद्र। (ग) देव मुरझाई उरमाल कछो दीजे मुरझाई बात पृथी है छेम की ।—देव।

संयो० क्रि०—जाना।

मुरड़-संज्ञा पुं० [हि०] गर्व। अभिमान। दर्प। अहंकार।

मुरड़की†-संज्ञा स्त्री० दे० "मरोड़"।

मुरतंगा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का ऊँचा पेड़ जिसके हीर की लकड़ी लाल और कड़ी होती है और जिससे सजावट के सामान बनाए जाते हैं। यह पेड़ आसाम, बंगाल और चटगाँव में अधिकता से पाया जाता है।

मुरतहिन-संज्ञा पुं० [प्र०] वह जिसके पास कोई वस्तु रहन या गिरों रखी जाय। जिसके पास बंधक रखा जाय। रहनदार।

मुरता-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का जंगली झाड़ जो पूर्वी बंगाल और आसाम में होता है। इससे प्रायः चटाई वा सीतलपाटी बनाई जाती है।

मुरदर-संज्ञा पुं० [सं०] मुरारि। श्रीकृष्ण। उ०—जिमि मुरदर तकि अचुर कंध धरि धुनकर सरछुर ।—गोपाल।

मुरदा-संज्ञा पुं० [फा० मि० सं० मृतक] वह जो मर गया हो। मरा हुआ प्राणी। मृतक।

मुहा०—मुरदा उठना = मर जाना। (गाली) जैसे,—उसका मुरदा उठे। मुरदा उठाना = मृतक को उठाकर जलाने या गाड़ने आदि के लिये ले जाना। अंत्येष्टि क्रिया के लिये ले जाना। मुरदे से शर्त्त बाँधकर सोना = बहुत अधिक सोना। मुरदे का माल = वह माल जिमका कोई वारिस न हो।

वि० (१) मरा हुआ। मृत्यु को प्राप्त। मृत। (२) जो बहुत ही दुर्बल हो। जिसमें कुछ भी दम न हो। (३) मुरझाया हुआ। कुम्हलाया हुआ। जैसे,—मुरदा पान।

मुरदार-वि० [फा०] (१) अपनी मौत से मरा हुआ। मृत।

(२) अपवित्र । (३) वेदम । वेदान । जैसे,—हाथ का चमड़ा मुरदार हो गया है ।

संज्ञा पुं० [फा०] वह जानवर जो अपनी मौत से मरा हो और जिसका मांस खाया न जा सकता हो ।

मुरदारी-संज्ञा पुं० [फा० मुरदार + ई (प्रत्य०)] अपनी मौत से मरे हुए जानवर का चमड़ा ।

मुरदा संख-संज्ञा पुं० [फा० मुरदार संख] एक प्रकार का औषध जो फूँके हुए सीसे और सिंदूर से बनता है ।

मुरदासन-संज्ञा पुं० दे० “मुरदासंख” । उ०—मिरिच मोचरस मैदा लकरी । मुरदासन मनुसिल मिसमकरी ।—सूदन ।

मुरदासिन्धी-संज्ञा स्त्री० दे० “मुरदा संख” ।

मुरधर-संज्ञा पुं० [सं० मरुधरा] मारवाड़ देश का प्राचीन नाम ।

उ०—(क) मुरधर देश में बिलौंदा नाम ग्राम एक तहाँ के निवासी संत दूसरे मुरारिदास ।—रघुराज । (ख) मुरधर-खंड भूप सब आज्ञाकारी । रामनाम बिस्वास भक्तपद-राज-व्रतधारी ।—प्रियादास ।

मुरना-संज्ञा पुं० दे० “मुड़ना” । उ०—(क) एकते एक रणवीर जोधा प्रबल मुरत नहिं नैक अति सबल जी के ।—सूर । (ख) तुरत मुरत कैसें दुरत मुरत नैन जुरि नीठ । डौड़ी दै गुन रावरे कहै कनौड़ी दीठ ।—बिहारी ।

मुरपरैना-संज्ञा पुं० [हि० मूढ = सिर + पारना = रखना] फेरी करके सौदा बेचनेवालों का बुद्धि । सिर पर रखकर बेचने की वस्तुओं का बोझ । उ०—ऊधो बेगि मधुवन जाहु । हम बिरही नारि हरि बिन कौन करै निबाहु । तहाँ दीजै मुरपरैना नफो तुम कछु खाहु । जो नहीं ब्रज में बिकानो नगर नारी साहु । सूर वै सब सुनत लैहैं जिय कहा पछिताहु ।—सूर ।

मुरब्बा-संज्ञा पुं० [अ० मुरब्बः] चीनी या मिसरी आदि की चाशनी में रक्षित किया हुआ फलों या मेवों आदि का पाक जो उत्तम खाद्य पदार्थों में माना जाता है ।

क्रि० प्र०—ढालना ।—पड़ना । बनाना ।

संज्ञा पुं० [अ० मुरब्बः] (१) ऐसा चतुष्कोण जिसके चारों भुज बराबर हों । (२) किसी अंक को उसी अंक से गुणन करने से प्राप्त फल । वर्ग ।

वि० उसी अंक से गुणन द्वारा प्राप्त । वर्गीकृत । जैसे,—मुरब्बा गज़ ।

मुरब्बी-संज्ञा पुं० [अ०] (१) पालन करनेवाला । (२) रक्षक । आश्रयदाता । (३) सहायक । मददगार ।

मुरमर्दन-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु या श्रीकृष्ण । मुरारि ।

मुरमुराना-क्रि० अ० [मुरमुर से अतु०] (१) पेंडन खाकर दूट जाना । चूर चूर हो जाना । चुरमुर होना । (२) कड़ी या खरी चीज़ का टूटने पर शब्द करना ।

मुररिपु-संज्ञा पुं० [सं०] मुर नामक दैत्य को मारनेवाले, विष्णु । मुरारि । उ०—सूर मुररिपु रंग रंगे सखि सहित गोपाल ।—सूर ।

मुररिया-संज्ञा स्त्री० दे० “मुरी” । उ०—त्रिभुवन नाथ जो भंजन लागे श्याम मुररिया दीना । चाँद सूर्य दुइ गोड़ा कीन्हों मौझ दीप किय तीना ।—कबीर ।

मुरल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल का एक प्रकार का बाजा जिस पर चमड़ा मड़ा हुआ होता था । (२) एक प्रकार की मछली ।

मुरला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नर्मदा नदी । (२) केरल देश की काली नाम की नदी ।

मुरलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुरली । वंसी । बाँसुरी । उ०—(क) अँखियनि की सुधि भूलि गई । श्याम अधर मृदु सुनत मुरलिका चकृत नारि भई ।—सूर । (ख) उर पर पदिक कुसुम बनमाला अँग धुकुकी बिराजै । चित्रित बाहु पौंचिआँ पौंचै हाथ मुरलिका छाजै ।—सूर । (ग) बन बन गाय चरावत डोलत कौंध कमरिया राजै । लकुटी हाथ गरे गुँजमाला अधर मुरलिका बाजै ।—सूर ।

मुरलिया-संज्ञा स्त्री० [सं० मुरलिका] मुरली । वंशी । उ०—खड़ी एक पग तप कियो सहि बहु भाँति दवागि । ताही पुन्यन मुरलिया रहत स्याम मुख लागि ।—सुकवि ।

विशेष—हिंदी में शब्द के अंत में जोड़े हुए आ, वा, या आदि अक्षर कुछ विशिष्टता सूचित करते हैं; जैसे, ‘हरवा’ का अर्थ होगा—‘हार विशेष’ । इसी प्रकार मुरलिया का अर्थ भी “मुरली विशेष” होगा ।

मुरली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बाँसुरी नाम का प्रसिद्ध बाजा जो मुँह से फूँककर बजाया जाता है । वंशी ।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द के साथ “वाला” या उसका कोई पर्याय लगाने से “श्रीकृष्ण” का अर्थ निकलता है ।

(२) एक प्रकार का चावल जो आसाम में होता है ।

मुरलीधर-संज्ञा पुं० [सं०] मुरली धारण करनेवाले, श्रीकृष्ण । उ०—गिरिधर व्रजधर मुरलीधर धरनीधर पीतांबरधर मुकुटधर गोपधर उर्गधर शंखधर शारंगधर चक्रधर गदाधर रस धरें अधर सुधाधर ।—सूर ।

मुरलीमनोहर-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण का एक नाम ।

मुरलीवाला-संज्ञा पुं० [सं० मुरली + हि० वाला (प्रत्य०)] श्रीकृष्ण ।

मुरवा-संज्ञा पुं० [देश०] (१) एड़ी के ऊपर की हड्डी के चारों ओर का वेरा । पैर का गिट्टा । उ०—(क) एड़िन चढ़ि गुलफन चढ़ो मुख न बचो दबाइ । सो चित चिकने जयन चढ़ि तितहिं परी बिछिलाइ ।—रामसहाय । (ख) लखि प्रभु पाछे पाउँ पसारा । परसि बही मुरवन तक धारा ।—

विश्राम । (ग) रड्यो डीठ दारस गहै ससहर गयौ न सुर ।
मुन्यौ न मन मुरवान चुभि भौ चूरन चपि चूर ।—विहारी ।
(२) एक प्रकार की कपास जो ३-४ वर्ष तक फलती है ।
†-संज्ञा पुं० दे० “मोर” ।

मुरवी-संज्ञा स्त्री० [सं० मौर्वी] धनुष की डोरी । चिला ।
मुरवैरी-संज्ञा पुं० [सं० मुरवैरिन्] श्रीकृष्ण । मुरारि ।
मुरव्वत-संज्ञा स्त्री० दे० “मुरौवत”
मुरशिद-संज्ञा पुं० [अ०] (१) गृह । पथदर्शक । (२) पूज्य ।
(३) धूर्त । चालाक । उस्ताद ।

मुरसुत-संज्ञा पुं० [सं०] मुर दैत्य का पुत्र वत्सासुर । उ०—
मुरसुत हो प्रमोल सो जाई । गृह वसिष्ठ के देख्यो
गाई ।—गोपाल ।

मुरस्सा-वि० [अ० मुरस्तः] जड़ा हुआ । जड़ाऊ । जटित ।
मुरस्साकार-संज्ञा पुं० [अ० मुरस्तः + का० कारी] गहनों में नग वा
मणि जड़नेवाला । जड़िया ।

मुरस्साकारी-संज्ञा स्त्री० [अ० मुरस्तः + का० कारी] गहनों में नग
आदि जड़ने का काम ।

मुरहा-संज्ञा पुं० [सं०] मुर को मारनेवाले, विष्णु या श्रीकृष्ण ।
†-वि० [सं० मूल (नक्षत्र) + -हा (प्रत्य०)] [स्त्री० मुरही]
(१) (बालक) जो मूल नक्षत्र में उत्पन्न हुआ हो ।
(ऐसा बालक माता पिता के लिये दोषी माना जाता है ।)
(२) जिसके माता-पिता मर गए हों । अनाथ । यतीम ।
(३) नटखट । उपद्रवी । शरास्ती ।
†-संज्ञा पुं० [हिं० मुराहा] वह जो चलते हुए कोल्हू में
गँड़ेरियाँ डालता है ।

मुरहारी-संज्ञा पुं० [सं०] मुर दैत्य को मारनेवाले विष्णु या
श्रीकृष्ण । उ०—थके जगत समुदाय सब निपट पुराण
पुकारि । मेरे मन वे चुभि रहे मधुमर्दन मुरहारि ।—केशव ।

मुरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रसिद्ध गंधद्रव्य जिसे एकांगी
या मुरामांसी भी कहते हैं । वि० दे० “एकांगी” (३) ।
(२) कथा सरित्सागर के अनुसार उस नाइन का नाम
जिसके गर्भ से महानंद का पुत्र चंद्रगुप्त उत्पन्न हुआ था ।

मुराड़ा-संज्ञा पुं० [देश०] जलती हुई लकड़ी । लुआठा । उ०—
हम घर जारा आपना लिया मुराड़ा हाथ । अब घर जारौं
तासु का जो चलै हमारे साथ ।—कबीर ।

मुराद-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) अभिलाषा । इच्छा । लालसा ।
कामना ।

क्रि० प्र०—पूरी करना या होना ।—हासिल होना, आदि ।

मुहा०—मुराद आना = अभिलाषा पूरी होना । मुराद पाना =
मनोरथ पूर्ण होना । मुराद माँगना = मनोरथ पूरा होने की
प्रार्थना करना । मुराद मानना = मन्मत मानना । मनौती करना ।
मुरादों के दिन = युवावस्था । जवानी ।

(२) अभिप्राय । आशय । मतलब ।

क्रि० प्र०—रखना ।—लेना ।

यौ०—मुराद दावा = नालिश करने का अभिप्राय । दावा करने
का मतलब या उद्देश्य ।

मुरादी-संज्ञा पुं० [फा०] वह जो कोई कामना रखता हो ।
अभिलाषी । आकांक्षी ।

मुराना-क्रि० स० [अनु० मुरमुर = चवाने का शब्द] मुँह में कोई
चीज डालकर उसे मुलायम करना । चुभलाना । उ०—सोइ
बीरी मुख मेलियो लो मुरावन सोय । सोइ बीरी को राग
मुख प्रगट लख्यो सब कोय ।—रघुराज ।

क्रि० स० दे० “मोदना” ।

मुराफा-संज्ञा पुं० [अ० मुराफा] छोटी अदालत में हार जाने पर
बड़ी अदालत में फिर से दावा पेश करना । अपील ।

मुरार संज्ञा पुं० [सं० मृणाल] कमल की जड़ । कमलनाल ।

*-संज्ञा पुं० दे० “मुरारि” ।

मुरारि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुर दैत्य के शत्रु, विष्णु या श्रीकृष्ण ।
(२) डराण के तीसरे भेद (१५१) की संज्ञा । (पिंगल)

मुरारी-संज्ञा पुं० दे० “मुरारि” ।

मुरारे-संज्ञा पुं० [सं०] हे मुरारि ! (संबोधन) उ०—बाल-
सखा की विपत्त-बिहंडन संकट-हरन मुरारे ।—सूर ।

मुरासा†-संज्ञा पुं० [हिं० मुरना, मुरका] तरकी । कर्णमूल । उ०—
लसै मुरासा तिय खवन यौ मुकुतनि दुति पाइ । मानो
परस कपोल के रहे स्वेद-कन छाइ ।—बिहारी ।

†-संज्ञा पुं० दे० “मुँडासा” ।

मुरीद-संज्ञा पुं० [अ०] (१) शिष्य । चेला । (२) वह जो किसी
का अनुकरण करता या उसके आज्ञानुसार चलता हो ।
अनुगामी । अनुयायी ।

मुरु-संज्ञा पुं० दे० “मुर” । उ०—मुरु-सुत हो प्रमोल सो
जाई । गृह वसिष्ठ के देख्यो गाई ।—गोपाल ।

मुरुआ †-संज्ञा पुं० [देश०] एड़ी के ऊपर का वेरा । पैर का
गढा । उ०—जो पाँव के मुरुओं में होता है ।—नूतना-
भृतसागर ।

मुरुकुटिया †-वि० दे० “मरकट” ।

मुख-क्रि० वि० दे० “मुख” । उ०—दिसिदिवंत कहँ नीअरे अंध
मुख कहँ दूरि ।—जायसी ।

मुखना-क्रि० प्र० दे० “मुखना” ।

संज्ञा स्त्री० दे० “मूर्च्छना” ।

मुखना-क्रि० प्र० दे० “मुखना” ।

मुरेठा-संज्ञा पुं० [हिं० मूँड = सिर + पठा (प्रत्य०)] (१) पगड़ी । साफ़ा ।
क्रि० प्र०—बाँधना ।

(२) दे० “मुरेठा” ।

मुरेर-संज्ञा स्त्री० दे० “मरोड़” ।

मुरेरना†-क्रि० सं० दे० “मरोड़ना” ।

मुरेरा†-संज्ञा पुं० (१) दे० “मुँडरा” । (२) दे० “मरोड़” ।

मुरैठा†-संज्ञा पुं० [हि० मुरैठा] नाच की लंबाई में चारों ओर धूमी हुई गोठ जो तीन चार इंच मोटे तख्तों से बनाई जाती है और “गूढ़ा” के ऊपर रहती है ।

मुरौअत-संज्ञा स्त्री० दे० “मुरौवत” ।

मुरौवत-संज्ञा स्त्री० [अ० मुरव्वत] (१) शील । संकोच । लिहाज ।

मुहा०—मुरौवत तोड़ना = कवाई का व्यवहार करना । शील के विरुद्ध आचरण करना ।

(२) भलमनसी । आदमीयत ।

क्रि० प्र०—करना ।—बरतना ।

मुरग-संज्ञा पुं० दे० “मुरगा” ।

मुरगेश-संज्ञा पुं० [फ्रा० मुरग + केश (चोटी)] मरसे की जाति का एक पौधा जिसमें मुरगे की चोटी के से गहरे लाल रंग के चौड़े चौड़े फूल लगते हैं । इसे जटाधारी भी कहते हैं ।

मुरगखाना-संज्ञा पुं० [फ्रा०] मुरगों के रहने के लिये बनाया हुआ स्थान ।

मुरगाबी-संज्ञा पुं० दे० “मुरगाबी” ।

मुरचा-संज्ञा पुं० दे० “मोरचा” ।

मुरतकिय-वि० [अ०] अपराध करनेवाला । अपराधी । कसूरवार । मुजरिम ।

मुर्दनी-संज्ञा स्त्री० [फ्रा० मुर्दन = मरना + ई (प्रत्य०)] (१) आकृति का वह विकार जो मरने के समय अथवा मृत्यु के कारण होता है । मुख पर प्रकट होनेवाले मृत्यु के चिह्न ।

मुहा०—चेहरे पर मुर्दनी छाना या फिरना = (१) मुख पर मृत्यु के चिह्न प्रकट होना । (२) बहुत अधिक निराश या उदास होना ।

(२) शव के साथ उसकी अंत्येष्टि क्रिया के लिये जाना ।

मुर्दे के साथ उसे गाड़ने या जलाने के स्थान तक जाना ।

(३) मृतक की अंत्येष्टि क्रिया के लिये जानेवालों का समूह ।

क्रि० प्र०—में जाना ।

मुर्दा-संज्ञा पुं० दे० “मुरदा” ।

मुर्दावली-संज्ञा स्त्री० दे० “मुर्दनी” ।

वि० मृतक के संबंध का । मुरदे का ।

मुर्दासिंगी-संज्ञा पुं० दे० “मुरदासंख” ।

मुर्मुर्-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कामदेव । (२) सूर्य के रथ के घोड़े । (३) भूखी की आग । तुषामि ।

मुर्दा-संज्ञा पुं० [हि० मरोड़ या मुड़ना] (१) मरोड़फली नाम की ओषधि । इसकी लता जंगलों में होती है । (२) पेट में ऐंठन होकर पतला मल निकलना और बार बार दस्त होना । मरोड़ । (३) पेट का दर्द ।

संज्ञा स्त्री० [हि० मुड़ना] हिसार और दिल्ली आदि में होनेवाली एक प्रकार की भैंस जिसके सींग छोटे, जड़ के पास पतले और ऊपर की ओर मुड़े हुए होते हैं । इस जाति की भैंसें और भैंसे दोनों बहुत अच्छे समझे जाते हैं ।

मुर्तिसार-संज्ञा पुं० दे० “मरोड़” ।

मुर्ती-संज्ञा स्त्री० [हि० मुड़ना या मरोड़ना] (१) दो डोरों के सिरों को आपस में जोड़ने की एक क्रिया जिसमें गाँठ का प्रयोग नहीं होता, केवल दोनों सिरों को मिलाकर मरोड़ या बट देते हैं । (२) कपड़े आदि में लपेटकर डाली हुई ऐंठन या बल । जैसे,—धोती की मुर्ती ।

मुहा०—मुर्ती देना = (१) कपड़ा फाड़ते समय उसके फटे हुए अंश को बराबर घुमाते या मोड़ते जाना जिसमें कपड़ा बिल्कुल सीधा फटे । (बजाज) (२) धोती को ठहराने के लिये कमर पर कई बल लपेटकर छल्ला सा बनाना ।

(३) कपड़े आदि को मरोड़कर बटी हुई बत्ती ।

यौ०—मुर्ती का नैचा ।

(४) चिकन या कशीदे की कढ़ाई का एक प्रकार जिसमें बटे हुए सूत का व्यवहार होता है और जिसका काम उभारदार होता है । (५) एक प्रकार की जंगली लकड़ी ।

मुर्ती का नैचा-संज्ञा पुं० [हि० मुर्ती + नैचा] एक प्रकार का नैचा जिसमें कपड़े की मुर्ती या बत्ती बनाकर कसकर लपेटते जाते हैं । यह देखने में उलटी चीन ही की तरह जान पड़ती है, परंतु वस्तुतः बत्ती होती है । इस बनावट का नैचा उतना दृढ़ नहीं होता । जहाँ कपड़ा सड़ता है, वहीं से बत्ती टूटने लगती है और बराबर खुलती ही चली जाती है ।

मुर्तीदार-वि० [हि० मुर्ती + फ्रा० दार (प्रत्य०)] जिसमें मुर्ती पड़ी हो । ऐंठनदार ।

मुर्वा-संज्ञा पुं० [सं०] मरुल या गोरचकरा नाम का जंगली पौधा जिससे प्राचीन काल में प्रत्यंचा की रस्सी बनाई जाती थी । वि० दे० “गोरचकरा” ।

मुर्वा-वि० [सं०] धनुष की प्रत्यंचा ।

मुर्शिद्-संज्ञा पुं० [अ०] (१) सुमार्ग बतानेवाला । मार्गदर्शक । गुरु । (२) श्रेष्ठ । बड़ा । (३) उस्ताद । चतुर । चालाक । होशियार । (४) पाजी । नरखट । धूर्त । (व्यंग्य)

मुलक-संज्ञा पुं० दे० “मलक” । उ०—नव नागरि तन मुलक लहि जोवन आमिल जोर । घटि बदि तैं बदि घटि रकम करी और की और ।—बिहारी ।

मुलकना†-क्रि० अ० [सं० पुलकित?] मंद मंद हँसना । पुलकित होना । नेत्रों में हँसी प्रकट करना । मुसकराना । उ०—(क) पर-तिय दोष पुरान सुनि हँसि मुरली सुखदानि । कसि करि राखी मिसरहू मुख आई मुसुकानि । मुख आई

मुसुकानि मिसरहू कस करि राखी । सर्व दीपहर राम नाम की कीरति भाखी । बातन ही बहराय और की और कथा किय । सुकवि चतुर सब समुझि गए लखि मुलकित पर-तिय ।—सुकवि । (ख) सकुचि सरकि पिय निकट तें मुलकि कछुक तन तोरि । कर आँचर की ओट करि जमु-हानी मुख मोरि ।—बिहारी । (ग) कवि देव कछू मुलकै पुलकै उरकै उर प्रेम कलोलनि पै ।—देव ।

मुलकी-वि० [अ० मुक्] (१) दे० “मुल्की” । (२) देसी । विलायती का उलटा । उ०—पाँति सिंध मुलकी तुरंगन के कुलकी बिसाल ऐसी पुलकी सुचाल तैसी दुलकी ।—गोपाल ।

मुलजिम-वि० [अ०] जिसके ऊपर किसी प्रकार का इल्जाम लगाया गया हो । जिस पर कोई अभियोग हो । अभियुक्त । **मुलतबी-वि०** [अ० मुलतबी] जो कुछ समय के लिये रोक दिया गया हो । जिसका समय टाल दिया गया हो । स्थगित । जैसे,—(क) अब आज वहाँ का जाना मुलतबी रखिए । (ख) जलसा दो दिन के लिये मुलतबी हो गया ।

क्रि० प्र०—करना ।—रखना ।—रहना ।—होना ।

मुलतानी-वि० [हि० मुलतान (नगर)] मुलतान का । मुलतान संबंधी ।

संज्ञा स्त्री० (१) एक रागिनी जिसमें गांधार और धैवत कोमल, शुद्ध निषाद और तीव्र मध्यम लगता है । इनके अतिरिक्त तीनों स्वर शुद्ध लगते हैं । शास्त्र में इसे श्रीराग की रागिनी कहा है और हनुमत् के मत से यह दीपक राग की रागिनी है । इसके गाने का समय २१ से २४ दंड तक है । (२) एक प्रकार की बहुत कोमल और चिकनी मिट्टी जो मुलतान से आती है । इसका रंग बादामी होता है और यह प्रायः सिर मलने में साबुन की तरह काम में आती है । इससे सोनार लोग सोना भी साफ करते हैं और छीपी लोग इससे अनेक प्रकार के रंगों में अस्तर देते हैं । साबु आदि इससे कपड़ा रँगते हैं ।

मुहा०—मुलतानी करना = छोट छापने के पहले कपड़े को मुलतानी मिट्टी में रँगना ।

मुलना+संज्ञा पुं० [अ० मौलाना] मौलवी । मुला । उ०—बाम्हन तें गदहा भला आन देव तें कुत्ता । मुलना ते मुरगा भला सहर जगावे सुत्ता ।—कबीर ।

मुलमची-संज्ञा पुं० [हि० मुलम्मा + ची (प्रत्य०)] किसी चीज़ पर सोने या चाँदी आदि का मुलम्मा करनेवाला । गिलट करनेवाला । मुलम्मासाज़ ।

मुलम्मा-वि० [अ०] (१) चमकता हुआ । (२) जिस पर सोना या चाँदी चढ़ाई गई हो । सोना या चाँदी चढ़ा हुआ ।

संज्ञा पुं० (१) वह सोना या चाँदी जो पत्तार के रूप में, पारे

या बिजली आदि की सहायता से, अथवा और किसी विशेष प्रक्रिया से किसी धातु पर चढ़ाया जाता है । किसी चीज़ पर चढ़ाई हुई सोने या चाँदी की पतली तह । गिलट । कलई । होल ।

विशेष—साधारणतः मुलम्मा गरम और ठंडा दो प्रकार का होता है । जो मुलम्मा कुछ विशिष्ट क्रियाओं से आग की सहायता से चढ़ाया जाता है, वह गरम कहलाता है; और जो बिजली की बैटरी से अथवा और किसी प्रकार बिना आग की सहायता के चढ़ाया जाता है, वह ठंडा मुलम्मा कहलाता है । ठंडे की अपेक्षा गरम मुलम्मा अधिक स्थायी होता है ।

यौ०—मुलम्मासाज़ = मुलम्मा चढ़ानेवाला । मुलमची

(२) किसी पदार्थ, विशेषतः धातु आदि को चाँदी या सोने का दिया हुआ रूप ।

क्रि० प्र०—करना ।—चढ़ना ।—चढ़ाना ।—होना ।

(३) वह बाहरी भड़कीला रूप जिसके अंदर कुछ भी न हो । उपरी तड़क-भड़क ।

मुलम्मासाज़-संज्ञा पुं० [अ० + सा०] किसी धातु पर सोना या चाँदी आदि चढ़ानेवाला । मुलम्मा करनेवाला । मुलमची ।

मुलहठी+संज्ञा स्त्री० दे० “मुलेठी” ।

मुलहा+वि० [सं० मूल = नवत्र + हा (प्रत्य०)] (१) जिसका जन्म मूल नक्षत्र में हुआ हो । (२) उपद्रवी । शरारती । नटखट । उ०—उर में उलहे मुलहे हैं उरोज सरोज करै गुनदासव के ।—सुंदरीसर्वस्व ।

मुलाँ+संज्ञा पुं० [अ० मुला] मौलवी । मुला । उ०—आठ बाट बकरी गई माँस मुलाँ गए खाय । अजहूँ खाल खटीक के भिस्त कहाँ ते जाय ।—कबीर ।

मुलाक़ात-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) आपस में मिलना । एक दूसरे का मिलाप । भेंट । मिलन । (२) मेल-मिलाप । हेल-मेल । रब्त-जब्त । (३) प्रसंग । रति-क्रीड़ा ।

मुलाक़ाती-संज्ञा पुं० [अ० मुलाक़ात + ई (प्रत्य०)] वह जिससे मुलाक़ात या जान पहचान हो । परिचित ।

मुलाज़िम-संज्ञा पुं० [अ०] (१) पास रहनेवाला । प्रस्तुत रहनेवाला । उपस्थित रहनेवाला । (२) नौकर । चाकर । सेवक । दास ।

मुलाज़मत-संज्ञा स्त्री० [अ०] सेवा । नौकरी । चाकरी ।

मुलाम+वि० दे० “मुलायम” ।

मुलायम-वि० [अ०] (१) ‘सख्त’ का उलटा । जो कड़ा न हो । (२) नरम । हलका । मन्द । धीमा । ढीला । जैसे,—आजकल सोने का बाज़ार मुलायम है । (३) नाजुक । सुकुमार । (४) जिसमें किसी प्रकार की कठोरता या

खिंचाव आदि न हो। जैसे,—(क) उनका मुलायम स्वभाव है।

(ख) जरा मुलायम तौली; यह तो अभी पूरा भी नहीं हुआ।

मुहा०—मुलायम करना = किसी का क्रोध शांत करना।

यौ०—मुलायम चारा = (१) हलका भोजन। (२) वह जो सहज में दूसरों की बातों में आ जाय। (३) वह जो सहज में प्राप्त किया जा सके। (४) कोमल या सुकुमार शरीरवाला।

मुलायमत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मुलायम होने का भाव।

(२) सुकुमारता। (३) नज़ाकत। कोमलता।

मुलायम रोआँ-संज्ञा पुं० [हि० मुलायम + रोआँ] सफ़ेद और लाल रोआँ जो मुलायम होता है। (गडरिया)

मुलायमियत-संज्ञा स्त्री० [अ० मुलायमत] (१) मुलायम होने का भाव। नमी। (२) नज़ाकत। कोमलता।

मुलायमी-संज्ञा स्त्री० दे० “मुलायमत”।

मुलाहज़ा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) निरीक्षण। देख-भाल। मुआयना। (२) संकोच। (३) रियायत।

क्रि० प्र०—करना।—रखना।—होना।

मुलुक-संज्ञा पुं० दे० “मुल्क”।

मुलेठी-संज्ञा स्त्री० [सं० (मधुषि) मूलयष्टी, प्रा० मूलयष्टी] घुँवची या गुंजा नाम की लता की जड़ जो औषध के काम में आती है। जेठी मधु। मुलठी।

विशेष—यह खाँसी की बहुत प्रसिद्ध और अच्छी औषधि मानी जाती है। वैद्यक में इसे मधुर, शीतल, बलकारक, नेत्रों के लिये हितकारी, वीर्यजनक तथा पित्त, वात, सूजन, विष, वमन, तृषा, ग्लानि और क्षय-रोगनाशक माना है। इसका सत्त भी तैयार किया जाता है जो काले रंग का होता है और बाज़ारों में ख़बुसूस के नाम से मिलता है। यह साधारण जड़ की अपेक्षा अधिक गुणकारी समझा जाता है।

पर्या०—यष्टिमधु। झीतका। मधुक। यष्टिका। मधुस्तमा। मधुम। मधुवली। मधूली। मधुररसा। अतिरसा। मधुर-नाम। शोषापहा। सौम्या।

मुल्क-संज्ञा पुं० [अ०] (१) देश। (२) सूबा। प्रांत। प्रदेश। (३) संसार। जगत्।

मुल्कगोरी-संज्ञा स्त्री० [अ०] देश पर अधिकार प्राप्त करना। मुल्क जीतना।

मुल्की-वि० [अ०] (१) देश संबंधी। देशी। (२) शासन या व्यवस्था संबंधी।

मुलतवी-वि० [अ०] जो रोक दिया गया हो। जिसका समय आगे बढ़ा दिया गया हो। स्थगित। वि० दे० “मुलतवी”।

मुल्ला-संज्ञा पुं० [अ०] मुसलमानों का आचार्य वा पुरोहित। मौलवी। वि० दे० “मौलवी”।

मुक्किल-संज्ञा पुं० [अ०] वह जो अपने किसी काम के लिये कोई वकील नियुक्त करे। वकील करनेवाला।

मुवना #†-क्रि० अ० [सं० मृत, प्रा० मित्र या मुत्र + ना (प्रत्य०)] मरना। मृत होना। उ०—(क) गइ तजि लहरैं पुरइन पाता। मुवउँ धूप सिर अहा न छाता।—जायसी। (ख) जैस पतंग आगि धँसि लीन्ही। एक मुवै दूसर जिउ दीन्ही।—जायसी। (ग) नारि मुई, घर संपति नासी।—तुलसी।

मुवाना ॐ-क्रि० स० [हि० मुवना का स० रूप] हत्या करना। प्राण लेना। मार डालना। उ०—इक सखी मिलि हँसति पृथति खैचि कर की ओर। तजि मुवाइ सुभखत नाहीं निरखि उनकी ओर।—सूर।

मुशज्जर-संज्ञा पुं० [अ०] एक प्रकार का छपा हुआ कपड़ा।

मुशफ़िक-वि० [अ०] (१) कृपालु। दयालु। (२) मित्र। दोस्त। (३) तरस खानेवाला। दयावान। रहम-दिल।

मुशल-संज्ञा पुं० [सं०] धान आदि कूटने का डंडा। मूसल।

मुशली-संज्ञा पुं० [सं०] मूसल धारण करनेवाले, श्री बलदेव।

मुश्क-संज्ञा पुं० [फा०] (१) कस्तूरी। मृगमद। मृगनाभि। † (२) गंध। बू।

संज्ञा स्त्री० [देश०] कंधे और कोहनी के बीच का भाग। भुजा। बाँह।

मुहा०—मुश्कें कसना या बाँधना = (अपराधी आदि को) दोनों भुजाओं को पीठ की ओर करके बाँध देना। (इससे आदमी बेवस हो जाता है।)

मुश्कदाना-संज्ञा पुं० [फा०] एक प्रकार की लता का बीज जो इलायची के दाने के समान होता है और जिसके टूटने पर कस्तूरी की सी सुगंध निकलती है। संस्कृत में इसे लता-कस्तूरी कहते हैं। वैद्यक में इसे स्वादिष्ट, वीर्यजनक, शीतल, कटु, नेत्रों के लिये हितकारी, कफ, तृषा, मुखरोग और दुर्गंध आदि का नाश करनेवाला माना है।

मुश्कनाफ़ा-संज्ञा पुं० [फा०] कस्तूरी का नाफ़ा जिसके अंदर कस्तूरी रहती है।

मुश्कनाभ-संज्ञा पुं० [फा० मुश्क + सं० नाभ] वह मृग जिसकी नाभि में कस्तूरी होती है। कस्तूरी मृग। वि० दे० “कस्तूरीमृग”।

मुश्कविलाई-संज्ञा स्त्री० [फा० मुश्क + हि० विलाई = विल्ली] एक प्रकार का जंगली विलाव जिसके अंडकोशों का पसीना बहुत सुगंधित होता है। गंध विलाव।

विशेष—अरबी में इसे जुबाद और संस्कृत में गंधमार्जार कहते हैं। इसके कान गोल और छोटे होते हैं और रंग भूरा होता है। दुम काली होती है, पर उस पर सफेद छल्ले पड़े रहते हैं। लंबाई प्रायः ४० इंच होती है। यह जंतु राजपूताने और पंजाब के सिवा बाकी सारे हिंदुस्थान में पाया जाता है। यह बिलों में रहता है; शिकारी होता है;

और पाला भी जा सकता है। यह चूहे, गिलहरी आदि खाकर रहता है। इसकी कई जातियाँ होती हैं। जैसे,— भोंडर, लकाटी इत्यादि।

मुश्कमैहदी-संज्ञा स्त्री० [फा० मुश्क + मैहदी] एक प्रकार का छोटा पौधा जो बागों में शोभा के लिये लगाया जाता है।

मुश्किल-वि० [अ०] कठिन। दुष्कर। दुस्साध्य।

संज्ञा स्त्री० (१) कठिनता। दिक्कत। (२) मुसीबत। विपत्ति। संकट।

क्रि० प्र०—आना।—पड़ना।—में पड़ना।

मुहा०—मुश्किल आसान होना = संकट दलना।

मुश्की-वि० [फा०] (१) कस्तूरी के रंग का। काला। श्याम।

(२) जिसमें मुश्क मिला हो। जिसमें कस्तूरी पड़ी हो। जैसे,—मुश्की ज़रदा।

संज्ञा पुं० वह घोड़ा जिसका सारा शरीर काला हो।

मुश्त-संज्ञा पुं० [फा०] मुट्ठी।

यौ०—एकमुश्त = एक साथ। एक ही बार। (प्रायः रूपों के लेन देन के संबंध में ही बोलते हैं।) जैसे,—उसने सब रूप एक-मुश्त दे दिए।

मुश्तहिर-वि० [अ०] जिसका इश्तहार दिया गया हो। जो प्रसिद्ध किया गया हो।

मुश्ताक-वि० [अ०] (१) इच्छा रखनेवाला। चाहनेवाला। (२) प्रेमी। आशिक।

मुषल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूसल। (२) विश्वामित्र के पुत्र का नाम।

मुषलो-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तालमूलिका। (२) छिपकली।

मुषित-वि० [सं०] (१) चुराया हुआ। मूसा हुआ। (२) उगा हुआ। वंचित।

मुषीवन्-संज्ञा पुं० [सं०] चोर।

मुषुर ऋ०-संज्ञा स्त्री० [सं० मुखर] गूँजने का शब्द। गुंजार। उ०—हेम जलज कल कलिन मध्य जनु मधुकर मुषुर सोहाई।—तुलसी।

मुष्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंडकोष। (२) मोखा नाम का वृक्ष। (३) चोर। (४) ढेर। राशि।

वि० मांसल।

मुष्कक-संज्ञा पुं० [सं०] मोखा नाम का वृक्ष।

मुष्कर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंडकोष। (२) पुरुष की मूर्त्रेद्रिया।

मुष्कशून्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसके अंडकोष निकाल लिए गए हों। बधिया। (२) वह जो इस क्रिया के उपरांत अन्तःपुर में काम करने के लिये नियुक्त हो।

मुष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] चोरी।

मुष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुट्ठी। (२) मुक्का। धूँसा। उ०—तब सुग्रीव विकल होइ भागा। मुष्टि प्रहार बज्र सम

लागा।—तुलसी। (३) एक प्राचीन परिमाण जो किसी के मत से ३ तोले का और किसी के मत से ८ तोले का होता था। (४) चोरी। (५) दुर्भिक्ष। अकाल। (६) ऋद्धि नामक ओषधि। (७) मोखा नामक वृक्ष। (८) राज्य का एक नाम। (९) कंस के दरबार का एक मल्ल। मुष्टिक। उ०—कह्यो चाणूर मुष्टि सब मिलिकै जानत हौ सब जी के।—सूर। (१०) धुरे, तलवार आदि की मूँट। बेंट।

पर्या०—आज्र। चतुर्थिका। प्रकुंच। पोड़सी। बिंख।

मुष्टिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा कंस के पहलवानों में से एक जिसे बलदेवजी ने मारा था। उ०—तहँ रूप सुत मल्ल हैं शल तोशल चानूर। मुष्टिक कूट सु पाँच ये समर सूर भरपूर।—गोपाल। (२) मुक्का। धूँसा। उ०—एक बार हनि मुष्टिक मारा। गिरा अवनि करि घोर चिकारा।—विश्राम। (३) चार अंगुल की नाप। उ०—षट तिल यव त्रै अंगुल होई। चतुरांगुल कर मुष्टिक सोई।—विश्राम। (४) मुट्ठी। (५) सुनार। (६) तांत्रिकों के अनुसार एक उपाकरण जो बलिदान के योग्य होता है।

मुष्टिकांतक-संज्ञा पुं० [सं०] मुष्टिक नामक मल्ल को मारनेवाले, बलदेव।

मुष्टिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुक्का। धूँसा। उ०—वृक्ष पाण को जब उहाँ नाश भयो मुष्टिका युद्ध दोऊ प्रचारी।—सूर। (२) मुट्ठी।

मुष्टिदेश-संज्ञा पुं० [सं०] धनुष का मध्य भाग जो मुट्ठी में पकड़ा जाता है।

मुष्टियुद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] वह लड़ाई जिसमें केवल मुक्कों से प्रहार किया जाय। धूँसेबाजी।

मुष्टियोग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हठ योग की कुछ क्रियाएँ जो शरीर की रक्षा करने, बल बढ़ाने और रोग दूर करनेवाली मानी जाती हैं। (२) किसी बात का कोई छोटा और सहज उपाय।

मुष्टक-संज्ञा पुं० [सं०] सरसों।

मुसक-संज्ञा पुं० दे० “मुश्क”।

मुसकनि ऋ०-संज्ञा स्त्री० [हि० मुस्कराना] मुसकराहट। उ०—(क) सकल सुगंध अंग भरि भोरी पिय निरतत मुसकनि मुखमोरी परिरंभन रसरोरी।—हरिदास। (ख) अटके नैन माधुरी मुसकनि अमृतवचन स्रवनन को भावत।—सूर।

मुसकनिया ऋ०-संज्ञा स्त्री० दे० “मुसकान” उ०—मनमोहन की तुतरी बोलन मुनि मन हरत सुहँस मुसकनियाँ।—सूर।

मुसकराना-क्रि० प्र० [सं० स्मय + कृ] ऐसी आकृति बनाना जिससे जान पड़े कि हँसना चाहते हैं। ऐसी कम हँसी जिसमें न दाँत निकले, न शब्द हो। बहुत ही मन्द रूप से हँसना। हाँगों में हँसना। मृदु हास। मंद हास।

मुसकराहट-संज्ञा स्त्री० [हि० मुसकराना + आहट (प्रत्य०)] मुसकराने की क्रिया या भाव। मथुरा या बहुत थोड़ी हँसी। मंद हास।
मुसका-संज्ञा पुं० [देश०] रस्सी की बनी हुई एक प्रकार की छोटी जाली जो पशुओं, विशेषतः बैलों के मुँह पर इसलिये बाँध दी जाती है, जिसमें वे खलिहानों या खेतों में काम करते समय कुछ खा न सकें। जाला।

मुसकान-संज्ञा स्त्री० दे० "मुसकराहट"।
मुसकाना-क्रि० प्र० दे० "मुसकराना"।
मुसकानि-संज्ञा स्त्री० दे० "मुसकराहट"।
मुसकिराना-क्रि० प्र० दे० "मुसकराना"।
मुसकिराहट-संज्ञा स्त्री० दे० "मुसकराहट"।
मुसकुराना-क्रि० प्र० दे० "मुसकराना"।
मुसकुराहट-संज्ञा स्त्री० दे० "मुसकराहट"।
मुसकयान-संज्ञा स्त्री० दे० "मुसकराहट"।
मुसकयाना-क्रि० प्र० दे० "मुसकराना"।
मुसखोरी-संज्ञा स्त्री० [हि० मूस = चूहा + खोरी = खाना] खेत में चूहों की अधिकता होना। मुसहरी।

मुसजर-संज्ञा पुं० [अ० मुशजर] एक प्रकार का छपा कपड़ा।
 उ०—बादला दन्याई नौरंग साईं जरकस काई झिलमिल है। ताफता कलंदर बाकतावंदर मुसजर सुंदर गिलमिल है।—सूदन।

मुसटी-संज्ञा स्त्री० [हि० मूस = चूहा + टी (प्रत्य०)] चुहिया।
मुसदी-संज्ञा स्त्री० [देश०] मिठाई बनाने का साँचा।
मुसद्दिका-वि० [अ०] परताल किया हुआ। तसदीक किया हुआ। जाँचा हुआ।

मुसना-क्रि० प्र० [सं० मूषण = चुराना] छुड़ा जाना। अपहृत होना। मूसा जाना। चुराया जाना। (धन आदि)

मुहा—वर मुसना = वर में चोरी होना।

मुसन्ना-संज्ञा पुं० [अ०] (१) किसी असल कागज की दूसरी नकल जो मिलान आदि के लिये रखी जाती है। (२) रसीद आदि का वह आधा और दूसरा भाग जो रसीद देनेवाले के पास रह जाता है।

मुसन्निफ़-संज्ञा पुं० [अ०] पुस्तक बनानेवाला। ग्रंथकर्ता। रचयिता।

मुसब्बर-संज्ञा पुं० [अ०] कुछ विशिष्ट क्रियाओं से सुखाया और जमाया हुआ घीकुवॉर का दूध या रस जिसका व्यवहार ओषधि के रूप में होता है। इसका उपयोग अधिकतर रचन के लिये या चोट आदि लगने पर मालिश और सेंक आदि करने में होता है। यह प्रायः जंजीवार, मेढाल तथा भूमध्य सागर के आस पास के प्रदेशों से आता है। वैद्यक में इसे चरपरा, शीतल, दस्तावर, पारे को

शोधनेवाला तथा शूल, कफ, वात, कृमि और गुल्म को दूर करनेवाला माना है। एलुआ।

मुसमर-संज्ञा पुं० [हि० मूस = चूहा + मारना] एक प्रकार की चिड़िया जो खेत के चूहों को पकड़कर खाती है।

मुसमरवा-संज्ञा पुं० [हि० मूस + मारना] (१) मुसमर चिड़िया। (२) एक नीच जाति जो चूहे खाती है। मुसहर।

मुसमुंद-वि० [देश०] ध्वस्त। नष्ट। बरदाद। उ०—पुरद्वार रुकि ठाढ़ी बली सबै दुग्ग मुसमुंद किय।—सूदन।

संज्ञा पुं० नाश। ध्वंस। बरबादी।

मुसमुंछ-संज्ञा पुं० दे० "मुसमुंद"। उ०—दिस छुँधरी चक-छुँधरी मुसमुंछरी सुवसुंछरी।—सूदन।

मुसम्मा-वि० पुं० [अ०] [स्त्री० मुसम्मात] जिसका नाम रखा गया हो। नामक। नामी। नामधारी।

मुसम्मात-वि० [अ० मुसम्मा का स्त्री० रूप] मुसम्मा शब्द का स्त्रीलिंग रूप। नाम्नी। नामधारिणी।

संज्ञा स्त्री० स्त्री। औरत।

मुसरा-संज्ञा पुं० [हि० मूसल] पेड़ की वह जड़ जिसमें एक ही मोटा पिंड धरती के अंदर दूर तक चला जाय और इधर उधर शाखाएँ न हों। जैसे,—मूली, सेमल आदि की जड़। 'झगरा' का उलटा।

मुसरिया-संज्ञा स्त्री० [देश०] काँच की चूड़ियाँ बनाने का साँचा।

†-संज्ञा स्त्री० [हि० मूस] चूहे का बच्चा। मुसटी।

संज्ञा स्त्री० दे० "मुसरा"।

मुसल-संज्ञा पुं० दे० "मूसल"।

मुसलधार-क्रि० वि० दे० "मूसलधार"। उ०—भले नाथ नाह माथ चले पाथप्रदनाथ वरपै मुसलधार बार बार घोरि कै।—तुलसी।

मुसलमान-संज्ञा पुं० [फ़ा०] [स्त्री० मुसलमानी] वह जो मुहम्मद साहब के चलाए हुए संप्रदाय में हो। मुहम्मद साहब का अनुयायी और इस्लाम धर्म को माननेवाला। मुहम्मदी। उ०—हिंदू मैं क्या और है मुसलमान मैं और। साहब सब का एक है व्याप रहा सब ठौर।—रसनिधि।

मुसलमानी-वि० [फ़ा०] मुसलमान संबंधी। मुसलमान का। जैसे,—मुसलमानी मज़हब।

संज्ञा स्त्री० मुसलमानों की एक रसम जिसमें छोटे बालक की इंद्री पर का कुछ चमड़ा काट डाला जाता है। बिना यह रसम हुए वह पक्का मुसलमान नहीं समझा जाता। सुन्नत।

मुसली-संज्ञा पुं० दे० "मुशली"।

संज्ञा स्त्री० [सं० मुपली] हल्दी की जाति का एक पौधा जिसकी जड़ें औषध के काम में आती हैं और बहुत पुष्टि-कारक मानी जाती हैं। यह पौधा सीढ़ की ज़मीन में उगता

है। विलासपुर ज़िले में, विशेषतः अमरकंटक पहाड़ पर यह बहुत होता है।

मुसल्लम-वि० [फा०] जिसके खंड न किए गए हों। साबुत। पूरा। अखंड। जैसे,—यह गाँव मुसलम उन्हीं का है।
संज्ञा पुं० दे० “मुसलमान”। उ०—हिंदू एकादश चौबिस रोज़ा मुसलम तीस बनाये।—कबीर।

मुसल्ला-संज्ञा पुं० [अ०] [स्त्री० अल्पा० मुसल्ला] (१) नमाज़ पढ़ने की दरी या चटाई। (२) एक प्रकार का वस्त्र जो बड़े दिए के आकार का होता है। यह बीच में उभरा हुआ होता है। इसमें मुहर्रम में चढ़ाया जाता है।
संज्ञा पुं० दे० “मुसलमान”।

मुसवाना-क्रि० स० [हि० मूयना का प्रेर० रूप] (१) लुटवाना। (२) चोरी कराना।

मुसव्विर-संज्ञा पुं० [अ०] (१) चित्रकार। तस्वीर खींचने वाला। (२) बेल-बूटे बनाने वाला।

मुसव्विरी-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) चित्रकारी। (२) नक्काशी। बेल-बूटे का काम।

मुसहर-संज्ञा पुं० [हि० मूस = चूहा + हर (प्रत्य०)] एक प्रकार की जंगली जाति जिसका व्यवसाय जंगली जड़ी बूटी आदि बेचना है। कहते हैं कि इस जाति के लोग प्रायः चूहे तक मारकर खाते हैं; इसी से मुसहर कहलाते हैं। आजकल यह जाति गाँवों और नगरों के आस-पास बस गई है और दोने, पत्तल बनाने तथा पालकी आदि उठाने का काम करती है।

मुसहिल-वि० [अ०] वह दवा जिससे दस्त आवें। दस्तावर। रेचक। (ऐसी दवा प्रायः जुलाब से एक दिन पहले खाई जाती है।)

संज्ञा पुं० जुलाब।

मुसाफिर-संज्ञा पुं० [अ०] यात्री। राहगीर। बटोही। पथिक।

मुसाफिरखाना-संज्ञा पुं० [अ० मुसाफिर + फा० खाना] (१) यात्रियों के विशेषतः रेल के यात्रियों के ठहरने के लिये बना हुआ स्थान। (२) धर्मशाला। सराय।

मुसाफिरत-संज्ञा स्त्री० [अ०] मुसाफिर होने की दशा। मुसाफिरी। प्रवास।

मुसाफिरी-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मुसाफिर होने की दशा। (२) यात्रा। प्रवास।

मुसाहब-संज्ञा पुं० [अ०] वह जो किसी धनवान् या राजा आदि के समीप उसका मन बहलाने अथवा इसी प्रकार के और कामों के लिये रहता है। पार्श्ववर्त्ती। सहवासी।

मुसाहबत-संज्ञा स्त्री० [अ०] मुसाहब का पद या काम।

मुसाहबी-संज्ञा स्त्री० [अ० मुसाहब + ई (प्रत्य०)] मुसाहब का पद या काम।

मुसीका-संज्ञा पुं० दे० “मुसका”।

मुसीबत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) तकलीफ़। कष्ट। (२) विपत्ति। संकट।

क्रि० प्र०—उठाना।—झेलना।—भोगना।—सहना।

मुसकाहट-संज्ञा स्त्री० दे० “मुसकराहट”।

मुस्किल-वि० संज्ञा स्त्री० दे० “मुश्किल”।

मुस्की-संज्ञा स्त्री० दे० मुसकराहट”।

वि० दे० “मुश्की”।

मुस्कयान-संज्ञा स्त्री० दे० “मुसकराहट”।

मुस्टंडा-वि० [सं० पुष्ट] (१) मोटा ताजा। हृष्ट पुष्ट। (२) बदसाश। गुंडा। लुच्चा। शोहदा।

मुस्त-संज्ञा पुं० [सं०] नागरमोथा।

मुस्तक-संज्ञा पुं० [सं०] नागरमोथा। मोथा।

मुस्तकिल-वि० [अ०] (१) अटल। स्थिर। (२) पक्का। मज़बूत। दृढ़।

मुस्तगीस-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह जो किसी प्रकार का इस्तगासा या अभियोग उपस्थित करे। फरियादी। (२) मुद्दई। दावेदार।

मुस्तनद-वि० [अ०] जो सनद के तौर पर माना जाय। विश्वास करने के योग्य। प्रामाणिक।

मुस्तशना-वि० [अ०] (१) अलग किया हुआ। छाँटा हुआ। भिन्न। (२) जो अपवाद स्वरूप हो। (३) उससे मुक्त किया हुआ, जिसका पालन औरों के लिये आवश्यक हो। बरी किया हुआ।

मुस्तहक-वि० [अ०] (१) हकदार। अधिकारी। (२) योग्य। पात्र।

मुस्ताद-संज्ञा पुं० [सं०] जंगली सूअर (जो मोथे की जड़ खाता है)।

मुस्तैद-वि० [अ० मुस्तअद] (१) जो किसी कार्य के लिये तत्पर हो। सन्नद्ध। (२) चुस्त। चालाक। तेज।

मुस्तैदी-संज्ञा स्त्री० [अ० मुस्तअद + ई (प्रत्य०)] (१) सन्नद्धता। तत्परता। (२) फुरती। उत्साह।

मुस्तौफी-संज्ञा पुं० [अ०] वह पदाधिकारी जो अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के हिसाब की जाँच-पड़ताल करे। आय-व्यय-परीक्षक। उ०—वासिल-वाकी स्याहा मुजमिल सब अधर्म की बाकी। चित्रगुप्त होते मुस्तौफी शरण गहूँ मैं काकी।—सूर

मुहकम-वि० [अ०] दृढ़। पक्का। उ०—सूर पाप को गढ़ दृढ़ कीहो मुहकम लाइ किंवारे।—सूर।

मुहकमा-संज्ञा पुं० [अ०] सरिश्ता। विभाग। सीगा।

मुहतमिम-संज्ञा पुं० [अ०] बंदोबस्त करनेवाला। इंतजाम करनेवाला। निगरानी करनेवाला। प्रबंधक। व्यवस्थापक।

मुहतरका-संज्ञा पुं० [?] वह कर जो व्यापार वाणिज्य आदि पर लगाया जाय।

मुहताज-वि० [अ०] (१) जिसे किसी ऐसे पदार्थ की बहुत अधिक आवश्यकता हो जो उसके पास विलकुल न हो। जैसे,—दाने दाने को मुहताज। (२) दरिद्र। गरीब। कंगाल। निर्धन। (३) निर्भर। आश्रित। (४) चाहनेवाला। आकांक्षी। जैसे,—हम तुम्हारे रूप के मुहताज नहीं।

मुहवनी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का फल जो नारंगी की तरह का होता है।

मुहवत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) प्रीति। प्रेम। प्यार। चाह।

मुहा०—मुहवत उछलना = प्रेम का आवेग होना।

(२) दोस्ती। मित्रता। (३) इश्क। लगन। लौ।

क्रि० प्र०—करना। रखना।

मुहम्मद-संज्ञा पुं० [अ०] अरब के एक प्रसिद्ध धर्माचार्य जिन्होंने इस्लाम या मुसलमानी धर्म का प्रवर्तन किया था। इनका जन्म मक्के में सन् ५७० ई० के लगभग और मृत्यु मदीने में सन् ६३२ ई० में हुई थी। इनके पिता का नाम अब्दुल्ला और माता का अमीना था। इन्होंने अपने जीवन के आरंभिक काल में ही यहूदियों और ईसाइयों की बहुत सी धार्मिक बातों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उसी समय से ये स्वतंत्र रूप से अपना एक धर्म चलाने की चिन्ता में थे और उसी उद्देश्य से लोगों को कुछ उपदेश भी देने लगे थे। प्रायः ४० वर्ष की अवस्था में इन्होंने यह प्रसिद्ध किया था कि ईश्वर ने मुझे इस संसार में अपना पैगंबर (दूत) बनाकर धर्म-प्रचार करने के लिये भेजा है। इसके उपरान्त इन्होंने कुरान की रचना की; और उसके संबंध में यह प्रसिद्ध किया कि इसकी सब बातें खुदा अपने फरिश्ते जिब्रिल के द्वारा समय समय पर मुझसे कहलाता रहा है। धीरे धीरे कुछ लोग इनके अनुयायी हो गए। पर बहुत से लोग इनके विरोधी भी थे, जिनसे समय समय पर इन्हें युद्ध करना पड़ता था। यह भी प्रसिद्ध है कि ये एक बार सदेह स्वर्ग गए थे और वहाँ ईश्वर से मिले थे। अरबवालों ने कई बार इनके प्राण लेने की चेष्टा की थी; पर ये किसी न किसी प्रकार बराबर बचते ही गए। ये मूर्ति-पूजा के कट्टर विरोधी और एकेश्वरवाद के प्रचारक थे। अपने आपको ये पैगंबर या ईश्वरीय दूत बतलाते थे। इन्होंने कई विवाह भी किए थे। ये जैसे उदार और कृपालु थे, वैसे ही कट्टर और निर्दय भी थे।

मुहम्मदी-संज्ञा पुं० [अ०] मुहम्मद साहब का अनुयायी। मुसलमान।

मुहय्या-वि० दे० “मुहैया”।

मुहर-संज्ञा स्त्री० दे० “मोहर”।

मुहरा-संज्ञा पुं० [हि० मुँह + रा (प्रत्य०)] (१) सामने का भाग। आगा। सिर। सामना।

मुहा०—मुहरा लेना = मुकाबिला करना। सामने होकर लड़ना। (२) निशाना। (३) मुँह की आकृति।

यौ०—चेहरा मोहरा।

(४) शतरंज की कोई गोटी। उ०—घोड़ा दै फ़रजी बद-लावा। जेहि मुहरा रख चहै सो पावा।—जायसी। (५) पत्नी घोटने का शीशा। (६) घोड़े का एक साज जो उसके मुँह पर पहनाया जाता है। उ०—अनुपम सुखवि मुहरो लगाम लगाम दुमची जीन की।—रघुराज।

मुहरी-संज्ञा स्त्री० (१) दे० “मोरी”। (२) दे० “मोहरी”।

मुहर्रम-संज्ञा पुं० [अ०] अरबी वर्ष का पहला महीना। इसी महीने में इमाम हुसेन शहीद हुए थे। मुसलमानों में यह महीना शोक का माना जाता है।

मुहा०—मुहर्रमी सूरत = रोनी सूरत। मनहूस सूरत। मुहर्रम की पैदाइश होना = मनहूस होना। सदा दुःखी और चिंतित रहना।

मुहर्रमी-वि० [अ० मुहर्रम + ई (प्रत्य०)] (१) मुहर्रम संबंधी।

मुहर्रम का। (२) शोक-व्यंजक। (३) मनहूस।

यौ०—मुहर्रमी सूरत = रोनी सूरत। मनहूस सूरत।

मुहर्रिर-संज्ञा पुं० [अ०] लेखक। मुंशी। उ०—पाँच मुहर्रिर साथ करि दीने तिनकी बड़ी विपरीत। जिम्मे उनके, माँगें माँते यह तो बड़ी अनीत।—सूर।

मुहर्रिरी-संज्ञा स्त्री० [अ०] मुहर्रिर का काम। लिखने का काम।

मुहलत-संज्ञा स्त्री० दे० “मोहलत”।

मुहलैठी-संज्ञा स्त्री० दे० “मुलेठी”।

मुहल्ला-संज्ञा पुं० दे० “महल्ला”।

मुहसिन-वि० [अ०] एहसान करनेवाला। अनुग्रह करनेवाला।

मुहसिल-वि० [अ० मुहासिल] तहसील वसूल करनेवाला। उगाहनेवाला।

संज्ञा पुं० प्यादा। फेरीदार। उ०—मैं न दियो, मन उन लियो, मुहसिल मैं पठाय।—रसनिधि।

मुहाफ़िज़-वि० [अ०] हिफाजत करनेवाला। संरक्षक। रखवाला।

मुहाफ़िज़खाना-संज्ञा पुं० [अ० + फा०] कचहरी में वह स्थान जहाँ सब प्रकार की मिसलें आदि रहती हैं।

मुहाफ़िज़ दफ़्तर-संज्ञा पुं० [अ०] कचहरी का वह अधिकारी जिसके निरीक्षण में मुहाफ़िज़खाना रहता है।

मुहाल-वि० [अ०] (१) असंभव। ना-मुमकिन। (२) कठिन। दुष्कर। दुःसाध्य।

संज्ञा पुं० (१) दे० “महाल”। (२) दे० “महल्ला”।

मुहाला-संज्ञा पुं० [हि० मुँह + आला (प्रत्य०)] पीतल का वह बंद या चूड़ी जो हाथी के दाँत में शोभा के लिये चढ़ाई जाती है। उ०—वारन बदन सदंत विराजहिं हाटक बँधे

मुहाले । मनहूँ द्वैज शशि श्याम मेघ मधि उभय नोक छवि माले ।—रघुराज ।

मुहावरा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) लक्षणा या व्यंजना द्वारा सिद्ध वाक्य या प्रयोग जो किसी एक ही बोली या लिखी जानेवाली भाषा में प्रचलित हो और जिसका अर्थ प्रत्यक्ष (अभिधेय) अर्थ से विलक्षण हो । किसी एक भाषा में दिखाई पड़नेवाली असाधारण शब्द-योजना अथवा प्रयोग । जैसे,—“लाठी खाना” मुहावरा है; क्योंकि इसमें “खाना” शब्द अपने साधारण अर्थ में नहीं आया है, लाक्षणिक अर्थ में आया है । लाठी खाने की चीज़ नहीं है, पर बोल-चाल में “लाठी खाना” का अर्थ “लाठी का प्रहार सहना” लिया जाता है । इसी प्रकार “गुल खिलाना”, “घर करना”, “चमड़ा खींचना”, “चिकनी चुपड़ी बातें” आदि मुहावरे के अंतर्गत हैं । कुछ लोग इसे “रोजमर्रा” या “बोलचाल” भी कहते हैं । (२) अभ्यास । आदत । जैसे,—आजकल मेरा लिखने का मुहावरा छूट गया गया है ।

क्रि० प्र०—छूटना ।—डालना ।—पड़ना ।

मुहासिब-संज्ञा पुं० [अ०] (१) हिसाब जाननेवाला । गणितज्ञ । (२) पड़ताल करनेवाला । आँकनेवाला । हिसाब लेनेवाला । उ०—सूर आप गुजरान मुहासिब लै जवाब पहुँचावै—सूर ।
मुहासिबा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) हिसाब । लेखा । उ०—सूर-दास को यह मुहासिबा दस्तक कीजै माफ ।—सूर । (२) पूछ-ताछ ।

मुहासिरा-संज्ञा पुं० [अ०] युद्ध आदि के समय किले या शत्रु-सेना को चारों ओर से घेरने का काम । घेरा ।

मुहासिल-संज्ञा पुं० [अ०] (१) आय । आमदनी । (२) लाभ । मुनाफ़ा । नफ़ा । (३) बिक्री आदि से होनेवाली आय ।

मुहिं*—सर्व० दे० “मोहिं” ।

मुहिब्व-संज्ञा पुं० [अ०] प्रेम रखनेवाला । दोस्ती रखनेवाला । दोस्त । मित्र ।

मुहिम-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) कोई कठिन या बड़ा काम । भारी, मारके का या जान जोखों का काम । (२) लड़ाई । युद्ध । समर । जंग । (३) फौज की चढ़ाई । आक्रमण । उ०—आये तेरे दगन पै जे मुहिम अखत्यार । कितेन मनसूबा गये इन सौं जुरकै हार ।—रसनिधि ।

मुहिर-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव ।

वि० मूर्ख । जड़बुद्धि ।

मुहीम-संज्ञा स्त्री० दे० “मुहिम” ।

मुहुः—अव्य० [सं०] बार बार । फिर फिर ।

यौ०—मुहुंमुहुः

मुहुपुची-संज्ञा स्त्री० [देश०] काले रंग का एक प्रकार का छोटा कीड़ा जो मूँगफली की फसल को नष्ट कर देता है । ये

कीड़े रात को अधिक उड़ते हैं । ये पत्तियों पर अंडे देते हैं जिससे पत्तियाँ सूख जाती हैं । ये कीड़े धूप और साफ दिनों में बहुत हानि पहुँचाते हैं । इनसे खेत के खेत की फसल काली हो जाती है । पानी बरसने पर ये नष्ट हो जाते हैं । खुरल ।

मुहूर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काल का एक भाग । दिन रात का तीसवाँ भाग । (२) निर्विघ्न क्षण या काल । समय । जैसे, शुभ मुहूर्त्त । (३) फलित ज्योतिष के अनुसार षण्णा करके निकाला हुआ कोई समय जिस पर कोई शुभ काम (यात्रा, विवाह) आदि किया जाय ।

क्रि० प्र०—निकलना ।—निकालना ।—देखना ।—दिखलाना ।

मूँग-संज्ञा स्त्री० पुं० [सं० मुद्र] एक अन्न जिसकी दाल बनती है ।

विशेष—मूँग भादों में प्रायः साँवों आदि और अन्नों के साथ बोई जाती है और अगहन में कटती है । इसके पौधे की टहनियाँ लता के रूप में इधर उधर फैली होती हैं । एक एक सींके में सेम की तरह तीन तीन पत्तियाँ होती हैं । फूल नीले या बैंगनी होते हैं । फलियाँ ढाई तीन अंगुल की पतली पतली होती हैं और गुच्छों में लगती हैं । फलियों के भीतर ५-६ लंबे गोल दाने होते हैं, जिनके मुँह पर की विंदी उर्द की तरह स्पष्ट नहीं होती । मूँग के लिये बलुई मिट्टी और थोड़ी वर्षा चाहिए । मूँग कई प्रकार की होती है—हरी, काली, पीली । हरी या पीली मूँग अच्छी समझी जाती है और सोना मूँग कहलाती है । वैद्यक में मूँग रुखी, लघु, धारक, कफघ्न, पित्तनाशक, कुछ वायुवर्द्धक, नेत्रों के लिये हितकर और ज्वरनाशक कही गई है । बनमूँग के भी प्रायः यही गुण हैं । मूँग की दाल बहुत हलकी और पथ्य समझी जाती है; इसी से रोगियों को प्रायः दी जाती है । इससे बड़ी, पापड़, लड्डू आदि भी बनते हैं ।

पर्या०—सूपश्रेष्ठ । वर्णाई । रसोत्तम । भुक्तिप्रद । हयानंद । सुफल । वाजिभोजन ।

मुहा०—छाती पर मूँग दलना = दे० “छाती” । मूँग की दाल खानेवाला = पुरुषार्थ-हीन । निर्बल । डरपोक ।

मूँगफली-संज्ञा स्त्री० [हिं० मूँग + फली] (१) एक प्रकार का क्षुप जिसकी खेती फलों के लिये प्रायः सारे भारत में की जाती है । यह क्षुप तीन चार फुट तक ऊँचा होकर पृथ्वी पर चारों ओर फैल जाता है । इसके डंठल रोएँदार होते हैं और सींकों पर दो दो जोड़े पत्ते होते हैं, जो आकार में चकवैड़ के पत्तों के समान अंडाकार, पर कुछ लंबाई लिए होते हैं । सूर्यास्त होने पर इसके पत्तों के जोड़े आपस में मिल जाते हैं और सूर्योदय होने पर फिर अलग हो जाते हैं । इसमें अरहर के फूलों के से चमकीले पीले रंग के २-३ फूल एक साथ और एक जगह लगते हैं । इसकी जड़ में

मिट्टी के अंदर फल लगते हैं जिनके ऊपर कड़ा और खुरदुरा छिलका होता है तथा अंदर गोल, कुछ लंबोतरा और पतले लाल छिलकेवाला फल होता है, जो रूप-रंग तथा स्वाद आदि में बादाम से बहुत कुछ मिलता जुलता होता है। इसी कारण इसे चिनिया बादाम भी कहते हैं।

फागुन के आरंभ में ही जमीन को अच्छी तरह जोतकर दो दो फुट की दूरी पर छः छः इंच के गड्ढे बनाकर इसके बीज बो देते हैं; और यदि एक सप्ताह में बीज अंकुरित नहीं होता, तो कुछ सिंचाई करते हैं। आश्विन कार्तिक में पीले रंग के फूल लगते हैं जो मटर के फूलों के समान होते हैं। इसके डंठलों की गाँठों में से जो सोंरें निकलती हैं, वही जमीन के अंदर जाकर फल बन जाती हैं। इस फल के पक जाने पर मिट्टी खोदकर उन्हें निकाल लेते हैं और धूप में सुखाकर काम में लाते हैं। ये फल या तो साधारणतः थों ही अथवा उपरी छिलकों समेत भाड़ में भूनकर खाए जाते हैं। इनसे तेल भी निकाला जाता है जो खाने तथा दूसरे अनेक कामों में आता है। यह तेल जैतून के तेल की तरह का होता और प्रायः उसके स्थान में काम आता है। वैद्यक में इसका फल मधुर, स्निग्ध, वात तथा कफकारक और कोष्ठ को बद्ध करनेवाला माना जाता है; और किसी किसी के मत से गरम है और मस्तक तथा वीर्य में गरमी उत्पन्न करनेवाला है। (२) इस क्षुप का फल। चिनिया बादाम। विलायती मूँग।

पर्या०—भूचणक। भूशिकिका।

मूँगा—संज्ञा पुं० [हि० मूँग] (१) समुद्र में रहनेवाले एक प्रकार के कृमियों के समूह-पिंड की लाल ठठरी जिसकी गुरिया बनाकर पहनते हैं। इसकी गिनती रत्नों में की जाती है।

विशेष—समुद्र-तल में एक प्रकार के कृमि खोलड़ी की तरह का घर बनाकर एक दूसरे से लगे हुए जसते चले जाते हैं। ये कृमि अचर जीवों में हैं। ज्यों ज्यों इनकी वंशवृद्धि होती जाती है, त्यों त्यों इनका समूह-पिंड थूहर के पेड़ के आकार में बढ़ता चला जाता है। सुमात्रा और जावा के आस पास प्रशांत महासागर में समुद्र के तल में ऐसे समूह-पिंड हजारों मील तक खड़े मिलते हैं। इनकी वृद्धि बहुत जल्दी जल्दी होती है। इनके समूह एक दूसरे के ऊपर पटते चले जाते हैं जिससे समुद्र की सतह पर एक खासा टापू निकल आता है। ऐसे टापू प्रशांत महासागर में बहुत से हैं जो 'प्रवाल-द्वीप' कहलाते हैं। मूँगे की केवल गुरिया ही नहीं बनती; छड़ी, कुरसी आदि बड़ी बड़ी चीजें भी बनती हैं। आभूषण के रूप में मूँगे का व्यवहार भी मोती के समान बहुत दिनों से है। मोती और मूँगे का नाम प्रायः साथ साथ लिया जाता है। रत्न-परीक्षा की पुस्तकों में मूँगे का

भी वर्णन रहता है। साधारणतः मूँगे का दाना जितना ही बड़ा होता है, उतना ही अधिक उसका मूल्य भी होता है। कवि लोग बहुत पुराने समय से ओंठों की उपमा मूँगे से देते आए हैं।

पर्या०—प्रवाल। विद्रुम।

(२) एक प्रकार का रेशम का कीड़ा जो आसाम में होता है।

संज्ञा स्त्री० एक प्रकार का गन्ना जिसके रस का गुड़ अच्छा होता है।

मूँगिया—वि० [हि० मूँग + इया (प्राय०)] मूँग का सा। मूँग के रंग का। हरे रंग का।

संज्ञा पुं० (१) एक प्रकार का अमौआ रंग जो मूँग का सा हरा होता है। (२) एक प्रकार धारीदार चारखाना।

मूँछ—संज्ञा स्त्री० [सं० श्मश्रु, प्रा० मस्त्रु से मच्छ] उपरी ओंठ के ऊपर के बाल जो केवल पुरुषों के उगते हैं। ये बाल पुरुषत्व का विशेष चिह्न माने जाते हैं।

विशेष—'मूँछों पर हाथ फेरना' हिंदुओं में बहुत दिनों से वीरता की अकड़ दिखाने का संकेत माना जाता है। रणक्षेत्र में वीर लोग मूँछों पर ताव देते हुए चढ़ाई करते कहे जाते हैं। किसी कठिन काम में सफलता होने पर भी लोग मूँछों पर ताव देते हैं। पृथ्वीराज के चाचा कराह के विषय में प्रसिद्ध है कि उनकी आँखों पर दरबार में सदा पट्टी बँधी रहती थी; क्योंकि जिस किसी का हाथ वे मूँछों पर जाते देखते थे, उसका सिर उड़ा देते थे।

मुहा०—मूँछ उखाड़ना = कठिन दंड देना। घमंड चूर करना। (गाली)। मूँछों पर ताव देना = अभिमान से मूँछ मरोड़ना। वीरता की अकड़ दिखाना। मूँछें नीची होना = (२) लज्जित होना। घमंड टूट जाना। (२) अप्रतिष्ठा होना। वेश्जुती होना। मूँछों पर हाथ फेरना = दे० "मूँछों पर ताव देना"। मूँछों का कूँडा करना = एक मुसलमानी रस्म जो बेटे के मूँछें निकलने पर होती है।

मूँछी—संज्ञा स्त्री० [देश०] बेसन की बनी हुई एक प्रकार की कढ़ी जिसमें बेसन के सेव या पकौड़ियाँ आदि पड़ी होती हैं। सेव या पकौड़ियों की कढ़ी।

मूँज—संज्ञा स्त्री० [सं० मुञ्ज] एक प्रकार का तृण जिसमें डंठल या टहनियाँ नहीं होतीं; जड़ से बहुत ही पतली (जौ भर से कम चौड़ी) दो दो हाथ लंबी पत्तियाँ चारों ओर निकली रहती हैं। ये पत्तियाँ बहुत घनी निकलती हैं जिससे पौधा बहुत सा स्थान घेरता है। पत्तियों के मध्य में एक सूत्र यहाँ से वहाँ तक रहता है। पौधे के बीचोबीच से एक सीधा कांड पतली छड़ के रूप में ऊपर निकलता है जिसके सिरे पर मंजरी या धूप के रूप में फूल लगते हैं। सरकंडे से इसमें यह भेद होता है कि इसमें गाँठें नहीं होतीं और

छाल बड़ी चमकीली तथा चिकनी होती है। सींके से यह छाल उतारकर बहुत सुंदर सुंदर डलियाँ बुनी जाती हैं। मूँज प्रायः ऊँचे ढालपुं स्थानों पर बगीचे की बाड़ों या ऊँची भेड़ों पर लगाई जाती है। मूँज बहुत पवित्र मानी जाती है। ब्राह्मणों के उपनयन संस्कार के समय वटु को मुंज-मेखला (मूँज की करधनी) पहनाने का विधान है।

पर्या०—मौंजीतृण। ब्राह्मण्य। तेजनाह्वय। वानीरक। मुंजनक। शीरी। दर्भाद्वय। दूरमूल। ददमूल। वटुप्रज। रंजन। शत्रुभंग।

मूँड १—संज्ञा पुं० [सं० मुंड] सिर। कपाल। उ०—(क) तुलसी की बाजी राखी राम ही के नाम, नत भेंट पितरन को न मूँड हूँ मैं बास है।—तुलसी।

मुहा०—मूँड चढ़ना = ठिठई करना। सिर चढ़ना। मूँड चढ़ाना = ठिठ करना। निडर कर देना। सिर चढ़ाना। मूँड मारना = बहुत हैरान होना। बहुत कोशिश करना। उ०—मूँड मारि हिय हारि कै हित हेरि हहरि अब चरन सरन तकि आयो।—तुलसी। मूँड मुँडाना = संन्यासी होना। वि० दे० “सिर”।

मूँडकटा—संज्ञा पुं० [हि० मूँड + काटना] दूसरे का सिर काटने-वाला। दूसरे की हानि करनेवाला। धोखा देकर दूसरे को नुकसान पहुँचानेवाला।

मूँडन—संज्ञा पुं० [सं० मुंडन] मुंडन जिसमें बालक के बाल पहले पहल मुँड़ाए जाते हैं। चूड़ाकरण संस्कार।

मूँडना—क्रि० सं० [सं० मुंडन] (१) सिर के बाल बनाना। हजामत करना। (२) धोखा देकर माल उड़ाना। ठगना। जैसे,—उसने १०) तुमसे मूँड लिए। (३) भेड़ों के शरीर पर से ऊन कतरना। (४) चेला बनाना। दीक्षित करना। जैसे,—चेला मूँडना।

मूँडी—संज्ञा स्त्री० [सं० मुंड] (१) सिर। मस्तक।

मुहा०—मूँडी काटे = जियों की बोलचाल में पुरुषों के लिये एक गाली। मूँडी मरोड़ना = (१) गला दबाकर मार डालना। (२) धोखा देकर हानि पहुँचाना।

(२) किसी वस्तु का शिरोभाग (जो मूँड के आकार का हो)।

मूँडीबंध—संज्ञा पुं० [हि० मूँडी + बंध] कुश्ती का एक पेच जिसमें एक पहलवान दूसरे की पीठ पर चढ़कर उसकी बगलों के नीचे से अपने हाथ ले जाकर उसकी गर्दन दबाता है।

मूँदना—क्रि० सं० [सं० मुद्रण] (१) ऊपर से कोई वस्तु डाल या फैलाकर किसी वस्तु को छिपाना। आच्छादित करना। बंद करना। ढाँकना। जैसे,—आँख मूँदना। उ०—मूँदिय आँखि कतहुँ कोउ नाहीं।—तुलसी। (२) छेद, द्वार, मुँह आदि पर कोई वस्तु फैला या रखकर उसे बंद करना। खुला न रहने देना।—जैसे, नाक कान मूँदना, छेद मूँदना, खिड़की मूँदना, घड़े का मुँह मूँदना।

क्रि० प्र०—देना।—लेना।

मूक-वि० [सं०] (१) जिसके मुँह से अलग अलग वर्ण न निकल सकते हों। गूँगा। अवाक्। उ०—मूक होइ बाचालु, पंगु चढ़ै गिरिवर गहन।—तुलसी।

विशेष—सुश्रुत ने लिखा है कि गर्भवती को जिस वस्तु के खाने की इच्छा हो, उसके न मिलने से वायु कुपित होता है और गर्भस्थ शिशु कुबड़ा, गूँगा इत्यादि होता है।

(२) दीन। विवश। लाचार।

संज्ञा पुं० (१) दैत्य। दानव। (२) तक्षक के एक पुत्र का नाम।

मूकता—संज्ञा स्त्री० [सं०] गूँगापन।

मूकना १—क्रि० सं० [सं० मुक्त] (१) दूर करना। अलग करना। छोड़ना। त्यागना। उ०—(क) पाल्यो तेरे दूक को परेहूँ चूक मूकिये न कर कौड़ी दू को हँ आपनी ओर हेरिये।—तुलसी। (ख) अब जोर जरा जरि गात गयो मन भानि गलानि कुवानि न मूकी।—तुलसी। (२) बंधन खोलना। बंधन हटाना। (३) बंधन खोलकर मुक्त करना। बंधन से छुड़ाना।

मूकाबिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा का एक नाम। (२) एक प्राचीन नगरी का नाम।

मूका१—संज्ञा पुं० [सं० मूपा = गवाक्ष] (१) किसी दीवार के आर पार बना हुआ छेद। (२) छोटा गोल झरोखा। मोखा। उ०—मूका मेलि गहे जु छिन हाथ न छोड़े हाथ।—बिहारी। संज्ञा पुं० [हि० मुका] वैधी हुई मुट्टी का प्रहार। घूँसा।

मूकिमा—संज्ञा स्त्री० [सं०] मूकता। गूँगापन।

मूखना १—क्रि० सं० दे० “मूसना”।

मूचना १—क्रि० सं० दे० “मोचना”।

मूजी—संज्ञा पुं० [अ०] कष्ट पहुँचानेवाला। दुष्ट। दुर्जन। खल।

मूठ—संज्ञा स्त्री० [सं० मुष्टि, प्रा० मुट्टि] (१) उँगलियों को मोड़ कर बाँधी हुई हथेली। मुष्टि। मुट्टी। वि० दे० “मुट्टी”।

मुहा०—मूठ करना = तीतर, बटेर आदि को मुट्टी में पकड़कर उनके शरीर में गरमी पहुँचाना जिससे उनमें बल का आना माना जाता है। मूठ मारना = (१) कबूतर को मुट्टी में पकड़ना। (२) हस्त-क्रिया करना।

(२) किसी औजार या हथियार का वह भाग जो व्यवहार करते समय हाथ में रहता है। मुठिया। दस्ता। कब्जा। जैसे,—तलवार की मूठ, छाते की मूठ, कमान की मूठ। उ०—(क) मूठि कुबुद्धि धार निहुराई। धरी कूबरी सान बनाई।—तुलसी। (ख) दूटि टाटि गोसा गए, फूटि फाटि मूठ गई, जेवरि न राखो जोर जानत जगत है।—हनुम-नाटक। (३) उतनी वस्तु जितनी मुट्टी में आ सके। (४)

एक प्रकार का जूआ जिसमें मुट्टी में कौड़ियाँ बंद करके बुझाते हैं। (५)। मंत्र तंत्र का प्रयोग। जादू। टोना

मुहा०—मूठ चलाना या मारना = जादू करना। टोना मारना। तंत्र मंत्र का प्रयोग करना। उ०—(क) काहू देवननि मिलि मोटी मूठ मार दी।—तुलसी। (ख) पीठि दिए ही नेकु मुरि कर घूँघट-पट टारि। भरि गुलाल की मूठि सों गई मूठि सी मारि।—बिहारी। (ग) कोउ पै कोउ मारै मूठ यथा।—गोपाल। (घ) अबिर उड़ावैं मूठि मूठि सी चलावैं, सखी देखिए लुनाई गटनागर गोपाल की।—दीनदयाल। मूठ लगना = जादू का असर होना। टोना लगना। मंत्र तंत्र का प्रभाव पड़ना। उ०—ढीठि सी ढीठि लगी उनको, इनको लगी मूठि सी मूठि गुलाल की।—पद्माकर।

मूठना *—क्रि० अ० [सं० मुष्ट प्रा० मुट्ठ] नष्ट होना। मर मिटना। न रह जाना। उ०—दुइ तरंग दुइ नाव पाँव धरि ते कहि कवन न मूटे।—सूर।

मूठा-संज्ञा पुं० [हि० मूठ] घास फूस को रस्सी से बाँध बाँध कर बनाए हुए लट्ठे के आकार के लंबे लंबे पूले जो खपरैल की छाजन में लगाए जाते हैं। मुट्ठा।

मूठाली-संज्ञा स्त्री० [हि० मूठ + आली (प्रत्य०)] तलवार। (हिं०) मूठि-संज्ञा स्त्री० (१) दे० “मूठ”। (२) दे० “मुट्ठी”।

मूठी *†—संज्ञा स्त्री० दे० “मुट्ठी”।

मूड़-संज्ञा पुं० दे० “मूँड़”।

मूढ़-वि० [सं०] (१) अज्ञान। मूर्ख। जड़बुद्धि। बेवकूफ। अह-मक। (२) ठक। स्तब्ध। निश्चेष्ट। (३) जिसे आगा-पीछा न सूझता हो। ठगमारा।

मूढ़गर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] गर्भ का बिगड़ना जिससे गर्भ-त्वाव आदि होता है। बिगड़ा हुआ गर्भ।

विशेष—मुश्रुत में लिखा है कि रास्ता चलने, सवारी पर चढ़ने, गिरने-पड़ने, चोट लगने, उलटा छेदने, मलमूत्र का वेग रोकने, रुखा, कड़ुआ या तीखा भोजन करने, वमन, विरेचन, हिलने-डोलने आदि से गर्भ का बंधन ढीला हो जाता है और उसकी स्थिति बिगड़ जाती है। इससे पेट, पार्श्व, वस्ति आदि में पीड़ा होती है तथा और भी अनेक उपद्रव होते हैं। मूढ़गर्भ चार प्रकार का होता है—कील, प्रतिखुर, बीजक और परिघ। यदि गर्भ कील की तरह आकर थोनि-मुख बंद कर दे, तो उसे कील कहते हैं। यदि एक हाथ, एक पैर और माथा भर बाहर निकले और बाकी देह रुकी रहे, तो उसे प्रतिखुर कहते हैं। यदि एक हाथ और माथा निकले, तो बीजक कहलाता है; और यदि भ्रूण डंडे की तरह आकर अड़े, तो वह गर्भ परिघ कहलाता है। इसमें प्रायः शल्य चिकित्सा की जाती है।

मूढ़ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्खता। अज्ञान। बेवकूफी। उ०—

ऐसी मूढ़ता था मन की। परिहरि रामभक्ति सुरसरिता आस करत ओस कन की।—तुलसी।

मूढ़वात-संज्ञा पुं० [सं०] किसी कोश में रुकी वा बँधी हुई वायु।

मूढ़ात्मा-वि० [सं० मूढ़ात्मन्] निर्बोध। मूर्ख। अहमक।

मूत-संज्ञा पुं० [सं० मूत्र] (१) वह जल जो शरीर के विषैले पदार्थों को लेकर प्राणियों के उपस्थ मार्ग से निकलता है। पेशाब। वि० दे० “मूत्र”।

मुहा०—मूत निकल पड़ना = डर के मारे बुरी दशा हो जाना। जैसे,—उसे देखोगे तो मूत निकल पड़ेगा। मूत से निकल कर गू में पड़ना = और भी बुरी दशा में जा पड़ना।

(२) पुत्र। संतान। (तिरस्कार)

मूतना-क्रि० अ० [हिं० मूत + ना (प्रत्य०)] शरीर के गंदे जल को उपस्थ मार्ग से निकालना। पेशाब करना।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

मुहा०—मूत मारना = मूत देना। मूत देना = डर से धवरा जाना।

मूतरी-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का जंगली कौवा। महताब। महालत।

मूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर के विषैले पदार्थ को लेकर प्राणियों के उपस्थ मार्ग से निकलनेवाला जल। पेशाब। मूत।

विशेष—मूत्र के द्वारा शरीर के अनावश्यक और हानिकारक क्षार, अम्ल या और विषैली वस्तुएँ निकलती रहती हैं; इससे मूत्र का वेग रोकना बहुत हानिकर होता है। कई प्रकार के प्रमेहों में मूत्र के मार्ग से विषैली वस्तुओं के अतिरिक्त शर्करा तथा शरीर की कुछ धातुएँ भी गल गल कर गिरने लगती हैं। अतः मूत्र-परीक्षा चिकित्सा-शास्त्र का एक प्रधान अंग पहले भी था और अब भी है। भारत-वर्ष में गोमूत्र पवित्र माना गया है और पंचगव्य के अतिरिक्त धातुओं और ओषधियों के शोधने में भी उसका व्यवहार होता है। वैद्यक में गोमूत्र, महिषमूत्र, छागमूत्र, मेघमूत्र, अश्वमूत्र आदि सब के गुणों का विवेचन किया गया है और विविध रोगों में उनका प्रयोग भी कहा गया है। मूत्र-दोष से अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र आदि अनेक रोग हो जाते हैं।

मूत्रकृच्छ्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें पेशाब बहुत कष्ट से या रुक रुककर थोड़ा थोड़ा होता है।

विशेष—आयुर्वेद के अनुसार यह रोग अधिक व्यायाम करने, तीव्र औषध सेवन करने, बहुत तेज धोड़े पर चढ़ने, बहुत रुखा अन्न खाने, अधिक मद्य सेवन करने तथा अजीर्ण रहने से होता है। मूत्रकृच्छ्र आठ प्रकार का कहा गया है—घातज, गित्तज, कफज, सान्निपातिक, हात्यज, पुरीषज, शुक्रज और अश्मरीज। घातज में शिथिल और वस्ति

में बहुत पीड़ा होती है और मूत्र थोड़ा थोड़ा आता है। पित्तज में पीला या लाल पेशाब पीड़ा और जलन के साथ उतरता है। कफज में वस्ति और शिश्न में सूजन होती है और पेशाब कुछ झाग लिए होता है। सान्निपातिक में वायु के सब उपद्रव दिखाई देते हैं और यह बहुत कष्टसाध्य होता है। शल्यज मूत्र-नली में काँटे आदि के द्वारा घाव हो जाने से होता है और इसमें वातज के से लक्षण देखे जाते हैं। पुरीषज में मल-रोध होता है और वात की पीड़ा के साथ पेशाब भी रुक रुककर आता है। शुक्रज शुक्र-दोष से होता है और इसके पेशाब में वीर्य मिला आता है और पीड़ा भी बहुत होती है। अस्मरीज, अस्मरी या पथरी होने से होता है और मूत्र बहुत कष्ट से उतरता है। सुश्रुत के मत से शर्कराजन्य मूत्रकृच्छ्र भी कई प्रकार का होता है। शर्करा भी एक प्रकार की अस्मरी ही है।

मूत्रक्षय-संज्ञा पुं० [सं०] मूत्रावात रोग का एक भेद।

मूत्रग्रंथि-संज्ञा पुं० [सं०] मूत्रावात रोग का एक भेद।

मूत्रग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों का मूत्रसंग रोग जिसमें झाग लिए थोड़ा थोड़ा पेशाब आता है।

मूत्रजठर-संज्ञा पुं० [सं०] मूत्रावात से उत्पन्न एक दोष।

मूत्रदशक-संज्ञा पुं० [सं०] हाथी, मेढ़ा, ऊँट, गाय, बकरा, घोड़ा, भैंसा, गदहा, मनुष्य और स्त्री इन दस के मूत्रों का समूह।

मूत्रपतन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूत्र गिरना। (२) गंध मार्जार। गंधबिलाव।

मूत्रप्रसेक-संज्ञा पुं० [सं०] मूत्रनाली।

मूत्रफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] ककड़ी।

मूत्ररोध-संज्ञा पुं० [सं०] एकवारगी पेशाब रुक जाने का रोग।

मूत्रला-वि० [सं०] पेशाब लानेवाली। (ओषधि)
संज्ञा स्त्री० ककड़ी।

मूत्रविज्ञान-संज्ञा पुं० [सं०] मूत्र-परीक्षा पर आयुर्वेद का एक ग्रंथ जो जानुकर्ण ऋषि का बनाया हुआ कहा जाता है। इसमें मूत्र-परीक्षा करने की अनेक प्रणालियों का सविस्तर वर्णन है। चरक, सुश्रुत आदि में इस विषय का विशेष विवेचन नहीं है; इससे नहीं कहा जा सकता कि यह ग्रंथ कहाँ तक प्राचीन है।

मूत्राघात-संज्ञा पुं० [सं०] पेशाब बंद होने का रोग। मूत्र का रुक जाना।

विशेष—वैद्यक में यह रोग बारह प्रकार का कहा गया है—

- (१) वातकुंडली, जिसमें वायु कुपित होकर वस्तिदेश में कुंडली के आकार में टिक जाती है, जिससे पेशाब बंद हो जाता है।
- (२) वातघीला, जिसमें वायु मूत्र द्वारा या वस्ति-देश में गाँठ या गोले के आकार में होकर पेशाब रोकती है।
- (३) वातवस्ति, जो मूत्र के वेग के साथ ही वस्ति की

वायु वस्ति का मुख रोक देती है। (४) मूत्रातीत, जिसमें बार बार पेशाब लगता और थोड़ा थोड़ा होता है। (५) मूत्र-जठर, जिसमें मूत्र का प्रवाह रुकने से अधोवायु कुपित होकर नाभि के नीचे पीड़ा उत्पन्न करती है। (६) मूत्रोत्संग, जिसमें उतरा हुआ पेशाब वायु की अधिकता से मूत्रनाल या वस्ति में एक बार रुक जाता है और फिर बड़े वेग के साथ कभी कभी रक्त लिए हुए निकलता है। (७) मूत्रक्षय, जिसमें खुश्की के कारण वायु-पित्त के योग से दह होता है और मूत्र सूख सा जाता है। (८) मूत्रग्रंथि, जिसमें वस्ति-मुख के भीतर पथरी की तरह गाँठ सी हो जाती है और पेशाब करने में बहुत कष्ट होता है। (९) मूत्रशुक, जिसमें इस मूत्र के साथ अथवा आगे पीछे शुक्र भी निकलता है। (१०) उष्णवात जिसमें व्यायाम या अधिक परिश्रम करने, और गरमी या धूप सहने से पित्त कुपित होकर वस्तिदेश में वायु से आवृत हो जाता है। इसमें दाह होता है और मूत्र हलदी की तरह पीला और कभी कभी रक्त मिला आता है। इसे 'कडक' कहते हैं। (११) पित्तज मूत्रौकसाद, जिसमें पेशाब कुछ जलन के साथ गाढ़ा गाढ़ा होकर निकलता है और सूखने पर गोरोचन के चूर्ण की तरह हो जाता है। और (१२) कफज मूत्रौकसाद जिसमें सफ़ेद और लुआबदार पेशाब कष्ट से निकलता है।

मूत्राशय-संज्ञा पुं० [सं०] नाभि के नीचे का वह स्थान जिसमें मूत्र संचित रहता है। मसाना। फुकना।

मूत्रासाद-संज्ञा पुं० [सं०] मूत्रौकसाद नामक मूत्रावात रोग।

मूत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] सलकी वृक्ष। सलई का पेड़।

मूना-संज्ञा पुं० [देश०] (१) पीतल वा लोहे की अँकुसी जो टेकुए के सिरे पर जड़ी रहती है और जिसमें रस्सी या डोरा फँसा रहता है। (२) एक झाड़ी जिसके फल बेर के समान सुंदर सुंदर होते हैं।

†-क्रि० अ० [सं० भृत, प्रा० मुञ्च + ना (प्रत्य०)] मरना।
वि० दे० "मुचना"।

मूर॰†-संज्ञा पुं० [सं० मूल] (१) मूल। जड़। (२) जड़ी। (३) मूलधन। असल। उ०—(क) दरस मूर देतो नहीं जौ लौं मीत चुकाय। बिरह व्याज बाको अरे नितहू बादत जाय—रसनिधि। (ख) कोई चले लाभ सौं कोई मूर गँवाय।—जायसी। (ग) चलयौ बनिक जिमि मूर गँवाई।—तुलसी।

मूर॰॰†-वि० दे० "मूर्ख"।

मूरखताई-संज्ञा स्त्री० [सं० मूर्खता + ई (प्रत्य०)] मूर्खता। अज्ञता। नासमझी। नादानी। उ०—(क) यौं पछितात कछु पदमाकर कासों कहाँ निज मूरखताई।—पद्माकर। (ख) त्यों वे सब बेदना खेद पीड़ा दुखदाई। जिन बखसीसति सदा घमंडहि मूरखताई।—श्रीधर पाठक।

मूर्च्छा-संज्ञा पुं० दे० “मोर्च्छा” ।

मूर्च्छना-संज्ञा स्त्री० दे० “मूर्च्छना” । उ०—(क) पंचम नाद निखादहि में सुर मूर्च्छना गन ग्राम सुभावनि ।—देव । (ख) मूर्च्छना उघटै उत बे इत मो हिय मूर्च्छना सरसानी ।—गुमान ।

संज्ञा स्त्री० दे० “मूर्च्छा” ।

क्रि० प्र० मूर्च्छित होना । बेहोश होना ।

मूर्च्छा-संज्ञा स्त्री० दे० “मूर्च्छा” । उ०—दिन दिन तनु तनुता गहौ लहौ मूर्च्छा तापु । पिक द्विज ये बोलत न जनु विरहिनि देत सरापु ।—गुमान ।

मूर्त्त, मूर्त्ति-संज्ञा स्त्री० दे० “मूर्त्ति” ।

मूर्त्तिवन्त-वि० [सं० मूर्त्ति + वन्त (प्रत्य०)] मूर्त्तिमान् । देहधारी । सशरीर उ०—रिपिन दौरि देखी तहँ कैसी । मूर्त्तिवन्त तपस्या जैसी ।—तुलसी ।

मूर्ध-संज्ञा पुं० दे० “मूर्द्धा” । उ०—(क) कीन्हे बाहु ऊरध को मूर्ध के खोले केश, लेश ना दया को ताको कौपहि को भारा है ।—रघुराज । (ख) मूर्ध ऊरधपुंइ दिये अब झुंड छीन कर ।—गोपाल ।

मूर्त्ता-संज्ञा पुं० [सं० मूल] मूली ।

मूर्ति-संज्ञा स्त्री० [सं० मूल] (१) मूल । जड़ । (२) जड़ी । बूटी । वनस्पति । जैसे,—जीवनमूर्ति । उ०—सूरदास प्रभु बिन क्यों जीवों जात सजीवनमूर्ति ।—सूर ।

मूर्त्ति-संज्ञा स्त्री० दे० “मूली” ।

मूर्ख-संज्ञा स्त्री० दे० “मूर्ख” ।

मूर्ख-वि० [सं०] बेवकूफ । अज्ञ । मूढ़ । नादान । नासमझ । लट । अपढ़ । जाहिल ।

संज्ञा पुं० (१) उर्द । (२) बन सूंग ।

मूर्खता-संज्ञा स्त्री० [सं०] अज्ञता । मूढ़ता । नासमझी । बेवकूफी ।

मूर्खत्व-संज्ञा पुं० [सं०] नादानी । नासमझी । बेवकूफी । अज्ञता ।

मूर्खिनी-संज्ञा स्त्री० [सं० मूर्ख] मूढ़ा स्त्री । बे-समझ औरत । उ०—लै ओदन तिय को दिखरायो । कह्यौ मूर्खिनी कहँ ते आयो ।—रघुराज ।

मूर्खिमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्खता । जड़ता । बेवकूफी ।

मूर्च्छन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) संज्ञा लोप होना या करना । बेहोश करना । (२) मूर्च्छित करने का मंत्र वा प्रयोग । उ०—आजु हौं राज काज करि आऊँ । बेगि सँहारौ सकल घोष शिशु जो मुख आयसु पाऊँ । तौ मोहन मूर्च्छन वशीकरन पढ़ि अमित देह बढ़ाऊँ ।—सूर । (३) पारे का तीसरा संस्कार जिसमें श्युष्ण त्रिफलादि में सात दिन तक भावना दी जाती है । (४) कामदेव का एक वाण ।

मूर्च्छना-संज्ञा स्त्री० [सं०] संगीत में एक ग्राम से दूसरे ग्राम तक जाने में सातों स्वरों का आरोह-अवरोह । उ०—

(क) सुर नाद ग्राम नृत्यति सताल । मुख वर्ग विविध आलाप काल । बहु कला जाति मूर्च्छना मानि । बहु भाग गमक गुन चलत जानि ।—केशव । (ख) सुर मूर्च्छना ग्राम लै ताला । गावत कृष्ण चरित सब काल ।—रघुराज ।

विशेष—ग्राम के सातवें भाग का नाम मूर्च्छना है । भरत के मत से गाते समय गले को कँपाने से ही मूर्च्छना होती है; और किसी किसी का मत है कि स्वर के सूक्ष्म विराम को ही मूर्च्छना कहते हैं । तीन ग्राम होने के कारण २१ मूर्च्छनाएँ होती हैं जिनका व्योरा इस प्रकार है—

षड्ज ग्राम की मध्यम ग्राम की गांधार ग्राम की

ललिता	पंचमा	रौद्री
मध्यमा	मत्सरी	ब्राह्मी
चित्रा	मृदुमध्या	वैष्णवी
रोहिणी	शुद्धा	खेदरी
मत्तंगजा	अंता	सुरा
सौवीरी	कलावती	नादावती
षडमध्या	तीव्रा	विशाला

अन्य मत से मूर्च्छनाओं के नाम इस प्रकार हैं—

उत्तरमुद्रा	सौवीरी	नंदा
रजनी	हरिणाश्वा	विशाला
उत्तरायणी	कपोलनता	सोमपी
शुद्ध षडजा	शुद्धमध्या	विचित्रा
मत्सरीक्रांता	मार्गी	रोहिणी
अश्वक्रांता	पौरवी	सुखा
अभिरुता	मंदाकिनी	अलापी

मूर्च्छा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्राणी की वह अवस्था जिसमें उसे किसी बात का ज्ञान नहीं रहता, वह निश्चेष्ट पड़ा रहता है । संज्ञा का लोप । अचेत होना । बेहोशी । उ०—गइ मूर्च्छा तब भूपति जागे । बोलि सुमंत कहन अस लागे ।—तुलसी ।

क्रि० प्र०—आना ।—खाकर गिरना ।—होना ।

विशेष—आयुर्वेद में मूर्च्छा रोग के ये कारण कहे गए हैं—

विरुद्ध वस्तु का खा जाना, मल मूत्र का वेग रोकना, अश्व-शस्त्र से सिर आदि मर्म स्थानों में चोट लगना अथवा सत्त्व गुण का स्वभावतः कम होना । इन्हीं सब कारणों से वातादि दोष मनोविष्टान में प्रविष्ट होकर अथवा जिन नाड़ियों द्वारा इंद्रियों और मन का व्यापार चलता है, उनमें अधिष्ठित होकर तमोगुण की वृद्धि करके मूर्च्छा उत्पन्न करते हैं । मूर्च्छा आने के पहले शैथिल्य होता है, जँभाई आती है और कभी कभी सिर या हृदय में पीड़ा भी जान पड़ती है ।

मूर्च्छा रोग सात प्रकार का कहा गया है—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, रक्तज, मद्यज और विषज । वातज

मूर्च्छा में रोगी को पहले आकाश नीला या काला दिखाई पड़ने लगता है और वह बेहोश हो जाता है; पर थोड़ी ही देर में होश में आ जाता है। इसमें कंप और अंग में पीड़ा भी होती है और शरीर भी बहुत दुर्बल और काला हो जाता है। पित्तज मूर्च्छा में बेहोशी के पहले आकाश लाल, पीला या हरा दिखाई पड़ता है और मूर्च्छा छूटते समय आँखें लाल हो जाती हैं, शरीर में गरमी मालूम होती है, प्यास लगती है और शरीर पीला पड़ जाता है। श्लेष्मज मूर्च्छा में रोगी स्वच्छ आकाश को भी बादलों से ढका और अँधेरा देखते देखते बेहोश हो जाता है और बहुत देर में होश में आता है। मूर्च्छा छूटते समय शरीर ठीला और भारी मालूम होता है और पेशाब तथा वमन की इच्छा होती है। सन्निपातज में उपर्युक्त तीनों लक्षण मिले जुले प्रकट होते हैं और मिरगी के रोगी की तरह रोगी जमीन पर अकस्मात् गिर पड़ता है और बहुत देर में होश में आता है। मिरगी से भेद इतना होता है कि इसमें सुँह से फेन नहीं आता और दाँत नहीं बैठते। रक्तज मूर्च्छा में अंग ठक और दृष्टि स्थिर सी हो जाती है और साँस साफ चलती नहीं दिखाई देती। मद्यज मूर्च्छा में रोगी हाथ पैर मारता और अनाप-शनाप बकता हुआ भूमि पर गिर पड़ता है। विषज मूर्च्छा में कंप, प्यास और श्पकी मालूम होती है तथा जैसा विष हो, उसके अनुसार और भी लक्षण देखे जाते हैं।

मूर्च्छित, मूर्च्छित-वि० [सं०] (१) जिसे मूर्च्छा आई हो। बेसुध। बेहोश। अचेत। उ०—(क) सुनत गदाधर भट्ट तहाँ ही। मूर्च्छित गिरत भये महि माहीं।—रघुराज। (ख) यह सुन कंस मूर्च्छित हो गिरा।—लल्लू लाल। (२) मारा हुआ (पारे आदि धातुओं के लिये)। (३) बूढ़। (४) व्यास।

मूर्त्त-वि० [सं०] (१) जिसका कुछ रूप या आकार हो। साकार। विशेष—नैयायिकों के मत से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन मूर्त्त पदार्थ हैं। इनके गुण रूप, रस, गंध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, गुरु, स्नेह और वेग हैं। (२) कठिन। ठोस। (३) मूर्च्छित।

मूर्त्तता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्त्त होने का भाव।

मूर्त्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कठिनता। ठोसपन। (२) शरीर। देह। (३) आकृति। शकल। स्वरूप। सूरत। जैसे,—उस मनुष्य की भयंकर मूर्त्ति देखकर वह डर गया। (४) किसी के रूप या आकृति के सदृश गढ़ी हुई वस्तु। प्रतिमा। विग्रह। जैसे,—कृष्ण की मूर्त्ति, देवी की मूर्त्ति।

मुहा०—मूर्त्ति के समान = ठक। स्तब्ध। निश्चल।

(५) रंग या रेखा द्वारा बनी हुई आकृति। चित्र। तसवीर।

(६) ब्रह्म सावर्णि के एक पुत्र का नाम।

मूर्त्तिकार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूर्त्ति बनानेवाला। (२) तसवीर बनानेवाला। मुसौवर।

मूर्त्तिप-संज्ञा पुं० [सं०] पुजारी।

मूर्त्तिपूजक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो मूर्त्ति या प्रतिमा की पूजा करता हो। मूर्त्ति पूजनेवाला।

मूर्त्तिपूजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्त्ति में ईश्वर या देवता की भावना करके उसकी पूजा करना।

मूर्त्तिमान्-वि० [सं०] [स्त्री० मूर्त्तिमती] (१) जो रूप धारण किए हो। स-शरीर। (२) साक्षात्। गोचर। प्रत्यक्ष।

मूर्त्तिविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रतिमा गढ़ने की कला। (२) चित्रकारी।

मूर्द्ध-संज्ञा पुं० [सं० मूर्द्धन्] मस्तक। सिर।

मूर्द्धक-संज्ञा पुं० [सं०] क्षत्रिय।

मूर्द्धकर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] छाता या और कोई वस्तु (जैसे, टोकरा) जो धूप, पानी आदि से बचने के लिये सिर पर रखा जाय।

मूर्द्धकपारी-संज्ञा स्त्री० दे० “मूर्द्धकर्णी”।

मूर्द्धखोल-संज्ञा पुं० दे० “मूर्द्धकर्णी”।

मूर्द्धज-वि० [सं०] सिर से उत्पन्न होनेवाला।

संज्ञा पुं० केश। बाल।

मूर्द्धज्योति-संज्ञा स्त्री० [सं० मूर्द्धज्योतिस्] ब्रह्मरंध्र। (योग)

मूर्द्धन्य-वि० [सं०] (१) मूर्द्धा से संबंध रखनेवाला। मूर्द्धा संबंधी। (२) सिर या मस्तक में स्थित।

मूर्द्धन्य वर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] वे वर्ण जिनका उच्चारण मूर्द्धा से होता है।

विशेष—मूर्द्धन्य वर्ण ये हैं—क, क्, ट, ठ, ड, ढ, ण, र और ष।

मूर्द्धन्वान्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक गंधर्व का नाम। (२) वामदेव ऋषि जो ऋग्वेद के दशम मंडल के अष्टम सूक्त के द्रष्टा थे।

मूर्द्धपिंड-संज्ञा पुं० [सं०] गजकुंभ। हाथी का मस्तक।

मूर्द्धपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] शिरीष पुष्प।

मूर्द्धरस-संज्ञा पुं० [सं०] भात का फेन।

मूर्द्धा-संज्ञा पुं० [सं० मूर्द्धन्] मस्तक। सिर।

मूर्द्धाभिषिक्त-वि० [सं०] जिसके सिर पर अभिषेक किया गया हो।

संज्ञा पुं० (१) क्षत्रिय। (२) राजा। (३) एक मिश्र जाति जिसकी उत्पत्ति ब्राह्मण से विवाही क्षत्रिय स्त्री के गर्भसे कही गई है। इस जाति की वृत्ति हाथी, घोड़े और रथ की शिक्षा तथा शास्त्र-धारण है।

मूर्द्धाभिषेक-संज्ञा पुं० [सं०] सिर पर अभिषेक या जलसिंचन

होना (जैसा कि राजाओं के गद्दी पर बैठने के समय होता है)।

मूर्वा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मरोड़फली नाम की लता जो हिमालय के उत्तराखंड को छोड़ भारतवर्ष में और सब जगह होती है।

विशेष—इसमें सात आठ ढंठल निकलकर इधर उधर लता की तरह फैलते हैं। फूल छोटे छोटे, हरापन लिए सफेद रंग के होते हैं। इसके रेशे बहुत मजबूत होते हैं जिससे प्राचीन काल में उन्हें बटकर धनुष की डोरी बनाते थे। उपनयन में क्षत्रिय लोग मूर्वा की मेखला धारण करते थे। एक मन पत्तियों से आध सेर के लगभग सूखा रेशा निकलता है, जिससे कहीं कहीं जाल बुने जाते हैं। त्रिचिनापल्ली में मूर्वा के रेशों से बहुत अच्छा कागज़ बनता है। ये रेशे रेशम की तरह चमकीले और सफेद होते हैं। मूर्वा की जड़ औषध के काम में भी आती है। वैद्य लोग इसे यक्ष्मा और खाँसी में देते हैं। आयुर्वेद में यह अति तिक्त, कसैली, उष्ण तथा हृद्रोग, कफ, वात, प्रमेह, कुष्ठ और विषम ज्वर को दूर करनेवाली मानी जाती है।

पर्याय—देवी। मधुरसा। मोरटा। तेजनी। स्रवा। मधु-लिका। धनुःश्रेणी। गोकर्णी। पीलुकर्णी। सुवा। मूर्वा। मधुश्रेणी। मधुश्रेणी। सुसंगिका। पृथक्वचा। दिव्यलता। गोपवल्ली। ज्वलिनी।

मूर्विका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्वा।

मूल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पेड़ों का वह भाग जो पृथ्वी के नीचे रहता है। जड़। उ०—एहि आसा अटक्यो रहै अलि गुलाब के मूल।—विहारी। (२) खाने योग्य मोटी मीठी जड़। कंद। उ०—संवत सहस्र मूल फल खाए। साक खाइ सत वर्ष गँवाए।—तुलसी।

यौ०—कंद मूल।

(३) आदि। आरंभ। शुरु। उ०—(क) उमा संभु सीतारामन जो मोपर अनुकूल। तौ बरनों सो होइ फुर अंत मध्य अह मूल।—विश्राम। (ख) सेतु मूल सिव सोभिजै केसव परम प्रकास।—केशव। (४) आदि कारण। उत्पत्ति का हेतु। उ०—कर्म को मूल तन, तन मूल जीव जग, जीवन को मूल अति आनंद ही धरिबो।—पद्माकर। (५) असल जमा या धन जो किसी व्यवहार या व्यवसाय में लगाया जाय। असल। पूँजी। उ०—और बनिज में नाहीं लाहा, होत मूल में हानि।—सूर। (६) किसी वस्तु के आरंभ का भाग। शुरु का हिस्सा। जैसे,—भुजमूल। (७) नींव। बुनियाद। (८) ग्रंथकार का निज का वाक्य या लेख जिस पर टीका आदि की जाय। जैसे,—इस संग्रह में रामायण मूल और टीका दोनों हैं। (९) सत्ताईस नक्षत्रों में से उन्नीसवाँ नक्षत्र।

विशेष—इस नक्षत्र के अधिपति निर्राति हैं। इसमें नौ तारे हैं जिनकी आकृति मिलकर सिंह की पूँछ के समान होती है। यह अधोमुख नक्षत्र है। फलित के अनुसार इस नक्षत्र में जन्म लेनेवाला बुद्धावस्था में दरिद्र, शरीर से पीड़ित, कला-नुरागी, मातृपितृहंता और आत्मीय लोगों का उपकार करनेवाला होता है।

(१०) निकुंज। (११) पास। समीप। (१२) सूरन। निर्मीकंद। (१३) पिप्पली मूल। (१४) पुष्करमूल। (१५) दुर्ग राष्ट्र। (१६) किसी देवता का आदि मंत्र या बीज। वि० [सं०] मुख्य। प्रधान। खास। उ०—ल्याउ मूल बल बोलि हमारो सोई सैन्य हजरी। पर चर दौरि बोलि ल्याये हुत सैन्य भयंकर भूरी।—रघुराज।

मूलक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूली। उ०—(क) काँचे घट जिमि डारउँ फोरी। सकउँ मेरु मूलक इव तोरी।—तुलसी। (ख) जिनके दसन करालक फूटे। उर लागत मूलक इव दूटे।—तुलसी। (२) चौतिस प्रकार के स्थावर विषों में से एक प्रकार का विष। (३) मूल स्वरूप।

वि० उत्पन्न करनेवाला। जनक। जैसे,—अनर्थमूलक।

मूलकपर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] शोभांजन। सहिजन का पेड़।

मूलकर्म-संज्ञा पुं० [सं० मूलकर्म] (१) त्रासन, उच्चाटन, स्तंभन वशीकरण आदि का वह प्रयोग जो ओषधियों के मूल (जड़ी) द्वारा किया जाता है। मूठ। टोना। टोटका।

विशेष—मनु ने इसे उपपातकों में गिना है।

(२) प्रधान कर्म।

विशेष—पूजा आदि में कुछ कर्म प्रधान होते हैं और कुछ अंग।

मूलकारिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मूल ग्रंथ के पद्य। (२) मूल धन की एक विशेष प्रकार की वृद्धि। (३) चंडी।

मूलकृच्छ्र-संज्ञा पुं० [सं०] स्मृतियों में वर्णित ग्यारह प्रकार के पर्णकृच्छ्र व्रतों में से एक व्रत जिसमें मूली आदि कुछ विशेष जड़ों के काथ या रस को पीकर एक मास व्यतीत करना पड़ता था। (मिताक्षरा)

मूलकेशर-संज्ञा पुं० [सं०] नीबू।

मूलखानक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन वर्णसंकर जाति जो पेड़ों की जड़ खोदकर जीविका निर्वाह करती थी।

मूलग्रंथ-संज्ञा पुं० [सं०] असल ग्रंथ जिसका भाषांतर, टीका आदि की गई हो।

मूलच्छेद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जड़ से नाश। (२) पूर्ण नाश।

मूलज-संज्ञा पुं० [सं०] अदरक।

मूलत्रिकोण-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य आदि ग्रहों की कुछ विशेष राशियों में स्थिति। ग्रह जब मूलत्रिकोण में रहते हैं, तब मध्यम बल के माने जाते हैं।

विशेष—रवि का मूलत्रिकोण सिंह राशि, चंद्र का वृष, मंगल

का मेघ, दुध का कन्या, बृहस्पति का धनु, शुक्र का तुला और शनि का कुंभ है। मतलब यह कि इन इन राशियों में यदि ये ये ग्रह होंगे, तो मूलत्रिकोण में कहे जायेंगे। (फलित ज्योतिष)

मूलद्रव्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूल धन। (२) आदिम द्रव्य या भूत जिससे और द्रव्यों या भूतों की उत्पत्ति हुई हो।

मूलद्वार-संज्ञा पुं० [सं०] प्रधान द्वार। सिंहद्वार। सदर फाटक।

मूलद्वारावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] द्वारावती नगरी का प्राचीन अंश जो आजकल की द्वारका से कुछ दूर प्रायः समुद्र के भीतर पड़ती है।

मूलधन-संज्ञा पुं० [सं०] वह असल धन जो किसी व्यापार में लगाया जाय। पूँजी।

मूलधातु-संज्ञा स्त्री० [सं०] मज्जा।

मूलपर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मंडूकपर्णी नाम की ओषधि।

मूलपुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] किसी वंश का आदि पुरुष। सब से पहला पुरुष जिससे वंश चला हो।

मूलपुष्कर-संज्ञा पुं० [सं०] पुष्करमूल।

मूलपोती-संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटी पोय नाम का शाक।

मूल प्रकृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] संसार की बीज-शक्ति या वह आदिम सत्ता, संसार जिसका परिणाम या विकास है। आद्या शक्ति। वि० दे० "प्रकृति"।

मूलफलद-संज्ञा पुं० [सं०] कटहल।

मूलबंध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हठ योग की एक क्रिया जिसमें सिद्धासन वा वज्रासन द्वारा शिश्न और गुदा के मध्यवाले भाग को दबाकर अपान वायु को ऊपर की ओर चढ़ाते हैं। (२) तंत्रोपचार पूजन में एक प्रकार का अंगुलिन्यास।

मूलबर्हण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूलोच्छेदन। (२) मूल नक्षत्र।

मूलभृत्य-संज्ञा पुं० [सं०] पुस्तैनी नौकर।

मूलरस-संज्ञा पुं० [सं०] मोरट लता। मूवा।

मूलविष-संज्ञा पुं० [सं०] जिसकी जड़ विषैली हो। जैसे,—कनेर।

मूलव्यसन-संज्ञा पुं० [सं०] बध का दंड। मारण।

मूलशाकट-संज्ञा पुं० [सं०] वह खेत जिसमें मूली, गाजर आदि मोटी जड़वाले पौधे बोए जायें।

मूलशोधन-संज्ञा पुं० [सं०] पुंडरीक वृक्ष।

मूलसर्वास्तिवाद-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों का एक संप्रदाय।

मूलस्थली-संज्ञा स्त्री० [सं०] थाला। आलबाल। उ०—कहूँ वृक्ष मूलस्थाली तोय पीवै। महामत्त मातंग सीमा न छीवै।—केशव।

मूलस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आदि स्थान। बाप दादा की जगह। पूर्वजों का स्थान। (२) प्रधान स्थान। (३) भीत।

दीवार। (४) ईश्वर। (५) मुलतान नगर जहाँ भास्कर तीर्थ था।

मूला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सत्तावर। (२) मूल नक्षत्र। (३) पृथ्वी। (दि०)

मूलाधार-संज्ञा पुं० [सं०] योग में माने हुए मानव शरीर के भीतर के छः चक्रों में से एक चक्र जिसका स्थान गुदा और शिश्न के मध्य में है। इसका रंग लाल और देवता गणेश माने गए हैं। इसके दलों की संख्या ४ और अक्षर व, श, ष तथा स हैं।

मूलिक-वि० [सं०] मूल संबंधी।

संज्ञा पुं० कंद मूल खाकर रहनेवाला संन्यासी।

मूलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] ओषधियों की जड़। जड़ी। उ०—(क) वैदिक विधान अनेक लौकिक आचरत सुनि जानि कै। बलिदान पूजा मूलिका मनि साधि राखी आनि कै।—तुलसी। (ख) आन्यो सदन सहित सोवत ही जौ लौ पलक परै न। जियै कुँवर निसि मिलै मूलिका कीन्ही बिनय सुखेन।—तुलसी।

मूलिनी वर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार ये सोलह प्रकार के मूल (जड़ें)—नागदंती, श्वेतवचा, श्यामा, त्रिवृत, वृद्धदारका, ससला, श्वेतापराजिता, मूषकपर्णी, गोडुबा, ज्योतिष्मती, बिबी, क्षणपुष्पी, विषाणिका, अश्वगंधा, द्रवती और क्षीरिणी।

मूली-संज्ञा स्त्री० [सं० मूलक] (१) एक पौधा जो अपनी लंबी मुलायम जड़ के लिये बोया जाता है। यह जड़ खाने में मीठी, चरपरी और तीक्ष्ण होती है।

विशेष—मूली साल में दो बार बोई जाती है, इससे प्रायः सब दिन मिलती है। मूली की जड़ नीचे की ओर पतली और ऊपर की ओर मोटी होती जाती है। इसकी कई जातियाँ होती हैं। साधारण मूली एक बालिशत लंबी और दो ढाई अंगुल मोटी होती है। पर बड़ी मूली हाथ हाथ भर लंबी और चार पाँच अंगुल तक मोटी होती है। नैपाल देश में उत्पन्न होने के कारण इसे नेवाड़ या नेवार भी कहते हैं। यह खाने में मीठी होती है और इसमें कड़वापन या चरपराहट नहीं होती। मूली का रंग सफेद होता है; पर लाल रंग की मूली भी अब हिंदुस्तान में बोई जाने लगी है, जिसे विलायती मूली कहते हैं। जड़ से सरसों के से लंबे लंबे पत्ते ऊपर की ओर निकलते हैं। बीज छोटे और काले होते हैं। इन बीजों में से एक प्रकार का दुर्गंधयुक्त तेल निकलता है, जिसमें गंधक का बहुत कुछ अंश रहता है। मूल अधिकतर कच्चा या शाक के रूप में पकाकर खाया जाता है। बीज दवा के काम में आते हैं। मूली

साधारणतः उत्तेजक, मूत्रकारक और अश्मरीनाशक होती है। मूत्रकृच्छ्र आदि रोगों में इसका सेवन हितकर है।

भावप्रकाश के अनुसार छोटी मूली कटुरस, उष्णवीर्य, रुचिकारक, लघु पाचक, त्रिदोषनाशक, स्वरप्रसादक तथा ज्वर, श्वास, नासा रोग, कंठ रोग और चक्षु रोग को दूर करनेवाली है। बड़ी मूली या नेवाड़ रुखी, उष्णवीर्य, गुरु और त्रिदोषनाशक है।

पर्याय—(छोटी मूली) शालाक। कटुक। मिश्र। बालेय। मरुसंभव। चाणक्यमूलक। मूलकपोतिका।

मुहा०—(किसी को) मूली गाजर समझना = अति तुच्छ समझना। नाचीज गिनना।

(२) एक प्रकार का बाँस। (३) जड़ी बूटी। मूलिका। संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ज्येष्ठी। (२) मत्स्यपुराण के अनुसार एक नदी का नाम।

मूल्य—संज्ञा पुं० [सं०] किसी वस्तु के बदले में मिलनेवाला धन। दाम। कीमत।

वि० (१) प्रतिष्ठा के योग्य। कदर के लायक। (२) रोपने या लगाने योग्य (पौधा)। (३) जड़ से उखाड़ने योग्य (खेत की फ़सल, जैसे उर्द, मूँग आदि)।

मूल्यवान्—वि० [सं०] जिसका दाम बहुत अधिक हो। बड़े दाम का। कीमती।

मूशली—संज्ञा स्त्री० [सं०] तालमूली।

मूष, मूषक—संज्ञा पुं० [सं०] चूहा। उ०—खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी।—तुलसी।

मूषककर्णी—संज्ञा स्त्री० [सं०] मूसाकानी नाम की लता। आखुकर्णी।

मूषकवाहन—संज्ञा पुं० [सं०] गणेश।

मूषकमारी—संज्ञा स्त्री० [सं०] श्रुतश्रेणी नाम की लता।

मूषा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सोना आदि गलाने की धरिया। तैजसावर्त्तिनी। (२) देवताइ वृक्ष। (३) गोखरु का पौधा। (४) गवाक्ष। झरोखा।

मूषाकर्णी—संज्ञा स्त्री० [सं०] मूसा कानी लता।

मूषातुत्थ—संज्ञा पुं० [सं०] नीला थोथा। तृत्तिया।

मूषिक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चूहा। मूसा। (२) महाभारत के अनुसार दक्षिण के एक जनपद का प्राचीन नाम।

मूषिकपर्णी—संज्ञा स्त्री० [सं०] जल में होनेवाला एक प्रकार का तृण। पर्याय० न्यग्रोधी। चित्रा। उपचित्रा। द्रवंती। संबरी। वृषा। वृषपर्णी। आखुपर्णी।

मूषिकसाधन—संज्ञा पुं० [सं०] तंत्र का एक साधन जिसके सिद्ध हो जाने से, कहा जाता है कि मनुष्य चूहे की बोली समझकर उससे शुभ अशुभ फल कह सकता है।

मूषिकांक—संज्ञा पुं० [सं०] गणेश।

मूषिकांचन—संज्ञा पुं० [सं०] गणेश।

मूषिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटा चूहा। चुहिया। (२) मूसाकानी लता।

मूषी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सोना आदि गलाने की धरिया। (२) बड़ा चूहा।

मूषीकरण—संज्ञा पुं० [सं०] धरिया में धातु गलाने की क्रिया।

मूष्यायण—संज्ञा पुं० [सं०] गुप्त व्यभिचार से उत्पन्न पुरुष। वह जिसके बाप का पता न हो। दोगला।

मूस—संज्ञा पुं० [सं० मूप] चूहा।

मूसदानी—संज्ञा स्त्री० [हि० मूस + दानी (सं० आधान)] चूहा फँसाने का पिंजड़ा।

मूसना—क्रि० सं० [सं० मूपण] खुराकर उठा ले जाना। उ०—(क) मूसत पाँच चोर करि दंगा। रहत हितू है निसि दिन संग।—रघुनाथदास। (ख) सूरन के मिस ही मन मूसति होस मसूसन ही फिरै कोठनि।—देव। (ग) सुनियत विरद रूप रस नागरि लीन्ही पलटि कछू सी। तेरे हती प्रेम संपति सखि सो संपति केहि मूसी।—सूर। (घ) दिया मंदिर निसि करै उजरा। दिया नाहिं घर मूसहिं चोरा।—जायसी।

संयो० क्रि०—ले जाना।

मूसर—संज्ञा पुं० [हि० मूसल] (१) दे० “मूसल”। उ०—गुन ज्ञान गुमान भभेरि बड़ी कलपद्रुप काटत मूसर को।—तुलसी। (२) गँवार। अपढ़। असभ्य।

मूसरचंद—संज्ञा पुं० [हि० मूसर + चंद] (१) अपढ़। गँवार। असभ्य। जड़। (२) हट्टा कट्टा पर निकम्मा। मुसंडा।

मूसल—संज्ञा पुं० [सं० मुराल] (१) धान कूटने का एक औजार जो लंबा मोटा डंडा सा होता है और जिसके मध्य भाग में पकड़ने के लिये खड्डा सा होता है और छोर पर लोहे की साम जड़ी रहती है। (२) एक अन्न जिसे बलराम धारण करते थे। (३) राम वा कृष्ण के पद का एक चिह्न।

मूसलधार—क्रि० वि० [हि० मूसल + धार] इतनी मोटी धार से, जितना मोटा मूसल होता है। बहुत अधिक वेग से। धारासार। जैसे,—मूसलधार पानी बरसना। उ०—उसने आते ही ब्रजमंडल को घेर लिया और गरज गरज बड़ी बड़ी बूँदों लगा मूसलधार जल बरसाने।—लल्लूलाल।

मूसला—संज्ञा पुं० [हि० मूसल] वह जड़ जो मोटी और सीधी कुछ दूर तक जमीन में चली गई हो, जिसमें इधर उधर सूत या शाखाएँ न फूटी हों। झखरा का उलटा।

विशेष—जड़ दो प्रकार की होती हैं—एक झखरा, दूसरी मूसला।

मूसली—संज्ञा पुं० [सं० मुराली] हल्दी की जाति का एक पौधा जिसकी जड़ औषध के काम में आती है और पुष्टई मानी

जाती है। यह पौधा सीड़ की जमीन में उगता है और नदियों के कछारों में भी पाया जाता है। बिलासपुर जिले में अमरकंटक पहाड़ पर नर्मदा के किनारे यह बहुत मिलता है।

मूसा-संज्ञा पुं० [सं० मूषक] चूहा।

संज्ञा पुं० [इवानी] यहूदी लोगों के एक पैगंबर जिनको खुदा का नूर दिखाई पड़ा था। किताबी या पैगंबरी मतों का आदि प्रवर्तक इन्हीं को समझना चाहिए।

मूसाकानी-संज्ञा स्त्री० [सं० मूषाकर्णी] एक प्रकार की लता जो प्रायः सारे भारत की गीली भूमि में चौमासे में पाई जाती है। इसकी पत्तियाँ आकार में गोल और प्रायः आध से डेढ़ इंच तक की होती हैं, जो देखने में चूहे के कान के समान, बीच में कमानदार और रोएँदार होती हैं। इसकी शाखाएँ बहुत घनी होती हैं और इसकी गाँठों में से जड़ निकलकर जमीन में जम जाती है। इसमें बैंगनी या गुलाबी रंग के छोटे छोटे फूल और चने के समान गोल फल लगते हैं, जो पहले हरे अथवा बैंगनी रंग के और पकने पर भूरे रंग के हो जाते हैं। ये फल चिरने पर दो दलों में विभक्त हो जाते हैं और प्रत्येक दल में से एक बीज निकलता है। इसके प्रायः सभी अंग ओषधि के रूप में काम में आते हैं। विशेषतः चूहे के विष को दूर करने के लिये इसे लगाया और इसका काढ़ा पीया जाता है। वैद्यक में यह चरपरी, कड़वी, कसैली, शीतल, हल्की, दस्तावर, रसायन तथा कफ, पित्त, कृमि, शूल, ज्वर, ग्रंथि, सूजाक, प्रमेह, पांडु, भगंदर और कोढ़ आदि रोगों को दूर करनेवाली मानी जाती है। मूत्र रोग, उदर रोग, हृदय रोग आदि में भी इसका व्यवहार होता है और यह रक्त-शोधक भी होती है। यह बड़ी और छोटी दो प्रकार की होती है। इसके अतिरिक्त इसके और भी कई भेद होते हैं, जिनमें से एक भेद के पत्ते गोभी के पत्तों की तरह लंबे और किनारे पर कटावदार होते हैं। एक और भेद क्षुप जाति का होता है, जो एक से चार फुट तक ऊँचा होता है। इसका डंठल पोला होता है, जिसमें से बहुत सी शाखाएँ निकलती हैं। इन सब का व्यवहार पथरी के समान होता है। इसे चूहा-कानी भी कहते हैं।

पर्या०—आलुकर्णी। द्रवन्ती। मूषिकपर्णी। मूषिकाहदा। उदरकर्णी।

मृकंडु-संज्ञा पुं० [सं०] एक मुनि, जिनके पुत्र मार्कंडेय ऋषि थे।

मृग-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मृगी] (१) पशु मात्र, विशेषतः वन्य पशु। जंगली जानवर। (२) हिरन।

विशेष—मृग नौ प्रकार के कहे गए हैं—मसूर, रोहित, न्यंकु, संबर, वभुण, रुह, शश, एण और हरिण। वि० दे० “हिरन”।

(३) हाथियों की एक जाति जिसकी आँखें कुछ बड़ी होती हैं और गंडस्थल पर सफेद चिह्न होता है। (४) मार्गशीर्ष। अगहन का महीना। (५) मृगशिरा नक्षत्र। (६) एक यज्ञ का नाम। (७) मकर राशि। (८) अन्वेपण। खोज। (९) कस्तूरी का नाफा। (१०) ज्योतिष में शुक्र की नौ वीथियों में से आठवीं वीथी जो अनुराधा, ज्येष्ठा और मूल में पड़ती है। (११) पुरुष के चार भेदों में से एक। (मृग जाति का पुरुष मधुरभाषी, बड़ी आँखोंवाला, भीरु, चंपल, सुंदर और तेज चलनेवाला होता है। यह चित्रिणी स्त्री के लिये उपयुक्त कहा गया है।) (१२) वैष्णवों के तिलक का एक भेद। **मृगधर्मज-संज्ञा पुं०** [सं०] (१) कस्तूरी का नाफा। (२) जवादि नामक गंधद्रव्य।

मृगचर्म-संज्ञा पुं० [सं०] हिरन का चमड़ा जो पवित्र माना जाता है। इसका व्यवहार उपनयन संस्कार में होता है और इसे साधु संन्यासी बिछाते हैं।

मृगचेष्टक-संज्ञा पुं० [सं०] गंधविलाव। मुश्क विलाव। खट्वासं।

मृगछात्रा-संज्ञा स्त्री० [सं० मृग + हि० छात्रा] मृगचर्म।

मृगज रस-संज्ञा पुं० [सं०] एक रसोषध जिसका व्यवहार रक्तपित्त में होता है।

विशेष—शोधा हुआ पारा और मृत्तिका लवण (लोनी) वाले रस में एक दिन तक घोटने से यह तैयार होता है।

मृगजल-संज्ञा पुं० [सं०] मृगतृष्णा की लहरें। उ०—(क) सुधा समुद्र समीप बिहाई। मृगजल निरखि मरहु कत धाई।—तुलसी। (ख) तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सींस बिपाना।—तुलसी।

मृगजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कस्तूरी।

मृगजृम्भ-संज्ञा पुं० [सं०] खोए या चोरी गए हुए धन की खोज।

मृगतृष्णा, मृगतृष्णा-संज्ञा स्त्री० [सं०] जल या जल की लहरों की वह मिथ्या प्रतीति जो कभी कभी ऊसर मैदानों में कड़ी धूप पड़ने के समय होती है। मृगमरीचिका।

विशेष—गरमी के दिनों में जब वायु की तहों का घनत्व उष्णता के कारण असमान होता है, तब पृथ्वी के निकट की वायु अधिक उष्ण होकर ऊपर को उठना चाहती है; परंतु ऊपर की तहें उसे उठने नहीं देती, इससे उस वायु की लहरें पृथ्वी के समानांतर बहने लगती हैं। यही लहरें दूर से देखने में जल की धारा सी दिखाई देती हैं। मृग इससे प्रायः धोखा खाते हैं; इससे इसे मृगतृष्णा, मृगजल आदि कहते हैं।

मृगतृष्णिका-संज्ञा स्त्री० दे० “मृगतृष्णा”।

मृगदंशक-संज्ञा पुं० [सं०] कुत्ता।

मृगदाव-संज्ञा पुं० [सं० मृग + दाव = मृगों का वन] (१) वह वन जिसमें बहुत मृग हों। (२) काशी के पास ‘सारनाथ’ नामक स्थान का प्राचीन नाम।

मृगधर-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा ।

मृगधूम-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन तीर्थ का नाम ।

मृगधूर्स-संज्ञा पुं० [सं०] शृगाल ।

मृगनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] सिंह ।

विशेष—'मृग' शब्द के आगे पति, नाथ, राज आदि शब्द लगने से सिंहवाचक शब्द बनता है ।

मृगनाभि-संज्ञा पुं० [सं०] कस्तूरी ।

मृगनाभिजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कस्तूरी ।

मृगनेत्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मृगशिरा नक्षत्र से युक्त रात्रि । अगहन महीने के बीसवें दिन के २० दंड के उपरांत से लेकर संक्रांति तक के काल को मृगनेत्रा कहते हैं, जिसमें श्राद्ध, नवान्न आदि वर्जित हैं ।

मृगपति-संज्ञा पुं० [सं०] सिंह ।

मृगपद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मृग का पैर । (२) मृग के खुर का चिह्न या गड्ढा जो ज़मीन पर पड़ गया हो ।

मृगपालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] कस्तूरी मृग ।

मृगपिशु-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा ।

मृगप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भूतृण । (२) जल-कदली ।

मृगभक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जटांमासी । (२) इंद्रवाणी । इंद्रायन ।

मृगभद्र-संज्ञा पुं० [सं०] हाथियों की एक जाति । उ०—भद्र और मृगभद्र आदि बहु जे जग जाति विख्याती ।—रघुराज ।

मृगमंदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कश्यप ऋषि की क्रोधवशा नाट्टी पत्नी से उत्पन्न दस कन्याओं में से एक, जिससे ऋक्ष, स्मर और चमर जाति के मृग उत्पन्न हुए थे ।

मृगमंद्र-संज्ञा पुं० [सं०] हाथियों की एक जाति ।

मृगमद-संज्ञा पुं० [सं०] कस्तूरी ।

मृगमदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कस्तूरी ।

मृगमरोचिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मृगतृष्णा ।

मृगमातृक-संज्ञा पुं० [सं०] लंबोदर मृग । कस्तूरी मृग ।

मृगमित्र-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा । उ०—मृगमित्र विलोकित चित्त जरै लिये चंद्र निशाचरपद्धति को ।—केशव ।

मृगमेद-संज्ञा पुं० [सं०] कस्तूरी । मुश्क । उ०—(क) सब ओर लिप्यो मृगमेद महा । तम हेत भयो दिग मेद कहा ।—गुमान । (ख) पुन्यन के जल घोरि घने घनसार मिले मृगमेद दहावत ।—गुमान । (ग) चोवा मिलै मृगमेद घसै घन सार सों केसरि गारत डोलै ।—देव ।

मृगया-संज्ञा पुं० [सं०] शिकार । अहेर । आखेट । उ०—(क) हम छत्री मृगया बन करहीं । तुमसे खल मृग खोजत फिरहीं ।—तुलसी । (ख) एक दिवस मृगया को निकस्यो कंठ महामणि लाइ ।—सूर । (ग) भूलि परी मृग को मृग चाहि भई मृगया की मृगी मृगनैनी ।—देव ।

मृगयू-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा । (२) गीदड़ । (३) व्याध ।
मृगरसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सहदेव्या नाम का पौधा । सहदेवी । महाबला ।

मृगराज-संज्ञा पुं० [सं०] सिंह ।

मृगराटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] जीवंती ।

मृग रोग-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों का एक घातक रोग जिसमें वे जल्दी जल्दी साँस लेते हैं और उनके नथुने सूज से आते हैं ।

मृगरोचन-संज्ञा पुं० [सं०] कस्तूरी । मुश्क ।

मृगलांछन-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा ।

मृगलोखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] चंद्रमा का धब्बा ।

मृगलोचना-वि० स्त्री० [सं०] हरिण के समान नेत्रवाली (स्त्री) ।

मृगलोचनी-संज्ञा स्त्री० दे० "मृगलोचना" ।

मृगव-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्ध शास्त्रों के अनुसार एक बहुत बड़ी संख्या का नाम ।

मृगवल्लभ-संज्ञा पुं० [सं०] कुंदुरु वृण ।

मृगवारि-संज्ञा पुं० [सं०] मृगतृष्णा का जल । उ०—सूते सपने ही सहै संसृत संताप रे । बूढ़ो मृगवारि खायो जेवरि के साँप रे ।—तुलसी ।

मृगवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] वायु ।

मृगवीथी-संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्योतिष के अनुसार शुक्र की नौ वीथियों में से एक जिसमें शुक्र ग्रह अनुराधा, ज्येष्ठा और मूल पर आता है ।

मृगशिरा-संज्ञा पुं० [सं० मृगशिरस्] सत्ताईस नक्षत्रों में से पाँचवाँ नक्षत्र ।

विशेष—इसके अधिपति चंद्रमा हैं और यह आढ़ा या तिर्यमुख नक्षत्र है । यह तीन तारों से मिलकर बना हुआ और बिछी के पैर के आकार का है । आकाश में यह नक्षत्र कन्या लग्न के बाईस पल बीतने पर उदित होता है । मृगशिरा नक्षत्र के पूर्वार्द्ध में (अर्थात् ३० दंड के बीच) वृष राशि और अपराद्ध में मिथुन राशि होती है । इस नक्षत्र में उत्पन्न मनुष्य मृगचक्षु, अति बलवान्, सुंदर कपोलवाला, कामुक, साहसी, स्थिर प्रकृति, मित्र-पुत्र से युक्त और थोड़ा धनवान् होता है ।

मृगशीर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] मृगशिरा नक्षत्र ।

मृगसत्र-संज्ञा पुं० [सं०] उन्नीस दिन का एक सत्र ।

मृगांक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा । उ०—द्विजराज ससधर उदधि-तनय ससांक मृगांक ।—नंददास । (२) एक रस जो सुवर्ण और रत्नादि से बनता है और क्षय रोग में विशेष उपकारी होता है । वि० दे० "मृगांक रस" । उ०—(क) राम की रजाइ ते रसाइनी समीर सूनु उतारि पयोधि पार सोधि सखांक सो । जातुधान बृट पुट पाक लंक जातरूप रतन जतन जारि कियो है मृगांक सो ।—तुलसी । (ख) किशौं

विशाल के सुरारि राजरोग जानि जू । निमित्त तासु वैद
ज्यों जन्मौ मृगांक ठानि जू ।—रघुनाथदास ।

मृगांक रस—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रसौषध ।

विशेष—पारा एक भाग, सोना एक भाग, मोती दो भाग,
गंधक दो भाग और सोहागा एक भाग, इन सब चीजों को
काँजी में पीसकर नमक के भाँडे में रखकर चार पहर
पकाते हैं । चार रत्ती की मात्रा में सेवन करने से राजयक्ष्मा
रोग नष्ट हो जाता है । राजमृगांक और महामृगांक रस भी
होते हैं, जिनमें द्रव्यों की संख्या अधिक होती है ।

मृगा—संज्ञा स्त्री० [सं०] सहदेई का पौधा ।

मृगाक्षी—वि० स्त्री० [सं०] हरिण के से नेत्रोंवाली ।

मृगाजीव—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वारुणी लता । (२) कस्तूरी ।

मृगाद्—संज्ञा पुं० [सं०] सिंह, चीता, बाघ इत्यादि बन जंतु जो
मृगों को खाते हैं ।

मृगादनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) इंद्रावारुणी । इंद्रायन । (२)
सहदेई । (३) ककड़ी ।

मृगाराति—संज्ञा पुं० [सं०] कुत्ता ।

मृगाश, **मृगाशन**—संज्ञा पुं० [सं०] सिंह । उ०—(क) मूषकादि
ग्रह में रहें बहिर मृगाश शकुंतु । गो अश्वादिक जीव बहु
जीवहिं सब लघु जंतु ।—शंकरदि० वि० । (ख) दबति
द्रौपदी देखि दुशासन । जिमि बन में लखि मृगी मृगाशन ।
—रघुराज ।

मृगित—वि० [सं०] अन्वेषित ।

मृगिनी—संज्ञा स्त्री० [सं० मृग] हरिणी । उ०—(क) ज्यों
मृगिनी वृक झुंड के बासा । त्यों ये अंधसुतन के बासा ।
लल्ललाल । (ख) मृग मृगिनी हुम बन सारस खग काहू
नहीं बतायो री ।—सूर । (ग) बाँसुरी को शब्द सुनिकै
बधिक की मृगिनी भई ।—सूर ।

मृगी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मृग नामक वन्य पशु की मादा ।
हरिणी । हिरनी । उ०—मनहु मृगी मृग देखि दिया से ।—
तुलसी । (२) एक वर्ण वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में एक
रगण (sis) होता है । जैसे,—री प्रिया । मान तू । मान
ना । ठान तू । इसे 'प्रिय वृत्त' भी कहते हैं । (३) कश्यप
ऋषि की क्रोधवशा नाझी पत्नी से उत्पन्न दस कन्याओं में
से एक, जिससे मृगों की उत्पत्ति हुई है और जो पुलह ऋषि
की पत्नी थी । (४) पीले रंग की एक प्रकार की कौड़ी
जिसका पेट सफेद होता है । (५) अपस्मार नामक रोग ।
(६) कस्तूरी ।

मृगीपति—संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण ।

मृगेंद्र—संज्ञा पुं० [सं०] सिंह ।

मृगेंद्रचटक—संज्ञा पुं० [सं०] बाज पक्षी ।

मृगेंद्रास्थ—संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

मृगेल—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मछली जो युक्त प्रांत,
बंगाल, पंजाब तथा दक्षिण की नदियों में पाई जाती है ।
इसकी आँखें सुनहरी होती हैं । यह डेढ़ हाथ के लगभग
लंबी होती है और तौल में नौ या दस सेर होती है ।

मृगेश—संज्ञा पुं० [सं०] सिंह ।

मृगैर्वाह—संज्ञा पुं० [सं०] श्वेतेंद्रवारुणी । सफेद इंद्रायन ।

मृगोत्तम—संज्ञा पुं० [सं०] मृगशिरा नक्षत्र ।

मृच्छकटिक—संज्ञा पुं० [सं०] संस्कृत का एक प्रसिद्ध नाटक ।

मृज—संज्ञा पुं० [सं०] मुरज नाम का बाजा ।

मृड—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मृडानी] शिव । महादेव ।

मृडा—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा । पार्वती । उ०—मृडा चंडिका
अंबिका भवा भवानी सोय ।—नंददास ।

मृडानी—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा । भवानी । पार्वती । उ०—
अदेवी नृदेवीन की होहु रानी । करैं सेव बानी मयौनी
मृडानी ।—केशव ।

मृडीक—संज्ञा पुं० [सं०] हिरन ।

मृणाल—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमल का डंठल जिसमें फूल
लगा रहता है । कमल नाल । उ०—(क) तौ शिव धनुष
मृणाल कि नाई । तोरहिं राम गणेश गोसाँई ।—तुलसी ।
(ख) आईं जु चलि गोपाल धरै ब्रजबाल विशाल मृणाल सी
बाहीं ।—पद्माकर । (२) कमल की जड़ । मुरार । भर्सीइ ।
(३) उशीर । खस ।

मृणालकंठ—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का जलपक्षी ।

मृणालिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] कमल की डंठी । कमलनाल ।
उ०—भौरिन ज्यों भँवत रहत बन बीथिकान, हंसिनि ज्यों
मृदुल मृणालिका चहति है ।—केशव ।

मृणालिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमलिनी । (२) वह स्थान
जहाँ कमल हों । (३) कमलों का समूह ।

मृणाली—संज्ञा स्त्री० [सं०] कमल का डंठल । कमलनाल ।
उ०—(क) धरे एक बेणी मिली मैल सारी । मृणाली मनो
पंक सों कादि डारी ।—केशव । (ख) मैलते सहित मानों
कंचन की लता लोनी, पंक लपटानी ज्यों मृणाली दरसाई
है ।—रघुराज ।

मृत—वि० [सं०] (१) मरा हुआ । मुर्दा । (२) माँगा हुआ ।
याचित ।

मृतकबल—संज्ञा पुं० [सं०] वह कपड़ा जिससे मुर्दे को ढँकते हैं
कफन ।

मृतक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मरा हुआ प्राणी । मुर्दा । (२)
मरण का अवसौच ।

मृतक कर्म—संज्ञा पुं० [सं०] मृतक पुरुष की शुद्ध गति के लिये
किया जानेवाला कृत्य । प्रेत कर्म । जैसे, दाह, पोड़शी,

दशगात्र इत्यादि । उ०—तत्र सुग्रीवर्हि आयसु दीन्हा ।
मृतककर्म विधिवत् सब कीन्हा ।—तुलसी ।

मृतकधूम-संज्ञा पुं० [सं०] राख । भस्म । उ०—जस्यो गाढ़ भर
भर रुधिर ऊपर धूरि उड़ाय । जिमि अँगार रासीन्ह पर
मृतकधूम रह छाये ।—तुलसी ।

मृतकांतक-संज्ञा पुं० [सं०] शृगाल । गीदड़ ।

मृतजीव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मरा हुआ प्राणी । (२) तिलक वृक्ष ।

मृतजीवनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह विद्या जिससे मुर्दे को
जिलाया जाता है । उ०—क्यों न जिवावै असुर-गुरु तम
असुरे परभात । सन्ध्याहुत मृत-जीवनी विद्या कही न
जात ।—गुमान । (२) दुधिया वास । दुग्धिका ।

मृतधर्मा-वि० [सं० मृतधर्मन्] नष्ट हो जानेवाला । नश्वर ।

मृतमत्त-संज्ञा पुं० [सं०] शृगाल । गीदड़ ।

मृतवत्सा-वि० स्त्री० [सं०] (स्त्री) जिसकी संतति मर मर
जाती हो ।

मृतसंजीवन रस-संज्ञा पुं० [सं०] एक रसौषध जिसका व्यवहार
ज्वर में होता है ।

मृतसंजीवनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक वृक्ष जिसके विषय में
यह प्रसिद्ध है कि इसके खिलाने से मुर्दा भी जी उठता है ।
उ०—मृतसंजीवनि औषधी अरु करनी संधान । अरु विशल्य
करनी सुखद ल्यावहु हुत हनुमान ।—रघुराज । (२) ज्वर
का एक औषध जो सुरा के रूप में प्रस्तुत किया जाता है ।

मृतसंजीवनी सुरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वाजीकरण औषध ।

मृतसूत-संज्ञा पुं० [सं०] रससिंदूर ।

मृतसूतक-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मृत संतान उत्पन्न करनेवाली
स्त्री । (२) भस्म किया हुआ पारा ।

मृतस्नात-वि० [सं०] (१) जिसने किसी सजाति या वधु के
मरने पर उसके उद्देश्य से स्नान किया हो । (२) वह मुरदा,
जिसे दाह के पूर्व स्नान कराया गया हो ।

मृतस्नान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी भाई वधु के मरने पर
किया जानेवाला स्नान । (२) मृतक का स्नान ।

मृतामद-संज्ञा पुं० [सं०] तुत्थ । तृतिथा ।

मृतालक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अरहर । (२) गोपीचंदन ।

मृताशौच-संज्ञा पुं० [सं०] वह अशौच (अपवित्रता) जो
किसी आत्मीय, संबंधी, गुरु, पड़ोसी आदि के मरने पर
लगता है और जिसमें शुद्ध होने तक ब्रह्मचर्य के साथ देव-
कर्म तथा गृहकर्म से अलग रहना पड़ता है ।

मृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] मरण । मृत्यु ।

मृत्तिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मिट्टी । खाक । उ०—(क)
कंवन को मृत्तिका करि मानत । कामिनि काष्ठशिला पहिचा-
नत ।—तुलसी । (ख) जथा हट तंतु घट मृत्तिका सर्प स्वग
दारु करि कनक कटकंगदादी ।—तुलसी । (२) अरहर ।

मृत्तिका लवण-संज्ञा पुं० [सं०] मिट्टी का लोना । (पुराने घरों
की मिट्टी की दीवारों पर सीढ़ होने से एक प्रकार का
नमक लग जाता है ।)

मृत्तिकावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] नर्मदा के किनारे की एक प्राचीन
नगरी । (महाभारत)

मृत्युंजय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसने मृत्यु को जीत लिया
हो । (२) शिव का एक रूप । (३) शिव का एक मंत्र
जिसके विधिपूर्वक जपने से अकाल मृत्यु टल जाती है ।

मृत्युंजय रस-संज्ञा पुं० [सं०] ज्वर के लिये उपयोगी एक
रसौषध ।

विशेष—पारा एक माशा, गंधक दो माशे, सोहागा चार माशे,
विष आठ माशे, धतूरे के बीज सोलह माशे तथा सोंठ, मिर्च
और पीपल दस दस माशे सात सात रत्ती, इन सबको धतूरे
की जड़ के रस में पीसकर माशे माशे भर की गोलियाँ
बना ले; और जैसा ज्वर हो, उसके अनुपार अनुपान के
साथ सेवन करे ।

मृत्यु-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शरीर से जीवात्मा का वियोग ।
प्राण छूटना । मरण । मौत । (२) यमराज । (३) ग्यारह
रुद्रों में से एक । (४) विष्णु । (५) ब्रह्मा । (६) माया ।
(७) कलि । (८) फलित ज्योतिष में आठवाँ ग्रह । (९)
कामदेव । (१०) एक साम मंत्र । (११) बौद्ध देवता
पद्मपाणि के एक अनुचर ।

मृत्युनाशक-संज्ञा पुं० [सं०] पारा ।

मृत्युपा संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

मृत्युपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईख । गन्ना । (२) कैला ।

मृत्युफल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कैला । (२) महाकाल नाम की लता ।

मृत्युबंधु-संज्ञा पुं० [सं०] यम ।

मृत्युबीज-संज्ञा पुं० [सं०] बाँस ।

मृत्युरूपी-संज्ञा पुं० [सं० मृत्युरूपिन्] (१) यमदूत । (२) वर्ण-
माला का “श” अक्षर ।

मृत्युलोक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यमलोक । (२) मर्त्यलोक ।

मृत्युसूति-संज्ञा स्त्री० [सं०] केकड़े की मादा (जो अंडे देते ही
मर जाती है) ।

मृत्यु-वि० [सं०] चिपचिपा ।

मृथाः-कि० वि० । (१) दे० “वृथा” । (२) दे० “मृषा” ।

मृद्-संज्ञा स्त्री० [सं०] मृत्तिका । मिट्टी ।

विशेष—इस शब्द का अधिकतर व्यवहार समस्त पद
बनाने में होता है ।

मृदंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का बाजा जो ढोलक से
कुछ लंबा होता है । तबले की तरह इसके दोनों मुँहड़े चमड़े
से मढ़े जाते हैं । इसका ढाँचा पक्की मिट्टी का होता है,
इससे यह मृदंग कहलाता है । उ०—(क) बाजहिं ताल मृदंग

अनूपा । सोइ रव मधुर सुनहु सुरभूपा । - तुलसी । (ख)
 काहू बीन गहा कर काहू नाद मृदंग । सब दिन अनंद
 बधावा रहस कूद इक संग । - जायसी । (२) वाँस ।
 मृदंगफल-संज्ञा पुं० [सं०] कटहल । पनका ।
 मृदंगफलिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] तरौई । तोरई ।
 मृदंगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] तरौई । तोरई ।
 मृदव-संज्ञा पुं० [सं०] नाटक की भाषा में गुण के साथ दोष के
 वैषम्य का प्रदर्शन (नाट्य शास्त्र) ।
 मृदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मृत्तिका । मिट्टी ।
 मृदाकर-संज्ञा पुं० [सं०] वज्र ।
 मृदिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अच्छी मिट्टी । (२) गोपीचंदन ।
 मृदु-वि० [सं०] [स्त्री० मृदी] (१) जो छूने में कड़ा न हो ।
 कोमल । मुलायम । नरम । (२) जो सुनने में कर्कश या
 अप्रिय न हो । जैसे,—मृदु वचन । (३) सुकुमार । नाजुक ।
 (४) जो तीव्र या वेगयुक्त न हो । धीमा । मंद । जैसे,—
 मृदु स्वर, मृदु गति ।
 संज्ञा स्त्री० (१) घृत कुमारी । वीकुआँर । (२) सफ़ेद जाति
 पुष्प । जाही नामक फूल का पौधा ।
 मृदुकंटक-संज्ञा पुं० [सं०] कटसरैया ।
 मृदुखुर-संज्ञा पुं० [सं०] बोंडों के खुर का एक रोग ।
 मृदुगण-संज्ञा पुं० [सं०] नक्षत्रों का एक गण जिसमें चित्रा,
 अनुराधा, मृगशिरा और रेवती ये चार नक्षत्र हैं ।
 मृदुच्छद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भोजपत्र का पेड़ । (२) पीलू
 वृक्ष । (३) लाल लज्जालू ।
 मृदुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कोमलता । मुलायमियत । (२)
 धीमापन । मंदता ।
 मृदुदर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] सफ़ेद कुन्ना ।
 मृदुपुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] शिरीष वृक्ष । सिरिस ।
 मृदुफल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मधु नारिकेल । नारियल । (२)
 विककत वृक्ष ।
 मृदुल-वि० [सं०] कोमल । मुलायम । नरम । उ०—सुमन
 सेज ते लगि रहे सुंदर तेरे गात । सुरभित हूँ मिडि कै भये
 मृदुल नाल जलजात ।—लक्ष्मणसिंह । (२) कोमल हृदय ।
 दयामय । कृपालु । उ०—मृदुल चित अजित कृत गरल-
 पानं—तुलसी । (३) नाजुक । सुकुमार । उ०—मृदुल
 मनोहर सुंदर गाता । सहत दुसह बन आतप बाता ।—
 तुलसी ।
 संज्ञा पुं० [सं०] (१) जल । पानी । (२) अंजीर ।
 मृद्वी-वि० स्त्री० [सं०] (१) मृदु । कोमल । (२) कोमलांगी ।
 संज्ञा स्त्री० कपिल द्राक्षा । सफ़ेद अंगूर ।
 मृद्वीका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कपिल द्राक्षा । सफ़ेद अंगूर ।
 (२) अंगूर की शराब । द्राक्षासव ।

मृद्वीकासव-संज्ञा पुं० [सं०] द्राक्षासव । अंगूर की शराब ।
 मृध-संज्ञा पुं० [सं०] युद्ध । लड़ाई ।
 मृणाल-संज्ञा पुं० दे० “मृणाल” ।
 मृन्मय-वि० [सं०] मिट्टी का बना हुआ ।
 मृमान-संज्ञा पुं० [सं०] कूआँ । कूप ।
 मृषा-अव्य० [सं०] झूठमूठ । व्यर्थ ।
 वि० असत्य । झूठ ।
 मृषात्व-संज्ञा पुं० [सं०] मिथ्यात्व । असत्यता । झूठपन ।
 मृषाभाषी-क्रि० [सं०] मृषाभाषिन् । झूठ बोलनेवाला ।
 मृषालक-संज्ञा पुं० [सं०] आम का पेड़ । (इसमें थोड़े ही
 दिन मंजरियों का अलंकार रहता है, इसी से इसका यह नाम
 रखा गया है ।)
 मृषावाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) झूठ बोलना । (२) झूठ बात ।
 असत्य वचन ।
 मृष्ट-वि० [सं०] शोधित ।
 संज्ञा पुं० मिर्च ।
 मृष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] परिशुद्धि । शोधन ।
 म्रै-अव्य० [सं०] मध्य, प्रा० मज्झ, पु० हिं० महेँ] अधिकरण कारक
 का चिह्न जो किसी शब्द के आगे लगाकर उसके भीतर,
 उसके बीच या उसके चारों ओर होना सूचित करता है ।
 आधार या अवस्थान-सूचक शब्द । जैसे,—वह घर में बैठा
 है । बड़े में पानी है । वह चार दिन में आवेगा । पैर में मोजे
 या जूता पहनना ।
 संज्ञा पुं० [अनु०] बकरी के बोलने का शब्द ।
 म्रैगनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मींगी ?] ऐसे पशुओं की विष्टा जो छोटी
 छोटी गोलियों के आकार में होती है । लेंडी । जैसे, बकरी की
 म्रैगनी, ऊँट की म्रैगनी ।
 म्रैबर-संज्ञा पुं० [अ०] किसी सभा, समाज या गोष्ठी में सम्मिलित
 व्यक्ति । सभासद । सदस्य । जैसे,—काउन्सिल का म्रैबर ।
 मेकदार-संज्ञा पुं० [अ०] मेकदार] परिमाण । मात्रा । अंदाज़ ।
 मेकल-संज्ञा पुं० [सं०] विंध्य पर्वत का एक भाग जो रीवाँ राज्य
 के अंतर्गत है और जिसमें अमरकंटक है । इसी पर्वत से
 नर्मदा नदी निकली है । यह मेखला के आकार का है,
 इसी से इसे मेखल भी कहते हैं ।
 मेकलकन्यका-संज्ञा स्त्री० [सं०] नर्मदा नदी ।
 मेकलसुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] नर्मदा नदी ।
 मेक्ष्ण-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का यज्ञपात्र ।
 विशेष—यह चम्मच या करछी के आकार का और चार अंगुल
 चौड़ा तथा आगे की ओर निकला हुआ होता है ।
 मेख-संज्ञा पुं० दे० “मेघ” ।
 संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) ज़मीन में गाड़ने के लिये एक ओर
 नुकीली गद्दी हुई लकड़ी । खूँटा ।

क्रि० प्र०—उखाड़ना ।—गाड़ना ।—ठोंकना ।—मारना ।

मुहा०—मेख ठोंकना = (१) हाथ पैर में कील ठोंककर कहीं स्थिर कर देना । बहुत कठोर दंड देना । (इस प्रकार का दंड पहले प्रचलित था ।) (२) हराना । दवाना । जेर करना । तोप के मुँह में मेख ठोंकना = तोप का मुँह बंद करके उसे निकम्मा कर देना । मेख मारना = (१) कील ठोंककर चलना या हिलना बंद कर देना । (२) कोई ऐसी बात बोल देना जिससे किसी का होता हुआ काम न हो । भाँजी मारना । (३) चलते हुए काम में रुकावट डालना ।

(२) कील । काँटा । (३) लकड़ी की फट्टी जो किसी छेद में बैठाई हुई वस्तु को ढीली होने से रोकने के लिये इधर-उधर पेसी जाय । पच्चड़ । (४) वोड़े का लँगड़ापन जो नाल जड़ते समय किसी कील के ऊपर टुक जाने से होता है ।

मेखड़ा-संज्ञा स्त्री० [सं० मेखला] बाँस की वह फट्टी जिसे डले या झात्रे के मुँह पर गोल घेरा बनाकर बाँध देते हैं ।

मेखल-संज्ञा स्त्री० [सं० मेखला] (१) करधनी । किंकिणी । उ०—कटि मेखल बर हार ग्रीव दइ रुचिर बाहु भूषण पहिराय ।—तुलसी । (२) वह वस्तु जो किसी दूसरी वस्तु के मध्य भाग में उसे चारों ओर से घेरे हो । वि० दे० “मेखला” ।

मेखला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह वस्तु जो किसी दूसरी वस्तु के मध्य भाग में उसे चारों ओर से घेरे हुए पड़ी हो ।

(२) सिकड़ी या माला के आकार का एक गहना जो कमर को घेरकर पहना जाता है । करधनी । तागड़ी । किंकिणी ।

पर्या०—ससकी । कांची । रशना । रसना । कक्षा । कलाप ।

(३) कमर में लपेटकर पहनने का सूत या डोरी । करधनी । जैसे,—मुंज मेखला । (४) कोई मंडलाकार वस्तु । गोल घेरा । मंडल । मँडरा । (५) पेटी या कमरबंद जिसमें तलवार बाँधी जाती है । (६) डंडे, मूसल आदि के छोर पर या औजारों की मूठ पर लगा हुआ लोहे आदि का घेरादार बंद । सामी । साम । (७) पर्वत का मध्य भाग । (८) नर्मदा नदी । (९) पृश्निपर्णी । (१०) होम-कुंड के ऊपर चारों ओर बना हुआ मिट्टी का घेरा । (११) यज्ञवेष्टन सूत्र । (१२) कपड़े का टुकड़ा जो साधु लोग गले में डाले रहते हैं । कफनी । अलफी ।

मेखली-संज्ञा स्त्री० [सं० मेखला] (१) एक प्रकार का पहनावा जिसे गले में डालने से पेट और पीठ ढकी रहती है और दोनों हाथ खुले रहते हैं । यह देखने में तिकोना होता है और ऊपर चौड़ा तथा नीचे नुकीला होता है । इसे देव-मूर्तियों को रामलीला, रासलीला आदि में पहनाते हैं । प्रायः साधु भी पहनते हैं । (२) करधनी । कटिबंध । उ०—कबहुँक अपर खिरनही भावत कबहुँ मेखली उदर समानी ।—सूर ।

मेखवाँ-संज्ञा पुं० [फा० मेख] सवारी लेकर चलते वक्त जब रास्ते में आगे खूँटा मिलता है, तब उससे बचने के लिये अगला कहार यह शब्द बोलता है ।

मेगज़ीन-संज्ञा पुं० [अंग०] (१) वह स्थान जहाँ सेना के लिये बारूद रखी जाती है । बारूदखाना । (२) सामयिक पत्र, विशेषतः मासिक पत्र जिसमें लेख छपते हैं ।

मेघ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकाश में घनीभूत जलवाष्प जिससे वर्षा होती है । बादल । उ०—कबहुँ प्रबल चल मारत जहँ तहँ मेघ उड़ाहि ।—तुलसी । (२) संगीत में छः रागों में से एक ।

विशेष—हनुमत् के मत से यह राग ब्रह्मा के मस्तक से उत्पन्न है और किसी किसी के मत से आकाश से इसकी उत्पत्ति है । यह ओड़व जाति का राग है; और इसमें ध नि सारे ग ये पाँच स्वर से लगते हैं । हनुमत् के मत से इसका सरगम इस प्रकार है—ध नि सारे ग म प ध । वर्षा काल में रात के पिछले पहर इसे गाना चाहिए । इसकी स्त्रियाँ या रागिनियाँ मल्लारी, सोरठी, सारंगी वा हंसिका और मधुमाधवी हैं (हनुमत्) । अन्य मत से ये रागिनियाँ हैं—मल्लारी, देशी, सोरठ, नाटिका, तरुणी और कादंबिनी । इसके पुत्र—मल्लार, गौर, कर्णाट, जलधर, मालाहक, तैलंग, कमल, कुसुम, मेघनाट, सामंत, लूम, भूपति, नाट और बंगाल हैं ।

(३) मुस्तक । मोथा । (४) तंडुलीय शाक । (५) राक्षस ।

मेघकर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्कंदानुचर मातृभेद ।

मेघकाल-संज्ञा पुं० [सं०] वर्षा ऋतु ।

मेघगर्जन-संज्ञा पुं० [सं०] बादल की गरज ।

विशेष—मेघगर्जन के समय वेदाध्ययन निषिद्ध है । उपनयन के दिन यदि बादल गरजे, तो उपनयन टाल देना चाहिए ।

मेघज्योति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वज्राग्नि । बिजली ।

मेघडंबर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघगर्जन । (२) बड़ा चँदोवा ।

बड़ा शामियाना । दल बादल । (३) एक प्रकार का छत्र ।

मेघडंबर रस-संज्ञा पुं० [सं०] एक रसौषध जो श्वास और हिचकी के रोग में दी जाती है ।

विशेष—बराबर बराबर पारे और गंधक की कजली चौलाई के रस में पाँच दिन खरल करके मजबूत घरिया में रखकर बालुका यंत्र से एक दिन भर की आँच देने से यह बनता है । इसकी मात्रा ६ रत्ती है ।

मेघदुंदुभि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ गर्जन । (२) एक राक्षस का नाम ।

मेघद्वार-संज्ञा पुं० [सं०] आकाश ।

मेघधनु-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रधनुष ।

मेघनाट-संज्ञा पुं० [सं०] एक राग जो मेघ राग का पुत्र माना जाता है।

मेघनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

मेघनाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ का गर्जन। (२) वरुण। (३) रावण का पुत्र इंद्रजित् जो लक्ष्मण के हाथ से मारा गया था। (४) पलाश का पेड़। (५) एक दानव। (हरविंश) (६) मयूर। मोर। (७) बिडाल। बिल्ली।

मेघनादमूल-संज्ञा स्त्री० [सं०] चौलाई की जड़।

मेघनाद रस-संज्ञा पुं० [सं०] एक रसौषध जो ज्वर में दी जाती है।

विशेष—एक एक तोला रूपा, काँसा और ताँवा तितराज की जड़ के काढ़े में डालकर छः बार गजपुट पाक करने से यह बनता है। इसकी मात्र पान के साथ दो रत्ती है।

मेघनीलक-संज्ञा पुं० [सं०] तालीश वृक्ष।

मेघपटल-संज्ञा पुं० [सं०] बादल की घटा।

मेघपति-संज्ञा पुं० [सं०] बादलों का राजा या स्वामी, इंद्र।

मेघपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र का घोड़ा। (२) श्रीकृष्ण के रथ के चार घोड़ों में से एक। उ०—शैव्य, बलाहक, मेघपुष्प, सुग्रीव बाजीरथ।—गोपाल। (३) वर्षा का जल। (४) बकरे का सींग। (५) मोथा। मुस्तक।

मेघपुष्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जल। (२) बेत। (३) ओला।

मेघपृष्ठि-संज्ञा पुं० [सं०] क्रौंच द्वीप के एक खंड का नाम।

मेघफल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ के वर्ण द्वारा वर्ष के शुभाशुभ फल का निर्णय। (२) विककत वृक्ष।

मेघभूति-संज्ञा स्त्री० [सं०] बिजली।

मेघमल्लार-संज्ञा पुं० [सं०] संपूर्ण जाति का एक राग जो मेघ राग और उसकी पत्नी मल्लारी के योग से बनता है। इसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं।

मेघमाल-संज्ञा स्त्री० [सं०] बादलों की घटा। उ०—माली मेघमाल बनपाल विकराल भट्ट नीके सब काल सींचे सुधासार नीर के।—तुलसी।

संज्ञा पुं० (१) रंभा के गर्भ से उत्पन्न कल्कि के पुत्र का नाम। (कल्कि पुराण) (२) प्लक्ष द्वीप का एक पर्वत। (३) एक राक्षस का नाम।

मेघमाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बादलों की घटा। कादंबिनी। (२) स्कंद की अनुचरी एक मातृका का नाम।

मेघमाली-संज्ञा पुं० [सं०] मेघमालिन् (१) स्कंद का एक अनुचर। (२) एक असुर।

मेघयोनि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) धूआँ। (२) कुहरा।

मेघराज-संज्ञा पुं० [सं०] पुष्करावर्त्तक आदि मेघों के नायक, इंद्र।

मेघवर्णा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नील का पौधा।

३७६

मेघवर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] प्रलय काल के मेघों में से एक का नाम।

उ०—सुनि मेघवर्त्तक साजि सैन लै आए। जलवर्त्त वारिवर्त्त पवनवर्त्त वज्रवर्त्त आगिवर्त्तक जलद सँग लाए।—पूर।

मेघवाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० मेघ + वाई (प्रत्य०)] बादल की घटा। उ०—चली सैन्य कछु वरनि न जाई। मनहुँ उठी पूरव मेघवाई।—रघुराज।

मेघवान-संज्ञा पुं० [सं०] पश्चिम दिशा का एक पर्वत। (बृहत्संहिता)

मेघवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र। (२) एक बौद्ध राजा का नाम।

मेघविस्फूर्जिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्णवृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में यगण, मगण, नगण, सगण, टगण, रगण और एक गुरु होता है।

मेघसार-संज्ञा पुं० [सं०] घनसार। चीनिया कपूर।

मेघस्वन-संज्ञा पुं० [सं०] बादलों का शब्द। मेघों का गर्जन। वि० बादल की तरह गरजनेवाला।

मेघश्चनांकुर-संज्ञा पुं० [सं०] वैदूर्य मणि। बिलौर। (ऐसा प्रवाद है कि बादल के गरजने पर वैदूर्य मणि की उत्पत्ति होती है।)

मेघस्वर-संज्ञा पुं० [सं०] एक बुद्ध का नाम।

मेघा-संज्ञा पुं० [सं०] मेघ = बादल (के आने पर जो दिखाई दे)। मेढक। मंडूक।

मेघागम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वर्षा काल। (२) धारा कदंब।

मेघाच्छन्न-वि० [सं०] बादलों से ढका हुआ।

मेघाच्छादित-वि० [सं०] बादलों से ढका हुआ। बादलों से छाया हुआ।

मेघाडंबर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघगर्जन। बादल की गरज। (२) बादल का फैलाव।

मेघानंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोर। मयूर। (२) बलाका। बगला।

मेघावरि-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेघावलि। बादलों की घटा। उ०—केस मेघावरि सिर ता पाई। चमकहिँ दसन बीजु कै नाई।—जायसी।

मेघास्थि-संज्ञा पुं० [सं०] ओला।

मेघ-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेघ [सं०] पर्यंक। पलंग। (२) बेंत की बुनी हुई खाट।

पुं०-संज्ञा स्त्री० दे० “मेज़”।

संज्ञा पुं० [देश०] आसाम की एक पहाड़ी जाति।

मेघक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंधकार। अंधेरा। (२) नीलांजन। सुरमा। (३) मोर की चंद्रिका। (४) धूआँ। धूम। (५) मेघ। (६) शोभांजन। सहिंजन। (७) पीतशाल।

पियासाल । (८) काला नमक । (९) बिच्छू की एक छोटी जाति ।

वि० श्यामल । काला । स्याह ।

मेचकता-संज्ञा स्त्री० [सं०] कालापन । श्यामता ।

मेचकताई-संज्ञा स्त्री० दे० “मेचकता” ।

मेज़-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की पहाड़ी घास जो हिमालय पर ५००० फुट की ऊँचाई तक पाई जाती है और जिसे घोड़े और चौपाए बड़े चाव से खाते हैं ।

मेज़-संज्ञा स्त्री० [फ्रा०] लंबी चौड़ी चौकी जो बैठे हुए आदमी के सामने उस पर रखकर खाना खाने, लिखने पढ़ने या और कोई काम करने के लिये रखी जाती है । टेबुल ।

मेज़पोश-संज्ञा पुं० [फ्रा०] चौकी या मेज़ पर बिछाने का कपड़ा ।
मेज़वान-संज्ञा पुं० [फ्रा०] भोजन कराने या आतिथ्य करने वाला । मेहमानदार । ‘मेहमान’ का उलटा ।

मेज़र-संज्ञा पुं० [अंग०] फौज का एक अफसर ।

मेज़ा-संज्ञा पुं० [सं० मंडूक, हिं० मेढक, पूरबी हिं० मेभुका] मेढक । मंडूक । उ०—केवट हँसे सौ सुनत गवेजा । समुद्र न जानु कुवाँ कर मेजा ।—जायसी ।

मेड-संज्ञा पुं० [अंग०] मज़दूरों का अफसर या सरदार । टंडेल । जमादार ।

मेडक-संज्ञा पुं० [हिं० मेटना (में क सं० प्रत्य०)] नाशक । मिटानेवाला । उ०—देव जू को न हिये हुलसी तुलसी वन में कुलसीउ को मेटक ।—देव ।

मेटनहार, मेटनहारा-संज्ञा पुं० [हिं० मेटना + हार (प्रत्य०)] मिटानेवाला । दूर करनेवाला । हटानेवाला । उ०—बिधि कर लिखा को मेटनहारा ।—तुलसी ।

मेटना-क्रि० सं० [सं० मृष्ट = साफ किया हुआ, प्रा० मिट् + ना (प्रत्य०)] (१) घिस कर साफ करना । मिटाना । (२) दूर करना । न रहने देना । (३) नष्ट करना । वि० दे० “मिटाना” ।

मेटिया-संज्ञा स्त्री० [सं० मृत्काश्य, हिं० मटका] घड़े से छोटा मिट्टी का बरतन जिसमें दूध, दही आदि रखते हैं । मटकी ।

मेटी-संज्ञा स्त्री० दे० “मेटिया” ।

मेटुकी-संज्ञा स्त्री० दे० “मटकी” ।

मेटुवा-वि० [हिं० मेटना] किए हुए उपकार को न माननेवाला । कृतघ्न ।

मेड-संज्ञा पुं० [सं०] हाथीवान । फीलवान ।

मेड़-संज्ञा पुं० [सं० भित्ति ?] (१) मिट्टी डालकर बनाया हुआ खेत या जमीन का घेरा । छोटा बाँध । (२) दो खेतों के बीच में हद या सीमा के रूप में बना हुआ रास्ता ।

क्रि० प्र०—डालना ।—बाँधना ।

यौ०—मेड़बंदी ।

(३) ऊँची लहर या तरंग । (लक्ष०)

क्रि० प्र०—पड़ना ।

मेड़बंदी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मेड़ + फ्रा० बंद, या हिं० बँधना] (१) मिट्टी डालकर बनाया हुआ घेरा । (२) इस प्रकार घेरा बनाने की क्रिया । हदबंदी ।

मेड़क-संज्ञा पुं० दे० “मेढक” ।

मेड़रा-संज्ञा पुं० [सं० मंडल, हिं० मंडरा] [स्त्री० अल्पा० मेढरी] (१) किसी गोल वस्तु का उभरा हुआ किनारा । (२) किसी वस्तु का मंडलाकार ढाँचा । जैसे,—छलनी या खँजरी का मेड़रा ।

मेड़राना-क्रि० प्र० दे० “मँडराना” ।

मेड़री-संज्ञा स्त्री० [हिं० मेड़रा] (१) किसी गोल या मंडलाकार वस्तु का उभरा हुआ किनारा । (२) मंडलाकार वस्तु का ढाँचा । (३) चक्की के चारों ओर का वह स्थान जहाँ आटा पिसकर गिरता है ।

मेड़ल-संज्ञा पुं० [अंग०] चाँदी, सोने आदि की वह विशेष प्रकार की मुद्रा जो कोई अच्छा या बड़ा काम करने अथवा विशेष निपुणता दिखाने पर किसी को दी जाय और जिस पर देनेवाले का नाम खुदा हो; तथा जिस बात के लिये वह दी गई हो, उसका भी उल्लेख हो । तमगा । पदक ।

मेड़िया-संज्ञा स्त्री० [सं० मंडप, हिं० मदी] मदी । मंडप । छोटा घर । उ०—कहा चुनावै मेड़िया चूना माटी लाय । मीच चुनैगी पापिनी दौरि कै लैगी आय ।—कबीर ।

मेढक-संज्ञा पुं० [सं० मंडूक] एक जलस्थल-चारी जंतु जो तीन चार अंगुल से लेकर एक बालिशत तक लंबा होता है । यह पानी में तैरता है और ज़मीन पर कूद कूदकर चलता है । इसके चार पैर होते हैं जिनमें जालीदार पंजे होते हैं । यह फेफड़ों से साँस लेता है, मछलियों की तरह गलफड़ों से नहीं ।

पर्याय—मंडूक । दुर्दुर ।

विशेष—विकास क्रम में यह जलचारी और स्थलचारी जंतुओं के बीच का माना जाता है । मछलियों से ही क्रमशः विकास-परंपरानुसार जलस्थलचारी जंतुओं की उत्पत्ति हुई है, जिनमें सब से अधिक ध्यान देने योग्य मेढक है । रीढ़वाले जंतुओं में जो उन्नत कोटि के हैं, वे फेफड़ों से साँस लेते हैं । पर जिनका ढाँचा सादा है और जिन्हें जल ही में रहना पड़ता है, वे गलफड़ों से साँस लेते हैं । मछली के ढाँचे से उन्नति करके मेढक का ढाँचा बना है, इसका आभास मेढक की वृद्धि की देखने से मिल सकता है । अंडे के फूटने पर मेढक का डिम्ब-कीट मछली के रूप में आता है, जल ही में रहता है, गलफड़ों से साँस लेता है और घास-पात खाता है । उसे लंबी पूँछ होती है, पैर नहीं होते । कहीं कहीं उसे “छुछ-

मछली" भी कहते हैं। धीरे धीरे कायाकल्प करता हुआ वह उभयचारी जंतु का रूप प्राप्त करता है और जालीदार पंजों से युक्त पैरवाला, फेफड़े से साँस लेनेवाला और कीड़े-पतंगों खानेवाला मेढक हो जाता है।

मेढ्रा-संज्ञा पुं० [सं० मेद्र] [स्त्री० मेड] सींगवाला एक चौपाया जो लगभग डेढ़ हाथ ऊँचा और घने रोयों से ढका होता है। इसका रोयाँ बहुत मुलायम होता है और उन कहलाता है। इसका माथा और सींग बहुत मज़बूत होते हैं। ये आपस में बड़े वेग से लड़ते हैं, इससे बहुत से शौकीन इन्हें लड़ाने के लिये पालते हैं। मादा मेड जितनी ही सीधी होती है, उतने ही मेदे क्रोधी होते हैं। मेदे की एक जाति ऐसी होती है जिसकी पूँछ में चरबी का इतना अधिक संचय होता है कि वह चक्की के पाट की तरह फैलकर चौड़ी हो जाती है। ऐसा मेदा "हुंवा" कहलाता है। वि० दे० "मेड"।

मेढ्रासिंगी-संज्ञा स्त्री० [सं० मेद्रसिंगी] एक झाड़ीदार लता जो मध्य प्रदेश और दक्षिण के जंगलों में तथा बंबई के आस-पास बहुत होती है। इसकी जड़ औषध के काम में आती है और सर्प का विष दूर करने के लिये प्रसिद्ध है। इसकी पत्तियाँ चबाने से जीभ देर तक सुन्न रहती है। वैद्यक में यह तिक्त, वातवर्द्धक, श्वासकास-वर्द्धक, पाक में रक्ष, कटु तथा व्रण, श्लेष्मा और आँख के दर्द को दूर करनेवाली मानी जाती है। इसके फल दीपन तथा कास, कृमि, व्रण, विष और कुष्ठ को दूर करनेवाले कहे जाते हैं।

मेढ्री-संज्ञा स्त्री० [सं० वेणी] (१) तीन लड़ियों में गूथी हुई चोटी। उ०—कटकन चारु, शृकुटिया टेढ़ी मेढ्री सुभग सुदेस सुभाए।—तुलसी। (२) बोड़ों के माथे पर की एक भौरी।

मेह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिश्। लिंग। (२) मेदा।

मेथिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेथी।

मेथी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक छोटा पौधा जो भारतवर्ष में प्रायः सर्वत्र होता है और जिसकी पत्तियाँ कुछ गोल होती हैं और साग की तरह खाई जाती हैं। इसकी फलियों के दाने मसाले और औषध के काम में आते हैं और देखने में कुछ चौखूँटे होते हैं। इसकी फसल जाड़े में तैयार होती है। वैद्यक में इसका गुण कटु, उष्ण, अरुचिनाशक, दीप्ति-कारक, वातघ्न तथा रक्त पित्त प्रकोपन माना गया है।

पट्यार्यो-संज्ञा पुं०—दीपनी। बहुमूत्रिका। गंधवीजा। ज्योति। गंधफला। बल्लरी। चंद्रिका। मंथा। मिश्रपुष्पा। कैरवी। बहुपर्णी। पीतबीजा।

मेथौरी-संज्ञा स्त्री० [हि० मेथो + वरी] मेथी का साग मिलाकर बनाई हुई उर्द की पीठी की वरी।

मेद-संज्ञा पुं० [सं० मेदस्, मेद] (१) शरीर के अंदर की वसा नामक धातु। चरबी।

विशेष—सुश्रुत के अनुसार मेद मांस से उत्पन्न धातु है जिससे अस्थि बनती है। भावप्रकाश आदि वैद्यक ग्रंथों में लिखा है कि जब शरीर के अंदर की स्वाभाविक अग्नि से मांस का परिपाक होता है, तब मेद बनता है। इसके इकट्ठा होने का स्थान उदर कहा गया है।

(२) मोटाई या चरबी बढ़ने का रोग। (३) कस्तूरी। उ०—(क) रचि रचि साजे चंदन चौरा। पोते अगर मेद औ गौरा।—जायसी। (ख) कहि केसव मेद जवादि सौँ माँजि हूते पर आँजे में अंजन दै।—केशव। (४) नीलम की एक छाया। (रत्नपरीक्षा) (५) एक अंत्यज जाति जिसकी उत्पत्ति मनुस्मृति में वैदेहिक पुरुष और निपाद स्त्री से कही गई है।

मेदपुच्छ-संज्ञा पुं० [सं०] हुंवा मेदा।

मेदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अष्टवर्ग में से एक प्रसिद्ध ओषधि जो ज्वर और राजयक्ष्मा में अत्यंत उपकारी कही गई है। कहते हैं कि इसकी जड़ अदरक की तरह, पर बहुत सफेद होती है और नाखून गड़ाने से उसमें से मेद के समान दूध निकलता है। वैद्यक में यह मधुर, शीतल तथा पित्त, दाह, खाँसी, ज्वर और राजयक्ष्मा को दूर करनेवाली कही गई है। यह मोरंग की ओर पाई जाती है। संज्ञा पुं० [अ०] पाकाशय। पेट। कोठा। जैसे,—मेदे की शिकायत।

मुहा०—मेदा कड़ा होना = आँतों की क्रिया इस प्रकार की होना कि जल्दी दस्त न हो। मेदा साफ होना = मलशुद्धि होना। दस्त होने से कोठा साफ होना।

मेदिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मेदा। (२) पृथ्वी। धरती। (पुराणों में मधुकैटभ के मेद से पृथ्वी की उत्पत्ति कही गई है, इसी से यह नाम पड़ा है।)

मेदुर-वि० [सं०] चिकना। स्निग्ध।

मेदोज-संज्ञा पुं० [सं०] हड्डी। अस्थि।

मेदोधरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] शरीर की तीसरी कला या शिली जिसमें मेद या चरबी रहती है।

मेदोर्बुद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेदयुक्त गाँठ या गिल्टी जिसमें पीड़ा हो। (२) ओठ का एक रोग।

मेदोवृद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चरबी का बढ़ना। मोटाई। (२) अंडवृद्धि।

मेध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ। (२) हवि। (३) यज्ञ में बलि दिया जानेवाला पशु।

मेधज-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

मेधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अंतःकरण की वह शक्ति जिससे जानी, देखी, सुनी या पढ़ी हुई बातें मन में बराबर बनी रहती हैं, भूलती नहीं। बात को स्मरण रखने की मानसिक

शक्ति । धारणावाली बुद्धि । (२) दक्ष प्रजापति की एक कन्या । (३) षोडश मातृकाओं में से एक जिसका पूजन नांदीमुख श्राद्ध में होता है । (४) छप्पय छंद का एक भेद ।

मेधाजित्-संज्ञा पुं० [सं०] कात्यायन मुनि ।

मेधातिथि-संज्ञा पुं० [सं०] एक नाम जो बहुत से लोगों का है—(१) काण्ववंश में उत्पन्न एक ऋषि जो ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १२-३३ सूक्तों के द्रष्टा थे । (२) कण्व मुनि के पिता । (महाभारत) (३) भट्ट वीरस्वामी के पुत्र जो मनु-संहिता के प्रसिद्ध भाष्यकार हैं । (४) प्रियव्रत के पुत्र और शाकद्वीप के अधिपति । (भागवत) (५) कर्दम प्रजापति के पुत्र ।

मेधावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] महाज्योतिष्मती लता ।

मेधावन्-वि० [सं० मेधावत्] [स्त्री० मेधावती] जिसकी स्मरण शक्ति तीव्र हो । धारणाशक्तिवाला ।

मेधावी-वि० [सं० मेधाविन्] [स्त्री० मेधाविनी] (१) मेधा शक्ति-वाला । जिसकी धारणाशक्ति तीव्र हो । (२) बुद्धिमान् । चतुर । (३) पंडित । विद्वान् ।

संज्ञा पुं० (१) शुक्र पक्षी । सूआ । तोता । (२) मद्य । शराब । (३) कश्यप के एक पुत्र । (४) च्यवन के एक पुत्र । उ०—च्यवनपुत्र मेधावी नामा । करै तपस्या विपिन अकामा ।—विश्राम ।

मेधि-संज्ञा पुं० [सं०] उस स्थान पर गड़ा हुआ खंभा जहाँ खेत से लाकर फसल फैलाई जाती है । दानेवाले बैल इसी खंभे में बंधे हुए चारों ओर घूमकर पैरों से डंठलों के दाने झाड़ते हैं ।

मेधिर-वि० [सं०] तत्पर बुद्धिवाला । मेधावी । बुद्धिमान् ।

मेध्य-वि० [सं०] (१) बुद्धि बढ़ानेवाला । मेधाजनक । (२) पवित्र । शुचि ।

संज्ञा पुं० (१) खैर । कथा । (२) जौ । (३) बकरा ।

मेनका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्वर्ग की एक अप्सरा जो इंद्र की आज्ञा से विश्वामित्र का तप भंग करने के लिये गई थी और विश्वामित्र के संयोग से जिसे शकुन्तला नाम की कन्या उत्पन्न हुई थी । (२) उमा या पार्वती की माता जो हिमवान् की पत्नी थी ।

मेनकात्मजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शकुन्तला । (२) पार्वती । दुर्गा ।

मेनकाहित-संज्ञा पुं० [सं०] रासक नामक नाटक का एक भेद ।

मेना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पितरों की मानसी कन्या मेनका । (२) हिमवान् की स्त्री, मेनका । (३) स्त्री । (४) वृषणध की मानसी कन्या । (ऋग्वेद) (५) वाक् ।

मेनाद-संज्ञा पुं० [अनु० मे + नाद] (१) बिल्ली । (२) बकरी । (३) मोर ।

मेनाध्व-संज्ञा पुं० [सं०] हिमालय ।

मेम-संज्ञा स्त्री० [अ० मैडम का संक्षिप्त रूप] (१) युरोप या अमेरिका आदि की स्त्री । (२) तादा का एक पत्ता जिसे बीबी या रानी भी कहते हैं । यह पत्ता बादशाह से छोटा और गुलाम से बड़ा माना जाता है ।

मेमना-संज्ञा पुं० [अनु० में में] (१) भेड़ का बच्चा । (२) घोड़े की एक जाति । उ०—कोई काबुल कैबोज कोई कच्छी । बोत मेमना मुंजी लच्छी ।—विश्राम ।

मेमार-संज्ञा पुं० [अ०] भवन-निर्माण करनेवाला शिल्पी । इमारत बनानेवाला । थवई । राजगीर ।

मेमोरियल-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह प्रार्थनापत्र जो किसी बड़े अधिकारी के पास विचारार्थ भेजा जाय । (२) स्मारक-चिह्न । यादगार ।

मेय-वि० [सं०] (१) जिसकी नाप जोख हो सके । जिसका परिमाण या विस्तार ठीक बताया जा सके । (२) जो नापा जोखा जानेवाला हो ।

मेरझूँ-संज्ञा पुं० दे० “मेल” । उ०—(क) एहि सो कृष्ण बलराज जस कीन्ह चहै छर बाँध । मन बिचार हम आवही मेरहि दीज न काँध ।—जायसी । (ख) अपने अपने मेरनि मानो उनि होरी हरख लगाई ।—सूर ।

मेरक-संज्ञा पुं० [सं०] एक असुर जिसे विष्णु ने मारा था ।

मेरठी-संज्ञा पुं० [मेरठ नगर से] गन्ने की एक जाति जो मेरठ की ओर होती है ।

मेरवना †-क्रि० स० [सं० मेलन] (१) दो या कई वस्तुओं को एक में करना । मिश्रित करना । मिलाना । उ०—ते मेरए धरि धूरि सुजोधन जे चलते वह छत्र की छाहीं ।—तुलसी । (२) दो या कई व्यक्तियों को एक साथ करना । संयोग कराना । मिलाप कराना । उ०—(क) चतुरवेद हौं पंडित हीरामन मोहि नाउँ । पद्मावत सौं मेरवौ सेव करो तेहि ठाउँ ।—जायसी । (ख) है मोहि आस मिलै कै जौ मेरवै करतार ।—जायसी ।

मेरा-सर्व० [हि० मैं + रा (प्रा० केरिओ, हि० केरा)] [स्त्री० मेरी] “मैं” के संबंधकारक का रूप । मुझसे संबंध रखनेवाला । मदीय । मम । जैसे,—यह घोड़ा मेरा है ।

मेरा संज्ञा पुं० दे० “मेल” । उ०—यह संसार सुपन जस मेरा । अंत न आपन को केहि केरा ।—जायसी ।

मेराउ †-संज्ञा पुं० दे० “मेराव” । उ०—धनि ओहि जीउ दीन्ह बिधि भाऊ । दहुँ का सउँ लेइ करइ मेराऊ ।—जायसी ।

मेराव †-संज्ञा पुं० [हि० मेर = मेल] मेल । मिलाप । समागम । उ०—पदुमावति पुनि पूजइ आवा । होइहि ओहि मिसु दिस्ट मेरावा ।—जायसी ।

मेरी-सर्व० “मेरा” का स्त्री० रूप ।

संज्ञा स्त्री० अहंकार । उ०—मेरी मिटी मुक्ता भया पाया ब्रह्म
विस्वास । मेरे दूजा कोड नहीं एक तुम्हारी आस ।—कवीर ।
मेरु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक पुराणोक्त पर्वत जो सोने का कहा
गया है । वि० दे० “सुमेरु” ।

पर्याय—हेमाद्रि । रत्नसानु । सुरालय ।

(२) जपमाला के बीच का बड़ा दाना जो और सब दानों के
ऊपर होता है । इसी से जप का आरंभ और इसी पर उस
की समाप्ति होती है । सुमेरु (जप करते समय ‘मेरु’ का
उल्लंघन नहीं करना चाहिए) । उ०—कबिरा माला काठ की
बहुत जतन का फेर । माला फेरौ साँस की जामें गाँठि न
मेरु ।—कवीर । (३) एक विशेष ढाँचे का देवमंदिर ।

विशेष—यह षट्कोण होता है और इसमें १२ भूमिकाएँ या
खंड होते हैं । अंदर अनेक प्रकार के गवाक्ष (मोखे) और
चारों दिशाओं में द्वार होते हैं । इसका विस्तार ३२ हाथ
और ऊँचाई ६४ हाथ होनी चाहिए । (बृहत्संहिता)
(४) वीणा का एक अंग । (५) पिंगल या छंदःशास्त्र की
एक गणना जिससे यह पता लगता है कि कितने कितने
लघु गुरु के कितने छंद हो सकते हैं ।

मेरुद्रा-संज्ञा पुं० [सं० मेरु + आ (प्रत्यय)] खेल बराबर करने के
पादे का छोर पर का भाग जिसमें रस्सियाँ बँधी होती हैं ।

मेरुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईशान कोण में स्थित एक देश ।
(बृहत्संहिता) (२) यज्ञधूप । धूना ।

मेरुकल्प-संज्ञा पुं० [सं०] एक बुद्ध का नाम ।

मेरुदंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीठ के बीच की हड्डी । रीढ़ । (२)
पृथ्वी के दोनों ध्रुवों के बीच गई हुई सीधी कल्पित रेखा ।

मेरुदेवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेरु की कन्या और नाभि की पत्नी
जो विष्णु के अवतार कृष्णदेव की माता थी ।

मेरुधामा-संज्ञा पुं० [सं० मेरुधामम्] शिव । महादेव ।

मेरुपृष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकाश । (२) स्वर्ग ।

मेरुभूत-संज्ञा पुं० [सं०] एक जाति का नाम ।

मेरुभूतसिंधु-संज्ञा पुं० [सं०] पल्लव देश का दूसरा नाम ।

मेरुयंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चरखा । (२) बीजगणित में
एक प्रकार का चक्र ।

मेरुशिखर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेरु की चोटी । (२) हठ योग
में माने हुए मस्तक के छः चक्रों में से सब से ऊपर का चक्र ।
इसका स्थान ब्रह्मरंध्र, रंग अवर्णनीय और देवता चिन्मय
शक्ति है । इसके दलों की संख्या १०० और दलों का अक्षर
ओंकार है । इसे ‘सहस्रार’ भी कहते हैं ।

मेरुश्रीगर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम ।

मेरुसावर्ण्य-संज्ञा पुं० [सं०] ग्यारहवें मनु का नाम ।

मेरे-सर्व० [हिं० मेरा] (१) ‘मेरा’ का बहुवचन । जैसे,—ये
आम मेरे हैं । (२) ‘मेरा’ का वह रूप जो उसे संबंधवान्

शब्द के आगे विभक्ति लगने के कारण प्राप्त होता है ।
जैसे,—मेरे घर पर आना ।

मेल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दो या अधिक वस्तुओं या व्यक्तियों
के इकट्ठा होने का व्यापार अथवा भाव । मिलने की क्रिया
या भाव । संयोग । समागम । मिलाप । जैसे,—(क) इधर
से यह चला, उधर से वह; बीच में दोनों का मेल हो गया ।
(ख) इसी स्टेशन पर दोनों गाड़ियों का मेल होता है ।

क्रि० प्र०—करना ।—कराना ।—रखना ।—होना ।

यौ०—मेल मिलाप ।

(२) एक साथ प्रीतिपूर्वक रहने का भाव । अनबन का न
रहना । एकता । सुलह । जैसे,—दोनों भाइयों में बड़ा
मेल है ।

यौ०—मेल जोल ।

मुहा०—मेल करना = विरोध दूर करना और परस्पर हित-संबंध
स्थापित करना । सुलह करना । संधि करना । मेल होना = भगड़ा
मिटना । सुलह होना ।

(३) पारस्परिक घनिष्ठ व्यवहार । मैत्री । मित्रता । दोस्ती ।
प्रीति संबंध । जैसे,—उसने अब मेरे शत्रुओं से मेल
किया है ।

मुहा०—मेल बढ़ाना = घनिष्ठ व्यवहार करना । अधिक परिचय और
साथ करना । मैत्री करना । जैसे,—उससे बहुत मेल मत
बढ़ाओ; नहीं तो धोखा खाओगे ।

(४) अनुकूलता । अनुरूपता । उपयुक्तता । संगति ।
सामंजस्य । मुआफ़िकत ।

मुहा०—मेल खाना = (१) साथ का ठीक होना । संगति का उपयुक्त
होना । पट्टी बैठना । साथ निभना । जैसे,—हमारा उनका
मेल नहीं खा सकता । (२) वस्तुओं की एक साथ स्थिति का
अच्छा या ठीक होना । दो चीजों का जोड़ ठीक बैठना । जैसे,—
इसका रंग कपड़े के रंग के साथ मेल नहीं खाता । मेल
बैठना = दे० “मेल खाना” । मेल मिलना = दे० “मेल बैठना” ।
(५) जोड़ । टकर । बराबरी । समता । जैसे,—इसके मेल
की चीज़ का मिलना तो कठिन है । (६) ढंग ।
प्रकार । चाल । तरह । जैसे,—इसकी दूकान पर कई मेल
की चीज़ें हैं । (७) दो वस्तुओं का एक में होना । मिश्रण ।
मिलावट । जैसे,—हरा रंग नीले और पीले रंगों के मेल से
बनता है ।

मेलक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) संग । सहवास । (२) मेल ।
(३) समूह । जमावड़ा । (४) मिलन । समागम । (५)
वर और कन्या की राशि, नक्षत्र आदि का विवाह के लिये
किया जानेवाला मिलान ।

मेलन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक साथ होना । इकट्ठा होना ।
मिलन । (२) जमावड़ा । (३) मिलाने की क्रिया या भाव ।

मेलना *†-क्रि० सं० [हि० मेल + ना (प्रत्य०)] (१) मिलाना ।
(२) डालना । रखना । उ०—जे कर कनक कचोरा भरि भरि
मेलत तेल फुलेल ।—सूर । (३) धारण करना । पहनाना ।
उ०—सिय जयमाल राम उर मेली ।—तुलसी ।

क्रि० प्र० इकट्ठा होना । एकत्र होना । जुटना । उ०—
बलसागर ललमन सहित कपिसागर रनधीर । जससागर
रघुनाथ जू मेले सागर तीर ।

मेलमल्लार-संज्ञा पुं० [सं०] एक रागिनी जिसकी स्वरलिपि
इस प्रकार है—स स स रे म प ध स स ध प म ग रे स ।

मेलंधु-संज्ञा पुं० [सं०] दवात ।

मेला-संज्ञा पुं० [सं० मेजक] (१) बहुत से लोगों का जमावड़ा ।
भीड़ भाड़ । (२) देवदर्शन, उत्सव, खेल, तमाशे आदि के
लिये बहुत से लोगों का जमावड़ा । जैसे,—माव मेला,
हरिहर क्षेत्र का मेला ।

यौ०—मेला ठेला ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बहुत से लोगों का जमावड़ा । (२)
मिलन । समागम । मिलाप । (३) स्याही । रोशनाई । (४)
अंजन । (५) महानीली ।

मेला ठेला-संज्ञा पुं० [हि० मेला + ठेला = धका] भीड़ भाड़ और
धका । जमावड़ा । जैसे,—मेले ठेले में खियों का जाना
ठीक नहीं ।

मेलानंदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दवात ।

मेलाना†-क्रि० सं० [हि० मेल] (१) मेलना का प्रेरणार्थक रूप ।
(२) रेहन या गिरवी रखी हुई वस्तु को रुपया देकर छुड़ाना ।

मेला-संज्ञा पुं० [हि० मेल] वह जिससे मेल जोल हो । वह
जिससे घनिष्ठ परिचय हो । मुलाकाती । संगी । साथी ।
वि० हेल मेल रखनेवाला । जल्दी हिल मिल जानेवाला ।
जिसकी प्रवृत्ति लोगों को मित्र बनाने की हो । यारबाश ।
जैसे,—वह बड़ा मेला आदमी है ।

मेलिटिंग केटल-संज्ञा पुं० [अ०] सरस गलाने की देगची ।
यह एक ढकनेदार दोहरा बरतन होता है । नीचे के बरतन
में पानी भरकर उसके अंदर दूसरा बरतन रखकर उसमें
सरस भर देते हैं और ढककर आँच पर चढ़ा देते हैं ।
पानी की भाप से सरस गल जाता है । गल जाने पर उसे
रोलर मोल्ड में ढाल देते हैं, जिससे वह जम जाता है
और स्याही देने का बेलन तैयार होकर निकल आता है ।
(छापाखाना)

मेलहना-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की नाव जिसका सिका
खड़ा रहता है ।

†-क्रि० प्र० (१) केश या पीड़ा से बार बार इस करवट से
उस करवट होना । छटपटाना । बेचैन होना । (२) कोई
काम करने में आना कानी करके समय बिताना ।

मेघ-संज्ञा पुं० [देश०] राजपूताने की ओर बसनेवाली एक छुट्टरी
जाति । मेवाती । उ०—छवि-वन में दौरान लगे जब तें
तव हग मेघ । तब तें कड़े सनेहिया मन छन लै कै छेव ।
—रसनिधि ।

विशेष—मेघ पहले हिंदू थे और मेवात में बसते थे । पर
मुसलमानी बादशाहत के जमाने में ये मुसलमान हो गए ।
अब ये लोग लूट पाट प्रायः छोड़ते जा रहे हैं ।

मेवाड़ी-संज्ञा स्त्री० [देश०] निर्गुंडी । सँभाल ।

मेवा-संज्ञा पुं० [फा०] (१) खाने का फल । (२) किशमिश,
बादाम, अखरोट आदि सुखाए हुए बढ़िया फल ।

संज्ञा पुं० [देश०] सूरत के गन्ने की एक जाति जिसे
'खजुरिया' भी कहते हैं ।

मेवाटी-संज्ञा स्त्री० [फा० मेवा + वाटी] एक पकवान जिसके अंदर
मेवे भरे रहते हैं । उ०—फूटि जाय फन फनीराज को समोसा
सम फटि जाय कच्छप की पीठ हू मेवाटी सी ।—गोपाल ।

मेवाड़-संज्ञा पुं० [देश०] (१) राजपूताने का एक प्रांत जिसकी
प्राचीन राजधानी चित्तौर थी और आजकल उदयपुर है ।
(२) एक राग जो मालकोस राग का पुत्र माना जाता है ।

मेवाड़ी-संज्ञा पुं० [हि० मेवाड़] मेवाड़ प्रदेश का निवासी ।

वि० मेवाड़ में होनेवाला । मेवाड़ से संबंध रखनेवाला ।
मेवाड़ का ।

मेवात-संज्ञा पुं० [सं०] राजपूताने और सिंध के बीच के प्रदेश
का पुराना नाम ।

मेवाती-संज्ञा पुं० [हि० मेवात + ई० (प्रत्य०)] मेवात का रहनेवाला ।

मेवाफरोश-संज्ञा पुं० [फा०] फल या मेवे बेचनेवाला ।

मेवासा *†-संज्ञा पुं० [हि० मवासा] (१) किला । गढ़ । (२) रक्षा
का स्थान । (३) घर । उ०—कबीर हरि की गति का मन
में बहुत हुलास । मेवासा भाँजै नहीं होन चढ़ै निज
दास ।—कबीर ।

मेवासी-संज्ञा पुं० [हि० मेवासा] (१) घर में रहनेवाला । घर
का मालिक । उ०—मन मेवासी मूडिये केशहि झड़े
काहि । जो कुछ किया सो मन किया केशाँ किया कछु
नाहि ।—कबीर । (२) किले में रहनेवाला । संरक्षित और
प्रबल । उ०—कबिरा मन मेवासी भया बस करि सकै न
कोय । सनकादिक रिषि सारखे तिनके गया बिगोय ।—
कबीर ।

मेघ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेड़ । (२) बारह राशियों में से एक
जिसके अंतर्गत अश्विनी, भरणी और कृत्तिका नक्षत्र का
प्रथम पाद पड़ता है । इस राशि पर सूर्य वैशाख में
रहते हैं । राशियों की गणना में इसका नाम सत्र से
पहले पड़ता है । इसकी आकृति मेघ के समान मानी गई
है । यह राशि सूर्य का उच्च स्थान है । इसमें जब तक सूर्य

रहते हैं, तब तक बहुत प्रबल रहते हैं। उच्चांश काल वैशाख में प्रथम दस दिन तक रहता है। इसके उपरांत सूर्य उच्चांश-च्युत होने लगते हैं। (३) एक लग्न जो सूर्य के मेष राशि में रहने पर माना जाता है। जैसे,—यदि किसी का जन्म सूर्य के मेष राशि में रहने पर होगा, तो कहा जायगा कि उसका जन्म मेष लग्न में हुआ।

॥ मुहा०—मेष करना = मीन मेष करना। आगा पीछा करना। संकल्प विकल्प करना। उ०—कियो अक्रूर भोजन दुहुन संग है, नर नारी ब्रज लोग सब देखै। मनो आए संग, देखि ऐसे रंग, मनहि मन परस्पर करत मैषै।—सूर।

(४) एक ओषधि। (५) जीवशाक। सुसना।

मेषकुसुम-संज्ञा पुं० [सं०] चक्रवर्द्ध नाम का पौधा। चक्रमर्द।

मेषपाल-संज्ञा पुं० [सं०] गड़रिया।

मेषपुष्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेदासिगी।

मेषलोचन-संज्ञा पुं० [सं०] चक्रमर्द। चक्रवर्द्ध।

मेषचक्षी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेदासिगी।

मेषविषाणिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेदासिगी।

मेषवृषण-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र का एक नाम। उ०—मेष वृषण अस नाम शक्र को है सब संसारा। अवृषण मेष देव पितरन को है तोहि अपारा।—रघुराज।

मेषशृंग-संज्ञा पुं० [सं०] सिंगिया नामक स्थावर विष।

मेषशृंगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेदासिगी।

मेष संक्रांति-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेष राशि पर सूर्य के आने का योग वा काल।

विशेष—इसी दिन से सौर मास के वैशाख का आरंभ होता है। इस दिन हिंदू लोग सत्तू दान करते हैं, इससे इसे 'सत्तू' संक्रांति' भी कहते हैं।

मेषांड-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

मेवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गुजराती इलायची। (२) चमड़े का एक भेद जो लाल भेड़ की खाल से बनता है।

मेषालु-संज्ञा पुं० [सं०] बर्बरी। बन तुलसी। बबुई।

मेपी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भेड़। स्त्री मेष। (२) तिनिश वृक्ष। (३) जटामासी।

मेसूरण-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में दशम लग्न जो कर्म-स्थान कहा जाता है।

मेहँदी-संज्ञा स्त्री० [सं० मेन्ही] पत्ती झाड़ू नेवाली एक झाड़ी जो बलोचिस्तान के जंगलों में आप से आप होती है और सारे हिंदुस्तान में लगाई जाती है। इसमें मंजरी के रूप में सफ़ेद फूल लगते हैं जिनमें भीनी भीनी सुगंध होती है। फल गोल मिर्च की तरह के होते हैं और गुच्छों में लगते हैं। इसकी पत्ती को पीसकर, चवाने से लाल रंग आता है, इसी से स्त्रियाँ इसे हाथ-पैर में लगाती हैं। बगीचे

आदि के किनारे भी लोग शोभा के लिये एक पंक्ति में इसकी टट्टी लगाते हैं।

पर्या०—नखरंज। कोकवृंता। रागगर्भा।

मुहा०—क्या पैर में मेहँदी लगी है ? = क्या पैर काम में नहीं ला सकते जो उठकर नहीं आते ? मेहँदी रचना = मेहँदी का अच्छा रंग आना। जैसे,—उसके पैर में मेहँदी खूब रचती है। मेहँदी बाँधना = मेहँदी की पत्तियाँ पीसकर लगाना। मेहँदी रचाना = मेहँदी लगाना। मेहँदी लगाना = मेहँदी की पत्तियाँ पीसकर हथेली या तलुप में लगाना।

मेह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रस्त्राव। मूत्र। (२) प्रमेह रोग। (३) मेष। मेढ़ा।

संज्ञा पुं० [सं० मेघ, प्रा० मेह] (१) मेघ। बादल। (२) वर्षा। झड़ी। मेह।

क्रि० प्र०—आना।—पड़ना।—बरसना।

मेहतर-संज्ञा पुं० [फा०] (१) बुजुर्ग। सबसे बड़ा। जैसे—सरदार, शहजादा, मालिक, हाकिम, अमीर आदि। (२) [स्त्री० मेहतरानी] नीच मुसलमान जाति जो झाड़ू देने, गंदगी उठाने आदि का काम करती है। मुसलमान भंगी। हलालखोर।

मेहन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिशन। लिंग। (२) मूत्र। मूत।

मेहनत-संज्ञा स्त्री० [अ०] मिहनत। श्रम। प्रयास।

क्रि० प्र०—करना।—पड़ना।—लेना।—होना।

मेहनताना-संज्ञा पुं० [अ० + फा०] किसी काम की मजदूरी। परिश्रम का मूल्य। जैसे,—वकील का मेहनताना।

मेहनती-वि० [अ० मेहनत] मेहनत करनेवाला। परिश्रमी।

मेहना-संज्ञा स्त्री० [सं०] महिला। स्त्री।

मेहमान-संज्ञा पुं० [फा०] अतिथ्य। पाहुना।

मेहमानदारी-संज्ञा स्त्री० [फा०] अतिथ्य। अतिथि सत्कार। पहुनाई।

मेहमानी-संज्ञा स्त्री० [फा० मेहमान + ई (प्रत्य०)] (१) अतिथ्य। अतिथि सत्कार। पहुनाई।

मुहा०—मेहमानी करना = खूब गत बनाना। मारना पीटना। दंड देना। (व्यंग्य) उ०—नंदमहरि की कानि करति हैं ना तरु करति मेहमानी।—सूर।

† (२) मेहमान बनकर रहने का भाव। जैसे,—वह मेहमानी करने गए हैं।

मेहर-संज्ञा स्त्री० [फा०] मेहरबानी। कृपा। अनुग्रह। दया।

मेहरबान-वि० [सं०] कृपालु। दयालु। अनुग्रह करनेवाला।

विशेष—बड़ों के संबोधन के लिये अथवा किसी के प्रति आदर दिखलाने के लिये भी इस शब्द का प्रयोग होता है।

मेहरबानगी-संज्ञा स्त्री० दे० “मेहरबानी”।

मेहरबानी-संज्ञा स्त्री० [फा०] दया। कृपा। अनुग्रह।

क्रि० प्र०—करना।—दिखलाना।—होना।

मेहरा-संज्ञा पुं० [हि० मेहरी] (१) स्त्रियों की सी चेष्टावाला। स्त्री-प्रकृतिवाला। जनखा। (२) स्त्रियों में बहुत रहनेवाला। (३) जुलाहों की चरखी का घेरा।

संज्ञा पुं० [मेहरचंद (मूल पुरुष)] खत्रियों की एक जाति।

मेहराब-संज्ञा स्त्री० [अ०] द्वार के ऊपर का अर्द्धमंडलाकार बनाया हुआ भाग। दरवाजे के ऊपर का गोल किया हुआ हिस्सा।

विशेष—मेहराब बनाने की रीति प्राचीन हिन्दू शिल्प में प्रचलित न थी। विदेशियों, विशेषतः मुसलमानों के द्वारा ही, इस देश में इसका प्रचार हुआ है।

मेहराबदार-वि० [अ० + फा०] ऊपर की ओर गोल कटा हुआ। (दरवाजा)

मेहरारू †-संज्ञा स्त्री० [सं० मेहना] स्त्री। औरत।

मेहरिया †-संज्ञा स्त्री० दे० “मेहरी”।

मेहरी-संज्ञा स्त्री० [सं० मेहना] (१) स्त्री। औरत। (२) पत्नी। जोरू। उ०—मेहरिन्ह सेंदुर मेला, चंदन खेवरा देह।—जायसी।

मै-सर्व० [सं० अहं] सर्वनाम उत्तम पुरुष में कर्त्ता का रूप। स्वयं। खुद।

* अव्य० दे० “मैं”।

मैंदल †-संज्ञा पुं० [हि० मैनफल] मैनफल। मदनफल।

मै०-अव्य० दे० “मय”। उ०—अम सीकर साँवरी देह लस मनो रासि महातम तारक मै।—तुलसी।

मका-संज्ञा पुं० दे० “मायका”। उ०—(क) नेवते गइलि ननै-दिया मैके सासु। दुलहिनि तोरि खबरिया आवै आँसु।—रहीम। (ख) तेरे मैके ते हम आये। तुव ढिग जननी जनक पठाये।—रघुराज।

मैगल-संज्ञा पुं० [सं० मदकल] मत्त हाथी। मस्त हाथी। उ०—(क) माधव जू मन सब ही बिधि पोच। अति उनमत्त निरंकुश मैकल चिंता रहित असोच।—सूर। (ख) ऐंडति अडति पैंड मध्य मत्त मैगल सी, खाय करि द्वै बल सी लचति लचाक लंक।—भुवनेश। (ग) भक्ति द्वार है साँकरा राई दसवें भाय। मन तो मैगल हूँ रखौ कैसे होय समाय।—कबीर।

वि० मत्त। मस्त। (हाथी के लिये)

मैच-संज्ञा पुं० [अ०] किसी प्रकार के गेंद के खेल की अथवा इसी प्रकार के और किसी खेल की बाजी।

मैजल*†-संज्ञा स्त्री० [अ० मंजिल] (१) उतनी दूरी जितनी कोई पुरुष एक दिन भर चलकर तै करे। मंजिल। (२) सफर। यात्रा। उ०—ग्रीष्म ऋतु पुनि मैजल भारी। पद झलकत झलका जनु बारी।—विश्राम।

मैत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अनुराधा नक्षत्र। (२) सूर्य-लोक।

(३) मलद्वार। गुदा। (४) ब्राह्मण। (५) सूर्योदय के समय के उपरांत उससे तीसरा मुहूर्त्त। (६) प्राचीन काल की एक वर्णसंकर जाति। (७) मित्र का भाव। मित्रता। दोस्ती। (८) वेद की एक शाखा।

वि० मित्र-संबंधी। मित्र का।

मैत्रक-संज्ञा पुं० [सं०] मित्रता। दोस्ती।

मैत्रभ-संज्ञा पुं० [सं०] अनुराधा नक्षत्र।

मैत्राक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का प्रेत।

मैत्राक्षज्योतिक-संज्ञा पुं० [सं०] मनु के अनुसार एक योनि जिसमें अपने कर्त्तव्य से अष्ट होनेवाला वैश्य जाता है।

मैत्रायण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गृह्यसूत्र के प्रणेता एक प्राचीन ऋषि। (२) मैत्र नामक वैदिक शाखा।

मैत्रायणि-संज्ञा पुं० [सं०] एक उपनिषद् का नाम।

मैत्रावरुणि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोलह ऋत्विजों में से पाँचवाँ ऋत्विज। (२) मित्र और वरुण के पुत्र, अगस्त्य। (कहते हैं कि उर्वशी को देखकर मित्र और वरुण दोनों देवताओं का वीर्य एक जगह स्खलित हो गया था। उसी वीर्य से अगस्त्य और वशिष्ठ इन दो ऋषियों का जन्म हुआ था।)

मैत्रि-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक आचार्य जिनके नाम पर मैत्र्युपनिषद् की रचना हुई है।

मैत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] दो व्यक्तियों के बीच का मित्र भाव। मित्रता। दोस्ती।

मैत्रीवल-संज्ञा पुं० [सं०] बुद्ध का एक नाम। (मैत्री, मुदिता आदि योग के चार साधन कर्म हैं, जो बुद्ध को प्राप्त हो गए थे; इसी लिये उनका यह नाम पड़ा।)

मैत्रेय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक बुद्ध का नाम जो अभी होने-वाले हैं। (२) भागवत के अनुसार एक ऋषि का नाम जो पराशर के शिष्य थे और जिनसे विष्णु पुराण कहा गया था। (३) सूर्य। (४) प्राचीन काल की एक वर्णसंकर जाति जो वैदेह पिता और अयोगव माता से उत्पन्न कही गई है। इसका काम दिन रात की घड़ियों को पुकारकर बताना था।

मैत्रेयी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) याज्ञवल्क्य की स्त्री का नाम जो ब्रह्मवादिनी और बड़ी पंडिता थी। (२) अहल्या का एक नाम।

मैत्र्य-संज्ञा पुं० [सं०] मित्रता। दोस्ती।

मैथिल-वि० [सं०] (१) मिथिला देश का। (२) मिथिला संबंधी।

संज्ञा पुं० (१) मिथिला देश का निवासी। (२) राजा जनक का एक नाम।

मैथिली-संज्ञा स्त्री० [सं०] मिथिला देश के राजा की कन्या, जानकी। सीता।

मैथुन-पुं० संज्ञा [सं०] स्त्री के साथ पुरुष का समागम । संभोग । रति-क्रीड़ा ।

मैथुन्य-संज्ञा पुं० [सं०] गांधर्व विवाह ।

मैदा-संज्ञा पुं० [फा०] बहुत महीन आटा । उ०—नेह मौन छवि मधुरता मैदा रूप मिलाय । बेंचत हलुवाई मदन हलुआ सरस बनाय ।—रसनिधि ।

मैदान-संज्ञा पुं० [फा०] (१) धरती का वह लंबा-चौड़ा विभाग जो समथल हो और जिसमें पहाड़ी या घाटी आदि न हो । दूर तक फैली हुई सपाट भूमि । उ०—जब काढ़ी कोशल नगर तें मैदान माहि बरात । तब भयो देवन भोर मानहु सिंधु द्वितिय दिखात ।—रघुराज ।

मुहा०—मैदान छोड़ना या करना = किसी काम के लिये बीच में कुछ जगह खाली छोड़ना । मैदान जाना = शौचादि के लिये जाना । (विशेषतः बस्ती के बाहर)

(२) वह लंबी चौड़ी भूमि जिसमें कोई खेल खेला जाय अथवा इसी प्रकार का और कोई प्रतियोगिता या प्रतिद्वंद्विता का काम हो । उ०—(क) चहुँ दिसि आव अलोपत भानू । अब यह गोय यही मैदानू ।—जायसी । (ख) श्रीमनमोहन खेलत चौगान । द्वारावती कोट कंचन में रच्यौ रुचिर मैदान ।—सूर ।

मुहा०—मैदान में आना = मुकाबले पर आना । प्रतियोगिता या प्रतिद्वंद्विता के लिये सामने आना । मैदान साफ होना = मार्ग में कोई बाधा आदि न होना । मैदान मारना = प्रतियोगिता में जीतना । खेल, वाजी आदि में जीतना ।

(३) वह स्थान जहाँ लड़ाई हो । युद्ध-क्षेत्र । रण-क्षेत्र ।

मुहा०—मैदान करना = लड़ना । युद्ध करना । उ०—जेहि पर चढ़ि करि मैं मैदाना । जीतहुँ सकल वीर बलवाना ।—विश्राम । मैदान छोड़ना = लड़ाई के स्थान से हट जाना । मैदान मारना = विजय प्राप्त करना । मैदान हाथ रहना = लड़ाई में विजयी होना । जीतना । मैदान होना = युद्ध होना ।

(४) किसी पदार्थ का विस्तार । (५) रत्न आदि का विस्तार । जवाहिर की लंबाई चौड़ाई । (जौहरी)

मैदा लकड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० मेदा + हि० लकड़ी] एक प्रकार की जड़ी जो औषध के काम में आती है । यह सफेद रंग की और बहुत मुलायम होती है । वैद्यक में इसे मधुर, शीतल, भारी, धातुवर्धक, और पित्त, दाह, ज्वर तथा खाँसी आदि को दूर करनेवाली माना है ।

मैन-संज्ञा पुं० [सं० मदन] (१) कामदेव । मदन । (२) मोम । उ०—(क) मैन के दसन कुलिस के मोदक कहत सुनत बौराई ।—तुलसी । (ख) जा सँग जागे हौ निसा जासों लागे नैन । जा पग गहि मति मैन मै मैन-बिबस सो मैं न ।—रामसहाय । (ग) मैन बलित नव बसन सुदेश ।

भिदत नहीं जल ज्यों उपदेश ।—केशव । (घ) श्याम रँग रँग रँगिले नैन । धोये छुटत नहीं यह वैसेहु मिलै पिबिल है मैन ।—सूर । (३) राल में मिलाया हुआ मोम जिससे पीतल वा ताँबे की मूर्ति बनानेवाले पहले उसका नमूना बनाते हैं और तब उस नमूने पर से उसका साँचा तैयार करते हैं ।

मैनफर †-संज्ञा पुं० दे० “मैनफल” ।

मैनफल-संज्ञा पुं० [सं० मदनफल] (१) मन्त्रोले आकार का एक प्रकार का झाड़दार और कँटीला वृक्ष जिसकी छाल खाकी रँग की, लकड़ी सफेद अथवा हलके भूरे रँग की, पत्ते एक से दो इंच तक लंबे और अंडाकार तथा देखने में चिड़चिड़े के पत्तों के समान, फूल पीलापन लिए सफेद रँग के, पाँच पंखड़ियाँवाले और दो या तीन एक साथ होते हैं । इसमें अखरोट की तरह के एक प्रकार के फल लगते हैं जो पकने पर कुछ पीलापन लिए सफेद रँग के होते हैं । इसकी छाल और फल का व्यवहार औषधि के रूप में होता है । (२) इस वृक्ष का फल जिसमें दो दल होते हैं और जिसके बीज विहीनाने के समान चिपटे होते हैं । इसका गूदा पीलापन लिए लाल रँग का और स्वाद कड़ुआ होता है । इस फल को प्रायः मछुए लोग पीसकर पानी में डाल देते हैं, जिससे सब मछलियाँ एकत्र होकर एक ही जगह पर आ जाती हैं और तब वे उन्हें सहज में पकड़ लेते हैं । यदि ये फल वर्षा ऋतु में अन्न की राशि में रख दिए जायँ, तो उसमें कीड़े नहीं लगते । वमन कराने के लिये मैनफल बहुत अच्छा अमक्ता जाता है । वैद्यक में इसे मधुर, कड़ुआ, हलका, गरम, वमनकारक, रुखा, भेदक, चरपरा, तथा विद्रधि, जुकाम, घाव, कफ, आनाह, सूजन, त्वचा रोग, विषविकार, बवासीर और ज्वर का नाशक माना है ।

मैनर †-संज्ञा पुं० दे० “मैनफल” ।

मैनशिल-संज्ञा पुं० दे० “मैनसिल”

मैनसिल-संज्ञा पुं० [सं० मनःशिला] एक प्रकार की धातु जो मिट्टी की तरह पीली होती है और जो नैपाल के पहाड़ों में बहुतायत से होती है । वैद्यक में इसे शोधकर अनेक प्रकार के रोगों पर काम में लाते हैं और इसे गुरु, वर्णकर, सारक, उष्णवीर्य, कटु, तिक्त, स्निग्ध और विष, श्वास, कुष्ठ, ज्वर, पांडु, कफ तथा रक्त दोष-नाशक मानते हैं ।

पर्याय—मनोज्ञ । नागजिह्वा । नैपाली । शिला । कल्याणिका । रोगशिला । गोला । दिव्यौषधि । कुनटी । मनोगुप्ता ।

मैना-संज्ञा स्त्री० [सं० मदना, मदनशलाका] काले रँग का एक प्रसिद्ध पक्षी जिसकी चोंच पीली या नारंगी रँग की होती है और जो सिखाने से मनुष्य की सी बोली बोलने लगता

है। यह इसी बोली के लिये प्रसिद्ध है। सारिका। सारो।
संज्ञा स्त्री० [सं० मेनका] पार्वतीजी की माता, मेनका।
संज्ञा पुं० [देश०] एक जाति जो राजपूताने में पाई जाती
है और “मीना” कहलाती है। उ०—(क) कुच उत्तंग
गिरिवर गह्यौ मैना मैन मवास।—विहारी। (ख) सुकवि
गुलाब कहै अधिक उपाधिकारी मैना मारि मारि करे अखिल
अभूत काज।—गुलाब।

मैनाक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक पर्वत का नाम
जो हिमालय का पुत्र माना जाता है। कहते हैं कि इंद्र से
डरकर यह पर्वत समुद्र में जा छिपा था; इस कारण यह
अब तक सपक्ष है। लंका जाते समय समुद्र की आज्ञा से
इसने हनुमान जी को आश्रय देना चाहा था। उ०—सिंधु
वचन सुनि कान तुरत उठ्यौ मैनाक तब।—तुलसी।

पर्या०—हिरण्यनाभ। सुनाभ। हिमवत् सुत।

(२) हिमालय की एक ऊँची चोटी का नाम।

मैनावली—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्णवृत्त जिसका प्रत्येक चरण
चार तगण का होता है।

मैमंत—वि० [सं० मदमत्त] (१) मदोन्मत्त। मतवाला।
उ०—कुंभ लसत होउ गज मैमंता। (२) अहंकारी।
अभिमानि। उ०—(क) बारि बैस गई प्रीति न जानी।
तरुन भई मैमंत भुलानी।—जायसी। (ख) अरी गवारि
मैमंत वचन बोलत जो अनेरो।—सूर।

मैया—संज्ञा स्त्री० [सं० मातृका, प्रा० मातृआ, माइआ] माता। माँ।
उ०—कहन लागे मोहन मैया मैया।—सूर।

मैयार—संज्ञा पुं० [हि० मटियार] एक प्रकार की मटियार जमीन
जो बहुत खराब होती है।

मैरा—संज्ञा पुं० [देश०] सोनारों की एक जाति।

संज्ञा स्त्री० [सं० भृदर प्रा० मिथर = चणिक] साँप के विष
की लहर। उ०—(क) तोहि बजे विष जाइ चढ़ि आइ
जात मन मैर। बंसी तेरे घैर को घर घर सुनियत घैर।
—रसनिधि। (ख) खेलि कै फागु भली विधि सों तन सों
दग देखिये मैर मड़ो सो।

मैरा—संज्ञा पुं० [सं० मयर, प्रा० मयइ] खेतों में वह छाया हुआ
मचान जिस पर बैठकर किसान लोग अपने खेतों की रक्षा
करते हैं।

मैरेय—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मदिरा। शराब। (२) गुड़ और
धौ के फूल की बनी हुई एक प्रकार की प्राचीन काल की
मदिरा। (३) एक में मिला हुआ आसव और मद्य जिसमें
ऊपर से शहद भी मिला दिया गया हो।

मैलंद—संज्ञा पुं० [प्रा०] अमर। भौरा।

मैला—वि० [सं० मलिन, प्रा० मल्ल] मलिन। मैला। वि० दे०
“मैला”।

संज्ञा पुं० (१) गर्द, धूल, किट्ट आदि जिसके पड़ने या जमने
से किसी वस्तु की शोभा वा चमक दमक नष्ट हो जाती
है। मलिन करनेवाली वस्तु। मल। गंदगी। जैसे,—(क)
घड़ी के पुरजों में बहुत मैल जम गई है। (ख) आँख या
कान आदि में मैल न जमने देनी चाहिए।

यौ०—मैलखोरा

मुहा०—हाथ की मैल = तुच्छ वस्तु, जिसे जब चाहें तब प्राप्त कर
लें। जैसे, रुपया पैसा हाथ की मैल है।

(२) दोष। विकार। जैसे,—मन-मैल मिटे, तन-तेज बदे,
करे भंग अंग को मोटा। (गीत)

मुहा०—मन में मैल रखना = मन में किसी प्रकार का दुर्भाव या
वैमनस्य आदि रखना।

संज्ञा पुं० [देश०] फीलवानों का एक संकेत जिसका
व्यवहार हाथी को चलाने में होता है।

मैलखोरा—वि० [हि० मैल + फा० खोर = खानेवाला] (रंग
आदि) जिस पर जमी हुई मैल जल्दी दिखाई न दे।
मैल को छिपा लेनेवाला (रंग)। जैसे,—काला या खाकी
रंग मैलखोरा होता है।

संज्ञा पुं० (१) वह वस्त्र जो शरीर की मैल से शेष कपड़ों
की रक्षा करने के लिये अंदर पहना जाय। जैसे,—गंजी,
कमीज आदि। (२) काठी या जीन के नीचे रखा जानेवाला
नमदा। (३) साबुन।

मैला—वि० [सं० मलिन, प्रा० मल्ल] (१) जिस तर मैल जमी
हो। जिस पर गर्द, धूल या कीट आदि हो। जिसकी
चमक दमक मारी गई हो। मलिन। अस्वच्छ। साफ
का उलटा।

यौ०—मैला कुचैला।

(२) विकार-युक्त। सद्दोष। दूषित। (३) गंदा। दुर्गंधयुक्त।

संज्ञा पुं० (१) गलीज। गू। विद्या। (२) कूड़ा कर्कट।
(३) दे० “मैल”।

मैलाकुचैला—वि० [हि० मैला + सं० कुचैल = गंदा वस्त्र] (१)
जो बहुत मैले कपड़े आदि पहने हुए हो। (२) बहुत
मैला। गंदा।

मैलापन—संज्ञा पुं० [हि० मैला + पन (प्रत्य०)] मैला होने का
भाव। मलिनता। गंदापन।

मैहर—संज्ञा पुं० [हि० मही = मट्टा] वह तलछट जो घी वा
मक्खन को गरम करने पर नीचे बैठ जाती है। घी वा
मक्खन तपाने से निकला हुआ मट्टा।

संज्ञा पुं० दे० “नैहर”।

मौ—अव्य० दे० “मैं”। उ०—तनपोषक नारि नरा सिंगरे। पर
निंदक ते जग में बगरे।—तुलसी।

सर्व० खड़ी बोली के ‘मुझ’ के समान व्रज और अवधी में

‘मैं’ का वह रूप जो उसे कर्त्ता-कारक के अतिरिक्त और किसी कारक-चिह्न लगाने के पहले प्राप्त होता है। जैसे,—मोंको, मोंपै इत्यादि।

मोंगरा-संज्ञा पुं० [सं० मुद्गर] [स्त्री० मोंगरी] काठ का बना हुआ एक प्रकार का हथौड़ा जिससे मेख इत्यादि ठोंकी जाती है।

संज्ञा पुं० (१) दे० “मोंगरा”। (२) दे० “मुँगरा”।

मोंगला-संज्ञा पुं० [देश०] मध्यम श्रेणी का और साधारणतः बाजार में मिलनेवाला केसर। वि० दे० “केसर”।

मोंछ-संज्ञा स्त्री० दे० “मूँछ”। उ०—इसके सहारे स्वदेश तक श्रीमान् मोंछों पर ताव देते चले जा सकते हैं।—बाल-मुकुन्द गुप्त।

मोंढा-संज्ञा पुं० [सं० मूढा, प्रा० मूढा = आधार] (१) बाँस, सरकंडे या बेंत का बना हुआ एक प्रकार का ऊँचा गोलाकार आसन जो प्रायः तिरपाई से मिलता जुलता होता है। (२) बाहु के जोड़ के पास कंधे का घेरा। कंधा।

यौ०—सीना मोंढा = छाती और कंधा।

मोक्ष-सर्व० [सं० मम] (१) मेरा। उ०—मो संपत्ति जटुपति सदा विपति बिदारनहार।—विहारी। (२) अवधी और ब्रज भाषा में “मैं” का वह रूप जो उसे कर्त्ताकारक के अतिरिक्त और किसी कारक-चिह्न लगाने के पहले प्राप्त होता है। जैसे,—मोंकों, मोंसों, इत्यादि।

मोंई-संज्ञा स्त्री० [हिं० मोना] धी में साना हुआ आटा जो छींट की छपाई के लिये काला रंग बनाने में कसीस और धौ के फूलों के काढ़े में डाला जाता है।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की जड़ी जो मारवाड़ देश में होती है। कहीं कहीं इसे ग्वालिया भी कहते हैं।

मोकदमा—संज्ञा पुं० दे० “मुकदमा”।

मोकना—क्रि० सं० [सं० मुक्त, हिं० मुकना] (१) छोड़ना। परित्याग करना। उ०—कंपित स्वास त्रास अति मोकति ज्यों मृग केहरि कोर।—सूर। (२) क्षिप्त करना। फेंकना। उ०—ठाक्यो तहाँ एक बालै बिलोक्यो। रोक्थो नहीं जोर नाराच मोक्थो।—केशव।

मोकल—वि० [सं० मुक्त, हिं० मुकना] छूटा हुआ। जो बँधा न हो। आज़ाद। स्वच्छंद। उ०—(क) जीवन जरब महा रूप के गरब गति मदन के मद मद मोकल मतंग की।—मति-राम। (ख) गोकुल में मोकल फिर गली गली गज प्रेम। ऊधो ह्याँ ते जाउ लै तुम अपनो सब नेम।—रसनिधि।

मोकला—वि० [हिं० मोकल] (१) अधिक चौड़ा। कुसादा। (२) खुला हुआ। छुटा हुआ। स्वच्छंद। उ०—कबिरा सोई सूरमा जिन पाँचो राखे चूर। जिनके पाँचो मोकले तिनयूँ सहेब दूर।—कबीर।

† संज्ञा पुं० अधिकता। बहुतायत। ज्यादाती। जैसे,—वहाँ तो पशुओं के लिये चारे पानी का बड़ा मोकला है।

मोका-संज्ञा पुं० [देश०] मद्रास, मध्य भारत और कुमायूँ के जंगलों में होनेवाला एक प्रकार का वृक्ष जिसके पत्ते प्रति वर्ष झड़ जाते हैं। इसकी लकड़ी कड़ी और सफेदी लिए भूरे रंग की होती है और आरायशी सामान बनाने के काम आती है। खरादने पर इसकी लकड़ी बहुत चिकनी निकलती है और इसके ऊपर रंग और रोगन अधिक खिलता है। इसकी लकड़ी न तो फटती है और न टेढ़ी होती है। यह वृक्ष वर्षा ऋतु में बीजों से उगता है। इसे गेठा भी कहते हैं।

† संज्ञा पुं० (१) दे० “मोखा”। (२) दे० “मौका”।

मोक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी प्रकार के बंधन से छूट जाना। मोचन। छुटकारा। (२) शास्त्रों और पुराणों के अनुसार जीव का जन्म और मरण के बंधन से छूट जाना। आवा-गमन से रहित हो जाना। मुक्ति। नजात।

विशेष—हमारे यहाँ दर्शनों में कहा गया है कि जीव अज्ञान के कारण ही बार बार जन्म लेता और मरता है। इस जन्म-मरण के बंधन से छूट जाने का ही नाम मोक्ष है। जब मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है, तब फिर उसे इस संसार में आकर जन्म लेने की आवश्यकता नहीं होती। शास्त्रकारों ने जीवन के चार उद्देश्य बतलाए हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें से मोक्ष परम अभीष्ट अथवा परम पुरुषार्थ कहा गया है। मोक्ष की प्राप्ति का उपाय आत्मतत्त्व या ब्रह्मत्व का साक्षात् करना बतलाया गया है। न्याय-दर्शन के अनुसार दुःख का आत्यंतिक नाश ही मुक्ति या मोक्ष है। सांख्य के मत से तीनों प्रकार के तापों का समूल नाश ही मुक्ति या मोक्ष है। वेदांत में पूर्ण आत्मज्ञान द्वारा माया संबंध से रहित होकर अपने शुद्ध ब्रह्म स्वरूप का बोध प्राप्त करना मोक्ष है। तात्पर्य यह कि सब प्रकार के सुख-दुःख और मोह आदि छूट जाना ही मोक्ष है। मोक्ष की कल्पना स्वर्ग-नरक आदि की कल्पना से पीछे की और उसकी अपेक्षा विशेष संस्कृत तथा परिमार्जित है। स्वर्ग की कल्पना में यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने किए हुए पुण्य या शुभ कर्म का फल भोगने के उपरांत फिर इस संसार में आकर जन्म ले, इससे उसे फिर अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ेंगे। पर मोक्ष की कल्पना में यह बात नहीं है। मोक्ष मिल जाने पर जीव सदा के लिये सब प्रकार के बंधनों और कष्टों आदि से छूट जाता है।

(३) मृत्यु। मौत। (४) पतन। गिरना। (५) पाँडर का वृक्ष।

मोक्षक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोखा नामक वृक्ष । (२) मोक्ष करने या देनेवाला । वह जो मोक्ष करता हो ।

मोक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० मोक्षणीय, मोक्षित, मोक्ष्य] मोक्ष देने की क्रिया ।

मोक्षद-संज्ञा पुं० [सं०] मोक्ष देनेवाला । मोक्षदाता ।

मोक्षदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अगहन सुदी एकादशी तिथि ।

मोक्षद्वार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य । (२) काशी तीर्थ ।

मोक्षपति-संज्ञा पुं० [सं०] ताल के मुख्य साठ भेदों में से एक भेद । इसमें १६ गुरु, ३२ लघु और ६४ द्रुत मात्राएँ होती हैं ।

मोक्षविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेदांत शास्त्र ।

मोक्षशिला-संज्ञा स्त्री० [सं०] जैन मतानुसार वह लोक जहाँ जैन धर्मावलंबी साधु पुरुष मोक्ष का सुख भोगते हैं । स्वर्ग ।

मोक्षा-संज्ञा स्त्री० दे० “मोक्षदा” ।

मोक्ष्य-वि० [सं०] जो मोक्ष के योग्य हो । मोक्ष का अधिकारी ।

मोख छ†-संज्ञा पुं० दे० “मोक्ष” । उ०—(क) मोह दीजे मोख ज्यों अनेक अवमन दियो ।—बिहारी । (ख) रानी धर्म सार पुनि साजा । बंदि मोख जेहि पावहि राजा । जायसी ।

मोखा-संज्ञा पुं० [सं० मुख] दीवार आदि में बना हुआ छेद जिसके द्वारा धूँआँ निकलता है और प्रकाश तथा वायु आती है । छोटी खिड़की । झरोखा । उ०—(क) मोखा और झरोखा लखि लखि ढग दोड बरसत ।—व्यास । (ख) जाली, झरोखों, मोखों से धूप की सुगंध आय रही है ।—लल्लुलाल ।

मोगरा-संज्ञा पुं० [सं० मुहगर] (१) एक प्रकार का बहुत बढ़िया और बढ़ा बेला (पुष्प) । उ०—मंजुल मौलसिरी मोगरा मधुमालती के गजरा गुहि राखें । (२) दे० “मोंगरा” ।

मोगल-संज्ञा पुं० दे० “मुगल” ।

मोगली-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक जंगली वृक्ष जो गुजरात में अधिकता से पाया जाता है । इससे एक प्रकार का कथा बनाया जाता है और इसकी छाल चमड़ा सिझाने के काम में आती है ।

मोघ-वि० [सं०] निष्फल । व्यर्थ । चूकनेवाला । उ०—पै यह वैष्णव धनु को सायक । कबहुँ न मोघ होन के लायक ।—रघुराज ।

मोघिया-संज्ञा स्त्री० [देश०] वह मोटी मज़बूत और अधिक चौड़ी नरिया जो खपरैली छाजन में बँड़ेरे पर मँगरा बाँधने में काम आती है ।

मोघ्य-संज्ञा पुं० [सं०] विफलता । अकृतकार्यता । नाकामयाबी ।

मोच्च-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेमल का पेड़ । (२) केला । (३) पाँड़र का पेड़ ।

संज्ञा स्त्री० [सं० मुच्] शरीर के किसी अंग के जोड़ की नस का अपने स्थान से इधर उधर खिसक जाना । चोट या

आघात आदि के कारण जोड़ पर की नस का अपने स्थान से हट जाना । (इसमें वह स्थान सूज आता है और उसमें बहुत पीड़ा होती है ।) जैसे,—उनके पाँव में मोच आ गई है ।

मोच्चक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छुड़ानेवाला । (२) सेमल का पेड़ । (३) केला । (४) विषय-वासना से मुक्त, संन्यासी ।

मोचन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बंधन आदि से छुड़ाना । छुटकारा देना । मुक्त करना । रिहा करना । (२) बंधन आदि खोलना । छुड़ाना । (३) दूर करना । हटाना । जैसे,—संकट-मोचन, पाप-मोचन । (४) रहित करना । ले लेना । जैसे,—वस्त्र-मोचन ।

मोचना-क्रि० सं० [सं० मोचन] (१) छोड़ना । (२) गिराना । बहाना । उ०—(क) सौँच मति करै मति मोच आँसू बिभीषण, कहै रघुनाथ मतिमेष भेषि रंका को ।—रघुनाथ । (ख) सरसीरह लोचन मोचन नीर चितै रघुनायक सीय पै है ।—तुलसी । (३) छुड़ाना । मुक्त करना । उ०—अब तिनके बंधन मोचहिने ।—सूर ।

संज्ञा पुं० [सं० मोचन] (१) लोहारों का वह औजार जिससे वे लोहे के छोटे छोटे टुकड़े उठाते हैं । (२) हज्जामों का वह औजार जिससे वे बाल उखाड़ते हैं ।

मोचरस-संज्ञा पुं० [सं०] सेमल वृक्ष का गोंद । सेमर का गोंद ।

मोचा-संज्ञा पुं० [सं० मोचाट] केला ।

मोचाट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) केला । (२) केले की पेड़ी के बीच का कोमल भाग । केले का गाभ ।

मोचिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पोई का पौधा ।

मोची-संज्ञा पुं० [सं० मोचन = (चमड़ा) छुड़ाना] चमड़े का काम बनानेवाला । वह जो जूते आदि बनाने का व्यवसाय करता हो ।

वि० [सं० मोचिन्] [स्त्री० मोचिनी] (१) छुड़ानेवाला । (२) दूर करनेवाला ।

मोच्छु†-संज्ञा पुं० दे० “मोक्ष” ।

मोछ-संज्ञा स्त्री० दे० “मूँछ” ।

‡ संज्ञा पुं० दे० “मोक्ष” ।

मोजरा-संज्ञा पुं० दे० “मुजरा” ।

मोज़ा-संज्ञा पुं० [फा०] (१) पैरों में पहनने का एक प्रकार का बुना हुआ कपड़ा जिससे पैर के तलवे से लेकर पिंडली या घुटने तक ढक जाते हैं । पायतावा । जुराब । (२) पैर में पिंडली के नीचे का वह भाग जो गिट्टे के आसपास और उससे कुछ ऊपर होता है । (३) कुश्ती का एक पेंच । इसमें जब खिलाड़ी अपने विपक्षी की पीठ पर होता है, तब एक हाथ उसके पेट के नीचे से ले जाकर उसकी बगल में जमाता है और दूसरे हाथ से उसका मोज़ा या पिंडली के नीचे का भाग पकड़कर उसे उलट देता है ।

मोट-संज्ञा स्त्री० [हि० मोटरी] गठरी। मोटरी। उ०—(क) जोग मोट सिर बोझ आनि तुम कत धौं घोष उतारी।—सूर। (ख) नट न सीस सावित भई लुटी सुखन की मोट। चुप करिये चारी करति सारी परी सरोट।—बिहारी। (ग) नाम ओट लेत ही निखोट होत खोटे खल, चोट विनु मोट पाय भयो न निहाल को।—तुलसी।

संज्ञा पुं० चमड़े का बड़ा थैला जिसके द्वारा खेत सींचने के लिये कुँए से पानी निकाला जाता है। चरसा। पुर। उ०—संगति छौंड़ि करै असरारा। उवहे मोट नरक की धारा।—कबीर।

ॐ वि० [हि० मोटा] (१) जो बारीक न हो। मोटा। (२) कम मोल का। साधारण। उ०—भूमि सयन पट मोट पुराना। दिये डारि तन भूषन नाना।—तुलसी। वि० दे० “मोटा”।

मोटकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रागिनी का नाम।

मोटन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु। हवा। (२) मलना, रगड़ना या पीसना।

मोटनक-संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्ण वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में एक तगण, दो जगण और अंत में एक एक लघु गुरु कुल मिलाकर ११ अक्षर होते हैं। जैसे,—आये दसरथ बरात सजे। दिग्पाल गयंदन देखि लजे। चाग्यो दल दूलह चार बने। मोहे सुर औरन कौन गने।—केशव।

मोटार-संज्ञा पुं० [अ०] (१) एक विशेष प्रकार की कल या यंत्र जिससे किसी दूसरे यंत्र आदि का संचालन किया जाता है। चलानेवाला यंत्र। (२) एक प्रकार की प्रसिद्ध छोटी गाड़ी जो इस प्रकार के यंत्र की सहायता से चलती है। इस गाड़ी में तेल आदि की सहायता से चलनेवाला एक इंजन लगा रहता है, जिसका संबंध उसके पहियों से होता है। जब यह इंजन चलाया जाता है, तब उसकी सहायता से गाड़ी चलने लगती है। यह गाड़ी प्रायः सवारी और बोझ ढोने अथवा खींचने के काम में आती है।

मोटरी-संज्ञा स्त्री० [तैलंग० मूय = गठरी] गठरी। उ०—(क) आश्रय बरन कलि बिबस बिकल भये, निज निज मरजाद मोटरी सी डार दी।—तुलसी। (ख) अमृत केरी मोटरी सिर से धरी उतारि।—कबीर।

मोटा-वि० [सं० मुट = मोटा ताजा आदमी, या हि० मोट] [स्त्री० मोटी] (१) जिसके शरीर में आवश्यकता से अधिक मांस हो। जिसका शरीर चरबी आदि के कारण बहुत फूल गया हो। दुबला का उलटा। स्थूल शरीर-वाला। जैसे मोटा आदमी, मोटा बंदर।

यौ०—मोटा ताजा या मोटा झोटा = स्थूल शरीरवाला। (२) जिसकी एक ओर की सतह दूसरी ओर की सतह से

अधिक दूरी पर हो। पतला का उलटा। दबीज। दलदार। गाढ़ा। जैसे,—मोटा कागज, मोटा कपड़ा, मोटा तख्ता। (३) जिसका घेरा या मान आदि साधारण से अधिक हो। जैसे,—मोटा डंडा, मोटा छड़, मोटी कलम।

मुहा०—मोटा अस्ामी = जिसके पास अधिक धन हो। अमीर।

मोटा भाग्य = सौभाग्य। खुशकिस्ती। उ०—(क) सहज सँतोषहि पाइए दादू मोटे भाग।—दादू। (ख) सुरदास प्रभु मुदित जसोदा भाग बड़े करमन की मोटी।—सूर। (४) जो खूब चूर्ण न हुआ हो। जिसके कण खूब महीन न हो गए हों। दरदरा। जैसे,—यह आटा मोटा है।

(५) बढ़िया या सूक्ष्म का उलटा। निम्न कोटि का। घटिया। खराब। जैसे, मोटा अनाज, मोटा कपड़ा, मोटी अड़। उ०—भूमि सयन पट मोट पुराना।—तुलसी। (ख) तुम जानति राधा है छोटी। चतुराई अँग अँग भरी है। पूरण ज्ञान न बुद्धि की मोटी।—सूर।

मुहा०—मोटा झोटा = घटिया। खराब। मोटी बात = साधारण बात। मामूली बात। मोटे हिसाब से = अंदाज से। अटकल से। बिल्कुल ठीक ठीक नहीं। मोटे तौर पर = बहुत सूत्रम विचार के अनुसार नहीं। स्थूल रूप से।

(६) जो देखने में भला न जान पड़े। भद्दा। बेडौल। उ०—मनौ बराह भूधर सहपति धरी दसनन की कोटी। शनि शिशुमेलि मुख अंबुज भीतर उपजी उपमा मोटी।—सूर।

मुहा०—मोटी चुनाई = बिना गढ़े हुए बेडौल पत्थरों की जोड़ाई। मोटी भूल = भद्दी या भारी भूल।

(७) साधारण से अधिक। भारी या कठिन। जैसे,—मोटी मार, मोटी हानि, मोटा खर्च। उ०—(क) बंदों खल मल रूप जे काम भक्त अव-खानि। पर दुख सोई सुख जिन्हें पर सुख मोटी हानि।—विश्राम। (ख) दुर्बल को न सताइए जाकी मोटी हाथ। बिना जीव की स्वाँस से लोह भसम हूँ जाय।—कबीर। (ग) नारि नर आरत पुकारत सुनै न कोऊ, काहू देवननि मिलि मोटी मूठ मार दी।—तुलसी।

मुहा०—मोटा दिखाई देना = आँख की ज्योति में कमी होना। कम दिखाई देना। केवल मोटी चीजें दिखाई देना।

(८) वमंडी। अहंकारी। उ०—मोटो दसकंध सो न दूवरो विभीषण सो, वृक्षि परी रावरे की प्रेम पराधीनता।—तुलसी।

संज्ञा पुं० मरवाँ ज़मीन। मार।

†-संज्ञा पुं० [हि० मोट] बोझ। गठड़।

मोटाई-संज्ञा स्त्री० [हि० मोटा + ई (प्रत्य०)] (१) मोटे होने का भाव। स्थूलता। पीवरता। (२) शराब। पाजीपन।

वदमारी। उ०—डगर डगर में चलहु कन्हाई। समुझि न लागै बहुत मोटाई।—रघुनाथदास।

मुहा०—मोटाई उतरना = रोखी किरकिरी होना। दुरस्त होना। पाजीपन छूटना। मोटाई चढ़ना = पाजी, वदमारी या धमंडी होना। मोटाई झड़ना = (१) शरारत दूर होना। वदमारी छूटना। (२) धमंड न रह जाना। पेंठ निकल जाना।

मोटाना-क्रि० अ० [हि० मोटा + आना (प्रत्य०)] (१) मोटा होना। स्थूल काय हो जाना। (२) अहंकारी हो जाना। अभिमानी होना। (३) धनवान् हो जाना।
क्रि० स० दूसरे को मोटा करना। दूसरे को मोटे होने में सहायता देना।

मोटापन-संज्ञा पुं० [हि० मोटा + पन (प्रत्य०)] मोटाई। स्थूलता।
मोटापा-संज्ञा पुं० [हि० मोटा + पा (प्रत्य०)] मोटे होने का भाव। मोटापन। मोटाई।

मोटिया-संज्ञा पुं० [हि० मोटा + इया (प्रत्य०)] मोटा और खुरखुरा देशी कपड़ा। गाढ़ा। गजी। खदड़। सलम। जैसे,—वे मोटिया पहनना ही अधिक पसंद करते हैं।
संज्ञा पुं० [हि० मोट = बोझ] बोझ देनेवाला कुली। मजदूर। उ०—मोटियों को भाड़े के कपड़े पहनाकर तिलंगा बनाते हैं।—शिवप्रसाद।

मोट्टायित-संज्ञा पुं० [सं०] साहित्य में एक हाव जिसमें नायिका अपने आंतरिक प्रेम को कटु भाषण आदि द्वारा छिपाने की चेष्टा करने पर भी छिपा नहीं सकती। (केशवदास ने लिखा है कि स्तंभ, रोमांच आदि सात्विक भावों को बुद्धि बल से रोकने को 'मोट्टायित' हाव कहते हैं।)

मोट-संज्ञा स्त्री० [सं० मकुष्ठ, प्रा० मउट्ट] मूँग की तरह का एक प्रकार का मोटा अन्न, जो बन-मूँग भी कहा जाता है। यह प्रायः सारे भारत में होता है। इसकी बोआई ग्रीष्म ऋतु के अंत या वर्षा के प्रारंभ में और कटाई खरीफ की फसल के साथ जाड़े के आरंभ में होती है। यह बहुत ही साधारण कोटि की भूमि में भी बहुत अच्छी तरह होता है और प्रायः बाजरे के साथ बोया जाता है। अधिक वर्षा से यह खराब हो जाता है। इसकी फलियों में जो दाने निकलते हैं, उनकी दाल बनती है। यह दाल साधारण दालों की भाँति खाई जाती है; और मंदासि अथवा ज्वर में पथ्य की भाँति भी दी जाती है। वैद्यक में इसे गरम, कसैली, मधुर, शीतल, मलरोधक, पथ्य, रुचिकारी, हलकी, बादी, कृमिजनक, तथा रक्तपित्त, कफ, वात, गुदकील, वायुगोले, ज्वर, दाह और क्षय रोग की नाशक माना है। इसकी जड़ मादक और विषैली होती है। मोट। सुगानी। मोथी। बनमूँग।

मोटस-वि० [?] मौन। चुप। उ०—मोटस कै रघुनाथ रहौ बिनु मोटस कीन्हे ते जीवे को भैहै।—रघुनाथ।

मोड़-संज्ञा स्त्री० [हि० मुड़ना] (१) रास्ते आदि में घूम जाने का स्थान। एक ओर फिर जाने का स्थान। वह स्थान जहाँ से किसी ओर को मुड़ा जाय। उ०—आज बड़े लाट अमुक मोड़ पर वेष बदले एक गरीब काले आदमी से बातें कर रहे थे—बालमुकुंद गुप्त। (२) घुमाव या मुड़ने की क्रिया। (३) घुमाव या मुड़ने का भाव। (४) कुछ दूर तक गई हुई वस्तु में वह स्थान जहाँ से वह कोना या घुमाव डालती हुई दूसरी ओर फिरी हो।

मोड़ना-क्रि० स० [हि० मुड़ना का प्रेर०] (१) फेरना। लौटाना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

मुहा०—मुँह मोड़ना = (१) किसी काम के करने में आनाकानी करना। आगा पोछा करना। रुकना। (२) विमुख होना। पराङ्मुख होना। (३) किसी फैलो हुई सतह का कुछ अंश समेट कर एक तह के ऊपर दूसरी तह करना। जैसे,—(क) चादर का कोना मोड़ दो। (ख) कागज़ किनारे पर मोड़ दो। (४) किसी छड़ की सी सीधी वस्तु का कुछ अंश दूसरी ओर फेरना। (५) धार झुथरी करना। कुंठित करना। जैसे,—धार मोड़ना।

मोड़ा-संज्ञा पुं० [सं० मुंड, मि० पं० मुंडा = लड़का] [स्त्री० मोड़ी] लड़का। बालक।

मोड़ी-संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) वसीट वा शीघ्र लिखने की लिपि। (२) दक्षिण भारत की एक लिपि जिसमें प्रायः मराठी भाषा लिखी जाती है।

मोरा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूखा फल। (२) कुंभीर। मगर। (३) मक्खी। (४) बाँस या सींक का बना ढक्कनदार टोकरा। झावा। पिटारा। मोना।

मोटदिल-वि० [अ० मात्तिल] जो न बहुत गरम और न बहुत सर्द हो। शीत और उष्णता आदि के विचार से मध्यम अवस्था का। (इस शब्द का व्यवहार प्रायः ओषधि या जल-वायु आदि के लिये होता है।)

मोटबर-वि० [अ०] (१) विश्वास करने योग्य। जिस पर विश्वास किया जा सके। (२) जिस पर विश्वास किया जाता हो। विश्वासपात्र।

मोतियदाम-संज्ञा पुं० [सं० मौक्तिकदाम, प्रा० मोत्तिग्रदाम] एक वर्ण वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में चार जगण होते हैं। जैसे,—भजौ रघुनाथ धरे धनु हाथ। विराजत कंठ सु मोतियदाम।

मोतिया-संज्ञा पुं० [हि० मोती + इया (प्रत्य०)] (१) एक प्रकार का बेला जिसकी कली मोती के समान गोल होती है। (२)

एक प्रकार का सलमा जिसके दाने गोल होते हैं और जो जरदोजी के काम में किनारे किनारे टाँका जाता है । (३) रुसा नाम की घास, जब तक वह थोड़ी अवस्था की और नीलापन लिए रहती है । (४) एक चिड़िया जिसका रंग मोती का सा होता है ।

वि० (१) हलका गुलाबी, वा पीले और गुलाबी रंग के मेल का (रंग) । (२) छोटे गोल दानों का वा छोटी गोल कड़ियों का । जैसे,—मोतिया सिकड़ी । (३) मोती संबंधी । मोती का ।

मोतियाबिंद-संज्ञा पु० [हि० मोतिया + सं० बिंदु] आँख का एक रोग जिसमें उसके एक परदे में गोल झिल्ली सी पड़ जाती है, जिसके कारण आँख से दिखाई नहीं पड़ता ।

मोती-संज्ञा पु० [सं० मौक्तिक प्रा० मोतित्र] (१) एक प्रसिद्ध बहु-मूल्य रत्न जो छिछले समुद्रों में अथवा रेतीले तटों के पास सीपी में से निकलता है ।

विशेष—समुद्र में अनेक प्रकार के ऐसे छोटे छोटे जीव होते हैं, जो अपने ऊपर एक प्रकार का आवरण बनाकर रहते हैं । इस आवरण को प्रायः सीप और उन जीवों को सीपी कहते हैं । कभी कभी ऐसा होता है कि बालू का कण या कोई बहुत छोटा जीव सीप में प्रवेश कर जाता है, जिसके कारण सीपी के शरीर में एक प्रकार का प्रदाह उत्पन्न होने लगता है । उस प्रदाह को शांत करने के लिये सीपी अनेक प्रयत्न करती है; पर जब उसे सफलता नहीं होती, तब वह अपने शरीर में से एक प्रकार का सफेद, चिकना और लसीला पदार्थ निकालकर बालू के उस कण अथवा जीव को चारों ओर से ढकने लगती है, जो अंत में मोती का रूप धारण कर लेता है । तात्पर्य यह कि मोती की सृष्टि किसी स्वाभाविक प्रक्रिया के अनुसार नहीं होती, बल्कि एक अस्वाभाविक रूप में होती है; और इसी लिये बहुत दिनों तक लोग यह समझते थे कि मोती की उत्पत्ति सीपी में किसी प्रकार का रोग होने से होती है । हमारे यहाँ प्राचीन काल में यह माना जाता था कि स्वाती की वर्षा के समय सीपी मुँह खोलकर समुद्र के ऊपर आ जाया करती है; और जब स्वाती की बूँद उसमें पड़ती है, तब मोती उत्पन्न होता है । साधारण मोती सुडौल और गोल होता है; पर कुछ मोती लंबोतरे, टेढ़े मेढ़े या बेडौल भी होते हैं । मोती का रंग मटमैला, धूमिल, काला या कुछ हरापन अथवा नीलापन लिए हुए होता है; पर साफ करने पर वह खूब सफेद हो जाता है और उसमें एक विशेष प्रकार की “आब” या चमक आ जाती है । मोती जितना बड़ा या सुडौल होता है, उसका मूल्य भी उतना ही अधिक होता है । यों तो मोती संसार के अनेक भागों में पाए जाते हैं, पर लंका, फारस की खाड़ी

तथा आस्ट्रेलिया के पश्चिमी तट के मोती बहुत अच्छे समझे जाते हैं । इसके अतिरिक्त पनामा के पीले मोती तथा कैलिफोर्निया की खाड़ी के काले और भूरे मोती भी बहुत अच्छे होते हैं । मोती प्रायः तैल के हिसाब से बिकते हैं; पर अन्यान्य रत्नों की भाँति मोती की दर भी उसके भार की वृद्धि के अनुसार बहुत बढ़ती जाती है । उदाहरणार्थ, यदि एक चौ के मोती का दाम ५० होगा, तो उसी प्रकार के दो चौ के मोती का दाम २०० और पाँच चौ के मोती का दाम १२५० या इससे भी अधिक हो जायगा ।

भारतवर्ष में मोती का व्यवहार बहुत प्राचीन काल से चला आता है । धनवान् लोग इसकी प्रायः मालाएँ बनवाते हैं, और इन्हें अँगूठियों तथा दूसरे आभूषणों में जड़वाते हैं । इसका व्यवहार वैद्यक में औषध रूप में भी होता है; और प्रायः वैद्य लोग इसका भस्म तैयार करते हैं । वैद्यक में मोती को शीतवीर्य, शुक्रवर्धक, आँखों के लिये हितकारी और शरीर को पुष्ट करनेवाला माना है । हमारे यहाँ के प्राचीन ग्रंथों में यह भी कहा गया है कि सीपी और शंख आदि के अतिरिक्त हाथी, साँप, मछली, मेढक, सूअर, बाँस और बादल तक में मोती होते हैं; और इनको प्राप्त करनेवाला बहुत सौभाग्यशाली कहा गया है । इन सब मोतियों के अलग अलग गुण भी बतलाए गए हैं; पर ऐसे मोती कभी किसी के देखने में नहीं आते ।

मुहा०—मोती गरजना = मोती में बाल पड़ जाना । मोती चटकना या कड़क जाना । मोती बलकाना = रोना (व्यंग्य) । मोती पिरोना = (१) बहुत ही सुंदर और प्रिय भाषण करना । (२) बहुत ही सुंदर और स्पष्ट अक्षर लिखना । (३) रोना (व्यंग्य) । (४) कोई बारीक काम करना । मोती बीँघना = (१) मोती को पिरोए जाने के योग्य बनाने के लिये उसके बीच में खेद करना । (२) दुमारी का कौमार्थ्य भंग करना । योनि का चत करना । (बाजार) मोती रोडना = बिना परिश्रम अथवा थोड़े परिश्रम से बहुत अधिक धन कमाना या प्राप्त करना । मोतियों से मुँह भरना = प्रसन्न होकर किसी को बहुत अधिक धन-संपत्ति देना ।

पर्या०—मौक्तिक । शौक्तिक । मुक्ता । मुक्ताफल ।

(२) कसेरों का एक औज़ार जिससे वे नक्काशी करते समय मोती की सी आकृति बनाते हैं ।

संज्ञा स्त्री० बाली जिसमें बड़े बड़े मोती पड़े रहते हैं । उ०—छोटी छोटी मोती कान छोटे कटुला त्यों कंठ, छोटे से बिजायठ कटक दुति मोटे हैं ।—रघुराज ।

मोतीचूर-संज्ञा पु० [हि० मोती + चूर] (१) छोटी बुँदियों का लड्डू ।

यौ०—मोतीचूर आँख = गोल छोटी उभरी हुई चमकदार आँख । (जैसी कबूतर की होती है ।)

(३) एक प्रकार का धान जिसकी फसल अगहन में तैयार होती है। (३) कुश्ती का एक पेंच जिसमें प्रतिद्वंद्वी के बाएँ पैर को अपने दाहिने पैर में पँसाकर और हाथ से उसका गला लपेटकर उसे चित्त कर देते हैं।

मोतीज्वर-संज्ञा पुं० [हि० मोती + सं० ज्वर] चेचक निकलने के पहले आनेवाला ज्वर।

मोतीभिरा-संज्ञा पुं० [हि० मोती + भिरा ?] छोटी शीतला का रोग। मोतिया माता निकलने का रोग। मंथ उवर। मोती-माता।

मोतीबेल-संज्ञा स्त्री० [हि० मोतिया + बेल] बेल का वह भेद जिसे मोतिया कहते हैं। मोतिया बेल। उ०—मोतीबेल कैसे फूल मोतिन के भूषण सुचीर गुलचाँदनी सी चंपक की डारी सी।—देव।

मोतीभात-संज्ञा पुं० [हि० मोती + भात] एक विशेष प्रकार का भात। उ०—परस्यो ओदन विविध प्रकार। मोतीभात सु नाम उचारा। केसरिभात नाम ससिभात। कनकभात पुनि विमल विभात।—रघुराज।

मोतीसिरी-संज्ञा स्त्री० [हि० मोती + सं० श्री] मोतियों की कंठी। मोतियों की माला। उ०—तोरि मोतीसिरी गुप्त करि धन्यौ कहूँ एहि मिस सकुचि रही मुख न बोले।—सूर।

मोथरा-वि० [हि० मुथरा] जिसकी धार तेज न हो। कुंठित। गोठिल। कुंद। उ०—भयो अबहुँ नहि मोथरो मोर उदंड कुठार। उपज्यो अमरष दून अब करौँ सकुल संहार।—रघुराज।

मोथा-संज्ञा पुं० [सं० मुस्तक, प्रा० मुत्थ] (१) नागरमोथा नामक घास। (२) उपर्युक्त घास की जड़ जो ओषधि की भाँति प्रयुक्त होती है।

विशेष—यह तृण जलाशयों में होता है। इसकी पत्तियाँ कुश की पत्तियों की तरह लंबी लंबी और गहरे हरे रंग की होती हैं। इसकी जड़े बहुत मोटी होती हैं, जिन्हें सूअर खोदकर खाते हैं।

मोद-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० मोदी] (१) आनंद। हर्ष। प्रसन्नता। खुशी। (२) पाँच भगण, एक मगण, एक सगण और एक गुरु वर्ण का एक वर्ण-वृत्त। उ०—मे सर में सिगरे गुण अर्जुन जाहिर भूपालौहु लजाने। ज्योंहि स्वयंवर में मछरी दइ बेधि सभा सौं द्रौपदि आने। (३) सुगंध। महक। खुशबू।

मोदक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लड्डू। (मिठाई) (२) औषध आदि का बना हुआ लड्डू। जैसे,—मदनानंद मोदक। (३) गुड़। (४) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में चार भगण होते हैं। जैसे,—(क) भा चहु पार जु भौ निधि रावन। तो गहु राम पदै अति पावन। आय घरे प्रसु है

चरनोदक। भूख लगे न भवै मन मोदक।—छंद प्रभाकर। (ख) काहू कहूँ शर आसर मागिय। आरत शब्द अकारा पुकारिय। रावण के वह कान पच्यो जब। छौंदि स्वयंवर जात भयो तब।—केशव। (५) एक वर्णसंकर जाति जिसकी उत्पत्ति क्षत्रिय पिता और शूद्रा माता से मानी जाती है। वि० मोद या आनंद देनेवाला।

मोदकर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन मुनि का नाम।

मोदकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की गदा। उ०—शिखरी त्यों मोदकी गदा युग दीपति भरी सदाई।—रघुराज। (ख) श्री लव वीर उदंड पुनि गदा मोदकी मारि। वीर विभीषण असुर कहँ दियो भूमि पै डारि। (२) मूर्च्छा। **मोदन-संज्ञा** पुं० [सं०] [वि० मोदनीय, मोदित] (१) मुदित करना। प्रसन्न करना। (२) सुगंधि फैलाना। महकाना।

मोदना-क्रि० प्र० [सं० मोदन] (१) प्रसन्न होना। खुश होना। आनंदित होना। (२) सुगंधि फैलाना। महकना। उ०—फूलि फूलि तरु फूल बढ़ावत। मोदत महा मोद उपजावत।—केशव।

क्रि० सं० प्रसन्न करना। खुश करना। उ०—तुलसी सरिस अजान मान रिस पूरो हियरा। तऊ गोद लेइ पोंछि चूमि मुख मोदत जियरा।—सुधाकर।

मोदवती-संज्ञा स्त्री० [सं० मोदवती] वन-मल्लिका। जंगली चमेली। **मोदा-संज्ञा** स्त्री० [सं०] (१) अजमोदा। वन-अजवाइन। (२) सेमल का वृक्ष।

मोदाक-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक वृक्ष का नाम।

मोदाकी-संज्ञा पुं० [सं० मोदाकिन्] महाभारत के अनुसार एक पर्वत का नाम।

मोदाख्य-संज्ञा पुं० [सं०] आम का पेड़।

मोदाख्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] अजमोदा। वन-अजवाइन।

मोदाद्रि-संज्ञा पुं० [सं०] भूँगेर के पास के एक पर्वत का पौराणिक नाम।

मोदित-वि० [सं०] हर्षित। आनंदित। प्रसन्न।

मोदिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अजमोदा। (२) जूही। (३) कस्तूरी। (४) मदिरा। (५) चमेली।

मोदी-संज्ञा पुं० [सं० मोदक = लड्डू (बनानेवाला); अथवा अ० मदग्र = जिस, रसद] (१) आटा, दाल, चावल आदि बेचनेवाला बनिया। भोजन-सामग्री देनेवाला बनिया। परचूनिया। उ०—(क) माया मेरे राम की मोदी सब संसार। जा की चीठी ऊतरी सोई खरचनहार।—कबीर। (ख) मदन के मोद भरी जीवन प्रमोद भरी मोदी की बहू की दुस्ति देखे दिन दूनी सी। चून्नी सुरंग अंग ईगुर के रंग देव बैठी परचूनी की दुकान पर चूनी सी।—देव। (ग) है अन्न-

पूरणा मोदी। दे सबै अहारै सोदी।—विश्राम। (२)
वह जिसका काम नौकरों को भरती करना हो।

मोदीखाना-संज्ञा पुं० [हि० मोदी + फा० खाना] अन्नादि रखने का घर। भंडार। गोदाम।

मोथुक-संज्ञा पुं० [सं० मोदक = एक वर्णसंकर जाति] मछली पकड़नेवाला, धीवर। मछुआ। उ०—एक मीन ने भक्ष कियो तब हरि रखवारी कीन्ही। सोई मत्स्य पकरि मोथुक ने जाय असुर को दीन्ही।—सूर।

मोथू-वि० [सं० मुग्ध] बेवकूफ। मूर्ख। भोंदू। उ०—विदूषक—मित्र, यों मोथू बनकर बैठने से क्या होगा? कुछ उपाय करना चाहिए।—बालमुकुंद गुप्त।

मोन-संज्ञा पुं० दे० “मोना”। उ०—मानहुँ रतन मोन दुइ मूँदे।—जायसी।

मोनस-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्र-प्रवर्तक ऋषि का नाम।

मोना-संज्ञा पुं० [हि० मोयन] भिगोना। तर करना। उ०—

(क) कछौ राम तहँ भरत सों काके बालक दोइ। मोर चरित गावत मधुर सुर संयुत रस मोइ।—विश्राम।

(ख) नेह मोइ रस रसमहिँ गाँठ दुई हित जोर। चाहत हैं गुरुजन तिन्हैं अनख नखन सों छोर।—रसनिधि। (ग)

तुलसी मुदित मातु सुत गति लखि विथकी है ग्वालि मैन मन मोए।—तुलसी।

† संज्ञा पुं० [सं० मोण] बाँस, मूँज आदि का ढक्कनदार डाल। झाडा। पिटारा।

मोनाल-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का महोख पक्षी जो शिमले के आस पास बहुत पाया जाता है। इसे ‘नीलमोर’ भी कहते हैं।

मोनिया-संज्ञा स्त्री० [हि० मोना + श्वा (प्रत्य०)] बाँस या मूँज की बनी हुई पिटारी। छोटा मोना।

मोपला-संज्ञा पुं० [देश०] मुसलमानों की एक जाति जो मदरास में पाई जाती है।

मोम-संज्ञा पुं० [फा०] (१) वह चिकना और नरम पदार्थ जिससे कहद की मविखियाँ अपना छत्ता बनाती हैं। मधुमक्खी के छत्ते का उपकरण।

विशेष—मोम प्रायः पीले रंग का होता है और इसमें से शहद की सी गंध आती है। साफ करने पर इसका रंग सफेद हो जाता है। यह बहुत थोड़ी गरमी से गल या पिघल जाता है; और कोमल होने के कारण थोड़े से दबाव द्वारा भी, गीली मिट्टी या आटे आदि की भाँति, अनेक रूपों में परिवर्तित किया जा सकता है। इसकी बत्तियाँ बनाई जाती हैं, जो बहुत ही हलकी और ठंडी रोशनी देती है। ओषधि के रूप में भी इसका व्यवहार होता है और यह

मरहमों आदि में डाला जाता है। खिलौने और ठप्पे आदि बनाने में भी इसका व्यवहार होता है।

यौ०—मोम की नाक = (१) जिसकी सम्मति बहुत जल्दी बदल जाती हो। अस्थिर मति। (२) वह जो जरा सी बात में मिजाज बदले। मोम की मरियम = बहुत ही कोमल और सुकुमार स्त्री।

मुहा०—मोम करना या मोम बनाना = द्रवीभूत कर लेना। दयार्द्र कर लेना। मोम होना = दयार्द्र हो जाना। कठोरता छोड़ देना।

(२) रूप, रंग और गुण आदि में इसी से मिलता जुलता वह पदार्थ जो मधु-मक्खी की जाति के तथा कुछ और प्रकार के कीड़े पराग आदि से एकत्र करते हैं अथवा जो वृक्षों पर लाख आदि के रूप में पाया जाता है। (३) मिट्टी के तेल में से, एक विशेष रासायनिक क्रिया के द्वारा, निकाला हुआ इसी प्रकार का एक पदार्थ। जमा हुआ मिट्टी का तेल।

विशेष—अंतिम दोनों प्रकार के मोमों का व्यवहार भी प्रायः पहले प्रकार के मोम के समान ही होता है।

मोमजामा-संज्ञा पुं० [फा०] वह कपड़ा जिस पर मोम का रोगन चढ़ाया गया हो। तिरपाल। (ऐसे कपड़े पर पड़ा हुआ पानी आर-पार नहीं होता।)

मोमशिल-वि० [फा०] दूसरों के दुःख से शीघ्र द्रवित होनेवाला। बहुत कोमल हृदयवाला।

मोमना-वि० [हि० मोम + ना (प्रत्य०)] मोम का सा। बहुत ही कोमल।

मोमबत्ती-संज्ञा स्त्री० [फा० मोम + हि० बत्ती] मोम वा ऐसे ही किसी और जलनेवाले पदार्थ की बनी हुई बत्ती।

विशेष—इस प्रकार की बत्ती के बीच में एक मोटा डोरा होता है और उस पर मोम चढ़ा रहता है। जब वह डोरा जलाया जाता है, तब चारों ओर से मोम गल गलकर जलने लगता है, जिससे प्रकाश होता है। प्राचीन काल में फारस आदि देशों में उत्सवों आदि पर इसका बहुत अधिक व्यवहार होता था।

मोमिन-संज्ञा पुं० [अ०] (१) धर्मनिष्ठ मुसलमान। (२) जोलाहों की एक जाति।

मोमियाई-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) कृत्रिम शिलाजतु। नकली शिलाजतु। उ०—वहाँ एक किस्म का पत्थर होता है। उसको पानी में उबालकर मोमियाई बनाते हैं।—शिवप्रसाद।

मुहा०—मोमियाई निकालना = (१) किसी से कठिन परिश्रम लेना। (२) किसी को खूब मारना पीटना।

विशेष—कुछ लोगों का विश्वास है कि मोमियाई मनुष्य के

शरीर को आँच से तपाकर निकाली हुई चिकनाई से तैयार की जाती है; इसी से ये मुहावरे बने हैं।

(२) काले रंग की एक चिकनी दवा जो मोम की तरह मुलायम होती है। यह दवा घाव भरने के लिये प्रसिद्ध है।

मोमी-वि० [फा०] (१) मोम का बना हुआ। जैसे,—मोमी मोती, मोमी पुतला। (२) मोम का सा।

मोयन-संज्ञा पु० [हि० मैन = मोम] माँड़े हुए आटे में घी या चिकना देना जिसमें उससे बनी वस्तु खसखसी और मुलायम हो।

यौ०—मोयनदार। जैसे,—मोयनदार कचौरी।

मोयुम-संज्ञा पु० [देश०] एक लता जो आसाम, सिक्किम और भूटान में बहुतायत से उत्पन्न होती है। इस लता से अत्यंत चमकीला रंग तैयार किया जाता है, जिससे कपड़े रंगे जाते हैं।

मोरंग-संज्ञा पु० [देश०] नेपाल देश का पूर्वी भाग जो कौशिकी नदी के पूर्व पड़ता है। संस्कृत ग्रंथों में इसी भाग को 'किरात देश' कहा गया है। इस देश में जंगल और पहाड़ियाँ बहुत हैं। इस देश का कुछ भाग जिला पुरनिया (बंगाल) में भी पड़ता है।

मोर-संज्ञा पु० [सं० मयूर, प्रा० मोर] [खी० मोरनी] (१) एक अत्यंत सुंदर बड़ा पक्षी जो प्रायः चार फुट लंबा होता है और जिसकी लंबी गर्दन और छाती का रंग बहुत ही गहरा और चमकीला नीला होता है। नर के सिर पर बहुत ही सुंदर कलगी या चोटी होती है। पंख छोटे तथा पूँछ लंबी और अत्यंत सुंदर होती है। नर जिस समय प्रसन्न होता है, उस समय अपनी पूँछ के पर खड़े करके मंडलाकार फैला देता है, जिससे यह बहुत ही सुंदर जान पड़ता है। पूँछ के परों पर बहुत सुंदर गोल दाग या चित्तियाँ होती हैं, जिनका रंग नीला होता है और जिन पर सुंदर सुनहरा मंडल होता है। इन्हें चंद्रिका कहते हैं। मोर सब पक्षियों से सुंदर पक्षी है। अनेक चटकीले रंगों का जैसा सुंदर मेल इसमें होता है, वैसा और किसी पक्षी में नहीं होता। प्राचीन यूनानी और रोमन इसे बहुत पवित्र मानते थे। राजपूताने में अब तक कोई इसकी हत्या नहीं करता। इसका स्वभाव है कि बादलों की गरज सुनते ही कूकता है। कहते हैं कि यह साँप को खा जाता है। मादा का रंग फीका होता है और वह देखने में वैसी सुंदर नहीं होती।

पर्या०—नीलकंठ। केकी। बरही। शिखी। शिखंडी। कलापी। शिवसुतवाहन। अहिभक्षी।

(२) नीलम की आभा, जो मोर के पर के समान होती है।

उ०—मोर, विष्णु, नभ, कमल, अलि, कोकिल, कलरव,

मेह। फूल सिरस, धरसी, अचानि, ग्यारह छाया एह।—रत्नपरीक्षा।

झूँ-सर्व० [खी० मोरी] दे० “मेरा”।

संज्ञा खी० [डि०] सेना की अगली पंक्ति।

मोरचंग-संज्ञा पु० दे० “मुरचंग”।

मोरचंदा-संज्ञा पु० दे० “मोरचंद्रिका”। उ०—गावत गोपाल लाल नीके राग नट हैं।……मोरचंदा चारु सिर मंजु गुंजा पुंज धरे, बनि बन धातु तन ओढ़े पीत पट हैं।—तुलसी।

मोरचंद्रिका-संज्ञा खी० [हि० मोर + चंद्रिका] मोर पंख के छोर की वह बूटी जो चंद्राकार होती है। उ०—मोरचंद्रिका श्याम सिर चढ़ि कत करत गुमान।—बिहारी।

मोरचा-संज्ञा पु० [फा०] (१) लोहे की ऊपरी सतह पर चढ़ जानेवाली वह लाल या पीले रंग की बुकनी की सी तह जो वायु और नमी के योग से रासायनिक विकार होने से उत्पन्न होती है। जंग। (यह लाल बुकनी वास्तव में विकार-प्राप्त लोहा ही है।) (२) दर्पण पर जमी हुई मैल। उ०—(क) जब लग हिय दरपन रहै कपट मोरचा छाड़। तब लग सुंदर भीत मुख कैसे दगन दिखाइ।—रसनिधि। (ख) पहिर न भूषन कनक के कहि आवत एहि हेत। दरपन के से मोरचा देह दिखाई देत।—बिहारी।

विशेष— प्राचीन काल में दर्पण लोहे को माँजते माँजते चमकाकर बनाए जाते थे; इसी से दर्पण के साथ ‘मोरचा’ शब्द का प्रयोग चला आ रहा है। “दर्पण” के लिये फारसी का “आईना” शब्द वास्तव में “आहना” का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ “लोहे का” होता है।

क्रि० प्र०—जमना।—लगना।

मुहा०—मोरचा खाना = मोरचा लगने से खराब होना।

संज्ञा पु० [फा० मोरचाल] (१) वह गड्ढा जो गढ़ के चारों ओर रक्षा के लिये खोद दिया जाता है। (२) वह सेना जो गढ़ के अंदर रहकर शत्रु से लड़ती है। (३) वह स्थान जहाँ से सेना, गढ़ या नगर आदि की रक्षा की जाती है। वह स्थान जहाँ खड़े होकर शत्रु सेना से लड़ाई की जाती है।

मुहा०—मोरचाबंदी करना = गढ़ के चारों ओर गड्ढा खोदकर या टीले बनाकर यथा स्थान सेना नियुक्त करना। **मोरचा जीतना** = शत्रु के मोरचे पर अधिकार कर लेना। **मोरचा बाँधना** = दे० “मोरचाबंदी करना”। **मोरचा मारना** = दे० “मोरचा जीतना”।

मोरचा लेना = युद्ध करना।

मोरछड़-संज्ञा पु० दे० “मोरछल”।

मोरछल-संज्ञा पु० [हि० मोर + छड़] मोर की पूँछ के परों को इकट्ठा बाँधकर बनाया हुआ लंबा चँवर जो प्रायः देवताओं

और राजाओं आदि के मस्तक के पास डुलाया जाता है।
उ०—(क) अगल बगल बहु मनुज मोरछल चँवर डोलावत।
—गोपाल। (ख) चार चार चहुँ ओर चलावै मोरछलान
डोलाई।—रघुराज।

मोरछली—संज्ञा पुं० दे० “मौलसिरी”। उ०—छड़, खिरँटी,
आँवले, कुट और मोरछली की छाल, इनको जल के साथ
महीन पीसकर लेप करो तो बाल बढ़ेंगे।—प्रतापसिंह।
संज्ञा पुं० [हि० मोरछल + ई (प्रत्य०)] मोरछल हिलानेवाला।
मोरछाँह—संज्ञा पुं० दे० “मोरछल”। उ०—का बरनउँ अस
ऊँच तुपारा। दुइ बेरें पहुँचै असवारा। बाँधे मोरछाँह सिर
सारहि। भाजहि पूँछ चँवर जनु ढारहि।—जायसी।

मोरजुटना—संज्ञा पुं० [हि० मोर + जुटना] एक प्रकार का आभू-
षण जो सोने का बनता और रत्नजटित होता है। इसके
बीच का भाग गोल बेंदे के समान होता है और दोनों ओर
मोर बने रहते हैं। यह बेंदे के स्थान पर माथे पर पहना
जाता है।

मोरट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊख की जड़। (२) अंकोल का
फूल। (३) प्रसव से सातवीं रात के बाद का दूध। (४)
एक प्रकार की लता जिसे कर्णपुष्प भी कहते हैं। वैद्यक में
इसे मधुर, कषाय, वृष्य, बलवर्धक और पित्त, दाह तथा
ज्वर के लिये नाशक माना है।

मोरटक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दे० “मोरट”। (२) सफेद खैर।

मोरटा—संज्ञा स्त्री० [सं०] दूब।

मोरध्वज—संज्ञा पुं० [सं० मयूरध्वज] एक पौराणिक राजा का नाम
जो बहुत प्रसिद्ध अन्त था। इसकी परीक्षा के लिये श्रीकृष्ण
और अर्जुन इसके यहाँ गए थे। श्रीकृष्ण की बात मानकर
यह राजा अपना जीवित शरीर आरे से चिरवाने के लिये
तैयार हुआ था।

मोरन—संज्ञा स्त्री० [हि० मोड़ना] मोड़ने की क्रिया या भाव।
मोड़ना।

संज्ञा स्त्री० [सं० मोरट] बिलोया हुआ दही जिसमें मिठाई
और कुछ सुगंधित वस्तुएँ (इलायची, लौंग इत्यादि)
डाली गई हों। शिखरन। उ०—पुनि सँधान आने बहु
साँधी। दूध दही की मोरन बाँधी।—जायसी।

मोरना—क्रि० स० दे० “मोड़ना”। उ०—(क) फिर फिर
सुंदर ग्रीवा मोरत। देखत रथ पाछे जो घोरत।—
लक्ष्मणसिंह। (ख) चोरि चोरि चित चितवति मुँह मोरि
मोरि काहे तैं हँसति हिय हरष बढ़ायो है।—केशव।
(ग) कर आँचर की ओट करि जमुहानी मुख मोरि।—
बिहारी। (घ) नासा मोरि नचाय दग करी कका की
सौँह।—बिहारी।

क्रि० स० [हि० मोरन] दही को मथकर मक्खन निकालना।

(हुँदेलखंड) उ०—डीठ डोर नै मोर दिय छिरक रूपरस
तोय। मथि मो घट प्रीतम लियो मन नवनीत बिलोय।—
रसनिधि।

मोरनी—संज्ञा स्त्री० [हि० मोर का स्त्री० रूप] (१) मोर पक्षी की
मादा। उ०—चितै चकोरनी चकोर मोर मोरनी समेत,
हंस हंसिनी समेत सारिका सबै पदैं।—केशव। (२) मोर
के आकार का अथवा और किसी प्रकार का एक छोटा
टिकड़ा जो नथ में पिरोया जाता है और प्रायः होंठों के ऊपर
लटकता रहता है।

मोरपंख—संज्ञा पुं० [हि० मोर + पंख = पर] मोर का पर जो
देखने में बहुत अधिक सुंदर होता है, और जिसका व्यवहार
अनेक अवसरों पर प्रायः शोभा या शृंगार के लिये अथवा
कभी कभी औषध रूप में भी होता है।

मोरपंखी—संज्ञा स्त्री० [हि० मोरपंख + ई (प्रत्य०)] (१) वह नाव
जिसका एक सिरा मोर के पर की तरह बना और रंगा हुआ
हो। (२) मलखंभ की एक कसरत जो बहुत फुरती से की
जाती है; और जिसमें पैरों को पीछे की ओर से ऊपर उठा-
कर मोर के पंख की सी आकृति बनाई जाती है।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का बहुत सुंदर, गहरा और चमकीला
नीला रंग जो मोर के पर से मिलता-जुलता होता है।

चि० मोर के पंख के रंग का। गहरा चमकीला नीला।

मोरपखा—संज्ञा पुं० [हि० मोरपंख] (१) मोर का पर। मोर-
पंख। (२) मोरपंख की कलगी जो प्रायः श्रीकृष्णजी मुकुट
या चोरे में खोसा करते थे। उ०—(क) बाँसुरी कुंडल
मोरपखा मधुरी मुसकानि भरी मुख है ये।—बेनी। (ख)
पीत पटी लकुटी पदमाकर मोरपखा लै कहुँ गहि नाखी।—
पद्माकर। (ग) क्यों करि धौं मुरली मनि कुंडल मोरपखा
बनमाल बिसारैं। ते धनि जे ब्रजराज लखे गृह काज करैं
अरु लाज सँभारैं।—मतिराम।

मोरपाँव—संज्ञा पुं० [हि० मोर + पाँव] जंगी जहाज़ों के बावर्ची-
खाने की मेज़ पर खड़ा जड़ा हुआ लोहे का छड़ जिसमें
मांस के बड़े बड़े टुकड़े लटकाए रहते हैं। (लश०)

मोरमुकुट—संज्ञा पुं० [हि० मोर + मुकुट] मोर के पंखों का बना
हुआ मुकुट जो प्रायः श्रीकृष्णजी पहना करते थे। उ०—
मोरमुकुट की चंद्रिकन यौं राजत नंदनंद। मनु ससि-सेखर
की अकस किये सिखर सत चंद।—बिहारी।

मोरवा—संज्ञा पुं० दे० “मोर”। उ०—कूक मोरवान की करेजा
टूक टूक करै, लागति है टूक सुनि धुनि धुरवान की।—
दीनदयाल।

संज्ञा पुं० [देश०] वह रस्सी जो नाव की किलवारी में बाँधी
जाती है और जिससे पतवार का काम लेते हैं।

मोराशखा—संज्ञा स्त्री० [सं० मयूर-शिखा] एक जड़ी जिसकी

पत्तियाँ ठीक मोर की कलगी के आकार की होती हैं। यह जड़ी बहुधा पुरानी दीवारों पर उगती है। इसकी सूखी पत्तियों पर पानी छिड़क देने से वे पत्तियाँ फिर तुरंत हरी हो जाती हैं। वैद्यक में इसे पित्त, कफ, अतिसार और बालग्रह दोष-निवारिणी माना गया है।

मोरा-संज्ञा पुं० [देश०] अकीक नामक रत्न का एक भेद जो प्रायः दक्षिण भारत में होता है और जिसे 'बावाँघोड़ी' भी कहते हैं।

❧ वि० दे० "मेरा"।

मोराना ❧-क्रि० सं० [हि० मोड़ना का प्रेर०] (१) चारों ओर घुमाना। फिराना। उ०—आरति करि पुनि नरियल तबहिं मोराइये। पुरुष को भोग लगाइ सखा मिलि खाइये।—कबीर। (२) रस पेरने के समय ऊख की अँगारी को कोल्हू में दबाना।

मोरिया ❧-संज्ञा स्त्री० [हि० मोरना ?] कील्हू में कातर की दूसरी शाखा जो बाँस की होती है।

मोरी-संज्ञा स्त्री० [हि० मोहरी] (१) किसी वस्तु के निकलने का तंग द्वारा। (२) नाली जिसमें से पानी, विशेषतः गंदा और मैला पानी बहता हो। पनाली।

मुहा०—मोरी छुटना = दस्त आना। पेट चलना। मोरी पर जाना = पेशाब करने जाना। (स्त्री०)

(३) दे० "मोहरी"।

❧-संज्ञा स्त्री० [हि० मोर + ई (प्रत्य०)] मोर पक्षी की मादा। मयूरी। उ०—मोरी सी धन गरज सुनि तू ठाढ़ी अकुलात।—सीताराम।

संज्ञा स्त्री० [देश०] क्षत्रियों की एक जाति जो 'चौहान' जाति के अंतर्गत है।

मोर्चा-संज्ञा पुं० दे० "मोरचा"।

मोल-संज्ञा पुं० [सं० मूल्य, प्रा० मुल] (१) वह धन जो किसी वस्तु के बदले में बेचनेवाले को दिया जाय। कीमत। दाम। मूल्य।

क्रि० प्र०—करना।—चुकाना।—ठहराना।—देना।—लेना।

यौ०—अनमोल।

(२) दूकानदार की ओर से वस्तु का मूल्य कुछ बढ़ाकर कहा जाना। जैसे,—मोल मत करो; ठीक ठीक दाम कहो।

यौ०—मोल चाल = (१) अधिक मूल्य। (२) किसी चीज का दाम घटा बढ़ाकर तै करना।

मुहा०—मोल करना = (१) किसी पदार्थ का उचित से अधिक मूल्य कहना। (२) मूल्य घटा बढ़ाकर तै करना।

मोलना ❧-संज्ञा पुं० [अ० मौलाना] मौलवी। मुल्ला। उ०—(क) वेद किताब पढ़ें वे खुतबा वे मोलना वे पाँड़े—कबीर।

(ख) पंडित वेद पुराण पढ़ें औ मोलना पढ़ें कोराना।—कबीर।

मोलवी ❧-संज्ञा पुं० [अ० मौलवी] वह विद्वान् मुसलमान जो अपने धर्मशास्त्र का अच्छा ज्ञाता हो। मौलवी।

मोलाइ ❧-संज्ञा स्त्री० [हि० मोल + आई (प्रत्य०)] मोल पूछने या तै करने की क्रिया। मूल्य कहना वा ठीक करना।

मोचना ❧-क्रि० सं० दे० "मोना"।

मोष-संज्ञा पुं० दे० "मोक्ष"।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) चोरी। (२) छटना। छूट। (३) बध। हत्या। (४) दंड देना।

मोषक-संज्ञा पुं० [सं०] चोर।

मोषण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छटना। (२) चोरी करना। (३) छोड़ना। (४) बध करना। (५) वह जो चोरी करता या डाका डालता हो।

मोह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुछ का कुछ समझ लेनेवाली बुद्धि। अज्ञान। भ्रम। भ्रांति। उ०—तुलसिदास प्रभु मोह जनित भ्रम भेद-बुद्धि कब बिसरावहिंगे।—तुलसी। (२) शरीर और सांसारिक पदार्थों को अपना या सत्य समझने की बुद्धि जो दुःखदायिनी मानी जाती है। (३) प्रेम। सुहृद्वत्। प्यार। उ०—(क) साँचेहु उनके मोह न माया। उदास न धन धाम न जाया।—तुलसी। (ख) काशीराम कहै रघुवंशिन की रीति यहै जासों कीजै मोह तासों लोह कैसे गहिये। (ग) मोहू सों तजि मोह डग चले लागि उहि गैल।—बिहारी। (घ) रघो मोह मिलनो रघौ यौ कहि गहें मरोर।—बिहारी। (ङ) साहित्य में ३३ संचारी भावों में से एक भाव। भय, दुःख, घबराहट, अत्यंत चिंता आदि से उत्पन्न चित्त की विकलता। (५) दुःख। कष्ट। (६) मूर्च्छा। बेहोशी। गंश। उ०—गिरयो हंस भू में भयो मोह भारी।—रघुराज।

मोहक-वि० [सं०] (१) मोह उत्पन्न करनेवाला। जिसके कारण मोह हो। (२) मन को आकृष्ट करनेवाला। लुभानेवाला।

मोहकार-संज्ञा पुं० [हि० मुँह + कैड़ा या कार (प्रत्य०)] पीतल या ताँबे के घड़े का गला समेत मुँहड़ा। (ठेरा)

मोहठा-संज्ञा पुं० [सं०] दस अक्षरों का वह वर्ण वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में तीन रगण और एक गुरु होता है। इसे 'बाला' भी कहते हैं। उ०—श्याम की मात बोली रिसाई। गोपि कोई करी है ठिठाई।

मोहड़ा-संज्ञा पुं० [हि० मुँह + डा (प्रत्य०)] (१) किसी पात्र का मुँह या खुला भाग। (२) किसी पदार्थ का अगला या उपरी भाग।

मुहा०—मोहड़ा लगाना = अन्न से भरे हुए बोरे को दूकान पर

रखकर उसका मुँह खोल देना । (अन्न के व्यापारी) मोहड़ा मारन = (१) किसी काम को सब से पहले कर डालना । (२) मुँह । मुख ।

संज्ञा पुं० दे० “मोहरा” ।

मोहताज-वि० [अ०] (१) धनहीन । निर्धन । गरीब । (२) जिसे किसी बात की अपेक्षा हो । जैसे,—वह आपकी मदद के मोहताज नहीं हैं ।

मोहताजी-संज्ञा स्त्री० [हि० मोहताज + ई (प्रत्य०)] मोहताज होने की क्रिया या भाव ।

मोहन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोह लेनेवाला व्यक्ति । जिसे देखकर जी लुभा जाय । उ०—लखि मोहन जो मन रहै तो मन राखौ मान ।—बिहारी । (२) श्रीकृष्ण । उ०—मोहन तेरे नाम को कढ़ो वा दिना छोर । ब्रजवासिन को मोह कै चलो मधुपुरी ओर ।—रसनिधि । (३) एक वर्ण वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में एक सगण और एक जगण होता है । उ०—जन राजवंत । जग जोगवंत । तिनको उदोत । केहि भाँति होत ।—केशव । (४) एक प्रकार का तांत्रिक प्रयोग जिससे किसी को बेहोश या मूर्च्छित करते हैं । उ०—मारन मोहन बसकरन उच्चाटन अर्थभ । आकर्षन सब भाँति के पद्वै सदा करि दंभ । (५) प्राचीन काल का एक प्रकार का अस्त्र जिससे शत्रु मूर्च्छित किया जाता था । उ०—बर विद्याधर अस्त्र नाम नंदन जो ऐसो । मोहन, स्वापन, समन, सौम्य, कर्षन पुनि तैसो ।—पद्माकर । (६) कोल्हू की कोठी अर्थात् वह स्थान जहाँ दबने के लिये ऊख के गाँड़े डाले जाते हैं । इसे कुंडी और घगरा भी कहते हैं । (७) कामदेव के पाँच बाणों में से एक बाण का नाम । (८) धतूरे का पौधा । (९) बारह मात्राओं का एक ताल जिसमें सात आघात और पाँच खाली रहते हैं । इसका

+ १ ० २ ० ३
मृदंग का बोल यह है — धा धा ता गे तेरे कता कता
० ४ ५ ० ६ ० +
गदि घेने नाग देव तेरे केरे । धा ।

वि० [सं०] [स्त्री० मोहनी] मोह उत्पन्न करनेवाला । उ०—(क) मोहनि मूर्ति श्याम की यौं घट रही समाय ।—बिहारी । (ख) सब भाँति मनोहर मोहन रूप अनूप हैं भूप के बालक द्वै ।—तुलसी ।

मोहनभोग-संज्ञा पुं० [हि० मोहन + भोग] (१) एक प्रकार का हलुआ । (२) एक प्रकार का केला (फल) । (३) एक प्रकार का आम ।

मोहनमाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] सोने की गुरियों या दानों की बनी हुई माला । उ०—(क) मोहनमाल के मोहन को यह

पैन्हति मोहनमाल अकेली ।—देव । (ख) मोहनमाल बिसाल हिये पर सोहत नील सुपीत पिछौरी ।—दीनदयाल गिरि ।
मोहना-क्रि० अ० [सं० मोहन] (१) किसी पर आशिक या अनुरक्त होना । मोहित होना । रीझना । उ०—(क) सुंदर वपु अति श्यामल सोहै । देखत सुर नर को मन मोहै ।—केशव । (ख) देखत रूप सकल सुर मोहै ।—तुलसी । (ग) चान्यो दल दूल्ह चारु बने । मोहे सुर औरन कौन गने ।—केशव । (२) मूर्च्छित होना । बेहोश हो जाना । उ०—अष्टम सर्ग महा समर कुश लव भरतहि साथ । जुग बंधुन कर मोहिबो भरत नास तिन हाथ ।—शारमौर ।

क्रि० स० [सं० मोहन] (१) अपने ऊपर अनुरक्त करना । मुग्ध करना । मोहित करना । लुभा लेना । उ०—(क) पंडित अति सिगरी पुरी मनहु गिरा गति गूढ़ । सिंहनियुत जनु चंडिका मोहति मूढ़ अमूढ़ ।—केशव । (ख) बैठे जराय जरे पलका पर रामसिंहा सबको मन मोहैं ।—केशव । (ग) अहो भले लतिका-तर सोहैं । कलिन कैंपलन सों मन मोहैं ।—प्रतापनारायण मिश्र । (२) भ्रम में डाल देना । संदेह पैदा कर देना । धोखा देना । उ०—(क) तुम आदि मध्य अवसान एक । जग मोहत हौ वपु धरि अनेक ।—केशव । (ख) अति प्रचंड रघुपति कै माया । जेहि न मोह अस को जग जाया ।—तुलसी ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तृण । (२) एक प्रकार की चमेली ।
मोहनास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का अस्त्र । कहते हैं कि इसके प्रभाव से शत्रु मूर्च्छित हो जाता था ।

मोहनिशा-संज्ञा स्त्री० दे० “मोहरात्रि” ।

मोहनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वैशाख सुदी एकादशी । (२) एक लंबा सूत सा कीड़ा जो हृदय के खेतों में पाया जाता है । इसे पाकर तांत्रिक लोग वशीकरण यंत्र बनाते हैं । (३) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में सगण, भगण, तगण, यगण और सगण होते हैं । (४) भगवान् का वह स्त्री रूप जो उन्होंने समुद्र-मथन के उपरांत अमृत बाँटते समय धारण किया था । (५) एक प्रकार की मिठाई । (६) वशीकरण का मंत्र । लुभाने का प्रभाव । उ०—(क) जिन निज रूप मोहनी डारी । कीन्हें स्ववस सकल नर नारी ।—तुलसी । (ख) निरखि लखन राम जाने रितुपति काम मोहि मानो मदन मोहनी मूँड नाई है ।—तुलसी ।

मुहा०—मोहनी डालना वा लाना = ऐसा प्रभाव डालना कि कोई एक दम मोहित हो जाय । माया के वश करना । जादू करना । उ०—नागरि मन गई अरुझाइ । अति विरह तनु भई व्याकुल घर न नेकु सुहाइ । श्याम सुंदर मदनमोहन मोहनी सी लाइ । मातु पितु को त्रास मानत मन बिना भइ बाइ । जननि सैं दोहनी माँगति बेगि दे री माइ । सुर प्रभु को

खोर मिलिहैं गए मोहिं बुलाइ।—सूर। मोहनी लगना = जादू लगने के कारण मोहित होना। मोहित होना। लुभाना। उ०—आलु गई हों नंद भवन में कहा कहौं ग्रह चैनु री। बहु अंग चतुरंग छल मो कोटिक दुहियत धेनु री।बोलि लई नव बधू जानि कै खेलत जहाँ कँधई री। मुख देखत मोहिनी सी लागत रूप न बरन्यो जाई री।—सूर।

(७) माया। (८) पोई का साग।

वि० छी० [सं०] मोहित करनेवाली। चित्त को लुभाने-वाली। अत्यंत सुंदरी।

मोहनीय-वि० [सं०] मोहित करने के योग्य। मोह लेने के योग्य।

मोहफिल-संज्ञा स्त्री० दे० “महफिल”।

मोहव्यत-संज्ञा स्त्री० दे० “मुहव्यत”। उ०—हमको अपना आप दे, इश्क मोहव्यत दर्द। सेज सुहाग सुख प्रेम रस मिलि खेलैं ला-पद।—दादू।

मोहर-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) किसी ऐसी वस्तु पर लिखा हुआ नाम, पता या चिह्न आदि जिससे कागज वा कपड़े आदि पर छाप सकें। अक्षर, चिह्न आदि दबाकर अंकित करने का ठप्पा। उ०—इस मोहर की अँगूठी से आपको विश्वास हो जायगा। (अँगूठी देता है)—हरिश्चंद्र।

क्रि० प्र०—करना।—छापना।—देना।—लगाना।

(२) उपर्युक्त वस्तु की छाप जो कागज वा कपड़े आदि पर ली गई हो। स्याही लगे हुए ठप्पे को दबाने से बने हुए चिह्न या अक्षर। उ०—मोहर में अपना नाम वा चिह्न होता है, जिसमें पत्र पर लगी हुई मोहर देखते ही उस पत्र के पढ़ने के प्रथम परिज्ञान हो जाता है कि यह पत्र अमुक का है।—मुरारिदान। (३) स्वर्ण मुद्रा। अशरफी। उ०—(क) करि प्रणाम मोहर बहु दीन्हो। दियो असीस यतीश न लीन्हो।—रघुराज। (ख) जो कुजाति नहि मानै बाता। गगरा खोदि दिखायौ ताता। गाड़े बीच अजिर के माहीं। मोहर भरे नृप जानत नाहीं।—रघुनाथदास।

मोहरा-संज्ञा पुं० [हि० मुँह + रा (प्रत्य०)] [स्त्री० मोहरी] (१) किसी बरतन का मुँह या खुला भाग। (२) किसी पदार्थ का ऊपरी या अगला भाग। (३) एक प्रकार की जाली जो बैल, गाय, भैंस इत्यादि का मुँह कसकर गिराँव के साथ बाँधने के लिये होती है। यह मुँह पर बाँधकर कस दी जाती है, जिससे पशु खाने पीने की चीजों पर मुँह नहीं चला सकता। (४) सेना की अगली पंक्ति जो आक्रमण करने और शत्रु को हटाने के लिये तैयार हो। (५) फौज की चढ़ाई का रख। सेना की गति। उ०—मही के महीपन को मोह्यो कैसे मोहरा।—रघुराज।

मुहा०—मोहरा लेना = (१) सेना का मुकाबला करना। (२) भिड़ जाना। प्रतिद्वंद्विता करना।

(५) कोई छेद वा द्वार जिससे कोई वस्तु बाहर निकले।

(६) चोली आदि की तनी या बंद। उ०—कंचुकी सूही

कसे मोहरा अति फैलि चली तिगुनी परभासी। मानिक के

भुजबंद चुरी मणि कंचन कंकन ओप प्रकासी।—गुमान।

संज्ञा पुं० [फा० मोहर] (१) शतरंज की कोई गोटी। (२)

मिट्टी का साँचा जिसमें कड़ा, पछुआ इत्यादि ढालते हैं।

(३) रेशमी वस्त्र घोटने का घोटना जो प्रायः बिलौर का

बनता है। (४) सिंगिया विष। (५) सोने, चाँदी पर

नक्काशी करनेवालों का वह औजार जिससे रगड़कर नक्काशी

को चमकाते हैं। दुआली। (६) जहरमोहरा।

मोहरात्रि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह प्रलय जो ब्रह्मा के पचास वर्ष बीतने पर होता है। दैनंदिन प्रलय। (२) जन्माष्टमी की रात्रि। भाद्रपद कृष्णा अष्टमी।

मोहराना-संज्ञा पुं० [फा० मुहर + आना (प्रत्य०)] वह धन जो किसी कर्मचारी को मोहर करने के लिये दिया जाय। मोहर करने की उजरत।

मोहरी-संज्ञा स्त्री० [हि० मोहरा] (१) बरतन आदि का छोटा मुँह या खुला भाग। (२) पाजामे का वह भाग जिसमें टाँगें रहती हैं। (३) दे० “मोरी”।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मधुमक्खी जो खानदेश में होती है।

मोहरिर्-संज्ञा पुं० [अ०] वह जो किसी के कागज़ आदि लिखने का काम करता हो। लेखक। मुंशी।

मोहलत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) फुरसत। अवकाश। छुट्टी।

क्रि० प्र०—देना।—माँगना।—मिलना।—लेना।

(२) किसी काम को पूरा करने के लिये मिला हुआ या निश्चित समय। अवधि। जैसे,—चार दिन की मोहलत और दी जाती है। इस बीच में रुपया इकट्ठा करके दे दो।

मोहल्ला-संज्ञा पुं० दे० “महल्ला”।

मोहारण-संज्ञा पुं० [हि० मुँह + आर (प्रत्य०)] (१) द्वार। दरवाजा।

(२) मुँहड़ा। अगला भाग। उ०—रूप को कूप बखानत हैं कवि कोऊ तलाब सुया ही के संग को। कोऊ तुफंग मोहार कहै दहला कलपद्रुम भाषत अंग को।—शंभु।

संज्ञा पुं० [सं० मधुकर, प्रा० मधुकर] (१) मधुमक्खी की एक

जाति जो सब से बड़ी होती है। सारंग। (२) मधु का

छत्ता। (३) भौरा।

मोहारणी-संज्ञा स्त्री० [हि० मुँह + सं० पारयण (प्रत्य०)] पाठशाला के बालकों का एक साथ खड़े होकर पढ़ाई पढ़ना।

मोहाल-संज्ञा पुं० [अ० महल] पूरा गाँव वा उसका एक भाग, अथवा कई गाँवों का समूह जिसका बंदोबस्त किसी नंबरदार

के साथ एक बार किया गया हो। व्यवहार में 'मोहाल' पूरा माना जाता है और इसी विचार से उसकी पट्टी वा हिस्सा बनाया जाता है।

संज्ञा पुं० [हि० मोहार] (१) मधुमक्खी की एक जाति। मोहार। (२) मधुमक्खी का छत्ता।

मोहिङ्ग-सर्व० [सं० मङ्ग, पा० मङ्ग] ब्रज भाषा और अवधी के उत्तम पुरुष "मैं" का वह रूप जो पहले सब कारकों में आता था, पर पीछे कर्म और संप्रदान में ही आने लगा। मुझको। मुझे। उ०—(क) मरूँ पर माँगों नहीं अपने तन के काज। परमारथ के कारनै मोहिं न आवै लाज।—सूर। (ख) नैना कछौ न मानै मेरो। हारि मानि कै रही मौन है निकट सुनत नहिं टेरो। ऐसो भये मनो नहिं मेरे जबहिं दयाम मुख हेरो। मैं पछताति जबहिं सुधि आवति ज्यों दीन्हों मोहिं हेरो।—सूर।

मोहित-वि० [सं०] (१) मोह या भ्रम में पड़ा हुआ। मुग्ध। (२) मोहा हुआ। आसक्त।

मोहिनी-वि० स्त्री० [सं०] मोहनेवाली।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) त्रिपुरमाली नामक फूल। वटपत्रा। बेला। (२) विष्णु के एक अवतार का नाम। भागवत के अनुसार विष्णु ने यह अवतार उस समय लिया था, जब देवताओं और दैत्यों ने मिलकर रत्नों के निकालने के लिये समुद्र मथा था और अमृत के निकालने पर दोनों उसके लिये परस्पर झगड़ रहे थे। उस समय भगवान् ने मोहिनी अवतार धारण किया था और उन्हें देखते ही असुर मोहित होकर बोले थे कि अच्छा लाओ, हम दोनों दलों के लोग बैठ जायँ और मोहिनी अपने हाथ से हम लोगों को अमृत बाँट दे। दोनों दलों के लोग पंक्ति बाँधकर बैठ गए और मोहिनी रूप विष्णु ने अमृत बाँटने के बहाने से देवताओं को अमृत और असुरों को सुरा पिला दी। (३) माया। जादू। टोना। उ०—देवी ने ऐसी मोहिनी डाली थी कि यशोदा को लड़की के होने की भी सुध नहीं थी। (४) वैशाख शुक्ल एकादशी का नाम। (५) एक अर्द्धसम वृत्ति का नाम जिसके पहले और तीसरे चरणों में बारह और दूसरे तथा चौथे चरणों में सात मात्राएँ होती हैं; और प्रत्येक चरण के अंत में एक सगण अवश्य होता है। उ०—शंभु भक्तजन त्राता भव दुख हरैं। मन वाञ्छित फल-दाता मुनि हिय धरैं। (६) पंद्रह अक्षरों के एक वर्णिक छंद का नाम जिसके प्रत्येक चरण में सगण, भगण, तगण, यगण और सगण होते हैं। उ०—सुभ तो ये सखि री आदिहुँ जो चित्त धरी। नर औ नारि पढ़ैं भारत के एक धरी।

मोही-वि० [सं० मोहिन्] [स्त्री० मोहिनी] मोहित करनेवाला।

वि० [हि० मोह + ई (प्रत्यय)] (१) मोह करनेवाला। प्रेम

करनेवाला। (२) लोभी। लालची। (३) भ्रम या भ्रमिणा में पड़ा हुआ। अज्ञानी।

मोहेला-संज्ञा पुं० [अ० महल] एक प्रकार का चलता गाना।

मोहेली-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मछली जो हिमालय और सिंध की नदियों में मिलती है।

मोहोपमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अलंकार का नाम जो केशव-दास के अनुसार उपमा का एक भेद है; पर और आचार्य जिसे 'भ्रांति' अलंकार कहते हैं। वि० दे० "भ्रांति"।

मौज-वि० [सं०] [स्त्री० मौजी] मूँज का बना हुआ।

मौजकायन-संज्ञा पुं० [सं०] मुंजक ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष।

मौजवान-वि० [सं० मौजवत] (१) मुंजवान् नामक पर्वत में उत्पन्न। (२) मुंजवान् नामक पर्वत संबंधी।

मौजिबंधन-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञोपवीत-संस्कार। व्रतबंध। जनेऊ।

मौजी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूँज की बनी हुई मेखला।

यौ०—मौजिबंधन।

वि० [सं० मौजिन्] (१) जो मूँज की मेखला धारण किए हुए हो। जो मूँज की मेखला पहने हो। (२) दे० "मौजीय"।

मौजीपत्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वलयजा।

मौजीय-वि० [सं०] मूँज का बना हुआ।

मौड़ा-संज्ञा पुं० [सं० माणवक] [स्त्री० मौड़ी] लड़का।

उ०—(क) मैया बहुत बुरो बलदाऊ। कहन लगे वन बड़ो तमासो सब मौड़ा मिलि आऊ।—सूर। (ख) बाट ही गोरस बेच री आज तू माय के मूँड चढ़ै मति मौड़ी।—रसखानि।

संज्ञा पुं० दे० "मोहड़ा"।

मौका-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह स्थान जहाँ कोई घटना संवदित हो। घटनास्थल। वारदात की जगह। उ०—वानस साहब ने मौके पर जाकर, अच्छी तरह तहकीकात की।—द्विवेदी। (२) देश। स्थान। जगह। जैसे,—मकान का मौका अच्छा नहीं है। (३) अवसर। समय। उ०—तब से बंबई जाने का हमें मौका ही न आया।—द्विवेदी।

मुहा०—मौका देना = अवकाश देना। समय देना। मौका देखना वा तकना = दाँव में रहना। उपयुक्त अवसर की ताक में रहना। मौका पाना = (१) अवकाश पाना। फुरसत पाना। (२) उपयुक्त समय या अवसर पाना। मौका पाना, मौका मिलना वा हाथ लगाना = (१) अवकाश मिलना। समय या अवसर मिलना। (२) बात मिलना। दाँव पाना।

मौकुल-संज्ञा पुं० [सं०] कौआ।

मौकूफ-वि० [अ०] (१) रोका हुआ। बंद किया हुआ। स्थगित किया हुआ। उ०—(क) सरकार ने अब इस सती होने की बुरी रस्म को मौकूफ कर दिया है।—शिव०। (ख) एक

मुनगा पास न आवेगा मौकूफ हुआ जब अन्न औ जल ।—
नजीर । (२) काम करने से रोका गया । नौकरी से अलग
किया गया । बरखास्त । उ०—सन् १९१० ई० में बादशाह
ने मुसलमान मुगलों को, जो नौकर हो गए थे, यककलम
मौकूफ कर दिया ।—शिवप्रसाद । (३) रद्द किया गया ।
मनसूख किया गया । (४) अधिष्ठित । मुनहसर ।
अवलंबित । आश्रित । निर्भर । उ०—दुःख और सुख तबी-
अत पर मौकूफ है ।—शिवप्रसाद ।

क्रि० प्र०—रहना ।—होना ।

मौकूफी-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) मौकूफ होने की क्रिया या
भाव । (२) प्रतिबंध । रूकावट । (३) काम से अलग किया
जाना । बरखास्तगी ।

मौक्तिक-संज्ञा पुं० [सं०] मोती ।

मौक्तिकतंडुल-संज्ञा पुं० [सं०] सफेद मक्का । बड़ी ज्वार ।

मौक्तिकदाम-संज्ञा पुं० [सं०] बारह अक्षरों का एक वर्णिक छंद
जिसके प्रत्येक चरण में दूसरा, पाँचवाँ, आठवाँ और
ग्यारहवाँ वर्ण गुरु और शेष लघु होते हैं; अर्थात् जिसके
प्रत्येक चरण में चार जगण होते हैं । उ०—दुख्यो हिय
केतिक देखत भूप । कयों तब तापर शेष अनूप । बियोगिनि
के उर भेदतु रोज़ । करै तुमको निज बाण मनोज़ ।—
गुमान ।

मौक्तिकमाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] ग्यारह अक्षरों की एक वर्णिक
वृत्ति का नाम जिसके प्रत्येक चरण का पहला, चौथा,
पाँचवाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ अक्षर गुरु और शेष लघु
होते हैं तथा पाँचवें और छठे वर्ण पर यति होती है । इसे
अनुकूला भी कहते हैं ।—उ०—भीति न गंगा जग तुव
दाया । सेवत तोहीं मन बच काया ।

मौक्तिकावलि-संज्ञा स्त्री० [सं०] मोती की माला ।

मौल-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम गान ।

मौख-संज्ञा पुं० [सं०] मुख से होनेवाला पाप । जैसे,—अभक्ष्य
भोजन और अपशब्दों का कहना इत्यादि ।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का मसाला । उ०—मौख मुनका मृत
मुलतानी । मेथी मालकंगनी सानी ।—सूदन ।

मौखर-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत अधिक या बढ़ बढ़कर बातें
करना । मुखरता । मुँहजोरी ।

मौखरी-संज्ञा पुं० [सं०] भारत के एक प्राचीन राजवंश का
नाम जिसका शासन काल ईसवी पाँचवीं शताब्दी के
अंत से लगभग ईसवी आठवीं शताब्दी तक था । इस वंश
का राज्य पूर्व में मगध तक, दक्षिण में मध्य प्रांत और
आंध्र तक, उत्तर में नेपाल तक तथा पश्चिम में थानेश्वर
और मालवे तक था । इनकी राजधानी कन्नौज थी, परंतु
बीच में उस पर वैस-वंशी राजा हर्ष ने अधिकार कर लिया

था । इस वंश के लोग अपने आपको भद्रराज अश्वपति
के वंशज मानते थे । इस वंश के बहुत प्राचीन होने के
कई प्रमाण मिले हैं; पर इसका पुराना इतिहास अभी
तक नहीं मिला है । हरिवर्मा, ईश्वरवर्मा, शर्ववर्मा,
ग्रहवर्मा, यशोवर्मा आदि इस वंश के प्रसिद्ध राजा थे ।

मौखर्थ्य-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत अधिक वा बढ़ बढ़कर बोलना ।
मुखरता । वाचालता । प्रगल्भता ।

मौखिक-वि० [सं०] (१) मुख संबंधी । मुख का । (२)
जबानी । जैसे,—आप कुछ देते तो हैं नहीं, केवल मौखिक
बातें करते हैं ।

मौगी-वि० [सं० मुग्ध] [स्त्री० मौगी] (१) मूर्ख । दुर्बुद्धि ।
(२) ज़नखा । हिजड़ा । मेहरा ।

मौगी-संज्ञा स्त्री० [हि० मौगा, मि० बँगला मागी = स्त्री०] स्त्री ।
औरत ।

मौच-संज्ञा पुं० [सं०] केले का फल ।

मौज-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) लहर । तरंग । हिलोर ।

क्रि० प्र०—आना ।—उठना ।

मुहा०—मौज मारना = लहराना । बहना । जैसे,—दरिया
मौजें मार रहा है । मौज खाना = लहर मारना । हिलोरा
लेना । (लश०) लंबी मौज = दूर तक का बहाव । (लश०)
(२) मन की उमंग । उछंग । जोश । उ०—(क) साहेब
के दरबार में कभी काहु की नाहिं । बंदा मौज न पावही
चूक चाकरी माँहिं ।—कबीर । (ख) कहा कमी जाके
राम धनी । मनसा नाथ मनोरथ पूरण सुख निधान जाकी
मौज घनी ।—सूर ।

मुहा०—किसी को मौज आना वा किसी का मौज में आना =
उमंग में भरना । अचानक किसी काम के लिये उत्तेजना होना ।
धुन होना । मौज उठना = मन में उमंग उठना । किसी की
मौज पाना = मरजी जानना । इच्छा से अवगत होना ।
(३) धुन । (४) सुख । आनंद । मजा । उ०—(क)
कबिरा हरि की भक्ति कर तजु बिषया रस चौज । बार
बार नहिं पाइए मानुष जनम की मौज ।—कबीर । (ख)
सोचु पन्थो मन राधिका कछु कहन न आवै । कछु हरखै
कछु दुख करै मन मौज बढ़ावै ।—सूर ।

क्रि० प्र०—करना ।—उड़ाना ।—मारना ।—मिलना ।
—लेना ।

(५) प्रभूति । विभव । विभूति उ०—रहति न रन
जयसाहि मुख लखि लाखन की मौज । जाचि निराखर हू
चलै लै लाखन की मौज ।—बिहारी ।

मौज़ा-संज्ञा पुं० [अ०] गाँव । ग्राम ।

मौजी-वि० [हि० मौजू + ई (प्रत्य०)] (१) मनमाना काम
करनेवाला । जो जी में आवे, वही करनेवाला । (२) सदा

प्रसन्न रहनेवाला। आनंदी। (२) मन में कभी कुछ और कभी कुछ विचार करनेवाला।

मौजूद-वि० [अ०] (१) उपस्थित। हाजिर। विद्यमान। रहता हुआ। उ०—जहाँ हम लोग गए थे, वहाँ शांतिपुर का हमारा नायब गुमास्ता मौजूद था।—सरस्वती। (२) प्रस्तुत। तैयार। जैसे—आपका काम करने को मैं मौजूद हूँ।

विशेष—इसका प्रयोग विशेष्य के आदि में इस रूप में नहीं होता; और यदि होता भी है, तो होना क्रिया का रूप लुप्त रहता है। जैसे,—वहाँ पर मौजूद सिपाही ने उसे बहुत रोका।

मुहा०—मौजूद रहना = (१) उपस्थित रहना। पास रहना। सामने रहना। (२) ठहरे रहना। जैसे,—मौजूद रहो; अभी उत्तर मिलेगा।

मौजूदगी-संज्ञा स्त्री० [फा०] सामने रहने का भाव। उपस्थिति। विद्यमानता।

मौजूदा-वि० [अ०] वर्तमान काल का। जो इस समय मौजूद हो। प्रस्तुत। उ०—चूँकि उर्दू की एक बेनजीर तारीख (आवे हयात) मुल्क में मौजूद है; लेहाजा किताब का ज़ियादह हिस्सा संस्कृत, हिंदी और मौजूदा हिंदी के जिक्रे खैर से मामूर होगा।—ज़माना।

मौड़ा ❧-संज्ञा पुं० दे० “मौड़ा”।

मौत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मरने का भाव। मरण। मृत्यु। वि० दे० “मृत्यु”। उ०—अरे कंस! जिसे तू पहुँचाने चला है, तिसका आठवाँ लड़का तेरा काल उपजेगा। उसके हाथ तेरी मौत है।—लल्लू। (२) वह देवता जो मनुष्यों वा प्राणियों के प्राण निकालता है। मृत्यु। उ०—बिरह तेज तन में तपै अंग सबै अकुलाय। घट सूना जिव पीव में, मौति हूँदि फिर जाय।—कबीर।

मुहा०—मौत आना = मरने को होना। मौत का पसीना आना = आसन्न मरण होना। मरने के लक्षण दिखाई देना। मौत का सिर पर खेलना = (१) मरने को होना। मरने पर होना। (२) दुर्दिन आने को होना। आपत्ति काल समीप होना। (३) प्राण जाने का भय होना। जान जोखों होना। मौत का तमाचा = मृत्यु का स्मरण दिलानेवाला कार्य या घटना। अपनी मौत मरना = स्वाभाविक ढंग से मरना। प्राकृतिक नियम के अनुसार मरना। मौत बुलाना = ऐसा काम करना जिससे मृत्यु निश्चित हो। (३) मरने का समय। काल।

मुहा०—मौत के दिन पूरे करना = किसी प्रकार आयु बिताना। कठिनाता से कालक्षेप करना। ऐसे ढूँख में दिन बिताना, जिसमें बहुत दिन जीना असम्भव हो।

(४) अत्यंत कष्ट। आपत्ति। जैसे,—वहाँ जाना तो हमारे लिये मौत है।

मौताद-संज्ञा स्त्री० [अ०] मात्रा। उ०—चंग जो होता वैद की दिये दवा मौताद। क्यों नहि सिर के दरद में सिर देता फिरहाद।—रसनिधि।

मौदल-संज्ञा पुं० [सं०] मुदल ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष। मौदल्य।

मौदल्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुदल ऋषि के पुत्र का नाम। ये एक गोत्रकार ऋषि थे। (२) मुदल ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष।

मौदहयायन-संज्ञा पुं० [सं०] गौतम बुद्ध के एक प्रधान शिष्य का नाम।

मौद्रीन-संज्ञा पुं० [सं०] वह खेत जिसमें सूँग उत्पन्न होता हो।

मौन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) न बोलने की क्रिया या भाव। चुप रहना। चुप्पी। उ०—संपति अरु बिपति को मिलि चलै प्रभु। तहाँ जहाँ नहि होइ सुभिरन तिहारो। करत दंडवत मैं तुमहि करुणाकरन कृपा करि ओर मेरे निहारो। सुनत यह वचन हरि कन्यो अब मौन करि कृपा तोहिं पर बीर धारी। संपति अरु बिपति को भय न होइ है तिसै सुनै जो यह कथा चित्त धारी।—सूर।

क्रि० प्र०—करना।—रहना।

मुहा०—मौन गहना वा ग्रहण करना = चुप रहना। चुप्पी साधना। न बोलना। उ०—(क) देखत ही जेहि मौन गही अरु मौन तजे कटु बोल उचारे।—केशव। (ख) मौन गहीं मन मारे रहों निज पीतम की कहों कौन कहानी।—व्यंग्यार्थ०। मौन खोलना = चुप रहने के उपरांत बोलना। उ०—खिनक मौन बाँध खिन खोला। गहेसि जीभ मुख जाइ न बोला।—जायसी। मौन तजना = चुप्पी छोड़ना। बोलने लगना। उ०—देखत ही जेहि मौन गही अरु मौन तजे कटु बोल उचारे।—केशव। मौन धरना वा धारण करना = न बोलना। चुप होना। मौन होना। उ०—जहँ बैठी वृषभानु नंदिनी तहँ आये धरि मौन। पढ़े पायँ हरि चरण परसि कर छिन अपराध सलौन।—सूर। मौन बाँधना = चुप्पी साधना। चुप हो जाना। उ०—जो बोलै सो मानिक सूँगा। नाहिं तो मौन बाँधु होइ गूँगा।—जायसी। मौन लेना वा साधना = मौन धारण करना। चुप होना। न बोलना। उ०—जिय में न क्रोध करु जाहि अब केहू ठौर नगर जरावे जिन साथ्यो हम मौन है।—हनुमन्नाटक। मौन सँभारना ❧ = मौन साधना। चुप होना।

(२) मुनियों का व्रत। मुनिव्रत। (३) फागुन महीने का पहला पक्ष।

वि० [सं० मौनी] जो न बोले । चुप । मौनी । उ०—(क) हमहुँ कहव अब ठकुर सुहाती । नाहिं त मौन रहव दिन राती ।—तुलसी । (ख) इतनी सुनत नैन भरि आये प्रेम नंद के लालहि । सूरदास प्रभु रहे मौन हैं घोष बात जनि चालहि ।—सूर ।

संज्ञा पुं० [सं० मौण] (१) वरतन । पात्र । उ०—काढ़ो कोरे कापर हो अरु काढ़ो घी को मौन । जाति पाँति पट्टिराय कै सब समदि छतीसो पौन ।—सूर ।

(२) डब्बा । उ०—सानहुँ रतन मौन दुइ मुँदे ।—जायसी । (३) मूँज आदि का बना टोकरा या पिटारा ।

मौनता—संज्ञा स्त्री० [सं०] मौन होने या रहने का भाव । चुप होना । चुप्पी ।

मौनव्रत—संज्ञा पुं० [सं०] मौन धारण करने का व्रत । चुप रहने का व्रत ।

मौना—संज्ञा पुं० [सं० मोण] [स्त्री० अल्पा० मौनी] (१) घी या तेल आदि रखने का एक विशेष प्रकार का वरतन । (२) काँस और मूँज से बुनकर बनाया हुआ टोकरा जिसमें अन्न आदि रखा जाता है । (३) सींक वा काँस और मूँज का तंग मुँह का ढक्कनदार टोकरा । पिटारी ।

मौनी—वि० [सं० मौनिन्] (१) चुप रहनेवाला । न बोलनेवाला । मौन धारण करनेवाला । (२) मुनि ।

संज्ञा स्त्री० [हि० मौना] कटोरे के आकार की टोकरी जो प्रायः काँस और मूँज से बुनकर बनाई जाती है ।

मौनेय—संज्ञा पुं० [सं०] गंधर्वों और अप्सराओं आदि का एक मातृक गोत्र ।

विशेष—इन जातियों में माता का गोत्र प्रधान होता है; क्योंकि इनके पिता अनिश्चित होते हैं ।

मौर—संज्ञा पुं० [सं० मुकुट, पा० मवड] [स्त्री० अल्पा० मौरी] (१) एक प्रकार का शिरोभूषण जो ताड़ पत्र या खुखड़ी आदि का बनाया जाता है । विवाह में वर इसे अपने सिर पर पहनता है । उ०—(क) अबधूँ बोत तुराबल राता । नाचै बाजन बाज बराता । मौर के साथे दूल्ह दीन्हों, अकथा जोरि कहाता । मडये के चारन समधी दीन्हों पुत्र विआहल माता ।—कबीर । (ख) सोहत मौर मनोहर माथे । मंगलमय मुकुता मणि गाथे ।—तुलसी । (ग) रामचंद्र सीता सहित शोभत हैं तेहि ठौर । सुवरणमय मणिमय खचित शुभ सुंदर सिर मौर ।—केशव ।

मुहा०—मौर बाँधना = विवाह के समय सिर पर मौर पहनना । उ०—पाँवरि तजहु देहु पग, पैरन-बाँक तुखार । बाँध मौर औ छत्र सिर बेगि होहु असवार ।—जायसी ।

(२) शिरोमणि । प्रधान । सरदार । उ०—(क) जो तुम

राजा आप कहावत धुंदावन की ठौर । लट लट दधि खात सबन को सब चोरन के मौर ।—सूर । (ख) साधू मेरे सब दे अपनी अपनी ठौर । शब्द बिचेकी पारखी वह माथे का मौर ।—कबीर ।

संज्ञा पुं० [सं० मुकुल, प्रा० मजल] छोटे छोटे फूलों वा कलियों से गुथी हुई लंबी लंबी लट्ठवाला घौद । मंजरी । बौर । जैसे,—आम का मौर, पयार का मौर, अशोक का मौर । उ०—(क) नंद महर घर के पिछवाड़े राधा आइ बतानी हो । मनो अंब-दल मौर देखिके कहिके कोकिला बानी हो ।—सूर । (ख) चलत सुन्यो परदेस को हियरो रखौ न ठौर । लै मालिन भीतहि दियो नव रसाल को मौर ।—मतिराम ।

मुहा०—मौर बाँधना = मौर निकलना । मंजरी लगना ।

संज्ञा पुं० [सं० मौलि = सिर] गरदन का पिछला भाग जो सिर के नीचे पड़ता है । गरदन । उ०—(क) भौह उँचै आँचर उलटि मौर मोरि मुँह मोरि । (ख) मौर उँचै घूँटन नै नारि सरोवर न्हाइ ।—विहारी ।

मौरना—क्रि० सं० [हि० मौर + ना (प्रत्य०)] वृक्षों पर मंजरी लगना । आम आदि के पेड़ों पर बौर लगना । उ०—(क) काटे आँव न मौरिया फाटे जुरै न कान । गोरख पद परसे चिना कहौ कौन की सान ।—कबीर । (ख) शिशिर होत पतझार, आँव कटाहर एक से । राह बसंत निहार, जग जाने मौरत प्रगट ।—हनुमन्नाटक । (ग) विलोके तहाँ आँव के साखि मौरै । चहुँचा अमैं हुंकरैं भौर बौरै । लगे पौन के झोंक डारैं झुकावैं । बिचारे बियोगीन को ज्यों डरावैं ।—गुमान ।

मौरसिरी—संज्ञा स्त्री० दे० “मौलसिरी” । उ०—(क) जुही नसत तासों कहूँ प्रीति निबारी जाय । मौरसिरी दिन दिन चढ़ै सदा सुहागि लताहि ।—रसनिधि । (ख) मौरसिरी ही को पैन्हि कै हार भई सब के सिर मौर-सिरी तू ।—देव ।

मौरी—संज्ञा स्त्री० [हि० मौर + ई (प्रत्य०)] (१) छोटा मौर जो विवाह में बधू के सिर पर बाँधा जाता है ।

मौरूसी—वि० [अ०] बाप दादा के समय से चला आया हुआ । पैतृक । जैसे,—(क) यह मौरूसी जायदाद है; इसमें सब का हक है । (ख) यह बीमारी तो उनके खानदान में मौरूसी है ।

मौख्य—संज्ञा पुं० [सं०] सूर्यवत्ता । वेवकूपी ।

मौर्य—संज्ञा पुं० [सं०] क्षत्रियों के एक वंश का नाम । सम्राट् चंद्रगुप्त और अशोक इसी वंश में उत्पन्न हुए थे । पुराणों में मौर्यों को वर्णसंकर लिखा है और मौर्य वंश का

मूलपुरुष 'चंद्रगुप्त' माना गया है। पुराणों के अनुसार चंद्रगुप्त का जन्म मुरा नामक क्षत्रिय से हुआ था और वह चाणक्य की सहायता से नंदों का नाश कर पाटलिपुत्र का सम्राट् हुआ था। (वि० दे० 'चंद्रगुप्त' १) पर बौद्ध ग्रंथों में 'चंद्रगुप्त' को 'मौरिय' वंश का लिखा है और उसे शुद्ध क्षत्रिय माना है। मौर्य वंश के शुद्ध क्षत्रिय होने की पुष्टि दिव्यावदान में अशोक के मुँह से कहलाए हुए 'देवि अहं क्षत्रियः कथं पलांडुं परिभक्षयामि' से भी होता है, जिसमें अशोक कहता है—'देवि, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं प्याज कैसे खाऊँ।' 'मुरा' शब्द में 'प्य' प्रत्यय लगाने से 'मौर्य' शब्द बहुत खींच खींच से बनता है; पर पाली भाषा में 'मोरिया' शब्द आया है, जिसकी सिद्धि पाली व्याकरण के अनुसार मोर शब्द से, जो 'मयूर' का पाली रूप है, की गई है। यही समझकर जैनियों ने चंद्रगुप्त की माता को नंद के मयूर-पालकों के सरदार की कन्या लिखा है। बुद्धघोष के विनयपिटक की अथकथा की टीका और महावंश की टीका में चंद्रगुप्त को मोरिय नगर के राजा की रानी का पुत्र लिखा है। यह मोरिय नगर हिंदूकुश और चित्राल के मध्य उज्जानक (सं० उद्यान) देश में था। महापरिनिर्वाण सूत्र में लिखा है कि जिस समय महात्मा गौतम बुद्ध का कुशीनगर में निर्वाण हुआ था और मल्लराज ने उनकी अंत्येष्टि के अनंतर उनके भस्म और अस्थि को कुशीनगर में चैत्य बनाकर प्रतिष्ठित करना चाहा था, उस समय कपिलवस्तु, राजगृह आदि के राजाओं ने महात्मा बुद्धदेव के धातु को बाँटकर अपने अपने भाग को अपने अपने देश में चैत्य बनाकर रखने के उद्देश्य से कुशीनगर पर चढ़ाई की थी, जिससे महान् उपद्रव की संभावना देख महात्मा द्रोण ने महात्मा बुद्धदेव के धातु को विभक्त कर प्रत्येक को कुछ कुछ भाग देकर झगड़ा शांत किया था। उन राजाओं में, जिन्हें महात्मा बुद्धदेव की चिता के भस्म का भाग दिया गया था, पिप्पलीकानन के मोरिय राजा का भी उल्लेख महापरिनिर्वाण सूत्र में है। इससे विदित होता है कि महात्मा बुद्धदेव के परिनिर्वाण काल में पिप्पलीकानन में मोरिय क्षत्रियों का निवास था। इससे मोरिय राजवंश की सत्ता का पता चंद्रगुप्त से बहुत पहले तक चलता है। ये मोरिय लोग शाक्य, लिच्छवि, मल्ल आदि वंश के क्षत्रियों के संबंधी थे। जान पड़ता है कि ये लोग काबुल के प्रदेशों के रहनेवाले क्षत्रिय थे; और जब पारसी आर्यों ने भारतीय आर्यों पर आक्रमण करना प्रारंभ किया, तब ये लोग भागकर नेपाल की तराई में चले आए और वहाँ के लोगों को अपने अधिकार में करके इन्होंने छोटे छोटे अनेक राज्य स्थापित किए। इनके आचार आदि पर

पारसी आर्यों और मध्य एशिया की अन्य जातियों का प्रभाव पड़ा था; इसी लिये मनु जी ने उन्हें ब्राह्म क्षत्रिय लिखा है—“सल्लोमल्लश्च राजन्या द्वात्यान्निच्छिवि रेवच। नटश्च करणश्चैव खसोद्विड एव च”। संभव है कि बौद्ध हो जाने के कारण ही संस्कार-च्युत होने पर इन जातियों को ब्राह्मज लिखा गया हो; और इसी लिये पुराणों में चंद्रगुप्त मौर्य के वंश के लिये भी 'बृषल' वा वर्णसंकर लिखा गया हो। महावंश के टीकाकार और दिव्यावदान के टीकाकारों का कथन है कि चंद्रगुप्त मोरिय नगर के राजा का पुत्र था। जब मोरिय के राजा का ध्वंस हुआ, तब उसकी गर्भवती रानी अपने भाई के साथ बड़ी कठिनाता से भागकर पुष्पपुर चली आई और वहीं चंद्रगुप्त का जन्म हुआ। यह चंद्रगुप्त गौड़ चराया करता था। इसे होनहार देख चाणक्य जी अपने आश्रम पर लाए और उपनयन कर अपने साथ तक्षशिला ले गए। जब सिकंदर ने पंजाब पर आक्रमण किया, तब तक्षशिला के ध्वंस होने पर चंद्रगुप्त आचार्य चाणक्य के साथ सिकंदर के शिविर में था। वील साहब का कथन है कि मोरिय नगर उज्जानक प्रदेश में था, जो हिंदूकुश और चित्राल के मध्य में था। इन सब बातों को देखते हुए जान पड़ता है कि जिस प्रकार निस्विश से लिच्छवि, शक से शाक्य आदि राजवंशों के नाम पड़े, उसी प्रकार मोरिय नगर के प्रथम अधिवासी होने के कारण मौर्य राजवंश का भी नाम रखा गया; और आचार व्यवहार की विभिन्नता से पुराणों में उसे 'बृषल' आदि लिखा गया। पारस की सीमा पर रहने के कारण उनके आचार-व्यवहार और रहन सहन पर पारसियों का प्रभाव पड़ा था; और चंद्रगुप्त तथा अशोक के समय के गुहों और राजप्रासादों का भी निर्माण पारस के भवनों के ढंग पर ही किया गया था। चंद्रगुप्त के अनंतर अशोक मौर्य वंश का सब से प्रसिद्ध सम्राट् हुआ। मौर्य साम्राज्य का ध्वंस शुंगों ने किया। पर विक्रम की आठवीं शताब्दी तक इधर उधर मौर्यों के छोटे छोटे राज्यों का पता लगता है। ऐसा प्रसिद्ध है, और जैन ग्रंथों में भी लिखा है, कि चित्तौड़ का गढ़ मौर्य या मोरी राजा चित्रांग ने बनवाया था।

मौर्वी-संज्ञा स्त्री० [सं०] धनुष की प्रत्यंचा। कमान की डोरी। ज्या।

मौल-वि० [सं०] (१) मूल से संबंध रखनेवाला। (२) मौलसी। पैतृक।

संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल के एक प्रकार के मंत्री।

मौलवी-संज्ञा पुं० [अ०] (१) अरबी भाषा का पंडित। (२) मुसलमान धर्म का आचार्य, जो अरबी, फारसी आदि भाषाओं का ज्ञाता हो।

मौलसिरी-संज्ञा स्त्री० [सं० मौलि + श्री] एक प्रकार का बड़ा सदाबहार पेड़ जिसकी लकड़ी अंदर से लाल और चिकनी होती है और जिससे मेज, कुर्सी आदि बनाई जाती है। यह दरवाजे और सँगहे बनाने के भी काम आती है। इसके फूल मुकुट के आकार के, तारे की भाँति छोटे छोटे होते हैं और उनसे इत्र बनाया जाता है। इसके फल पकने पर खाने योग्य होते हैं और बीजों से तेल निकलता है। इसकी छाल ओषधियों में काम आती है। इसका पेड़ बीजों से उत्पन्न होता है और सब देशों में लगाया जा सकता है। पश्चिमी घाट और कनारा में यह जंगलों में स्वच्छंद रूप से उगता है। यह पेड़ बहुत दिनों में बढ़ता है। यह बरसात में फूलता और शरद ऋतु में फलता है। इसके फूल सफ़ेद, कटावदार और छोटे छोटे बहुत ही कोमल और मीठी सुगंध-वाले होते हैं। उ०—पहिरत ही गोरे गरी यों दौरी दुति लाल। मनौ परसि पुलकित भई मौलसिरी की माल।—बिहारी।

पर्या०—बकुल। केसर। सीधगंध। मुकुल। मधुपुष्प। सुरभि। शारदिक। करक। चिरपुष्प।

मौलि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पदार्थ का सब से ऊँचा भाग। चोटी। सिर। चूड़ा। (२) मस्तक। सिर। (३) किरिट। (४) शूद्र। जटाजूट। (५) अशोक का पेड़। (६) मुख्य वा प्रधान व्यक्ति। सरदार। (७) पृथिवी। भूमि। जमीन।

मौली-वि० [सं० मौलिन्] जिसके सिर पर मौलि या मुकुट हो। मुकुटधारी।

मौषल-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के एक पर्व का नाम।

मौषिकापुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार एक आचार्य का नाम।

मौष्टा-संज्ञा स्त्री० [सं०] घूँसे की मार। घूँसघूँसा। मुक्कामुक्की।

मौष्टिक-संज्ञा पुं० [सं०] चोरी।

मौसम-संज्ञा पुं० दे० “मौसिम”।

मौसर†-वि० [अ० मुयस्सर = प्राप्त] (१) जो सुगमता से मिल सके। सुप्राप्त।

मुहा०—मौसर आना = मिल सकना। उ०—समय की चूक हूँ सालति प्रवीनन को मौसर न आवै नैनौ औसर जवाब को।—बलवीर।

(२) उपलब्ध। प्राप्त। उ०—(क) औसर के मौसर भये मत दे कर तें खोइ। जोवन औसर भावतो बार बार नहिं होइ।—रसनिधि। (ख) बार बार नहिं होत है औसर मौसर बार। सौ सिर देवै को अरे जौ फिर हूँ त्यार।—रसनिधि।

क्रि० प्र०—आना।—करना।—होना।

मौसल-वि० [सं०] मूसल संबंधी। मूसल का।

मौसली†-संज्ञा स्त्री० दे० “मौलसिरी”।

मौसा-संज्ञा पुं० [हि० मौसी का पुं०] [स्त्री० मौसी] माता की बहिन का पति। मौसी या मासी का पति।

मौसिम-संज्ञा पुं० [अ०] [वि० मौसिमी] (१) उपयुक्त समय। अनुकूल काल। (२) ऋतु।

मौसिमी-वि० [फा०] (१) समयोपयोगी। काल के अनुकूल। (२) ऋतु संबंधी। ऋतु का। जैसे,—मौसिमी फल, मौसिमी मिठाई।

मौसिया-संज्ञा पुं० दे० “मौसा”।

वि० संबंध में मौसी या मौसा के स्थान का। मौसी के द्वारा संबंध रखनेवाला। जैसे,—मौसिया सास, मौसिया ससुर। वि० दे० “मौसेरा”। जैसे,—चोर चोर मौसिया भाई। (कहावत)

मौसियाउत†-वि० [हि० मौसी + आउत (प्रत्य०)] मौसेरा।

मौसियायत-वि० दे० “मौसियाउत”।

मौसी-संज्ञा स्त्री० [सं० मातृवसा प्रा० मातृस्तिष्ठा] [वि० मौसेरा, मौसियाउत] माता की बहिन। मासी। उ०—मातु मौसी बहिन हूँ तें सासु तें अधिकाइ। करहिं तापस तीय तनया सीय हित चित लाइ।—तुलसी।

मौसेरा-वि० [हि० मौसी + एरा (प्रत्य०)] मौसी के द्वारा संबंध। मौसी के संबंध का। जैसे,—मौसेरा भाई, मौसेरी बहिन, मौसेरा ससुर, मौसेरी सास इत्यादि। उ०—जब देवसरूप बैठ गये, उनके मौसेरे ससुर नंदकुमार अपनी ठौर से उठे और देखकर कहने लगे।—अधखिला फूल।

मौहूर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] मुहूर्त्त बतलानेवाला, ज्योतिषी।

मौहूर्त्तिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुहूर्त्त बतलानेवाला, ज्योतिषी। (२) दक्ष की मुहूर्त्ता नाम की कन्या से उत्पन्न एक देवगण। वि० मुहूर्त्त से उत्पन्न। मुहूर्त्तोज्ञव।

म्याँवँ-संज्ञा स्त्री० [अनु०] बिह्ली की बोली।

मुहा०—म्याँवँ म्याँवँ करना = भयभीत होकर धीमी आवाज से बोलना। डर के मारे बोल बंद हो जाना। उ०—माधव जी सौ अपराधी हौं। जनम पाइ कछु भलो न कीन्हों कहा सो क्यों निबहौं।....हँसि बोले जगदीश जगत्पति बात तुम्हारी यौं। करुणासिंधु कृपालु कृपानिधि भजो शरण को क्यों। बात सुने ते बहुत हँसौगे चरण कमल की सौं। मेरी देह छुटत जम पठयै जितक हुते घर मौं। लै लै सब हथियार आपुने सान धराये त्यों। जिनके दासन दरस देखि के पतित करत म्यों म्यों।—सूर।

म्यान-संज्ञा पुं० [फ० मियान] (१) कोप जिसमें तलवार, कटार आदि के फल रखे जाते हैं। तलवार, कटार आदि का फल रखने का खाना। उ०—(क) चाखा चाहै प्रेम रस

राखा चाहै मान । दोष खङ्ग इक म्यान में देखा सुना न न कान ।—कबीर । (ख) जब माल इकट्ठा करते थे, अब तन का अपने ढेर करो । गढ़ टूटा लबकर भाग चुका अब म्यान में तुम शम्शेर करो ।—नजीर । (२) अन्नमय कोश । शरीर । उ०—(क) कबिरा सूता क्या करै, उठि न भजै भगवान । जम धरि जब ले जायँगे पड़ा रहैगा म्यान ।—कबीर । (ख) चंचल मनुवाँ चेत रे सोवै कहा अजान । जम धर जब ले जायगा पड़ा रहैगा म्यान ।—कबीर ।

म्याना ॐ-क्रि० सं० [हि० म्यान] म्यान में डालना । म्यान में रखना । उ०—(क) अस कहि अपनी कादि कृपानी । म्यान्यौ ताहि विशेषि बखानी ।—रघुराज । (ख) तासु तेजु सहि सक्यो न राना । खङ्ग तुरंत म्यान नहँ म्याना ।—रघुराज । ॐ संज्ञा पुं० दे० “मियाना” ।

म्यानी-संज्ञा स्त्री० [फा०] पाजामे की काट में एक टुकड़े का नाम जो दोनों पल्लों को जोड़ते समय रानों के बीच में जोड़ा जाता है ।

म्युनिसिपैल्टी-संज्ञा स्त्री० [अंग०] किसी नगर के नागरिकों की वह प्रतिनिधि सभा जिसे उस नगर के स्वास्थ्य, स्वच्छता तथा अन्यान्य आंतरिक प्रबंधों का स्वतंत्र रूप से नियमानुसार अधिकार हो ।

विशेष—प्रायः सभी बड़े नगरों में वहाँ की सफाई, रोशनी, सड़कों और मकानों आदि की व्यवस्था तथा इसी प्रकार के और अनेक कार्यों के लिये म्युनिसिपैल्टी का संघटन होता है । इसके सदस्यों का चुनाव प्रायः प्रति तीसरे वर्ष कुछ विशिष्ट योग्यतावाले नागरिकों के द्वारा हुआ करता है ।

म्यूजियम-संज्ञा पुं० [अंग०] वह स्थान जहाँ देश तथा विदेश के अनेक प्रकार के अद्भुत और विलक्षण पदार्थ संगृहीत हों । अद्भुत पदार्थों का संग्रहालय । अजायबघर ।

म्यों-संज्ञा स्त्री० [अनु०] बिल्ली की बोली । उ०—मेरी देह छुटत जम पठए जितक हुते घर मों । तिनके दारुन दरस देखि कै पतित करत म्यों म्यों ।—सूर । वि० दे० “म्याँव” ।

म्योंड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० निर्गुंडी] एक सदाबहार झाड़ का नाम जिसमें केसरिया रंग के छोटे छोटे फूलों की मंजरियाँ लगती हैं । इसकी डालियों में आमने सामने पत्तियाँ होती हैं, जिनके बीच से दूसरी शाखाएँ निकलती हैं । इसकी पत्तियों के बीच में एक सींक होती है जिसके सिरे पर एक और दोनों ओर दो दो पत्तियाँ होती हैं, जो कुल मिलकर पाँच पाँच होती हैं । यह झाड़ बनों में होता है और बागों के किनारे बाढ़ पर भी लगाया जाता है । वैद्यक में म्योंड़ी उष्ण और रक्षु मानी गई है और इसका स्वाद कटु तथा तिक्त लिखा गया है । यह खाँसी, कफ,

सूजन और अफरा को दूर करती है । इसका प्रयोग वात रोग में भी होता है और इसकी पत्तियों की भाप बवासीर की पीड़ा को दूर करती है ।

पर्या०—नीलिका । नील निर्गुंडी । सिंहक । सिंदवार । निर्गुंडी । ब्रह्मण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपने दोषों को छिपाना । मकारी । (२) तेल लगाना । (३) मसलना । मीजना । अदिमा-संज्ञा पुं० [सं० अदिमन्] (१) मृदुता । कोमलता । (२) नम्रता । आजिजी ।

अदिष्ठ-वि० [सं०] अति मृदु । अत्यंत कोमल । प्रातन-संज्ञा पुं० [सं०] कैवर्ती सुस्तक । कैवटी मोथा । स्नान-वि० [सं०] (१) मलिन । कुम्हलाया हुआ । (२) दुर्बल । कमजोर । (३) मैला । मलिन । संज्ञा पुं० ग्लानि ।

स्नानता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्नान होने का भाव । मलिनता । (२) ग्लानि ।

स्नानि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मलिनता । कांतिक्षय । (२) ग्लानि । शोक ।

स्नायी-वि० [सं० स्नायिन्] (१) स्नान । ग्लानियुक्त । (२) दुःखी । स्निष्ट-वि० [सं०] (१) जो साफ़ न हो । अस्पष्ट । जैसे,—स्निष्ट वाणी । (२) अव्यक्त वाणी बोलनेवाला । जो स्पष्ट न बोलता हो । (३) स्नान ।

स्लेच्छ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनुष्यों की वे जातियाँ जिनमें वर्णाश्रम धर्म न हो । इस शब्द का मुख्य अर्थ है—अस्पष्ट-भापी अथवा ऐसी भाषा बोलनेवाला जिसमें वर्णों का व्यक्त उच्चारण न होता हो । प्राचीन ग्रंथों में स्लेच्छ शब्द का प्रयोग उन जातियों के लिये होता था, जिनकी भाषा के उच्चारण की शैली आर्यों की शैली से विलक्षण होती थी । ये जातियाँ प्रायः ऐसी थीं, जिनका आर्यों के साथ संपर्क था; इसी लिये स्लेच्छ देश भी भारतवर्ष के अंतर्गत माना गया है और स्लेच्छों को वर्णाश्रम-धर्म-रहित यज्ञ करनेवाला लिखा है । महाभारत के आदि पर्व में स्लेच्छों की उत्पत्ति, विश्वामित्र से छीनकर ले जाते समय वशिष्ठ की धेनु-नंदिनी के अंग प्रत्यंगा से लिखी गई है और पल्लव, द्रविड़, शक, यवन, शबर, पौंड्र, किरात, यवन, सिंहल, बर्बर, खस आदि स्लेच्छ माने गए हैं । पुराणों में स्लेच्छों की उत्पत्ति में मतभेद है । विष्णु पुराण में लिखा है कि सगर ने हैहय-वंशियों को पराजित कर उन्हें धर्मच्युत कर दिया था और दही लोग शक, यवन, कांबोज, पारद और पल्लव नामक स्लेच्छ जाति के हो गए । मत्स्य पुराण में राजा वेणु के शरीर-मंथन से स्लेच्छ जाति की उत्पत्ति लिखी गई है । बृहत्संहिता में हिमालय और विंध्यगिरि तथा विनशन और प्रयाग के मध्य के पवित्र देश के अतिरिक्त अन्यत्र को स्लेच्छ देश लिखा है ।

वृहत्पाराशर में चातुर्वर्ण और अंतराल वर्णों के अतिरिक्त वर्णाचार-हीन को श्लेच्छ लिखा है; और प्रायश्चित्त तत्त्व में गोमांस-भक्षी, विरुद्ध भाषी और सर्वाचार विहीन ही श्लेच्छ कहे गए हैं। (२) हिंगु। हींग।
वि० (१) नीच। (२) जो सदा पाप-कर्म करता हो। पाप-रत।

श्लेच्छकंद-संज्ञा पुं० [सं०] लहसुन।
श्लेच्छभोजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यावक। बोरो। (२) गेहूँ।
श्लेच्छमुख-संज्ञा पुं० [सं०] ताँबा।
म्हाराङ्ग-सर्व० दे० “मुझ”। उ०—दास तुलसी सभय वदति
सयनंदिनी मंदमति कंत सनु मंत म्हा को।—तुलसी।
म्हाराङ्ग-सर्व० दे० “हमारा”।

य

य-हिंदी वर्णमाला का २६वाँ अक्षर। इसका उच्चारण-स्थान तालू है। यह स्पर्श वर्ण और ऊपम वर्ण के बीच का वर्ण है; इसी लिये इसे अंतःस्थ वर्ण कहते हैं। इसके उच्चारण में कुछ आभ्यंतर प्रयत्न के अतिरिक्त संवार, नाद और घोष नामक बाह्य प्रयत्न भी होते हैं। यह अल्पप्राण है।

यंत, यंता-संज्ञा पुं० [सं० यंत] सारथी। (हिं०)

यंति-संज्ञा स्त्री० [सं०] दमन।

यंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तांत्रिकों के अनुसार कुछ विशिष्ट प्रकार से बने हुए आकार या कोष्ठक आदि, जिनमें कुछ अंक या अक्षर आदि लिखे रहते हैं और जिनके अनेक प्रकार के फल माने जाते हैं। तांत्रिक लोग इनमें देवताओं का अधिष्ठान मानते हैं। लोग इन्हें हाथ या गले में पहनते भी हैं। जंतर।

यौ०—यंत्र मंत्र = जादू, टोना या टोटका आदि।

(२) विशेष प्रकार से बना हुआ उपकरण, जो किसी विशेष कार्य के लिये प्रस्तुत किया जाय। औज़ार। जैसे—(क) वैद्यक में तेल और आसव आदि तैयार करने के अनेक प्रकार के यंत्र होते हैं। (ख) प्राचीन काल में भी अनेक ऐसे यंत्र बनते थे, जिनसे दूर से ही शत्रुओं पर प्रहार किया जाता था। (३) किसी खास काम के लिये बनाई हुई कल या औज़ार। जैसे,—आजकल संसार में सैंकड़ों प्रकार के यंत्र प्रचलित हैं, जिनकी सहायता से सैंकड़ों हजारों आदमियों का काम एक या दो आदमी कर लेते हैं। (४) बंदूक। (५) बाजा। वाद्य। (६) बाजों के द्वारा होनेवाला संगीत। (७) वीणा। वीन। (८) ताला। (९) एक प्रकार का बरतन। (१०) नियंत्रण।

यंत्रक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सुश्रुत के अनुसार कपड़े का वह बंधन जो घाव आदि पर बाँधा जाता है। पट्टी। (२) वह शिल्पकार जो यंत्र आदि की सहायता से चीज़ें तैयार करता हो। (३) वह जो वशीकरण करता हो। वश में कर लेनेवाला।

यंत्रकरंडिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बाजीगरों की पेटी जिसके द्वारा वे अनेक प्रकार के खेल करते हैं।

यंत्रगृह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह स्थान जहाँ यंत्र की सहायता से किसी प्रकार का कर्म होता हो अथवा कोई चीज़ तैयार की जाती हो। (२) वेध-शाला। (३) वह स्थान जिसमें प्राचीन काल में अपराधियों आदि को रखकर अनेक प्रकार की यंत्रणा दी जाती थी।

यंत्रणा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रक्षा करबा। (२) बाँधना। (३) नियम में रखना। नियम के अनुसार चलाना। नियंत्रण।

यंत्रणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छेश। यातना। तकलीफ। (२) दर्द। वेदना। पीड़ा।

यंत्रनाल-संज्ञा पुं० [सं०] वह नल जिसके द्वारा कूँ आदि से जल निकाला जाता है।

यंत्रपेषणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] चक्री।

यंत्र मंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] जादू। टोना। टोटका।

यंत्रमातृका-संज्ञा स्त्री० [सं०] चौंसठ कलाओं में से एक कला, जिसमें अनेक प्रकार के यंत्र या कलें आदि बनाना और उनसे काम लेना सम्मिलित है।

यंत्रराज-संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष में एक यंत्र जिससे ग्रहों और तारों की गति जानी जाती है।

यंत्रविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] कलों के चलाने और बनाने की विद्या।

यंत्रशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वेधशाला। (२) वह स्थान जहाँ अनेक प्रकार के यंत्रादि हों।

यंत्रसूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह सूत्र जिसकी सहायता से कठ-पुतली नचाई जाती है।

यंत्रापीड़-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सन्निपात ज्वर जिसके कारण शरीर में बहुत अधिक पीड़ा होती है और रोगी का लहू पीले रंग का हो जाता है।

यंत्रालय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह स्थान जहाँ कल या यंत्रादि हों। (२) छापाखाना। प्रेस।

यंत्राश-संज्ञा पुं० [सं०] एक राग जो हनुमत के मत से हिंडोल राग का पुत्र है।

यंत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्त्री की छोटी बहन। छोटी साली। संज्ञा स्त्री० छोटा ताला।

यंत्रित-वि० [सं०] (१) जो यंत्र आदि की सहायता से बाँधा या बंद कर दिया गया हो। रोका या बंद किया हुआ। (२) ताला लगा हुआ। ताले में बंद। उ०—नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज-पद-जंत्रित प्राण जाहिं केहि बाट।—तुलसी।

यंत्री-संज्ञा पुं० [सं० यंत्रि] (१) यंत्र मंत्र करनेवाला। तांत्रिक। (२) बाजा बजानेवाला। उ०—सूरदास स्वामी के चलिबे ज्यों यंत्री बिनु यंत्र सकात।—सूर। (३) नियंत्रण करने या बाँधनेवाला।

यंद-संज्ञा पुं० [हिं०] स्वामी।

य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यश। (२) योग। (३) यान। सवारी। (४) संयम। (५) छंदःशास्त्र में यगण का संक्षिप्त रूप। वि० दे० “यगण”। (६) यव। जौ। (७) यम। (८) त्याग। (९) प्रकाश।

यक-वि० दे० “एक” ।

यकअंगी-वि० [हि० एक + अंगी] (१) एक अंगवाला । (२) एक (पत्नी या पति) के साथ रहनेवाला (या वाली) उ०—
बहुरंगी जित तितहिं सुख यकअंगी कर अंत । जिमि गणिका
निधरक रहति दहति सती बिनु कंत ।—विश्राम । (३) एक
ही के आश्रित । एक ही पर रहनेवाला । एकनिष्ठ । (४) दे०
“एकांगी” ।

संज्ञा स्त्री० दे० “एकांगी” ।

यककलम-क्रि० वि० [फा०] (१) एक ही बार कलम चला-
कर । एक ही बार लिखकर । (२) एक-बारगी । एकाएक ।
जैसे,—वह यहाँ से यककलम बरखास्त कर दिया गया ।

यकता-वि० [फा०] जो अपनी विद्या या विषय में एक ही हो ।
जिसके मुकाबले का और कोई न हो । अद्वितीय ।

यकताई-संज्ञा स्त्री० [फा०] यकता या अद्वितीय होने का भाव ।
अद्वितीयता ।

यकपरा-संज्ञा पुं० [फा० यक + पर + आ (प्रत्य०)] एक प्रकार का
कबूतर जिसका सारा शरीर सफेद होता है, केवल डैनों
पर दो एक काली चित्तियाँ होती हैं ।

यक-बयक-क्रि० वि० [फा०] एक बारगी । यकायक । एक
दम से ।

यकवारगी-क्रि० वि० [फा०] यकबयक । अचानक । एकाएक ।
सहसा ।

यकसाँ-वि० [फा०] एक समान । एक सा । बराबर ।

यकायक-क्रि० वि० [फा०] एकाएक । अचानक । एक बारगी ।
सहसा ।

यकार-संज्ञा पुं० [सं०] य का वर्ण ।

यकीन-संज्ञा पुं० [अ०] प्रतीति । विश्वास । एतबार ।

यकीनन्-क्रि० वि० [अ०] अवश्य । निःसंदेह । बेशक ।
जरूर ।

यकृत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पेट में दाहिनी ओर की एक थैली
जिसमें पाचन रस रहता है और जिसकी क्रिया से भोजन
पचता है; अर्थात् उसमें वह विकार उत्पन्न होता है, जिससे
शरीर की धातुएँ बनती हैं । जिगर । कालखंड । (२) वह
रोग जिसमें यह अंग दूषित होकर बढ़ जाता है । वर्म-जिगर ।
(३) पक्षाशय ।

यकोला-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का मझोला पेड़ जिसके
पत्ते प्रति वर्ष शिशिर ऋतु में झड़ जाते हैं । इसकी लकड़ी
अंदर से सफेद और बड़ी मजबूत होती है और संदूक,
आरायशी सामान आदि बनाने के काम आती है । इसे
मसूरी भी कहते हैं ।

यक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार की देवयोनि । एक प्रकार
के देवता जो कुवेर के सेवक और उसकी निधियों के रक्षक

माने जाते हैं । उ०—यक्ष प्रबल बाढ़े भुवमंडल तिन
माय्यो निज आत । जिनके काज अंस हरि प्रगटे भूव जगत
विख्यात ।—सूर ।

विशेष—पुराणानुसार यक्ष लोग प्रचेता की संतान माने जाते
हैं । कहते हैं कि इनकी आकृति विकराल होती है, पेट फूला
हुआ और कंधे बहुत भारी होते हैं और हाथ-पैर घोर काले
रंग के होते हैं ।

(२) कुवेर ।

यक्षकर्म-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अंग-लेप जो कपूर,
अगरु, कस्तूरी और कंकाल मिलाकर बनाया जाता है ।
कहते हैं कि यक्षों को यह अंगलेप बहुत प्रिय है । उ०—
आजु आदित्य जल पवन पावन प्रबल चंद आनंदमय ताप
जग को हरौ । गान किन्नर करहु, नृत्य गंधर्वकुल, यज्ञ विधि
लक्ष उर यक्षकर्म धरौ ।—केशव ।

यक्षग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्रकार का कल्पित
ग्रह । कहते हैं कि जब इस ग्रह का आक्रमण होता है, तब
आदमी पागल हो जाता है ।

यक्ष्ण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूजन करना । (२) भक्षण करना ।
खाना ।

यक्षतरु-संज्ञा पुं० [सं०] वट-वृक्ष । बड़ का पेड़ ।

विशेष—कहते हैं कि वट का वृक्ष यक्षों को बहुत प्रिय होता
है और उसी पर वे रहा करते हैं ।

यक्षता-संज्ञा स्त्री० [सं०] यक्ष का भाव या धर्म । यक्ष-पन ।

यक्षत्व-संज्ञा पुं० [सं०] यक्ष का भाव या धर्म ।

यक्षधूप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साधारण धूप जो प्रायः देवताओं
आदि के आगे जलाया जाता है । (२) सरल वृक्ष का
निर्यास । ताड़पीन का तेल ।

यक्षनायक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यक्षों के स्वामी, कुवेर । (२)
जैनों के अनुसार वर्तमान अवसर्पिणी के अर्हत के चौथे अनु-
चर का नाम ।

यक्षप-संज्ञा पुं० [सं०] यक्षपति, कुवेर ।

यक्षपति-संज्ञा पुं० [सं०] यक्षों के स्वामी, कुवेर । उ०—मृत्यु
कुवेर यक्षपति कहियत जहँ शंकर को धाम ।—सूर ।

यक्षपुर-संज्ञा पुं० [सं०] अलकापुरी ।

यक्षरस-संज्ञा पुं० [सं०] फूलों से तैयार की हुई शराब ।
मध्वासव ।

यक्षराज-संज्ञा पुं० [सं०] यक्षों के राजा, कुवेर ।

यक्षरात्रि-संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्तिक मास की पूर्णिमा जो यक्षों
की रात मानी जाती है ।

यक्षलोक-संज्ञा पुं० [सं०] वह लोक जिसमें यक्षों का निवास
माना जाता है ।

यज्ञवित्त-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बहुत धनवान् हो, पर अपने धन में से कुछ भी व्यय न करता हो।

यज्ञस्थल-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम।

यज्ञांगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रचीन नदी का नाम।

यज्ञाधिप, यज्ञाधिपति-संज्ञा पुं० [सं०] यक्षों के स्वामी, कुवेर।

यज्ञामलक-संज्ञा पुं० [सं०] पिंड खजूर।

यज्ञवास-संज्ञा पुं० [सं०] वट का वृक्ष जिस पर यक्षों का निवास माना जाता है।

यज्ञिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) यक्ष की पत्नी। (२) कुवेर की पत्नी। (३) दुर्गा की एक अनुचरी का नाम।

यक्षी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुवेर की स्त्री। (२) यक्ष की स्त्री। यक्षिणी।

संज्ञा पुं० [सं० यक्ष + ई (प्रत्य०)] वह जो यक्ष की उपासना करता हो, अथवा उसे साधता हो। उ०—प्रजापती कहँ पूजहिं जोई। तिन कर बास दक्षपुर होई। भूती भूतहि यक्षी यक्षन। प्रेती प्रेतन रक्षी रक्षन।—गिरधर।

यज्ञु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो यज्ञ करता हो। (२) एक प्राचीन जनपद का वैदिक नाम, जो वक्षु भी कहलाता था और इसी नाम की नदी के आस पास था। आक्सस नदी के आस पास का प्रदेश। बदख़्शान। (३) इस जनपद का निवासी।

यज्ञेन्द्र-संज्ञा पुं० [सं०] यक्षों के स्वामी, कुवेर।

यज्ञेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] यक्षों के स्वामी, कुवेर।

यक्ष्मग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] क्षय या यक्ष्मा नामक रोग।

यक्ष्मन्त्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] दाख। अँगूर।

यक्ष्मा-संज्ञा पुं० [सं० यक्ष्मन्] क्षयी नामक रोग। तपेदिक। वि० दे० “क्षयी”।

यक्ष्मी-संज्ञा पुं० [सं० यक्ष्मिन्] वह जिसे यक्ष्मा रोग हुआ हो। यक्ष्मा रोग का रोगी। तपेदिक का बीमार।

यखनी-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) तरकारी आदि का रसा। शोरबा। झोल। (२) उबले हुए मांस का रसा। (३) वह मांस जो केवल लहसुन, प्याज, धनिया और नमक डालकर उबाल लिया जाय।

यगण-संज्ञा पुं० [सं०] छंदःशास्त्र में आठ गणों में से एक। यह एक लघु और दो गुरु मात्राओं का होता है (। ५५)। इसका संक्षिप्त रूप ‘य’ है। जैसे,—कमाना, चलाना।

विशेष—इसका देवता जल माना गया है और यह सुखदायक कहा गया है।

यगाना-वि० [फा०] (१) जो बेगाना न हो। एक वंश का। अपना। आत्मीय। नातेदार। (२) अकेला। फर्द। (३) अनुपम। अद्वितीय। एकता।

संज्ञा पुं० (१) भाई-बंद। (२) परप मित्र।

यगूर-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बहुत ऊँचा वृक्ष जिसकी लकड़ी का रंग अंदर से काला निकलता है। यह सिलहट की पूर्वी और दक्षिण पूर्वी पहाड़ियों में बहुत होता है। इसकी लकड़ी से कई तरह की सजावट की और बहुमूल्य वस्तुएँ बनाई जाती हैं। इसे आग में जलाने से बहुत उत्तम गंध निकलती है। इसे सेसी भी कहते हैं।

यग्य-संज्ञा पुं० दे० “यज्ञ”।

यच्छुः-संज्ञा पुं० दे० “यक्ष”।

यच्छुनी-संज्ञा स्त्री० दे० “यक्षिणी”।

यजंत-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ करनेवाला।

यजत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऋत्विक्। (२) एक वैदिक ऋषि का नाम जो ऋग्वेद के एक अंत्र के द्रष्टा थे।

यजति-संज्ञा पुं० दे० “यज्ञ”।

यज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्निहोत्री। (२) वह जो यज्ञ करता हो।

यजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेद-विधि के अनुसार होता और ऋत्विक् आदि के द्वारा काम्य और नैमित्तिक कर्मों का विधिपूर्वक अनुष्ठान करना। यज्ञ करना। (यह ब्राह्मणों के षट्कर्मों में से एक माना गया है।) (२) वह स्थान जहाँ यज्ञ होता हो।

यजनकर्त्ता-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ वा हवन करनेवाला।

यजमान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो यज्ञ करता हो। दक्षिणा आदि देकर ब्राह्मणों से यज्ञ, पूजन आदि धार्मिक कृत्य करानेवाला व्रती। यष्टा। (२) वह जो ब्राह्मणों को दान देता हो। (३) महादेव की आठ प्रकार की मूर्तियों में से एक प्रकार की मूर्ति।

यजमानता-संज्ञा स्त्री० [सं०] यजमान का भाव या धर्म।

यजमानलोक-संज्ञा पुं० [सं०] वह लोक जिसमें यज्ञ करके मरनेवालों का निवास माना जाता है।

यजमानी-संज्ञा स्त्री० [सं० यजमान + ई (प्रत्य०)] (१) यजमान का भाव या धर्म। (२) यजमान के प्रति पुरोहित की वृत्ति। (३) वह स्थान जहाँ किसी विशेष पुरोहित के यजमान रहते हों।

यजी-संज्ञा पुं० [सं० यजिन्] वह जो यज्ञ करता हो। यज्ञ करनेवाला।

यजु-संज्ञा पुं० दे० “यजुर्वेद”।

यजुर्विद्-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो यजुर्वेद का ज्ञाता हो। यजुर्वेद जाननेवाला।

यजुर्वेद-संज्ञा पुं० [सं०] भारतीय आर्यों के चार प्रसिद्ध वेदों में से एक वेद। जिसमें विशेषतः यज्ञ-कर्म का विस्तृत विवरण है और जो इसी लिये वेद-त्रयी में भित्ति स्वरूप

माना जाता है। यज्ञों में अध्वर्यु जिन गद्य मंत्रों का पाठ करता था, वे यजु कहलाते थे। इस वेद में उन्हीं मंत्रों का संग्रह है, इसलिये इसे यजुर्वेद कहते हैं। इसके दो मुख्य भेद हैं—कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद या वाजसनेयी। कृष्ण यजुर्वेद में यज्ञों का जितना पूर्ण और विस्तृत वर्णन है, उतना और संहिताओं में नहीं है। इन दोनों की भी बहुत सी शाखाएँ हैं, जिनमें थोड़ा बहुत पाठ-भेद है। अब तक यजुर्वेद की जो संहिताएँ मिली हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—काठक, कपिस्थल-कठ, मैत्रायणी और तैत्तिरीय। ये चारों कृष्ण यजुर्वेद की हैं। शुक्ल या वाजसनेयी की काण्व और माध्यदिनी दो शाखाएँ हैं। पतंजलि के मत से यजुर्वेद की १०१ शाखाएँ हैं; पर चरणव्यूह में केवल ८६ शाखाएँ दी हैं; और वायुपुराण में २३ शाखाएँ गिनाई गई हैं। इसके संहिता भाग में ब्राह्मण और ब्राह्मण भाग में संहिता भी मिलती है। इस वेद में अनेक ऐसे विधि मंत्र भी हैं, जिनका अर्थ बहुत थोड़ा या कुछ भी नहीं ज्ञात होता। कुछ प्रार्थनाएँ भी ऐसी हैं, जो बिल्कुल अर्थ-रहित जान पड़ती हैं। इसके कुछ मंत्र ऐसे हैं, जिनसे सूचित होता है कि उस समय लोगों में ब्रह्मज्ञान की बहुत कम चर्चा थी। इसमें देवताओं के नामों के साथ बहुत से विशेषण भी मिलते हैं, जिससे जान पड़ता है कि भक्ति की ओर भी लोगों की कुछ कुछ प्रवृत्ति हो चली थी। पुराणानुसार इस वेद के अधिपति शुक्र और वक्ता वैशंपायन माने जाते हैं। वि० दे० “वेद”।

यजुर्वेदी-संज्ञा पुं० [सं० यजुर्वेदिन्] (१) वह जो यजुर्वेद का ज्ञाता हो। (२) वह ब्राह्मण जो यजुर्वेद के अनुसार सब कृत्य करता हो।

यजुश्चुति-संज्ञा पुं० [सं०] यजुर्वेद।

यजुष्पति-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

यजुष्पात्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ-पात्र।

यजुष्य-वि० [सं०] यज्ञ संबंधी। यज्ञ का।

यजुवर-संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण।

यज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन भारतीय आयों का एक प्रसिद्ध वैदिक कृत्य जिसमें प्रायः हवन और पूजन हुआ करता था। मख। याग।

विशेष—प्राचीन भारतीय आयों में यह प्रथा थी कि जब उनके यहाँ जन्म, विवाह या इसी प्रकार का और कोई समारंभ होता था, अथवा जब वे किसी स्मृतिक की अंत्येष्टि किया या पितरों का श्राद्ध आदि करते थे, तब ऋग्वेद के कुछ सूक्तों और अथर्व वेद के मंत्रों के द्वारा अनेक प्रकार की प्रार्थनाएँ करते थे और आशीर्वाद आदि देते थे। इसी प्रकार पशुओं का पालन करनेवाले अपने पशुओं की वृद्धि

के लिये तथा किसान लोग अपनी उपज बढ़ाने के लिये अनेक प्रकार के समारंभ करके स्तुति आदि करते थे। इन अवसरों पर अनेक प्रकार के हवन आदि भी होते थे, जिन्हें उन दिनों “गृह्यकर्म” कहते थे। इन्हीं ने आगे चलकर विकसित होकर यज्ञों का रूप प्राप्त किया। पहले इन यज्ञों में घर का मालिक या यज्ञकर्ता, यजमान होने के अतिरिक्त यज्ञ-पुरोहित भी हुआ करता था; और प्रायः अपनी सहायता के लिये एक आचार्य, जो “ब्राह्मण” कहलाता था, रख लिया करता था। इन यज्ञों की आहुति घर के यज्ञकुंड में ही होती थी। इसके अतिरिक्त कुछ धनवान् या राजा ऐसे भी होते थे, जो बड़े बड़े यज्ञ किया करते थे। जैसे,—युद्ध के देवता इंद्र को प्रसन्न करने के लिये सोम याग किया जाता था। धीरे धीरे इन यज्ञों के लिये अनेक प्रकार के नियम आदि बनने लगे; और पीछे से उन्हीं नियमों के अनुसार भिन्न भिन्न यज्ञों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार की यज्ञ-भूमियाँ और उनमें पवित्र अग्नि स्थापित करने के लिये अनेक प्रकार के यज्ञ-कुंड बनने लगे। ऐसे यज्ञों में प्रायः चार मुख्य ऋत्विज् हुआ करते थे, जिनकी अधीनता में और भी अनेक ऋत्विज् काम करते थे। आगे चलकर जब यज्ञ करनेवाले यजमान का काम केवल दक्षिणा बाँटना ही रह गया, तब यज्ञ संबंधी अनेक कृत्य करने के लिये और लोगों की नियुक्ति होने लगी। मुख्य चार ऋत्विजों में पहला “होता” कहलाता था और वह देवताओं की प्रार्थना करके उन्हें यज्ञ में आने के लिये आह्वान करता था। दूसरा ऋत्विज् “उद्गाता” यज्ञ-कुंड में सोम की आहुति देने के समय साम-गायन करता था। तीसरा ऋत्विज् “अध्वर्यु” या यज्ञ करनेवाला होता था; और वह स्वयं अपने मुँह से गद्य मंत्र पढ़ता तथा अपने हाथ से यज्ञ के सब कृत्य करता था। चौथे ऋत्विज् “ब्रह्मा” अथवा महापुरोहित को सब प्रकार के विधियों से यज्ञ की रक्षा करनी पड़ती थी; और इसके लिये उसे यज्ञ कुंड की दक्षिण दिशा में स्थान दिया जाता था; क्योंकि वही यम की दिशा मानी जाती थी और उसी ओर से असुर लोग आया करते थे। इसे इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता था कि कोई किसी मंत्र का अशुद्ध उच्चारण न करे। इसी लिये ब्रह्मा का तीनों वेदों का ज्ञाता हीना भी आवश्यक था। जब यज्ञों का प्रचार बहुत बढ़ गया, तब उनके संबंध में अनेक स्वतंत्र शास्त्र भी बन गए; और वे शास्त्र “ब्राह्मण” तथा “श्रौत सूत्र” कहलाए। इसी कारण लोग यज्ञों को श्रौत कर्म भी कहने लगे। इसी के अनुसार यज्ञ अपने मूल गृह्य कर्म से अलग हो गए, जो केवल स्मरण के आपार पर होते थे। फिर इन गृह्य कर्मों के प्रतिपादक ग्रंथों को “स्मृति” कहने लगे। प्रायः सभी वेदों

का अधिकांश इन्हीं यज्ञ संबंधी बातों से भरा पड़ा है (दे० “वेद”)। पहले तो सभी लोग यज्ञ किया करते थे, पर जब धीरे धीरे यज्ञों का प्रचार घटने लगा, तब अध्वर्यु और होता ही यज्ञ के सब काम करने लगे। पीछे भिन्न भिन्न ऋषियों के नाम पर भिन्न भिन्न नामोंवाले यज्ञ प्रचलित हुए, जिससे ब्राह्मणों का महत्व भी बढ़ने लगा। इन वेदों में अनेक प्रकार के पशुओं की बलि भी होती थी, जिससे कुछ लोग असंतुष्ट होने लगे, और भागवत आदि नए संप्रदाय स्थापित हुए, जिनके कारण यज्ञों का प्रचार धीरे धीरे बंद हो गया। यज्ञ अनेक प्रकार के होते थे। जैसे,—सोम याग, अथमेघ यज्ञ, राजसूय यज्ञ, ऋतुयाज, अग्निष्टोम, अतिरात्र, महाव्रत, दशरात्र, दर्शपूर्णमास, पवित्रेष्टि, पुत्रकामेष्टि, चार्तुमास्य, सौत्रामणि, दशपेय, पुरुषमेघ आदि आदि।

आर्यों की ईरानी शाखा में भी यज्ञ प्रचलित रहे और “यश्न” कहलाते थे। इस “यश्न” से ही फारसी का “जश्न” शब्द बना है। यज्ञ वास्तव में एक प्रकार के पुण्योत्सव थे। अब भी विवाह, यज्ञोपवीत आदि उत्सवों को कहीं कहीं यज्ञ कहते हैं।

पर्याय—सव। अध्वर। सततंतु। क्रतु। इष्टि। वितान। मन्थु। आहव। सवन। हव। अभिवय। होम। हवन। मह। (२) विष्णु।

यज्ञक-पंज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ। (२) वह जो यज्ञ करता हो।

यज्ञकर्त्ता-पंज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ करनेवाला। याजक। यजमान।

यज्ञकर्म-पंज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ का काम।

यज्ञकल्प-पंज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

यज्ञकारी-पंज्ञा पुं० [सं० यज्ञकारिन्] वह जो यज्ञ करता हो।

यज्ञ करनेवाला।

यज्ञकाल-पंज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञादि के लिये शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट समय। (२) पौर्णमासी।

यज्ञकीलक-पंज्ञा पुं० [सं०] काठ का वह खंड जिसमें यज्ञ के लिये बलि दिया जानेवाला पशु बाँधा जाता था। यूपकाष्ठ।

यज्ञकुंड-पंज्ञा पुं० [सं०] हवन करने की वेदी या कुंड।

यज्ञकेतु-पंज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो यज्ञ की क्रियाओं का ज्ञाता हो। (२) एक राक्षस का नाम।

यज्ञकोप-पंज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो यज्ञ से द्वेष करता हो। (२) रावण के दल का एक राक्षस, जिसका उल्लेख वाल्मीकीय रामायण में है।

यज्ञक्रतु-पंज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

यज्ञक्रिया-पंज्ञा स्त्री० [सं०] (१) यज्ञ के काम। (२) कर्मकांड।

यज्ञगिरि-पंज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम।

यज्ञघ्न-पंज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो यज्ञ विध्वंस करता हो।

(२) राक्षस।

यज्ञज्ञ-पंज्ञा पुं० [सं०] वह जो यज्ञों के विधान आदि जानता हो। यज्ञज्ञाता-पंज्ञा पुं० [सं० यज्ञज्ञातृ] (१) वह जो यज्ञ की रक्षा करता हो। (२) विष्णु।

यज्ञदत्तक-पंज्ञा पुं० [सं०] वह पुत्र जो यज्ञ के प्रसाद स्वरूप प्राप्त हुआ हो।

यज्ञद्रुह-पंज्ञा पुं० [सं०] राक्षस।

यज्ञधर-पंज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

यज्ञनेमि-पंज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण का एक नाम।

यज्ञपति-पंज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) वह जो यज्ञ करता हो। यजमान।

यज्ञपत्नी-पंज्ञा स्त्री० [सं०] (१) यज्ञ की स्त्री, दक्षिणा। (२) पुराणानुसार यज्ञ करनेवाले माथुर ब्राह्मणों की वे स्त्रियाँ जो अपने पतियों के मना करने पर भी श्रीकृष्ण के लिये भोजन लेकर वन में गई थीं।

यज्ञपर्वत-पंज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम जो नर्मदा के उत्तर-पश्चिम में है।

यज्ञपशु-पंज्ञा पुं० [सं०] (१) वह पशु जिसका यज्ञ में बलिदान किया जाय। (२) घोड़ा। (३) बकरा।

यज्ञपात्र-पंज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ में काम आनेवाले काष्ठ के बने हुए बरतन।

यज्ञपाश्र्व-पंज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम जिनका उल्लेख पराशर स्मृति में है।

यज्ञपाल-पंज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ का संरक्षक। यज्ञ की रक्षा करनेवाला।

यज्ञपुरुष-पंज्ञा पुं० [सं०] विष्णु। उ०—यज्ञ पुरुष प्रसन्न जब भए। निकसि कुंड से दर्शन दए।—सूर।

यज्ञफलद-पंज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ का फल देनेवाले, विष्णु।

यज्ञबाहु-पंज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि का एक नाम। (२) पुराणानुसार शास्त्रमालि द्वीप के एक राजा का नाम।

यज्ञभाग-पंज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ का अंश, जो देवताओं को दिया जाता है। (२) वे देवता जिन्हें यज्ञ का भाग मिलता है। जैसे,—इंद्र।

यज्ञभाजन-पंज्ञा पुं० [सं०] यज्ञपात्र।

यज्ञभूमि-पंज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ यज्ञ होता हो। यज्ञक्षेत्र।

यज्ञभूषण-पंज्ञा पुं० [सं०] कुश।

यज्ञभोक्ता-पंज्ञा पुं० [सं० यज्ञभोक्तृ] विष्णु।

यज्ञमंडप-पंज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ करने के लिये बनाया हुआ मंडप।

यज्ञमंडल-पंज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जो यज्ञ करने के लिये घेरा गया हो।

यज्ञमंदिर-पंज्ञा पुं० [सं०] यज्ञशाला।

यज्ञमय-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

यज्ञमुख-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ का आरंभ ।

यज्ञयूप-संज्ञा पुं० [सं०] वह खंभा जिसमें यज्ञ का बलि-पशु बाँधा जाता था । यूपकाष्ठ ।

यज्ञयोग-संज्ञा पुं० [सं०] गूलर का पेड़ ।

यज्ञरस-संज्ञा पुं० [सं०] सोम ।

यज्ञराज-संज्ञा पुं० [सं० यज्ञराज] चंद्रमा ।

यज्ञरुचि-संज्ञा पुं० [सं०] एक दानव का नाम ।

यज्ञलिंग-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण का एक नाम ।

यज्ञवराह-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

विशेष — कहते हैं कि विष्णु ने वराह का रूप धारण करने के उपरांत जब अपना शरीर छोड़ा, तब उनके भिन्न भिन्न अंगों से यज्ञ की सामग्री बन गई । इसी से उनका यह नाम पड़ा ।

यज्ञवलक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि जो प्रसिद्ध याज्ञ-वलक्य ऋषि के पिता थे ।

यज्ञवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] सोम लता ।

यज्ञवाह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ करनेवाला । (२) कार्तिकेय के एक अनुचर का नाम ।

यज्ञवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ करनेवाला । (२) ब्राह्मण । (३) विष्णु । (४) शिव ।

यज्ञवाही-संज्ञा पुं० [सं० यज्ञवाहिन] यज्ञ का सब काम करनेवाला ।

यज्ञवीर्य-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

यज्ञवृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ का पेड़ । (२) विकंकत ।

यज्ञव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो यज्ञ करता हो । यज्ञ करनेवाला ।

यज्ञशत्रु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राक्षस । (२) खर राक्षस का एक सेनापति, जिसे रामचंद्र ने मारा था ।

यज्ञशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] यज्ञ करने का स्थान । यज्ञमंडप ।

यज्ञशास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसमें यज्ञों और उनके कृत्यों आदि का विवेचन हो । मीमांसा ।

यज्ञशील-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो यज्ञ करता हो । (२) ब्राह्मण ।

यज्ञशूकर-संज्ञा पुं० दे० "यज्ञवराह" ।

यज्ञश्रेष्ठा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सोम लता ।

यज्ञसंस्तर-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ यज्ञ मंडप बनाया जाय । यज्ञभूमि । यज्ञस्थान ।

यज्ञसदन-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ करने का स्थान या मंडप । यज्ञशाला ।

यज्ञसाधन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो यज्ञ की रक्षा करता हो । (२) विष्णु ।

यज्ञसार-संज्ञा पुं० [सं०] गूलर का वृक्ष ।

यज्ञसूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञोपवीत । जनेऊ ।

यज्ञसेन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु । (२) एक दानव का नाम ।

यज्ञस्तंभ-संज्ञा पुं० [सं०] वह खंभा जिसमें यज्ञ का पशु बाँधा जाता है । यूप ।

यज्ञस्थल-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञमंडप ।

यज्ञस्थानु-संज्ञा पुं० दे० "यज्ञस्तंभ" ।

यज्ञस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञशाला ।

यज्ञहृदय-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

यज्ञहोता-संज्ञा पुं० [सं० यज्ञहोतृ] (१) यज्ञ में देवताओं का आवाहन करनेवाला । (२) भागवत के अनुसार उत्तम मनु के एक पुत्र का नाम ।

यज्ञांग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु । (२) गूलर का पेड़ । (३) खैर का पेड़ ।

यज्ञांगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सोम लता ।

यज्ञागार-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान या मंडप जहाँ यज्ञ होता हो । यज्ञशाला ।

यज्ञात्मा-संज्ञा पुं० [सं० यज्ञात्मन्] विष्णु ।

यज्ञाधिपति-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ के स्वामी, विष्णु । यज्ञपुरुष ।

यज्ञारि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । (२) राक्षस ।

यज्ञाशन-संज्ञा पुं० [सं०] देवता ।

यज्ञिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह पुत्र जो यज्ञ के प्रसाद स्वरूप मिला हो । (२) पलास का पेड़ ।

यज्ञीय-वि० [सं०] यज्ञ संबंधी । यज्ञ का ।

संज्ञा पुं० गूलर का पेड़ ।

यज्ञेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

यज्ञेष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] रोहिस नाम की वास ।

यज्ञोपवीत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जनेऊ । यज्ञसूत्र । (२) हिंदुओं में ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों का एक संस्कार, जो प्राचीन काल में उस समय होता था, जब बालक को विद्या पढ़ाने के लिये गुरु के पास ले जाते थे । इस संस्कार के उपरांत बालक को स्नातक होने तक ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना पड़ता था और भिक्षा वृत्ति से अपना तथा अपने गुरु का निर्वाह करना पड़ता था । अन्यान्य संस्कारों की भाँति यह संस्कार भी आजकल नाम मात्र के लिये रह गया है । इसमें कुछ विशिष्ट धार्मिक कृत्य करके बालक के गले में जनेऊ पहना दिया जाता है । ब्राह्मण बालक के लिये आठवें वर्ष, क्षत्रिय बालक के लिये ग्यारहवें वर्ष और वैश्य बालक के लिये बारहवें वर्ष यह संस्कार करने का विधान है । व्रतबंध । उपनयन । जनेऊ ।

यत्न-वि० [सं०] यत्न करने के योग्य ।

यजु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यजुर्वेदी ब्राह्मण । (२) यजमान ।
यज्वा-संज्ञा पुं० [सं० यज्वन्] यज्ञ करनेवाला ।
यडर-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पक्षी ।
यत-वि० [सं०] (१) नियंत्रिता । नियमित । पाबंद । (२) (२) दमन किया हुआ । शासित । (३) प्रतिबद्ध । रोका हुआ ।
यतन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० यतनीय] यत्न करना । कोशिश करना ।
यतनीय-वि० [सं०] यत्न करने के योग्य । कोशिश करने लायक ।
यतमान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यत्न करता हुआ । कोशिश में लगा हुआ । (२) अनुचित विषयों का त्याग और उचित विषयों में मंद प्रवृत्ति के निमित्त यत्न करनेवाला ।
यतव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बहुत संयम से रहता हो ।
यति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसने इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर ली हो और जो संसार से विरक्त होकर मोक्ष प्राप्त करने का उद्योग करता हो । संन्यासी । त्यागी । योगी । (२) भागवत के अनुसार ब्रह्मा के एक पुत्र का नाम । (३) महाभारत के अनुसार नहुष के एक पुत्र का नाम । (४) ब्रह्मचारी । (५) छपय के ६६ वें भेद का नाम, जिसमें ५ गुरु और १४२ लघु मात्राएँ अथवा किसी किसी के मत से ५ गुरु और १३६ लघु मात्राएँ होती हैं ।
संज्ञा स्त्री० [सं० यती] छंदों के चरणों में वह स्थान जहाँ पढ़ते समय, उनकी लय ठीक रखने के लिये, थोड़ा सा विश्राम होता है । विरति । विश्राम । विराम ।
यौ०—यतिभंग ।
यतिचांद्रायण-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का चांद्रायण व्रत जिसका विधान यतियों के लिये है ।
यतित्व-संज्ञा पुं० [सं०] यति का धर्म, भाव या कर्म ।
यतिधर्म-संज्ञा पुं० [सं०] संन्यास ।
यतिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) संन्यासिनी । (२) विधवा ।
यतिभंग-संज्ञा पुं० [सं०] काव्य का वह दोष जिसमें यति अपने उचित स्थान पर न पड़कर कुछ आगे या पीछे पड़ती है और जिसके कारण पढ़ने में छंद की लय बिगड़ जाती है ।
यतिभ्रष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] वह छंद जिसमें यति अपने उपयुक्त स्थान पर न पड़कर कुछ आगे या पीछे पड़ी हो । यति-भंग दोष से युक्त छंद ।
यतिसांतपन-संज्ञा पुं० [सं०] एक व्रत जिसमें तीन दिन केवल पंचगव्य और कुश-जल पीकर रहना पड़ता है । शंखस्मृति के मत से तो यह व्रत तीन दिन का है; परंतु जाबाल के मत से सात दिन का है । गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घृत, कुश का जल इनमें से एक एक को प्रति दिन एक बार

पीकर रात दिन उपवास करना पड़ता है । इसी का नाम सांतपन कृच्छ्र या यतिसांतपन है ।

यती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रोक । रुकावट । (२) छंदों में विराम का स्थान । यति । (३) मनोराग । मनोविकार । (४) विधवा । (५) शलक राग का एक भेद । (६) मृदंग का एक प्रबंध । (७) संधि ।

संज्ञा पुं० [सं० यतिन्] [स्त्री० यतिनी] (१) यति । संन्यासी । (२) जितेंद्रिय । (३) जैन मतानुसार श्वेतांबर जैन साधु ।

यतीम-संज्ञा पुं० [अ०] (१) मातृ-पितृ-हीन । जिसके माता पिता न हों । अनाथ । (२) कोई अनुपम और अद्वितीय रत्न । (३) वह बहुत बड़ा सोती, जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि यह सीप में एक ही निकलता है ।

यतीमखाना-संज्ञा पुं० [अ० यतीम + फा० खाना] वह स्थान जहाँ माता-पिता-हीन बालक रखे जाते हैं । अनाथालय ।

यतुका-संज्ञा पुं० [सं०] चकवैड का पौधा । चक्रमर्द ।

यतिकचित्-क्रि० वि० [सं०] थोड़ा सा । बहुत कम । कुछ ।

यत्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नैयायिकों के अनुसार रूप आदि २४ गुणों के अंतर्गत एक गुण जो तीन प्रकार का होता है—प्रवृत्ति, निवृत्ति और जीवन योनि । (२) उद्योग । प्रयत्न । कोशिश । (३) उपाय । तदबीर । उ०—पाछे पृथु को रूप हरि लीन्हों नाना रस दहि काढ़ै । तापर रचना रची विधाता बहु बिधि यत्नन बाढ़ै ।—सूर । (४) रक्षा का आयोजन । हिफाजत । जैसे,—इस वस्तु को बड़े यत्न से रखना । (५) रोग-शान्ति का उपाय । चिकित्सा । उपचार ।

यत्नवान्-वि० [सं० यत्नवत्] यत्न में लगा हुआ । यत्न करनेवाला ।

यत्र-क्रि० वि० [सं०] जिस जगह । जहाँ ।

संज्ञा पुं० [सं० सत्र] सामान्य यत्न ।

यत्रतत्र-क्रि० वि० [सं०] (१) जहाँ तहाँ । इधर उधर । कुछ यहाँ, कुछ वहाँ । (२) जगह जगह । कई स्थानों में ।

यत्रु-संज्ञा स्त्री० [सं०] छाती के ऊपर और गले के नीचे की मंडलाकार हड्डी । हँसली ।

यथा-अव्य० [सं०] जिस प्रकार । जैसे । ज्यों ।

यथाकामी-संज्ञा पुं० [सं० यथाकामिन्] अपनी इच्छा के अनुसार काम करनेवाला । स्वेच्छाचारी ।

यथाकारी-संज्ञा पुं० [सं० यथाकारिन्] मनमाना काम करनेवाला । स्वेच्छाचारी ।

यथाक्रम-क्रि० वि० [सं०] तरतीबवार । क्रमशः । क्रमानुसार ।

यथाख्यात चरित्र-संज्ञा पुं० [सं०] सब कथाओं (काम,

क्रोधादि पातकों) का जिन साधुओं ने क्षय किया हो, उनका चरित्र । (जैन)

यथाज्ञात-संज्ञा पुं० [सं०] मूल । नेवकूफ । नीच ।

यथातथ्य-अव्य० [सं०] जैसे का तैसा । ज्यों का त्यों । हूँ व हूँ । जैसा हो, वैसा ही ।

यथानियम-अव्य० [सं०] नियमानुसार । कायदे के मुताबिक । बाकायदा ।

यथान्याय-अव्य० [सं०] न्याय के अनुसार । जो कुछ न्याय हो, वैसा । यथोचित ।

यथापूर्व-अव्य० [सं०] (१) जैसा पहले था, वैसा ही । पहले की नाई । पूर्ववत् । (२) ज्यों का त्यों ।

यथाभाग-अव्य० [सं०] (१) भाग के अनुसार जितना चाहिए, उतना । हिस्से के मुताबिक । (२) यथोचित ।

यथामति-अव्य० [सं०] बुद्धि के अनुसार । समझ के मुताबिक ।

यथायोग्य-अव्य० [सं०] जैसा चाहिए, वैसा । उपयुक्त । यथोचित । मुनासिब ।

यथार्थ-अव्य० दे० “यथार्थ” ।

यथारुचि-अव्य० [सं०] रुचि के अनुसार । पसंद के मुताबिक । इच्छानुसार । मरजी के मुताबिक ।

यथार्थ-अव्य० [सं०] (१) ठीक । वाजिब । उचित । जैसे,—आपका कहना यथार्थ है । (२) जैसा ठीक होना चाहिए, वैसा । ज्यों का त्यों । जैसे का तैसा ।

यथार्थता-संज्ञा स्त्री० [सं०] यथार्थ का भाव । सचाई । सत्यता । सच्चापन ।

यथालब्ध-वि० [सं०] (१) जितना प्राप्त हो, उसी के अनुसार । जो कुछ मिले, उसी के मुताबिक । (२) जैनियों के अनुसार, जो कुछ मिल जाय उसी से सन्तुष्ट रहने की वृत्ति ।

यथालाभ-वि० [सं०] जो कुछ मिले, उसी के अनुसार । जो प्राप्त हो, उसी पर निर्भर । उ०—यथालाभ संतोष सदा परगुन नहीं दोष कहोंगो ।—तुलसी ।

यथावत्-अव्य० [सं०] (१) ज्यों का त्यों । जैसा था, वैसा ही । जैसे का तैसा । (२) जैसा चाहिए, वैसा । पूर्ण रीति से । अच्छी तरह । जैसे,—यथावत् सत्कार करना ।

यथावस्थित-अव्य० [सं०] (१) जैसा था, वैसा ही । (२) सत्य । ठीक । (३) स्थिर । अचल ।

यथाविधि-अव्य० [सं०] विधि के अनुसार । विधिपूर्वक । विधिवत् ।

यथाविहित-अव्य० [सं०] जैसा विधान हो, वैसा ही । विधि के अनुसार ।

यथाशक्य-अव्य० [सं०] जहाँ तक हो सके । जहाँ तक संभव हो । जहाँ तक मुमकिन हो । सामर्थ्य भर । भर सक ।

यथाशक्ति-अव्य० [सं०] सामर्थ्य के अनुसार । जितना हो सके । भरसक ।

यथाशास्त्र-अव्य० [सं०] शास्त्र के अनुसार । शास्त्र के अनुकूल । जैसा शास्त्रों में वर्णित है, वैसा ।

यथासंभव-अव्य० [सं०] जहाँ तक हो सके । जितना हो सके । जितना मुमकिन हो ।

यथासमय-अव्य० [सं०] (१) ठीक समय पर । ठीक वक्त पर । नियत समय पर । (२) समय के अनुसार । जैसा समय हो, वैसा ।

यथासाध्य-अव्य० [सं०] जहाँ तक हो सके । जितना किया जा सके । यथाशक्ति ।

यथास्थान-अव्य० [सं०] ठीक जगह पर । अपने स्थान पर । उचित स्थान पर ।

यथेच्छ-अव्य० [सं०] जितना या जैसा जी में आवे, उतना या वैसा । इच्छा के अनुसार । मनमाना ।

यथेच्छाचार-संज्ञा पुं० [सं०] जो जी में आवे, वही करना; और उचित अनुचित का ध्यान न करना । स्वेच्छाचार । मनमाना काम करना ।

यथेच्छाचारी-संज्ञा पुं० [सं० यथेच्छाचारिन्] (१) मनमाना आचार करनेवाला । यथेच्छाचार करनेवाला । (२) जो कुछ जी में आवे, वही करनेवाला । मनमौजी ।

यथेच्छित-वि० [सं०] इच्छानुसार । मनमाना । मनचाहा ।

यथेष्ट-वि० [सं०] जितना इष्ट हो । जितना चाहिए, उतना । काफी । पूरा । जैसे,—(क) वे वहाँ से यथेष्ट धन ले आए । (ख) इस विषय में यथेष्ट कहा जा चुका है ।

यथेष्टाचरण-संज्ञा पुं० [सं०] मनमाना काम करना । इच्छा-नुसार व्यवहार करना । स्वेच्छाचार ।

यथेष्टाचार-संज्ञा पुं० दे० “यथेष्टाचरण” ।

यथेष्टाचारी-संज्ञा पुं० [सं० यथेष्टाचारिन्] अपने मन के अनुसार व्यवहार करनेवाला । मनमाना काम करनेवाला ।

यथोक्त-अव्य० [सं०] जैसा कहा गया हो । कहे हुए के अनुसार ।

यथोक्तकारी-वि० [सं० यथोक्तकारिन्] (१) शास्त्रों में जो कुछ कहा गया हो, वही करनेवाला । (२) आज्ञाकारी ।

यथोचित-वि० [सं०] जैसा चाहिए, वैसा । मुनासिब । ठीक । जैसे,—उसे यथोचित दंड मिलना चाहिए ।

यद्यपि-अव्य० दे० “यद्यपि” ।

यदा-अव्य० [सं०] (१) जिस समय । जिस वक्त । जब । (२) जहाँ ।

यदाकदा-अव्य० [सं०] जब तब । कभी कभी ।

यदि-अव्य० [सं०] अगर । जो ।

विशेष—इस अव्यय का उपयोग वाक्य के आरंभ में संशय अथवा किसी बात की अपेक्षा सूचित करने के लिये होता

है। जैसे,—(क) यदि वे न आए तो? (ख) यदि आप कहें, तो मैं दे दूँ।

यदिच, यदिचेत्—अव्य० [सं०] यद्यपि। अगरचे।

यदु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ययाति राजा का बड़ा पुत्र जो देव-यानी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। महाभारत में लिखा है कि ययाति के शाप के कारण इनका राज्य नष्ट हो गया था; पर पीछे से इंद्र की कृपा से इन्हें फिर राज्य मिला था। शाप का कारण यह था कि ययाति ने बृद्ध होने पर इनसे कहा था कि तुम मेरा पाप और बृद्धावस्था ले लो, जिससे मैं फिर युवक हो जाऊँ। पर इसे इन्होंने स्वीकृत नहीं किया था। श्रीकृष्णचंद्र इन्हीं के वंश में हुए थे। (इस शब्द के साथ पति या राजा आदि का वाचक शब्द लगाने से श्रीकृष्ण का अर्थ होता है।) (२) पुराणानुसार हर्नश्व राजा के पुत्र का नाम।

यदुध्न—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक ऋषि का नाम।

यदुनंदन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) यदुकुल को आनंद देनेवाले, श्रीकृष्णचंद्र। (२) कृष्णचैतन्य के एक साथी भक्त।

यदुनाथ—संज्ञा पुं० [सं०] यदुवंश के स्वामी, श्रीकृष्ण।

यदुपति—संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

यदभूप—संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

यदुराई—संज्ञा पुं० [सं०] यदु + हि० राह = राजा] श्रीकृष्ण।

यदुराज, यदुराट्—संज्ञा पुं० [सं०] यदुकुल के राजा, श्रीकृष्ण।

यदुवंश—संज्ञा पुं० [सं०] राजा यदु का कुल। यदु का खानदान।

यदुवंशमणि—संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्णचंद्र।

यदुवंशी—संज्ञा पुं० [सं०] यदुवंशिन्] यदुकुल में उत्पन्न। यदुकुल के लोग। यादव।

यदुवर—संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

यदुवीर—संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

यदुत्तम—संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

यदृच्छया—कि० वि० [सं०] (१) अकस्मात्। अचानक॥ (२) इत्तफ़ाक से। दैवसंयोग से। (३) मनमाने तौर पर। मन की मौज के अनुसार। बिना किसि नियम या कारण के।

यदृच्छयाभिज्ञ—संज्ञा पुं० [सं०] कृतसाक्षी के पाँच भेदों में से एक। वह साक्षी जो घटना के समय आप से आप या अकस्मात् आ गया हो।

यदृच्छा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) केवल इच्छा के अनुसार व्यवहार। स्वेच्छाचरण। मनमाना-पन। (२) आकस्मिक संयोग। इत्तफ़ाक़।

यद्वैतद्वा—अव्य० [सं०] कभी कभी।

यम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक साथ उत्पन्न वस्तुओं का जोड़। यमज। (२) भारतीय आर्यों के एक प्रसिद्ध देवता जो

दक्षिण दिशा के दिक्पाल कहे जाते हैं और आजकल मृत्यु के देवता माने जाते हैं।

विशेष—वैदिक काल में यम और यमी दोनों देवता, ऋषि और मंत्रकर्त्ता माने जाते थे और “यम” को लोग “मृत्यु” से भिन्न मानते थे। पर पीछे से यम ही प्राणियों को मारनेवाले अथवा इस शरीर में से प्राण निकालनेवाले माने जाने लगे। वैदिक काल में यज्ञों में यम की भी पूजा होती थी और उन्हें हवि दिया जाता था। उन दिनों वे मृत पितरों के अधिपति तथा मरनेवाले लोगों को आश्रय देनेवाले माने जाते थे। तब से अब तक इनका एक अलग लोक माना जाता है, जो “यमलोक” कहलाता है। हिंदुओं का विश्वास है कि मनुष्य मरने पर सब से पहले यमलोक में जाता है और वहाँ यमराज के सामने उपस्थित किया जाता है। वही उसके शुभ और अशुभ कृत्यों का विचार करके उसे स्वर्ग या नरक में भेजते हैं। ये धर्मपूर्वक विचार करते हैं, इसी लिये धर्मराज भी कहलाते हैं। यह भी माना जाता है कि मृत्यु के समय यम के दूत ही आत्मा को लेने के लिये आते हैं। स्मृतियों में चौदह यमों के नाम आए हैं, जो इस प्रकार हैं—यम, धर्मराज, मृत्यु, अंतक, वैदरवत, काल, सर्वभूतक्षय, उदुंबर, दध्न, नील, परमेष्ठी, बुकोदर, चित्र और चित्रगुप्त। तर्पण में इनमें से प्रत्येक के नाम भी तीन तीन अंजलि जल दिया जाता है। मार्कंडेय पुराण में लिखा है कि जब विश्वकर्मा की कन्या संज्ञा ने अपने पति सूर्य को देखकर भय से आँखें बंद कर लीं, तब सूर्य ने क्रुद्ध होकर उसे शाप दिया कि जाओ, तुम्हें जो पुत्र होगा, वह सब लोगों का संयमन करनेवाला (उनके प्राण लेनेवाला) होगा। जब इस पर संज्ञा ने उनकी ओर चंचल दृष्टि से देखा, तब फिर उन्होंने कहा कि तुम्हें जो कन्या होगी, वह इसी प्रकार चंचलतापूर्वक नदी के रूप में बहा करेगी। पुत्र तो यही यम हुए और कन्या यमी हुई, जो बाद में यमुना के नाम से प्रसिद्ध हुई। कहा जाता है कि यमी और यम दोनों यमज थे। यम का वाहन भैंसा माना जाता है।

पर्या०—पितृपति। कृतांत। शमन। काल। दंडधर। श्राद्धदेव। धर्म। जीवितेश। महिषध्वज। महिषदाहन। शीर्णपाद। हरि। कर्मकर।

(३) मन, इंद्रिय आदि को बश या रोक में रखना। निग्रह।

(४) चित्त को धर्म में स्थिर रखनेवाले कर्मों का साधन।

विशेष—मनु के अनुसार शरीर-साधन के साथ साथ इनका पालन नित्य कर्त्तव्य है। मनु ने अहिंसा, सत्यवचन, ब्रह्मचर्य, अकल्कता और अस्तेय ये पाँच यम कहे हैं। पर पारस्कर गृह्यसूत्र में तथा और, भी दो एक ग्रंथों में

इनकी संख्या दस कही गई है और नाम इस प्रकार दिए गए हैं—ब्रह्मचर्य, दया, क्षांति, ध्यान, सत्य, अकल्कता, अहिंसा, अस्तेय, माधुर्य और यम । 'यम' योग के आठ अंगों में से पहला अंग है । वि० दे० "योग" ।

(५) कौआ । (६) शनि । (७) विष्णु । (८) वायु । (९) यमज । जोड़े । (१०) दो की संख्या । (११) वायु । (जैन)

यमक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का शब्दालंकार या अनुप्रास जिसमें एक ही शब्द कई बार आता है; पर हर बार उसके अर्थ भिन्न भिन्न होते हैं उ०—कनक कनक में सौगन्धो मादकता अधिकाइ । (२) एक वृत्त का नाम, जिसके प्रत्येक चरण में एक नगण और दो लघु मात्राएँ होती हैं । (३) सेना का एक प्रकार का व्यूह या जमाव । (४) वे दो बालक जो एक साथ ही उत्पन्न हुए हों । यमज । जोड़े । (५) संयम ।

यमकात, यमकातर-संज्ञा पुं० [सं० यम + हि० कातर] (१) यम का छुरा वा खाँड़ा । (२) एक प्रकार की तलवार । उ०—(क) जनु यमकात करहिं सब भवाँ । जिउ लेइ जनहुँ स्वर्ग अपसवाँ ।—जायसी । (ख) होय हनुमत यमकातर धाऊँ । आज स्वामि संकर सिर नाऊँ ।—जायसी ।

यमकीट-संज्ञा पुं० [सं०] केंचुवा ।

यमघंट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक दुष्ट योग जो रविवार के दिन मवा या पूर्वाफाल्गुनी, सोमवार के दिन पुष्य या श्लेषा, मंगलवार को ज्येष्ठ, अनुराधा, भरणी या अश्विनी, बुधवार को हस्त या आर्द्रा, बृहस्पति को पूर्वाषाढा, रेवती या उत्तराभाद्रपद, शुक्र को स्वाति या रोहिणी, और शनिवार को शतभिषा या श्रवण नक्षत्र होने पर होता है । इस योग में शुभ काम वर्जित हैं । (२) दीपावली का दूसरा दिन । कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा ।

यमचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] यमराज का शस्त्र ।

यमज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक गर्भ से एक ही समय में और एक साथ उत्पन्न होनेवाली हो संतानें । एक साथ जन्म लेनेवाले दो बच्चों का जोड़ा । जौआँ । (२) ऐसा घोड़ा जिसका एक ओर का अंग हीन और दुर्बल हो और दूसरी ओर का वही अंग ठीक हो । यह दोष माना जाता है । (३) अश्विनीकुमार ।

यमजात-संज्ञा पुं० दे० "यमज" ।

यमजातना-संज्ञा स्त्री० दे० "यमथातना" ।

यमजित्-संज्ञा पुं० [सं०] मृत्यु को जीतनेवाले, मृत्युंजय ।

यमत्व-संज्ञा पुं० [सं०] यम का भाव या धर्म ।

यमदंड-संज्ञा पुं० [सं०] यमराज का डंडा । कालदंड ।

यमदंष्ट्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक के अनुसार आश्विन, कार्तिक

और अगहन के लगभग का कुछ विशिष्ट काल, जिसमें रोग और मृत्यु आदि का विशेष भय रहता है और जिसमें अल्प भोजन तथा विशेष संयम आदि का विधान है । कुछ लोगों के मत से यह समय कार्तिक के अंतिम आठ दिनों और अगहन के आरंभिक आठ दिनों का है; और कुछ लोगों के मत से आश्विन के अंतिम आठ दिन और पूरा कार्तिक मास इसके अंतर्गत है ।

यमद्विप्रि-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि जो परशुराम के पिता थे । वि० दे० "जमदग्नि" ।

यमद्वितीया-संज्ञा स्त्री० दे० "यमद्वितीया" ।

यमदूतक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कौआ । (२) यम के दूत ।

यमदूतिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] इमली ।

यमदेवता-संज्ञा स्त्री० [सं०] भरणी नक्षत्र, जिसके देवता यम माने जाते हैं ।

यमद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] सेमर का पेड़ । शाल्मलि वृक्ष । (इसका यह नाम इसलिये है कि इसमें फूल तो बड़े सुंदर देख पड़ते हैं, परंतु उनसे कोई खाने लायक फल नहीं उत्पन्न होता) ।

यमद्वितीया-संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्तिक शुक्ला द्वितीया । कहते हैं कि इस दिन यमराज ने अपनी बहन यमुना के यहाँ भोजन किया था । इसी लिये इस दिन वहन के यहाँ भोजन करना और उसे कुछ देना मंगलकारक और आयुवर्धक माना जाता है । भाई दूज ।

यमधार-संज्ञा पुं० [सं०] ऐसी तलवार या कटारी आदि जिसके दोनों ओर धार हो ।

यमन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रतिबंध वा निरोध करना । नियम से बाँधना । (२) बंधन । बाँधना । (३) विराम देना । ठहराना । (४) रोकना । बंद करना । (५) यमराज । संज्ञा पुं० दे० "यवन" ।

यमनकल्यान-संज्ञा पुं० दे० "एमन" ।

यमनक्षत्र-संज्ञा पुं० [सं०] भरणी नक्षत्र, जिसके देवता यम माने जाते हैं ।

यमनाहः-संज्ञा पुं० [सं० यमनाथ, प्रा० जमनाह] यमों के स्वामी, धर्मराज । उ०—कह नारद हम कीजै काहा । जेहि ते मानि जाइ यमनाहा ।—विश्राम ।

यमनिका-संज्ञा स्त्री० दे० "यवनिका" ।

यमनी-संज्ञा स्त्री० [यमन देश से] एक प्रकार का बहुमूल्य पत्थर जिसकी गणना रत्नों में होती है । (यह पत्थर अरब के यमन प्रदेश से आता है ।)

यमपुर-संज्ञा पुं० [सं०] यम के रहने का स्थान, जिसके विषय में यह माना जाता है कि मरने पर यम के दूत प्रेतात्मा को

पहले यहाँ ले जाते हैं और तब उसे धर्मपुर में पहुँचाते हैं।
यमलोक।

मुहा०—यमपुर पहुँचाना = मार डालना। प्राण ले लेना।

यमपुरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] यमलोक। यमपुर।

यमपुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यमराज। (२) यम के दूत।

यमप्रस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन नगर जो कुरुक्षेत्र के दक्षिण में था। कहते हैं कि वहाँ के निवासी यम के उपासक थे। शंकराचार्य ने वहाँ जाकर निवासियों को शैव बनाया था।

यमप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] बट वृक्ष। बड़ का पेड़।

यमभगिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] यमुना नदी।

यमयन-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

यमया-संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्योतिष के अनुसार एक प्रकार का नक्षत्र योग।

यमयातना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) यम के दूतों की दी हुई पीड़ा। नरक की पीड़ा। (२) मृत्यु के समय की पीड़ा।

यमरथ-संज्ञा पुं० [सं०] भैला।

यमराज-संज्ञा पुं० [सं०] यमों के राजा धर्मराज, जो मरने के पीछे प्राणी के कर्मों का विचार करके उसे दंड या उत्तम फल देते हैं।

यमराज्य, यमराष्ट्र-संज्ञा पुं० [सं०] यमलोक।

यमल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) युग्म। जोड़ा। (२) दो लड़के जो एक साथ ही पैदा हुए हों। यमज।

यमलच्छुद्-संज्ञा पुं० [सं०] कचनार।

यमलपत्रक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कनेर। (२) अश्मंतक।

यमलसू-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह गौ जिसके दो बच्चे एक साथ उत्पन्न हुए हों।

यमला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का हिका या हिचकी का रोग, जिसमें थोड़ी थोड़ी देर पर दो दो हिचकियाँ एक साथ आती हैं और सिर तथा गरदन काँपने लगती है। (२) एक प्राचीन नदी का नाम। (३) तांत्रिकों की एक देवी।

यमलार्जुन-संज्ञा पुं० [सं०] गोकुल के दो अर्जुन वृक्ष जो पुराणानुसार कुबेर के पुत्र नलकूबर और मणिप्रवीण थे। ये दोनों एक बार मद्य पीकर मत्त हो रहे थे और नंगे होकर नदी में स्त्रियों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे। इसी पर नारद ऋषि ने इन्हें शाप दिया, जिससे ये पेड़ हो गए थे। श्रीकृष्ण ने उस समय इनका उद्धार किया था, जब वे यशोदा द्वारा बाँधे गए थे।

यमला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक में मिली हुई दो चीजें। जोड़ी। (२) स्त्रियों का घावरा और चोली।

दे० १

यमलोक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह लोक जहाँ मरने के उपरांत मनुष्य जाते हैं। यमपुरी।

मुहा०—यमलोक भेजना या पहुँचाना = मार डालना। प्राण लेना।

(२) नरक।

यमवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] भैला।

यमव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] राजा का धर्म जिसके अनुसार उसे यमराज की भाँति निष्पक्ष होकर सब को दंड देना चाहिए। राजा का दंड-नियम।

यमसदन-संज्ञा पुं० [सं०] यमपुर।

यमसू-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य।

संज्ञा स्त्री० जिसके एक ही गर्भ से एक साथ दो संतानें हों।

यमसूर्य-संज्ञा पुं० [सं०] ऐसा घर जिसके पश्चिम उत्तर में शाला हो।

यमस्तोम-संज्ञा पुं० [सं०] एक दिन में होनेवाला एक प्रकार का यज्ञ।

यमहंता-संज्ञा पुं० [सं०] यमहंत] काल का नाश करनेवाला।

यमांतक-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

यमातिरात्र-संज्ञा पुं० [सं०] ४९ दिनों में होनेवाला एक प्रकार का यज्ञ।

यमादित्य-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य का एक रूप।

यमानिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] अजवायन।

यमानी-संज्ञा स्त्री० [सं०] अजवायन।

यमानुजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] यमराज की छोटी बहन, यमुना।

यमारि-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

यमालय-संज्ञा पुं० [सं०] यम का घर, यमपुर।

यमिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम।

यमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] यम की बहन, जो पीछे यमुना नदी होकर बही। यमुना नदी।

संज्ञा पुं० [सं०] यमिन्] संयम करनेवाला मनुष्य। संयमी।

यमुंड-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

यमुना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा। (२) यम की बहन यमी, जो सूर्य के वीर्य से संज्ञा के गर्भ से उत्पन्न हुई थी, और जो संज्ञा को सूर्य द्वारा मिले हुए शाप के कारण पीछे से नदी हो गई थी। (३) उत्तर भारत की एक प्रसिद्ध बड़ी नदी जो हिमालय के यमुनोत्तरी नामक स्थान से निकलकर प्रयाग में गंगा में मिलती है। यह ८६० मील लंबी है और दिल्ली, आगरा, मथुरा आदि नगर इसके किनारे बसे हुए हैं। हिंदू इसे बहुत पवित्र नदी और यम की बहन यमी का स्वरूप मानते हैं।

यमुनाभिद्-संज्ञा पुं० [सं०] कृष्ण के भाई बलराम जिन्होंने अपने हल से यमुना के दो भाग किए थे।

यमुनोत्तरी-संज्ञा पुं० [सं०] हिमालय में गढ़वाल के पास का एक पर्वत जिससे यमुना नदी निकली है।

यमेरुका-संज्ञा स्त्री० [सं०] घड़ियाल या बड़ी झाँझ जो प्राचीन एक काल में घड़ी पूरी होने पर बजाई जाती थी।

यमेश-संज्ञा पुं० [सं०] भरणी नक्षत्र।

यमेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

ययाति-संज्ञा पुं० [सं०] राजा नहुष के पुत्र जो चंद्र वंश के पाँचवें राजा थे और जिनका विवाह शुक्राचार्य की कन्या देवयानी के साथ हुआ था। इनको देवयानी के गर्भ से यदु और तुर्वसु नाम के दो तथा शर्मिष्ठा के गर्भ से दुह्यु, अणु और पुरु नाम के तीन पुत्र हुए थे। (दे० “देवयानी” १) इनमें से यदु से यादव वंश और पुरु से पौर वंश का आरंभ हुआ। शर्मिष्ठा इन्हें विवाह के दहेज में मिली थी। शुक्राचार्य ने इन्हें कह दिया था कि शर्मिष्ठा के साथ संभोग न करना। पर जब शर्मिष्ठा ने ऋतुमती होने पर इनसे ऋतु-रक्षा की प्रार्थना की, तब इन्होंने उसके साथ संभोग किया और उसे संतान हुई। इस पर शुक्राचार्य ने इन्हें शाप दिया कि तुम्हें शीघ्र बुढ़ापा आ जायगा। जब इन्होंने शुक्राचार्य को संभोग का कारण बतलाया, तब उन्होंने कहा कि यदि कोई तुम्हारा बुढ़ापा ले लेगा, तो तुम फिर ज्यों के त्यों हो जाओगे। इन्होंने एक एक करके अपने चारों पुत्रों से कहा कि तुम हमारा बुढ़ापा लेकर अपना यौवन हमें दे दो, पर किसी ने स्वीकार नहीं किया। अंत में पुरु ने इनका बुढ़ापा आप ले लिया और अपनी जवानी इन्हें दे दी। पुनः यौवन प्राप्त करके इन्होंने एक सहस्र वर्ष तक विषय-सुख भोगा। अंत में पुरु को अपना राज्य देकर आप वन में जाकर तपस्या करने लगे और अंत में स्वर्ग चले गए। स्वर्ग पहुँचने पर भी एक बार यह इंद्र के शाप से वहाँ से च्युत हुए थे; क्योंकि इन्होंने इंद्र से कहा था कि जैसी तपस्या मैंने की है, वैसी और किसी ने नहीं की। जब ये स्वर्ग से च्युत हो रहे थे, तब मार्ग में इन्हें अष्टक ऋषियों ने रोककर फिर से स्वर्ग भेजा था। इनका उल्लेख ऋग्वेद में भी आया है।

ययातिपतन-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक तीर्थ का नाम।

ययावर-संज्ञा पुं० दे० “यायावर”।

ययी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) घोड़ा। (३) मार्ग। पथ। रास्ता।

ययु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा। (२) घोड़ा।

यलधीस, यलनाथ-संज्ञा पुं० [सं० श्ला + धीश] राजा। (डि०)

यल्ला-संज्ञा स्त्री० [सं० श्ला] पृथ्वी। (डि०)

यलाइंद-संज्ञा पुं० [सं० श्ला + इंद] राजा। (डि०)

यलापत-संज्ञा पुं० [सं० श्ला + पति] राजा। (डि०)

यव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जौ नामक अन्न। वि० दे० “जौ”।

(२) १२ सरसों या एक जौ की तौल का एक मान।

(३) लंबाई की एक नाप जो एक इंच की एक तिहाई होती है। (४) सामुद्रिक के अनुसार जौ के आकार की एक प्रकार की रेखा जो उँगली में होती है और जो बहुत शुभ मानी जाती है। कहते हैं कि यदि यह रेखा अँगूठे में हो, तो उसका कल और भी शुभ होता है। इस रेखा का रामचंद्र के दाहिने पैर के अँगूठे में होना माना जाता है। (५) वेग। तेज़ी। (६) वह वस्तु जो दोनों ओर उन्नतोदर हो।

यवकंडक-संज्ञा पुं० [सं०] खेत पापड़ा।

यवक-संज्ञा पुं० [सं०] जौ।

यवकलश-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रजौ।

यवक्रीत-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम जो भरद्वाज के पुत्र थे।

यवक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत के अनुसार एक नदी का नाम।

यवक्षार-संज्ञा पुं० [सं०] जौ के पौधों को जलाकर निकाला हुआ खार। वि० दे० “जवाखार”।

यवचतुर्थी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैशाख शुद्ध चतुर्थी।

यवज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यवक्षार। (२) गेहूँ का पौधा। (३) अजवायन।

यवतिक्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] शंखिनी नाम की लता।

यवदोष-संज्ञा पुं० [सं०] जौ के आकार की एक रेखा, जो रत्नों में पड़ जाती है और जिससे वह रत्न कुछ दूषित हो जाता है।

यवद्वीप-संज्ञा पुं० [सं०] वर्तमान जावा द्वीप का प्राचीन नाम।

यवन-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० यवनी] (१) वेग। तेज़ी। (२) तेज़ घोड़ा। (३) यूनान देश का निवासी। यूनानी।

विशेष—यूनान देश में “आयोनिया” नामक प्रांत या द्वीप है, जिसका लगाव पहले पूर्वीय देशों से बहुत अधिक था। उसी के आधार पर भारतवासी उस देश के निवासियों को, और तदुपरांत भारत में यूनानियों के आने पर उन्हें भी, “यवन” कहते थे। पीछे से इस शब्द का अर्थ और भी विस्तृत हो गया और रोमन, पारसी आदि प्रायः सभी विदेशियों, विशेषतः पश्चिम से आनेवाले विदेशियों को लोग “यवन” ही कहने लगे; और इस शब्द का प्रयोग प्रायः “स्लेच्छ” के अर्थ में होने लगा। परंतु महाभारत काल में यवन और स्लेच्छ ये दोनों भिन्न भिन्न जातियाँ मानी जाती थीं।

पुराणों के अनुसार अन्यान्य म्लेच्छ जातियों (पारद, पल्लव आदि) के समान यवनों की उत्पत्ति भी वसिष्ठ और विश्वामित्र के ऋग्वेद के समय वसिष्ठ की गाय के शरीर से हुई थी। गाय के 'योनि' देश से यवन उत्पन्न हुए थे।

(४) सुसलमान। उ०—भूषण यों अपनी यवनी कहें कोऊ कहै सरजा सो हहारे। तू सब को प्रतिपालनहार बिचारे भतार न माह हमारे।—भूषण। (५) कालयवन नामक म्लेच्छ राजा जो कृष्ण से कई बार लड़ा था।

यवनप्रिय—संज्ञा पुं० [सं०] मिर्च।

यवनाचार्य—संज्ञा पुं० [सं०] यवन जाति का एक ज्योतिषाचार्य, जिसका उल्लेख बराहमिहिर आदि ने किया है। विद्वानों का अनुमान है कि यह संभवतः 'टालेमी' था।

यवनानी—वि० [सं०] यवन देश संबंधी। यूनान का।

संज्ञा स्त्री० (१) यूनान की भाषा। (२) यूनान की लिपि।

विशेष—पाणिनि ने यवनानी लिपि का उल्लेख किया है।

यवनारि—संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण, जिनकी कालयवन से कई लड़ाइयाँ हुई थीं।

यवनाल—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जुआर का पौधा। (२) इस पौधे से उत्पन्न अन्न के दाने। जुआर। (३) जौ के डंठल जो सूखने पर चौपायों को खिलाए जाते हैं।

यवनालज—संज्ञा पुं० [सं०] यवक्षार। जवाखार।

यवनाश्व—संज्ञा पुं० [सं०] मिथिला देश के एक प्राचीन राजा का नाम जो बहुलाश्व का पिता था।

यवनिका—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कनात। (२) नाटक का परदा। विशेष—प्राचीन काल में नाटक के परदे संभवतः यवन देश से आए हुए कपड़े से बनते थे; इसी लिये इनको यवनिका कहते थे।

यवनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] यवन की या यवन जाति की स्त्री।

यवनेष्ट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सीसा। (२) मिर्च। (३) लहसुन। (४) नीम। (५) प्याज। (६) शलजम। (७) गाजर।

यवफल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्रजौ। (२) कुटज। (३) प्याज। (४) जटामासी। (५) बाँस। (६) उलूख। पाकड़ का पेड़।

यवबिंदु—संज्ञा पुं० [सं०] वह हीरा जिसमें बिंदु सहित यवरेखा हो। कहते हैं कि ऐसा हीरा पहनने से देश छूट जाता है।

यवमंड—संज्ञा पुं० [सं०] जौ का माँड़ जो नए ज्वर के रोगी को पथ्य के रूप में दिया जाता है। वैद्यक के अनुसार यह लघु, ग्राहक और शूल तथा त्रिदोष का नाश करनेवाला है।

यवमंथ—संज्ञा पुं० [सं०] जौ का सत्तू।

यवमती—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्ण, वृत्त जिसके विषम चरणों में रगण, जगण, जगण होते और सम चरणों में जगण,

रगण और एक गुरु होता है। जैसे,—त्यागि दे सवै जु है, असत्य काम। सुधार जन्म आपनो, न भूल राम।

यवमद्य—संज्ञा पुं० [सं०] जौ का बनाया हुआ मद्य। जौ की शराब।

यवमध्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का चांद्रायण व्रत।

(२) पाँच दिनों में समाप्त होनेवाला एक प्रकार का यज्ञ।

यवतक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पक्षी जिसका मांस, सुश्रुत के अनुसार, मधुर, लघु, शीतल और कसैला होता है।

यवलास—संज्ञा पुं० [सं०] जवाखार।

यववर्णाम्—संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का जहरीला कीड़ा।

यवशाक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साग जो वैद्यक के अनुसार मधुर, रुखा, शीतवीर्य और मलभेदक माना जाता है।

यवशक—संज्ञा पुं० [सं०] जवाखार।

यवश्राद्ध—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का श्राद्ध जो वैशाख के शुद्ध पक्ष में कुछ विशिष्ट दिनों और योगों में और विपुव संक्रांति अथवा अक्षय्य तृतीया के दिन होता है और जिसमें केवल जौ के आटे का व्यवहार होता है।

यवस—संज्ञा पुं० [सं०] भूसा।

यवसुर—संज्ञा पुं० [सं०] जौ की शराब।

यवागू—संज्ञा पुं० [सं०] जौ या चावल का वह माँड़ जो सड़ाकर कुछ खट्टा कर दिया गया हो; अर्थात् जिसमें कुछ खमीर आ गया हो। माँड़ की काँजी।

विशेष—इसका व्यवहार वैद्यक में पथ्य के लिये होता है; और यह ग्राहक, बलकर तथा बालनाशक माना जाता है।

यवाग्र—संज्ञा पुं० [सं०] जौ का भूसा।

यवाग्रज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) यवक्षार। (२) अजवायन।

यवान—वि० [सं०] वेगवान्। तेज़। क्षिप्र।

यवानिका, यवानी—संज्ञा स्त्री० [सं०] अजवायन।

यवास—संज्ञा पुं० [सं०] जौ की काँजी, जो वैद्यक में वात और श्लेष्मानाशक, रक्तवर्द्धक, भेदक तथा रक्त-दोषनाशक मानी जाती है।

यवाश—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कीड़ा जो जौ की फसल को हानि पहुँचाता है।

यवास—संज्ञा पुं० [सं०] जवासा नामक काँटेदार क्षुप। वि० दे० "जवासा"।

यविष्ठ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) छोटा भाई। (२) अग्नि। (३) ऋग्वेद के एक मंत्र के द्रष्टा ऋषि का नाम जिन्हें अग्निविष्ठ भी कहते हैं।

वि० [सं०] सब से छोटा। कनिष्ठ।

यवीनर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार अजमीढ़ के एक पुत्र का नाम । (२) भागवत के अनुसार द्विमीढ़ के एक पुत्र का नाम ।

यवोद्भव-संज्ञा पुं० [सं०] यवक्षार । जवाखार ।

यव्यावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वैदिक काल की एक नदी । (२) वैदिक काल की एक नगरी ।

यश-संज्ञा पुं० [सं० यश्] (१) अच्छा काम करने से होनेवाला नाम । नेकनामी । कीर्ति । सुख्याति । उ०—(क) यश अपयश देखत नहीं देखत क्यामल गात ।—बिहारी । (ख) रक्षहु मुनि जन यश लीजै ।—केशव । (ग) हा पुत्र लक्ष्मण छुड़ावहु बेगि मोहीं । मार्तण्डवंश यश की सब लाज तोहीं ।—केशव ।

क्रि० प्र०—पाना ।—मिलना ।

मुहा०—यश कमाना या लूटना = यश प्राप्त करना । नाम हासिल करना ।

(२) बड़ाई । प्रशंसा । सहिमा ।

मुहा०—यश गाना = (१) प्रशंसा करना । (२) कृतज्ञ होना । एहसान मानना । यश मानना = कृतज्ञ होना । निहोरा मानना । एहसान मानना ।

यशब्, यशम-संज्ञा पुं० [अ०] एक प्रकार का पत्थर जो हरा सा होता है । यह चीन और लंका में बहुत होता है । इसकी नादली बनती है, जिसे लोग छाती पर पहनते हैं । कलेजे, मेदे और दिमाग की बीमारियों को दूर करने का इस पत्थर में विलक्षण प्रभाव माना जाता है । यह भी कहा जाता है कि जिसके पास यह पत्थर होता है, उस पर बिजली का कुछ प्रभाव नहीं होता । इसे “संगे-यशव” भी कहते हैं ।

यशस्वान्-वि० [सं० यशस्वत्] [स्त्री० यशस्वती] यशस्वी । कीर्तिमान् ।

यशस्विनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वन-कपास । (२) महाज्योतिष्मती । (३) गंगा ।

वि० स्त्री० जिसे यश प्राप्त हो । कीर्तिमती ।

यशस्वी-वि० [सं० यशस्विन्] जिसका खूब यश हो । कीर्तिमान् ।

यशी-वि० [सं० यश + ई (प्रत्य०)] यशस्वी । कीर्तिमान् । उ०—ये जो पाँचों पुत्र तुम्हारे हैं, सो महाबली यशी होंगे ।

—लल्लू० ।

यशील-वि० [सं० यश + ईल (प्रत्य०)] कीर्तिमान् । यशस्वी ।

उ०—अंबर चित्र विचित्र विराजत आयो सुशील यशील सभा में ।—रघुराज ।

यशुमति-संज्ञा स्त्री० दे० “यशोदा” ।

यशोद-संज्ञा पुं० [सं०] पारा ।

यशोदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नन्द की स्त्री जिन्होंने श्रीकृष्ण को पाला था । वि० दे० “नन्द” । (२) दिलीप की माता

का नाम । (३) एक वर्ण वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में एक जगण और दो गुरु वर्ण होते हैं । जैसे,—जपौ गुपाला । सुभोर काला । कहै यशोदा । लहै प्रमोदा ।

यशोधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रुक्मिणी के गर्भ से उत्पन्न कृष्ण के एक पुत्र का नाम । (२) उत्सर्पिणी के एक अर्हत का नाम । (जैन) (३) कर्म अथवा सावन मास का पाँचवाँ दिन ।

यशोधरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गौतम बुद्ध की पत्नी और राहुल की माता का नाम । (२) कर्म अथवा सावन मास की चौथी रात ।

यशोधरेय-संज्ञा पुं० [सं०] यशोधरा का पुत्र, राहुल ।

यशोमति, यशोमती-संज्ञा स्त्री० दे० “यशोदा” ।

यशोमत्य-संज्ञा पुं० [सं०] मार्कण्डेय पुराण के अनुसार एक जाति का नाम ।

यशोमाधव-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

यष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लाठी । छड़ी । लकड़ी । (२) पताका का डंडा । ध्वज । (३) टहनी । शाखा । डाल । (४) जेठी मधु । मुलेठी । (५) ताँत । (६) गले में पहनने का एक प्रकार का मोतियों का हार । (७) लता । बेल । (८) बाहु । बाँह ।

यष्टिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तीतर पक्षी । (२) डंडा । (३) मजीठ ।

यष्टिका संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हाथ में रखने की छड़ी । लकड़ी । लाठी । (२) जेठी मधु । मुलेठी । (३) बावली । वापी । (४) गले में पहनने का हार । यष्टी ।

यष्टिकाभरण-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार जल को ठंडा करने का उपाय ।

यष्टिमधु-संज्ञा पुं० [सं०] जेठी मधु । मुलेठी ।

यष्टियंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह धूप घड़ी जिसमें एक छड़ी सीधी खड़ी गाड़ दी जाती है और उसकी छाया से समय का ज्ञान प्राप्त किया जाता है ।

यष्टी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गले में पहनने का एक प्रकार का हार । मोतियों की ऐसी माला जिसमें बीच बीच में मणि भी हो । (२) मुलेठी ।

यस्क-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्र-प्रवर्तक ऋषि का नाम ।

यह-सर्व० [सं० इदं] निकट की वस्तु का निर्देश करनेवाला एक सर्वनाम, जिसका प्रयोग वक्ता और श्रोता को छोड़कर और सब मनुष्यों, जीवों तथा पदार्थों आदि के लिये होता है । जैसे,—(क) यह कई दिनों से बीमार है । (ख) यह तो अभी चला जायगा ।

विशेष—(क) जब इसमें विभक्ति लगती है, तब इसका रूप खड़ी बोली में “इस” और ब्रज भाषा में “या” हो जाता है ।

जैसे, इसको, याकों। (ख) पुरुषवाचक और निजवाचक सर्वनामों को छोड़कर शेष सर्वनामों की भाँति इसका प्रयोग भी प्रायः विशेषण के समान होता है। जब यह अकेला रहता है, तब तो सर्वनाम होता है; और जब इसके साथ कोई संज्ञा आती है, तब यह विशेषण हो जाता है। जैसे,—“यह बाहर जायगा” में “यह” सर्वनाम है; और “यह लड़का याजी है” में “यह” विशेषण है।

यहाँ-क्रि० वि० [सं० इह] इस स्थान में। इस जगह पर।

यहि-सर्व० वि० [हि० यह] (१) ‘यह’ का वह रूप जो पुरानी हिन्दी में उसे कोई विभक्ति लगाने के पहले प्राप्त होता है। जैसे, यहि कों, यहि तैं। (२) ‘ए’ का विभक्तियुक्त रूप, जिसका व्यवहार पीछे कर्म और संप्रदान में ही प्रायः होने लगा। इसको।

यही-प्रव्य० [हि० यह + ही (प्रत्य०)] निश्चित रूप से यह। यह ही। उ०—यही गोप यह ग्वाल इहै सुख, यह लीला कहूँ तजत न साथ।—सूर।

यहूद्-संज्ञा पुं० [इब्रानी] वह देश जहाँ हजरत ईसा पैदा हुए थे और जहाँ के निवासी यहूदी कहलाते हैं। यह देश एशिया की पश्चिमी सीमा पर है।

यहूदी-संज्ञा पुं० [हि० यहूद्] [स्त्री० यहूदिन] (१) यहूद् देश का निवासी। (२) आर्य्य जाति से भिन्न शामी जाति के अंतर्गत एक जाति।

यहूयहू-संज्ञा पुं० [देश०] कबूतर की एक जाति।

याँ-क्रि० वि० दे० “यहाँ”। उ०—(क) याँ नम्र भाव ही से जाना मेरे मन भाया है—प्रतापनारायण मिश्र। (ख) फड़कता है क्यों हाथ दहना। याँ तपोवन में क्या होगा लहना।—प्रतापनारायण मिश्र।

याँचना-संज्ञा स्त्री० दे० “याचना”।

क्रि० सं० दे० “याचना”।

याँचा-संज्ञा स्त्री० [सं०] माँगने की क्रिया। प्रार्थनापूर्वक माँगना।

या-प्रव्य० [फा०] विकल्प-सूचक शब्द। अथवा। वा। उ०—आप रहा है सीस नवाय। या प्रवाह ने दिया झुकाय।—प्रतापनारायण मिश्र।

सर्व० वि० ‘यह’ का वह रूप जो उसे ब्रज भाषा में कारक चिह्न लगाने के पहले प्राप्त होता है। उ०—(क) या चौदहें प्रकास में हैं हैं लंका दाह।—केशव। (ख) चलौ लाल या बाग में लखौ अपूरव केलि।—मतिराम।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) योनि। (२) गति। चाल। (३) रथ। गाड़ी। (४) अवरोध। शोक। वारण। (५) ध्यान। (६) प्राप्ति। लाभ।

याक-संज्ञा पुं० [तिब्बती व्याक, सं० गावक] हिमालय पर होनेवाला जंगली बैल जिसकी पूँछ का चँवर बनता है।

†-वि० दे० “युक्त”। उ०—(क) कोऊ याकौ बात न समुझै चाहै बीसन दाय कहन।—प्रतापनारायण मिश्र। (ख) डाढ़ी नाक याक माँ मिलिगै, विनु दाँतन मुँह अस पोपलान।—प्रतापनारायण मिश्र।

याकूत-संज्ञा पुं० [अ०] एक प्रकार का लाल रंग का बहुमूल्य पत्थर। लाल।

याग-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ। उ०—योग याग त्रत दान जो धीजै।—केशव।

यागसंतान-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र के पुत्र जयंत का एक नाम।

याचक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जो माँगता हो। माँगनेवाला। उ०—(क) चातक ज्यों कातक के मेघ तैं निराश होत, याचक त्यों तजत आस कृपण के दान की।—हृदयराम। (ख) जनि याँचै ब्रजपति उदार अति याचक फिरि न कहावै।—सूर। (ग) तोषि याचक सकल दादुर मयूर से।—केशव। (२) भिखमंगा।

याचना-क्रि० सं० [सं० याचन] प्राप्त करने के लिये विनती करना। प्रार्थना करना। माँगना।

संज्ञा स्त्री० [सं०] माँगने की क्रिया।

याच्य-वि० [सं०] याचना करने के योग्य। माँगने के योग्य।

याज-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ करानेवाला। याजक।

याज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अन्न। अनाज। (२) एक प्राचीन ऋषि का नाम।

याजक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ करानेवाला। (२) राजा का हाथी। (३) मस्त हाथी।

याजन-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ की क्रिया।

याजि-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ करनेवाला।

याजी-संज्ञा पुं० [सं० याजिर्] यज्ञ करनेवाला।

याजुष-वि० [सं०] [स्त्री० याजुषी] यजुर्वेद संबंधी।

याजुषी अत्रुष्टुप-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें सब मिलाकर आठ वर्ण होते हैं।

याजुषीउष्णिग-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें सात वर्ण होते हैं।

याजुषीगायत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें छः वर्ण होते हैं।

याजुषीजगती-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें बारह वर्ण होते हैं।

याजुषीत्रिष्टुप-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें श्यारह वर्ण होते हैं।

याजुषीपंक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें दस वर्ण होते हैं।

याजुषीवृहती-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें नौ वर्ण होते हैं ।

याज्य-वि० [सं०] (१) यज्ञ कराने योग्य । (२) जो यज्ञ में दिया या चढ़ाया जानेवाला हो । (३) (दक्षिणा) जो यज्ञ कराने से प्राप्त हो ।

याज्ञ-वि० [सं०] यज्ञ संबंधी । यज्ञ का ।

याज्ञतूर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम ।

याज्ञदत्ति-संज्ञा पुं० [सं०] कुवेर ।

याज्ञवल्क्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रसिद्ध ऋषि जो वैशम्पायन के शिष्य थे । कहते हैं कि एक बार वैशम्पायन ने किसी कारण से अप्रसन्न होकर इनसे कहा कि तुम मेरे शिष्य होने के योग्य नहीं हो; अतः जो कुछ तुमने मुझसे पढ़ा है, वह सब लौटा दो । इस पर याज्ञवल्क्य ने अपनी सारी पढ़ी हुई विद्या उगल दी, जिसे वैशम्पायन के दूसरे शिष्यों ने तीतर बनकर चुग लिया । इसी लिये उनकी शाखाओं का नाम तैत्तिरीय हुआ । याज्ञवल्क्य ने अपने गुरु का स्थान छोड़कर सूर्य की उपासना की और सूर्य के वर से वे शुक्र यजुर्वेद या वाजसनेयी संहिता के आचार्य हुए । इनका दूसरा नाम वाजसनेय भी था । (२) एक ऋषि जो राजा जनक के दरबार में रहते थे और जो योगीश्वर याज्ञवल्क्य के नाम से प्रसिद्ध हैं । मैत्रेयी और गार्गी इन्हीं की पत्नियाँ थीं । (३) योगीश्वर याज्ञवल्क्य के वंशधर एक स्मृतिकार । मनुस्मृति के उपरान्त इन्हीं की स्मृति का महत्त्व है; और उसका दायभाग आज तक कानून माना जाता है ।

याज्ञसेनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] द्रौपदी का एक नाम ।

याज्ञिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ करने या करानेवाला । (२) गुजराती आदि ब्राह्मणों की एक जाति ।

यातन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिशोध । बदला । (२) पारितोषिक । इनाम ।

यातना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बहुत अधिक कष्ट । तकलीफ । पीड़ा । उ०—कोरि कोरि यातनानि फोरि फोरि मारिये ।—केशव । (२) दंड की वह पीड़ा जो यमलोक में भोगनी पड़ती है ।

यातव्य-वि० [सं०] (ऐसा शत्रु) जो पास होने के कारण चढ़ाई के योग्य हो ।

याता-संज्ञा स्त्री० [सं० याट] पति के भाई की स्त्री । जेठानी वा देवरानी । उ०—सास ननंद यातान कों आई नीठि सुवाय । अब आली घर गवन की सुधि आये सुधि जाय ।—मतिराम । संज्ञा पुं० (१) जानेवाला । (२) रथ चलानेवाला । सारथी । (३) मार डालनेवाला । हत्या करनेवाला ।

यातायात-संज्ञा पुं० [सं०] गमनागमन । आना जाना । आगम-रफ्त ।

यातु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जानेवाला । (२) रास्ता चलनेवाला । पथिक । (३) राक्षस । (४) काल । (५) वायु । हवा । (६) यातना । कष्ट । (७) हिंसा । (८) अन्न ।

यातुघ्न-संज्ञा पुं० [सं०] गुग्गुलु ।

यातुधान-संज्ञा पुं० [सं०] राक्षस । उ०—यक्षिराज यक्षराज प्रेतराज यातुधान । देवता अदेवता नृदेवता जिते जहान ।—केशव ।

यात्रिक-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों का एक संप्रदाय ।

यात्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की क्रिया । सफर । (२) प्रयाण । प्रस्थान । (३) दर्शनार्थ देवस्थानों को जाना । तीर्थाटन । (४) उत्सव । (५) व्यवहार । (६) बंग देश में प्रचलित एक प्रकार का अभिनय, जिसमें नाचना और गाना भी रहता है । यह प्रायः रास-लीला के ढंग का होता है ।

यात्रावाला-संज्ञा पुं० [सं० यात्रा + हि० वाल (प्रत्य०)] वह ब्राह्मण या पंडा जो तीर्थाटन करनेवालों को देव-दर्शन कराता हो ।

यात्रिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यात्रा का प्रयोजन । कहीं जाने का अभिप्राय या उद्देश्य । (२) वह जो जीवन धारण करने के लिये उपयुक्त हो । (३) यात्री । पथिक । (४) यात्रा की सासग्री । सफर का सामान ।

वि० (१) यात्रा संबंधी । यात्रा का । (२) जो बहुत दिनों से चला आता हो । रीति के अनुसार । प्रथानुकूल ।

यात्री-संज्ञा पुं० [सं० यात्रा] (१) एक स्थान से दूसरे स्थान को जानेवाला । यात्रा करनेवाला । मुसाफिर । (२) देव-दर्शन या तीर्थाटन के लिये जानेवाला ।

याथातथ्य-संज्ञा पुं० [सं०] यथातथ्य होने का भाव । यथार्थता । ठीक-पन ।

यथाथर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] यथार्थ होने का भाव । यथार्थता ।

यादःपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समुद्र । (२) वरुण ।

याद-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) स्मरण शक्ति । स्मृति । जैसे,—आपकी याद की मैं प्रशंसा करता हूँ । (२) स्मरण करने की क्रिया । जैसे,—मैं अभी आपको याद ही कर रहा था ।

क्रि० प्र०—करना ।—दिलाना ।—पढ़ना ।—रखना ।—रहना ।—होना ।

संज्ञा पुं० [सं० यादस्] मछली, मगर आदि जलजंतु ।

यादगार-संज्ञा स्त्री० [फा०] वह पदार्थ जो किसी की स्मृति के रूप में हो । स्मृति-चिह्न । स्मारक ।

याददाशत-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) स्मरण शक्ति । स्मृति । जैसे,—आपकी याददाशत बहुत अच्छी है । (२) किसी घटना के स्मरणार्थ लिखा हुआ लेख । स्मरण रखने के लिये लिखी हुई कोई बात ।

यादव-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० यादवी] (१) यदु के वंशज ।
(२) श्रीकृष्ण ।

वि० यदु संबंधी ।

यादवगिरि-संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्वत का नाम ।

यादवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) यदुकुल की स्त्री । (२) दुर्गा ।

यादु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जल । पानी । (२) कोई तरल पदार्थ ।

यादश-वि० [सं०] जिस प्रकार का । जैसा ।

याद्व-वि० [सं०] (१) यदुवंशी । (२) यदु संबंधी ।

यान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गाड़ी, रथ आदि सवारी । वाहन ।

(२) विमान । आकाशयान । (३) शत्रु पर चढ़ाई करना,

जो राजाओं के छः गुणों में से एक कहा गया है । (४) गति ।

यानी, याने-अव्य० [ध०] तात्पर्य यह कि । मतलब यह कि ।
अर्थात् ।

यापन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० यापित, याप्य] (१) चलाना ।

वर्तन । (२) व्यतीत करना । बिताना । जैसे,—कालयापन ।

(३) निरसन । निबटाना । (४) परित्याग । छोड़ना ।

हटाना । (५) मिटाना ।

यापना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चलाना । हाँकना । (२)

कालक्षेप । दिन काटना । (३) वह धन जो किसी को

जीविका-निर्वाह के लिये दिया जाय । (४) व्यवहार ।

वर्ताव ।

यापनीय-वि० [सं०] यापन करने के योग्य । याप्य ।

याप्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] जटा ।

याप्य-वि० [सं०] (१) निंदनीय । निंदित । (२) यापन करने
के योग्य । यापनीय । क्षेपणीय । (३) छिपाने के योग्य ।
गोपनीय । आवरणीय । (४) रक्षा करने के योग्य ।
रक्षणीय ।

संज्ञा पुं० वैद्यक के अनुसार वह रोग जो साध्य न हो, पर
चिकित्सा से प्राणघातक न होने पावे । ऐसा रोग जो
अच्छा तो न हो, पर संयम द्वारा जिसका रोगी बहुत दिनों
तक चला चले ।

यावू-संज्ञा पुं० [फा०] वह घोड़ा जो डील डौल में बहुत बड़ा
न हो । टट्टू ।

याभ-संज्ञा पुं० [सं०] मैथुन ।

याम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तीन घंटे का समय । पहर । (२)

एक प्रकार के देवगण । इनका जन्म मार्कण्डेय पुराण के अनु-
सार स्वायंभुव मनु के समय यज्ञ और दक्षिणा से हुआ था ।

ये संख्या में बारह हैं । (३) काल । समय ।

वि० यम संबंधी ।

संज्ञा स्त्री० [सं० यामि] रात । उ०—दोज़ राजत श्यामा
श्याम । ब्रज युवती मंडली विराजत देखति सुराज बाम ।

धन्य धन्य वृंदावन को सुख सुरपुर कौन काम । धनि वृष-

भानु सुता धनि मोहन धनि गोपिन को काम । इनकी को
दासी सरि हैं है धन्य शरद की याम । कैसेहु सूर जनम
ब्रज पावै यह सुख नहि तिहुँ धाम ।—सूर ।

यामक-संज्ञा पुं० [सं०] पुनर्वसु नक्षत्र ।

यामकिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुल बधू । कुल स्त्री । (२)
लड़के की स्त्री । पुत्र-बधू । (३) बहिन । भगिनी ।

यामघोष-संज्ञा पुं० [सं०] सुर्गा ।

यामघोषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह घंटा जो बीच बीच में समय
की सूचना देने के लिये बजता हो । घड़ियाल ।

यामनाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] समय बतलानेवाली घड़ी ।

यामनेमि-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र ।

यामल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वे दो लड़के जो एक साथ उत्पन्न
हुए हों । यमज संतान । जोड़ा । (२) एक प्रकार का तंत्र
ग्रंथ जिसमें सृष्टि, ज्योतिष, आख्यान, नित्य कृत्य, क्रमसूत्र,
वर्ण-भेद, जाति-भेद और युगधर्म का वर्णन होता है । ये
ग्रंथ संख्या में छः हैं—आदि यामल, ब्रह्म यामल, विष्णु
यामल, रुद्र यामल, गणेश यामल और आदित्य यामल ।

यामवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] रात । निशा ।

यामाता-संज्ञा पुं० दे० “जमाता” ।

यामायन-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो यम के गोत्र में उत्पन्न
हुआ हो ।

यामार्द्ध-संज्ञा पुं० [सं०] पहर का आधा भाग ।

यामि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुलबधू । कुल स्त्री । (२) बहिन ।
भगिनी । (३) यामिनी । रात । (४) अग्नि पुराण के अनुसार
धर्म की एक पत्नी का नाम । इससे नागावीथी नामक कन्या
उत्पन्न हुई थी । (५) पुत्री । कन्या । (६) पुत्रबधू । (७)
दक्षिण दिशा ।

यामिक-संज्ञा पुं० [सं०] पहरेदार । पहरुआ । चौकीदार ।

यामिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] रात ।

यामित्र-संज्ञा पुं० दे० “जामित्र” ।

यामित्रवेध-संज्ञा पुं० दे० “जामित्रवेध” ।

यामिन, यामिनि ॐ-संज्ञा स्त्री० दे० “यामिनी” ।

यामिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रात । (२) हलदी । (३)
कश्यप की एक स्त्री का नाम ।

यामिनीचर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राक्षस । निशाचर । (२)
गुग्गुलु । (३) उल्लू पक्षी ।

यामीर-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा ।

यामीरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] रात ।

यामुंदायनि-संज्ञा पुं० [सं०] यामुंद ऋषि के गोत्र में उत्पन्न
अपत्य ।

यामुन-वि० [सं०] यमुना नदी संबंधी । जैसे,—यामुन जल ।

संज्ञा पुं० (१) यमुना के किनारे बसनेवाले मनुष्य। (२) एक पर्वत का नाम। (३) महाभारत के अनुसार एक तीर्थ का नाम। (४) सुरमा। अंजन। (५) बृहत्संहिता के अनुसार एक जनपद का नाम। यह जनपद कृत्तिका, रोहिणी और मृगशीर्ष के अधिकार में माना जाता है। (६) एक वैष्णव आचार्य का नाम। ये दक्षिण के रंगक्षेत्र के रहनेवाले थे और रामानुजाचार्य के पूर्व हुए थे। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। इनके रचे हुए आगम प्रामाण्य, सिद्धिन्त्रय, भगवद्गीता की टीका, भगवद्गीता संग्रह और आत्ममंदिर स्तोत्र आदि ग्रंथ अब तक मिलते हैं। कुछ लोग इन्हें रामानुजाचार्य का गुरु बतलाते हैं। यामुनाचार्य। यामुन मुनि।

यामुनेष्टक-संज्ञा पुं० [सं०] सीसा।

यामेय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहन का लड़का। भावजा। (२) धर्म की पत्नी यामी के पुत्र का नाम।

याम्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंदन। (२) शिव। (३) विष्णु। (४) अगस्त्य मुनि। (५) यमदूत।

वि० (१) यम संबंधी। यम का। (२) दक्षिण का। दक्षिणीय।

याम्यदिग्भवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] तमालपत्री।

याम्यदुम-संज्ञा पुं० [सं०] सेमल का पेड़। शास्त्रमलि वृक्ष।

याम्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दक्षिण दिशा। (२) भरणी नक्षत्र।

याम्यायन-संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिणायन।

याम्योत्तर दिग्गंश-संज्ञा पुं० [सं०] लंबांश। दिग्गंश। (भूगोल, खगोल)

याम्योत्तर रेखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह कल्पित रेखा जो किसी स्थान से आरंभ होकर सुमेरु और कुमेरु से होती हुई भूगोल के चारों ओर मानी गई हो।

विशेष—पहले भारतीय ज्योतिषी यह रेखा उज्जयिनी या लंका से गई हुई मानते थे। पर अब लोग युरोप और अमेरिका आदि के भिन्न भिन्न नगरों से गई हुई मानते हैं। आजकल बहुधा इस रेखा का केन्द्र इंग्लैण्ड का ग्रीनिच नगर माना जाता है।

यायावर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अश्वमेध का घोड़ा। (२) जरत्कार मुनि। (३) मुनियों के एक गण का नाम। जरत्कार जी इसी गण में थे। (४) एक स्थान पर न रहनेवाला साधु। सदा इधर उधर घूमता रहनेवाला संन्यासी। (५) यांचा। याचना। (६) वह ब्राह्मण जिसके यहाँ गार्हपत्य अग्नि बराबर रहती हो। साप्ति ब्राह्मण।

यायो-वि० [सं० यायिन्] [स्त्री० यायिनी] जानेवाला। जो जा रहा हो। गमनशील।

यार-संज्ञा पुं० [फा०] (१) मित्र। दोस्त। उ०—(क) बाँझ

परदा खोलि के सनमुख लै दीदार। बास सनेही लाइयाँ आदि अंत का यार।—कबीर। (ख) रखौ हक्यौ क्यों हू सुचलि आधिक राति पधारि। हरतु ताप सब घौस को उर लागि यार बयारि।—बिहारी। (२) किसी स्त्री से अनुचित संबंध रखनेवाला पुरुष। उपपति। जार।

यारकंद-संज्ञा पुं० [तु० यारकंद (नगर)] एक प्रकार का बेल-वृक्ष जो कालीन में बनाया जाता है।

याराना-संज्ञा पुं० [फा०] (१) यार होने का भाव। मित्रता। मैत्री। (२) स्त्री और पुरुष का अनुचित संबंध या प्रेम।

क्रि० प्र०—करना।—गठना।—रखना।—होना।

वि०—मित्र का सा। मित्रता का। जैसे, याराना बर्चाव।

यारी-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) मैत्री। मित्रता। उ०—यारि फेरि के आय पै जरति न सोरे अंग। रूप रोसनी पै झपै नेही नैन पतंग।—रसनिधि। (२) स्त्री और पुरुष का अनुचित प्रेम या संबंध।

क्रि० प्र०—गाँठना।—जोड़ना।

यार्कान्यन-संज्ञा पुं० [सं०] यर्क ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष वा अपत्य।

याल-संज्ञा स्त्री० [तु०] घोड़े की गर्दन के ऊपर के लंबे बाल। अयाल। बाग।

याव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जौ का सत्तू। (२) लाख। (३) महावर।

वि० (१) यव से बनाया हुआ। जौ का। (२) यव संबंधी। यव का।

यावक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जौ। (२) यव वा जौ का सत्तू। (३) वह वस्तु जो जौ से बनाई गई हो। (४) कुल्माष। बोरो धान। (५) साठी धान। (६) उड़द। माष। (७) लाख। (८) महावर।

याव-वि० [सं०] (१) जितना।

विशेष—यह तावत् के साथ और उससे पहले आता है।

(२) सब। कुल।

क्रि० वि० (१) जब तक। (२) जहाँ तक।

यावन-संज्ञा पुं० [सं०] लोबान।

वि० [स्त्री० यावनी] यवन संबंधी। यवन का। जैसे,—यावनी भाषा। यावनी सेना।

यावनक-संज्ञा पुं० [सं०] लाल अंडी। रक्त एरंड।

यावनकलक-संज्ञा पुं० [सं०] शिलारस।

यावनाल-संज्ञा पुं० [सं०] जुआर। मक्का।

यावनाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] मक्के से बनाई हुई चीनी। ज्वार की शकर।

यावनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] करंजशालि नाम की ईख। रसाल।

वि० स्त्री० यवन संबंधी। जैसे,—यावनी भाषा।

यावर-वि० [का०] सहायक । मददगार ।

यावरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] यावर का भाव या धर्म । मित्रता । मैत्री ।

यावशुक-संज्ञा पुं० [सं०] यवक्षार । जवाखार ।

यावस-संज्ञा पुं० [सं०] घास, डंठल आदि का पूला । जूरा । जौरा ।

यावास-संज्ञा पुं० [सं०] यवास से बनाया हुआ मद्य । जवासे की शराब ।

याविक-संज्ञा पुं० [सं०] मक्का नामक अन्न ।

यावी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शंखिनी । (२) यवतिका नाम की लता ।

याष्टीक-संज्ञा पुं० [सं०] लाठी बाँधनेवाला योद्धा । लठबंध । लठैत ।

यास-संज्ञा पुं० [सं०] लाल धमासा ।

यासा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कोयल । (२) मैना ।

यासु-सर्व० दे० “जासु” ।

यास्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यस्क ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष । (२) वैदिक निरुक्त के रचयिता एक प्रसिद्ध ऋषि का नाम ।

यास्कायनि-संज्ञा पुं० [सं०] यास्क के गोत्र में उत्पन्न पुरुष ।

याहिष्ठा-सर्व० [हि० या + हि] इसको । इसे । उ०—जो यह मेरी बैरी कहियत ताको नाम पढायो । देहु गिराय याहि पर्वत तें क्षण गतजीव करायो ।—सूर ।

युंजान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सारथी । (२) विप्र । (३) दो प्रकार के योगियों में से वह योगी जो अभ्यास कर रहा हो, पर मुक्त न हुआ हो । कहते हैं कि ऐसा योगी समाधि लगाकर सब बातें जान लेता है ।

युंजानक-संज्ञा पुं० [सं०] युंजान नामक योगी । दे० “युंजान” ।

युक्त-वि० [सं०] (१) एक साथ किया हुआ । जुड़ा हुआ । किसी के साथ मिला हुआ । (२) मिलित । सम्मिलित । (३) नियुक्त । मुकर्रर । (४) आसक्त । (५) सहित । संयुक्त । साथ । (६) संपन्न । पूर्ण । (७) उचित । ठीक । वाजिब । संगत । मुनासिब ।

संज्ञा पुं० (१) वह योगी जिसने योग का अभ्यास कर लिया हो । (ऐसे योगी को, जो ज्ञान-विज्ञान से परितृप्त, कूटस्थ, जितेंद्रिय हो और जो मिट्टी और सोने को तुल्य जानता हो, युक्त कहा गया है ।) (२) रैवत मनु के पुत्र का नाम । (३) चार हाथ का एक मान ।

युक्तरथ-संज्ञा पुं० [सं०] एक औषध-योग जिसका प्रयोग वस्तिकरण में होता है । भावप्रकाश में रेंड की जड़ के काथ, मधु, तेल, सेंधा नमक, जूच और पिप्पली के योग को युक्तरथ कहा है ।

३८२

युक्तरसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गंधराक्षा । गंधनाकुली । नाकुल कंद । (२) राक्षा । रासन ।

युक्तश्रेयसी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंध राक्षा । नाकुली कंद ।

युक्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एलापर्णी । (२) एक वृत्त का नाम जिसमें दो नगण और एक मगण होता है ।

युक्तायस्-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल के एक अन्न का नाम जो लोहे का होता था ।

युक्तार्थ-वि० [सं०] ज्ञानी ।

युक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) उपाय । ढंग । तरकीब । (२) कौशल ।

चातुरी । (३) चाल । रीति । प्रथा । (४) न्याय । नीति ।

(५) अनुमान । अंदाजा । (६) उपपत्ति । हेतु । कारण ।

(७) तर्क । ऊहा । (८) उचित विचार । ठीक तर्क । जैसे,—

युक्तियुक्त बात । (९) योग । मिलन । (१०) एक अलंकार का

नाम, जिसमें अपने बर्णों को छिपाने के लिये दूसरे को किसी

क्रिया या युक्ति द्वारा वंचित करने का वर्णन होता है । उ०—

लिखत रही पिय-चित्र तहँ आवत लखि सखि आन । चतुर

तिया तेहि कर लिखे फूलन के धनुवान । (११) केशव के

अनुसार उक्ति का एक भेद जिसे स्वभावोक्ति भी कहते हैं ।

युक्तिकर-वि० [सं०] जो तर्क के अनुसार ठीक हो । उचित

विचारपूर्ण । युक्ति-संगत । युक्तियुक्त ।

युक्तियुक्त-वि० [सं०] उपयुक्त तर्क के अनुकूल । युक्ति-संगत ।

ठीक । वाजिब । जैसे,—आपकी सभी बातें बहुत ही युक्ति-

युक्त होती हैं ।

युगंधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कूबर । हरस । (२) गाड़ी का

बम । (३) एक पर्वत का नाम । (४) हरिवंश के अनुसार

द्रुणि के पुत्र और सात्यकि के पौत्र का नाम ।

युग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एकत्र दो वस्तुएँ । जोड़ा । युगम ।

(२) जुआ । जुआठा । (३) ऋद्धि और वृद्धि नामक दो

ओषधियाँ । (४) पुरुष । पुंश । पीढ़ी । (५) पाँसे के खेल

की वे गोल गोल गोठियाँ, जो बिसात पर चली जाती

हैं । (६) पाँसे के खेल की वे दो गोठियाँ जो किसी

प्रकार एक घर में साथ आ बैठती हैं । (७) पाँच वर्ष का

वह काल जिसमें वृहस्पति एक राशि में स्थित रहता है ।

(८) समय । काल । जैसे,—पूर्व युग । (९) पुराणानुसार

काल का एक दीर्घ परिमाण । ये संख्या में चार माने गए

हैं, जिनके नाम सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग हैं ।

दे० “सत्ययुग” आदि ।

मुहा०—युग युग = बहुत दिनों तक । अनंत काल तक । जैसे,—

युग युग जीओ । युगधर्म = समय के अनुसार चाल या व्यवहार ।

वि० जो गिनती में दो हो

युगकीलक-संज्ञा पुं० [सं०] वह लकड़ी या खँटा जो बम जौर

जुए के मिले छेदों में डाला जाता है । सैल । सैला ।

युगति—संज्ञा स्त्री० दे० “युक्ति” ।

युगप—संज्ञा पुं० [सं०] गंधर्व ।

युगपत्—अव्य० [सं०] एक ही समय में । एक ही क्षण में साथ साथ । जैसे,—मन की दो क्रियाएँ युगपत् नहीं हो सकतीं ।

युगपत्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोविदार । कचनार । (२) वह वृक्ष जिसमें दो दो पत्तियाँ आमने-सामने निकलती हों ।

युगमर्ण । **युगम-पत्र** । (३) पहाड़ी आबनूस ।

युगपत्रिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] शीशम का पेड़ ।

युगबाहु—वि० [सं०] जिसके हाथ बहुत लंबे हों । दीर्घबाहु ।

युगमङ्ग—संज्ञा पुं० दे० “युग्म” ।

युगल—संज्ञा पुं० [सं०] वे जो एक साथ दो हों । युग्म । जोड़ा । जैसे,—युगल छवि ।

युगलक—संज्ञा पुं० [सं०] वह कुलक (गद्य) जिसमें दो श्लोकों वा पद्यों का एक साथ मिलकर अन्वय हो ।

युगलाख्य—संज्ञा पुं० [सं०] बबूल का पेड़ ।

युगांत—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रलय । (२) युग का अंतिम समय ।

युगांतक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रलय काल । (२) प्रलय ।

युगांतर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूसरा युग । (२) दूसरा समय । और ज़माना ।

मुहा०—युगांतर उपस्थित करना = समय पलट देना । किसी पुराने प्रथा को हटाकर उसके स्थान पर नई प्रथा (या उसका समय) लाना ।

युगांशक—संज्ञा पुं० [सं०] वत्सर । वर्ष ।

वि० युग का विभाजक ।

युगाक्षिगंधा—संज्ञा स्त्री० [सं०] विधारा ।

युगादि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सृष्टि का प्रारंभ ।

वि० युग के आरंभ का । पुराना ।

संज्ञा स्त्री० दे० “युगाद्या” ।

युगादिकृत—संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

युगाद्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह तिथि जिससे युग का आरंभ हुआ हो । संवत्सर में ऐसी तिथियाँ चार हैं, जिनमें से प्रत्येक से एक एक युग का आरंभ माना जाता है । ये श्रेष्ठ और शुभ मानी जाती हैं, और इस प्रकार हैं—(१) वैशाख शुक्ल तृतीया, सत्ययुग के आरंभ की तिथि; (२) कार्तिक शुक्ल नवमी, त्रेतायुग के आरंभ की तिथि; (३) भाद्र कृष्ण त्रयोदशी, द्वापर के आरंभ की तिथि; और (४) पूस की अमावस्या, कलियुग के आरंभ की तिथि ।

युगेश—संज्ञा पुं० [सं०] बृहस्पति के साठ वर्ष के राशि-चक्र में गति के अनुसार पाँच पाँच वर्ष के युगों के अधिपति ।

विशेष—यह चक्र उस समय से प्रारंभ होता है, जब बृहस्पति माघ मास में धनिष्ठा नक्षत्र के प्रथमार्ध में उदय होता है । बृहस्पति के साठ वर्ष के काल में पाँच वर्ष के बारह युग

होते हैं, जिनके अधिपति विष्णु, सुरेज्य, बलभित्, अग्नि, त्वष्टा, उत्तर प्रोष्ठपद, पितृगण, विश्व, सोम, शक्रानिल, अश्वि और भग हैं । प्रत्येक युग के पाँच वर्षों के युग क्रमशः संवत्सर परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर कहलाते हैं ।

युगोरस्य—संज्ञा पुं० [सं०] सेना के सन्निवेश का एक भेद ।

युग्म—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जोड़ा । युग । (२) अन्योन्याश्रित दो वस्तुएँ या बातें । द्वंद्व । (३) मिथुन राशि । (४) कुलक का एक भेद जिसे युगलक भी कहते हैं । वि० दे० “युगलक” ।

युग्मकंटका—संज्ञा स्त्री० [सं०] बेर ।

युग्मक—संज्ञा पुं० [सं०] युगलक । युग्म । जोड़ा ।

युग्मज—संज्ञा पुं० [सं०] एक साथ उत्पन्न दो बच्चे । यमल । यमज ।

युग्मधर्मा—वि० [सं० युग्मधर्म] (१) जो स्वभावतः मिलता हो । मिलनशील । (२) मिथुनधर्मा ।

युग्मपत्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कचनार का पेड़ । (२) भोजपत्र का पेड़ । (३) सतिवन । छतिवन । (४) वह पेड़ जिसकी शाखा में दो दो पत्ते एक साथ होते हों । युग्मपर्ण ।

युग्मपर्ण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल कचनार । (२) सतिवन । छतिवन । (३) दे० “युग्मपत्र” ।

युग्मपर्णा—संज्ञा स्त्री० [सं०] बुशिकाली ।

युग्मफला—संज्ञा स्त्री० [सं०] बुशिकाली ।

युग्मफलिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] बुधिया । दुद्धी । गुदनी ।

युग्मांजन—संज्ञा पुं० [सं०] स्रोतांजन और सौवीरांजन इन दोनों का समूह ।

युग्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह गाड़ी जिसमें दो घोड़े या बैल जोते जाते हों । जोड़ी । (२) वे दो पशु जो एक साथ गाड़ी में जोते जाते हों । जोड़ी ।

वि० (१) जो जोता जाने के योग्य हो । (२) जो जोता जानेवाला हो ।

युग्यवाह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जोड़ी हाँकनेवाला । (२) गाड़ी-वान् । सारथी ।

युज्य—वि० [सं०] (१) मिला हुआ । संयुक्त । (२) मिलाने योग्य ।

संज्ञा पुं० (१) संयोग । मिलाप । (२) एक प्रकार का साम ।

युत—वि० [सं०] (१) युक्त । सहित । (२) जो अलग न हो । मिला हुआ । मिलित ।

संज्ञा पुं० चार हाथ की एक नाप ।

युतक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) संशय । संदेह । (२) युग । जोड़ा । (३) अंचल । दामन । (४) प्राचीन काल का एक प्रकार का वस्त्र जो पहनने के काम में आता था । (५) सूप के दोनों ओर के किनारे जो ऊपर उठे हुए होते हैं और पीछे के उठे

हुए भाग से जोड़कर बाँधे रहते हैं । (६) मैत्री-करण ।
(७) संश्रय ।

युतबोध-संज्ञा पुं० [सं०] एक योग का नाम । यह योग उस समय होता है, जब चंद्रमा पाप-ग्रह से सातवें स्थान में होता है या पाप-ग्रह के साथ होता है । ऐसे योग के समय विवाहादि शुभ कर्मों का, फलित ज्योतिष में, निषेध है ।

युति-संज्ञा स्त्री० [सं०] योग । मिलन । मिलाप ।

युद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] लड़ाई । संग्राम । रण ।

विशेष—प्राचीन काल में युद्ध के लिये रथ, हाथी, घोड़े और पदाति ये चार सेना के प्रधान अंग थे और इसी कारण सेना को चतुरंगिणी कहते थे । इन चारों के संख्या-भेद के कारण पत्ति, गुल्म, गण आदि सेना के अनेक भेद और उनके सन्निवेश भेद से शूची, श्येन, मकरादि अनेक व्यूह थे । सैनिकों को शिक्षा संकेत ध्वनियों से दी जाती थी, जिसे सुनकर सैनिकगण सम्मिलन, प्रसरण, प्रभ्रमण, आकुंचन, यान, प्रयाण, अपयान आदि अनेक चेष्टाएँ करते थे । संग्राम के दो भेद थे—एक द्रुत और दूसरा निर्द्रुत । जिस संग्राम में कृत्रिम वा अकृत्रिम दुर्ग में रहकर शत्रु से युद्ध करते थे, उसे द्रुत युद्ध कहते थे । पर जब दुर्ग से बाहर होकर आमने सामने खुले मैदान में लड़ते थे, तब उसे निर्द्रुत युद्ध कहते थे । निर्द्रुत युद्ध में समदेश में रथ-युद्ध, विषम में हस्ति-युद्ध, मरु भूमि में अश्व-युद्ध, पर्व-तादि में पत्ति-युद्ध और जल में नौका-युद्ध किया जाता था । युद्ध के सामान्य नियम ये थे—(१) युद्ध उस अवस्था में किया जाता था, जब युद्ध से जीने की आशा और न युद्ध करने में नाश भ्रुव हो । (२) राजा और युद्ध शास्त्र के मर्मज्ञ पंडितों को युद्ध-क्षेत्र में नहीं जाने देते थे । उनसे यथा समय युद्ध नीति का केवल परामर्श और मंत्र लिया जाता था । (३) रथहीन, अश्वहीन, गजहीन और शस्त्रहीन पर प्रहार नहीं होता था । (४) बाल, वृद्ध, नपुंसक और अव्याहत पर तथा शांति की पताका उठानेवाले के ऊपर शस्त्रास्त्र नहीं चलाया जाता था । (५) भयभीत, शरणप्राप्त, युद्ध से विमुख और विगत पर भी आघात नहीं किया जाता था । (६) संग्राम में मारनेवाले को ब्रह्महत्यादि दोष नहीं लगते थे । (७) लड़ाई से भागनेवाला बड़ा पातकी माना जाता था । ऐसे पातकी की शुद्धि तब तक नहीं होती थी, जब तक कि वह फिर युद्ध में जाकर शूरता न दिखलावे ।

क्रि० प्र०—छिड़ना ।—छेड़ना ।—ठनना ।—मचना ।—मचाना ।

मुहा०—युद्ध माँड़ना = लड़ाई ठगना । उ०—कुँअर तन इयाम मानों काम है दूसरो सपन में देखि ऊखा लुभाई ।

मित्ररेखा सकल जगत के नृपन की छिनिक में सुरति तक लिखि देखाई । निरखि यदुवंश को रहस मन में भयो देखि अनिरुद्ध युद्ध माँड़्यो । सूर प्रभु ठटी ज्यों भयो चाहै सो त्यों फाँसि करि कुँअर अनिरुद्ध बाँध्यो ।—सूर ।

युद्धप्राप्त-संज्ञा पुं० [सं०] वह पुरुष जो संग्राम में पकड़ा गया हो । यह दास के बारह भेदों में से एक है और ध्वजाहत भी कहलाता है ।

युद्धमय-वि० [सं०] (१) युद्ध संबंधी । (२) रणप्रिय । युद्ध-प्रिय ।

युद्धमुष्टि-संज्ञा पुं० [सं०] उग्रसेन के एक पुत्र का नाम ।

युद्धरंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्तिकेय । स्कंद । (२) युद्ध-स्थल । रणभूमि । लड़ाई का मैदान ।

युद्धसार-संज्ञा पुं० [सं०] बोद्धा ।

युद्धाचार्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो दूसरों को युद्ध विद्या की शिक्षा देता हो । युद्ध सिखलानेवाला ।

युद्धाजि-संज्ञा पुं० [सं०] अंगिरा के गोत्र में उत्पन्न एक ऋषि का नाम ।

युद्धोन्मत्त-वि० [सं०] (१) युद्ध में लीन । लड़ाका । (२) जो युद्ध के लिये उतावला हो रहा हो ।

संज्ञा पुं० रामायण के अनुसार एक राक्षस का नाम । इसका दूसरा नाम महोदर था । यह रावण का भाई था और इसे नील नामक वानर ने मारा था ।

युध्-संज्ञा स्त्री० [सं०] युद्ध । लड़ाई ।

युधांश्रौष्टि-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम ।

युधाजि-संज्ञा पुं० दे० “युद्धाजि” ।

युधाजित्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) केकयराज के पुत्र का नाम ।

यह भरत का मामा था । (२) कृष्ण के एक पुत्र का नाम ।

(३) क्रोष्टु नामक राजा के पुत्र का नाम ।

युधान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्षत्रिय । (२) रिपु । शत्रु । दुश्मन ।

युधामन्यु-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक राजा का नाम जो महाभारत युद्ध में पांडवों की ओर से लड़ा था ।

युधासर-संज्ञा पुं० [सं०] नंद राजा का एक नाम ।

युधिक-वि० [सं०] योद्धा ।

युधिष्ठिर-संज्ञा पुं० [सं०] पाँच पांडवों में सब से बड़े का नाम जो कुंती से उत्पन्न धर्म के पुत्र थे और पांडु के क्षेत्रज्ञ पुत्र थे । ये सत्यवादी और धर्मपरायण थे, पर इन्हें जूए की लत थी, जिसके कारण यह अपना राज्य, भाइयों और स्वयं अपने आपको जूए में हार गए थे । महाभारत के संग्राम के अनंतर ये हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर बैठे थे । महाभारत के अनुसार अपनी धर्मपरायणता के कारण ये हिमालय होकर सदेह स्वर्ग गए थे । ये आजन्म सत्य

का पालन करते रहे। कुरुक्षेत्र के युद्ध में कृष्ण ने इनसे यह असत्य बात कहलानी चाही कि 'अश्वत्थामा मारा गया'। इस कथन से द्रोण की मृत्यु निश्चित थी। इन्होंने बहुत आगा पीछा किया; पर अंत में इन्हें इतना कहना पड़ा—“अश्वत्थामा मारा गया, न जाने हाथी या मनुष्य”। यह पिछला वाक्य इन्होंने कुछ धीरे से कहा था। इनके जीवन भर में सत्य के अपलाप का केवल यही एक उदाहरण मिलता है।

युध्म-संज्ञा पुं० [सं०] (१) संग्राम। युद्ध। (२) धनुष। (३) वाण। (४) अस्त्र शस्त्र। (५) योद्धा। (६) शरभ।

युध्म-वि० [सं०] जिसके साथ युद्ध किया जा सके।

युनिवर्सिटी-संज्ञा स्त्री० दे० “यूनिवर्सिटी”।

युयु-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ा।

युयुक्त्रुर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का छोटा बाघ।

युयुत्तमान-वि० [सं०] (१) मिलन या संयोग चाहनेवाला। (२) ईश्वर में लीन होने की कामना रखनेवाला।

युयुत्सा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) युद्ध करने की इच्छा। लड़ने की इच्छा। (२) शत्रुता। विरोध।

युयुत्सु-वि० [सं०] लड़ने की इच्छा रखनेवाला। जो लड़ना चाहता हो।

संज्ञा पुं० धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम।

युयुधान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र। (२) क्षत्रिय। (३) योद्धा। (४) सात्यकी का एक नाम, जो कुरुक्षेत्र के युद्ध में पांडवों की ओर से लड़े थे।

युरेशियन-संज्ञा पुं० [ग्रं० युरोप + एशिया] वह जिसके माता पिता में से कोई एक युरोप का और दूसरा एशिया का, विशेषतः भारतवर्ष का, निवासी हो।

युरोप-संज्ञा पुं० [ग्रं०] पूर्वी गोलार्ध के तीन महाद्वीपों में से सब से छोटा महाद्वीप, जो एशिया के पश्चिम में काकेशस और यूराल पर्वतों के उस पार से आरंभ होता है। इसके उत्तर में आर्कटिक समुद्र, पश्चिम में एटलंटिक महासागर, दक्षिण में भूमध्य सागर और कृष्ण सागर तथा पूर्व में काकेशस और यूराल पर्वत पड़ता है। यह महाप्रदेश प्रायः २४०० मील चौड़ा और ३४०० मील लंबा है। एक प्रकार से यह एशिया का अंश और बहुत बड़ा प्रायः द्वीप ही है। फ्रांस, जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया, पुर्तगाल, स्पेन, इटली, यूनान आदि इसके प्रसिद्ध देश हैं।

युरोपियन-वि० [ग्रं०] युरोप का। युरोप संबंधी। जैसे,—युरोपियन सभ्यता, युरोपियन साहित्य।

संज्ञा पुं० युरोप महादेश के किसी देश का निवासी।

युवक-संज्ञा [सं०] सोलह वर्ष से लेकर पैंतीस वर्ष तक की अवस्थावाला मनुष्य। जवान। युवा।

युवगंड-संज्ञा पुं० [सं०] मुहाँसा।

युवति, युवती-वि० स्त्री० [सं०] प्राप्तयौवना। जवान (स्त्री)। संज्ञा स्त्री० (१) जवान स्त्री। (२) प्रियंगु। (३) सोनजुही। (४) हलदी।

युवतीष्टा-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्वर्ण मूथिका। सोनजुही।

युवनाश्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक सूर्यवंशी राजा का नाम जो प्रसेनजित् का पुत्र था। प्रसिद्ध मांधाता इसी का पुत्र था। (२) रामायण के अनुसार धुंधुमार के पुत्र का नाम।

युवन्यु-वि० [सं०] जवान।

युवराईल-संज्ञा स्त्री० [हि० युवराज] युवराज का पद। संज्ञा पुं० दे० “युवराज”।

युवराज-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० युवराज्ञी] राजा का वह राज-कुमार जो उसके राज्य का उत्तराधिकारी हो। राजा का वह सब से बड़ा लड़का जिसे आगे चलकर राज्य मिलने-वाला हो।

युवराजत्व-संज्ञा पुं० [सं०] युवराज का भाव वा धर्म। युवराज्य।

युवराजी-संज्ञा स्त्री० [सं० युवराज + ई (प्रत्य०)] युवराज का पद। युवराज्य। उ०—जिनहि देखि दशरथ नृप राजी। देन विचारत हे युवराजी।—पद्माकर।

युवा-वि० [सं० युवन्] [स्त्री० युवती] जिसकी अवस्था सोलह से लेकर पैंतीस वर्ष तक के अंदर हो। जवान। यौवनावस्था प्राप्त।

युवानपिड़िका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुहाँसा।

यू-ग्रन्थ दे० “यू”।

यू-संज्ञा स्त्री० [सं०] पकी हुई दाल का पानी। जूस।

यूक-संज्ञा पुं० [सं०] जू नामक कीड़े जो बाल या कपड़ों में पड़ जाते हैं। ढील। चीलर।

यूका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का परिमाण जो एक यव का आठवाँ भाग और एक लिक्छा का अठगुना होता है। (२) जू नाम का कीड़ा जो सिर के बालों में होता है। वि० दे० “जू”। (३) खटमल। (४) अजवायन। (५) गूलर।

युगंधर-संज्ञा पुं० [सं०] पंजाब के एक प्राचीन नगर का नाम, जिसका वर्णन महाभारत में आया है। आजकल इसे “धुरंधर” कहते हैं।

यूत-संज्ञा पुं० [सं० यूति] मिश्रण। मिलावट। मेल। उ०—बिचि बिचि प्रीति रहसि रस रीति की राग रागिनी के यूत बाढ़े।—स्वा० हरिदास।

यूति-संज्ञा स्त्री० [सं०] मिलाने की क्रिया। मिश्रण। मेल।

यूथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक ही जाति वा वर्ग के अनेक जीवों

का समूह। झुंड। गरोह। जैसे,—गजयूथ। (२) दल। सेना। फौज।

यूथग-संज्ञा पुं० [सं०] चाक्षुष मन्वन्तर के एक प्रकार के देवता।

यूथनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यूथ का स्वामी। सरदार। (२) सेनापति। सेनाध्यक्ष। दलपति।

यूथप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सरदार। (२) सेनापति। (३) जंगली हाथियों का सरदार।

यूथपति-संज्ञा पुं० [सं०] सेना-नायक। सेनापति।

यूथपाल-संज्ञा पुं० दे० “यूथपति”।

यूथिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] जूही नाम का फूल और उसका पौधा। उ०—सित अरु पीत यूथिका बेनी गूँथी विविध बनाय। रच्यो भाल निज तिलक मनोहर अंजन नयन सुहाय।—सूर।

यूथी-संज्ञा स्त्री० [सं०] जूही का पौधा या फूल। यूथिका।

यूनक-संज्ञा पुं० [?] गरी की खली।

यूनाइटेड-वि० [अ०] मिला हुआ। संयुक्त। जैसे,—यूनाइटेड स्टेट्स (अमेरिका), यूनाइटेड प्रॉविंसेज (संयुक्त-देश आगरा व अवध)।

यूनान-संज्ञा पुं० [ग्रीक आयोनिआ] एशिया के सब से अधिक पास पड़नेवाला युरोप का प्रदेश जो प्राचीन काल में अपनी सभ्यता, शिल्पकला, साहित्य, दर्शन इत्यादि के लिये जगत में प्रसिद्ध था। आयोनिआ द्वीप इसी देश के अंतर्गत था, जिसके निवासियों का आना जाना एशिया के शाम, फ़ारस आदि देशों में बहुत था; इसी से सारे देश को ही यूनान कहने लगे थे। भारतीयों का यवन शब्द यूनान देश-वासियों का ही सूचक है। सिकंदर इसी देश का बादशाह था।

यूनानी-वि० [यूनान + ई (प्रत्य०)] यूनान देश संबंधी। यूनान का।

संज्ञा स्त्री० (१) यूनान देश की भाषा। (२) यूनान देश का निवासी। (३) यूनान देश की चिकित्सा-प्रणाली। हकीमी।

विशेष—फ़ारस के प्राचीन बादशाह अपने यहाँ यूनान के चिकित्सक रखते थे, जिससे वहाँ की चिकित्सा-प्रणाली का प्रचार एशिया के पश्चिमी भाग में हुआ। इस प्रणाली में क्रमशः देशी चिकित्सा भी मिलती गई। आजकल जिसे यूनानी चिकित्सा कहते हैं, वह मिली जुली है। खलीफ़ा लोगों के समय में भारतवर्ष से भी अनेक वैद्य बग़दाद गए थे, जिससे बहुत से भारतीय प्रयोग भी वहाँ की चिकित्सा में शामिल हुए।

यूनिवर्सिटी-संज्ञा स्त्री० [अ०] वह संस्था जो लोगों को सब प्रकार की उच्च कोटि की शिक्षाएँ देती, उनकी परीक्षाएँ लेती और उन्हें उपाधियाँ आदि प्रदान करती है। ऐसी संस्था या तो राजकीय हुआ करती है अथवा राज्य की आज्ञा से

स्थापित होती है; और उसकी परीक्षाओं तथा उपाधियों आदि का सब जगह समान रूप से मान होता है। विश्वविद्यालय।

यूप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ में वह खंभा जिसमें बलि का पशु बाँधा जाता है। (२) वह स्तंभ जो किसी विजय अथवा कीर्ति आदि की स्मृति में बनाया गया हो।

यूप-कटक-संज्ञा पुं० [सं०] लोहे या लकड़ी का कड़ा या छल्ला जो यूप के सिरे पर अथवा नीचे होता था।

यूपकर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] यूप का वह भाग जो घृत से अभिषिक्त किया जाता था।

यूपकेतु-संज्ञा पुं० [सं०] भूरिश्रवा का एक नाम।

यूपहु-संज्ञा पुं० [सं०] खैर का वृक्ष।

यूपध्वज-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ।

यूपा-संज्ञा पुं० [सं० घृत] जूआ। घृतकर्म। उ०—यहै मनोरथ जीतव यूपा। कहूँ कहेउ यह भेद न भूपा।—सबलसिंह।

यूपाक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] रावण की सेना का एक मुख्य नायक जिसको हनुमान् ने प्रमदावन उजाड़ने के समय मारा था।

यूपाहुति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह कृत्य जो यज्ञ में यूप गाड़ने के समय किया जाता है।

यूप्य-संज्ञा पुं० [सं०] पलास।

यूरप-संज्ञा पुं० दे० “युरोप”।

यूराल-संज्ञा पुं० (१) बहुत बड़ा पहाड़ जो एशिया और युरोप के बीच में है। (२) इस पर्वत से निकलनेवाली एक नदी का नाम।

यूरोप-संज्ञा पुं० दे० “युरोप”।

यूरोपियन-संज्ञा पुं० दे० “युरोपियन”।

यूरोपीय-वि० [अ० युरोप + ईय (प्रत्य०)] युरोप संबंधी। युरोप का।

यूहळी-संज्ञा पुं० [सं० यूथ] समूह। झुंड।

ये-सर्व० दे० “यह”।

सर्व० [हि० यह] “यह” का बहुवचन। यह सब।

येईळी-सर्व० [हि० यह + ई (प्रत्य०)] यही।

येऊळी-सर्व० [हि० ये + ऊ (प्रत्य०)] यह भी।

येतोळी-वि० दे० “एतो”।

येहली-सर्व० दे० “यह”।

येहळी-अव्य० [हि० यह + ह] यह भी।

यों-अव्य० [सं० एवमेव, प्रा० एमेअ, अप० एमि] इस तरह पर। इस प्रकार से। इस भाँति। ऐसे। जैसे,—वह यों नहीं मानेगा।

योही-अव्य० [हि० यों + ही] (१) इसी प्रकार से। ऐसे ही। इसी तरह से। (२) बिना काम। व्यर्थ ही। जैसे,—आप तो योही किताबें उलटा करते हैं। (३) बिना विशेष

प्रयोजन या उद्देश्य के। केवल मन की प्रवृत्ति से। जैसे,—
मैं उधर योंही चला गया; उससे मिलने नहीं गया था।

योग—सर्व० दे० “यह”।

योगधर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल का एक मंत्र जो
अस्त्र शस्त्र आदि के शोधन के लिये पढ़ा जाता था। (२)
पीतल।

योग—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दो अथवा अधिक पदार्थों का एक
में मिलना। संयोग। मिलान। मेल। (२) उपाय।
तरकीब। (३) ध्यान। (४) संगति। (५) प्रेम। (६)
छल। धोखा। दगाबाज़ी। जैसे, योग-विक्रय। (७) प्रयोग।
(८) औषध। दवा। (९) धन। दौलत। (१०) नैयायिक
(११) लाभ। फायदा। (१२) वह जो किसी के साथ
विश्वासघात करे। दगाबाज़। (१३) कोई शुभ काल।
अच्छा समय या अवसर। (१४) चर। दूत। (१५)
छकड़ा। बैलगाड़ी। (१६) नाम। (१७) कौशल। चतुराई।
होशियारी। (१८) नाव आदि सवारी। (१९) परिणाम।
नतीजा। (२०) नियम। कायदा। (२१) उपयुक्तता।
(२२) साम, दाम, दंड और भेद ये चारों उपाय। (२३)
वह उपाय जिसके द्वारा किसी को अपने वश में किया
जाय। वशीकरण। (२४) सूत्र। (२५) संबंध। (२६)
सद्भाव। (२७) धन और संपत्ति प्राप्त करना तथा बढ़ाना।
(२८) मेल-मिलाप। (२९) तप और ध्यान। वैराग्य। (३०)
गणित में दो या अधिक राशियों का जोड़। (३१) एक प्रकार
का छंद जिसके प्रत्येक चरण में १२, ८ के विश्राम से २०
मात्राएँ और अंत में यगण होता है। (३२) ठिकाना।
सुभीता। जुगाड़। तार-घात। उ०—नहिं लख्यो भोजन
योग नहीं कहूँ मिल्यो निवसन ठौर।—रघुराज। (३३)
फलित ज्योतिष में कुछ विशिष्ट काल या अवसर जो
सूर्य और चंद्रमा के कुछ विशिष्ट स्थानों में आने के कारण
होते हैं और जिनकी संख्या २७ है। इनके नाम इस प्रकार
हैं—विष्कम्भ, प्रीति, आयुष्मान्, सौभाग्य, शोभन,
अतिगंड, सुकर्मा, धृति, शूल, गंड, वृद्धि, ध्रुव, व्याघात,
हर्षण, वज्र, असृक, व्यतीपात, वरीयान्, परिध, शिव,
सिद्ध, साध्य, शुभ, शुक्र, ब्रह्म, इंद्र और वैद्यति। इनमें से
कुछ योग ऐसे हैं, जो शुभ कार्यों के लिये वर्जित हैं और
कुछ ऐसे हैं जिनमें से शुभ कार्य करने का विधान है।
(३४) फलित ज्योतिष के अनुसार कुछ विशिष्ट तिथियाँ,
वारों और नक्षत्रों आदि का एक साथ या किसी निश्चित
नियम के अनुसार पड़ना। जैसे,—अमृतयोग, सिद्धि
योग। (३५) वह उपाय जिसके द्वारा जीवात्मा जाकर
परमात्मा में मिल जाता है। मुक्ति या मोक्ष का उपाय।
(३६) दर्शनकार पतंजलि के अनुसार चित्त की वृत्तियों

को चंचल होने से रोकना। मन को इधर उधर भटकने
न देना, केवल एक ही वस्तु में स्थिर रखना। (३७) छः
दर्शनों में से एक जिसमें चित्त को एकाग्र करके ईश्वर में
लीन करने का विधान है।

विशेष—योग-दर्शनकार पतंजलि ने आत्मा और जगत् के
संबंध में सांख्य दर्शन के सिद्धांतों का ही प्रतिपादन और
समर्थन किया है। उन्होंने भी वही पचीस तत्त्व माने हैं,
जो सांख्यकार ने माने हैं। इनमें विशेषता यही है कि
इन्होंने कपिल की अपेक्षा एक और छब्बीसवाँ तत्त्व
'पुरुष विशेष' या ईश्वर भी माना है, जिससे सांख्य के
अनीश्वरवाद से ये बचे गए हैं। पतंजलि का योग दर्शन
समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य इन चार पादों या
भागों में विभक्त है। समाधि पाद में यह बतलाया गया
है कि योग के उद्देश्य और लक्षण क्या हैं और उसका
साधन किस प्रकार होता है। साधन पाद में क्लेश,
कर्मविपाक और कर्मफल आदि का विवेचन है। विभूति
पाद में यह बतलाया गया है कि योग के अंग क्या हैं,
उसका परिणाम क्या होता है और उसके द्वारा अणिमा,
महिमा आदि सिद्धियों की किस प्रकार प्राप्ति होती है।
कैवल्य पाद में कैवल्य या मोक्ष का विवेचन किया गया
है। संक्षेप में योगदर्शन का मत यह है कि मनुष्य को
अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच
प्रकार के क्लेश होते हैं; और उसे कर्म के फलों के अनुसार
जन्म लेकर आयु व्यतीत करनी पड़ती है तथा भोग भोगना
पड़ता है। पतंजलि ने इन सब से बचने और मोक्ष प्राप्त
करने का उपाय योग बतलाया है; और कहा है कि क्रमशः
योग के अंगों का साधन करते हुए मनुष्य सिद्ध हो जाता
है और अंत में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। ईश्वर के संबंध
में पतंजलि का मत है कि वह नित्यमुक्त, एक, अद्वितीय
और तीनों कालों से अतीत है और देवताओं तथा ऋषियों
आदि को उसी से ज्ञान प्राप्त होता है। योगवाले संसार
को दुःखमय और हेय मानते हैं। पुरुष या जीवात्मा के
मोक्ष के लिये वे योग को ही एक मात्र उपाय मानते हैं।
पतंजलि ने चित्त की क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, निरुद्ध और
एकाग्र ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ मानी हैं, जिनका नाम
उन्होंने चित्तभूमि रखा है; और कहा है कि आरंभ की
तीन चित्तभूमियों में योग नहीं हो सकता, केवल अंतिम
दो में हो सकता है। इन दो भूमियों में संप्रज्ञात और
असंप्रज्ञात ये दो प्रकार के योग हो सकते हैं। जिस
अवस्था में ध्येय का रूप प्रत्यक्ष रहता हो, उसे संप्रज्ञात
कहते हैं। यह योग पाँच प्रकार के क्लेशों का नाश करने-
वाला है। असंप्रज्ञात उस अवस्था को कहते हैं, जिसमें

किसी प्रकार की वृत्ति का उदय नहीं होता; अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रह जाता, संस्कार मात्र बच रहता है। यही योग की चरम भूमि मानी जाती है और इसकी सिद्धि हो जाने पर मोक्ष प्राप्त होता है। योग-साधन का उपाय यह बतलाया गया है कि पहले किसी स्थूल विषय का आधार लेकर उसके उपरांत किसी सूक्ष्म वस्तु को लेकर और अंत में सब विषयों का परित्याग करके चलना चाहिए और अपना चित्त स्थिर करना चाहिए। चित्त की वृत्तियों को रोकने के जो उपाय बतलाए गए हैं, वे इस प्रकार हैं—अभ्यास और वैराग्य, ईश्वर का प्रणिधान, प्राणायाम और समाधि, विषयों से विरक्ति आदि। यह भी कहा गया है कि जो लोग योग का अभ्यास करते हैं, उनमें अनेक प्रकार की विलक्षण शक्तियाँ आ जाती हैं, जिन्हें विभूति या सिद्धि कहते हैं। (वि० दे० “सिद्धि”) यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठो योग के अंग कहे गए हैं; और योग-सिद्धि के लिये इन आठों अंगों का साधन आवश्यक और अनिवार्य कहा गया है। इनमें से प्रत्येक के अंतर्गत कई कई बातें हैं। कहा गया है कि जो व्यक्ति योग के ये आठो अंग सिद्ध कर लेता है, वह सब प्रकार के क्लेशों से छूट जाता है, अनेक प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त कर लेता है और अंत में कैवल्य (मुक्ति) का भागी होता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि सृष्टि-तत्त्व आदि के संबंध में योग का भी प्रायः वही मत है जो सांख्य का है; इससे सांख्य को ज्ञान-योग और योग को कर्म योग भी कहते हैं। पतंजलि के सूत्रों पर सब से प्राचीन भाष्य वेदव्यास जी का है। उस पर वाचस्पति का वर्तिक है। विज्ञानभिक्षु का ‘योगसार-संग्रह’ भी योग का एक ग्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। सूत्रों पर भोजराज की भी एक वृत्ति है। पीछे से योगशास्त्र में तंत्र का बहुत सा मेल मिला और ‘कायब्यूह’ का बहुत विस्तार किया गया, जिसके अनुसार शरीर के अंदर अनेक प्रकार के चक्र आदि कल्पित किए गए। क्रियाओं का भी अधिक विस्तार हुआ और हठ योग की एक अलग शाखा निकली, जिसमें नेती, धोती, वस्ती आदि षट्कर्म तथा नाड़ी-शोधन आदि का वर्णन किया गया। शिवसंहिता, हठयोगप्रदीपिका, घेरंड संहिता आदि हठयोग के ग्रंथ हैं। हठ योग के बड़े भारी आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ (मछंदरनाथ) और उनके शिष्य गोरेखनाथ हुए हैं।

योगकन्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] यशोदा के गर्भ से उत्पन्न कन्या, वसुदेव जिसे ले जाकर देवकी के पास रख आए थे और जिसे कंस ने मार डाला था। योगकन्या।

योगकुंडलिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक उपनिषद् का नाम। (यह प्राचीन उपनिषदों में नहीं है।)

योगक्षेम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जो वस्तु अपने पास न हो, उसे प्राप्त करना; और जो मिल चुकी हो, उसकी रक्षा करना। नया पदार्थ प्राप्त करना और मिले हुए पदार्थ की रक्षा करना।

विशेष—भिन्न भिन्न आचार्यों ने इस शब्द से भिन्न भिन्न अभिप्राय लिए हैं। किसी के मत से योग से अभिप्राय शरीर का है और क्षेम से उसकी रक्षा का; और किसी के मत से योग का अर्थ है धन आदि प्राप्त करना और क्षेम से उसकी रक्षा करना।

(२) जीवन-निर्वाह। गुजारा। (३) कुशल-मंगल। कैरियत। (४) दूसरे के धन या जायदाद की रक्षा। (५) लाभ। मुनाफ़ा। (६) ऐसी वस्तु जिसका उत्तराधिकारियों में विभाग न हो। (७) राष्ट्र की सुव्यवस्था। मुल्क का अच्छा इंतज़ाम।

योगचक्षुः—संज्ञा पुं० [सं० योगचक्षुस्] ब्राह्मण।

योगचर—संज्ञा पुं० [सं०] हनुमान्।

योगज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) योग-साधन की वह अवस्था जिसमें योगी में अलौकिक वस्तुओं को प्रत्यक्ष कर दिखलाने की शक्ति आ जाती है। युक्त और युंजान दोनों इसी के भेद हैं। (यह नैयायिकों के अलौकिक सन्निकर्ष के तीन विभागों में से एक है। शेष दो विभाग सामान्य लक्षण और ज्ञान लक्षण हैं।) (२) अगर लकड़ी। अगर।

योगजफल—संज्ञा पुं० [सं०] वह अंक या फल जो दो अंकों को जोड़ने से प्राप्त हो। जोड़। योग। (गणित)

योगतत्त्व—संज्ञा पुं० [सं०] एक उपनिषद् का नाम, जो प्राचीन दस उपनिषदों में नहीं है।

योगतारा—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी नक्षत्र में का प्रधान तारा। (२) एक दूसरे से मिले हुए तारे।

योगत्व—संज्ञा पुं० [सं०] योग का भाव।

योगदर्शन—संज्ञा पुं० [सं०] महर्षि पतंजलि कृत योगसूत्र। वि० दे० “योग”।

योगदान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी काम में साथ देना। हाथ बँटाना। (२) कपट दान। (३) योग की दीक्षा।

योगधर्मी—संज्ञा पुं० [सं० योगधर्मिन्] योगी।

योगधारा—संज्ञा स्त्री० [सं०] ब्रह्मपुत्र की एक सहायक नदी का नाम।

योगनन्द—संज्ञा पुं० [सं०] मगध के राजा नौ नंदों में से एक नंद का नाम। वि० दे० “नंद”।

योगनाथ—संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

योगनाविक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली।

योगनिद्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) युग के अंत में होनेवाली विष्णु की निद्रा, जो दुर्गा मानी जाती है। (२) रणभूमि में वीरों की मृत्यु। (३) योग की समाधि।

योगनिद्रालु—संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु, जो प्रलय के समय योग-निद्रा लेते हैं।

योगनिलय—संज्ञा पुं० [सं०] महादेव।

योगपट्ट—संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक पहनावा जो पीठ पर से जाकर कमर में बाँधा जाता था और जिससे घुटनों तक का अंग ढका रहता था। साधुओं का अँचला। (शास्त्रों का विधान है कि जिसके बड़े भाई और पिता जीवित हों, उसे ऐसा वस्त्र नहीं पहनना चाहिए।)

योगपति—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) शिव।

योगपत्नि—संज्ञा स्त्री० [सं०] योगमाता। पीवरी।

योगपद्क—संज्ञा पुं० [सं०] पूजन आदि के समय पहनने का चार अंगुल चौड़ा एक प्रकार का उत्तरीय वस्त्र। (यह बाध के चमड़े, हिरन के चमड़े अथवा सूत का बना हुआ होता था और यज्ञसूत्र की भाँति पहना जाता था।)

योगपाद—संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के अनुसार वह कृत्य जिससे अभिमत की प्राप्ति हो।

योगपारंग—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) पूर्ण योगी।

योगपीठ—संज्ञा पुं० [सं०] देवताओं का योगासन।

योगफल—संज्ञा पुं० [सं०] दो या अधिक संख्याओं को जोड़ने से प्राप्त संख्या।

योगबल—संज्ञा पुं० [सं०] वह शक्ति जो योग की साधना से प्राप्त हो। तपोबल।

योगघ्न—वि० [सं०] जिसकी योग की साधना चित्त-विक्षेप आदि के कारण पूरी न हुई हो। जो योग-मार्ग से च्युत हो गया हो।

योगमय—संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

योगमाता—संज्ञा स्त्री० [सं० योगमातृ] (१) दुर्गा। (२) पीवरी।

योगमाया—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भगवती, जो विष्णु की माया है। (२) वह कन्या जो यशोदा के गर्भ से उत्पन्न हुई थी और जिसे कंस ने मार डाला था। कहते हैं कि यह स्वयं भगवती थी। वि० दे० “कृष्ण”। उ०—देखी परी योग-माया वसुदेव गोद करि लीन्ही हो।—सूर।

योगमूर्त्तिधर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) एक प्रकार के पितृ।

योगयात्रा—संज्ञा स्त्री [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार वह योग जो यात्रा के लिये उपयुक्त हो।

योगयोगी—संज्ञा पुं० [सं० योगयोगिन्] वह योगी जो योगासन पर बैठा हो।

योगरंग—संज्ञा पुं० [सं०] नारंगी।

योगरथ—संज्ञा पुं० [सं०] वह साधन जिससे योग की प्राप्ति हो।

योगराजगुग्गुलु—संज्ञा पुं० [सं०] कई द्रव्यों के योग से बनी हुई एक प्रसिद्ध औषध जिसमें गुग्गुलु (गूगल) प्रधान है। यह औषध गठिया, वात रोग और लकवे के लिये अत्यंत उपकारी है।

योगरूढ़ि—संज्ञा स्त्री० [सं०] दो शब्दों के योग से बना हुआ वह शब्द जो अपना सामान्य अर्थ छोड़कर कोई विशेष अर्थ बतावे। जैसे,—त्रिशूलपाणि, चंद्रभाल, पंचशर इत्यादि।

योगरोचना—संज्ञा स्त्री० [सं०] इंद्रजाल करनेवालों का एक प्रकार का लेप। कहते हैं कि शरीर में यह लेप लगा लेने से आदमी अदृश्य हो जाता है।

योगवान्—संज्ञा पुं० [सं० योगवत्] [स्त्री० योगवती] योगी।

योगवाणी—संज्ञा पुं० [सं०] हिमालय के एक तीर्थ का नाम।

योगवशिष्ट—संज्ञा पुं० [सं०] वेदांत शास्त्र का एक प्रसिद्ध ग्रंथ जो वशिष्ठ जी का बनाया कहा जाता है। इसमें वशिष्ठ जी ने रामचंद्र को वेदांत का उपदेश किया है। इसमें वैराग्य, मुमुक्षु व्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशय और निर्वाण ये छः प्रकरण हैं। इसे लोग वाल्मीकि-रामायण का उत्तरखंड मानते हैं और वशिष्ठ रामायण भी कहते हैं।

योगवाह—संज्ञा पुं० [सं०] अनुस्वार और विसर्ग।

योगवाही—संज्ञा पुं० [सं० योगवाहिन्] भिन्न गुणों की दो या कई ओषधियों को एक में मिलाने योग्य करनेवाली ओषधि या द्रव्य। योग का माध्यम।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पारा। (२) सजीखार।

योगविक्रय—संज्ञा पुं० [सं०] धोखे या बेईमानी के साथ बिक्री। बाल-मेल का सौदा।

योगविद्—संज्ञा पुं० [सं०] (१) योगशास्त्र का ज्ञाता। (२) महादेव। (३) ओषधियों को मिलाकर औषध बनानेवाला। (४) बाजीगर।

योगवृत्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] चित्त की वह शुभ वृत्ति जो योग के द्वारा प्राप्त होती है।

योगशक्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] योग के द्वारा प्राप्त होनेवाली शक्ति। तपोबल।

योगशब्द—संज्ञा पुं० [सं०] वह यौगिक शब्द जो योगरूढ़ि न हो, बल्कि धातु के अर्थ (सामान्य अर्थ) का बोधक हो।

योगशरीरी—संज्ञा पुं० [सं० योगशरीरिन्] योगी।

योगशास्त्र—संज्ञा पुं० [सं०] पतंजलि ऋषि का बनाया हुआ योग-साधन पर एक बड़ा ग्रंथ जिसमें चित्तवृत्ति को रोकने के उपाय बतलाए गए हैं। यह छः दर्शनों में से एक दर्शन है। दे० “योग”।

योगशास्त्री—संज्ञा पुं० [सं०] योग-शास्त्र का ज्ञाता।

योगशिक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक उपनिषद् का नाम जिसे योग-शिक्षा भी कहते हैं।

योगसत्य-संज्ञा पुं० [सं०] किसी का वह नाम जो उसे किसी प्रकार के योग के कारण प्राप्त हो। जैसे,—दंड के योग से प्राप्त होनेवाला नाम “दंडी”।

योगसार-संज्ञा पुं० [सं०] वह उपाय या साधन जिससे मनुष्य सदा के लिये रोग से मुक्त हो जाय। वैद्यक में ऋतुचर्या के अंतर्गत ऐसे उपायों का वर्णन है। भिन्न भिन्न ऋतुओं में भिन्न भिन्न निषिद्ध पदार्थों का त्याग और संयम आदि इसके अंतर्गत हैं।

योगसिद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसने योग की सिद्धि प्राप्त कर ली हो। योगी।

योगसूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] महर्षि पतंजलि के बनाए हुए योग-संबंधी सूत्रों का संग्रह। वि० दे० “योग”।

योगांग-संज्ञा पुं० [सं०] पतंजलि के अनुसार योग के आठ अंग जो इस प्रकार हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन्हीं के पूर्ण साधन से मनुष्य योगी होता है।

योगांजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आँखों का एक प्रकार का अंजन या प्रलेप जिसके लगाने से आँखों का रोग दूर होता है। (२) वह अंजन जिसे लगाने से पृथ्वी के अंदर की छिपी हुई वस्तुएँ भी दिखाई पड़ें। सिद्धांजन।

योगांत-संज्ञा पुं० [सं०] मंगल ग्रह की कक्षा के सातवें भाग का एक अंश। (ज्योतिष)

योगांतराय-संज्ञा पुं० [सं०] योग में विघ्न डालनेवाली आलस्य आदि दस बातें।

योगांता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूल, पूर्वाषाढा और उत्तराषाढा नक्षत्रों से होती हुई बुध की गति, जो आठ दिन तक रहती है।

योगांबर-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के एक देवता का नाम।

योगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सीता की एक सखी का नाम।

योगाकर्षण-संज्ञा पुं० [सं०] वह आकर्षण शक्ति जिसके कारण परमाणु मिले रहते हैं और अलग नहीं होते।

योगागम-संज्ञा पुं० [सं०] योग शास्त्र।

योगाचार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) योग का आचरण। (२) बौद्धों का एक संप्रदाय, जिसका मत है कि पदार्थ (बाह्य) जो दिखाई पड़ते हैं, वे शून्य हैं। वे केवल अंदर ज्ञान में भासते हैं, बाहर कुछ नहीं हैं। जैसे—‘घट’ का ज्ञान भीतर आत्मा में है, तभी बाहर भासता है; और लोग कहते हैं कि यह घट है। यदि यह ज्ञान अंदर न हो, तो बाहर किसी वस्तु का बोध न हो। अतः सब पदार्थ अंदर ज्ञान में भासते हैं और बाह्य शून्य है। इनका यह भी मत है कि जो कुछ है,

३८३

वह सब दुःख स्वरूप है; क्योंकि प्राप्ति में संतोष नहीं होता, इच्छा बनी रहती है।

योगात्मा-संज्ञा पुं० [सं०] योगात्मन् योगी।

योगानुशासन-संज्ञा पुं० [सं०] योग शास्त्र।

योगपत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह संस्कार जो प्रचलित प्रथाओं अथवा आचार-व्यवहार आदि के कारण उत्पन्न हो।

योगाभ्यास-संज्ञा पुं० [सं०] योग शास्त्र के अनुसार योग के आठ अंगों का अनुष्ठान। योग का साधन। उ०—बदरिकाश्रम रहे पुनि जाई। योग अभ्यास समाधि लगाई।—सूर।

योगाभ्यासी-संज्ञा पुं० [सं०] योगाभ्यासिन् योग की साधना करनेवाला, योगी।

योगारंग-संज्ञा पुं० [सं०] नारंगी।

योगाराधन-संज्ञा पुं० [सं०] योग का अभ्यास करना। योग-साधन।

योगारूढ़-संज्ञा पुं० [सं०] वह योगी जिसने इंद्रिय-सुख आदि की ओर से अपना चित्त हटा लिया हो। वह जिसने चित्त-वृत्तियों का निरोध कर लिया हो। योगी।

योगासन-संज्ञा पुं० [सं०] योग-साधन के आसन, अर्थात् बैठने के ढंग।

योगित-वि० [सं०] (१) जो इंद्रजाल या मंत्र आदि की सहायता से अपने अधीन कर लिया गया हो अथवा पागल बना दिया गया हो। (२) जिस पर इंद्रजाल या मंत्र आदि का प्रयोग किया गया हो।

योगिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] योगी का भाव या धर्म।

योगित्व-संज्ञा पुं० [सं०] योगी का भाव या धर्म।

योगिदंड-संज्ञा पुं० [सं०] बेंत।

योगिनिद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] थोड़ी सी नींद। झपकी।

योगिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रण-पिशाचिनी। (२) एक लोक का नाम। (३) आषाढ़ कृष्ण एकादशी। (४) योगयुक्ता नारी। योगाभ्यासिनी। तपस्विनी। (५) आवर्ण देवता। ये असंख्य हैं जिनमें से चौंसठ मुख्य हैं। (६) आठ विशिष्ट देवियाँ जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) शैलपुत्री, (२) चंद्रघंटा, (३) स्कंदमाता, (४) कालरात्रि, (५) चंडिका, (६) कृष्णाम्बा, (७) कात्यायनी, और (८) महागौरी। (७) ज्योतिष-शास्त्रानुसार ये आठ देवियाँ—ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, नारायणी, वाराही, इंद्राणी, चासुंडा, और महा-लक्ष्मी। (८) तिथि विशेष में दिग्विषोषावस्थित योगिनी। (९) तत्काल योगिनी। (१०) काली की एक सहचरी का नाम। (११) देवी। योगमाया।

योगिनी चक्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तांत्रिकों का वह चक्र जिससे वे योगिनियों का साधन करते हैं। (२) ज्योतिषी का वह

चक्र जिससे वह इस बात का पता लगाता है कि योगिनी किस दिशा में है।

योगिया—संज्ञा पुं० [सं० योगी + इया (प्रत्य०)] (१) संपूर्ण जाति का एक राग जिसमें गांधार के अतिरिक्त सब कोमल स्वर लगते हैं। इसके गाने का समय प्रातःकाल १ दंड से ५ दंड तक है। यह करुण रस का राग है। कुछ लोग इसे भैरव राग की रागिनी भी मानते हैं। (२) दे० “योगी”।

योगिराज—संज्ञा पुं० [सं०] योगियों में श्रेष्ठ। बहुत बड़ा योगी।

योगीन्द्र—संज्ञा [सं०] बहुत बड़ा योगी।

योगी—संज्ञा पुं० [सं० योगिन्] (१) वह जो भले-बुरे और सुख-दुःख आदि सब को समान समझता हो। वह जिसमें न तो किसी के प्रति अनुराग हो और न विराग। आत्मज्ञानी। (२) वह व्यक्ति जिसने योग सिद्ध कर लिया हो। वह जिसने योगाभ्यास करके सिद्धि प्राप्त कर ली हो।

विशेष—योग दर्शन में अवस्था के भेद से योगी चार प्रकार के कहे गए हैं—(१) प्रथम कल्पिक, जिन्होंने अभी योगाभ्यास का केवल आरंभ किया हो और जिनका ज्ञान अभी तक बढ़ न हुआ हो; (२) मधु भूमिक, जो भूतों और इंद्रियों पर विजय प्राप्त करना चाहते हों; (३) प्रज्ञाज्योति, जिन्होंने इंद्रियों को भली भाँति अपने वश में कर लिया हो; और (४) अतिक्रान्तभावनीय, जिन्होंने सब सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हों और जिनका केवल चित्तलय बाकी रह गया हो। (३) महादेव। शिव।

योगीकुंड—संज्ञा पुं० [सं० योगिकुंड] हिमालय के एक तीर्थ का नाम।

योगीनाथ—संज्ञा पुं० [सं० योगिनाथ] महादेव। शंकर।

योगीश—संज्ञा पुं० [सं०] (१) योगियों के स्वामी। (२) बहुत बड़ा योगी। (३) याज्ञवल्क्य का एक नाम, जिन्हें योगी याज्ञवल्क्य भी कहते हैं।

योगीश्वर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) योगियों में श्रेष्ठ। (२) याज्ञवल्क्य मुनि का एक नाम। (३) महादेव।

योगीश्वरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

योगेन्द्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत बड़ा योगी। (२) वैद्यक में एक प्रकार का रस जो रस-सिंदूर से बनाया जाता है और जिसमें सोना, कांती लोहा, अभ्रक, मोती और वंग आदि पड़ते हैं। यह प्रमेह, मूर्च्छा, यक्ष्मा, पक्षाघात, उन्माद और भगंदर आदि के लिये बहुत उपयोगी माना जाता है।

योगेश—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत बड़ा योगी। (२) योगी याज्ञवल्क्य का एक नाम।

योगेश्वर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्रीकृष्ण। परमेश्वर। (२) शिव। (३) देवहोत्र के एक पुत्र का नाम। (४) बहुत बड़ा योगी। योगीश्वर। सिद्ध।

विशेष—पुराणों में नौ बहुत बड़े योगी अथवा योगेश्वर माने गए हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) कवि (शुक्राचार्य), (२) हरि (नारायण ऋषि), (३) अंतरिक्ष, (४) प्रबुद्ध, (५) पिप्पलायन, (६) आचिहोत्र, (७) दुर्मिल (दुरमिल), (८) चमस और (९) कर भाजन। (५) एक तीर्थ का नाम।

योगेश्वरत्व—संज्ञा पुं० [सं०] योगेश्वर का भाव या धर्म।

योगेश्वरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा। (२) शाक्तों की एक देवी का नाम जो दुर्गा का एक विशेष रूप है। (३) कर्कोटकी। ककोड़ा।

योगोपनिषद्—संज्ञा पुं० [सं०] एक उपनिषद् का नाम।

योग्य—वि० [सं०] (१) किसी काम में लगाए जाने के उपयुक्त। ठीक (पात्र)। काबिल। लायक। अधिकारी। जैसे,—वह इस काम के योग्य नहीं है। (२) शील, गुण, शक्ति, विद्या आदि से युक्त। श्रेष्ठ। अच्छा। जैसे,—वे बड़े योग्य आदमी हैं। (३) युक्ति भिड़ानेवाला। उपाय लगानेवाला। उपायी। (४) उचित। मुनासिब। ठीक। जैसे,—यह बात उनके योग्य ही है। (५) जोतने लायक। (६) जोड़ने लायक। (७) दर्शनीय। सुंदर। (८) आदरणीय। माननीय। संज्ञा पुं० (१) पुण्य नक्षत्र। (२) ऋद्धि नामक ओपधि। (३) रथ। शकट। गाड़ी। (४) चंदन।

योग्यता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) क्षमता। लायकी। (२) बड़ाई। (३) बुद्धिमानी। लियाकत। विद्वत्ता। (४) सामर्थ्य। (५) अनुकूलता। मुनासिबत। मुताबिकत। (६) औकात। (७) गुण। (८) इज्जत। (९) उपयुक्तता। (१०) स्वाभाविक चुनाव। (११) तात्पर्य बोध के लिये वाक्य के तीन गुणों में से एक। शब्दों के अर्थ-संबंध की संगति या संभवीयता। जैसे,—“वह पानी में जल गया” इस वाक्य में यद्यपि अर्थ-सम्बन्ध है, पर वह अर्थ संभव नहीं; इससे यह वाक्य योग्यता के अभाव से ठीक वाक्य न हुआ।

योग्यत्व—संज्ञा पुं० [सं०] (१) योग्य होने का भाव। योग्यता। (२) लायक या काबिल होने का भाव। प्रवीणता।

योग्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कोई काम करने का अभ्यास। मश्क। (२) सुश्रुत के अनुसार शस्त्र-क्रिया या चीर-फाड़ करने का अभ्यास। (३) जवान स्त्री। युवती।

योजक—वि० [सं०] मिलानेवाला। जोड़नेवाला।

स्त्री० पुं० पृथ्वी का वह पतला भाग जो दो बड़े विभागों को मिलाता हो। भू-डमरूमध्य।

योजन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) परमात्मा। (२) योग। (३) एक में मिलाने की क्रिया या भाव। संयोग। मिलान। मेल। योग। (४) दूरी की एक नाप जो किसी के मत से दो कोस की, किसी के मत से चार कोस की और किसी के मत से

आठ कोस की होती है। (यहाँ एक कोस से अभिप्राय ४००० हाथ से है। जैनियों के अनुसार एक योजन १०००० कोस का होता है।)

योजनगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कस्तूरी। (२) सीता। (३) व्यास की माता और शांतनु की भार्या सत्यवती का एक नाम। वि० दे० “व्यास”।

योजनगंधिका-संज्ञा स्त्री० दे० “योजनगंधा”।

योजनपर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मजीठ।

योजनवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] मजीठ।

योजना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी काम में लगाने की क्रिया या भाव। नियुक्त करने की क्रिया। नियुक्ति। (२) प्रयोग। व्यवहार। इस्तेमाल। (३) जोड़। मिलान। मेल। मिलाप। (४) बनावट। रचना। (५) घटना। (६) स्थिति। स्थिरता। (७) व्यवस्था। आयोजन। जैसे,—उन्होंने इसकी सब योजना कर दी है।

योजनीय-वि० [सं०] (१) जो मिलाने अथवा योजना करने के योग्य हो। (२) जिसे मिलाना या जोड़ना हो।

योजन्य-वि० [सं०] योजन-संबंधी। योजन का।

योजित-वि० [सं०] (१) जिसकी योजना की गई हो। (२) जोड़ा हुआ। मिलाया हुआ। (३) नियम से बढ़ किया हुआ। नियमित। (४) रचा हुआ। बनाया हुआ। रचित। घटित।

योज्य-वि० [सं०] (१) जोड़ने के लायक। मिलाने के योग्य, (२) व्यवहार करने के योग्य।

संज्ञा पुं० वे संख्याएँ जो जोड़ी जाती हैं। जोड़ी जानेवाली संख्याएँ। (गणित)

योत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह बंधन जो जुए को बैल की गरदन में जोड़ता है। जोत।

योद्ध-वि० [सं०] जिससे युद्ध करना हो।

योद्धा-संज्ञा पुं० [सं०] योद्धा [सं०] वह जो युद्ध करता हो। युद्धकर्त्ता। भट। लड़ाका। सिपाही।

योध-संज्ञा पुं० [सं०] योद्धा। सिपाही। वीर।

योधक-संज्ञा पुं० [सं०] योद्धा। सिपाही।

योधन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) युद्ध की सामग्री। जैसे,—अस्त्र-शस्त्र आदि। (२) युद्ध। रण। लड़ाई।

योधा-संज्ञा पुं० दे० “योद्धा”।

योधि वन-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन जंगल का नाम।

योधी-संज्ञा पुं० [सं०] योधि [सं०] योद्धा। वीर।

योधेय-संज्ञा पुं० [सं०] योद्धा। सिपाही।

योध्य-वि० [सं०] जिसके साथ युद्ध किया जा सके। युद्ध करने के योग्य।

योनल-संज्ञा पुं० [सं०] यवनाल। ज्वार। मक्का या जोहरी।

योनि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आकर। खानि। (२) वह जिससे कोई वस्तु उत्पन्न हो। उत्पादक कारण। (३) उत्पत्ति स्थान। जहाँ से कोई वस्तु पैदा हो। उद्गम। (४) जल। पानी। (५) कुश द्वीप की एक नदी का नाम। (६) स्त्रियों की जन-नेद्रिय। भग। (७) प्राणियों के विभाग, जातियाँ या वर्ग।

विशेष—पुराणानुसार इनकी संख्या चौरासी लाख है। कुछ लोगों के मत से अंडज, स्वेदज, उद्भिज और जरायुज सब इक्कीस लाख हैं; और कहीं कहीं इनकी संख्या इस प्रकार लिखी है—

जलजंतु	नौ लाख
स्थावर	बीस लाख
कृमि	थ्यारह लाख
पक्षी	दस लाख
पशु	तीस लाख
मनुष्य	चार लाख
					कुल चौरासी लाख

यह भी कहा गया है कि जीव को अपने कर्मों का फल भोगने के लिये इन सब योनियों में भ्रमण करना पड़ता है। मनुष्य योनि इन सब में श्रेष्ठ और दुर्लभ मानी गई है।

(८) देह। शरीर। (९) गर्भ। (१०) जन्म। (११) गर्भाशय। (१२) अंतःकरण।

योनिकंद-संज्ञा पुं० [सं०] योनि का एक रोग जिसमें उसके अंदर एक प्रकार की गाँठ हो जाती है और उसमें से रक्त या पीप निकलता है।

योनित-वि० [सं०] जिसकी उत्पत्ति योनि से हुई हो। योनि से उत्पन्न।

संज्ञा पुं० वह जीव जिसकी उत्पत्ति योनि से हुई हो। ऐसे जीव दो प्रकार के होते हैं—जरायुज और अंडज। जो जीव गर्भ में पूरा शरीर धारण करके योनि के बाहर निकलते हैं, वे जरायुज कहलाते हैं; और जो अंडे से उत्पन्न होते हैं, वे अंडज कहलाते हैं।

योनिदेवता-संज्ञा पुं० [सं०] पूर्वा फाल्गुनी नक्षत्र।

योनिदोष-संज्ञा पुं० [सं०] उपदंश रोग। गरमी। आतशक।

योनिफूल-संज्ञा पुं० [सं०] योनि + हि० फूल [सं०] योनि के अंदर की वह गाँठ जिसके ऊपर एक छेद होता है। इसी छेद में से होकर वीर्य गर्भाशय में प्रवेश करता है।

योनिभ्रंश-संज्ञा पुं० [सं०] योनि का एक रोग जिसमें गर्भाशय अपने स्थान से कुछ हट जाता है।

योनिमुक्त-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बार बार जन्म लेने से मुक्त गया हो। जिसने मोक्ष प्राप्त कर लिया हो।

योनमुद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] तांत्रिकों की एक मुद्रा जिसमें

वे पूजन के समय उँगलियों से प्रायः योनि का सा आकार बनाते हैं।

योनित्रय—संज्ञा पुं० ['०] कामाक्षा, गया आदि कुछ विशिष्ट तीर्थ स्थानों में बना हुआ एक प्रकार का बहुत ही संकीर्ण मार्ग, जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि जो इस मार्ग से होकर निकल जाता है, उसका मोक्ष हो जाता है।

योनिवेश—संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक देश का प्राचीन नाम जिसमें क्षत्रियों का निवास था।

योनिशूल—संज्ञा पुं० [सं०] योनि का एक रोग जिसमें बहुत पीड़ा होती है।

योनिशूलघनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] शतपुष्पा।

योनिस्फुर—संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसके पिता और माता दोनों भिन्न भिन्न जातियों के हों। वर्ण-स्फुर।

योनिस्फोचन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) योनि को फैलाने और सिकोड़ने की क्रिया। (२) योनि के मुख को सिकोड़ने वा तंग करने की औषध।

विशेष—यह क्रिया अथवा इसका उपाय प्रायः संभोग-सुख के लिये किया जाता है।

योनिस्संभव—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो योनि से उत्पन्न हुआ हो। योनिज।

योनिस्संवरण—संज्ञा पुं० [सं०] गर्भवती स्त्रियों का एक प्रकार का रोग, जिसमें योनि का मार्ग सिकुड़ जाता है, गर्भाशय का द्वार रुक जाता है और गर्भ का मुँह बंद हो जाने से साँस रुककर बच्चा मर जाता है। इस रोग में गर्भिणी के भी मर जाने की आशंका रहती है।

योन्वर्श—संज्ञा पुं० [सं० योन्वर्श] योनि का एक रोग जिसमें उस के अंदर गाँठ सी हो जाती है। योनिर्द।

योम—संज्ञा पुं० [अ०] (१) दिन। रोज। (२) तिथि। तारीख।

योरोप—संज्ञा पुं० दे० “युरोप”।

योरोपियन—संज्ञा पुं० दे० “युरोपियन”।

योषणा—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जो सती और पतिव्रता न हो। दुश्चरित्रा स्त्री।

योषा—संज्ञा स्त्री० [सं०] नारी। स्त्री। औरत।

योषित्—संज्ञा स्त्री० [सं०] नारी। स्त्री। औरत।

योषित्प्रिया—संज्ञा स्त्री० [सं०] हलदी।

यौक्क—अव्य० दे० “यौ”। उ०—पहिरत ही गोरे गरे यौ दौरी दुति लाल। मनौ परसि पुलकित भई मौलसिरी की माल।—विहारी।

यौक्क—सर्व० [हि० यह] यह। उ०—ऐसी एक आप कहि राजा सों यौ बात कही, लैके जावौ बाग स्वामी नेकु देखौ प्रीति को।—प्रियादास।

यौक्ताश्व—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम।

यौक्तिक—वि० [सं०] जो युक्ति के अनुसार ठीक हो। युक्ति-युक्त। ठीक।

संज्ञा पुं० विनोद या क्रीड़ा का साथी। नर्म-सखा।

यौगंधर—संज्ञा पुं० [सं०] अश्वों के निष्फल करने का एक प्रकार का अश्व।

यौगंधरायण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो युगंधर के गोत्र में उत्पन्न हुआ हो। (२) राजा उदयन के एक मंत्री का नाम।

यौग—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो योग दर्शन के मत के अनुसार चलता हो।

यौगक—वि० [सं०] योग संबंधी। योग का।

यौगिक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मिला हुआ। (२) प्रकृति और प्रत्यय से बना हुआ शब्द। (३) दो शब्दों से मिलकर बना हुआ शब्द। (४) अष्टादश मात्राओं के छंदों की संज्ञा।

यौजनिक—वि० [सं०] जो एक योजन तक जाता हो। एक योजन तक जानेवाला।

यौतक, यौतुक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह धन आदि जो विवाह के समय वर और कन्या को मिलता हो। दाइजा। जहेज। दहेज।

विशेष—ऐसे धन पर सदा बधू का ही अधिकार रहता है, घर के और लोगों का उस पर कोई अधिकार नहीं होता। यह स्त्री-धन माना जाता है।

(२) अन्न-प्राशन आदि संस्कारों के समय उसको मिलनेवाला धन, जिसका संस्कार होता हो।

यौथिक—वि० [सं०] (१) यूथ संबंधी। समूह का। (२) जो यूथ में रहता हो। झुंड बाँधकर रहनेवाला।

यौथ—संज्ञा पुं० [सं०] योद्धा। सिपाही।

यौथेय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) योद्धा। (२) एक प्राचीन देश का नाम। (३) प्राचीन काल की एक योद्धा जाति जो उत्तर-पश्चिम भारत में रहती थी और जिसका उल्लेख पाणिनि ने किया है। बौद्ध काल में इस जाति का बहुत जोर और आदर था। इस जाति के राजाओं के अनेक सिक्के भी पाए गए हैं। पुराणानुसार यह जाति युधिष्ठिर के वंशजों से उत्पन्न हुई थी। (४) युधिष्ठिर का पुत्र जो राजा शैब्य का दौहित्र था।

यौन—वि० [सं०] योनि संबंधी। योनि का।

संज्ञा पुं० उत्तरापथ की एक प्राचीन जाति का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है। कदाचित् ये लोग यवन जाति के थे।

यौवत—संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्त्रियों का समूह। (२) लास्य नृत्य का दूसरा भेद। वह नृत्य जिसमें बहुत सी नदियाँ मिलकर नाचती हों।

यौवन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अवस्था का वह मध्य भाग जो बाल्यावस्था के उपरान्त आरंभ होता है और जिसकी समाप्ति पर वृद्धावस्था आती है। इस अवस्था के अच्छी तरह आ चुकने पर प्रायः शारीरिक बल रुक जाती है और शरीर बलवान तथा हृष्ट-पुष्ट हो जाता है। साधारणतः यह अवस्था १९ वर्ष से लेकर ६० वर्ष तक मानी जाती है। (२) युवा होने का भाव। तारुण्य। जवानी। (३) दे० “जोवन”। (४) युवतियों का दल।

यौवनकण्टक-संज्ञा पुं० [सं०] मुँहासा, जो युवावस्था में होता है।

यौवनपिङ्गका-संज्ञा पुं० [सं०] मुँहासा।

यौवनलक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लक्षण। नमक। (२) स्त्रियों की छाती। स्तन। कुच।

यौवनाधिकृता-वि० [सं०] युवती। जवान (स्त्री)।

यौवनाश्व-संज्ञा पुं० [सं०] मोधाता राजा का एक नाम। वि० दे० “मोधाता”।

यौवनिक-वि० [सं०] यौवन संबंधी। यौवन का।

यौवनोज्ज्वल-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

यौवराजिक-वि० [सं०] युवराज संबंधी। युवराज का।

यौवराज्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) युवराज होने का भाव। (२) युवराज का पद।

यौवराज्याभिषेक-संज्ञा पुं० [सं०] वह अभिषेक और उसके संबंध का कृत्य तथा उत्सव आदि जो किसी के युवराज बनाए जाने के समय हो। युवराज के अभिषेक कृत्य।

र

र-हिंदी वर्णमाला का सत्ताईसवाँ व्यंजन जिसका उच्चारण जीभ के अगले भाग को मूर्द्धा के साथ कुछ स्पर्श कराने से होता है। यह स्पर्श वर्ण और ऊष्म वर्ण के मध्य का वर्ण है। इसका उच्चारण स्वर और व्यंजन का मध्यवर्ती है; इसलिये इसे अंतस्थ वर्ण कहते हैं। इसके उच्चारण में संवार, नाद और घोष नामक प्रयत्न होते हैं।

रंक-वि० [सं०] (१) धनहीन। गरीब। दरिद्र। कंगाल। उ०—(क) बहिरो सुनै मूक पुनि बोले रंक चले सिर छत्र धराई।—सूर। (ख) ऊँचे नीचे बीच के धनिक रंक राजा राय हठनि बजाय करि डीठि पीठि दई है।—तुलसी। (२) कृपण। कंजूस। (३) सुस्त। काहिल। आलसी।

रंकु-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का हिरन जिसकी पीठ पर सफेद चित्तियाँ होती हैं।

रंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रँगना नामक धातु। (२) नृत्य गीत आदि। नाचना गाना।

रौ०—नाच रंग। जैसे,—वहाँ आककल खूब नाच रंग हो रहा है।

(३) वह स्थान जहाँ नृत्य या अभिनय होता हो। नाचने, गाने, नाटक करने आदि के लिये बनाया हुआ स्थान।

रौ०—रंग मंच। रंगभूमि। रंगद्वार। रंग देवता आदि।

(४) युद्धस्थल। रणक्षेत्र। लड़ाई का मैदान। (५) खदिर-सार। (६) किसी द्रव्य पदार्थ का वह गुण जो उसके आकार से भिन्न होता है और जिसका अनुभव केवल आँखों से ही होता है। वर्ण।

विशेष—जब किसी पदार्थ पर पहले पहल हमारी दृष्टि जाती है, तब प्रायः हमें दो ही बातों का ज्ञान होता है। एक तो

उसके आकार का और दूसरा उसके रंग का। वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि रंग वास्तव में प्रकाश की किरणों में ही होता है; और वस्तुओं के भिन्न भिन्न रासायनिक गुणों के कारण ही हमारी आँखों को उनका अनुभव वस्तुओं में होता है। जब किसी वस्तु पर प्रकाश पड़ता है, तब उस प्रकाश के तीन भाग होते हैं। पहला भाग तो परावर्तित हो जाता है; दूसरा वर्तित हो जाता है; और तीसरा उस वस्तु के द्वारा सोख लिया जाता है। परंतु सब वस्तुओं में ये गुण समान रूप में नहीं होते; किसी में कम और किसी में अधिक होते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं, जिनमें से प्रकाश परावर्तित होता ही नहीं, या तो वर्तित होता है और या सोख लिया जाता है; जैसे,—शुद्ध जल। ऐसे पदार्थ प्रायः बिना रंग के दिखाई देते हैं। जिन पदार्थों पर पड़नेवाला सारा प्रकाश परावर्तित हो जाता है, वे श्वेत दिखाई पड़ते हैं। और जो पदार्थ अपने ऊपर पड़नेवाला समस्त प्रकाश सोख लेते हैं, वे काले होते या दिखाई देते हैं।

प्रकाश का विश्लेषण करने से उसमें अनेक रंगों की किरणें मिलती हैं, जिनमें से सात रंग मुख्य हैं—बैंगनी, नील, श्याम या आसमानी, हरा, पीला, नारंगी और लाल। जब ये सातों रंग मिलकर एक हो जाते हैं, तब हम उसे सफेद कहते हैं; और जब इन सातों में से एक भी रंग नहीं रहता, तब हम उसे काला कहते हैं। अब यदि किसी ऐसे पदार्थ पर श्वेत प्रकाश पड़े, जिसमें लाल किरणों को छोड़ कर और सब रंगों की किरणों को सोख लेने की शक्ति हो, तो स्वभावतः प्रकाश का केवल लाल ही अंश उस पर बच रहेगा; और उस दशा में हम उस पदार्थ को लाल रंग का

कहेंगे। अर्थात् प्रत्येक वस्तु हमें उसी रंग की देख पड़ती है, जिस रंग को वह न तो सोख सकती है और न वर्तित करती है, बल्कि जिसे वह परावर्तित करती है। कुछ रंग ऐसे भी होते हैं, जिनके मिलने से सफेद रंग बनता है। ऐसे रंग एक दूसरे के परिपूरक कहलाते हैं। जैसे,—यदि हरित-पीत रंग के प्रकाश के साथ ही लाल रंग का प्रकाश भी पहुँचने लगे, तो उस दशा में हमें सफेद रंग दिखाई पड़ेगा। इसलिये लाल और हरित-पीत दोनों एक दूसरे के परिपूरक रंग हैं। प्रायः दो रंगों के मिलने से एक नया तीसरा रंग भी पैदा हो जाता है; जैसे,—लाल और पीले के मिलने से नारंगी रंग बनता है। परंतु ये सब बातें केवल प्रकाश की किरणों के संबंध में हैं; बाजार में मिलने-वाली बुकनियों के संबंध में नहीं हैं। दो प्रकार की बुकनियों को एक साथ मिलाने से जो परिणाम होगा, वह दो रंगों की प्रकाश-किरणों को मिलाने के परिणाम से कभी कभी बिल्कुल भिन्न होगा। इसका कारण यह है कि जब हम दो प्रकार की बुकनियों को एक में मिलते हैं, उस समय हम वास्तव में एक रंग में दूसरा रंग जोड़ते नहीं हैं, बल्कि एक रंग में से दूसरा रंग घटाते हैं। जिस रंग की किरण को एक बुकनी परावर्तित करती है, उसे दूसरी बुकनी सोख लेती है। इसी लिये बुकनियों के संबंध में जो नियम हैं, वे प्रकाश की किरणों के संबंध के नियमों से भिन्न हैं।

(७) कुछ विशिष्ट रासायनिक क्रियाओं से बनाया हुआ वह पदार्थ जिसका व्यवहार किसी चीज को रँगने या रंगीन बनाने के लिये होता है। वह चीज जिसके द्वारा कोई चीज रंगी जाय या जिससे किसी चीज पर रंग चढ़ाया जाय।

विशेष—बाजारों में प्रायः अनेक प्रकार के कार्यों के लिये अनेक रूपों में बने बनाए रंग मिलते हैं, जिनका व्यवहार चीजों को रँगने या चित्रित करने के लिये होता है। जैसे,—कपड़े रँगने का रंग, लकड़ी पर चढ़ाने का रंग, तसवीर बनाने का रंग आदि।

क्रि० प्र०—करना।—चढ़ना।—चढ़ाना।—पोतना।—होना।

यौ०—रंग-विरंग = जिसमें अनेक प्रकार के रंग हों। तरह तरह के रंगोंवाला। उ०—रंग-विरंग एक पक्षी बना। छोटी चोंच और कांटे घना। (पहेली)

मुहा०—रंग आना या चढ़ना = रंग अच्छी तरह लग जाना या प्रकट होना। रंग उड़ना या उतरना = धूप या जल आदि के संसर्ग से रंग का बिगड़ जाना या फीका पड़ जाना। रंग खेलना = होली के दिनों में पानी में रंग घोलकर एक दूसरे पर डालना। रंग डालना या फेंकना = (होली में) पानी में रंग घोलकर किसी पर डालना। रंग निखरना = रंग का शोख या चटकीला होना।

यौ०—रंगदार।

(८) शरीर का ऊपरी वर्ण। बदन और चेहरे की रंगत। वर्ण। **मुहा०**—(चेहरे का) रंग उड़ना या उतरना = भय या लज्जा से चेहरे की रौनक का जाता रहना। चेहरा पीला पड़ना। कांति-हीन होना। रंग निकलना = दे० “रंग निखरना”। रंग निखरना = चेहरे के रंग का साफ होना। चेहरा साफ और चमकदार होना। चेहरे पर रौनक आना। रंग फूक होना = दे० “रंग उड़ना”। रंग बदलना = लाल पीला होना। खफा होना। क्रुद्ध होना। नाराज होना। जैसे,—आप तो नाहक हम पर रंग बदल रहे हैं।

(९) यौवन। जवानी। युवावस्था।

क्रि० प्र०—आना।—चढ़ना।—होना।

मुहा०—रंग चूना = युवावस्था का पूर्ण विकास होना। यौवन उमड़ना। रंग टपकना = दे० “रंग चूना”।

(१०) शोभा। सौंदर्य। रौनक। छवि।

क्रि० प्र०—आना।—उतरना।—चढ़ना।—दिखाना।—होना।

मुहा०—रंग पकड़ना = रौनक या बहार पर आना। रंग पर आना = दे० “रंग पकड़ना”। रंग फीका पड़ना या होना = रौनक कम हो जाना। शोभा का घट जाना। रंग बरसना = अत्यंत शोभा होना। खूब रौनक होना। उ०—सखी, सचमुच आज तो इस कदंब के नीचे रंग बरस रहा है।—हरिश्चंद्र। रंग है = शाबाश। वाह वा। क्या बात है।

(११) प्रभाव। असर।

मुहा०—रंग चढ़ना = प्रभाव पड़ना। असर पड़ना। जैसे,—इस लड़के पर भी अब नया रंग चढ़ रहा है। रंग जमना = प्रभाव पड़ना। असर पड़ना।

(१२) दूसरे के हृदय पर पड़नेवाला शक्ति, गुण या महत्व का प्रभाव। धाक। रोब।

मुहा०—रंग जमना = धाक जमना। अनुकूल स्थिति उत्पन्न होना। उ०—दोनों ने समझा कि रंग जैसा चाहिए, वैसा जम गया।—अयोध्या०। रंग उखड़ना = धाक न रहना। स्थिति प्रतिकूल होना। दूसरों पर महत्व आदि का प्रभाव न रह जाना। जैसे—पहले यहाँ उसे बहुत आमदनी थी; पर अब रंग उखड़ गया। रंग जमाना = प्रभाव डालना। धाक बाँधना। रंग फीका रहना = पूरा पूरा प्रभाव न पड़ना। रंग बाँधना = रोब जमाना। धाक बाँधना। रंग बाँधना = (१) अपना महत्व दूसरे के हृदय में स्थापित करना। रोब गाँठना। धाक जमाना। उ०—भाई मुझे तो एक दिन के लिये भी कहीं तख्त मिल जाय, तो रंग बाँध दूँ।—राधाकृष्णदास। (२) झूठा आडंबर रचना। ढोंग रचना। रंग बिगड़ना = रोब जाता रहना। प्रभाव नष्ट या कम हो जाना। रंग बिगाड़ना = (१)

प्रभाव नष्ट करना । महत्व घटाना । (२) रोखी किरकिरी करना ।

रंग लाना = अपना प्रभाव या गुण दिखलाना ।

(१३) क्रीड़ा । कौतुक । खेल । आनंद-उत्सव । उ०—(क) दिन में सब लोग राग, रंग, नृत्य, दान, भोजन, पान इत्यादि में नियुक्त थे । (ख) वर जंग रंग करिबे चढ़ौ मनहि सुदंग उमंग में ।—गोपाल ।

यौ०—रंग-रलियाँ = आमोद-प्रमोद । मौज । चैन ।

क्रि० प्र०—करना ।—मनाना ।

मुहा०—रंग रलना = आमोद-प्रमोद करना । क्रीड़ा या भोग-विलास करना । उ०—भाव ही कढ़ौ मन भाव हड़ राखिबो दे सुख तुमहि सँग रंग रलहि ।—सूर । रंग में भंग पड़ना = आमोद-प्रमोद के बीच कोई दुःख की बात आ पड़ना । हँसी और आनंद में विभ्र पड़ना ।

(१४) युद्ध । लड़ाई । समर ।

मुहा०—रंग मचाना = रण में खूब युद्ध करना । उ०—चदि देहि समर उत्तर परन उत्तरद्वार मचाय रँग ।—गोपाल ।

(१५) मन की उमंग वा तरंग । मन का वेग या स्वच्छंद प्रवृत्ति । मौज । उ०—(क) रत्नजटित किंकिणि पग नूपुर अपने रंग बजावहु ।—सूर । (ख) अपने अपने रंग में सब रँगो हैं, जिसने जो सिद्धांत कर लिया है, वही उसके जी में गढ़ रहा है ।—हरिश्चंद्र । (ग) चढ़े रंग सफजंग के हिंदू तुलक अमान । उमड़ि उमड़ि दुहुँ दिस लगे कौरन लोहौ खान ।—लाल ।

मुहा०—(किसी के) रंग में ढलना = किसी के कहने या विचार के अनुसार कार्य करने लगना । किसी के प्रभाव में आना । उ०—तुरत मन सुख मानि लीन्हो नारि तेहि रँग ढरी ।—सूर ।

(१६) आनंद । मजा । उ०—(क) बहुत झुरिया लागे संग । दाम न खरचै लट्टै रंग ।—देवस्वामी । (ख) खान पान सनमान राग रँग मनहि न भावै ।—गिरधर । (ग) मोकों व्याकुल छँड़िकै आपुन करै जु रंग ।—सूर ।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का और इसके मुहावरों का प्रयोग प्रायः नशे के संबंध में भी होता है ।

मुहा०—रंग आना = मजा मिलना । आनंद मिलना । रंग उखड़ना = बने हुए आनंद का अचानक घटना या नष्ट हो जाना । रंग जमना = आनंद का पूर्णता पर आना । खूब मजा होना । रंग मचाना = धूम मचाना । उ०—असवारी में रंग मचावै । मन के संग तुरंग नचावै ।—लाल । रंग में भंग करना = पूर्ण आनंद के समय उसमें विभ्र उपस्थित करना । बना बनाया मजा बिगाड़ना । रंग रचाना = उत्सव करना । जलसा करना ।

(१७) दशा । हालत । उ०—कबहुँ नहिं यहि भाँति देख्यो, आज को सो रंग ।—सूर ।

मुहा०—रंग लाना = दशा उपस्थित करना । हालत करना । जैसे,—

तुम्हारी ही शरारत यह सब रंग लाई है ।

(१८) अद्भुत व्यापार । कांड । दृश्य । जैसे,—यह सब रंग उन्हीं की कृपा का फल है । (१९) प्रसन्नता । कृपा । दया । मेहरबानी । उ०—हम चाकर कलिराज के वृथा करत हौ दोष । ताकी मरजी को तकै करत रंग औ रोष ।—गुमान । (२०) प्रेम । अनुराग । उ०—(क) जब हम रँगी श्याम के रंगा । तब लिखि पठवा ज्ञान प्रसंगा ।—रघुनाथ-दास । (ख) देखु जरनि जड़ नारि की जरत प्रेव के संग । चिता न चित फीको भयो रची जु पिय के रंग ।—सूर । (ग) ऐसे भये तो कहा तुलसी जो पै जानकी नाथ के रंग न राते ।—तुलसी । (घ) गोरिन के रँग भीजिगो साँवरो साँवरे के रँग भीजी सु गोरी ।—पद्माकर ।

मुहा०—रंग देना = किसी को अपने प्रेम-पारा में फँसाने के लिये उसके प्रति प्रेम प्रकट करना । (वाजार)

(२१) ढंग । ढब । चाल । तर्ज । उ०—(क) राजभवना-भ्यंतर तो यह उपकरण था और बाहर नभ-मंडल का और ही रंग दिखलाई देता था ।—अयोध्यासिंह । (ख) जो तुम राजी हो इस रंग । तो खेलो फाग हमारे संग ।—लल्लू-लाल । (ग) त्यों पदमाकर यों मग में रँग देखत हौं कब की रुख राखे ।—पद्माकर । (घ) हमारा प्रधान शासक न विक्रम के रंग ढंग का है, न हारुँ या अकबर के । उसका रंग ही निराला है ।—बालमुकुंद । (ङ) सुनु जानकी कुरंग नैनी होय न कुरंग यह बड़ोई कुरंग है ।—हृदयराम ।

यौ०—रंग-ढंग = (१) दशा । हालत । (२) चाल-ढाल । तौर-तरीका । (३) व्यवहार । बरताव । जैसे,—आजकल उसके रंग-ढंग अच्छे नहीं दिखाई देते । (४) ऐसी बात जिससे किसी दूसरी बात का अनुमान हो । लक्षण । जैसे—आसमान के रंग-ढंग से तो मालूम होता है कि आज पानी बरसेगा ।

मुहा०—रंग काछना = चाल चलना । ढंग अस्तियार करना । उ०—सूर श्याम जितने रँग काछत युवती जन मन के गोऊ हैं ।—सूर । (किसी को अपने) रंग में रँगना = किसी को अपने ही विचारों का बना लेना । अपना सा कर लेना ।

(२२) भाँति । प्रकार । तरह । उ०—दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन बिस्तारन काल । प्रगटत निरगुन निकट रहि चंग रंग भूपाल ।—बिहारी । (२३) चौपड़ की गोटियों के, खेल के काम के लिये किए हुए, दो कृत्रिम विभागों में से एक ।

विशेष—चौपड़ की कुल गोटियाँ १६ होती हैं, जो चार रंगों में विभक्त होती हैं । इनमें से विशिष्ट दो रंग की आठ गोटियाँ “रंग” और शेष दो रंगों की आठ गोटियाँ “बद रंग” कहलाती हैं ।

मुहा०—रंग जमना = चौपड़ में रंग की गोदी का किसी अच्छे और उपयुक्त घर में जा बैठना, जिसके कारण खेलाड़ी की जीत

अधिक निश्चित हो जाती है। रंग मारना = बाजी जीतना विजय। पाना। उ०—(क) यह होंठ जो कि पोपले यारो हैं हमारे। इन होंठों ने बोंसों के बड़े रंग हैं मारे।—नजीर। (ख) इश्कबाज़ी के लिये हमने बिछाई चौसर। पासा गिरते ही गोया रंग हमारा मारा।

रंगई—संज्ञा पुं० [हि० रंग + ई (प्रत्य०)] धोबियों के अंतर्गत एक जाति जो केवल छपे हुए कपड़े धोने का काम करती है।

रंगकाष्ठ—संज्ञा पुं० [सं०] पतंग नाम की लकड़ी। बकम।

रंगक्षेत्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अभिनय करने का स्थान। रंगस्थल। नाट्यभूमि। (२) किसी उत्सव आदि के लिये सजाया हुआ स्थान।

रंगगृह—संज्ञा पुं० [सं०] रंगभूमि। नाट्यस्थल।

रंगचर—संज्ञा पुं० [सं०] नाटक में अभिनय करनेवाला। नट।

रंगज—संज्ञा पुं० [सं०] सिंदूर।

रंगजननी—संज्ञा स्त्री० [सं०] लाक्षा। लाख।

रंगजीवक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चित्रकार। सुसंवर। (२) वह जो अभिनय करता हो। नट।

रंगत—संज्ञा स्त्री० [हि० रंग + त (प्रत्य०)] (१) रंग का भाव। जैसे,—इसकी रंगत कुछ काली पड़ गई है। (२) मजा। आनंद। जैसे,—जब आप वहाँ पहुँचेंगे, तभी रंगत आवेगी।

क्रि० प्र०—खिलाना।—खुलना।—जमना।

मुहा०—रंगत आना = मजा होना। आनन्द होना।

(३) हालत। दशा। अवस्था। जैसे,—आजकल उनकी रंगत अच्छी नहीं है।

रंगतरा—संज्ञा पुं० [हि० रंग] एक प्रकार की बड़ी और मीठी नारंगी। संगतरा।

रंगद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोहागा। (२) खदिरसार।

रंगदलिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] नागवल्ली लता। नागबेल।

रंगदा—संज्ञा स्त्री० [सं०] फिटकरी।

रंगदायक—संज्ञा पुं० [सं०] कंकुष्ठ नाम की पहाड़ी मिट्टी।

रंगदढ़ा—संज्ञा स्त्री० [सं०] फिटकरी, जिससे रंग पका होता है।

रंगदेवता—संज्ञा पुं० [सं०] वह कल्पित देवता जो रंगभूमि के अधिष्ठाता माने जाते हैं।

रंगन—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का मझोला वृक्ष। इसके हीर की लकड़ी कड़ी, चिकनी और मजबूत होती है और इमारत के काम में आती है। बंगाल, मध्य प्रदेश और मद्रास में यह पेड़ बहुतायत से होता है। इसे 'कोटा गंधल' भी कहते हैं।

रँगना—क्रि० सं० [हि० रंग + ना (प्रत्य०)] (१) किसी वस्तु पर रंग चढ़ाना। रंग में डुबाकर अथवा रंग चढ़ाकर किसी चीज को रंगीन करना। जैसे,—कपड़ा रँगना। क़िवाड़े रँगना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

(२) किसी को अपने प्रेम में फँसाना। (३) अपने कार्य-साधन के अनुकूल करने के लिये बातचीत का प्रभाव डालना। अपने अनुकूल करना। अपना सा बनाना। उ०—लाज गद्दी मुख खोलै न बोलै कियो रघुनाथ उपाय दुनी को। कोटि रँगै नहि एक लगै जिमि सूम के आगे सयान गुनी को।—रघुनाथ।

क्रि० प्र० किसी के प्रेम में लिस होना। किसी पर आसक्त होना। उ०—(क) जनम तालु को सुफल जो रँगै राम के रंग।—रघुनाथदास। (ख) संतन के उपदेश तैं रँग्यो कछुक हरि रंग।—रघुराज।

संयो० क्रि०—जाना।

रंगपत्री—संज्ञा स्त्री० [सं०] नीली वृक्ष।

रंगपुरी—संज्ञा स्त्री० [रंगपुर = बंगाल का एक नगर] एक प्रकार की छोटी नाव जिसके दोनों ओर की गलही एक सी होती है।

रंगपुष्पी—संज्ञा स्त्री० [सं०] नीली वृक्ष।

रंगप्रवेश—संज्ञा पुं० [सं०] अभिनय करने के लिये किसी पात्र का रंगभूमि में आना।

रंगबदल—संज्ञा पुं० [हि० रँग + बदलना] हलदी। (साधू)

रंगबिरंग—वि० [हि० रंग + बिरंग (अनु०)] (१) कई रंगों का। (२) भौँति भौँति के। तरह तरह के। अनेक प्रकार के। जैसे,—(क) उनके पास रंग बिरंग कपड़े हैं। (ख) माँ टेनी और बाप कुलंग। उनके बच्चे रंग बिरंग।

रंगबिरंगा—वि० [हि० रंगबिरंग] (१) अनेक रंगों का। कई रंगों का। चित्रित। (२) तरह तरह का। अनेक प्रकार का। **रंगभरिया**—संज्ञा पुं० [हि० रंग + भरना] छत, किवाड़े, दीवार इत्यादि पर रंगों से चित्रकारी करनेवाला। रंग करनेवाला। रंग साज।

रंगभवन—संज्ञा पुं० [सं०] आमोद-प्रमोद वा भोगविलास करने का स्थान। रंगमहल।

रंगभूति—संज्ञा स्त्री० [सं०] कोजागर पूर्णिमा। आश्विन की पूर्णिमा।

विशेष—कहते हैं कि जो लोग इस रात को जागते रहते हैं, उन्हें लक्ष्मी आकर धन देती हैं।

रंगभूमि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह स्थान जहाँ कोई जलसा हो। उत्सव मनाने का स्थान। उ०—(क) रंगभूमि आये दोउ भाई। अस सुधि सब पुरवासिन पाई। (ख) ऐहैं रंगभूमि चलि जबहीं। मल्ल युद्ध करि मारव तबहीं।—रघुनाथदास। (२) खेल, कूद वा तमाशे आदि का स्थान। क्रीडास्थल। उ०—रंगभूमि रमणीक मधुपुरी बारि चढ़ाई कही दह कीजो।—सूर। (३) नाटक खेलने का स्थान।

नाट्यशाला। रंगस्थल। (४) वह स्थान जहाँ कुस्ती होती हो। अखाड़ा। (५) रणभूमि। युद्धक्षेत्र।
रंगमंडप-संज्ञा पुं० [सं०] रंगभूमि। रंगस्थल।
रंगमण्डप-संज्ञा पुं० [सं०] रंगमंच। रंगस्थल।
रंगमल्ली-संज्ञा स्त्री० [०] वीणा। वीन।
रंगमहल-संज्ञा पुं० [हि० रंग + अ० महल] भोग-विलास करने का स्थान। आमोद प्रमोद करने का भवन। उ०—बैठी रंगमहल में राजति। प्यारी फेरि अभूषण साजति।—सूर।
रंगमाता-संज्ञा स्त्री० [सं० रंगमातृ] (१) कुटनी। (२) लाख। लाक्षा।
रंगमातृका-संज्ञा स्त्री० [सं०] लाक्षा। लाख।
रंगमार-संज्ञा पुं० [हि० रंग + मारना] ताश का एक खेल जो दो, तीन अथवा चार आदमियों में खेला जाता है। इसमें एक एक करके सब खेलनेवालों को बराबर बराबर पत्ते बाँट दिए जाते हैं और तब खेल होता है। इसमें जिस रंग का जो पत्ता चला जाता है, उसी रंग के उससे बड़े पत्ते से वह जीता जाता है। यह ताश का सब से सीधा खेल है।
रंगरत्नी-संज्ञा स्त्री० [हि० रंग + रत्न] आमोद-प्रमोद। आनंद। क्रीड़ा। चैन। मौज। उ०—कुदंग कोप तजि रंगरत्नी करति जुवति जग जोइ। पावस बात न गूढ़ यह वृद्धि हू रंग होइ।—बिहारी।
मुहा०—रंगरलियाँ मचाना या करना = आनंद मंगल और आमोद प्रमोद करना। उ०—(क) तुम्हारे यही दिन हैं सने बोलने और रंगरलियाँ करने के हैं।—अयोध्या। (ख) तमाम शहर में हर सू मची है रंग रलियाँ। गुलाल अभीर से गुलजार हैं सभी गलियाँ।—नजीर।
रंगरस-संज्ञा पुं० [हि० रंग + रस] आमोद प्रमोद। आनंद मंगल। उ०—सुघराई के गरब भरी जानति सब रंग रस।—व्यास।
रंगरसिया-संज्ञा पुं० [हि० रंग + रसिया] भोग-विलास करनेवाला व्यक्ति। विलासी पुरुष।
रंगराज-संज्ञा पुं० [सं०] संगीत दामोदर के अनुसार ताल के साठ मुख्य भेदों में से एक भेद।
रंगरूट-संज्ञा पुं० [अ० रिकूट] (१) सेना या पुलिस आदि में नया भर्ती होनेवाला सिपाही। (२) किसी काम में पहले पहल हाथ डालनेवाला आदमी। वह आदमी जो कोई कान सीखने लगा हो। जिसने कोई नया काम करना शुरू किया हो। वह जिसे कार्य का अनुभव न हो। जैसे,—वह अभी व्याख्यान देना क्या जानें, बिलकुल रंगरूट हैं।
रंगरेज़-संज्ञा पुं० [फा०] [स्त्री० रंगरेज़िन] कपड़े रँगनेवाला। वह जो कपड़े रँगने का काम करता हो।

रंगरेली †-संज्ञा स्त्री० दे० “रंगरली”। उ०—मैंसन देहु करन रंगरेली। सींग पखारि कुंड बिच केली।—लक्ष्मणसिंह।
रंगरैनी †-संज्ञा स्त्री० [हि० रंग + रैनी = जुगनू] एक प्रकार की लाल रंग की चुनरी।
रंगलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] आवर्तकी लता। मरोड़फली।
रंगलासिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] शोफालिका।
रंगवस्त्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] रंगवल्ली। नागवल्ली।
रंगवा †-संज्ञा पुं० [देश०] चौपायों का एक रोग।
रंगवाई-संज्ञा स्त्री० दे० “रंगाई”।
रंगवाना-क्रि० सं० [हि० रंगना का प्रेर० रूप] रँगने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को रँगने में प्रवृत्त करना।
रंगविद्याधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ताल के साठ मुख्य भेदों में से एक भेद। इसमें दो खाली और दो प्लुत मात्राएँ होती हैं। (२) वह जो अभिनय करता हो। नट। (३) वह जो नाचने में कुशल हो।
रंगवीज-संज्ञा पुं० [सं०] चाँदी।
रंगशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाटक खेलने का स्थान। नाट्य-शाला। रंगस्थल।
रंगसाज़-संज्ञा पुं० [फा०] (१) मेज़, कुर्सी, किवाड़, दीवार इत्यादि पर रंग चढ़ानेवाला। वह जो चीजों पर रंग चढ़ाता हो। (२) उपकरणों से रंग तैयार करनेवाला। रंग बनानेवाला।
रंगसाज़ी-संज्ञा स्त्री० [फा०] रंगसाज़ का काम। रँगने का काम।
रंगांगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] फिटकरी।
रंगाई-संज्ञा स्त्री० [हि० रंग + आई (प्रत्य०)] (१) रँगने का काम। रँगने की क्रिया। (२) रँगने का भाव। जैसे,—इसकी रंगाई बहुत अच्छी हुई है। (३) रँगने की मजदूरी।
रंगांगण-संज्ञा पुं० [सं०] रंगस्थल। नाट्यशाला।
रंगाजीव-संज्ञा पुं० [सं० रंगाजीविन्] वह जिसकी जीविका रंगाई से चलती हो। रंगसाज या रंगरेज।
रंगाना-क्रि० सं० [हि० रंगना का प्रेर० रूप] रँगने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को रँगने में प्रवृत्त करना।
रंगाभरण-संज्ञा पुं० [सं०] ताल के साठ मुख्य भेदों में से एक भेद।
रंगार-संज्ञा पुं० [देश०] (१) वैश्यों की एक जाति का नाम। (२) राजपूतों की एक जाति। इस जाति के लोग मेवाड़ और मालवे में रहते हैं। (३) मध्य तथा दक्षिण भारत में रहनेवाली एक जाति। इस जाति के लोग अपने आपको ब्राह्मणों के अंतर्गत बतलाते और खेती-बारी करते हैं।
रंगारि-संज्ञा पुं० [सं०] करवीर। कनेर।
रंगालय-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ पर नाटक, कुस्ती या इसी प्रकार का और कोई खेल तमाशा हो। रंगभूमि।

रंगावट-संज्ञा स्त्री० [हि० रंग + आवट (प्रत्य०)] रंगने का भाव ।
रंगाई ।

रंगावतारक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रंगरेज । (२) अभिनय करनेवाला । नट ।

रंगावतारी-संज्ञा पुं० [सं० रंगावतारिन्] अभिनय करनेवाला । नट ।

रंगिया-संज्ञा पुं० [हि० रंग + इया (प्रत्य०)] (१) कपड़े रंगने-वाला । रंगरेज । (२) रंगसाज ।

रंगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शतमूली । (२) कैवर्त्तिका नाम की लता । विशेष दे० "कैवर्त्तिका" ।

वि० [हि० रंग + ई (प्रत्य०)] आनंदी । मौजी । विनोदशील ।

रंगीन-वि० [फा०] (१) जिस पर कोई रंग चढ़ा हो । रंगा हुआ । रंगदार । (२) चिलास-प्रिय । आमोद-प्रिय । जैसे,—रंगीन तबीयत, रंगीन आदमी । (३) जिसमें कुछ अनोखापन हो । चमत्कारपूर्ण । मजेदार । जैसे,—रंगीन इवारत, रंगीन बात चीत ।

रंगीनी-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) रंगीन होने का भाव । (२) सजावट । बनाव सिंगार । (३) बाँकापन । (४) रसिकता । रंगीलापन ।

रंगीरेटा-संज्ञा पुं० [देश०] एक जंगली वृक्ष जो दारजिलिंग में अधिकता से होता है । इसकी लकड़ी बहुत मज़बूत होती है और इमारत बनाने के काम में आती है । इससे मेज़, कुर्सी आदि भी बनाई जाती है ।

रंग ला-वि० [हि० रंग + ईला (प्रत्य०)] [स्त्री० रंगीली] (१) आनंदी । मौजी । रसिया । रसिक । उ०—इयाम रंग रंगे रंगीले नैन ।—सूर । (२) सुंदर । खूबसूरत । जैसे,—रंगीला जवान । उ०—कहै पदमाकर एते पै यों रंगीलो रूप देखे विन देखे कहौ कैसे धीर धारिये ।—पद्माकर । (३) प्रेमी । अनुरागी ।

रंगीली टोड़ी-संज्ञा स्त्री० [हि० रंगीला + टोड़ी (रागिनी)] संपूर्ण जाति की एक रागिनी जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं । यह टोड़ी रागिनी का एक भेद है ।

रंगैया-संज्ञा पुं० [हि० रंग + ऐया (प्रत्य०)] रंगनेवाला ।

रंगोपजीवी-संज्ञा पुं० [सं० रंगोपजीविन्] वह जो रंगशाला में अभिनय करके अपनी जीविका का निर्वाह करता हो । नट ।

रंच, रंचक-वि० [सं० रंच, प्रा० रंच] थोड़ा । अल्प । तनिक । उ०—(क) बंचन मेरो कियो सजनी यह रंच न प्यारे दया मन कीन्ही ।—सुंदर । (ख) प्रभुमन लरे ससदस दो दिन रंच हार नहिं माने ।—सूर । (ग) रंच न साथ सुधै सुख की विन राधिके आधिक लोचन डटे ।—केशव । (घ) हिय अंचक रीति रची जब रंचक लाइ लई उर नाह तहीं ।

—केशव । (ङ) संग लिये विधु बैनी बधू रति हूँ जेहि रंचक रूप दियो है ।—तुलसीदास ।

रंज-संज्ञा पुं० [फा०] [वि० रंजीदा] (१) दुःख । खेद । (२) शोक ।

क्रि० प्र०—उठाना ।—करना ।—झेलना ।—देना ।—पहुँचना ।—पहुँचाना ।—सहना ।

रंजक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रंगसाज । (२) रंगरेज । (३) हिंगुल । ईशुर । (४) सुश्रुत के अनुसार पेट की एक अग्नि जो पित्त के अंतर्गत मानी जाती है । कहते हैं कि यह यकृत और प्लीहा के बीच में रहती है; और भोजन से जो रस उत्पन्न होता है, उसे रंजित करती है । (५) भिलावाँ । (६) मेंहदी ।

वि० [सं०] (१) रंगनेवाला । जो रंगे । (२) आनंदकारक । प्रसन्न करनेवाला । जैसे,—मनोरंजक ।

संज्ञा स्त्री० [हि० रंच = अल्प] (१) वह थोड़ी सी बारूद जो बत्ती लगाने के वास्ते बंदूक की प्याली पर रखी जाती है । उ०—खैयक हजार एक बार बैरी मारि डारे रंजक दगनि मानो अग्नि रिसाने की ।—भूषण ।

क्रि० प्र०—देना ।—भरना ।

मुहा०—रंजक उड़ाना = (१) बंदूक या तोप की प्याली में बत्ती लगाने के लिये बारूद रखकर जलाना । (२) पादना । (बाजार) रंजक चाट जाना = तोप या बंदूक की प्याली में रखी हुई बारूद का थोड़ी जल कर रह जाना और उससे गोला या गोली न छूटना । रंजक पिलाना = तोप या बंदूक की प्याली में रंजक रखना ।

(२) गाँजे, तमाखू या सुलफे का दम । (बाजार)

मुहा०—रंजक देना = गाँजे आदि का दम लगाना ।

(३) वह बात जो किसी को भड़काने या उत्तेजित करने के लिये कही जाय । (४) कोई तीखा या चटपटा चूर्ण ।

रंजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रंगने की क्रिया । (२) चित्त को प्रसन्न करने की क्रिया । (३) पित्त । सफरा । (४) रक्त चंदन । लाल चंदन । (५) छप्पय छंद के पचासवें भेद का नाम । (६) वे पदार्थ जिनसे रंग बनते हैं । जैसे,—हल्दी, नील, लाल चंदन, कुसुम, मजीठ इत्यादि । (७) मूँज । (८) सोना । (९) जायफल । (१०) कमीला वृक्ष ।

रंजनक-संज्ञा पुं० [सं०] कटहल ।

रंजनकेशी संज्ञा स्त्री० [सं०] नीली वृक्ष ।

रंजना #-क्रि० सं० [सं० रंजन] (१) प्रसन्न करना । आनंदित करना । (२) भजना । स्मरण करना । उ०—आदि निरंजन नाम ताहि रंजे सब कोऊ ।—सूर । (३) रंगना । उ०—यों सब के तन त्रानन में सलकी अरुणोदय की अरुनाई । अंतरते जनु रंजन को रजपूतन की रज ऊपर आई ।—केशव ।

रंजनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ऋषभ स्वर की तीन श्रुतियों में से दूसरी श्रुति (संगीत)। (२) नीली वृक्ष। (३) मजीठ। (४) हलदी। (५) पर्पटी। (६) नागवल्ली। (७) जनुका या पहाड़ी नाम की लता।

रंजनीपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का करंज या कंजा। पूतिकरंज।

रंजनीय-वि० [सं०] (१) जो रंगने के योग्य हो। (२) जो चित्त प्रसन्न कर सके। आनंद दे सकनेवाला।

रंजा-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मछली जिसे उलबी भी कहते हैं।

रंजित-वि० [सं०] (१) जिस पर रंग चढ़ा या लगा हो। रंगा हुआ। उ०—रंजित अंजन कंज बिलोचन। भ्राजत भाल तिलक गोरोचन।—तुलसी।

(२) आनंदित। प्रसन्न। (३) प्रेम में पड़ा हुआ। अनुरक्त।

रंजिश-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) रंज होने का भाव। (२) मन-मुटाव। अनवग। (३) वैमनस्य। शत्रुता।

रंजीदगी-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) रंजीदा होने का भाव। (२) रंजिश।

रंजीश-वि० [फा०] (१) जिसे रंज हो। दुःखित। (२) नाराज़। अप्रसन्न। असंतुष्ट।

रंड-वि० [सं०] (१) धूर्त। चालाक। (२) विकल। बेचैन।

रंडक-संज्ञा पुं० [सं०] वह पेड़ जिसमें फल न आते हों।

रंडा-वि० [सं०] रौंड़। विधवा। बेवा।

रंडापा-संज्ञा पुं० [हिं० रौंड़ + आपा (प्रत्य०)] विधवा की दशा। वैधव्य। वेवापन।

रंडाश्रमी-संज्ञा पुं० [सं० रंडाश्रमिन्] वह जो ४८ वर्ष की अवस्था के उपरांत रंडुआ हुआ हो। ४८ वर्ष की उम्र के बाद जिसकी स्त्री मरे।

रंडी-संज्ञा स्त्री० [सं० रंडा] नाचने-गाने और धन लेकर संभोग करनेवाली स्त्री। बेइया। कसबी।

यो०—रंडीबाज। रंडीबाजी। रंडी-मुंडी।

मुहा०—रंडी रखना = किसी रंडी को संभोग आदि के लिये अपने पास रखना।

रंडीबाज-संज्ञा पुं० [हिं० रंडी + फा० बाज] वह जो रंडियों से संभोग करता हो। बेइयागामी।

रंडीबाजी-संज्ञा स्त्री० [हिं० रंडी + फा० बाजी] रंडी के साथ गमन करना। बेइयागमन।

रंडुआ, रंडुवा-संज्ञा पुं० [हिं० रौंड़ + उआ (प्रत्य०)] वह पुरुष जिसकी स्त्री मर गई हो।

रंडोरा :-संज्ञा पुं० [हिं० रौंड़ + ओरा (प्रत्य०)] [स्त्री० रंडोरी] वह पुरुष जिसकी स्त्री मर गई हो। रंडुवा।

रंति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) केलि। क्रीड़ा। (२) विराम।

रंता-वि० [सं० रत] अनुरक्त। लगा हुआ। उ०—(क) मुनि मानस रंता जगत नियंता आदि न अंत न जाहि।—केशव। (ख) मुनिगण प्रतिपालक रिपुकुल घालक बालक ते रणरंता।—केशव।

रंतिदेव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक बड़े दानी राजा जिन्होंने बहुत अधिक यज्ञ किए थे। एक बार सब कुछ दे डालने पर इन्हें ४८ दिनों तक पीने को जल भी न मिला। उनचासवें दिन ये कुछ खाने पीने का आयोजन कर रहे थे कि क्रम से एक ब्राह्मण, एक शूद्र और कुत्ते को लिए हुए एक अतिथि आ पहुँचे। सब सामान उन्हीं के आतिथ्य में समाप्त हो गया; केवल जल बच रहा। उसे पीने के लिये ज्यों ही इन्होंने हाथ उठाया कि एक प्यासा चांडाल आ गया और पीने के लिये जल माँगने लगा। राजा ने वह जल भी दे दिया। अंत में भगवान् ने प्रसन्न होकर इन्हें मोक्ष दिया। (२) विष्णु। (३) कुत्ता।

रंतिनदी-संज्ञा स्त्री० [सं०] चंबल नदी।

रंतु-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सड़क। (२) नदी।

रंद-संज्ञा पुं० [सं० रंभ] (१) बड़ी इमारतों की दीवारों के वे छेद जो रोशनी और हवा आने के लिये रखे जाते हैं। रोशन-दान। (२) किले की दीवारों का वह मोखा जिसमें से बाहर की ओर बंदूक वा तोप चलाई जाती है। मार। उ०—क्या रेनी खंदक रंद बड़ा क्या कोट कँपूरा अनमोला। क्या बुर्ज रहकला तोप किला क्या शीशा दारु और गोला।—नज़ीर।

रंदना-क्रि० सं० [हिं० रंदा + ना (प्रत्य०)] रंदे से छीलकर लकड़ी की सतह चिकनी करना। रंदा फेरना या चलाना।

रंदा-संज्ञा पुं० [सं० रदन = काटना, चीरना] बर्दई का एक औज़ार जिससे वह लकड़ी की सतह छीलकर बराबर और चिकनी करता है। इसमें एक चौपहल लंबी और चिकनी सतहवाली लकड़ी के बीच में एक छोटा लंबा छेद होता है, जिसमें एक तेज धारवाला फल जड़ा रहता है। इसे हाथ में लेकर किसी लकड़ी पर बार बार रगड़ने या चलाने से उसके ऊपर से उभरी हुई सतह उतरने लगती है और थोड़ी देर में लकड़ी की सतह चिकनी हो जाती है।

रंधक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रसोई बनानेवाला। रसोइया। (२) नष्ट करनेवाला। नाशक।

रंधन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रसोई बनाने की क्रिया। पाक करना। रंधना। (२) नष्ट करना।

रंधित-वि० [सं०] (१) पकाया हुआ। रंधा हुआ। (२) नष्ट।

रंध्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छेद। सूरग।

यो०—ब्रह्मरंध्र।

(२) योनि। अग। (३) दोष। छिद्र।

रंभागत-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों के गले में होनेवाला एक प्रकार का रोग ।

रंभा-संज्ञा पुं० [हिं० रंभा] (१) दे० “रंभा” । (२) जुलाहों का लोहे का एक औजार जो लगभग एक गज लंबा होता है । यह जमीन में गाड़ दिया जाता है और इसमें तानी की रस्सी बाँधी जाती है ।

रंभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाँस । (२) एक प्रकार का बाण । (३) पुराणानुसार महिषासुर के पिता का नाम । इसने महादेव से वर पाकर महिषासुर को पुत्र रूप में प्राप्त किया था । यह भी कहा जाता है कि यही दूसरे जन्म में रक्तबीज हुआ था । (४) भारी शब्द । कलकल । हलचल । उ०—माथे रंभ समुद्र जल होई ।—जायसी ।

रंभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कैला । (२) गौरी । (३) गौ का रंभाना या चिल्लाना । (४) उत्तर दिशा । (५) वेश्या । (६) पुराणानुसार एक प्रसिद्ध अप्सरा ।

संज्ञा पुं० [सं० रंभ] लोहे का वह मोटा भारी डंडा जिसकी सहायता से पेशराज आदि दीवारों में छेद करते या इसी प्रकार के और काम करते हैं ।

रंभा तृतीया-संज्ञा स्त्री० [सं०] उषेष्ट शुक्ल तृतीया । पुराणानुसार इस तिथि को व्रत करने का विधान है ।

रंभाना-क्रि० अ० [सं० रंभण] गाय का बोलना । गाय का शब्द करना । उ०—बाजत बेणु विषाण सबै अपने रँग गावत । मुरली धुनि गौ रंभि चलत पग धूरि उड़ावत ।—सूर ।

क्रि० स० गौ से रंभण कराना । गौ को शब्द करने में प्रवृत्त करना ।

रंभापति-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र ।

रंभाफल-संज्ञा पुं० [सं०] कैला ।

रंभित-वि० [सं०] (१) शब्द किया हुआ । बोलाया हुआ । (२) बजाया हुआ ।

रंभिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रागिनी जो भैरव राग की पुत्र-बधू मानी जाती है ।

रंभी-संज्ञा पुं० [सं० रंभिन्] (१) वह जो हाथ में बेंत या दंड लिए हुए हो । (२) बुढ़ा आदमी । वृद्ध । (३) द्वारपाल । दरवान ।

रंभोरु-वि० [सं०] (१) (स्त्री जिसकी) केले के वृक्ष के समान उतार चढ़ाववाली जाँघें हों । (२) सुंदर । खूबसूरत ।

रंभ-संज्ञा पुं० [सं० रंभस्] वेग । गति । तेजी ।

रंभचटा-संज्ञा पुं० [हिं० रहस + चट] मनोरथ-सिद्धि की लालसा । लालच । चस्का । उ०—(क) उयों उयों आवत निकट निसि त्यों त्यों खरी उताल । शमकि शमकि टहलें करे लागी रंभचटे बाल ।—बिहारी । (ख) कन देवों सौं प्यो

ससुर बहू थुरहथी जानि ।—रूप रंभचटे लागि लग्यो भाँगन सब जग आनि ।—बिहारी ।

र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पादक । अग्नि । (२) कामाग्नि । (३) सितार का एक बोल । (४) जलना । झुलसना । (५) आँच । ताप । गरमी ।

वि० तीक्ष्ण । प्रखर ।

रञ्जय्यत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) प्रजा । रियाया । (२) काश्तकार ।

रइअंत-संज्ञा स्त्री० दे० “रअय्यत” ।

रइकौ†-क्रि० वि० [हिं० रचो + कौ (प्रत्य०)] ज़रा भी । तनिक भी । कुछ भी । उ०—ऐसी अनहोन लाज मानति कह्यो न देव होन कहूँ पाप रइकौ सी होन पाउरी ।—देव ।

रइनि†-संज्ञा स्त्री० [सं० रजनी + प्रा० रयणी] रात । रात्रि । निशि । उ०—(क) रइनि रेनु होइ रबिहि गरासा । मानुस पंखि लेहि फिरि बासा ।—जायसी । (ख) जहवाँ जात रइ-नियाँ तहँवाँ जाहु । जोरि नयन निरलजवा कत मुसुकाहु ।—रहस्यन ।

रई-संज्ञा स्त्री० [सं० रय = हिलाना] दही मथने की लकड़ी । मथानी । खैलर । उ०—बासुकी नेति अह मंदराचल रई कमठ में आपनी पीठ धायो ।—सूर ।

क्रि० प्र०—चलना ।—चलाना ।—फेरना ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० रवा] (१) गेहूँ का मोटा आटा । दरदरा आटा । (२) सूजी । (३) चूर्ण मात्र । उ०—चूरी करिहै रई ।—हरिश्चंद्र ।

वि० स्त्री० [हिं० रयना, रचना = सं० रंजन] (१) डूबी हुई । पगी हुई । (२) अनुरक्त । उ०—(क) कहत परस्पर आपुस में सब कहाँ रहीं हम काहि रई ।—सूर । (ख) स्वाँग सूयो साधु को, कुचालि कलि तैं अधिक, परलोक फीकी, मति लोक-रंग-रई ।—तुलसी । (ग) उरहन दैन चलीं जसुमति को मनमोहन के रूप रई ।—सूर । (घ) माधो राधा के रंग राचे राधा माधो रंग रई —सूर । (३) युक्त । सहित । संयुक्त । उ०—(क) बीस बिसे बलवंत हुते जो हुती दग केशव रूप-रई जू ।—केशव । (ख) करिये युत भूषण रूप रई । मिथिलेश सुता इक स्वर्णमई ।—केशव । (४) मिली हुई ।

रईस-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह जिसके पास रियासत या इलाका हो । तअल्लुकेदार । भूस्वामी । सरदार । (२) प्रतिष्ठित और धनवान् पुरुष । बड़ा आदमी । अमीर । धनी । जैसे,—उसकी दावत में शहर के बड़े बड़े रईस आए थे ।

रउताई†-संज्ञा पुं० [हिं० रावत + आई (प्रत्य०)] मालिक होने का भाव । प्रभुत्व । स्वामित्व । उ०—धनि सो खेल खेल सह पेमा । रउताई अउ कूसल खेमा ।—जायसी ।

उरे १-सर्व [हि० राव, रावल] मध्यम पुरुष के लिये आदर-सूचक शब्द । आप । जनाव । उ०—विप्र सहित परिवार गोसाईं । करहिं छोह सब रउरिहि नाईं ।—तुलसी ।

रणथ-संज्ञा स्त्री० [अ०] प्रजा । रियाय ।

रकछु १-संज्ञा पुं० [हि० रिकव्व] पत्तों की एकौड़ी । पतौड़ ।

उ०—पान कतरि छौंके रकछही डारि मिर्च औ आदि ।

एक खंड जो खावै पावै सहस सवादि ।—जायसी ।

रक्त *-संज्ञा पुं० [सं० रक्त] लहू । खून । रुधिर ।

वि० लाल । सुख ।

रक्तकंद-संज्ञा पुं० [सं० रक्तकंद] (१) मूंगा । प्रवाल । विद्रुम ।

(हि०) (२) राजपलांडु । रक्तालु । रतालू ।

रक्तांक-संज्ञा पुं० [सं० रक्ताङ्ग] (१) विद्रुम । प्रवाल ।

मूंगा । (हि०) (२) कुंकुम । केसर । (३) रक्तचंदन । लाल चंदन ।

रक्ता-संज्ञा पुं० [अ०] वह गुणन-फल जो किसी क्षेत्र की लंबाई और चौड़ाई को गुण करने से प्राप्त हो । क्षेत्रफल ।

रक्ताहा-संज्ञा पुं० [देश०] घोड़ों का एक भेद । उ०—कर रक्ताहा किलवाही कुही काबिल के, खुरासानी खंजरीट खंजन खलक के ।—सूदन ।

रक्तमंजनी-संज्ञा स्त्री० [सं० रक्तमंजनी] एक प्रकार का पौधा ।

रक्तम-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) लिखने की क्रिया या भाव । (२) छाप । मोहर । (३) रक्ता या बीजा-बिसवा आदि लिखने के फारसी के विशिष्ट अंक जो साधारण संख्यासूचक अंकों से भिन्न होते हैं । (४) नियत संख्या का धन । संपत्ति । दौलत । (५) गहना । जेवर । (६) धनवान । मालदार । (७) चलता-पुरजा । चालाक । धूर्त । (८) नवयौवना और सुंदरी स्त्री । (वाजाल) (९) लगान की दर । (१०) प्रकार । तरह । भाँति ।

रक्तमी-संज्ञा पुं० [अ०] वह किसान जिसके साथ कोई खास रियायत की जाय ।

रक्ताब-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) घोड़ों की काठी का पावदान जिस पर पैर रखकर सवार होते हैं और बैठने में जिससे सहारा लेते हैं । घोड़ों की जीन का पावदान । यह लोहे का एक घेरा होता है, जो जीन में दोनों ओर रस्सी या तस्मे से लटका रहता है ।

मुहा०—रक्ताब पर पैर रखना = जाने के लिये उद्यत होना । चलने के लिये बिलकुल तैयार होना । जैसे,—(क) आप तो पहले से ही रक्ताब पर पैर रखे हुए हैं । (ख) आप जब आते हैं, तब रक्ताब पर पैर रखे आते हैं ।

(२) रक्ताबी । तश्तरी ।

रक्ताबदार-संज्ञा पुं० [फा०] (१) मुरब्बा, मिठाई आदि बनाने-

वाला । हलवाई । (२) रक्ताबियों में खाना चुनने और लगानेवाला । खानसामाँ । (३) बादशाहों के साथ खाना लेकर चलनेवाला सेवक । खासाबरदार । (४) रक्ताब पकड़ कर बोड़े पर सवार करानेवाला नौकर । साईस ।

रक्ताबा-संज्ञा पुं० [फा०] बड़ी थाली । परात । तश्तरी ।

रक्ताबी-संज्ञा स्त्री० [फा०] एक प्रकार की छिछली छोटी थाली, जिसकी दीवार बहुत कम ऊँची अथवा बाहर की ओर मुड़ी हुई होती है । तश्तरी ।

रक्ता-संज्ञा पुं० [सं०] र वर्ण का बोधक अक्षर । र ।

रक्तीक-वि० [अ०] (१) पानी की तरह पतला । तरल । द्रव ।

(२) कोमल । मुलायम । नरम ।

रक्तीब-संज्ञा पुं० [अ०] वह प्रतियोगी जो किसी प्रेमिका के प्रेम के संबंध में प्रतियोग करता हो । प्रेमिका का दूसरा प्रेमी । सपत्न ।

रक्तीबी-संज्ञा स्त्री० दे० “रक्ताबी” ।

रक्खना-क्रि० सं० दे० “रखना” ।

रक्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह प्रसिद्ध तरल पदार्थ जो प्रायः लाल रंग का होता और शरीर की नसों आदि में से होकर बहा करता है । लहू । रुधिर । खून ।

विशेष—साधारणतः रक्त से ही हमारे शरीर का पोषण और रक्षण होता है । यह हृदय द्वारा परिचालित होता और सदा सारे शरीर में चक्कर लगाया करता है । शरीर के अंगों में पोषक द्रव्य रक्त के द्वारा ही पहुँचता है; और जब रक्त कहीं से चलता है, तब उस स्थान के दूषित या परित्यक्त अंश को भी अपने साथ ले लेता है । इस प्रकार इसमें जो दूषित अंश या विष आ जाता है, वह फुफ्फुस की क्रिया से नष्ट हो जाता है; और फुफ्फुस में आने के उपरांत रक्त फिर शुद्ध हो जाता है । हृदय से जो साफ रक्त चलता है, वह लाल होता है । पर फिर जब शरीर के अंगों से वही रक्त फुफ्फुस की ओर चलता है, तब वह काला हो जाता है । रक्त जल से कुछ भारी होता है, स्वाद में कुछ नमकीन होता है और पारदर्शी नहीं होता । साधारणतः इसका तापमान १००° फहरन हाइट होता है; पर रोगों में यह ताप घट या बढ़ जाता है । इसमें दो भाग होते हैं—एक तो तरल जिसे रक्त वारि कह सकते हैं; और दूसरे रक्त कण जो उक्त रक्त वारि में तैरते रहते हैं । ये कण दो प्रकार के होते हैं—रुवेत और लाल । ये कण वास्तव में सजीव अणुपिंड हैं । शरीर से बाहर निकलने पर अथवा मृत्यु के उपरांत शरीर के अंदर रहकर भी रक्त बिलकुल जम जाता है । प्रायः सारे शरीर का $\frac{1}{10}$ वाँ भाग रक्त होता है । पशुओं का रक्त प्रायः चीनी आदि साफ करने और खाद तैयार करने के काम में आता है । हमारे यहाँ के वैद्यक

शास्त्र के अनुसार यह शरीर की सात मुख्य धातुओं में से एक है और यह स्निग्ध, गुरु, चलनशील और मधुर रस कहा गया है।

पर्याय—हृधिर। लोहित। अन्न। क्षतज। शोणित। रोहित। रंगक। कीलाल। अंगज। स्वज। शोण। लोह। चर्मज।

मुहा०—के लिये दे० “खून” के मुहा०।

(२) कुंकुम। केसर। (३) ताँबा। (४) पुराना और पका हुआ आँवला। (५) कमल। (६) सिंदूर। (७) हिंगुल। शिगरफ। ईगुर। (८) पतंग की लकड़ी। (९) लाल चंदन। कुचंदन। (१०) लाल रंग। (११) कुसुंभ। (१२) नदी-तट पर होनेवाला एक प्रकार का बेत। हिउजल। (१३) बंधूक। गुलदुपहरिया। (१४) एक प्रकार की मछली। (१५) एक प्रकार का जहरीला मेंढक। (१६) एक प्रकार का बिच्छू।

वि० [सं०] (१) चाह या प्रेम में लीन। अनुरक्त। (२) रंगा हुआ। (३) लाल। सुख। (४) विहार-मग्न। ऐयाश। (५) साफ़ किया हुआ। शोधित। शुद्ध।

रक्त आमातिसार—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें लहू के दस्त आते हैं।

रक्तकंगु—संज्ञा पुं० [सं०] साल का वृक्ष जिससे राल निकलती है।

रक्तकंठा—संज्ञा स्त्री० [सं०] विककत वृक्ष।

रक्तकंठ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोयल। (२) भँटा। भंटा। बैंगन। उ०—रक्तकंठ तांबूल निवारे। पदाभ्यांग वसवाहन द्वारे।—विश्राम।

वि० जिसका कंठ लाल रंग का हो।

रक्तकंद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विद्रुम। मूँगा। (२) प्याज। (३) रतालू।

रक्तकंदल—संज्ञा पुं० [सं०] मूँगा। विद्रुम।

रक्तकंदल—संज्ञा पुं० [सं०] नीलोफर। कूँई।

रक्तक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गुलदुपहरिया का पौधा या फूल। बंधूक। (२) लाल सहिजन का वृक्ष। (३) लाल अंडी का वृक्ष। लाल रेंड। (४) लाल कपड़ा। (५) लाल रंग का घोड़ा। (६) केसर। कुंकुम।

वि० (१) लाल रंग का। (२) प्रेम करनेवाला। अनुरागी। (३) विनोदी। मसखरा।

रक्तकंदब—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कंदब का वृक्ष जिसके फूल बहुत लाल रंग के होते हैं।

रक्तकदली—संज्ञा स्त्री० [सं०] चंपा-केला।

रक्तकमल—संज्ञा पुं० [सं०] लाल रंग का कमल। वैद्यक में यह कटु, तिक्त, मधुर, शीतल, रक्तद्रोष नाशक, बलकारक और पित्त, कफ तथा वात को शमन करनेवाला माना गया है।

रक्तकरवीर—संज्ञा पुं० [सं०] लाल रंग का कनेर। यह वैद्यक

में कड़ुआ, तीक्ष्ण, विशोधन और व्रण, कंडु, कुष्ठ तथा विष का नाशक माना गया है।

रक्तकांचन—संज्ञा पुं० [सं०] कचनार का वृक्ष। कचनाल।

पर्याय—विदल। चमरिक। कांचनाल। ताम्रपुष्प। कुंदार।

रक्तकांता—संज्ञा स्त्री० [सं०] लाल पुनर्नवा। लाल गद्दहपूरना।

रक्तका—संज्ञा स्त्री० [सं०] पानी आँवला।

रक्तकाश—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें फेफड़े से मुँह के रास्ते खून निकलता है। यह रोग प्रायः बहुत जोर से गाने, अधिक बंसी बजाने या खाँसी आदि रहने की दशा में तथा ऊँचे पर्वतों पर चढ़ने आदि से हो जाता है।

रक्तकाष्ठ—संज्ञा पुं० [सं०] पतंग की लकड़ी।

रक्तकुमुद—संज्ञा पुं० [सं०] कूँई। नीलोफर।

रक्तकुरंडक—संज्ञा पुं० [सं०] लाल कटसरैया।

रक्तकुष्ठ—संज्ञा पुं० [सं०] विसर्प नामक रोग, जिसमें सारे शरीर में बहुत जलन होती है, कभी कभी सारा शरीर लाल रंग का हो जाता है और कुष्ठ की भाँति गलने भी लगता है।

रक्तकुसुम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कचनार। (२) आक। मदार। (३) यामिन का पेड़। (४) पारिभद्र या फरहद का पेड़॥

रक्तकुसुमा—संज्ञा स्त्री० [सं०] अनार का पेड़।

रक्तकृभिजा—संज्ञा स्त्री० [सं०] लाख। लाह।

रक्तकेशर—संज्ञा पुं० [सं०] पारिभद्रक वृक्ष। फरहद का पेड़।

रक्तकेशी—वि० [सं०] रक्तकेशि। जिसके बाल लाल रंग के हों। तामड़े रंग के बालोंवाला।

रक्तकैरव—संज्ञा पुं० [सं०] लाल कुमुद।

रक्तकोकनद—संज्ञा पुं० [सं०] लाल कमल।

रक्तनीय—संज्ञा पुं० [सं०] लहू बहना। रक्त-स्राव।

रक्तक्षयशोथ—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह यक्ष्मा रोग जो किसी कारणवश शरीर का रक्त कम हो जाने से उत्पन्न हो।

रक्तखदिर—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का खैर का वृक्ष जिसके फूल लाल रंग के होते हैं। रक्तसार।

रक्तखांडव, रक्तखाड़व—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का खजूर का वृक्ष।

रक्तगंधक—संज्ञा पुं० [सं०] बोल नामक गंधद्रव्य।

रक्तगंधा—संज्ञा स्त्री० [सं०] अश्वगंधा। असगंध।

रक्तगत ज्वर—संज्ञा पुं० [सं०] वह ज्वर जो रोगी के रक्त में समा गया हो। इसमें रोगी खून थूकता है, अंड बंड बकता है, छटपटाता है और उसे बहुत अधिक दाह तथा तृष्णा होती है।

रक्तगर्भा—संज्ञा स्त्री० [सं०] मेंहदी का पेड़।

रक्तगुल्म—संज्ञा पुं० [सं०] स्त्रियों का एक रोग जिसमें उनके गर्भाशय में रक्त की एक गाँठ बँध जाती है। यह रोग ऋतु काल में अनुचित आहार-विहार करने अथवा समय से पहले

गर्भ गिर जाने से होता है। कभी कभी यह प्रसव के उप-
रांत भी होता है। इसमें गर्भाशय में बहुत दाह और पीड़ा
होती है। जब यह रोग गर्भ न रहने की दशा में होता है,
तब कभी कभी इसके कारण गर्भ रहने का भी धोखा
होता है।

रक्तगैरिक-संज्ञा पुं० [सं०] स्वर्ण गैरिक। गेरू।

रक्तग्रंथि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लाल लज्जावंती। (२) वह रोग
जिसमें शरीर में लहू की गाँठें बँध जायँ।

रक्तग्रीव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कवूतर। (२) राक्षस।

रक्तघ्न-संज्ञा पुं० [सं०] रोहितक वृक्ष।

वि० जिससे रक्त का नाश हो।

रक्तघ्नी-संज्ञा संज्ञा [सं०] एक प्रकार की दूब। गंडदूर्वा।

रक्तचंचु-संज्ञा पुं० [सं०] शुक। तोता।

रक्तचंदन-संज्ञा पुं० [सं०] लाल रंग का चंदन। वि० दे०
“चंदन”।

पर्या०—तिलपर्ण। पत्रांक। रंजन। कुचंदन। ताम्रवृक्ष।
लाल चंदन। देवी चंदन।

रक्तचित्रक-संज्ञा पुं० [सं०] लाल रंग का चित्रक या चीता वृक्ष।

रक्तचूर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेंदुर। सिंदूर। (२) कमील।

रक्तच्छूर्दि-संज्ञा स्त्री० [सं०] खून की कै होना। रक्त-वमन।

रक्तजंतुक-संज्ञा पुं० [सं०] सीसा।

रक्तज-वि० [सं०] (१) जो रक्त से उत्पन्न हो। लहू से उत्पन्न
होनेवाला। (२) रक्त के विकार के कारण उत्पन्न होनेवाला
(रोग)।

रक्तज कृमि-संज्ञा पुं० [सं०] वह कृमि रोग जो रक्त-विकार के
कारण उत्पन्न होता है।

रक्तजपा-संज्ञा पुं० [सं०] अड़हुल। जवा। देवीफूल।

रक्तजिह्व-संज्ञा पुं० [सं०] सिंह। शेर।

वि० जिसकी जीभ लाल रंग की हो।

रक्तजूर्य-संज्ञा पुं० [सं०] जवार। जोन्हरी।

रक्ततर-संज्ञा पुं० [सं०] स्वर्ण गैरिक। गेरू।

रक्तता-संज्ञा स्त्री० [सं०] लालिमा। लाली। सुर्खी। ललाई।

रक्ततुंड-संज्ञा पुं० [सं०] शुक। तोता।

वि० जिसका मुँह लाल रंग का हो।

रक्ततुंडक-संज्ञा पुं० [सं०] सीसा।

रक्ततृण-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का लाल रंग का तृण।

रक्ततृणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गोमूत्रिका नामक तृण।

रक्तदंतिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा का वह रूप जो उन्होंने शुंभ
और निशुंभ को खाने के समय धारण किया था। चंडिका।

रक्तदंती-संज्ञा स्त्री० दे० “रक्तदंतिका”।

रक्तदला-संज्ञा स्त्री० [सं०] नलिका नाम का गंध-द्रव्य।

रक्तदूषण-वि० [सं०] जिससे रक्त दूषित हो। खून खराब
करनेवाला।

रक्तदृग-संज्ञा स्त्री० [सं० रंक्तृक्] कोयल। कोकिल।

वि० लाल आँखोंवाला। जिसकी आँखें लाल हों।

रक्तद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] लाल बीजासन वृक्ष।

रक्तधरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक के अनुसार मांस के भीतर की
दूसरी कला या झिल्ली जो रक्त को धारण किए रहती है।

रक्तधातु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गेरू। (२) ताँबा।

रक्तनयन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कवूतर। (२) चकोर।

रक्तनाडी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दाँतों की जड़ में होनेवाला एक
प्रकार का रोग।

रक्तनाल-संज्ञा पुं० [सं०] जीवनाक। सुसना।

रक्तनालिक-संज्ञा पुं० [सं०] उल्लू।

रक्तनिर्यास-संज्ञा पुं० [सं०] लाल रंग का बीजासन वृक्ष।

रक्तनील-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का बहुत
जहरीला विच्छू।

रक्तनेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सारस पक्षी। (२) कवूतर। (३)
चकोर।

वि० जिसकी आँखें लाल हों।

रक्तप-संज्ञा पुं० [सं०] राक्षस।

वि० रक्त पीनेवाला।

रक्तपक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] गरुड़।

रक्तपट-संज्ञा पुं० [सं०] लाल रंग के कपड़े पहननेवाला, श्रमण।

रक्तपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] पिंडालू।

रक्तपत्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लाल गदहपूरना। (२) नाकुली।

रक्तपदी-संज्ञा स्त्री० [सं०] लजालू। लज्जावंती।

रक्तपर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] लाल गदहपूरना।

रक्तपल्लव-संज्ञा पुं० [सं०] अशोक का वृक्ष।

रक्तपा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जोंक। (२) डाकिनी।

रक्तपाका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बृहती नाम की लता।

रक्तपात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लहू का गिरना या बहना।
रक्तस्राव। (२) ऐसा लड़ाई-झगड़ा जिसमें लोग जखमी
हों। खून-खराबी। (३) ऐसा प्रहार जिससे किसी का रक्त
बहे।

रक्तपाता-संज्ञा स्त्री० [सं०] जोंक।

रक्तपाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वरगद। (२) तोता।

रक्तपायी-वि० [सं० रक्तपायिन्] [स्त्री० रक्तपायिनी] रक्तपान
करनेवाला। खून पीनेवाला।

संज्ञा पुं० मत्कुण। खटमल।

रक्तपारद-संज्ञा पुं० [सं०] हिंगुल। शिंगरफ। ईंगुर।

रक्तपाषाण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल पत्थर। (२) गेरू।

रक्तपिंड-संज्ञा पुं० [सं०] जवा का फूल।

रक्तपिंडक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रतालू। (२) जवा। अड़हुल।

रक्तपिंडालु-संज्ञा पुं० [सं०] रतालू।

रक्तपित्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का रोग जिसमें सुँह, नाक, कान, गुदा, योनि आदि इंद्रियों से रक्त गिरता है। यह रोग धूप में अधिक रहने, बहुत व्यायाम करने, तीक्ष्ण पदार्थ खाने और बहुत अधिक मैथुन करने के कारण होता है। स्त्रियों को रजोधर्म ठीक न होने के कारण भी हो जाता है। यह रोग पित्त के कुपित होने से होता है। (२) नाक से लहू बहना। नकसीर।

रक्तपित्तहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] रतघ्नी नाम की दूब।

रक्तपित्ती-संज्ञा पुं० [सं० रक्तपित्ति] जिसे रक्त पित्त रोग हो।

रक्तपुच्छक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रेंगेनेवाला कीड़ा।

रक्तपुनर्नवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] लाल रंग की पुनर्नवा या गदह-पुनी। वैद्यक में इसे तित्त, सारक और रक्त-प्रदर, पाण्डु तथा पित्त आदि का नाशक माना है।

पर्याय—क्रूरा। मंडलपत्रिका। रक्तकांता। वर्षकेतु। लोहिता।

रक्तपत्रिका। वैशाखी। पुष्पिका। विषघ्नी। सारिणी।

वर्षाभव। भौम। पुनर्भव। नव। नव्य।

रक्तपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) करवीर। कनेर। (२) अनार का पेड़। (३) बंधूक का पेड़। गुलदुपहरिया (४) पुन्नाग।

रक्तपुष्पक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पलास का पेड़। (२) सेमल का पेड़। शात्मलि।

रक्तपुष्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शात्मली वृक्ष। सेमल। (२) पुनर्नवा। (३) सिंदूरी। (४) चंपा केला। (५) नागदौन।

रक्तपुष्पिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लाल पुनर्नवा। (२) लजालू। लाजवंती।

रक्तपुष्प-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जवा। अड़हुल। (२) नागदौन। (३) धौ। (४) आवर्त्तकी नाम की लता। (५) पाँड़र।

रक्तपूतिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] लाल रंग की पूतिका। लाल पोई। वैद्यक में यह स्निग्ध और मूत्रवर्धक मानी गई है। बच्चों के कई रोगों में और सूजाक में इसका साग गुणकारी माना गया है। शास्त्र में इसका साग खाने का निषेध है।

रक्तपूय-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक नरक का नाम।

रक्तपूरक-संज्ञा पुं० [सं०] इमली।

रक्तप्रतिश्याय-संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिश्याय या जुकाम का एक भेद जिसमें नाक से खून जाता है, आँखें लाल हो जाती हैं, छाती में पीड़ा होती है और सुँह तथा साँस से बहुत दुर्गंध आती है। बिगड़ा हुआ जुकाम।

रक्तप्रदर-संज्ञा पुं० [सं०] प्रदर रोग का वह भेद जिसमें स्त्रियों की योनि से रक्त बहता है। वि० दे० “प्रदर”।

रक्तप्रमेह-संज्ञा पुं० [सं०] पुरुषों का एक रोग जिसमें दुर्गंध युक्त गरम, खारा और खून के रंग का पेशाब होता है।

रक्तप्रवृत्ति-संज्ञा पुं० [सं०] वह रोग जो पित्त के प्रकोप से उत्पन्न हो।

रक्तप्रसव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल कनेर। (२) मुचकुंद वृक्ष।

रक्तफल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शात्मलि। सेमल। (२) वट का वृक्ष। वड़ का पेड़।

रक्तफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुँदरु। तुष्टी। विंबी। (२) स्वर्णवल्ली।

रक्तफूल-संज्ञा पुं० [सं० रक्त + हि० फूल] (१) जवा पुष्प। अड़हुल का फूल। (२) पलास का वृक्ष।

रक्तफेनज-संज्ञा पुं० [सं०] फुफ्फुस। फेफड़ा।

रक्तभव-संज्ञा पुं० [सं०] मांस। गोश्त।

रक्तमंजर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बेंत की लता। (२) नीम का पेड़।

रक्तमंजरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] लाल कनेर।

रक्तमंडल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का साँप। (२) लाल कमल। (३) एक प्रकार का जहरीला पशु।

रक्तमंडलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] लाल लजावन्ती या लजालू।

रक्तमत्त-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो रक्त पीकर तृप्त हो। जैसे—जोंक आदि।

रक्तमत्स्थ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की लाल रंग की मछली जो बहुत बड़ी नहीं होती। वैद्यक में इसका मांस शीतल, लचिकारक, पुष्टिकारक, अग्निदीपक और त्रिदोषनाशक माना गया है।

रक्तमस्तक-संज्ञा पुं० [सं०] लाल रंग के सिरवाला सारस पक्षी।

रक्तमातृका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वैद्यक के अनुसार वह रस नामक धातु जिसकी उत्पत्ति पेट में पचे हुए भोजन से होती है और जिससे रक्त बनता है। (२) तंत्र के अनुसार एक प्रकार का रोग।

रक्तमुख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोहू मछली। (२) यष्टिक धान्य।

रक्तमूर्द्धा-संज्ञा पुं० [सं० रक्तमूर्धन्] सारस।

रक्तमूलक-संज्ञा पुं० [सं०] देवसर्प नाम की सरसों का पेड़।

रक्तमूला-संज्ञा स्त्री० [सं०] लजालू। लजावन्ती।

रक्तमेह-संज्ञा पुं० दे० “रक्तप्रमेह”।

रक्तमोक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार, शरीर का खून खराब हो जाने पर उसे बाहर निकालने की क्रिया। फ़स्द।

रक्तमोचन-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर का खून निकालना। शीर। फ़स्द।

रक्तयष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] मजीठ।

रक्तरंगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेहंदी।

रक्तरज-संज्ञा पुं० [सं० रक्तरजम्] सिंदूर।

रक्तरस-संज्ञा पुं० [सं०] विजैसार। रक्तासन।

रक्तरसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] रास्ना।

रक्त राजि-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का कीड़ा जिसे सर्पिका भी कहते हैं।

रक्तरेणु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिंदूर। (२) पुष्पाग।

रक्तरेवतक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का खजूर का पेड़।

रक्त.रोग-संज्ञा पुं० [सं०] वह रोग जो रक्त के दूषित होने से होता है। जैसे,—कुष्ठ आदि।

रक्तला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) काकतुंडी। कौवाढोंदी। (२) गुंजा। करजनी। झुँबची। रत्ती।

रक्तलोचन-संज्ञा पुं० [सं०] कवूतर।

रक्तघटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मसूरिका या चेचक का रोग। शीतला।

रक्तवरटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] शीतला रोग। चेचक।

रक्तवर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] अनार, ठाक, लाख, हलदी, दारुहलदी, कुसुम के फूल, मजीठ और दुपहरिया के फूल, इन सब का समूह। (ये सब रँगने के काम में आते हैं।)

रक्तवर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बीरबहूदी नामक कीड़ा। (२) लहसुनिया नग। गोमेद। (३) मूँगा। (४) कपिलक। कमीला।

रक्तवर्षक-संज्ञा पुं० [सं०] लाल बटेर।

रक्तवर्मा-संज्ञा पुं० [सं० रक्तवर्त्मन्] मुरगा।

रक्तवर्द्धन-वि० [सं०] रक्त बढ़ानेवाला। रक्तवर्धक। संज्ञा पुं० [सं०] बैंगन।

रक्तवर्षाभू-संज्ञा स्त्री० [सं०] लाल पुनर्नवा।

रक्तवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मजीठ। (२) दंडोत्पल नाम का पौधा। (३) नलिका। पयारी। (४) एक प्रकार की लता जिसे पिप्पली कहते हैं।

रक्तवसन-संज्ञा पुं० [सं०] संन्यासी।

रक्तवात-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का वात रोग जिसे वातरक्त भी कहते हैं। वि० दे० “वातरक्त”।

रक्तवालुक-संज्ञा पुं० [सं०] सिंदूर।

रक्त बिंदु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रुधिर की बूँद। (२) रक्त अपा-मार्ग। लाल बिचड़ा। (३) रक्तों में दिखाई पड़नेवाला लाल दाग या धब्बा जो एक दोष माना जाता है। जैसे,—यदि हीरे में यह दोष हो, तो कहते हैं कि उसे पहननेवाले की स्त्री मर जाती है।

रक्तविद्रधि-संज्ञा पुं० [सं०] रक्त के प्रकोप से होनेवाला एक प्रकार का विद्रधि या फोड़ा जिसमें किसी अंग में सूजन होती है, और उसके चारों ओर काले रंग की फुंसियाँ हो जाती हैं।

रक्तबिस्फोटक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें शरीर में गुंजा के समान लाल लाल फफोले पड़ जाते हैं।

रक्तबीज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल बीजवाला दाढ़िम। अनार। बीदाना। (२) रीठा। (३) एक राक्षस का नाम जो शंभु

और निजुंभ का सेनापति था। देवी भागवत में लिखा है कि युद्ध के समय इसके शरीर से रक्त की जितनी बूँदें गिरती थीं, उतने ही नए राक्षस उत्पन्न हो जाते थे। इसलिये चंडिका ने इसका रक्त पीकर इसे मार डाला था। यह भी कहा गया है कि महिषासुर का पिता रंग दानव ही मर कर फिर रक्तबीज के रूप में उत्पन्न हुआ था।

रक्तबीजका-संज्ञा स्त्री० [सं०] तरदी नाम का एक कँटीला पेड़।

रक्तबीजा-संज्ञा पुं० [सं०] सिंदूरपुष्पी। सिंदूरिया।

रक्तवृंतक-संज्ञा पुं० [सं०] पुनर्नवा। गदहपूरना।

रक्तवृंता-संज्ञा स्त्री० [सं०] शैफालिका। निर्गुंडी।

रक्तवृष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] आकाश से रक्त या लाल रंग के पानी की वृष्टि होना। कहते हैं कि ऐसी वृष्टि होने से देश में युद्ध, महामारी आदि अनेक अनिष्ट होते हैं।

रक्तव्रण-संज्ञा पुं० [सं०] वह फोड़ा जिसमें से सवाद न निकलकर केवल रक्त ही बहता हो।

रक्तशमन-संज्ञा पुं० [सं०] कमीला।

रक्तशालि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का लाल रंग का चावल या शालि जिसे दाऊदखानी कहते हैं।

रक्तशालुक-संज्ञा पुं० [सं०] लाल कमल की जड़। भसींड।

रक्तशालमलि-संज्ञा पुं० [सं०] लाल फूलवाला सेमल।

रक्तशासन-संज्ञा पुं० [सं०] सिंदूर।

रक्तशिग्र-संज्ञा पुं० [सं०] लाल सहिजन।

रक्तशीर्षक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गंधा बिरोजा। (२) सारस।

रक्तशृंग-संज्ञा पुं० [सं०] हिमालय की एक चोटी का नाम।

रक्तशृंगिक-संज्ञा पुं० [सं०] विष। जहर।

रक्तशेखर-संज्ञा पुं० [सं०] पुष्पाग।

रक्तश्वेत-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का बहुत जहरीला बिच्छू।

रक्तघ्नीवि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बहुत ही घातक सन्निपात जिसमें मुँह से लहू जाता है, साँस और पेट फूलता है, जीभ में चकत्ते पड़ जाते हैं और उनमें से लहू निकलता है। यह रोग असाध्य माना जाता है।

रक्तसंकोच-संज्ञा पुं० [सं०] कुसुम का फूल।

रक्तसंज्ञक-संज्ञा पुं० [सं०] कुंकुम। केसर।

रक्तसंदेशिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] जोंक।

रक्तसंवरण-संज्ञा पुं० [सं०] सुरमा।

रक्तसर्प-संज्ञा पुं० [सं०] लाल सरसों।

रक्तसार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल चंदन। (२) पतंग। (३) अमलबेत। (४) खैर। (५) बाराहीकंद। (६) रक्तबीजासन।

रक्तस्त्वभन-संज्ञा पुं० [सं०] बहते हुए रक्त को रोकने की क्रिया।

रक्तस्त्राव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शरीर के किसी अंग से रक्त का बहना या निकलना। खून जाना या गिरना। (२) घोड़ों

का एक रोग जिसमें उनकी आँखों में से रक्त या लाल रंग का पानी बहता है।

रक्तहंसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की रागिनी। (संगीत)

रक्तहर-संज्ञा पुं० [सं०] भिलावाँ।

रक्तांक-संज्ञा पुं० [सं०] मूँगा।

रक्तांग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मंगल ग्रह। (२) कमीला। (३)

मूँगा। (४) खटमल। (५) केसर। (६) लाल चंदन।

रक्तांगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मजीठ। (२) जीवंती। (३) कुटकी।

रक्तांड-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों के अंडकोष में होनेवाला एक प्रकार का रोग।

रक्तांबर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) संन्यासी, जो गेरुआ वस्त्र पहनता है। (२) लाल रंग का कपड़ा, विशेषतः रेशमी कपड़ा।

रक्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पंचम स्वर की चार श्रुतियों में से दूसरी श्रुति का नाम। (संगीत) (२) गुंजा। (३) गुँघची। (४) लाख। (५) मजीठ। (६) ऊँट-कटारा। (७) एक प्रकार की सेम। (८) लक्षणा नामक कंद। (९) बच। (१०) एक प्रकार की मकड़ी। (१०) कान के पास की एक शिरा या नस का नाम।

रक्ताकार-संज्ञा पुं० [सं०] मूँगा।

रक्ताक्त-संज्ञा पुं० [सं०] लाल चंदन।

वि० (१) रक्त लगा हुआ। (२) लाल रंगा हुआ।

रक्ताक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चकोर। (२) सारस। (३) कबूतर। (४) भैंस। (५) साठ संवत्सरों में से अष्टावनवें संवत्सर का नाम।

रक्तातिसार-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अतिसार जिसमें लहू के दस्त आते हैं। इसमें रोगी को प्यास, दाह और सूँछा होती है और गुदा पकी हुई जान पड़ती है।

रक्ताधरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] किन्नरी।

रक्ताधार-संज्ञा पुं० [सं०] चमड़ा। त्वक्।

रक्ताधिमंथ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अधिमंथ रोग जो रक्त के विकार से होता है।

रक्तापह-संज्ञा पुं० [सं०] बोल नामक गंध द्रव्य।

रक्ताभ-संज्ञा पुं० [सं०] वीरवहूटी।

रक्ताभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] लाल जवा।

रक्ताभिर्ष्यद्-संज्ञा पुं० [सं०] भावप्रकाश के अनुसार आँखों का एक रोग जिसमें वे बहुत अधिक लाल हो जाती हैं, उनमें से लाल रंग का पानी निकलता है और आँखों के आगे लाल रेखाएँ दिखाई देती हैं।

रक्ताभ्र-संज्ञा पुं० [सं०] लाल अन्नक।

रक्ताभ्रान-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पौधा जिसमें लाल

रंग के फूल लगते हैं। वैद्यक में इसे कटु, उष्ण और वात, ज्वर, शूल, काश तथा श्वास आदि का नाशक माना है।

रक्तारि-संज्ञा पुं० [सं०] महाराष्ट्री नाम का क्षुप।

रक्तार्बुद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का रोग जिसमें शरीर में पकने और बहनेवाली गाँठें निकल आती हैं। इसमें शरीर का रंग पीला पड़ जाता है। (२) शुक्र-दोष के कारण उत्पन्न होनेवाला एक रोग जिसमें लिंग पर काले फोड़े और उनके साथ लाल फुन्सियाँ निकल आती हैं।

रक्तार्म-संज्ञा पुं० [सं० रक्तार्मन्] एक प्रकार का रोग जिसमें आँख की कौड़ी पर मांस इकट्ठा होकर लाल कमल के रंग का कोमल मंडल बन जाता है।

रक्तार्श-संज्ञा पुं० [सं० रक्तार्शस्] बवासीर रोग का वह भेद जिसमें उसके मसों में से खून भी निकलता है। खूनी बवासीर। वि० दे० “बवासीर”।

रक्तालता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मजीठ।

रक्तालु-संज्ञा पुं० [सं०] रतालु नामक कंद।

रक्तावरोधक-वि० [सं०] बहते हुए खून को रोकनेवाला।

रक्तावसेचन-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर का खून निकलवाना। फ़स्द।

रक्ताशय-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर के सात आशयों में से चौथा, जिसमें रक्त का रहना माना जाता है। वे कोठे जिनमें रक्त रहता है। जैसे,—फेफड़ा, हृदय, यकृत आदि।

रक्ताशोक-संज्ञा पुं० [सं०] लाल अशोक का वृक्ष।

रक्ताश्वारि-संज्ञा पुं० [सं०] लाल कनेर।

रक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अनुराग। प्रेम। (२) एक परिमाण जो आठ सरसों के बराबर होता है। रक्ती।

रक्तिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गुँघची। रक्ती (२) आठ सरसों के बराबर एक परिमाण। रक्ती।

रक्तिम-वि० [सं०] ललाई लिए। सुर्खी मायल।

रक्तिमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] ललाई। लाली। सुर्खी।

रक्तेक्षु-संज्ञा पुं० [सं०] लाल रंग का ऊख।

रक्तोत्पल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल कमल। (२) शास्मलि। सेमल।

रक्तोदर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोहू मछली। (२) सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का बहुत जहरीला विच्छू।

रक्तोपदंश-संज्ञा पुं० [सं०] लहू के विकार से उत्पन्न गरमी वा आतशक का रोग।

रक्तोपल-संज्ञा पुं० [सं०] गेरु नामक लाल मिट्टी।

रक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रक्षक। रखवाला। उ०—तोरत फूल रक्ष रह तहाँ।—सबल। (२) रक्षा। हिफाजत। रखवाली। (३) लाख। लाह। (४) छप्पय के साठवें भेद का नाम जिसमें ११ गुरु और १३० लघु मात्राएँ अथवा ११ गुरु और १२६ लघु मात्राएँ होती हैं।

संज्ञा पुं० [सं० रक्षन्] राक्षस । उ०—रक्ष यक्ष दानव देवन सों, अभय होहिं सब जागा ।—रघुराज ।

रक्षाक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रक्षा करनेवाला । बचानेवाला ।

हिफाजत करनेवाला । (२) पहरेदार । (३) पालन करनेवाला ।

रक्षाय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रक्षा करना । हिफाजत करना ।

रखवाली । (२) पालने की क्रिया । पालन-पोषण । (३)

रक्षक । रखवाला ।

रक्षायकर्त्ता-संज्ञा पुं० [सं० रक्षायकर्त्ता] रक्षा करनेवाला । रक्षक ।

रक्षायारक-संज्ञा पुं० [सं०] सूत्रकृच्छ्र रोग ।

रक्षायि-संज्ञा स्त्री० [सं०] श्रायमाण लता ।

रक्षणीय-वि० [सं०] जिसकी रक्षा करना उचित हो । रक्षा करने के योग्य ।

रक्षन-संज्ञा पुं० दे० “रक्षण” ।

रक्षना-संज्ञा पुं० [सं० रक्षन्] रक्षा करना । हिफाजत रखना । संभालना । बचाना ।

रक्षपाल-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो रक्षा करता हो । रक्षक ।

रक्षमाण-वि० दे० “रक्षमाण” ।

रक्षस-संज्ञा पुं० [सं० रक्षत्] असुर । दैत्य । निशाचर ।

रक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आपत्ति, कष्ट या नाश आदि से बचाना । अनिष्ट से बचाने की क्रिया । रक्षण । बचाव ।

यौ०—रक्षाबंधन ।

(२) वह यंत्र या सूत्र आदि जो प्रायः बालकों को भूत-प्रेत, रोग या नजर आदि से बचाने के लिये बाँधा जाता है ।

(३) गोद । (४) अस्म । राख ।

रक्षाइद-संज्ञा स्त्री० [हिं० रक्ष + आइद (प्रत्य०)] राक्षसपन ।

रक्षागृह-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ प्रसूता प्रसव करे । सूतिकागृह । जन्मस्थान ।

रक्षाधिकृत-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का किसी नगर का वह अधिकारी जिसका काम उस नगर की रक्षा तथा शासन करना होता था ।

रक्षापति-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का वह कर्मचारी जिसका काम नगर-निवासियों की रक्षा करना होता था ।

रक्षापत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भोजपत्र । (२) सफेद सरसों ।

रक्षापुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] पहरेदार । संतरी ।

रक्षापेक्षक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पहरेदार । संतरी । (२) अंतःपुर में पहरा देनेवाला संतरी । (३) अभिनय करनेवाला । नट ।

रक्षाप्रदीप-संज्ञा पुं० [सं०] तंत्र के अनुसार वह दीपक जो भूत-प्रेत आदि की बाधा से रक्षा करने के लिये जलाया जाता है ।

रक्षाबंधन-संज्ञा पुं० [सं०] हिंदुओं का एक त्यौहार जो श्रावण शुक्ल पूर्णिमा को होता है । इस दिन बहनें अपने भाइयों

के और ब्राह्मण अपने यजमानों के दाहिने हाथ की कलाई पर अनेक प्रकार के गंडे, जिन्हें राखी कहते हैं, बाँधते हैं । सलोनो ।

रक्षाभूषण-संज्ञा पुं० [सं०] वह भूषण या जंतर जिसमें किसी प्रकार का कवच आदि हो और जो भूत-प्रेत या रोग आदि से रक्षित रहने के लिये पहना जाय ।

रक्षामंगल-संज्ञा पुं० [सं०] वह अनुष्ठान या धार्मिक क्रिया आदि जो भूत-प्रेत आदि की बाधा से रक्षित रहने के लिये की जाय ।

रक्षामणि-संज्ञा पुं० [सं०] वह मणि या रत्न आदि जो किसी ग्रह के प्रकोप से रक्षित रहने के लिये पहना जाय ।

रक्षारत्न-संज्ञा पुं० दे० “रक्षामणि” ।

रक्षि, रक्षिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बचानेवाला । रक्षक । (२) पहरेदार । संतरी ।

रक्षिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] रक्षा । हिफाजत ।

रक्षित-वि० [सं०] (१) जिसकी रक्षा की गई हो । रक्षा किया हुआ । हिफाजत किया हुआ । जैसे,—मैं आपकी पुस्तक बहुत ही रक्षित रखूँगा । (२) प्रतिपालित । पाला पोसा । (३) रखा हुआ ।

रक्षिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रक्षा । हिफाजत । (२) एक अप्सरा का नाम ।

संज्ञा पुं० [सं० रक्षितृ] रक्षा करनेवाला ।

रक्षी-संज्ञा पुं० [सं० रक्ष् + ई (प्रत्य०)] राक्षसों के उपासक । राक्षस पूजनेवाले । उ०—भूती भूतन यक्षी यक्षन । प्रेती प्रेतन रक्षी रक्षन ।—गिरधर ।

संज्ञा पुं० [सं० रक्षिन्] (१) रक्षा करनेवाला । रक्षक । (२) पहरेदार । चौकीदार ।

रक्षोघ्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाँग । (२) भिलावें का पेड़ । (३) सफेद सरसों । (४) रखकर खड़ा किया हुआ चावल का पानी या माँड़ ।

रक्षोघ्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बचा । बच ।

रक्ष्य-वि० [सं०] रक्षा करने के योग्य । रक्षणीय ।

रक्ष्यमाण-वि० [सं०] (१) जिसकी रक्षा की जा सके । (२) जिसकी रक्षा की जा रही हो ।

रक्से ताऊस-संज्ञा पुं० [का०] (१) एक प्रकार का नाच, जिसमें पेशवाज़ के दो कोने दोनों हाथों से पकड़कर कमर तक उठा लिए जाते हैं, जिससे नाचनेवाले की आकृति मोर की सी बन जाती है । (२) एक प्रकार का नाच जिसमें घुटनों के बल होकर इतनी तेजी से घूमते हैं कि काछनी वा पेशवाज़ का घेरा फैलकर चकर खाने लगता है ।

रक्षाबंधन - (सुदश-चरित्र-२३)

रख, रखा-संज्ञा स्त्री० [हि० रखना] पशुओं के चरने के लिये बचाई हुई भूमि । चरी ।

रखटी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की ईख जिसके रस से गुड़ बनाया जाता है । लखड़ा ।

रखड़ा-संज्ञा पुं० दे० "रखटी" ।

रखना-क्रि० सं० [सं० रक्षण, प्रा० रक्खण] (१) किसी वस्तु पर या किसी वस्तु के अंदर दूसरी वस्तु स्थित करना । ठहराना । ठिकाना । धरना । जैसे,—टेबुल पर किताब रखना; थाली में मिठाई रखना; हाथ पर रुपए रखना; बरतन में अनाज रखना; दाँव पर रुपया रखना; गाड़ी पर असबाब रखना ।

संयो० क्रि०—देना । —लेना ।

(२) रक्षा करना । हिफाजत करना । बचाना । जैसे,—तुम आप तो अपनी चीज रखते नहीं; दूसरों को चोर बनाते हो । उ०—जाको राखे साइयाँ, मारि सकै नहिं कोय । बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय ।—कबीर ।

यौ०—रख-रखाव = रक्षा । हिफाजत ।

(३) निर्वाह या पालन करना । विगड़ने न देना । वृथा या नष्ट न होने देना । जैसे,—किसी की इज्जत रखना; किसी की बात रखना ।

संयो० क्रि०—लेना ।

(४) एकत्र करना । संग्रह करना । जोड़ना । संचित करना । जैसे,—कमा कमाकर रुपए रखना; ढूँढ ढूँढकर तसवीरें रखना ।

संयो० क्रि०—चलना । —जाना । —देना । —लेना ।

(५) सपुर्द करना । सौंपना । (६) रेहन करना । बंधक में देना । जैसे,—घर के जेवर रखकर उन्हें कर्ज दिया था । (७) अपने अधिकार में लेना । अपने हाथ में करना । जैसे,—अभी यह रुपया हम रखते हैं । जब तुम्हें जरूरत हो, तब ले लेना ।

संयो० क्रि०—लेना ।

मुहा०—रख लेना = किसी की चीज उसे वापस न देना । दवा लेना । जैसे,—आपने मेरे लिये जो चीजें उनके पास भेजी थीं, वे सब उन्होंने रख लीं ।

(८) पालन-पोषण, मनोविनोद या व्यवहार आदि के लिये अपने अधिकार में करना । अपनी अधीनता में लेना । जैसे,—गौ रखना; घोड़ा रखना; रंडी रखना; पहलवान रखना । (९) नियुक्त करना । तैनात करना । मुकर्रर करना । जैसे,—आपके काम के लिये मैंने अपने चार आदमी वहाँ रख दिए हैं । (१०) सकुशल जाने न देना । पकड़ या रोक लेना । जैसे,—दो डाकुओं को तो गाँववालों ने रखा । (११) आघात करना । चोट पहुँचाना । जड़ना ।

जैसे,—मुक्का रखना; थप्पड़ रखना । (१२) स्थगित करना । मुलतवी करना । दूसरे समय के लिये टालना । जैसे,—यह बात चीत कल पर रखो । (१३) उपस्थित न करना । सामने न लाना । जैसे,—यह सब झगड़ा अलग रखो । (१४) व्यवहार करना । धारण करना । जैसे,—आप सदा बढ़िया छड़ी रखते हैं । (१५) किसी पर आरोप करना । जिम्मे लगाना । मढ़ना । जैसे,—तुम सदा सब कसूर मुझ पर ही रखते हो ।

मुहा०—हाथ रखना = ऐसी बात कहना जिससे कोई दबे, चिढ़े या एहसान माने । (किसी पर) रख कर कहना = किसी को सुनाने या चिढ़ाने के उद्देश्य से किसी दूसरे पर आरोपित करके कोई बात कहना । लक्ष्य बनाकर कहना ।

(१६) ऋणी होना । कर्जदार होना । जैसे,—(क) हम क्या जनका कुछ रखते हैं, जो उनसे दबें ! (ख) वे कभी किसी का एक पैसा नहीं रखते । (१७) मन में अनुभव या धारण करना । जैसे,—आशा रखना; विश्वास रखना । (१८) निवास कराना । डेरा कराना । ठहराना । जैसे,—हमने उन लोगों को धर्मशाला में रख दिया है । (१९) स्त्री (या पुरुष) से संबंध करना । उपपत्नी (या उपपति) बनाना । जैसे,—उसने एक औरत रख ली है । (२०) संभोग करना । प्रसंग करना । (बाजारू) (२१) गर्भ धारण कराना । जैसे,—पेट रखना । (२२) पक्षियों आदि का अंडे देना । जैसे,—आपकी मुर्गी साल में कितने अंडे रखती है ? (२३) अपने पास पड़ा रहने देना । बचाना । जैसे,—खा पीकर महीने में क्या रखते हो ?

संयो० क्रि०—छोड़ना ।

मुहा०—रखकर कहना = किसी बात का कुछ अंश बचाकर या छिपाकर रोप अंश कहना ।

विशेष—संयुक्त क्रिया के रूप में इस शब्द का व्यवहार जिस क्रिया के आगे होता है, उससे सूचित होता है कि वह क्रिया किसी दूसरी क्रिया के पहले पूर्ण हो गई है या हो जानी चाहिए । जैसे,—मैंने उससे पहले ही कह रखा था कि तुम्हारे आने पर रुपया दे दे । मुहावरे के रूप में भी यह क्रिया दूसरी क्रियाओं के साथ लगती है ।

रखनी-संज्ञा स्त्री० [हि० रखना + ई (प्रत्य०)] वह स्त्री जिससे विवाह-संबंध न हुआ हो और जो योंही घर में रख ली गई हो । रखी हुई स्त्री । उपपत्नी । रखेली । सुरैतिन ।

क्रि० प्र०—रखना ।

रखला-संज्ञा पुं० दे० "रहकला" ।

रखवाई-संज्ञा स्त्री० [हि० रखना, या रखाना] (१) खेतों की रखवाली । चौकीदारी । (२) रखवाली की मजदूरी । चौकीदारी की मजदूरी । (३) चौकीदारी का टिकस । (४)

रखवाली करने की क्रिया या भाव । (५) रखने की क्रिया या ढंग । (६) रखने की मजदूरी ।

रखवाना-क्रि० सं० [हि० रखना का प्रेर०] (१) रखने की क्रिया दूसरे से कराना । दूसरे को रखने में प्रवृत्त करना । (२) दे० “रखाना” ।

रखवार-संज्ञा पुं० [हि० रखना + वार (प्रत्य०)] (१) रक्षा करनेवाला । रखवाला । (२) चौकीदार । पहरेदार ।

रखवारी-संज्ञा स्त्री० दे० “रखवाली” ।

रखवाला-संज्ञा पुं० [हि० रखना + वाला (प्रत्य०)] (१) रक्षा करनेवाला । रक्षक । (२) चौकीदार । पहरेदार ।

रखवाली-संज्ञा स्त्री० [हि० रखना + वाली (प्रत्य०)] (१) रक्षा करने की क्रिया । हिफाजत । (२) रक्षा करने का भाव ।

रखशी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का मद्य जिसे नैपाली आदि पहाड़ी पीते हैं ।

रखाई-संज्ञा स्त्री० [हि० रखना + आई (प्रत्य०)] (१) रक्षा करने की क्रिया । हिफाजत । रखवाली । (२) रक्षा करने का भाव । (३) वह धन जो रक्षा करने के बदले में दिया जाय ।

रखाना-संज्ञा स्त्री० [हि० रखना] चराई की भूमि । चरी ।

रखाना-क्रि० सं० [हि० रखना का प्रेर०] रखने की क्रिया दूसरे से कराना । दूसरे को रखने में प्रवृत्त करना । क्रि० अ० रखवाली करना । रक्षा करना । नष्ट होने से बचाना ।

रखार-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पाटा जिसका व्यवहार बंबई प्रांत में जुता हुआ खेत बराबर करने के लिये होता है ।

रखिया-संज्ञा पुं० [हि० रखना + रिया (प्रत्य०)] (१) रक्षक । (२) रखनेवाला । उ०—रीशै रिखवारि इंदुवदनी उदार सुर रुख की सी डार डोलै रंग रखियन मैं ।—देव । संज्ञा पुं० [हि० राखी = रक्षा] गाँव के समीप का वह पेड़ जो पूजनार्थ रक्षित रहता है ।

रखियाना-क्रि० सं० [हि० राखी + राना (प्रत्य०)] (१) राख से बरतनों आदि को माँजना । (२) पकाए हुए खैर (कथे) को कपड़े में लपेटकर राख के अंदर इस अभिप्राय से रखना कि उसका पानी सूख जाय और कसाव निकल जाय । (तैबोली)

रखी-संज्ञा पुं० [सं० ऋषि] ऋषि । मुनि । (हिं०)

रखीराज-संज्ञा पुं० [सं० ऋषिराज] नारद ऋषि । (हिं०)

रखेड़िया-संज्ञा पुं० [हि० राख + एड़िया (प्रत्य०)] वह जो शरीर में केवल राख पोतकर साधु बना फिरे । ढोंगी साधु ।

रखेली-संज्ञा स्त्री० [हि० रखना + एली (प्रत्य०)] बिना विवाह किए ही घर में रखी हुई स्त्री । रखनी । सुरेतिन । उपपत्नी ।

रखैया-संज्ञा पुं० [हि० रखना + ऐया (प्रत्य०)] (१) रखनेवाला । (२) रक्षा करनेवाला ।

रखौंडी-संज्ञा स्त्री० [हि० राखी = रक्षा] रक्षासूत्र । राखी । वि० दे० “राखी” ।

रखौत, रखौना-संज्ञा पुं० [हि० रखना] पशुओं के चरने के लिये छोड़ी हुई जमीन । चरी ।

रखौनी-संज्ञा स्त्री० दे० “राखी” ।

रगंड-संज्ञा पुं० [हिं०] हाथी का कपोल ।

रग-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) शरीर में की नस या नाड़ी । उ०—जीये रुह रुहन्न में, जीये रुह रगन्न । जीये जो रउ सूरमाँ, ठंड चंद्र बसन्न ।—दादू ।

मुहा०—रग उतरना = (१) क्रोध उतरना । (२) हठ दूर होना ।

(३) आँत उतरना । रग खड़ी होना = शरीर की किसी रग का फूल जाना । रग चढ़ना = (१) क्रोध आना । गुस्सा आना । (२)

हठ के वश होना । रग दबना = दबाव मानना । किसी के प्रभाव या अधिकार में होना । जैसे,—तुम्हारी रग उन्हीं से दबती है ।

रग फड़कना = किसी आनेवाली आपत्ति की पहले से ही आशंका होना । माथा ठनकना । रग रग फड़कना = शरीर में बहुत अधिक उत्साह या आवेश के लक्षण प्रकट होना । रग रग में = सारे शरीर में । जैसे,—पाजीपन तो तुम्हारी रग रग में भरा है ।

यौ०—रग-पट्टा । रग-रेखा ।

(२) पत्तों में दिखाई पड़नेवाली नसें ।

रगड़-संज्ञा स्त्री० [हि० रगड़ना] (१) रगड़ने की क्रिया या भाव । वर्षण । (२) वह हल्का चिह्न जो साधारण वर्षण से उत्पन्न हो जाय ।

क्रि० प्र०—खाना ।—लगना ।

(३) कहारों की परिभाषा में, धक्का । (४) हुजत । झगड़ा । तकरार । (५) भारी श्रम । गहरी मेहनत ।

मुहा०—रगड़ पड़ना = अधिक परिश्रम उठाना पड़ना । जैसे,—उसे बहुत रगड़ पड़ी; इससे थक गया ।

रगड़ना-क्रि० सं० [सं० वर्षण या अनु०] (१) किसी पदार्थ को दूसरे पदार्थ पर रखकर दबाते हुए बार बार इधर उधर चलाना । वर्षण करना । घिसना । जैसे,—चंदन रगड़ना ।

विशेष—यह क्रिया प्रायः किसी पदार्थ का कुछ अंश घिसने, उसे पीसने अथवा उसका तल बराबर करने के लिये होती है ।

(२) पीसना । जैसे,—मसाला रगड़ना; भाँग रगड़ना ।

(३) अभ्यास आदि के लिये बार बार कोई काम करना ।

(४) किसी काम को जल्दी जल्दी और बहुत परिश्रमपूर्वक करना । जैसे—इस काम को तो हम चार दिन में रगड़ डालेंगे । (५) तंग करना । विक करना । परेशान करना ।

(६) स्त्री के साथ संभोग करना । प्रसंग करना । (बाजारू)

संयो० क्रि०—डालना। देना।

क्रि० अ० बहुत मेहनत करना। अत्यंत श्रम करना।
जैसे,—अभी यहीं पड़े रगड़ रहे हैं।

रगड़वाना—क्रि० स० [हि० रगड़ना का प्रेर० रूप] रगड़ने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को रगड़ने में प्रवृत्त करना।

रगड़ा—संज्ञा पुं० [हि० रगड़ना] (१) रगड़ने की क्रिया या भाव। वर्षण। रगड़। (२) निरंतर अथवा अत्यंत परिश्रम। बहुत अधिक उद्योग। (३) वह झगड़ा जो बराबर होता रहे और जिसका जल्दी अंत ना हो। जैसे,—यह झगड़ा नहीं, रगड़ा है।

यौ०—रगड़ा झगड़ा = लड़ाई झगड़ा। वखड़ा।

रगड़ान—संज्ञा स्त्री० [हि० रगड़ना + आन (प्रत्य०)] रगड़ने की क्रिया या भाव। रगड़ा।

मुहा०—रगड़ान देना = रगड़ना। बिसना।

रगड़ी—वि० [हि० रगड़ा + ई (प्रत्य०)] रगड़ा करनेवाला। लड़ाई, झगड़ा करनेवाला। झगड़ालू। जैसे,—मोरी एक न माने, कान्हा बड़ो रगड़ी। (गीत)

रगण—संज्ञा पुं० [सं०] छंदःशास्त्र में एक गण या तीन वर्णों का समूह जिसका पहला वर्ण गुरु, दूसरा लघु और तीसरा फिर गुरु होता है (G S)। यह साधारणतः “र” से सूचित किया जाता है। इसके देवता अग्नि माने गए हैं।
जैसे,—कामना। मामला। राम को।

रगत—संज्ञा पुं० [सं० रक्त] रक्त। लहिर। लहू। (हि०)

रगदना—क्रि० स० दे० “रगेदना”।

रगदल—वि० [हि०] कुबड़ा।

रग पट्टा—संज्ञा पुं० [फ्रा० रग + हि० पट्टा] (१) शरीर के भीतरी भिन्न भिन्न अंग।

मुहा०—रग पट्टे से परिचित या वाकफ होना = स्वभाव और व्यवहार आदि से परिचित होना। अच्छी तरह जानना। खूब पहचानना।

(२) किसी विषय की भीतरी और सूक्ष्म बातें।

रगवत—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) चाह। इच्छा। (२) प्रवृत्ति। रुचि।

रगर—संज्ञा स्त्री० दे० “रगड़”।

रगरा—संज्ञा पुं० दे० “रगड़ा”।

रग रेशा—संज्ञा पुं० [फ्रा० रग + रेशा] (१) पत्तियों की नसें।

(२) शरीर के अंदर का प्रत्येक अंग।

मुहा०—रग रेशे में = सारे शरीर में। अंग अंग में। रग रेशे से परिचित या वाकफ होना = स्वभाव और व्यवहार आदि से परिचित होना। अच्छी तरह जानना। खूब पहचानना।

(३) किसी विषय की भीतरी और सूक्ष्म बातें।

रगवाना—क्रि० स० [हि० रगाना का प्रेर० रूप] चुप कराना।

शांत कराना। उ०—कुँवर कहीं रोदन अति करहीं नहीं रगा रगवावै।—रघुराज।

रगाना—संज्ञा पुं० [देश०] मोर।

रगाना—क्रि० अ० [देश०] चुप होना। शांत होना।

क्रि० स० चुप कराना। शांत करना।

रगी—संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) एक प्रकार का मोटा अन्न जो मैसूर में होता है। (२) दे० “रगी”।

संज्ञा पुं० दे० “रगीला”।

रगीला—संज्ञा पुं० [हि० रग = जिद + ईला (प्रत्य०)] [स्त्री० रगीली] (१) हठी। जिद्दी। दुराग्रही। (२) पाजी। दुष्ट।

रगेद—संज्ञा स्त्री० [हि० रगेदना] (१) दौड़ाने या भगाने की क्रिया। (२) पक्षियों आदि की संभोग की प्रवृत्ति या अवसर। जोड़ा खाने का मौका।

रगेदना—क्रि० स० [सं० खेट, हि० खेदना] भगाना। खदेड़ना। निलाकना। दौड़ाना।

संयो० क्रि०—देना।

रग्गा—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का मोठा अन्न जो दक्षिण के पहाड़ों में होता है। रगी।

† संज्ञा स्त्री० अधिक वर्षा के उपरांत होनेवाली धूप, जो खेती के लिये लाभदायक होती है।

रघु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्यवंशी राजा दिलीप के पुत्र का नाम जो उनकी पत्नी सुदक्षिणा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। ये अयोध्या के बहुत प्रतापी राजा और श्री रामचंद्र के परदादा थे। जब ये छोटे थे, तभी इनके पिता ने अश्वमेध यज्ञ किया था और यज्ञ के घोड़े की रक्षा का भार इन्हें सौंपा था। जब उस घोड़े को इंद्र ने पकड़ा, तब इन्होंने इंद्र को युद्ध में पराजित करके वह घोड़ा छुड़ाया था। सिंहासन पर बैठने के उपरांत इन्होंने विश्वजित् नामक यज्ञ किया था, जिसमें अपना सर्वस्व ब्राह्मणों को दे डाला था। महाराज अज इन्हीं के पुत्र थे। प्रसिद्ध रघुवंश के मूल पुरुष यही थे। (२) रघु के वंश में उत्पन्न कोई व्यक्ति।

रघुकुल—संज्ञा पुं० [सं०] राजा रघु का वंश।

विशेष—इस शब्द में चंद्र, मणि, नाथ, पति, वर, वीर आदि और उनके वाचक शब्द लगने से श्री रामचंद्र का बोध होता है। जैसे,—रघुकुलचंद्र, रघुकुलमणि, रघुनाथ, रघुपति, रघुवर, रघुवीर इत्यादि।

रघुनंद—संज्ञा पुं० [सं०] श्रीरामचंद्र।

रघुनंदन—संज्ञा पुं० [सं०] श्रीरामचंद्र।

रघुनाथ—संज्ञा पुं० [सं०] श्रीरामचंद्र।

रघुनायक—संज्ञा पुं० [सं०] रघुकुलस्वामी, श्रीरामचंद्र।

रघुपति—संज्ञा पुं० [सं०] रघुवंश के स्वामी, श्रीरामचंद्र।

रघुराज—संज्ञा पुं० [सं० रघुराज] श्रीरामचंद्र।

रघुराज-संज्ञा पुं० [सं०] रघुकुल के राजा, श्रीरामचंद्र ।

रघुराय-संज्ञा पुं० [सं० रघुराज] रघुवंश के राजा, श्रीरामचंद्र ।

रघुरैया-संज्ञा पुं० दे० "रघुराय" ।

रघुवंश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महाराज रघु का वंश या खानदान जिसमें रामचंद्र जी उत्पन्न हुए थे । उ०—तेहि अवसर भंजन महि भारा । हरि रघुवंश लीन्ह अवतारा ।—तुलसी । (२) महाकवि कालिदास का रचा हुआ एक प्रसिद्ध महाकाव्य जिसमें महाराज दिलीप के समय से लेकर अश्विंश तक का विवरण दिया हुआ है ।

रघुवंशकुमार-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीरामचंद्र ।

रघुवंशी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो रघु के वंश में उत्पन्न हुआ हो । (२) क्षत्रियों के अंतर्गत एक जाति । इस जाति के लोग महाराज रघु और रामचंद्र के वंश में उत्पन्न माने जाते हैं ।

रघुवर-संज्ञा पुं० [सं०] रघुकुल-श्रेष्ठ, श्रीरामचंद्र ।

रघुवीर-संज्ञा पुं० [सं०] रघुकुल में वीर श्रीरामचंद्र जी ।

रघुत्तम-संज्ञा पुं० [सं०] रघुकुल में श्रेष्ठ वा उत्तम, श्रीरामचंद्र ।

रघुद्वह-संज्ञा पुं० [सं०] रघुवंशियों में श्रेष्ठ, श्रीरामचंद्र ।

रघ्वती-संज्ञा पुं० [डि०] संतोष । सख ।

रचक-संज्ञा पुं० [सं०] रचना करनेवाला । रचयिता । उ०—पालक संहारक रचक भक्षक रक्ष अपार । सब ही सबको होत है को जानै कै बार ।—केशव । वि० दे० "रचक" ।

रचना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रचने या बनाने की क्रिया या भाव । बनावट । निर्माण । उ०—(क) गढ़-रचना बरुनी अलक चितवन भौह कमान ।—बिहारी । (ख) चलो, रंगभूमि की रचना देख आवें ।—लल्लूलाल । (२) बनाने का ढंग या कौशल । (३) बनाई हुई वस्तु । रची हुई चीज । सृजित पदार्थ । निमित्त वस्तु । उ०—(क) अव्युत्त रचना विधि रची या में नहीं विवाद । बिना जीभ के लेत दृग रूप सलोनो स्वाद ।—रसनिधि । (ख) तब श्रीकृष्ण-चंद्र जी ने सब को मोहित कर जो वैकुण्ठ की रचना रची थी, सो उठा ली ।—लल्लूलाल । (४) फूलों से माला या गुच्छे आदि बनाना । (५) बाल गूँथना । केश-विन्यास । (६) स्थापित करना । (७) उद्यम । कार्य । (८) वह गद्य या पद्य जिसमें कोई विशेष चमत्कार हो । उ०—वचननि की रचनानि सों जो साथै निज काज ।—पद्माकर । (९) पुराणानुसार विश्वकर्मा की स्त्री का नाम ।

क्रि० सं० [सं० रचन] (१) हाथों से बनाकर तैयार करना । बनाना । सिरजना । निर्माण करना । उ०—(क) तपबल रचइ प्रपंच बिधाता । तप बल विष्णु सकल जग त्राता ।—तुलसी । (ख) इहाँ हिमाचल रचेउ बिताना । भति विचित्र नहि जाइ बखाना ।—तुलसी । (२) विधान

करना । निश्चित करना । उ०—अस विचारि सोचइ मति माता । सो न टरै जो रचइ बिधाता ।—तुलसी । (३) ग्रंथ आदि लिखना । उ०—गुनी और रिशवार थे दोउ प्रसिद्ध है जात । एक ग्रंथ के रचन सों दोगुन जस सरसात । (४) उत्पन्न करना । पैदा करना । (५) अनुष्ठान करना । ठानना । उ०—(क) रति विपरीति रची दंपति गुपुत अति मेरे जान भनि भय मनमथ नेजे तैं ।—पद्माकर । (ख) तब एक-विंशति बार मैं बिन क्षत्र की पृथ्वी रुची ।—केशव । (ग) सखि पान खवावत ही केहि कारण कोप पिया पर नारि रच्यौ ।—केशव । (६) आडंबर खड़ा करना । युक्ति या तद्वीर लगाना । आयोजन करना । जैसे,—आडंबर रचना; उपाय रचना; जाल रचना । उ०—(क) रचि प्रपंच भूषहि अपनाई । राम तिलक हित लगन धराई ।—तुलसी । (ख) रचि पचि कोटिक कुटिल पन कीन्हैसि कपट प्रबोध ।—तुलसी । (७) कल्पनिक सृष्टि करना । कल्पना करना । उ०—कबहुँ धेनु रचि पसरु चरावैं । कबहुँ भूष बनि नीति सिखावैं ।—रघुनाथ । (८) श्रृंगार करना । सँवारना । सजाना । कारीगरी करना । उ०—भूषण बसन आदि सब रचि रचि माता लाड़ लड़ावै ।—सूर । (९) तरतीब या क्रम से रखना । उ०—चहुँवा बेदी के विधिवत रची हैं अगिनि ये । बिछीं दर्भा नेरे अरु प्रजुल सोहैं समदि लै ।—लक्ष्मणसिंह ।

❖—**मुहा०**—रचि रचि = बहुत होशियारी और कारीगरी के साथ (कोई काम करना) । बहुत कौशलपूर्वक ।

क्रि० सं० [सं० रंजन] रँगना । रंजित करना । उ०—(क) मार्ग को झरोखे तक लाख के रंग से रच दिया ।—लक्ष्मण-सिंह । (ख) रोचन रोरी रची मेहँदी नृप संभु कहैं सुकता सम पोत है ।—शंभु ।

क्रि० अ० [सं० रंजन] (१) अनुरक्त होना । उ०—(क) पर नारि से रचे हैं पिय ।—पद्माकर । (ख) जो अपने पिय रूप रची कवि राम तिन्हें रचि की छवि थोरी ।—हृदयराम । (ग) मोहि तोहि मेहँदी कहुँ कैसे बनै बनाइ । जिन चरनन सों मैं रची तहाँ रची तू जाइ ।—रसनिधि । (घ) चित्त न चित फीको भयो रची तु पिय के रंग ।—सूर । (२) रंग चढ़ना । रंगा जाना । रंजित होना । जैसे,—(क) तुम्हारे मुँह में पान खूब रचता है । (ख) उसके हाथ में मेहँदी खूब रचती है । उ०—(क) गान सरस अलि करत परस मद मोद रंग रचि ।—गुमान । (ख) जावकरचित अँगुरियन मृदुल सुठारी हो ।—तुलसी ।

रचयिता-संज्ञा पुं० [सं० रचयितृ] रचनेवाला । बनानेवाला । जैसे,—आप ही इस ग्रंथ के रचयिता हैं ।

रचवाना-क्रि० सं० [हि० रचना का प्रेर० रूप] (१) रचना के काम में दूसरे को प्रवृत्त करना। रचना कराना। तैयार कराना। बनवाना। (२) मेहँदी या महावर लगवाना।

रचाना†-क्रि० सं० [सं० रचन] (१) आयोजन करना। अनुष्ठान करना या कराना। बनाना। जैसे,—व्याह रचाना। उ०—इत पांडव मिलि यज्ञ रचायो।—ललूलाल। (२) दे० “रचवाना”।

क्रि० अ० [सं० रंजन] मेहँदी, महावर आदि से हाथ पैर रँगाना।

रचित-वि० [सं०] बनाया हुआ। रचा हुआ।

रची†-वि० [हि० रंच] थोड़ा। अल्प।

रच्छु†-संज्ञा पुं० दे० “रक्ष”।

रच्छुक†-संज्ञा पुं० दे० “रक्षक”।

रच्छुन†-संज्ञा पुं० दे० “रक्षण”।

रच्छुस†-संज्ञा पुं० दे० “राक्षस”।

रच्छा†-संज्ञा स्त्री० दे० “रक्षा”।

रज-संज्ञा पुं० [सं० रजस्] (१) वह रक्त जो स्त्रियों और स्तनपायी जाति के मादा प्राणियों के योनि-मार्ग से प्रति मास निकलता है और प्रायः तीन या चार दिनों तक बराबर निकलता रहता है। आर्त्तव। कुसुम। ऋतु।

विशेष—रज युवावस्था का सूचक होता है और गरम देशों में स्त्रियों के बारहवें या तेरहवें वर्ष तथा ठंढे देशों में सोहलवें या अठारहवें वर्ष निकलने लगता है और प्रायः पचास या पचपन वर्ष की अवस्था तक निकलता रहता है। जब स्त्री गर्भ धारण कर लेती है, तब यह रज निकलना बंद हो जाता है; और प्रसव के उपरांत फिर निकलने लगता है। हमारे ग्रहों शास्त्रों में कहा है कि जब तक स्त्री रजस्वला न होने लगे, तब तक उसे कोई धार्मिक कृत्य करने का अधिकार नहीं होता; और जिन दिनों स्त्री को रजस्त्राव होता हो, उन दिनों वह अपवित्र या अशुचि समझी जाती है। रजस्त्राव हो चुकने पर जब स्त्री स्नान करती है, तब वह गर्भधारण के लिये विशेष उपयुक्त हो जाती है।

(२) सांख्य के अनुसार प्रकृति के तीन गुणों में से दूसरा गुण, जो चंचल, प्रवृत्त करनेवाला, दुःखजनक और काम, क्रोध, लोभ आदि को उत्पन्न करनेवाला माना गया है। सत्त्व तथा तम दोनों गुणों को यही संचालित करता है और इसी के द्वारा मनुष्य में सब प्रकार की उत्तेजना या प्रेरणा उत्पन्न होती है। वि० दे० “गुण”। (३) आकाश। (४) पाप। (५) जल। पानी। उ०—रज राजस आकाश रज रज युवती में धोय। रज धूली रज पाप कहि रज जल

निर्मल धोय।—नंददास। (६) प्राचीन समय का एक प्रकार का बाजा, जिस पर चमड़ा मड़ा जाता था। (७) जोता हुआ खेत। (८) बादल। (९) भाप। (१०) फूलों का पराग। उ०—हेमकमल रज मिलि पियराये।—लक्ष्मण-सिंह। (११) आठ परमाणुओं का एक मान या तौल। (१२) भुवन। लोक। (१३) पुराणानुसार एक ऋषि का नाम जो वशिष्ठ के पुत्र माने जाते हैं। (१४) खेत-पापड़ा। (१५) स्कंद की एक सेना का नाम।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) धूल। गर्द। उ०—(क) गगन चढ़ै रज पवन प्रसंगा।—तुलसी। (ख) अति शुभ बीथी रज परिहरे।—केशव। (ग) रज राजस न छुवाइये नेह चीकने चित्त।—बिहारी। (२) रात। (३) ज्योति। प्रकाश।

संज्ञा पुं० [सं० रजत] चाँदी। उ०—(क) पुनि ताम्र के हैं कोटि घर श्रुति कोटि रज के स्वच्छ हैं। तहँ पाँच कोटि पखान के गृह दार के नव लच्छ हैं।—विश्राम। (ख) भाजन मणि हाटक रज केरे। अति विचित्र बहु भौंति घनेरे।—विश्राम। संज्ञा पुं० [सं० रजक] रजक। धोबी। उ०—(क) शिवनिंदक मतिमंद प्रजा रज निज नय नगर बसाई।—तुलसी। (ख) मारग में एक रज संहान्यो सबहि बसन हरि लीन्हें।—सूर। **रजक**-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० रजकी] कपड़ा धोनेवाला। धोबी। **रजगीर**-संज्ञा पुं० [देश०] फफरा। कूट। कोटू। वि० दे० “कूट”।

रजगुण-संज्ञा पुं० [सं० रजोगुण] प्रकृति का वह गुण जिससे काम वा भोग विलास की इच्छा पैदा होती है। रजोगुण। वि० दे० “रज”। उ०—बखतर बिसाल आयस रचित उपमा नहिं कहि जात है। रन हित लपेटि तम गुनहि तनु मनु रजगुन सरसात है।—गोपाल।

रजतंत-संज्ञा स्त्री० [सं० राजतत्त्व] शूरता। वीरता। उ०—शिव सरजा सों जंग जुरि चंदावत रजवंत। राव अमर गो अमर-पुर समर रही रजतंत।—भूषण।

रजत-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चाँदी। रूपा। उ०—रजत सीप महीं भास जिमि जथा भावु कर बारि।—तुलसी। (२) सोना। (३) हाथीदाँत। (४) हार। (५) रक्त। लहू। (६) पुराणानुसार शाक द्वीप के अस्ताचल पर्वत का नाम। वि० (१) सफेद। शुक्ल। (२) लाल। सुखं।

रजतकूट-संज्ञा पुं० [सं०] मलय पर्वत की एक चोटी का नाम।

रजतद्युति-संज्ञा पुं० [सं०] हनुमान।

रजतनाभ-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक यक्ष का नाम।

रजतनाभि-संज्ञा पुं० [सं०] कुबेर के एक वंशधर का नाम।

रजतप्रस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] कैलास पर्वत।

रजतवाह-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

रजतार्द्र †-संज्ञा स्त्री० [हि० रजत + आर्द्र (प्रस्थ०)] सफेदी।

इवेतता । उ०—तेज सों ताके ललाई भई रज में मिली
आसु सवै रजताई ।—गिरधर ।

रजताचल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चाँदी का बनाया हुआ वह
कृत्रिम पर्वत, जिसका दान करना पुराणानुसार बहुत पुण्य
का कार्य समझा जाता है । यह नवीं महादान है । (२)
कैलास पर्वत ।

रजताद्रि-संज्ञा पुं० [सं०] कैलास पर्वत ।

रजतोषम-संज्ञा पुं० [सं०] रूपामाषी ।

रजधानी स्त्री० संज्ञा स्त्री० दे० “राजधानी” ।

रजन-संज्ञा स्त्री० [अ० रंजिन] एक प्रकार का गोंद । राल । वि०
दे० “राल” ।

रजना *—क्रि० प्र० [सं० रंजन] रंगा जाना । रंग में डुबाया
जाना । उ०—(क) प्रेम भरी पुर भूप-सुता गुण रूप रजी
रजपूतिनि राजै ।—देव । (ख) मानत नहीं लोक मरजादा
हरि के रंग मजी । सुर श्याम को मिलि चूनी हरदी ज्यों
रंग रजी ।—सूर । (ग) केतिकौ कोऊ बकै रघुनाथ में
साँवरे के रंग रीझि रजौगी । गेह तजौगी संदेह तजौगी पै
देह तजौगी न नेह तजौगी ।—रघुनाथ ।

क्रि० स० रंग में डुबाना । रँगना ।

संज्ञा स्त्री० [सं० रंजन] संगीत की एक मूर्च्छना जिसका
स्वर ग्राम इस प्रकार है—नि, स, रे, ग, म, प, ध । नि,
स, रे, ग, म, प, ध, नि । स, रे, ग, म, प, ध, नि ।

रजनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रात । रात्रि । निशा । (२) हल्दी ।
उ०—(क) मंगल ही जु करी रजनी विधि याही ते मंगली
नाम धन्यो है ।—केशव । (ख) है रजनी-रज में रुचि केती,
कहा रुचि रोचक रंक रसाल में ।—द्विजदेव । (३) जतुका
लता । पहाड़ी । (४) नीली । नील । (५) दाह हल्दी । (६)
पुराणानुसार शास्मली द्वीप की एक नदी का नाम । (७)
लाख । लाह ।

रजनीकर-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा । उ०—संतत दुखद सखी
रजनीकर । स्वारथ रत तब अबहुँ एक रस मोकों कबहुँ न
भयो तापहर ।—तुलसी ।

रजनीचर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राक्षस । (२) चंद्रमा ।

वि० जो रात के समय चलता या घूमना-फिरता हो ।

रजनीपति-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा ।

रजनीमुख-संज्ञा पुं० [सं०] संध्या । सायंकाल । शाम का वक्त ।

उ०—(क) बहुरि भोग धरि रजनीमुख में । सैनारती करै
भरि सुख में ।—गिरधर । (ख) प्रविश्यो पवन-तनय रजनी-
मुख लंक निशंक अकेला ।—रघुराज । (ग) दिन उठि
जात धेनु बन चारन गोप सखन के संग । बासरगत रजनी-
मुख आवत करत नैन गति पंग ।—सूर । (घ) रजनीमुख
आवत गुन गावत नारद तुंडुर नाउँ ।—सूर ।

३६६

रजनीश-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा । उ०—(क) तुलसी महीस
देखे दिन रजनीस जैसे सुने परे सुन से मनो मिटाये आँक
के ।—तुलसी । (ख) कुटिल हरि-नख हिये हरि के हरष
निरखति नारि । ईश जनु रजनीश राख्यो आलहु तें
उतारि ।—सूर ।

रजपूत *—संज्ञा पुं० [सं० राजपुत्र] [स्त्री० रजपूतिन] (१) दे०
“राजपूत” । उ०—भूत कहौ अबभूत कहौ रजपूत कहौ
कोऊ जोलहा कहौ कोऊ ।—तुलसी । (२) वीर पुरुष । योद्धा ।
उ०—अंतर से जनु रंजन को रजपूतन की रज ऊपर
आई ।—केशव ।

रजपूती—संज्ञा स्त्री० [हि० राजपूत + ई (प्रत्य०)] (१) क्षत्रिय
होने का भाव । क्षत्रियत्व । (२) वीरता । शूरता । बहादुरी ।

रजवली-संज्ञा पुं० [सं० राजा + वली] राजा । (हि०)

रजबहा-संज्ञा पुं० [सं० रोज, राजा = बड़ा + हि० बहना] किसी
बड़ी नदी या नहर से निकाला हुआ बड़ नल जिससे और
भी अनेक छोटे छोटे नल निकलते हैं ।

रजलबाह-संज्ञा पुं० [सं० जलबाह] मेघ । बादल । (हि०)

रजवती, रजवती-वि० [सं० रजोवती] वह स्त्री जिसका रज-
स्त्राव हो रहा हो । रजस्वला ।

रजघट-संज्ञा स्त्री० [सं० राज + घट (प्रत्य०)] (१) क्षत्रियत्व ।
(२) वीरता । शूरता । (हि०)

रजवाड़ा-संज्ञा पुं० [हि० राज्य + बाड़ा] (१) राज्य । देशी
रियासत । जैसे,—वे कई रजवाड़ों में माल बेचने जाते हैं ।
(२) राजा । जैसे,—आज कल यहाँ कई रजवाड़े आए
हुए हैं ।

रजवार *—संज्ञा पुं० [सं० राजद्वार] राजा का दरबार । राजद्वार ।
उ०—पुनि बाँधे रजवार तुरंगा । का बरनउँ जस उनके
रंगा ।—जायसी ।

रजस्-संज्ञा स्त्री० दे० “रज” ।

रजस्वला-वि० [सं०] जिसका रज प्रवाहित होता हो । रज-
वती । ऋतुमती । रजस्वला । उ०—रजस्वला तिय गर्भयुत
होई । तासों रमण करै जो कोई ।—रघुनाथ ।

रजा-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मरजी । इच्छा । उ०—(क) मेह
पंथ में आव ते धरिये पाइ सँभार । साबित होइ मन आपने
मीत-रजा अख्यार ।—रसनिधि । (ख) राजी हैं हम उसी
में जिसमें तेरी रजा है ।—नजीर । (२) रुखसत । छुट्टी ।
(३) अनुमति । आज्ञा । हुक्म । उ०—और कीजै वही
आपकी जो रजा ।—सूदन । (४) स्वीकृति ।

क्रि० प्र०—देना ।—पाना ।—मिलना ।—लेना ।

रजाइ—संज्ञा स्त्री० [अ० रजा] (१) आज्ञा । हुक्म । उ०—(क)
पूतना पिसाची जातुधानी जातुधान बाम रामदूत की रजाइ
माथे मानि लेत हैं ।—तुलसी । (ख) राजा की रजाइ

पाइ सचिव सहेली धाइ सतानंद ल्याये सिय सिविका
चढ़ाई कै।—तुलसी । (ग) चले सीस धरि राम रजाई।—
तुलसी । (२) दे० “रजा” ।

रजाइस-संज्ञा स्त्री० [अ० रजा + आइस (हि० प्राय०)] आज्ञा ।
हुकम ।

रजाई-संज्ञा स्त्री० [सं० रजक = कपड़ा ?] एक प्रकार का जाड़े का
ओढ़ना जिसका कपड़ा दोहरा होता है और जिसमें रुई
भरी होती है । लिहाफ़ ।

संज्ञा स्त्री० [हि० राजा + आइ (प्रत्य०)] राजा होने का भाव ।
राजापन ।

रजाना-कि० सं० [सं० राज्य] (१) राज्य-सुख का भोग कराना ।
उ०—रुठ रही मन सों कही भूपति आनंद आज न याहि
रुगई । माँगु कही बनबासदे रामहिं हों अपने सुत राज
रजाऊँ ।—हृदयराम । (२) बहुत अधिक सुख देना । बहुत
अच्छी तरह से रखना । जैसे,—वे अपने सभी संबंधियों
को राज रजा रहे हैं ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग “राज” या “राज्य” शब्द के
साथ ही होता है, अलग नहीं ।

रजामंद-वि० [का०] जो किसी बात पर राज़ी हो गया हो ।
सहमत । जैसे,—अगर आप इस बात में रजामंद हों,
तो यही सही ।

रजामंदी-संज्ञा स्त्री० [का०] राज़ी या सहमत होने का भाव ।
सहमति । स्वीकृति । जैसे,—जो काम होगा, वह आपकी
रजामंदी से होगा ।

रजाय-संज्ञा स्त्री० [अ० रजा] (१) आज्ञा । हुकम । उ०—
(क) चोरन उर करि छुड़ अति जाहु सु दियो रजाय ।—
रघुराज । (ख) कोपि दसकंध तब प्रलय पथोद बोल्यो,
रावन रजाय धाय आये यूथ जोरि कै ।—तुलसी । (२)
मरजी । इच्छा ।

रजायस, रजायसु-संज्ञा पुं० [हि० राजा अथवा अ० रजा + आयसु]
आज्ञा । हुकम । उ०—(क) भयो रजायस मारहु सूआ ।
सूर न आउ चँद जहँ ऊआ ।—जायसी । (ख) अब तो
सूर शरण तकि आया, सोइ रजायसु दीजै । जेहि तैं रहै
शत्रु प्रण मेरे वहे मतो कछु कीजै ।—सूर । (ग) जबै
जमराज रजायसु ते तोहि लै चलिहैं भट बाधि गटैया ।—
तुलसी ।

रजिया-संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) अनाज नापने का एक मान जो
प्रायः डेढ़ सेर का होता है । (२) काठ का वह बरतन जो
इस मान का होता है ।

रजिस्टर-संज्ञा [अंग०] अंगरेजी ढंग की बही या किताब आदि
जिसमें किसी मद का आय व्यय अथवा किसी विषय का

विस्तृत विवरण, सिलसिलेवार या खानेवार, लिखा
जाता हो ।

रजिस्टरी-संज्ञा स्त्री० [अंग०] (१) किसी लिखित प्रतिज्ञापत्र को
कानून के अनुसार सरकारी रजिस्ट्रों में दर्ज कराने का काम ।

विशेष—प्रायः सभी देशों में यह नियम है कि वैनाने,
दस्तावेज तथा इसी प्रकार के और सब कागज-पत्र लिखे
जाने के उपरान्त सरकारी रजिस्ट्रों में दर्ज करा लिए जाते
हैं । इससे लाभ यह होता है कि उस कागज में लिखी हुई
सब बातें बिल्कुल पक्की हो जाती हैं; और यदि कोई पक्ष
उन बातों के विपरीत कोई काम करता है, तो वह न्यायालय
से दंड का भागी होता है । यदि मूल कागज किसी प्रकार
खो जाय, तो उसके बदले में आवश्यकता पड़ने पर
रजिस्ट्रीवाली नकल से भी काम चल जाता है ।

(२) चिट्ठी, पारसल आदि डाक से भेजने के समय डाकखाने
के रजिस्टर में उसे दर्ज कराने का काम, जिसके लिये कुछ
अलग फ़ीस या दाम देना पड़ता है ।

विशेष—इस प्रकार की रजिस्ट्री से यह लाभ होता है कि
रजिस्ट्री कराई हुई चीज़ खोने नहीं पाती; और यदि खो
जाय, तो डाकखाना उसके लिये जिम्मेदार होता है । यदि
पानेवाला किसी समय उस चिट्ठी या पारसल आदि के पाने
से इन्कार करे, तो उसके विरुद्ध डाकखाने से रजिस्ट्री का
प्रमाण भी दिया जा सकता है ।

रजीडंट-संज्ञा पुं० दे० “रेज़िडेंट” ।

रज़ील-वि० [अंग०] छोटी जाति का । नीच ।

रज्जु-संज्ञा स्त्री० दे० “रज्जु” ।

रजोकुल-संज्ञा पुं० [सं० राजकुल] राजवंश । राजघराना । उ०—
राजति राज रजोकुल में अति भाग सुहागिनि राज-दुलारी ।

रजोगुण-संज्ञा पुं० [सं०] प्रकृति का वह स्वभाव जिससे जीव-
धारियों में भोग-विलास तथा दिखावे की रुचि उत्पन्न होती
है । राजस । यह सांख्य के अनुसार प्रकृति के तीन गुणों में
से एक है जो चंचल और भोग-विलास आदि में प्रवृत्त
करनेवाला कहा गया है । वि० दे० “गुण” ।

रजोगोत्र-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार वशिष्ठ के एक पुत्र ।

रजोदर्शन-संज्ञा पुं० [सं०] स्त्रियों का मासिक धर्म । रजस्वल
होना ।

रजोधर्म-संज्ञा पुं० [सं०] स्त्रियों का मासिक धर्म ।

रजोरस-संज्ञा पुं० [सं०] अंधकार । अँधेरा ।

रज्जु-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रस्सी । जेवरी । उ०—वाँधिये को
भव गयंद रेणु की रज्जु बटत ।—तुलसी । (२) बौदे की

लगाम की डोरी । बाग-डोर । (३) स्त्रियों के सिर की चौड़ी ।

रज्जुकण्ड-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन आचार्य का नाम ।

रज्जुदातक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का जल-चर पक्षी जिसका मांस खाने का शास्त्रकारों ने निषेध किया है।

रज्जुबात-संज्ञा पुं० [सं०] मनु के अनुसार एक प्रकार का पक्षी।

रङ्गना-संज्ञा पुं० [सं० रङ्गन वा रङ्गन] रङ्गरेजों का वह पात्र जिसमें वे रङ्गे हुए कपड़े में का रंग निचोड़ते हैं।

रटत-संज्ञा स्त्री० [हि० रटना = अंत (प्रत्य०)] रटने की क्रिया का भाव। रटाई।

रटंती-संज्ञा स्त्री० [सं०] माघ मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी जो एक पुण्य-तिथि समझी जाती है। इस दिन सूर्योदय के समय स्नान करने का बहुत माहात्म्य कहा गया है।

रट-संज्ञा स्त्री० [हि० रटना] किसी शब्द को बार बार उच्चारण करने की क्रिया। जैसे,—तुमने तो “लाओ”, “लाओ” की रट लगा दी है। उ०—(क) राम राम रटु बिकल सुआल।—तुलसी। (ख) केशव वे तुहि तोहि रटै रट तोहि इतै उनही की लगी है।—केशव। (ग) जैसी रट तोहि लागी माधव की राधे ऐसी राधे राधे राधे रट माधवै लगी रहै।—पद्माकर।

क्रि० प्र०—मचाना।—लगाना।—लगाना।

रटन-संज्ञा स्त्री० [हि० रटना] रटने की क्रिया या भाव। रट।

*संज्ञा पुं० [सं०] कहना। बोलना।

रटना-क्रि० सं० [अनु०] (१) किसी शब्द को बार बार कहना। उ०—(क) जानि यह केशोदास अनुदिन राम राम रटत रहत न डरत पुनरुक्ति को।—केशव। (ख) असगुन होहि नगर पैसारा। रटहि कुम्भाँति कुवेत करारा।—तुलसी। (२) जवानी याद करने के लिये बार बार उच्चारण करना। जैसे,—इन शब्दों का अर्थ रट डालो।

संयो० क्रि०—डालना।—लेना।

(३) बार बार शब्द करना। बजना। उ०—कटि तट रटति चारु किंकिनि रव अनुपम वरनि न जाई—तुलसी।

रट-वि० [?] रुखा। शुष्क। उ०—मेरी कही मान लीजे आजु मान माँगे दीजे चित हित कीजै तत तीजै रोस रटु है।—रघुनाथ।

रटना-क्रि० सं० दे० “रटना”। उ०—जब पाहन भे बनवाहन से उतरे बनरा जै राम रहैं।—तुलसी।

रटिया-संज्ञा स्त्री० [देश० या राट (देश) ?] एक प्रकार की देशी कपास जो साधारण कोटि की होती है।

रण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लड़ाई। युद्ध। जंग।

यौ०—रणस्थल। रणक्षेत्र। रणभूमि।

(२) रमण। (३) शब्द। (४) गति। (५) दुँबा नामक भेड़ा जिसकी हुम मोटी और भारी होती है।

रणक्षेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह भूमि जहाँ युद्ध हो। लड़ाई का मैदान।

रणक्षेत्र-संज्ञा पुं० [सं० रण + हि० क्षेत्र] श्रीकृष्ण का एक नाम। (जरासंध की चढ़ाई के समय श्रीकृष्ण रणभूमि त्याग कर द्वारका की ओर चले गए थे, इसी से उनका यह नाम पड़ा है।)

रणखेत-संज्ञा पुं० दे० “रणक्षेत्र”।

रणान-क्रि० प्र० [सं०] शब्द करना। बजना।

रणप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) बाज पक्षी। (३) खस।

रणभूमि-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ युद्ध हो। लड़ाई का मैदान।

रणमंडा-संज्ञा स्त्री० [सं० रण + मंडन] पृथ्वी। (हिं०)

रणमत्त-संज्ञा पुं० [सं०] हाथी।

रणमुष्टि-संज्ञा पुं० [सं०] कुचिला।

रणरंक-संज्ञा पुं० [सं०] हाथी के बाहरी दोनों दाँतों के बीच का भाग।

रणरंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लड़ाई का उत्साह। उ०—कुंभ-करण दुर्मंद रणरंगा।—तुलसी। (२) युद्ध लड़ाई। (३) युद्धक्षेत्र।

रणरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्यग्रता। घबराहट। व्याकुलता। (२) पछतावा। रंज।

रणरणक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव का एक नाम। (२) प्रबल कामना। उत्कंठा। (३) व्यग्रता। घबराहट।

रणतदमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] युद्ध की देवी जो विजय करानेवाली मानी जाती है। विजय-लक्ष्मी।

रणसिंघा-संज्ञा पुं० [सं० रण + हि० सिंघा] तुरही। नरसिंघा। उ०—रणसिंहों का जो शब्द होता था, सो अति ही सुहावना लगता था।—लल्लूलाल।

रणसिंहा-संज्ञा पुं० दे० “रणसिंघा”।

रणवृत्ति-संज्ञा पुं० [सं०] सैनिक। योद्धा।

रणस्तंभ-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्तंभ जो किसी रण में विजय प्राप्त करने के स्मारक में बनवाया जाता है। विजय का स्मारक।

रणस्थल-संज्ञा पुं० [सं०] लड़ाई का मैदान। रणभूमि।

रणस्वामी-संज्ञा पुं० [सं० रणस्वामिन्] (१) शिव। महादेव। (२) युद्ध का प्रधान संचालक या लेनापति।

रणहंस-संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्ण वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में सगण, जगण, भगण और रगण होते हैं। इसको ‘मनहंस’ ‘मानहंस’ और ‘मानसहंस’ भी कहते हैं।

रणगण-संज्ञा पुं० [सं०] लड़ाई का मैदान। युद्ध-क्षेत्र।

रणि-संज्ञा स्त्री० [हि० रैन] रात्रि। रात। (हिं०)

रणोच्चर-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

रणेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) विष्णु।

रत्नोत्कट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्तिकेय के एक अनुचर का नाम । (२) एक दैत्य का नाम ।

वि० जो रण में सम्मिलित होने या रण ठानने के लिये उन्मत्त हो रहा हो ।

रत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मैथुन । प्रसंग । उ०—प्रिया को है बिम्बाधर मृदुल ज्यों पल्लव नयो । लियो धीरें धीरें रहसि रस मैंने रत समै ।—लक्ष्मण । (२) योनि । (३) लिंग । (४) प्रेम । प्रीति ।

वि० (१) प्रेम में पड़ा हुआ । अनुरक्त । आसक्त । (२) (कार्य आदि में) लगा हुआ । लिस । लीन । तत्पर ।

रत-संज्ञा पुं० [सं० रत्न, प्रा० रत्न] रत्न । खून । लहू । (हिं०)

रतकील-संज्ञा पुं० [सं०] कुत्ता ।

रतगुरु-संज्ञा पुं० [सं०] पति । खसम । शौहर ।

रतजगा-संज्ञा पुं० [हिं० रात + जागना] (१) किसी उत्सव या विहार आदि के लिये सारी रात जागकर बिता देना । (२) वह आनंदोत्सव जो रात भर होता रहे । (३) एक त्योहार जो पूर्वी संयुक्त प्रांत तथा विहार आदि में भाद्रपद कृष्ण २ की रात को होता है । इसमें प्रायः स्त्रियाँ रात भर कजली आदि गाया करती हैं ।

रतताली-संज्ञा स्त्री० [सं०] कुटनी ।

रतन-संज्ञा पुं० दे० “रत्न” ।

रतनजोत-संज्ञा स्त्री० [सं० रत्न + ज्योति] (१) एक प्रकार की मणि । (२) एक प्रकार का बहुत छोटा क्षुप जो काश्मीर और कुमाऊँ में अधिकता से होता है । इसके डंठल प्रायः डेढ़ बालिस्त तक लंबे होते हैं, जिनमें काहू के पत्तों के से, प्रायः चार अंगुल तक लंबे और कुछ अनीदार पत्ते और छोटे छोटे फूलों तथा फलों के गुच्छे लगते हैं । इसकी जड़ लाल रंग की होती है, जिससे लाल रंग निकाला जाता है और तेल आदि रँगे जाते हैं । वैद्यक में यह गरम, रुक्ष, पित्तज, त्रिदोषनाशक तथा जीर्णज्वर, स्त्रीहा, शोथ आदि को दूर करनेवाली और मस्तिष्क को हानि पहुँचानेवाली कही गई है । इसके कई भेद होते हैं, जिनमें से एक के डंठल और पत्ते अपेक्षाकृत बड़े होते हैं; और एक छत्ते के आकार की होती है जिसकी पत्तियाँ बहुत छोटी होती हैं । वैद्यक के अनुसार इन सब के गुण भी भिन्न भिन्न होते हैं; और इनका व्यवहार औषध रूप में होता है । (३) बृहदंती । बड़ी दंती । वि० दे० “दंती” ।

रतनाकर-संज्ञा पुं० (१) दे० “रत्नाकर” । (२) दे० “रतनजोत” ।

रतनागर-संज्ञा पुं० [सं० रत्नाकर] समुद्र । उ०—जननि जगत जसु प्रगटिहु मातु पिताकर । तीर्थ-रतन तुम उपजिहु भव-रतनागर ।—तुलसी ।

रतनागरभ-संज्ञा स्त्री० [सं० रत्नगर्भा] पृथ्वी । भूमि । (हिं०)

रतनार-वि० दे० “रतनारा” ।

रतनारा-वि० [सं० रत्न, प्रा० रत्न + नाल = पीला सुरमा अथवा रत्न = मानिक + -नार (प्रत्य०)] कुछ लाल । सुर्खी लिए हुए । उ०—दुलरी कंठ नयन रतनारे मो मन चितै हरौरी ।—सूर ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग अधिकतर आँखों के लिये ही होता है ।

रतनारी-संज्ञा पुं० [हिं० रतनार + ई (प्रत्य०)] एक प्रकार का धान । उ०—कपूर काट कजरी रतनारी । मधुकर देला जीरा सारी ।—जायसी ।

संज्ञा स्त्री० लाली । लालिमा । सुर्खी ।

वि० दे० “रतनारा” ।

रतनारीच-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव । (२) कुत्ता । (३) आवारा । लंपट । बदचलन ।

रतनालिया-संज्ञा पुं० दे० “रतनारा” । उ०—आँखडिया रतनालिया चेजा करै प्रताल । मैं तोहि बूझौ माछली तू क्यों धंधी जाल ।—कबीर ।

रतनावली-संज्ञा स्त्री० दे० “रत्नावली” ।

रतनिधि-संज्ञा पुं० [सं०] खंजन पक्षी । ममोला ।

रतबंध-संज्ञा पुं० दे० “रतिबंध” ।

रतमुहूर्त-वि० [हिं० रत्न = लाल + मुहूर्त] [स्त्री० रतमुहूर्त] लाल मुँहवाला । उ०—रायमुनी तुम्ह औ रतमुहूर्त । अलिमुख लाग भई फुल जुही ।—जायसी ।

संज्ञा पुं० बंदर ।

रतवाँस-संज्ञा पुं० [हिं० रात + वाँस (प्रत्य०)] हाथियों और घोड़ों का वह चारा जो उन्हें रात के समय दिया जाता है ।

रतवाई-संज्ञा स्त्री० [देश०] पहले दिन कोल्हू चलने पर उसका रस लोगों में बाँटने की प्रथा ।

रतव्रण-संज्ञा पुं० [सं०] कुत्ता ।

रतशायी-संज्ञा पुं० [सं० रतशायिन्] कुत्ता ।

रतहिडक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो स्त्रियों को चुराता हो । (२) लंपट । आवारा । बदचलन ।

रतांजली-संज्ञा स्त्री० [सं०] रत्नचंदन । लाल चंदन ।

रतांदुक-संज्ञा पुं० [सं०] कुत्ता ।

रता-संज्ञा स्त्री० [देश०] भुकड़ी, जो अनेक वस्तुओं पर प्रायः बरसात के दिनों में या सीढ़ी की जगह में लग जाती है ।

रताना-संज्ञा पुं० [सं० रत्न + आना (प्रत्य०)] रत्न होना । उ०—कीर्तौ श्याम हृदिक हैं राख्यौ कीर्तौ आपु रतान्यौ ।—सूर ।

क्रि० स० किसी को अपनी ओर रत करना ।

रतायनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बेरिया । रंडी ।

रतालू-संज्ञा पुं० [सं० रत्नालू] (१) पिंडाल नामक कंद जिसका

व्यवहार तरकारी बनाने में होता है। (२) वाराहीकंद। गेंडी।

रति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कामदेव की पत्नी जो दक्ष प्रजापति की कन्या मानी जाती है। कहते हैं कि दक्ष ने अपने शरीर के पसीने से इसे उत्पन्न करके कामदेव को अर्पित किया था। यह संसार की सब से अधिक रूपवती और सौंदर्य की साक्षात् मूर्ति मानी जाती है। इसे देखकर सभी देव-ताओं के मन में अनुराग उत्पन्न हुआ था; इसलिये इसका नाम रति पड़ा था। जिस समय शिवजी ने कामदेव को अपने तीसरे नेत्र से अस्त्र कर दिया था, उस समय इसने बहुत अधिक विलाप करके शिवजी से यह वरदान प्राप्त किया था कि अब से कामदेव बिना शरीर के या अनंग होकर सदा बना रहेगा। यह भी माना जाता है कि यह सदा कामदेव के साथ रहती है। वि० दे० “कामदेव”। उ०—राधा हरि केरी प्रीति सब तैं अधिक जानि रति रतिनाथ हूँ देखो रति थोरी सी।—केशव। (२) काम क्रीड़ा। संभोग। मैथुन। उ०—(क) रति जय लिखिबे की लेखनी सुरेख किधौं मीनरथ सारथी के नौदन नवीने हैं।—केशव। (ख) लाज गरब आरस उमग भरे नैन मुसकात। रति रमी रति देत कहि औरै प्रभा प्रभात।—विहारी। (३) प्रीति। प्रेम। अनुराग। मुहब्बत।

क्रि० प्र०—करना।—जोड़ना।—लगाना।—होना।

(४) शोभा। छबि। उ०—चोटी में लपेटी एक मणि ही सुकाढ़ि दीन्ही दीजो राम हाथ जो बढ़ैया तेरी रति को।—हृदयराम। (५) सौभाग्य। सुशक्तिस्मृती। (६) साहित्य में शृंगार रस का स्थायी भाव। नायक नायिका के मन में एक दूसरे के प्रति आकर्षण। नायक नायिका की परस्पर प्रीति या प्रेम। (७) वह कर्म जिसका उदय होने से किसी रमणीक वस्तु से मन प्रसन्न होता है। (जैन) (८) गुप्त भेद। रहस्य।

संज्ञा स्त्री० दे० “रत्नी”।

क्रि० वि० दे० “रती”। उ०—कत सकुचत निधरक फिरौ रतियौ खोरि तुम्हें न। कहा करौ जो जाहिं ये लगैं लगौ-हैं नैन।—विहारी।

ॐ संज्ञा स्त्री० [हि० रात] रात। रात्रि। रैन। उ०—सही रंगीले रति जगो जगी पगी सुख चैन। अलसैंहैं सैंहैं किये कहैं हँसैंहैं नैन।—विहारी।

विशेष—केवल समस्त पदों में ही इस शब्द का इस रूप में व्यवहार होता है।

रतिक०+क्रि० वि० [हि० रत्ती + क (प्रत्य०)] रत्ती भर। बहुत थोड़ा। जरा सा। उ०—नेरे चलि आय छलि मेरे सुख पंकज को परसै निसंक नहिं संक करै रतिकौ।—दीनदयाल।

रतिकर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामी। (२) एक प्रकार की समाधि।

वि० (१) जिससे आनंद की वृद्धि हो। (२) जिससे प्रेम की वृद्धि हो।

रतिकलह-संज्ञा पुं० [सं०] मैथुन। संभोग।

रतिकांत-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

रतिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] ऋषभ स्वर की तीन श्रुतियों में से अंतिम श्रुति। (संगीत)

रतिकुहर-संज्ञा पुं० [सं०] योनि। भग।

रतिकेलि-संज्ञा स्त्री० [सं०] भोगविलास। संभोग।

रतिक्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] मैथुन। संभोग।

रतिगर+क्रि० वि० [हि० रात + गर ?] प्रातःकाल। बड़े तड़के। सवेरे।

रतिगृह-संज्ञा पुं० [सं०] योनि। भग।

रतिज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो रतिक्रिया में चतुर हो। (२) वह जो किसी स्त्री के मन में अपने प्रति प्रेम उत्पन्न करने में निपुण हो।

रतितत्त्वर-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो स्त्रियों को अपने साथ व्यभिचार करने में प्रवृत्त करता हो।

रतिताल-संज्ञा पुं० [सं०] ताल के साठ मुख्य भेदों में से एक भेद। (संगीत)

रतिदान-संज्ञा पुं० [सं०] संभोग। मैथुन। उ०—रघुनाथ ऐसे भेस धरे प्रानप्यारो आयो प्रात कहुँ बसि राति दीन्हे रति-दान को।—रघुनाथ।

रतिदेव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) एक चंद्रवंशीय राजा का नाम जो सांक्रुति के पुत्र थे। (३) कुत्ता।

रतिधन-संज्ञा पुं० [सं०] वह अन्न जिससे दूसरे अन्नों का नाश होता हो।

रतिनाग-संज्ञा पुं० [सं०] सोलह प्रकार के रतिबंधों में से एक प्रकार का रतिबंध। (कामशास्त्र)

रतिनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

रतिनायक-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव। उ०—(क) न भौं न भौं जिय जानि सिलीमुख पंच धरे रतिनायक है।—तुलसी। (ख) काहे दुरावति है सजनी रतिनायक सायक एही कहे हैं।—मन्नालाल।

रतिनाह-संज्ञा पुं० [सं० रतिनाथ] कामदेव।

रतिपति-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

रतिपद-संज्ञा पुं० [सं०] एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में दो नगण और एक सगण (॥, ॥, ॥५) होता है। उ०—न निसि घर तजि घरी। कबहुँ जग कुल नरी। धरति पद पर घरा। सुमतियुत सतिवरा।

रतिपाश-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रतिबंध जिसे रतिनाग भी कहते हैं। (कामशास्त्र)

रतिप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

वि० जिसे मैथुन बहुत प्रिय हो। कामुक।

रतिप्रिया-वि० [सं०] (स्त्री) जिसे मैथुन बहुत प्रिय हो।

संज्ञा स्त्री० (१) तांत्रिकों के अनुसार शक्ति की एक मूर्ति का नाम। (२) दाक्षायिणी का एक नाम।

रतिप्रीता-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह नायिका जिसका रति में प्रेम हो। मैथुन से प्रसन्न होनेवाली स्त्री। कामिनी।

रतिबंध-संज्ञा पुं० [सं०] मैथुन या संभोग करने का प्रकार, जिसे आसन भी कहते हैं।

रतिभवन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) योनि। भग। (२) वह स्थान जहाँ प्रेमी और प्रेमिका मिलकर रतिक्रीड़ा करते हैं।
उ०—सपनेहूँ न लख्यो निसि में रतिभौन तैं गौन कहुँ निज पी को।—पद्माकर।

रतिभाव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नायक-नायिका का परस्पर आकर्षण। स्त्री पुरुष का परस्पर प्रेम। दांपत्य भाव। (यह श्रृंगार रस का स्थायी भाव है।) (२) प्रीति। प्रेम। सुहृद्भाव। स्नेह।

रतिभौन-संज्ञा पुं० दे० “रतिभवन”।

रतिमंदिर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) योनि। भग। (२) मैथुनगृह। रतिभवन। उ०—रतिमंदिर के मनि पुंजनि मैं प्रतिबिंबनि आपने हेरो करै।—मन्नालाल।

रतिमदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अप्सरा।

रतिमित्र-संज्ञा पुं० [सं०] काम शास्त्र के अनुसार एक प्रकार का रतिबंध या आसन।

रतियाना-क्रि० प्र० [हि० रति = प्रीति + आना (प्रत्य०)] प्रीति करना। प्रेम करना। अनुरक्त होना। उ०—राम नाम अनुराग ही जो रतियातो। स्वारथ परमारथ पथी तोहि सब पतियातो।—तुलसी।

रतिरमण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव। (२) मैथुन। उ०—करै और सों रतिरमण इक धन ही के हेत। गणिका ताहि बखानिहहिं जे कवि सुमति निकेत।—पद्माकर।

रतिराइ-संज्ञा पुं० [सं० रतिराज] कामदेव।

रतिराज-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

रतिलील-संज्ञा पुं० [सं०] ताल के साठ मुख्य भेदों में से एक। (संगीत)

रतिलोल-संज्ञा पुं० [सं०] एक राक्षस का नाम।

रतिवंत-वि० [सं० रति + हि० वंत (प्रत्य०)] सुंदर। खूबसूरत। उ०—कोदंड ग्राही सुभट को को कुमार रतिवंत। को कहिये शशि ते दुखी कोमल मन को संत।—केशव।

रतिवर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव। (२) वह भेंट जो किसी स्त्री को उससे रति करने के अभिप्राय से दी जाय।

रतिवर्जन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिससे काम-शक्ति बढ़ती हो। (२) वैद्यक में एक प्रकार का मोदक जो गोखरू, अस-गंध, शतमूली, तालमूली और जेठी मधु आदि के योग से बनता है और जो पुष्टिकारक माना जाता है।

रतिवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रेम। प्रीति। सुहृद्भाव।

रतिवाही-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का राग जिसका गान समय रात को १६ दंड से २० दंड तक है। यह संपूर्ण जाति का राग है और इसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं।

रतिशास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसमें रति की क्रियाओं का विवेचन हो। कोकशास्त्र। काम-शास्त्र।

रतिसत्त्वरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सृष्टिका। असवरग।

रतिसमर-संज्ञा पुं० [सं०] संभोग। मैथुन।

रतिसाधन-संज्ञा पुं० [सं०] पुरुष की मूर्चेन्द्रिय। लिंग। विश्व।

रतिसुंदर-संज्ञा पुं० [सं०] कामशास्त्र के अनुसार एक प्रकार का रतिबंध।

रती-संज्ञा स्त्री० [सं० रति] (१) कामदेव की पत्नी। रति। उ०—बात की बानी माँह भाव सो भवानी माँह केशोदास रति में रती की उयोति जानवी।—केशव (२) सौंदर्य। शोभा। उ०—कहै पदमाकर पताका प्रेम पूरण की, प्रगट पतिव्रत की सौगुनी रती भई।—पद्माकर। (३) मैथुन। संभोग। उ०—दर्भ भरे तनया कर साथ विदर्भपती। अर्पन तू करिहै जबहीं तब होय रती।—गोपाल। (४) दे० “रति”।

रती-संज्ञा स्त्री० [हि० रती] (१) बुँवची। गुंजा। (२) ढाई जौ या आठ चावल का मान। वि० दे० “रती”।

वि० थोड़ा। कम। अल्प।

क्रि० वि० जरा सा। रती भर। किंचित्। उ०—नाम प्रताप हंस पर छाजै। हंसहिं भार रती नहिं लागै।—कबीर।

रतुआ-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की घास जो बरसात के दिनों या ठंडी जगहों में अधिकता से होती है।

रतून-संज्ञा पुं० [देश०] पेड़ी की ईख या गन्ना, जो एक बार काट लेने पर फिर उसी जड़ से निकलता है।

रतोपल-संज्ञा पुं० [सं० रत्तोपल] लाल कमल। उ०—कहि कंकण नेक भए दग शीतल संपत देख रतोपल की।—हृदयराम।

संज्ञा पुं० [सं० रत्तोपल] (१) लाल सुरमा। (२) लाल खड़िया। (३) गेरू।

रतौथी-संज्ञा स्त्री० [हि० रात + थोड़ा] एक प्रकार का रोग जिसमें रोगी को संध्या होने के उपरांत, अर्थात् रात के

समय, बिल्कुल दिखाई नहीं देता । उ०—पौरियै रतौधी आवै सखी सखै सोय रहीं जागत न कोउ परदेस मेरो बर है ।—प्रतापनारायण ।

रत्नक-संज्ञा पुं० दे० “रक्त” ।

रत्नक-संज्ञा पुं० [सं० रत्नक, प्रा० रत्त] ग्वालियर में होनेवाला एक प्रकार का पत्थर जो कुछ लाल रंग का होता है ।

रत्ती-संज्ञा स्त्री० [सं० रत्तिका, प्रा० रत्तीय] (१) एक प्रकार का बहुत छोटा मान, जिसका व्यवहार सोने या ओषधियों आदि के तौलने में होता है । यह आठ चावल या ढाई जौ के बराबर होता है और प्रायः घुँघची के दाने से तौला जाता है । यह एक माथे का आठवाँ भाग होता है । (२) वह बाट जो तौल में इतने मान का हो । (३) घुँघची का दाना । गुंजा ।

मुहा०—रत्ती भर = बहुत थोड़ा सा । जरा सा ।

वि० बहुत थोड़ा । किंचित् ।

रत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं० रत्ति] शोभा । छवि । उ०—बत्ती बटि कसी पाग कत्ती सिर टेढ़ी लसै बड़ी मुख रत्ती जैसे पत्ती जहुपति के ।—गोपाल ।

रत्थी-संज्ञा स्त्री० [सं० रथ] लकड़ी या बाँस का वह ढाँचा या संदूक आदि जिसमें शव को रखकर अंतिम संस्कार के लिये ले जाते हैं । टिकठी । विमान । अरथी ।

रत्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुछ विशिष्ट छोटे, चमकीले, बहुमूल्य पदार्थ, विशेषतः खनिज पदार्थ या पत्थर, जिनका व्यवहार आभूषणों आदि में जड़ने के लिये होता है । मणि । जवाहिर । नगीना । जैसे,—हीरा, लाल, पद्मा, मानिक, मोती आदि ।

विशेष—हमारे यहाँ हीरा, पद्मा, पुखराज, मानिक, नीलम, गोमेद, लहसुनियाँ, मोती और मूँगा ये नौ रत्न माने गए हैं । इसके अतिरिक्त पुराणों आदि में और भी अनेक रत्न गिनाए गए हैं, जिनमें से कुछ वास्तविक और कुछ कल्पित हैं । जैसे,—गंधशस्य, सूर्यकांत, चंद्रकांत, स्फटिक, ज्योतिरस, राजपट्ट, शंख, सीसा, भुजंग, उत्पल आदि । रत्न धारण करना हमारे यहाँ बहुत पुण्यजनक कहा गया है । ग्रहों आदि का उत्पात होने पर रत्न पहनने और दान करने का विधान है । वैद्यक में इन रत्नों से भी भस्म बनाई जाती है, और अलग अलग रत्नों की भस्म का अलग अलग गुण माना जाता है ।

(२) माणिक्य । मानिक । लाल । (कविता में कभी कभी रत्न शब्द से मानिक का ही ग्रहण होता है ।) (३) वह जो अपने वर्ग या जाति में सब से उत्तम हो । सर्वश्रेष्ठ । जैसे,—नर-रत्न, ग्रंथ-रत्न आदि । (४) जैनों के अनुसार सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र ।

रत्नकंदल-संज्ञा पुं० [सं०] प्रवाल । मूँगा ।

रत्नकर-संज्ञा पुं० [सं०] कुवेर का एक नाम ।

रत्नकणिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन काल का कान में पहनने का एक प्रकार का जड़ाऊ गहना ।

रत्नकीर्त्ति-संज्ञा पुं० [सं०] एक बुद्ध का नाम ।

रत्नकूट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक पर्वत का नाम । (२) एक बोधिसत्व का नाम ।

रत्नकेतु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक बुद्ध का नाम । (२) एक बोधिसत्व का नाम ।

रत्नगर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुवेर का एक नाम । (२) समुद्र । (३) एक बुद्ध का नाम ।

रत्नगर्भा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी । भूमि । वसुंधरा ।

रत्नगिरि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिहार के एक पहाड़ का प्राचीन नाम, जिस पर मगध देश की पुरानी राजधानी राजगृह बसी हुई थी । (२) वैद्यक में एक प्रकार का रस जो अभ्रक, सोने, ताँबे, गंधक और लोहे आदि से तैयार किया जाता है और जो ज्वर के लिये बहुत उपकारी माना गया है ।

रत्नचंद्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक देवता जो रत्नों के अधिष्ठाता माने जाते हैं । (२) एक बोधिसत्व का नाम ।

रत्नचूड़-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम ।

रत्नग्रन्थ-संज्ञा पुं० [सं०] जैनों के अनुसार सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र, इन तीनों का समूह जो मनुष्य को उत्कृष्ट बनाने का साधन समझा जाता है ।

रत्नदाम-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रत्नों की माला । (२) गर्ग-संहिता के अनुसार सीता की माता और राजा जनक की स्त्री का नाम ।

रत्नदीप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक कल्पित रत्न का नाम । कहते हैं कि पाताल में इसी के प्रकाश से उजाला रहता है । (२) रत्न का दीपक ।

रत्नद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] मूँगा ।

रत्नद्वीप-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक द्वीप का नाम ।

रत्नधर-संज्ञा पुं० [सं०] धनवान् । अमीर ।

रत्नधार-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम ।

रत्नधारा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक नदी का नाम ।

रत्नधेनु-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार रत्नों को बनाई हुई वह गाय जो दान की जाती है । इस दान की गणना महादानों में की जाती है और इस प्रकार का दान करनेवाला गोलोक का अधिकारी समझा जाता है ।

रत्नध्वज-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम ।

रत्ननाभ-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

रत्ननिधि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खंजन पक्षी । ममोला । (२) समुद्र । (३) मेरु पर्वत । (४) विष्णु ।

रत्नपरीक्षक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो रत्नों को परखना जानता हो । जौहरी ।

रत्नपर्वत-संज्ञा पुं० [सं०] सुमेरु पर्वत का एक नाम ।

रत्नपाणि-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम ।

रत्नपारखी-संज्ञा पुं० [सं०] रत्न + हि० पारखी] रत्नों का पहचाननेवाला । जौहरी ।

रत्नपीठ-संज्ञा पुं० [सं०] तांत्रिकों के अनुसार एक तीर्थ का नाम ।

रत्नप्रदीप-संज्ञा पुं० [सं०] ऐसा रत्न जो दीपक के समान प्रकाशमान हो ।

रत्नप्रभ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के देवता ।

रत्नप्रभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पृथ्वी । (२) जैनों के अनुसार एक नरक का नाम ।

रत्नबाहु-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

रत्नमाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राजा बलि की कन्या । वामन भगवान् को देखकर इसके मन में यह कामना हुई थी कि ऐसे बालक को मैं दूध पिलाऊँ । इसी लिये यह कृष्णावतार में पूतना हुई थी । (२) मणियों की माला या हार ।

रत्नमाली-संज्ञा पुं० [सं० रत्नमालिन्] पुराणानुसार एक प्रकार के देवता ।

रत्नमुकुट-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम ।

रत्नवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पृथ्वी । भूमि । (२) राजा वीर-केतु की कन्या का नाम ।

रत्नशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रत्नों के रखने का स्थान । (२) जड़ाऊ महल, जिसकी दीवारों में रत्न जड़े हों ।

रत्नसंभव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक ध्यानी बुद्ध का नाम । (२) एक बोधिसत्व का नाम ।

रत्नसागर-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र का वह भाग जहाँ से प्रायः रत्न निकलते हैं ।

रत्नसानु-संज्ञा पुं० [सं०] सुमेरु पर्वत का एक नाम ।

रत्नसू, **रत्नसूति**-संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी ।

रत्ना-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक नदी का नाम ।

रत्नाकर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समुद्र । (२) मणियों के निकलने का स्थान । खान । (३) रत्नों का समूह । उ०—रत्नाकर के हैं दोऊ केशव प्रकाशकर अंबर विलास कुबलय हित मानिये । —केशव । (४) वाल्मीकि मुनि का पहले का नाम । (५) भगवान् बुद्ध का एक नाम । (६) एक बोधिसत्व का नाम ।

रत्नागिरि-संज्ञा पुं० दे० “रत्नगिरि” ।

रत्नाचल-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार रत्नों का वह ढेर जो

पहाड़ के रूप में लगाकर दान किया जाता है और जिसका दान करने से दाता स्वर्ग का अधिकारी समझा जाता है ।

रत्नाद्रि-संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्वत का नाम ।

रत्नाधिपति-संज्ञा पुं० [सं०] कुवेर ।

रत्नभूषण-संज्ञा पुं० [सं०] वह आभूषण या गहना जिसमें रत्न जड़े हों । जड़ाऊ गहना ।

रत्नावली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मणियों की श्रेणी या माला ।

(२) एक रागिनी जो शास्त्रों में दीपक राग की पुत्रवधू कही गई है । (३) एक अर्थालंकार जिसमें प्रस्तुत अर्थ निकलने के अतिरिक्त ठीक क्रम से कुछ और वस्तु-समूह के नाम भी निकलते हैं । जैसे,—आदित सोम कहौ कबहूँ, कबहूँ कहौ मंगल औ बुध होते ।

रत्नोत्तमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] तांत्रिकों की एक देवी का नाम ।

रत्नाल्का-संज्ञा स्त्री० [सं०] तांत्रिकों के अनुसार एक देवी का नाम ।

रथकर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक कल्प का नाम । (२) एक प्रकार का साम । (३) एक प्रकार की अग्नि ।

रथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल की एक प्रकार की सवारी जिसमें चार या दो पहिए हुआ करते थे और जिसका व्यवहार युद्ध, यात्रा, विहार आदि के लिये हुआ करता था । शतंग । स्थंदन । गाड़ी । बहल । (२) शरीर, जो आत्मा की सवारी माना जाता है । (३) चरण । पैर । (४) तिनिस का पेड़ । (५) विहार करने का स्थान । क्रीड़ा स्थल ।

रथकल्पक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल का वह अधिकारी जिसकी अधीनता में राजाओं के रथ आदि रहते थे । (२) प्राचीन काल के धनवानों का वह प्रधान अधिकारी जो उनके घर आदि सजाता और उनके पहनने के वस्त्र आदि रखता था ।

रथकार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रथ बनानेवाला । खाती । बद्ध । (२) एक जाति जिसकी उत्पत्ति माहिष्य (क्षत्री से वैश्या में उत्पन्न) पिता और करिणी (वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न) माता से मानी गई है । इसमें जनेऊ आदि संस्कार होते हैं ।

रथकुटुंबिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो रथ चलाता हो । रथवान । सारथी ।

रथक्रांत-संज्ञा पुं० [सं०] संगीत में एक प्रकार का ताल ।

रथक्रांता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन जनपद का नाम ।

रथगर्भक-संज्ञा पुं० [सं०] रथ के आकार की वह सवारी जिसे मनुष्य कंधे पर उठाकर ले चलते हैं । जैसे,—पालकी, नालकी आदि ।

रथगुप्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] रथ के किनारे लगा हुआ लकड़ी या लोहे का वह ढाँचा जो शस्त्र आदि से रक्षा के लिये होता था ।

रथचरण-संज्ञा पुं० [सं०] चक्रवाक । चक्रवा ।

रथचित्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नदी का नाम ।

रथद्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तिनिश का पेड़ । (२) बेंत ।

रथपति-संज्ञा पुं० [सं०] रथ का नायक । रथी ।

रथपर्याय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तिनिश का पेड़ । (२) बेंत ।

रथपाद-संज्ञा पुं० दे० "रथचरण" ।

रथप्सा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नदी का नाम ।

रथमहोत्सव-संज्ञा पुं० [सं०] रथ-यात्रा नामक उत्सव । वि० दे० "रथयात्रा" ।

रथयात्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] हिंदुओं का एक पर्व या उत्सव जो आषाढ़ शुद्ध द्वितीया को होता है । इसमें लोग प्रायः जग-जाथ, बलराम और सुभद्राजी की मूर्तियाँ रथ पर चढ़ाकर निकालते हैं । यह उत्सव बहुत प्राचीन काल से होता आया है; और पुरी में बहुत धूमधाम से होता है । बौद्ध और जैन लोगों में भी रथयात्रा का उत्सव होता है, जिसमें जिन या बुद्ध की सवारी निकाली जाती है ।

रथवान्-संज्ञा पुं० [सं०] रथ हाँकनेवाला । सारथी ।

रथवाह-संज्ञा पुं० [सं० रथवाह] (१) रथ चलानेवाला । सारथी । (२) घोड़ा । उ०—राज तुरंगम बरनौ काहा । आने छोरे इंद्र-रथवाहा ।—जायसी ।

रथवाहक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो रथ हाँकता हो । सारथी ।

रथवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] रथ में का वह चौकोर ऊपरी ढाँचा जो पहियों के ऊपर जड़ा होता है ।

रथशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ रथ रखे जाते हों । गाड़ीखाना । अस्तबल ।

रथसप्तमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] माघ शुद्धा सप्तमी । कहते हैं कि सूर्य इसी दिन रथ पर सवार होते हैं; इसी लिये इसका यह नाम पड़ा है ।

रथसूत-संज्ञा पुं० [सं०] रथ हाँकनेवाला । सारथी ।

रथांग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रथ का पहिया । (३) चक्र नामक अस्त्र । (४) चक्रवाक पक्षी । चक्रवा ।

रथांगधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्रीकृष्ण । (२) विष्णु ।

रथांगपाणि-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

रथांगवर्त्ती-संज्ञा पुं० [सं०] चक्रवर्त्ती सम्राट् ।

रथांगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] ऋद्धि नामक ओषधि ।

रथाक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रथ का पहिया या धुरा । (२) प्राचीन काल का एक परिमाण जो एक सौ चार अंगुल का होता था । (३) कार्तिकेय के एक अनुचर का नाम ।

रथाग्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बहुत बड़ा योद्धा हो ।

रथाग्र-संज्ञा पुं० [सं०] बेंत ।

रथावर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] एक तीर्थ का नाम ।

रथिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो रथ पर सवार हो । रथी । (२) तिनिश का पेड़ ।

३८७

रथी-संज्ञा पुं० [सं० रथिन्] (१) वह जो रथ पर चढ़कर चलता हो । (२) रथ पर चढ़कर लड़नेवाला । रथवाला योद्धा ।

यौ०—सहारथी ।

(३) एक हजार योद्धाओं से अकेला युद्ध करनेवाला योद्धा ।

उ०—पूर्ण प्रकृति सात धीर वीर हैं विख्यात रथी महारथी अतिरथी रण साजि के ।—रघुराज ।

वि० रथ पर सवार । रथ पर चढ़ा हुआ । उ०—रावन रथी बिरथ रघुवीरा । देखि बिभीषन भयउ अधीरा ।—तुलसी ।

संज्ञा स्त्री० [सं० रथ] वह ढाँचा जिस पर मुरदों को रखकर अंत्येष्टि क्रिया के लिये ले जाते हैं । रथी । टिकठी । ताबूत ।

रथोत्सव-संज्ञा पुं० [सं०] रथ-यात्रा नामक उत्सव ।

रथोद्धता-संज्ञा स्त्री० [सं०] ग्यारह अक्षरों का एक वर्णवृत्त जिसका पहला, तीसरा, सातवाँ, नवाँ और ग्यारहवाँ वर्ण गुरु और बाकी वर्ण लघु होते हैं । अर्थात् इसके प्रत्येक चरण में र, न, र, ल, ग (ऽ। ऽ।।। ऽ। ऽ। ऽ) होता है ।

उ०—रानि । री लगत राम को पता । हाय ना कहहिं नारि आरता । धन्य जो लहत भागशुद्धता । धूरि हू अति झुची रथोद्धता ।—छंदः प्रभाकर ।

रथोरग-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन जाति का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है ।

रथोष्मा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक नदी का नाम ।

रथ्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह घोड़ा जो रथ में जोता जाता हो ।

(२) वह जो रथ चलाता हो । (३) चक्र । चाका । पहिया ।

रथ्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रथों का समूह । (२) रथ का मार्ग या लकीर । (३) रास्ता । सड़क । (४) चौक । आँगन । (५) नाली । नाबदान । उ०—कहाँ देवसरि कलुष-बिनासी । कहाँ रथ्या-जल अति मलरासी ।—द्विज ।

रद-संज्ञा पुं० [सं०] दंत । दाँत ।

वि० [अ०] (१) नष्ट । खराब । रही । (२) तुच्छ या निरर्थक । फीका । मात । उ०—सोहत धोती सेत में कनक बरन तन बाल । सारद बारद बीजुरी भा रद कीजत लाल ।—बिहारी ।

रदच्छद-संज्ञा पुं० [सं०] ओंठ । ओष्ठ ।

रदछद-संज्ञा पुं० [सं० रदच्छद] ओंठ । ओष्ठ । उ०—लोचन लोल कपोल ललित अति नासिक को मुका रदछद पर ।—सूर ।

संज्ञा पुं० [सं० रदच्छत] रति आदि के समय दाँतों के लगाने का चिह्न । उ०—पट की ढिग कत ढाँपियत सोभित सुभग सुवेख । हद रदछद छवि देखियत सद रदछद की रेख ।—बिहारी ।

रददान-संज्ञा पुं० [सं० रद + दान] (रति के समय) दाँतों से ऐसा दवाना कि चिह्न पड़ जाय । यह सात प्रकार की बाह्य

रतियों में से एक है। उ०—आलिंगन चुंबन परस मर्दन
नख रद-दान। अधरपान सो जानिये बहिरति सात
सुजान।—केशव।

रदन-संज्ञा पुं० [सं०] दशन। दाँत। दंत।

रदनच्छुद-संज्ञा पुं० [सं०] ओष्ठ। अधर। होंठ।

रदनी-वि० [सं० रदनि] दाँतवाला। उ०—चिबुक मध्य मेचक
रुचि राजत विंदु सुंद रदनी।—सूर।

संज्ञा पुं० हाथी।

रदपट-संज्ञा पुं० [सं०] ओष्ठ। ओंठ। अधर। उ०—माखे
लखन कुटिल भईं अँहैं। रदपट फरकत नयन रिसैंहैं।—
तुलसी।

रदबदल-क्रि० वि० [फा० रद + बदल] परिवर्तन। उलट-पलट।
हेर-फेर। बदल-बदल।

रदी-संज्ञा पुं० [सं० रदिव] हाथी। गज।

रदीफ-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) वह व्यक्ति जो घोड़े पर सवार के
पीछे बैठता है। (२) वह शब्द जो गजलों आदि में प्रत्येक
काफिए या अंत्यानुप्रास के बाद बार बार आता है।
जैसे,—मुझको गले लगा के यह उनका सवाल था। क्यों
जी इसी के वास्ते इतना मलाल था। इसमें सवाल तो
काफिया है; और गजल भर में इसी का अनुप्रास मिलाया
जायगा; पर “था” रदीफ है और यह प्रत्येक युग्म-पद
अथवा शेर के अंत में रहेगा। (३) पीछे की ओर रहनेवाली
सेना।

रदीफवार-क्रि० वि० [अ० + फा०] वर्णमाला के क्रम से।
अक्षर-क्रम से।

रद-वि० [अ०] (१) जो काट या छाँट दिया गया हो। (२)
जो तोड़ या बदल दिया गया हो।

यौ०—रद बदल = परिवर्तन। फेरफार।

(३) जो खराब या निकम्मा हो गया हो।

संज्ञा स्त्री० कै। व्रमन।

रदा-संज्ञा पुं० [देश०] (१) दीवार की पूरी लंबाई में एक बार
रखी हुई एक ईंट की जोड़ाई। ईंटों की बेड़े बल की एक पंक्ति
जो दीवार पर चुनी जाती है। (२) मिट्टी की दीवार उठाने में
उतना अंश, जितना चारों ओर एक बार में उठाया जाता है
और जो कुछ समय तक सूखने के लिये छोड़ दिया जाता
है। इसकी ऊँचाई प्रायः एक हाथ हुआ करती है।

क्रि० प्र०—उठाना।—रखना।—होना।

(३) थाली में मिठाइयों का चुनाव, जो स्तरों के रूप में
नीचे ऊपर होता है। (४) नीचे ऊपर रखी हुई वस्तुओं की
एक तह या खंड।

क्रि० प्र०—चुनना।

(५) कुत्ती में अपने प्रतिपक्षी को नीचे लाकर उसकी

गरदन पर कुहनी और कलाई के बीच की हड्डी से रगड़ते
हुए आघात करना। (पहलवान)

क्रि० प्र०—देना।—लगाना।

(५) चमड़े की वह मोहरी जो भालुओं के सुँह पर बाँधी
जाती है। (कलंदर)

रही-वि० [फा० रद] जो बिलकुल खराब हो गया हो। काम में
न आने योग्य। निकम्मा। निष्प्रयोजन। बेकार।
संज्ञा स्त्री० वे कागज़ आदि जो काम के न होने के कारण
फेंक दिए गए हों। जैसे—यह किताब मैं रही के ढेर में से
निकाल लाया हूँ।

रहीखाना-संज्ञा [हि० रही + फा० खाना] वह स्थान जहाँ खराब
और निकम्मी चीज़ें रखी वा फेंकी जायँ।

रधार-संज्ञा स्त्री० [देश०] ओढ़ने का दोहरा वस्त्र। दोहर।

रधेरा जाल-संज्ञा पुं० [सं० रध्र, = छेद + परा (प्रत्यय) + जाल]
मछली फँसाने के लिये छोटे छेदों का जाल।

रन-संज्ञा पुं० [सं० रण] युद्ध। लड़ाई। संग्राम।

संज्ञा पुं० [सं० अरण्य, प्रा० रन्न] जंगल। बन। बउ०—
बरुनि-बान अस ओपहँ बेधे रन बन ढाँख।—जायसी।

संज्ञा पुं० [?] (१) झील। ताल। (२) समुद्र का छोटा
खंड। जैसे,—कच्छ का रन।

रनकलाफ-क्रि० अ० [देश०, सं० रणन = शब्द करना] घुँघुल
आदि का मंद मंद शब्द होना।

रनछोर-संज्ञा पुं० दे० “रणछोड़”।

रनना-क्रि० अ० [सं० रणन = शब्द करन] बजना। शब्द
करना। शब्द होना। शनकार होना। उ०—नयन दहनवत्
रनत सनद तन लखत अपर जम।—गोपाल।

रनबंका-वि० [सं० रण + हि० बाँका] शूरवीर। बहादुर।

रनबरिया-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की भेड़ जो नेपाल
के जंगलों में पाई जाती है।

रनबाँकुरा-संज्ञा पुं० [सं० रण + हि० बंक, बाँका] शूरवीर।
योद्धा। उ०—जीति को सक संग्राम, दसरथ के रन-
बाँकुरे।—तुलसी।

रनसंपिका-संज्ञा स्त्री० [हि०] गाय। गौ।

रनवादी-संज्ञा पुं० [सं० रण + वादी] शूर। लड़ाका। योद्धा।
उ०—मात न जानसि बालक आदी। हौं बादल सिंह
रनवादी।—जायसी।

रनवास-संज्ञा पुं० [हि० रानी + वास] (१) रानियों के रहने का
महल। अंतःपुर। (२) जनानखाना।

रनवासन-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की फली।

रनित-वि० [हि० रनना] बजता हुआ। झनकार करता हुआ।
उ०—रनित भुंग घंटावली झरत दान मदनीर। मंद मंद
आवत चव्यो कुंजर कुंज समीर।—प्रतापनारायणसिंह।

रनिवास-संज्ञा पुं० दे० “रनवास” ।

रनीक-संज्ञा पुं० [सं० रण + ई (प्रत्य०)] वीर । योद्धा । रण करनेवाला । उ०—कलुष कलंक कलेस कोस भयो जो पटु पाय रावन रनी । सोइ पटु पाय बिभीषन भो भव-भूषन दलि दूषन-अनी । —तुलसी ।

रनेत-संज्ञा पुं० [सं० रण + एत (प्रत्य०)] भाला । (हिं०)

रपट्ठा-संज्ञा स्त्री० [अ० रत्त] अभ्यास । आदत । देव ।

क्रि० प्र०—करना ।—डालना ।—पड़ना ।—होना ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० रपटना] (१) रपटने की क्रिया या भाव । फिसलाहट । (२) दौड़ । (३) उतार, जिस पर से उतरते समय पैर न जम सकता हो । ढाल ।।

संज्ञा स्त्री० [अ० रिपेट] सूचना । इत्तला । उ०—आप केवल इतनी ही कृपा करें कि मेरे बड़ी जाने की रपट कोतवाली में लिखाते जायँ ।—परीक्षागुरु ।

रपटना-क्रि० प्र० [सं० रफन = सरकना । मि० फा० रफतन्]

(१) नीचे या आगे की ओर फिसलना । जम न सकने के कारण किसी ओर सरकना । जैसे,—गीली मिट्टी में पैर रपटना । उ०—(क) बाहों जोरी निकले कुंज तें रीझि रीझि कहैं बात । कुंडल झलमलात झलकत विवि गात चकाचौंध सी लागति मेरे इन नैननि आली रपटत पग नहिं ठहरात । राधा मोहन बने धन चपला ज्यों चमकि मेरी पतरीन में समात । सुरदास प्रभु के वै वचन सुनहु मधुर मधु अब मोहिं भूली पाँच औ सात ।—सूर । (ख) दै पिचकी भजी भीजी तहाँ परे पीछे गुपाल गुलाल उलीचैं । एक ही संग यहाँ रपटे सखि ये भये ऊपर वै भईं नीचे ।—पद्माकर । (ग) हौं अलि आहु गई तरके वाँ महेस जू कालिंदी नीर के कारन । ज्यों पग एक बढ़ायो चहौं रपट्यौ पग दूसरो लागी पुकारन ।—महेस । (२) शीघ्रता से और बिना ठहरे हुए चलना । बहुत जल्दी जल्दी चलना । झपटना । उ०—(क) प्रबल पावक बढ्यौ तहाँ ठाढ्यौ रपटि लपट भरे भवन भँडारी रहीं ।—तुलसी । (ख) रपटत मृगन सरन मारे । हरित बसन सुंदर तनु धारे ।—रघुराज । (ग) अनेक अग्ग वाहहीं कितेक मार छाँहहीं । किते परे कराहहीं हँकार सौं रपटहीं ।—सूदन ।

क्रि० स० (१) किसी काम को शीघ्रता से करना । कोई काम चटपट पूरा करना । जैसे,—थोड़ा सा काम और रह गया है, दो दिन में रपट डालेंगे ।

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।

(२) मैथुन करना । प्रसंग करना । (बाजारू)

रपटाना-क्रि० स० [हिं० रपटना] (१) फिसलाना । सरकाना ।

(२) चटपट पूरा कराना । (३) रपटने का काम दूसरे से कराना ।

रपट्टा-संज्ञा पुं० [हिं० रपटना] (१) फिसलने की क्रिया । फिसलाव ।

मुहा०—रपट्टा मारना = फिसलना ।

(२) दौड़-धूप । झपट्टा ।

मुहा०—रपट्टा लगाना या मारना = दौड़ना । झपटना । लपकना ।

(३) झपट्टा । चपेट । उ०—अरे जो मैं एक संग प्राण छोड़ि कै न भाजती, तौ उनके रपट्टा में कब की आव जाती ।—हरिश्चंद्र ।

रपाती-संज्ञा स्त्री० [१] तलवार । (हिं०)

रपुर-संज्ञा पुं० [सं० हरिपुर] स्वर्ग । (हिं०)

रफ-वि० [अ०] (१) जो साफ और ठीक न हुआ हो, बरिक्त किया जाने को हो । नसूने के तौर पर बना हुआ । (२) जो चिकना न हो । खुरदुरा ।

रफते रफते-क्रि० वि० दे० “रफ्ता रफ्ता” ।

रफल-संज्ञा स्त्री० [अ० राइफल] विलायती ढंग की एक प्रकार की बंदूक । यह दो तरह की होती है । एक तो टोपीदार जिसमें बारूद उसके मुँह की ओर से भरी जाती है; और टोपी चढ़ाकर घोड़े से दागी जाती है । दूसरी बिजलोटन कहलाती है और इसमें बीच में से कारतूस भरा जाता है ।

संज्ञा पुं० [अ० रैफ] जाड़े में ओढ़ने की मोटी चादर जो प्रायः ऊनी होती है । गरम चादर ।

रफा-वि० [अ०] (१) दूर किया हुआ । मिटाया हुआ ।

समाप्त या पूरा किया हुआ । उ०—पर इस जरूरत को रफा करने के लिये कभी कभी ऐसे पुरुष भी अपनी कमर कस बैठते हैं, जो इस काम के सर्वथा अयोग्य हैं ।—द्विवेदी । (२) निवृत्त । शांत । निवारित । दबाया हुआ । जैसे,—झगड़ा रफा करना । उ०—एक औरिउ है नफा हम सफा कीन बिचार । रफा संगहिं होय सब महिपाल को रन प्यार ।—गोपाल ।

यौ०—रफा दफा ।

रफा दफा-वि० [अ०] (१) मिटाया हुआ । निबटाया हुआ ।

दूर किया हुआ । (२) शांत । निवृत्त । जैसे—मामला रफा दफा करना; झगड़ा रफा दफा करना ।

रफीदा-संज्ञा पुं० [अ० रफादा] (१) वह गद्दी जिसके ऊपर जीन कसा जाता है । (२) वह गद्दी जिसे लगाकर नानवाई तंदूर में रोटी चिपकाते हैं । काबुक । (३) गोल पगड़ी । (इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग विशेषतः अवज्ञा या अनादर प्रकट करने के लिये ही होता है ।)

रफू-संज्ञा पुं० [अ०] फटे हुए कपड़े के छेद में तागे भरकर उसे बराबर करना ।

क्रि० प्र०—करना ।—बनाना ।—होना ।

मुहा०—रफू करना = कही हुई दो असंबद्ध या विपरीत बातों में सामंजस्य स्थापित करना। बात बनाना।

रफूगर—संज्ञा पुं० [फा०] रफू करने का व्यवसाय करनेवाला। रफू बनानेवाला।

रफूगरी—संज्ञा स्त्री० [फा०] रफू करने का काम। रफूगरों का काम।

रफूचकर—वि० [अ० रफू + हि० चकर] चंपत। गायब।

मुहा०—रफूचकर बनना या होना = भाग जाना। चलता बनना। गायब हो जाना। जैसे,—वह देखते देखते रफूचकर हो गया।

रफूनी—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) जाने की क्रिया या भाव। (२) माल का बाहर भेजा जाना। माल की निकासी।

रफूार—संज्ञा स्त्री० [फा०] चलने का ढंग या भाव। चाल। गति।

रफूा रफूा—क्रि० वि० [फा०] धीरे धीरे। क्रम क्रम से। उ०—अवल मुझे बड़ गूजरै ताखत करना जानि। रफूते रफूते और भी रहे मुखालिफ मान।—सूदन।

रब—संज्ञा पुं० [अ०] ईश्वर। परमेश्वर। उ०—(क) पीरा पैगंबरा दिगंबरा देखाई देत, सिद्ध की सिधाई गई रही बात रब की।—भूषण। (ख) अरुन अन्यारे जे भरे अति ही मदन मजेज। देखे तुव दग वारबे रब सुकराना भेज।—रसनिधि।

रबड़—संज्ञा पुं० [अ० रबर] (१) एक प्रसिद्ध लचीला पदार्थ जिसका व्यवहार गेंद, फ़ीता, पट्टी, बेलन आदि बहुत से पदार्थ बनाने में होता है। यह अनेक वृक्षों के ऐसे दूध से बनता है, जो पेड़ से निकलने पर जम जाता है। यह चिमड़ा और लचीला होता है। इसमें रासायनिक अंश कार्बन और हाइड्रोजन के होते हैं। यह २४८° की आँच पाकर पिघल जाता है और ६००° की आँच में भाप के रूप में उड़ने लगता है। आग पाने से यह भस्म से जलने लगता है। इस की लौ चमकीली होती है और इसमें से धूआँ अधिक निकलता है। जब इसमें गंधक का फूल या उड़ाई हुई गंधक मिलाकर इसे धीमी आँच में पिघलाकर २५०° से लेकर ३००° की भाप में सिद्ध करते हैं, तब इससे अनेक प्रकार की चीजें जैसे खिलौने, बटन, कंवी आदि बनाई जाती हैं, जो देखने में साँग या हड्डी की जान पड़ती हैं। इस पर सब प्रकार के रंग भी चढ़ाए जाते हैं। रबड़ अफ्रिका, अमेरिका और एशिया के प्रदेशों में भिन्न भिन्न पेड़ों के दूध से बनाया जाता है और वहाँ इससे अनेक प्रकार के उपयोगी पदार्थ बनाए जाते हैं। (२) एक वृक्ष का नाम जो बट वर्ग के अंतर्गत है। यह भारतवर्ष में आसाम, लखीमपुर आदि हिमालय के आस पास के प्रदेशों तथा बरमा आदि में होता है। इसकी पत्तियाँ चौड़ी और बड़ी बड़ी होती हैं और इसका पेड़ लँचा और दीर्घाकार होता है। इसकी

लकड़ी मजबूत और भूरे रंग की होती है। इसी के दूध से उपर्युक्त लचीला पदार्थ बनता है।

संज्ञा स्त्री० [हि० रगड़ा] (१) व्यर्थ का श्रम। फ़ज़ूल हैरानी। (२) गहरा श्रम। रगड़।

क्रि० प्र०—खाना।—पढ़ना।

(३) तै करने के लिये अधिक दूरी। घुमाव। चकर। फेर। जैसे,—उधर से जाने में बड़ी रबड़ पड़ेगी।

रबड़ना—क्रि० सं० [हि० रपटना या सं० वर्तन, प्रा० वटन] (१) घुमाना। चलाना। (२) किसी तरल पदार्थ में कोई वस्तु (करछी आदि) डालकर चारों ओर फेरना। फेंटना।

क्रि० अ० घूमना। फिरना।

रबड़ी—संज्ञा स्त्री० [हि० रबड़ना] औंटाकर गाढ़ा और लच्छेदार किया हुआ दूध जिसमें चीनी भी मिलाई जाती है। बसौंधी।

रबड़ा—संज्ञा पुं० [हि० रबड़ना] (१) वह श्रम जो कहीं बार बार गमनागमन या पद-संचालन से होता है। (२) कीचड़।

मुहा०—रबड़ा पड़ना = खूब पानी बरसना। वृष्टि होना। उ०—जेहि चलते रबदे पड़ा धरती होइ बिहार। सो सावज घामें जरै पंडित करौ बिचार।—कबीर।

रबर—संज्ञा पुं० दे० “रबड़”।

रबरी—संज्ञा स्त्री० दे० “रबड़ी”।

रवाना—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का छोटा डफ जिसमें मँजीरे भी लगे होते हैं और जिसे प्रायः कहार आदि बजाते हैं।

रबाब—संज्ञा पुं० [अ०] सारंगी की तरह का एक प्रकार का बाजा, जिसमें बजाने के लिये तार लगे होते हैं। उ०—(क) सब रग ताँत रबाब तन बिरह बजावै नित्त। और न कोई सुनि सके के साईं के चित्त।—कबीर। (ख) बाजत बिन रबाब किन्नरी अमृतकुंडली यंत्र। सुरसर मंडल जलतरंग मिलि करत मोहनी मंत्र।—सूर। (ग) अरे बजावत कौन दिग हित रबाब के तार। जुरो जात है आइ के बिरहिन को दरबार।—रसनिधि।

रबाबिया—संज्ञा पुं० [हि० रबाब + इया (प्रत्य०)] वह जो रबाब बजाता हो। रबाब बजानेवाला।

रबी—संज्ञा स्त्री० [अ० रबीअ] (१) वसंत ऋतु। (२) वह फसल जो वसंत ऋतु में काटी जाती है। जैसे,—गेहूँ, चना, मटर आदि। उ०—जहाँ जायँ कदम शरीफ। न रहे रबी, न रहे खरीफ। (कहावत)

रबील—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का पक्षी जो पंद्रह सोलह अंगुल लंबा होता है। इसके डैने भूरे, सिर और छाती सफ़ेद, चोंच काली और पैर स्याही रंग के होते हैं। यह हिमालय के किनारे गढ़वाल से आसाम तक पाया जाता है। यह झाड़ियों में घोंसला बनाता और अपैल से जून तक दो से पाँच तक अंडे देता है।

रत्न-संज्ञा पुं० [अ०] (१) अभ्यास । मरक । सुहावरा । रपट ।

क्रि० प्र०—पड़ना । —होना ।

(२) संबंध । मेल ।

यौ०—रत्न जल = मेलजोल । धनिष्ठता । जैसे,—उनसे कुछ रत्न जल पैदा करो, तो तुम्हारा काम हो जायगा ।

रत्न-वि० [सं०] [ली० रत्ना] आरंभ किया हुआ । शुरू किया हुआ ।

रत्न-संज्ञा पुं० दे० “रत्न” ।

रत्ना—संज्ञा पुं० [फा० अरावा] (१) वह गाड़ी जिस पर तोप लादी जाती है । तोपखाने की गाड़ी । (२) वह गाड़ी या रथ जिसे बैल खींचते हैं ।

रत्नाव-संज्ञा पुं० दे० “रत्न” ।

रत्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेग । (२) हर्ष । (३) प्रेमोत्साह । (४) उत्सुकता । औत्सुक्य । (५) पूर्वापर या कारण-कार्य का विचार । (६) संश्रम । (७) पछतावा । रंज । (८) वाल्मीकि रामायण के अनुसार अश्वों का एक संहार, अर्थात् शत्रु के चलाए हुए अश्व को निष्फल करने की विधि जो विश्वामित्र ने रामचंद्र जी को सिखलाई थी । (९) रामायण के अनुसार एक राक्षस का नाम ।

रत्नेयक-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक राक्षस का नाम । कहते हैं कि यह साँप के रूप में रहता था ।

रत्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव । (२) लाल अशोक । (३) प्रेमी । (४) पति ।

वि० (१) प्रिय । (२) सुंदर । (३) आनंददायक । हर्षोत्पादक । (४) जिससे मन प्रसन्न हो ।

संज्ञा पुं० [अ०] एक प्रकार की शराब जो जौ से बनाई जाती है ।

रत्नक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रेम-पात्र । कांत । प्रेमी । (२) उपपति । जार ।

संज्ञा स्त्री० [हि० रमना ?] (१) झूले की पेंग । (२) तरंग । झकोरा । उ०—खेलत फाग भरी अनुराग सुहाग सनी सुख की रमकें ।

संज्ञा स्त्री० [अ० रमक] (१) थोड़ा सा साँस जो मरते समय निकलने को शेष रह गया हो । अंतिम श्वास । (२) हलका प्रभाव । (३) स्वल्प भाग । बहुत थोड़ा अंश । (४) नशे का थोड़ा असर । जैसे,—जरा सी रमक मालूम हो रही है ।

वि० जरा सा । बहुत थोड़ा ।

रत्न-कजरा-संज्ञा पुं० [हि० राम + काजल] एक प्रकार का धान जो भादों में पकता है । यह पकने पर काले रंग का होता है और मोटा धान माना जाता है । नेपाल की तराई में यह अधिकता से होता है । बगरी या बक्की से इसके

चावल कुछ लंबे होते हैं और कूटने पर सफेद रंग के निकलते हैं ।

रमकना-क्रि० अ० [हि० रमना] (१) हिंडोले पर झूलना । हिंडोले पर पेंग मारना । उ०—कबहुँक निकट देखि वर्षा ऋतु झूलत सुरंग हिंडोरे । रमकत झमकत जनक सुता सँग हाव भाव चित चोरे ।—सूर । (२) झमते हुए चलना । इतराते हुए चलना ।

रमचकरा—संज्ञा पुं० [हि० राम + चक्र] बेसन की मोटी रोटी ।

रमचा—संज्ञा पुं० [हि० चमचा] छोटी करछी । चमचा ।

रमजान-संज्ञा पुं० [अ०] एक अरबी महीने का नाम । इस महीने में मुसलमान रोज़ा रखते हैं ।

रमझोला—संज्ञा पुं० दे० “रमझोला” ।

रमझोला-संज्ञा पुं० [डि०] पैर में पहनने के घुँवरू । नूपुर ।

रमठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हींग । (२) एक प्राचीन देश का नाम । (३) इस देश का निवासी ।

रमण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आनंदोत्पादक क्रिया । विलास । क्रीड़ा । केलि । (२) मैथुन । (३) गमन । घूमना । विचरना । (४) पति । (५) कामदेव । (६) जघन । (७) गधा । (८) अंडकोश । (९) सूर्य का अरुण नामक सारथी । (१०) एक वन का नाम । (११) एक वर्णिक छंद का नाम । इसके प्रत्येक चरण में तीन अक्षर होते हैं, जिनमें दो लघु और एक गुरु होता है । जैसे,—दुख क्यों । टरिहैं । हरि जू । हरिहैं ।

वि० (१) मनोहर । सुंदर । (२) जिसके मिलने से आनंद उत्पन्न हो । प्रिय । (३) रमनेवाला ।

रमणक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जंबूद्वीप के अंतर्गत एक वर्ष या खंड का नाम । इसे रम्यक भी कहते हैं । वि० दे० “रम्यक” । (२) वीतहोत्र के पुत्र का नाम ।

रमणगमना-संज्ञा स्त्री० [सं०] साहित्य में एक प्रकार की नायिका जो यह समझकर दुःखी होती है कि संकेत स्थान पर नायक आया होगा, और मैं वहाँ उपस्थित न थी । उ०—छटी सपलव लाल कर लखि तमाल की हाल । कुँभिलागी उर साल धरि फूल माल ज्यों बाल ।—बिहारी ।

रमणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक शक्ति का नाम जो रातमीर्थ में है ।

रमणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नारी । स्त्री । (२) सुंदर स्त्री । (३) बाला या सुगंधबाला नामक गंध द्रव्य ।

रमणीक-वि० [सं० रमणीय] सुंदर । मनोहर । उ०—अति रमणीक कदंब छाँह रुचि परम सुहाई । राजत मोहन मभ्य अवलि बालक की पाई ।—सूर ।

रमणीय-वि० [सं०] सुंदर । मनोहर ।

रमणीयता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुंदरता । (२) साहित्य-

दर्पण के अनुसार वह माधुर्य जो सब अवस्थाओं में बना रहे या क्षण क्षण में नवीन रूप धारण किया करे।

रमता—वि० [हि० रमना = घूमना फिरना] एक जगह जमकर न रहनेवाला। घूमता फिरता। जैसे,—रमता जोगी।

रमति—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नायक। (२) स्वर्ग। (३) कौवा। (४) काल। (५) कामदेव।

रमदी—संज्ञा पुं० [हि० राम + सं० आय] एक प्रकार का जड़हन जो अगहन के महीने में पकता है। इसका चावल सालों तक रह सकता है।

रमन—संज्ञा पुं० वि० दे० “रमण”।

रमनक—संज्ञा पुं० दे० “रमणक”।

रमनखोरा—संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार की मछली जिसे कँवल-सोरा भी कहते हैं।

रमना—क्रि० अ० [सं० रमण] (१) भोग-विलास या सुख-प्राप्ति के लिये कहीं रहना या ठहरना। मन लगाने के कारण कहीं रहना। उ०—(क) रमि रैन सबै अनतै बितई सो कियो इत आवन भोर ही को।—(ख) केशवदास सविलास तेरे मुख को सुवास सखी सुनि आरस ही सारसनि लै रही।—केशव। (२) भोग-विलास या रति-क्रीड़ा करना। उ०—(क) अधिवरणा अरु अंग घटि अंजय जन की नारि। तजि विधवा अरु पूजिता रमियहु रसिक बिचारि।—केशव। (ख) राति कहूँ रमि आयो बरै उर मानै नहीं अपराध किये को।—पद्माकर। (३) आनंद करना। चैन करना। मजा उड़ाना। उ०—चहुँ भाग बाग तड़ाग। अब देखिये बड़ भाग। फल फूल सो संयुक्त। अलि यों रमैं जनु मुक्त।—केशव। (४) चारों ओर भरपूर होकर रहना। व्याप्त होना। भीनना। उ०—(क) आध्यात्मिक होइ आत्मा रमत यासों यह बलराम पुनि।—गोपाल। (ख) पाइ पूरण रूप को रमि भूमि केशव-दास।—केशव। (ग) मैं सिरजा मैं मारहूँ मैं जारों मैं खाउँ। जल थल मैं ही रमि रखौँ मोर निरंजन नाउँ।—कबीर। (५) अनुरक्त होना। लग जाना। उ०—महादेव अवगुन भवन विष्णु सकल गुणधाम। जेहि कर मन रम जाहि सन तेहि तेहि सन काम।—तुलसी। (६) किसी के आस पास फिरना। घूमना। उ०—(क) कोई परै भँवर जल माँहाँ। फिरत रमहि कोइ देइ न बाँहाँ।—जायसी। (ख) लसत केतकि के कुल फूल सों। रमत भौर भरे रसमूल सों।—गुमान। (७) चलता होना। चल देना। गायब हो जाना। उ०—झाल उठी झोली जली खपरा फूटम फूट। जोगी था सो रम गया, आसन रही भभूत।—कबीर।

संयो० क्रि०—देना।—जाना।

(८) आनंदपूर्वक इधर उधर फिरना। विहार करना। मनमाना घूमना। विचरना। उ०—(क) जे पद पद्म रमत वृंदावन अहि सिर धारे अगनित रिपु मारे।—सूर। (ख) गोपिन सँग निसि सरद की रमत रसिक रसरासि। लहा छेह अति गतिन की सबन लखे सब पास।—बिहारी।

संज्ञा पुं० [सं० आराम या रमण] (१) वह हरा भरा स्थान जहाँ पशु चरने के लिये छोड़ दिए जाते हैं। चरागाह। उ०—इत जमना रमना उतै बीच जहानाबाद। तामें बसने की करौ करौ न बाद विवाद।—रत्ननिधि। (२) वह सुरक्षित स्थान या घेरा, जहाँ पशु शिकार के लिये या पालने के लिये छोड़ दिए जाते हैं और जहाँ वे स्वच्छंदतापूर्वक रहते हैं। (३) घेरा। हाता। (४) बाग। (५) कोई सुंदर और रमणीक स्थान।

रमनी—संज्ञा स्त्री० दे० “रमणी”।

रमनीक—वि० दे० “रमणीक”।

रमनीय—वि० दे० “रमणीय”।

रमल—संज्ञा पुं० [अ०] एक प्रकार का फलित ज्योतिष जिसमें पासे फेंककर उसके बिंदुओं के अनुसार शुभाशुभ फल का अनुमान किया जाता है। यह शास्त्र पहले अरबी भाषा में था और मुसलमानों के साथ साथ भारतवर्ष में आया था। संस्कृत में भी पंडितों ने रमल विषयक अनेक ग्रंथ रचे हैं।

रमा—संज्ञा स्त्री० [सं०] लक्ष्मी।

विशेष—इस शब्द में कांत, पति, रमण आदि अथवा इनके वाची शब्द लगाने से विष्णु का अर्थ होता है। जैसे,—रमाकांत, रमापति, रमारमण।

रमाकांत—संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

रमाधव—संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

रमानरेश—संज्ञा पुं० [हि० रमा + नरेश = पति] विष्णु। उ०—जय जय करत सकल सुर नर मुनि जल में कियो प्रवेश। जाय पताल बाट गहि लीन्ही धरणी रमानरेश।—सूर।

रमाना—क्रि० स० [हि० रमना का स० रूप] (१) अनुरंजित करना। अनुरक्त बनाना। मोहित करना। लुभाना। उ०—(क) अति पतिहि रमावै चित प्रभावै सौतिन प्रेम बढ़ावै।—केशव। (ख) महा कमनीय रमनीय रमनीय हू रमावै नर मन हूँ कै रूप रज रेई कै।—देव। (ग) गोरस मयत नाद इक उपजत किंकिनि धुनि मुनि श्रवण रमावति।—सूर। (२) अपने अनुकूल बनाना। उ०—जैसे माया मन रमै तैसे राम रमाय। तारा मंडल छाँड़ि कै जहँ केशव तहँ जाय।—कबीर। (३) ठहराना। रोक रखना। (४) संयुक्त करना। लगाना। जोड़ना।

मुहा०—**रास रमाना** = रास जोड़ना। रास रचना। उ०—जाकी

जाकी महिमा कहत न आवै। सो गोपिन सग रास रमावै।
सूर। विभूति वा अभूत रमाना = शरीर में भभूत लगाना।
भभूत पोतना। उ०—असुखन की सेली गल में लगत सुहाई।
तन धूर जमी सोइ अंग भभूत रमाई।—हरिचंद्र। मन
रमाना = दुःखी या चिंतित मन को किसी प्रकार प्रसन्न करना।
मन बहलाना।

रमानिवास-संज्ञा पुं० [हि० रमा + निवास] लक्ष्मीपति, विष्णु।
उ०—सो राम रमानिवास संतत दास बस त्रिभुवनधनी।
मम उर बसत सो समन संसृति जासु कीरति पावनी।—
तुलसी।

रमारमण-संज्ञा पुं० [सं०] रमापति। लक्ष्मीपति। विष्णु।
रमाली-संज्ञा पुं० [फ्रा० रमाली] एक प्रकार का बारीक और
स्वादु चावल जो कर्नाटक में होता है।

रमावीज-संज्ञा पुं० [सं०] एक तांत्रिक मंत्र जिसे लक्ष्मीवीज
भी कहते हैं। श्री।

रमावेष-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीवास चंदन जिससे ताड़पीन नामक
तेल निकलता है।

रमास-संज्ञा पुं० दे० “रवाँस”।

रमित-वि० [हि० रमना] लुभाया हुआ। लुब्ध। उ०—आवै
सुरतिय करि शृंगारा। रमित रहै नृप करै बिहारा।—
सबल।

रमी-संज्ञा स्त्री० [मलाय०] एक प्रकार की घास जो सुमात्रा आदि
द्वीपों में होती है। यह रीहा के समान कागज और रस्सी
आदि बनाने के काम में आती है। सुमात्रावाले इसे कलई
कहते हैं। पहले इसे कुछ लोग भ्रमवश रीहा ही समझते
थे।

रमूज-संज्ञा स्त्री० [अ० रमज का बहु०] (१) कयस। (२) सैन।
इशारा। (३) पहेली। गूढ़ार्थ वाक्य। (४) इलेष। (५)
गुप्त बात। भेद। रहस्य। उ०—यों कहि मौन भये अज-
नंदन कैकय राज रमूज सी पाई।—हनुमान।

रमेश-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

रमेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

रमैती-संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) किसानों की एक रीति जिसमें
एक कृषक आवश्यकता पड़ने पर दूसरे के खेत में काम
करता है और उसके बदले में वह भी उसके खेत में काम
कर देता है। इसमें मजदूरी बच जाती है और काम के
बदले में दूसरों के खेतों में काम कर देना होता है। इसे
पूर्व में पैठ और अवध के उत्तरीय भागों में हूँद कहते हैं।
(२) वह नफरी या काम का दिन जो इस प्रकार कार्य
करने में लगे।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—लगाना।

रमैनी-संज्ञा स्त्री० [हि० रामायण] कबीरदास के बीजक का एक
भाग जिसमें दोहे और चौपाइयाँ हैं।

रमैया-संज्ञा पुं० [हि० राम + ऐया (प्रत्य०)] (१) राम। उ०—
वहाँ सब संकट दुर्घट सोच तहाँ मेरो साहेब राखै रमैया।—
तुलसी। (२) ईश्वर।

रम्माल-संज्ञा पुं० [अ०] रमल फेंकनेवाला। पासा फेंककर
फलित कहनेवाला।

रम्य-वि० [सं०] [स्त्री० रम्या] (१) मनोहर। सुंदर। (२)
मनोरम। रमणीय।

संज्ञा पुं० (१) चंपा का पेड़। (२) बक का पेड़। अगस्त।
(३) परवल की जड़। (४) वीर्य। (५) अग्नि के एक पुत्र
का नाम। (६) वायु के सात भेदों में एक, जो घंटे में चार
से सात कोस तक चलती है।

रम्यक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जंबू द्वीप के नौ खंडों या वर्षों में
से एक। यह मेरु के दक्षिण और श्वेत पर्वत के उत्तर वायव्य
कोण में माना गया है। कहते हैं कि यहाँ वट की जाति का
एक वृक्ष होता है, जिसे खाकर यहाँ के लोग कई दिन तक
रह सकते हैं। इसे रोहित भी कहते हैं। (२) महानिब।
वकायन।

रम्यकक्षीर-संज्ञा पुं० [सं०] महानिब। वकायन।

रम्यग्राम-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक गाँव
का नाम।

रम्यपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] सेमल का पेड़।

रम्यफल-संज्ञा पुं० [सं०] कुचिला।

रम्यश्री-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

रम्यसानु-संज्ञा पुं० [सं०] पहाड़ के शिखर पर की समतल
भूमि। प्रस्थ।

रम्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रात। (२) गंगा नदी। (३) स्थल
पद्मिनी। (४) महेंद्रवारणी। इंद्रायन। (५) लक्षणा कंद।
(६) मेरु की कन्या का नाम जो रम्य से व्याही थी। (७)
धैवत स्वर की तीन श्रुतियों में से अंतिम श्रुति का नाम।
(८) एक रागिनी का नाम।

रम्याक्षि-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम।

रम्यामली-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुई आँवला।

रम्हाना-क्रि० अ० [सं० रंभण] गाय का बोलना। रँभाना।
उ०—(क) तौ लागि गाय रम्हाय उठी कवि देव बभूनि
मथ्यो दधि को घट।—देव। (ख) घोरिहुँ कोरिये आइ
गई सु रम्हाइ के धाड़ के लागी चुखावन।—देव।

रय-संज्ञा पुं० [सं० रज] रज। धूल। गर्द। उ०—ठाकुर विराजै
जहाँ खेलै सुत औरन के डारें ईंट खोवा रयो प्रभु पर
खीजियो।—प्रियादास।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेग। तेजी। उ०—यहु जानत है

के सब गुण रथ के बासों रहत चुपाइ ।—गुमान । (२)

प्रवाह । (३) ऐल के छः पुत्रों में से चौथे पुत्र का नाम ।

रथरापत-संज्ञा पुं० [सं० रजनीपति] चंद्रमा । (हिं०)

रथनक्षत्र-संज्ञा स्त्री० दे० “रथनि”

रथनाक्षत्र-क्रि० प्र० [सं० रंजन] (१) रंग से भिगोना । तराबोर करना । उ०—भरहिं अभीर अरगजा छिरकहिं सकल लोक एक रंग रये ।—तुलसी । (२) किसी के प्रेम में मग्न होना । अनुरक्त होना । (३) संयुक्त होना । मिलना । उ०—(क) करिये युत भूषण रूप रयी । मिथिलेश सुता इक स्वर्ण-मयी ।—केशव । (ख) ओंठ रचि रेख सविशेष शुभ श्री रये ।—केशव ।

रथनिक्षत्र-संज्ञा स्त्री० [सं० रजनी, प्रा० रथणी] रात्रि । निशा । रात ।

रथास्त-संज्ञा स्त्री० दे० “रियास्त” ।

रथिष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुवेर का एक नाम । (२) अग्नि । (३) एक प्रकार का साम ।

रथ्यत-संज्ञा स्त्री० [अ० रथ्यत] प्रजा । रियाया । रैयत । उ०—सुनि शत्रु मित्र की नृपचरित्र की रथ्यति रावत बात ।—केशव ।

ररंकार-संज्ञा पुं० [सं० रकार] रकार की ध्वनि । उ०—रग रग बोलै रामजी रोम रोम ररंकार ।—कबीर ।

ररक्ष-संज्ञा स्त्री० [हिं० ररना] रटन । रट । उ०—(क) घन सारस होइ रर मयी आप सु भेटहिं पंख ।—जायसी । (ख) झरिय सार तिहिं पर अपार मुख मारु मारु रर ।—सूदन ।

ररक-संज्ञा स्त्री० [अनु०] ररकने का भाव । कसक । साल । टीस ।

ररकना-क्रि० प्र० [अनु०] कसकना । किरकिराना । सालना । पीड़ा देना । टीसना । उ०—सपने कि सौति कन्यो सोवत कि जागत ही जानी न परति रोम रोम ररकत है—देव ।

ररना-क्रि० प्र० [सं० रटन, प्रा० रडन] लगातार एक ही बात कहना । बार बार कहना । रटना । उ०—(क) पिय पिय चातक जौ ररी मरै सेवात पियास ।—जायसी । (ख) हरि हरि हौं हा हा ररौ हरे हरे हरि ररि ।—केशव । (ग) बदन उवारत ही मदन सुयोधन ही द्रौपदी ज्यों नाउँ मुख तेरोई ररति है ।—केशव ।

ररिहा-संज्ञा पुं० [हिं० ररना + हा (प्रत्य०)] (१) ररनेवाला । (२) रटुवा या रुखा नामक पक्षी जो उल्लू की जाति का है । (३) बार बार गिड़गिड़ाकर माँगनेवाला । माँगने की धुन लगानेवाला । भारी मंगन । उ०—द्वारे हौं भोर ही को आजु । रटत ररिहा आरि और न कौरही तैं काजु ।—तुलसी ।

ररा-वि० [हिं० रार = भगड़ा] रार करनेवाला । झगड़ा।

संज्ञा पुं० [हिं० ररना] (१) बहुत गिड़गिड़ाकर माँगनेवाला । भारी मंगन । (२) अधम । नीच । उ०—काम पड़ने पर अपने एक भाई को कह डालें कि तुम नीच हो, जाति में हेठे हो, ररा हो, षटकुल में नहीं हो ।—बालकृष्ण भट्ट ।

ररत्तक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन देश का नाम ।

ररतनाक्षत्र-क्रि० प्र० [सं० ललन = लुब्ध होना] एक में मिलना । सम्मिलित होना । उ०—(क) माल लसै धवली गर में कर दीन दयाल रली मुरली है ।—दीनदयाल । (ख) चली पीठ दै दृष्टि फिरावति अँग आनंद रली ।—सूर । (ग) कुंज ते कुंज रली रस पुंज मैं गुंजति डोलति भौरी भई हैं ।—सुंदर ।

रथी-संज्ञा पुं० [हिं० रलना = पुलना] मिलना । मिलना जुलना । एक हो जाना ।

ररतानाक्षत्र-क्रि० प्र० [हिं० रलना का सक० रूप] एक में मिलाना । सम्मिलित करना ।

रली-संज्ञा स्त्री० [सं० ललन = केलि, क्रीड़ा] (१) विहार । क्रीड़ा । उ०—खरी पातरी कान की कौन बहाऊँ बानि । आक कली न रली करै अली अली जिय जानि ।—बिहारी । (२) आनंद । प्रसन्नता । उ०—विविधि कियो व्याह विधि वसुदेव मन उपजी रली ।—सूर ।

रथी-संज्ञा पुं० [देश०] रंगरली । रंगरलियाँ ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] चेना नामक अन्न ।

रल-संज्ञा पुं० [हिं० रला] रला । हला । उ०—(क) दल दक्खिनी करि रल । मिलि गए लै भुज भल ।—सूदन । (ख) धरि धरि आयुध हथ गथ के गथ उछलिय । दै दै दिवनिसान करत आपुस मैं रलिय ।—सूदन ।

रलक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मृग ।

रव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गुंजार । ध्वनि । नाद । उ०—(क) कूजत कल रव हंस गन गुंजत मंजुल भृंग ।—तुलसी । (ख) कलहंस पिक सुक सरस रव करि गान नाचहिं अपसरा ।—तुलसी । (२) आवाज । शब्द । (३) शोर । गुल ।

संज्ञा पुं० [सं० रवि] सूर्य । उ०—पावते मरम तौ न आवते जनक धाम जानहौं रूप देख वरहै रव के ।—हृदयराम ।

संज्ञा पुं० [देश०] जहाज की चाल या गति । रुम । (लश०)

रवक-संज्ञा पुं० [देश०] रेंडू नामक वृक्ष ।

संज्ञा पुं० [सं०] वे मोती जो एक धरण (परिमाण) में ३० चढ़ते हों ।

रवकना-क्रि० प्र० [हिं० रमना = चलना] (१) जल्दी से आगे

बढ़ना। दौड़ना। लपकना। उ०—(क) सेमर खजूर जाय पर रही शूर मग ताही के तुरंग तहाँ देख रवकत है।—हृदयराम। (ख) नैन मीन सरवर आनन में चंचल करत बिहार। मानो कर्णकूल चारा को रवकत बारंवार।—सूर। (ग) लीने बसन देखि ऊँचे दुम रवकि चढ़नि बलवीर की।—सूर। (घ) परम सनेह बढ़ावत मातनि रवकि रवकि हरि बैसत गोद।—सूर। (२) उमगना। उछलना। उ०—यह अति प्रबल स्वाम अति कोमल रवकि रवकि उर परते।—सूर।

रवण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काँसा नामक धातु। (२) रव। शब्द। (३) कोयल। (४) ऊँट। (५) विदूषक या भाँड़। वि० (१) शब्द करता हुआ। (२) गरम। तप्त। (३) अस्थिर। चंचल।

रवणरेतो-संज्ञा स्त्री० [हि० रमण + रेती] गोकुल के समीप यमुना किनारे की रेतीली भूमि, जहाँ श्रीकृष्ण ग्वालों के साथ खेला करते थे।

रवताई-संज्ञा स्त्री० [हि० रावत + आई (प्रत्य०)] (१) राजा या रावत होने का भाव। (२) प्रभुत्व। स्वामित्व। उ०—धन सो खेल खेल सह पेमा। रवताई औ कूसल खेमा।—जायसी।

रवथ-संज्ञा पुं० [सं०] कोयल।

रवन-संज्ञा पुं० [सं० रमण] पति। स्वामी। उ०—पिय निठुर बचन कहे कारन कवन। जानत हौ सब के मन की गति मृदु चित परम कृपाल रवन।—तुलसी।

वि० रमण करनेवाला। क्रीड़ा करनेवाला। उ०—(क) राग रवन आजन भवन शोभन श्रवण पवित्र।—केशव। (ख) मम मन मनहुँ मिलिद रहत पास तव चरन के। करहु कृपा गोविंद राधारवन कृपायतन।—गोपाल।

रवना-संज्ञा क्रि० अ० [सं० रमण] क्रीड़ा करना। रमण करना। उ०—जैसी रवै जयश्री करवालहि। ज्यों अलिनी जलजात रसालहि।—केशव।

क्रि० अ० [हि० रव = शब्द] शब्द करना। बोलना। ‡ संज्ञा पुं० दे० “रावण” उ०—बहुतहि अस गढ़ कीन्हेस जोवना। अंत भई लंकापति रवना।—जायसी।

रवनि, रवनी-संज्ञा स्त्री० [सं० रमणी] (१) स्त्री। भार्या। पत्नी। उ०—(क) राज-रवनि गावत हरि को यश। रुदन करत सुत को समुझावति राखति श्रवणनि प्याइ सुधारस।—सूर। (ख) गर्भस्रवहि अवनी रवनि सुनि कुठार गति घोर। परसु अछत देखउँ जियत वैरी भूप किशोर।—तुलसी। (२) रमणी। सुंदरी।

रवना-संज्ञा पुं० [फ्रा० रवाना] (१) वह नौकर जो स्त्रियों के काम काज करने वा सौदा सुलफ़ लाने को ब्योढ़ी पर

रहता है। (मुसल०) (२) वह कागज़ जिस पर रवाना किए हुए माल का ब्योरा होता है। (३) चुंगी आदि की वह रसीद या इसी प्रकार का और कोई प्रमाणपत्र जो किसी जानेवाली चीज़ के साथ रहता है। राहदारी का परवाना।

वि० दे० “रवाना”।

रवाँ-वि० [फ्रा०] (१) बहता हुआ। प्रवाहित। (२) जारी। चलता हुआ। (३) मक्क किया हुआ। घोंटा हुआ। अभ्यस्त। (४) पैना। तेज़। चोखा। (शस्त्र आदि) (५) दे० “रवाना”।

रवाँस-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बोड़ा या लोबिया जिसकी तरकारी बनती है।

रवा-संज्ञा पुं० [सं० रज, प्रा० रञ्ज = धूल] (१) किसी चीज़ का बहुत छोटा टुकड़ा। कण। दाना। रेज़ा। जैसे,—चाँदी का रवा; मिर्ची का रवा।

मुहा०—रवा भर = बहुत थोड़ा। ज़रा सा।

(२) सूजी। (३) बारूद का दाना। (४) धुँवरों में शब्द करने के लिये डालने के छर्रे।

वि० [फ्रा०] (१) उचित। ठीक। वाजिब। (२) प्रचलित। चलनसार।

रवाज-संज्ञा स्त्री० [फ्रा०] वह बात या कार्य जो किसी वंश, समाज या नगर आदि में बहुत दिनों से बराबर होता चला आया हो। परिपाटी। चाल। प्रथा। रस्स। चलन। रीति। क्रि० प्र०—चलना।—पाना।—होना।

मुहा०—रवाज देना = प्रचलित करना। जारी करना। रवाज पकड़ना = धीरे धीरे प्रचार पा जाना। प्रचलित होना। जारी होना।

रवादार-वि० [फ्रा० रवा + दार (प्रत्य०)] (१) संबंध रखनेवाला। लगाव रखनेवाला। (२) शुभचित्तक। हितैषी। वि० [हि० रवा + फ्रा० दार] जिसमें कण या दाने हों। दानेदार। रवेवाला।

रवानगी-संज्ञा स्त्री० [फ्रा०] रवाना होने की क्रिया या भाव। प्रस्थान। चाल।

रवाना-वि० [फ्रा०] (१) जिसने कहीं से प्रस्थान किया हो। जो कहीं से चल पड़ा हो। जो बिदा या रुखसत हुआ हो। प्रस्थित। (२) भेजा हुआ।

रवानी-संज्ञा स्त्री० [फ्रा०] (१) रवाँ होने का भाव। बहाव। प्रवाह। (२) बिदाई। रुखसती। (क्र०)

रवाब-संज्ञा पुं० दे० “रवाब”।

रवाबिया-संज्ञा पुं० [देश०] लाल बलुआ पत्थर।

संज्ञा पुं० दे० “रवाबिया”।

रवायत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) कहानी। किस्सा। (२) कहावत।

रवा रवी-संज्ञा स्त्री० [रा० रवा + अनु० रवी] (१) जल्दी। शीघ्रता। (२) भागभाग। दौड़ादौड़।

रवासन-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का वृक्ष जिसके बीज और पत्ते ओषधि के रूप में काम में आते हैं।

रवि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य। (२) मदार का पेड़। आक। (३) अग्नि। उ०—बोले रवि नृप हवि यह लीजै। यथायोग्य निज रानिन दीजै।—विश्राम। (४) नायक। सरदार। (५) लाल अशोक का वृक्ष। (६) पुराणानुसार एक आदित्य का नाम। (७) एक पर्वत का नाम। (८) महाभारत के अनुसार धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम।

रविकर-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य की किरण।

रविकांतमणि-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्यकांत नामक मणि। वि० दे० “सूर्यकांत”।

रविकुल-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्यवंश।

विशेष—इस शब्द के अंत में रवि, मणि आदि शब्द लगाने से उसका अर्थ “रामचंद्र” होता है। जैसे,—रविकुल रवि, रवि कुल-मणि।

रविचंचल-संज्ञा पुं० [सं०] लोलार्क नामक तीर्थस्थल जो काशी में है। उ०—रविचंचल अरु ब्रह्म-द्रव बीच सु-वास विचारि। तुलसिदास आसन करे अवनि-सुता उर धारि।—सुधाकर।

रविचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य का मंडल। (२) सूर्य के रथ का पहिया। (३) फलित ज्योतिष में एक प्रकार का चक्र जो मनुष्य के शरीर के आकार का होता है और जिसमें यथा-स्थान नक्षत्र आदि रखकर बालक के जीवन की शुभ और अशुभ बातें जानी जाती हैं।

रविज-संज्ञा पुं० [सं०] शनैश्वर, जिसकी उत्पत्ति रवि या सूर्य से मानी जाती है।

रविजकेतु-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के केतु या पुच्छल तारे जिनकी उत्पत्ति सूर्य से मानी गई है। कहते हैं कि इनका आकार प्रायः हार के समान और वर्ण सोने के समान होता है और ये पूर्व या पश्चिम दिशा में दिखाई देते हैं।

रविजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] यमुना। कालिंदी।

रविजात-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य की किरण।

रविजेंद्र-संज्ञा पुं० [सं०] जैनों के एक आचार्य का नाम।

रवितनय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यमराज। (२) सावर्णि मनु। (३) वैवस्वत मनु। (४) शनैश्वर। (५) सुग्रीव। (६) कर्ण। (७) अश्विनीकुमार।

रवितनया-संज्ञा स्त्री० [सं०] सूर्य की कन्या, यमुना। उ०—(क) गए श्याम रवितनया के तट अंग लसति चंदन की खोरी।—सूर। (ख) जमुना जल विहरत नंदनंदन संग

मिली सुकुमारि। सूर धन्य धरनी वृंदावन रवितनया सुख-कारि।—सूर।

रवितनुजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] यमुना।

रवितीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन तीर्थ का नाम।

रविदिन-संज्ञा पुं० [सं०] रविवार। एतवार।

रविनंद, रविनंदन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कर्ण। उ०—गुरुहि नाइ सिर भेंटि पुनि अति हित द्रोणकुमार। मग महीं मिलि रविनंदनहिं जात भए आगार।—सबल। (२) सुग्रीव। उ०—रविनंदन जब मिले राम को अरु भेंटे हनुमान। अपनी बात कही उन हरि सों बालि बड़ो बलवान।—सूर। (३) सावर्णि मनु। (४) वैवस्वत मनु। (५) शनि। (६) यम। (७) अश्विनीकुमार।

रविनंदिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] यमुना। उ०—विधि निषेधमय कलिमल हरनी। कर्मकथा रविनंदिनि बरनी।—तुलसी।

रविनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] पद्म। कमल।

रविपुत्र-संज्ञा पुं० दे० “रविनंदन”।

रविपूत-संज्ञा पुं० दे० “रविनंदन”।

रविप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल कमल। (२) ताँबा। (३) लाल कनेर। (४) मदार। आक। (५) लकुच या लकुट नामक फल या उसका वृक्ष।

रविप्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार देवी की एक मूर्ति।

रविबिंब-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य का मंडल। (२) माणिक्य। मानिक।

रविमंडल-संज्ञा पुं० [सं०] वह लाल मंडल या गोला जो सूर्य के चारों ओर दिखाई देता है। रविबिंब। उ०—(क) जयति वात संजात जयति रविमंडल ग्रासक।—विश्राम। (ख) रविमंडल जनु जाल काटि विधि धरे नखत गन।—गिरधर।

रविमणि-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्यकांत मणि।

रविरत्न-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्यकांत नामक मणि।

रविरत्नक-संज्ञा पुं० [सं०] माणिक्य। मानिक।

रविलोचन-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

रविलौह-संज्ञा पुं० [सं०] ताँबा।

रविवंश-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्यकुल।

रविवंशी-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्यकुल में उत्पन्न। सूर्यवंशी।

रविवाण-संज्ञा पुं० [सं०] वह वाण जिसके चलाने से सूर्य का सा प्रकाश उत्पन्न हो। उ०—खग शायक पिप्पिल प्रमाण। अंधकार औरहु रविवाणा।—सबलसिंह।

रविवार-संज्ञा पुं० [सं०] सप्ताह के सात दिनों या वारों में से एक जो सूर्य का वार माना जाता है और जो शनिवार के बाद तथा सोमवार के पहले पड़ता है। आदित्यवार। एतवार। उ०—फागुन बदि चौदस शुभ दिन औ रविवार सुहायो।—सूर।

रविचार-संज्ञा पुं० [सं०] रविचार । एतवार ।
रविश-संज्ञा स्त्री० [का०] (१) गति । चाल । (२) तौर ।
 तरीका । ढंग । (३) कथारियों के बीच में चलने के लिये
 बना हुआ छोटा मार्ग ।
कि० प्र०—कटना ।—काटना ।
रविसंक्रांति-संज्ञा स्त्री० [सं०] सूर्य का एक राशि में से दूसरी
 राशि में जाना । सूर्य संक्रमण । वि० दे० “संक्रांति” ।
रविसंज्ञक-संज्ञा पुं० [सं०] ताँबा ।
रविसारथि-संज्ञा पुं० [सं०] अरुण ।
रविसुंदर-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का रस जो
 भगंदर के लिये बहुत उपकारी माना जाता है ।
रविसुअन-संज्ञा पुं० [सं० रविसूनु] (१) सूर्य के पुत्र, अश्विनी-
 कुमार । उ०—किधौं रविसुअन मदन ऋतुपति किधौं हरिहर
 वेष बनाए ।—तुलसी । (२) दे० “रविनंदन” ।
रविसुत-संज्ञा पुं० दे० “रविनंदन” ।
रविसूनु-संज्ञा पुं० दे० “रविनंदन” ।
रवीशु-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव ।
रवैया-संज्ञा पुं० [का० रविश या रवाँ] (१) चलन । चाल
 चलन । (२) तौर । तरीका । ढंग ।
यौ०—रंग रवैया = रंग ढंग । तौर तरीका ।
रशना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जीभ । (२) रस्ती । (३) कर-
 धनी । तागड़ी ।
रशनाकलाप-संज्ञा पुं० [सं०] धागे आदि की बनी हुई एक
 प्रकार की करधनी जो प्राचीन काल में स्त्रियाँ कमर में
 पहनती थीं ।
रशनागुण-संज्ञा पुं० दे० “रशनाकलाप” ।
रशनोपमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] रसनोपमा नामक अलंकार । वि०
 दे० “रसनोपमा” ।
रश्क-संज्ञा पुं० [का०] (१) किसी दूसरे को अच्छी दृष्टि में देख-
 कर होनेवाली जलन या कुदृष्टि । ईर्ष्या । डाह । (२) लज्जा ।
 शरम । (क०)
रश्मि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किरण । (२) पलक के रोएँ ।
 बरौनी । (३) थोड़े की लगाम । बाग ।
रश्मिकलाप-संज्ञा पुं० [सं०] मोतियों का वह हार जिसमें ६४
 या ५४ लड़ियाँ हों ।
रश्मिकेतु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक राक्षस का नाम । (२)
 वह केतु या पुच्छल तारा जो कृत्तिका नक्षत्र में स्थित होकर
 उदित हो । कहते हैं कि इसकी चोटी में धूआँ रहता है और
 इसका फल सातवें केतु के समान होता है ।
रश्मिक्रीड़-संज्ञा पुं० [सं०] रामायण के अनुसार एक राक्षस
 का नाम ।
रश्मिप्रभास-संज्ञा पुं० [सं०] एक बुद्ध का नाम ।

रस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह अनुभव जो सुँह में डाले हुए
 पदार्थों का रसना या जीभ के द्वारा होता है । खाने की
 चीज़ का स्वाद । रसनेंद्रिय का संवेदन या ज्ञान ।

विशेष—हमारे यहाँ वैद्यक में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त
 और कषाय ये छः रस माने गए हैं और इनकी उत्पत्ति
 भूमि, आकाश, वायु और अग्नि आदि के संयोग से जल में
 मानी गई है । जैसे,—पृथ्वी और जल के गुण की अधिक-
 ता से मधुर रस, पृथ्वी और अग्नि के गुण की अधिकता
 से अम्ल रस, जल और अग्नि के गुण की अधिकता से कटु
 रस, वायु और आकाश के गुण की अधिकता से तिक्त रस
 और पृथ्वी तथा वायु की अधिकता से कषाय रस उत्पन्न
 होता है । इन छः रसों के मिश्रण से और छत्तीस प्रकार के
 रस उत्पन्न होते हैं । जैसे,—मधुराम्ल, मधुरतिक्त, अम्ललवण
 अम्लकटु, लवणकटु, लवणतिक्त, कटुतिक्त, तिक्तकषाय
 आदि । भिन्न भिन्न रसों के भिन्न भिन्न गुण कहे गए हैं ।
 जैसे,—मधुर रस के सेवन से रक्त, मांस, मेद, अस्थि और
 शुक्र आदि की वृद्धि होती है; अम्ल रस जारक और पाचक
 माना गया है; लवण रस पाचक और संशोधक माना गया
 है; कटु रस पाचक, रेचक, अग्निदीपक और संशोधक माना
 गया है; तिक्त रस रुचिकर और दीप्तिवर्द्धक माना गया है;
 और कषाय रस संग्राहक और मल, मूत्र तथा श्लेष्मा आदि
 को रोकनेवाला माना गया है । न्याय दर्शन के अनुसार रस
 नित्य और अनित्य दो प्रकार का होता है । परमाणु रूप
 रस नित्य और रसना द्वारा गृहीत होनेवाला रस अनित्य
 कहा गया है ।

(२) छः की संख्या । (३) वैद्यक के अनुसार शरीर
 के अंदर की सात धातुओं में से पहली धातु ।

विशेष—सुश्रुत के अनुसार मनुष्य जो पदार्थ खाता है, उससे
 पहले द्रव स्वरूप एक सूक्ष्म सार बनता है, जो रस
 कहलाता है । इसका स्थान हृदय कहा गया है, जहाँ से
 यह धमनियों द्वारा सारे शरीर में फैलता है । यही रस
 तेज के साथ मिलकर पहले रक्त का रूप धारण करता
 है और तब उससे मांस, मेद, अस्थि, शुक्र आदि शेष
 धातुएँ बनती हैं । यदि यह रस किसी प्रकार अम्ल या
 कटु हो जाता है, तो शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न
 करता है । इसके दूषित होने से अरुचि, ज्वर, शरीर का
 भारीपन, क्रूरता, शिथिलता, दृष्टि-हीनता आदि अनेक
 विकार उत्पन्न होते हैं ।

पर्याय—रसिका । स्वेदमाता । चर्माग्न । चर्मसार ।
 रक्तसार ।

(४) किसी पदार्थ का सार । तत्व । (५) साहित्य में
 वह आनंददात्मक चित्त वृत्ति या अनुभव जो विभाव,

अनुभाव और संचारी से युक्त किसी स्थायी भाव के व्यंजित होने से उत्पन्न होता है। मन में उत्पन्न होनेवाला वह भाव या आनंद जो काव्य पढ़ने अथवा अभिनय देखने से उत्पन्न होता है।

विशेष—हमारे यहाँ के आचार्यों में इस विषय में बहुत मतभेद है कि रस किसमें तथा कैसे अभिव्यक्त होता है। कुछ लोगों का मत है कि स्थायी भावों की वास्तविक अभिव्यक्ति मुख्य रूप से उन लोगों में होती है, जिनके काव्यों का अभिनय किया जाता है (जैसे,—राम, कृष्ण, हरिश्चंद्र आदि); और गौण रूप से अभिनय करनेवाले नटों में होती है। अतः इन्हीं में ये लोग रस की स्थिति मानते हैं। ऐसे आचार्यों का मत है कि अभिनय देखनेवालों या काव्य पढ़नेवालों के साथ रस का कोई संबंध नहीं है। इसके विपरीत अधिक लोगों का यह मत है कि अभिनय देखनेवालों तथा काव्य पढ़नेवालों में ही रस की अभिव्यक्ति होती है। ऐसे लोगों का कथन है कि मनुष्य के अंतःकरण में भाव पहले से ही विद्यमान रहते हैं; और काव्य पढ़ने अथवा नाटक देखने के समय वही भाव उद्दीप्त होकर रस का रूप धारण कर लेते हैं। और यही मत ठीक माना जाता है। तात्पर्य यह कि पाठकों या दर्शकों को काव्यों अथवा अभिनयों से जो अनिर्वचनीय और लोकोत्तर आनंद प्राप्त होता है, साहित्य शास्त्र के अनुसार वही रस कहलाता है।

हमारे यहाँ रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, उगुप्सा, आश्चर्य और निर्वेद इन नौ स्थायी भावों के अनुसार नौ रस माने गए हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—शृंगार, हास्य, कृष्ण, रौद्र, वीर, भयानक, वीमत्स, अद्भुत और शांत। दृश्य काव्य के आचार्य शांत को रस नहीं मानते। वे कहते हैं कि यह तो मन की स्वाभाविक भावशून्य अवस्था है। निर्वेद मन का कोई स्वतंत्र विकार नहीं है। अतः वे रसों की संख्या आठ ही मानते हैं। और कुछ लोग इन नौ रसों के सिवा एक और दसवाँ रस “वात्सल्य” भी मानते हैं।

(६) नौ की संख्या। (७) सुख का अनुभव। आनंद। मज्जा। उ०—(क) यह जानिए वरदीन। पितु ब्रह्म के रस लीन।—केशव। (ख) जेहि किए जीव निकाम बस रस हीन दिन दिन अति नई।—तुलसी। (ग) ओठ खंडिबे कौं अग्यो मुख सुवास रस रत्न। स्याम रूप नंदलाल अलि नहिं अलि अलि उन्मत्त।—मतिराम।

मुहा०—रस भीजना या भीनना = (१) किसी पदार्थ का ऐसा समय आना जब कि उसके द्वारा आनंद उत्पन्न हो। मजे का वक्त आना। (२) तरुणई प्रकट होना। यौवन का आरंभ या

संचार होना। उ०—हाँ इनके रस भीजत ल्यों दग हों उनके मसि भीजत आवै।—पद्माकर।

(८) प्रेम। प्रीति। मुहब्बत।

यौ०—रस रंग = (१) प्रेम के द्वारा उत्पन्न होनेवाला आनंद। मुहब्बत का मजा। (२) प्रेम-क्रीड़ा। केलि। रस रीति = प्रेम का व्यवहार। मुहब्बत का बरताव। उ०—(क) प्रीति को वधिक रसरीति को अधिक नीति निपुन विवेक है निदेस देसकाल को।—तुलसी। (ख) और को जानै रस की रीति। कहाँ हों दीन कहाँ त्रिभुवनपति मिले पुरातन प्रीति। चतुरानन तन निमिष न चितवत इती राज की नीति।—सूर। (ग) इष्ट मिलै और मन मिलै मिलै सकल रस रीति।—कबीर।

(९) कास-क्रीड़ा। केलि। विहार। उ०—दलित कपोल रद ललित अधर रुचि रसना रसनि रस रस में रिसाति है।—केशव। (१०) उमंग। जोश। वेग। जैसे,—(क) आजातबाहु परकाज रत स्वाभिभक्त रस रंग नय।—गुमान। (ख) जय कारन प्रन किये करत रस रत ललकारन। श्याम अनुज बल धाम बने सँग सुभट हजारन।—गोपाल। (११) गुण। सिफत। उ०—(क) सम रस समर सकोच बस विवस न ठिकु ठहराय। फिरि फिरि उझकति फिरि दुरति दुरि दुरि उझकति जाय।—बिहारी। (ख) तिहुँ देवन की वृति सी दरसै गति सोषै त्रिदोषन के रस की।—केशव। (१२) किसी विषय का आनंद। उ०—जो जो जेहि जेहि रस मगन, तहँ सो मुदित मन मानि।—तुलसी। (१३) कोई तरल या द्रव पदार्थ। (१४) जल। पानी। (१५) वनस्पतियों या फलों आदि में का वह जलीय अंश जो उन्हें कूटने, दबाने या निचोड़ने आदि से निकलता है। जैसे,—ऊख का रस, आम का रस, तुलसी का रस, अदरक का रस। (१६) शोरवा। जूस। रसा। (१७) वह पानी जिसमें मीठा या चीनी घुली हुई हो। शरबत। (१८) वृक्ष का निर्यास। जैसे,—गोंद, दूध, मद आदि। (१९) लासा। लुआव। (२०) घोड़ों और हाथियों का एक रोग जिसमें उनके पैरों में से जहरीला पानी बहता है। (२१) वीर्य। (२२) राग। (२३) विष। जहर। (२४) गंधरस। (२५) शिलारस। (२६) पारा। (२७) हिंगुल। शिंगरफ। (२८) वैद्यक में धातुओं को फूँककर तैयार किया हुआ भस्म, जिसका व्यवहार औषध के रूप में होता है। जैसे,—रस सिंदूर। (२९) पहले खिंचाव का शोरा जो बहुत तेज और अच्छा होता है। (३०) आनंद स्वरूप ब्रह्म। (उपनिषद्) (३१) केशव के अनुसार रागण और सगण। उ०—मगन नगन को मित्र गनि यगन भगन को दास। उदासीन जत जानिये रसरिपु केशवदास।—केशव। (३२) बोल नामक

गंध द्रव्य । (३३) एक प्रकार की भेड़ जो गिलगित्त से उत्तर और पामीर में पाई जाती है । (३४) भाँति । तरह । प्रकार । रूप । उ०—एक ही रस दुनी न हरष सौक साँसति सहति ।—तुलसी । (३५) मन की तरंग । मौज । इच्छा । उ०—तिनका बयारि के बस । ज्यों भावै त्यों उड़ाइ लै जाइ अपने रस ।—स्वामी हरिदास ।

रसक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फिटकरी । (२) खपरिया । संगे बसरी ।

रसककारवेल्क-संज्ञा पुं० [सं०] पतला खपरिया । संगे बसरी ।

रसक बुर्दुर-संज्ञा पुं० [सं०] दलदार मोटा खपरिया या संगे बसरी ।

रसकपूर-संज्ञा पुं० [सं० रसकपूर] सफेद रंग की एक प्रकार की प्रसिद्ध उप-धातु जिसका व्यवहार औषध में होता है । यह प्रायः ईगुर के समान होता है; इसी लिये इसे कुछ लोग सफेद शिंगरफ भी कहते हैं । एक और प्रकार का रसकपूर होता है, जो वास्तव में पारे की सफेद भस्म होती है । इसका व्यवहार प्रायः यूनानी चिकित्सा में होता है और यह खुजली, उपदंश आदि में उपयोगी माना जाता है ।

रसकर्म-संज्ञा पुं० [सं०] पारे की सहायता से रस आदि तैयार करने की क्रिया । (वैद्यक)

रसका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का क्षुद्र कुछ रोग ।

रसकुल्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार कुशद्वीप की एक नदी का नाम ।

रसकेलि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बिहार । क्रीड़ा । (२) हँसी ठट्ठा । दिल्ली । मजाक ।

रसकेसर-संज्ञा पुं० [सं०] कपूर ।

रसकेसरी-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की रसौषध जो पारे, गंधक और लौंग आदि के मेल से तैयार की जाती है, और अरुचि, अग्निमांघ, आमवात, विसृचिका आदि रोगों में उपयोगी मानी जाती है । (वैद्यक)

रसकोरा-संज्ञा पुं० [हि० रस + कौर] रसगुला नाम की मिठाई । उ०—हरिवल्लभ अरु रमा विलासे । रसकोरे बोरे रस खासे । रघुराज ।

रसखर्पर-संज्ञा पुं० [सं०] खपरिया । संग-बसरी ।

रसखीर-संज्ञा स्त्री० [हि० रस + खीर] चीनी के शर्बत अथवा ऊख के रस में पकाए हुए चावल । मीठा भात ।

रसगंध-संज्ञा पुं० दे० “रसगंधक” ।

रसगंधक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गंधक । (२) बोल नामक गंध द्रव्य । (३) रसौत । रसांजन । (४) हिंगुल । शिंगरफ । ईगुर ।

रसगत ज्वर-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार शरीर की रस धातु में समाया हुआ ज्वर ।

विशेष—कहते हैं कि ज्वर अधिक दिनों का हो जाने से शरीर के रस तक में पहुँच जाता है और उससे ग्लानि, वमन और अरुचि आदि होती है ।

रसगर्म-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रसौत । रसांजन । (२) शिंगरफ । हिंगुल । ईगुर ।

रसगुनी १-संज्ञा पुं० [सं० रस + गुणी] काव्य या संगीत शास्त्र का ज्ञाता । उ०—श्री हरिदास के स्वामी स्यामाँ को मेरु सरस भयौ और रसगुनी परे फीके—हरिदास ।

रसगुला-संज्ञा पुं० [हि० रस + गोला] एक प्रकार की छेने की मिठाई जो गुलाब जामुन के समान गोल होती और शीरे में पड़ी हुई होती है ।

रसग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] जीभ ।

रसघन-संज्ञा पुं० [सं०] आनंदघन, श्रीकृष्णचंद्र ।

वि० जो बहुत अधिक स्वादिष्ट हो ।

रसज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] सुहागा ।

रसछाना-संज्ञा पुं० [हि० रस + छान्ना = छानने की चीज] [स्त्री० अस्पा० रसछत्री] ऊख का रस छानने की चलीनी ।

रसज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गुड़ । (२) रसौत । रसांजन । (३) शराब की तलछट । सुराबीज ।

रसजात-संज्ञा पुं० [सं०] रसौत । रसांजन ।

रसज्ञ-वि० [सं०] (१) वह जो रस का ज्ञाता हो । रस जानने-वाला । (२) काव्य-मर्मज्ञ । (३) रसायनी । (४) निपुण । कुशल । जानकार ।

रसज्ञता-संज्ञा स्त्री० [सं०] रसज्ञ होने का भाव ।

रसज्ञा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गंगा । (२) जीभ ।

रसज्येष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मधुर या मीठा रस । (२) शृंगार रस ।

रसडली-संज्ञा स्त्री० [हि० रस + डली] एक प्रकार का गन्ना जिसका रंग पीलापन लिए हरा होता है और जो प्रायः बीजापुर और उसके आस पास बहुत होता है । रसवली ।

रसतन्मात्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाँच तन्मात्राओं या महत्त्वों में से चौथे तत्व जल की तन्मात्रा । (सांख्य) वि० दे० “तन्मात्र” ।

रसता-संज्ञा स्त्री० [सं०] रस का भाव या धर्म । रसत्व ।

रसतालेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का रस जिसका व्यवहार कुछ रोग में होता है । यह शंख, करंज, हलदी, मिलावें, घीकुआँर, गदहपूरना, गंधक, पारे और विडंग आदि के योग से बनाया जाता है ।

रसतेज-संज्ञा पुं० [सं० रसतेजस्] रक्त । लहू । खून ।

रसत्याग-संज्ञा पुं० [सं०] दूध, दही, घी, तेल, मीठा पकवान आदि स्वादिष्ट पदार्थों का त्याग करना, जो एक प्रकार का नियम या आचार माना जाता है । (जैन)

रसत्व-संज्ञा पुं० [सं०] रस का भाव या धर्म । रसता ।

रसद-वि० [सं०] (१) आनन्ददायक । सुखद । उ०—(क)

रसद बिहारी वंदे वल्लभा राधिका निसदिन रंगरंगी ।—

स्वा० हरिदास । (ख) रसद श्री हरिदास बिहारी अंग

अंग मिलत अतन उदोत करत सुरति आरंभटी ।—

हरिदास । (२) स्वादिष्ट । मजेदार । जायकेदार ।

संज्ञा पुं० चिकित्सा करनेवाला । इलाज करनेवाला व्यक्ति ।

संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) वह जो बैठने पर हिस्से के अनुसार मिले । बाँट । बखरा ।

मुहा०—हिस्सा रसद = बैठने पर अपने अपने हिस्से के अनुसार लाभ ।

(२) कच्चा अनाज जो पकाया न गया हो । भोजन बनाने के लिये अन्न आदि । गहूँ । (३) सेना का वह खाद्य पदार्थ जो उसके साथ रहता है ।

रसदा-पंज्ञा स्त्री० [सं०] सफेद निर्गुंडी । सँभालू । सिंधुआर ।

रसदार-वि० [हि० रस + दार (प्रत्य०)] (१) जिसमें किसी

प्रकार का रस हो । रसवाला । जैसे,—रसदार आम,

रसदार नीबू । (२) स्वादिष्ट । मजेदार ।

रसदालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पौधा । गन्ना ।

रसद्रावी-संज्ञा पुं० [सं० रसद्राविन्] मीठा जँवरी नीबू ।

रसधातु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पारा । (२) शरीर की सात

धातुओं में से रस नामक धातु । वि० दे० “रस” ।

रसधेनु-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार गुड़ आदि की बनाई

हुई वह गौ जो दान की जाती है ।

रसन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वाद लेना । चखना । (२) ध्वनि ।

(३) जीभ । जवान । (४) कफ का एक नाम ।

वि० पसीना लानेवाला (औषध आदि)

संज्ञा पुं० [सं० रसना] रस्सा । (लश०)

रसना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जिह्वा । जीभ । जवान ।

मुहा०—रसना खोलना = बोला आरंभ करना । उ०—हीरामन

रसना रस खोला । दै असीस करि अस्तुति बोला ।—

जायसी । रसना तालू से लगाना = बोलना बंद करना । चुप

होना । उ०—रसना तालू सों नहिं लावत पीवै पीव

पुकारत ।—सूर ।

(२) न्याय के अनुसार रस या स्वाद, जिसका अनुभव

रसना या जीभ से किया जाता है । (३) रास्ना या

नागदौनी नाम की औषधि । (४) गंधभद्रा नाम की लता ।

(५) करधनी । मेखला । (६) रस्सी । रज्जु । (७) लगाम ।

(८) चंद्रहार ।

क्रि० अ० [हि० रस + ना (प्रत्य०)] (१) धीरे धीरे बहना

या टपकना । जैसे,—छत में से पानी रसना । (२) गीला

होकर या परनी से भरकर धीरे धीरे जल या और कोई द्रव

पदार्थ छोड़ना या टपकाना । जैसे,—चंद्रकांत मणि चंद्रमा को देखकर रसने लगती है ।

मुहा०—रस रस या रसे रसे = धीरे धीरे । आहिस्ते आहिस्ते ।

रानै रानै । उ०—(क) रस रस सूख सरित सर पानी ।

ममता ज्ञान करहिं जिमि ज्ञानी ।—तुलसी । (ख) चंचलता

अपनी तजिकै रस ही रस सों रस सुंदर पीजियो ।

—परताप ।

(३) रस में मग्न होना । रस से पूर्ण होना । प्रफुलित

होना । उ०—सूर प्रभु नागरी हँसति मन मन रसति बसत

मन श्याम बड़े भागे ।—सूर । (४) तन्मय होना । परिपूर्ण

होना । उ०—(क) चंपकली दल हूँ ते भली पद अंगुलि

बाल की रूप रसे हैं ।—केशव । (ख) बाँक विभूषण प्रेम

ते जहाँ होंहिं विपरीत । दर्शन रस तन मन रसत गनि

विभ्रम के गीत ।—केशव । (५) रसपान करना । रस

लेना । स्वाद लेना । उ०—शिव पूजन हित कनक के कुसुम

रसत अलिजाल । मथन नृपति जग जीत की बजी मनौ

करनाल ।—गुमान । (६) प्रेम में अनुरक्त होना । मुहब्बत

में पड़ना । उ०—(क) किन सँग रसलू किन सँग बसलू

किन सँग रचलू धमार ।—कबीर । (ख) तब गोपी रस

रसों राम किरपा द्विजराजो ।—सुधाकर ।

रसनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] पारा ।

रसनापद-संज्ञा पुं० [सं०] नितंब । चूतड़ ।

रसनाभ-संज्ञा पुं० [सं०] रसांजन । रसौत ।

रसनायक-पंज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । (२) पारा ।

रसनाख-संज्ञा पुं० [सं०] पक्षी, जिन्हें बोलने के लिये केवल

जीभ ही होती है, दाँत नहीं होते ।

रसनिर्यास-संज्ञा पुं० [सं०] शाल का वृक्ष ।

रसनीय-वि० (१) स्वाद लेने योग्य । चखने लायक । (२)

स्वादिष्ट । मजेदार ।

रसनेद्रिय-संज्ञा स्त्री० [सं०] रसना, जिससे स्वाद या रस लिया

जाता है । जीभ ।

रसनेत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मैनसिल ।

रसनेष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] ऊख । गन्ना ।

रसनोपमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की उपमा जिसमें उप-

माओं की एक श्रृंखला बँधी होती है और पहले कहा हुआ

उपमेय आगे चलकर उपमान होता जाता है । यह “उपमा”

और “एकावली” को मिलाकर बनाया गया है । इसे गमनो-

पमा भी कहते हैं । उ०—बंस सम बखत, बखत सम

ऊँचो मन, मन सम कर, कर सम करी दान के ।

रसपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा । उ०—राजपति रामा-

पति रमापति राधापति रसपति रासपति रसापति रामपति ।

—केशव । (२) पृथ्वीपति । राजा । (३) पारा । (४) रस-राज, शृंगार रस ।

रसपर्पटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का रस जो पारे को शोधकर बनाया जाता है और जिसका व्यवहार संप्रहणी, बवासीर, ज्वर, गुल्म, जलोदर आदि में होता है ।

रसपाकज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गुड़ । (२) चीनी ।

रसपाचक-संज्ञा पुं० [सं०] भोजन बनानेवाला । रसोइया ।

रसपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार की दवा जो गंधक, पारे और नमक से बनाई जाती है ।

रसपूर्तिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मालकैंगनी । (२) शतावर ।

रसप्रबंध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाटक । (२) वह कविता, जिसमें एक ही विषय बहुत से परस्पर संबद्ध पद्यों में कहा गया हो ।

रसफल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नारियल का वृक्ष । (२) आँवला ।

रसबंधकर-संज्ञा पुं० [सं०] सोम लता ।

रसबंधन-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर के अंतर्गत नाड़ी के एक अंश का नाम । (वैद्यक)

रसवत्ती-संज्ञा स्त्री० [हिं० रस ? + वत्ती] एक प्रकार का पलीता जिसका व्यवहार पुराने ढंग की तोपें और बंदूकें चलाने में होता था ।

रसवरी-संज्ञा स्त्री० दे० “रसमरी” ।

रसमरी-संज्ञा स्त्री० [सं० रसवेरी] एक प्रकार का स्वादिष्ट फल, पकने पर जिसका रंग पीलापन लिए लाल हो जाता है । यह जाड़े के अंत में प्रायः बाजारों में मिलता है ।

रसभव-संज्ञा पुं० [सं०] रक्त । खून । लहू ।

रसभस्म-संज्ञा पुं० [सं०] भस्म किया हुआ पारा । पारे का भस्म ।

रसभीना-वि० [हिं० रस + भीनना] [स्त्री० रसभीनी] (१) आनंद में मग्न । (२) आर्द्र । तर । गीला । उ०—शोभा सरलीन कुवलय रसभीन नलिन नवीन किधौ नैन बहु रंग हैं । —केशव ।

रसभेद-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार की औषध जो पारे से तैयार की जाती है ।

रसभेदी-संज्ञा पुं० [सं० रसभेदिन्] वह पका हुआ फल जो रस आदि की अधिकता से फट जाय और जिसमें से रस बहने लगे ।

रसमंडूर-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार की रसौषध जो हड़ के योग से गंधक और मंडूर से बनाई जाती है और जिसका व्यवहार शूल रोग में होता है ।

रसमर्दन-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में पारे को भस्म करने या मारने की क्रिया ।

रसमल-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर से निकलनेवाला किसी प्रकार का मल । जैसे,—विष्टा, मूत्र, पसीना, थूक आदि ।

रसमसा-वि० [हिं० रस + मस (अनु०)] [स्त्री० रसमसी] (१)

रंग में मस्त । आनंदमग्न । अनुरक्त । उ०—खेलत अति रसमसे लाल रंग भीने हो । अतिरस कैलि विशाल लाल रंग भीने हो ।—सूर । (२) तर । गीला । उ०—दलदल जो हो रही है हरेक जा पै रसमसी । मर मर मिटा है मर्द तो औरत रही फँसी ।—नज़ीर । (३) पसीने से भरा । श्रांत ।

रसमाणिक्य-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार की औषध जो हरताल से बनाई जाती है और जो कुछ आदि रोगों में उपकारी मानी जाती है ।

रसमाता—संज्ञा स्त्री० [सं० रसमातृका] जीभ । रसना । ज़बान । (हिं०)

रसमातृका-संज्ञा स्त्री० [सं०] जीभ । ज़बान ।

रसमारण-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में वह क्रिया जिससे पारा मारा या शुद्ध किया जाता है ।

रसमाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] शिलारस नामक सुगंधित द्रव्य ।

रसमि-संज्ञा स्त्री० [सं० रसिम] (१) किरण । उ०—तो जू मान तजहुगी भामिनि रवि की रसमि काम फल फीको । कीजे कहा समय बिनु सुंदरि भोजन पीछे अँचवन घी को ।—सूर । (२) आभा । प्रकाश । चमक । उ०—बसन सपेद स्वच्छ पेन्हे आभूषण सब हीरन को मोतिन को रसमि अछेव को ।—रघुनाथ ।

रसमुंडी-संज्ञा स्त्री० [हिं० रस + मुंडी ?] एक प्रकार की बँगला मिठाई ।

रसमैत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] दो ऐसे रसों का मिलना जिनके मिलने से स्वाद में वृद्धि हो । दो रसों का उपयुक्त मेल । जैसे,—कड़ुआ और तीता; तीता और नमकीन; नमकीन और खट्टा आदि ।

रसयोग-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार की औषध ।

रसराय-संज्ञा पुं० [स्त्री० अस्वा० रसरी] दे० “रस्सा” ।

रसराय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पारद । पारा । उ०—रावन सो रसराय सुभट रस रहित लंक खल दलतो ।—तुलसी । (२) रसों का राजा, शृंगार रस । उ०—जनु विधुमुख लवि अमिय को रलक रख्यो रसराय ।—तुलसी । (३) वैद्यक में एक प्रकार की औषध जो तौवे के भस्म, गंधक और पारे को मिलाकर बनाई जाती है और जिसका व्यवहार तिली और बरबट आदि में होता है । (४) रसांजन । रसीत ।

रसराय-संज्ञा पुं० दे० “रसराय” ।

रसराय-संज्ञा स्त्री० [सं० रसना, प्रा० रसणा] रससी । डोरी ।

रसल-वि० [सं० रस + ल (प्रत्य०)] जिसमें रस हो । रसवाला ।

उ०—विमल रसल रसखानि मिलि भई सकल रसखानि ।
 सोई नवरसखानि को चित चातक रसखानि ।—रसखान ।
 रसलह—संज्ञा पुं० [सं०] पारा ।
 रसवंत—संज्ञा पुं० [सं० रसवत्] रसिक । रसिया । प्रेमी ।
 रसज्ञ । उ०—(क) रसवंत कवित्तन को रस ज्यों अखरान
 के ऊपर है झलकै ।—मन्नालाल । (ख) सुजा के दिवान
 भगवंत रसवंत भये वृंदावनवासिन की सेवा ऐसी करी
 है ।—नाभादास ।
 वि० जिसमें रस हो । रस भरा । रसीला ।
 रसवंती—संज्ञा स्त्री० [सं० रसवती] रसौत । रसांजन । उ०—
 रुमी रतनजोति रसवंती । रारे रंगमाटी रुदवंती ।—सूदन ।
 रसवट—संज्ञा पुं० [हि० रसना = पानी आना] वह मसाला जो
 नाव के छेदों में इसलिये भरा जाता है कि उनमें से पानी
 अंदर न आवे ।
 रसवत्—वि० [सं०] [स्त्री० रसवती] जिसमें रस हो । रसवाला ।
 संज्ञा पुं० वह काव्यालंकार जिसमें एक रस किसी दूसरे रस
 अथवा भाव का अंग होकर आवे । जैसे,—युद्ध में पड़े हुए
 वीर पति के लिये इस विलाप में—“हाँ, यह वही हाथ है
 जो प्रेम से आलिंगन करता था ।” शृंगार केवल करुणा रस
 का अंग है ।
 रसवत्—संज्ञा स्त्री० (१) दे० “रसौत” । (२) दे० “दारुहलदी” ।
 रसवती—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) संपूर्ण जाति की एक रागिनी
 जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं । (२) रसोईघर ।
 वि० रसीली । रसपूर्ण । रसभरी ।
 रसवत्ता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रसयुक्त होने का भाव या धर्म ।
 रसीलापन । (२) मिठास । माधुर्य्य । (३) सुंदरता । खूब-
 सूरती ।
 रसवर्णक—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार अनार का फूल,
 टाक का फूल, कुसुम का फूल, लाख, हलदी, मजीठ आदि
 कुछ विशिष्ट द्रव्य जिनसे रंग निकलता है ।
 रसवली—संज्ञा स्त्री० [हि० रस + वली] एक प्रकार का गन्ना
 जिसे रसडली भी कहते हैं । वि० दे० “रसडली” ।
 रसवाई—संज्ञा स्त्री० [हि० रस + वाई (प्रत्य०)] पहले पहल
 उख परने के समय होनेवाली कुछ विशिष्ट रीतियाँ या
 व्यवहार ।
 रसवाद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) रस की बात । प्रेम या आनंद
 की बातचीत । रसिकता की बातचीत । उ०—(क) कसति
 हो परिहास हमसों तजौ यह रसवाद ।—सूर । (ख)
 केशव औरनि सार सरासरि सो रसवाद सबै हमसों है ।—
 केशव । (२) मनोरंजन के लिये कहा सुनी । छेड़छाड़ ।
 झगड़ा । उ०—तुमहीं मिलि रसवाद बढ़ायो । उरहन दै दै
 मूँड़ पिरायो ।—सूर । (३) बकवाद । उ०—सोवन दीजै

न दीजै हमैं दुख योंही कहा रसवाद बढ़ायो ।—मतिराम ।
 रसवान्—संज्ञा पुं० [सं०] वह पदार्थ जिसमें ऐसा गुण या शक्ति
 हो कि जब उस पदार्थ के कण रसना से संयुक्त हों, उस
 समय किसी प्रतिबंधक हेतु के न रहने से विशेष प्रकार का
 अनुभव हो ।
 रसवास—संज्ञा पुं० [सं०] ढाण के पहले भेद (१५) की संज्ञा ।
 रसवाहिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक के अनुसार खाए हुए
 भोजन से बने सार पदार्थ को फैलानेवाली नाड़ी ।
 रसविक्रयी—संज्ञा पुं० [सं० रसविक्रयिन्] वह जो मदिरा बेचता
 हो । शराब बेचनेवाला ।
 रसविरोध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सुश्रुत के अनुसार कुछ रसों
 का ठीक मेल न होना । जैसे,—तीते और मीठे में, नमकीन
 और मीठे में, कड़ुए और मीठे में रसविरोध है । (२)
 साहित्य में एक ही पद्य में दो प्रतिकूल रसों की स्थिति ।
 जैसे,—शृंगार और रौद्र की, हास्य और भयानक की,
 शृंगार और वीभत्स की ।
 रसवेधक—संज्ञा पुं० [सं०] सोना ।
 रसशादुल—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार रस जो अभ्रक,
 ताँवे, लोहे, मैन्सिल, पारे, गंधक, सोहागे, जवाखार, हृद,
 और बहेदे आदि के योग से बनता है । यह सूतिका रोग
 के लिये विशेष उपकारी माना जाता है ।
 रसशास्त्र—संज्ञा पुं० [सं०] रसायन शास्त्र ।
 रसशेखर—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का
 रस जो पारे और अफीम के योग से बनता है और जो
 उपदंश आदि रोगों के लिये उपकारी माना जाता है ।
 रसशोधन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पारे को शुद्ध करने की क्रिया ।
 (२) सुहागा ।
 रससंभव—संज्ञा पुं० [सं०] रक्त । लहू । खून ।
 रससंरक्षण—संज्ञा पुं० [सं०] पारे को शुद्ध करना, मूर्च्छित
 करना, बाँधना और भस्म करना ये चारों क्रियाएँ ।
 रससंस्कार—संज्ञा पुं० [सं०] पारे के मूर्च्छन, बंधन, मारण
 आदि अठारह प्रकार के संस्कार । (वैद्यक)
 रससागर—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार सात समुद्रों में
 से एक । कहते हैं कि यह प्लक्ष द्वीप में है और उस के रस
 से भरा है ।
 रससाम्य—संज्ञा पुं० [सं०] रोगी की चिकित्सा करने के पहले यह
 देखना कि शरीर में कौन सा रस अधिक और कौन सा
 कम है । (वैद्यक)
 रससार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मधु । शहद । (२) ज़हर ।
 (हि०)
 रससिद्ध—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का रस जो
 पारे और गंधक के योग से बनता है । इसे ‘हरगौरी रस’
 भी कहते हैं ।

रसस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] शिगरफ । हिंगुल । ईगुर ।

रसस्नाय-संज्ञा पुं० [सं०] अम्लवेत । अमलवेद ।

रसांगक-संज्ञा पुं० [सं०] धूप सरल का वृक्ष । श्रीवेष्ट ।

रसांजन-संज्ञा पुं० [सं०] रसौत । रसवत ।

रसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पृथ्वी । जमीन । (२) रासना । (३) पाटा । पादा । (४) शलकी । सलई । (५) कँगनी नाम का मोटा अन्न । (६) दाख । द्राक्षा । अंगूर । (७) मेदा । (८) शिलारस । लोहवान । (९) आम । (१०) काकोली । (११) नदी । (१२) रसातल । (१३) जीभ । रसना । जवान ।

संज्ञा पुं० [हिं० रस] तरकारी आदि का झोल । शोरबा ।

यौ०—रसेदार = जिसमें रसा या शोरबा हो । शोरवेदार ।

रसाइन-संज्ञा पुं० दे० “रसायन”

रसाइनी-संज्ञा पुं० [हिं० रसायन + ई (प्रत्य०)] (१) रसायन विद्या जाननेवाला । (२) रसायन बनानेवाला । कीमियागर ।

रसाई-संज्ञा स्त्री० [फा०] पहुँचने की क्रिया या भाव । पहुँच । जैसे,—आपकी रसाई बहुत दूर दूर तक है ।

रसाखन-संज्ञा पुं० [सं०] सुरगा ।

रसाग्रज-संज्ञा पुं० [सं०] रसांजन । रसौत ।

रसाग्रय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पारा । (२) रसांजन । रसौत ।

रसाज्ञान-संज्ञा पुं० [सं०] भोजन करने पर भी उसके रस का अनुभव न करना । जैसे,—खट्टा या मीठा पदार्थ खाकर भी उसकी खटास या मिठास का अनुभव न करना । (वैद्यक)

रसाक्षय-संज्ञा पुं० [सं०] अमड़ा । आप्रातक ।

रसाक्ष्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] राक्षा ।

रसातल-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार पृथ्वी के नीचे के सात लोकों में से छठा लोक । कहते हैं कि इसकी भूमि पथरीली है और इसमें दैत्य, दानव तथा पाणि नाम के असुर, इंद्र के डर से, निवास करके हैं । वि० दे० “पाताल” ।

मुहा०—रसातल में पहुँचाना = मटिया मेट कर देना । मिट्टी में मिला देना । बरबाद कर देना ।

रसादार-वि० [हिं० रसा + दार (फा० प्रत्य०)] जिसमें झोल या शोरबा हो । शोरवेदार । (प्रायः तरकारी आदि के संबंध में बोलते हैं ।)

रसाधार-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य ।

रसाधिक-संज्ञा पुं० [सं०] सुहागा ।

रसाधिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] किशमिश ।

रसाध्यक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक राजकर्मचारी, जो मादक द्रव्यों की जाँच पड़ताल और उनकी बिक्री आदि की व्यवस्था करता था ।

रसापति-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वीपति । राजा ।

३६६

रसापायी-संज्ञा पुं० [सं० रसापायिन्] (१) वह जो जीभ से पानी पीता हो । (२) कुत्ता ।

रसाभास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साहित्य में किसी रस की ऐसे स्थान में अवतारणा करना जो उचित या उपयुक्त न हो । किसी रस का अनुचित विषय में अथवा अनुपयुक्त स्थान पर वर्णन । जैसे,—गुरु पर किए हुए क्रोध या गुरुपत्नी से किए हुए प्रेम को लेकर यदि रौद्र या शृंगार रस का वर्णन हो, तो वह विभाव, अनुभाव आदि सामग्रियों से पूर्ण होने पर भी अनौचित्य के कारण रसाभास ही होगा । (२) एक प्रकार का अलंकार जिसमें उक्त ढंग का वर्णन होता है ।

रसामय-संज्ञा पुं० [सं०] बोल नामक गंध द्रव्य ।

रसावृत-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का रस जो पारे, गंधक, शिलाजीत, चंदन, गुडुच, धनिया, इंद्रजौ, मुलेठी आदि के योग से बनाया जाता है और रक्तपित्त तथा ज्वर आदि में उपकारी माना जाता है ।

रसाम्ल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अम्लवेतस । अमलवेद । (२) चुक या चुक नाम की खटाई । (३) विषाविल । वृक्षागल ।

रसाम्लक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की घास ।

रसाम्ला-संज्ञा स्त्री० [सं०] पलाशी नाम की लता ।

रसायक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की घास ।

रसायन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तक्र । मठा । (२) कटि । कमर । (३) विष । जहर । (४) वैद्यक के अनुसार वह औषध जो जरा और व्याधि का नाश करनेवाली हो । वह दवा जिसके खाने से आदमी बुद्धा या बीमार न हो । (ऐसी औषधों से शरीर का बल, आँखों की उज्योति और वीर्य आदि बढ़ता है । इनके खाने का विधान युवावस्था के आरंभ और अंत में है । कुछ प्रसिद्ध रसायनों के नाम इस प्रकार हैं—विडंग रसायन, ब्राह्मी रसायन, हरीतकी रसायन, नागबला रसायन, आमलक रसायन आदि । प्रत्येक रसायन में कोई एक मुख्य औषधि होती है, और उसके साथ दूसरी अनेक औषधियाँ मिली हुई होती हैं ।) (५) गरुड़ ।

(६) बायबिडंग । विडंग । (७) पदार्थों के तत्त्वों का ज्ञान । वि० दे० “रसायन शास्त्र” । (८) वह कल्पित योग जिसके द्वारा ताँबे से सोना बनना माना जाता है । (९) धातु विद्या जिसमें धातुओं को भस्म करने या एक धातु को दूसरी धातु में बदल देने आदि की क्रिया का वर्णन रहता है ।

रसायनज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] रसायन क्रिया का जाननेवाला । वह जो रसायन विद्या जानता हो ।

रसायनफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] हरे । हड़ । हरीतकी ।

रसायनवर-संज्ञा पुं० [सं०] लहसुन ।

रसायनवरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कँगनी । (२) काकजंवा ।

रसायन विज्ञान-संज्ञा पुं० दे० "रसायन" ।

रसायन शास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसमें इस बात का विवेचन हो कि पदार्थों में कौन कौन से तत्त्व होते हैं और उन तत्त्वों के परमाणुओं में परिवर्तन होने पर पदार्थों में किस प्रकार का परिवर्तन होता है ।

विशेष—इस शास्त्र का मुख्य सिद्धांत यह है कि संसार के सब पदार्थ कुछ मूल द्रव्यों के परमाणुओं से बने हैं । वैज्ञानिकों ने ७८ मूल द्रव्य या मूलभूत माने हैं, जिनमें से कुछ धातुएँ (जैसे,—सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, सीसा, रौंदा, पारा आदि) हैं, कुछ दूसरे खनिज (जैसे,—गंधक, सखिया, सुरमा आदि) हैं और कुछ वायव्य द्रव्य (जैसे,—आक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन आदि) हैं । इस शास्त्र के अनुसार यही ७८ मूल द्रव्य सब पदार्थों के मूल उपादान हैं, जिनके परमाणुओं के योग से संसार के सब पदार्थ बने हैं । प्रत्येक मूल द्रव्य में एक ही प्रकार के परमाणु होते हैं; और जब किसी एक प्रकार के परमाणुओं के साथ किसी दूसरे प्रकार के परमाणु मिल जाते हैं, तब उनसे एक नया और तीसरा ही द्रव्य तैयार हो जाता है । जो शास्त्र हमें यह बतलाता है कि कौन चीज किन तत्वों से बनी है और उन तत्वों में परिवर्तन होने का क्या परिणाम होता है, वही रसायन शास्त्र कहलाता है ।

रसायनश्रेष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] पारा ।

रसायनिक-वि० दे० "रसायनिक" ।

रसायनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह औषध जो बुढ़ापे को रोकती या दूर करती हो । (२) गुडुच । (३) मकोय । काकमाची । (४) महाकरंज । (५) अमृत संजीवनी । गोरखदुद्धी । (६) मांसरोहिणी । (७) मजीठ । (८) कन-फोड़ा नाम की लता । (९) कौड़ । (१०) सफेद निसोथ । (११) शंखपुष्पी । शंखाहुली । (१२) कंद गिलोय । (१३) नाड़ी ।

रसाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊख । गन्ना । (२) आम । (३) कटहल । (४) कुंदुर तृण । (५) गोधूम । गेहूँ । (६) अम्लवेत । (७) शिलारस । लोबान । (८) बोल नामक गंध द्रव्य । वि० [स्त्री० रसाला] (१) मधुर । मीठा । (२) रसीला । (३) सुंदर । मनोहर । (४) स्वादिष्ट । (५) मार्जित । शुद्ध । संज्ञा पुं० [अ० रसाल] कर । राजस्व । खिराज । उ०—श्रीनगर नैपाल जुमिला के छितिपाल भेजत रसाल चौर गढ़ कुही बाज की ।—भूषण । वि० दे० 'रिसाल' ।

रसालय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आम का पेड़ । (२) वह स्थान जहाँ आमोद प्रमोद किया जाय । (३) वह स्थान जहाँ अनेक प्रकार के रस आदि बनते हों । रसशाला ।

रसालशर्करा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गन्ने या ऊख के रस से बनाई हुई चीनी ।

रसालस-संज्ञा पुं० [हि० रसाल] कौतुक । उ०—समुद्रहिं सुमति रसाल रसालस रमा रमन के । हरि प्रेरित वह आप आप भाचत बन बन के ।—तुलसी सुधाकर ।

रसालसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पौंदा । गन्ना । (२) गेहूँ । (३) कुंदुर नाम की घास ।

रसाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दही का बना हुआ शरबत । सिखरन । श्रीखंड । (२) दही मिला हुआ सत्तू । (३) प्राचीन काल की एक प्रकार की चटनी, जो दही, घी, मिर्च, शहद आदि को मिलाकर बनाई जाती थी । (४) दूब । (५) बिदारीकंद । (६) दाख । (७) पौंदा । (८) जीभ । संज्ञा पुं० दे० "रिसाला" ।

रसालाप्र-संज्ञा पुं० [सं०] बड़िया कलमी आम ।

रसालिका-वि० स्त्री० [सं० रसालक] मधुर । मृदु । सरस । उ०—उर लसी सुतुलसी मालिका । हुलसी सुमति रसालिका ।—गिरधर ।

संज्ञा स्त्री० (१) छोटा आम । अंबिया । (२) ससला । सातला ।

रसालिहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पिठवन ।

रसाली-संज्ञा पुं० [सं० रसालिक्] (१) पौंदा । गन्ना । (२) चना । संज्ञा स्त्री० [सं०] पौंदा । गन्ना ।

रसालेक्षु-संज्ञा पुं० [सं०] पौंदा । गन्ना ।

रसावर, रसावल-संज्ञा पुं० दे० "रसौर" । उ०—जीवन सुरति बंदोरि डारि प्रभु नाम रसावर । निरमल कह द्विजराज जीवनहि एहि तनु डावर ।—तुलसी सुधाकर । रसाव-संज्ञा पुं० [हि० रसना] (१) खेत को जोतकर और पाटे से बराबर करके कई दिनों तक यों ही छोड़ देना । (२) रसने की क्रिया या भाव ।

रसावा-संज्ञा पुं० [हि० रस + आवा (प्रत्य०)] ऊख का कच्चा रस रखने का मिट्टी का बर्तन ।

रसावे-संज्ञा पुं० [सं०] गंधा बिरोजा ।

रसाश-संज्ञा पुं० [सं०] मद्य पीने की क्रिया । शराब पीना ।

रसाशी-संज्ञा पुं० [सं० रसाशिन] वह जो मद्य पीता हो । शराबी ।

रसाश्वासा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पलाशी नाम की लता ।

रसाष्टक-संज्ञा पुं० [सं०] पारा, ईशुर, कांतिसार लोहा, सोनामक्खी, रूपा मक्खी, वैक्रांत मणि और शंख इन आठ महारसों को समूह ।

रसास्वादी-वि० [सं० रसास्वादिक्] [स्त्री० रसास्वादिनी] (१) रस चखनेवाला । स्वाद लेनेवाला । (२) आनंद या मज़ा लेनेवाला ।

संज्ञा पुं० और। अमर।

रसाह-संज्ञा पुं० [सं०] गंधा विरोजा।

रसाह-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सतावर। (२) रास्ना।

रसिआउर-संज्ञा पुं० [हि० रस + चाउर = चावल] (१) ऊख के रस या गुड़ के शर्बत में पका हुआ चावल। (२) एक प्रकार का गीत जो विवाह की एक रीति में गाया जाता है। जब नई बहू व्याहकर आती है, तब वह ऊख के रस या गुड़ के शर्बत में चावल पकाकर अपने पति तथा ससुराल के लोगों को परोसकर खिलाती है। उस समय स्त्रियाँ जो गीत गाती हैं, उसे भी 'रसिआउर' कहते हैं। उ०—गावहिं रसिआउर सब नारी। बजै मृदंग बीरत महारी।—रघुराज।

रसिआवर, रसिआवल-संज्ञा पुं० दे० "रसिआउर"।

रसिक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० रसिका हिं० स्त्री० रसिकिनी] (१) वह जो रस या स्वाद लेता हो। रस लेनेवाला। (२) वह जिसे रस संबंधी बातों में विशेष आनंद आता हो। काव्य-मर्मज्ञ। सहृदय। (३) क्रीड़ा आदि का प्रेमी। आनंदी। रसिया। उ०—सूरदास रास रसिक विनु रास रसिकिनी विरह विकल करि भई हैं मगन।—सूर। (४) वह जो किसी विषय का अच्छा ज्ञाता हो। मर्मज्ञ। (५) प्रेमी। भक्त। भावुक। सहृदय। (६) सारस पक्षी। (७) घोड़ा। (८) हाथी। (९) एक प्रकार का छंद।

रसिकता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रसिक होने का भाव या धर्म। (२) परिहास। हँसी ठट्ठा।

रसिकविहारी-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण का एक नाम।

रसिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दही का शरबत। सिखरन (२) ईख का रस। (३) जीभ। जवान। (४) शरीर में की धातु। रस। (५) मैना पक्षी।

रसिकाई-संज्ञा स्त्री० दे० "रसिकता"।

रसिकेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण का एक नाम।

रसित-वि० [सं०] (१) ध्वनि करता हुआ। बोलता हुआ। बजता हुआ। (२) बहता हुआ। रसता हुआ। थोड़ा थोड़ा टपकता हुआ। (३) रसयुक्त। (४) जिसके ऊपर मुलम्मा चढ़ा हो।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) ध्वनि। शब्द। उ०—लषि नव नील पयोद रसित सुनि रुचिर मोर जोरी जनु नाचति।—तुलसी। (२) अंगूर की शराब। द्राक्षासव।

रसिया-संज्ञा पुं० [सं० रसिक, या रस + रिया (हिं० प्रत्य०)] (१) रस लेनेवाला। रसिक। (२) एक प्रकार का गाना जो फागुन के मौसिम में ब्रज और बुंदेलखंड आदि में गाया जाता है।

रसियाक-संज्ञा पुं० [हिं० रस + रिया (प्रत्य०)] गाने के रस में पका हुआ चावल।

रसी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की सजी जो बिहार और संयुक्त प्रांत में बनती है।

ॐ संज्ञा पुं० दे० "रसिक"।

रसीद-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) किसी चीज के पहुँचने या प्राप्त होने की क्रिया। प्राप्ति। पहुँच। जैसे,—पारसल भेजा है; उसकी रसीद की इत्तला दीजिएगा।

मुहा०—रसीद करना = (१) (थप्पड़, मुक्का आदि) लगाना।

जड़ना। मारना। जैसे,—थप्पड़ रसीद करूँगा, सीधा हो जायगा। (२) प्रविष्ट करना। बुसेड़ना। (बाजारू)

(३) वह पत्र जिस पर द्योरेवार यह लिखा हो कि अमुक वस्तु या द्रव्य अमुक व्यक्ति से अमुक कार्य के लिये अमुक समय पर पाया। किसी चीज के पहुँचने या मिलने के प्रमाण रूप में लिखा हुआ पत्र। प्राप्ति का प्रमाणपत्र।

विशेष—प्रायः जब किसी को कोई चीज या धन ऋण के रूप में, ऋण चुकाने के लिये अथवा और किसी मामले के संबंध में दिया जाता है, तब पानेवाला एक प्रमाणपत्र लिखकर देनेवाले को देता है, जिसमें यदि पानेवाला कभी उस चीज या धन की प्राप्ति से इन्कार करे, तो उसके विरुद्ध प्रमाण के रूप में यही रसीद उपस्थित की जाय।

मुहा०—रसीद काटना = किसी को रसद लिखकर देना।

क्रि० प्र०—देना।—पाना।—लिखना।—लिखाना। आदि।

(३) पता। खबर। (क०) जैसे,—तुम तो किसी बात की रसीद ही नहीं देते।

रसील-वि० दे० "रसीला"। उ०—मन रसील के सुधा स्वरूपा। आमय पीन हीन रस भूपा।—रघुराज।

रसीला-वि० [हिं० रस + रीला (प्रत्य०)] [स्त्री० रसीली] (१) रस में भरा हुआ। रस युक्त। (२) स्वादिष्ट। मज़ेदार। (३) रस लेनेवाला। आनंद लेनेवाला। (४) भोग-विलास का प्रेमी। व्यसनी। (५) बाँका। छबीला। सुंदर।

रसीलापन-संज्ञा पुं० [हिं० रसीला + पन (प्रत्य०)] रसीला होने का भाव या धर्म।

रसुन-संज्ञा पुं० [सं०] लहसुन।

रसूम-संज्ञा पुं० [अ०] (१) रसम का बहुवचन। (२) नियम। कानून। (३) वह धन जो किसी को किसी प्रचलित प्रथा के अनुसार दिया जाता हो। नेग। लाग। (४) वह धन जो राज्य को कोई काम करने के बदले में राजकीय नियमों के अनुसार दिया जाता हो।

यौ०—रसूम अदालत।

(५) वह धन जो जमींदार को किसानों की ओर से नज़राने या भेंट आदि के रूप में दिया जाता है।

रसूम अदालत-संज्ञा पुं० [अ०] वह धन जो अदालत में कोई मुकदमा आदि दायर करने के समय कानून के अनुसार सरकारी व्यय के रूप में दिया जाता है। कोर्ट फीस। स्टॉप।

विशेष—भिन्न भिन्न कामों या मुकदमों की मालियत के लिये धन की संख्या कानून के द्वारा निर्धारित होती है; और मुकदमा दायर करनेवाले को उतने धन का सरकारी कागज या स्टॉप खरीदना पड़ता है तथा उसी कागज पर अपना दावा दायर करना होता है। बैनामा या दानपत्र आदि लिखने के लिये भी इसी प्रकार रसूम अदालत लगता है।

रसूल-संज्ञा पुं० [अ०] वह जो अपने आपको ईश्वर का दूत कहता हो और सर्वसाधारण में माना जाता हो। पैगंबर। जैसे,—मुहम्मद साहब खुदा के रसूल थे।

रसूली-संज्ञा स्त्री० [अ० रसूल + ई (प्रत्य०)] (१) एक प्रकार का गेहूँ। (२) एक प्रकार का जौ। (३) एक प्रकार की काली मिट्टी।

वि० रसूल-संबन्धी। रसूल का।

रसेंद्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पारद। पारा। (२) राजमाष। लोबिया। (३) एक प्रकार की रसौषध जो जीरा, धनियाँ, पीपल, शहद, त्रिकुट और रससिंदूर के योग से बनती है।

रसेंद्रवेधक-संज्ञा पुं० [सं०] सोना।

रसेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पारा। (२) एक दर्शन का नाम जो छः दर्शनों में नहीं है। इस दर्शन में पारे को शिव का वीर्य और गंधक को पार्वती का रज माना है। इनके १० संस्कार लिखे हैं और इनके उपयोग से व्याधिनाश, जीवन-दान और खेचरत्वादि माना है। इनके दर्शन और स्पर्श में महपुण्य बतलाया है और कहा गया है कि शरीर का आरोग्य होना परमावश्यक है; क्योंकि शरीर के बिना पुरुषार्थ नहीं हो सकता; और पुरुषार्थ के बिना मोक्ष की प्राप्ति असंभव है। (३) एक रसौषध जो पारे, गंधक, हर-ताल और सोने आदि के योग से तैयार होती है।

रसेस-संज्ञा पुं० [सं० रसेश] रसिक शिरोमणि, श्रीकृष्ण।

संज्ञा पुं० [सं० रसेश्वर] पारा।

रसोइया-संज्ञा पुं० [हि० रसोई + या (प्रत्य०)] रसोई बनानेवाला। भोजन बनानेवाला। रसोईदार। सूपकार।

रसोई, **रसोई**-संज्ञा स्त्री० [हि० रस + ओई (प्रत्य०)] (१) पका हुआ खाद्य पदार्थ। बना हुआ भोजन।

यौ०—कच्ची रसोई = दाल, भात, रोटी आदि भोजन जो घी या दूध में नहीं पकते और जो हिंदू लोग चौके के बाहर या किसी दूसरे के हाथ की बना हुये नहीं खाते। सखरा। पक्की रसोई = पूरी, पकवान, खीर आदि घी या दूध में पका चौके जो

चौके के बाहर और अन्य दिनों के हाथ की भी खाई जा सकती है। निखरी।

मुहा०—रसोई चढ़ना = भोजन पकना। खाना बनना। रसोई तपना = भोजन पकाना। खाना बनाना। उ०—(क) जो पुरुषार्थ ते कहेँ संपति मिलति रहीम। पेट लागि बैराट घर तपत रसोई भीम।—रहीम। (ख) कह गिरिधर कविराय आपकी तपै रसोई।—गिरिधर।

कि० प्र०—करना।—जीमना।—पकाना।—बनाना, आदि।

(२) वह स्थान जहाँ भोजन बनता हो। चौका। पाकशाला।

उ०—जसुमति चली रसोई भीतर तबहिं बवालि इक छीकी।—सूर।

रसोईखाना-संज्ञा पुं० दे० “रसोईघर”।

रसोईघर-संज्ञा पुं० [हि० रसोई + घर] वह स्थान जहाँ भोजन पकाया जाता हो। खाना बनाने की जगह। पाकशाला। चौका।

रसोईदार-संज्ञा पुं० [हि० रसोई + फा० दार (प्रत्य०)] [स्त्री० रसोईदारिन] वह जो रसोई बनाने के काम पर नियुक्त हो। भोजन बनानेवाला। रसोइया।

रसोईदारी-संज्ञा स्त्री० [हि० रसोईदार + ई (प्रत्य०)] (१) रसोई करने का काम। भोजन बनाने का काम। (२) रसोईदार का पद।

रसोईबरदार-संज्ञा पुं० [हि० रसोई + फा० बरदार] भोजन ले जानेवाला। भोजनवाहक।

रसौत-संज्ञा स्त्री० दे० “रसौत”।

रसोदर-संज्ञा पुं० [सं०] हिंगुल। शिंगरफ।

रसोद्भव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिंगरफ। इंगुर। (२) रसौत।

रसोद्भूत-संज्ञा पुं० [सं०] रसौत।

रसोन-संज्ञा पुं० [सं०] लहसुन।

रसोपल-संज्ञा पुं० [सं०] मोती।

रसोय—संज्ञा स्त्री० [हि० रसोई] रसोई। भोजन। उ०—भा आयसु अस राज घर बेगहि करो रसोय।—जायसी।

रसौत-संज्ञा स्त्री० दे० “रसौत”।

रसौत-संज्ञा स्त्री० [सं० रसोद्भूत] एक प्रकार की प्रसिद्ध औषध जो दाहहल्दी की जड़ और लकड़ी को पानी में औटाकर, और उसमें से निकले हुए रस को गाढ़ा करके तैयार की जाती है। इसके लिये पहले दाहहल्दी का काढ़ा तैयार करते हैं और तब उसमें उसके बराबर ही गौ या बकरी का दूध डालकर दोनों को पकाकर बहुत गाढ़ा अवलेह तैयार करते हैं। यही अवलेह जमकर बाजारों में रसौत के नाम से बिकता है। रसौत कालापन लिपु भूरे रंग की होती है और पानी में सहज में घुल जाती है। इसका स्वाद कड़वा

होता है और इसमें से एक विलक्षण गंध निकलती है, जो अफीम की गंध से कुछ मिलती जुलती होती है। इसका व्यवहार प्रायः आँखों पर लगाने और घावों का विकार दूर करने में होता है। वैद्यक में यह चरपरी, गरम, रसायन, कड़वी, शीतल, तीक्ष्ण, मुक्रजनक, नेत्रों के लिये अत्यंत हितकारी तथा कफ, विष, रक्तपित्त, वमन, हिचकी, श्वास और मुख रोग को दूर करनेवाली मानी गई है।

पर्याय—रसगर्भ । तादर्थ्यशैल । रसोद्भूत । रसाग्रज । कृतक । बालभैषज्य । रसरज । अग्निसार । रसनाभि ।

रसौता—संज्ञा पुं० दे० “रसौती” ।

रसौती—संज्ञा स्त्री० [देश०] धान की वह बोआई जिसमें खेत जोतकर वर्षा होने से पहले ही बीज डाल दिया जाता है।

रसौर—संज्ञा पुं० [हि० रस + और (प्रत्य०)] ऊख के रस में पके हुए चावल ।

रसीली—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का रोग जिसमें आँख के ऊपर भँवों के पास बड़ी गिलड़ी निकल आती है।

रस्ता—संज्ञा पुं० दे० “रास्ता” ।

रस्तोगी—संज्ञा पुं० [देश०] वैद्यों की एक जाति ।

रस्स—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मेलजोल । बरताव ।

यौ०—राह रस्स = मेलजोल । व्यवहार । घनिष्टता ।

(२) रिवाज । परिपाटी । चाल । प्रथा ।

रस्मि—संज्ञा स्त्री० दे० “रश्मि” ।

रस्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) रक्त । खून । लहू । (२) शरीर में का मांस ।

रस्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रास्ना । (२) पाठा । पाढ़ी ।

रस्सा—संज्ञा पुं० [सं० रसना, प्रा० रसणा, हि० रसरा] [स्त्री० अस्पा० रस्सी] (१) बहुत मोटी रस्सी जो कई मोटे तारों को एक में बटकर बनाई जाती है।

विशेष—आज कल प्रायः जहाजों आदि के लिये तथा और बड़े बड़े कामों के लिये लोहे के तारों के भी रस्से बनने लगे हैं।

(२) जमीन की एक नाप जो ७५ हाथ लंबी और ७५ हाथ चौड़ी होती है। इसी को बीघा कहते हैं। (३) घोड़ों के पैर की एक बीमारी।

रस्सी—संज्ञा स्त्री० [हि० रस्ता] (१) रुई, सन या इसी प्रकार के और रेशों के सूतों या डोरों को एक में बटकर बनाया हुआ लंबा खंड जिसका व्यवहार चीजों को बाँधने, कूँ से पानी खींचने आदि में होता है। डोरी । गुण । रज्जु । (२) एक प्रकार की सजी ।

रस्सीवाट—संज्ञा पुं० [हि० रस्सी + वटना] रस्सी बटनेवाला । डोरी बनानेवाला ।

रहकला—संज्ञा पुं० [हि० रह + कल] (१) एक प्रकार की हलकी

गाड़ी । (२) तोप लादने की गाड़ी । उ०—वान रहकला तोप जँजालें । सहसनि सुतरनाल हथनालें ।—लाल । (३) रहकले पर लदी हुई छोटी तोप । उ०—तिमि घरनाल और करनालें सुतरनाल जँजालें । गुरगुराव रहकले भले तह लागे बिपुल बयालें ।—रघुराज ।

रहँचटा—संज्ञा पुं० [हि० रस + चाट] प्रीति की चाह । मनोरथ सिद्धि की अभिलाषा । चसका । लिप्सा । उ०—(क) बनक मढ़े कोठे चढ़े छैल छबीले स्याम । खरी चौहटे में अरी चढ़ी रहँचटे वाम ।—रामसहाय । (ख) कन दैवो सौँप्यो ससुर बहू थुरहथी जानि । रूप रहँचटे लगि लख्यो माँगन सब जग आनि ।—विहारी । (ग) ज्यों ज्यों आवत निकट निसि त्यों त्यों खरी उताल । झमकि झमकि टहलैं करै लगी रहँचटे बाल ।—विहारी ।

रहँचट—संज्ञा पुं० [सं० आरवट्ट, प्रा० अरहट्ट] कूँ से पानी निकालने का एक प्रकार का यंत्र । इसमें कूँ के ऊपर एक ढाँचा रहता है जिसमें बीचो बीच पहिए के आकार का एक गोल चरखा लगा होता है, जो कूँ के ठीक बीच में रहता है। इस चरखे पर घड़ों आदि की एक बहुत लंबी माला, जिसे “माल” कहते हैं, टँगी रहती है। यह माला नीचे कूँ के पानी तक लटकती रहती है और इसमें बहुत सी हाँडियाँ या बालिटियाँ बँधी रहती हैं। जब बैलों के चक्कर देने से चरखा घूमता है, तब जल से भरी हुई हाँडियाँ या बालिटियाँ ऊपर आकर उलटती हैं, जिससे उनका पानी एक नाली के द्वारा खेतों में चला जाता है, और खाली हाँडियाँ या बालिटियाँ नीचे कूँ के पानी में चली जाती और फिर भर कर ऊपर आती हैं। इस प्रकार थोड़े परिश्रम से अधिक पानी निकलता है। पश्चिम में इसकी बहुत चाल है। उ०—(क) बिरह बिषम बिष बेलि बड़ी उर तेइ सुख सकल सुभाय दहे री । सोइ सींचिबे लगि मनसिज के रहँट नैन नित रहत नहे री ।—तुलसी । (ख) लागी घरी रहँट की सींचहि अमृत बेलि ।

रहँटा—संज्ञा पुं० [हि० रहँट] सूत कातने का चर्खा । उ०—कहै कबीर सूत भल काता । रहँटा न होय, मुक्ति को दाता ।—कबीर ।

रहँटी—संज्ञा स्त्री० [हि० रहँटा] (१) कपास ओटने की चरखी । (२) रुपया उधार देने का एक ढंग, जिसमें प्रति मास कुछ रुपया वसूल किया जाता है। इसे संयुक्त प्रांत में हुंडी कहते हैं।

रहचटा—संज्ञा पुं० दे० “रहँचटा” ।

रहचह—संज्ञा स्त्री० [अनु०] बिड़ियों का बोलना । चहचहाहट । उ०—सारी सुभा जो रहचह करहीं । कुरहि परेवा ओ करवहरी ।—जायसी ।

रहता-संज्ञा पुं० [?] अरहर के पौधे के सूखे डंठल। कड़िया।

रहन-संज्ञा स्त्री० [हि० रहना] (१) रहने की क्रिया या भाव।

यौ०—रहन सहन = चाल ढाल। तौर तरीका।

(२) रहने का ढंग। व्यवहार। आचार।

उ०—जाकी रहनि कहनि अनमिल, सखि, कहत समुझि अति थोरे।—सूर।

रहनसहन-संज्ञा स्त्री० [हि० रहना + सहना] जीवन निर्वाह का ढंग। गुजर-बसर का तरीका। तौर। चाल ढाल।

रहना-क्रि० अ० [सं० राज = विराजना, सुरोभित होना; पु० हि० राजना] (१) स्थित होना। अवस्थान करना। ठहरना। जैसे,—अगर कोई यहाँ रहे, तो मैं वहाँ से हो आऊँ। (२) स्थान न छोड़ना। प्रस्थान न करना। न जाना। रुकना। थमना।

मुहा०—रह चलना या जाना = प्रस्थान करने का विचार छोड़ देना। रुक जाना। ठहर जाना। उ०—रहि चलिण सुंदर रघुनायक। जो सुत तात बचन पालन रत जननिउ तात मानिवे लायक।—तुलसी।

(३) बिना किसी परिवर्तन या गति के एक ही स्थिति में अवस्थान करना। उ०—नीके है छीके छुए ऐसे ही रह नारि।—बिहारी।

मुहा०—रहने देना = (१) जिस अवस्था में हो, उसी में छोड़ देना। हस्तक्षेप न करना। (२) जाने देना। कुछ ध्यान न देना। रहा जाना = शांति या स्थिरतापूर्वक अवस्थान करने में समर्थ होना। संतुष्ट होना। उ०—(क) वृषभ उदर प्रत रहा न जाई।—रघुराज। (ख) अब तो चपला से न रहा गया; वह केतकी का झोंटा पकड़ने को दौड़ी। (ग) पिता को आते देख राजकुमार से न रहा गया। वे तुरंत आगे बढ़े और निकट पहुँचकर सादर प्रणाम किया।—देवकीनंदन।

विशेष—इस अर्थ में अधिकतर प्रयोग 'नहीं' के साथ होता है।

(४) निवास करना। बसना। जैसे,—आप कई पीढ़ियों से कलकत्ते में रहते हैं। (५) कुछ दिनों के लिये ठहरना या टिकना। अस्थायी रूप से निवास करना। उ०—एहि नैहर रहना दिन चारी।—जायसी। (६) किसी काम में ठहरना। कोई काम करना बंद करना। थमना। उ०—रहो रहो, मेरे लिये क्यों परिश्रम करती हो।—लक्ष्मण। (७) चलना बंद करना। रुकना। उ०—हाँ, डर ही से तो सिमट समट चलता है रह रह कर।—प्रतापनारायण। (८) विद्यमान होना। उपस्थित होना। जैसे,—हमारे रहते कोई ऐसा नहीं कर सकता।

मुहा०—किसी के रहते = किसी की विद्यमानता में। मौजूदगी में।

(९) चुपचाप समय बिताना। कुछ न करना। उ०—(क)

स्याही बारन तें गई मन तें भई न दूर। समुझि चतुर चित बात यह रहत बिसूर बिसूर।—रसनिधि। (ख) धरम विचारि समुझि कुल रहई। सो निकिष्ट तिय सुति अस कहई।—तुलसी।

मुहा०—रह जाना = (१) कुछ कार्यवाई न करना। जैसे,—तुम्हारे खयाल से हम रह गए; नहीं तो एक चपत देते। (२) सफल न होना। लाभ न उठा सकना। जैसे,—सब पा गए, तुम रह गए।

(१०) नौकरी करना। काम काज करना। उ०—उसने जबाब दिया—मैं मालिन हूँ; यह नहीं कह सकती कि किसके यहाँ रहती हूँ और ये फूल के गहने किसके वास्ते लिए जाती हूँ।—देवकीनंदन। (११) स्थित होना। स्थापित होना। जैसे,—दूसरे ही महीने उसे पेट रहा। (१२) समागम करना। मैथुन करना। उ०—जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पति देवता करम मन बानी। रहई करम बस परिहरि नाहू। सचिव हृदय तिमि दाहन दाहू।—तुलसी। (१३) जीवित रहना। जीना। उ०—रहते कौन अधार दुसह दुर्ग पिय बिरह भौ। कर न राखते त्यार ध्यान जखीरा नैन जौ।—रसनिधि। (१४) बचना। छूट जाना। अवशिष्ट होना। उ०—(क) कीन्हसि जियन सदा सब चहा। कीन्हसि मीचु न कोई रहा।—जायसी। (ख) और जो बातें भगमानी से कहने को रह गई थीं, उनको भी उसी भाँति धीरे उसने उससे कहा।—अयोध्या। (ग) रक्त मौस जरि जाय रहै एक हाड़ की ठट्टी।—गिरधर। (घ) बैठे प्रभु भ्राता सहित दिवस रहा भरि याम।—तुलसी।

यौ०—रहा सहा = बचा बचाया। अवशिष्ट। थोड़ा जो बाकी था। जैसे,—तुम्हारे चले जाने से उनका रहा सहा उत्साह भी जाता रहा।

मुहा०—(अंग आदि का) रह जाना = थक जाना। शिथिल हो जाना। जैसे,—(क) लिखते लिखते हाथ रह गया। (ख) चलते चलते पैर रह गए। रह जाना = (१) पीछे छूट जाना। जैसे,—मेरी छड़ी वहीं रह गई है। (२) अवशिष्ट होना। खर्च या व्यवहार से बचना। जैसे,—मेरे पास यही पुस्तक रह गई है।

विशेष—अवस्थान-सूचक इस क्रिया का प्रयोग बहुत व्यापक है। प्रधान क्रिया के अतिरिक्त यह और क्रियाओं के साथ संयुक्त होकर भी आती है। जैसे,—आ रहा है; जा रहते हैं। संज्ञा पुं० शेर, बाघ आदि के रहने का स्थान। बन का वह विभाग जहाँ शेर, चीते आदि के रहने की माँदें हों। इसे 'रमना' भी कहते हैं।

रहनिष्ठ-संज्ञा स्त्री० [हि० रहना] (१) आचरण। चाल ढाल। रहन। उ०—सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि

देहु ।—तुलसी । (२) प्रेम । प्रीति । लगन । उ०—जौ पै रहनि राम सौं नाहीं । तौ नर खर कूकर सूकर सम जाय जियत जग माहीं ।—तुलसी ।

रहनी—संज्ञा स्त्री० दे० “रहनि” ।

रहम—संज्ञा पुं० [अ०] करुणा । दया । (२) अनुकंपा । अनुग्रह ।

यौ०—रहमदिल = दयालु । कृपालु ।

संज्ञा पुं० [अ० रहम] गर्भाशय ।

रहमत—संज्ञा स्त्री० [अ०] कृपा । दया । मेहरबानी ।

रहमान—वि० [अ०] बड़ा दयालु ।

संज्ञा पुं० परमात्मा का एक नाम । (मुसल०)

रहर, रहरी†—संज्ञा स्त्री० दे० “अरहर” ।

रहक—संज्ञा स्त्री० [प० हि० रिदना = घसितना] छोटी देहाती गाड़ी, जिसमें किसान लोग पाँस या खाद ढोते हैं ।

रहकड़भाव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) संसार के झगड़ों को छोड़कर एकांत स्थान में निवास करना । (२) वह जो इस प्रकार संसार को छोड़कर एकांत में निवास करता हो ।

रहरेठा †—संज्ञा पुं० [हि० अरहर] अरहर के सूखे डंठल। कड़िया । रहठा ।

रहल—संज्ञा स्त्री० [अ०] एक विशेष प्रकार की छोटी चौकी जिस पर पढ़ने के समय पुस्तक रखी जाती है । इसमें दो छोटी छोटी पटरियाँ बीच में एक दूसरी को काटती हुई लगी रहती हैं और इच्छानुसार खोली या बंद की जा सकती हैं । खुलने पर इनका आकार X हो जाता है । उ०—रघुनाथ भावते को पानदान भरि धन्यो, धरी पोथी आय लयाय कोक की रहल में ।—रघुनाथ ।

रहलू†—संज्ञा स्त्री० दे० “रहलू” ।

रहवाल—संज्ञा स्त्री० [फा० रहवार] घोड़े की एक चाल ।

रहस—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गुप्त भेद । छिपी बात । (२) आनंदमय लीला । क्रीड़ा । खेल । (३) आनंद । सुख । उ०—(क) मिले रहस चाहिय आँ दूना । कत रोवइ जो मिला बिछुना ।—जायसी । (ख) जुबति जूथ रनिवास रहस बस यहि विधि । देखि देखि सियराम सकल मंगल निधि ।—तुलसी । (४) योग, तंत्र या और किसी संप्रदाय की गुप्त बात । गूढ़ तत्त्व । मर्म । (५) एकांतता । एकांत स्थान ।

रहस—संज्ञा पुं० [सं०] (१) समुद्र । (२) स्वर्ग ।

रहसना—क्रि० अ० [हि० रहस + ना (प्रत्य०)] आनंदित होना । प्रसन्न होना । उ०—(क) एहि अवसर मंगल परम सुनि रहसेउ रनिवास ।—तुलसी । (ख) भोग करत बिहँसै रहसाई ।—जायसी । (ग) एहि विधि रहसत बिलसत दंपति हेतु हिये नहि थोरे ।—सूर । (घ) सारौ सुवा महर

कोकिला । रहसत आय पपीहा मिला ।—जायसी । (ङ) वर दुलहिनहिं विलोकि सकल मन रहसहिं ।—तुलसी ।

रहसबधावा—संज्ञा पुं० [हि० रहस + बधाई] विवाह की एक रीति जिसमें नव विवाहिता बधू को वर अपने साथ जनवासे में लाता है । वहाँ सब गुरु जन उस समय बधू का मुख देखते हैं और उसे वस्त्र, भूषणादि उपहार देते हैं ।

रहसि—संज्ञा स्त्री० [सं० रहस्] गुप्त स्थान । एकांत स्थान । उ०—(क) सुनि बल मोहन बैठ रहसि में कीन्हों कछु विचार ।—सूर ।

रहसू—संज्ञा स्त्री० [सं०] व्यभिचारिणी । पुँश्चली । बदचलन औरत ।

रहस्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह बात जो सब को बतलाई न जा सकती हो । गुप्त भेद । गोप्य विषय । (२) भीतर की छिपी हुई बात । मर्म या भेद की बात । (३) वह जिसका तत्त्व सहज में या सब की समझ में न आ सके । उ०—यह रहस्य काहू नहिं जाना । दिनमनि चले करत गुनगाना ।—तुलसी ।

क्रि० प्र०—खुलना ।

(४) हँसी उठना । मजाक ।

वि० (१) सब को न बताने योग्य । गोपनीय । (२) जो एकांत में हुआ हो । जो छिपाकर हुआ हो ।

रहस्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) महाभारत के अनुसार एक प्राचीन नदी का नाम । (२) रासना । (३) पाठा । पाढ़ी ।

रहाई—संज्ञा स्त्री० [हि० रहना] (१) रहने की क्रिया या भाव । (२) कल । चैन । आराम । उ०—सीस ते पूँछि लौं गात गन्यो पै डसे बिन ताहि परै न रहाई ।

रहाऊ †—संज्ञा स्त्री० [देश०] गीत में का पहला पद । टेक । स्थायी । (यह शब्द अधिकतर पंजाब में बोला जाता है ।)

रहाट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो किसी प्रकार की सलाह देता हो । (२) मंत्री । अमात्य । (३) प्रेतात्मा ।

रहाना—क्रि० अ० [हि० रहना] (१) होना । उ०—(क) भोजन मोर कपोत रहायो । ताको तैं क्यों गोद छिपायो ।—विश्राम । (ख) मंदिर तिनकर जहाँ रहावा । तेहि हुम तरे बधिक जब आवा ।—विश्राम । (२) रहना । उ०—नीम करवापन ना तजै जल में सदा रहाय ।—कबीर ।

रहावन †—संज्ञा स्त्री० [हि० रहना + आवन (प्रत्य०)] वह स्थान जहाँ गाँव भर के सब पशु एकत्र होकर खड़े हों । रहु-निया । उ०—कान्ह कुँवर सब सखन संग मिलि ठाढ़े जुरे रहावन । देखी तौ लौं कुँवरि लाडिली अरु सखियन की आवन ।—हंसराज ।

रहा सहा—वि० [हि० रहना + सहा अनु०] बचा खुचा । बचा बचाया । जो थोड़ा सा बच रहा हो । उ०—(क) हिंदुओं

का दिल रहा सदा और भी टूट गया।—शिवप्रसाद।

(ख) उसी प्रतापी ब्रिटिश राज्य के अधीन रहकर भारत रही सही हैसियत भी खो दे।—बालमुकुन्द गुप्त।

रहित-वि० [सं०] बिना। बगैर। हीन। जैसे,—(क) आपकी बातें प्रायः अर्थ-रहित हुआ करती हैं। (ख) वे इन सब दोषों से रहित हैं। (ग) पुरुषार्थ रहित होकर जीवन नहीं बिताना चाहिए।

रहिला-संज्ञा पुं० [?] चना। उ०—रहिमन रहिला की भली जो परसै मन लाय। परसत मन मैला करै ऊ मैदा बहि जाय।—रहिमन।

रहीम-वि० [अ०] रहम करनेवाला। कृपालु। दयालु।

संज्ञा पुं० [अ०] (१) रहीम खाँ खानखानाँ का उपनाम जो वे अपनी कविता में रखते थे। (२) ईश्वर का एक नाम। (मुसलमान)

रहुवा-संज्ञा पुं० [हि० रहना] किसी दूसरे के यहाँ केवल रोटियों पर रहनेवाला मनुष्य। टुकड़हा। रोटी तोड़। उ०—कह गिरधर कविराय कहत साहेब से रहुवा। तुम नीचे फल बेलि बृक्ष हम ऊँचे महुवा।—गिरधर।

रहुगण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंगिरस् गोत्र के अंतर्गत एक शाखा या गण। (गौतम ऋषि इसी वंश के थे।) (२) इस वंश का मनुष्य।

रँक-वि० दे० “रंक”। उ०—रँकनि नारूप रीक्षि करै तुलसी जग जो जुरै जाँचक जोरो।—तुलसी।

रँकड़ा-संज्ञा स्त्री० [हि० रंक] एक प्रकार की भूमि जिसमें बहुत कम अन्न पैदा होता है। ऐसी भूमि बहुधा कँकरीली और ऊँची नीची हुआ करती है।

रँकव-संज्ञा पुं० [सं०] सृगों के रोंग से बना हुआ कपड़ा आदि।

रँग-संज्ञा पुं० दे० “रँग”।

रँगड़ी-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का चावल जो पंजाब में पैदा होता है।

रँग-संज्ञा पुं० [सं० रंग] एक प्रसिद्ध धातु जो बहुत नरम और रंग में सफ़ेद होती है। यह पीटकर पत्तर के रूप में की जा सकती है। यह प्रायः कई दूसरे पदार्थों के साथ पहाड़ों की दरारों तथा नदियों के किनारे पाई जाती है। यह भारत में केवल बरमा में मिलती है; और मलाया प्रायद्वीप तथा आस्ट्रेलिया आदि में बहुत मिलती है। यह बहुत साधारण आँच पाकर भी गल जाती है; इसी लिए इस का व्यवहार प्रायः फूल और भरत आदि मिश्रित धातुएँ बनाने में होता है। ताँबे के बरतनों पर इसी धातु से कलई की जाती है जिससे इसे ‘कलई’ भी कहते हैं। वैद्यक में इसे कटु, तिक्त, शीतल, कषाय, लवण रस और मेह, कृमि, पांडु तथा दाह आदि का नाशक, कांतिवर्धक और रसायन माना

है। इसे शोधकर और भस्म बनाकर अनेक प्रकार के रोगों में देते हैं।

पर्या०—रंग। वंग। त्रपु। नाग। त्रपुप। मधुर। हिम। प्रतिगंध। कुरुप्य। स्वर्णज। कुरुपत्री। तमर। नागजीवन। चक्र। स्ववेत।

रँच-अव्य० दे० “रंच”। उ०—झूठ बोल थिर रहै न रँचा। पंडित सोई वेद मत साँचा।—जायसी।

रँचना-क्रि० अ० [सं० रंजन] (१) अनुरक्त होना। प्रेम करना। चाहना। उ०—(क) मन काँचै नाँचै बूधा साँचै रँचै राम।—बिहारी। (ख) मन जाहि रँचो मिलहि सो वर सहज सुंदर साँवरो।—तुलसी। (२) रंग पकड़ना। क्रि० स० [सं० रंजन] रंग चढ़ाना। रँगना। उ०—जो मजीठ औटै बहु आँचा। सो रँग जनम न डोलै रँचा।—जायसी।

रँजना-क्रि० अ० [सं० रंजन] काजल लगाना। (आँख में) क्रि० स० रंजित करना। रँगना।

क्रि० स० [हि० रँग] फूटे हुए बरतन को रँगों से जोड़ना। रँगों से टाँका लगाना।

रँटा-संज्ञा पुं० [देश०] टिटिहरी चिड़िया। टिटिभ। उ०—झिली ते रसीली जीली रँटे हू की रट लीली, स्यार तें सवाई भूतभावनी ते आगरी।—केशव।

संज्ञा पुं० दे० “रहँटा”।

रँटा-संज्ञा स्त्री० [देश०] चोरों की सांकेतिक भाषा।

रँड-वि० स्त्री० [सं० रंडा] (१) जिसका पति मर गया हो और पुनर्विवाह न हुआ हो। विधवा। बेवा। (२) रंडी। वेदया। कसबी। (क०)

क्रि० प्र०—करना।—रखना।

रँड-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का चावल जो बंगाल में अधिकता से होता है।

रँडना-क्रि० स० [सं० रदन] विलाप करना। रोना। उ०—कोई औगुन मन बसा चित तें धरा उतार। दादू पति विन सुंदरी रँडि घर घर बार—दादू।

रँध-संज्ञा पुं० [सं० परान्त = दूसरी ओर] (१) निकट। पास। समीप। उ०—(क) अनु रानी हौं रहतेउ रँधा। कैसे रहउ बचा कर बाँधा।—जायसी। (ख) एहि डर रँध न बैठों मकु साँवरि होइ जाउँ।—जायसी। (२) पड़ोस। पार्श्व। बगल।

यौ०—रँध पड़ोस, रँध पड़ोसी।

रँधना-क्रि० स० [सं० रंधन] (भोजन आदि) पकाना। पक करना। जैसे,—दाल रँधना, चावल रँधना। उ०—विविध सृगन कर आमिष रँधा।—तुलसी।

राधपडोस—संज्ञा पुं० [हि० राध = पास + पडोस] आसपास । पडोस । पार्श्व का स्थान । प्रतिवेश ।

रापी—संज्ञा स्त्री० [देश०] पतली खुरपी के आकार का मोचियों का एक औजार जिससे वे चमड़ा तराशते, काटते और साफ करते हैं ।

राभना—क्रि० प्र० [सं० रंभण] (गाय का) बोलना या चिल्लाना । बँबाना । उ०—(क) तब पृथ्वी दुःख पाय धवराय गाय रूप बनाय राभती राभती देवलोक में गई ।—लल्लू । (ख) तमचुर खगरोर सुनहु बोलत बनराई । राभति गो खरिकन में बछरा हित धाई ।—सूर ।

राज्या—संज्ञा पुं० दे० “राजा” ।

राइ—संज्ञा पुं० [सं० राजा, प्रा० राया] छोटा राजा । राय । सरदार । उ०—(क) पउरहि पउरि सिंह गदि कावे । डरपहि राइ देखि तिन्ह ठावे ।—जायसी । (ख) राम से रहीम रनछोर राइ राने हैं ।—सूदन । वि० दे० “राय” ।

राई—संज्ञा स्त्री० [सं० राजिका, प्रा० राइया] (१) एक प्रकार की बहुत छोटी सरसों । (२) बहुत थोड़ी मात्रा या परिमाण ।

मुहा०—राई भर = बहुत थोड़ा । राई रत्ती करके = छोटी से छोटी रकम या तौल के हिसाब से । राई नोन उतारना = नजर लगे हुए वस्त्रों पर उतारा करके राई और नमक को आग में डालना, जिससे नजर के प्रभाव का दूर होना माना जाता है । राई से पर्वत करना = थोड़ी बात को बहुत बड़ा देना । राई काई करना = ठुकरा ठुकरा कर डालना । राई काई होना = ठुकरा ठुकरा होना । उ०—अर्जुन ने ऐसे पवन बाण मारे कि बादल राई काई हो यों उड़ गये, जैसे लूई के पहल पवन के झोंक से ।—लल्लू । तेरी आँखों में राई नोन = ईश्वर करे, तेरी बुरी डीठ मुझे न लगे । राई से पर्वत करना = छोटी बात को बहुत बड़ा देना । उ०—अविगति गति जानी न परै । राई ते पर्वत करि डारै राई मेरु करै ।—सूर । राई लोन उतारना = दे० “राई नोन उतारना” । उ०—(क) हिरण्याक्ष अरु हिरनकशिपु भट आदिक जेइ संहान्यो । ताहि प्रेत बाधा वारन हित राई लोन उतान्यो ।—रघुराज । (ख) कबहूँ अँग भूषण धनवावति राई लोन उतारि ।—सूर । (ग) यशुमति माय धाय उर लीन्हों राई लोन उतारो ।—सूर ।

रा—संज्ञा स्त्री० [हि० राइ] राइ होने का भाव । राजापन । राजसी ।

राइता—संज्ञा पुं० दे० “रायता” ।

राइफल—संज्ञा स्त्री० [अंग०] घोड़ेदार बंदूक । बड़ी बंदूक ।

राइरंगा—संज्ञा पुं० दे० “रामदाना” ।

राउ—संज्ञा पुं० [सं० राजा, प्रा० राय, राव] राजा । नरेश । उ०—राउ तृप्ति जहि सो पहिचाना । देखि सुवेष महा-मुनि जाना ।—तुलसी ।

३६०

राउत—संज्ञा पुं० [सं० राज + पुत्र, प्रा० राउत्त] (१) राजवंश का कोई व्यक्ति । (२) क्षत्रिय । (३) धीर पुरुष । बहादुर । उ०—राउत राउत होत फिरि कै जूझे ।—तुलसी ।

राउर—संज्ञा पुं० [सं० राज + पुर, प्रा० राय + उर] राजाओं के महल का अंतःपुर । रनवास । जनानखाना । उ०—(क) जब राउर में रघुनाथ गये । बहुधा अवलोकत शोभ भये ।—केशव । (ख) भयो कुलाहल अवध अति लुनि नृप राउर सोर ।—तुलसी । (ग) ने सुमंत तब राउर माहीं । देखि भयावन जात डेराहीं ।—तुलसी ।

वि० श्रीमान् का । आयका । उ०—(क) जो राउर आयसु में पाऊँ । (ख) सब कर हित रख राउर राखे ।—तुलसी ।

राउल—संज्ञा पुं० [सं० राजकुल] (१) राजकुल में उत्पन्न पुरुष । (२) राजा ।

राकस—संज्ञा पुं० [सं० राजस] [स्त्री० राकसि] राक्षस । उ०—(क) राकस बंस हमें हतने सब । काज कहा तिनसों हमसे अब ।—केशव । (ख) राजें कहा रे राकस जानि वृक्षि बौरासि ।—जायसी । (ग) कीन्हेसि राकस भूत परेता ।—जायसी ।

राकसगद्दा—संज्ञा पुं० [हि० राकस + गद्दा] कदंब नाम की बेल और उसकी जड़ जो पंजाब, सिंध, गुजरात और लंका में पाई जाती है । इसकी जड़ ओषधि के काम में आती है । इसके खाने से दस्त और कै होती है । गर्मी के रोगी को इसका रस पिलाया जाता है और गठिया के रोगी की गाँठ पर इसका लेप चढ़ाया जाता है ।

राकसताल—संज्ञा पुं० [हि० राकस + ताल] तिब्बत में कैलास के उत्तर ओर की एक झील का नाम, जिसे रावण हृद और मान तलाई भी कहते हैं ।

राकसपत्ता—संज्ञा पुं० [हि० राकस = राक्षस + हि० पत्ता] जंगली कुँवार जिसे काण्डल और बकूर भी कहते हैं ।

राकसिनि—संज्ञा स्त्री० [हि० राकस] राक्षसी । निशाचरी । उ०—खायो हुतो तुलसी कुरोग राँड राकसिनि, केसरी किसोर राखे बीर बरियाई है ।—तुलसी ।

राका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पूर्णिमा की रात । (२) पूर्णमासी । (३) खुजली का रोग । (४) वह स्त्री जिसको पहले पहल रजोदर्शन हुआ हो । (५) चंद्रमा । (हिं०)

राकापति—संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा ।

राकेश—संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा ।

राक्षस—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० राक्षसी] (१) निश्वर । दैत्य । असुर । (२) कुवेर के धन-कोश के रक्षक । (३) कोई दुष्ट प्राणी । (४) साठ संवत्सरो में से उनचासवाँ संवत् । (५) वैद्यक में एक रस जो पारे और गंधक के योग से बनता है । यह रस पेट की वाढ़ी दूर करता और भूख बढ़ाता

है। (६) एक प्रकार का विवाह जिसमें कन्या के लिये युद्ध करना पड़ता है।

राख-संज्ञा स्त्री० [सं० रक्षा ?] किसी बिल्कुल जले हुए पदार्थ का अवशेष। भस्म। खाक। जैसे,—कोयले की राख।

राखना कृ०-क्रि० सं० [सं० रक्षण] (१) रक्षा करना। बचाना।

उ०—(क) जाको राखै साहय्य मारि न सकिहै कोइ।—कबीर। (२) जो हठ राखै धरम की तेहि राखै करतार। (३) पेड़ या फसल को जानवरों या चिड़ियों के खाने या लोगों के लेने से बचाना। रखवाली करना। उ०—खेत खरी राखे खरी खरे उरोजन बाल।—बिहारी। (४) छिपाना। कपट करना। उ०—कछु तेहि ते पुनि मैं नहि राखा। समुझइ खग खग ही की भाखा।—तुलसी। (५) रोक रखना। जाने न देना। ठहराना। उ०—जागबलिक मुनि परम विवेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी।—तुलसी। (६) आरोप करना। बताना। उ०—तहाँ बेद अस कारन रावा। भजन प्रभाव भाँति बहु भाषा।—तुलसी। (७) दे० “रखना”।

राखी-संज्ञा स्त्री० [सं० रक्षा] वह मंगल सूत्र जो कुछ विशिष्ट अवसरों पर, विशेषतः श्रावणी पूर्णिमा के दिन ब्राह्मण या और लोग अपने यजमानों अथवा आत्मीयों के दाहिने हाथ की कलाई पर बाँधते हैं। रक्षाबंधन का डोरा। रक्षा। संज्ञा स्त्री० दे० “राख”।

राग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी इष्ट वस्तु या सुख आदि को प्राप्त करने की इच्छा। प्रिय या अभिमत वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा। प्रिय या सुखद वस्तु की ओर आकर्षण या प्रवृत्ति। सांसारिक सुखों की चाह।

विशेष—पतंजलि ने इसे पाँच प्रकार के क्लेशों में से एक प्रकार का क्लेश माना है। उनके मत से जो व्यक्ति सुख भोगता रहता है, उसकी प्रवृत्ति और अधिक सुख प्राप्त करने की ओर होती है; और इसी प्रवृत्ति का नाम उन्होंने राग रखा है। इसका मूल अविद्या और परिणाम क्लेश है।

(२) क्लेश। कष्ट। पीड़ा। तकलीफ़। (३) मत्सर। ईर्ष्या। द्वेष। (४) अनुराग। प्रेम। प्रीति। उ०—सो जन जगत जहाज है, जाके रक्ष न द्वेष।—तुलसी। (५) चंदन, कपूर, कस्तूरी आदि से बना हुआ अंग में लगाने का सुगंधित लेप। अंगराग। उ०—कौन करै होरी कोई गोरी समुझावै कहा, नागरी को राग लाग्यो विष सों विराग सों। कहर सी केसर कपूर लाग्यो काल सम गाज सो गुलाब लग्यो अरगजा भाग सों।—पद्माकर। (६) एक वर्ण वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में १३ अक्षर (र, ज, र, ज और ग) होते हैं। (७) रंग, विशेषतः लाल रंग। जैसे,—लाख आदि का। (८) मन प्रसन्न करने की क्रिया। रंजन। (९) राजा। (१०) सूर्य। (११) चंद्रमा। (१२) पैर में लगाने का अलता।

(१३) संगीत में षड्ज आदि स्वरों, उनके वर्णों और अंगों से युक्त वह ध्वनि जो किसी विशिष्ट ताल में बैठाई हुई हो और जो मनोरंजन के लिये गाई जाती हो। किसी खास धुन में बैठाए हुए स्वर जिनके उच्चारण से गान होता हो।

विशेष—संगीत-शास्त्र के भारतीय आचार्यों ने छः राग माने हैं; परंतु इन रागों के नामों के संबंध में बहुत मतभेद है।

भरत और हनुमत के मत से ये छः राग इस प्रकार हैं—भैरव, कौशिक (मालकोस), हिंडोल, दीपक, श्री और मेघ। सोमेश्वर और ब्रह्मा के मत से इन छः रागों के नाम इस प्रकार हैं—श्री, वसंत, पंचम, भैरव, मेघ और नट-नारायण। नारद-संहिता का मत है कि मालव, महार, श्री, वसंत, हिण्डोल और कर्णाट ये छः राग हैं। परंतु आज कल प्रायः ब्रह्मा और सोमेश्वर का मत ही अधिक प्रचलित है। स्वर-भेद से राग तीन प्रकार के कहे गए हैं—

(१) संपूर्ण, जिसमें सातों स्वर लगते हों; (२) षाड्ज, जिसमें केवल छः स्वर लगते हों और कोई एक स्वर वर्जित हो; और (३) ओडव, जिसमें केवल पाँच स्वर लगते हों और दो स्वर वर्जित हों। मतंग के मत से रागों के ये तीन भेद हैं—(१) शुद्ध, जो शास्त्रीय नियम तथा विधान के अनुसार हो और जिसमें किसी दूसरे राग की छाया न हो; (२) सालंक या छायालग, जिसमें किसी दूसरे राग की छाया भी दिखाई देती हो, अथवा जो दो रागों के योग से बना हो; और (३) संकीर्ण, जो कई रागों के मेल से बना हो। संकीर्ण को ‘संकर राग’ भी कहते हैं। ऊपर जिन छः रागों के नाम बतलाए गए हैं, उनमें से प्रत्येक राग का एक निश्चित सरगम या स्वर-क्रम है; उसका एक विशिष्ट स्वरूप माना गया है; उसके लिये एक विशिष्ट ऋतु, समय और पहर आदि निश्चित हैं; उस के लिये कुछ रस नियत हैं; तथा अनेक ऐसी बातें भी कही गई हैं, जिनमें से अधिकांश केवल कविता ही हैं। जैसे, माना गया है कि अमुक राग का अमुक द्वीप या वर्ष पर अधिकार है, उसका अधिपति अमुक ग्रह है, आदि। इसके अतिरिक्त भरत और हनुमत के मत से प्रत्येक राग की पाँच पाँच रागिनियाँ और सोमेश्वर आदि के मत से छः छः रागिनियाँ हैं। इस अंतिम मत के अनुसार प्रत्येक राग के आठ आठ पुत्र तथा आठ आठ पुत्र-वधूएँ भी हैं। (वि० दे० “रागिनी” (४) ।) यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय, तो राग और रागिनी में कोई अंतर नहीं है। जो कुछ अंतर है, वह केवल कल्पित है। हाँ, रागों में रागिनियों की अपेक्षा कुछ विशेषता और प्रधानता अवश्य होती है और रागिनियाँ उनकी छाया से युक्त जान पड़ती हैं। अतः हम रागिनियों को रागों के अर्वांतर भेद कह सकते हैं। इसके सिवा और भी बहुत से राग हैं, जो कई

रागों की छाया पर अथवा मेल से बनते हैं और “संकर राग” कहलाते हैं। कुछ रागों की उत्पत्ति के संबंध में लोगों का विश्वास है कि जिस प्रकार श्रीकृष्ण की वंशी के सात छेदों में से सात स्वर निकले हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णजी की १६०८ गोपिकाओं के गाने से १६०८ प्रकार के राग उत्पन्न हुए थे; और उन्हीं में से बचते बचते अंत में केवल छः राग और उनकी ३० या ३६ रागिनियाँ रह गईं। कुछ लोगों का यह भी मत है कि महादेवजी के पाँच मुखों से पाँच राग (श्री, वसंत, भैरव, पंचम और मेघ) निकले हैं और पार्वती के मुख से छठा नटनारायण राग निकला है।

मुहा०—अपना राग अलापना = अपने ही बात कहना। अपना ही विचार प्रकट करना, दूसरों की बातों पर ध्यान न देना।

रागचूर्ण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव। (२) खैर का पेड़।

रागच्छत्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव। (२) रामचंद्र।

रागनाल—क्रि० अ० [सं० रागः] (१) अनुराग करना। अनुरक्त होना। (२) रँग जाना। रंजित होना। (३) निमग्न हो जाना। उ०—सोमक स्याम करन रस रागि।—गोपाल। क्रि० स० [सं० राग] गाना। अलापना। उ०—(क) या अनुराग की फाग लखो जहाँ रागती राग किशोर किशोरी।—पद्माकर। (ख) पैँधी लंबित सतलरी पुही प्रेम रँग ताग। मनौ विपंची काम की रागति पंचम राग।—गुमान। (ग) गहि कर वीन प्रवीन तिय राग्यो राग मलार।—बिहारी।

रागपुष्प—संज्ञा पुं० [सं०] बंधुजीव नामक पुष्प या उसका पौधा। गुलदुपहरिया।

रागपुष्पी—संज्ञा स्त्री० [सं०] जवा।

रागभजन—संज्ञा पुं० [सं०] एक विद्याधर का नाम।

रागरञ्जु—संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

रागलता—संज्ञा स्त्री० [सं०] कामदेव की स्त्री, रति।

रागपाडव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल का एक प्रकार का खाद्य-पदार्थ जो अनार और दाख से बनता था। (२) आम का मुरब्बा।

रागसारा—संज्ञा स्त्री० [सं०] मैनसिल।

रागांगी—संज्ञा स्त्री० [सं०] मजीठ।

रागान्वित—वि० [सं०] (१) जिसे राग या प्रेम हो। (२) जिसे क्रोध हो।

रागारु—वि० [सं०] जो किसी को कुछ देने की आशा बँधाकर भी न दे।

रागाशनि—संज्ञा पुं० [सं०] बुद्धदेव।

रागिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विदग्धा स्त्री। (२) मेना की बड़ी कन्या का नाम। (३) जयश्री नाम की लक्ष्मी। (४) संगीत में किसी राग की पत्नी या स्त्री। वि० दे० “राग”। हनुमत और भरत के मत से प्रत्येक राग की पाँच पाँच

रागिनियाँ और सोमेश्वर आदि के मत से छः छः रागिनियाँ हैं। परंतु साधारणतः लोक में छः रागों की छत्तीस रागिनियाँ ही मानी जाती हैं। इस अंतिम मत के अनुसार प्रत्येक राग की रागिनियाँ इस प्रकार हैं—

श्रीराग की भाय्याएँ या रागिनियाँ—मालश्री, त्रिवणी, गौरी, केदारी, मधुमाधवी और पहाड़ी। वसंत राग की रागिनियाँ—देवी, दैवगिरि, वैराटी, टौरिका, ललिता और हिंडोल। पंचम राग की रागिनियाँ—विभास, भूपाली, कर्णाटी, पठहंसिका, मालवी और पटमंजरी। भैरव राग की रागिनियाँ—भैरवी, बंगाली, सेंधवी, रामकेली, गुज्जरी और गुणकरी। मेघ राग की रागिनियाँ—मल्लारी, सैरिटी, सावेरी, कौशिकी, गांधारी और हरश्रंगार। नटनारायण की रागिनियाँ—कामोदी, कल्याणी, आभीरी, नाटिका, सारंगी और हम्मीरी। अन्य मत से रागों की रागिनियाँ इस प्रकार हैं। भैरव—मध्यमादि (मधुमाधवी), भैरवी, बंगाली, वरारी और सेंधवी। मालकोस—टोड़ी, खंवावती, गौरी, गुणकरी और ककुभा। हिंडोल—बिलावली, रामकली, देसाख, पटमंजरी और ललित। दीपक—केदारी, करणाटी, देसी टोड़ी, कामोदी और नट। श्री—वसंत, मालवी, मालश्री, असावरी और धनाश्री। मेघ—गौड़मल्लारी, देसकार, भूपाली, गुजरी और श्रीरंक। कुछ लोगों के मत से रागिनियों के उक्त नामों में मतभेद भी है। इन छत्तीस रागिनियों के अतिरिक्त और भी सैंकड़ों रागिनियाँ हैं, जो प्रायः कई रागों और रागिनियों के मेल से बनती हैं और जिन्हें संकर रागिनी कहते हैं।

रागी—संज्ञा पुं० [सं० रागिन्] [स्त्री० रागिनी] (१) अनुरागी। प्रेमी। (२) मडुवा या मकरा नामक कद्व। (३) छः मात्रावाले छंदों का नाम। (४) अशोक वृक्ष।

वि० (१) रँगा हुआ। (२) लाल। सुख। उ०—सुआई जहाँ देखिये वक्र रागी।—केशव। (३) विषय वासना में फँसा हुआ। विषयासक्त। विरागी का उलटा। उ०—पय पावनि बन भूमि भलि सैल सुहावन पीठि। रागिहि सीठि बिसेषि थलु विषय विरागिहि मीठि।—तुलसी। (४) रंजन करनेवाला। रँगनेवाला।

संज्ञा स्त्री० [सं० रागी] राजा की पत्नी। रानी। उ०—तौ लग संग विभीषण के करु राज इहाँ गढ़ है पटरागी।—राम।

रागव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) रघु के वंश में उत्पन्न व्यक्ति। (२) श्रीरामचन्द्र। (३) दशरथ। (४) अज। (५) समुद्र में रहनेवाली एक प्रकार की बहुत बड़ी मछली।

राचना—क्रि० स० [हि० रचना] रचना। बनाना। उ०—(क) वे चूने जग राचिया साईं नूर निनार। तब

आखिर के बख्त में किसका करूँ दिवार।—कबीर। (ख) कोटि इन्द्र छिन ही में राखे छिन में करे विनास। सूर राख्यो उन्हीं को सुरपति मैं भूलों तेहि आस।—सूर। (ग) सब ते धन्य धन्य दृढ़ावन जहाँ कृष्ण को बास। धनि धनि सूरदास के स्वामी अद्भुत राख्यो रास।—सूर। (घ) विशद विहंगन की वाणी राग राचती सी, नाचती तरंग ऐन आनंद बधाई सी।—पद्माकर।

क्रि० अ० रचा जाना। बनना।

क्रि० प्र० [सं० रंजन] (१) रँग जाना। रंग पकड़ना। रंजित होना। उ०—(क) दरशन कियो आइ हरि जू को कहत सपन की साँची। प्रेम मानि कछु सुधि न रही अँग रहे श्याम रँग राखी।—सूर। (ख) तो रस राख्यो आन बस कछो कुटिल मति कर। जीभ निबौरी क्यों लगै बौरी चाखि खजूर।—विहारी। (ग) राखी भूमि हरित हरित तृण जालन सों बिच खात त्यों फुहारन सों छहरात। (२) अनुरक्त होना। प्रेम करना। उ०—(क) पर नारी के राचने सुधो नरकै जाय। यम ताको छँड़े नहीं कोटिन करै उपाय।—कबीर। (ख) तन मन बचन मोर पन साँचा। रघुपति पद सरोज मन राचा।—तुलसी। (ग) विरचि मन बहुरि राख्यो आइ। दूरी जुरै बहुत जतननि करि तऊ दोष नहीं जाइ।—सूर। (घ) बहकि बड़ाई आपनी कत राचत मति भूल। बिनु मधु मधुर के हिये गड़ै न गुड़हर फूल।—विहारी। (३) लीन होना। मग्न होना। डूबना। उ०—(क) जग जहदा में राखिया झूटे कुल की लाज। तन छीजै कुल बिनसिहै रटै न राम जहाज।—कबीर। (ख) कछु कुल धर्म न जानई वाके रूप सकल जग राख्यो। बिनु देखे बिनु ही सुने ठगत न कोऊ बाँच्यो।—सूर। (४) प्रसन्न होना। उ०—(क) जय जय तिहुँ पुर जयमाल राम उर बरपै सुमन सुर रुरे रूप राचहीं।—तुलसी। (ख) प्रमान मान नाचहीं। अमान मान राचहीं। समान मान पावहीं। बिमान मान धावहीं।—केशव। (५) शोभा देना। भला जान पड़ना। उ०—आँच न चंद्रकला बिच राचत साँच न चोरिन के चरसा में।—मतिराम। (६) प्रभावान्वित होना। सोच में या चिन्ता में पड़ना। उ०—शोत उष्ण सुख दुख नहीं मानै हानि भये कछु सोच न राखै। जाइ समाइ सूर वा निधि में बहुरि न उलटि जगत में नाचै।—सूर।

राज्य-संज्ञा पुं० [सं० रज] (१) कारीगरों का औजार। उ०—कथा गुरु कोई घर का राज है कि भला मिलो चाहै बुरा, परंतु प्राणी को अवश्य बना ही छोड़ना चाहिए।—श्रद्धा-राम। (२) लकड़ी के अंदर का पक्का अंश। हीर। (३) जुलाहों के करघे में एक औजार जिससे ताने का तागा ऊपर नीचे उठता और गिरता है। यह दो नरसलों का

होता है जिसके बीच में ऊपर नीचे तागे बाँधे होते हैं और जिनके बीच से ताने के तागे एक एक करके निकाले जाते हैं। कंधी। (४) बरात। जलूस।

क्रि० प्र०—निकालना।—फिराना।

मुहा०—राज घुमाना = विवाह में वर को पालकी पर चढ़ाकर किसी जलाशय या कूप की परिक्रमा कराना।

(५) चक्री के बीच का खूँटा जिसके चारों ओर ऊपर का पाट फिरता है। (६) लोहार का बड़ा हथौड़ा।

राज्यबंधिया-संज्ञा पुं० [हि० राज + बाँधना] वह जुलाहा या आदमी जो राज बाँधने का काम करता हो।

राज्यसंज्ञा-संज्ञा पुं० दे० “राक्षस”।

राज-संज्ञा पुं० [सं० राज्य] (१) देश का अधिकार या प्रबंध। प्रजापालन की व्यवस्था। हुकूमत। राज्य। शासन। उ०—(क) सुख सोवें जो राज याके सब। दुख पैहैं सो सकल प्रजा अब।—सूर। (ख) खान बलि अली अकबर अद्भुत राज, रावरो है अचल सुयश भीजियतु है।—गुमान। (ग) मोहिं चलो वन संग लिये। पुत्र तुहें हम देखि जियें। अवधपुरी महँ गाज परै। कै अब राज भरथ करै।—केशव।

मुहा०—राज काज = राज्य का प्रबंध। राज्य का काम। उ०—(क) राज काज कुपथ कुसाज भोग रोग को है वेद बुधि-विद्या-वाय विवस बलकहीं।—तुलसी। (ख) राज काज कछु मन नहीं धरै। चक्र सुदर्शन रक्षा करै।—सूर। राज देना = किसी को किसी देश के शासन का भार देना। किसी को कहीं का शासक बनाना। राज सिंहासन पर बैठाना। राज्य का अधिकार देना। उ०—दीन्है मरि असुर हरि ने तक देवन दीन्हो राज। एकन को फगुआ इन्द्रासन इक पताल को साज।—सूर। राज पर बैठना = राज सिंहासन पर बैठना। राज्यधिकार पाना। उ०—जब से बैठे राज, राजा दशरथ भूमि में। सुख सोयो सुरराज, तादिन ते सुरलोक में।—केशव। राज रजना = (१) राज्य करना। (२) राजाओं का सा सुख भोगना। बहुत सुख से रहना। राज रजाना = बहुत सुख देना।

यौ०—राजपाट = (१) राज सिंहासन। (२) शासन। उ०—सिर पर धरि न चलोगे कोऊ अनेक जतन करि माया जोरी। राजपाट सिंहासन बैठे नील पदम है सो कहै थोरी। (२) उतना भूमि-मान जितना एक राजा द्वारा शासित होता हो। एक राजा द्वारा शासित देश। जनपद। राज्य। उ०—कृषि राज तज्यो धन धान्य तज्यो सब। नारि तज्यो सुत सोच तज्यो तब।—केशव। (३) पूरा अधिकार। खूब चलती। जैसे,—आजकल बाजार भर में आपका राज है। (४) अधिकार काल। समय। जैसे,—पिताजी के राज

में सारा सुख भोग लिया। (५) देश। जनपद। उ०—
एक राज महीं प्रगट जहँ द्वै प्रभु केशवदास। तहाँ बसत है
रैन दिन मूरतिवन्त विनाश।—कैशव।
संज्ञा पुं० [सं० राजन्] (१) राजा। (२) वह कारीगर जो
ईंटों से दीवार आदि चुनता और मकान बनाता है।
थवई। राजगीर।

राज-संज्ञा पुं० [प्रा०] रहस्य। भेद। गुप्त बात।

राजक-वि० [सं०] दीप्तिकारक। चमकनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) राजा। (२) काला अगर।

राजकथा-संज्ञा स्त्री० [सं०] इतिहास। तबारीख।

राजकदंब-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कदंब जिसके फल बड़े
और स्वादिष्ट होते हैं।

राजकन्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राजा की पुत्री। (२) केवड़े
का फूल।

राजकर-संज्ञा पुं० [सं०] वह कर जो प्रजा से राजा लेता है।

राजा को मिलनेवाला महसूल। खिराज।

राजकर्कटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की ककड़ी।

राजकर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] हाथी का सूँड़।

राजकर्ता-संज्ञा पुं० [सं० राजकर्तृ] जो पुरुष दूसरे को राज-
सिंहासन पर बैठाता है। किसी को राजगद्दी पर यथेच्छ
बैठाने और उतारने की शक्ति रखनेवाला पुरुष।

राजकला-संज्ञा स्त्री० [सं०] चंद्रमा की सोलह कलाओं में से
एक कला का नाम।

राजकशेरु-संज्ञा पुं० [सं०] भद्रमोथा। नागरमोथा।

राजकीय-वि० [सं०] राजा या राज्य से संबंध रखनेवाला।
राज्य संबंधी। जैसे,—राजकीय घोषणा।

राजकुंअर-संज्ञा पुं० [सं० राजकुमार] [स्त्री० राजकुंअरि,
राजकुंअरी] राजकुमार। उ०—लख्यो सुभद्रा यह
संन्यासी। राजकुंअर कियो भेस उदासी।—सूर।

राजकुमार-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० राजकुमारी] राजा का पुत्र।

राजकुलक-संज्ञा पुं० [सं०] परवल की लता।

राजकुम्भांड-संज्ञा पुं० [सं०] बैंगन।

राजकोल-संज्ञा पुं० [सं०] बड़ा बेर।

राजकोलादल-संज्ञा पुं० [सं०] संगीत में ताल के साठ मुख्य
भेदों में से एक।

राजकोषातक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का नेनुआ जो बहुत
बड़ा होता है। चीया-तरोई।

राजक्षवक-संज्ञा पुं० [सं०] राई।

राजखजुरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पिंड खजूर।

राजगद्दी-संज्ञा स्त्री० [हि० राजा + गद्दी] (१) राजसिंहासन।
राजा के बैठने का आसन। (२) राज्याभिषेक। राज्यारोहण।

(३) राज्याधिकार। उ०—राजा ययाति प्रसन्न हो बोला
कि तेरे कुल में राजगद्दी रहेगी।—लल्लू।

राजगद्दी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गाय की जाति का एक पशु।

राजगिरि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मगध देश के एक पर्वत
का नाम। (२) बथुआ। (३) दे० “राजगृह”।

राजगी-संज्ञा स्त्री० [हि० राजा + गी (प्रत्य०)] राजा का पद।

राजगीर-संज्ञा पुं० [सं० राज + गृह] मकान बनानेवाला कारी-
गर। राज। थवई।

राजगीरी-संज्ञा स्त्री० [हि० राजगीर + ई (प्रत्य०)] राजगीर का
कार्य या पद।

राजगृह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राज-प्रासाद। राजा का महल।

(२) एक प्राचीन स्थान का नाम जो बिहार में पटने के
पास है। इसे प्राचीन काल में गिरिग्रज कहते थे। महा-
भारत के अनुसार यहाँ मगध की राजधानी थी, जिसे कुश
के पुत्र वसु ने शोण और गंगा के संगम पर पाँच पहाड़ियों
के बीच में बसाया था। महाभारत के समय में यह
जरासंध की राजधानी थी। महाभारत में उन पाँच पर्वतों
का नाम वैहार, वराह, वृषभ, ऋषिगिरि और चैत्यक लिखा
है। वायुपुराण में इन्हीं पाँचों का नाम वैभार, गिरिग्रज,
ऋकूट, रत्नाचल और विपुल लिखा है। शोणिक ने विपुल-
गिरि के उत्तर, जिसे महाभारत के समय चैत्यक कहते थे,
सरस्वती नामक एक छोटी सी नदी के पूर्व में नवीन राज-
गृह बसाया था। इसी को अब राजगिरि कहते हैं। यह शोणिक
महावीर तीर्थंकर के काल में था और उनका प्रधान भक्त
था। महात्मा बुद्ध के समय में यहीं बिबसार की राजधानी
थी। इन पहाड़ों पर अपने अपने समय में महावीर और
गौतम बुद्ध ने निवास और उपदेश किया था तथा बौद्धों
का प्रथम संघ यहीं पर संघटित हुआ था; और यहीं पर
महाकाश्यप ने त्रिपिटक का प्रथम संग्रह किया था। यहाँ
बौद्धों और जैनियों के अनेक मंदिर, स्तूप और चैत्यादि हैं।
प्राचीन नगर के भग्नावशेष इसमें अब तक देखे जाते हैं।
यहाँ अनेक प्राचीन अभिलेख भी मिले हैं। यह स्थान बौद्धों,
जैनों और हिंदुओं का प्रधान तीर्थस्थान है।

राजग्रीध-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली।

राजघ-वि० [सं०] राजा को मारनेवाला। राजा की हत्या
करनेवाला।

वि० तीक्ष्ण। तेज।

राजचंपक-संज्ञा पुं० [सं०] पुन्नाग का फूल। सुलताना चंपा।

राजचिह्नक-संज्ञा पुं० [सं०] शिश्न। उपस्थ।

राजचूड़ामणि-संज्ञा पुं० [सं०] ताल के साठ भेदों में से एक।
(संगीत)

राजजंबू-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ा जासुन। फरेंदा। (२) पिंड खजूर।

राजजीरक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का जीरा।

राजत-वि० [सं०] रजत का बना हुआ। चाँदी का।

संज्ञा पुं० रजत। चाँदी।

राजतरंगिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कल्हण कृत काश्मीर का एक प्रसिद्ध इतिहास ग्रंथ जो संस्कृत में है और जिसमें पीछे कई पंडितों ने वृत्तान्त बढ़ाए। इसकी रचना अब तक होती जाती है।

राजतरु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कर्णिकार का वृक्ष। कनियारी। (२) आरग्वध। अमलतास।

राजतरुणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का कुंजक या सफेद गुलाब जिसका फूल सेवती से बड़ा होता है। इसकी लता टट्टियों पर चढ़ाई जाती है। फूलों की गंध मंद और मीठी होती है। वैद्यक में इसे कफकारक, हृद्य और चाक्षुष्य माना है और इसका स्वाद कसैला लिखा गया है। बड़ी सेवती।

पर्या०—महासहा। वर्णपुष्प। अमलान। अमलातक। सुवर्णपुष्प।

राजता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राजा होने का भाव। (२) राजा का पद।

राजताल-संज्ञा पुं० [सं०] सुपारी का पेड़।

राजतिमिश-संज्ञा पुं० [सं०] तरबूज।

राजतिलक-संज्ञा पुं० [हि० राज + तिलक] (१) राज सिंहासन पर किसी नए राजा के बैठने की रीति। राज्याभिषेक। उ०—नृपति युधिष्ठिर राजतिलक दे मारि दुष्ट की भीर। द्रौण कर्ण अरु शल्य मुक्त करि मेठी जग की पीर।—सूर। (२) नए राजा के गद्दी पर बैठने का उत्सव।

राजतेमिष-संज्ञा पुं० [सं०] राजतिमिश। तरबूज।

राजत्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा का भाव वा कर्म। (२) राजा का पद।

राजदंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजशासन। (२) वह दंड जिसका विधान राजा के शासन के अनुसार हो। वह दंड जो राजा की आज्ञा के अनुसार दिया जाय।

राजदंत-संज्ञा पुं० [सं०] दाँतों की पंक्ति के बीच का वह दाँत जो और दाँतों से बड़ा और चौड़ा होता है। ऐसे दाँत ऊपर और नीचे की पंक्तियों के बीच में होते हैं। कोई कोई ऊपर की पंक्ति में सामने के दो बड़े दाँतों को भी राजदंत मानते हैं; पर अन्य लोग दोनों पंक्तियों में बीच के दो दो दाँतों को राजदंत कहते हैं। चौका।

राजदूत-संज्ञा पुं० [सं०] वह पुरुष जो एक राज्य की ओर से किसी अन्य राज्य में संधि या विग्रह संबंधी अथवा अन्य

नैतिक कार्य संपादन करने के लिये या किसी प्रकार का सँदेसा देकर भेजा जाता है। चाणक्य का मत है कि मेधावी, वाक्पटु, धीर पर चित्तोपलक्षक तथा यथोक्तवादी पुरुष को राजदूत नियत करना चाहिए। प्राचीन काल में आवश्यकता पड़ने पर ही राजदूत एक राज्य से दूसरे राज्य में भेजे जाते थे; पर पश्चिमी देशों में यह प्रथा है कि मित्र राज्यों में राजाओं के राजदूत परस्पर एक दूसरे के यहाँ रहा करते हैं और उन्हीं के द्वारा सारा कार्य संपादित होता है। दो राज्यों के बीच युद्ध छिड़ने पर दोनों एक दूसरे के यहाँ से अपने अपने राजदूत बुला लेते हैं।

राजदूर्वा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की दूर्व जिसकी पत्तियाँ, कांड आदि स्थूल और बड़े होते हैं।

राजदृषद्-संज्ञा स्त्री० [सं०] जाँता। चक्री।

राजदेशीय-वि० [सं०] राजा से कुछ ही कम। राजा के तुल्य। राजकल्प।

राजदुम-संज्ञा पुं० [सं०] आरग्वध वृक्ष। अमलतास।

राजद्रोह-संज्ञा पुं० [सं०] राजा या राज्य के प्रति किया हुआ द्रोह। वह कृत्य जिससे राजा या राज्य के नाश या अनिष्ट की संभावना हो। बगावत। जैसे,—प्रजा या सेना को राजा या राज्य से लड़ने के लिये भड़काना।

राजद्रोही-वि० [सं०] राजद्रोहिन् । राजद्रोह करनेवाला। बागी।

राजद्वार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा का द्वार। राजा की ज्योदी। (२) निचारालय। न्यायालय।

राजधुस्त्रक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का धतूरा जिसके फूल कई आवरण के होते हैं। (२) कनक धतूरा।

राजधर्म-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा का कर्त्तव्य या धर्म। जैसे,—प्रजा का पालन, राज्य से देश की रक्षा, लूट पाट या उपद्रव आदि का निवारण। (२) महाभारत के शांति पर्व के एक अंश का नाम जिसमें राजा के कर्त्तव्यों का वर्णन है।

राजधर्म-संज्ञा पुं० [सं०] राजधर्मन् । महाभारत के अनुसार कश्यप के एक पुत्र का नाम जो सारसों का राजा था।

राजधानी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह प्रधान नगर जहाँ किसी देश का राजा या शासक रहता हो। किसी प्रदेश का वह नगर जहाँ उस देश के शासन का केंद्र हो। जैसे,—भारत की राजधानी दिल्ली, पंजाब की राजधानी लाहौर, इंग्लैंड की राजधानी लंदन।

राजधान्य-संज्ञा पुं० [सं०] एल प्रकार का धान जिसे श्यामा धान भी कहते हैं।

राजधुस्त्रक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का धतूरा जिसके फूल बड़े और कई आवरण के होते हैं।

पर्या०—राजधूर्त। महाशठ। निस्त्रैण पुष्पक। आंत। राजस्वर्ण।

(२) कनकधत्त ।

राजनय-संज्ञा पुं० [सं०] राजनीति ।

राजना ६-कि० अ० [सं० राजन = शोभित होना ।] (१) विराजना । उपस्थित होना । रहना । उ०—(क) कीन्ही केलि बहुत बल मोहन भुव को भार उतारेउ । प्रगट ग्रह राजत द्वाशवति बेद पुरान उचारेउ ।—सूर । (ख) मंदिर महँ सब राजहि रानी । सोभा शील तेज की खानी ।—तुलसी । (ग) पुरुजित् अरु पुरुमित्र महीप । राज्यो रन रथ जोरि समीप ।—गोपाल । (२) शोभित होना । सोहना । उ०—(क) आय जगदीश्वर है जग में विराजमान्, हौं हू तो कवीश्वर है राजतै रहत हौं ।—पद्माकर । (ख) बहु राजत हैं गजराज बड़े । नभ आडत बिद्ध मनो उमड़े ।—गुमान । (ग) वा दिन भाजे मुखन की तुम नासी सुसुकाह । ते राजे यह सुनि उठी सुमना सी बिकसाह ।—शृ० सं० ।

राजनानामा-संज्ञा पुं० [सं० राजनामन्] पटोल । परवल ।

राजनीति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह नीति जिसका अवलंबन कर राजा अपने राज्य की रक्षा और शासन दृढ़ करता है । इसके प्रधान दो भेद हैं—एक तंत्र और दूसरा आवाय । वह नीति जिसके द्वारा अपने राज्य में सुप्रबंध और शांति स्थापित की जाय, तंत्र नीति कहलाती है; और जिसके द्वारा परराष्ट्रों से संबंध दृढ़ किया जाय, वह आवाय कहलाती है । स्वराज्य में प्रजाओं का समाचार और उनकी गति का पता देने के लिये राजा को चर से काम लेना पड़ता है; और पर-राष्ट्रों में स्वराष्ट्र के स्वत्व, वाणिज्य, व्यापारादि की रक्षा तथा उनकी गतियों का पता देने के लिये दूत रहते हैं । इन दूतों और चरों से राजा स्वराष्ट्र और परराष्ट्र की गति, चेष्टा आदि का पता लगाकर अपनी शक्ति और स्वत्व की समुचित रक्षा करता है । प्राचीन ग्रंथों में आवाय के छः मुख्य भेद किए गए हैं, जिनको षड्-गुण भी कहते हैं । उनके नाम ये हैं—संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीकरण और संश्रय । ये षड्नीति के नाम से भी प्रसिद्ध हैं । राजनीति के चार और अंग कहे गए हैं—साम, दान, दंड और भेद ।

राजनीतिक-वि० [सं०] राजनीति संबंधी । जैसे,—राजनीतिक आंदोलन, राजनीतिक सभा ।

राजनील-संज्ञा पुं० [सं०] मरकत मणि । पन्ना ।

राजभ्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्षत्रिय । (२) अग्नि । (३) खिरनी का पेड़ । (४) राजा ।

राजन्यबंधु-संज्ञा पुं० [सं०] क्षत्रिय ।

राजपथ ६-संज्ञा पुं० दे० “राजपथ” । उ०—सुनु ऊधो ! निर्गुन-कटक तें राजपथ क्यों रूँधो ?—सूर ।

राजपटोल-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पटोल या परवल

जिसके फल बड़े होते हैं । फागुन चैत के महीनों में इसकी डालियाँ काटकर खेतों में दो दो हाथ की दूरी पर पंक्तियों में नाली खोदकर लगाई जाती हैं और उनमें पानी दिया जाता है । यह बैसाख जेठ से फूलने लगता है और इसकी फसल वर्षा ऋतु के मध्य तक रहती है । फल देखने में लंबे, बड़े और खाने में कुछ कम स्वादिष्ट होते हैं । इसे प्रति वर्ष खेतों में लगाने की आवश्यकता होती है । बिहार प्रांत में इसकी खेती अधिक होती है । इसे पूरबी या घटने का परवल भी कहते हैं ।

राजपट्ट-संज्ञा पुं० [सं०] सुंबक पत्थर ।

राजपट्टिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] चातक पक्षी ।

राजपति-संज्ञा पुं० [सं०] राजाओं का राजा । सम्राट् ।

राजपत्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राजा की स्त्री । रानी । (२) पीतल (धातु) ।

राजपथ-संज्ञा पुं० [सं०] वह चौड़ा मार्ग जिस पर हाथी, घोड़े, रथ आदि सुगमता से चल सकते हों । राजमार्ग । बड़ी सड़क ।

राजपट्टति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राजपथ । (२) राजनीति ।

राजपणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रसारिणी नाम की लता ।

राजपलांडु-संज्ञा पुं० [सं०] लाल प्याज़ । वि० दे० “प्याज” ।

राजपाल-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिससे राजा या राज्य की रक्षा हो । जैसे,—सेना आदि ।

राजपीलु-संज्ञा पुं० [सं०] महापीलु नाम का वृक्ष ।

राजपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा का पुत्र । राजकुमार ।

(२) एक वर्णसंकर जाति का नाम । पुराणों में इस जाति की उत्पत्ति क्षत्रिय पिता और कर्ण माता से लिखी है । (३) बड़े आम का एक भेद । (४) बुध ग्रह ।

राजपुत्रक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० राजपुत्रिका] (१) राजकुमार । (२) दे० “राजपुत्र” ।

राजपुत्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह (स्त्री) जिसका पुत्र राजा हो । राजा की माता । राजमाता ।

राजपुत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राजकन्या । (२) सफेद जुही । (३) शरारि नामक पक्षी । (४) पीतल ।

राजपुत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कड़वा कद्दू । कड़ुंबी । (२) रेणुका । (३) जाती । जाही फूल । (४) छड़दर । (५) मालती । (६) राजकन्या ।

राजपुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] राज्य का कोई अफसर या कार्यकर्त्ता । राजकर्मचारी ।

राजपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नागकेसर का पेड़ । (२) कनक चंपा ।

राजपुष्पी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वन मल्लिका । (२) जाती पुष्प । (३) करुणी का फूल जो कोंकण में होता है ।

राजपूजित—संज्ञा पुं० [सं०] वे श्रेष्ठ ब्राह्मण जिनका स्वरूप राज्य की ओर से होता हो और जो जीविका आदि के लिये प्रजावर्ग के आश्रित न हों।

राजपूज्य—संज्ञा पुं० [सं०] सोना।

राजपूत—संज्ञा पुं० [सं० राजपुत्र] (१) दे० “राजपुत्र”। (२) राजपूताने में रहनेवाले क्षत्रियों के कुछ विशिष्ट वंश जो सब मिलाकर एक बड़ी जाति के रूप में माने जाते हैं।

विशेष—“राजपूत” शब्द वास्तव में “राजपुत्र” शब्द का अपभ्रंश है और इस देश में मुसलमानों के आने के पश्चात् प्रचलित हुआ है। प्राचीन काल में राजकुमार अथवा राज-वंश के लोग “राजपुत्र” कहलाते थे; इसी लिये क्षत्रिय वर्ग के सब लोगों को मुसलमान लोग “राजपूत” कहने लगे थे। अब यह शब्द राजपूताने में रहनेवाले क्षत्रियों की एक जाति का ही सूचक हो गया है। पहले कुछ पाश्चात्य विद्वान् कहा करते थे कि “राजपूत” लोग शक आदि विदेशी जातियों की संतान हैं और वे क्षत्रिय तथा आर्य्य नहीं हैं। परंतु अब यह बात प्रमाणित हो गई है कि राजपूत लोग क्षत्रिय तथा आर्य्य हैं। यह ठीक है कि कुछ जंगली जातियों के समान दूध आदि कुछ विदेशी जातियाँ भी राजपूतों में मिल गई हैं। रही शकों की बात, सो वे भी आर्य्य ही थे, यद्यपि भारत के बाहर बसते थे। उनका मेल ईरानी आर्य्यों के साथ अधिक था। चौहान, सोलंकी, प्रतिहार, परमार, सिसोदिया आदि राजपूतों के प्रसिद्ध कुल हैं। ये लोग प्राचीन काल से बहुत ही वीर, योद्धा, देशभक्त तथा स्वामिभक्त होते आए हैं।

राजपूताना—संज्ञा पुं० [हि० राजपूत] राजस्थान नामक प्रदेश जो भारत के पश्चिम में और पंजाब के दक्षिणी भाग में है। जयपुर, जोधपुर, बीकानेर आदि राज्य इसी के अंतर्गत हैं।

राजप्रकृति—संज्ञा स्त्री० [सं०] राजपुरुष।

राजप्रिय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजपलांडु। (२) करुणी का फूल जो कोंकण में उत्पन्न होता है।

राजप्रिया—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दे० “राजप्रिय”। (२) एक प्रकार का धान जो लाल रंग का होता है और जिसका चावल सफ़ेद तथा स्वादिष्ट होता है। तिलवासिनी।

राजप्रेष्य—संज्ञा पुं० [सं०] राजा या राज्य का नौकर। राजकर्मचारी।

राजफणिज्झक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की नारंगी।

राजफल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पटोल। परबल। (२) बड़ा आम। (३) खिरनी।

राजफला—संज्ञा स्त्री० [सं०] राजजंबू। जामुन।

राजफलपु—संज्ञा पुं० [सं०] काकोदुंबर। कटुंबर। कटगूलर।

राजवदर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पैवंदी या पेउंदी बैर। (२) रक्तामलक। लाल आँवला। (३) लवण। नमक।

राजवला—संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रसारिणी लता।

राजवाड़ी—संज्ञा स्त्री० [सं० राजवाटिका] (१) राजा की वाटिका। (२) राजभवन। राजमहल।

राजवाहा—संज्ञा पुं० [हि० राज + वहना] प्रधान या बड़ी नहर जिससे अनेक छोटी छोटी नहरें खेतों को सींचने के लिये निकाली जाती हैं।

राजभंडार—संज्ञा पुं० [सं० राजभंडार] राज्य या राजा का खजाना। राजकोश।

राजभक्त—वि० [सं०] जिसमें राजा या राज्य के प्रति भक्ति हो। राजा का भक्त।

राजभक्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] राजा या राज्य के प्रति भक्ति या प्रेम।

राजभट्टिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का जल पक्षी। गोभंड़ीर। पकरीट। हायुत्री।

राजभद्रक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) फरहद का पेड़। पारिभद्रक। (२) नीम। निंब। (३) कुड़ा। कुष्ठ। (४) कुँदरु। (५) सफ़ेद आक।

राजभवन—संज्ञा पुं० [सं०] राज-प्रासाद। राजा का महल।

राजभूय—संज्ञा पुं० [सं०] राजस्व। राज्य।

राजभृत्—संज्ञा पुं० [सं०] राजा का वेतनभोगी भृत्य।

राजभोग—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का महीन धान जो अगहन में होता है। उ०—राजभोग औ रानी काजर। भाँति भाँति के सीन्हे चावर।—जायसी।

राजभोग्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जावित्री। (२) पयार। चिरौजी। (३) एक प्रकार का धान।

राजमंडल—संज्ञा पुं० [सं०] ऐसे राजाओं का राज्य जो किसी राज्य के आस पास हो। किसी राज्य के आस पास या चारों ओर के राज्य। नीतिशास्त्र में बारह प्रकार के राज-मंडल माने गए हैं—अरि, मित्र, उदासीन, विजिगीषु, पण्डिग्राह, आक्रंद, विजिगीषु का पुरःसर और पश्चाद्वर्ती, पाण्डिग्रहसार, आक्रंदसार, अरिसम, मित्रसम और मध्यम। **राजमंडूक**—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मेढक जो बहुत बड़ा होता है।

पर्या०—महामंडूक। पीताम। वर्षाघोष। महोरव।

राजमराल—संज्ञा पुं० [सं०] राजहंस।

राजमहल—संज्ञा पुं० [हि० राज + महल] (१) राजा का महल। राजप्रासाद। (२) एक पर्वत का नाम जो बंगाल में संथाल परगने के पास है। यह पर्वतमाला समुद्र से दो हजार फुट ऊँची है। यहाँ मुगल साम्राज्य काल के बने अनेक प्रासाद, मसजिदें, भवन आदि विद्यमान हैं।

राजमात्र-वि० [सं०] जो नाम मात्र का राजा हो।

राजमार्ग-पं० [सं०] राजपथ। चौड़ी सड़क।

राजमाष-संज्ञा पुं० [सं०] बड़ा उरद जो नीले या काले रंग का होता है। वैद्यक में इसे रुचिकर, रुक्ष, लघु, वातकारक और बल तथा शुक्र का बढ़ानेवाला लिखा है। वि० दे० “उरद”।

पर्या०—नीलमाष। नृपमाष।

राजमाष्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह खेत जिसमें माप बोया जाता हो। जसार।

राजमुद्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सूँग। यह सुनहले रंग का होता है और खाने में अधिक स्वादिष्ट होता है।

राजमुनि-संज्ञा पुं० [सं०] राजर्षि।

राजमृगांक-संज्ञा पुं० [सं०] एक मिश्र रस का नाम जो यक्ष्मा रोग में दिया जाता है। इसके बनाने की विधि यह है। सोने को उतनी ही चाँदी, और उससे दूने सैनसिल, गंधक हरताल तथा तिगुने रस सिंदूर के साथ मिलाकर एक कौड़ी में भर देते हैं। फिर बकरी के दूध में सुहागा पीसकर उससे कौड़ी का मुँह बंद कर देते हैं। फिर उसे मिट्टी के बरतन में भरकर गजपुष्ट से फूँक देते हैं। ठंडा होने पर उसे निकालकर पीस डालते हैं। कुछ लोग चाँदी की जगह ताँवा और रससिंदूर की जगह चौगुना पारा डालकर भी यह रस बनाते हैं। यह रस चार रत्ती की मात्रा में खाया जाता है। इसका अनुगान घी, मधु या पीपल और मिर्च है।

राजयक्ष्मा-पं० [सं० राजयक्ष्मन्] क्षयी। यक्ष्मा। क्षय रोग। तपेदिक। वि० दे० “क्षय”।

राजयक्ष्मी-वि० [सं० राजयक्ष्मिन्] जिसे राजयक्ष्मा रोग हुआ हो। क्षय रोग से पीड़ित।

राजयान-पं० पुं० [सं०] (१) पालकी। (२) वह सवारी जो राजा के लिये हो। (३) राजा की सवारी का निकलना। राजा का जलूस।

राजयोग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह प्राचीन योग जिसका उप-देश पतंजलि ने योगशास्त्र में किया है। इसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि नामक अष्टांग का यथाक्रम अभ्यास किया जाता है। इसे अष्टांग योग भी कहते हैं। वि० दे० “योग”। (२) फलित ज्योतिष के अनुसार ग्रहों का ऐसा योग जिसके जन्मकुंडली में पड़ने से मनुष्य राजा या राजा के तुल्य होता है। यवनाचार्य के मत से पाप ग्रहों का जन्म समय स्वस्थान-भागी होकर सूच होना राजयोग है। पर जीवशर्मा का मत है कि मंगल, शनि, सूर्य और बृहस्पति में से किसी तीन ग्रहों का अपने स्थान में सूच पड़ना राजयोग है।

राजयोग्य-संज्ञा पुं० [सं०] चंदन।

राजवक्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] चाँदी।

राजरथ-संज्ञा पुं० [सं०] राजा का रथ।

राजराज-पं० पुं० [सं०] (१) राजाओं का राजा। अधिराज। (२) कुचेर। (३) चंद्रमा।

राजराजेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० राजराजेश्वरी] (१) राजाओं का राजा। अधिराज। (२) एक रसौषध का नाम जिसका प्रयोग दाद, कुष्ठ आदि रोगों में होता है।

विशेष—पारे, गंधक और हरताल के साथ ताँवे को मिलाकर भँगरेया के रस में एक दिन खरल करके उसमें त्रिफला, गुडच, बकुची सम भाग मिलाकर दो दो रत्ती की गोलियाँ बनाई जाती हैं और दो तोले मधु या घी के साथ खाई जाती हैं।

राजराजेश्वरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दस महाविद्याओं में से एक का नाम। भुवनेश्वरी। (२) राजराजेश्वर की पत्नी। महाराज्ञी।

राजरीति-संज्ञा पुं० [सं०] काँसा। कसकुट।

राजरोग-संज्ञा पुं० [हि० राजा + रोग] (१) वह रोग जो असाध्य हो। जैसे,—यक्ष्मा, श्वास इत्यादि। (२) राजयक्ष्मा। क्षय रोग।

राजर्षि-संज्ञा पुं० [सं०] वह ऋषि जो राजवंश या क्षत्रिय कुल का हो। क्षत्रिय ऋषि। जैसे,—राजर्षि विश्वामित्र।

विशेष—ऋषि सात प्रकार के कहे गए हैं—देवर्षि, ब्रह्मर्षि, महर्षि, परमर्षि, राजर्षि, कांडर्षि और श्रुतर्षि। इनमें से अंतिम दो वेद के द्रष्टा हैं।

राजल-संज्ञा पुं० [हि० राजा + ल (प्रत्य०)] एक प्रकार का धान जो अगहन में पककर काटने योग्य होता है।

राजलक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] सामुद्रिक के अनुसार वे चिह्न या लक्षण जिनके होने से मनुष्य राजा होता है।

राजलक्ष्मी-संज्ञा पुं० [सं० राजलक्ष्मन्] (१) राजाओं के चिह्न। राजचिह्न। (२) युधिष्ठिर। (३) वह मनुष्य जिसमें सामुद्रिक के अनुसार राजाओं के लक्षण हों। राजलक्षण से युक्त पुरुष।

राजलक्ष्मी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राजश्री। राजवैभव। (२) राजा की शोभा।

राजवंश-संज्ञा पुं० [सं०] राजा का कुल। राजकुल।

राजवंश्य-वि० [सं०] राजा के वंश में उत्पन्न। जो राजकुल में उत्पन्न हुआ हो।

राजवर्चस्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजशक्ति। (२) राजपद।

राजवर्त्मा-संज्ञा पुं० [सं० राजवर्त्मन्] बड़ी और चौड़ी सड़क। राजमार्ग। राजपथ।

राजवला-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंधप्रसारिणी। गंधपसार। प्रसारिणी।

राजवक्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खिरनी। (२) बड़ा आम।

(३) बड़ा बेर । पेउंदी बेर । (४) एक मिश्र रसौपथ जो झूल, गुल्म, ग्रहणी, अतीसार आदि में दी जाती है ।

राजवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] करेले का पेड़ ।

राजवसति-संज्ञा स्त्री० [सं०] राजा का महल । राजभवन ।

राजवाखली-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का मद्य । अर्क प्रकाश के अनुसार यह सोंठ, पीपल, पिपलासूल, अजवायन और काली मिर्च को उनकी तैल से तिगुने अम्लवर्ग और चौ-गुने मधुजातीय और इक्षुजातीय रसों में मिलाकर खींचा जाता है ।

राजवाह-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ा ।

राजवाह्य-संज्ञा पुं० [सं०] हाथी ।

राजवि-संज्ञा पुं० [सं०] नीलकंठ ।

राजविजय-संज्ञा पुं० [सं०] संपूर्ण जाति का एक राग ।

राजविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] राजनीति ।

राजविद्रोह-संज्ञा पुं० [सं०] बगावत । राजविप्लव । वि० दे० "राजद्रोह" ।

राजविद्रोही-संज्ञा पुं० [सं० राजविद्रोहिन्] वह जो राजा या राज्य के प्रति विद्रोह करे । बागी ।

राजविनाद-संज्ञा पुं० [सं०] एक ताल का नाम । (संगीत)

राजवीजी-वि० [सं०] राजवंशी ।

राजवीथी-संज्ञा स्त्री० [सं०] राजमार्ग । राजपथ । चौड़ी सड़क ।

राजवृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आरवध का वृक्ष । उरगा का पेड़ । अमलतास । (२) प्यार का पेड़ । (३) लंका का भद्रचूड नामक वृक्ष । (४) श्योनाक वृक्ष । सोना पाड़ी ।

राजशय-संज्ञा पुं० [सं०] पटसन ।

राजशफर-संज्ञा पुं० [सं०] हिलसा मछली ।

राजशाक-संज्ञा पुं० [सं०] वास्तुक शाक । बंधुआ ।

राजशाकनिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] राजशाक । वास्तुक । बंधुआ ।

राजशालि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का जड़हन धान जिसे राजभोग या रायभोग भी कहते हैं । इसका चावल बहुत महीन और सुगंधित होता है ।

राजशिबी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की सेम जो चौड़ी, और गूदेदार होती है । यह खाने में स्वादिष्ट होता है । इसे घीयासेम भी कहते हैं । इसकी दो जातियाँ होती हैं—एक काली और दूसरी सफेद । इसमें और सामान्य सेम में यह भेद है कि यह उससे अधिक चौड़ी होती है और लंबाई में बहुत नहीं बढ़ती ।

राजशुक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का तोता जो लाल रंग का होता है । इसे नूरी कहते हैं ।

पर्या०—प्राज्ञ । शतपत्र । नृपप्रिय ।

राजशुकज-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का धान ।

राजश्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राजलक्ष्मी । राजवैभव । राजा का ऐश्वर्य । (२) राजा की शोभा ।

राजसंसद्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजसभा । (२) वह धर्माधिकरण जिसमें राजा स्वयं उपस्थित हो । स्वयं राजा का दरबार ।

राजस-वि० [सं०] [स्त्री० राजसी] रजोगुण से उत्पन्न । रजोगुणोज्ज्व । रजोगुणी । जैसे,—राजस यज्ञ, राजस दान, राजस ज्ञान, राजस बुद्धि आदि । वि० दे० "गुण" । संज्ञा पुं० आवेश । क्रोध । उ०—जो चाहै चटकन हटै मैलौ होय न मित । रज राजस न धुवाइये नेह चीकने चित्त ।—विहारी ।

राजसत्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राजशक्ति । (२) वह सत्ता जो किसी देश या जाति के भरण-पोषण, वर्द्धन और रक्षण के लिये स्थापित की जाती है ।

राजसफर-संज्ञा पुं० [सं०] हिलसा मछली ।

राजसभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राजा की सभा । दरबार । (२) वह सभा जिसमें अनेक राजा बैठे हों । राजाओं की सभा ।

राजसमाज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजाओं का दरबार या समाज । राजमंडली । (२) राजा लोग । उ०—राजसमाज कुसाज कोटि कटु कलपत कलुष कुचाल नई है ।—तुलसी ।

राजसर्प-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बड़ा साँप ।

पर्या०—भुजंगभोजी ।

राजसर्षप-संज्ञा पुं० [सं०] राई ।

राजसायुज्य-संज्ञा पुं० [सं०] राजत्व ।

राजसारस-संज्ञा पुं० [सं०] मयूर । मोर ।

राजसिंहासन-संज्ञा पुं० [सं०] राजा के बैठने का सिंहासन । राजगद्दी ।

राजसिक-वि० [सं०] रजोगुण से उत्पन्न । राजस ।

राजसिरी *—संज्ञा स्त्री० [सं० राजश्री] राजश्री । राजलक्ष्मी । उ०—(क) केशव ये मिथिलाधिप हैं जग में जिन कीरति बेलि बई है । दान कृपान विधानन सों सिगरी बसुधा जिन हाथ लई है । अंग ल सातक आठक सों भव तीनहुँ लाक में सिद्ध भई है । वेद त्रयी अरु राजसिरी परिपूरणता शुभ योग भई है ।—केशव । (ख) लाल मणीन रची मुड़वारी । राजसिरी जावक अनुहारी । कैलि रही किरणें अति तासू । केसरि फूलि रही सविलासू ।—गुमान ।

राजसी-वि० [हि० राजा] राजा के योग्य, बहुमूल्य या भड़कीला । राजाओं की सी शानवाला ।—जैसे,—उनका ठाठ बात सदा राजसी रहता है ।

वि० स्त्री० [सं०] जिसमें रजोगुण की प्रधानता हो । रजोगुणमयी । जैसे, राजसी प्रकृति ।

संज्ञा स्त्री० दुर्गा ।

राजसूय-संज्ञा पुं० [सं०] एक यज्ञ का नाम । इस यज्ञ के करने का अधिकार केवल ऐसे राजा को होता है, जिसने वाजपेय यज्ञ न किया हो । यह यज्ञ करने से राजा सम्राट् पद का अधिकारी होता है । यह यज्ञ बहुत दिनों तक होता है और इसे अनेक यज्ञों और कृत्यों की समष्टि कहना ठीक है । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इष्टि, पशु, सोम और दार्वी होम इसके प्रधान अंग हैं । इसका प्रारंभ पवित्र नामक सोमयाग से होता है और सौत्रामणी से इस की समाप्ति होती है । इसके बीच में दस संसृप, अभिषेचनीय, मरुत्वती, दिग्विजय, बृहस्पतिसवन, बृहविधान, द्यूत क्रीडा आदि अनेक कृत्य होते हैं । इसमें ऋत्विज् लोग एक ऊँचे मंच पर व्याघ्रचर्म बिछाकर और उस पर सिंहासन रखकर राजा को अभिषेक कराके कर बैठाते हैं और चारों ओर से उसे घेरकर प्रशस्ति सुनाते हैं । फिर राजा उन्हें दक्षिणा देकर दिग्विजय के लिये प्रस्थान करता है; और उसके लौटने पर फिर उसे मंच पर बैठाकर प्रशस्ति गान होता है । तदनंतर सभा में द्यूत क्रीडा होती है; और अंत को सौत्रामणी याग के बाद कृत्य समाप्त होता है । प्राचीन काल में केवल बड़े बड़े राजा यह यज्ञ करते थे ।

राजसूयिक-वि० [सं०] राजसूय यज्ञ संबंधी ।

राजसूयो-संज्ञा पुं० [सं० राजसूयिन्] राजसूय यज्ञ करनेवाला पुरोहित ।

राजसूयेष्टिक-संज्ञा स्त्री० [सं०] राजसूय यज्ञ ।

राजस्कंध-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ा ।

राजस्तंब-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० राजस्तंबायन, राजस्तंवि] एक ऋषि का नाम ।

राजस्थलक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन स्थान का नाम ।

राजस्थली-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन जनपद का नाम ।

राजस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] राजपूताना । वि० दे० “राज-पूताना” ।

राजस्व-संज्ञा पुं० [सं०] भूमि आदिका वह कर जो राजा को दिया जाय । राजधन ।

राजस्वर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] राजधनस्वरूप । राजधनपूरा ।

राजस्वामी-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

राजहंस-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० राजहंसी] (१) एक प्रकार का हंस जिसे सोना पक्षी भी कहते हैं । यह प्रायः झुंड बाँधकर उड़ता है और झीलों के किनारे रहता है । इसके अनेक भेद हैं । इसके पैर और चोंच लाल रंग की होती हैं । यह अगहन पूस में उत्तरीय भारत में उत्तर के ठंडे प्रदेशों से आता है । (२) एक संकर राग का नाम जो मालव, श्रीराग और मनोहर राग के मेल से बनता है ।

राजहर्म्य-संज्ञा पुं० [सं०] राजप्रासाद ।

राजहार-संज्ञा पुं० [सं०] वह पुरुष जो यज्ञों में सोम रस लाता है ।

राजहासांक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली जिसे कतला कहते हैं ।

राजा-संज्ञा पुं० [सं० राजन्] [स्त्री० राज्ञी, रानी] (१) किसी देश, जाति या जत्थे का प्रधान शासक जो उस देश, जाति या जत्थे को नियम से चलाता, उनमें शांति रखता तथा उसकी और उसके स्वत्वों की, दूसरों के आक्रमण से, रक्षा करता है ।

विशेष—महाभारत से पता चलता है कि पहले मनुष्यों में न तो कोई शासक था और न दंडकर्त्ता । सब लोग धर्मपूर्वक मिल जुलकर रहते थे और आपस में एक दूसरे की रक्षा करते थे । इस प्रकार उन्हें न तो किसी शासन की आवश्यकता होती थी और न शासक की । पर यह सुव्यवस्था बहुत दिनों तक न रह सकी । लोगों के चित्त में विकार उत्पन्न हो गया, जिससे वे कर्त्तव्य पालन में शिथिल हो गये । उनमें सहानु-भूति न रही और लोभ, मोह आदि कुवासनाओं ने उन्हें घेर लिया । सब लोग विषय-वासना में प्रस्त हो गए और वैदिक कर्म-कांड का लोप हो गया । इससे स्वर्ग में देवता बचराए और दौड़े हुए ब्रह्मा जी के पास पहुँचे । ब्रह्मा जी ने उन्हें आश्वासन दिया और मनुष्यों के शासन की व्यवस्था के लिये एक लाख अभ्यासों का एक बृहद् ग्रंथ बनाया । देवता लोग उस ग्रंथ को लेकर विष्णु के पास पहुँचे और उनसे प्रार्थना की कि आप किसी ऐसे पुरुष को आज्ञा दीजिए, जो मनुष्यों को इस शास्त्रानुसार चलावे । विष्णु भगवान् ने उस शास्त्र के अनुसार शासन करने के लिये राजा की सृष्टि की । किसी किसी पुराण के अनुसार वैवस्वत मनु और किसी के अनुसार कर्दम जी के पुत्र अंग मनुष्यों के पहले राजा हुए । पूर्व काल में मनुष्यों की इतनी अधिकता न थी और न उनकी इतनी घनी बस्तियाँ थीं । एक कुल में उत्पन्न लोगों की संख्या बढ़ते बढ़ते बहुत से जत्थे बन गए थे, जो अपने कुल के सब से श्रेष्ठ या वृद्ध के शासन में रहते थे । वह शासक प्रजापति कहलाता था और शेष लोग प्रजा अर्थात् पुत्र । वेदों में भरत, जमदग्नि, कुशिक आदि जातियों के नाम आए हैं, जिनमें पृथक् पृथक् प्रजापति थे । इनमें से अनेक जातियाँ पंजाब आदि प्रान्तों में बस गईं और कृषि-कर्म करने लगीं । पहले तो उनमें पृथक् पृथक् प्रजापति थे; पर धीरे धीरे जन-संख्या बढ़ती गई और अनेक देश उनसे भर गए । ऐसे आर्यों को शालीन कहा है । फिर उनमें प्रजापतियों से काम न चला और भिन्न भिन्न देशों में शांति स्थापित करने और दूसरे देशों के आक्रमण से अपनी रक्षा

करने के लिये प्रजापति से अधिक शक्तिमान् एक शासक की नियुक्ति की आवश्यकता पड़ी। पहले पहल यह प्रथा भरत-जति में चली थी; इसी लिये राजसूय यज्ञ में “भोः भारताः अयं वः सर्वेषां राजा” कहकर राजा को राजसिंहासन पर बैठाया जाता था। पहले यह राजा प्रजाओं के द्वारा प्रतिष्ठित होता था; और प्रजा का अहित करने पर लोग उसे पदच्युत भी कर देते थे। वेणु आदि राजाओं का पदच्युत होना इसका उदाहरण है। जब उन शालीनों में वर्ण-व्यवस्था स्थापित हो गई, तब राजा का पद पैतृक हो गया और उसकी शक्ति सर्वोपरि मानी गई। मनु ने राजा को अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र, यम, कुबेर, वरुण और महेंद्र या इंद्र की मात्रा या अंश से उत्पन्न लिखा है और उसे चारों वर्णों का शासक कहा है। उ्यों उ्यों प्रजाओं की शक्ति धीमी पड़ने लगी, त्यों त्यों राजा का अधिकार सर्वोपरि होता गया और अंत में वह देश या राज्य का एकाधिपति स्वामी हो गया। दूसरे वर्ग के आर्यों में, जो इधर उधर जत्थे या गग बाँधकर चलते फिरते रहते थे और जिन्हें ब्राह्म्य या यात्रावर कहते थे, प्रजापति की प्रथा बनी रही और यही प्रजापति गणनाथ बन गया। ऐसे आर्यों में न तो वर्ण की ही व्यवस्था थी और न उनमें राजा का एकाधिपत्य ही हुआ। उनमें प्रजापति राजा तो कहलाने लगा, पर वह सारा काम गण की सम्मति से करता था। ऐसे ब्राह्म्य आर्य्य कोशल, मिथिला और विहार आदि प्रांतों से आकर बसे थे और उपनिषद् या ब्रह्मविद्या के अभ्यासी थे। मिथिला के राजा जनक इन्हीं यात्रावर आर्य्यों में थे और वहाँ के व्यास भी ब्रह्मज्ञान के उपदेष्टा थे। इन से लिच्छवि लोगों में गग की प्रथा महात्मा बुद्धदेव के काल तक प्रचलित थी, इसका पंजा त्रिपिटक से चलता है। बादशाह। अधिराज। प्रभु।

पर्या०—नृपति। पार्थिव। भूप। महीक्षित्। भूभृत्। पार्थ। नाभि। नाराज। महीन्द्र। नरेंद्र। दंडधर। स्कंध। भूभुज्। प्रभु। अर्थपति।

विशेष—बहुत से शब्दों के साथ समस्त होकर यह शब्द आकार की बड़ाई या श्रेष्ठता सूचित करता है। जैसे,—राज-दंत, राजमाष, राजशुक, राजशालि इत्यादि।

(२) अधिपति। स्वामी। मालिक। (३) एक उपाधि जिसे अंग्रेजी सरकार बड़े रईसों, ज़मींदारों या अपने कृपापात्रों को प्रदान करती है। जैसे,—राजा राममोहन राय। राजा शिवप्रसाद। (४) धनवान् वा समृद्धिशाली पुरुष। (५) प्रेमपात्र। प्रिय व्यक्ति। (बाजारू)

राजाश्री—संज्ञा स्त्री० [सं०] राजा का कोप।

राजाज्ञा—संज्ञा स्त्री० [सं०] राजा की आज्ञा।

राजातन—संज्ञा पुं० [सं०] चिरौंजी का पेड़। पथार।

राजात्यवर्त्तक—संज्ञा पुं० [सं०] लाजवर्द पत्थर। राजावर्त्त।

राजादन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्षीरिका। खिरनी। (२) पथार। चिरौंजी। (३) देसू।

राजादनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] क्षीरिणी। खिरनी।

राजाद्रि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक पर्वत का नाम। (२) एक प्रकार का अदरक। बड़ा अदरक। बवादा।

राजाधिकारी—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो न्यायालय में बैठकर न्याय करता हो। विचारपति।

राजाधिदेव—संज्ञा पुं० [सं०] सूर जाति का एक क्षत्रिय वीर।

राजाधिदेवी—संज्ञा स्त्री० [सं०] शूरसेन की एक कन्या का नाम।

राजाधिराज—संज्ञा पुं० [सं०] राजाओं का राजा। शाहंशाह। बड़ा बादशाह।

राजाधिष्ठान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजधानी। (२) वह नगर जहाँ राजा का प्रासाद हो।

राजाध्व—संज्ञा पुं० [सं० राजाध्वन्] राजपथ। राजमार्ग। चौड़ी सड़क।

राजानक—संज्ञा पुं० [सं०] छोटा राजा। सामंत राजा।

राजान्न—संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा का अन्न। (२) एक प्रकार का शालि धान जो अंध्र देश में उत्पन्न होता है।

पर्या०—राजाह। नृपाज्ञ। दीर्घशूकक। राजधान्य। राजेष्ट। दीर्घकुरक।

राजाभियोग—संज्ञा पुं० [सं०] राजा का अपनी प्रजा पर दवाब डालकर उसकी इच्छा न रहने पर भी उसे कोई काम करने के लिये बाध्य करना। राजा का प्रजा से ज़बरदस्ती कोई काम कराना।

राजाम्र—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का आम जो सामान्य आमों से बड़ा होता है और जिसमें गूदा अधिक और गुठली छोटी होती है। इसके पेड़ों से फलम उतारी जाती है, जो छोटी होने पर भी अच्छे और बड़े फल देती है। इसके फल पकने पर मीठे होते हैं और सामान्य आमों की अपेक्षा उनमें रेशा कम होता है। बंबई, लँगड़ा, मालदह, सफेदा आदि इसी जाति के आम हैं। वैद्यक में इसे पित्तवर्धक और पकने पर बल-वीर्यप्रद माना है।

पर्या०—राजफल। सराम्र। कोकिलोत्सव। कालेष्ट। नृपवल्लभ।

राजाम्र—संज्ञा पुं० [सं०] अम्लवेतस्। अमलवेद।

राजार्क—संज्ञा पुं० [सं०] श्वेत मंदार। सफेद फूल का आक।

राजारह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अगह। अगर। (२) कपूर। (३) जंबू वृक्ष। जामुन का पेड़।

वि० राजा के योग्य।

राजाहर्षण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) संभ्रमसूचक उपहार । भारी उपहार । (२) राजा का दान ।

राजालावु-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का लौआ या कदू जो आकार में बड़ा और खाने में मीठा होता है ।

राजालुक-संज्ञा पुं० [सं०] मूली ।

राजावर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] लाजवर्द नामक रत्न । यह उपरल माना गया है । वैद्यक में इसे मधुर, स्निग्ध और पित्तनाशक कहा है ।

राजासंघी-संज्ञा स्त्री० [सं०] काठ की चौकी या पीढ़ा जिस पर यज्ञों में सोम रखा जाता था ।

राजासन-संज्ञा पुं० [सं०] राजाओं के बैठने का आसन । सिंहासन । तख्त ।

राजाहि-संज्ञा पुं० [सं०] दो सुँहा साँप ।

राजि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पंक्ति । अवली । कतार । (२) रेखा । लकीर । (३) राई ।

संज्ञा पुं० पेल के पौत्र और आयु के एक पुत्र का नाम ।

राजिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) केदार । क्यारी । (२) राई । (३) राजि । पंक्ति । (४) रेखा । लकीर । (५) लाल सरसों । (६) महुआ । (७) कृष्णोदुंबर । कटगूलर । कटसर । (८) एक परिमाण । (९) एक प्रकार का क्षुद्र रोग जिसमें सरसों के बराबर छोटी छोटी फुसियाँ निकलती हैं । यह रोग अधिक धूप लगने और गर्मी के कारण हो जाता है ।

राजिकाचित्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साँप जिसके ऊपर सरसों की तरह छोटी छोटी बुँदकियाँ होती हैं ।

राजित-वि० [सं०] (१) जो शोभा दे रहा हो । फबता हुआ । शोभित । (२) विराजा हुआ । मौजूद ।

राजिफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] चीना ककड़ी ।

राजिमान-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साँप ।

राजिल-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साँप जिसके ऊपर सीधी रेखाएँ होती हैं ।

राजिलफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का खरबूजा या ककड़ी ।

राजिवल्ल-संज्ञा पुं० [सं० राजीव] कमल । उ०—राजिवनयन धरे धनु सायक । भगत-विपति-भंजन सुखदायक ।—तुलसी ।

राजी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पंक्ति । श्रेणी । कतार । (२) राई । (३) लाल सरसों ।

राजी-वि० [अ०] (१) कोई कही हुई बात मानने को तैयार । अनुकूल । सम्मत । उ०—अत्र इतराजी मत करै, मुझ नित राजी राख । जब रस ज्यों चाहै लियो सुरँग हिये अभिलाख ।—रसनिधि ।

क्रि० प्र०—करना ।—रखना ।—होना ।

(२) नीरोग । चंगा । (३) खुश । प्रसन्न । उ०—ताजी

ताजी गतिन ये तब तैं सीखे लैन । गाहक मन राजी करै बाजी तेरे नैन ।—रसनिधि ।

क्रि० प्र०—रखना ।

(४) सुखी ।

यौ०—राजी खुशी = सही सलामती । कुशल आनन्द ।

‡ संज्ञा स्त्री० रजामंदी । अनुकूलता । उ०—हम सब प्रजा चर्छहि नृप राजी । यथा सूत प्रेरित रथ बाजी ।—गोपाल ।

राजोनामा-संज्ञा पुं० [का०] (१) वह लेख जिसके द्वारा अभियोगी और अभियुक्त, या वादी और प्रतिवादी परस्पर एकमत या अनुकूल होकर अभियोग या वाद को न्यायालय से उठा लें अथवा एक मत हो जायँ और तदनुसार ही न्यायालय को व्यवस्था देने के लिये उससे प्रार्थना करें । (२) स्वीकार-पत्र ।

राजीफल-संज्ञा पुं० [सं०] परवल । पटोल ।

राजीव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रैया मछली । (२) एक प्रकार का मृग जिसकी पीठ पर धारियाँ होती हैं । (३) हाथी । (४) सारस पक्षी की एक जाति । (५) नीलपद्म । नील कमल । (६) कमल । जैसे,—राजीव लोचन । वि० जिस पर धारियाँ हों । धारीदार ।

राजीवगण-संज्ञा पुं० [सं०] एका प्रकार का मात्रिक छंद जिसके प्रत्येक चरण में अठारह मात्राएँ होती हैं और नौ नौ मात्राओं पर विराम पड़ता है । इसमें तुकांत में गुरु लघु का कोई विशेष नियम नहीं है । इसे माली भी कहते हैं ।

राजीविनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का कमल । कमलिनी ।

राजुक-संज्ञा पुं० [सं०] मौर्य काल का एक राजकर्मचारी, जो एक प्रांत का प्रबंध करता था ।

राजुदल-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का वृक्ष ।

राजेंद्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजाओं का राजा । बादशाह । (२) राजगिरि नामक पर्वत । राजाद्रि ।

राजेय-संज्ञा पुं० [सं०] पटोल । परवल ।

राजेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० राजेश्वरी] राजाओं का राजा । राजेंद्र । महाराज ।

राजेष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजान्न नामक धान । (२) राज-भोग्य । (३) लाल प्याज ।

राजेष्टा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) केला । (२) पिंड खजूर ।

राजोपकरण-संज्ञा पुं० [सं०] राजाओं के लक्षण या उनके साथ रहनेवाला सामान । राजचिह्न । जैसे,—झंडा, निशान, नौबत आदि ।

राजोपजीवी-संज्ञा पुं० [सं० राजोपजीविन्] (१) राजकर्मचारी । राज्य का नौकर । (२) वह पुरुष जिसकी जीविका राजा की सेवा करने से चलती हो ।

राजोपसेवी-संज्ञा पुं० [सं०] राजा का सेवक ।

राज्ञी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रानी । राजमहिषी । (२) मत्स्य पुराण के अनुसार सूर्य की पत्नी का नाम । संज्ञा । (३) काँसा । (४) नील का वृक्ष । नीली ।

राज्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा का काम । शासन ।

क्रि० प्र०—करना ।—देना ।—पाना ।—होना ।

विशेष—शास्त्रों में राजा, अमात्य, दुर्ग, राष्ट्र, कोष, दंड या बल और सुहृत् ये सातों राज्य की प्रकृतियाँ मानी गई हैं ।

(२) वह देश जिसमें एक राजा का अधिकार और शासन हो । बादशाहत । जैसे,—नैपाल का राज्य, काबुल का राज्य ।

विशेष—कहीं कहीं एक लाख गाँवों के समूह को भी राज्य कहा है ।

पर्या०—मंडल । जनपद । देश । विषय । राष्ट्र ।

राज्यक्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] रायता ।

राज्यच्युत-वि० [सं०] जो राजसिंहासन से उतार या हटा दिया गया हो । राज्यभ्रष्ट ।

राज्यच्युति-संज्ञा स्त्री० [सं०] राजा का राजसिंहासन से उतार दिया जाना ।

राज्यतंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] राज्य की शासन प्रणाली ।

राज्यद्रव्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह उपकरण जिसकी आवश्यकता राज्याभिषेक में पड़ती है । राजतिलक की सामग्री ।

राज्यधर-संज्ञा पुं० [सं०] राज्यपालन । शासन ।

राज्यधुरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] राज्यशासन ।

राज्यप्रद-वि० [सं०] राज्य देनेवाला । जिससे राज्य मिलता हो ।

राज्यभंग-संज्ञा पुं० [सं०] राज्य का नाश । राज्य का ध्वंस ।

राज्यलक्ष्मी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राजश्री । (२) विजय-गौरव । विजय-कीर्ति ।

राज्यलोभ-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत बड़ा लोभ । उच्च आशा । उच्चाकांक्षा ।

राज्यव्यवस्था-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह नियम या व्यवस्था जिसके अनुसार प्रजा के शासन का विधान किया जाता हो । राज्यनियम । नीति । कानून ।

राज्यस्थायी-संज्ञा पुं० [सं० राज्यस्थायिन्] राजा । शासक ।

राज्यांग-संज्ञा पुं० [सं०] राज्य के साधक अंग जिन्हें प्रकृति भी कहते हैं । शास्त्रों में प्रधान प्रकृतियाँ सात मानी गई हैं । यथा—राजा, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, बल और सुहृत् ।

राज्याभिषिक्त-वि० [सं०] जिसका राज्याभिषेक हुआ हो ।

राज्याभिषेक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजसिंहासन पर बैठने के समय या राजसूय यज्ञ में राजा का अभिषेक, जो वेद के मंत्रों द्वारा पवित्र तीर्थों के जल और ओषधियों से कराया

जाता है । (२) किसी नए राजा का राजसिंहासन पर बैठना या बैठाया जाना । राजगद्दी पर बैठने की रीति । राज्यारोहण ।

राज्योपकरण-संज्ञा पुं० [सं०] राजचिह्न ।

राट्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा । बादशाह । (२) श्रेष्ठ व्यक्ति । सरदार । (३) किसी बात में सब से बड़ा पुरुष । जैसे,—धूर्तराट् । उ०—सोहे भट्टराट् विराट् प्रभु परन बिमुख रन मुख करत ।—गोपाल ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग प्रायः यौगिक शब्दों के अंत में होता है ।

राटुल, रातुल-संज्ञा पुं० [अ० रतल = एक तौल] वह बड़ा तराजू जो लट्टा गाढ़कर लटकाया जाता है और जिसमें लोहा, लकड़ी इत्यादि मनों की तौल से तौली जाती है ।

राठ-संज्ञा पुं० [सं० राष्ट्र] (१) राज्य । (२) राजा ।

राठवर-संज्ञा पुं० दे० “राठौर” ।

राठौर-संज्ञा पुं० [सं० राष्ट्रकूट] दक्षिण भारत का एक प्रसिद्ध राजवंश ।

राड़-वि० [?] (१) नीच । निकम्मा । उ०—(क) लखि गयंद लै चलत भजि स्वान सुखानो हाड़ । गज गुन मोल अहार बल महिमा जान कि राड़ ।—तुलसी । (ख) कागा करैक ढँढोरिया मूठिक रहिया हाड़ । जिस पिंजर बिरहा बसै माँस कहाँ रे राड़ ।—कबीर । (ग) बिठा का चौका दिया हाँड़ी सीसै हाड़ । लूति बचावै चाम की तिनहू का गुरु राड़ ।—कबीर । (घ) रावन राड़ के हाड़ गढ़ैगे ।—तुलसी । (२) कायर । भगोड़ा । उ०—राड़ राउत होत फिरि कै जूझै ।—तुलसी ।

यौ०—राड़ रोर ।

राड़ा-संज्ञा पुं० [देश०] सरसों । सर्पपं ।

राड़-वि० दे० “राड़” ।

रां संज्ञा स्त्री० [सं० राटि = लड़ाई] । रार । झगड़ा । उ०—उन्हीं के किये सब धंधा गंदा हुआ । वह देतीं तो यह राड़ क्यों बढ़ती ।—दुर्गाप्रसाद मिश्र ।

राढ़ा-संज्ञा पुं० [सं० राढ़ि] बंग देश के उत्तर भाग का पुराना नाम । संज्ञा स्त्री० एक प्रकार की कपास ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कान्ति । दीप्ति । (२) शोभा । छवि ।

राढ़ि-संज्ञा पुं० [सं०] बंग देश के उत्तरी भाग का नाम । उ०—खेलत जीत्यो जिन राढ़ि देश ।—कपूरमंजरी ।

राढ़ी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मोटी घास ।

राणा-संज्ञा पुं० [सं० राट्] [स्त्री० राणी] राजा ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग राजपूताने की उदयपुर आदि कुछ विशेष रियासतों के राजाओं के लिये होता है । नैपाल के सरदार भी राणा कहलाते हैं ।

रातंग-संज्ञा पुं० [हि०] गीध । गिद्ध ।

रात-संज्ञा स्त्री० [सं० रात्रि] समय का वह भाग जिसमें सूर्य का प्रकाश हम तक नहीं पहुँचता। संध्या से प्रातःकाल तक का समय। दिन का उलटा।

पर्याय—रजनी। निशा। शर्वरी। निशि। विभावरी।

मुहा०—रात दिन = सर्वदा। सदा। हमेशा।

यौ०—रात राजा = उल्लू।

रातड़ी, रातरी पुं०-संज्ञा स्त्री० [सं० रात्रि] रात। उ०—राम सनेही कारने रोय रोय रातड़ियाँ।—कबीर।

रातना—क्रि० प्र० [सं० रक्त प्रा० रत्न + ना (हि० प्रत्य०)] (१) लाल रंग से रँग जाना। लाल हो जाना। (२) रँग जाना। रंगीन होना। उ०—रँग राते बहु चीर अमोला।—जायसी। (३) अनुरक्त होना। आशिक होना। उ०—(क) जाहि जो भजै सो ताहि रातै। कोउ कछु कहै सब निरस बातें।—सूर। (ख) रँग राती राते हिये प्रीतम लिखी बनाय। पाती काती बिरह की छाती रही लगाय।—बिहारी। (ग) जिनकर मन इन सन नहिं राता। तिन जग बंचित किये बिधाता।—तुलसी।

राता—वि० [सं० रक्त, प्रा० रत्न] [स्त्री० राती] (१) लाल। सुखं। उ०—(क) बन बाटनि पिक बटपरा तकि बिरहिनि मत मैन। कुहौ कुहौ कहि कहि उठै करि करि राते नैन।—बिहारी। (ख) भृकुटी कुटिल नैन रिस राते।—तुलसी। (२) रँग हुआ।

राति—संज्ञा स्त्री० दे० “रात”।

रातिचर—संज्ञा पुं० [हि० राति + सं० चर] निश्चर। राक्षस। रातिब—संज्ञा पुं० [अ०] (१) पशुओं का दैनिक भोजन। (२) हाथियों आदि का खाना।

क्रि० प्र०—खाना।—देना।—पाना।—मिलना।

रातुल—वि० [सं० रक्तालु, प्रा० रत्नालु] सुखं रंग का। लाल। उ०—उर मोतिन की माला री पहिरे रातुल चीर, वारे कन्हैया।—सूर।

रातैल—संज्ञा पुं० [हि० राता + ऐल (प्रत्य०)] लाल रंग का एक छोटा कीड़ा जो जुआर को हानि पहुँचाता है।

रात्रि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) उतना समय जितने समय तक सूर्य का प्रकाश न देख पड़े। संध्या से लेकर प्रातःकाल तक का समय। सूर्यास्त से सूर्योदय तक का समय। रात। निशा।

यौ०—रात्रिदिवा = रातदिन। सदा।

(२) हलदी। (३) पुराणानुसार क्रौंच द्वीप की एक नदी का नाम।

रात्रिक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बिच्छू।

रात्रिकार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा। (२) कपूर।

रात्रिचर, रात्रिचारी—संज्ञा पुं० [सं०] राक्षस। निश्चर।

वि० रात के समय विचरनेवाला।

रात्रिज—संज्ञा पुं० [सं०] नक्षत्र, तारे आदि।

रात्रिजागर—संज्ञा पुं० [सं०] कुत्ता।

रात्रितिथि—संज्ञा स्त्री० [सं०] शुक्ल पक्ष की रात।

रात्रिनाशन—संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य।

रात्रिपुष्प—संज्ञा पुं० [सं०] कमल।

रात्रिबल—संज्ञा पुं० [सं०] राक्षस।

रात्रिमट—संज्ञा पुं० [सं०] राक्षस।

रात्रिमणि—संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा।

रात्रिराग—संज्ञा पुं० [सं०] अंधकार। अँधेरा।

रात्रिवास—संज्ञा पुं० [सं० रात्रिवास] (१) अंधकार। अँधेरा।

(२) रात के समय पहनने का वस्त्र।

रात्रिचिंग—संज्ञा पुं० [सं०] प्रभात। तड़का।

रात्रिवेद—संज्ञा पुं० [सं०] कुक्कुट। मुरगा।

रात्रिसाम—संज्ञा पुं० [सं० रात्रिसामन्] एक प्रकार का साम।

रात्रिसूक्त—संज्ञा पुं० [सं०] ऋग्वेद के एक सूक्त का नाम।

रात्रिहास—संज्ञा पुं० [सं०] कुमुद। कूई।

रात्रिहिंसक—संज्ञा पुं० [सं०] राजाओं के अंतःपुर का पहरेदार।

रात्री—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रात। (२) हलदी।

रात्र्यंध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जिसे रात को न दिखाई देता हो। जिसे रतौंधी का रोग हो। (२) वे पक्षी और पशु जिन्हें रात को न दिखाई पड़ता हो। जैसे,—कौआ, बंदर।

राथकार्य—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो रथकार श्रृपि के गोत्र में उत्पन्न हो।

राद्ध—वि० [सं०] (१) पका हुआ। राँधा हुआ। (२) सिद्ध। ठीक किया हुआ। (३) पूरा किया हुआ।

राद्धांत—संज्ञा पुं० [सं०] सिद्धांत। उसूल।

राद्धि—संज्ञा स्त्री० [सं०] सिद्ध होने का भाव। सफलता। सिद्धि।

राध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वैशाख मास। (२) धन। संपत्ति। संज्ञा स्त्री० [देश०] पीव। मवाद।

राधन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) साधने की क्रिया। साधना। (२) मिलना। प्राप्ति। (३) संतोष। तुष्टि। (४) वह वस्तु जिससे कोई कार्य किया जाय। साधना।

राधना—क्रि० प्र० [सं० आराधना] (१) आराधना करना। पूजा करना। उ०—साधो कहा करि साधन ते जौ पै राधो नहीं पति पारवती को।—तुलसी। (२) सिद्ध करना। पूरा करना। (३) काम निकालना। साधना।

राधा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वैशाख की पूर्णिमा। (२) प्रीति। अनुराग। प्रेम। (३) धृतराष्ट्र के सारथी अधिरथ की पत्नी का नाम जिसने कर्ण को पुत्रवत् पाला था। इसी कारण

से कर्ण का एक नाम 'राधेय' भी था । (४) वृषभानु गोप की कन्या और श्रीकृष्ण की प्रेयसी ।

विशेष—श्रीमद्भागवत में राधा का कोई उल्लेख नहीं है । पर ब्रह्मवैवर्त, देवीभागवत आदि में राधा का वर्णन मिलता है । इन पुराणों में राधा के जन्म और जीवन के संबंध में भिन्न भिन्न कथाएँ दी गई हैं । कहीं लिखा है कि ये श्रीकृष्ण के बाएँ अंग से उत्पन्न हुई थीं और कहीं गोलोकधाम के रासमंडल में इनका जन्म लिखा है । यह भी कहा जाता है कि ये जन्म लेते ही पूर्ण वयस्क हो गई थीं । श्रीकृष्ण के साथ इनका विवाह नहीं हुआ था, यद्यपि गर्गसंहिता आदि कुछ इधर के ग्रंथों में विवाह की कथा भी रख दी गई है । सब जगह श्रीकृष्ण के साथ इनकी मूर्ति और नाम रहता है । इनके नाम के साथ ईश या स्वामी वाचक शब्द लगाने से श्रीकृष्ण का बोध होता है ।

(५) एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में रगण, तगण, मगण, यगण और एक गुरु सब मिलकर १३ अक्षर होते हैं । जैसे,—कृष्ण राधा कृष्ण राधा कृष्ण राधा गा । (६) विशाखा नक्षत्र । (७) बिजली । (८) आँवला । (९) विष्णु-क्रांता लता ।

राधाकांत—संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण ।

राधाकुंड—संज्ञा पुं० [सं०] गोवर्द्धन के निकट का एक प्रख्यात सरोवर ।

राधातंत्र—संज्ञा पुं० [सं०] एक तंत्र का नाम जिसमें मंत्रों आदि के अतिरिक्त राधा की उत्पत्ति का भी रहस्यपूर्ण वर्णन है ।

राधावल्लभ—संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण ।

राधावल्लभी—संज्ञा पुं० [सं०] वैष्णवों का एक प्रसिद्ध संप्रदाय । वि० दे० "वैष्णव" ।

राधाष्टमी—संज्ञा स्त्री० [सं०] भादों सुदी अष्टमी ।

राधिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वृषभानु गोप की कन्या, राधा । वि० दे० "राधा" (४) । (२) एक मात्रिक छंद जिसके प्रत्येक चरण में १३ और ९ के विश्राम से २२ मात्राएँ होती हैं । लावनी इसी छंद में होती है । जैसे,—सब सुधि बुधि गढ़ क्यों भूल, गई मति मारी । माया को चरो भयो, भूलि असुरारी । कटि जैहूँ भव के फंद, पाप नसि जाई । रे सदा भजौ श्रीकृष्ण, राधिका माई ।

राधेय—संज्ञा पुं० [सं०] (छतराष्ट्र के सारथी अधिरथ की पत्नी राधा द्वारा पालित) कर्ण ।

राध्य—वि० [सं०] आराधना करने के योग्य । आराध्य ।

रान—संज्ञा स्त्री० [फा०] जंवा । जाँव । उ०—खाइ सेर बीसक की रानें । घकाधकी हाथिन सों ठानें ।—लाल ।

रानतुरई—संज्ञा स्त्री० [हि० रानी + तुरई] कड़ई तरौई ।

राना—संज्ञा पुं० दे० "राणा" ।

रानापति—संज्ञा पुं० [हि० राणा + पति] सूर्य (चित्तौर के राना सूर्यवंश के माने जाते हैं ।)

राना—संज्ञा स्त्री० [सं० रानी, प्रा० राणी] (१) राजा की स्त्री । राजा की पत्नी । (२) स्वामिनी । मालकिन । जैसे,—मधु-मक्खियों की रानी । (३) स्त्रियों के लिये आदर-सूचक शब्द ।

रानीकाजर—संज्ञा पुं० [हि० रानी + काजर] एक प्रकार का धान । उ०—रामभोग औ रानीकाजर । भाँति भाँति के सीधे चावर ।—जायसी ।

रापती—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक छोटी नदी जो नैपाल के पहाड़ों से निकलकर गोरखपुर के निकट सूर्य में गिरती है ।

रापरंगाल—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का नृत्य । उ०—शूलं बध्वैक पादेन सहैवानु पतेद्यदि । द्वितीयोऽपि तदा राप-रंगालं तद्विदो विदुः ।—केशव ।

रापी—संज्ञा स्त्री० [हि० राँपी] चमारों का राँपी नाम का औज़ार जिससे वे चमड़ा साफ करते और काटते हैं । उ०—असकहि रापी ताहि की तामें दियो छुवाइ । तुरतै कंचन की भई तेहि गुण दियो दिखाइ ।—रघुराज ।

राब—संज्ञा स्त्री० [सं० द्रावक = मोम] आँच पर औटाकर खूब गाढ़ा किया हुआ गन्ने का रस जो गुड़ से पतला और शीरे से गाढ़ा होता है । इसी को साफ करके खाँड़ बनाई जाती है । संज्ञा स्त्री० [देश०] नाव में वह बड़ी लकड़ी जो उसकी पेंदी में लंबाई के बल एक सिरे से दूसरे सिरे तक होती है । पहले यही लकड़ी लगाकर तब उस पर से अहार चढ़ाते हैं ।

राबड़ी—संज्ञा स्त्री० [हि० राब + डी (प्रत्य०)] औटा कर गाढ़ा किया हुआ दूध । बसौंधी । रबड़ी ।

रावना—क्रि० सं० [सं०] खेत में खाद देने की एक विशेष प्रणाली । इसमें पहले खेत में खाद, सूखी पत्तियाँ और टहनियाँ आदि रखकर जला देते हैं; फिर उनकी राख समेत जमीन को एक बार जोत देते हैं । वही राख खेत में खाद का काम देती है ।

राम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) परशुराम जो विष्णु के अंशावतार माने जाते हैं । वि० दे० "परशुराम" । (२) कृष्ण के बड़े भाई बलराम या बलदेव । वि० दे० "बलराम" । (३) सूर्यवंशी महाराज दशरथ के पुत्र जो दस अवतारों में से एक माने जाते हैं । वि० दे० "रामचंद्र" ।

मुहा०—राम शरण होना = (१) साधु होना । विरक्त होना । (२) मर जाना । परलोकवासी होना । उ०—राम राम कहि राम सिय राम शरण भए राउ ।—तुलसी । राम जाने = (१) मुझे नहीं मालूम । ईश्वर जाने । (२) यदि मैं झूठ कहता हों तो उसके साची भगवान् है (एक शपथ) । राम राम करना =

= (१) अभिवादन करना । प्रणाम करना । (२) भगवान् का नाम जपना । राम नाम सत्य है = एक वाक्य जिसका प्रयोग कुछ हिंदू जातियों में मृतक को श्मशान ले जाने के समय होता है और जिससे संसार की असारता और मिथ्यात्व तथा ईश्वर की सत्यता का बोध होता है । राम राम करके = वही कठिनाता से । किसी प्रकार । उ०—राम राम करके अभी वासमती से पीछा छूटा है; फिर यह विपत्त कहाँ से आई ।—अयोध्या । राम राम होना = भेंट होना । मुलाकात होना । उ०—कैसे है दई मेरे आनंद की जई राम, भई राम राम आज नई राम राम सों ।—रामकवि । राम राम हो जाना = मर जाना । गत हो जाना । उ०—तौ लौं रहे प्राण दशरथ जू के नीके, पाछे राम नाम लेत राजा राम राम है गयो ।—रामकवि । (४) तीन की संख्या । (५) ईश्वर । भगवान् । (६) एक मात्रिक छंद जिसमें ९ और ८ के विराम से प्रत्येक चरण में १७ मात्राएँ होती हैं और अंत में यगण होता है । जैसे,—सुनिये हमारी, विनय मुरारी । दीजै हमारी, विपत्ति टारी । (७) वरुण । (८) बौद्ध । (९) अशोक वृक्ष । (१०) रति । (११) बधुआ (साग) । (१२) तेजपत्ता ।

रामअंजीर—संज्ञा स्त्री० [हि० राम + का० अंजीर] पाकर वृक्ष । पकरिया ।

रामकजरा—संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का धान जो अगहन में तैयार होता है ।

रामकपास—संज्ञा स्त्री० [हि० राम + कपास] देवकपास । नरमा । वि० दे० “नरमा” ।

रामकली—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रागिनी जो भैरव राग की स्त्री मानी जाती है । इसके गाने का समय प्रातःकाल १ दंड से ५ दंड तक है । यह संपूर्ण जाति की रागिनी है और इसमें ऋषभ तथा निषाद कोमल लगते हैं ।

रामकाँटा—संज्ञा पुं० [हि० राम + काँटा] एक प्रकार का बबूल ।

रामकेला—संज्ञा पुं० [हि० राम + केला] (१) एक प्रकार का बढिया केला जिसके पेड़ का तना, फूल आदि गहरे लाल रंग के होते हैं । इसका फल कुछ पतला और प्रायः एक बालिशत लंबा होता है । यह बंबई प्रांत की ओर अधिकता से होता है और बंगाल के केलों से आकार प्रकार में बिल्कुल भिन्न होता है । (२) एक प्रकार का बढिया आम जो बंगाल और मिथिला में होता है ।

रामक्षेत्र—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार दक्षिण देश का एक प्राचीन तीर्थ ।

रामखंड—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन तीर्थ ।

रामगंगा—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक छोटी नदी जो पीलीभीत के निकट से निकलकर कन्नौज के आगे गंगा में मिलती है ।

रामगिरि—संज्ञा पुं० [सं०] नागपुर जिले की एक पहाड़ी जिसका वर्णन कालिदास जी ने अपने मेघदूत में किया है । आजकल इसे रामटेक कहते हैं ।

विशेष—कुछ लोग चित्रकूट को रामगिरि मानते हैं । पर मेघदूत में जो स्थिति दी हुई है, उससे वह नागपुर ही के पास होना चाहिए ।

रामगिरी—संज्ञा स्त्री० दे० “रामकली” ।

रामगीती—संज्ञा पुं० [सं०] एक मात्रिक छंद जिसके प्रत्येक चरण में ३६ मात्राएँ होती हैं । जैसे,—यहि भाँति बरणे सुभट गण कहँ जीति लव रणधीर ।

रामचंद्र—संज्ञा पुं० [सं०] अयोध्या के राजा इक्ष्वाकुवंशी महाराज दशरथ के बड़े पुत्र जो ईश्वर या विष्णु भगवान् के मुख्य अवतारों में माने जाते हैं और जिनकी कथा रामायण में वर्णित है ।

विशेष—इनका जन्म कौशल्या के गर्भ से हुआ था और इन्होंने वशिष्ठ मुनि से शिक्षा पाई थी । जब ये बालक थे, तभी विश्वामित्र मुनि इन्हें अपने नश की रक्षा के लिये अपने साथ वन में ले गए थे, जहाँ इन्होंने अनेक राक्षसों का वध किया था । जब यज्ञ समाप्त हो गया, तब ये अपने छोटे भाई लक्ष्मण और गुरु विश्वामित्र के साथ राजा जनक के यहाँ सीता के स्वयंवर में गए थे । वहाँ इन्होंने शिवजी का धनुष तोड़कर सीता का पाणिग्रहण किया था । जब ये लौटकर अयोध्या आए, तब राजा दशरथ इनका अभिषेक करके इन्हें राजगद्दी देना चाहते थे; पर रानी कैकेयी के कहने से उन्होंने इन्हें चौदह वर्षों तक वन में रहने के लिये भेज दिया । जब ये वन जाने लगे, तब इनकी स्त्री सीता और इनके छोटे भाई लक्ष्मण भी इनके साथ हो लिये । इनके वन जाने पर पीछे इनके दुःखी पिता दशरथ की मृत्यु हो गई । कैकेयी अपने पुत्र भरत को सिंहासन पर बैठााना चाहती थी; पर भरत ने स्पष्ट कह दिया कि यह राज्य मेरे बड़े भाई रामचंद्र का है; और मैं इसे ग्रहण नहीं कर सकता । पीछे भरत रामचंद्र को समझा खुशकर लाने के लिये वन में भी गए; पर रामचंद्र ने कह दिया कि मैं पिता की आज्ञा से चौदह वर्षों के लिये वन में आया हूँ । और जब तक यह अवधि पूरी न हो जायगी, तब तक मैं लौटकर अयोध्या नहीं चल सकता । इस पर भरत ने इनके खड़ाऊँ ले जाकर और सिंहासन पर स्थापित करके इनकी ओर से इनकी अनुपस्थिति में शासन करने लगे । वनवास काल में रामचंद्र अनेक वनों और पर्वतों पर और ऋषियों आदि के आश्रमों पर घूमा करते थे । दंडकारण्य में एक बार लंका का राजा रावण आकर छल से सीता को हर ले गया । इस पर इन्होंने बहुत से वानरों आदि को साथ लेकर लंका

पर चढ़ाई की और युद्ध में रावण तथा उसके साथी राक्षसों को मारकर और उसका राज्य उसके छोटे भाई विभीषण को देकर अपनी स्त्री सीता को अपने साथ ले आए। वनवास की अवधि पूरी हो गई थी; इसलिये ये सीधे अयोध्या चले आए और यहाँ जाकर सुख से राज्य करने लगे। इनका शासन प्रजा के लिये इतना अधिक सुखद था, कि अब तक लोग इनके राज्य की आदर्श समझते हैं; और अच्छे राज्य की उपमा "राम राज्य" से देते हैं।

रामचक्राङ्ग-संज्ञा पुं० [सं० राम + चक्र] (१) बरा नामक एकवान जो उड़द की पीठी का बनता है। (२) बड़ी और मोटी रोटी जो किसान लोग खाते हैं। लिट्टी। बाटी।

रामजननी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रामचंद्र की माता, कौशल्या। (२) बलराम की माता। (३) रेणुका।

रामजना-संज्ञा पुं० [हि० राम + जना = उत्पन्न] (१) एक संकर जाति जिसकी कन्याएँ वेश्या वृत्ति करती हैं। कई बातों में यह जाति गंधर्व जाति से मिलती जुलती होती है, पर साधारणतः उससे नीची समझी जाती है। इस जाति के लोग प्रायः राजपूताने, संयुक्त-प्रान्त तथा बिहार में पाए जाते हैं। (२) वह जिसके माता-पिता का पता न हो। वर्ण-संकर।

रामजनी-संज्ञा स्त्री० [हि० राम + जना = उत्पन्न] (१) रामजना जाति की स्त्री। (२) वेश्या। रंडी। (३) वह स्त्री जिसके पिता का पता न हो। उ०—रामजनी सन्यासिनी पट्ट पट्टवा की बाल। केशव नायक नायिका सखी करहिं सब काल।—केशव।

रामजमानी-संज्ञा पुं० [सं० राम + यवानी (अजवायन)] एक प्रकार का बहुत बारीक चावल।

रामजयंती-संज्ञा स्त्री० [सं०] देवी की एक मूर्ति का नाम।

रामजामुन-संज्ञा पुं० [हि० राम + जामुन] महोले आकार का एक प्रकार का जामुन का वृक्ष, जो प्रायः सारे उत्तरी और पूर्वी भारत तथा बर्मा और लंका में होता है। इसके फल बहुत बड़े बड़े और स्वादिष्ट होते हैं। इसकी लकड़ी यद्यपि साधारण जामुन की लकड़ी के समान उत्तम नहीं होती, तो भी इमारत तथा खेती के औज़ार बनाने के काम में आती है। यह छोटी नदियों के किनारे अधिकतर होता है।

रामजौ-संज्ञा पुं० [सं० राम + हि० जौ] एक प्रकार की जई जिसके दाने साधारण जौ से कुछ बड़े होते हैं।

रामभोल-संज्ञा स्त्री० [सं० राम + हि० भूलना] पाज़ेव। पायल।

रामटेक-संज्ञा पुं० [हि० राम + टेक = टेकड़ी (पहाड़ी)] नागपुर ज़िले की एक पहाड़ी जहाँ रामचंद्र का एक मंदिर है। यह एक तीर्थ-स्थान माना जाता है। वि० दे० "रामगिरि"।

रामटोड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक संकर रागिनी जिसमें गांधार कोमल और शेष सब स्वर शुद्ध लगते हैं।

रामठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बृहत्संहिता के अनुसार एक देश जो पश्चिम में है। (२) इस देश का निवासी। (३) हींग। (४) अखरोट का वृक्ष। (५) मैमफल। (६) चिचड़ा।

रामठी-संज्ञा स्त्री० [सं०] हींग।

रामणीयक-संज्ञा पुं० [सं०] रमणीयत्व। मनोहरता।

वि० रमणीय। मनोहर।

रामतरुणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सेवती। (२) सीता जी।

रामतरोई-संज्ञा स्त्री० [हि० राम + तरोई या तुरई] भिंडी नामक फली जिसकी तरकारी बनती है।

रामता-संज्ञा स्त्री० [सं०] राम का गुण। राम-पन। उ०—आज राम रामता निहारीं। नैकु शंक मन महीं नहिं धारौं।—शुभराज।

रामतापनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक उपनिषद् का नाम जो प्राचीन उपनिषदों में नहीं है, बल्कि एक सांप्रदायिक पुस्तक है।

रामतारक-संज्ञा पुं० [सं०] राम जी का मंत्र जो रामोपासक लोग जपते हैं। कहते हैं कि काशी में जो लोग मरते हैं, उन्हें शिव जी इसी मंत्र का उपदेश करते हैं, जिसके प्रभाव से उनकी मुक्ति हो जाती है। यह मंत्र इस प्रकार है।—
रां रामायनमः।

रामतिष्ठ-संज्ञा स्त्री० [हि० रमन = घूमना फिरना] भिक्षा के लिये इधर-उधर घूमना। भिक्षुओं की फेरी।

रामतिल-संज्ञा पुं० [सं० राम + तिल] एक प्रकार का तिल।

रामतीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] रामगिरि नामक स्थान। रामटेक।

रामतुलसी-संज्ञा स्त्री० दे० "रामा तुलसी"।

रामतेजपात-संज्ञा पुं० [हि० राम + तेजपात] तेजपात की जाति का एक प्रकार का वृक्ष जो पूर्वी बंगाल, बर्मा और अंडमन टापू में अधिकता से होता है। इसके पत्तों का व्यवहार तेजपत्ते के समान होता है और लकड़ी संदूक तथा तख्ते आदि बनाने के काम में आती है।

रामत्व-संज्ञा पुं० [सं०] राम का भाव। रामता। राम-पन।

रामदल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रामचंद्र जी की बंदरोंवाली सेना, जिसके नीचे लिखे १८ मुख्य यूथप थे—(१) लक्ष्मण, (२) सुग्रीव, (३) नील, (४) नल, (५) सुखेन, (६) जामवंत, (७) हनुमान, (८) अंगद, (९) केशरी, (१०) गवय, (११) गवाक्ष, (१२) गज, (१३) विभीषण, (१४) द्विविद, (१५) तार, (१६) कुमुद, (१७) शरभ और (१८) दधिमुख। (२) कोई बड़ी और प्रबल सेना जिसका मुकाबला करना कठिन हो।

रामदाना-संज्ञा पुं० [सं० राम + हि० दाना] (१) मरसे या चौलाई की जाति का एक पौधा जिसमें सफ़ेद रंग के एक प्रकार के बहुत छोटे छोटे दाने लगते हैं। ये दाने कई प्रकार से खाए जाते हैं और इनकी गिनती "फलाहार"

में होती है। पहाड़ों में यह बैसाख जेठ में बोया और कुआँ में तैयार हो जाता है; पर उत्तरी, पश्चिमी तथा मध्य भारत में यह जाड़े के दिनों में भी होता है। कहीं कहीं बागों में भी शोभा के लिये इसके पौधे लगाए जाते हैं।

(२) एक प्रकार का धान।

रामदास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान। (२) एक प्रकार का धान। (३) दक्षिण भारत के एक प्रसिद्ध महात्मा जो छत्रपति महाराज शिवा जी के गुरु थे और जिन्हें लोग स्वामी रामदास या समर्थ रामदास भी कहते हैं।

विशेष—स्वामी रामदास का जन्म शक सं० १५३० की रामनवमी के दिन गोदावरी के तट पर जंबू नामक स्थान में एक ब्राह्मण के घर हुआ था। पहले इनका नाम नारायण था। ये बाल्यावस्था से ही बहुत रामभक्त थे। कहते हैं कि जब ये आठ ही वर्ष के थे, तब एक बार रामचंद्र जी ने इन्हें दर्शन देकर कहा था कि तुम म्लेच्छों का नाश करके धर्म को दुर्दशा से बचाओ और उसे पुनः स्थापित करो। तभी से इनके मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ, जिसे दूर करने के लिये माता-पिता ने इनका विवाह करना चाहा। पर ये विवाह मंडप से उठकर भाग गए और नासिक के पास की एक गुफा में जाकर तपस्या करने लगे। फिर बहुत दिनों तक इधर उधर तीर्थयात्रा करते रहे। उस समय तक दक्षिण भारत में इनकी साधुता की बहुत प्रसिद्धि हो चुकी थी जिसको सुनकर शिवाजी इनके दर्शन के लिये आए और तब से इनके परम भक्त हो गए। महाराज शिवाजी प्रायः सब कामों में इनसे परामर्श और आज्ञा ले लिया करते थे। कहते हैं कि इन्होंने अपने जीवन में अनेक विलक्षण चमत्कार दिखाए थे। इनकी मृत्यु शक सं० १६०३ के माघ मास में हुई थी। इनके उपदेशों और भजनों का दक्षिण भारत के अब तक बहुत अधिक प्रचार है।

रामदूत-संज्ञा पुं० [सं०] हनुमान जी।

रामदूती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की तुलसी।

पर्याय—पर्वपुष्पी। विशाल्या। सूक्ष्मपर्णी। भवान्याह्या।

(२) नागदंती। नागदौन। (३) नागपुष्पी।

रामदेव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रामचंद्र। (२) एक संप्रदाय जो राजपूताने में प्रचलित है और जिसके अधिकांश अनुयायी चमार आदि अस्पृश्य जातियों के लोग हैं।

रामधनुष-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रधनुष।

रामधाम-संज्ञा पुं० [सं०] साकेत लोक जहाँ भगवान् नित्य राम रूप में विराजमान माने जाते हैं।

रामननुआ-संज्ञा पुं० [हि० राम + ननुआ] (१) घीया। (२) कद्दू। लौकी। लौवा।

रामनवमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] चैत्र सुदी नवमी जिस दिन राम जी का जन्म हुआ था। इस दिन हिंदू राम-जन्म का उत्सव मनाते और व्रत रखते हैं।

रामनाम-संज्ञा स्त्री० [सं० रमण] घूमना। फिरना। विचरना।

उ०—(क) एक समय कहूँ रामत माहीं। पत्नी अकेल रहेउ कोउ नाहीं।—रघुराज। (ख) एक समय रामन हितै कीन्हौ कहूँ पयान।—रघुराज।

रामनामी-संज्ञा पुं० [हिं० राम + नाम + ई (प्रत्य०)] (१) वह चादर, दुपट्टा या धोती आदि जिस पर “राम राम” छपा रहता है और जिसका व्यवहार राम के भक्त लोग इसलिये करते हैं जिसमें राम का नाम हर दम आँखों के सामने रहे।

विशेष—इसी प्रकार कुछ कपड़ों पर कृष्ण या शिवा का नाम भी छपा रहता है।

(२) गले में पहनने का एक प्रकार का हार जो प्रायः सोने का होता है। इसमें छोटे छोटे कई टिकड़े या पान आदि होते हैं, जो आपस में एक दूसरे के साथ जंजीर के कई छोटे छोटे टुकड़ों या लड़ों से जुड़े होते हैं। इसके बीच में प्रायः एक पान होता है, जिसमें “राम” शब्द, किसी देवता की मूर्ति अथवा चरण-चिह्न अंकित होता है और जो पहनने पर छाती पर लटकता रहता है। इसी के कारण इसे रामनामी कहते हैं।

रामनौमी-संज्ञा स्त्री० दे० “रामनवमी”।

रामपात-संज्ञा पुं० [हिं० राम + पत्र] नील की जाति की एक प्रकार की झाड़ी जो आसाम देश में होती है और जिसकी पत्तियों तथा छाल से वहाँ के लोग रंग बनाते हैं।

रामपुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वर्ग। वैकुण्ठ। (२) अयोध्या।

रामफल-संज्ञा पुं० [हिं० राम + फल] शरीफा। सीताफल।

रामबँटाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० राम + बँटना] वह विभाग जिसमें आधा एक व्यक्ति और आधा दूसरे व्यक्ति को मिले। आधे आध की बँटाई।

विशेष—यह न्याययुक्त होती है, इसी से इसे राम बँटाई कहते हैं।

रामबबूल-संज्ञा पुं० [हिं० राम + बबूल] एक प्रकार का बबूल या कीकर जो गुजरात, झंग और झेलम में अधिकता से होता है। इसकी डालियाँ सरे की डालियों की तरह तने से सटी रहती हैं। इसी लकड़ी कम मजबूत होती है। इसे काबुली कीकर भी कहते हैं।

रामबाँस-संज्ञा पुं० [हिं० राम + बाँस] (१) एक प्रकार का मोटा बाँस जो प्रायः नालकी के डंडे बनाने के काम में आता है। (२) केतकी या केवड़े की जाति का एक पौधा जिसके पत्ते नीले और खाँड़े की तरह दो ढाई हाथ लंबे होते हैं।

यह सारे भारत में या तो आप से आप होता है या कहीं कहीं बोया भी जाता है। इसकी पत्तियाँ कूट कर एक प्रकार का रेशा निकाला जाता है, जो रस्से और रस्सियाँ आदि बनाने के काम में आता है। इन पत्तियों में एक प्रकार का तेजाबी रस होता है जिसके हाथ में लगने से छाले पड़ जाते हैं; इसलिये पत्तियाँ कूटने के समय कहीं कहीं हाथों में एक प्रकार के दस्ताने पहन लेते हैं। इसकी जड़ और पत्तियों का ओषधि के रूप में भी व्यवहार होता है। रेल की सड़कों के किनारे यह अकसर लगाया जाता है।

रामधान-संज्ञा पुं० [हि० राम + सं० धान] (१) एक प्रकार का नरसल। रामशर। वि० दे० “रामशर”। (२) दे० “रामधान”।

रामविलास-संज्ञा पुं० [हि० राम + सं० विलास] एक प्रकार का धान।

रामभक्त-वि० [सं०] रामचंद्र का उपासक।

संज्ञा पुं० हनुमान्।

रामभद्र-संज्ञा पुं० [सं०] रामचंद्र।

रामभोग-संज्ञा पुं० [सं० राम + भोग] (१) एक प्रकार का चावल। (२) एक प्रकार का आम।

राममंत्र-संज्ञा पुं० दे० “रामतारक”।

रामरक्षा-संज्ञा पुं० [सं०] रामजी का एक स्तोत्र जिसके कर्त्ता विश्वामित्र जी माने जाते हैं। कहते हैं कि इस स्तोत्र के मंत्रों से अभिमंत्रित किया हुआ व्यक्ति विशेष रूप से सुरक्षित रहता है।

रामरज-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की पीली मिट्टी जिसका वैष्णव लोग तिलक लगाते हैं। यह मध्य प्रदेश में नदियों (जैसे, चित्रकूट की मंदाकिनी) के किनारे बहुत मिलती है।

रामरतन-संज्ञा पुं० [हि० राम + सं० रत्न] चंद्रमा। (हिं०)

रामरस-संज्ञा पुं० [हि० राम + रस] (१) नमक। (२) पीसी या बनी हुई भंग। (मदरास)

रामरसडाली-संज्ञा स्त्री० [हि० राम + रस + डाली] एक प्रकार की उख जो कनारा में पैदा होती है।

रामराज्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रामचंद्रजी का शासन जो प्रजा के लिये अत्यंत सुखदायक था। (२) वह शासन जिसमें रामचंद्र के शासन काल का सा सुख हो। अत्यंत सुखदायक शासन। (३) मैसूर देश।

राम राम-संज्ञा पुं० [हि० राम] प्रणाम। नमस्कार। जैसे,—उनसे हमारा राम राम कह देना।

विशेष—इस पद का प्रयोग हिंदुओं में परस्पर अभिवादन के लिये होता है।

संज्ञा स्त्री० भेंट। मुलाकात। सामना। जैसे,—कभी तो हमारी उनकी राम राम होगी।

रामल-वि० [सं०] रमल संबंधी। रमल का।

रामलवण-संज्ञा पुं० [सं०] साँभर नामक।

रामलीला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रामजी के जीवन काल के किसी कृत्य का नाट्य। राम के चरित्रों का अभिनय। (२) एक मात्रिक छंद जिसके प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ होती हैं और अंत में ‘जगण’ का होना आवश्यक होता है। उ०—अजर अमर अनंत जय जय चरित श्रीरघुनाथ। करत सुर नर सिद्ध अचरज श्रवण सुनि सुनि गाथ। काय मन वच नेम जानत शिला सम पर नारि। शिला से पुनि परम सुंदरि करत नेक निहारि।—केशव।

रामवल्लभी-संज्ञा पुं० [सं०] वैष्णवों का एक संप्रदाय जिसके अनुयायी बंगाल के कुछ जिलों में पाए जाते हैं।

रामचाण-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का रस जो पारे, गंधक, सींगिया आदि के योग से बनता है और जो अजीर्ण के लिये बहुत उपयोगी माना जाता है।

वि० जो तुरंत उपयोगी सिद्ध हो। तुरंत प्रभाव दिखाने-वाला। (औषध)

रामर्चणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की धीणा।

रामशर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का नरसल या सरकंडा जो उख के खेतों में आप ही आप उगता है और उख ही के आकार प्रकार और रूप-रंग का होता है। अंतर केवल इतना ही होता है कि इसमें कुछ भी रस नहीं होता। उ०—तुलसी तुम जो कहत ते संगत ही गुन होत। माँझ उखारी रामसर रस काहे नहि होत।

रामशिला-संज्ञा स्त्री० [सं०] गया की एक पहाड़ी जिसे लोग तीर्थ मानते हैं।

रामश्री-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का राग जिसे कुछ लोग हिंडोल राग का पुत्र मानते हैं।

रामसंडा-संज्ञा पुं० [सं० रामशर] एक प्रकार की घास जिससे रस्सी या बांध बनाते हैं। काँस।

रामसखा-संज्ञा पुं० [सं०] सुग्रीव।

रामसनेही-संज्ञा पुं० [हि० राम + स्नेह] वैष्णवों का एक संप्रदाय जो राजपूताने के शाहपुरा राज्य में प्रचलित है। इस मत का प्रवर्तक ‘रामचरण’ नामक एक साधु था। इस मत में जोर जोर से “राम राम” पुकारना ही मुख्य कृत्य माना जाता है।

वि० राम से स्नेह रखनेवाला। रामभक्त।

रामसर-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन तीर्थ का नाम।

रामसीता-संज्ञा पुं० [हि० राम + सीता] शरीफा। सीताफल।

रामसुंदर-संज्ञा स्त्री० [हि० राम + सुंदर] एक प्रकार की नाव ।
उ०—निवाड़े, भौलिये, बजरे, चलके, मोरपंखी, सोनामुखी, श्यामसुंदर, रामसुंदर और जितने ढब की नावें थीं, सुथरे रूप से सजी सजाई कसी कसाई सौ सौ लचके खाती आती जाती लहराती पड़ी फिरती थीं।—इंशाअल्लाह।

रामसेतु-संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण भारत की अंतिम सीमा पर रामेश्वर तीर्थ के पास समुद्र में पड़ी हुई चट्टानों का समूह जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि यह वही पुल है जिसे राम ने लंका की चढ़ाई के समय बँधवाया था ।

रामा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुंदर स्त्री । (२) गान कला में प्रवीण स्त्री । (३) कार्तिक वदी ११ की तिथि । (४) हाँग । (५) ईगुर । शिंगरफ । (६) नदी । (७) सफ़ेद भटकटैया । (८) धीकुरार । (९) शीतला । (१०) अशोक । (११) गोरोचन । (१२) सुगंधवाला । (१३) गेरू । (१४) त्राय-माणा लता । (१५) तमालपत्र । (१६) लक्ष्मी । (१७) सीता । (१८) रुक्मिणी । (१९) राधा । (२०) इंद्रवज्रा और उपेंद्रवज्रा के मेल से बना हुआ एक उपजाति वृक्ष जिसके प्रथम दो चरण इंद्रवज्रा के और अंतिम दो चरण उपेंद्रवज्रा के होते हैं । उ०—रामे भजौ मित सुप्रेमधारी । देहें जु तेरे सब दुःख टारी । सुनेम याही जब सत्य धारो । सुधाम अंतै हरिके सिधारो ।—जगन्नाथप्रसाद । (२१) आर्य छंद का १७वाँ भेद जिसमें ११ गुरु और ३५ लघु वर्ण होते हैं । (२२) आठ अक्षरों का एक वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में तगण, यगण और दो लघु वर्ण होते हैं । उ०—कामा तजु काना तजु । रामा भजु रामा भजु ।—जगन्नाथप्रसाद ।

रामातुलसी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह तुलसी जिसके डंठल का रंग सफ़ेदी लिये हरा होता है, काला नहीं होता ।

विशेष—तुलसी दो प्रकार की होती है—रामा और कृष्णा ।

रामानंद-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य जिनका चलाया हुआ रामावत नामक संप्रदाय अब तक प्रचलित है ।

विशेष—रामानंद जी का जन्म सं० १३५६ ई० में प्रयाग में पुण्यसदन या भूरिकर्मा नामक एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण के घर में हुआ था । पहले इनका नाम रामदत्त था । बाल्यावस्था में इनकी बुद्धि बहुत तीव्र थी । कहते हैं कि बारह वर्ष की अवस्था में ही ये सब शास्त्र पढ़कर पूर्ण पंडित हो गए थे और दर्शन-शास्त्र का विशेष रूप से अध्ययन करने के लिये काशी चले आए थे । पहले ये एक स्नातक अध्यापक से पढ़ने लगे । एक दिन रामानुज की शिष्य-परंपरा के राघवानंद से इनकी भेंट हुई, जिन्होंने इन्हें देखकर कहा कि तुम्हारी आयु बहुत थोड़ी है और तुम अभी तक हरि की शरण में नहीं आये हो । इस पर ये राघवानंद से

मंत्र लेकर उनके शिष्य हो गए और उनसे योग सीखने लगे । उसी समय इनका नाम रामानंद रखा गया । इनके समय में प्रायः सारे भारत में मुसलमानों के अनेक प्रकार के अत्याचार हुए थे, जिन्हें देखकर इन्होंने जाति पाँति का बंधन कुछ ढीला करना चाहा, और सब को राम नाम के महामंत्र का उपदेश देकर अपने “रामावत” संप्रदाय में सम्मिलित करना आरंभ किया । रामानुज के श्रीवैष्णव संप्रदाय की संकुचित सीमा तोड़कर इन्होंने उसे अधिक विस्तृत तथा उदार बनाया था । इनका शरीरांत सं० १४६७ में हुआ था । इनके मुख्य शिष्यों में पीपा, कबीर, सेना, धना, रैदास आदि हैं ।

रामानंदी-वि० [हि० रामानंद + ई (प्रत्य०)] (१) रामानंद संबंधी । (२) रामानंद के संप्रदाय का अनुयायी ।

रामानुज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रामचंद्र के छोटे भाई लक्ष्मण । (२) वैष्णव मत के एक प्रसिद्ध आचार्य और श्रीवैष्णव संप्रदाय के प्रवर्तक ।

विशेष—कहते हैं कि रामानुज का जन्म सं० १०५३ में हुआ था । बाल्यवस्था में ये कांचीपुर (कांजीवरम्) में रहते थे । पहले ये वैष्णव यासुन मुनि के अनुयायी हुए और फिर उनकी गद्दी भी इन्हीं को मिली और ये श्रीरंगमू में रहने लगे । पर वहाँ के राजा शंकराचार्य के अद्वैत मत के अनुयायी थे । अतः उनसे अनबन हो जाने के कारण ये मैसूर चले गए । वहाँ के जैन राजा विष्णुवर्धन को इन्होंने वैष्णव बना लिया था । उसी राज्य में सं० ११९४ में १२ वर्ष की अवस्था में इनका देहांत हुआ था । इन्होंने वेदांतसार, वेदांतदीप तथा वेदार्थसंग्रह ये तीन ग्रंथ बनाए थे और ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता पर भाष्य किए थे । इनके दार्शनिक सिद्धांतों के आधार उपनिषद् हैं । वेदांत में इनका सिद्धांत विशिष्टाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है ।

रामाप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] दारचीनी ।

रामायण-संज्ञा पुं० [सं०] वह ग्रंथ जिसमें रामचरित वर्णित हो । रामचंद्र के चरित्र से संबंध रखनेवाला ग्रंथ ।

विशेष—संस्कृत में रामायण नाम के बहुत से ग्रंथ हैं, जिनमें से वाल्मीकि कृत रामायण सब से प्राचीन और अधिक प्रसिद्ध है । यह आदि काव्य है और इसके रचयिता वाल्मीकि आदि कवि हैं । वाल्मीकि ऋषि रामचंद्र के समकालीन थे; अतः उनका ग्रंथ रामायण सब से अधिक ग्रामाणिक माना जाता है । इसमें सात कांड हैं जिनमें से प्रत्येक कांड अनेक सर्गों में विभक्त है । साधारणतः भारत में तीन प्रकार के वाल्मीकीय रामायण पाए जाते हैं—औदीच्य, दाक्षिणात्य और गौडीय । इन तीनों रामायणों के सर्गों की संख्या और पाठ आदि में बहुत कुछ अंतर है । इतने प्राचीन काव्य की

भिन्न भिन्न प्रतियों में इतना अधिक अंतर होना स्वाभाविक भी है। बहुत कुछ इसी रामायण के आधार पर और स्थान स्थान पर अन्यत्र रामायणों की सहायता लेकर गोस्वामी तुलसीदास जी ने “रामचरितमानस” नामक जो प्रसिद्ध भाषा काव्य लिखा है, उसका बोध भी इस “रामायण” शब्द से होता है। वाल्मीकि कृत रामायण के अतिरिक्त अध्यात्मरामायण, अग्निवेश रामायण आदि जो कई रामायण हैं, वे सांप्रदायिक हैं।

रामायणी-वि० [सं० रामायणीय] रामायण संबंधी। रामायण का। संज्ञा पुं० [सं० रामायण + ई (प्रत्य०)] (१) वह जो रामायण का विशेष रूप से जानकार और पंडित हो। (२) वह जो रामायण की कथा कहता हो।

रामायन-संज्ञा पुं० दे० “रामायण”।

रामायुध-संज्ञा पुं० [सं०] धनुष।

रामावत-संज्ञा पुं० [सं०] वैष्णव आचार्य रामानंद का चलाया हुआ एक प्रसिद्ध संप्रदाय जिसके अनुसार मनुष्य ईश्वर की भक्ति करके सांसारिक संकटों तथा आवागमन से बच सकता है। यह भक्ति राम की उपासना से प्राप्त हो सकती है और इस उपासना के अधिकारी मनुष्य मात्र हैं। जाति पाँति का भेद इसमें किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित नहीं कर सकता।

रामिल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रमण। (२) कामदेव। (३) स्वामी। पति। (४) वह जिससे प्रेम किया जाय। प्रेमपात्र।

रामी-संज्ञा स्त्री० [सं० रामा] काँस नामक घास।

रामेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण भारत में समुद्र के तट पर स्थापित एक शिवलिंग जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि इसे रामचंद्र जी ने लंका का पुल बाँधने के समय स्थापित किया था। यह भारत के चार मुख्य और सब से बड़े तीर्थों में से एक तीर्थ है।

रामेषु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रामशर। (२) एक प्रकार की ईंख।

रामोद्-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

रामोपनिषद्-संज्ञा स्त्री० [सं०] अथर्ववेद के अंतर्गत एक उपनिषद् का नाम।

राम्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] रात्रि। रात।

राय-संज्ञा पुं० [सं० राजा, प्रा० राया] (१) राजा। (२) छोटा राजा या सरदार। सामंत। उ०—सब राजा रायन के बारी। बरन बरन पहिरे सब सारी।—जायसी। (३) सम्मान की एक उपाधि।

यौ०—राय बहादुर। राय साहब।

विशेष—किसी किसी शब्द के पहले लगकर यह श्रेष्ठता या बड़ाई भी सूचित करता है, जैसे,—राय करौंदा, राय मुनिया। (४) भाट। बंदाजन। (५) गंधर्वों की उपाधि। (६) दे०

“रायबेल”। उ०—पीपल रुना फूल बिन फल बिन रुनी राय। एकाएकी मानुषा टप्पा दीया आय।—कबीर।

संज्ञा स्त्री० [फा०] सम्मति। अनुमति। मत। सलाह।

क्रि० प्र०—देना।—लेना।—ठहराना।

मुहा०—राय कायम करना = किसी विषय में मत निश्चित करना। सम्मति स्थिर करना। निर्णय करना।

रायकरौंदा-संज्ञा पुं० [हि० राय = बड़ा + करौंदा] बड़ा करौंदा जिसके फल छोटे बेर के बराबर, सफ़ेद और गुलाबी रंग मिले बहुत सुंदर होते हैं।

रायकवाल-संज्ञा पुं० [देश०] वैश्यों की एत जाति।

रायज-वि० [अ०] जिसका रवाज हो। जो व्यवहार में आ रहा हो। प्रचलित। चलनसार।

रायता-संज्ञा पुं० [सं० राजिकात] दही या मठे में उवाला हुआ साग, कुम्हड़ा, लौआ या बुँदिया आदि जिसमें नमक, मिर्च, जीरा आदि मसाले पड़े रहते हैं। उ०—पानौरा रायता पकौरी। डभकौरी मुँगछी सुठि सौरी।—सूर।

राय बहादुर-संज्ञा पुं० [हि० राय + फा० बहादुर] एक प्रकार की उपाधि जो भारत की अँगरेजी सरकार की ओर से रईसों, जमींदारों तथा सरकारी कर्मचारियों आदि को दी जाती है।

रायबेल-संज्ञा स्त्री० [हि० राय + बेल] एक प्रकार की लता जिसमें बहुत ही सुंदर और सुगंधित दोहरे फूल लगते हैं।

रायभोग-संज्ञा पुं० [सं० राजभोग] (१) एक प्रकार का धान। राजभोग। उ०—रायभोग औ काजर रानी। झिनवा रुद औ दाउदखानी।—जायसी।

रायमुनी-संज्ञा स्त्री० [हि० राय + मुनिया] लाल नामक पक्षी की मादा। सदिया। रायमुनिया।

रायरायान-संज्ञा पुं० [हि० राय + राय + फा० आन (प्रत्य०)] (१) राजाओं के राजा। राजाधिराज। (२) मुगलों के समय की एक उपाधि जो प्रायः रईसों, जमींदारों और राजकर्मचारियों आदि को दी जाती थी।

रायरासि-संज्ञा स्त्री० [सं० राजराशि] राजा का कोप। शाही खज़ाना। उ०—भई मुदित सब ग्राम बधूटी। रंकन्ह रायरासि जनु लटी।—तुलसी।

रायल-वि० [अं०] (१) राजकीय। शाही। (२) छापने की कलों तथा कागज की एक नाप जो २० इंच चौड़ी और २६ इंच लंबी होती है।

रायसा-संज्ञा पुं० [सं० रहस्य] वह काव्य जिसमें किसी राजा का जीवन चरित्र वर्णित हो। रासो। जैसे,—पृथ्वीराज रायसा।

राय साहब-संज्ञा पुं० [राय + फा० साहब] एक प्रकार की पदवी

जो भारत की अँगरेजी सरकार की ओर से रहस्यों और राजकर्मचारियों आदि को दी जाती है।

रार-संज्ञा पुं० [सं० राटि, प्रा० राडि = लड़ाई] झगड़ा । टंटा । हुजत । तकरार । उ०—खंजन जुग मानो करत लड़ाई की बुझावत रार ।—सूर ।

क्रि० प्र०—करना ।—दानना ।—मचाना ।

संज्ञा स्त्री० दे० “राल” ।

राक्ष-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का बहुत बड़ा सदा-बहार पेड़ जो दक्षिण भारत के जंगलों में होता है। इसकी लकड़ी किसी काम की नहीं होती; पर इसका निर्यास बहुत काम का होता है, जो “राल” के नाम से बाजारों में मिलता है। यह निर्यास दो प्रकार का होता है—सफेद और काला। जब वृक्ष प्रायः दो वर्ष का होता है, तब उसके तने में जगह जगह काट देते हैं, जहाँ से चैत से अगहन तक निर्यास निकला करता है। यह निर्यास प्रायः दस वर्ष तक निकलता रहता है। इसका व्यवहार प्रायः वारिशा आदि के काम में होता है; और कुछ औषधों में भी इसका प्रयोग होता है। (२) इस वृक्ष का निर्यास। धूना। धूप।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का कंबल।

संज्ञा स्त्री० [सं० लाला] (१) वह पतला लसदार थूक जो प्रायः बच्चों और कभी कभी बुढ़ों के मुँह से आप से आप बहा करता है। दाँतों की पीड़ा आदि में कोई कोई दवा लगाने पर भी यह मुँह से निकलकर गिरने लगती है। लार।

मुहा०—राल गिरना, चुना या टपकना = किसी पदार्थ को देख-कर उसे पाने की बहुत इच्छा होना। मुँह में पानी भर आना। जैसे,—जहाँ कोई अच्छी चीज दिखाई दी कि तुम्हारे मुँह से राल टपकी।

(२) चौपायों का एक रोग जिसमें उन्हें खाँसी आती है और उनके मुँह से पतला लसदार पानी गिरता है।

राक्षी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का बाजरा जिसके दाने बहुत छोटे होते हैं। यह प्रायः संयुक्त प्रांत और बुंदेलखंड में होता है। यह फागुन चैत में बोया जाता है और बैसाख में तैयार होता है।

राव-संज्ञा पुं० [सं० राजा, प्रा० राय] (१) राजा। (२) सरदार। दरबारी। (३) भाट। बंदाजन। (४) कच्छ और राजपूताने के कुछ राजाओं की एक पदवी। (५) श्रीमंत। अमीर। धनाढ्य।

संज्ञा पुं० [सं०] ध्वनि। शब्द। गुंजार।

संज्ञा पुं० [देश०] छोटे आकार का एक पेड़ जिसकी लकड़ी कुछ ललाई लिए, चिकनी और मजबूत होती है। यह हिमालय की तराई में हजारों और शिमले से भूटान तथा

शिकम तक होता है। इसकी लकड़ी की प्रायः छड़ियाँ बनाई जाती हैं।

रावचाव-संज्ञा पुं० [हि० राव = राजा + चाव] (१) नृत्य गीत आदि का उत्सव। राग रंग। (२) प्यार। लाड। दुलार।

रावट १-संज्ञा पुं० [हि० रावल] महल। राजभवन।

रावटी-संज्ञा स्त्री० [हि० रावट] (१) कपड़े का बना हुआ एक प्रकार का छोटा घर या डेरा जिसके बीच में एक बँडेर होती है और जिसके दोनों ओर दो ढालुँ परदे होते हैं। यह बड़े खेमों के साथ प्रायः नौकरों आदि के ठहरने के लिये रखी जाती है। छोलदारी। (२) किसी चीज का बना हुआ छोटा घर। उ०—जिहि निदाव दुपहर रहै भई माह की राति। तिहि उसीर की रावटी खरी आवटी जाति।—विहारी। (३) बारहदरी।

रावण-वि० [सं०] जो दूसरों को खलाता हो। खलानेवाला।

संज्ञा पुं० लंका का प्रसिद्ध राजा जो राक्षसों का नायक था और जिसे युद्ध में भगवान् रामचंद्र ने मारा था।

विशेष—एक बार लंका में राक्षसों के साथ विष्णु का घोर युद्ध हुआ था जिसमें राक्षस लोग परास्त होकर पाताल चले गए थे। उन्हीं राक्षसों में सुमाली नामक एक राक्षस था, जिसकी कैकसी नाम की कन्या बहुत सुंदरी थी। सुमाली ने सोचा कि इसी कन्या के गर्भ से पुत्र उत्पन्न करा के विष्णु से बदला लेना चाहिए; इसलिये अपनी कन्या को पुलस्त्य के लड़के विश्रवा के पास संतान उत्पन्न कराने को भेजा। विश्रवा के वीर्य से कैकसी के गर्भ से पहला पुत्र यही रावण हुआ जिसके दस सिर थे। इसका रूप बहुत ही विकराल और स्वभाव बहुत ही क्रूर था। इसके उपरांत कैकसी के गर्भ से कुंभकर्ण और विभीषण नाम के दो और पुत्र तथा शूर्पणखा नाम की एक कन्या हुई। एक दिन अपने वैमात्रेय कुबेर को देखकर रावण ने प्रतिज्ञा की कि मैं भी इसी के समान संपन्न और तेजवान् बनूँगा। तदनुसार वह अपने भाइयों को साथ लेकर घोर तपस्या करने लगा। दस हजार वर्ष तक तपस्या करने के उपरांत भी मनोरथ सिद्ध होता न देखकर इसने अपने दसों सिर काटकर अग्नि में डाल दिए। तब ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर इसे वर दिया कि दैत्य, दानव, यक्ष आदि में से कोई तुम्हें मार न सकेगा। तब सुमाली ने रावण से कहा कि अब तुम लंका पर अधिकार करो। उस समय लंका पर कुबेर का अधिकार था। रावण का बहुत ज़ोर देखकर विश्रवा की आज्ञा से कुबेर तो लंका छोड़कर कैलास चले गए और रावण ने लंका पर अधिकार कर लिया और मय दानव की कन्या भद्रोदरी से विवाह कर लिया। इसी भद्रोदरी के गर्भ से मेघनाद का जन्म हुआ। ब्रह्मा के वर के प्रभाव से रावण ने तीनों लोक

जीत लिए और इंद्र, कुबेर, यम आदि को परास्त कर दिया। अब इसका अत्याचार बहुत बढ़ गया। यह सब को बहुत सताने लगा और लोगों की कन्याओं तथा पत्नियों को हरण करने लगा। एक बार सहस्रार्जुन ने इसे युद्ध में परास्त करके क्रोध कर लिया था; पर पुलस्त्य के कहने पर छोड़ दिया। बाली से भी यह एक बार बुरी तरह परास्त हुआ था। जिस समय भगवान् रामचन्द्र अपने साथ लक्ष्मण और सीता को लेकर दंडकारण्य में वनवास का समय बिता रहे थे, उस समय यह सीता को एकांत में पाकर छल से उठा लाया था। तब रामचन्द्र ने समुद्र पर सेतु बाँधकर लंका पर चढ़ाई की और इसके साथ जोर युद्ध करके अंत में इसे मार डाला और इसके अत्याचार से पृथ्वी की रक्षा की।

पर्या०—पौलस्त्य। दशकंधर। दशानन। राक्षसेन्द्र।

रावणगंगा—संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार सिंहल द्वीप की एक नदी का नाम।

रावणारि—संज्ञा पुं० [सं०] रावण को मारनेवाले, रामचन्द्र।

रावणि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) रावण का पुत्र। (२) मेघनाद।

रावत—संज्ञा पुं० [सं० राजपुत्र, प्रा० राय + उत्] (१) छोटा राजा।

(२) शूर। वीर। बहादुर। (३) सेनापति। बड़ा योद्धा।

(४) सामंत। सरदार।

रावन—संज्ञा पुं० दे० “रावण”।

रावनगढ़—संज्ञा पुं० [हि० रावण + गढ़] लंका।

रावना—क्रि० सं० [सं० रावण = रलाना] दूसरे को रोने में प्रवृत्त करना। रलाना। उ०—इहाँ भँवर मुख बात हिलावसि।

उहाँ सुरुज कहँ हँसि हँसि रावसि।—जायसी।

राव बहादुर—संज्ञा पुं० [हि० राव + प्रा० बहादुर] एक प्रकार की उपाधि जो भारत की अँगरेजी सरकार प्रायः दक्षिण भारत के रईसों आदि को देती है।

रावर—संज्ञा पुं० [सं० राजपुर + प्रा० राय + उर] रनिवास। राज-सहल। अंतःपुर। उ०—(क) रावर में नृप बोलि लिये गुनि। उड़ किये परदा तट लै सुनि।—केशव। (ख) रावण जैहै गूढ़ थल, रावर लुटै विशाल। मंदोदरी कडोरिबो, अरु रावण को काल।—केशव।

वि० [हि० राउ + कर (विभक्ति)] [स्त्री० राउरी] आपका। भवदीय। उ०—(क) दृष्ट्यो सो न जुरैगो सरासन महेस जू को रावरी पिनाक में सरीकता कहा रही।—तुलसी।

(ख) जो राउर अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उड़ावौं।—तुलसी।

रावरखा—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बहुत बड़ा और ऊँचा पेड़ जो हिमालय में १३००० फुट की ऊँचाई तक होता है। इसकी छाल बहुत सफेद और चमकीली होती है। इसकी लकड़ियों से पहाड़ी मकानों की छतें और छाल से

झोपड़ियाँ छाई जाती हैं। इसकी पत्तियाँ प्रायः चारे के काम में आती हैं। तुल्ल।

रावरा—सर्व० दे० “रावर”।

रावल—संज्ञा पुं० [सं० राजपुर, हि० राउर] अंतःपुर। राजमहल।

रनिवास। उ०—भये बिन भोर बधू शोर करि रोइ उठी भोइ गई रावल में सुनी साधु भाषिये।—प्रियादास।

संज्ञा पुं० [पा० राजुल] [स्त्री० रावलि, रावली] (१) राजा।

उ०—चेतत रावल पावन खंडा सहजहि मूलै बाँधे।

ध्यान धनुष धारि जान दान बन योग सार सर साधे।

—कबीर। (२) राजपूताने के कुछ राजाओं की उपाधि।

(३) प्रधान। सरदार। (४) एक प्रकार का आदरसूचक संबोधन। उ०—(क) रावल जी, डेवदी के भीतर न जाना।—हरिश्चंद्र। (ख) ‘रावल कहा है’ ? ‘किन कहत

हौ कातें’ ? ‘अरी, रोष तज’ ‘रोष के कियो मैं का अचाहे की’ ?—पद्माकर। (५) श्रीवदरीनारायण के प्रधान पंडे की उपाधि। (६) मथुरा के पास के एक गाँव का नाम। कहते

हैं कि यहीं राधिका का जन्म हुआ था।

राव साहब—संज्ञा पुं० [हि० राव + प्रा० साहब] एक प्रकार की उपाधि जो भारत तथा अँगरेजी सरकार की ओर से दक्षिण

भारत के रईसों आदि को दी जाती है।

राखी—संज्ञा स्त्री० [सं० येरावती] पंजाब की पाँच नदियों में से एक प्रसिद्ध नदी जो हिमालय से निकलकर प्रायः दो सौ

कोस बहती हुई मुलतान से बीस कोस ऊपर चनाब में

में मिलती है।

राशि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक ही तरह की बहुत सी चीजों का समूह। ढेर। पुंज। जैसे,—अन्न की राशि।

क्रि० प्र०—लगाना।—लगाना।

(२) किसी का उत्तराधिकार। जा-नशीनी।

मुहा०—राशि बैठना = गोद बैठना। दत्तक पुत्र होना।

(३) क्रांतिवृत्त में पड़नेवाले विशिष्ट तारा समूह जिनकी संख्या बारह है और जिनके नाम इस प्रकार हैं—मेघ,

वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन मकर, कुंभ और मीन।

विशेष—आकाश में पृथ्वी जिस मार्ग से होकर सूर्य की परिक्रमा करती है, वह क्रांतिवृत्त कहलाता है। परंतु पृथ्वी

पर से देखने पर साधारणतः यही जान पड़ता है कि सूर्य ही उस क्रांतिवृत्त पर होकर चलता और पृथ्वी की परिक्रमा करता है। इस क्रांतिवृत्त पर दोनों ओर प्रायः ८० अंश तक

अनेक तारा-समूह फैले हुए हैं। इनमें से प्रत्येक तारा-समूह में से होकर गुजरने में सूर्य को प्रायः एक मास लगता है;

इसो विचार से समस्त क्रांतिवृत्त बराबर बराबर बारह भागों में बाँट दिया गया है, जिन्हें राशि कहते हैं। प्रत्येक

तारा-समूह की आकृति के अनुसार ही उसका नाम भी रख लिया गया है और उसमें के तारे भी गिन लिए गए हैं। जैसे,—मेष कहलानेवाली राशि का आकार भी मेष या भेड़ के समान है और उसमें ६६ तारे हैं। इसी प्रकार १४१ तारों के एक समूह का आकर वृष या बैल का सा है; और इसी लिये उसे वृष कहते हैं। फलित ज्योतिष में भिन्न भिन्न राशियों के भिन्न भिन्न स्वरूप, वर्ण, स्वभाव, गुण, कार्य, अधिपति देवता आदि दिए गए हैं और उनमें से प्रत्येक में जन्म लेने का अलग अलग फल कहा गया है। विद्वानों का अनुमान है कि राशि-विभाग भारतीय आर्यों के प्राचीन ज्योतिष में नहीं था, केवल नक्षत्र-विभाग था। राशि-विभाग बाबुलवालों से लिया गया है। वैदिक साहित्य में राशियों के नाम नहीं हैं, केवल नक्षत्रों के नाम हैं। वि० दे० “नक्षत्र”।

मुहा०—राशि आना = अनुकूल होना। मुआफिक होना। राशि मिलना = (१) दो व्यक्तियों का एक ही राशि में जन्म होना। (२) मेल मिलना। पट्टी बैठना।

राशिचक्र—संज्ञा पुं० [सं०] मेष, वृष, मिथुन आदि राशियों का चक्र या मंडल। ग्रहों के चलने का मार्ग या वृत्त। भचक्र। वि० दे० “राशि”।

राशिनाम—संज्ञा पुं० [सं० राशिनामन्] फलित ज्योतिष के अनुसार किसी व्यक्ति का वह नाम जो उसके जन्म समय की राशि के अनुसार होता है। यह व्यक्ति के उस नाम से भिन्न होता है, जिससे वह लोक में प्रसिद्ध होता है। (लोग प्रायः अपना राशिनाम नहीं लेते। इस नाम का व्यवहार धर्मकार्यों और ज्योतिष संबंधी गणनाओं ही में होता है।)

राशिप—संज्ञा पुं० [सं०] किसी राशि का स्वामी या अधिपति देवता।

राशिभाग—संज्ञा पुं० [सं०] किसी राशि का भाग या अंश। भग्नांश। (ज्योतिष)

राशिभोग—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी ग्रह का किसी राशि में कुछ समय तक रहना। (२) उतना समय जितना किसी ग्रह को किसी राशि में रहने में लगता है। वि० दे० “राशि”।

राशी—संज्ञा स्त्री० दे० “राशि”।

वि० [अ०] रिशवत खानेवाला। घूसखोर।

राष्ट्र—संज्ञा पुं० [?] फारसी संगीत में १२ मुकामों में से एक।

राष्ट्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) राज्य। (२) देश। मुल्क। (३) प्रजा। (४) पुराणानुसार पुरुरवा के वंशज काशी के पुत्र का नाम। (५) वह बाबा जो संपूर्ण देश में उपस्थित हो। ईति।

राष्ट्रक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) राज्य। (२) देश।

२४३

वि० राष्ट्र संबंधी। राष्ट्र का।

राष्ट्रकर्षण—संज्ञा पुं० [सं०] राजा या शासक का प्रजा पर अत्याचार करना।

राष्ट्रकूट—संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण भारत का एक प्रसिद्ध क्षत्रिय राजवंश जो आजकल राठौर नाम से प्रसिद्ध है। वि० दे० “राठौर”।

राष्ट्रगोप—संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा। (२) राजा का प्रतिनिधि कोई बड़ा शासक।

वि० राज्य की रक्षा करनेवाला।

राष्ट्रतंत्र—संज्ञा पुं० [सं०] राज्य का शासन करने की प्रणाली।

राष्ट्रपति—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी राष्ट्र का स्वामी। (२) आधुनिक प्रजातंत्र शासनप्रणाली में वह सर्वप्रधान शासक जो बहुमत से, राजा के समान शासन का सब काम करने के लिये, चुना जाता है।

राष्ट्रपाल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा। (२) कंस के आठ भाइयों में से एक भाई का नाम।

राष्ट्रभृत्—संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा। (२) शासक। (३) राजा भरत के एक पुत्र का नाम। (४) प्रजा। रिआया।

राष्ट्रभृत्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो राज्य की रक्षा या शासन करता हो। (२) प्रजा।

राष्ट्रभेद—संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन राजनीति के अनुसार वह उपाय जिसके द्वारा किसी शत्रु राजा के राज्य में उपद्रव या विद्रोह खड़ा किया जाता है।

राष्ट्रवर्धन—संज्ञा पुं० [सं०] राजा दशरथ और रामचंद्र के एक मंत्री का नाम।

राष्ट्रवासी—संज्ञा पुं० [सं० राष्ट्रवासिन्] [स्त्री० राष्ट्रवासिनी] (१) राष्ट्र में रहनेवाला। (२) परदेसी। विदेशी।

राष्ट्रविप्लव—संज्ञा पुं० [सं०] राज्य में होनेवाला विप्लव। विद्रोह। बलवा।

राष्ट्रांतपालक—संज्ञा पुं० [सं०] राज्य की सीमा की रखवाली करनेवाला।

राष्ट्रक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा। (२) प्रजा।

वि० राष्ट्र संबंधी। राष्ट्र का।

राष्ट्रिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] कंटकारि। भटकटैया।

राष्ट्रिय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) राष्ट्र का स्वामी, राजा। (२) प्राचीन संस्कृत नाटकों की भाषा में राजा का साला।

राष्ट्री—संज्ञा पुं० [सं० राष्ट्रीन्] (१) राज्य का अधिकारी, राजा। (२) प्रधान शासक।

संज्ञा स्त्री० [सं०] रानी। राजपत्नी।

राष्ट्रीय—संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन नाटकों की भाषा में, राजा का साला।

वि० राष्ट्र संबंधी। राष्ट्र का। विशेषतः अपने राष्ट्र या देश से

संबंध रखनेवाला। जैसे,— (क) यह ग्रंथ राष्ट्रीय भावों से पूर्ण है। (ख) आपको अपना राष्ट्रीय वेश धारण करना चाहिए।

रास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोलाहल। शोरगुल। हल्ला। (२) संज्ञा स्त्री० गोपों की प्राचीन काल की एक क्रीड़ा जिसमें वे सब वेरा बाँधकर नाचते थे।

विशेष—कहते हैं कि इस क्रीड़ा का आरंभ भगवान् श्रीकृष्ण ने एक बार कार्तिकी पूर्णिमा को आधी रात के समय किया था। तब से गोप लोग यह क्रीड़ा करने लगे थे। पीछे से इस क्रीड़ा के साथ कई प्रकार के पूजन आदि मिल गए और यह मोक्षप्रद मानी जाने लगी। इस अर्थ में यह शब्द प्रायः खीलिंग बोला जाता है।

यौ०—रासमंडल।

(३) एक प्रकार का नाटक जिसमें श्रीकृष्ण की इस क्रीड़ा तथा दूसरी क्रीड़ाओं या लीलाओं का अभिनय होता है।

यौ०—रासधारी।

(४) एक प्रकार का चलता गाना। (५) शृंगार। जंजीर। (६) विलास। (७) लास्य नामक नृत्य। (८) नाचनेवालों का समाज।

संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) घोड़े की लगाम। बागडोर।

मुहा०—रास कड़ी करना = घोड़े की लगाम अपनी ओर खींचे रहना। राम में लाना = अधिकार में लाना। वशीभूत करना। **संज्ञा स्त्री०** [सं० राशि] (१) ढेर। समूह। (२) ज्योतिष की राशि। वि० दे० “राशि”। (३) एक छंद का नाम जिसके प्रत्येक चरण में ८ + ८ + ६ के विराम से २२ मात्राएँ और अंत में सगण होता है। (४) जोड़। (५) चौपायों का झुंड। (६) एक प्रकार का धान जो अगहन में तैयार होता है। इसका चावल सैकड़ों वर्षों तक रखा जा सकता है। (७) गोद। दत्तक।

मुहा०—रास बैठाना या लेना = गोद बैठाना। दत्तक लेना। (८) सूद। व्याज।

रासक-संज्ञा पुं० [सं०] नाटक का एक भेद जो केवल एक अंक का होता है और जिसमें केवल पाँच नट या अभिनय करनेवाले होते हैं। यह हास्य रस का होता है, और इसमें सूत्रधार नहीं होता। इसमें नायिका चतुर तथा नायक मूर्ख होता है।

रासचक्र-संज्ञा पुं० दे० “राशिचक्र”।

रासताल-संज्ञा पुं० [सं०] १३ मात्राओं का एक ताल जिसमें ८ आघात और ५ खाली होते हैं। इसके मृदंग के बोल + यह हैं—कता कता केट तागू धा केटे खगू गदि घेने नागे + देत तेरे केटे कड़ानू धा।

रासधारी-संज्ञा पुं० [सं० रासधारिन्] वह व्यक्ति या समाज जो श्रीकृष्ण की रासक्रीड़ा अथवा अन्य लीलाओं का अभिनय करता है। (ये लोग एक प्रकार के व्यवसायी होते हैं जो घूम घूमकर इस प्रकार के अभिनय करते हैं। इनके नाटक में गीत, वाद्य, नृत्य और अभिनय आदि सभी होते हैं।)

रासन-वि० [सं०] स्वादिष्ट। जायकेदार।

संज्ञा पुं० स्वाद लेना। चखना।

रासनशीन-वि० [सं० राशि + फा० नशीन] गोद बैठाया हुआ। दत्तक। सुतबन्ना।

रासना-संज्ञा पुं० [सं०] रास्ना नाम की रत्ता जिसका व्यवहार ओषधि के रूप में होता है। वि० दे० “रास्ना”।

रासनृत्य-संज्ञा पुं० [सं०] गति के अनुसार नृत्य का एक भेद। **रासपूर्णिमा-संज्ञा** स्त्री० [सं०] मार्गशीर्ष की पूर्णिमा जिस दिन श्रीकृष्ण ने रास क्रीड़ा आरंभ की थी।

रासभ-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० रासभी] (१) गर्दभ। गधा। गद्दा। खर। उ०—(क) बिपत्ति मोरि को प्रभुहि सुनावा। पुरोडास चह रासभ खावा।—तुलसी। (ख) गैवर भेटि चढ़ावत रासभ प्रभुता भेटि करत हिनती।—सूर। (२) अश्वतर। खच्चर। (३) एक दैत्य जिसे ब्रज के ताल बन में बलदेव जी ने मारा था। यह गर्दभ के रूप में ही रहा करता था।

रासभूमि-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ रासक्रीड़ा होती हो। रास करने का स्थान।

रासमंडल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्रीकृष्ण के रास क्रीड़ा करने का स्थान। (२) रास क्रीड़ा करनेवालों का समूह या मंडली। रास करनेवालों का वृत्ताकार समूह। उ०—रासमंडल बने दयाम दयामा। नारि दुहुँ पास गिरिधर बने दुहुनि बिच सहस शशि बीस द्वादश उपमा।—सूर। (३) रासधारियों का अभिनय। (४) रासधारियों का समाज।

रासमंडली-संज्ञा स्त्री० [सं०] रासधारियों का समाज या टोली।

रासयात्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुराणानुसार एक प्रकार का उत्सव जो शरत् पूर्णिमा को होता है। (२) शक्तों का एक उत्सव जो शक्ति के उद्देश्य से चैत्र की पूर्णिमा को होता है।

रासलीला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह क्रीड़ा या नृत्य जो श्रीकृष्ण ने गोपियों को साथ लेकर शरत् पूर्णिमा को आधी रात के समय किया था। (२) रासधारियों का कृष्ण-लीला संबंधी अभिनय।

रासविलास-संज्ञा पुं० [सं०] रासक्रीड़ा।

रासविहारी-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्णचंद्र।

रासायन-वि० [सं०] रासायन संबंधी । रासायन का ।

रासायनिक-वि० [सं०] (१) रासायन शास्त्र संबंधी । (२)

रासायन शास्त्र का ज्ञाता ।

रासायनिकशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ रासायन शास्त्र संबंधी परीक्षाएँ या प्रयोग होते हों ।

राशि-संज्ञा स्त्री० दे० “राशि” ।

रासी-संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) तीसरी बार खींची हुई शराब जो सब से निकृष्ट समझी जाती है । (२) सजी ।

वि० नकली या खराब । जैसे,—रासी तार ।

संज्ञा स्त्री० दे० “राशि” ।

रासुक्छी-वि० [फ्रा० रास्त] (१) सीधा । सरल (२) ठीक ।

उ०—भूले तैं कर तार के रासु न आवै रासु । यहै समुझ कै राख तूँ मन करतारैं पासु ।—रसनिधि ।

रासेरस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गोष्ठी । (२) रास क्रीड़ा । (३) शृंगार । (४) उत्सव । (५) हँसी मजाक । ठट्ठा । खुहल ।

रासेश्वरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] राधा ।

रासो-संज्ञा पुं० [सं० रहस्य] किसी राजा का पद्यमय जीवनचरित्र, विशेषतः वह जीवन-चरित्र जिसमें उसके युद्धों और वीरता आदि का वर्णन हो । जैसे,—दृष्टवीराज रासो, खुमान रासो, हम्मीर रासो ।

रास्त-वि० [फ्रा०] (१) सीधा । सरल । (२) सही । दुरुस्त । ठीक । (३) उचित । वाजिब । (४) अनुकूल । सुताविक ।

रास्तगो-वि० [फ्रा०] सच बोलनेवाला । सत्यवक्ता ।

रास्तबाज़-वि० [फ्रा०] सच्चा । निष्कपट । ईमानदार ।

रास्तबाज़ी-संज्ञा स्त्री० [फ्रा०] सचाई । सत्यता । ईमानदारी ।

रास्ता-संज्ञा पुं० [फ्रा०] (१) मार्ग । राह । मग । पथ ।

मुहा०—रास्ता काटना = किसी के चलने के समय उसके सामने से होकर निकल जाना । जैसे,—बिल्ली रास्ता काट गई । रास्ता देखना = प्रतीक्षा करना । आसरा देखना । रास्ता पकड़ना = (१) मार्ग का अवलंबन करना । राह से चलना । (२) चल देना । चले जाना । रास्ता बताना = (१) चलता करना । ढालना । हटाना । (२) सिखाना । तरकीब बताना । जैसे,—वह तुम्हारे जैसों को रास्ता बतलाता है । रास्ते पर लाना = सुमार्ग पर चलाना । ठीक करना । दुरुस्त करना ।

(२) प्रथा । रीति । चाल । जैसे,—अब तो आपने यह रास्ता चला ही दिया है । (३) उपाय । तरकीब । जैसे,—इस विपत्ति से निकलने का भी तो कोई रास्ता निकालो ।

रास्ना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गंधनाहुली नामक कंद जो आसाम, लंका, जावा आदि में अधिकता से होता है । वैद्यक में यह गुरु, तिक्त, उष्ण और विष, वात, खाँसी, शोफ, कंफ, कफ आदि का नाशक और पाचक माना गया है । खोदरासन । (वैद्यक में इससे रास्नागुग्गुल, रास्नादश-

मूल, रास्नादिक्राथ, रास्नादिलौह, रास्नापंचक, रास्नासलक आदि अनेक औषध बनते हैं ।) (२) प्लापर्णी नाम की औषधि । (३) रुद्र की प्रधान पत्नी का नाम ।

रास्निका-संज्ञा स्त्री० [सं०] रास्ना ।

रास्प-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक पात्र जिसमें अन्न के समय धी रखकर दान किया जाता था ।

रास्थ-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण ।

राह-संज्ञा पुं० दे० “राहु” । उ०—आव चाँद पुनि राह गिरासा । वह बिन राह सदा परकासा ।—जायसी ।

संज्ञा स्त्री० [फ्रा०] (१) मार्ग । पथ । रास्ता ।

मुहा०—राह देखना या ताकना = प्रतीक्षा करना । आसरा देखना । राह पड़ना = (१) डाका पड़ना । लूट पड़ना । बाट पड़ना । उ०—कहै पदमाकर त्यों रोगन की राह परी दुःखने में गाह अति गाज की ।—पद्माकर । (२) रास्ते से आना । रास्ते पर जाना । राह लगना = (१) रास्ते से जाना । (२) अपना काम देखना । अपने काम से काम रखना । और मुहा० के लिये दे० “रास्ता” के मुहा० ।

(२) प्रथा । रीति । चाल । (३) नियम । कायदा । (४) कोल्हू की नाली ।

संज्ञा स्त्री० दे० “रोहू” । उ०—पाहुन ऊपर हेरे नाहीं । हना राह अर्जुन परछाहीं ।—जायसी ।

राहखर्च-संज्ञा पुं० [फ्रा० राह + खर्च] कहीं जाने आने के समय रास्ते में होनेवाला खर्च । मार्गव्यय ।

राहगीर-संज्ञा पुं० [फ्रा०] मार्ग चलनेवाला । मुसाफिर । पथिक ।

राहचलता-संज्ञा पुं० [फ्रा० राह + हि० चलता] (१) रास्ता चलनेवाला । पथिक । राहगीर । बटोही । (२) कोई साधारण या तीसरा मनुष्य जिसका प्रस्तुत विषय से कोई संबंध न हो । अनजबी । ग़ैर । जैसे,—यों राह चलते को कोई ऐसा काम सुपुर्द करता है ।

राहचौरंगी-संज्ञा पुं० [फ्रा० राह + हि० चौरंगी] चौमुहानी । चौरस्ता । उ०—सो किमि जानो जाय राह चौरंगी सोहै ।—सुधाकर द्विवेदी ।

राहज़न-संज्ञा पुं० [फ्रा०] डाकू । लुटेरा ।

राहज़नी-संज्ञा स्त्री० [फ्रा०] डकैती । लूट ।

राहड़ी-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का घटिया कम्मल ।

राहत-संज्ञा स्त्री० [अ०] आराम । सुख । चैन ।

क्रि० प्र०—देना ।—पाना ।—मिलना ।

राहदारी-संज्ञा स्त्री० [फ्रा०] (१) राह पर चरने का महसूल । सड़क का कर ।

यौ०—परवाना राहदारी = वह आज्ञापत्र जिसके अनुसार किसी भाग से होकर जाने या माल ले जाने का अधिकार प्राप्त हो ।

(२) चुंगी। महसूल।

राहना†-क्रि० सं० [हि० राह ? (राह बनाना)] (१) चक्री के पादों को खुरदुरा करके पीसने योग्य बनाना। जाँता कूटना।

(२) रेती आदि को खुरदुरा करके रेतने के योग्य बनाना।
॥ क्रि० अ० दे० “रहना”। उ०—हम सों तोसों बैर कहा, अलि, श्याम अजान ज्यों राहत।—सूर।

राहर†-संज्ञा पुं० [हि० अरहर] अरहर नामक अन्न जिसकी दाल होती है।

राहरीति-संज्ञा स्त्री० [हि० राह + सं० रीति] (१) राह रस्म। लेन देन। व्यवहार। (२) जान पहचान। परिचय।

राहा-संज्ञा पुं० [हि० राह] मिट्टी का वह चवूतरा जिस पर चक्री के नीचे का पाट जमाया रहता है।

राहिन-संज्ञा पुं० [अ०] रेहन रखनेवाला। बंधक रखनेवाला।

राही-संज्ञा पुं० [फा०] राहगीर। मुसाफिर। पथिक। यात्री।

मुहा०—राही करना = चलता करना। धता बताना। हथाना।

राही होना = चल देना। हट जाना।

राहु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार नौ ग्रहों में से एक जो विप्रचित्ति के वीर्य से सिंहिका के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। यह बहुत बलवान् था। कहते हैं कि समुद्र मथन के समय देवताओं के साथ बैठकर इसने चोरी से अमृत पी लिया था। सूर्य और चंद्र ने इसे यह चोरी करते हुए देख लिया था और विष्णु से इसका समाचार कह दिया था। विष्णु ने सुदर्शन चक्र से इसकी गरदन काट दी। पर यह अमृत पी चुका था, इससे इसका मस्तक अमर हो गया था। उसी मस्तक से यह सूर्य और चंद्र को ग्रसने लगा था; और तब से अब तक समय समय पर बराबर ग्रसता आता है जिससे दोनों को ग्रहण लगता है। यही मस्तक राहु और कबंध केतु कहलाता है। उ०—(क) राहु शशि सूर्य के बीच में बैठि कै मोहनी सों अमृत माँगि लीनो।—सूर। (ख) उबरहि अंत न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहु।—तुलसी। (ग) हरिहर जस राकेस राहु से। पर अकाज भट सहस बाहु से।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [सं० राघव] रोहू मछली। उ०—(क) राहु बेधि भूपति करौ नहिं समर्थ जग कोय।—सबल। (ख) राहु बेधि अर्जुन होइ जीत दुरपदी व्याह।—जायसी।

राहुग्रसन-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य या चंद्रमा को राहु का ग्रसना। ग्रहण। उपराग।

राहुग्रास-संज्ञा पुं० [सं०] ग्रहण। उपराग।

राहुच्छत्र-संज्ञा पुं० [सं०] अदरक। आदी।

राहुदर्शन-संज्ञा पुं० [सं०] ग्रहण। उपराग।

राहुभेदी-संज्ञा पुं० [सं० राहुभेदिन्] विष्णु।

राहुमाता-संज्ञा स्त्री० [सं०] राहु की माता, सिंहिका।

राहुरत्न-संज्ञा पुं० [सं०] गोमेद मणि जो राहु के दोष का शमन करनेवाली मानी जाती है।

राहुल-संज्ञा पुं० [सं०] गौतम बुद्ध के पुत्र का नाम।

राहुसूतक-संज्ञा पुं० [सं०] ग्रहण। उपराग।

राहुरस्पर्श-संज्ञा पुं० [सं०] ग्रहण। उपराग।

राहुच्छिष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] लहसुन।

राहेल-संज्ञा पुं० [यह०] यहूदियों की एक उपजाति का नाम।

रिंखण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फिसलना। लड़खड़ाना। (२) विचलित होना। डिगना।

रिंग-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) अँगूठी। छला। (२) किसी प्रकार की गोल बड़ी चूड़ी। (३) घेरा। मंडल।

रिंगण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रेंगना। (२) फिसलना। सरकना। (३) विचलित होना। डिगना।

रिंगन-संज्ञा स्त्री० [सं० रिंगण] घुटनों के बल चलना। रेंगना। उ०—पुनि हरि आय यशोदा के गृह रिंगन लीला करिहैं।—सूर।

रिंगनी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की उगार जो मध्य प्रदेश में होती है।

रिंगल-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पहाड़ी बाँस जो दारजिलिंग में होता है।

रिंगाना†-क्रि० सं० [सं० रिंगण] (१) रेंगने की क्रिया कराना। रेंगाना। (२) धीरे धीरे चलाना। (३) घुमाना फिराना। दौड़ाना। चलाना। (बच्चों के लिये) उ०—मैं पठवति अपने लरिका को आवइ मन बहराइ। सूर श्याम मेरो अति बालक मारत ताहि रिंगाइ।—सूर।

संयो० क्रि०—देना।

रिंगिन-संज्ञा स्त्री० [अ० रिंगिण] वह रस्सी जिससे जहाज के मस्तूल आदि बाँधे जाते हैं। (लश०)

रिंद-संज्ञा पुं० [फा०] (१) वह व्यक्ति जो धर्म के विषय में बहुत ही स्वच्छंद और उदार विचार रखता हो। धार्मिक बंधनों को न माननेवाला पुरुष। उ०—रिंदों में अगर जावैं तो मुशकिल है फिर आना।—नज़ीर। (२) मनमौजी आदमी। स्वच्छंद पुरुष।

वि० [फा०] (१) मतवाला। मस्त। उ०—(क) जिंद सरिस रन रिंद चलत हल चल फनिंद ध्रुव।—गिरधर। (ख) विंध्याचल पर बसहिं पुलिंदे। तहँ के नृप ते झगरहिं रिंदे।—गिरधर।

रिंदा†-वि० [फा० रिंद] निरंकुश। उदंड।

रिश्ना†-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का कीकर। रीअँ।

रिश्नाशत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) वह अनुग्रहपूर्ण व्यवहार जो साधारण नियमों का ध्यान छोड़कर किया जाय। कोमल और दयापूर्ण व्यवहार। नरमी। जैसे,—गरीबों के साथ

रिभायत होनी चाहिए । (२) न्यूनता । कमी ।
जैसे,—(क) दाम में कुछ रिभायत कीजिए । (ख) भव
बीमारी में कुछ रिभायत है । (३) खयाल । ध्यान ।
विचार । जैसे,—इस दवा में दुखार की भी रिभायत रखी है ।

क्रि० प्र०—करना ।—रखना ।—होना ।

रिभाया-संज्ञा स्त्री० [अ०] प्रजा ।

रिक्खु-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक भोज्य पदार्थ जो उर्द की पीठी
और अरुई के पत्तों से बनता है । अरुई के पत्तियों को
बारीक काटकर उर्द की पीठी के साथ मिला देते हैं और
फिर उसी के गुलगुले से घी या तेल में छान लेते हैं ।

रिक्शा-संज्ञा स्त्री० [अ० रिक्शा] एक प्रकार की छोटी गाड़ी
जिसे आदमी खींचते हैं और जिसमें एक या दो आदमी
बैठते हैं ।

रिक्सा-संज्ञा स्त्री० [सं० रिक्सा] लीख ।

रिकाब-संज्ञा स्त्री० दे० “रकाब” ।

रिकाबी-संज्ञा स्त्री० दे० “रकाबी” ।

रिक्त-वि० [सं०] (१) खाली । शून्य । जैसे,—रिक्त घट, रिक्त
स्थान । (२) निर्धन । गरीब ।

संज्ञा पुं० बन । जंगल ।

रिक्तकुंभ-संज्ञा पुं० [सं०] ऐसी भाषा जो समझ में न आवे ।
गड़बड़ बोली ।

रिक्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] रिक्त या खाली होने का भाव ।

रिक्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] चतुर्थी, नवमी और चतुर्दशी की
तिथियाँ ।

रिक्ता-संज्ञा पुं० [सं०] वह रिक्ता तिथि जो रविवार को पड़े ।
रविवार को होनेवाली चतुर्थी, नवमी या चतुर्दशी ।

रिक्थ-संज्ञा पुं० [सं०] उत्तराधिकार या वरासत में मिला हुआ
धन या संपत्ति ।

रिक्थहारी-संज्ञा पुं० [सं० रिक्थहारिन्] [स्त्री० रिक्थहारिणी]
(१) वह जिसे उत्तराधिकार में धन संपत्ति मिले । (२)
मामा ।

रिक्थो-संज्ञा पुं० [सं० रिक्थिन्] [स्त्री० रिक्थिनी] वह जिसे
उत्तराधिकार में धन या संपत्ति मिले ।

रिक्श-संज्ञा पुं० दे० “ऋक्ष”

रिक्शपति-संज्ञा पुं० दे० “ऋक्षपति”

रिक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लिखा । लिख । जूँ का अंडा ।
(२) त्रिसरेणु ।

रिखभ-संज्ञा पुं० दे० “ऋषभ” ।

रिखू-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की ऊख ।

रिग-संज्ञा पुं० दे० “ऋक्” ।

रिचा-संज्ञा स्त्री० दे० “ऋचा” ।

रिचीक-संज्ञा पुं० दे० “ऋचीक”

रिच्छु-संज्ञा पुं० [सं० ऋक्ष] भालू ।

रिजक-संज्ञा पुं० [अ० रिक्क] रोज़ी । जीविका । जीवनवृत्ति ।

क्रि० प्र०—देना ।—पाना ।—मिलना ।

मुहा०—रिजक मारना = किसी की जीविका में बाधा डालना । रोजी
में खलल डालना ।

रिजर्व-वि० [अ०] किसी विशेष कार्य के लिये निश्चित या
रक्षित किया हुआ । जैसे,—रिजर्व कुरसी, रिजर्व गाड़ी,
रिजर्व सेना ।

रिजाली-संज्ञा स्त्री० [फा० रजील = नीच] रज़ीलपन । निर्लज्जता ।
बेहयाई । उ०—क्रौड ग्वाली की प्रीति सम्हाली, स्याम
रसाली । सुकवि रिजाली दई बहाली भइ नभ लाली ।
—व्यास ।

रिजु-वि० दे० “ऋजु” ।

रिश्कवार-संज्ञा पुं० [हि० रिश्कना + वार (प्रत्य०)] किसी के
गुण पर प्रसन्न होनेवाला । रीझनेवाला । उ०—रिश्कवार
दग देखि कै मनमोहन की ओर । भौहन मोरत रीझ जनु
डारत है न निहोर ।—रसनिधि ।

रिश्कार-संज्ञा पुं० [हि० रिश्कना + वार (प्रत्य०)] (१) किसी
बात पर प्रसन्न होनेवाला । (२) रूप पर मोहित होनेवाला ।
उ०—(क) कपटौ जब लौं कपट नहिं साँच बिगुरदा धार ।
तब लौं कैसे मिलैगो प्रभु साँचो रिश्कार ।—रसनिधि ।
(ख) मोहि भरोसो रीझिहौ उझकि झाँकि हक वार । रूप
रिझावनहार वह ये नैना रिश्कार ।—बिहारी । (३)
अनुराग करनेवाला । प्रेमी । (४) गुण पर प्रसन्न होनेवाला ।
कदरदान । गुणग्राहक ।

रिश्माना-क्रि० सं० [सं० रंजन] (१) किसी को अपने ऊपर
प्रसन्न कर लेना । किसी को अपने ऊपर खुश करना ।
उ०—सूरदास प्रभु बिबिध भाँति करि मन रिझयो हरि पी
को ।—सूर । (२) अपना प्रेमी बनाना । अनुरक्त करना ।
मोहित करना । लुभाना ।

रिभायत्त-वि० [हि० रिश्कना + आयत्त (प्रत्य०)] किसी के
ऊपर प्रसन्न होनेवाला । रीझनेवाला । उ०—कवि नाथ
लई उर लाय पिया रति रंग तरंग रिझायल की ।—नाथ ।

रिभाव-संज्ञा पुं० [हि० रिश्कना + आव (प्रत्य०)] किसी के ऊपर
प्रसन्न होने या रीझने का भाव ।

रिभावना-संज्ञा पुं०-क्रि० सं० दे० “रिझावना” । उ०—ललित
ललित बजाय रिझावति मधुर बीन कर लीन्हें ।—सूर ।

रित-संज्ञा स्त्री० दे० “ऋतु” ।

रितवना-संज्ञा पुं०-क्रि० सं० [हि० रीता + ना (प्रत्य०)] खाली करना ।
रिक्त करना । उ०—(क) मंजु मनोरथ कलस भरहिं अरु
रितवहिं ।—तुलसी । (ख) चलिबे को घरे न करै मन नेकु
घरे फिर फेर भरै रितवै ।—देव ।

रितु-संज्ञा स्त्री० दे० “ऋतु” ।

रितुवन्ती-संज्ञा स्त्री० [सं० ऋतुमती] रजस्वला स्त्री ।

रिद्धि-संज्ञा स्त्री० दे० “ऋद्धि” ।

रिद्धि लिद्धि-संज्ञा स्त्री० दे० “ऋद्धि लिद्धि” ।

रिधम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव । (२) वसंत ।

रिन-संज्ञा पुं० दे० “ऋण” ।

रिनबंधी ऋ-संज्ञा पुं० [सं० ऋण + बंध] कर्जदार । ऋणी ।

रिनिर्झाँ ऋ-वि० [सं० ऋण] जिसने ऋण लिया हो । ऋणी ।
कर्जदार । उ०—देवे को न कछू रिनिर्झाँ हौं धनिक तू पत्र
लिखाउ ।—तुलसी ।

रिनियाँ-वि० दे० “रिनिर्झाँ” ।

रिनी-वि० [सं० ऋणिन्] जिसने ऋण लिया हो । ऋणी ।
कर्जदार ।

रिप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पृथ्वी । (२) शत्रु । (३) हिंसा ।

रिपु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शत्रु । दुश्मन । बैरी । (२) जन्म-
कुंडली में लग्न से छठा स्थान । (३) पुराणानुसार ध्रुव के
पोते और शिल्पि के पुत्र का नाम ।

रिपुघ्न-वि० [सं०] शत्रुओं का नाश करनेवाला ।

रिपुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] बैर । शत्रुता । दुश्मनी । उ०—जो
रिपुता करि हमको मान्यो । ताको हमहूँ सपदि सँहाय्यो ।
—रघुराज ।

रिपोर्ट-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) किसी घटना का वह सविस्तर
वर्णन जो किसी को सूचना देने के लिये किया जाय । (२)
किसी संस्था आदि के कार्यों का विस्तृत विवरण । (३)
किसी वस्तु या व्यक्ति के संबंध की जानने योग्य बातों का
व्योरा ।

रिप्र-संज्ञा पुं० [सं०] पातक ।

रिप्रवाह-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिससे पाप या पातक का नाश
होता हो ।

रिभु-संज्ञा पुं० दे० “ऋभु” ।

रिम-संज्ञा पुं० [सं० अरिम् या ऋपु] शत्रु । (हिं०)

संज्ञा स्त्री० दे० “रीम” ।

रिमझिम-संज्ञा स्त्री० [अनु०] छोटी छोटी बूँदों का लगातार
गिरना । हलकी फुहार पड़ना ।

क्रि० वि० वर्षा की छोटी छोटी बूँदों से । उ०—बादल घिरे
हुए हैं; बिजली चमक रही है; रिमझिम झड़ी लगी हुई है ।
—बालमुकुंद ।

रिमहर-संज्ञा पुं० [सं० अरिम् + हर] शत्रु । (हिं०)

रिमिका-संज्ञा स्त्री० [?] काली मिर्च की लता । (अनेकार्थ)

रिपासत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) राज्य । अमलदारी । (२)
रईस होने का भाव । अमीरी । वैभव । ऐश्वर्य ।

रिर ऋ-संज्ञा स्त्री० [हिं० रार] हड । जिह्वा । उ०—रस में

रिसान्यौ अनरस के खिसान्यौ देव पीछे पछितान्यौ सो
बरोवत रिर पय्यौ ।—देव ।

रिरि-संज्ञा स्त्री० [सं०] पीतल । (धातु)

रिलना ऋ-क्रि० प्र० [हिं० रेलना । मि० पं० रलना = मिलना]

(१) प्रवेश करना । पैठना । छुसना । उ०—नौरंग भरि

भाभिनी दिखावति सौ रँग हिय रिलि ।—सुकवि । (२)

हिल मिलकर एक हो जाना । मिल जाना । उ०—बेसर

मानिक लखि न परत यों रंग रह्यौ रिलि ।—सुकवि ।

रिवाज-संज्ञा पुं० [अ०] प्रथा । रस्म । रीति । चलन ।

क्रि० प्र०—उठना ।—चलना । निकलना ।—पड़ना ।—
होना ।

रिश्ता-संज्ञा पुं० [फा०] नाता । संबंध ।

रिश्तेदार-संज्ञा पुं० [फा०] संबंधी । नातेदार ।

रिश्तेदारी-संज्ञा स्त्री० [फा०] रिश्ता होने का भाव । संबंध ।
नाता ।

रिश्तेमंद-संज्ञा पुं० [फा०] संबंधी । नातेदार ।

रिश्य-संज्ञा पुं० [सं०] शृग ।

रिश्वत-संज्ञा स्त्री० [अ०] वह धन जो किसी को उसके कर्तव्य
से विमुख करके अपना लाभ करने के लिये अनुचित रूप से
दिया जाय । घूस । लाँच । उत्कोच । जैसे,—(क) उसने
दो सौ रुपए रिश्वत देकर उस मुकदमे से अपनी जान
बचाई । (ख) रुपया दो रुपया रिश्वत देकर अपना काम
निकाल लो ।

क्रि० प्र०—खाना ।—देना ।—पाना ।—मिलना ।—लेना ।

रिश्वतखोर-संज्ञा पुं० [अ० रिश्वत + फा० खोर] वह जो रिश्वत
लेता हो । घूस खानेवाला ।

रिश्वतखोरी-संज्ञा स्त्री० [अ० रिश्वत + फा० खोरी] रिश्वत खाने
का काम । घूस लेने का काम ।

रिषभ-संज्ञा पुं० दे० “ऋषभ” ।

रिषि-संज्ञा पुं० दे० “ऋषि” ।

रिषीक-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

वि० हानि पहुँचानेवाला ।

रिष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कल्याण । मंगल । (२) अमंगल ।
(३) अभाव । न होना । (४) नाश । (५) पाप । (६)
खड्ग ।

वि० नष्ट । बरबाद ।

क्रि० वि० [सं० हष्ट] (१) प्रसन्न । (२) मोटा ताज़ा ।

रिष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) खड्ग । (२) अमंगल ।

रिष्यमूक-संज्ञा पुं० [सं० ऋष्यमूक] दक्षिण का एक पर्वत जहाँ
राम जी से सुग्रीव की मित्रता हुई थी । उ०—रिष्यमूक
पर्वत नियराई ।—तुलसी ।

रिस-संज्ञा स्त्री० [सं० र्व] क्रोध । गुस्सा । कोप । नाराजगी ।
उ०—(क) सुनि सु दान राजें रिस मानी ।—जायसी ।
(ख) महाप्रभु कृपाकरन रघुनंदन रिस न गहैं पल आयु ।
सूर । (ग) जात पुकारत भारत बानी । देखि दुशासन अति
रिस मानी ।—सबल ।

मुहा०—रिस मारना = क्रोध को रोकना । उ०—(क) धर्मज
बदन निहारि, बिकल सकल रिस मारि उर । दीन गदा महि
डारि, भीम बिकल पारथ अतिहि ।—सबल । (ख) रामै
राम पुकार हनुमान अंगद कह्यौ । तब रावण रिस मारि
रामचंद्र मन में धरे ।—हृदयराम ।

रिसना—क्रि० स० [हि० रसना] बहुत ही छोटे छोटे छिद्रों
द्वारा छन छनकर बाहर निकल जाना । रसना । उ०—वहाँ
की मिट्टी ऐसी दरदरी थी कि जो दीया बनाते, तो जलाने
के समय सारी चरबी पिघलकर उसके भीतर से रिस
जाती ।—शिवप्रसाद ।

रिसवाना—क्रि० स० दे० “रिसाना” । उ०—ताही समय नंद
घर आये । सुनि जसुमति को बहु रिसवाये ।—विश्राम ।

रिसहा—वि० [हि० रिस + हा (प्रत्य०)] (१) बात बात पर क्रोध
करनेवाला । गुस्सेवर । क्रोधी । उ०—सूधे न काहू बतायो
कछू मन याही ते मेरो भयो रिसहा है ।—मन्नालाल ।

रिसहाया—वि० [हि० रिसाया] [स्त्री० रिसहाई] क्रुद्ध । कुपित ।
नाराज । उ०—(क) लखि लीनी तब चतुर नागरी ये मो पर
सब हैं रिसहाई ।—सूर । (ख) जननी अतिहि भई
रिसहाई । बार बार कहैं कुँवर राधिका री मोतीसरि कहैं
गमाई ।—सूर

रिसान-संज्ञा पुं० [] ताने के सूतों को फैलाकर उनको
साफ करने का काम । (जुलाहे)

रिसाना—क्रि० प्र० [हि० रिस + आना (प्रत्य०)] क्रुद्ध होना ।
खफा होना । गुस्सा होना । उ०—(क) और की ओर तकै
जब प्यो तब थौरी चढ़ाह चढ़ाह रिसाति है । (ख) सखी
सदन लाई जहँ रानी । मानु ताहि लखि बहुत रिसानी ।
—विश्राम ।

संयो० क्रि०—जाना ।—उठना ।

क्रि० स० किसी पर क्रुद्ध होना । बिगड़ना । उ०—इनकी
बात न जानति मैया मोकों बारंबार रिसाति ।—सूर ।

रिसाला—संज्ञा पुं० [अ० रिसाल] राज्य कर जो मुफस्सल से
राजधानी को भेजा जाता है । उ०—मानो हय हाथी
उमराव करि साथी अवरंग डरि सिवा जी पै भेजत रिसाल
है ।—भूषण ।

रिसालदार-संज्ञा पुं० [फा०] (१) घुड़सवार सेना का अफसर ।
(२) रिसाल या राजकर ले जानेवालों का प्रधान संचालक ।
चढ़नदार ।

रिसाला-संज्ञा पुं० [फा०] घोड़सवारों की सेना । अश्वारोही
सेना ।

रिस्कि—संज्ञा स्त्री० दे० “रिस” ।

रिसिआना, रिसियाना—क्रि० प्र० [हि० रिस + आना (प्रत्य०)]
क्रुद्ध होना । कुपित होना । उ०—(क) कबहूँ रिसियाह
कहैं हठि कै तब लेत सोई जेहि लागि अरैं ।—तुलसी ।
(ख) शाप दीन सुनि अति रिसियाने । कीन्हे निपट अकाज
अजाने ।—विश्राम ।

क्रि० स० किसी पर क्रुद्ध होना । बिगड़ना ।

रिसिकल-संज्ञा स्त्री० [सं० रिचिक] तलवार । उ०—रिसिक
कुसेह कृपान असि विशसनपा करवाल ।—नंददास ।

रिसौहाँ-वि० [हि० रिस + औहाँ (प्रत्य०)] (१) क्रुद्ध सा ।
कुछ कोप युक्त । थोड़ा नाराज । उ०—(क) सी करति
ओठनि बसी करति आँखिन रिसौँही सी हँसी करति,
भौंहनि हँसी करति ।—देव । (ख) करी रिसौँहीं जाहिगी-
सहज हँसौँहीं भौंह ।—बिहारी । (२) क्रोध से भरा ।
कोपस्वक । उ०—मापे लखन कुटिल भई भौँ हैं । रदपुट
फरकत नैन रिसौँ हैं ।—तुलसी ।

रिहनना—संज्ञा पुं० [फा०] वह लेख जिसमें किसी पदार्थ के
रेहन रखे जाने और उसके संबंध की शक्तों का उल्लेख हो ।

रिहर्सल-संज्ञा पुं० [अ०] (१) नाटक के अभिनय का अभ्यास ।
(२) वह अभ्यास जो किसी कार्य को ठीक समय पर करने
से पहले किया जाय ।

रिहल-संज्ञा स्त्री० [अ०] काठ की बनी हुई कैचीनुमा चौकी
जिस पर रखकर लोग पुस्तक पढ़ते हैं और जिसका आकार
इस प्रकार का × होता है ।

रिहा—वि० [फा०] (१) (बंधन आदि से) मुक्त । छूटा हुआ ।
(२) (किसी बाधा या संकट से) छूटा हुआ ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

रिहाई-संज्ञा स्त्री० [फा०] छुटकारा । मुक्ति । छुटी ।

क्रि० प्र०—देना ।—पाना ।—मिलना ।

रींधना-क्रि० स० [सं० रंधन] तैयार करने के लिये खाद्य पदार्थ
को तलना, उबालना या पकाना । रींधना । उ०—(क)
जगन्नाथ दरसन कहैं आये । भोजन रींधा भात पकाये ।—
जायसी । (ख) रसोई के घर में ब्रह्मानंद की भतीजी रोहिणी
रींध रही थी ।—अयोध्या ।

री-अव्य० [सं० रे] सखियों के लिये संबोधन । अरी । एरी । उ०—
नेकु सुमुखि चित लाइ चितौ री । नख सिख सुंदरता अव-
लोकत कह्यौ न परत सुख होत जितो री । सँवर रूप
सुधा भरिबे कहैं नयन कमल कल कलस रितौ री ।—
तुलसी ।

रोगन

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गति । (२) वध । हत्या । (३) शब्द । रव ।

रोगन-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का धान जो भादों या कुआँर में तैयार होता है ।

रीछ-संज्ञा पुं० [सं० ऋक्ष] [स्त्री० रीछनी] भालू ।

रीछराज-संज्ञा पुं० [सं० ऋक्षराज] जामवंत ।

रीज्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घृणा । नफरत । (२) भला बुरा कहना । लानत मलामत । कुत्सा । निंदा । भर्त्सना ।

रीभ-संज्ञा स्त्री० [सं० रंजन] (१) किसी के ऊपर रीझने की क्रिया या भाव । किसी की किसी बात पर प्रसन्नता । (२) किसी के रूप, गुण आदि पर मोहित होना । मुग्ध होने का भाव ।

रीभना-क्रि० प्र० [सं० रंजन] (१) किसी की किसी बात पर प्रसन्न होना । (२) मोहित होना । मुग्ध होना । उ०—(क) रीझहि राज कुँवरि छवि देखी । इनहिं बरै हरि जानि विशेषी ।—तुलसी । (ख) रूप निकाई मीत की छाँ तक लों अधिकात । जा तन हेरौ निमिष कै रीझहु रीझी जात ।—रसनिधि । (ग) कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात । भरे भौन में करत हैं नैनन में सब बात ।—बिहारी ।

संयो० क्रि०—जाना ।

रीठ-संज्ञा स्त्री० [सं० रिष्ट] (१) तलवार । (२) युद्ध । (डि०) वि० अशुभ । खराब ।

रीठा-संज्ञा पुं० [सं० रिष्ट, प्रा० रिठ] (१) एक बड़ा जंगली वृक्ष जो प्रायः बंगाल, मध्य प्रदेश, राजपूताने तथा दक्षिण भारत में पाया जाता है । यह देखने में बहुत सुंदर होता है । (२) इस वृक्ष का फल जो बेर के बराबर होता है । इसको लोग सुखाकर रखते हैं । इसे पानी में भिगोकर मलने से फेन निकलता है जिससे कपड़े धोए जाते हैं । काश्मीर में शाल आदि प्रायः इसी से साफ किए जाते हैं । यह रेशम तथा जवाहिरात धोने के काम में भी आता है । इसे फेनिल भी कहते हैं ।

संज्ञा पुं० [हि० भट्टा] वह भट्टा जिसमें चूना बनाने के लिये कंकर फूँके जाते हैं । (बुंदेलखंड)

रीठी-संज्ञा स्त्री० दे० “रीठा” ।

रीढ़-संज्ञा स्त्री० [सं० रीढक] पीठ के बीचोबीच की वह खड़ी हड्डी जो गर्दन से कमर तक जाती है और जिससे पसलियाँ मिली हुई रहती हैं । मेरुदंड ।

विशेष—यह वास्तव में एक ही हड्डी नहीं होती, बल्कि बहुत सी हड्डियों की गुरियों की एक शृंखला होती है । इसे शरीर का आधार समझना चाहिए । इसका सीधा लगाव मस्तिष्क

से होता है और बहुत से संवेदन-सूत्र इसमें से दोनों ओर निकलकर फैले रहते हैं ।

रीत-संज्ञा स्त्री० दे० “रीति” । उ०—सखीन सों सीखै सोहाग की रीतहि ।—देव ।

रीतना-क्रि० प्र० [सं० रिक्त प्रा० रिक्त + ना (प्रत्य०)] खाली होना । रिक्त होना । उ०—हमहूँ समुझि परी नीके करि यह आशा तनु रीत्यो ।—सूर ।

क्रि०स० खाली करना । रिक्त करना ।

रीता-वि० [सं० रिक्त, प्रा० रिक्त] जिसके अंदर कुछ न हो । खाली । रिक्त । शून्य । उ०—(क) साँची कहि जाउ कब ऐहौ भौन रीते पर ।—पद्माकर । (ख) हम हम करि धन धाम सँवारे अंत चले उठि रीते ।—तुलसी । (ग) रीते घट धरि छेत सिर देति भरन को ढारि ।—रसनिधि ।

रीतिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जस्ते का भस्म । (२) पीतल ।

रीति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कोई कार्य करने का ढंग । प्रकार । तरह । ढब । उ०—जाति मुरी बिछुरत घरी जल सफरी की रीति ।—बिहारी । (२) रस्म । रिवाज । परिपाटी । उ०—(क) मतलब मतलब प्यार सों तन मन वै कर प्रीति । सुनी सनेहिन मुख यहै प्रेम पंथ की रीति—रसनिधि । (ख) रघुकुल रीति सदा चलि आई । प्राण जाहिं बरु बचन न जाई ।—तुलसी । (३) कायदा । नियम । (४) साहित्य में ओज, प्रसाद या माधुर्य आता है । (५) पीतल । (६) लोहे की मैल । मंड़र । (७) जले हुए सोने की मैल । (८) सीसा । (९) गति । (१०) स्वभाव । (११) स्तुति । प्रशंसा ।

रीम-संज्ञा स्त्री० [अं०] कागज़ की वह गड्डी जिसमें बीस दस्ते होते हैं ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] मवाद । पीब ।

रीर-संज्ञा स्त्री० दे० “रीढ़” ।

संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

रीरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पीतल ।

रीषमूक-संज्ञा पुं० दे० “ऋष्यमूक” ।

रीस-संज्ञा स्त्री० (१) दे० “रिस” । उ०—बृद्ध जो सीस डुलावै सीस धुनहिं तेहि रीस ।—जायसी ।

संज्ञा स्त्री० [सं० रीष्या] (१) डाह । उ०—बरनौ गीठ कंवु कै रीसी ।—जायसी । (२) स्पृद्धा । वाराबरी । उ०—(क) सेमल बिना सुगंध तू करत मालती रीस ।—दीनदयाल । (ख) कछो हिमालय शिव प्रभु ईस । हमको उनसों कैसी रीस ।—सूर ।

रीसना-क्रि० प्र० [हि० रिस + ना (प्रत्य०)] क्रुद्ध होना । खफा होना । उ०—मुख फिराई मन अपने रीसा । चलत न तिरिया कर मुख दीसा ।—जायसी ।

रोसा-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की झाड़ी जिसकी छाल के रेशों से रस्सियाँ बनती हैं। यह झाड़ी हिमालय और खासिया पहाड़ी पर होती है। इसे बन-कटकोरा या बनरीहा भी कहते हैं।

रंज-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बाजा। उ०—(क) रंज मुरज डफ झाँझ झालरी यंत्र पखावज तार।—सूर। (ख) रंज मुरज डफ ताल बाँसुरी झालर की शंकार।—सूर।

रंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिना सिर का धड़। कबंध। (२) बिना हाथ पैर का शरीर। वह शरीर जिसके हाथ पैर कटे हों। उ०—(क) जीव पाउँ नहिं पाछे धरहीं। रंड मुंड मय मेदिनि करहीं।—तुलसी। (ख) रंडनि के झुंड झमि झमि झुकरिसे नाचैं समर सुमार सूर भारे रघुबीर के।—तुलसी।

रंडिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) युद्ध-भूमि। समरक्षेत्र। (२) विभूति।

रौंदवाना-क्रि० सं० [हि० रौंदना का प्रेर०] पैरों से कुचलवाना। रौंदवाना। रूँदवाना। उ०—अब नहिं राखों उठाइ बैरी नहिं नाहो। मारौं गज तें रौंदाइ मनहि यह अनुमान्हों।—सूर।

रंधती-संज्ञा स्त्री० [सं० अरंधती] वशिष्ठ मुनि की स्त्री। उ०—रतनालिका सी रंधती सी रोहिणी सी रुचि रतिसी रमा सी लसी अंगन में आइकै।—रघुराज।

रँधना-क्रि० अ० [सं० रूढ़ + ना (प्रत्य०)] (१) मार्ग न मिलने के कारण अटकना। रुकना। (२) उलझना। फँस जाना। उ०—रँधे रति संग्राम खेत नीके। एक ते एक रणवीर जोधा प्रबल मुरत नहिं नेक अति सबल जी के।—सूर। (३) किसी काम में लगना। (४) रोक या रक्षा के लिये काँटेदार झाड़ों आदि से घिरना या छाना। घेरा जाना। जैसे,—रास्ता रँधना, खेत रँधना।

रु#-ग्रन्थ० [हि० अरु का संक्षिप्त रूप] और। उ०—(क) हम हारी के हहा पायन पच्यौ प्यौसरु। लेहु कहा अजहूँ किये तेह तरेरे त्यौरु।—बिहारी। (ख) संवत् भुज श्रुति निधि मही मधुमास रु सित पच्छ। शनिवासर शुभ पंचमी किन्हों ग्रंथ प्रतच्छ।—मन्नालाल।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) शब्द। (२) वध। (३) गति।

रुआँली-संज्ञा स्त्री० [हि० रुई + आलि] रुई की बनी हुई एक प्रकार की पोली बत्ती या पूनी जो छियाँ चरखे पर सूत कातने के लिये एक सिरकी पर लपेटकर बनाती हैं। पूना। पौनी।

रुआँली-संज्ञा पुं० [सं० रोम] शरीर पर के छोटे छोटे बाल। रोम। रोआँ।

रुआ घास-संज्ञा स्त्री० [हि० रुसा] (१) एक प्रकार की बहुत सुगंधित घास जो तेल आदि बासने के काम में आती है। (२) इस घास से बासा हुआ तेल।

३६४

रुआन-क्रि०-क्रि० सं० दे० “रुलाना”।

रुआबा-संज्ञा पुं० [अ० रोअव] (१) धाक। दबदबा। रोव। (२) भय। डर। खौफ। आतंक।

क्रि० प्र०—डॉटना।—छाना—बैठना।—बैठाना।—मानना।

रुई-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का छोटा पेड़ जो हिमालय की तराई में कश्मीर से पूर्व दिशा में होता है। इसकी छाल और पत्तियाँ रँगई के काम में आती हैं।

रुई-संज्ञा स्त्री० दे० “रूई”।

रुईदस्त-संज्ञा पुं० [फा० रु ? + दस्त = हाथ] कुश्ती में छाती या बगल के पास से हाथ अढ़ाकर निकालना।

रुईदार-वि० दे० “रूईदार”।

रुकना-क्रि० अ० [हि० रोक] (१) मार्ग आदि न मिलने के कारण ठहर जाना। आगे न बढ़ सकना। अवरुद्ध होना। अटकना। जैसे,—(क) यहाँ पानी रुकता है। (ख) रास्ता न मिलने की वजह से सब लोग रुके हैं। (२) अपनी इच्छा से ठहर जाना। आगे न बढ़ना। जैसे,—(क) हम रास्ते में एक जगह रुकना चाहते हैं। (ख) यह गाड़ी हर स्टेशन पर रुकती है।

संयो० क्रि०—जाना।—पड़ना।

(३) किसी कार्य में आगे न चलना। किसी काम में सोच विचार या आगा पीछा करना। जैसे,—मैं कुछ निश्चय नहीं कर सकता, इसी से रुका हूँ; नहीं तो कब का दावा कर चुका होता। (४) किसी कार्य का बीच में ही बंद हो जाना। काम आगे न होना। जैसे,—(क) रुपए के बिना सब काम रुका है। (ख) इस साल विवाह की सब तैयारी हो चुकी थी; पर लड़की मर जाने से विवाह रुक गया। (५) किसी चलते क्रम का बंद होना। सिलसिला आगे न चलना। जैसे,—बाढ़ रुकना।

संयो० क्रि०—जाना।

(६) वीर्यपात न होने देना। स्खलित न होना। (बाजारू)

रुकमंगद-संज्ञा पुं० दे० “रुकमंगद”।

रुकमंजनी-संज्ञा स्त्री० [सं० रुक्मांजनी] (१) एक प्रकार का पौधा जो बागों में सजावट के लिये लगाया जाता है। (२) इस पौधे का फूल।

रुकमिनी-संज्ञा स्त्री० दे० “रुकमिणी”।

रुकरा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की ऊख या गन्ना।

रुकवाना-क्रि० सं० [हि० रुकना का प्रेर०] दूसरे को रोकने में प्रवृत्त करना। रोकने का काम दूसरे से कराना।

रुकाव-संज्ञा पुं० [हि० रुकना] (१) रुकने का भाव। रुकावट। अटकाव। अवरोध। रोक। (२) मलावरोध। कूटज। स्तंभन।

रुकुम-संज्ञा पुं० दे० “रुकुम”।

रकुमी-संज्ञा पुं० दे० "रकुमी"।

रकुमा संज्ञा पुं० [अ० रकुमः] (१) छोटा पत्र या चिट्ठी। पुरजा। परचा। (२) वह लेख जो हुंडी या कर्ज लेनेवाले रुपया लेते समय लिखकर महाजन को देते हैं।

रकुम-संज्ञा पुं० [सं० रकु, प्रा० रकुव] रकु। पेड़। वृक्ष।
रकुम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वर्ण। सोना। उ०—चल्यो रकुमनी बंधु रकुम रथ चढ़ि भट रकुमी।—गोपाल। (२) धस्तूर। धतूरा। (३) लोहा। (४) नागकेसर। (५) रकुम-णी के एक भाई का नाम। उ०—कुंदिनपुर को भीष्म राई। विष्णु भक्ति को ता मन चाई। रकुम आदि ताके सुत पाँच। रकुमणि पुत्री हरि रँग राँच।—सूर।

रकुमकारक-संज्ञा पुं० [सं०] सुनार।

रकुमकेश-संज्ञा पुं० [सं०] विदर्भ के राजा भीष्मक के छोटे पुत्र का नाम।

रकुमपाश-संज्ञा पुं० [सं०] सूत का बना हुआ वह फंदा या लड़ जिसकी सहायता से गहने आदि पहने जाते हैं।

रकुमपुर-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक नगर का नाम जहाँ गरुड़ निवास करते हैं।

रकुममात्सी-संज्ञा पुं० [सं० रकुममालिन्] पुराणानुसार भीष्मक के एक पुत्र का नाम।

रकुममाहु-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार भीष्मक के एक पुत्र का नाम।

रकुमरथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शल्य के एक पुत्र का नाम। (२) भीष्मक के एक पुत्र का नाम। (३) द्रोणाचार्य।

रकुमवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वृत्त का नाम, जिसके प्रत्येक चरण में 'भ म स ग' (SII SSI IIS S) होते हैं। इसके और नाम 'रूपवती' तथा 'चंपकमाला' भी हैं।

रकुमवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] द्रोणाचार्य।

रकुमसेन-संज्ञा पुं० [सं०] रकुमणी का छोटा भाई। उ०—तब छोटा बालक नृप केरा। रकुमसेन बोला यहि बेरा।—विश्राम।

रकुमांगद-संज्ञा पुं० [सं०] एक राजा का नाम। उ०—रकुमांगद महिपाल भयो एक भगवान ग्रिय। ताकी कथा रसाल में वर्णों संक्षेप ते।—रघुराज।

रकुमण-संज्ञा स्त्री० दे० "रकुमणी"।

रकुमणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] श्रीकृष्ण की पटरानियों में से बड़ी और पहली जो विदर्भ देश के राजा भीष्मक की कन्या थी। उ०—(क) यह सुनि हरि रकुमणि सों कह्यो। ज्यों तुम मोकों चित पर चह्यो।—सूर। (ख) लखि रकुमणी कह्यो सुनि नारद यह कमला अवतार।—सूर।

विशेष—हरिवंश में लिखा है कि रकुमणी के सौंदर्य की प्रशंसा सुनकर श्रीकृष्ण उस पर आसक्त हो गए थे। उधर

श्रीकृष्ण के रूप गुण की प्रशंसा सुनकर रकुमणी भी उन पर अनुरक्त हो गई थी। पर श्रीकृष्ण ने कंस की हत्या की थी, इसलिये रकुमी उनसे बहुत द्वेष रखता था। जरासंध ने भीष्मक से कहा था कि तुम अपनी कन्या रकुमणी का विवाह शिशुपाल के साथ कर दो। भीष्मक भी इस प्रस्ताव से सहमत हो गए। जब विवाह का समय आया, तब श्रीकृष्ण और बलराम भी वहाँ पहुँच गए। विवाह से एक दिन पहले रकुमणी रथ पर चढ़कर इंद्राणी की पूजा करने गई थी। जब वह पूजन करके मंदिर से बाहर निकली, तब श्रीकृष्ण उसे अपने रथ पर बैठाकर ले चले। समाचार पाकर शिशुपाल आदि अनेक राजा वहाँ आ पहुँचे और श्रीकृष्ण के साथ उन लोगों का युद्ध होने लगा। श्रीकृष्ण उन सब को परास्त करके रकुमणी को वहाँ से हर ले गए। पीछे से रकुमी ने श्रीकृष्ण पर आक्रमण किया और नर्मदा के तट पर श्रीकृष्ण से उनका भीषण युद्ध हुआ। उस युद्ध में रकुमी को मूर्च्छित और परास्त करके श्रीकृष्ण द्वारका पहुँचे। वहीं रकुमणी के साथ उनका विवाह हुआ। कहते हैं कि रकुमणी के गर्भ से श्रीकृष्ण को दस पुत्र और एक कन्या हुई थी। पुराणों में रकुमणी को लक्ष्मी का अवतार कहा है।

रकुमदर्प-संज्ञा पुं० [सं०] बलदेव।

रकुमदारी-संज्ञा पुं० [सं० रकुमदारिन्] बलदेव।

रकुमी-संज्ञा पुं० [सं० रकुमिन्] विदर्भ देश के राजा भीष्मक का बड़ा पुत्र और रकुमणी का भाई। जिस समय श्रीकृष्ण इसकी बहन रकुमणी को हर ले चले थे, उस समय इसके साथ उनका घोर युद्ध हुआ था। इन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक मैं श्रीकृष्ण को मार न डालूँगा, तब तक घर न लौटूँगा। पर युद्ध में ये श्रीकृष्ण से परास्त हो गए थे; अतः लौटकर कुंदिननगर नहीं गए और विदर्भ में ही भोजकर नामक एक दूसरा नगर बसाकर रहने लगे थे। उ०—चल्यो रकुमनी बंधु रकुम रथ चढ़ि भट रकुमी।—गिरधर।

रकु-वि० [सं० रकु] (१) जिसमें चिकनाहट न हो। जो स्निग्ध न हो। रूखा। (२) जिसका तल चिकना न हो। ऊबड़ खाबड़। खुदबुदा। (३) बिना रस का। नीरस। (४) सूखा। शुष्क। संज्ञा पुं० [सं० वृत्त] (१) वृक्ष। पेड़। (२) नरकट नाम की घास।

रकुता-संज्ञा स्त्री० [सं० रकुता] रखाई। रखापन।

रकु-संज्ञा पुं० [का०] (१) कपोल। गाल। (२) मुख। मुँह। चेहरा। (३) चेहरे का भाव। आकृति। चेष्टा। उ०—(क) रूप रूपे भौंहें सतर नहिं सौंहे ठहरात। मान हितू हरि बात तें धूम जात लों जात।—रामसहाय। (ख) पुनि मुनिवर

शंकर रुख चीन्हों । चरण गुहा से बाहर कीन्हो ।—स्वामी रामकृष्ण । (ग) संकर रुख अवलोकि भवानी । प्रभु मोहि तजेउ हृदय अकुलानी ।—तुलसी ।

मुहा०—रुख मिलाना = मुँह सामने करना ।

(४) मन की इच्छा जो मुख की आकृति से प्रकट हो । चेष्टा से प्रकट इच्छा या मरजी उ०—राम रुख निरपि हरषौ हिये हनुमान मानो खेलवार खोली सीस ताज बाज की ।—तुलसी ।

मुहा०—रुख देना = प्रवृत्त होना । ध्यान देना । रुख फेरना या बदलना = (१) ध्यान किसी दूसरी ओर कर लेना । प्रवृत्त न होना । (२) अवकृपा करना । नाराज होना ।

(५) कृपादृष्टि । मेहरबानी की नजर । (६) सामने या आगे का भाग । जैसे,—(क) वह मकान दक्खिन रुख का है । (ख) कुर्सी का रुख इधर कर दो । (७) शतरंज का एक मोहरा जो ठीक सामने, पीछे, दाहिने या बाएँ चलता है, तिरछा नहीं चलता । इसे रथ, किस्ती और हाथी भी कहते हैं ।

क्रि० वि० (१) तरफ़ । ओर । पार्श्व । उ०—मनहुँ मघा जल उमगि उदधि रुख चले नदी नद नारे ।—तुलसी ।

(२) सामने । उ०—निज निज रुख रामहिँ सब देखा । कोउ न जान कछु मरम विशेषा ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० [सं० रुख] (१) दे० “रुख” । (२) एक प्रकार की घास जिसे बरक वृण कहते हैं ।

वि० दे० “रुखा” ।

रुखचढ़वा—संज्ञा पुं० [हि० रुख + चढ़ना] (१) बंदर । (२) पेड़ पर रहनेवाला, भूत ।

रुखदार—संज्ञा पुं० [फा० रुख + दार (प्रत्य०)] (बाजार का भाव) जो घट रहा हो ।

रुखसत—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) आज्ञा । परवानगी । (क०) (२) रवानगी । कूच । विदाई । प्रस्थान । (३) काम से छुटी । अवकाश । जैसे,—बड़ी मुश्किल से चार दिन की रुखसत मिली है ।

क्रि० प्र०—देना ।—पाना ।—मिलना ।—होना ।

वि० जो कहीं से चल पड़ा हो । जिसने प्रस्थान किया हो ।

रुखसताना—संज्ञा पुं० [फा०] वह इनाम जो किसी को रुखसत होने के समय राजा या रईस आदि के यहाँ से सत्कारार्थ दिया जाता है । विदा होने के समय दिया जानेवाला धन । विदाई ।

क्रि० प्र०—देना ।—पाना ।—मिलना ।

रुखसती—वि० [अ० रुखसत + ई (प्रत्य०)] जिसे छुटी मिली हो । संज्ञा स्त्री० [अ० रुखसत] (१) विदाई, विशेषतः दुल्हिन की विदाई । (२) विदाई के समय दिया जानेवाला धन । विदाई ।

रुखसार—संज्ञा पुं० [फा०] कपोल । गाल ।

रुखाई—संज्ञा स्त्री० [हि० रुखा + आई (प्रत्य०)] (१) रुखे होने की क्रिया या भाव । रुखापन । रुखावट । (२) शुष्कता । खुरकी । (३) व्यवहार की कठोरता । शील का त्याग । बेमुरौबती ।

क्रि० प्र०—करना ।—दिखलाना ।

रुखाना—संज्ञा स्त्री० दे० “रुखानी” ।

रुखानल—संज्ञा पुं० [सं० रोषानल] क्रोधाग्नि । (हि०)

रुखाना—क्रि० प्र० [हि० रुखा + आना (प्रत्य०)] (१) रुखा होना । चिकना न रह जाना । (२) नीरस होना । सूखना ।

रुखानी—संज्ञा स्त्री० [सं० रोक = छेद + खनित्र = खोदने की चीज] (१) बड़ियों का लोहे का एक औजार जो प्रायः एक बालिशत लंबा होता है । इसका अगला सिरा धारदार होता है, और पीछे की ओर लकड़ी का दस्ता लगा होता है, जिस पर हथौड़ी या बसूले आदि से चोट लगाकर लकड़ी छिली या काटी जाती है, अथवा उसमें बड़ा छेद किया जाता है । (२) संगतराशों की वह टाँकी जिसका व्यवहार प्रायः मोटे कामों में होता है । (३) लोहे का प्रायः एक बालिशत लंबा एक औजार जिसमें काठ का दस्ता लगा होता है और जिसकी सहायता से तेली अपनी घानी चलाते हैं ।

रुखावट—संज्ञा स्त्री० दे० “रुखाई” ।

रुखावट—संज्ञा स्त्री० [हि० रुखा + आवट (प्रत्य०)] रुखापन । रुखाई ।

रुखिता—संज्ञा स्त्री० [सं० रुषिता] वह नायिका जो रोष या क्रोध कर रही हो । मानवती नायिका । उ०—रुलहंतरीता कोई विप्रलब्धा कोई रुखिता ।—विश्राम ।

रुखिया—संज्ञा स्त्री० [हि० रुख + इया (प्रत्य०)] पेड़ों से छाई हुई भूमि ।

रुखुरी—संज्ञा स्त्री० [हि० रुखा] भूना हुआ चना आदि । चबैना । संज्ञा स्त्री० [हि० रुख] बहुत छोटा पौधा ।

रुखौहाँ—वि० [हि० रुखा + औहाँ (प्रत्य०)] [स्त्री० रुखौहीं] रुखाई लिए हुए । रुखा सा । उ०—रुख रुखे मिस रोष मुख कहति रुखौ हैं बैन । रुखै कैसें होत ये नेह चीकने बैन ।—बिहारी ।

रुगना—संज्ञा पुं० [हि० रोग] पशुओं का टपका नामक रोग ।

रुगिया—वि० दे० “रोगी” ।

रुगौना—संज्ञा पुं० [दे०] बलुआ । घाल ।

रुंदाह सन्निपात ज्वर—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का ज्वर जो बीस दिनों तक रहता है । इसमें रोगी व्याकुल होता और बकता है, उसके शरीर में जलन होती है, पेट में दर्द

होता है, और उसे विशेष प्यास लगती है। यह बहुत कष्ट-साध्य माना जाता है।

रुग्म-वि० [सं०] (१) जिसे कोई रोग हुआ हो। रोगग्रस्त। रोगी। बीमार। (२) झुका हुआ। नमित। टेढ़ा। (३) दृटा हुआ। (४) विगड़ा हुआ।

रुग्मता-संज्ञा स्त्री० [सं०] रोगी होने का भाव। बीमारी।

रुग्मी-संज्ञा पुं० [सं०] जैन हरिवंश के अनुसार जंबू द्वीप के एक पर्वत का नाम।

रुक्म-संज्ञा स्त्री० दे० “रुचि”।

रुक्म-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वास्तुविद्या के अनुसार ऐसा घर जिसके चारों ओर के अर्द्ध (चवूतरा या परिक्रमा) में से पूर्व और पश्चिम का सर्वथा नष्ट हो गया हो और उत्तर दक्षिण का समूचा ज्यों का त्यों हो। इसका उत्तर का द्वारा अशुभ और शेष द्वारा शुभ माने गए हैं। (२) वह खंभा जो गोल न हो, बल्कि चौकोर हो। (३) सजीखार। (४) घोड़ों का गहना या साज। (५) माला। (६) काला नमक। (७) मांगल्य द्रव्य। (८) रोचना। (९) वाय-विडंग। (१०) नमक। (११) बीजपूरक। बिजौरा नीबू। (१२) प्राचीन काल का सोने का निष्क नामक सिक्का। (१३) दाँत। (१४) कवूतर। (१५) पुराणानुसार सुमेरु पर्वत के पास के एक पर्वत का नाम। (१६) जैन हरिवंश के अनुसार हरिवर्ष के एक पर्वत का नाम। (१७) दक्षिण दिशा।

वि० स्वादिष्ट। ज्ञायकेदार।

रुक्मदान-वि० [सं० रुचि-दान] भला लगाने योग्य। जो अच्छा लग सके।

रुक्मना-क्रि० प्र० [सं० रुचि + ना (प्रत्य०)] रुचि के अनुकूल होना। अच्छा जान पड़ना। भला लगना। प्रिय लगना। पसंद आना।

मुहा०—रुच रुच = बहुत रुचि से। अच्छी तरह मन लगाकर।

उ०—सबरी के बेर सुदामा के तंदुल रुचि रुचि भोग लगाए। —भजन।

रुचा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दीप्ति। प्रकाश। (२) शोभा। (३) इच्छा। इरादिस। (४) मैना, बुलबुल, तोते आदि पक्षियों का बोलना।

रुचि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रजापति जो रौच्य मनु के पिता थे। संज्ञा स्त्री० (१) प्रवृत्ति। तबीयत। जैसे,—जिस काम में आपकी रुचि हो, वही कीजिए। (२) अनुराग। प्रेम। चाह। (३) किरण। (४) छवि। शोभा। सुंदरता। उ०—त्यों पद्माकर आनन में रुचि कानन भौं हैं कमान लगी हैं।—पद्माकर। (५) खाने की इच्छा। भूख। (६) स्वाद। ज्ञायक। उ०—तब तब कहि सबरी के फलन की रुचि

माधुरी न पाई।—तुलसी। (७) गोरोचन। (८) काम-शास्त्र के अनुसार एक प्रकार का आलिंगन जिसमें नायिका नायक के सामने उसके घुटने पर बैठकर उसे गले से लगाती है। (९) एक अप्सरा का नाम। उ०—देखी न जाति बिसेखी बधू किधौं हेम बरेखी रमा रुचि रंभौ।—महालाल।

वि० शोभा के अनुकूल। फबता हुआ। योग्य। मुनासिब। उ०—झीनी सादी कंचुकी कुच रुचि दीसी आज।—रामसहाय।

रुचिकर-वि० [सं०] रुचि उत्पन्न करनेवाला। अच्छा लगनेवाला। दिलपसंद। जैसे,—इसके सेवन से तुम्हें भोजन रुचिकर लगेगा।

संज्ञा पुं० केशव के एक पुत्र का नाम।

रुचिकारक-वि० [सं०] (१) रुचि उत्पन्न करनेवाला। रुचिकर। (२) बढ़िया स्वादवाला। स्वादिष्ट।

रुचिकारी-वि० [सं० रुचिकारिन्] (१) रुचि उत्पन्न करनेवाला। रुचिकारक। (२) अच्छे स्वादवाला। स्वादिष्ट। (३) अच्छा लगनेवाला। मनोहर।

रुचित-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मीठी वस्तु। (२) इच्छा। अभिलाषा। वि० जिसे जी चाहता हो। अभिलषित।

रुचिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रुचि का भाव। रोचकता। (२) अनुराग। (३) सुंदरता। खूबसूरती। (४) अतिजगती वृत्त का एक भेद।

रुचिधाम-संज्ञा पुं० [सं० रुचिधामन्] सूर्य।

रुचिप्रभ-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक दैत्य का नाम।

रुचिफल-संज्ञा पुं० [सं०] नासपाती।

रुचिभर्त्ता-संज्ञा पुं० [सं० रुचिभर्तृ] (१) सूर्य। (२) स्वामी। मालिक।

वि० जिसके द्वारा आनंद की वृद्धि होती हो। सुखकर।

रुचिमती-संज्ञा स्त्री० [सं०] उग्रसेन की रानी और देवकी की माता जो श्रीकृष्णचंद्र की नानी थीं।

रुचिर-वि० [सं०] (१) सुंदर। अच्छा। भला। (२) मीठा। संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूलक। मूली। (२) कुंकुम। केसर। (३) लौंग। (४) सेनजित् के एक पुत्र का नाम।

रुचिरकेतु-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम।

रुचिरवृत्ति-संज्ञा पुं० [सं०] अल का एक प्रकार का संहार। उ०—रुचिरवृत्ति मतपितृ सौमनस धन धानहु धृत माली।—रघराज।

रुचिरश्रीगर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम।

रुचिराञ्जन-संज्ञा पुं० [सं०] शोभाञ्जन। सहिजन।

[illegible]

रुचिरार्हः—संज्ञा स्त्री० [सं० रुचिर + आर्ह (प्रत्य०)] सुंदरता।
मनोहरता। खूबसूरती। उ०—कंबु चित्तुकाधर सुंदर क्यों
कहाँ दसनन की रुचिरार्ह।—तुलसी।

हविहवि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम ।

हृदयवर्द्धक-वि० [सं०] (१) हृत्ति उत्पन्न करनेवाला । (२) भ्रूज बढ़ानेवाला ।

रुचिष्य-संज्ञा पुं० [सं०] खाने का मीठा पदार्थ ।

वि० जिस पर रुचि हो । जिसे प्राप्त करने को जी चाहे ।

रुची-संज्ञा स्त्री० द्वे० "रुचि" ।

रुच्छ-वि० [सं० लक्ष] (१) लक्षा । उ०—अच्छहि निरच्छ
कपि रुच्छ है उचारों इमि तोण तिच्छ तुच्छन को कछु वै न
गंत हैं ।—पद्माकर । (२) व्यवहार में कठोर । (३)
नाराज । क्रुद्ध ।

संज्ञा पुं० दे० "रुख" ।

रुच्य-वि० [सं०] (१) रुचिकर । (२) सुंदर । खूबसूरत ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेंधा नमक । (२) शालि धान्य ।
जड़हन । (३) पति । स्वामी ।

रुच्यकण्ड-संज्ञा पुं० [सं०] सूरन । ओल ।

रुज्ज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भंग । भँग । (२) वेदना । कष्ट ।
(३) क्षत । वाव । (४) प्राचीन काल का एक प्रकार का
बाजा जिस पर चमड़ा मढ़ा होता था ।

रुजगार :-संज्ञा पुं० दे० "रोजगार" ।

रुजग्रस्त-वि० [सं०] जिसे कोई रोग हो । रोगग्रस्त । बीमार ।
रुज-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रोग । बीमारी । (२) भंग । भाँग ।
(३) पीड़ा । (४) भेदी । (५) कुष्ठ । कोढ़ ।

रुजाकर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिससे कोई रोग उत्पन्न हो।
बीमारी पैदा करनेवाला। (२) रोग। बीमारी। (३) कम-
रख नामक फल।

रुजाली—संज्ञा स्त्री० [सं०] रोगों या कष्टों का समूह । उ०—हिम
करि केहरि करमाली । दहन दोष दुख दहन रुजाली ।—
तुलसी ।

हृत्ती-वि० [सं० रज्ज् = रोग] जिते कोई रोग हो । अस्वस्थ ।
बीमार । ज०—बहुत रोज आए भए अहै रुजी यह देश ।
जाते अब निज पुरी को कीन्है गमन नरेश ।—रघुराज ।

कज्जु-वि० [अ० कज्जु-प्रवृत्त] (१) जिज्ञासी तबीयत किसी

ओर झुकी या लगी हो । प्रवृत्त । उ०—(क) प्रेम नगर की रीत कछु बैनन कहत बनै न । रजूरहत चित चोर सौ बेहिन के मन नैन ।—रसनिधि । (ख) अमरैया कूकत फिरै कोइल सबै जताइ । अमल भयौ कतुराज कौ रजु होहु सब आइ ।—रसनिधि । (२) जो ध्यान दिष्ट हो ।

रक्षता कर्त्त—क्रि० अ० [सं० रुद्र, प्रा० रुद्र] घाव आदि का भरना या पूजना । उ०—मर्मवेधी बात का नासूर किसी तरह नहीं रक्षता ।—श्रीनिवासदास ।

क्रि० अ० दे० “अरुक्षना” या “उलक्षना” ।

रुभूनी—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की छोटी चिड़िया जिसकी पीठ काली, छाती सफेद और बाँच लंबी होती है।

रुद्र-संज्ञा पुं० [सं० रुद्र, प्रा० रुद्र] क्रोध । अमर्ष । गुस्सा । ड०—
कामाजुज आमर्ष रुद्र क्रोध मन्यु क्रुध होय । क्षोभ भरी
तिय को निरखि खिड़की सहचरि सोय ।—नंददास ।

हठना †-क्रि० अ० दे० "रुठना" ।

रुष्-संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती नदी की एक शाखा जिसका उल्लेख महाभारत में है।

रुणित-वि० [सं०] शब्द करता हुआ । शनकारता हुआ । बजता हुआ । उ०—चरण रुणित नूपुर ध्वनि मानो सर विहरत हैं बाल मराल—सूर ।

रुत-संज्ञा स्त्री० दे० "ऋतु" ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) पक्षियों का शब्द । कलरव । उ०—
 (क) सुनि घोर अधीरन के रत कौ । चकि कै दग फेर
 किये उतकौ ।—गुमान । (ख) पल्लव अधर मधु मधुपनि
 पीवत ही रुचित रुचिर पिक रत सुख सागरी ।—केशव ।
 (२) शब्द । ध्वनि ।

रुतबा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) दरजा । मर्तबा । ओहदा । पद ।
(२) इज्जत । प्रतिष्ठा । बड़ाई ।

क्रि० प्र०—बटाना ।—पाना ।—बढ़ाना ।—मिलना ।

रुदंतिका-संज्ञा स्त्री० दे० "रुदंती" ।

रुद्वंती—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का छोटा छुप जिसे संजीवनी या महामांसी भी कहते हैं। वि० दे० “रुद्वंती”।

रुदथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुत्ता । (२) छोटा बच्चा ।

रुदन-संज्ञा पुं० [सं० रोदन] रोने की क्रिया । क्रंदन । रोना ।
विलाप करना । उ०—(क) हरि जिन को पुरवै मेरो स्वारथ ।
मुँडहि धुनत शीश कर भारत रुदन करत नृप पारथ ।—
सूर । (ख) सकल सुरभी यूथ दिन प्रति रुदति पुर दिश
धाइ ।—सूर । (ग) आवत निकट हँसहिं प्रभु भाजत रुदन
कराहिं । जाउँ समीप गहै पद फिरि फिरि चितइ पराहिं ।
—तुलसी ।

रुद्राक्ष ११-पञ्चा पुं० दे० "रुद्राक्ष" ।

हवित-वि० [सं०] जो रो रहा हो । रोता हुआ । उ०—(क)

रुद्रित दक्ष की नारि गिरत ऋत्विज मुँह के बल ।—बाल-मुकुन्द गुप्त । (ख) हित मुद्रित अनहित रुद्रित मुख छवि कहत कवि धनु जाग की—तुलसी ।

रुद्रुवा—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का धान जो अगहन के महीने में तैयार होता है और जिसका चावल सालों तक रह सकता है ।

रुद्र-वि० [सं०] (१) जो किसी चीज़ से घेरकर रोका गया हो । घेरा हुआ । रोका हुआ । वेष्टित । आवृत्त । उ०—(क) तिमि सोहै यमुना की धारा । गंग प्रवाह रुद्र परिचारा ।—स्वामी रामकृष्ण । (ख) रुद्र सर्प से क्रुद्ध हिये मागधै विद्ध करि ।—गिरधर । (२) जिसमें कोई चीज़ अड़ या फँस गई हो । मुँदा हुआ । बंद । (३) जिसकी गति रोक ली गई हो ।

सौ०—रुद्रकंठ = जिसका गला रुँध गया हो । जो प्रेम आदि मनोवर्गों के कारण बोलने में असमर्थ हो गया हो ।

रुद्रक—संज्ञा पुं० [सं०] नमक ।

रुद्रमूत्र—संज्ञा पुं० [सं०] सूत्रकृच्छ्र नामक रोग ।

रुद्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार के गणदेवता जिनकी उत्पत्ति सृष्टि के आरंभ में ब्रह्मा की मौँहों से हुई थी । ये क्रोध रूप माने जाते हैं और भूत, प्रेत, पिशाच आदि इन्हीं के उत्पन्न हुए कहे जाते हैं । ये कुल मिलाकर ग्यारह हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—अंज, एकपाद, अहिब्रह्म, पिनाकी, अपराजित, त्र्यंबक, महेश्वर, वृषाकपि, शंभु, हरण और ईश्वर । गरुड पुराण में इनके नाम इस प्रकार हैं—अजैकपाद, अहिब्रह्म, त्वष्टा, विश्वरूपहर, बहुरूप, त्र्यंबक, अपराजित, वृषाकपि, शंभु, कपर्दी और रैवत । कूर्म पुराण में लिखा है कि जब आरंभ में बहुत कुछ तपस्या करने पर भी ब्रह्मा सृष्टि न उत्पन्न कर सके, तब उन्हें बहुत क्रोध हुआ और उनकी आँखों से आँसू निकलने लगे । उन्हीं आँसुओं से भूतों और प्रेतों आदि की सृष्टि हुई; और तब उनके मुख से ग्यारह रुद्र उत्पन्न हुए । ये उत्पन्न होते ही ज़ोर ज़ोर से रोने लगे थे; इसलिये इनका नाम रुद्र पड़ा था । इसी प्रकार और भी अनेक पुराणों में इसी प्रकार की कथाएँ हैं । वैदिक साहित्य में अभि को ही रुद्र कहा गया है और यह माना गया है कि यज्ञ का अनुष्ठान करने के लिये रुद्र ही यज्ञ में प्रवेश करते हैं । वहाँ रुद्र को अभिरूपी, वृष्टि करनेवाला और गरजनेवाला देवता कहा गया है, जिससे वज्र का भी अभिप्राय निकलता है । इसके अतिरिक्त कहीं कहीं “रुद्र” शब्द से इंद्र, मित्र, वरुण, पूषण और सोम आदि अनेक देवताओं का भी बोध होता है । एक जगह रुद्र को मरुद्गण का पिता और दूसरी जगह अंबिका का भाई भी कहा गया है । इनके तीन नेत्र बतलाए गए हैं और ये सब लोकों का नियंत्रण करनेवाले तथा सर्पों

का ध्वंस करनेवाले कहे गये हैं । (२) ग्यारह की संख्या । उ०—तेहि मधि कुश करि विटप सुहावा । रुद्र सहस्र योजन कर गावा ।—विश्राम । (३) शिव का एक रूप । कहा गया है कि इसी रूप में इन्होंने कामदेव को भस्म किया था, दक्ष के यज्ञ का नाश किया था, उमा और गंगा आदि के साथ विवाह किया था आदि । उ०—(क) रुद्रहि देखि मदन भय माना । दुराधर्ष दुर्गम भगवाना ।—तुलसी । (ख) केशव वरणहुँ युद्ध में योगिनि गण युत रुद्र ।—केशव । (ग) रुद्र के चित्त समुद्र बसै नित ब्रह्महुँ पै वरणी जो न जाई ।—केशव । (घ) दशरथ सुत द्वेपी रुद्र ब्रह्मा न भासै । निशिचर वपुरा भू क्यों नख्यो मूल नासै ।—केशव । (ङ) विश्वकर्मा के एक पुत्र का नाम । (५) प्राचीन काल का एक प्रकार का बाजा । (६) मदार का पेड़ । आक । (७) रौद्र रस । उ०—प्रथम शृंगार सुहास्य रस करुणा रुद्र सुवीर । भय वीभत्स बखानिये अद्भुत शांत सुधीर ।—केशव ।

वि० भयंकर । डरावना । भयानक । उ०—हम बूढ़त हैं विपदा समुद्र । इन राखि लियो संग्राम-रुद्र ।—केशव ।

रुद्रका—संज्ञा पुं० [सं० रुद्राक्ष] रुद्राक्ष । उ०—मेखल ब्रह्म कपालनि की यह नूपुर रुद्रक माल रँचे जू ।—केशव ।

रुद्रकलस—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कलस जिसका उपयोग ग्रहों आदि की शांति के समय होता है ।

रुद्रकाली—संज्ञा स्त्री० [सं०] शक्ति या दुर्गा की एक मूर्ति का नाम ।

रुद्रकुंड—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रज के एक तीर्थ का नाम ।

रुद्रकोटि—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन तीर्थ का नाम ।

रुद्रगण—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार शिव के पारिवर्त्त जिनकी संख्या १००००००० और किसी किसी के मत से ३६००००००० है । कहते हैं कि ये सब जटा धारण किए रहते हैं; इनके मस्तक पर अर्द्धचंद्र रहता है; ये बहुत बलवान होते हैं; और योगियों के योग साधन में पड़नेवाले विघ्न दूर करते हैं ।

रुद्रगर्भ—संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि । आग ।

रुद्रज—संज्ञा पुं० [सं०] पारा ।

रुद्रजटा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) इसरौल । ईसरमूल । (२) सौँफ । (३) तीन चार हाथ ऊँचा एक प्रकार का क्षुप जिसके पत्ते मयूरशिखा के पत्तों के समान होते हैं । इसके पत्ते पहले तो बड़े होते हैं; पर ज्यों ज्यों क्षुप बढ़ता जाता है, त्यों त्यों वे छोटे होते जाते हैं । इसमें लाल रंग के बहुत सुंदर फल लगते हैं, जिनका आकार प्रायः जटा के समान हुआ करता है । इसके बीज मरसा के बीजों के समान काले और चमकीले होते हैं । वैद्यक में रुद्रजटा कटु और श्वास, कास, हृदय रोग तथा भूत-प्रेत की बाधा दूर करनेवाली मानी गई है ।

नाम । यह चोटी चीन की ओर पूर्वी सीमा पर है और सदा बरफ से ढकी रहती है ।

रुद्रहृदय-संज्ञा पुं० [सं०] एक उपनिषद् का नाम जो प्राचीन दस उपनिषदों में नहीं है ।

रुद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रुद्रजटा नामक धूप । (२) नलिका नाम का गंधद्रव्य । विद्रुम लता । (३) अदितमंजरी । मुक्तवर्चा ।

रुद्राक्रीडा-संज्ञा पुं० [सं०] दमश्चान । मरघट ।

रुद्राक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रसिद्ध बड़ा वृक्ष जो नेपाल, बंगाल, आसाम और दक्षिण भारत में अधिकता से होता है । इसके पत्ते सात आठ अंगुल लंबे, दो तीन अंगुल चौड़े और किनारे पर कटावदार होते हैं । नए निकले हुए पत्तों पर एक प्रकार की मुलायम रोई होती है, जो पीछे झड़ जाती है । जाड़े के दिनों में यह फूलता और वसंत ऋतु में फलता है । इसके फल के अंदर पाँच खाने होते हैं और प्रत्येक खाने में एक एक छोटा कड़ा बीज रहता है । (२) इस वृक्ष का बीज जो गोल और प्रायः छोटी मिर्च से लेकर आँवले तक के बराबर होता है । इस बीज पर छोटे छोटे दाने उभरे होते हैं । प्रायः शैव लोग इनमें छेद करके मालाएँ बनाते और गले या हाथ में पहनते हैं । इसकी माला पहनने और उससे जप करने का बहुत अधिक साहाय्य माना जाता है । कहते हैं कि इन बीजों को काली मिर्च के साथ पीसकर पीने से शीतला का भय नहीं रहता । वैद्यक में इसे शीतल, बलकारी, ओजप्रद, कृमिनाशक और खाँसी तथा प्रसृत आदि में हितकारी माना है । रुद्राक्ष ।

पर्याय—शिवाक्ष । भूतनाशन । शिवप्रिय । पुष्पचामर ।

रुद्राक्षी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रुद्र की पत्नी, पार्वती । शिवा । भवानी । (२) रुद्रजटा नाम की लता जिसकी पत्तियाँ आदि का व्यवहार ओषधि के रूप में होता है । (३) एक प्रकार की रागिनी जो कुछ लोगों के मत से मेघ राग की पुत्रवधू है; पर कुछ लोग इसे जैती, ललित, पंचम और लीलावती के मेल से बनी हुई संकर रागिनी भी मानते हैं ।

रुद्रारि-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव ।

रुद्रावर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन तीर्थ का नाम ।

रुद्रावास-संज्ञा पुं० [सं०] काशी क्षेत्र, जिसमें रुद्र या शिव का निवास माना जाता है ।

रुद्रिय-वि० [सं०] (१) रुद्र संबंधी । रुद्र का । (२) आनंद-दायक । प्रसन्नता उत्पन्न करनेवाला ।

रुद्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की वीणा जिसे रुद्रवीणा भी कहते हैं ।

संज्ञा स्त्री० [सं० रुद्र + ई (प्रत्य०)] वेद के रुद्रानुवाक या अवमर्षण सूक्त की ग्यारह आवृत्तियाँ ।

रुद्रेकादशिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] रुद्रानुवाकों (रुद्री) की या अवमर्षण सूक्त की ग्यारह आवृत्तियाँ । रुद्री ।

रुद्रोपनिषद्-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक उपनिषद् का नाम ।

रुद्रोपस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम ।

रुधिर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शरीर में का रक्त । शोणित । लहू । खून । मुहा० के लिये दे० “खून” के मुहा० । (२) कुंकुम । केसर । (३) मंगल ग्रह । (४) एक प्रकार का रत्न । वि० दे० “रुधिराख्य” ।

रुधिरगुल्म-संज्ञा पुं० [सं०] स्त्रियों का एक प्रकार का रोग । इससे पेट में शूल और दाह होता है और एक गोला सा घूमता है । इसमें पित्तगुल्म के सब चिह्न मिलते हैं और कभी कभी इससे गर्भ रहने का भी धोखा होता है । कहते हैं कि गर्भपात होने पर अनुचित आहार विहार करने के कारण ऋतु काल में वायु कुपित होती है, जिससे रक्त इकट्ठा होकर गोला सा बन जाता है ।

रुधिरपायी-संज्ञा पुं० [सं० रुधिरपायिन्] [स्त्री० रुधिरपायिनी] (१) वह जो रक्त पीता हो । लहू पीनेवाला । (२) राक्षस ।

रुधिरपित्त-संज्ञा पुं० [सं०] रक्तपित्त । नकसीर ।

रुधिरप्लीहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्लीहा रोग का एक भेद । वैद्यक के अनुसार इसमें इंद्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, शरीर का रंग बदल जाता है, अंग भारी और पेट लाल हो जाता है और भ्रम, दाह तथा मोह होता है ।

रुधिरवृद्धिदाह-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का रोग जिसमें रक्त की अधिकता से सारे शरीर से धूआँ सा निकलता है और शरीर तथा आँखों का रंग ताँबे का सा हो जाता है और मुँह से लहू की गंध आती है ।

रुधिरांध्र-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक नरक का नाम ।

रुधिराक्त-वि० [सं०] (१) लहू से तर या भीगा हुआ । खून से भरा हुआ । (२) लहू का सा लाल ।

रुधिराख्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रत्न या मणि जिसकी गणना कुछ लोग उपरत्नों में और कुछ लोग स्वल्प मणियों में करते हैं । इसका रंग बीच में बिलकुल सफेद और अगल बगल इंद्रनील या नीलम के समान होता है । कहते हैं कि यही रत्न पककर हीरा हो जाता है । यह भी माना जाता है कि जो इसे धारण करता है, उसे बहुत सुख और ऐश्वर्य प्राप्त होता है ।

रुधिरानन-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में मंगल ग्रह की एक वक्र गति । जब मंगल किसी नक्षत्र पर अस्त होकर उससे पंद्रहवें या सोलहवें नक्षत्र पर चक्री होता है, तब वह रुधिरानन कहलाता है ।

रुधिरामय-संज्ञा संज्ञा [सं०] रक्तपित्त नामक रोग ।

रुधिराशन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खर राक्षस का एक सेनापति, जिसे श्रीरामचंद्र ने मारा था । (२) राक्षस ।

वि० रक्त ही जिसका आधार हो । रक्तपान करके जीने-वाला ।

रुधिराशी-वि० [सं०] रक्त पान करनेवाला । लहू पीनेवाला ।

उ०—राक्षस संगहि सहस्र अठासी । भूरि भयंकर भट रुधिरासी ।—रघुराज ।

रुधिराद्वगारी-संज्ञा पुं० [सं० रुधिराद्वगारिन्] बृहस्पति के साठ संवत्सरों में से सत्तावनवाँ संवत्सर ।

रुनञ्जन-संज्ञा स्त्री० [अनु०] नूपुर, मंजीर, किंकिणी आदि का शब्द । कलरव । झनकार । उ०—(क) कटि किंकिणी रुनञ्जन सुनि तन की हंस करत किलकारी ।—सूर । (ख) रुचिर नूपुर किंकिनी मनु हरति रुनञ्जन करनि ।—तुलसी । (ग) औरन के गान उ०हें कान न सुहात सुनै तेरे नूपुरन की अनूप रुनञ्जन है ।—देव ।

रुनितक-वि० [सं० रुनित] शब्द करता हुआ । बजता हुआ । झनकार करता हुआ । उ०—(क) चरण रुनित नूपुर कटि किंकिणी कल कूजै ।—सूर । (ख) रुनित भृंग घंटावली झरत दान मद नीर । मंद मंद आवतु चलयो कुंजर कुंज समीर ।—बिहारी ।

रुनी-संज्ञा पुं० [देश०] घोड़े की एक जाति । उ०—कारुनी सन्दली स्याह कर्नैता रुनी । लुकरा और दुवाज बोरता है है छवि दूनी ।—सूदन ।

रुनुकभुनुक-संज्ञा स्त्री० [अनु०] नूपुर आदि का रुनञ्जन शब्द । झनझनाहट । झनकार । उ०—रुनुक भुनुक नूपुर बाजत पग यह अति है मनहरनी ।—सूर ।

रुनुभुनु-संज्ञा पुं० [अनु०] नूपुर या किंकिणी आदि का शब्द । झनकार । उ०—रुनुभुनु रुनुभुनु नूपुर झुनकें कनकन के प्रभु पायन में ।—देवस्वामी ।

रुनुल-संज्ञा पुं० [देश०] शिकम और हिमालय में होनेवाला एक प्रकार का वेल जो झाड़ के रूप में होता है ।

रुपना-क्रि० अ० [हि० रोपना का अकर्मक] (१) रोपा जाना । जमीन में गाड़ा या लगाया जाना । जमना । जैसे,—धान रुपना । (२) डटना । अड़ना । उ०—(क) जो रन में रुपि रुद्र रिझायौ । दागी कौ सिर काटि चढ़ायौ ।—लाला । (ख) पन्थो जोर बिपरीत रति रुपी सुरत रनधीर । करति कोला-हल किंकिनी गह्यौ मौन मंजीर ।—बिहारी ।

रुपया-संज्ञा पुं० [सं० रुप्य] (१) भारत में प्रचलित चाँदी का सब से बड़ा सिक्का जो सोलह आने का होता है । यह तौल में दस मासे का होता है ।

३६५

मुहा०—रुपया उठाना = रुपया खर्च करना । रुपया ठीकरी करना = रुपये का अपव्यय करना ।

(२) धन । संपत्ति ।

मुहा०—रुपया उड़ाना = खूब धन खर्चना । रुपया जोड़ना = धन संचय करना । रुपया पानी में फेंकना = व्यर्थ खर्च करना । दौलत बरबाद करना ।

यौ०—रुपया पैसा = धन संपत्ति ।

रुपहरा + वि० दे० “रुपहला” ।

रुपहला-वि० [हि० रुपा = चाँदी + हला (प्रत्य०)] [स्त्री० रुपहली] चाँदी के रंग का । चाँदी का सा । जैसे,—रुपहला गोटा, रुपहला काम ।

रुपहला रंग-संज्ञा पुं० [हि० रुपहला + रंग] अड़भाड़ के काँटों से बचने का संकेत । (कहार)

रुपा + संज्ञा पुं० दे० “रुपया” ।

रुपिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] आक । मदार ।

रुपैया + संज्ञा पुं० दे० “रुपया” ।

रुपौला + वि० दे० “रुपहला” ।

रुवाई-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) उर्दू या फारसी की एक प्रकार की कविता जिसमें चार मिसरे होते हैं । (२) एक प्रकार का रंगीन या चलता गाना ।

रुवाई एमर-संज्ञा पुं० [हि० रुवाई + एमन] एक शालक रंग जिसके साथ कौवाली का ठेका बजाया जाता है ।

रुमांच *—संज्ञा पुं० दे० “रोमांच” ।

रुमण-संज्ञा पुं० [सं०] रामायण के अनुसार एक बानर जो सौ करोड़ बानरों का यूथपति था ।

रुमन्वान-संज्ञा पुं० [सं० रुमन्वत्] (१) महाभारत के अनुसार एक प्राचीन ऋषि का नाम । (२) पुराणानुसार एक पर्वत का नाम ।

रुमांचित *—वि० दे० “रोमांचित” ।

रुमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वाल्मीकि के अनुसार सुग्रीव की पत्नी का नाम ।

रुमाल-संज्ञा पुं० दे० “रूमाल” ।

रूमाली-संज्ञा स्त्री० [का० रूमाल] (१) एक प्रकार का लँगोटा जिसमें कपड़े के एक छोटे तिकोने टुकड़े के दोनों ओर दो लंबे बंद और तीसरे कोने पर, जो नीचे की ओर होता है, एक लंबी पतली पट्टी टँकी होती है । दोनों बंद कमर से लपेटकर बाँध लिए जाते हैं और नीचे की पट्टी से आगे की ओर इंद्रिय ढककर उसे फिर पीछे की ओर उलटकर खोस लेते हैं । प्रायः कुश्तीबाज लोग कसरत करने या कुश्ती लड़ने के समय इसे पहनते हैं । (२) मुगदर हिलाने का एक हाथ या प्रकार । इसका हाथ सिर के ऊपर से मुगदर को ताने

हुए और फेर पीठ के ऊपर के आधे ही भाग तक होता है ।
इसमें अधिक बल की आवश्यकता होती है ।

रमावली-संज्ञा स्त्री० दे० “रमावली” ।

रवाई-संज्ञा स्त्री० [हि० रवा] सुंदरता । उ०—मैं सब लिखि
सोभा जो बनाई । सजल जलबु तन बसन कनक रुचि उर
बहु दाम रवाई ।—सूर ।

रु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काला हिरन । कस्तूरी मृग । (२) एक
दैत्य का नाम जिसे दुर्गा ने मारा था । (३) पुराणानुसार
एक प्रकार का बहुत ही क्रूर जंतु जिसे भार-शृंग भी कहते
हैं । ऐसा प्रसिद्ध है कि इस लोक में जो लोग हिंसा करते
हैं, उन्हें हिंसित प्राणी रु होकर रौरव नरक में काटते हैं ।
(४) एक प्रसिद्ध ऋषि जो प्रमत्ति के पुत्र और च्यवन के
पौत्र थे । कहते हैं कि जब इनकी स्त्री प्रमद्वरा का देहांत हो
गया, तब इन्होंने उसे अपनी आधी आयु देकर जिलाया था ।
(५) विश्वेदेवा के अंतर्गत देवताओं का एक गण । (६)
सावर्णि मनु के सप्तर्षियों में से एक का नाम । (७) एक
भैरव का नाम । (८) एक फलदार वृक्ष का नाम ।
रुभ्रा-संज्ञा पुं० [हिं० ररना, रुभ्रा] बड़ी जाति का उलू जिसकी
बोली बड़ी भयावनी होती है । (प्रवाद है कि यह कभी कभी
किसी का नाम सुनकर रटने लगता है और वह आदमी मर
जाता है । इसका बोलना लोग बहुत अशुभ मानते हैं ।)
उ०—रुभ्रा चहुँ दिसि ररत, डरत सुनिकै नर नारी ।—
हरिश्चंद्र ।

रुलु-वि० [सं०] चिकना का उलटा । रुखा । रुक्ष । उ०—
काल जिवृक्षु रुलु कृपा की स्वपानन स्वक्ष स्वपक्ष
प्रियाही ।—रघुराज ।

रुभैरव-संज्ञा पुं० [सं०] तांत्रिकों के अनुसार एक प्रकार के भैरव
जिनका पूजन दुर्गा के पूजन के समय किया जाता है ।

रुमुंड-संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्वत का नाम ।

रुलना-क्रि० प्र० [सं० लुलन = धर उधर डोलना] धर उधर
मारा फिरना । आवाश फिरना । खराब होना ।

रुलाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० रोना + आई (प्रत्य०)] (१) रोने की क्रिया
या भाव । (२) रोने की प्रवृत्ति ।

क्रि० प्र०—आना ।—छटना ।

रुलाना-क्रि० सं० [हिं० रोना का प्रेर०] दूसरे को रोने में प्रवृत्त
करना । उ०—उस कहने ने सब को रुला दिया ।—
सुधाकर ।

क्रि० सं० [हिं० रुलना का सं०] (१) धर उधर फिराना
(२) नष्ट करना । मिट्टी खराब करना ।

रुल्ल, रुल्ला-संज्ञा स्त्री० [देश०] वह भूमि जिसकी
उपजाऊ शक्ति कम हो गई हो और जिसे परती छोड़ने की
आवश्यकता हो ।

रुल्ली-संज्ञा स्त्री० [देश०] रोहिणी की तरह की एक प्रकार की
वनस्पति जो उससे कुछ छोटी होती है ।

रुचा-संज्ञा पुं० [हिं० रोवा] सेमल के फूल के अंदर से निकला
हुआ घृआ । भूआ । उ०—का सेमर के साख बढ़ाये फूल
अनूपम बानी । केतिक चात्रिक लागि रहे हैं चाखत रुवा
उड़ानी ।—कबीर ।

रुवाई-संज्ञा स्त्री० दे० “रुलाई” ।

रुवाव-संज्ञा पुं० दे० “रोव” ।

रुशंगु-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम जो नृपंगु भी
कहे जाते थे ।

रुशद्गु-संज्ञा पुं० दे० “रुशंगु” ।

रुशना-संज्ञा स्त्री० [सं०] भागवत के अनुसार रुद्र की एक पत्नी
का नाम ।

रुष-संज्ञा पुं० [सं०] क्रोध । गुस्सा । उ०—दैत्य होहु ऋषि
सरुष वखाना ।—गिरधर ।

संज्ञा पुं० दे० “रुख” ।

रुषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] क्रोध । कोप । गुस्सा ।

रुषित-वि० [सं०] (१) क्रुद्ध । नाराज । (२) रंजीदा । दुःखी ।

रुक्कर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भिलावाँ । (२) कस्तूरी वृद्धी । नेवरी ।

रुष्ट-वि० [सं०] जिसे रोष हुआ हो । क्रुद्ध । अप्रसन्न । नाराज ।
कुपित ।

रुष्टता-संज्ञा स्त्री० [सं०] रुष्ट होने का भाव । नाराजगी ।
अप्रसन्नता ।

रुष्ट पुष्ट-वि० दे० “हृष्टपुष्ट” ।

रुष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] कोप । क्रोध । गुस्सा ।

रुसना-क्रि० प्र० दे० “रुसना” ।

रुसवा-वि० [फा०] जिसकी बहुत बदनामी हो । निर्दित ।
जलील ।

रुसवाई-संज्ञा स्त्री० [फा०] रुसवा होने का भाव । अपमान और
दुर्गति । कुत्सा और निंदा । ज़िलत ।

रुसा-संज्ञा स्त्री० दे० “रुसा” ।

संज्ञा पुं० दे० “अडूसा” ।

रुसित-वि० [सं० रुषित] रुष्ट । अप्रसन्न । नाराज । उ०—
गहड़ासन पै करत रुसित हासन भरि गाँसन । ज्वलित
हुतासन सरिस भरत परकासन आसन ।—गोपाल ।

रुसूम-संज्ञा पुं० दे० “रसूम” ।

रुसू-वि० दे० “रुष्ट” ।

रुस्तम-संज्ञा पुं० [अ०] (१) फारस का एक प्रसिद्ध प्राचीन
पहलवान जिसकी गणना संसार के बहुत बड़े बड़े पहलवानों
में होती है । इसका समय ईसा से लगभग नौ सौ वर्ष
पहले माना जाता है ।

मुहा०—रस्सम का साला = बहुत बड़ा वीर । बहुत बहादुर ।
(संग्रह)

(२) वह जो बहुत बड़ा वीर हो ।

मुहा०—छिपा रस्सम = वह जो देखने में सीधा सादा पर वास्तव में किसी काम में बहुत वीर हो ।

रहक-संज्ञा पुं० [सं०] छेद । सूराख ।

रहटिछी-संज्ञा स्त्री० [हि० रोहट = रोना ।] रुठने की क्रिया या भाव । उ०—रहटि करै तासों को खेलै रहे पौढ़ि जहँ तहँ सब गवैयाँ ।—सूर ।

रुहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दूध । (२) ककही । अतिबला । (३) मांसरोहिणी नाम की लता । (४) लजालू । लजावन्ती ।

रुहिर-संज्ञा पुं० [सं० रुधिर, प्रा० रुहिर] लहू । रक्त । खून । उ०—रुहिर खुअइ जो जो कह बाता । भोजन विन भोजन मुख राता ।—जायसी ।

रुहेलखंड-संज्ञा पुं० [सं०] अवध के उत्तर-पश्चिम पड़नेवाला प्रदेश जहाँ रुहेले पठान बसे थे ।

रुहेला-संज्ञा पुं० [हि० रुहेलखंड] पठानों की एक जाति जो प्रायः रुहेलखंड में बसी हुई है ।

रुंख-संज्ञा पुं० दे० “रुख” ।

रुंखड़-संज्ञा पुं० [हि० रुखा] एक प्रकार के भिक्षुक जो दरि-याई नारियल का खपरलेकर ‘अलख’ कहकर भीख माँगते हैं और कमर में एक बड़ा सा धुँवरु बाँधे रहते हैं । इनका एक और भेद होता है जो गूरड़ कहलाता है । ये कहीं अड़ कर भिक्षा नहीं माँगते; केवल तीन बार “अलख” कहकर ही आगे बढ़ जाते हैं ।

संज्ञा पुं० दे० “रुख” ।

रुंगटा-संज्ञा पुं० दे० “रोंगटा” ।

रुंगटाली-संज्ञा स्त्री० [हि० रुंगटा + वाली = आली] भेंड़ । गाडर ।

रुगा-संज्ञा पुं० [सं० रुक = उदारता] किसी सौदे का वह थोड़ा भाग जो खरीदनेवाले को बेचनेवाला अंत में अधिक दे दिया करता है । घाल । घलुआ । झूँगा ।

रुंदना-क्रि० सं० दे० “रौंदना” ।

रुंध-वि० [सं० रुद्ध] रुका हुआ । अवरुद्ध । उ०—बाढ़त तो उर उरज भर भर तरुनई विकास । बोझनि सौतनि के हिये आवतु रुंध उसास ।—बिहारी ।

रुंधना-क्रि० सं० [सं० रुंधन] (१) किसी स्थान या वस्तु को बाहरवालों के आक्रमण से बचाने के लिये उसके चारों ओर कँटीले झाड़ आदि लगाना । कँटीले झाड़ आदि से घेरना । बाढ़ लगाना । उ०—जर तुम्हारि चह सवति उखारी । रुंधहु करि उपाउ बरबारी ।—तुलसी । (२) किसी पदार्थ को चारों ओर से इस प्रकार घेरना कि वह बाहर न जा सके । रोकना । लेकना । जैसे,—गाय रुंधना । (३) गमनागमन का

मार्ग बंद करना । जैसे,—राह रुंधना, द्वार रुंधना आदि ।

उ०—बबुर बहेरे को बसाइ बाँग लाइयत रुंधिये को सोऊ सुरतरु कारियतु है ।—तुलसी ।

रु-संज्ञा पुं० [का०] (१) घुँह । चेहरा । (२) द्वार । कारण । (३) आशा । उम्मेद । (४) ऊपरी भाग । सिरा । (५) आगा । सामना ।

रु-संज्ञा पुं० [का०] (१) घुँह । चेहरा । (२) द्वार । कारण । (३) आशा । उम्मेद । (४) ऊपरी भाग । सिरा । (५) आगा । सामना ।

रु-संज्ञा पुं० [का०] (१) घुँह । चेहरा । (२) द्वार । कारण । (३) आशा । उम्मेद । (४) ऊपरी भाग । सिरा । (५) आगा । सामना ।

रुई-संज्ञा स्त्री० [सं० रोम = प्रा० रोवँ = हि० रोवँ, रोई] (१) कपास के लोडे या कोश के अंदर का धूआ ।

विशेष—यह डोडा फूटकर चिटकने पर ऊन के लच्छे की तरह बाहर निकलता है । इसके रेशे कोमल और धुँगराले होते हैं, जो बीज के ऊपर चारों ओर लगे होते हैं और जिनके अंदर बीज लिपटे रहते हैं । मोटी और बारीक के भेद से रुई अनेक प्रकार की होती है । कितनी रुईयाँ तो रेशम की भाँति कोमल और चिकनी होती हैं । छेद या छोटे से फूटकर बाहर निकलने पर रुई इकट्ठी की जाती है । इसके बाद सूख जाने पर लोग इसे ओटनी में ओटकर बीजों से अलग करते हैं । ओटी हुई रुई धुनी जाती है जिससे उसमें जो बचे लुचे बीज रहते हैं, अलग हो जाते हैं और उसके रेशे फूटकर खुल जाते हैं । इस रुई से पेंडरी या पूनी बनाई जाती है, जिससे सूत काता जाता है । धुनी हुई रुई गदे आदि में भरी जाती है; और उससे सूत कातकर कपड़े बुनते हैं । इसका प्रयोग रासायनिक रीति से बारूद बनाने में भी होता है । रुई को शोरे के तेजाब में गलते हैं, जिससे यह अत्यंत विस्फोटक हो जाता है । इसे ‘गन काटन’ करते हैं और उत्तम बारूद में इसका प्रयोग होता है । इस ‘गन-काटन’ को ईथर या ईथर मिले हुए अलकोहल में मिलाने से एक प्रकार का लेस बनता है । इस लेस को ‘कलोडीन’ कहते हैं । यह घाव पर तुरंत लगाये जाने पर खिल्ली की तरह सूखकर उसे जोड़ देता है । कलोडीन में थोड़ी सी मात्रा ब्रोमाइड और आयोडाइड की मिलाकर शीशे पर लगाकर फोटो के लिये गीला ‘प्लेट’ बनाया जाता है । हिंदुस्तान में रुई के कपड़े का प्रचार वैदिक काल से चला आता है । ब्राह्मण और गृह्य सूत्रों में तो इसके यज्ञोपवीत और वस्त्र का विधान वर्ण भेद से स्पष्ट देखा जाता है; पर युरोप में इसके कपड़े का प्रचार कुछ ही शताब्दियों से हुआ है । सूत के लिये उत्तम रुई वही समझी जाती है, जिसके रेशे लंबे और दृढ़ होने पर भी पतले और चमकीले होते हैं ।

उ०—हरि हरि कहत पाप पुनि जाई। पवन लागि ज्यों रुई उड़ाई।—सूर।

क्रि० प्र०—तूमना।—धुनना।—धुनकना।

पर्या०—तुल। पिचु।

मुहा०—रुई का गाला = रुई के गाले की तरह कोमल या सफेद।

रुई की तरह तूम डालना = (१) अच्छी तरह नोचना। (२) बहुत मारना। पीटना। (३) गालियाँ देना। बखानना। (४) अच्छी तरह खान बीन करना। रुई की तरह धुनना = खूब मारना। अच्छी तरह पीटना। रुई सा—रुई की भाँति नरम। कोमल। जैसे,—रुई से हाथ पाँव। अपनी रुई सूत में डलझना या लिपटना = अपने काम में लगना। अपने काम काज में फँसना।

(२) इसी प्रकार का कोई रोआँ। विशेषतः बीजों के ऊपर का रोआँ।

रुईदार-वि० [हि० रुई + फा० दार (प्रत्यय)] जिसमें रुई भरी गई हो। जैसे,—रुईदार अंगा, रुईदार बंडी।

रुऊ-संज्ञा स्त्री० [सं० रुचा] तलवार। (हि०)

संज्ञा पुं० [सं० रुक = उधार] झूगा। घलुआ। घाल।

संज्ञा पुं० [सं० वृक्ष, प्रा० रुक्ख] एक प्रकार का पेड़ जिसकी पत्तियाँ ओषधि के रूप में काम आती हैं और पचपानड़ी के साथ मिलकर बिकती हैं।

रुद्ध-वि० [सं०] [स्त्री० रुद्धा] जो चिकना या कोमल न हो। रुखा। स्निग्ध का उलटा।

रुख-संज्ञा पुं० [सं० वृक्ष, प्रा० रुक्ख] पेड़। वृक्ष। उ०—(क) ऊपर ताल चहूँ दिस अमृत फल सब रुख। देखि रूप सर-वर कै गा पियास औ भूख।—जायसी। (ख) रुख कलपतक सागर खारा। तेहि पठये बन राजकुमारा।—तुलसी। (ग) बन डोंगर ढूँढत फिरि घर मारग तजि गाउँ। वृक्षों दुम प्रति रुख ए, कोउ कहै न पिय को नाउँ।—सूर।

वि० दे० “रुखा”।

रुखड़ा-संज्ञा पुं० [हि० रुख + डा] पेड़। वृक्ष। उ०—कविरा माया रुखड़ा दो फल की दातार। खावत खरचत मुक्ति गये गये संचत नरक दुवार।—कबीर।

रुखना-क्रि० प्र० [सं० रुष] रुसना। रुठना।

रुखरा-संज्ञा पुं० दे० “रुखड़ा”।

वि० दे० “रुखा”।

रुखा-वि० [सं० रुख, प्रा० रुक्ख] (१) जो चिकना न हो। जिसमें चिकनाहट का अभाव हो। चिकना का उलटा। अस्निग्ध। जैसे,—रुखा बाल, रुखा शरीर। (२) जिसमें घी, तेल आदि चिकने पदार्थ न पड़े हों। जैसे,—रुखी रोटी। रुखी दाल। (३) जो चटपटा न हो। जो खाने में रुचिकर और स्वादिष्ट न हो। सीठा। उ०—(क) कैसे सहव खिनीहि खिन

भूखा। कैसे खाव कुरकुटा रुखा।—जायसी। (ख) जग में जीयन ही को नातो। मन बिछुरे तन छार होइगो कोउ न बात पुछातो। मैं मेरी कबहूँ नहि कीजै कीजै पंच-सुहातो। विषयासक्त रहत निसि वासर सुख सीरो दुख तातो। साँच झूठ करि माया जोरी आपुन रुखो खातो। सूरदास कछु धिर नहि रहिहैं जो आयो सो जातो।—सूर।

मुहा०—रुखा सूखा = जिसमें चिकना और चरपरा पदार्थ न हो। बिना घी और चटपटे पदार्थों के। जैसे,—रुखा सूखा जो मिला, वही खाकर पड़ रहा।

(४) जिसमें रस न हो। सूखा। शुष्क। नीरस। (५) जिसका तल सम न हो। खुरदुरा। जैसे,—यह कागज कुछ रुखा दिखाई पड़ता है।

यौ०—रुखा माल = नकाशी किया हुआ वस्त्र। (कसेरा)

(६) जिसमें प्रेम न हो। स्नेह-रहित। नीरस। फीका। उदासीन। उ०—(क) रुखे रुखे जे रहत नेह वास नहि लेत। उनतें वे मखियाँ भली नेह परसि जिय दैत।—रसनिधि। (ख) सतर भौहँ रुखे बचन करत कठिन मन नीठि। कहा करों ह्वै जाति हरि हेरि हँसौहीं दीठि।—बिहारी। (ग) मीठा तू चाहन कियो रुखी बतियन जोत। नेह बिनाही रोशनी देखी सुनी न होत।—रसनिधि। (घ) चितवन रुखे हगनि की हाँसी बिनु मुसकान। मान जनायो मानिनी जानि लियो पिय जान।—बिहारी। (ङ) वे ही नैन रुखे से लगत और लोगन को वेई नैन लगत सनेह भरे नाह के।—मतिराम। (७) परुष। कठोर। उ०—(क) मुख रुखी बातों कहै जिय में पी की भूख। धीर अधीरा जानिये जैसे मीठी उख।—केशव। (ख) उत्तर न देइ दुसह रिस रुखी। मृगिन्ह चितव जस बाधिन भूखी।—तुलसी।

मुहा०—रुखा पड़ना या होना = (१) बेमुरीवती करना। शील संकोच का त्याग करना। (२) क्रुद्ध होना। नाराज होना। रोष प्रकट करना। तीखा पड़ना। उ०—(क) पूँछे क्यों रुखी पड़ति सग बग रही सनेह। मनमोहन छवि पर कटी कहै कव्यानी देह।—बिहारी। (ख) भोजन देहु भए वे भूखे। यह सुनिकै ह्वेगे वे रुखे।—सूर।

(८) उदासीन। विरक्त। उ०—(क) नाहन राम राज के भूखे। धरम धुरीन विषय-रस रुखे।—तुलसी। (ख) सजल नयन कछु मुख करि रुखा। चितइ मातु लागी अति भूखा।—तुलसी। (ग) रुखे रुख मिस रोख मुख कहति रुखौंहे बैन। रुखे कैसे होत हैं नेह चीकने नैन।—बिहारी। (घ) रुखी सी बैठति दै दै कबहूँ मुसकाय चितौति न ल्यौहैं। (ङ) रति ते रुखी ह्वै जहाँ दुरजु दिखावै बाम। प्रौढ़ा धीर अधीर तिय ताहि कहत रसधाम।—पद्माकर। (च) नेह लगे

से ये बदन चिकने सरस दिखाइ । नेह लगाये भावतो क्यों
रुखी होइ जाइ ।—रसनधि

संज्ञा पुं० एक प्रकार की छेनी ।

रूपापन-संज्ञा पुं० [हिं० रूपा + पन (प्रत्य०)] (१) रूखे होने का
भाव । रुखाई । (२) खुरकी । नीरसता । (३) कठोरता ।
(व्यवहार की) (४) उदासीनता । (५) स्वादहीनता ।

रुचना-क्रि० सं० दे० “रचना” । उ०—चले निवाद जोहारि
जोहारी । सूर सकल रन रुचई रारी ।—तुलसी ।

रुज-संज्ञा पुं० [अ०] एक प्रकार की बुकनी जिसे मलकर सोना,
चाँदी आदि धातुओं की चीजों पर जिला किया जाता है ।
यह तूतिए या हीरा कसीस से बनाया जाता है । पहले
तूतिए या कसीस को आग पर तपाते हैं; और जब वह जल
जाता है, तब उसे बारीक पीस डालते हैं । कभी कभी
तूतिए को पानी में गलाकर और निधार तथा धोकर फूँकने
से भी रुज बनता है । यह जौहरियों के काम आता है ।
रुज में खड़िया भी मिलाई जाती है । खड़िया और पारा
मिलाकर रुज से बरतन पर जिला या कलई की जाती है ।

रुझना-क्रि० अ० दे० “अरुझना” या “उलझना” । उ०—
निज भवगुन गुन राम रावरे, लखि सुनि मति मन रुझै ।—
तुलसी ।

रुठ-संज्ञा स्त्री० [सं० रुठि = प्रा० रुठि] (१) रुठने की क्रिया या
भाव । (२) क्रोध । कोप ।

रुठन-संज्ञा स्त्री० [हिं० रुठना] रुठने की क्रिया या भाव ।
नाराज़गी । उ०—भजनि, मिलनि, रुठनि, तूनि, किलकनि,
अवलोकनि, बोलनि बरनि न जाई ।—तुलसी ।

रुठना-क्रि० अ० [सं० रुठ, प्रा० रुठ + ना (प्रत्य०)] किसी से
अप्रसन्न होकर कुछ समय के लिये संबंध छोड़ना । नाराज़
होना । रुसना । उ०—(क) कबीर ते नर अंध हैं गुरु को
कहते और । हरि के रुठे ठौर है गुरु रुठे नहीं ठौर ।—कबीर ।
(ख) उलटि इष्टि माया सों रुठी । पलट न फेरि जान कै
झूठी ।—जायसी । (ग) जेहि कृत कपट कनक मृग झूठा ।
अजहुँ सो दैव मोहिं पर रुठा ।—तुलसी । (घ) रुठिबे
को तूठिबे को मृदु मुसुकाइ कै बिलोकिबे को भेद कछु कछो
न परतु है ।—केशव ।

संयो० क्रि०—जाना ।—पढ़ना ।—बैठना ।

रुठनि-संज्ञा स्त्री० दे० “रुठन” ।

रुड-संज्ञा पुं० [अ०] लंबाई या विस्तार नापने का एक मान जो
५ गज का होता है ।

रुड़, रुड़ो-वि० [हिं० रुड़ा] [स्त्री० रुड़ी] श्रेष्ठ । उत्तम ।
(हिं०) उ०—भाहरे तेन्हौ रुड़ौ थाये । जे गुरु मुख मारगि
जाये ।—दादू ।

रुढ़-वि० [सं०] [स्त्री० रुढ़ा] (१) चढ़ा हुआ । आरुढ़ । (२)

उत्पन्न । जात । (३) प्रसिद्ध । ख्यात । प्रचलित । जैसे,—
इसका रुढ़ अर्थ यही है । (४) गँवार । उजड़ु । उ०—और
गूढ़ कहा कहौ मूढ़ हौं जू जान जाहु, प्रौढ़ रुढ़ केशवदास
नीके करि जाने हो ।—केशव । (५) कठोर । कठिन । उ०—
चाकी चली गोपाल की सब जग पीसा झारि । रुढ़ा शब्द
कबीर का डारा चाक उखारि ।—कबीर । (६) अकेला ।
अविभाज्य । जैसे,—रुढ़ संख्या ।

संज्ञा पुं० अर्थानुसार शब्द का वह भेद जो दो शब्दों या शब्द
और प्रत्यय के योग से बना हो, तथा जिसके खंड सार्थ
न हों । यह यौगिक का उलटा है । रुढ़ि । जैसे,—कुब्जा,
घोड़ा इत्यादि ।

रुढ़यौवना-संज्ञा स्त्री० दे० “आरुढ़यौवना” ।

रुढ़ा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की लक्षणा । वह लक्षणा जो
प्रचलित चली आती हो और जिसका व्यवहार प्रसिद्ध से
भिन्न अभिप्राय व्यंजना के लिये न हो । प्रयोजनवती लक्षणा
का उलटा ।

रुढ़ि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चढ़ाई । चढ़ाव । (२) वृद्धि ।
वढ़ती । (३) उभार । उठान । (४) उत्पत्ति । जन्म ।
प्रादुर्भाव । (५) ख्याति । प्रसिद्धि । (६) प्रथा । चाल ।
रीति । (७) विचार । निश्चय । उ०—प्रौढ़ रुढ़ि कै सो मूढ़
गूढ़ गेह में गयो । सूक्त मंत्र सोधि सोधि होम को जहाँ
भयो ।—केशव । (८) रुढ़ शब्द की शक्ति जिससे वह
यौगिक न होने पर भी अपने अर्थ का बोध कराता है ।

रुढ़ाद-संज्ञा स्त्री० [प्रा० रुपदाद] (१) समाचार । वृत्तांत ।
हाल । (२) दशा । अवस्था । हालत । (३) विवरण ।
कैफियत । (४) व्यवस्था । (५) अदालत की काररवाई ।
कार्यक्रम । (६) मुकदमे का रंग रंग । जैसे,—इस मुकदमे
की रुढ़ाद अच्छी नहीं जान पड़ती ।

रूप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पदार्थ का वह गुण जिसका
बोध द्रष्टा को चक्षुरिन्द्रिय द्वारा होता है । पदार्थ के वर्णों
और आकृति का योग जिसका ज्ञान आँखों को होता है ।
शकल । सुरत । आकार ।

विशेष—पदार्थों में एक शक्ति रहती है, जिससे उनका तेज
इस प्रकार विकृत होता है कि जब वह आँखों पर लगता है,
तब द्रष्टा को उस पदार्थ की आकृति, वर्णादि का ज्ञान होता
है । इस शक्ति को भी रूप ही कहते हैं । दर्शन शास्त्रों में
रूप को चक्षुरिन्द्रिय का विषय माना है । वैशेषिक दर्शन में
यह गुण माना गया है । सांख्य ने इसे पंचतन्मात्राओं में
एक तन्मात्रा माना है । बौद्ध दर्शन में इसे पाँच स्कंधों में
पहला स्कंध कहा है । महाभारत में सोलह प्रकार के गुण
(ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चतुरस्र, वृत्त, शुक, कृष्ण, नीलाङ्ग,
रक्त, पीत, कठिन, चिकण, श्लक्ष्ण, पिच्छल, मृदु और दारुण)

रूप के भेद या प्रकार माने गए हैं। वेदांत दर्शन ने इसको एक प्रकार की उपाधि माना है और अधिधा-जनित लिखा है।

यौ०—रूपरेखा = आकार। शकल।

(२) स्वभाव। प्रकृति। (३) सौंदर्य। सुंदरता। उ०—मुनि मन हरष रूप अति मोरे। मोहिं तजि आनहिं बरहि न मोरे।—तुलसी।

मुहा०—रूप हरना = लजित करना। उ०—दीप सम दीपति उदीपति अनूप निज रूप कै सरूप रति रूपहि हरति है।—व्यंग्यार्थ।

यौ०—रूप रेखा = (१) चिह्न। उ०—कहा करौ नीके करि हरि को रूप रेख नहिं पावति।—सूर। (२) पता। निशान। (३) शरीर। देह। उ०—(क) मसक समान रूप कपि धरी। लंका चले सुमिरि नर हरी।—तुलसी। (ख) जस जस सुरसा बदन बढ़ावा। तासु दून कपि रूप देखावा।—तुलसी।

क्रि० प्र०—धारण करना।—बनाना।—होना।

मुहा०—रूप लेना = रूप धारण करना। देह धरना। उ०—पाछे पृथु को रूप हरि लीनों नाना रस दुहि काढ़े। तापर रचना रची बिधाता बहु बिधि यत्न वादे।—सूर।

(५) वेप। भेष। उ०—(क) डीठ बचाय के जाइये कंत छये निज रावरो रूप बने हैं।—रघुनाथ। (ख) विप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ। माथ नाइ पूछत अस भयऊ।—तुलसी।

क्रि० प्र०—करना।—धरना।—बनाना।

मुहा०—रूप भरना = (१) भेष बनाना। वेप धारण करना। जैसे,—वह बहुरूपिया अच्छा रूप भरता है। (२) स्वाँग रचना। मजाक या तमाशा खड़ा करना।

(६) दशा। अवस्था। देश काल का भेद। (७) शब्द या वर्ण का स्वरूप या उसका वह रूपांतर जो उसमें विभक्ति, प्रत्यय इत्यादि विकारों के लगने से बन जाता है।

क्रि० प्र०—लेना।—बनाना।

(८) समान। तुल्य। सदृश। अनुरूप। उ०—बोलहु सुभा पियारे नाहाँ। मोरे रूप कोऊ जग माहाँ।—जायसी।

(९) भेद। विकार। (१०) चिह्न। लक्षण। आकार। जैसे,—

(क) युरोप की लड़ाई भयंकर रूप धारण करती जाती थी। (ख) उसकी बीमारी का रूप अच्छा नहीं है। उ०—उप-माही के रूप से मिल्यौ बरणि को रूप। ताही सौं सब कहत हैं केशव रूपक रूप।—केशव। (११) रूपक।

ॐ(१२) चाँदी। रूपा। उ०—(क) कहाँ सो खोयो बिरवा लोना। जेहि ते होय रूप औ सोना।—जायसी। (ख) सोन रूप मल भयो पसारा। धवल सिरी पोतहिं घरवारा।—जायसी।

वि० रूपवाला। रूपवान्। खूबसूरत। उ०—समय समय सुंदर सबै रूप कुरूप न कोइ। मन की रुचि जेती जिते तितै तिती रुचि होइ।—बिहारी।

रूपक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूर्ति। प्रतिकृति। उ०—बाहुलता

रति कंठ बिराजत केशव रूप को रूपक जो है।—केशव।

(२) वह काव्य जो पात्रों द्वारा खेला जाता है या जिसका अभिनय किया जाता है। दृश्यकाव्य। इसके प्रधान दस

भेद हैं जिन्हें नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहासृग, अंक, वीथी और प्रहसन कहते हैं। इसके

अतिरिक्त नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लास्यक, काव्य, प्रंखण, रासक, संलापक, श्रीगदित,

शिल्पक, विलासिका, दुर्मलिका, प्रकरणी, हल्लीश और भाण को उपरूपक कहते हैं। वि० दे० “नाटक”। (३)

एक अर्थालंकार जिसमें उपमेय में उपमान के साधर्म्य का आरोप करके उसका वर्णन उपमान के रूप से या अभेद-

रूप किया जाता है। रूपक दो प्रकार का होता है—तद्रूप और अभेद। जिसमें उपमेय का वर्णन उपमान रूप से होता है,

उसे तद्रूप, और जिसमें दोनों की अभेदता का वर्णन होता है, उसे अभेद रूपक कहते हैं। रूपक में आकृति, स्वभाव और शील का अभेद और तद्रूपता दिखाई जाती है। तद्रूप

का उ०—रच्यौ बिधाता दुहुन लै सिगरी सोभा साज। तू सुंदरि शचि दूसरी यह दूजो सुरराज। अभेद का उ०—

नारि कुमुदनी अवधसर रघुवर विरह दिनेश। अस्त भये विकसित भई निरखि राम राकेश। (४) एक परिमाण का

नाम। (५) चाँदी। (६) रुपया। (७) संगीत में सात मात्राओं का एक दो-ताला ताल, जिसमें दो आघात और

एक खाली होता है। इसमें खाली ताल पर ही सम होता है। जब यह दून में बजाया जाता है, तब इसे तेवरा कहते

हैं। इसका मृदंग का बोल इस प्रकार—धा दिंता-तेदेकता

गदिधेने धा और तबले का बोल इस प्रकार है—धिन् धा,

धिन् धा, तिन् तिन् ता। धा।

रूपकर्ता—संज्ञा पुं० [सं०] विश्वकर्मा।

रूपकातिशयोक्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] एल प्रकार की अतिशयोक्ति जिसमें केवल उपमान का उल्लेख करके उपमेयों का अर्थ

समझाया जाता है। उ०—कनक लता पर चंद्रमा धरे धनुष द्वै वाण।

रूपकृत्—संज्ञा पुं० [सं०] विश्वकर्मा।

रूपक्रांता—संज्ञा स्त्री० [सं०] सत्रह अक्षरों की एक वर्णवृत्ति का नाम जिसके प्रत्येक चरण में जगण, रगण, जगण, रगण,

जगण और अंत में एक गुरु और एक लघ मात्रा होती है।

उ०—अशेष पुण्य पाप के कलाप आपने बहाइ। विदेह-राज उयों सदेह भक्त राम के कहाइ। लहै सुसुक्ति लोक लोक अंत सुक्ति होहि ताहि। कहै सुनै पदै गुनै जो राम-चंद्र चंद्रिकाहि।—केशव।

रूपगर्विता-संज्ञा स्त्री० [सं०] गर्विता नायिका का एक भेद। वह नायिका जिसे अपने रूप या सुंदरता का अभिमान हो। उ०—ये अँग दीपित पुंज भरे तिनकी उपमा छन जोन्ह सों दीजत। भारसी की छवि त्यों द्विज देव सुगोल कपोल समान कहीजत। चातुर स्याम कहाय कही, उर अंतर लाज कलूक तौ लीजत। रागमयी अधराधर की समता कैले कै प्रवाल सों कीजत।—द्विजदेव।

रूपवनाक्षरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का दंडक छंद। इसके प्रत्येक चरण में बत्तीस वर्ण होते हैं। इसके अंत में लघु तथा आठ आठ वर्णों पर विश्राम होना आवश्यक है।

रूपचतुर्दशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी। यह दीप मालिका के एक दिन पहले होती है। इसे नरक चतुर्दशी भी कहते हैं। इस दिन लोग शरीर में उबटन आदि लगाते हैं।

रूपजीविनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेश्या। रंडी।

रूपण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आरोपण। आरोप करना। (२) प्रमाण। (३) परीक्षा।

रूपता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रूप का भाव या धर्म। (२) सौंदर्य। खूबसूरती।

रूपधर-वि० [सं०] सुंदर। खूबसूरत।

रूपनाशक-संज्ञा पुं० [सं०] उल्लू।

रूपपति-संज्ञा पुं० [सं०] स्वष्टा। विश्वकर्मा।

रूपमंजरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का फूल। उ०—सोनजरद बहु कुली सेवती। रूपमंजरी और मालती।—जायसी। (२) एक प्रकार का धान। उ०—राजहंस और हंसी भोरी। रूपमंजरी औ गुनगौरी।—जायसी।

रूपमनीष-वि० [हि० रूपमान] रूपवती। उ०—तेहि गोहन सिंहल पद्मिनी। इक सो एक चाहि रूपमनी।—जायसी।

रूपमय-वि० [हि० रूप + मय] [स्त्री० रूपमयी] अति सुंदर। बहुत खूबसूरत। उ०—(क) नील निचोल छाल भइ फनि-मनि भूषन रोम रोम पट उदित रूपमय।—सूर। (ख) मों मन मोहन को सबही मिलिकै सबही मुसकानि दिखाय दई। वह मोहनी मूरति रूपमयी सबही चितई तब हौं चितई। उनतो अपने अपने घर की रसखानि भली विधि राह लई। कछु मोहिं को पाप पन्थो पल में पग पावत पौरि पहार भई।—रसखानि।

रूपमान-वि० [सं० रूपवान्] [स्त्री० रूपमनी] उ०—तेहि

गोहन सिंहल पद्मिनी। इक ते एक चाहि रूपमनी।—जायसी।

रूपमाला-संज्ञा स्त्री० [हि० रूप + माला] एक मात्रिक छंद का नाम जिसके प्रत्येक चरण में १४ और १० के विश्राम से २४ मात्राएँ होती हैं। इसको मदन भी कहते हैं। उ०—। रावरे मुख के बिलोकत ही भये दुख दूरि। सुप्रलाप नहीं रहे उर मध्य आनंद पूरि। देह पावन हो गयो पदपद्म को पय पाइ। पूजतै भयो वंश पूजित आशु ही मयुराई।—केशव।

रूपमाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक छंद का नाम जिसके प्रत्येक चरण में तीन मगण या नौ दीर्घ वर्ण होते हैं। उ०—अंग-वंग कालिंगा काशी। गंगा सिंधू संगामा वासी।

रूपया-संज्ञा पुं० दे० “रूपया”।

रूपरूपक-संज्ञा पुं० [सं० रूप + रूपक] केशव के अनुसार रूप-कालंकार के ‘सावयव रूपक’ भेद का एक नाम।

रूपवंत-वि० [सं० रूपवत् या रूपवान् का बहु०] [स्त्री० रूपवंती] जिसमें सौंदर्य हो। खूबसूरत। रूपवान। सुंदर उ०—(क) पुनि रूपवंत बखानों काहा। जावत जगत सबै मुख चाहा।—जायसी। (ख) इतनि रूप भइ कन्या जेहि सुरूप नहीं कोइ। धन सु देश रूपवंता जहाँ जनम अस होइ।—जायसी। (ग) साईं सुआ विचित्र अति बानी वदत विचित्र। रूपवंत गुण आगरे राम नाम सो चित्र।—गिरधर। (घ) तापसी को वेष किये राम रूपवंत किधौं मुक्ति फल दोऊ टूटे पुण्य फल डारि ते।—हनुमन्ना०।

रूपवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) केशव के अनुसार एक छंद का नाम। इसे छंदप्रभाकर में गौरी लिखा है। उ०—कीजै न विडंबन संतत सीते। भावी न मिटै सुकहू जगगीते। तू पति देवन की गुरु बेटी। तेरी जग मृत्यु कहावति चेटी।—केशव। (२) चंपकमाला वृत्ति का एक नाम। रूपवती।

वि० स्त्री० सुंदरी। खूबसूरत। (स्त्री)

रूपवान्, रूपवान-वि० [सं० रूपवत्] [स्त्री० रूपवती] सुंदर। रूपवाला। खूबसूरत।

रूपशाली-वि० [सं० रूपशालिन्] [स्त्री० रूपशालिनी] रूपवान्। सुंदर। खूबसूरत।

रूपश्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] संपूर्ण जाति की एक संकर रागिनी जिसमें ऋषभ कोमल और शेष सब स्वर शुद्ध लगते हैं।

रूपसंपद्, रूपसंपत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] सौंदर्य। उत्तम रूप। सुंदरता।

रूपसेन-संज्ञा पुं० [सं०] एक विद्याधर का नाम।

रूपस्वी-वि० [सं० रूपस्वन्] रूपवान्। सुंदर।

रूपा-संज्ञा पुं० [सं० रूप्य] (१) चाँदी। उ०—(क) हरिभन मथिबे को मानों मनमथ लिखे रूपे के रुचिर अंक पट्टिका

कनक की।—केशव। (ख) यह सुन नंद जी ने कंचन के शृंग, रूपे के खुर, ताँबे की पीठ समेत दो लाख गज पाटंबर उदाय संकल्प की।—लल्लू। (२) घटिया चाँदी, जिसमें कुछ मिलावट हो। (३) वह बैल जो बिल्कुल सफ़ेद रंग का हो। इस रंग के बैल मजबूत और सहिष्णु माने जाते हैं। (४) स्वच्छ सफ़ेद रंग का घोड़ा। नुकरा।

रूपाजीवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेश्या। रंडी।

रूपाधिबोध-संज्ञा पुं० [सं०] इव्य वस्तु का वह ज्ञान जो इंद्रियों द्वारा होता है।

रूपावचर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बौद्ध मत के अनुसार एक प्रकार के देवता। (२) चित्त का एक भेद जिससे रूप-लोक का ज्ञान प्राप्त होता है। चित्त की इस वृत्ति के कुशल, विपाक, क्रियादि भेद से अनेक प्रकार माने जाते हैं। (३) ध्यान की एक भूमि का नाम, जिसके प्रथमा आदि चार भेद हैं। (योग)

रूपाश्रय-संज्ञा पुं० [सं०] सुंदर पुरुष। खूबसूरत आदमी।

रूपाख-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

रूपिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] सफ़ेद फूल का आक का पेड़। श्वेत मंदार। श्वेतार्क।

रूपित-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का उपन्यास, जिसमें ज्ञान, वैराग्यादि पात्र बनाए जाते हैं।

रूपी-वि० [सं० रूपिन्] [स्त्री० रूपिणी] (१) रूप विशिष्ट। रूप-वाला। रूपधारी। उ०—पढ़ पढ़ फिर जन्म लेते हैं, सो भी विद्या रूपी सागर की थाह नहीं पाते।—लल्लू। (२) तुल्य। सदृश। जैसे,—कमल रूपी चरण। उ०—पारस रूपी जीव है लोह रूप संसार। पारस ते पारस भया परख भया टकसार।—कबीर। (३) सुंदर खूबसूरत।

रूपेन्द्रिय-संज्ञा स्त्री० [सं०] चक्षु। आँख।

रूपेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० रूपेश्वरी] एक शिव लिंग का नाम।

रूपेश्वरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक देवी का नाम।

रूपोपजीविनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेश्या। रंडी।

रूपोपजीवी-संज्ञा पुं० [सं० रूपोपजीविन्] [स्त्री० रूपोपजीविनी] बहुरूपिया।

रूपोश-वि० [फा०] [संज्ञा रूपोशी] (१) छिपा हुआ। गुप्त। (२) जो दंड आदि से बचने के लिये भाग गया हो। फरार।

रूपोशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुँह छिपाने की क्रिया। गुप्ति। छिपना।

रूप्य-वि० [सं०] (१) सुंदर। खूबसूरत। (२) उपमेय। संज्ञा पुं० रूपा। चाँदी।

रूप्यक-संज्ञा पुं० [सं० रूप्य] रुपया।

रूप्याध्यक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] टकसाल का प्रधान अधिकारी। नैष्ठिक।

रूप्यकार-संज्ञा पुं० [फा०] (१) सामने उपस्थित करने का भाव।

पेशी। (२) वह तजवीज या फैसला जो किसी काररवाई में हाकिम अदालत के सामने लिखा जाय। अदालत का हुक्म। (३) कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में किसी को अदालत आदि में उपस्थित होने के लिये लिखा हुआ आज्ञापत्र। (४) आज्ञापत्र। हुक्मनामा।

रुबकारी-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) मुकदमे की पेशी। (२) मुकदमे की काररवाई।

रुबरू-क्रि० वि० [फा०] सम्मुख। सामने। समक्ष। उ०—(क) हमारे रुबरू आने की जरूरत नहीं।—राधाकृष्ण। (ख) महाराज की आज्ञा पावों तो रुबरू ले आवों।—लल्लू।

क्रि० प्र०—आना।—करना।—जाना।—लाना।—होना।

रुबुक-संज्ञा पुं० [सं०] एरंड वृक्ष। रेंड का पेड़।

रूम-संज्ञा पुं० [फा०] टर्की या तुर्की देश का एक नाम। उ०—चारि दिसा महि दंड रचो है रूम साम बिच दिली। ता ऊपर कुछ अजब तमाशा मारै है यम किल्ली।—कबीर।

विशेष—ईसा के जन्म से पहले पाँचवीं शताब्दी से रोमक जातियों की शक्ति बढ़ने लगी थी और यूनान का पतन होने पर वह एक प्रभावशाली जाति हो गई थी। इस जाति की राजधानी रोम नगर थी। यह जाति इतनी शक्तिशाली हो गई थी कि स्पेन से लेकर अरब, मिस्र आदि तक के देशों पर इसका अधिकार हो गया था। तीसरी शताब्दी के अंत में यह बृहत् साम्राज्य शासकों में विभक्त होने लगा और सन् ३३० में कैसर कानिस्तान ने कुस्तुनियु नगर में अपनी राजधानी बनाई। ३९५ में रोम राज्य, पूर्वीय और पश्चिमीय राज्य, जिसकी राजधानी रोम थी, धीरे धीरे निर्बल होता गया और उसे गाथ, फ्रेंच आदि जातियों ने ध्वंस कर दिया; और पूर्वीय राज्य ही सन् ४७६ से रोम राज्य कहलाने लगा। युरोप के दक्षिण पूर्व का भाग, एशिया का पश्चिमी भाग तथा उत्तरी अफ्रीका और अनेक टापू इस साम्राज्य के अंशभूत थे। तब से तुर्की को, जिसका प्रधान नगर कुस्तुनियु है, रूम कहने लगे; और अब तक उसे रूम ही कहते हैं।

रूमना#-क्रि० स० [हिं० रूमना का अनु०] झूमना। झलना। उ०—कहि आपनो तू भेद। न तु चित्त उपजत खेद। कहि बेग वानर पाप। न तु तोहि देहीं शाप। तब वृक्ष शाखा रुमि। कपि उतरि आयो भूमि।—केशव।

रूमाल-संज्ञा पुं० [फा०] (१) कपड़े का वह चौकोर टुकड़ा जो हाथ, मुँह पोंछने के काम में आता है। उ०—पोंछि रूमालन सों श्रम सीकर भौर की भीर निवारत ही रहे।—हरिश्चंद्र।

मुहा०—रूमाल पर रूमाल भिगोना = बहुत रोना। आँसुओं की धारा बहाना।

(२) चौकोना शाल या चिकन का टुकड़ा जिसके चारों ओर बेल और बीच में काम बना रहता है और जो तिकोना दोहर कर ओढ़ने के काम में लाया जाता है। मुसलमानी समय में इसे कमर में भी बाँधते थे। (३) पायजामे की काट में वह चौकोर कपड़ा जो दोनों मोहरियों की संधि में लगाया जाता है। मियानी। (४) ठगों का रुमाल जिसके एक कोने में चाँदी का एक टुकड़ा बँधा रहता था। ठग आदि इसे आदमियों के गले में लपेटकर चाँदी के टुकड़े को उसके गले पर घाँटी के पास अँगूठे से इस प्रकार दबाते थे कि वह मर जाता था।

क्रि० प्र०—लगाना।

रुमाली-संज्ञा स्त्री० दे० “रुमाली”।

रुमी-वि० [[फा०] (१) रुम देश संबंधी। रुम का। (२) रुम देश में उत्पन्न होनेवाला। जैसे,—रुमी मस्तगी। (३) रुम देश में रहनेवाला। रुम देश का निवासी। उ०—हबशी रुमी और फिरंगी। बड़ बड़ गुनी और तेहि संगी।—जायसी।

रुम-वि० [सं०] (१) जो गरम हो गया हो। उत्तप्त। (२) जला हुआ। दग्ध।

रुनाना-क्रि० प्र० [सं० रोवण = चिल्लाना] चिल्लाना। जोर से शब्द करना। उ०—(क) एक मुई रुन मुई सो दूजी। रहा न जाय आयु अब पूजी।—जायसी। (ख) हमरे श्याम चलन कहत हैं दूरि। मधुवन बसत आस हुती सजनी अब मरिहौं जु बिसुरि। कौन कहौं कौन सुनि आई केहि रुख रथ की धूरि। संगहिं सबै चलो माधव के ना तौ मरिहौं रुरि। दक्षिण दिशि यह नगर द्वारिका सिंधु रह्यौ जल पूरि। सूरदास प्रभु विनु क्यों जीवौ जात सजीवन मूरि।—सूर।

रुना-वि० [सं० रुद = प्रशस्त] [स्त्री० रुरी] प्रशस्त। श्रेष्ठ। उत्तम। अच्छा। उ०—(क) जिन्ह के श्रवण समुद्र समाना। कथा तुम्हार सुभग सरि नाना। भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम कहँ गृह रुरे।—तुलसी। (ख) लटकन ललित ललाट लहूरी। दमकत है द्वै दँदुरिया रुरी।—सूर।

रुल-संज्ञा पुं० [अं०] (१) नियम। कायदा। (२) लकीर खींचने का डंडा। रुलर। (३) लकीर जो लिखावट सीधी रखने के लिये कागज पर खींची जाती है।

क्रि० प्र०—खींचना।

रुली—रुलदार = (कागज) जिस पर लकीरें खिंची हुई हों।

रुलार-संज्ञा पुं० [अं०] (१) लकीर खींचने का डंडा। शलाका। (२) लकीर खींचने की पट्टी। पैमाना। (३) शासक।

रुष-संज्ञा पुं० दे० “रुख”।

३६६

रुषक-संज्ञा पुं० [सं०] रुसा। अडूसा। बासक।

रुषण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भूषित करना। अलंकरण। (२) अनुलेपन। (३) आच्छादन।

रुषा-वि० दे० “रुखा”।

रुषित-वि० [सं०] दूरा हुआ। खंडित। भग्न।

रुस-संज्ञा पुं० [फा०] एक देश का नाम जो युरोप और एशिया दोनों महाद्वीपों के उत्तरी भाग में फैला हुआ है। इसके उत्तर में उत्तरीय हिम सागर, पूर्व में प्रशांत महासागर, दक्षिण में चीन, तुर्किस्तान, फारस, कश्यप सागर, काकेशस या काफ पहाड़, काला सागर और रुमानिया, तथा पश्चिम में हंगरी, जर्मनी, बाल्टिक की खाड़ी, स्वीडन और नारवे हैं। इस देश में बड़ी बड़ी नदियाँ और बड़े बड़े मैदान तथा जंगल हैं। आबादी इस देश में घनी नहीं है। यह देश ८६,६०,२८२ वर्ग मील है। इसकी राजधानी लेनिनग्रेड है।

संज्ञा स्त्री० [फा० रविश] चाल। (लश०)

रुसना-क्रि० प्र० [हि० रोष] रोष करना। नाराज होना। रुठना। उ०—(क) खोला आगे आनि मजूसा। मिल निकसी बहु दिन कर रुसा।—जायसी। (ख) श्याम अचानक आये री। पाछे ते लोचन दोउ मुँदे मो को हृदय लगाए री। लहनों ताके जाके आवै मैं बड़ भागिनि पाए री। यह उपकार तुम्हारो सजनी रुसे कान्हू मिलाए री।—सूर। (ग) बारहि बार को रुसिबो बारो बहाउ जु बुद्धि बियोग बसाई।—केशव। (घ) जगत जुराफा है जियत तज्यो तजे निज भान। रुसि रहे तुम पूस में यह धौं कौन समान।—पद्माकर।

क्रि० प्र०—जाना।—वैठना।

रुसा-संज्ञा पुं० [सं० रुषक] अडूसा। अरुसा। वि० दे० “अडूसा”। संज्ञा पुं० [सं० रोहिण] एक सुगंधित घास का नाम जो नेपाल, शिमला अलमोड़ा, काश्मीर, पंजाब, राजमहल, मध्य प्रदेश के पहाड़ी प्रदेशों, बंबई और मद्रास के पर्वतों में होती है। इस घास से गुलाब की सी सुगंध आती है और इसका तेल निकाला जाता है। इसकी प्रधान दो जातियाँ होती हैं। एक का फूल सफेद और दूसरी का फूल नीले रंग का होता है। जब यह घास नरम रहती है, तब इसकी पत्तियों का रंग नीलापन लिए होता है; पर पकने पर उनका रंग लाल हो जाता है। जब इसकी पत्तियाँ नरम होती हैं, तब इसे मोतिया कहते हैं; और जब पककर लाल हो जाती हैं, तब उन्हें सौंफिया कहते हैं। सावन भादों में यह फूलने लगती है और कातिक आगहन तक फूलती है। इसी समय इसकी पत्तियाँ तेल निकालने के योग्य हो जाती हैं। जब घास फूलने लगती है, तब काट ली जाती है और इसकी

छोटी छोटी पूलियाँ बाँध ली जाती हैं। तेल निकालते समय देग में पानी भरकर ठाई तीन सौ पूलियाँ उसमें छोड़ दी जाती हैं। फिर देग पर सरपोश लगा देते हैं, जिसमें दो नलियाँ, जो तीन चार अंगुल मोटी और चार हाथ लंबी होती हैं, लगी रहती हैं। यह देग आग पर रख दिया जाता है और नालियों का सिरा ताँबे के दो घड़ों के मुँह से लगा दिया जाता है, जो पानी में डूबे रहते हैं। इस प्रकार घास का आसव खींचा जाता है। जब आसव निकल आता है, सब उसे एक चौड़े मुँह के बरतन में उँडेल लेते हैं। इस बरतन में रुसे का अर्क थोड़ी देर तक रहता और तेल छोटे चम्मच से धीरे धीरे ऊपर से काल लिया जाता है। यह तेल गुलाब के अतर में मिलाया जाता है और इसमें ताड़पीन या मिट्टी का तेल मिलाकर सुगंधित द्रव्य तैयार किया जाता है। मध्य प्रदेश के जंगलों से रुसा का तेल बहुत अधिक मात्रा में बाहर जाता है। युरोप और अमेरिका में इस तेल का बहुत व्यवहार तथा व्यापार होता है।

पर्या०—रोहिष। गंधवेना। भूतृण। कत्तृण। गंधतृण।

रुसी—वि० [हि० रुस] (१) रुस देश का रहनेवाला। रुस देश का निवासी। (२) रुस देश में उत्पन्न। (३) रुस देश का।

संज्ञा स्त्री० रुस देश की भाषा।

संज्ञा स्त्री० [देश०] सिर के चमड़े पर जमा हुआ भूसी के समान छिलका जो सिर न मलने से जम जाता है।

क्रि० प्र०—जमना।—निकलना।

रुह—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) आत्मा। जीवात्मा। उ०—चाय चश्म से नजर न आवै देखु रुह के नैना। चून चिगून वजूद न मानु तैं सुभा नमूना ऐना।—कबीर। (२) सत्त। सार। जैसे,—रुह गुलाब, रुह केवड़ा, रुह पानड़ी। (यह इत्र का एक भेद होता है।)

रुहड़—संज्ञा स्त्री० [हि० रुई] पुरानी रुई जो पहले किसी ओढ़ने या बिछाने जादि के कपड़ों में भरी रही हो।

रुहना छ—क्रि० अ० [सं० रोहण] चढ़ना। उमड़ना। उ०—चहुँ दिशि दिष्टि परी गज जूहा। श्याम वटा मेघ जस रुहा।—जायसी।

क्रि० अ० [हि० रूधना] आवेष्टित करना। घेरना। उ०—इमि वसु षोडश वत्तिस जूहा। मधि मोहन शशि के सम रुहा।—गोपाल।

रुही—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का वृक्ष जो हिमालय पर्वत के नीचे रावी नदी के पूर्व में तथा मध्य भारत और मद्रास प्रांत में पाया जाता है। इसे चौरी और मामरी भी कहते हैं। इसकी छाल देशी ओषधियों में काम आती है और जड़ साँप के काटने की ओषधि मानी जाती है। इसकी

लकड़ी तैल में प्रति घन फुट २० सेर तक होती है। यह बहुत मजबूत और चिकनी होती है। रंग देने और वार्निश करने से इस पर बहुत अच्छी चमक आती है। इससे मेज, कुर्सी, अलमारी और तख्तों के चौखटे बनाए जाते हैं। यह वृक्ष बीज से बरसात में उगता है। इसको संस्कृत में अहिगंधा कहते हैं। इसकी पत्तियाँ उत्तजक और कटु होती हैं। इसकी छाल पेट की पीड़ा और अंतरिया ज्वर में दी जाती है। इसकी मात्रा ३ मासो से ६ मासो तक है। यह मधु के साथ कुछ रोग में और काली मिर्च के साथ पीस कर विस्त्रुचिका तथा अतीसार में भी दी जाती है। इसे वैद्य लोग ईसर मूल, अर्क मूल और रुही मूल कहते हैं।

रुहीमूल—संज्ञा पुं० [हि० रुही + मूल] रुही नामक वृक्ष की छाल और जड़। ईसरमूल। अर्कमूल। अहिगंधा। वि० दे० “रुही”।

रेंकना—क्रि० अ० [अनु०] (१) गदहे का बोलना। उ०—तिसका शब्द सुन कर धेनुक खर रेंकता आया।—लछू। (२) बुरे ढंग से गाना। उ०—पर हमारे राम भी जब रेंकते हैं, तो तीस्रो रागिनी हुड़दंगा नाचने लगती हैं।—प्रतापना-रायण।

रेंगटा—संज्ञा पुं० [अनु० रेंकना] गदहे का बच्चा।

रेंगना—क्रि० अ० [सं० रिंगण] (१) कीड़ों और सरीसृपों का गमन। र्यूँटी आदि कीड़ों का चलना। उ०—रकत के आँसु परें भुईं दूटी। रेंगि चली जनु बीर बहूटी।—जायसी। (२) धीरे धीरे चलना। उ०—(क) कोउ पहुँचे कोउ रेंगत मग में कोउ घर में ते निकसे नाहिं।—सुर। (ख) गरु सिंघ रेंगहि एक बाटा।—जायसी।

रेंगनी—संज्ञा स्त्री० [हि० रेंगना] भटकटैया।

रेंट—संज्ञा पुं० [देश०] श्लेष्मा मिश्रित मल जो नाक से (विशेषतः जुकाम होने पर) निकलता है। नाक का मल।

क्रि० प्र०—निकलना।—बहना।

रेंटो—संज्ञा पुं० [देश०] लिसोड़े का फल।

रेंड—संज्ञा पुं० [सं० परण्ड] (१) एक पौधा जो ६-७ हाथ ऊँचा होता है और जिसकी पेड़ी और टहनी पोली तथा सुलायम होती है। इसमें चारों ओर बड़ी बड़ी शाखाएँ नहीं निकलती; सिरे पर छोटी छोटी टहनियाँ होती हैं, जिनमें पत्तों की पोली डाँड़ियाँ लगी रहती हैं। इन डाँड़ियों के छोर पर बालिशत डेढ़ बालिशत के बड़े बड़े गोल कटावदार पत्ते लगे रहते हैं। कटाव बहुत लंबे होते हैं और पत्तों तथा टहनियों के रंग में कुछ नीली झाँझ सी रहती है। फूल सफेद होते हैं और फल गोल गोल तथा कँटीले होते हैं। फलों के अंदर कई बड़े बड़े बीज होते हैं जिनमें से बहुत तेल निकलता है। यह तेल जलाने और औषध के काम में आता है। यह दस्तावर होता है।

यद्यपि इसके बीज बहुत काम के होते हैं, पर खाने योग्य फल या छाया न होने के कारण लोग इसे निकृष्ट पेड़ों में गिनते हैं। उ०—नाम जाको कामतर देत फल चरि ताहि तुलसी बिहाइकै बबूर रेंड गोड़िए।—तुलसी। (२) एक प्रकार की ईख जिसे रेंडा भी कहते हैं।

रेंडखरबूजा—संज्ञा पुं० [हि० रेंड + खरबूजा] पपीता।

रेंडना—क्रि० प्र० [हि० रेंड] फसल के पौधे का बढ़ना।

रेंडमेवा—संज्ञा पुं० [हि० रेंड + मेवा] अंडकाकुनी। रेंड खरबूजा। पपीता।

रेंडा—संज्ञा पुं० [हि० रेंड] एक प्रकार का धान जिसकी फसल कुआर कातिक में तैयार हो जाती है।

संज्ञा स्त्री० एक प्रकार की ईख।

रेंडी—संज्ञा स्त्री० [हि० रेंड] अरंडी या रेंड के बीज जिनसे तेल निकलता है और जो रेचक होने के कारण दवा के काम में आते हैं।

रेंदी—संज्ञा स्त्री० [देश०] खरबूजे का छोटा फल। ककड़ी या खरबूजे की बतिया।

रेंरे—प्र० अनमने लड़कों के रोने का शब्द।

मुहा०—रेंरे करना = बच्चों का धीरे धीरे रोना। जैसे,—यह लड़का जब देखो, तब रेंरे करता रहता है।

रे—अव्य० [सं०] संबोधन शब्द। उ०—क्यों मन मूढ़ छबीली के अंगलि जाय पग्यो रे ससा जिमि भीर में।—मन्नालाल।

विशेष—इस संबोधन से आदर का अभाव सूचित होता है और इसका प्रयोग उसी के प्रति होता है, जिसके प्रति 'तू' सर्वनाम का व्यवहार होता है।

संज्ञा पुं० [सं० ऋषभ का आदि र] ऋषभ स्वर। जैसे—स, रे, ग, म, प, ध, नी।

रेडँछा—संज्ञा पुं० दे० “रेवँछा”।

रेउड़ा—संज्ञा पुं० दे० “रेवड़ा”।

रेउड़ी—संज्ञा स्त्री० दे० “रेवड़ी”।

रेउरा—संज्ञा पुं० दे० “रेवरा”।

रेक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दस्त लाना। विरेचन। (२) नीच। (३) शंका।

रेकान—संज्ञा पुं० [देश०] वह जमीन जो नदी के पानी की पहुँच के बाहर हो।

रेख—संज्ञा स्त्री० [सं० रेखा] (१) रेखा। लकीर। उ०—दुहुँ नैनन बीच में काजर-रेख विराजत रूप अनूप जग्यो।

मुहा०—रेख खींचना, खींचना = (१) लकीर बनाना। रेखा अंकित करना। (२) (कहने में) जोर देना। दृढ़ता प्रकट करना। निश्चय उत्पन्न करना। प्रतिष्ठा करना। उ०—(क) पूछा गुनिन्ह, रेख तिन खाँची। भरत भुवाल होहि, यह साँची।—तुलसी। (ख) रेख खँचाइ कहौं बल भाखी। भामिनि भइउ दूष कै

भाखी।—तुलसी। रेख काढ़ना = दे० “रेख खींचना” (१)।

उ०—गुन तोग्यो गुन जात जिते गुन कावृति रेख मही।—सूर।

(२) चिह्न। निशान। उ०—बिना रूप, बिनु रेख के जगत नचावै सोइ।

यौ०—रूप रेख = आकार। स्वरूप। सूरत। उ०—ना ओहि ठाँव न ओहि बिनु ठाँव। रूप रेख बिनु निरमल नाँव।—जायसी।

(३) गिनती। गणना। जुमार। हिसाब। उ०—तिन महीं प्रथम रेख जग मोरी। (४) नई नई निकलती हुई मूर्छें। मूर्छों का आभास। उ०—देखैं छैल छबीले रेख उठान।—देव।

क्रि० प्र०—निकलना।

मुहा०—रेख आना, भीजना या भीनना = निकलती हुई मूर्छों का दिखाई पड़ना।

(५) हीरे के पाँच दोषों में से एक जिसमें हीरे में महीन महीन लकीरें सी पड़ी दिखाई पड़ती हैं।

रेखता—संज्ञा पुं० [फा०] एक प्रकार का गाना या गज़ल जिसका प्रचार अरबी फारसी मिली हिंदी में पहले पहल मुसलमानों द्वारा हुआ था। इसी से उर्दू को बहुत दिनों तक लोग रेखता ही कहते थे।

रेखना—क्रि० सं० [सं० रेखन या लेखन] (१) रेखा खींचना। रेख बनाना। लकीर खींचना। अंकित करना। चिह्न करना। उ०—(क) शोभित स्वकीय गण गुण गनती में तहाँ तेरे नाम ही की एक रेखा रेखियतु है।—पद्माकर। (ख) सत्य कहो कहा झूठ में पावत देखो वेई जिन रेखी कथा।—केशव। (ग) उरज करज रेख रेखी बहु भाँति है।—केशव। (२) खरोंचना। खरोंच डालना। छेड़ना। उ०—देखति जनु रेखत तनु बान नयन कोरहीं।—केशव।

रेखांश—संज्ञा पुं० [सं०] द्राविमाश। यामोत्तर वृत्त की एक एक डिग्री या अंश।

रेखा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सूत के आकार का लंबा गथा हुआ चिह्न। वंदाकार चिह्न। डौड़ी। लकीर। उ०—रेखा रुचिर कंबु कल ग्रीवा।—तुलसी।

क्रि० प्र०—खींचना।

(२) किसी वस्तु का सूचक चिह्न। दृढ़ अंक।

यौ०—कर्मरेखा = भाग्य की लिपि जो प्राणियों के मस्तक पर पहले से ही अंकित मानी जाती है। भाग्य का लेख। उ०—नेम प्रेम शंकर कर देखा। अविचल हृदय भगति कै रेखा।—तुलसी।

(३) गणना। जुमार। गिनती। उ०—साधु-समाज न जाकर लेखा। राम-भगत महीं जासु न रेखा।—तुलसी।

(४) आकृति। आकार। सूरत।

यौ०—रूप-रेखा।

(५) हथेली, तलवे आदि में पड़ी हुई लकीरें जिनसे सामुद्रिक में मनुष्य के शुभाशुभ का निर्णय किया जाता है। जैसे,—

कमल-रेखा, अंकुश-रेखा, ऊर्ध्व रेखा आदि । वि० दे० "सामुद्रिक" । (६) हीरे के बीच में दिखाई पड़नेवाली लकीर जो एक दोष मानी जाती है ।

विशेष—रत्नपरीक्षा में रेखाएँ चार प्रकार की कही गई हैं—सव्य रेखा, अपसव्य रेखा, ऊर्ध्व रेखा और क्षीराविद्धि रेखा । इनमें से सव्य रेखा को छोड़कर और सब का फल अशुभ माना गया है ।

रेखागणित-संज्ञा पुं० [सं०] गणित का वह विभाग जिसमें रेखाओं द्वारा कुछ सिद्धांत निर्धारित किए जाते हैं । देश-संबंधी सिद्धांत स्थिर करनेवाला गणित ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग पहले पहल पंडितराज जगन्नाथ ने किया । उन्होंने "इउक्लिड" के अरबी अनुवाद का महा-राज जयसिंह की आज्ञा से संस्कृत में अनुवाद किया । पर वैदिक ऋषियों ने भी इस शास्त्र का आरंभ किया था । इसके प्रमाण 'शुल्व सूत्र' हैं, जिनमें यज्ञ की वेदियाँ बनाने के लिये नाना आकारों का विचार किया गया है । पीछे भास्कराचार्य की लीलावती बनी जो क्षेत्रमिति पर ही है । कुछ लोगों का कहना है कि प्राचीन आर्य क्षेत्रमिति (Mensuration) तो जानते थे, पर रेखा-गणित नहीं जानते थे । पर यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि मित्र और यूनान में भी भूमि की माप के लिये ही रेखागणित का पहले पहल व्यवहार हुआ था ।

रेखाभूमि-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन ज्योतिषी अक्षांश स्थिर करने के लिये सुमेरु और लंका के मध्य जो रेखा कल्पित करते थे, उसकी सीध में पड़नेवाले देश ।

रेखित-वि० [सं० रेखा] (१) खिंचा हुआ । अंकित । लिखित । (रेखा) (२) जिस पर रेखा या लकीर पड़ी हो । (३) मसका हुआ । फटा हुआ । उ०—रेखित कंचुकी केंचुकी के बिच होत छिपाये कहा कुच कंजन ।—पद्माकर ।

रेग-संज्ञा स्त्री० [फ्रा०] बालू ।

यौ०—रेगिस्तान ।

रेगिस्तान-संज्ञा पुं० [फ्रा०] बालू का मैदान । मरुदेश ।

रेचक-वि० [सं०] (१) जिसके खाने से दस्त आवें । कोष्ठशुद्धि करनेवाला । दस्तावर ।

संज्ञा पुं० (१) पिचकारी । (२) जवाखार । (३) जमाल-गोटा । (४) प्राणायाम की तीसरी क्रिया, जिसमें खींचे हुए साँस को विधिपूर्वक बाहर निकालना होता है । उ०—(क) पूरक कुंभक रेचक करई । उलटि ध्यान त्रिकुटी को धरई ।—विश्राम । (ख) सब आसन रेचक भर पूरक कुंभक सीखे पाइ । बिन गुरु निकट सँदेसन कैसे यह अव-गाहो जाइ ।—सूर ।

रेचन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दस्त लाना । कोष्ठशुद्धि करना ।

पेट से मल निकालना । (२) वह औषध जो मल निकाल-कर कोठा साफ करे । जुलाब ।

विशेष—सुश्रुत ने छः प्रकार के रेचक द्रव्य कहे हैं—फल, मूल, छाल, तेल, रस और पेड़ों के दूध ।

रेचनक-संज्ञा पुं० [सं०] कपिलक । कमीला ।

रेचना*—क्रि० सं० [सं० रेचन] वायु या मल को बाहर निकालना । उ०—प्रथमै सूरज भेदिनी पूरे पिंगल बात । रेचै बाँवे रोकि कछु हरै वायु रज गात ।—विश्राम ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] कपिल दूध । कमीला ।

रेचनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमीला । (२) दंती । (३) कालांजली । (४) वटपत्री ।

रेचित-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घोड़ों की एक चाल । (२) नाचने में हाथ हिलाने का एक ढंग ।

रेच्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राणायाम में बाहर छोड़ी हुई वायु । (२) भेदक । जुलाब ।

रेजस, रेजसझीमा-संज्ञा पुं० [फ्रा० रेजिस] घोड़ों का जुकाम ।

रेजा-संज्ञा पुं० [फ्रा०] (१) किसी वस्तु का बहुत छोटा टुकड़ा । सूक्ष्म खंड । उ०—(क) रेजा रेजा करि तीषे नैनन की कोरन सों काकरेजा वारी सो करेजा कादि लै गई ।—रघुनाथ । (ख) परिघ, परशु, नेत्रे मेघनाद के जे भेजे, तिन्है के के रेजे रोजे महावीर भायो है ।—रघुराज । (२) मजदूर लड़का जो बड़े राजगीरों के साथ काम करता है । (३) अँगिया । सीनाबंद । (हुँदेलखंडी) (४) सुनारों का एक औज़ार जिसमें गला हुआ सोना या चाँदी डालकर पाँसे के आकार का बना लेते हैं । यह लोहे की बनी नाली के आकार का होता है । इसे 'परघनी' भी कहते हैं । (५) नग । थान । अद्द ।

रेजिश-संज्ञा स्त्री० [फ्रा०] जुकाम ।

रेजीडेंट-संज्ञा पुं० [अंग०] वह अँगरेजी राजकर्मचारी जो किसी देशी राज्य में अँगरेजी राज्य के प्रतिनिधि के रूप में रहता है ।

रेजीमेंट-संज्ञा स्त्री० [अंग०] सेना का एक भाग । रिजमित ।

रेजू-संज्ञा पुं० [फ्रा० रेसा ?] एक प्रकार का रेशा जो ब्रश (कपड़ा आदि साफ करने की कूँची) बनाने के लिये कलकत्ते में विलायत से आता है ।

रेट-संज्ञा पुं० [अंग०] (१) भाव । निर्ख । (२) चाल । गति ।

रेडियम-संज्ञा पुं० [अंग०] एक मूलद्रव्य धातु जिसका पता वैज्ञानिकों को हाल में ही लगा है ।

विशेष—यह धातु अत्यंत विलक्षण है । इसे शक्ति का संचित रूप ही समझना चाहिए । यह उज्ज्वल प्रकाश-मय होती है । इसके मिलने से परमाणु-संबंधी सिद्धांत में बहुत परि-वर्तन हुआ है । पहले वैज्ञानिक परमाणु को अयौगिक मूल

द्रव्य मानते थे; पर अब यह पता लगा है कि परमाणु भी अत्यंत सूक्ष्म विद्युत्कणों की समष्टि हैं।

रेणु-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) धूल। (२) बालू। (३) पृथ्वी। (हिं०) (४) सँभाल के बीज। (५) बिडंग। (६) अत्यंत लघु परिमाण। कणिका।

रेणुका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बालू। रेत। (२) रज। धूल। (३) पृथ्वी। (हिं०) (४) सँभाल के बीज। (५) सह्याद्रि पर्वत का एक तीर्थ। (६) परशुराम की माता का नाम।

विशेष—ये विदर्भराज की कन्या और जमदग्नि की पत्नी थीं। एक बार ये गंगा स्नान करने गईं। वहाँ राजा चित्ररथ को स्त्रियों के सहित जल क्रीड़ा करते देख रेणुका के मन में कुछ विकार उत्पन्न हुआ। पर वह तुरंत वर लौट आईं। जमदग्नि को उनके मनोविकार का पता लग गया, इससे वे बहुत क्रुद्ध हुए और अपने पुत्रों से उनका वध करने के लिये कहा। और कोई पुत्र तो मातृहत्या करने को राजी न हुआ; परशुराम ने पिता की आज्ञा से माता का वध किया। जमदग्नि ने परशुराम पर अत्यंत प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा। परशुराम ने पहला वर यही माँगा कि माता फिर से जीवित हो जायँ।

रेणुवर्षित-संज्ञा पुं० [सं०] गदहा।

रेणुवास-संज्ञा पुं० [सं०] भ्रमर। भौरा।

रेणुसार-संज्ञा पुं० [सं०] कपूर।

रेतःकुलया-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नरक का नाम।

रेत-संज्ञा पुं० [सं० रेत] (१) वीर्य। शुक्र। (२) पारा। (३) जल।

संज्ञा स्त्री० [सं० रेतजा] (१) बालू। (२) बलुआ मैदान। महभूमि। उ०—जै जै जानकीस जै जै लखन कपीस कहि कूँ कपि कौतुकी नचत रेत रेत हैं।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [हिं० रेतना] लोहार का वह औज़ार जिससे वह लोहे को रेतता है। रेती।

रेतकुंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रेतःकुलया नाम का नरक। (२) कुमाऊँ में हिमालय पर का एक तीर्थस्थान।

रेतन-संज्ञा पुं० [सं०] शुक्र। वीर्य।

रेतना-क्रि० सं० [हिं० रेत] (१) रेती के द्वारा किसी वस्तु को रगड़कर उसमें से छोटे छोटे कण गिराना, जिससे वह चिकनी या आकार में कम हो जाय।

क्रि० प्र०—डालना।—देना।

(२) किसी वस्तु को काटने के लिये औज़ार की धार रगड़ना। जैसे,—आरी से रेतना। (३) औज़ार से रगड़कर काटना। धीरे धीरे काटना। जैसे,—गला रेतना। उ०—(क) भूला सो भूला बहुरि कै चेतु। शब्द छुरी संशय को रेतु।—कबीर। (ख) लियो छुड़ाइ चले कर भीजत पीसत दाँत गये रिस

रेते।—तुलसी। (ग) जाको नाम रेत सो रेतत रेतन के बन को।—देव स्वामी।

रेतल-संज्ञा पुं० [देश०] एक पक्षी जिसका रंग भूरा और लंबाई छः इंच होती है। यह युक्त प्रांत और नेपाल में नदियों के किनारे रहता है। किसी झाड़ी या पत्थर के नीचे घास से प्याले के आकार का घोंसला बनाता है और भूरे रंग के २, ३ अंडे देता है।

रेतला-वि० दे० “रेतीला”।

रेतल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वीर्य। शुक्र। (२) पारा। (३) जल।

रेता-संज्ञा पुं० [हिं० रेत] (१) बालू। (२) मिट्टी। धूल। (३) बालू का मैदान।

रेतिया-संज्ञा पुं० [हिं० रेतना] रेतनेवाला।

रेती-संज्ञा स्त्री० [हिं० रेतना] रेतने का औज़ार। लोहे का मोटा फल जिस पर खुरदरे दाने से उभरे रहते हैं और जिसे किसी वस्तु पर रगड़ने से उसके महीन कण छूटकर गिरते हैं। (इससे सतह चिकनी और बराबर करते हैं।)

संज्ञा स्त्री० [हिं० रेत + ई० (प्रत्य०)] (१) नदी या समुद्र के किनारे पड़ी हुई बलुई ज़मीन। बालू का मैदान जो नदी या समुद्र के किनारे हो। बलुआ किनारा। उ०—खेलत रही सहेली सेंती। पाट जाइ लाग तेहि रेती।—जायसी। (२) नदी की धारा के बीचोबीच टापू की तरह की बलुई ज़मीन जो पानी घटने पर निकल आती है। नदी का द्वीप। जैसे,—गंगा जी में इस साल रेती पड़ जाने से दो धाराएँ हो गई हैं।

क्रि० प्र०—पड़ना।

रेतीला-वि० [हिं० रेत + ईला (प्रत्य०)] [स्त्री० रेतीली] बालूवाला। बालुकामय। बलुआ। जैसे,—रेतीला किनारा या मैदान।

रेत्य-संज्ञा पुं० [सं०] पीतल।

रेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रेतल। शुक्र। (२) पीयूष। अमृत। (३) पटवास।

रेना-क्रि० सं० [देश०] किसी वस्तु में डालकर या टिकाकर लटकाना।

रेनी-संज्ञा स्त्री० [सं० रंजनी] वह वस्तु जिससे रंग निकलता हो।

संज्ञा स्त्री० [हिं० रेना = लटकाना] वह अलगनी जिस पर रँगरेज़ लोग कपड़ा रँगकर सूखने को डालते हैं।

रेनु-संज्ञा पुं० दे० “रेणु”।

रेनुका-संज्ञा स्त्री० दे० “रेणुका”।

रेप-वि० [सं०] (१) निदित। (२) क्रूर। (३) कृपण।

रेफ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रकार का वह रूप जो अन्य अक्षर के पहले आने पर उसके मस्तक पर रहता है। जैसे,—सर्प, वर्ष, वर्ष में। (२) रकार (३)। (३) राग। (४) शब्द।

वि० [सं०] कुत्सित । अधम ।

रेम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक वैदिक ऋषि जिन्हें असुरों ने एक कूर्प में डाल दिया था । दस रातों और नौ दिन बीतने पर अग्निनीकुमारों ने इन्हें निकाला था । (ऋग्वेद) (२) कश्यप-वंशीय एक दूसरे ऋषि ।

रेरिहान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । (२) असुर । (३) चोर ।
रेरुआ, रेरुवा-संज्ञा पुं० [अनु०] बड़ा उल्लू, पक्षी । ररुआ । घुग्घू ।
रेल-संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) सड़क की वह लोहे की पटरी जिस पर रेल-गाड़ी के पहिए चलते हैं । (२) भाप के जोर से चलनेवाली गाड़ी । रेल-गाड़ी ।

विशेष—भाप के एंजिन से चलनेवाली गाड़ी का आविष्कार पहले पहल सन् १८०२ ई० में इंग्लैंड में हुआ । तब से इसका प्रचार बहुत बढ़ता गया; यहाँ तक कि अब पृथ्वी पर बहुत कम ऐसे सभ्य देश हैं, जिनमें रेलगाड़ी न हो ।

संज्ञा स्त्री० [हि० रेलना] (१) बहाव । धारा । उ०—भूषण भनत जाके एक एक शिखर से केते धौं नदी नद की रेल उतरति है ।—भूषण । (२) आधिक्य । भरमार । उ०—सवन कुंज में अमित केलि लखि तनु सुगंध की रेल ।—सूर ।

यौ०—रेलठेल । रेलपेल ।

रेलठेल-संज्ञा स्त्री० दे० “रेलपेल” । उ०—कहै पदमाकर हमेसा दिव्य बीधिन मों बानन की रेलठेल ठेलन ठिलति है ।—पद्माकर ।

रेलना-क्रि० सं० [देश०] (१) आगे की ओर झोंकना । ठकेलना । धक्का देना । उ०—(क) एक द्विज लुधित घुस्यो तहँ पेली । दियो सिपाही ता कहँ रेली ।—रघुराज ।

क्रि० प्र०—देना ।

(२) अधिक भोजन करना । ठस ठस कर खाना । उ०—फूले वर बसंत बन बन से कहँ मालती नवेली । तापे मदमाते से मधुकर गूँजत मधुरस रेली ।—हरिचंद्र ।

क्रि० अ० ठसाठस भरा होना । अधिक होना । उ०—फूली माधवी मालती रेलि । फूले ही मधुप करत हैं केलि ।—सूर ।

रेलपेल-संज्ञा स्त्री० [हि० रेलना + पेलना] (१) भीड़, जिसमें लोग एक दूसरे को धक्का देते हों । (२) भरमार । अधिकता । ज्यादाती ।

रेलवे-संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) रेल-गाड़ी की सड़क । (२) रेल का मुहकमा । जैसे,—वह रेलवे में काम करता है ।

रेला-संज्ञा पुं० [देश०] (१) तबले पर महीन और सुंदर बोलों को बजाने की रीति । (२) जल का प्रवाह । बहाव । तोड़ । (३) समूह में चढ़ाई । धावा । दौड़ । (४) धक्काधक्का । (५) अधिकता । बहुतायत । (६) पंक्ति । समूह ।

रेवछा-संज्ञा पुं० [देश०] एक द्विदल अन्न जिसकी फलियाँ गोल, पतली और लगभग एक बालिकत लंबी होती हैं । इसके

दाने लंबोत्तरे, गोल उर्द से कुछ बड़े और रंग में बादामी होते हैं । इसकी लोग दाल खाते हैं ।

रेवंत-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य के पुत्र जो गुह्यकों के अधिपति हैं और जिनकी उत्पत्ति सूर्य की बड़वा रूपधारिणी संज्ञा नाम की पत्नी से हुई थी ।

रेवंद-संज्ञा पुं० [फा०] एक पहाड़ी पेंड जो हिमालय पर ग्यारह बारह हजार फुट की ऊँचाई पर होता है । काश्मीर, नैपाल भूटान और सिक्किम के पहाड़ों में यह जंगली पाया जाता है । इसकी उत्तम जाति तिब्बत के दक्षिण-पूर्व भागों और चीन के उत्तर-पश्चिम भागों में होती है और रेवंद चीनी कहलाती है । हिन्दुस्तानी रेवंद वैसी अच्छी नहीं होती; उसमें महक भी वैसी नहीं होती, जैसी चीनी की होती है । बाजारों में इसकी सूखी जड़ और लकड़ी रेवंद चीनी के नाम से बिकती है और औषध के काम में आती है । इसमें क्राइसोफानिक एसिड होता है, जिससे इसका रंग पीला होता है । क्राइसोफानिक एसिड दाद की बहुत अच्छी दवा है । रेवंद चीनी रेचक होती है और पेट के दर्द को दूर करती है । यह पौष्टिक भी मानी जाती है ।

रेवट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शूकर । सूअर । (२) वेणु । बाँस । (३) विषवैद्य । (४) दक्षिणावर्त्त शंख ।

रेवड़-संज्ञा पुं० [देश०] भेड़-बकरी का झुंड । लेंहड़ा । गल्ला ।

रेवड़ा-संज्ञा पुं० [देश०] पगी हुई चीनी या गुड़ के लंबे लंबे टुकड़े जिन पर सफेद तिल चिपकाया रहता है ।

रेवड़ी-संज्ञा स्त्री० [देश०] पगी हुई चीनी या गुड़ की छोटी टिकिया जिस पर सफेद तिल चिपकाया रहता है ।

रेवत-संज्ञा पुं० [सं०] (२) जंजीरी नीवू । (२) आरगवध वृक्ष । अमलस (३) एक राजा जिसकी कन्या रेवती बलराम जी को व्याही थी ।

विशेष—देवी मागवत के अनुसार यह आनर्त्त का पुत्र और शर्याति का पौत्र था । ब्रह्मा के कहने से इसने अपनी कन्या रेवती बलराम को व्याही थी ।

रेवतक-संज्ञा पुं० [सं०] पारावत । परेवा ।

रेवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सत्ताईसवाँ नक्षत्र जो ३२ तारों से मिलकर बना है और जिसका आकार सृदंग का सा कहा गया है । इस नक्षत्र के अंतर्गत मीन राशि पड़ती है । (२) एक मातृका का नाम । (३) गाय । (४) दुर्गा । (५) एक बालग्रह जो बच्चों को कष्ट देता है । (६) रेवत मनु की माता । (७) बलराम की पत्नी जो राजा रेवत की कन्या थीं ।

रेवतीभव-संज्ञा पुं० [सं०] शनि ।

रेवतीरमण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बलराम । (२) विष्णु ।

रेवना-क्रि० सं० दे० “रेना” ।

रेवरा-संज्ञा पुं० दे० “रेवड़ा” ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की ईख ।

रेवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नर्मदा नदी । (२) काम की पत्नी रति । (३) नील का पौधा । (४) दुर्गा । (५) एक प्रकार का साम । (६) एक प्रकार की मछली जो नदियों में पाई जाती है । (७) दीपक राग स्त्री एक रागिनी । (८) भारत का यह देशखंड जहाँ नर्मदा नदी बहती है । रीवा राज्य । बवेलखंड ।

रेवाउतन-संज्ञा पुं० [सं० रेवा + उत्पन्न] हाथी । (हिं०)

विशेष—पुराने समय में नर्मदा के किनारे हाथी बहुत पाए जाते थे ।

रेशम-संज्ञा पुं० [फा०] एक प्रकार का महीन चमकीला और हल्का तंतु या रेशा जिससे कपड़े बुने जाते हैं । यह तंतु कोश में रहनेवाले एक प्रकार के कीड़े तैयार करते हैं ।

विशेष—रेशम के कीड़े पिल्लू कहलाते हैं और बहुत तरह के होते हैं; जैसे,—बिलायती, मदरासी या कनारी, चीनी, अराकानी, आसामी इत्यादि । चीनी, बूख और बड़े पिल्लू का रेशम सब से अच्छा होता है । ये कीड़े तितली की जाति के हैं । इनके कई काया-कल्प होते हैं । अंडा फूटने पर ये बड़े पिल्लू के आकार में होते और रेंगते हैं । इस अवस्था में ये पत्तियाँ बहुत खाते हैं । शहदूत की पत्ती इनका सब से अच्छा भोजन है । ये पिल्लू बढ़कर एक प्रकार का कोश बनाकर उसके भीतर हो जाते हैं । उस समय इन्हें कोया कहते हैं । कोश के भीतर ही यह कीड़ा वह तंतु निकालता है, जिसे रेशम कहते हैं । कोश के भीतर रहने की अवधि जब पूरी हो जाती है, तब कीड़ा रेशम को काटता हुआ निकलकर उड़ जाता है । इससे कीड़े पालनेवाले निकलने के पहले ही कोयों को गरम पानी में डालकर कीड़ों को मार डालते हैं और तब ऊपर का रेशम निकालते हैं ।

पर्याय—कौशेय । पाट । कोशा ।

रेशमी-वि० [फा०] रेशम का बना हुआ ।

रेशा-संज्ञा पुं० [फा०] (१) तंतु या महीन सूत जो पौधों की छालों आदि से निकलता है या कुछ फलों के भीतर पाया जाता है ।

यौ०—रेशेदार ।

रेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्षति । हानि । (२) हिंसा ।

ॐ संज्ञा स्त्री० दे० “रेख” ।

रेषण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घोड़े का हिनहिनाना । (२) बाघ का गरजना या गुराँना ।

रेषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] घोड़े की हिनहिनाहट ।

रेसमान-संज्ञा पुं० [फा० रीसमान = रस्सा] सुतरी । डोरी । रस्सी । (लश्करी)

रेह-संज्ञा स्त्री० [?] खार मिली हुई वह मिट्टी जो ऊसर मैदानों में पाई जाती है । उ०—(क) जावत खेह रेह बुनियाई । मेघ बूँद औ गगन तराई—जायसी । (ख) जहाँ जहाँ भूमि जरी भइ रेहू । बिरह के दाह भई जलु खेहू ।—जायसी ।

रेहन-संज्ञा पुं० [फा०] रुपया देनेवाले के पास कुछ माल जायदाद इस शर्त पर रहना कि जब वह रुपया पा जाय, तब माल या जायदाद वापस कर दे । बंधक । गिरवी ।

क्रि० प्र०—करना ।—रखना ।

यौ०—रेहनदार । रेहननामा ।

रेहनदार-संज्ञा पुं० [फा०] वह जिसके पास कोई जायदाद रेहन रखी हो ।

रेहननामा-संज्ञा पुं० [फा०] वह कागज जिस पर रेहन की शर्तें लिखी हों ।

रेहल-संज्ञा स्त्री० [अ०] पुस्तक रखने की पेंचदार तख्ती : वि० दे० “रिहल” ।

रेहुआ-वि० [हिं० रेह] जिसमें रेह बहुत हो ।

रेहू-संज्ञा पुं० दे० “रोहू” ।

रैंगलर-संज्ञा पुं० [अ०] इंग्लैंड में प्रचलित सर्वोच्च गणितपरीक्षा में उत्तीर्ण व्यक्ति ।

रैअति ॐ-संज्ञा स्त्री० दे० “रैयत” ।

रैतिक-वि० [सं०] पीतल संबंधी । पीतल का ।

रैतुवा-संज्ञा पुं० दे० “रायता” । उ०—रुचिर स्नाद बहु रैतुवा घृत के विविध विधान ।—रघुराज ।

रैत्य-संज्ञा पुं० [सं०] पीतल का बना वस्त्रन ।

रैदास-संज्ञा पुं० (१) प्रसिद्ध भक्त जो जाति का चमार था । यह रामानंद का शिष्य और कबीर, पीपा आदि का समकालीन था । (२) चमार ।

रैदासी-संज्ञा पुं० [हिं० रैदास + ई] (१) एक प्रकार का मोटा जड़हन धान । (२) रैदास भक्त के संप्रदाय का ।

रैन, रैनि ॐ-संज्ञा स्त्री० [सं० रजनी] रात्रि । उ०—ओही छाहँ रैनि होइ आवै ।—जायसी ।

रैनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० रेना] चाँदी या सोने की वह गुल्ली जो तार खींचने के लिये बनाई जाती है ।

रैमुनिया-संज्ञा स्त्री० [हिं० राम ?] (१) एक प्रकार की अरहर । (२) लाल पक्षी की मादा ।

रैयत-संज्ञा स्त्री० [अ०] प्रजा । रियायत ।

रैयाराव-संज्ञा पुं० [हिं० राजा + राव] (१) छोटा राजा । (२) एक पदवी जो प्राचीन समय में राजा लोग अपने सरदारों को देते थे ।

रैवंता-संज्ञा पुं० [हिं० रजवंत] घोड़ा । (हिं०)

रैवत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक साम मंत्र। (२) गुजरात का

एक पर्वत जिस पर से अर्जुन ने सुभद्रा का हरण किया था।

(३) शंकर। शिव। (४) एक दैत्य जो बालग्रहों में से है।

(५) आनर्त्त देश का एक राजा। (६) वर्त्तमान कल्प के पाँचवें मनु जो रेवती के गर्भ से उत्पन्न कहे गए हैं।

(७) मेघ। बादल।

रैवतक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गुजरात का एक पर्वत जो आधुनिक जूनागढ़ के पास है और गिरनार कहलाता है। इसी पर्वत पर अर्जुन ने सुभद्रा हरण किया था।

रैवत्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का साम। (२) धन। सम्पत्ति।

रैसा + संज्ञा पुं० [सं० रेप = हिंसा] झगड़ा। कलह। युद्ध।

रैहर-संज्ञा पुं० [सं० रेप = हिंसा] झगड़ा। लड़ाई।

रैहाँ-संज्ञा पुं० [अ०] एक प्रकार की वनस्पति।

रौ०—गुलैरैहाँ। तुखम रैहाँ।

रौंग-संज्ञा पुं० [सं० रोमक, प्रा० रोअंक] शरीर पर का बाल। लोम।

रौंगटा-संज्ञा पुं० [सं० रोमक, प्रा० रोअंक + हि० रौंग + टा] मनुष्य के सिर को छोड़कर और सारे शरीर पर के बाल।

मुहा०—रौंगटे खड़े होना = किसी भयानक या क्रूर कांड को देखकर शरीर में जीम उत्पन्न होना। जो दहलना।

रौंगटी-संज्ञा स्त्री० [हि० रोना] खेल में बुरा मानना या बेईमानी करना। उ०—रौंगटि करत नुब खेलत ही में परी कहा यह बानि।—सूर।

रौंठा-संज्ञा पुं० [देश०] कच्चे आम की सुखाई हुई फाँक। आमकली। अमहर।

रौंव स्त्री-संज्ञा पुं० [सं० रोम] शरीर के बाल। रोआँ। लोम।

उ०—(क) जानि पुकारि जो भा बन-बासी। रौंव रौंव परे फँद नगवासी।—जायसी। (ख) रौंव रौंव मानुस तन ठाढ़े। सूतहिं सूत बेध अस गाढ़े।—जायसी।

रौंसा + संज्ञा पुं० [देश०] लोबिया की फली। बोड़े की फली।

रौंआँ + संज्ञा पुं० दे० “रौयाँ”।

रौआई + संज्ञा स्त्री० दे० “रुआई”।

रौआवा + संज्ञा पुं० [अ० रोअव] रोव दाब। प्रभाव। आतंक।

रौई सा-संज्ञा पुं० [देश०] रूसा वास जिसकी जड़ से सुगंधित तेल निकलता है। वि० दे० “रूसा”।

रौइया-संज्ञा पुं० [देश०] जमीन में गड़ा हुआ काठ का कुंदा जिस पर रखकर गन्ने के टुकड़े काटते हैं।

रौउँ + संज्ञा पुं० दे० “रौंव”।

रोक-संज्ञा स्त्री० [सं० रोधक] (१) ऐसी स्थिति जिससे चल या बढ़ न सकें। गति में बाधा। अटकाव। छँक। अवरोध। जैसे,—इसी अगीचे से होकर गाएँ जाती हैं; उनकी रोक के

लिये दीवार उठानी चाहिए। (२) मनाही। निषेध। सुमानियत।

यौ०—रोकटोक।

(३) किसी कार्य में प्रतिबंध। काम में बाधा। (४) वह वस्तु जिससे आगे बढ़ना या चलना रुक जाय। रोकनेवाली वस्तु। जैसे,—ऐसी कोई रोक खड़ी करो जिससे वे इधर न आने पावें।

संज्ञा पुं० [सं० रोक = नकद] (१) नकद रुपया। रोकड़।

उ०—धावन तहाँ पठावहु देहिं लाख दस रोक।—जायसी।

(२) नकद व्यवहार या सौदा। (३) दीसि। (४) छिद्र।

(५) नौका।

रोक भौंक-संज्ञा स्त्री० दे० “रोकटोक”।

रोक टोक-संज्ञा स्त्री० [हि० रोकना + टोकना] (१) बाधा। प्रतिबंध। (२) मनाही। निषेध। जैसे,—इधर से चले जाओ, कोई रोक टोक करनेवाला नहीं है।

रोकड़-संज्ञा स्त्री० [सं० रोक = नकद] नगद रुपया पैसा आदि, विशेषतः वह रकम जिसमें से आय-व्यय होता हो। नकद रुपया। (२) जमा। धन। पूँजी।

मुहा०—रोकड़ मिलना = आय-व्यय का जोड़ लगाकर यह देखना कि रकम घटती या बढ़ती तो नहीं है।

यौ०—रोकड़ बही। रोकड़ बिक्री।

रोकड़बही-संज्ञा स्त्री० [हि० रोकड़ + बही] वह बही या किताब जिसमें नकद रुपये का लेन देन लिखा रहता है।

रोकड़बिक्री-संज्ञा स्त्री० [हि० रोकड़ + बिक्री] नकद दाम पर की हुई बिक्री।

रोकड़िया-संज्ञा पुं० [हि० रोकड़ + रिया (प्रत्य०)] रोकड़ रखनेवाला। नकद रुपया रखनेवाला। खज़ानची। मुनीम।

रोकना-क्रि० सं० [हि० रोक] (१) गति का अवरोध करना। चलते हुए को थामना। चलने या बढ़ने न देना। जैसे,—गाड़ी रोकना, पानी की धार रोकना।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

(२) जाने न देना। कहीं जाने से मना करना। (३) किसी क्रिया या व्यापार को स्थगित करना। किसी चली आती हुई बात को बंद करना। जारी न रखना। (४) मार्ग में इस प्रकार पड़ना कि कोई वस्तु दूसरी ओर न जा सके। छँकना। जैसे,—रास्ता रोकना, प्रकाश रोकना। (५) अड़चन डालना। बाधा डालना। (६) बाज़ रखना। वर्जन करना। मना करना। (७) ऊपर लेना। ओढ़ना। जैसे,—तलवार को लाठी पर रोकना। (८) वश में रखना। प्रतिबंध में रखना। क़ाबू में रखना। संयत रखना। जैसे,—मन को रोकना, इच्छा को रोकना। (९) बढ़ती हुई सेना या दल का सामना करना।

रोखछु—संज्ञा पुं० दे० “रोष” ।

रोग—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० रोगी, रोग] (१) वह अवस्था जिससे शरीर अच्छी तरह न चले और जिसके बढ़ने पर जीवन में संदेह हो । शरीर भंग करनेवाली दशा । बीमारी । व्याधि । मर्ज ।

पट्यार्थ—गद । आमय । रुज । उपताप । अपाटव । भम । मांघ । आकल्प ।

रोगकारक—वि० [सं०] बीमारी पैदा करनेवाला । व्याधिजनक ।

रोगकाष्ठ—संज्ञा पुं० [सं०] बकम की लकड़ी ।

रोगग्रस्त—वि० [सं०] रोग से पीड़ित । बीमारी में पड़ा हुआ ।

रोगन—संज्ञा पुं० [प्रा० रोगन] (१) तेल । चिकनाई । (२) पतला लेप जिसे किसी वस्तु पर पोतने से चमक, चिकनाई और रंग आवे । पालिश । वारनिश । (३) लाख आदि से बना हुआ मसाला जिसे मिट्टी के बरतनों आदि पर चढ़ाते हैं । (४) चमड़े को मुलायम करने के लिये कुसुम या बरें के तेल से बनाया हुआ मसाला ।

रोगनदार—वि० [प्रा०] जिस पर रोगन किया गया हो । पालिशदार । चमकीला ।

रोगनाशक—वि० [सं०] बीमारी दूर करनेवाला ।

रोगनिदान—संज्ञा पुं० [सं०] रोग के लक्षण और उत्पत्ति के कारण आदि की पहचान । तशखीस ।

रोगनी—वि० [प्रा०] रोगन किया हुआ । रोगन लगाया हुआ । रोगनदार । जैसे,—रोगनी बरतन ।

रोगपरीसह—संज्ञा पुं० [सं०] उग्र रोग होने पर कुछ ध्यान न करके उसका सहन । (जैन)

रोगमुरारि—संज्ञा पुं० [सं०] ज्वर की एक रसौषध ।

विशेष—पारा, गंधक, विष, लोहा, त्रिकटु और ताँबा सम भाग और सीसा अर्द्ध भाग लेकर पीस डाले और दो दो रस्ती की गोलियाँ बना ले ।

रोगशिला—संज्ञा स्त्री० [सं०] मनःशिला । मैनसिल ।

रोगशिल्पी—संज्ञा पुं० [सं०] सोनालू का पेढ़ ।

रोगक्रांत—वि० [सं०] रोग से घिरा हुआ । व्याधि-पीड़ित ।

रोगातुर—वि० [सं०] रोग से घबराया हुआ । व्याधि से पीड़ित ।

रोगार्त्त—वि० [सं०] रोग से दुःखी ।

रोगाह्वय—संज्ञा पुं० [सं०] कुष्ठौषध । कुट ।

रोगिणी—वि० स्त्री० दे० “रोगी” ।

रोगित—वि० [सं०] पीड़ित । रोगयुक्त ।

संज्ञा पुं० कुत्ते का पागलपन ।

रोगितरु—संज्ञा पुं० [सं०] अशोक वृक्ष ।

रोगिया—संज्ञा पुं० [हि० रोग + इया (प्रत्य०)] रोगी । बीमार ।

उ०—रोगिया की को चालै वैदहि जहाँ उपास ।—जायसी ।

रोगी—वि० [सं० रोगिन्] [स्त्री० रोगिनी] जो स्वस्थ न हो ।

जिसकी तंदुरुस्ती ठीक न हो । रोगयुक्त । व्याधिग्रस्त । बीमार । माँदा ।

रोचक—वि० [सं०] (१) रुचिकारक । रुचनेवाला । अच्छा लगनेवाला । प्रिय । (२) जिसमें मन लगे । मनोरंजक । दिलचस्प । जैसे,—रोचक वृत्तांत ।

संज्ञा पुं० (१) क्षुधा । भूख । (२) कदली । केला । (३) राजपलंडु । (४) एक प्रकार की ग्रंथिपर्णी जिसे नेपाल में ‘भँडेउर’ कहते हैं । (५) काँच की कुप्री या शीशी बनानेवाला ।

रोचकता—संज्ञा स्त्री० [सं०] रोचक होने का भाव । मनोहरता । मनोरंजकता । दिलचस्पी ।

रोचकद्वय—संज्ञा पुं० [सं०] विट् लवण और सैन्धव लवण । (वैद्यक)

रोचन—वि० [सं०] (१) अच्छा लगनेवाला । रुचनेवाला । रोचक । (२) दीक्षिमान । शोभा देनेवाला । (३) प्रिय लगनेवाला ।

संज्ञा पुं० (१) कूट शाल्मलि । काला सेमर । (२) कांपिल । कमीला । (३) श्वेत शिशु । सफेद सहिजन । (४) पलांडु । प्याज । (५) आरगवध । अमलतास । (६) करंज । करंजुवा । कंजा । (७) अंकोट । ढेरा । (८) दाहिम । अनार । (९) रोगों के अधिष्ठाता एक प्रकार के देवता । (हरिवंश) (१०) स्वारोचिष मन्वंतर के इंद्र । (११) एक पर्वत का नाम । (मार्कंडेय पुराण) (१२) कामदेव के पाँच वाणों में से एक । (१३) रोली । रोचना । (१४) गोरोचन ।

रोचनक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जँबीरी नीबू । (२) वंशलोचन ।

रोचनफल—संज्ञा पुं० [सं०] विजौरा नीबू ।

रोचना—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रक्त कमल । (२) गोरोचन । (३) श्रेष्ठ स्त्री । (४) वसुदेव की स्त्री । (५) आकाश । (६) काला सेमर । (७) वंशलोचन ।

रोचनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आमलकी । आँवला । (२) गोरोचन । (३) मनःशिला । मैनसिल । (४) श्वेत त्रिवृता । सफेद निसोथ । (५) कमीला । (६) दंती । (७) तारका । तारा ।

रोचमान—वि० [सं०] चमकता हुआ । शोभित होता हुआ ।

संज्ञा पुं० (१) छोड़े की गरदन पर की एक भँवरी । (२) स्कंद के एक अनुचर का नाम ।

रोचि—संज्ञा स्त्री० [सं० रोचिस्] (१) प्रभा । दीप्ति । (२) प्रकट होती हुई शोभा । उ०—साहस के उर मध्य धन्यो कर, जागति, रोम की रोचि जनाई ।—केशव । (३) किरण । रश्मि ।

रोचिष्णु—वि० [सं०] (१) चमकदार । (२) आभूषणों आदि से जगमगाता हुआ ।

रोचिस्—संज्ञा पुं० [सं०] दीप्ति । प्रभा । चमक ।

रोजी-संज्ञा स्त्री० [सं०] हिलप्रोचिका ।

रोज-संज्ञा पुं० [सं० रोजन] (१) रोना धोना । रुदन । उ०—
बरजा पितै हँसी औ रोजू ।—जायसी । (२) रोना पीटना ।
विलाप । स्थापा । उ०—(क) रोज सरोजनि के परै, हँसी
ससी की होय ।—बिहारी । (ख) जहाँ गरब तहँ पीरा,
जहाँ हँसी तहँ रोज ।—जायसी ।

रोज-संज्ञा पुं० [फा०] दिन । दिवस । जैसे,—उसे गए चार
रोज हो गए ।

अव्य० प्रति दिन । नित्य । जैसे—वह हमारे यहाँ रोज
आता है ।

रोजगार-संज्ञा पुं० [फा०] (१) जीविका या धन संचय के लिये
हाथ में लिया हुआ काम जिसमें कोई बराबर लगा रहे ।
व्यवसाय । धंधा । उद्योग । उद्यम । पेशा । कारबार ।

मुहा०—रोजगार चमकना = व्यवसाय में खूब लाभ होना । रोज-
गार छूटना = जीविका न रहना । रोजगार चलना = कारबार में
लाभ होना । व्यवसाय जारी रहना । रोजगार लगना = जीविका
का प्रबंध होना । गुजर के लिये कोई काम मिलना । रोजगार लगाना
= जीविका का प्रबंध करना । कोई काम देना । निर्वाह के लिये कोई
मार्ग बताना । रोजगार से होना = निर्वाह के लिये किसी काम में
लगना ।

(२) क्रय विक्रय आदि का आयोजन । व्यापार । तिजारत ।
जैसे,—वहाँ गले का रोजगार खूब है ।

रोजगारी-संज्ञा पुं० [फा०] व्यापारी । सौदागर । वणिक ।

रोजनामचा-संज्ञा पुं० [फा०] (१) वह किताब या वही जिस
पर रोज का किया हुआ काम लिखा जाता है । दिनचर्या
की पुस्तक । (२) प्राति दिन का जमा खर्च लिखने की वही ।
कच्चा चिट्ठा । खाता ।

रोजमर्रा-अव्य० [फा०] प्रति दिन । हर रोज । नित्य ।

संज्ञा पुं० नित्य के व्यवहार में आनेवाली भाषा । बोलचाल ।
चलती बोली ।

रोज़ा-संज्ञा पुं० [फा०] (१) व्रत । उपवास । (२) वह व्रत जो
मुसलमान रमज़ान के महीने में ३० दिन तक रहते हैं और
जिसका अंत होने पर ईद होती है ।

क्रि० प्र०—रखना ।

मुहा०—रोज़ा टूटना = व्रत खंडित हो जाना । व्रत का निर्वाह
न हो पाना । रोज़ा तोड़ना = व्रत खंडित करना । व्रत पूरा न
करना । रोज़ा खोलना = दिन भर भूखे रहकर शाम को पहले
पहल कुछ खाना ।

रोज़ाना-क्रि० वि० [फा०] प्रति दिन । हर रोज । नित्य ।

रोज़ी-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) रोज का खाना । नित्य का
भोजन ।

क्रि० प्र०—देना ।—मिलना ।

यौ०—रोज़ी-रोज़गार ।

मुहा०—रोज़ी चलना = भोजन वस्त्र मिलता जाना । रोज़ी चलाना
= भोजन वस्त्र आदि का ठिकाना करना ।

(२) वह जिसके सहारे किसी को भोजन वस्त्र प्राप्त हो ।
काम धंधा जिससे गुज़र हो । जीवन-निर्वाह का अवलंब ।
जीविका । रोजगार । जैसे,—किसी की रोज़ी लेना अच्छी
बात नहीं । (३) एक प्रकार का पुराना कर या महसूल
जिसके अनुसार व्यापारियों के चौपायों को एक एक दिन
राज्य का काम करना पड़ता था ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] गुजरात में होनेवाली एक प्रकार की
कपास जिसके फूल पीले होते हैं ।

रोज़ीदार-संज्ञा पुं० [फा०] वह जिसको रोज़ाना खर्च के लिये
कुछ मिलता है ।

रोज़ीना-संज्ञा पुं० [फा०] रोज का । नित्य का ।

संज्ञा पुं० प्रति दिन की मज़दूरी, वेतन या हृत्ति आदि ।
जैसे,—उसको २) रोज़ीना मिलता है ।

रोज़ीबिगाड़-संज्ञा पुं० [फा० रोज़ी + हि० बिगाड़ना] लगी हुई
रोज़ी को बिगाड़नेवाला । जमकर कोई काम धंधा न करने-
वाला । निखट्ट । निक्कम्मा ।

रोज़-संज्ञा स्त्री० [देश०] नीलगाय । गवय ।

रोट-संज्ञा पुं० [हि० रोटी] (१) गेहूँ के आटे की बहुत मोटी रोटी ।
लिट ।

विशेष—ऐसी रोटी गरीब लोग खाते हैं या हाथियों को रातब
में दी जाती है ।

(२) मीठी मोटी रोटी या पूआ जो हनुमान आदि देवताओं
को चढ़ाया जाता है ।

रोटका-संज्ञा पुं० [देश०] बाजरा ।

रोटिका-संज्ञा स्त्री० [हि० रोटी] छोटी रोटी । फुलकी ।

रोटिहा-संज्ञा पुं० [हि० रोटी + हा (प्रत्य०)] रोटियों पर रहने-
वाला नौकर । केवल भोजन पर रहनेवाला चाकर । उ०—
कहिहौ बलि रोटिहा रावरो बिनु मोलहि बिकाउँगो ।
—तुलसी ।

रोटिहाना-संज्ञा पुं० [हि० रोटी] चूहे के पास का वह मिट्टी का
छोटा चबूतरा जिस पर रोटियाँ पकाकर रखी जाती हैं ।

रोटी-संज्ञा स्त्री० [?] (१) गुँथे हुए आटे की आँच पर सेंकी
हुई लोई या टिकिया जो नित्य के खाने के काम में आती है ।
चपाती । फुलका ।

क्रि० प्र०—पकाना ।—बनाना ।—सँकना ।

मुहा०—रोटी पोना = (१) रोटी पकाना । (२) चकले पर बेलकर
गुँथे हुए आटे की टिकिया बनाना ।

(२) भोजन । रसोई । खाना । जैसे,—तुम्हारे यहाँ कब
रोटी तैयार होती है ?

यौ०—रोटी दाल ।

मुहा०—रोटी कपड़ा = भोजन बख । खाना कपड़ा । जीवन निर्वाह की सामग्री । जैसे,—उस औरत ने रोटी कपड़े का दावा किया है ।

रोटी कमाना = जीविका उपार्जन करना । रोटी को रोना = भूखों मरना । अन्न-कष्ट भोगन । किसी बात की रोटी खाना = किसी बात से जीविका कमाना । जैसे,—वह इसी की तो रोटी खाता है । रोटियों का मारा = भूखा । अन्न बिना दुखी ।

किसी के यहाँ रोटियाँ तोड़ना = किसी के घर पड़ा रहकर पेट पालना । बैठे बैठे किसी का दिया खाना । किसी को रोटियाँ लगाना = किसी को खाना पूरा मिलने से मोटाई सूझना । भरपेट भोजन पाने से इतराना । दाल रोटी ले खुश = जिसे खाने पीने का अच्छा सुनता हो । रोटी दाल चलना = जीवन-निर्वाह होना । रोटी का पेट = रोटी का वह पार्श्व या तल जो पहले गरम सवे पर डाला जाता है । रोटी की पीठ = रोटी का वह पार्श्व जो उलटने पर सेंका जाता है ।

रोटीफल—संज्ञा पुं० [हि० रोटी + फल] (१) एक फल जो खाने में बहुत अच्छा होता है । (२) इस फल का पेड़ जो मझोले आकार का होता है और दक्षिण में मदरास की ओर होता है । इसके पत्ते बड़े बड़े होते हैं ।

रोठा—संज्ञा पुं० [देश०] बाजरे की एक जाति ।

रोड़ा—संज्ञा पुं० [सं० लोष्ठ, प्रा० लोड्ड] (१) ईंट या पत्थर का बड़ा डेला । बड़ा कंकड़ । जैसे,—कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा; भानमती ने कुनबा जोड़ा । (२) एक प्रकार का पंजाबी धान जो बिना सींचे उत्पन्न होता है ।

मुहा०—रोड़ा अटकाना या डालना = विघ्न या बाधा डालना ।

संज्ञा पुं० [सं० आरट्ट ?] पंजाब की अरोड़ा नामक जाति ।

रोदक—संज्ञा पुं० [?] मुसलमान । (हि०)

रोदन—संज्ञा पुं० [सं०] विलाप करना । कंदन । रोना । उ०—माता ताको रोदन देखि । दुख पायो मन माहि बिसेखि ।—सूर ।

क्रि० प्र०—करना ।—ठानना ।—होना ।

रोदसी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्वर्ग । (२) भूमि । उ०—पूरित है भूरि धूरि रोदसिहि आस पास दिसि दिसि वरषा ज्यों बल निबलति है ।—केशव ।

रोदा—संज्ञा पुं० [सं० रोध = किनारा] (१) कमान की डोरी । धनुष की पतंगिका । चिछा । उ०—मानो अरविद पै चंद्र को चढ़ाय दीनी मानो कमनैत बिनु रोदा की कमानें द्वे ।—पद्माकर । (२) सितार के परदे बाँधने की बारीक तार ।

रोध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोक । रुकावट । (२) किनारा । तट । (३) बारी ।

रोधक—संज्ञा पुं० [सं०] रोकनेवाला ।

रोधकत्—संज्ञा पुं० [सं०] साठ संवत्सरों में से पैंतालीसवाँ संवत्सर । (बृहत्संहिता)

रोधन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोक । रुकावट । अवरोध । (२) दमन । उ०—अति क्रोधन रन सोधन सदा अरिबल रोधन पन किए ।—गोपाल ।

रोधना—क्रि० सं० [सं० रोधन] रोकना ।

रोध्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपराध । पाप । (२) लोभ । लोभ ।

रोना—क्रि० अ० [सं० रोदन, प्रा० रोअन] (१) पीड़ा, दुःख या शोक से व्याकुल होकर मुँह से विशेष प्रकार का स्वर निकालना और नेत्रों से जल छोड़ना । चिल्लाना और आँसू बहाना । रुदन करना ।

संयो० क्रि०—उठना ।—देना ।—पड़ना ।—लेना ।

मुहा०—रोना कलपना या रोना धोना = विलाप करना ।

रोना पीटना = छाती या सिर पर हाथ मार मारकर विलाप करना । बहुत विलाप करना । रो बैठना = (किसी व्यक्ति या वस्तु के लिये) शोक कर चुकना । निराश होकर रह जाना । रो रोकर = (१) ज्यों त्यों करके । कठिनाता से । दुःख और कष्ट के साथ । प्रसन्नतापूर्वक नहीं । जैसे,—उसने रो रोकर काम किया है । (२) बहुत धीरे धीरे । बहुत रुक रुक कर । जैसे,—जब रुपया देना ही है, तब रो रोकर क्यों देते हो ? रो रोकर घर भरना = बहुत विलाप करना । किसी वस्तु को रोना = किसी वस्तु के लिये पछताना या शोक करना । किसी वस्तु का दुःख मानना । जैसे,—किस्मत को रोना, नाम को रोना, रुपय को रोना । रोना गाना = धिनती करना । दुःखपूर्वक निवेदन करना । गिड़-गिड़ाना । जैसे,—उसने रो गाकर जुमाना माफ़ करा लिया । (२) बुरा मानना । रंज मानना । चिढ़ना । जैसे,—तुम तो हँसी में रोने लगते हो । (३) दुःख करना । पछताना । जैसे,—रुपया डूब गया; अब रो रहे हैं ।

संज्ञा पुं० दुःख । रंज । खेद । शोक । जैसे,—इसी का तो रोना है ।

मुहा०—रोना पड़ना या रोना पीटना पड़ना = विलाप होना ।

शोक खाना । जैसे,—घर घर रोना पीटना पड़ गया ।

वि० [स्त्री० रोनी] (१) थोड़ी सी बात पर भी दुःख माननेवाला । रोनेवाला । जैसे,—वह रोना आदमी है; उससे मत बोलो । (२) बात बात पर बुरा माननेवाला । चिड़-चिड़ा । (३) रोनेवाले का सा । मुहरंमी । रोवाँसा । जैसे,—रोनी सूरत ।

रोनी धोनी—वि० स्त्री० [हि० रोना धोना] रोने धोनेवाली । शोक या दुःख की चेष्टा बनाए रहनेवाली । मुहरंमी ।

संज्ञा स्त्री० रोने धोने की वृत्ति । शोक या दुःख की चेष्टा । मनहूसी । जैसे,—रोनी धोनी पीछे जा; हँसनी खेलनी

भागे भा। (खियाँ) (खियाँ बच्चों को नहलाते समय उनका अंग पोंछती हुई उक्त वाक्य कहा करती हैं।)

रोप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ठहराव। रुकावट। (२) मोहन। बुद्धि फेरना। (३) छेद। सूरख। (४) बाण। तीर।

संज्ञा पुं० [देश०] हल की एक लकड़ी जो हरिस के छोर पर जंघे के पार लगी रहती है।

रोपक-वि० [सं०] (१) स्थापित करनेवाला। उठानेवाला। (२) स्थित करनेवाला। (३) जमानेवाला। लगानेवाला। (४) सोने चाँदी की एक तौल या मान जो सुवर्ण का ७० वाँ भाग होता है।

रोपण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० रोपित, रोप्य] (१) ऊपर रखना या स्थापित करना। (२) लगाना। जमाना। बैठाना। (बीज या पौधा) (३) स्थापित करना। खड़ा करना। उठाना। (दीवार आदि) (४) मोहित करना। मोहन। (५) विचारों में गड़बड़ी डालना। बुद्धि फेरना। (६) घाव का सूखना या उस पर पपड़ी बँधना। (७) घाव पर किसी प्रकार का लेप लगाना।

रोपना-क्रि० सं० [सं० रोपण] (१) जमाना। लगाना। बैठाना। (२) पौधे को एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान पर जमाना। पौधा जमीन में गाड़ना। (३) अड़ाना। ठहराना। स्थापित करना। दृढ़ता के साथ रखना। उ०—बीच सभा अंगद पद रोप्यो, टप्यो न, निसिचर हारे।—सूर। (४) बीज रखना। बोना। जैसे,—बीज रोपना। (५) कोई वस्तु लेने के लिये हथेली या कोई बरतन सामने करना।

मुहा०—हाथ रोपना = माँगने के लिये हाथ फैलाना।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

रोपनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० रोपना] रोपने का काम। धान आदि के पौधों को गाड़ने का काम। रोपाई। जैसे,—भाज कल रोपनी हो रही है।

रोपित-वि० [सं०] (१) लगाया हुआ। जमाया हुआ। (२) स्थापित। रखा हुआ। (३) मोहित। आंत। (४) उठाया हुआ। खड़ा किया हुआ।

रोब-संज्ञा पुं० [अ० रयब] [वि० रोबीला] बड़प्पन की धाक। आतंक। प्रभाव। दबदबा। तेज प्रताप।

यौ०—रोबदार। रोबदाब।

मुहा०—रोब जमाना = बड़प्पन करना। आतंक उत्पन्न करना। रोब मिट्टी में रह जाना। प्रभाव नष्ट होना। प्रभाव डालना। आतंक उत्पन्न करना। प्रकट करना। रोब में आना = (१) आतंक के त कर डालना।

जो यों न की जाती हो। दबदबे में पड़ जाना। बड़प्पन की चेष्टा देख प्रभावित होना। (२) भय मानना।

रोबदार-वि० [अ०] जिसकी चेष्टा से तेज और प्रताप प्रकट हो। रोबदाब वाला। भड़कीला। प्रभावशाली। तेजस्वी।

रोमंथ-संज्ञा पुं० [सं०] सींगवाले चौपायों का निगले हुए चारे को फिर से मुँह में लाकर धीरे धीरे चबाना। जुगाली। पागुर।

रोम-संज्ञा पुं० [सं० रोमन्] (१) देह के बाल। रोयाँ। लोम।

यौ०—रोमराजी। रोमावलि। रोमलता।

मुहा०—रोम रोम में = शरीर भर में। रोम रोम से = तन मन से। पूर्ण हृदय से। जैसे,—रोम रोम से आशीर्वाद देना।

(२) छेद। छिद्र। सूरख। (३) जल। पानी।

रोमक-संज्ञा पुं० [सं०] साँभर शील का नमक। साकंभरी लवण। पांशु लवण।

संज्ञा पुं० (१) रोम नगर का वासी। रोम देश का मनुष्य।

रोमन। (२) रोम नगर या देश। (३) ज्योतिष-सिद्धांत का एक भेद।

रोमकर्णक-संज्ञा पुं० [सं०] खरगोश। खरहा।

रोमकूप-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर के वे छिद्र जिनमें से रोएँ निकले हुए होते हैं। लोम छिद्र।

रोमकेशर-संज्ञा पुं० [सं०] चँवर। चामर।

रोमगुच्छ-संज्ञा पुं० [सं०] चँवर। चामर।

रोमद्वार-संज्ञा पुं० दे० “रोमकूप”।

रोमन कैथलिक-संज्ञा पुं० [अ०] ईसाइयों का प्राचीन संप्रदाय जिसमें ईसा की माता मरियम की, तथा अनेक संत महात्माओं की उपासना चलती है और गिरजों में मूर्तियाँ भी रखी जाती हैं।

रोमपाट-संज्ञा पुं० [सं०] ऊनी कपड़ा। दुशाला आदि। उ०—चामर चरम बसन बहु भाँती। रोमपाट पट अगनित जाती।—तुलसी।

रोमपाद-संज्ञा पुं० [सं०] अंग देश के एक प्राचीन राजा जिनका उल्लेख वाल्मीकीय रायायण (बाल० सर्ग ९) में है।

विशेष—यह राजा बड़ा अन्यायी और अत्याचारी था। इसके पापों से एक बार भयंकर अनावृष्टि हुई। राजा ने शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों को बुलाकर उपाय पूछा। सब ने कश्यपशृंग मुनि को लाकर उनके साथ राजकन्या शांता का विवाह कर देने की राय दी। वेश्याओं के प्रयत्न से कश्यपशृंग मुनि लाए गए और खूब वृष्टि हुई। तब राजा ने अपनी कन्या शांता उन्हें ब्याह दी।

रोमबद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] वह वस्त्र जो रोयों से बँधा या बुना हो। वि० जो रोयों से बँधा या बुना हो।

रोमभूमि-संज्ञा स्त्री० [सं०] चमड़ा। त्वक।

रोमराजी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रोमावलि । रोयों की पंक्ति ।
(२) रोयों की वह पंक्ति जो पेट के बीचो बीच नाभि से ऊपर की ओर जाती है ।

रोमलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] रोमावलि । रोमराजी । उ०—कटि अति सूक्ष्म उदर द्युति चलदल दल उपमान । रोमलता तन धूम अति चारु चिटीन समान ।—केशव ।

रोमहर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] रोंगटे खड़े होना । रोमांच । पुलक ।
रोमहर्षण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोयों का खड़ा होना जो अत्यंत आनंद के सहसा अनुभव से अथवा भय से होता है । (२) वेद व्यास का शिष्य, सूत पौराणिक ।
वि० जिससे रोंगटे खड़े हों । भयंकर । भीषण । जैसे,—
रोमहर्षण घटना ।

रोमांच-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आनंद से रोयों का उभर आना । पुलक । (२) भय से रोंगटे खड़े होना ।

रोमांचित-वि० [सं०] (१) पुलकित । हृष्टरोमा । (२) भय से जिसके रोंगटे खड़े हो गए हों ।

रोमांतिका मसूरिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] चेचक की तरह का एक रोग जिसमें रोमकूप के समान महीन महीन दाने शरीर भर में निकलते हैं और कई दिनों तक रहते हैं । खाँसी, ज्वर और अरुचि भी रहती है । इस रोग को छोटी माता भी कहते हैं ।

रोमाप्र-संज्ञा पुं० [सं०] रोएँ की नोक ।

रोमाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] रोयों की पंक्ति । रोमावली । रोमराजी ।

रोमावलि, रोमावली-संज्ञा स्त्री० [सं०] रोयों की पंक्ति जो पेट के बीचो बीच नाभि से ऊपर की ओर गई होती है । रोमाली । रोमराजी । उ०—नाभिहृद रोमावली अलि चारु सहज सुभाव ।—सूर ।

रोमोद्गम-संज्ञा पुं० [सं०] रोयों का हर्ष या भय से खड़ा होना ।
रोमोद्ग्रेद-संज्ञा पुं० [सं०] रोमहर्ष ।

रोयाँ-संज्ञा पुं० [सं० रोमन्] बाल जो सब दूध पिलानेवाले प्राणियों के शरीर पर थोड़े या बहुत उगते हैं । लोम । रोम ।

क्रि० प्र०—उखड़ना ।—निकलना ।—जमना ।

मुहा०—एक रोयाँ न उखड़ना = कुछ भी हानि न होना । रोयाँ खड़ा होना = हर्ष या भय से रोमकूपों का उभरना । रोयाँ पसी-जना = हृदय में दया उत्पन्न होना । करुणा होना । तरस आना ।
उ०—ईं गुर भा पहार जौ भीजा । पै तुम्हार नहिं रोवँ पसीजा ।—जायसी ।

रोर-संज्ञा स्त्री० [सं० रवण] (१) बहुत से लोगों के मुँह से निकलकर उठी हुई ऊँची सम्मिलित ध्वनि । कलकल । हल्ला । कोलाहल । रौला । शोर गुल । चिल्लाहट । उ०—
(क) परी भोर ही रोर लंकगढ़, दई हाँक हनुमान ।—

तुलसी । (ख) जिनके जात बहुत दुख पायो, रोर परी यहि खेरे ।—सूर ।

क्रि० प्र०—उठना ।—करना ।—पड़ना ।—मचना ।

(२) बहुत से लोगों के रोने चिल्लाने का शब्द । उ०—घरी एक सुठि भएउ अँदोरा । पुनि पाछे बीता होइ रोरा ।—जायसी । (३) धूम । घमासान । उपद्रव । हलचल । आंदोलन ।

वि० (१) प्रचंड । तेज । दुर्दमनीय । उ०—(क) देव-बंदीछोर, रन रोर केसरी-किसोर, जुग जुग तेरे बर विरद विराजे हैं ।—तुलसी । (ख) ते रन-रोर कपीस-किसोर बड़े बरजोर परे फँग पाए ।—तुलसी । (२) उपद्रवी । उद्धत । दुष्ट । अत्याचारी । उ०—(क) आपनी न बूझै, न कहे को राद रोर, रे ।—तुलसी । (ख) तालुनि को वैधिबो, बध रोर को, नाथ के साथ चित्त जरिए जू ।—केशव ।

रोरा-संज्ञा पुं० [हि० रोड़ा] चूर गाँजा ।

संज्ञा पुं० दे० “रोर” ।

रोरी-संज्ञा स्त्री० [सं० रोचनी] हलदी चूने से बनी हुई लाल रंग की झुकनी जिसका तिलक लगाते हैं । रोली । उ०—
मुख मंडित रोरी रंग सेंदुर माँग छुही ।—सूर ।

क्रि० प्र०—लगाना ।

✽ संज्ञा स्त्री० [हि० रोर] चहल पहल । धूम । उ०—सकल सुदंग अंग भरी भोरी । पिय निरत मुसकनि मुख मोरी, परिरंभन रस रोरी ।—हरिदास ।

वि० [हि० ररा] सुंदर । खचिर । उ०—स्याम तनु राजत पीत पिछोरी । उर बनमाल, काछनी काछे, कटि किंकिनि छवि रोरी ।—सूर ।

संज्ञा पुं० [हि० रोली ?] लहसुनिया नग । एक प्रकार का रत्न ।

रोरुदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अत्यंत रुदन और विलाप ।

रोलंब-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अमर । भौरा । भँवर । (२) सूखी जमीन ।

वि० विश्वास न करनेवाला । अविश्वासी ।

रोल*—संज्ञा स्त्री० [सं० रवण, हि० रोर] (१) रोर । हल्ला । कोलाहल । (२) शब्द । ध्वनि । उ०—आजु भोर तमचुर की रोल । गोड्डल में आनंद होत है, मंगल धुनि महाराने ढोल ।—सूर ।

संज्ञा पुं० पानी का तोड़ । रेला । बहाव ।

संज्ञा पुं० [देश०] खेतानी की तरह का एक औजार जिससे बरतन की नक्काशी की ज़मीन साफ़ की जाती है ।

संज्ञा पुं० [सं०] हरा अदरक ।

रोलर-संज्ञा पुं० [अ०] (१) ढुलकनेवाली वस्तु । बेलन । बेलना । (२) छापेखाने में स्याही देने का बेलन । यह सरेस और

गुड़ मिलाकर वनता है। इसी पर स्याही लगाकर टाइपों पर फेरी जाती है।

रोलर फ्रेम-संज्ञा पुं० [अं०] बेलन की कमान।

विशेष—इसमें रोलर लगाकर स्याही तथा टाइपों पर फेरते हैं।

यह लोहे का एक हलका या घेरा होता है जिसमें एक पेचदार छड़ लगी होती है। ऊपर काठ की दो मुठिया होती हैं जिन्हें पकड़कर सिल पर स्याही पीसते और हफ़ों पर फेरते हैं।

रोलर मोल्ड-संज्ञा पुं० [अं०] सरेस का बेलन ढालने का साँचा।

यह दो प्रकार का होता है।—(१) चोंगा, जिसमें से बेलन ढेलकर निकाला जाता है। बेलन ढालते समय इसमें पीसी खड़िया तथा रेंडी का तेल लगा दिया जाता है जिसमें मोल्ड में सरेस न पकड़ ले। (२) दो-फाँका—जिसके पछे अलग अलग होते हैं। इन्हें खोल देने से रोलर सहज में निकल आता है।

रोला-संज्ञा पुं० [सं० रावण] (१) रोर। शोर गुल। कोलाहल। हला। (२) घमासान युद्ध।

संज्ञा पुं० [सं०] एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में ११ + १३ के विश्राम से २४ मात्राएँ होती हैं। (किसी किसी का मत है कि इसके अंत में दो गुरु अवश्य आने चाहिए; पर यह सर्वसम्मत नहीं है।)

† संज्ञा पुं० [देश०] जूटे बरतन मँजने का काम। चौका बरतन करने का काम।

रोली-संज्ञा स्त्री० [सं० रोचनी] चूने हल्दी से बनी हुई लाल बुकनी जिसका तिलक लगाते हैं। श्री।

विशेष—लोहे की कड़ाही में चूने का पानी भरकर उसमें हल्दी, खटाई और सोना गलाने का सुहागा डालकर अग्नि पर पकाते हैं। पीछे सुखाकर छान लेते हैं।

रोवनहार-संज्ञा पुं० [हि० रोवना + हारा (प्रत्य०)] (१) रोनेवाला। (२) किसी के मर जाने पर उसका शोक करनेवाला कुटुंबी। उ०—रामविमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कुल कोउ रोवनहारा।—तुलसी।

रोवना-क्रि० प्र० दे० “रोना”।

वि० [स्त्री० रोवनी] (१) बहुत जल्दी रोनेवाला। बहुत जल्दी बुरा माननेवाला। (२) हँसी या खेल में भी बुरा मान जानेवाला। चिढ़नेवाला। उ०—तहाँ न पायो सुयस आज रोवना सब बोलैं।—विश्राम।

रोवनिहारा-वि० दे० “रोवनिहारा”। उ०—राम विमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कोउ कुल रोवनिहारा।—तुलसी।

रावनी धोवनी†-संज्ञा स्त्री० [हि० रोवना धोवना] रोनी धोनी। रोने धोने की वृत्ति। दुःख या शोक की चेष्टा। मनहूसी।

वि० दे० “रोनी धोनी”। उ०—सुख नींद कहति आली आइहैं। रोवनि धोवनि, अनखानि, अनरसनि डीठि मूठि निठुर नसाइहैं। हँसनि खेलनि, किलकनि आनंदनि भूपति-भवन बसाइहैं।—तुलसी।

रोवाँ†-संज्ञा पुं० दे० “रोयाँ”।

रोवासा-वि० [हि० रोवना] [स्त्री० रोवासी] जो रोने पर तैयार हो। जो रो देना चाहता हो।

रोशन-वि० [फा०] (१) जलता हुआ। प्रदीप्त। प्रकाशित। जैसे,—चिराग रोशन करना। (२) प्रकाशमान। चमकदार। (३) प्रसिद्ध। मशहूर। जैसे,—नाम रोशन होना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(४) प्रकट। जाहिर। जैसे,—जो बात है, वह आप पर रोशन है।

मुदा०—किसी पर रोशन होना = किसी पर जाहिर होना। प्रकट होना। मालूम होना।

रोशन चौकी-संज्ञा स्त्री० [फा०] फूँककर बजाने का एक बाजा। शहनाई का बाजा। नफीरी।

विशेष—इसे प्रायः पाँच आदमी मिलकर बजाते हैं। एक केवल स्वर भरता है; दो उसके द्वारा राग रागिनी का गान करते हैं; एक नगाड़ा या दुकड़ बजाता है और झाँझ के द्वारा ताल देता है। यह बाजा प्रायः देवस्थानों या राजा बाबुओं के द्वार पर पहर पहर पर बजाया जाता है; इसी से चौकी कहलाता है।

रोशनदान-संज्ञा पुं० [फा०] प्रकाश आने का छिद्र। गवाक्ष। मोखा।

रोशनार्ई-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) अक्षर लिखने की स्याही। काली। मसि। स्याही। (२) प्रकाश। रोशनी। उजाला। उ०—घाट घाट बाट बाट हाट हाट दीप ठाट जागी रोशनार्ई जगती के ग्राम ग्राम में।—रघुराज।

रोशनी-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) उजाला। प्रकाश। (२) दीपक। चिराग। जैसे,—रोशनी लाओ तो सूझे। (३) दीपमाला का प्रकाश। दीपकों की पंक्ति का उजाला। जैसे,—इस खुशी में शहर भर में रोशनी हुई। (४) ज्ञान का प्रकाश। शिक्षा का प्रकाश। जैसे,—नई रोशनी के युवक।

रोष-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० रुष] (१) क्रोध। कोप। गुस्सा। (२) चिढ़। कुढ़न। (३) वैर। विरोध। द्वेष। उ०—भूलि गयो सब सों रस रोष मिटै भव के मम रैन विभातो।—केशव। (४) लड़ाई की उमंग। जोश। उ०—विगत जलद नभ नील खड़ग यह रोस बढ़ावत।—हरिश्चंद्र।

रोषण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पारा। (२) कसौटी। (३) जसर जमीन।

वि० क्रोध करनेवाला। क्रुद्ध।

रोषान्वित-वि० [सं०] क्रुद्ध ।

रोषित-वि० [सं०] क्रुद्ध । नाराज़ ।

रोषी-वि० [सं० रोषिन्] रोषयुक्त । क्रोधी । गुस्सावर । उ०—
तापस नृपहि बहुत परितोषी । चला महाकपटी अति रोषी ।
—तुलसी ।

रोस-संज्ञा पुं० दे० “रोष” ।

संज्ञा स्त्री० दे० “रौस” ।

रोसनाई-संज्ञा स्त्री० दे० “रोशनाई” ।

रोसनी-संज्ञा स्त्री० दे० “रोशनी” ।

रोसा-संज्ञा पुं० [सं० रोहिष] रूसा नामक सुगंधित घास ।

रोह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चढ़ना । चढ़ाई । (२) कली । (३)
अंकुर । अँखुवा ।

संज्ञा पुं० [देश०] नील गाय । उ०—रोह मृगा संशय बन
हाँकै पारथ बाना मेलै ।—कबीर ।

रोहक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चढ़नेवाला । (२) रथ, घोड़े आदि
पर सवारी करनेवाला । सवार ।

रोहग-संज्ञा पुं० [सं०] सिंहल द्वीप का एक पहाड़ जिसे अब
“आदम की चोटी” कहते हैं । विदूराद्रि ।

रोहज*—संज्ञा पुं० [हिं०] नेत्र ।

रोहण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चढ़ना । चढ़ाई । (२) ऊपर को
बढ़ना । (३) (पौधे का) उगना । जमना । अंकुरित
होना । (४) शुक्र । वीर्य । (५) एक राजा का नाम । (६)
विदूराद्रि पर्वत । रोहण पर्वत ।

रोहन-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पेड़ जिसे सूहन और
सूमी भी कहते हैं ।

विशेष—यह बहुत बड़ा होता है और दक्षिण तथा मध्य भारत
के जंगलों में बहुत होता है। इसकी लकड़ी मकानों में लगती
है और मेज़, कुर्सी आदि सजावट के समान बनाने के
काम में आती है। हीर की लकड़ी बहुत कड़ी, मजबूत,
टिकाऊ, चिकनी तथा ललाई लिए काले रंग की होती है।
शिशिर में यह पेड़ पत्ते झाड़ता है ।

रोहना ❀—क्रि० प्र० [सं० रोहण] (१) चढ़ना । (२) ऊपर की
ओर जाना । (३) सवार होना ।

क्रि० सं० (१) चढ़ाना । ऊपर करना । (२) सवार कराना ।
(३) अपने ऊपर रखना । धारण करना । उ०—एक दम-
यंती ऐसी हरै हँसि हंस बंस, एक हंसिनी सी विष हार
हिये रोहिण ।—केशव ।

रोहि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वृक्ष । पेड़ । (२) बीज । (३) व्रती ।
तपस्वी ।

रोहिण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीपल । (२) गूलर । (३) रोहिस
घास । (४) दिन का दूसरा पहर जिसमें श्राद्धादि कृत्य
किए जाते हैं ।

रोहिणिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] क्रोध से लाल स्त्री ।

रोहिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गाय । (२) तड़ित् । बिजली ।

(३) कटुभरा । कटुका । तिक्ता । कुटकी । (४) करंज ।
कंजा । (५) रीठा । (६) महाश्वेता । सफ़ेद कौवाडोंटी ।
(७) लोहिता । रक्तपुनर्नवा । लाल गदहपूरना । (८) जैनों
की विद्यादेवी । (९) काश्मरी । कंभारी । गंभारी । (१०)
छोटी लंबी पीली हड्डी जो गोल न हो । (इसे ‘व्रणरोपिणी’
भी कहते हैं ।) (११) धैर्य स्वर की तीन श्रुतियों में दूसरी
श्रुति । (१२) रोहू की तरह की एक मछली जिसमें काँटे
कम होते हैं । (१३) मंजिष्ठा । मजीठ । (१४) वसुदेव की
स्त्री जो बलराम की माता थीं । (१५) नौ वर्ष की कन्या
की संज्ञा । (स्मृति) (१६) पाँच वर्ष की कुमारी । (१७)
सत्ताइस नक्षत्रों में से चौथा नक्षत्र, जो पाँच तारों से मिलकर
बना हुआ और रथ की आकृति का माना गया है । पुराणों
के अनुसार यह दक्ष की कन्याओं में से है और चंद्रमा की
स्त्री है । (१८) ब्राह्मी बूटी । (१९) गले का एक रोग ।
(२०) त्वचा की छठी परत ।

रोहिणीपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा । (२) वसुदेव ।

रोहिणी योग-संज्ञा पुं० [सं०] आषाढ़ के कृष्ण पक्ष में रोहिणी
का चंद्रमा के साथ योग ।

रोहिणीवल्लभ-संज्ञा पुं० दे० “रोहिणीपति” ।

रोहिणीश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वसुदेवजी । (२) चंद्रमा ।

रोहित-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मृगी । (२) एक लता । (३) लाल
रंग की बोड़ी । बड़वा । (४) नदी ।

रोहित-वि० [सं०] लाल रंग का । रक्त वर्ण । लोहित ।

संज्ञा पुं० (१) लाल रंग । (२) रोहू मछली । (३) एक
प्रकार का मृग । (४) रोहितक नाम का पेड़ । (५) इन्द्र-
धनुष । (६) कुसुम का फूल । बरै का फूल । (७) केसर ।
कुंकुम । (८) रक्त । लहू । खून । (९) गंधर्वों की एक
जाति । (वाल्मी०)

रोहितक-संज्ञा पुं० [सं०] रोहित का पेड़ । रोहेड़ा । कूट
शास्त्रमाली ।

रोहितवाह-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि ।

रोहिताश्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि । (२) राजा हरिश्चंद्र के
पुत्र का नाम । (३) एक प्राचीन गढ़ का नाम जो सोन के
किनारे पर था ।

रोहिनी❀-संज्ञा स्त्री० दे० “रोहिणी” ।

रोहिण-संज्ञा पुं० [सं०] रूसा नामक घास जिसकी जड़ सुगंधित
होती है ।

रोहिष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रूसा घास । (२) रोहू मछली ।
(३) एक प्रकार का मृग जो गंधे से मिलता जुलता
होता है ।

रोही-वि० [सं० रोहिन्] [स्त्री० रोहिणी] चढ़नेवाला ।

संज्ञा पुं० (१) गूलर का पेड़ । (२) पीपल का पेड़ । (३) एक प्रकार का मृग । रोहिष । (४) रोहिष घास । (५) कूट शालमली । रोहित का पेड़ । रुहेड़ा । (६) रोहू मछली । संज्ञा पुं० [देश०] एक हथियार । उ०—तेगा, असील रोही । सिप्पर कि दो सिरोंही ।—सूदन ।

रोहुन-संज्ञा पुं० [देश०] रोहन नाम का पेड़ ।

रोहू-संज्ञा स्त्री० [सं० रोहिष] (१) एक प्रकार की बड़ी मछली इसका मांस अति स्वादिष्ट होता है । इसके सिर को लोग अत्यंत स्वादिष्ट बनाते हैं । इसके ऊपर सेहरा होता है । (२) एक वृक्ष जो पूर्व हिमालय में विशेषतः दारजिलिंग में होता है ।

रौट-संज्ञा स्त्री० [हि० रोवना] (१) खेल या हँसी में बुरा मानना या रोना । जैसे,—तुमसे क्या खेलें; तुम तो खेल में रौट करते हो । (२) चिढ़कर बेईमानी करना ।

क्रि० प्र०—करना ।

रौंद-संज्ञा स्त्री० [हि० रौंदना] रौंदने का भाव या क्रिया ।

संज्ञा स्त्री० [अ० राउंड] चक्कर । गश्त । (सिपाही)

मुहा०—रौंद पर जाना = गश्त के लिये निकलना ।

रौंदन-संज्ञा स्त्री० [हि० रौंदना] रौंदने की क्रिया या भाव । मर्दन ।

रौंदना-क्रि० सं० [सं० मर्दन = पीड़ित करना] (१) पैरों से कुचलना । मर्दित करना । पददलित करना । जैसे,—(क) मिट्टी रौंदना । (ख) तुमने सारे पौधों को रौंद डाला । उ०—मट्टी कहै कुम्हार सों तु क्या रौंदै मोहि । एक दिन ऐसा होयगा मैं रौंदौंगी तोहि ।—कबीर ।

क्रि० प्र०—डालना ।—देना ।

(२) लातों से मारना । खूब पीटना ।

रौंदी-संज्ञा स्त्री० [हि० रौंदना] चौपायों के रहने का घेरा ।

चौपायों के रहने का बाड़ा ।

रौंसा-संज्ञा पुं० [सं० लोमरा, रोमरा = रोपवाला] (१) केवाँच ।

(२) केवाँच के बीज । (३) लोबिया । बोड़ा । (४) लोबिया के बीज ।

रौ-संज्ञा स्त्री० [फ्रा०] (१) गति । चाल । रफ्तार । (२) वेग ।

झोंक । जैसे,—उसकी रौ के सामने जो कुछ पड़ेगा, वह सब समेट लेगा । (३) पानी का बहाव । तोड़ । (४) किसी बात की धुन । किसी काम के करने की झोंक । वेग से चलता हुआ सिलसिला । जैसे,—बात की रौ में मैंने ध्यान नहीं दिया । (५) चाल । ढंग ।

ॐ संज्ञा पुं० दे० “रव” ।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पेड़ ।

रौकम-वि० [सं०] (१) रुकम-संबंधी । (२) सोने का बना हुआ ।

रौहय-संज्ञा पुं० [सं०] रूपापन । रुलाई । रुसता ।

रौखुर-संज्ञा स्त्री० [देश०] वह भूमि जो बाढ़ की बालू पड़ने से खराब हो गई हो ।

रौगन-संज्ञा पुं० [अ०] (१) तेल । (२) लाख आदि का बना हुआ पक्का रंग जो चीजों पर चमक आदि लाने के लिये चढ़ाया जाता है ।

रौगनी-वि० [अ०] (१) तेल का । (२) रौगन फेरा हुआ ।

जिस पर लाख आदि का पक्का रंग चढ़ाया गया हो । जैसे,—

रौगनी बरतन ।

रौचनिक-वि० [सं०] गोरोचन या रौली संबंधी । गोरोचन या रौली से रँगा हुआ ।

रौक्य-संज्ञा पुं० [सं०] विद्वदंड धारण करनेवाला संन्यासी ।

रौजन-संज्ञा पुं० [फ्रा०] (१) छिद्र । बिल । सुराख । (२) दरार । दरज़ । (३) गवाक्ष । मोखा । रोशनदान ।

रौज़ा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) बाग । बगीचा । (२) बड़े पीर, बादशाह या सरदार आदि की क़ब्र के ऊपर बनी हुई इमारत । बड़े लोगों की क़ब्र । समाधि । जैसे,—ताज बीबी का रौज़ा ।

रौत-संज्ञा पुं० [हि० रावत] ससुर ।

रौताइन-संज्ञा स्त्री० [हि० राव, रावत] (१) राव या रावत की स्त्री । ऊँचे पद की स्त्री । ठकुराइन । (२) स्त्रियों के लिये आदर-सूचक संबोधन ।

रौताई-संज्ञा स्त्री० [हि० रावत + आई (प्रत्य०)] (१) राव या रावत होने का भाव । (२) राव या रावत का पद । ठकुराई । सरदारी । उ०—(क) दानि कहाउब औ कपनाई । होइ कि पेम कुसल रौताई ।—तुलसी । (ख) मीठो अरु कठवति भरो, रौताई औ पेम ।—तुलसी । (ग) रौताई औ कसल पेसा ।—जायसी ।

रौदा-संज्ञा पुं० दे० “रोदा” ।

रौद्र-वि० [सं०] (१) रुद्र संबंधी । (२) अत्यंत उग्र और प्रचंड । भयंकर । डरावना । (३) क्रोधपूर्ण या क्रोध-सूचक । गुज़बनाक ।

संज्ञा पुं० (१) क्रोध । गुस्सा । रोष । (२) काव्य के नौ रसों में से एक जिसमें क्रोधसूचक शब्दों और चेष्टाओं का वर्णन होता है । (३) धूप । घाम । (४) यमराज । (५) ग्यारह मात्राओं के छंदों की संज्ञा जो सब मिलाकर १४४ हो सकते हैं । (६) साठ संवत्सरों में से ५४ वाँ संवत्सर । (७) एक प्रकार का अस्त्र । (८) एक केतु जिसकी चोटी तुकीली और ताम्रवर्ण कही गई है ।

रौद्रकेतु-संज्ञा पुं० [सं०] आकाश के पूर्व दक्षिण मार्ग में शूल के अग्र भाग के समान कपिश (कपासी), रुक्ष (रुखा), ताम्रवर्ण किरणों से युक्त और आकाश के तीन भाग तक में गमन करनेवाला एक केतु ।—बृहत्संहिता ।

रौद्रता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) डरावनापन । भयंकरता । भीषणता । (२) प्रचंडता । प्रखरता । उग्रता ।

रौद्रदर्शन-वि० [सं०] देखने में डरावना । भयंकर रूप का । भीषण आकृति और चेष्टावाला ।

रौद्रार्क-संज्ञा पुं० [सं०] २३ मात्राओं के छंदों की संज्ञा जो सब मिलाकर ४६३६० प्रकार के हो सकते हैं ।

रौद्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रुद्र की पत्नी, गौरी । देवी । (२) गांधार स्वर की दो श्रुतियों में से पहली श्रुति ।

रौन-संज्ञा पुं० दे० "रमण" ।

रौनक-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) वर्ण और आकृति । रूप । (२) चमक दमक । तेज । वीर्य । कांति । जैसे,—चेहरे पर रौनक होना । (३) प्रफुल्लता । विकास । जैसे,—सुनते ही चेहरे की रौनक उड़ गई । (४) शोभा । छटा । चहल पहल । सुहावनापन । जैसे,—व्यापार गिर जाने से शहर की रौनक जाती रही ।

रौनी + संज्ञा पुं० [सं० रमण] द्विरागमन । गौना । मुकुटावा । संज्ञा पुं० दे० "रोना" । उ०—रौना अँखि बस करन कौ करे हेत इन जाह । अब उलटे रौना पग्यौ गरे दगन के आह ।—रसनिधि ।

रौनी-संज्ञा स्त्री० दे० "रमणी" ।

रौप्य-संज्ञा पुं० [सं०] चाँदी । रूपा ।

वि० चाँदी का बना हुआ । चाँदी का । रूपे का ।

रौमक-संज्ञा पुं० [सं०] सँभर नमक ।

रौम लक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] सँभर नमक ।

रौरव-वि० [सं०] (१) भयंकर । डरावना । घोर । (२) बे-इमान । धूर्त । कपटी । (३) बात पर दृढ़ न रहनेवाला । चंचल । (४) रह सृग संबंधी । संज्ञा पुं० एक भीषण नरक का नाम जो २१ नरकों में से पाँचवाँ कहा गया है ।

रौरा + संज्ञा पुं० दे० "रौला" ।

+ सर्व० [हि० रावरा] [स्त्री० रौरी] आपका ।

रौराना + क्रि० सं० [हि० रौर, रौरा] प्रलाप करना । व्यर्थ बोलना या हल्ला करना । बकना । उ०—अब यह और सृष्टि विरहित की बकत बाह रौरानी ।—सूर ।

रौरे + सर्व० [हि० राव, रावल] आप । (आदर का संबोधन) उ०—भलउ कहत दुख रौरेहि लागा ।—तुलसी ।

रौला-संज्ञा पुं० [सं० रवण] (१) हल्ला । गुल । शोर । हुलड़ । धूम । (२) ऊधम । हलचल ।

क्रि० प्र०—करना ।—मचना ।—मचाना ।—होना ।

रौलि + संज्ञा स्त्री० [देश०] धौल । चपत । झापड़ । तमाचा । उ०—बाँका गढ़ बाँका मत्ता बाँकी गढ़ की पौलि । कांति कबीरा नीकसा जम सिर घाली रौलि ।—कबीर ।

रौशन-वि० दे० "रोशन" ।

रौशनदान-संज्ञा पुं० दे० "रोशनदान" ।

रौशनी-संज्ञा स्त्री० दे० "रोशनी" ।

रौस-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० रविरा] (१) गति । चाल । (२) रंग दग । तौर तरीका । चाल ढाल । (३) बाग की पटरी । बाग की क्यारियों के बीच का मार्ग । उ०—रौस होज बहु कटी कियारी । चौक चार चहुँ कित चित हारी ।—रघुराज ।

रौसली-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की चिकनी उपजाऊ मिट्टी । डाकर ।

रौसा-संज्ञा पुं० दे० "रौसा" ।

रौहाल-संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) घोड़े की एक चाल । (२) घोड़े की एक जाति । उ०—यदपि तेज रौहाल बर लगी न पलकौ बार । तउ गँवडौ घर कौ भयौ पँडौ कोस हजार ।—बिहारी ।

रौहिण-संज्ञा पुं० [सं०] चंदन ।

रौहिण्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोहिणी के पुत्र, बलराम । (२) बुध ग्रह । (३) पञ्चा । मरकत । (४) गाय का बछड़ा ।

र्यासद + संज्ञा स्त्री० दे० "रियासत" । उ०—दुर्जन दुरासद बर सभासद विश्व न्यासद शाह हैं ।—रघुराज ।

र्योरी-संज्ञा स्त्री० दे० "रेवड़ी" ।

ल

ल-व्यंजन वर्ण का अट्ठाईसवाँ वर्ण जिसका उच्चारण स्थान दंत है । इसके उच्चारण में संवार, नाद और घोष प्रयत्न होते हैं । यह अव्यंजन है ।

लंक-संज्ञा स्त्री० [सं०] कमर । कटि ।

संज्ञा स्त्री० [सं० लंका] लंका नामक द्वीप ।

विशेष—इस रूप में इसका प्रयोग प्रायः यौगिक शब्दों में होता है । जैसे,—लंकनाथ, लंकपति ।

लंकटंकटा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुकेश राक्षस की माता और विद्युत्केश की कन्या का नाम । (२) संध्या की कन्या का नाम ।

लंकनाथ, लंकनायक-संज्ञा पुं० [हि० लंक + सं० पति या नायक] (१) रावण । (२) विभीषण । उ०—(क) तब लंकनाथ रिसाय कै । भो चलत लव पहुँ धाय कै ।—लवकुश चरित्र । (ख) जाति बानर लंकनाथक दूत अंगद नाम है ।—केशव ।

लंकार-संज्ञा पुं० [अं० लंकार] एक प्रकार का मोटा बड़िया कपड़ा जो प्रायः धुला हुआ होता है।

लंका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भारत के दक्षिण का एक टापू जहाँ रावण का राज्य था। लोगों का विश्वास है कि रावण के समय यह टापू सोने का था। (२) शिवी धान्य। (३) असुरग। सृष्टा। (४) काला चना। (५) शाखा। डाली।

लंकादाही-संज्ञा पुं० [सं० लंकादाहि] हनुमान।

लंकाभिपति-संज्ञा पुं० [सं०] रावण।

लंकापति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रावण। (२) विभीषण। उ०—
भैरवो हरि भरि अंक भरत ज्यौ लंकापति मनु भायो।—
तुलसी।

लंकायिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] असुरग। सृष्टा।

लंकारि-संज्ञा पुं० [सं०] रामचंद्र।

लंकार-संज्ञा पुं० [डि०] सिंह। शेर।

लंकिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] रामायण के अनुसार एक राक्षसी जिसे हनुमान जी ने लंका में प्रवेश करते समय धूसों से मार डाला था।

लंकेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रावण। (२) विभीषण।

लंकेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] रावण।

लंकोई-संज्ञा स्त्री० दे० “लंकोवक”।

लंकोवक-संज्ञा पुं० [सं०] असुरग। सृष्टा।

लंग-संज्ञा स्त्री० दे० “लंग”। उ०—लंग की लंग ज्यौ लुगाइन की लागरी।—देव।

संज्ञा पुं० [फा०] लंगड़ापन।

क्रि० प्र०—करना।—खाना।

संज्ञा पुं० [सं०] स्त्री का यार। उपपत्ति।

लंगक-संज्ञा पुं० [सं०] स्त्री का यार। उपपत्ति।

लंगडी-संज्ञा स्त्री० दे० “लंगोटी”।

लंगड़-वि० दे० “लंगड़ा”।

संज्ञा पुं० दे० “लंगर”।

लंगड़ा-वि० [फा० लंग] (१) जिसका एक पैर बेकाम या टूटा हो। (२) जिसका एक पाया टूटा हो।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बहुत बड़िया कलमी आम जो प्रायः बनारस में होता है।

लंगड़ाना-क्रि० अ० [हि० लंगड़ा] चलने में दोनों या चारों पैरों का ठीक ठीक और बराबर न बैठना, बल्कि किसी एक पैर का कुछ रुक या दबकर पड़ना। लंग करते हुए चलना। लंगड़े होकर चलना।

लंगड़ी-संज्ञा स्त्री० [हि० लंगड़ा] एक प्रकार का छंद। उ०—
साज भाँले अबज में, तेहि प्रकाश चहुँ ओर। सब तिथि निशि में अतिथि सी राकी कन्यो प्रकाश।—गुमान।

वि० [डि०] बली। बलवान्। जोरावर।

लंगर-संज्ञा पुं० [फा० मि० अं० एन्कर] (१) लोहे का बना हुआ एक प्रकार का बहुत बड़ा काँटा जिसके बीच में एक मोटा लंबा छड़ होता है; और एक सिरे पर दो, तीन या चार टेढ़ी छुकी हुई नुकीली शाखाएँ और दूसरे सिरे पर एक मजबूत कड़ा लगा हुआ होता है। इसका व्यवहार बड़ी बड़ी नावों या जहाजों को जल में किसी एक ही स्थान पर ठहराए रखने के लिये होता है। इसके ऊपर कड़े में मोटा रस्सा या जंजीर आदि बाँधकर इसे नीचे पानी में छोड़ देते हैं। जब यह तल में पहुँच जाता है, तब इसके टेढ़े अँकड़े जमीन के कंकड़-पत्थरों में अड़ जाते हैं, जिसके कारण नाव या जहाज उसी स्थान पर रुक जाता है; और जब तक यह फिर खींचकर ऊपर नहीं उठा लिया जाता, तब तक नाव या जहाज आगे नहीं बढ़ सकता।

क्रि० प्र०—उठाना।—करना।—छोड़ना।—डालना।—
फँकना।—होना।

यौ०—लंगरगाह।

(२) लकड़ी का वह कुंदा जो किसी हरहाई गाय के गले में रस्सी द्वारा बाँध दिया जाता है। इसके बाँधने से गाय इधर उधर भाग नहीं सकती। टेंगुर। (३) रस्सी या तार आदि से बाँधी और लटकती हुई कोई भारी चीज जिसका व्यवहार कई प्रकार की कलों में और विशेषतः बड़ी घड़ियों आदि में होता है।

क्रि० प्र०—चलना।—चलाना।—हिलना।

विशेष—इस प्रकार का लंगर प्रायः निरंतर एक ओर से दूसरी ओर आता जाता रहता है। कुछ कलों में इसका व्यवहार ऐसे पुरजों का भार ठीक रखने में होता है, जो एक ओर बहुत भारी होते हैं और प्रायः इधर उधर हटते बढ़ते रहते हैं। बड़ी घड़ियों में जो लंगर होता है, वह चाभी दी हुई कमानी के जोर से एक सीधी रेखा में इधर से उधर चलता रहता है और घड़ी की गति ठीक रखता है।

(४) जहाजों में का मोटा बड़ा रस्सा। (५) लोहे की मोटी और भारी जंजीर उ०—हाथी ते उतरि हाड़ा जूझो लोह लंगर दै एती लाज का में जेती लाज छत्रसाल में।—भूषण।
क्रि० प्र०—डालना।—देना।

(६) चाँदी का बना हुआ तोड़ा जो पैर में पहना जाता है। इसकी बनावट जंजीर की सी होती है। (७) किसी पदार्थ के नीचे का वह अंश जो मोटा और भारी हो। (८) कमर के नीचे का भाग। (९) अंडकोश। (वाजारू) (१०) पहलवानों का लँगोट।

मुहा०—लंगर बाँधना=(१) पहलवानी करना। (२) ब्रह्मचर्य धारण करना। लंगर लँगोट कसना या बाँधना=लड़ने को तैयार होना। लंगर लँगोट (किसी को) देना या आगे

रखना = पहलवानी सीखने के लिये किसी पहलवान का शिष्य बनना ।

(११) वह (स्थान या व्यक्ति आदि) जिसके द्वारा किसी को किसी प्रकार का आश्रय या सहारा मिलता हो । (क०)
(१२) कपड़े में के वे टाँके जो दूर दूर पर इसलिये डाले जाते हैं जिसमें मोड़ा हुआ कपड़ा अथवा एक साथ सीए जानेवाले दो कपड़े अपने स्थान से हट न जायें । इस प्रकार के टाँके पक्री सिलाई करने से पहले डाले जाते हैं; और इसी लिये इसे कच्ची सिलाई भी कहते हैं ।

क्रि० प्र०—करना ।—डालना ।—तोड़ना ।—भरना ।

(१३) वह उभड़ी हुई रेखा जो अंडकोश के नीचे के भाग से आरंभ होकर गुदा तक जाती है । सीघन । सीवन । (१४) वह पका हुआ भोजन जो प्रायः नित्य किसी निश्चित समय पर दीनों और दरिद्रों आदि को बाँटा जाता है ।

क्रि० प्र०—देना ।—बाँटना ।—लगाना ।

यौ०—लंगरखाना ।

(१५) वह स्थान जहाँ दीनों और दरिद्रों आदि को बाँटने के लिये भोजन पकाया जाता हो । (१६) वह स्थान जहाँ बहुत से लोगों का भोजन एक साथ पकता हो ।

वि० (१) जिसमें अधिक बोझ हो । भारी । वजनी । (२) शरीर । नटखट । ठोठ । उ०—(क) लरिका लैबे के मिसनि लंगर मो ढिग आय । गयो अचानक आँगुरी छाती छैल खुवाय ।—बिहारी । (ख) सूर श्याय दिन दिन लंगर भयो दूर करौ लँगैया ।—सूर ।

मुहा०—लंगर करना = शरारत या ठिठाई करना । उ०—बोलि लियो बलरामहि यशुमति । आवहु लाल सुनो हरि के गुण कालिहि ते लंगर्यो करत भति ।—सूर ।

वि० दे० “लँगड़ा” ।

लंगरई 𑂔𑂱—संज्ञा स्त्री० [हि० लंगर] ठिठाई । शरारत । नटखट-पन । उ०—बाँधौं आजु कौन तोहि छोरे । बहुत लंगरई कीन्ही मोसों भुज गहि रछु ऊखल सों जोरे ।—सूर ।

लंगरखाना—संज्ञा पुं० [फा०] वह स्थान जहाँ से दरिद्रों को बना बनाया भोजन बाँटा जाता हो ।

लंगरगाह—संज्ञा पुं० [फा०] किनारे पर का वह स्थान जहाँ लंगर डालकर जहाज ठहराए जाते हैं ।

लंगराई 𑂔𑂱—संज्ञा स्त्री० [हि० लंगर + आई (प्रत्य०)] ठिठाई । शरारत । उ०—अजहूँ छोड़ोगे लंगराई दोड कर जोरि जननि पै आये ।—सूर ।

लंगराना 𑂔𑂱—क्रि० प्र० दे० “लँगड़ाना” ।

लंगूर—संज्ञा पुं० [सं० लांगूली] (१) बंदर । (२) पूँछ । दुम । (बंदर की) (३) एक विशेष प्रकार का बंदर जो साधारण बंदर से बड़ा होता है और जिसकी पूँछ बहुत अधिक

लंबी होती है । इसके सारे शरीर पर सफेद रंग के रोह होते हैं और सुँह, हाथ की हथेलियाँ तथा पैर के सलबे और उँगलियाँ आदि काली होती हैं ।

लंगूरफल—संज्ञा पुं० [हि० लंगूर + सं० फल] वारियल । उ०—वानरमुख लंगूरफल नारिकेलि सुभ काम । ये तरनी के नारियर तो कहँ करत प्रनाम ।—नंददास ।

लंगूरी—संज्ञा स्त्री० [हि० लंगूर + ई (प्रत्य०)] (१) घोड़े की एक चाल जिसमें वह उछल उछलकर चलता है । (२) वह इनाम जो चोरों को उस समय दिया जाता है, जब वे चोरी गए हुए मवेशियों का पता लगा देते हैं ।

लंगूल—संज्ञा पुं० [सं० लांगूल] पूँछ । दुम ।

लँगोट, लँगोटा—संज्ञा पुं० [सं० लिंग + ओट] [स्त्री० लँगोटी] कमर पर बाँधने का एक प्रकार का बना हुआ वस्त्र जिससे केवल उपस्थ ढका जाता है । यह प्रायः लंबी पट्टी के आकार का अथवा त्रिकोना होता है, जिसमें दोनों ओर कमर पर लपेटने के लिये बंद लगे रहते हैं । प्रायः पहलवान लोग कुश्ती लड़ने या कसरत करने के समय इसे पहना करते हैं । रुमाली ।

यौ०—लँगोटबंद = ब्रह्मचारी । स्त्री—त्यागी ।

लँगोटी—संज्ञा स्त्री० [हि० लँगोट] कोपीन । कछनी । भगई । उ०—रोटी गहे हाथ में सुचोटी गुहे माथ में, लँगोटी कछे नाथ साथ बालक बिलासी है ।

मुहा०—लँगोटिया यार = वचपन का मित्र । उस समय का मित्र, जब कि दोनों लँगोटी बाँधकर फिरते हों । लँगोटी पर फाग खेलना = थोड़ा ही साधन होने पर विलासी होना । कम सामर्थ्य होने पर भी बहुत अधिक व्यय करना । लँगोटी बाँधवाना = बहुत दरिद्र कर देना । इतना धनहीन कर देना कि पास में लँगोटी के सिवा और कुछ न रह जाय । लँगोटी बिकवाना = इतना दरिद्र कर देना कि पहनने के वस्त्र तक न रह जाय ।

लंघक—वि० [सं०] (१) लाँघनेवाला । अतिक्रमण करनेवाला । (२) नियम का भंग करनेवाला । कायदा तोड़नेवाला ।

लंघन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) उपवास । अनाहार । फाका । कुछ न खाना । उ०—(क) जिन नैनन को है सही मोहन रूप अहार । तिनको बैद बतावहीं लंघन को उपचार ।—रसनिधि । (ख) धाम धाम माँगे भीख लंघन सुनाई है ।—रघुराज । (२) लाँघने की क्रिया । डाँकना । (३) अतिक्रमण । (४) घोड़े की एक चाल जिसमें वह बहुत तेज चलता है । (५) वह उपाय जिससे किसी काम में लाघव या सुमीता हो ।

लंघनक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसके द्वारा लाँघा जाय । (२) सेव । पुल ।

लंघना—क्रि० सं० [सं० चलन] किसी वस्तु के ऊपर से होकर इस ओर से उस ओर जाना । लौंघना । लौंघना । डौंघना ।
उ०—जाकी कृपा पंगु गिरि लंघे अँधरे को सब कछु दरसाई ।—सूर ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] अवमानना । उपेक्षा । लापरवाही ।

लंघनीय-वि० [सं०] (१) लौंघने के योग्य । (२) उल्लंघन करने के योग्य ।

लंज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पैर । पाँव । (२) काढ़ । (३) पूँछ ।
दुम । (४) लंपटता । (५) खोत । सोता ।

संज्ञा स्त्री० लक्ष्मी ।

लंजिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेदिका । रडी ।

लंठ-वि० [हि० लठ्ठा] मूर्ख । उजड़ ।

लंड-संज्ञा पुं० [सं०] पुरीष । विद्या । गू ।

संज्ञा पुं० [सं० लिंग] पुरुष की मूर्त्रेन्द्रिय ।

लँडूरा-वि० [देश० या सं० लांगूल] बिना पूँछ का । जिसकी सब पूँछ कट गई हो । (पक्षी)

लंतरानी-संज्ञा स्त्री० [अ०] व्यर्थ की बड़ी बड़ी बातें । शेखी ।

क्रि० प्र०—करना ।—हाँकना ।

लंप-संज्ञा पुं० [अ०] दीपक । चिराग ।

लंपक-संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों का एक संप्रदाय ।

लंपट-वि० [सं०] व्यभिचारी । विषयी । कामी । कामुक ।
उ०—लोभी लंपट लोलुप चारा । जे ताकहिं पर धन पर दारा ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० स्त्री का उपपत्ति । यार ।

लंपटता-संज्ञा स्त्री० [सं०] लंपट होने का भाव । दुराचार ।
कुकर्म ।

लंपक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लंपट । दुराचारी । (२) पुराणा-नुसार एक देश का नाम जिसे मुरंड भी कहते थे । यह देश भारत के उत्तर-पश्चिम में था ।

लंब-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह रेखा जो किसी दूसरी रेखा पर इस भाँति गिरे कि उसके साथ समकोण बनावे ।

क्रि० प्र०—गिराना ।—डालना ।

(२) एक राक्षस जिसे श्रीकृष्ण ने मारा था । इसी को प्रलंबासुर भी कहते हैं । (३) शुद्ध राग का एक भेद । (४) वह जो नाचता हो । नाचनेवाला । (५) अंग । (६) पति । (७) एक दैत्य का नाम । (८) एक मुनि का नाम । (९) ज्योतिष में एक प्रकार की रेखा जो विषुव रेखा के समा-नांतर होती है । (१०) ज्योतिष में ग्रहों की एक प्रकार की गति ।

संज्ञा स्त्री० दे० “विलंब” ।

वि० [सं०] लंबा । उ०—(क) युग अवलंब लंब भुज

चारी ।—रघुराज । (ख) अस कहि लंब फरस बिड़-वायो ।—रघुराज ।

लंबक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पुस्तक का एक अध्याय । (२) मुख का एक रोग । (३) ज्योतिष में एक प्रकार के योग जो संख्या में पंद्रह होते हैं ।

लंबकर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बकरा । (२) हाथी । (३) अंकोट वृक्ष । (४) राक्षस । (५) बाज पक्षी । (६) गदहा । खर । (७) खरगोश ।

वि० जिसके कान लंबे हों ।

लंबग्रीव-संज्ञा पुं० [सं०] ऊँट ।

लंबतडंग-वि० [सं० लंब + ताड़ + अंग] ताड़ के समान लंबा ।
बहुत लंबा ।

लंबदंता-संज्ञा स्त्री० [सं०] सिंहल देश की पिप्पली ।

लंबन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गले का वह हार जो नाभि तक लटकता हो । (२) झूलने की क्रिया । (३) अवलंब । आश्रय । सहारा । (४) कफ ।

लंबपयोधरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्तिकेय की एक मातृका का नाम ।

लंबर-संज्ञा पुं० दे० “नंबर” ।

लंबरदार-संज्ञा पुं० दे० “नंबरदार” ।

लंबा-वि० [सं० लंब] [स्त्री० लंबी] (१) जिसके दोनों छोर एक दूसरे से बहुत अधिक दूरी पर हों । जिसका विस्तार, आयतन की अपेक्षा, बहुत अधिक हो । जो किसी एक ही दिशा में बहुत दूर तक चला गया हो । “चौड़ा” का उल्टा । जैसे,—लंबा बाल, लंबा बाँस, लंबा सफर ।

मुहा०—लंबा करना = (१) (आदमी को) रवाना करना । चलता करना । (२) जमीन पर पटक या लेटा देना । चित्त करना ।
उ०—खर नास्यो इन समर अनल खरनासै जैसे । कियो भूमि पर लंब नासि परलंबहि तैसे ।—गि० दास । लंबा बनना या होना = चल देना । रवाना होना । प्रस्थान करना । (व्यंग्य और परिहास)

यौ०—लंबा चौड़ा = जिसका आयतन और विस्तार दोनों बहुत अधिक हों । जैसे,—लंबा चौड़ा मैदान ।

(२) जिसकी ऊँचाई अधिक हो । ऊपर की ओर दूर तक उठा हुआ । जैसे,—लंबा आदमी । (३) (समय) जिसका विस्तार अधिक हो । जैसे,—(क) गरमी में दिन बहुत लंबा होता है । (ख) तुम तो सदा लंबी मुद्दत का वादा करते हो । (४) विशाल । दीर्घ । बड़ा । जैसे,—इतना लंबा खर्च रखना ठीक नहीं ।

लंबाई-संज्ञा स्त्री० [हि० लंबा] लंबा होने का भाव । लंबा-पन ।
जैसे,—(क) इस जमीन की लंबाई पचास गज है । (ख) यह कपड़ा लंबाई में कुछ कम है ।

लंबान-संज्ञा पुं० [हि० लंबा] लंबाई ।

लंबिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] गले के अंदर की घंटी ।

लंबित-वि० [सं०] लंबा ।

संज्ञा पुं० मांस ।

लंबी-वि० स्त्री० [हि० लंबा] लंबा का स्त्री-लिंग रूप ।

मुहा०—लंबी तानना = लेटकर सो जाना । उ०—इस समय मेरे अतिरिक्त सब लंबी ताने सोते हैं।—हरिऔध ।

लंबी साँस लेना = अत्यंत दुःख या खेद से साँस लेना । ठंडी साँस लेना ।

लंबुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक नाग का नाम । (२) ज्योतिष में एक प्रकार के योग जिनकी संख्या पंद्रह है । लंबक ।

लंबोदर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गणेश । (२) वह जो बहुत अधिक खाता हो । पेदू ।

लंबोष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊँट । (२) एक प्रकार के क्षेत्रपाल देवता ।

लंभन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ध्वनि । (२) लांछना । कलंक ।

ल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र । (२) पृथ्वी ।

लउआ + संज्ञा पुं० दे० “घिया” ।

लउकी + संज्ञा स्त्री० दे० “घिया” ।

लकच-संज्ञा पुं० दे० “लकुच” ।

लकड़बगधा-संज्ञा पुं० [हि० लकड़ी + बाघ] एक मांसाहारी जंगली जंतु जो भेड़िए से कुछ बड़ा होता है । यह कुत्तों का मांस बहुत पसंद करता है । लखड़ ।

लकड़हारा-संज्ञा पुं० [हि० लकड़ी + हारा] जंगल से लकड़ी तोड़ कर बेचनेवाला ।

लकड़ा-संज्ञा पुं० [हि० लकड़ी] लकड़ी का मोटा कुंदा । लकड़ ।

लकड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० लगुड] (१) पेड़ का कोई स्थूल अंग (डाल, तना आदि) जो कटकर उससे अलग हो गया हो । काष्ठ । काठ ।

विशेष—इसका व्यवहार प्रायः मेज, कुर्सी, किवाड़े आदि सामान बनाने में होता है ।

(२) ईंधन । जलावन ।

मुहा०—लकड़ी देना = मुरदे को जलाना ।

(३) गतका । (४) छड़ी । लाठी ।

मुहा०—लकड़ी सा = बहुत दुबला पतला । लकड़ी चलना = लाठी से मारपीट होना । लकड़ी होना = (१) सूख कर काँटा होना । बहुत दुबला पतला होना । (२) सूखकर बहुत कड़ा हो जाना । जैसे,—रोटी सूखकर लकड़ी हो गई ।

लकुच-संज्ञा पुं० [अ०] उपाधि । खिताब । पदवी ।

क्रि० प्र०—देना ।—पाना ।—मिलना ।

लकरी + संज्ञा स्त्री० दे० “लकड़ी” ।

लकलक-संज्ञा पुं० [अ०] लंबी गर्दन का एक जलपक्षी । डँक । वि० बहुत दुबला पतला ।

लकवा-संज्ञा पुं० [अ०] एक वात रोग जिसमें प्रायः चेहरा टेढ़ा हो जाता है । यह चेहरे के अतिरिक्त और और अंगों में भी होता है; और जिस अंग में होता है, उसे बिलकुल बेकाम कर देता है । इसमें शरीर के ज्ञान तंतुओं में एक प्रकार का विकार आ जाता है, जिससे कोई कोई अंग हिलने-डोलने या अपना ठीक ठीक काम करने के योग्य नहीं रह जाता । इसे फालिज भी कहते हैं ।

क्रि० प्र०—गिरना ।

मुहा०—लकवा मारना या मार जाना = शरीर के किसी अंग में लकवे का रोग हो जाना ।

लकसी-संज्ञा स्त्री० [हि० लकड़ी + अकुसी] फल आदि तोड़ने की लगी जिसके ऊपरी सिरे पर लोहे का चंद्राकार फल या एक तिरछी छोटी लकड़ी बँधी रहती है । इसी लगी को हाथ में लेकर ऊपरी सिरे में बँधी हुई छोटी लकड़ी या फल की सहायता से ऊँचे वृक्षों के फल आदि तोड़ते हैं ।

लकाटी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की बिल्ली जिसके नरों के अंडकोशों में से एक प्रकार का मुद्क निकलता है ।

लकीर-संज्ञा स्त्री० [सं० रेखा, हि० लीक] (१) कलम आदि के द्वारा अथवा और किसी प्रकार बनी हुई वह सीधी आकृति जो बहुत दूर तक एक ही सीध में चली गई हो । रेखा । खत ।

मुहा०—लकीर का फकीर = वह जो बिना समझे बूझे किसी प्राचीन प्रथा पर चला चलता हो । आँखें बंद करके पुराने ढंग पर चलनेवाला । लकीर पीटना = बिना समझे बूझे पुरानी प्रथा पर चले चलना । लकीर पर चलना = दे० “लकीर पीटना”

क्रि० प्र०—करना ।—खींचना ।—बनाना ।

(२) वह चिह्न जो दूर तक रेखा के समान बना हो । (३) धारी । (४) पंक्ति । सतर ।

क्रि० प्र०—करना ।—खींचना ।—बनाना ।

लकुच-संज्ञा पुं० [सं०] बड़हर ।

संज्ञा पुं० दे० “लकुट” ।

लकुट-संज्ञा स्त्री० [सं० लगुड] लाठी । छड़ी ।

संज्ञा पुं० [सं० लकुच] (१) मध्यम आकार का एक प्रकार का वृक्ष जो प्रायः सारे भारत में और विशेषतः बंगाल में अधिकता से पाया जाता है । इसकी डालियाँ टेढ़ी मेढ़ी और छाल पतली तथा खाकी रंग की होती है । इसकी टहनियों के सिरे पर गुच्छों में पत्ते लगते हैं जो अनीदार और कैंगूरे-दार होते हैं । साथ में सफेद रंग के छोटे छोटे फूलों के भी गुच्छे लगते हैं । (२) इस वृक्ष का फल जो प्रायः गुलाब

जामुन के समान होता और वसंत ऋतु में पकता है। यह फल मीठा होता है और खाया जाता है। लुकाठ। लखोट।

लकुटी—संज्ञा स्त्री० [सं० लण्ड] लाठी। छड़ी।

लकोटा—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पहाड़ी बकरा जिसके बालों से शाल, दुशाले आदि बनाए जाते हैं।

लकड़—संज्ञा पुं० [हिं० लकड़ी] काठ का बड़ा कुंदा।

लकड़ा—संज्ञा पुं० [अ०] एक प्रकार का कवूतर जो खूब छाती उभाड़कर चलता है और जिसकी पूँछ पंखे सी होती है।

लका कवूतर—संज्ञा पुं० [हिं० लका + कवूतर] (१) नाच की एक गत जिसमें नाचनेवाला कमर के बल इतना झुकता है कि सिर प्रायः भूमि के निकट तक पहुँच जाता है। यह झुकान बगल की ओर होता है। (२) दे० “लका”।

लकड़ी—वि० [हिं० लाख] लाख के रंग का। लाखी।

संज्ञा पुं० घोड़े की एक जाति।

संज्ञा पुं० [हिं० लाख (संख्या)] वह जिसके पास लाखों रूपए हों। लखपती।

लक्त—वि० [सं०] लाल। सुर्ख।

लक्तक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अलता, जो खियाँ पैरों में लगाती है। अलक्तक। (२) बहुत फटा हुआ पुराना कपड़ा। चीथड़ा। लत्ता।

लक्तकर्मा—संज्ञा पुं० [सं०] लाल लोभ।

लक्ष—वि० [सं०] एक लाख। सौ हजार।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह अंक जिससे एक लाख की संख्या का ज्ञान हो। जैसे,—१०००००। (२) पैर। (३) चिह्न। निशान। (४) दे० “लक्ष्य”। (५) अक्ष का एक प्रकार का संहार। उ०—लक्ष अलक्ष युगल हृदनाभ सुनाम दशाक्ष शतानन।—रघुराज।

लक्षक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो लक्ष करा दे। जता देनेवाला। (२) वह शब्द जो संबंध या प्रयोजन से अपना अर्थ सूचित करे।

लक्षणा—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पदार्थ की वह विशेषता जिसके द्वारा वह पहचाना जाय। वे गुण आदि जो किसी पदार्थ में विशिष्ट रूप से हों और जिनके द्वारा सहज में उसका ज्ञान हो सके। चिह्न। निशान। आसार। जैसे,—आकाश के लक्षण से जान पड़ता है कि आज पानी बरसेगा। (२) नाम। (३) परिभाषा। (४) शरीर में दिखाई पड़नेवाले वे चिह्न आदि जो किसी रोग के सूचक हों। जैसे,—इस रोगी में क्षय के सभी लक्षण दिखाई देते हैं। (५) दर्शन। (६) सारस पक्षी। (७) सामुद्रिक के अनुसार शरीर के अंगों में होनेवाले कुछ विशेष चिह्न जो शुभ या अशुभ माने जाते हैं। जैसे,—चक्रवर्ती और बुद्ध के लक्षण एक से होते हैं। (८) शरीर में

होनेवाला एक विशेष प्रकार का काला दाग जो बालक के गर्भ में रहने के समय सूर्य या चंद्रग्रहण लगने के कारण पड़ जाता है। लच्छन। (९) चाल ढाल। तौर तरीका। रंग ढंग। जैसे,—आजकल तुम्हारे लक्षण अच्छे नहीं जान पड़ते। (१०) दे० “लक्ष्मण”।

लक्षणा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लक्षण शब्द की वह शक्ति जिससे उसका अर्थ लक्षित हो जाता है। शब्द की वह शक्ति जिससे उसका अभिप्राय सूचित होता है।

विशेष—कभी कभी ऐसा होता है कि शब्द के साधारण अर्थ से उसका वास्तविक अभिप्राय नहीं प्रकट होता। वास्तविक अभिप्राय उसके साधारण अर्थ से कुछ भिन्न होता है। शब्द की जिस शक्ति से उसका वह साधारण से भिन्न और दूसरा वास्तविक अर्थ प्रकट होता है, उसे लक्षणा कहते हैं। साहित्य में यह शक्ति दो प्रकार की मानी गई है—निरुद्ध और प्रयोजनवती। (वि० दे० ये दोनों शब्द।)

(२) मादा हंस। हंसी। (३) मादा सारस। सारसी।

(४) छोटी भटकटैया। (५) एक अप्सरा का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है।

लक्षणी—वि० [सं० लक्षणिन्] (१) जिसमें कोई लक्षण या चिह्न हो। (२) लक्षण जाननेवाला।

लक्षा—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक लाख की संख्या।

लक्षि—संज्ञा स्त्री० दे० “लक्ष्मी”। उ०—सुनिहिं सुमुखि तो को त्यावतो लक्षि दासी।—केशव।

संज्ञा पुं० दे० “लक्ष्य”। उ०—बाण की वायु उड़ाव के लक्षन लक्षि करौं अरिहा समरत्थहि।—केशव।

लक्षित—वि० [सं०] (१) बतलाया हुआ। निर्दिष्ट। (२) देखा हुआ। (३) अनुमान से समझा या जाना हुआ। (४) जिस पर कोई लक्षण या चिह्न बना हो।

संज्ञा पुं० वह अर्थ जो शब्द की लक्षणा शक्ति के द्वारा ज्ञात होता है।

लक्षित लक्षणा—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की लक्षणा।

लक्षिता—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह परकीया नायिका जिसका गुप्त प्रेम उसकी सखियों को मालूम हो जाय। जिसका पर-पुरुष-प्रेम दूसरों को ज्ञात हो।

लक्ष्मी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में आठ रगण होते हैं। इसे गंगोदक, गंगाधर और खंजन भी कहते हैं। उ०—कोटि बाधा कटै पाप सारे वटै शंभु शंभू रटै नाथ जो मान कै।—जगन्नाथप्रसाद।

लक्ष्मण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) रघुवंशी राजा दशरथ के चार पुत्रों में से दूसरे पुत्र, जो सुमित्रा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। जब मिथिला में रामचंद्रजी ने धनुष तोड़ा था, तब विश्वामित्र के विगढ़ने पर इन्हींने उनसे वादविवाद किया था।

उसी अवसर पर लक्ष्मणा के साथ इनका विवाह हुआ था। यद्यपि इनका स्वभाव बहुत ही उग्र और तीव्र था, तथापि ये अपने बड़े भाई रामचंद्र के बहुत बड़े भक्त थे; और सदा उनके अनुगामी रहते थे। जब रामचंद्रजी वन को जाने लगे थे, तब ये भी अयोध्या का सारा सुख छोड़कर केवल भक्ति और प्रेमवश उनके साथ हो लिए थे। वन में ये सदा सब प्रकार से उनकी सेवा किया करते थे। रावण की बहन शूर्पनखा की वाक इन्होंने काटी थी। जिस समय मारीच सोने के मृग का रूप धारकर आया था और रामचंद्र उसे मारने निकले थे, उस समय सीता की रक्षा के लिये यही कुटी में थे। पर पीछे से सीता के बहुत आग्रह करने पर ये रामचंद्र का पता लगाने के लिये जंगल में गए। राम-रावण युद्ध के समय ये बहुत वीरतापूर्वक लड़े थे और मेघनाद का वध इन्होंने किया था। उस युद्ध में ये एक बार शक्ति-बाण लगाने के कारण मूर्च्छित हो गए थे, जिस पर रामचंद्रजी ने बहुत अधिक चिन्ता किया था। पर क्षीप्र ही इनकी मूर्च्छा दूर हो गई थी और ये फिर उठकर लड़ने लगे थे। जिस समय सीताजी अपने सतीत्व का प्रमाण देने के लिये अग्निप्रवेश करने को प्रस्तुत हुई थीं, उस समय रामचंद्रजी की आज्ञा से इन्होंने सीता के लिये चिता तैयार की थी। रामचंद्र के वनवास के कारण ये अपने पिता राजा दशरथ और भाई भरत से बहुत अप्रसन्न हो गए थे; पर पीछे से भरत की ओर से इनका मन साफ हो गया था और इन्होंने समझ लिया था कि इसमें भरत का कोई दोष नहीं है। ये बहुत ही तेजस्वी, वीर और शुद्ध चरित्र के थे। पुराणानुसार ये शेषनाग के अवतार माने जाते हैं। (२) दुर्योधन के एक पुत्र का नाम। (३) चिह्न। लक्षण। (४) नाग। (५) सारस।

वि० जो श्री से युक्त हो। जिसमें शोभा और कांति हो।

लक्ष्मणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मद्र देश के राजा वृहत्सेन की कन्या जो कृष्णजी को व्याही थी और उनकी आठ पटरानियों में से एक थी। (२) दुर्योधन की बेटा का नाम। (३) कृष्ण के पुत्र सांघ की स्त्री का नाम। (४) एक जड़ी जो पुत्रदा मानी जाती है। यह जड़ी पर्वतों पर मिलती है। इसके पत्ते चौड़े होते हैं और उन पर लाल चंदन की सी बूँदें होती हैं। इसका कंद सफ़ेद होता है और वही ओषधि के काम में आता है।

पर्या०—पुत्रकंदा। पुत्रदा। नागपत्री। जननी।

लक्ष्मी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हिंदुओं की एक प्रसिद्ध देवी जो विष्णु की पत्नी और धन की अधिष्ठात्री मानी जाती हैं। भिन्न भिन्न पुराणों में इनके संबंध में अनेक कथाएँ मिलती हैं। इनकी उत्पत्ति के संबंध में प्रसिद्ध है कि देवताओं और

दानवों के समुद्र मथने से जो चौदह रत्न निकले थे, उन्हीं में से एक यह भी थी। इनका वर्ण श्वेत चंपक या कंचन के समान, कमर बहुत पतली, नितंब बहुत विशाल और चार भुजाएँ मानी जाती हैं। यह भी कहा गया है कि ये अत्यंत सुंदरी हैं और सदा युवती रहती हैं। ये महालक्ष्मी भी कही जाती हैं और इनकी पूजा अनेक अवसरों पर, विशेषतः धन तेरस और दीवाली की रात को होती है। मूर्तियों में ये या तो अकेली बैठी हुई और या क्षीर सागर में सोते हुए विष्णु भगवान् के चरण दबाती हुई दिखलाई जाती हैं।

पर्या०—पद्मालया। पद्मा। कमला। श्री। हरिप्रिया। इंदिरा। लोकमाता। मा। क्षीराब्धितनया। रमा। जलधिजा। भार्गवी। हरिवल्लभा।

(२) धन-संपत्ति। दौलत।

यौ०—लक्ष्मीवान्। लक्ष्मीपति = धनवान्।

(३) शोभा। सौंदर्य। छवि। उ०—जय अरि जय हित चलयौ बदन लक्ष्मी बर डंगी।—गिरिधर। (४) दुर्गा का एक नाम। (५) एक वर्ण वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में दो रागण, एक गुरु और एक लघु अक्षर होता है। उ०—जाहि पावैं नहीं संत। खेल सो लक्ष्मी कंत। (६) आर्या छंद के २६ भेदों में से पहला भेद जिसके प्रत्येक चरण में २७ गुरु और ३ लघु वर्ण होते हैं। (७) सीताजी का एक नाम। (८) कद्धि नाम की ओषधि। (९) बृद्धि नाम की ओषधि। (१०) वीर स्त्री। (११) घर की मालकिन। गृहस्वामिनी। (१२) हृदी। (१३) शमी वृक्ष। (१४) मोती। (१५) मोक्ष की प्राप्ति। (१६) वह वृक्ष जो फलता हो अथवा जिसमें फल लगे हों। (१७) पद्म। कमल। (१८) सफेद तुलसी। (१९) मेढासिंगी।

लक्ष्मीक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) धनवान्। अमीर। (२) भाग्यवान्।

लक्ष्मीकान्त-संज्ञा पुं० [सं०] नारायण।

लक्ष्मीगृह-संज्ञा पुं० [सं०] लाल कमल।

लक्ष्मीजनार्दन-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के शालग्राम जो बहुत काले रंग के होते हैं और जिन पर एक ओर चार चक्र रहते हैं।

लक्ष्मी टोड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० लक्ष्मी + हि० टोड़ी] एक प्रकार की संकर रागिनी जिसमें सब कोमल स्वर लगते हैं।

लक्ष्मीताल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) संगीत में १८ मात्राओं का एक ताल जिसमें १५ आघात और ३ खाली होते हैं।

× १ २ ० ३
इसके मृदंग के बोल इस प्रकार हैं—धा केटे धा धा केटे
४ ५ ० ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३
ताग धा केटे तागे नेना आन खून ग्रेदे ने ता धेम गो

१४ १५० +

तेटे गदिधेने । धा ॥ (२) श्रीताल नामक वृक्ष ।

लक्ष्मीधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वविणी छंद का दूसरा नाम ।
(२) विष्णु ।

लक्ष्मीनारायण-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के शालग्राम जो बहुत काले रंग के होते हैं और जिन पर एक ओर चार चक्र बने होते हैं । लक्ष्मी जनार्दन ।

लक्ष्मीनिधि-संज्ञा पुं० [सं०] राजा जनक के पुत्र का नाम ।

लक्ष्मीनृसिंह-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के शालग्राम जिन पर दो चक्र और एक बनमाला बनी होती है । ऐसे शालग्राम गृहस्थों के लिये बहुत शुभ माने जाते हैं ।

लक्ष्मीपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु । नारायण । (२) कृष्ण ।
(३) राजा । (४) लौंग का वृक्ष । (५) सुपारी का वृक्ष ।

लक्ष्मीपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव । (२) बोंडा । (३) सीता के पुत्र लव और कुश ।
वि० धनवान् । अमीर ।

लक्ष्मीपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) माणिक । लाल । (२) पद्म । कमल ।

लक्ष्मीफल-संज्ञा पुं० [सं०] बेल । श्रीफल ।

लक्ष्मीमण-संज्ञा पुं० [सं०] नारायण ।

लक्ष्मीवत्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु । (२) कटहल का वृक्ष ।
(३) अश्वत्थ का वृक्ष ।
वि० धनवान् । अमीर ।

लक्ष्मीवल्लभ-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

लक्ष्मीवेष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] ताड़पीन ।

लक्ष्मीश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु । (२) आम का वृक्ष ।
वि० धनवान् । अमीर ।

लक्ष्मीसहज-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा ।

लक्ष्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह वस्तु जिस पर किसी प्रकार का निशाना लगाया जाय । निशाना । (२) वह जिस पर किसी प्रकार का आक्षेप किया जाय । (३) अभिलषित पदार्थ । उद्देश्य । (४) अर्थों का एक प्रकार का संहार । (५) वह जिसका अनुमान किया जाय । अनुमेय । (६) वह अर्थ जो किसी शब्द की लक्षणा शक्ति के द्वारा निकलता हो ।
वि० देखने योग्य । दर्शनीय ।

लक्ष्यज्ञत्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह ज्ञान जो चिह्नों को देखकर उत्पन्न हो । (२) वह ज्ञान जो दृष्टांत के द्वारा उत्पन्न हो ।

लक्ष्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] लक्ष्य का भाव या धर्म । लक्ष्यत्व ।

लक्ष्यभेद-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का निशाना जिसमें तेजी से चलते या उड़ते हुए लक्ष्य को भेदते हैं । जैसे,—आकाश में फेंके हुए पैसे या उड़ते हुए पक्षी पर निशाना लगाना ।

लक्ष्यवीथी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह उपाय या कर्म जिससे जीवन का उद्देश्य सिद्ध होता हो । (२) ब्रह्मलोक का मार्ग, जिसे देवयान पथ भी कहते हैं ।

लक्ष्यवेधी-संज्ञा पुं० [सं० लक्ष्यवेधिन्] वह जो लक्ष्य वेध करता हो । उड़ते या तेजी से चलते हुए पदार्थों या जीवों पर ठीक निशाना लगानेवाला ।

लक्ष्यार्थ-संज्ञा पुं० [सं०] वह अर्थ जो लक्षणा से निकले ।

लखन-संज्ञा पुं० [सं० लक्ष्मण] श्री रामचंद्रजी के छोटे भाई, लक्ष्मण का नाम ।

संज्ञा स्त्री० [हि० लखना] लखने की क्रिया या भाव ।

लखना-संज्ञा पुं० [सं० लख] (१) लक्षण देखकर अनुमान कर लेना । समझ या जान लेना । ताड़ना । उ०—(क) लखन लखेउ भा अनरथ आजू । यह सनेह बस करिहि अकाजू ।—तुलसी । (ख) लखै न राति निकट दुख कैसे ।—तुलसी । (ग) लखन लख्यो प्रभु हृदय खँभारु ।—तुलसी । (२) देखना । उ०—(क) लहाछेह अतिगतिन की सबन लखे सब पास ।—बिहारी । (ख) चहियत जुगल किसोर लखि लोचन जुगल अनेक ।—बिहारी ।

लखपती-संज्ञा पुं० [सं० लख + पति] लाखों रूपयों का अधिपति ।
जिसके पास लाखों रूपयों की संपत्ति हो ।

लखमीतात-संज्ञा पुं० [सं० लक्ष्मी + तात] समुद्र । (हिं०)

लखमीवर-संज्ञा पुं० [सं० लक्ष्मी + वर] विष्णु । (हिं०)

लखर-संज्ञा पुं० [देश०] काकड़ासिंगी का पेड़ । इसे अरकोल भी कहते हैं ।

लखलखा-संज्ञा पुं० [का०] (१) कोई सुगंधित द्रव्य । (२) एक विशेष प्रकार का बना हुआ सुगंधित द्रव्य जो प्रायः मिट्टी पर गुलाब-जल छिड़कर अथवा इसी प्रकार के और द्रव्यों से तैयार किया जाता है और जिसे सुँवाकर बेहोश आदमी को होश में लाते हैं । मूर्च्छा दूर करने का कोई सुगंधित द्रव्य ।

लखाउ-संज्ञा पुं० [हिं० लखना] (१) लक्षण । पहचान । चिह्न । उ०—(क) अउर एक तोहि कहौं लखाऊ । मैं एहि भेस न आउव काऊ ।—तुलसी । (ख) वृद्धि भरत सत-भाउ कुभाऊ । आयहु बेगि न होइ लखाऊ ।—तुलसी । (२) चिह्न के रूप में दिया हुआ कोई पदार्थ । निशानी में दी हुई चीज । उ०—कियो सीय प्रबोध मुँदरी दियो कपिहि लखाउ —तुलसी ।

लखाना-संज्ञा पुं० [हिं० लखना] दिखाई पड़ना । उ०—मिलि चंदन बँदी रही गोरे मुख न लखाय । ज्यों ज्यों मद लाली चढ़े त्यों त्यों उग्ररति जाय ।—बिहारी ।

क्रि० स० (१) दिखलाना । (२) अनुमान करा देना ।

समझा देना । सुझा देना । उ०—मेरोइ कोरिबे जोग कपार
किधौं कछु काहु लखाइ दयो है ।—तुलसी ।

लखाव—संज्ञा पुं० दे० “लखाउ” ।

लखिमी—संज्ञा स्त्री० [सं० लक्ष्मी] (१) धन संपत्ति की
अभिष्टानी देवी, लक्ष्मी । (२) धन-संपत्ति । दौलत ।

लखिया—संज्ञा पुं० [हि० लखना + इया (प्रत्य०)] लखनेवाला ।
जो लखता हो ।

लखुआ—संज्ञा पुं० [सं० लाखा = लाख] (१) लाखा या लाही
नामक रोग जो गेहूँ के पौधों में लगता है । (२) लाल
मुँहवाला बंदर ।

संज्ञा पुं० दे० “लखिया” ।

लखुवा—संज्ञा पुं० दे० “लखुआ” ।

लखेदना—क्रि० सं० [हि० लेदना या रगेदना] खदेड़ना । भगाना ।
खेदना ।

लखेरा—संज्ञा पुं० [हि० लाख + एरा (प्रत्य०)] (१) वह जो लाख
की चूड़ी आदि बनाता हो । (२) हिंदुओं में एक जाति
जो लाख की चूड़ियाँ आदि बनाती है ।

लखौट, लखौठ—संज्ञा पुं० दे० “लकुट” ।

लखौट—संज्ञा स्त्री० [हि० लाख + औट (प्रत्य०)] लाख की
चूड़ी आदि जो स्त्रियाँ हाथों में पहनती हैं । उ०—हाथन
लखौट पाइ चुरा पचमणी गरे, गोरी की जुगल जानु कोरी
मनो केश की ।—देव ।

लखौटा—संज्ञा पुं० [हि० लाख + औटा (प्रत्य०)] (१) चंदन,
केसर आदि से बना हुआ अंगाराग । उ०—दर्शन तो मुख
को भयो सुमुखी मोहिं रसाल । बिना लखौटा हू लगे अघर
ओठ अति लाल ।—लक्ष्मण । (२) एक प्रकार का छोटा
डिब्बा जो प्रायः पीतल का बनता है और जिसमें स्त्रियाँ
प्रायः सिंदूर आदि सौभाग्य के द्रव्य रखती हैं । इसके
ढकने में प्रायः शीशा भी लगा होता है ।

संज्ञा पुं० [हि० लेख + औटा (प्रत्य०)] लिखावट ।

लखौरी—संज्ञा स्त्री० [सं० लाह, हि० लाखा + औरी (प्रत्य०)] (१)
एक प्रकार की भ्रमरी का घर जो वह मिट्टी से घरों के कोनों
में बनाती है । भृंगी का घर । (२) भारत की एक प्रकार
की छोटी पतली ईंट जो प्रायः पुराने मकानों में पाई जाती
है और जिसका व्यवहार अब कम होता जा रहा है । नौ-
तेरही ईंट । ककैया ईंट ।

संज्ञा स्त्री० [सं० लक्ष, हि० लाख (संख्या)] किसी देवता
को उसके प्रिय वृक्ष की एक लाख पत्तियाँ या फल आदि
चढ़ाना । जैसे,—शिव जी को बेलपत्र की या लक्ष्मी-
नारायण को तुलसी की लखौरी चढ़ाना ।

क्रि० प्र०—चढ़ाना ।

लगंत—संज्ञा स्त्री० [हि० लगना + अंत (प्रत्य०)] (१) लगन होने

की क्रिया या भाव । उ०—आलम में जब बहार की आकर
खिलंत है । दिल की नई लगन को भजे की लगंत है ।—
नज़ीर । (२) लगने या क्षीप्रसंग करने की क्रिया या भाव ।

लग—क्रि० वि० [हि० लौ] (१) तक । पर्यंत । ताई । उ०—एक
सुहरत लग कर जोरी । नयन भूँदि श्रीपतिहिं निहोरी ।—
रघुराज । (२) निकट । समीप । नज़दीक । पास । उ०—
यहि भाँति दिगीश चले मग में । इक सोर सुन्यो अति ही
लग में ।—गुमान ।

संज्ञा स्त्री० लगन । लग । प्रेम । उ०—झाँकति है का
झरोखा लगी लग लागिबे की इहाँ झेल नहीं फिर ।—
पद्माकर ।

अव्य० (१) वास्ते । लिये । उ०—भृगुपति जीति परसु
नुम पायो । ता लग हौं लंकेश पठायो ।—हृदयराम । (२)
साथ । संग । उ०—लगा लगी बातनि अलग लग लगी
आवै लोगनि की लग ज्यों लुगाइन की लग री ।—देव ।

लगढग—क्रि० वि० दे० “लगभग” ।

लगणु—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें पलक पर
एक छोटी, चिकनी, कड़ी गाँठ हो जाती है । इस गाँठ में
न तो पीड़ा होती है और न यह पकती है ।

लगदी—संज्ञा स्त्री० [देश०] वह बिछौना जिसे बच्चेवाली स्त्रियाँ
बच्चों के नीचे इसलिये बिछाकर उन्हें अपने पास सुलाती
हैं कि जिसमें उनके मलमूत्र से और बिछौने खराब न होने
पावें । कथरी । पोतड़ा ।

लगन—संज्ञा स्त्री० [हि० लगना] (१) किसी ओर ध्यान लगने
की क्रिया । प्रवृत्ति का किसी एक ओर लगना । लौ ।
जैसे,—आज कल तो आपको बस कलकत्ते जाने की लगन
लगी है ।

क्रि० प्र०—लगना ।—लगाना ।

(२) प्रेम । स्नेह । मुहब्बत । प्यार ।

क्रि० प्र०—लगना ।—लगाना ।

(३) लगने की क्रिया या भाव । लगाव । संबंध ।

संज्ञा पुं० [सं० लग्न] (१) विवाह के लिये स्थिर किया
हुआ कोई शुभ मुहूर्त । व्याह का मुहूर्त या साइत । (२)
वे दिन जिनमें विवाह आदि होते हैं । सहालग । (३)
दे० “लग्न” ।

संज्ञा पुं० [फा०] (१) ताँवे, पीतल आदि की एक प्रकार
की थाली जिसमें रखकर मोमबत्ती जलाई जाती है । (२)
कोई बड़ी थाली जिसमें आटा गूँधते या मिठाई आदि
रखते हैं । (३) मुसलमानों में विवाह की एक रीति जिसमें
विवाह से पहले थालियों में मिठाइयाँ आदि भरकर घर के
लिये भेजी जाती हैं ।

लगनपत्री-संज्ञा स्त्री० [सं० लग्नपत्रिका] विवाह-समय के निर्णय की चिट्ठी जो कन्या का पिता वर के पिता को भेजता है।

लगना-क्रि० प्र० [सं० लग्न] (१) दो पदार्थों के तल आपस में मिलना। एक चीज की सतह पर दूसरी चीज की सतह का होना। सटना। जैसे,—टेबुल पर कपड़ा लगना, तस्वीर पर शीशा लगना, दीवार पर इस्तहार लगना। उ०—मिट्टी में सनी हुई बड़हवास एक पत्थर से लगी हुई थी।—देवकीनंदन। (२) एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में संलग्न होना। मिलना। जुड़ना। जैसे,—तस्वीर में चौखटा लगना, अलमारी में शीशा लगना, किसी के गले लगना। उ०—लागति है जाय कंठ नाग दिगपालन के मेरे जान सोई कृत कीरति तिहारी है।—केशव। (३) किसी पदार्थ के तल पर पड़ना। जैसे,—पैर में कीचड़ लगना, कपड़े में मिट्टी लगना, कागज में दाग लगना। (४) एक चीज का दूसरी चीज पर सीया, जड़ा, टाँका या चिपकाया जाना। जैसे,—चादर में बेल लगना, धोती में फीता लगना, कोट में बटन लगना। उ०—(क) जटित जराय की जँजीर बीच नीलमणि लागि रहे लोकनि के नैन मानो मनहर।—केशव। (ख) सिर पर फौलादी टोपी जिसमें एक हुमा के पर की लाँबी कलगी लगी हुई थी।—देवकीनंदन। (५) सम्मिलित होना। शामिल होना। मिलना। जैसे,—पुस्तक में परिशिष्ट लगना, रजिस्टर में पन्ने लगना। (६) उत्पन्न होना। जमना। उगना। जैसे,—(क) यह गुलाब इस जमीन में न लगेगा। (ख) इस पेड़ में खूब आम लगे हैं। (७) छोर या प्रांत आदि पर पहुँचकर ठिकना या ठकना। ठिकाने पर पहुँचना। जैसे,—किनारे पर नाव लगना, दरवाजे पर गाड़ी या बरात लगना। (८) क्रम से रखा या सजाया जाना। सिलसिले से रखा जाना। जैसे,—अलमारी में किताबें लगना, दूकान पर माल लगना, बरात लगना, हाट लगना, सुमाइश लगना। (९) व्यय होना। खर्च होना। जैसे,—(क) व्याह में दस हजार रुपए लगे। (ख) उसे दौड़ने दो; तुम्हारा क्या लगता है। (१०) जान पड़ना। मालूम होना। अनुभव होना। जैसे,—डर लगना, मोह लगना, पेशाब लगना, अच्छा लगना, बुरा लगना, जाड़ा लगना, गरमी लगना। उ०—चंद्रकांता के विरह में मोरों की आवाज तीर सी लगती है।—देवकीनंदन। (११) स्थापित होना। कायम होना। जैसे,—मकान में कल लगना, छत के नीचे खंभा लगना। (१२) संबंध या रिश्ते में कुछ होना। जैसे,—वह हमारा भाई लगता है। उ०—दशरथ आपके कौन लगते हैं और आप दशरथ के कौन लगते हो।—वाल्मीकीय रामायण। (१३) आघात पड़ना। चोट पहुँचना। जैसे,—लाठी लगना, थप्पड़ लगना, तलवार लगना। उ०—धौल का लगना था कि वह पत्थर का आदमी उठ बैठा।—देवकीनंदन। (१४) टकरा खाना। टकराना। जैसे,—जरा सा ठकेलते ही उसका सिर दीवार से जा लगा। (१५) किसी चीज के ऊपर लेप किया जाना। पोता जाना। मला जाना। जैसे,—लकड़ी पर बारनिश लगना, फोड़े पर दवा लगना, पान पर कथा लगना, सिर में तेल लगना। (१६) किसी पदार्थ का किसी प्रकार की जलन या चुनचुनाहट आदि उत्पन्न करना। जैसे,—(क) यह सूरन बहुत लगता है। (ख) यह दवा पहले तो कुछ लगेगी; पर फिर ठंडक डाल देगी। (१७) खाद्य पदार्थ का (पकने के समय जल आदि के अभाव या आँच की अधिकता के कारण) बरतन के तल में जम जाना। जैसे,—खिचड़ी में पानी छोड़ो; नहीं तो लग जायगी। (१८) किसी प्रकार की प्रवृत्ति आदि का आरंभ होना। जैसे,—चाट गना, चसका लगना। (१९) आरंभ होना। शुरू होना। जैसे,—(क) अब तो ग्रहण लग गया है। (ख) कल से चैत लगेगा। (ग) उनकी नौकरी लग गई है। (२०) उपयोग में आना। काम में आना। जैसे,—(क) जितना मसाला आया था, वह सब एक ही मकान में लग गया। (ख) तुम्हारी चारों साड़ियाँ लग गईं। (२१) काम के लिये आवश्यक होना। जरूरी होना। जैसे,—(क) इस महीने में हमें चार गाड़ी भूसा लगेगा। (ख) अब तो उन्हें भी चदमा लगता है। (ग) रजिस्टरी में दो आने का टिकट लगता है। (घ) तुम्हें जो जो चीजें लगे, सब मुझसे माँग लेना। (२२) जारी होना। चलना। जैसे,—(क) आज कल दोनों में खूब लड़ाई लगी है। (ख) अब तो तुम्हारा ही काम लगा है; दो चार दिन में पूरा हो जायगा। (ग) दो चार दिन में काम लगेगा। (२३) एक चीज का दूसरी चीज के साथ रगड़ खाना। जैसे,—चलने में घोड़े के पैर लगना, गाड़ी का पहिया लगना। (२४) सड़ना। गलना। जैसे,—(क) यह आम लग गया है। (ख) इस बैल का कंधा लग गया है। (२५) किसी ऐसे कार्य का आरंभ होना जिसमें बहुत से लोगों के एकत्र होने की आवश्यकता हो। जैसे,—महफिल लगना, मेला लगना। (२६) प्रभाव पड़ना। असर होना। जैसे,—(क) परदेस में हमें पानी बहुत जल्दी लगता है। (ख) कड़ाही में आँच लग रही है। (ग) तुम्हें डाक्टरी दवा नहीं लगती। (घ) तुम्हें उसी का शाप लगा है। (च) सुरती बहुत तेज थी; लग गई है।

मुहा०—लगती बात कहना = ऐसी पते की बात कहना कि सुननेवाला मन मसोसकर रह जाय। मर्मभेदी बात कहना। चुटकी लेना।

(२७) दातव्य नियत होना । देना निश्चित होना । जैसे,—
टैक्स लगाना, व्याज लगाना, किराया लगाना । (२८) आरोप
होना । जैसे,—दफा लगाना, हत्या लगाना, पाप लगाना ।
(२९) प्रज्वलित होना । जलना । जैसे,—आग लगाना,
दीआ लगाना । उ०—औचक ही कर माँझ साँझ ही अगिनि
लगी बड़ो अनुरागी रहि गई सोऊ डारिए ।—प्रियादास ।
(३०) काम में आने योग्य होना । ठीक बैठना । उपयुक्त
होना । जैसे,—यह ताली इस ताले में लग जाती है ।
(३१) हिसाब होना । गणित होना । जैसे,—पुरजा लगाना,
जोड़ लगाना । (३२) पीछे पीछे चलना । साथ होना ।
शामिल होना । जैसे,—(क) बाजार में पहुँचते ही दलाल
लगते हैं । (ख) तुम्हारे साथ भी सदा एक न एक आदमी
लगा रहता है । उ०—लगे बाके पाछे काछे काछ की न लुधि
कहू गई घर आछे रहे द्वार तनु छीजिए ।—प्रियादास ।

मुहा०—लग चलना = किसी के साथ या पीछे हो लेना । जैसे,—
जहाँ तुमने कोई मालदार असामी देखा, वहाँ तुम उसके
पीछे लग चले ।

(३३) संबद्ध होना । चिमटना । जैसे,—रोग लगना ।
(३४) किसी कार्य में प्रवृत्त या तत्पर होना । जैसे,—
(क) तुम्हें इन सब झगड़ों से क्या मतलब; तुम अपने
काम में लगे । (ख) वह सवेरे से लिखने में लगा है ।
(३५) स्पर्श करना । छूना । उ०—कृपा करी निज
धाम पठायो अपनो रूप दिखाय । बाके आश्रम जोऊ बसत
है माया लगत न ताय ।—सूर । (३६) गौ, भैंस, बकरी
आदि दूध देनेवाले पशुओं का दूहा जाना । जैसे,—यह
भैंस दिन में तीन बार लगती है । (३७) गड़ना । चुभना ।
धँसना । उ०—इह काँटे मो पाय लगि लीन्ही मरति
जिवाय । प्रीति जनावति भीति सों मीत जु काढ्यो
आय ।—बिहारी । (३८) बदले में जाना । मुजरा होना ।
जैसे,—उनके दोनों मकान कर्ज में लग गए । (३९) समीप
पहुँचना । पास जाना । छूना । जैसे,—पैरों लगना ।
उ०—(क) उठहिं तुरंग लेहिं नहिं बागा । जानो उलट
गगन कहँ लागा ।—जायसी । (ख) वितचोरन चितचोर
में व्यौरो हूतनो आइ । इन्हें पायकै मारिए, उनके लगियै
पाय । (४०) छेड़खानी करना । छेड़छाड़ करना । जैसे,—
ऐसे आदमियों से मत लगा करो । उ०—औरन सों करि
रहे अचगरी मोसों लगत कन्हार्ह ।—सूर । (४१) बंद
होना । मुँदना । जैसे,—किवाड़ा लगना । उ०—अर्जुन के
मंदिर पगु धारा । देखे लगे कपाट दुआरा ।—सकल ।
(४२) जूए की वाजी पर रखा जाना । दाँव पर रखा जाना ।
बदना । जैसे,—(क) पाँच रुपए इस दाँव पर लगे हैं ।
(ख) अच्छा, इसी बात पर शर्त लगी । (४३) अंकित होना ।

चिह्नित होना । जैसे,—तिलक लगाना, निशान लगाना,
मोहर लगाना, ठप्पा लगाना । (४४) धारदार चीज की धार
का तेज किया जाना । जैसे,—उस्तरा लगाना, कैंची
लगाना । (४५) घात में रहना । ताक में रहना । जैसे,—
(क) उस रास्ते में संध्या के बाद डाकू लगते हैं । (ख)
इस जंगल में शेर लगते हैं । (४६) किसी स्थान पर एकत्र
होना । जैसे,—(क) इस घाट पर मछलियाँ लगती हैं ।
(ख) बाग में मच्छड़ लगते हैं । (४७) दाम भाँका जाना ।
जैसे,—बाजार में घड़ी का दाम २०) लगा है । (४८)
किसी चीज का विशेषतः खाने की चीज का अभ्यस्त
होना । परचना । सधना । जैसे,—लड्डू का रोटी पर लग
गया है । (४९) अपने नियत स्थान या कार्य आदि पर
पहुँचना । जैसे,—पारसल लगाना, रजिस्टरी लगाना ।
(५०) फैलना । बिछना । जैसे,—बिछौना लगाना, जाल
लगाना । (५१) संभोग करना । मैथुन करना । प्रसंग
करना । (बाजार) (५२) होना । जैसे,—(क) अभी
हमें यहाँ देर लगेगी । (ख) वहाँ से हट जाओ; नहीं तो
तुम्हारा ही नाम लगेगा । (ग) वह गाँव यहाँ से चार कोस
लगाता है । (घ) अब की अमावस को ग्रहण लगेगा ।
(च) यहाँ तो किताबों का ढेर लगा है । (५३) जहाज
का छिछले पानी में अथवा किनारे की जमीन पर चढ़
जाना । (लश०) (५४) एक जहाज का दूसरे जहाज
के सामने या बराबर आना । (लश०) (५५) पाल का
खींचकर चढ़ाया जाना । (लश०)

विशेष—(क) भिन्न भिन्न शब्दों के साथ यह क्रिया लगकर
भिन्न भिन्न अर्थ देती है । जैसे,—नींद लगना, दाँत लगना,
बात लगना, समाधि लगना, नैवेद्य लगाना आदि । इस प्रकार
के बहुत से अर्थों में से अधिकांश की गणना मुहा० में होनी
चाहिए । (ख) इस क्रिया के अलग अलग अर्थों में जाना,
पढ़ना आदि अलग अलग संयो० क्रियाएँ लगती हैं ।

लगनि—संज्ञा स्त्री० दे० “लगन” । उ०—नैन लगे तिहिं लगनि
सौं छुटे न छुटै प्रान । काम न आवत एकहूँ तौ सौकि
सयान ।—बिहारी ।

लगभग—क्रि० वि० [हि० लग = पास + भग अनु०] प्रायः ।
करीब करीब । जैसे,—(क) वहाँ लगभग सौ आदमी उप-
स्थित थे । (ख) इस काम में लगभग एक महीना लगेगा ।

लगमात—संज्ञा स्त्री० [हि० लगना + सं० मात्रा] स्वरों के वे चिह्न
जो उच्चारण के लिये व्यंजनों में जोड़े जाते हैं । जैसे,—ए
का े , ओ का ी ।

लगर—संज्ञा पुं० [देश०] चील की तरह का एक शिकारी
पक्षी । लगघड़ । उ०—(क) नैन लगर धुँधुट खुलहि पवन
खोल जब लेत । नेही मन किरवान कन झपट झपट

देत।—रसनिधि। (ख) जुरा बाज बाँसे कुही बहरी लगर
लोने टोने जरकटी त्यों सचान सानवारे हैं।

लगलगा-वि० [अ० लकलक] बहुत दुबला पतला। अति
सुकुमार। उ०—अँखियाँ अधर चूमि हाहा छाँडो कहै
झूमि छतियाँ सों लगी लगलगी सी हलकि कै।—देव।

लगवला-वि० [अ० लयो] (१) झूठ। मिथ्या। असत्य। (२)
व्यर्थ। बेकार। निष्प्रयोजन।

लगवाना-क्रि० स० [हि० लगाना का प्रेर०] लगाने का काम
दूसरे से कराना। दूसरे को लगाने में प्रवृत्त करना।
उ०—(क) प्रथम खबरि लगवाह कै कवर दीन्ह सुधारि।
—विश्राम। (ख) तहाँ एक दिन नंद कन्हार्इ। गए खरिक
लगवान गार्इ।—विश्राम।

लगवारा-संज्ञा पुं० [हि० लगना = प्रसंग करना + वार (प्रत्य०)] स्त्री
का उपपत्ति। वार। आशाना। उ०—साँझ सकार दिया लै
बारै। खसम छोड़ि सुमिरै लगवारे।—कबीर।

लगहरा-संज्ञा पुं० [हि० लग + हर (प्रत्य०)] वह काँटा या तराजू
जिसमें पासँग हो।

लगातार-क्रि० वि० [हि० लगना + तार = सिलसिला] एक के
बाद एक। सिलसिलेवार। बराबर। निरंतर। सतत।
जैसे,—(क) आज चार दिन से लगातार पानी बरस रहा
है। (ख) वह लगातार दो घंटे तक व्याख्यान देता रहा।

लगान-संज्ञा पुं० [हि० लगना या लगाना] (१) लगने या लगाने
की क्रिया या भाव। (२) किसी मकान के ऊपरी भाग से
मिला हुआ कोई ऐसा स्थान जहाँ से कोई वहाँ आ जा
सकता हो। लाग। जैसे,—इस मकान में दोनों तरफ से लगान
है। (३) वह स्थान जहाँ पर मजदूर आदि सुस्ताने के लिये
अपने सिर का बोझ उतारकर रखते हैं। (४) वह स्थान
जहाँ पर नावें आकर ठहरा करती हैं। (५) भूमि पर लगाने-
वाला वह कर जो खेतिहरों की ओर से जमींदार या सर-
कार को मिलता है। राजस्व। भू-कर। जमावंदी। पोत।

शौ०—लगान मुकररी = नियत भू-कर। लगान वाकई = वास्त-
विक भू-कर।

लगाना-क्रि० स० [हि० लगना का स० रूप] (१) एक पदार्थ
के तल के साथ दूसरे पदार्थ का तल मिलाना। सतह पर
सतह रखना। सटाना। जैसे,—दीवार पर कागज लगाना,
दफती पर तस्वीर लगाना, कपड़े में अस्तर लगाना, लिफाफे
पर टिकट लगाना। (२) दो पदार्थों को परस्पर संलग्न
करना। मिलाना। जोड़ना। जैसे,—दराज में मुठिया लगाना,
चाकू में दस्ता लगाना। (३) किसी पदार्थ के तल पर कोई
चीज डालना, फँकना, रगड़ना, चिपकाना या गिराना।
जैसे,—चेहरे पर गुलाल लगाना, सिर में तेल लगाना।
उ०—दीन्ह लगान चून निज पानी। तेहि फल भई अवध

की रानी।—विश्राम। (४) एक चीज पर दूसरी चीज
सीना, टाँकना, चिपकाना या जोड़ना। जैसे,—टोपी में
कलगी लगाना, कोट में बटन लगाना। (५) सम्मिलित
करना। शामिल करना। साथ में मिलाना। जैसे,—किताब
में जिल्द लगाना, मिस्रिल में चिट्ठी लगाना, शब्द में प्रत्यय
लगाना। (६) वृक्ष आदि आरोपित करना। जमाना।
उगाना। जैसे,—बाग में पेड़ लगाना। (७) एक ओर या
किसी उपयुक्त स्थान पर पहुँचाना। जैसे,—बंदरगाह में
जहाज लगाना। (८) क्रम से रखना या सजाना। कायदे
या सिलसिले से रखना। सजाना। चुनाना। जैसे,—
दस्तरखान लगाना, कमरे में तस्वीरें लगाना, गुच्छा लगाना,
बाजार लगाना। (९) खर्च करना। व्यय करना।
जैसे,—उन्होंने हजारों रुपए लगाए, तब जाकर मकान
मिला। उ०—धन निज रघुपति हेतु लगावै। राम भक्ति
हिय में उपजावै।—रघुराज। (१०) अनुभव कराना।
मालूम कराना। जैसे,—यह दवा तुम्हें बहुत भूख लगावेगी।
(११) स्थापित करना। कायम करना। जैसे,—उन्होंने
अपने यहाँ बिजली का इंजन लगा रखा है। (१२) आघात
करना। चोट पहुँचाना। जैसे,—थप्पड़ लगाना, मुक्का
लगाना। (१३) लेप करना। पोतना। मलना। जैसे,—
जूते पर स्थाही लगाना। (१४) किसी में कोई नई प्रवृत्ति
आदि उत्पन्न करना। जैसे,—आपने ही तो उन्हें सिगरेट
का चसका लगाया है। (१५) उपयोग में लाना। काम
में लाना। जैसे,—झगड़ा लगाना, नौकरी लगाना। (१६)
सड़ाना। गलाना। जैसे,—(क) तुमने लापरवाही से सब
पान लगा दिए। (ख) खाली जीन कसते कसते तुमने थोड़े
की पीठ लगा दी। (१७) ऐसा कार्य करना जिसमें बहुत से
लोग एकत्र या सम्मिलित हों। जैसे,—तुम तो जहाँ जाते
हो, मेला लगा देते हो। (१८) दातवर निश्चित करना।
यह तै करना कि इतना अवश्य दिया जाय। जैसे,—कर
लगाना। (१९) आरोपित करना। अभियोग लगाना।
जैसे,—जुर्म लगाना।

मुहा०—किसी को लगाकर कुछ कहना या गाली देना = बीच
में किसी का संबंध स्थापित करके किसी प्रकार का आरोप करना।

(२०) प्रज्वलित करना। जलाना। जैसे,—कड़ाही के
नीचे धाँच लगा दो। उ०—सेवा प्रभु करौ नेक रहौं
पाँव धरौ जाइ कहौ तुम बैठो कहीं आग सी
लगाई है।—प्रियादास। (२१) ठीक स्थान पर बैठाना।
जड़ना। जैसे,—घड़ी में सूई लगाना, चौखटे में शीशा
लगाना। (२२) गणित करना। हिसाब करना। जैसे,—
व्याज लगाना, जोड़ लगाना। (२३) किसी के पीछे या
साथ निधुक्त करना। शामिल करना। जैसे,—तुम भी

उनके पीछे अपना वृत्त लगा दो। (२४) किसी प्रकार साथ में संबद्ध करना। जैसे,—तुमने यह अच्छी बला मेरे पीछे लगा दी। (२५) किसी के मन में दूसरे के प्रति दुर्भाव उत्पन्न करना। कान भरना। चुगली खाना। जैसे,—(क) किसी ने उन्हें मेरी तरफ से कुछ लगा दिया है। (ख) तुम तो योंही इधर की उधर लगाया करते हो।

थौ०—लगाव बुझाना = लड़ाई भगड़ा करना। दो आदमियों में वैमनस्य उत्पन्न करना।

(२६) अपने साथ या पीछे ले चलना। जैसे,—वह बहुतों को अपने साथ लगाए फिरता है। (२७) किसी कार्य में प्रवृत्त या तत्पर करना। नियुक्त करना। जैसे,—(क) लड़के को किसी रोजगार में लगा दो। (ख) जो काम किया करो, वह मन लगाकर किया करो। उ०—जिनको चारिहु द्वारन प्रथम लगायो राम।—रघुराज। (२८) गौ, भैंस, बकरी आदि दूध देनेवाले पशुओं को दूहना। जैसे,—वह गौ लगाने गया है। (२९) गाड़ना। धँसाना। ठोंकना। जड़ना। जैसे,—दीवार में कील लगाना। (३०) समीप पहुँचाना। पास ले जाना। सटाना। जैसे,—वह दरवाजे के पास कान लगाकर सुनने लगा। (३१) स्पर्श करना। छुआना। जैसे,—उसने तुरंत गिलास उठाकर मुँह से लगाया। (३२) बंद करना। जैसे,—दरवाजा लगाना, कुत्ते की घुंड़ी लगाना, ताला लगाना। (३३) जूए की बाजी पर रखना। दाँव पर रखना। जैसे,—(क) उसने अपने पास के सब रुपए दाँव पर लगा दिए। (ख) मैं तुमसे बाजी नहीं लगाता। उ०—देश कोश नृप सकल लगाई। जीति लेब सब रहि नहि जाई।—सबल। (३४) किसी विषय में अपने आपको बहुत दक्ष या श्रेष्ठ समझना। किसी बात का अभिमान करना। जैसे,—वह गाने में अपने आपको बहुत लगाता है। (३५) अंग पर पहनना, ओढ़ना या रखना। धारण करना। जैसे,—चश्मा लगाना, छाता लगाना। (३६) बदले में लेना। मुजरा करना। जैसे,—यह अँगूठी तो हमने अपने लहने में लगा ली। (३७) अंकित करना। चिह्नित करना। जैसे,—तिलक लगाना, निशान लगाना, मोहर लगाना। (३८) धारदार चीज की धार तेज करना। सान पर चढ़ाना। जैसे,—खुरपा लगाना, कैची लगाना। (३९) खरीदने के समय चीज का मूल्य कहना। दाम आँकना। जैसे,—मैंने उनके मकान का दाम ५०००० लगा दिया है। (४०) किसी चीज का, विशेषतः खाने की चीज का अभ्यस्त करना। परचाना। सधाना। जैसे,—लड़के को दाल रोटी पर लगा लो; दूध कहाँ तक दिया करोगे। (४१) नियत स्थान या कार्य पर पहुँचाना। जैसे,—पारसल

लगाना, मनी आर्डर लगाना। (४२) फैलाना। बिछाना। जैसे,—बिछौना लगाना, जाल लगाना। (४३) संभोग करना। मैथुन करना। प्रसंग करना। (बाजारू) (४४) करना। जैसे,—(क) आपने वहाँ बहुत दिन लगा दिए। (ख) यहाँ कपड़ों का ढेर मत लगाना। उ०—अब जनि देर लगावहु स्वामी। देखि प्रीति बोले कृषि ज्ञानी।—विश्राम। (४५) जहाज को छिछली या किनारे की जमीन पर चढ़ाना। (लश०) (४६) एक जहाज को दूसरे जहाज के सामने या बराबर ले जाना। (लश०) (४७) पाल खींचकर चढ़ाना। (लश०)

विशेष—(क) भिन्न भिन्न शब्दों के साथ इस क्रिया के भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं। जैसे,—दाँत लगाना, समाधि लगाना, कान लगाना, दम लगाना आदि। इस प्रकार के बहुत से अर्थों में से अधिकांश की गणना मुहा० में होनी चाहिए। (ख) इस क्रिया के अलग अलग अर्थों में छोड़ना, डालना, देना, रखना आदि अलग अलग संयो० क्रियाएँ लगती हैं।

लगाव-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) लोहे का वह काँटेदार ढाँचा जो घोड़े के मुँह के अंदर रखा जाता है और जिसके दोनों ओर रस्सा या चमड़े का तस्मा आदि बँधा रहता है।

क्रि० प्र०—उतारना।—चढ़ाना।—लगाना।

मुहा०—लगाव चढ़ाना या देना = (१) किसी को कोई कार्य करने से, विशेषतः बोलने से रोकना। (२) लँगोट कसना। (बाजारू) (२) इस ढाँचे के दोनों ओर बँधा हुआ रस्सा या चमड़े का तस्मा जो सवार या हाँकनेवाले के हाथ में रहता है। सवार या हाँकनेवाला इसी रस्से या तस्मे की सहायता से घोड़े को चलाता, रोकता, इधर उधर मोड़ता और अपने वश में रखता है। रास। बाग।

मुहा०—लगाव लिए फिरना = किसी को पकड़ने, बँधने या बश में करने के लिये उसका पीछा करना। बराबर ढूँढ़ते फिरना।

लगाव-संज्ञा स्त्री० [हि० लगना + आर (प्रत्य०)] (१) नियमित रूप से कोई काम करने या कोई चीज देने की क्रिया या भाव। बंधी। बंधेज। (२) लगने की क्रिया या भाव। लगाव। संबंध। उ०—बार बार फन बात के बिष उजाला की झार। सहसौ फन फन फूँकरै नैन न तनहि लगार।—सूर। (३) तार। क्रम। सिलसिला। उ०—सात दिवस नहि मिटी लगार। बरषो सलिल अखंडित धार।—सूर। (४) लगन। प्रीति। लगावट। मुहब्बत। उ०—चकोर भरोसे चंद के ताता गिलै अँगार। कहै कबीर छोड़ै नहीं ऐसी वस्तु लगार।—कबीर। (५) वह जो किसी की ओर से भेद लेने के लिये भेजा गया हो। वह जो किसी के मन की बात जानने के लिये किसी की ओर

से गया हो। उ०—और सखी एक इयाम पठाई। हरि को बिरह देखि भइ व्याकुल मान मनावन आई। वैठी आइ चतुरई काछे वह कछु नहीं लगार। देखति हौ कछु और दसा पुन बूझति बारंवार।—सूर। (६) वह जिससे वनिष्ठता का व्यवहार हो। मेली। संबंधी। (७) रास्ते में बीच का वह स्थान जहाँ से जुआरी लोग जूआ खेलने के स्थान तक पहुँचाए जाते हैं। टिकान।

विशेष—प्रायः जूआ किसी गुप्त स्थान पर होता है, जिसके कहीं पास ही संकेत का एक और स्थान नियत होता है। जब कोई जुआरी वहाँ पहुँचता है, तब या तो उसे जूए के स्थान का पता बतला दिया जाता है और या उसे वहाँ पहुँचाने के लिये कोई आदमी उसके साथ कर दिया जाता है। इसी संकेत स्थान को, जहाँ से जुआरी जूआ खेलने के स्थान पर भेजे जाते हैं, जुआरी लोग “लगार” कहते हैं।

लगालगी—संज्ञा स्त्री० [हि० लगना] (१) लग। लगन। प्रेम। स्नेह। प्रीति। उ०—(क) क्यों बसिये क्यों निबहिये नीति नेह पुर नाहिं। लगालगी लोयन करें नाहक मन बँध जाहिं।—बिहारी। (ख) लगालगी लोपों गली लगे लागलै लाल। गैल गोप गोपी लगे पालागों गोपाल।—केशव। (२) संबंध। मेल जोल।

लगाव—संज्ञा पुं० [हि० लगना + आव (प्रत्य०)] लगे होने का भाव। संबंध। वास्ता। जैसे,—(क) इन दोनों मकानों में कोई लगाव नहीं है। (ख) मैं ऐसे लोगों से कोई लगाव नहीं रखता।

लगावट—संज्ञा स्त्री० [हि० लगना + आवट (प्रत्य०)] (१) संबंध। वास्ता। लगाव। (२) प्रेम। प्रीति। लगन। मुहब्बत। जैसे,—लगावट की बातें।

लगावन—संज्ञा स्त्री० [हि० लगाव] लगाव। संबंध। वास्ता। उ०—हम हैं अफसर तुम हौ बावन। हमरी तुमरी कहाँ लगावन।—रामकृष्ण वर्मा।

लगावना—क्रि० सं० दे० “लगाना”। उ०—केती लाए फौज और क्या आवनी। सौ सब लेउ बुलाइ न देर लगावनी।—सूदन।

लगि—अव्य० दे० “लग”।

संज्ञा स्त्री० दे० “लगगी”। उ०—(क) लहलहाति तन तरुनई लचि लगि लौं लपि जाइ। लगै लाँक लोयन भरी लोयन लेति लगाइ।—बिहारी। (ख) जंव जुगल लोयन निरे करे मनौ बिधि मैन। केलि तरुन दुःख दैन ये केलि तरुन सुख दैन।—बिहारी। (ग) नाम लगि ल्याय लासा ललित बचन कहि व्याध ज्यौं विषय बिहंगनि बझावौं।—तुलसी।

लगगी—संज्ञा स्त्री० दे० “लगगी”। उ०—एहि विष-चारइ सब बुधि ठगी। अउ भा काल हाथ लेइ लगगी।—जायसी।

लगु—अव्य० दे० “लग”।

लगुड—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दंड। डंडा। लाठी। (२) प्रायः दो हाथ लंबा लोहे का एक विशेष प्रकार का डंडा जिसका व्यवहार प्राचीन काल में पैदल सैनिक अस्त्रों के समान करते थे। (३) लाल कनेर।

लगुल—संज्ञा पुं० [सं० लांगूल ?] शिश्न। (हिं०)

लगुवा—वि० [हिं० लगना + उवा (प्रत्य०)] पीछे लगनेवाला। पीछे पीछे चलनेवाला। पिठलगू।

लगूर—संज्ञा स्त्री० [सं० लांगूल] पूँछ। दुम। उ०—जरा लगूर सुराता उहाँ। निकसि जो भागि भएउं करमुहाँ।—जायसी।

लगूल—संज्ञा स्त्री० [सं० लांगूल] पूँछ। दुम। उ०—हनुमान हाँक सुनि बरषि फूल। सुर बार बार बरनहिं लगूल।—तुलसी।

लगे—अव्य० दे० “लग”।

लगे लगे—संज्ञा पुं० [हिं० लगाना] बंदर।

विशेष—बहुधा बंदरों के आने पर स्त्रियाँ और बच्चे “लगे लगे” (मारो, मारो) का शोर मचाते हैं; और बंदर का नाम लेना लोग ठीक नहीं समझते; इसलिये प्रायः “बंदर” के अर्थ में इस सांकेतिक शब्द का प्रयोग करते हैं।

लगौहाँ—वि० [हिं० लगना + औहाँ (प्रत्य०)] जिसे लगन लगाने की कामना हो। लगने का आकांक्षी। रिश्तवार। उ०—(क) लगौहाँ चितवनि औरहि होति। दुरति न लाख दुराओ कोउ प्रेम झलक की जोति।—हरिश्चंद्र। (ख) कत सकुचत निधरक फिरो रतियौ खोरि तुम्हें न। कहा करौ जो जाहिं ये लगें लगौ हैं नैन।—बिहारी।

लगगत—संज्ञा स्त्री० दे० “लगगत”।

लगगा—संज्ञा पुं० [सं० लगुड] (१) लंबा बाँस। (२) वृक्षों से फल आदि तोड़ने का वह लंबा बाँस जिसके आगे एक अँकुरी लगी रहती है। लकसी। (३) वह लंबा बाँस जिसके सहारे से छिछले पानी में नाव चलाते हैं। लगगी। (४) घास या कीचड़ आदि हटाने का एक प्रकार का फरसा जिसमें दस्ते की जगह एक लंबा बाँस लगा रहता है।

संज्ञा पुं० [हिं० लगना] कार्य आरंभ करना। काम में हाथ लगाना।

क्रि० प्र०—लगाना।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग केवल “लगाना” और “लगाना” क्रियाओं के साथ ही होता है।

लगगी—संज्ञा स्त्री० [सं० लगुड] लंबा बाँस। वि० दे० “लगगी”।

लगघड़—संज्ञा पुं० [दे०] (१) बाज़। शचान। (२) एक प्रकार का चीता जो सामान्य चीते से बड़ा होता है। इसे शिकार करना सिखाया जाता है। यह प्रायः ६ फुट लंबा

होता है। इसकी आँखों पर एक जंजीर से पट्टियाँ बँधी रहती हैं। इसी को 'लकड़बग्घा' भी कहते हैं।

लघुघा-संज्ञा पुं० दे० "लगा"।

लघुघी-संज्ञा स्त्री० दे० "लगी"।

लघु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ज्योतिष में दिन का उतना अंश, जितने में किसी एक राशि का उदय रहता है।

विशेष—पृथ्वी दिन रात में एक बार अपनी धुरी पर घूमती है; और इस बीच में वह एक बार मेष आदि बारह राशियों को पार करती है। जितने समय तक वह एक राशि में रहती है, उतने समय तक उस राशि का लघु कहलाता है। किसी राशि में उसे कुछ कम समय लगता है और किसी में अधिक। जैसे,—मीन राशि में प्रायः पौने चार दंड, कन्या में प्रायः साढ़े पाँच दंड, और वृश्चिक में प्रायः पौने छः दंड। लघु का विचार प्रायः बालक की जन्मपत्री बनाने, किसी प्रकार का सुहृत् निकालने अथवा प्रश्न का उत्तर देने में होता है।

(२) ज्योतिष के अनुसार कोई शुभ कार्य करने का सुहृत्।

(३) विवाह का समय। उ०—एकहि लघु सबहि कर पकरेउ, एक सुहृत् बियाहे।—सूर। (४) विवाह। शादी।

(५) विवाह के दिन। सहालग। (६) वह जो राजाओं की स्तुति करता हो। वंदीजन। सूत।

वि० (१) लगा हुआ। मिला हुआ। (२) लजित। शर्मिदा। (३) आसक्त।

संज्ञा पुं० दे० "लगन"।

संज्ञा स्त्री० दे० "लगन"।

लघुकंकण-संज्ञा पुं० [सं०] वह कंकण या मंगल सूत्र जो विवाह के पूर्व वर और कन्या के हाथ में बाँधा जाता है।

लघुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो जमानत करे। प्रतिभू। जामिन। (२) एक राग जो हनुमत के मत से मेघ राग का पुत्र माना जाता है।

लघुकुंडली-संज्ञा सं० [फलित ज्योतिष में वह चक्र या कुंडली जिसे यह पता चलता है कि किसी के जन्म के समय कौन कौन से ग्रह किस किस राशि में थे। जन्म-कुंडली।

लघुदंड-संज्ञा पुं० [सं०] गाने या बजाने के समय स्वर के मुख्य अंशों या श्रुतियों को आपस में एक दूसरे से अलग न होने देना और सुंदरता से उनका संयोग करना। लाग डँट। (संगीत)।

लघुदिन-संज्ञा पुं० [सं०] विवाह के लिये निश्चित दिन।

लघुपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह पत्रिका जिसमें विवाह और उससे संबंध रखनेवालों दूसरे कृत्यों का लघु स्थिर करके व्योरेवार लिखा जाता है।

लघुपत्रिका-संज्ञा स्त्री० दे० "लघुपत्र"।

लघुआयु-संज्ञा स्त्री० [सं०] फलित ज्योतिष में वह आयु जो लघु के अनुसार स्थिर की जाती है।

लघुश-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में वह ग्रह जो लघु का स्वामी हो।

लघुउदय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी लघु के उदय होने का समय। (२) लघु के उदय होने का कार्य।

लघुडबग्घा-संज्ञा पुं० दे० "लघुड" (२)।

लघुमीपुष्प-संज्ञा पुं० [सं० लक्ष्मीपुष्प] पञ्चराग मणि। लाल। मानिक्य। मानिक। (डि०)

लघिना-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का धारदार अस्त्र जिसमें दस्ता लगा होता था और जिससे भैंसे आदि काटे जाते थे।

लघिमा-संज्ञा स्त्री० [सं० लघिमन्] (१) आठ सिद्धियों में से चौथी सिद्धि। कहते हैं कि इसे प्राप्त कर लेने पर मनुष्य बहुत छोटा या हलका बन सकता है। (२) लघु या ह्रस्व होने का भाव। लघुत्व।

लघु-वि० [सं०] (१) शीघ्र। जल्दी। (२) जो बड़ा न हो। कनिष्ठ। छोटा। जैसे,—लघु स्वर, लघु मात्रा। (३) सुंदर। बढ़िया। (४) जिसमें किसी प्रकार का सार या तत्व न हो। निःसार। (५) थोड़ा। कम। (६) हलका। (७) नीच। (८) दुर्बल। दुबला।

संज्ञा पुं० (१) काला अगर। (२) उशीर। खस। (३) हस्त, अश्विनी और पुष्य ये तीनों नक्षत्र जो ज्योतिष में छोटे माने गए हैं और जिनका गण "लघुगण" कहा गया है। (४) समय का एक परिमाण जो पंद्रह क्षणों का होता है। (५) तीन प्रकार के प्राणायामों में से वह प्राणायाम जो बारह मात्राओं का होता है। शेष दो प्राणायाम मध्यम और उत्तम कहलाते हैं। (६) व्याकरण में वह स्वर जो एक ही मात्रा का होता है। जैसे,—अ, इ, उ, ओ, ए आदि। (७) वह जिसमें एक ही मात्रा हो। एक-मात्रिक। इसका चिह्न (।) है।

विशेष—इस अर्थ में इसका प्रयोग संगीत में ताल के संबंध में और छंदःशास्त्र में वर्ण के संबंध में होता है।

(८) वंशी का छोटा होना, जो उसके छः दोषों में से एक माना जाता है। (९) चाँदी। (१०) पृष्ठा। असवरग। (११) वह जिसका रोग छूट गया हो। (रोग छूटने पर शरीर कुछ हलका जान पड़ता है।)

लघुकंकोल-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कंकोल जो साधारण कंकोल से छोटा होता है।

लघुकंदकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] लज्जाल।

लघुकटाई-संज्ञा स्त्री० दे० "कंदकारी"।

लघुकण-संज्ञा पुं० [सं०] सफेद जीरा ।
 लघुकर्कशु-संज्ञा पुं० [सं०] भुईं बेर ।
 लघुकर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूवर्वा ।
 लघुकाम-संज्ञा पुं० [सं०] बकरी ।
 लघुकाश्मर्य-संज्ञा पुं० [सं०] कटहल का वृक्ष ।
 लघुकिन्नरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का बाजा जिसमें बजाने के लिये तार लगे होते थे ।
 लघुकम-संज्ञा पुं० [सं०] जल्दी जल्दी चलने की क्रिया । तेज चाल ।
 लघुगण-संज्ञा पुं० [सं०] अश्विनी, पुष्य और हस्त इन तीनों नक्षत्रों का समूह ।
 लघुगर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खैरा नाम की मछली । (२) टेंगरा या त्रिकंटक नाम की मछली ।
 लघुचंदन-संज्ञा पुं० [सं०] अगर नामक सुगंधित लकड़ी ।
 लघुचित्त-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसका मन बहुत ही दुर्बल या चंचल हो ।
 लघुचित्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मन के बहुत ही दुर्बल या चंचल होने का भाव ।
 लघुचेता-संज्ञा पुं० [सं० लघुचेत्] वह जिसके विचार बहुत ही तुच्छ और बुरे हों । नीच ।
 लघुच्छदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] महा शतावरी । बड़ी शतावर ।
 लघुजल-संज्ञा पुं० [सं०] लवा नामक पक्षी ।
 लघुजांगल-संज्ञा पुं० [सं०] लवा नामक पक्षी ।
 लघुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लघु होने का भाव । छोटापन । लाघव । (२) हलकापन । तुच्छता ।
 लघुतिक-संज्ञा पुं० [सं०] मुरदासंग ।
 लघुतुपक-संज्ञा स्त्री० [सं०] तमंचा । पिस्तौल ।
 लघुत्तमापवर्त्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह सब से छोटी संख्या जो दो या अधिक संख्याओं में से प्रत्येक को पूरा पूरा भाग दे सके ।
 लघुत्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लघु होने का भाव । लघुता । (२) हलकापन । छोटापन । तुच्छता ।
 लघुर्ती-संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटी दंती । वि० दे० "दंती" ।
 लघुदुंदुभी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की छोटी दुंदुभी । डुंगी ।
 लघुद्राक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] क्रियामिश्र ।
 लघुनामकर्म-संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के अनुसार वह कर्म जिससे जीव का शरीर न तो बहुत भारी होता है और न बहुत हलका होता है; बल्कि साधारण सम विभक्त होता है ।
 लघुनामा-संज्ञा पुं० [सं० लघुनामन्] अगर नामक सुगंधित लकड़ी ।
 लघुपंचक-संज्ञा पुं० [सं०] शालिपर्णी, पिठवन, कटाई (छोटी),

कटेहरी (बड़ी) और गोखरू इन पाँचों की जड़ों का समूह जो वैद्यक के अनुसार पाचक, बलकारक, ग्राहक और उवर, श्वास तथा अरमरी आदि को दूर करनेवाला माना जाता है ।

लघुपंचमूल-संज्ञा पुं० दे० "लघुपंचक" ।
 लघुपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] कमीला ।
 लघुपत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] अथर्व वृक्ष ।
 लघुपर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मूवर्वा । मरोड़फली । (२) शत-मूली । सतावर ।
 लघुपाक-संज्ञा पुं० [सं०] वह खाद्य पदार्थ जो सहज में पच जाय ।
 लघुपाकी-संज्ञा पुं० [सं० लघुपाकिन्] चेना नामक कदन्न ।
 लघुपाटी-संज्ञा पुं० [सं० लघुपातिन्] कौवा ।
 लघुपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] भुईं कदंब ।
 लघुपुष्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पीला केवड़ा । स्वर्ण केतकी ।
 लघुप्रयत्न-संज्ञा पुं० [सं०] आलसी ।
 लघुफल-संज्ञा पुं० [सं०] गूलर ।
 लघुमंथ-संज्ञा पुं० [सं०] छोटी गनियारी ।
 लघुमति-वि० [सं०] छोटी समझवाला । कमसमझ । मूर्ख ।
 लघुमांस-संज्ञा पुं० [सं०] तीतर नामक पक्षी ।
 लघुमांसी-संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटी जटामांसी ।
 लघुमान-संज्ञा पुं० [सं०] नायिका का वह मान या अल्प रोष जो नायक को किसी दूसरी स्त्री से बातचीत करते देखकर उत्पन्न होता है ।
 लघुलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) करेले की बेल । (२) अनंतमूल ।
 लघुलथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उशीर । खस । (२) पीला बाला या लामज नाम की घास ।
 लघुलोणिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] लोनी का साग ।
 लघुशंका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूत्रोत्सर्ग । पेशाब करना ।
 लघुशंख-संज्ञा पुं० [सं०] बाँघा ।
 लघुशिखर-संज्ञा पुं० [सं०] संगीत में एक प्रकार का ताल ।
 लघुशीत-संज्ञा पुं० [सं०] लिसोड़ा ।
 लघुदृष्ट-संज्ञा संज्ञा [सं०] वह जो बहुत जल्दी जल्दी वाण चला सकता हो ।
 लघवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बेर नामक फल । (२) असबरग । रघुका ।
 लच-संज्ञा पुं० [हि० लचना] लचकने की क्रिया । लचक ।
 लचक-संज्ञा स्त्री० [हि० लचकना] (१) लचकने की क्रिया या भाव । लचन । झुकाव ।
 क्रि० प्र०—खाना ।—जाना ।
 (२) वह गुण जिसके रहने से कोई वस्तु दबती या झुकती हो ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की नाव जो ६०-७० हाथ लंबी होती है। यह मऊसूदाबाद की तरफ बनती है और इसे बहुत से लोग मिलकर खेते हैं।

लचकना—क्रि० अ० [हि० लच (अनु०)] (१) किसी लंबे पदार्थ का बोझ पड़ने या दबने आदि के कारण बीच से झुकना। लचना। जैसे,—यह छड़ी बहुत कमजोर है; जरा सा बोझ देने से ही लचक जाती है।

लचो—क्रि०—जाना।

(२) स्त्रियों की कमर का कोमलता या नखरे आदि के कारण झुकना। जैसे,—जब वह चलती है, तब उसकी कमर लचकती है। (३) स्त्रियों का कोमलता या नखरे आदि के कारण चलने के समय रह रहकर झुकना। जैसे,—वह जब चलती है, तब लचकती चलती है।

लचकनी—संज्ञा स्त्री० [हि० लचकना] (१) लचीलापन। (२) लचक।

लचका—संज्ञा पुं० [हि० लचकना] एक प्रकार का गोटा।

लचकाना—क्रि० स० [हि० लचकना] किसी पदार्थ को लचने में प्रवृत्त करना। झुकाना। लचाना।

लचकीला—वि० [हि० लचक + ईला (प्रत्य०)] [स्त्री० लचकीली] जो सहज में लच या दब जाय। लचकने योग्य। लचकदार।

लचन, लचनि—संज्ञा स्त्री० दे० “लचक”।

लचना—क्रि० अ० दे० “लचकना”।

लचलचा—वि० [हि० लचना] जो लचक जाय। लचीला। लचकनेवाला।

लचलचापन—संज्ञा पुं० [हि० लचना] लचीले होने का भाव। लचीलापन।

लचाकेदार—वि० [हि० लचक + का० दार (प्रत्य०)] मजेदार। बढ़िया। (बाजारू)

लचाना—क्रि० स० [हि० लचना का स० रूप] लचकाना। झुकाना।

लचार—वि० दे० “लाचार”।

लचारी—संज्ञा स्त्री० दे० “लाचारी”।

संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) वह कर जो कोई व्यक्ति अपने से बड़े को देता है। भेंट। नजर। उ०—विमल मुक्तमाल लसत उच्च कुचन पर मदन महादेव मनो दई है लचारी।—सूर। (२) एक प्रकार का गीत।

संज्ञा स्त्री० [हि० अचार] एक प्रकार का आस का अचार जो खाली नमक से बनता है और जिसमें तेल नहीं पड़ता। अचारी।

लचुई—संज्ञा स्त्री० [देश०] मैदे की बनी हुई पतली और मुलायम पूरी। लुची। लुचुई।

लच्छु—संज्ञा पुं० [सं० लक्ष्य] (१) व्याज। बहाना। मिस।

(२) वह वस्तु या स्थान जिस पर लक्ष चलाना हो। निशाना। साक।

संज्ञा पुं० सौ हजार की संख्या। लाख।

संज्ञा स्त्री० दे० “लक्ष्मी”। उ०—(क) वहै लच्छ बावर कबि सोई। जहँ सरस्वती लच्छ कित होई।—जायसी।

(ख) सरकतमय साखा सुपुत्र संजरीज लच्छ जेहि।—तुलसी।

लच्छुण—संज्ञा पुं० [सं० लक्षण] स्वभाव। (हिं०)

*—संज्ञा पुं० दे० “लक्षण”।

लच्छुण—संज्ञा पुं० दे० “लक्षण”। उ०—(क) नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अशुभ न लच्छन हीना।—तुलसी।

(ख) किनु छल विश्वनाथ पद नेहू। राम भक्त कर लच्छन पदू।—तुलसी। (ग) कछु देखि कै लच्छन छोड़ो बड़ो सम बात चले कहि आवतु है।—रघुनाथ।

संज्ञा पुं० दे० “लक्ष्मण”।

लच्छुजा—संज्ञा स्त्री० दे० “लक्ष्मणा”।

लच्छुमण—वि० [सं० लक्ष्मीवान्] धनवान्। अमीर। (हिं०)

लच्छुमी—संज्ञा स्त्री० दे० “लक्ष्मी”।

लच्छु—संज्ञा पुं० [अनु०] (१) कुछ विशेष प्रकार से लगाए हुए बहुत से तारों या डोरों आदि का समूह। गुच्छे या झुप्पे आदि के रूप में लगाए हुए तार। जैसे,—रेखन का लच्छा, सूत का लच्छा।

यौ०—लच्छे की साड़ी = बनारसी काम की वह साड़ी जिसके किनारे आदि के तार ताने के साथ ही तने गए हों।

(२) किसी चीज के सूत की तरह लंबे और पतले कटे हुए टुकड़े। जैसे,—प्याज का लच्छा, आदी का लच्छा। (३) इस आकार की किसी तरह बनाई हुई कोई चीज। जैसे,—रबड़ी का लच्छा। (४) मैदे की एक प्रकार की मिठाई जो प्रायः पतले लंबे सूत की तरह और देखने में उलझी हुई डोर के समान होती है। (५) एक प्रकार का गहना जो तारों की जंजीरों का बना होता है। यह हाथों में पहनने का भी होता है और पैरों में पहनने का भी। (६) एक प्रकार का बटिया केसर जो नीबल या निकुष्ट श्रेणी के केसर में थोड़ा सा बढ़िया केसर मिलाकर बनाया जाता है।

लच्छु—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की संकर रागिनी।

लच्छि—संज्ञा स्त्री० [सं० लक्ष्मी] लक्ष्मी। उ०—(क) एहि विधि उपजइ लच्छि जब सुंदरता सुख सूल।—तुलसी।

(ख) बसइ नगर जेहि लच्छि करि कपट नागि वर वेप।—तुलसी।

(ग) माया ब्रह्म जीव जगदीसा। लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [सं० लक्ष] लाख की संख्या।

लच्छित—वि० [सं० लक्षित] (१) आलोचित। देखा हुआ।

(२) निशान किया हुआ। अंकित। चिह्नित। (३) लक्षण युक्त। लक्षणवाला। उ०—शुभ लच्छन लच्छित हय सोई। तुरंग साल देखिय जो होई।—मधुसूदन।

लक्ष्मिनाथ—संज्ञा पुं० [सं० लक्ष्मीनाथ] लक्ष्मीपति, विष्णु। (हिं०)

लक्ष्मिनिवास—संज्ञा पुं० [सं० लक्ष्मीनिवास] विष्णु। नारायण।

उ०—दुलहिनि लेइगे लक्ष्मिनिवासा। नृप समाज सब भयउ निरासा।—तुलसी।

लक्ष्मी-वि० [देश०] एक प्रकार का घोड़ा। उ०—कोइ कहुली अँबोज कोइ कच्छी। बोट मेमना जुंजी लच्छी।—विश्राम। संज्ञा स्त्री० दे० “लक्ष्मी”।

संज्ञा स्त्री० [हिं० लच्छा] सूत, रेशम, ऊन, कलाबत्तू इत्यादि की लपेटी हुई गुच्छी। अट्टी।

लच्छेदार-वि० [हिं० लच्छा + फा० दार (प्रत्य०)] (१) (खाद्य-पदार्थ) जिसमें लच्छे पड़े हों। लच्छोंवाला। (२) (बात चीत) जिसका सिलसिला जल्दी न टूटे और जिसके सुनने में मन लगता हो। मजेदार या श्रुतिमधुर (बात)।

लछन-संज्ञा पुं० [सं० लक्ष्मण] राम के छोटे भाई, लक्ष्मण। उ०—दसरथ सों ऋषि आनि कछो। असुरन सों यज्ञ हौन म पावत राम लछन तब संग दयो।—सूर।

संज्ञा पुं० दे० “लक्षण”।

लक्ष्मना—क्रि० प्र० दे० “लक्ष्मण”।

लक्ष्मण-संज्ञा पुं० दे० “लक्ष्मण”।

संज्ञा स्त्री० दे० “लक्ष्मणा” (४)।

लक्ष्मण भूला-संज्ञा पुं० [हिं० लक्ष्मण + भूला] (१) बद्रीनारायण के मार्ग में एक स्थान। यहाँ पहले पुरानी चाल का रस्सों का एक लटकौवा पुल था, जिसे झूला कहते थे। (२) रस्सों या तारों आदि से बना हुआ वह पुल जो बीच में झूले की तरह नीचे लटकता हो। (३) एक प्रकार की लता या बेल।

लक्ष्मणा-संज्ञा स्त्री० दे० “लक्ष्मणा”। उ०—बहुरि लछमना सुमिरन कीन्हो। ताहि स्वयंवर में हरि लीन्हो।—सूर।

लक्ष्मी-संज्ञा स्त्री० दे० “लक्ष्मी”।

लज्ज—संज्ञा स्त्री० [सं० लज्जा] शर्म। हया। लाज। उ०—सुघर सौति बस पिय सुनन दुलहिनि दुगुन हुलास। लखी सखी तत दाढि करि सगरब सजल सहास।—बिहारी।

लज्जना-क्रि० प्र० [सं० लज्जा] लजाना। शरमाना। लजित होना।

लजनी + संज्ञा स्त्री० [हिं० लजाना] लजालू का पौधा।

लजवाना-क्रि० प्र० [हिं० लजाना] दूसरे को लजित करना।

लजाधुर + वि० [सं० लज्जाधर] जो बहुत लजा करे। लजावान। शर्मीला।

संज्ञा पुं० लजालू नाम का पौधा।

लजाना-क्रि० प्र० [सं० लज्जा] अपने किसी बुरे या भद्दे व्यव-

हार का ध्यान करके वृत्तियों के संकोच का अनुभव होना। लजित होना। शर्म में पड़ना। उ०—कंप-किसोरी दरस ते खरे लजाने लाल।—बिहारी।

संयो० क्रि०—जाना।

क्रि० प्र० लजित करना।

लजालू + संज्ञा पुं० [सं० लज्जालू] लजालू पौधा। उ०—जनक-बचन कुप विरवा लजालू के से, बीर रहे सकल सकुचि सिर नाइकै।—तुलसी।

लजालू-संज्ञा पुं० [सं० लज्जालू] हाथ डेढ़ हाथ ऊँचा एक काँटेदार छोटा पौधा जिसकी पत्तियाँ छूने से सुकड़कर बंद हो जाती हैं, और फिर थोड़ी देर में धीरे धीरे फैलती हैं।

विशेष—इसके डंठल का रंग लाल होता है और महीन महीन पत्तियाँ शमी या बबूल की पत्तियों के समान एक सीके के दोनों ओर पंक्ति में होती हैं। हाथ लगते ही दोनों ओर की पत्तियाँ संकुचित होकर परस्पर मिल जाती हैं; इसी से इस पौधे का नाम लजालू पड़ा। फूल गुलाबी रंग की गोल गोल घुंडियों की तरह के होते हैं, जिनके झड़ जाने पर छोटे छोटे चिपटे बीज पड़ते हैं। भारत के गरम भागों में यह सर्वत्र होता है; जैसे, बंगाल के दक्षिण भाग में कहीं कहीं बहुत दूर तक रास्ते के दोनों ओर यह लगा मिलता है।

वैद्यक में यह कटु, शीतल, कषाय तथा रक्तपित्त, अतीसार, दाह, श्रम, श्वास, व्रण, कुष्ठ, कफ तथा योनिरोग को दूर करनेवाला माना जाता है। कहीं कहीं पथरी की पीड़ा शांत करने के लिये तथा भगंदर अच्छा करने के लिये इसकी जड़ और डंठल का काढ़ा और पत्तियों का चूर्ण सेवन करते हैं। रासायनिक परीक्षा से पता चला है कि इस पौधे में सौ में दस भाग कषाय-धातु (टैनीन) होती है। इसके डंठल के चूर्ण को हीरा कसीस के साथ मिलाने से बड़ी अच्छी स्वाही बनती है।

पर्या०—लजावती लता। वाराहकांता। रक्तवादी। शमी पत्रा। सृका। खदिरपत्रिका। संकोचिनी। समंगी। नमस्कारी। प्रसारिणी। सप्तपर्णी। खदिरा। गंडमालिका। लज्जा। लज्जिरी। स्पर्शलज्जा। अखरोधिनी। रक्तमूला। ताम्रमूला। स्वगुप्ता। महाभीता। वशिनी। महौषधि।

लजावन * + क्रि० प्र० दे० “लजावना” या “लजाना”। उ०—कोटि मनोज लजावनहारे।—तुलसी।

विशेष—समस्त पद में किसी शब्द के आगे आने से इसका अर्थ होता है “लजित करनेवाला”। जैसे,—मनोज-लजावन।

लजियाना * + क्रि० प्र० दे० “लजाना”।

क्रि० प्र० दे० “लजवाना”।

लज्जी-वि० [प्र०] लज्जितदार। स्वादिष्ट। सुस्वादु। (खाद्य पदार्थ)।

लज्जाला-वि० [हि० लाज + ईला (प्रत्य०)] [स्त्री० लज्जाली]
जिसमें लज्जा हो । लज्जायुक्त । लज्जाशील । जैसे,—लज्जाला
मनुष्य, लज्जाली आँखें ।

लज्जुरी—संज्ञा स्त्री० [सं० लज्जु, माग० लज्जु] कुँसे से पानी भरने की
डोरी । रस्सी ।

लज्जोर—वि० [हि० लाज + आवर (प्रत्य०)] लज्जाशील । जो बहुत
जल्दी लज्जित हो । उ०—विदित न सगमुख है सकैं अँखियाँ
बड़ी लज्जोर ।—रसनिधि ।

लज्जोहा—वि० [सं० लज्जावह] [स्त्री० लज्जोही] जिसमें लज्जा हो;
या जिससे लज्जा सूचित होती हो । लज्जाला । शर्मीला । उ०—
कुंजभवन राधा मनमोहन । रति विलास करि मगन भए
अति निरखत नैन लज्जोहन ।—सूर ।

लज्जोही—वि० [सं० लज्जावह] [स्त्री० लज्जोही] जिसमें लज्जा हो
या जिससे लज्जा सूचित होती हो । लज्जाशील । लज्जाला ।
शर्मीला । जैसे,—लज्जोही स्त्री, लज्जोही आँखें ।

लज्जका—संज्ञा स्त्री० [सं०] बनकपास ।

लज्जत—संज्ञा स्त्री० [अ०] स्वाद । जायका । मज़ा । (खाने पीने
की वस्तुओं के लिये)

लज्जतदार—वि० [अ० लज्जत + दार] स्वादिष्ट । मजेदार ।
जायकेदार ।

लज्जरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] लज्जालू लता । लज्जावती ।

लज्जा—संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० लज्जित] (१) अंतःकरण की वह
अवस्था जिसमें स्वभावतः अथवा अपने किसी भेदे या बुरे
आचरण की भावना के कारण दूसरों के सामने वृत्तियाँ
संकुचित हो जाती हैं, चेष्टा मंद पड़ जाती है, मुँह से
शब्द नहीं निकलता, सिर निचा हो जाता है और सामने
ताका नहीं जाता । लाज । शर्म । हया ।

पर्या०—ही । त्रया । ब्रीडा । मंदास्य ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

मुहा०—(किसी बात की) लज्जा करना = किसी बात की बड़ाई की
रक्षा का ध्यान करना । मर्यादा का विचार करना । इज्जत का खयाल
करना । जैसे,—अपने कुल की लज्जा करो ।

(२) माम-मर्यादा । पत । इज्जत । जैसे,—भगवान् लज्जा
रखे ।

क्रि० प्र०—रखना

लज्जाप्रद—वि० [सं०] जिससे लज्जा उत्पन्न हो । लज्जाजनक ।

लज्जाप्राया—संज्ञा स्त्री० [सं०] केशव के अनुसार मुग्धा नायिका
के चार भेदों में से एक

लज्जालु—संज्ञा पुं० [सं०] लज्जालू का पौधा । लाजवती ।

लज्जावंत—वि० [सं० लज्जावत्] शर्मीला । लज्जायुक्त । लज्जाला ।
संज्ञा पुं० लज्जालू का पौधा । लाजवती ।

लज्जावती—वि० स्त्री० [सं०] लज्जाशील । शर्मीली ।

संज्ञा स्त्री० लज्जालू का पौधा ।

लज्जावान—वि० [सं० लज्जावत्] [स्त्री० लज्जावती] लज्जाशील ।
जिसमें लज्जा हो । शर्मीदार । हयादार ।

लज्जाशील—वि० [सं०] जिसमें लज्जा हो । जो बात बात में
शरमाता हो । लज्जाला ।

लज्जाशून्य—वि० [सं०] जिसे लज्जा न हो । जिसे कोई अनु-
चित या भद्दी बात करते कुछ संकोच या हिचक न हो ।
बेहया ।

लज्जाहीन—वि० [सं०] लज्जाशून्य । बेहया ।

लज्जित—वि० [सं०] लज्जा के वशीभूत । शर्म में पड़ा हुआ ।
शर्माया हुआ ।

लटंग—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बाँस जो बरमा में
होता है ।

लट—संज्ञा स्त्री० [सं० लट्वा] (१) सिर के बालों का समूह जो
नीचे तक लटके । बालों का गिरा हुआ गुच्छा । केशपाश ।
अलक । केशलता ।

मुहा०—लट छिटकाना = सिर के बालों को खोलकर इधर उधर
बिखराना ।

(२) एक में उलझे हुए बालों का गुच्छा । परस्पर चिमटे
हुए बाल ।

मुहा०—लट पड़ना = बालों का परस्पर उलझ या चिमट जाना ।

(३) एक प्रकार का बेंत जो आसाम की ओर बहुत होता
है । (४) एक प्रकार के सूत के से महीन कीड़े जो मनुष्य
की आँतों में पड़ जाते हैं और मल के साथ निकलते हैं ।
चनूना ।

संज्ञा स्त्री० [हि० लपट] लपट । लौ । अभिशिखा । ज्वाला ।

उ०—(क) झपटि झपटत लपट, पटक फूल फूटत, फल
चटक लट लटलि हुम नवायो ।—सूर । (ख) चट चट
बोलहिं बाँस बहु सिखि लट लागि अकास ।—गोपाल ।

लटक—संज्ञा स्त्री० [हि० लटकना] (१) लटकने की क्रिया या भाव ।
नीचे की ओर गिरता सा रहने का भाव । (२) झुकाव ।
लचक । (३) अंगों की मनोहर गति या चेष्टा । लुभावनी
चाल । अंग भंगी । उ०—प्राणनाथ सों प्राणपथारी प्राण
लटक सों लीन्हें ।—सूर ।

यौ०—लटक चाल ।

(४) ढाल जमीन । ढाल । (पालकी के कहार)

लटकन—संज्ञा पुं० [हि० लटकना] (१) लटकने की क्रिया या
भाव । नीचे की ओर गिरता सा रहने का भाव । (२)
किसी वस्तु में लगी हुई दूसरी वस्तु जो नीचे लटकती या
झूलती हो । लटकनेवाली चीज । (३) मनोहर अंग भंगी ।
लुभावनी चाल । लटक । उ०—बड़े जाह सग ज्यों प्रिय छवि

लटकनी-लस।—सुर। (४) नाक में पहनने का एक गहना जो लटकता या झूलता रहता है। (यह या तो नाक के दोनों छेदों के बीच में पहना जाता है, अथवा नथ में लगा रहता है)। (५) कलगी या सिरपेंच में लगे हुए रत्नों का गुच्छा जो नीचे की ओर झुका हुआ हिलता रहता है। उ०—लटकन सीस, कंठ मनि आजत ममथ कोटि वारनै गए री।—सुर। (६) मलखंभ की एक कसरत जिसमें दोनों पैरों के अँगूठों में बेंत फँसाकर पिंडली को लपेटते हैं और पिंडली के ही बल पर अँगूठों से बेंत को ऊपर खींचते हुए जंघों के बल पर का सारा भुङ नीचे को लटका देते हैं।

संज्ञा पु० [हि० लटकना] एक पेड़ जिसमें लाल रंग के फूल लगते हैं और जिसके बीजों को पानी में पीसने से गेरुआ रंग निकलता है। इस रंग से कपड़े रँगते हैं।

लटकना-क्रि० अ० [सं० लटन = झूलना] (१) किसी ऊँचे स्थान से लग या टिककर नीचे की ओर अधर में कुछ दूर तक फैला रहना। ऊपर से लेकर नीचे तक इस प्रकार गया रहना कि ऊपर का छोर किसी आधार पर टिका हो और नीचे का निराधार हो। झूलना। जैसे,—छत से फ़ानूस लटकना, पेड़ से लता लटकना, कूँ में डोरी लटकना।

संयो० क्रि०—आना।

विशेष—‘टँगना’ और ‘लटकना’ इन दोनों के मूल भाव में अंतर है। ‘टँगना’ शब्द में किसी ऊँचे आधार पर टिकने या अड़ने का भाव प्रधान है, और ‘लटकना’ शब्द में ऊपर से नीचे तक फैले रहने या अधर में हिलने डोलने का। जैसे,—(क) तसवीर बहुत नीचे तक लटकआई है। (ख) कूँ में डोरी लटक रही है। ऐसे स्थलों पर ‘टँगना’ शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता।

(२) ऊँचे आधार पर टिकी हुई वस्तु का कुछ दूर नीचे तक आकर अधर से उधर हिलना डोलना। झूलना।

(३) किसी ऊँचे आधार पर इस प्रकार टिकना कि टिके या अड़े हुए छोर के अतिरिक्त और सब भाग नीचे की ओर अधर में हों। टँगना। जैसे,—वह एक पेड़ की डाल से लटक गया।

संयो० क्रि०—जाना।

(४) किसी खड़ी वस्तु का किसी ओर को झुकना। नम्र होना। जैसे,—खंभा पूरब की ओर कुछ लटका दिखाई देता है। (५) लचकना। बल खाना। उ०—लटकत चलत नंदकुमार।—सुर।

मुहा०—लटकती चाल = बल खाता हुई मनोहर चाल। उ०—भुङ्की मटकनि पीत पट चटक लटकती लाल। चल चल चितवनि चोर चित लियो बिहारी लाल।—बिहारी।

(६) कोई काम पूरा न होने या किसी बात का निर्णय न होने के कारण दुबधा में पड़ा रहना। झूलना। जैसे,—अभी तक लटक रहे हैं; कुछ फैसला नहीं हो रहा है। (७) किसी काम का बिना पूरा हुए पड़ा रहना। देर होना।

लटकवाना-क्रि० स० [हि० लटकाना का प्रेर०] लटकाने का काम दूसरे से कराना।

लटकहरा-संज्ञा पु० [देश०] तेली।

लटका-संज्ञा पु० [हि० लटक] (१) गति। चाल। डब। (२) बनावटी चेष्टा। हाव भाव। (३) बातचीत करने में स्वर का एक विशेष प्रकार से चढ़ाव उतार। बातचीत का बनावटी ढंग। जैसे,—लटके के साथ बात करना। (४) कोई शब्द या वाक्य जिसके बार बार प्रयोग का किसी को अभ्यास पड़ गया हो। सखुनतकिया। (५) मंत्र तंत्र की छोटी युक्ति। टोटका। (६) किसी रोग या बाधा की शांति की छोटी युक्ति। संक्षिप्त उपचार। छोटा नुसखा। जैसे,—यह फकीरी लटका है; इससे जरूर फायदा होगा। (७) एक प्रकार का चलता गाना। (८) लिंग। (बाजारू)

लटकाना-क्रि० स० [हि० लटकना] (१) किसी ऊँचे स्थान से एक छोर लगा या टिकाकर शेष भाग नीचे तक इस प्रकार ले जाना कि ऊपर का छोर किसी आधार पर टिका हो और नीचे का निराधार हो। जैसे,—छत में फ़ानूस लटकाना। कूँ में डोरी लटकाना।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

विशेष—‘टाँगना’ और ‘लटकाना’ इन दोनों शब्दों के मूल भाव में अंतर है। ‘टाँगना’ शब्द में किसी ऊँचे आधार पर टिकाने या अड़ाने का भाव प्रधान है और ‘लटकाना’ शब्द में ऊपर से नीचे तक फैलाने या हिलाने डोलाने का। जैसे,—(क) धोती और नीचे तक लटका दो। (ख) कूँ में डोरी लटका दो।

(२) किसी ऊँचे आधार पर इस प्रकार टिकाना कि टिके या अड़े हुए छोर के अतिरिक्त और सब भाग अधर में हों। एक छोर या अंश ऊपर टिकाना जिससे कोई वस्तु जमीन पर न गिरे। टाँगना। जैसे,—अँगरखा खूँटी में लटका दो।

(३) किसी खड़ी वस्तु को किसी ओर झुकाना। लचकाना या नम्र करना। (४) किसी का कोई काम पूरा न करके उसे दुबधा में डालना। आसरे में रखना। इंतजार कराना। जैसे,—उसे क्यों लटकाए हो; जो कुछ देना हो, दे दो।

(५) किसी काम को पूरा न करके डाल रखना। देर करना।

लटकीला-वि० [हि० लटक + ईला (प्रत्य०)] [स्त्री० लटकीली] झूमता हुआ। बल खाता हुआ। लचकदार। जैसे,—लटकीली चाल।

लटकू-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पेड़ जिसकी छाल को उबालने से रंग निकलता है।

लटकौवा-वि० [हिं० लटकाना] लटकनेवाला। जो लटकता हो।

यौ०-लटकौवा मालखंभ = वह मालखंभ जिसकी लकड़ी गड़ी न रहकर ऊपर से लटकाई रहती है।

लटजीरा-संज्ञा पुं० [लट ? + हिं० जीरा] (१) अपामार्ग। चिचवा। (२) एक प्रकार का जड़हन धान जो अगहन में तैयार होता है और जिसका चावल बहुत दिनों तक रहता है।

लटना-क्रि० प्र० [सं० लट = हिलना डोलना] (१) थककर गिर जाना। लड़खड़ाना। उ०—(क) मकंद विकट भट लुटत कटत, न लटत तन जर्जट भट।—तुलसी। (ख) लटे तन जात किते छत जात।—सूदन।

संयो० क्रि०-जाना।

(२) श्रम, रोग आदि से शिथिल होना। अशक्त होना। दुबला और कमजोर होना। जैसे,—आजकल वे बीमारी से बहुत लट गए हैं। उ०—(क) श्री रघुबीर, निवारिष्ट पीर रहैं दरबार परो लटि लूको।—तुलसी। (ख) तेरे सुँह फेरे मोसे कायर कपूत कूर लटे लटपटेनि को कौन परिगहैगो।—तुलसी। (ग) कटी कटीली कांति पै, लटी लटी अति जाय।—रामसहाय। (३) ढीला पड़ना। मंद पड़ना। शक्ति और उत्साह से रहित होना। उ०—देखि भीरु लटे लगे, मन मन घटे लगे, पाछे पग हटे लगे क्रम क्रम नटे लगे।—गोपाल। (४) श्रम से निकम्मा हो जाना। अधिक काम करने के योग्य न रह जाना। शिथिल होना। थक जाना। उ०—रटत रटत रसना लटी तृषा सूखिगे अंग।—तुलसी। (५) व्याकुल होना। विकल होना। उ०—फटे फन फनि के औ लटे दिगदंती दीह, घटे बल कूरम विकलता को पाई है।—रघुनाथ।

क्रि० प्र० [सं० लल, लड = ललचाना] (१) ललचाना। लेने के लिये लपकना। चाह करना। लुभाना। उ०—परिहरि सुरभनि लुनाम गुंजा लखि लटत।—तुलसी। (२) लिस होना। अनुरक्त होना। प्रेमपूर्वक तत्पर होना। लीन होना। उ०—(क) उलटि तहाँ पग धारिण जासों मन मान्यो। छपद कंज तजि बेलि सों लटि लटि प्रेम न जान्यो।—सूर। (ख) कित विमोह नटो फटो गगन मगन सियत।—तुलसी।

लटपट-वि० दे० “लटपटा”।

लटपटा-वि० [हिं० लटपटाना] [स्त्री० लटपटी] (१) गिरता पड़ता। लड़खड़ाता हुआ। सीधे ढंग से न चलता हुआ। निर्बलता या मद आदि के कारण इधर उधर झुकता हुआ। जैसे,—लटपटी चाल। उ०—धूरी धौत तनु, नैननि अंजन, चलत लटपटी चाल।—सूर। (२) जो ठीक बँधा न रहने के

कारण ढीला होकर नीचे की ओर सरक आया हो। ढीला ढाला। जो चुस्त और दुरुस्त न हो। अस्त व्यस्त। बिना सँवारा हुआ। उ०—(क) लटपटी पाग उनींदे नैना डग डग डोलत डगमगात।—सूर। (ख) सूर देखि लटपटी पाग पर जावत की छवि लाल।—सूर। (३) (शब्द) जो स्पष्ट या ठीक क्रम से न निकले। टूटा फूटा। उ०—ज्यों ज्यों बलकति बैन लटपटे कहति छबीली।—व्यास। (४) जो ठीक क्रम से न हो। अव्यवस्थित। अंडवंड। अटसट। (५) थककर गिरा हुआ। हारा हुआ। अशक्त। बेबस। उ०—तेरे सुँह फेरे मोसे कायर कपूत कूट लटे लटपटेनि को कौन परिगहैगो?—तुलसी।

वि० (१) जो लेई की तरह गाढ़ा हो। जो न पानी की तरह पतला हो और न बहुत अधिक गाढ़ा। लुटपुटा। जैसे,—लटपटी तरकारी। (२) गिंजा हुआ। मला दला हुआ। जो इधर उधर झुकड़ा हुआ हो, साफ या बराबर न हो। जिसमें शिकन या सिलवट पड़ी हो। (कपड़ा इत्यादि) उ०—त्रिवली पलोदन सलोठ लटपटी सारी चोट चटपटी अटपटी चाल अटवयो।—सूर।

लटपटान-संज्ञा स्त्री० [हिं० लटपटाना] (१) लटपटाने की क्रिया या भाव। लड़खड़ाहट। (२) मनोहर गति या चाल। लटक। लचक। उ०—श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंज बिहारी के राग रंग लटपटानि के भेद न्यारे न्यारे जैसे पानी में पानी नरीच।—हरिदास।

लटपटाना-क्रि० प्र० [सं० लट = हिलना डोलना + पट = गिरना] (१) सीधे ढंग से न चलकर निर्बलता या मद आदि के कारण इधर उधर झुक झुक पड़ना। गिरना पड़ना। लड़खड़ाता। उ०—करत विचार चल्यो सम्मुख ब्रज। लटपटाइ पग धरनि धरत गज।—सूर।

संयो० क्रि०-जाना।

(२) स्थिर न रहना। जमा न रहना। ढिगना। विचलित होना। (३) ठीक तरह से न चलना। च्युत होना। चूक जाना। जैसे,—पैर लटपटाना, जीभ लटपटाना।

क्रि० प्र० [सं० लल, लड = लुभाना] (१) लुभाना। मोहित होना। उ०—श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी लटपटाइ रहे मानि सबै सुख चैन।—हरिदास। (२) लीन होना। लिस होना। अनुरक्त होना।

लटपटी-वि० [सं० लट] [स्त्री० लटी] (१) लोलुप। लंपट। (२) लुब्धा। नीच। (३) तुच्छ। होन। (४) गिरा हुआ। पतित। (५) बुरा। खराब। उ०—जग में करो जो न कृत मानै। नीकी करी, लटी उर आनै।—लाल।

लटपटी-संज्ञा स्त्री० [हिं० लटपटाना] (१) लटपटाने की क्रिया

या भाव । (२) लट्टाई झगड़ा । भिदंत । उ०—लटापटी होवन लगी मोहि जुदा करि देहु ।—गिरधर ।

लटापोट—वि० [हि० लोट पोट] लोट पोटा । मोहित । मुग्ध ।

उ०—अटक मुबारक मति गई लट्टि सुखन की मोट ।

लटापीट है लपटिगो लटकत लट की ओट ।—मुबारक ।

लट्टिया—संज्ञा स्त्री० [हि० लट] सूत आदि का लच्छा । लच्छी । आँटी ।

मुहा०—लट्टिया करना = सूत को लपेट कर आँटी या लच्छे को रूप में करना ।

लट्टिया सन—संज्ञा पुं० [हि० लट + सन] पटसन ।

लट्टी—संज्ञा स्त्री० [हि० लट्टा = बुरा] (१) बुरी बात । (२) झूठी बात । गप ।

मुहा०—लट्टी मारना = गप हाँकना । सीटना । झूठी बात कहना । (३) साधुनी । भक्ति । (४) वेश्या । रंडी ।

लट्टुआ—संज्ञा पुं० दे० “लट्टू” । उ०—लट्टुआ लौं प्रभु कर गई निगुनी गुन लपटाय । वहै गुनी कर तैं छुटै निगुनीयै है जाय ।—बिहारी ।

लट्टुक—संज्ञा पुं० [सं० लकुच] लकुट नाम का पेड़ और उसका फल । वि० दे० “लकुट” या “लुकाट” ।

लट्टुरी—संज्ञा स्त्री० दे० “लट्टूरी” । उ०—लट्टुकन ललित लट्टुरियाँ मसि बिंदु गोरोचन ।—सूर ।

लट्टू—संज्ञा पुं० दे० “लट्टू” । उ०—(क) चारु चकई लै चुनचुना लट्टू कंचन को खेलि घरे लाल बाल सखन बुलाय रे ।—दीनदयाल । (ख) रन करत लट्टू को करम रथ, होत छट्ठो सनु उर ।—गोपाल ।

लट्टूरा—संज्ञा पुं० [हि० लट्टू] कुप्पा ।

लट्टूरी—संज्ञा स्त्री० [हि० लट] सिर के बालों का लटकता हुआ गुच्छा । केश । अलक । उ०—लट्टुकन लसत ललाट लट्टूरी । दमकति द्वै द्वै दँतुरियाँ रुरी ।—तुलसी ।

लट्टोरा—संज्ञा पुं० [हि० लस = चिपचिपावट] एक प्रकार का छोटा पेड़ जिसकी पत्तियाँ गोल गोल और फल बेर के से होते हैं । यह वसंत में पत्तियाँ झाड़ता है और भारतवर्ष में प्रायः सर्वत्र होता है । फलों में बहुत सा लसदार गूदा होता है । फल औषध के काम में आता है और सूखी खाँसी को ठीकी करने के लिये दिया जाता है । फ़ारसी में इसे ‘सपिस्ता’ कहते हैं; और हकीम लोग मिश्री मिलाकर इसका लकड़ सपिस्ता नामक अवलेह बनाते हैं और खाँसी में चाटने के लिये देते हैं । संस्कृत में भी इसे ‘श्लेष्मांतक’ कहते हैं । संज्ञा पुं० [देश०] एक पक्षी जिसकी गर्दन और मुँह काला, डेने नीलापन लिए हुए भूरे और तुम काली होती है । इसकी लंबाई दस इंच होती है । यह भारत में स्थायी रूप से रहता है और प्रायः मैदानों में ही पाया जाता है । यह

तीन से छः तक अंडे देता है । इसके कई भेद होते हैं । जैसे,—मटिया, कजला, खरखला ।

लट्टू—संज्ञा पुं० [सं०] दुष्ट आदमी । दुर्जन ।

लट्टपट्टी—वि० दे० “लथपथ” । उ०—प्रेम रंग लट्टपट्ट आवैं जायँ झटपट देववृंद देखे परैं मानो नटबट्ट हैं ।—रघुराज ।

लट्टू—संज्ञा पुं० [सं० लठन = लड़कना] गोले बट्टे के आकार का एक खिलौना जिसे लपेटे हुए सूत के द्वारा जमीन पर फेंककर लड़के नचाते हैं ।

विशेष—इसके बीच में लोहे की एक कील जड़ी होती है, जिसे गूँज कहते हैं । इसमें डोरी लपेटकर जोर से फेंकते हैं, जिससे यह बहुत देर तक चकर खाता हुआ घूमता रहता है ।

क्रि० प्र०—नचाना ।—फिराना ।

मुहा०—(किसी पर) लट्टू होना = (१) मोहित होना । आसक्त होना । लुभाना । आशिक होना । उ०—(क) हम तौ रीझि लट्टू भई लालन महाप्रेम तिय जाति ।—सूर । (ख) रही लट्टू है लाल हौं लखि वह बाल अनूप ।—बिहारी । (ग) व्याह ही तैं भए कान्ह लट्टू तब हैंहै कहा जब होयगो गौनो ?—पद्माकर । (२) चाह में हैरान होना । प्राप्ति के लिये उत्कण्ठित होना । उ०—जा सुख की लालसा लट्टू सिन सनकादि उदासी ।—तुलसी ।

लट्टूदार पगड़ी—संज्ञा स्त्री० [हि० लट्टूदार + पगड़ी] एक प्रकार की पगड़ी जिसके ऊपर एक गोला सा बना होता है और आगे छज्जा सा भी निकला होता है । इसे छज्जेदार पगड़ी भी कहते हैं ।

लट्टू—संज्ञा पुं० [सं० यष्टि = प्रा० लट्टि] बड़ी लाठी । मोटा लंबा डंडा ।

क्रि० प्र०—चलाना ।—मारना ।

यौ०—लट्टबाज़ । लट्टमार ।

मुहा०—किसी व्यक्ति या वस्तु के पीछे लट्टू लिए फिरना = किसी का बराबर विरोध करना । किसी वस्तु के प्रतिकूल आचरण करना । जैसे,—तुम तौ अल्लू के पीछे लट्टू लिए फिरते हो ।

लट्टबाज़—वि० [हि० लट्ट + बा० बाज] (१) लाठी लड़नेवाला । लठैत । (२) बड़ी लाठी बाँधनेवाला ।

लट्टबाज़ी—संज्ञा स्त्री० [हि० लट्टबाज + ई (प्रत्य०)] लाठी की लड़ाई या मार पीट ।

लट्टमार—वि० [हि० लट्ट + मारना] (१) लट्ट मारनेवाला । (२) (बात या वचन) अप्रिय और कठोर । कर्कश । कड़वा । जैसे,—उसकी बात लट्टमार होती है ।

लट्टरी—वि० [हि० लट्ट] कठोर । कड़ा । कर्कश ।

लट्टा—संज्ञा पुं० [हि० लट्ट] (१) लकड़ी का बहुत लंबा टुकड़ा । बल्ला । शहतीर । (२) घर की छाजन या पाटन में लगा हुआ लकड़ी का बल्ला । धरन । कड़ी । (३) लकड़ी का

खंभा । जैसे,—तालाब का लट्ठा, सरहद का लट्ठा । (४) खेत या जमीन नापने का बाँस या बल्ला जो ५३ गज का होता है और नाप के रूप में चलता है । (५) एक प्रकार का गाढ़ा मोटा कपड़ा । गफ मारकीन ।

लट्ठाबंदी-संज्ञा स्त्री० [हि० लट्ठा + फा० बंदी] जमीन की साधारण नाप जो लट्टे से की जाय ।

लट्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) थोड़ा । (२) एक प्रकार का राग ।

लट्ठा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का करंज । (२) एक प्रकार का बाजा । (३) गौरा पक्षी । (४) कुसुम । (५) चित्र बनाने की कूँची । कलम । तुलिका । (६) व्यभिचारिणी स्त्री । (७) बालों की लट । अलक ।

लठ-संज्ञा पुं० दे० “लट्ट” ।

लठियल †-वि० [हि० लाठी + इयल (प्रत्य०)] लाठी बाँधने या चलानेवाला । लठैत ।

लठिया †-संज्ञा स्त्री० [हि० लाठी] लाठी । लकड़ी । डंडा ।

लठैत-संज्ञा पुं० [हि० लठ + ऐत (प्रत्य०)] लाठी चलानेवाला । लाठी की लड़ाई लड़नेवाला । लठवाज़ ।

लड़त-संज्ञा स्त्री० [हि० लड़ना] (१) लड़ाई । मिड़ंत । (२) सामना । मुकाबला ।

लड़-संज्ञा स्त्री० [सं० यष्टि, प्रा० लट्टि, हि० लड़ी] (१) सीध में गुड़ी हुई या एक दूसरी से लगी हुई एक ही प्रकार की वस्तुओं की पंक्ति । माला । जैसे,—मोतियों की लड़ । (२) रस्सी का एक तार (जैसे कई एक साथ मिलाकर बटे जायँ) पाम । पान । (३) पंक्ति । पाँत । कृतार । सिल-सिला । श्रेणी ।

मुहा०—(किसी के साथ) लड़ मिलाना = मेल करना । मित्रता करना । (किसी की) लड़ में रहना = दल या पक्ष में रहना । अनुयायियों में रहना ।

(४) पंक्ति में लगे हुए फूलों या मंजरियों का छड़ी के आकार का गुच्छा ।

लड़इता†-वि० दे० “लड़ैता” ।

लड़कई†-संज्ञा स्त्री० [हि० लड़का + ई] (१) लड़कपन । बचपन । बाल्यावस्था । (२) अज्ञता । नादानी । (३) चपलता । चंचलता । चिलबिलापन ।

लड़कखेल-संज्ञा पुं० [हि० लड़का + खेल] (१) बालकों का खेल । (२) सहज काम । साधारण बात ।

लड़कखेलवा†-संज्ञा पुं० [हि० लड़का + खेल] (१) बालकों का खेलवाड़ । (२) सहज काम ।

लड़कपन-संज्ञा पुं० [हि० लड़का + पन] (१) वह अवस्था जिसमें मनुष्य बालक हो । बाल्यावस्था । जैसे,—लड़कपन में मैं वहाँ प्रायः जाया करता था । (२) लड़कों का सा चिलबिला

पन । चपलता । चंचलता । जैसे,—हर दम लड़कपन मत किया करो ।

क्रि० प्र०—करना ।

लड़कबुद्धि-संज्ञा स्त्री० [हि० लड़का + बुद्धि] बालकों की सी समझ । अपरिपक्व बुद्धि । अज्ञता । नासमझी ।

लड़का-संज्ञा पुं० [सं० लट् = लड़कों का सा आचरण करना । अथवा लाड = दुलार] [स्त्री० लड़की] (१) थोड़ी अवस्था का मनुष्य । वह जिसकी उम्र कम हो । बालक । (२) पुत्र । बेटा ।

यौ०—लड़का बाला ।

मुहा०—लड़कों का खेल = (१) बिना महत्त्व की बात । (२) सहज बात या काम । ऐसा काम जिसका करना बहुत सहज हो । जैसे,—यह काम करना लड़कों का खेल नहीं है । राह बाट का लड़का = ऐसा लड़का जिसे किसी ने रास्ते में पड़ा पाया हो, और जिसके माता पिता का पता न हो । लड़की लड़का = संतान । औलाद ।

लड़काई†-संज्ञा स्त्री० दे० “लड़कई” ।

लड़का बाला-संज्ञा पुं० [हि० लड़का + सं० बाल] (१) संतति । संतान । औलाद । बाल बच्चा । जैसे,—उन्हें कोई लड़का बाला नहीं है । (२) पुत्र कलत्र आदि । परिवार । कुटुंब । कुनवा । जैसे,—(क) परदेस में लड़के बालों की खबर न मिलने से जी घबराता है । (ख) वह अपने लड़के बालों की खबर नहीं लेता ।

लड़किनी †-संज्ञा स्त्री० दे० “लड़की” ।

लड़की-संज्ञा स्त्री० [हि० लड़का] (१) छोटी अवस्था की स्त्री । बालिका । (२) कन्या । पुत्री । बेटरी ।

लड़कीवाला-संज्ञा पुं० [हि० लड़की + वाला (प्रत्य०)] विवाह संबंध में कन्या का पिता या और कोई संरक्षक । जैसे,—लड़कीवाले को सदा दबकर रहना पड़ता है ।

लड़कौरी-वि० स्त्री० [हि० लड़का + औरी (प्रत्य०)] (स्त्री) जिसकी गोद में लड़का हो । जिसके पास पालने पोसने के योग्य अपना बच्चा हो । जैसे,—लड़कौरी स्त्री को तो बच्चे से ही छुट्टी नहीं मिलती ।

लड़खड़ाना-क्रि० प्र० [सं० लड् = डोलना + खड़ा] (१) ज़मने या न ठहरने के कारण इधर उधर हिल डोल जाना । पूर्ण रूप से स्थित न रहने के कारण खड़ा न रह सकना, इधर उधर झुक पड़ना । झोंका खाना । डगमगाना । डिगना । जैसे,—पैर लड़खड़ाना, आदमी का लड़खड़ा कर गिरना । उ०—(क) धनि जसुमति बड़भागिनी लिए स्याम खेलावै । तनक तनक भुज पकरि कै ठाढ़ी होन सिखावै । लरखरात गिरि परत है, चलि चुटखनि धावै । —सूर । (ख) दिगायंद लरखरात, परत दसकंठ मुख्य

भट।—तुलसी। (ग) रघुनाथ दौरत में दामिनी सी लसति है, गिरति है, फेरि उठि दौरति है लखराति।—रघुनाथ।

संयो० क्रि०—जाना।

(२) डगमगाकर गिरना। झोंका खाकर नीचे आ जाना। उ०—मंजेड सो गरजेड घोर धुनि सुनि भूमि भूधर लखरे।—तुलसी। (१) ठीक तौर से न चलना। अपनी क्रिया में ठीक न रहना। विचलित होना। च्युत होना। चूकना। जैसे,—कोई चीज उठाने में उसका हाथ लड़खड़ाता है।

मुहा०—जीभ लड़खड़ाना=(१) ठीक ठीक या पूरे शब्द और वाक्य मुँह से न निकलना। मुँह से स्पष्ट शब्द न निकलना। टूटे फूटे शब्द या वाक्य निकलना। (२) मुँह से एक एककर शब्द निकलना।

लड़कड़ी-पंजाबी [हि० लड़कना] लड़काने की क्रिया या भाव। डगमगाहट।

लड़ना-क्रि० प्र० [सं० रणन] (१) आघात करनेवाले शत्रु पर आघात करने का व्यापार करना। आघात प्रतिघात करना। एक दूसरे पर वार करना। एक दूसरे को चोट पहुँचाना। युद्ध करना। भिड़ना।

संयो० क्रि०—जाना।—पड़ना।

यौ०—लड़ना भिड़ना।

(२) एक दूसरे को गिराने का प्रयत्न करना। कुरती करना। मल्ल युद्ध करना। जैसे,—पहलवानों का अखाड़े में लड़ना। (३) एक दूसरे को कठोर शब्द कहना। वायुद्ध करना। झगड़ा करना। कलह करना। हुजत करना। तकरार करना। जैसे,—इसी बात पर दोनों बंटों से लड़ रहे हैं। (४) वादविवाद करना। बहस करना। (५) दो वस्तुओं का वेग के साथ एक दूसरे से जा लगना। टकर खाना। टकराना। भिड़ना। जैसे,—रेलगाड़ियों का लड़ना, नावों का लड़ना। (६) विरोधी या प्रतिपक्षी के हानि पहुँचानेवाले प्रयत्न को निष्फल करने और उसे विफल करने का उद्योग करना। व्यवहार आदि में सफलता के लिये एक दूसरे के विरुद्ध प्रयत्न करना। जैसे,—सुकदमा लड़ना। (७) पूर्ण रूप से घटित होना। एक बात का दूसरी बात के अनुकूल पड़ना। लक्ष्य के अनुकूल होना। मेल मिल जाना। उपयुक्त उतरना। सटीक बैठना। जैसे,—बात ही तो है, लड़ गई।

मुहा०—हिसाब लड़ना=(१) लेखा ठीक उतरना। (२) किसी बात का सुभीता होना।

(८) अनुकूल पड़ना। ठीक होना। सुवाकिक उतरना। जैसे,—युक्ति लड़ना, किस्मत लड़ना। (९) बिच्छू, भिड़ आदि का डंक मारना। जैसे,—भिड़ लड़ गई। (पश्चिम)

(१०) किसी स्थान पर पड़ना। किसी वस्तु से संयुक्त होना। लक्ष्य पर पहुँचना। भिड़ना। जैसे,—आँख लड़ना। निशाना लड़ना।

लड़बड़ाना-क्रि० प्र० दे० “लड़खड़ाना”।

लड़बावर-वि० [सं० लड़ = लड़कों का सा + बावरा] [ली० लड़वावरी] (१) जो लड़कपन लिए हो। जो चतुर और गंभीर न हो। भोला भाला और उजड़। अलहड़। मूर्ख। नालमस। अहमक। उ०—(क) सखियाँ लड़वावरी रावरी हैं तिनकी मति में अति दौरति हैं।—बेनीप्रवीन। (ख) नूर कहै न सुनै, लड़वावरी! चंदहि दोष कछु न अलोई।—नूर (२)। गँवार। अनाड़ी। उ०—एरी लड़वावरी! अहीरि ऐसी बूझौं तोहि नाहि सो सनेह कीजै, नाह सों न कीजिए।—केशव। (३) मूर्खता से भरा हुआ। जिससे मूर्खता प्रकट हो। उ०—रावरी जो लड़वावरी बात है सो सुनि राखियो, मैं न सहँगी।—रघुनाथ।

लड़बौरा-वि० दे० “लड़बावरा” उ०—सुन री राधा अति लड़बौरी जमुन गई तब संग कौन ही।—सूर।

लड़ाई-पंजाबी [हि० लड़ना + आई (प्रत्य०)] (१) आघात करनेवाले शत्रु पर आघात करने की क्रिया। आघात प्रतिघात। एक दूसरे पर वार। एक दूसरे को चोट पहुँचाने की क्रिया या भाव। भिड़ंत। युद्ध।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

यौ०—लड़ाई भिड़ाई।

(२) सेनाओं का परस्पर आघात प्रतिघात। संग्राम। जंग। युद्ध। जैसे,—दोनों राज्यों के बीच लड़ाई हो रही है।

क्रि० प्र०—करना।—लड़ना।—लड़ना।—मचना।—होना।

मुहा०—लड़ाई का मैदान = रणक्षेत्र। लड़ाई पर जाना = योद्धा या सैनिक के रूप में रणक्षेत्र में जाना।

(३) एक दूसरे को पटकने का प्रयत्न। मल्लयुद्ध। कुस्ती।

(४) परस्पर कठोर शब्दों का व्यवहार। वायुद्ध। झगड़ा। कलह। तकरार। हुजत। कहा सुनी।

यौ०—लड़ाई झगड़ा।

(५) वादविवाद। बहस। (६) दो वस्तुओं का वेग के साथ एक दूसरी से जा लगना। टकर। (७) विरोधी या प्रतिपक्षी के व्यवहार से अपनी रक्षा करने और उसे विफल करने का परस्पर प्रयत्न। व्यवहार या मामले में सफलता के लिये एक दूसरे के विरुद्ध प्रयत्न या चाल। जैसे,—जमीन के लिये अदालत में लड़ाई। (८) अनयन। विरोध। बैर। बिगाड़। दुश्मनी। जैसे,—उन दोनों में लाजकल लड़ाई है।

लड़ाका-वि० [हि० लड़ना + आका (प्रत्य०)] [ली० लड़ाकी] (१)

लड़नेवाला। थोड़ा। सिपाही। (२) बात बात में लड़ जानेवाला। बहुत झगड़ा करनेवाला। झगड़ालू। फ़सादी।

लड़ाकू-वि० [हि० लड़ना] (१) युद्ध में व्यवहृत होनेवाला। लड़ाई में काम आनेवाला। जैसे,—लड़ाकू जहाज। (२) दे० “लड़ाका”।

लड़ाना-क्रि० सं० [हि० लड़ना का प्रेर०] (१) लड़ने का काम दूसरे से कराना। लड़ने में प्रवृत्त करना। जैसे,—उन दोनों को तुम्हीं लड़ा रहे हो। (२) झगड़े में प्रवृत्त करना। कलह के लिये उद्यत करना। (३) एक वस्तु को दूसरी से वेग या झटके के साथ मिला देना। टकरा खिलाना। भिड़ाना। (४) लक्ष्य पर पहुँचाना। किसी स्थान पर फेंकना या डालना। जैसे,—निशाना लड़ाना, आँख लड़ाना। (५) परस्पर उलझाना। जैसे,—पतंग लड़ाना, डोरा लड़ाना। (६) सफलता के लिये व्यवहार में लाना। सिद्धि के लिये संचालित करना। जैसे,—युक्ति लड़ाना, बुद्धि लड़ाना।

क्रि० सं० [हि० लाड़ = प्यार] लाड़ प्यार करना। दुलार करना। प्रेम से पुचकारना। उ०—नव नव लाड़ लड़ाई लाड़ली नहीं नहीं यहाँ ब्रज जावरो।—हरिदास।

लड़ायता-वि० दे० “लड़ैता”। उ०—नंदरु यशोदा के लड़ाइते कुँवर हिय हरे ग्वार गोरिन के खोरिन बगे रहैं।—देव।

लड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० लड़ि, प्रा० लहि] (१) सीध में गुड़ी हुई या एक दूसरी से लगी हुई एक ही प्रकार की वस्तुओं की पंक्ति। माला। जैसे,—मोतियों की लड़ी। (२) रस्सी या गुच्छे का तार (जैसे, कई एक साथ मिलाकर बटे या गुच्छे जायँ)। (३) पंक्ति। कतार। सिलसिला। श्रेणी। जैसे,—यहाँ से वहाँ तक टीलों की एक लड़ी चली गई है। (४) पंक्ति में लगे हुए फूलों या मंजरियों का छड़ी के आकार का गुच्छा।

लड़ुआ, लड़ुआ-संज्ञा पुं० [सं० लड्डुक] मोदक। लड्डू।

लड़ैता-वि० [हि० लाड़ = प्यार + ऐता (प्रत्य०)] [स्त्री० लड़ैती] (१) जिसका बहुत लाड़ प्यार हो। जिस पर बहुत प्रेम किया जाय। लाडला। दुलारा। जैसे,—लड़ैते लड़के बिगड़ जाते हैं। (२) जो लाड़ प्यार के कारण बहुत इतराया हो। जिसका स्वभाव किसी के बहुत प्रेम दिखाने के कारण बिगड़ गया हो। छष्ट। शोख। (३) प्यारा। प्रिय। उ०—जितही जित रुख करै लड़ैती तितही आपुन आवै।—सूर।

वि० [हि० लड़ना] लड़नेवाला। थोड़ा। वीर। उ०—कहा लड़ैते दग करे परे लाल बेहाल।—बिहारी।

लड़ु-संज्ञा पुं० [सं० लड्डुक] गोल बँधी हुई मिठाई। मोदक। विशेष—लड़ु कई प्रकार के और कई चीजों के बनते हैं।

४०१

जैसे,—बेसन के लड्डू, खोए के लड्डू, बेसन की लुँदिया के लड्डू जो बाबर के लड्डू और मोलीचूर कहलाते हैं।

मुहा०—लड्डू खिलाना = उत्सव मनाना। दावत करना। लड्डू मिलना = कोई अच्छा लाभ होना। जैसे,—यहाँ जाने से क्या लड्डू मिल गया? लड्डू बँटना = लाभ या प्राप्ति होना। जैसे,—वहाँ क्या लड्डू बँटता है? दग के लड्डू खाना = पागल होना। नासमझी करना। होश हवास में न रहना। (पहले दग लोग मुसाफ़िरो को धोखे से मादक वस्तु या विष मिला, लड्डू खिला देते थे, और जब वे बेहोश हो जाते थे, तब उनका मान ख़र लेते थे।) मन के लड्डू खाना या फोड़ना = अर्थ किसी बड़े लाभ की कल्पना करना जिसका होना बहुत कठिन हो।

लड्डयाना-क्रि० सं० [हि० लाड़ = प्यार] लाड़ प्यार करना। दुलार करना। उ०—(क) सृगछौरा सो क्यों पग तेरे तजे जाहि पृत लों लाड लड्डयानि है।—लक्ष्मण। (ख) कहते हैं कि भर्त्ता की लड्डयानि हुई उस चंडी ने उसके प्रतिज्ञा किए हुए दो बरदान उगले।—लक्ष्मण।

लड्डंत-संज्ञा पुं० [सं० लुंठन = लुटकना] कुश्ती का एक पेश जो मुरगों या खगोशों की लड़ाई का अनुकरण है।

लड़ा-संज्ञा पुं० [हि० लड़ना] बैरगाड़ी।

लदिया-संज्ञा स्त्री० [हि० लुढ़ना, लुढ़कना] बैलगाड़ी।

लत-संज्ञा स्त्री० [सं० रति = अनुरक्ति, लनता] किसी बुरी बात का अभ्यास और प्रवृत्ति। बुरी आदत। दुर्व्यसन। बुरी देव।

क्रि० प्र०—पड़ना।—लगना।

लतखोर-वि० दे० “लतखोरा”।

लतखोरा-वि० [हि० लत + फा० खोर = खानेवाला] [स्त्री० लतखोरिन] (१) सदा लत खानेवाला। सदा ऐसा काम करनेवाला जिसके कारण सार खानी पड़े या भला बुरा सुनना पड़े। (२) नीच। कमीना। (३) दास। किकर। गुलाम। (४) देहली। दहलीज। चौखट। (५) दरवाजे पर पड़ा हुआ पैर पोंछने का कपड़ा। पायंदाज। गुलमगर्दा।

लतड़ी-संज्ञा स्त्री० [देश०] केसारी नाम का अन्न।

संज्ञा स्त्री० [हि० लत = पैर] एक प्रकार की जूती जिसमें केवल तला ही होता है।

लतपत-वि० दे० “लथपथ”।

लतमर्दन-संज्ञा स्त्री० [हि० लत + सं० मर्दन] (१) लातों से दवाने की क्रिया। पैरों से रौंदने की क्रिया। (२) लातों की मार। पदाघात।

लतर-संज्ञा स्त्री० [सं० लता] बेल। बल्ली।

लतरा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का मोटा अन्न जिसे ‘बरबरा’ और ‘रँवल’ भी कहते हैं। इसकी फलियों की तरकारी भी बनाई जाती है।

लतरी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की घास या पौधा जो

खेतों में मटर के साथ बोया जाता है और जिसमें चिपटी चिपटी फलियाँ लगती हैं। इसके दानों से दाल निकलती है जिसे गरीब लोग खाते हैं। यह बहुत मोटा अन्न माना जाता है। इसे 'मोट' और 'खेसारी' भी कहते हैं।
संज्ञा स्त्री० [हि० लत] एक प्रकार की हलकी जूती जो केवल तले के रूप में होती है और अँगूठे को फँसाकर पहनी जाती है।

लतहा—वि० [हि० लत + हा (प्रत्य०)] [स्त्री० लतही] लत मारनेवाला (बैल या घोड़ा)। जैसे,—लतही घोड़ी।

लतांगी—संज्ञा स्त्री० [सं०] कर्कटशृंगी। काकड़ासींगी।

लता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह पौधा जो सूत या डोरी के रूप में जमीन पर फैले अथवा किसी खड़ी वस्तु के साथ लिपट कर ऊपर की ओर चढ़े। वली। बेल। बौर।

विशेष—जिस लता में बहुत सी शाखाएँ इधर उधर निकलती हैं और पत्तियों का स्नापन होता है, उसे संस्कृत में प्रतालिनी कहते हैं।

(२) कोमल कांड या शाखा। जैसे,—पञ्चलता।

विशेष—सौंदर्य, कोमलता और सुकुमारता का सूचक होने के कारण 'बाहु' या 'भुज' शब्द के साथ कभी कभी 'लता' शब्द लगा दिया जाता है। जैसे,—बाहुलता, भुजलता। सुंदरी स्त्री के लिये भी 'कनकलता' आदि शब्दों का प्रयोग होता है।

(३) प्रियंगु। (४) स्पृक्षा। (५) अशनपर्णी। (६) उद्योतिष्मती लता। (७) माधवी लता। (८) दूब। (९) कैवर्तिका। (१०) सारिवा। (११) जाती पुष्प का पौधा। (१२) सुंदरी स्त्री।

लताकरंज—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का करंज या कंजा। कंटकरंज।

पर्या०—दुष्पर्णा। वीराख्य। वज्रवीजक। धनदाक्षी। कंटफल। कुवेराक्षी।

विशेष—वैद्यक में यह कटु, उष्ण और वात-कफ-नाशक कहा गया है। इसका बीज दीपन, पथ्य तथा गुल्म और विष को दूर करनेवाला माना जाता है।

लताकर—संज्ञा पुं० [सं०] नाचने में हाथ हिलाने का एक प्रकार।

लताकस्तूरिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक पौधा जो दक्षिण में होता है। वैद्यक में इसे तिक्त, स्वादु, वृष्य, शीतल, लघु, नेत्रों को हितकारी तथा श्लेष्मा, तृष्णा और मुख रोग को दूर करनेवाली माना है।

लताकुंज—संज्ञा पुं० [सं०] लताओं से छाया हुआ स्थान।

लतागण—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में सूत या डोरी के रूप में फैलेवाले पौधों का वर्ग जिसके अंतर्गत ये पौधे हैं—पान,

गुर्च, सोमवल्ली, विष्णुक्रांता, स्वर्णवल्ली, हडसंहारी, ब्रह्मदंडी, आकाशबेल, बटपत्री, हिंगुपत्री, वंशपत्री, बृहन्नला, अर्कपुष्पी, सर्पाक्षी, गूमा, मूसाकानी, पोई, मोरशिखा, बंधवल्ली, कनकलता (नागकेसर), जाती और माधवी।

लतागृह—संज्ञा पुं० [सं०] लताओं से मंडप की तरह छाया हुआ स्थान।

लताजिह्व—संज्ञा पुं० [सं०] सर्प। साँप।

लताड़—संज्ञा स्त्री० दे० "लथाड़"।

लताड़ना—क्रि० सं० [हि० लत] (१) पैरों से कुचलना। रौंदना।

(२) लातों से मारना। (३) हैरान करना। श्रम से शिथिल करना। थकाना। (४) लेटे हुए आदमी के शरीर पर खड़े होकर धीरे धीरे इधर उधर चलना, जिससे उसके बदन की थकावट दूर होती है। (पश्चिम)

लतातरु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नारंगी का पेड़। (२) ताड़ का पेड़। (३) शाल या सालू का पेड़।

लताताल—संज्ञा पुं० [सं०] हिताल वृक्ष।

लतानन—संज्ञा पुं० [सं०] नाचने में हाथ हिलाने का एक ढंग।

लतापता—संज्ञा पुं० [सं० लतापत्र] (१) लता और पत्ते। पेड़ पत्ते। पेड़ों और पौधों का समूह। (२) पौधों की हरियाली। (३) जड़ी बूटी। जैसे,—गाँव के लोग लतापता से दवा कर लेते हैं।

लतापनस—संज्ञा पुं० [सं०] तरबूज। कलींदा।

लतापर्ण—संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

लतापर्णी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तालमूला। (२) मधूरिका। मेउंड़ी।

लतापाश—संज्ञा पुं० [सं०] लता का स्नापन या समूह। लता-जाल।

लताफल—संज्ञा पुं० [सं०] पटौल। परवल।

लताभवन—संज्ञा पुं० [सं०] लताओं का कुंज। लतागृह। उ०—लताभवन तैं प्रगट भए तेहि अवसर दोइ भाइ। निकसे अनु जुग विमल विभु जलद पटल बिलगाइ।—तुलसी।

लतामंडप—संज्ञा पुं० [सं०] छाई हुई लताओं से बना हुआ मंडप या घर।

लतामंडल—संज्ञा पुं० [सं०] छाई हुई लताओं का घेरा या कुंज।

लतामणि—संज्ञा पुं० [सं०] प्रवाल। मूँगा।

लतामरुत्—संज्ञा पुं० [सं०] पृक्षा।

लतायष्टि—संज्ञा स्त्री० [सं०] मंजिष्ठा। मजीठ।

लतायावक—संज्ञा पुं० [सं०] प्रवाल। मूँगा।

लतार्क—संज्ञा पुं० [सं०] प्याज का पौधा।

लतालक—संज्ञा पुं० [सं०] हाथी।

लतावृक्ष—संज्ञा पुं० [सं०] सालकी। सालई का पेड़।

लतावेष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामशास्त्र में सोलह प्रकार के रतिबंधों में से तीसरा । (२) एक पर्वत जो द्वारकापुरी से दक्षिण की ओर पड़ता है । (हरिवंश)

लतावेष्टन-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का आलिंगन ।

लताशंख-संज्ञा पुं० [सं०] शाल या साखू का पेड़ ।

लतासाधन-संज्ञा पुं० [सं०] तंत्र या नाम मार्ग की एक साधना जिसका प्रधान अधिकारण लता या स्त्री है ।

विशेष—इसमें महारात्रि (शिवरात्रि) के दिन एक रज-स्वला स्त्री को लेकर उसके योनि देश पर इष्टदेव का पूजन और जप करते हैं ।

लतिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटी लता । बँवर । बेल । वि० दे० “लता” ।

लतियर, लतियल-वि० [हि० लात + इयल (प्रत्य०)] जो सदा लात खाता रहता हो । लतखोर ।

लतियाना †-क्रि० ल० [हि० लात + आना (प्रत्य०)] (१) पैरों से दवाना या रौंदना । (२) खूब लातें मारना । प्रहार करना । दंड देना । जैसे,—इसे खूब लतियाओ, तब मानेगा ।

लतिहर, लतिहल-वि० दे० “लतियर” ।

लतीफ-वि० [अ०] (१) मजेदार । सुस्वादु । जायकेदार । (२) अच्छा । बढ़िया । मनोहर ।

लतीफा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) हास्य रस पूर्ण छोटी कहानी । चुटकुला । (२) सुहल की बात । हँसी की बात । (३) चमत्कारपूर्ण बात । अनूठी बात ।

लत्ता-संज्ञा पुं० [सं० लक्तक] (१) फटा पुराना कपड़ा । चीथड़ा । (२) कपड़े का टुकड़ा । बख्खंड । (३) कपड़ा ।

यौ०—कपड़ा लत्ता = पहनने का वस्त्र ।

मुहा०—लत्ते लेना = आड़े हाथ लेना । व्यंग्य द्वारा उपहास करना । बनाना ।

लत्तिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] गोधा । गोह ।

लत्ती-संज्ञा स्त्री० [हि० लात] (१) प्रहार के लिये उठाया या चलाया हुआ घोड़े, गद्दे आदि का पैर । पशुओं का पाद-प्रहार । लात । (२) लात मारने की क्रिया ।

क्रि० प्र०—चलाना ।—फटकारना ।—मारना ।

संज्ञा स्त्री० [हि० लत्ता] (१) कपड़े की लंबी धुज्जी । (२) बाँस में बँधी हुई कपड़े की धुज्जी जिसे ऊँचा करके कबूतर उड़ाते हैं । (३) पतंग की दुम अर्थात् नीचे बँधी हुई कपड़े की लंबी धुज्जी । पुच्छिला ।

क्रि० प्र०—बाँधना ।—लगाना ।

लथपथ-वि० [अनु०] (१) जो भीग कर भारी हो गया हो । भीगा हुआ । तराबोर । जैसे,—(क) वह पानी में लथपथ हो गया । (ख) काम करते करते पसीने से लथपथ हो गए । (२) (कीचड़ आदि में) सना हुआ । जो कीचड़ आदि

के लगने से भारी हो गया हो । जैसे,—वह कीचड़ में फिसलकर फिर लथपथ दौड़ा ।

लथाड़-संज्ञा स्त्री० [अनु० लथपथ] (१) जमीन पर पटक कर इधर उधर लोटाने या बसीटने की क्रिया । चपेट । जैसे,—ऐसी लथाड़ दी कि होश ठिकाने हो गए ।

क्रि० प्र०—देना ।

मुहा०—लथाड़ खाना = (१) पटका जाना । पछाड़ा जाना । (२) ध्वस्त किया जाना । नष्ट किया जाना । लथाड़ में पड़ना = कठिन स्थिति में पड़ना । भ्रमेले या हैरानी में पड़ना ।

(२) पराजय । हार । (३) हानि । लुकसान । (४) झिड़की । डाँट डपट । भर्त्सना । गालियों की बौछाड़ ।

क्रि० प्र०—सुनना ।

मुहा०—लथाड़ खाना = झिड़का जाना । डाँटा जाना । घुड़की सुनना । लथाड़ पड़ना = डाँटा जाना । झिड़की सुनाई जाना । जैसे,—आज उस पर खूब लथाड़ पड़ी ।

लथाड़ना-क्रि० स० (१) दे० “लथेड़ना” । (२) दे० “लताड़ना” ।

लथेड़ना-क्रि० स० [अनु० लथपथ] (१) कीचड़ आदि से लपेटना । कीचड़ आदि पोतकर भारी करना । जैसे,—तुपड़े को क्यों कीचड़ में लथेड़ रहे हो । (२) मिट्टी, कीचड़ आदि लिपटाकर गंदा करना । जैसे,—कल ही कुरता पहना, आज ही मिट्टी में लथेड़ डाला । (३) जमीन पर पटककर इधर उधर लोटाना या बसीटना । उ०—हरि तेहि गहि महि माहिं लथेरा ।—गोपाल ।

संयो० क्रि०—डालना ।

(४) कुत्ती या लड़ाई में पछाड़ना । पटकना । हराना । (५) श्रम से शिथिल करना । हैरान करना । थकाना । (६) बातों या गालियों की बौछाड़ से व्याकुल करना । भर्त्सना करना । झिड़कियाँ सुनाना । भला बुरा कहना । डाँटना डपटना ।

लदन-संज्ञा स्त्री० [हि० लदना] लदाव ।

लदना-क्रि० अ० [सं० लद्ध, प्रा० लिद्ध = भरा हुआ, ढेर लगाया हुआ]

(१) भाराकांत होना । भारयुक्त होना । बोझ ऊपर लेना । बोझ से भरना । ऊपर पड़ी हुई वस्तुओं के ढेर से भरना । जैसे,—(क) मेज किताबों से लदी हुई है । (ख) गाड़ी असबाब से लदी हुई आ रही है ।

संयो० क्रि०—जाना ।

(२) किसी वस्तु का किसी वस्तु के समूह से ऊपर ऊपर भर जाना । आच्छादित होना । पूर्ण होना । जैसे,—(क) यह पेड़ फलों या फूलों से लदा है । (ख) वह स्त्री गहनों से लदी है । (३) सामान ढोनेवाली सवारी (जैसे,—गाड़ी, घोड़ा, बैल, ऊँट) का वस्तुओं से पूर्ण होना । बोझ से भर जाना या भरा जाना । जैसे,—गाड़ी लद रही है ।

(४) किसी भारी या बज़नी चीज़ का दूसरी चीज़ के ऊपर होना या रखा जाना। किसी वस्तु के ऊपर बोझ के रूप में पड़ना या रखा जाना। जैसे,—(क) तुम उसकी पीठ पर लद जाओ। (ख) मेज़ पर किताबें लदी हुई हैं। (५) सामान ढोनेवाली सवारी पर वस्तुओं का रखा जाना। बोझ का ढाला या रखा जाना। जैसे,—गाड़ी पर उनका असबाब लद रहा है। (६) जेलखाने जाना। क़ैद होना। जैसे,—वह सात बरस के लिये लद गया। (७) परलोक मिथारना। मर जाना। जैसे,—आज वे भी लद गए।

लदलद—क्रि० वि० [अनु०] किसी गीली और गाढ़ी या जमी हुई वस्तु के गिरने के शब्द का अनुकरण। जैसे,—भींगी मिट्टी ऊपर से लद लद गिर रही है।

लदवाना—क्रि० सं० [हि० लदना का प्रेर०] लादने का काम दूसरे से कराना। उ०—पाँच सहस्र इक सौ रथ आये। सहस्र निसान तोप लदवाये।—सबल।

लदाऊँ—वि० [हि० लदना = भरना] लदाव। भराव। उ०—रेणुका का रासन में कीच कुस कासन में निकट निवासन में आसन लदाऊँ के।—पशाकर।

लदाना—क्रि० सं० [हि० लादना का प्रेर०] लादने का काम दूसरे से कराना।

संथा० क्रि० देना।—लेना।

ला फँदा—वि० [हि० लदना + फँदना] भारपूर्ण। बोझ से भरा या लदा हुआ।

लदवा—क्रि० पुं० [हि० लादना] (१) लादने की क्रिया या भाव। (२) भार। बोझ। (३) छत आदि का पटाव। (४) ईंटों का जोड़ाई जो बिना धरन या कड़ी के अधर में ठहरी हो। कड़े की जोड़ाई। जैसे,—लदवा की छत। (५) वह छत या सहारा जिसमें ईंटों की जोड़ाई बिना धरन या कड़ी के सहारा अधर में ठहरी हो।

लदुवा—वि० [हि० लादना] बोझ ढोनेवाला। पीठ पर बोझ लेकर चलनेवाला। जैसे,—लदुवा घोड़ा, लदुवा बैल।

लदू—वि० [हि० लादना] बोझ ढोनेवाला। लदुवा। जैसे,—लदू घोड़ा।

लदड़—वि० [हि० लदना = भारी होना] जिसमें तेज़ी और फुरती न हो। सुस्त। काहिल। आलसी। जैसे,—लदड़ आदमी, लदड़ घोड़ा।

लदड़पन—संज्ञा पुं० [हि० लदड़ + पन (प्रत्य०)] काहिली। सुस्ती। ढिलाई।

लदना—क्रि० सं० [सं० लब्ध, प्रा० लद्ध = प्राप्त] प्राप्त करना। हासिल करना। मिलना। पाना। भेंटना। उ०—चीठर जमिया चूत का घैरी बिरहा लद्ध। बीछुरिया सो साजना वेद न काहू लद्ध।—कबीर।

लनटक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पौधा या घास जिसका साग बनाकर खाया जाता है।

लना—संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक पेड़ जिससे पंजाब में सज़ी निकाली जाती है। इसका एक भेद 'गोरालना' है। (२) शोरा।

लनी—संज्ञा स्त्री० [देश०] पान की बारी में की क्यारी।

संज्ञा स्त्री० [देश०] पंजाब में होनेवाला एक पेड़ जिससे सज़ी निकाली जाती है। छोटी जाति का 'लना' नाम का पेड़।

लप—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की घास, जिसे 'सुरारी' भी कहते हैं।

संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) बेंत या लचीली छड़ी को पकड़ कर हिलाने से उत्पन्न शब्द या व्यापार। (२) छुरी, तलवार आदि की चमक की गति।

मुहा०—लप लप करना = (१) बेंत या लचीली छड़ी आदि का पकड़कर जोर से हिलाए जाने से शब्द करना। (२) झलकना। चमाचम करना। लप से = लौ या लपट की तरह तेज़ी से। भट से।

संज्ञा पुं० [देश०] (१) दोनों हथेलियों को मिलाकर बनाया हुआ संपुट जिसमें कोई वस्तु भरी जा सके। अँजली। जैसे,—लप भर आटा। (२) अँजली भर वस्तु। जैसे,—लप भर निकाल कर देना।

लपक—संज्ञा स्त्री० [अनु० लप] (१) उवाला। लपट। लौ। अग्नि-शिखा। (२) चमक। कांति। लपलपाहट। जैसे,—बिजली की लपक से आँखें चौंधिया गईं। (३) लौ या लपट की तरह निकलने या चलने की तेज़ी। वेग। (४) चलने का वेग। झपट। फुरती।

लपकना—क्रि० प्र० [हि० लपक] (१) चट पट या तेज़ी से चल पड़ना। तुरंत दौड़ पड़ना। जैसे,—उसने लपक कर भागते हुए चोर को पकड़ लिया। (२) वेग से गमन करना। तेज़ी से जाना या चलना। जैसे,—वह उसी ओर लपका चला जा रहा है।

मुहा०—लपक कर = (१) तुरंत तेज़ी से जाकर। (२) तुरंत। भट से। जैसे,—लपक कर तुम्हीं चले जाओ; लेते आओ। उ०—ताही समय उठे घनघोर दामिनी सी धाय उर लागी श्यामवन सों लपकि कै।—केशव।

(३) आक्रमण के लिये दौड़ पड़ना। झपटना। जैसे,—शेर उसकी ओर लपका। (४) कोई वस्तु लेने के लिये झट से हाथ बढ़ाना। जैसे,—तुम सभी चीज़ें लेने के लिये लपकते हो।

लपकी—संज्ञा स्त्री० [हि० लपकना] एक प्रकार की सीधी शिखाई।

लपचा-संज्ञा पुं० [देश०] सिक्किम के पहाड़ों की एक जंगली जाति ।

लपभप-वि० [अनु० लप + हि० भपट] (१) चंचल । चपल । स्थिर न रहनेवाला । (२) चुपचाप न बैठनेवाला । अधीर । जैसे,—बाप चुप चुप, पुत्र लपभप । (३) तेज । फुरतीला ।

मुहा०—लपभप चाल = बेहंगी चाल । चपलता की चाल ।

लपट-संज्ञा स्त्री० [सं० लोक हि० लौ + पट = विस्तार] (१) आग के दहकने से उठा हुआ जलती वायु का स्वरूप । अभि-शिखा । ज्वाला । आग की लौ । उ०—इंद्रजाल कंदर्प को कहे कहा मतिराम । आगि लपट वर्षा करे ताप धरे धनस्याम ।—मतिराम । (२) तपी हुई वायु । हवा में फैली हुई गरमी । झोंक ।

क्रि० प्र०—आना ।—लगना ।

(३) किसी प्रकार की गंध से भरा वायु का झोंका । जैसे,—क्या अच्छी गुलाब की लपट आ रही है । (४) गंध । महक । झंझक । वू । उ०—सूरदास प्रभु को बानक देखे गोपी टारे न दरत निपट आवै सोंधे की लपट ।—सूर ।
† संज्ञा स्त्री० दे० “लिपट” ।

लपटना†-क्रि० प्र० [सं० लिप्त + ना (प्रत्य०)] (१) अंगों से घेरना । लिपटना । चिमटना । आलिंगन करना । (२) किसी सूत की सी वस्तु का दूसरी वस्तु के चारों ओर कई फेरों में घेरना । (३) लग जाना । संलग्न होना । सटना । (४) उलझना । फँसना । लिप्त होना । उ०—आइ गयो काल मोहजाल में लपटि रह्यो महा विकराल यमदूत ही दिखाइए ।—प्रियादास । (५) परिवेष्टित होना । घिर जाना । (६) लगा रहना । रत रहना ।

लपटा-संज्ञा पुं० [हि० लपसी] (१) गाढ़ी गीली वस्तु । (२) लपसी । लेई । (३) कढ़ी ।

लपटाना†-क्रि० स० [हि० लपटना] (१) अंगों से घेरना । लिपटाना । चिमटाना । (२) आलिंगन करना । गले लगाना । (३) किसी सूत की सी वस्तु को कई फेरे करके ठिकाना या बाँधना । लपेटना । उ०—दरसन आयो राना रूप चतुर्भुज जू के रहे प्रभु पौढ़ि हार सीस लपटायो है ।—प्रियादास । (४) परिवेष्टित करना । घेरना ।
✽ †-क्रि० प्र० (१) संलग्न सटना । उ०—यह नहीं भली तुम्हारी बानी । मैं गृहकाज रहौं लपटानी ।—सूर । (२) उलझना । फँसना ।

लपन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुख । मुँह । (२) भाषण । कथन ।

लपना†-क्रि० प्र० [अनु० लप लप] (१) बेंत या लचीली छड़ी का एक छोर पकड़कर जोर से हिलाए जाने से इधर उधर झुकना । झोंक के साथ इधर उधर लचना । (२)

झुकना । लचना । (३) लपकना । ललचना । उ०—साधन बिनु सिद्धि सकल विकल लोग लपत ।—तुलसी ।

लपलपाना-क्रि० प्र० [अनु० लप लप] (१) बेंत या लचीली छड़ी, टहनी आदि का एक छोर पकड़कर जोर से हिलाए जाने से इधर उधर झुकना । झोंक के साथ इधर उधर लचना । लपना । जैसे,—बेंत का लपलपाना । (२) किसी लंबी कोमल वस्तु का इधर उधर हिलना डोलना या किसी वस्तु के अंदर से बार बार निकलना । जैसे,—साँप की जीभ लपलपाती है ।

मुहा०—जीभ लपलपाना = चलने की इच्छा या लोभ करना । जैसे,—मिट्टाई खाने के लिये उसकी जीभ लपलपाया करती है ।

(३) छुरी, तलवार आदि का चमकना । झलकना ।

क्रि० स० (१) बेंत या लचीली छड़ी, टहनी आदि का एक छोर पकड़कर जोर से इधर उधर झुकाना या झोंका देना । झोंक के साथ इधर उधर लचकना । फटकारना । लपाना । जैसे,—मारने के लिये बेंत लपलपाना । (२) किसी लंबी नरम चीज को इधर उधर हिलाना डुलाना या किसी वस्तु के अंदर से बार बार निकालना । जैसे,—साँप जीभ लपलपाता है । (३) छुरी, तलवार आदि को निकालकर चमकाना । चमचमाना ।

लपलपाहट-संज्ञा स्त्री० [हि० लपलपाना + आहट (प्रत्य०)] (१) लपलपाने की क्रिया या भाव । लचीली छड़ी या टहनी आदि का झोंक के साथ इधर उधर लचकना । एक छोर पकड़कर जोर से हिलाए जाते हुए बेंत आदि का झोंका । (२) चमक । झलक । जैसे,—तलवारों की लपलपाहट ।

लपसी-संज्ञा स्त्री० [सं० लप्सिका] (१) भुने हुए आटे में चीनी का शरबत डालकर पकाई हुई बहुत गाढ़ी लेई जो खाई जाती है । थोड़े घी का हलुवा । (२) गीली गाढ़ी वस्तु । जैसे,—आज की तरकारी तो लपसी हो गई । (३) पानी में औटाया हुआ आटा जिसमें नमक मिला होता है और जो जेल में कैदियों को दिया जाता है । लपटा ।

लपहा-संज्ञा पुं० [देश०] पान का एक रोग । पान भी गंरुई ।

लपाना-क्रि० स० [अनु० लपलप] (१) लचीली छड़ी आदि को झोंक के साथ इधर उधर लचाना । फटकारना । (२) नरम लंबी चीज को डुलाना । (३) आगे बढ़ाना ।

लपित-वि० [सं०] कहा हुआ । बोला हुआ । कथित ।

लपिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] शाङ्गिका नामक पक्षी की एक जाति ।

लपेट-संज्ञा स्त्री० [हि० लपेटना] (१) लपेटने की क्रिया या भाव । (२) किसी सूत, धोरी या कपड़े की सी वस्तु को दूसरी वस्तु की परिधि को लपेटने या बाँधने की स्थिति । बंधन का चक्र । घुमाव । फेरा । जैसे,—कई लपेट बाँधोगे, तब मज़बूत

होगा । (३) बँधी हुई गठरी में कपड़े की तह की मोड़ ।
उ०—खोलिकै लपेट मध्य संपुट निहारि कौड़ा, समुद्रि
बिचारे हारै, मत में न आयो है ।—प्रियादास । (४)
पेंठन । बल । मरोड़ । (५) किसी मोटी लंबी वस्तु की
मोटाई के चारो ओर का विस्तार । घेरा । परिधि । जैसे,—
(क) इस खम्भे की लपेट ३ फुट है । (ख) इस पेड़ के तने की
लपेट ५ फुट है । (६) उलझन । फँसाव । जाल या चकर ।
जैसे,—तुम उसकी बातों की लपेट में पड़ गए । उ०—
आए इसक लपेट में लागी चसम चपेट ।—रसनिधि । (७)
कुश्ती का एक पेश ।

विशेष—जब दोनों लड़नेवाले एक दूसरे की बगल से सिर
निकालते हैं और कमर को दोनों हाथों से पकड़कर भीतर
अडानी टाँग से लपेटते हैं, तब उसे लपेट कहते हैं ।
(८) पकड़ । बंधन । उ०—बानर मालु लपेटनि मारत तब
हैहै पछितायो ।

लपेटन—संज्ञा स्त्री० [हि० लपेटना] (१) लपेटने की क्रिया या
भाव । लपेट । (२) फेरा । बल । (३) पेंठन । मरोड़ । (४)
उलझन । फँसाव ।

संज्ञा पुं० (१) लपेटनेवाली वस्तु । वह वस्तु जो चारों ओर
सटकर घेर ले । (२) वह वस्तु जिसे किसी वस्तु के चारों
ओर घुमा घुमाकर बाँधें । (३) वह कपड़ा जिसे किसी
वस्तु के चारो ओर घुमा घुमाकर बाँधें । बाँधने का कपड़ा ।
वेष्टन । बेंठन । (४) पैरों में उलझनेवाली वस्तु । जैसे,—
रस्सी का टुकड़ा । (पालकी के कहार) उ०—काठ कुराय
लपेटन लोटन ठाँवहि ठाँव बझाऊ रे ।—तुलसी । (५)
वह लकड़ी जिस पर जुलाहे बुनकर तैयार कपड़ा लपेटते हैं ।
दूर । बेलन ।

लपेटना—क्रि० सं० [सं० लिप्त, हि० लिपटना] (१) किसी सूत,
डोरी, या कपड़े की सी वस्तु को दूसरी वस्तु के चारो ओर
घुमाकर बाँधना । घुमाव या फेरे के साथ चारो ओर फँसाना ।
चक्कर देकर चारो ओर ले जाना । जैसे,—(क) इस लकड़ी
में तार लपेट दो । (ख) छड़ी में कपड़ा लपेटा हुआ है ।

संयो० क्रि०—देना ।—लेना ।

(२) सूत, डोरी या कपड़े की सी वस्तु चारो ओर ले जाकर
घेरना । परिवेष्टित करना । जैसे,—इस डंडे को कपड़े से
लपेट दो । (३) डोरी, सूत या कपड़े की सी फैली हुई वस्तु
को तह पर तह मोड़ते या घुमाते हुए संकुचित करना ।
फैली हुई वस्तु को लच्छे या गड्ढर के रूप में करना ।
समेटना । जैसे,—(क) कपड़े का थान लपेटकर रख दो ।
(ख) तागा लपेटकर रख दो । (४) मोड़े हुए कपड़े आदि
के अंदर करके बंद करना । कपड़े आदि के अंदर बाँधना ।
जैसे,—पुस्तक लपेटकर रख दो । (५) हाथ पैर आदि

अंगों को चारों ओर सटाकर घेरे में करना । पकड़ में कर
लेना । जैसे,—(क) उसे देखते ही उसने हाथों से लपेट
लिया । (ख) अजगर ने शेर को चारों ओर से लपेट लिया ।
(६) ऐसी स्थिति में करना कि कुछ करने न पावे । गति
विधि बंद करना । चारो ओर से चाल रोकना । जैसे,—
तुमने तो उसे चारो ओर से ऐसा लपेटा है कि वह कुछ कर
ही नहीं सकता । (७) पकड़ में लाना । क़ाबू में करना ।
प्रसना । उ०—जिमि करि-निकर दलै लुगराजू । लेइ लपेटि
लवा जिमि बाजू ।—तुलसी । (८) उलझन में डालना ।
झंझट में फँसाना । (९) गीली गाढ़ी वस्तु पोतना । लेपन
करना । जैसे,—वह बदन में कीचड़ लपेटे आ पहुँचा ।

विशेष—यद्यपि 'लिपटना' और 'लपेटना' दोनों सकर्मक
क्रियाएँ 'लिपटना' ही से बनी हैं, पर दोनों के प्रयोगों में
अंतर है । 'लिपटना' में संलग्न करने या सटाने का भाव
प्रधान है । इसी से 'छाती से लिपटना' 'बदन में रूई
लिपटना' आदि बोलते हैं । 'लपेटना' में घुमाकर या मोड़-
कर घेरने का भाव प्रधान है । इसी से 'डोरा लपेटना',
'कपड़ा लपेटना' आदि बोलते हैं ।

लपेटनी—संज्ञा स्त्री० [हि० लपेटना] जुलाहों की लपेटन नाम की
लकड़ी । लपेटना । दूर ।

लपेटवाँ—वि० [हि० लपेटना] (१) जो लपेटा हो । जिसे लपेट
सकें । (२) जो लपेटकर बना हो । (३) जिसमें सोने चाँदी
के तार लपेटे गए हों । (४) जिसका अर्थ छिपा हो । गुढ़ ।
व्यंग्य । जैसे,—लपेटवाँ गाली । (५) जो सीधे ढंग से न
कहा या किया गया हो । घुमाव फिराव का । चक्करदार ।
जैसे,—लपेटवाँ बात ।

लपेटा—संज्ञा पुं० दे० "लपेट" ।

लपेत—संज्ञा पुं० [सं०] बालरोगों के अधिष्ठाता एक देवता ।
(पारस्कर गृह्यसूत्र)

लपपड़ा—संज्ञा पुं० दे० "थप्पड़" ।

लपपा—संज्ञा पुं० [देश०] (१) छत में लगी हुई वह लकड़ी
जिसमें रेसामी कपड़े बुननेवाले जुलाहों के करवे की रस्सियाँ
बँधी रहती हैं । (२) एक प्रकार का गोटा ।

लपिसका—संज्ञा स्त्री० [सं०] लप्सी ।

लफंगा—वि० [फ्रा० लफंग] (१) लंपट । व्यभिचारी । दुश्चरित्र ।
(२) शोहदा । आचारा । कुमार्गी ।

लफटंट—संज्ञा पुं० [अंग० लेफ्टिनेंट] सेना का एक छोटा अफसर ।

लफटंट गवर्नर—संज्ञा पुं० [अंग०] किसी प्रान्त का शासक ।
छोटे सूबे का हाकिम ।

लफनाक्षी—क्रि० प्र० दे० "लपना" । उ०—चिलक चिकनई चढक
खों लफति सटक लौं आय । नारि सलोनी साँवरी नागिन
लौं ढसि जाय ।—बिहारी ।

लफलफानि-संज्ञा स्त्री० दे० “लपलपाना” या “लपलपाहट” ।
उ०—राधास्वर तीर हुम डारि गहि झलै फूले देखत सफ
लफलफानि गति मति बौरी है ।—प्रियादास ।

लफाना-संज्ञा स्त्री० दे० “लपाना” ।

लपुज-संज्ञा पुं० [लप] (१) शब्द । (२) बात । बोल ।

लब-संज्ञा पुं० [लप] ओष्ठ । ओंठ । होंठ ।

लबगुरानया-संज्ञा स्त्री० [देश०] गहरे बैंगनी रंग के रतालू की
लता जो भारतवर्ष में कई जगह बोई जाती है । इसकी जड़
खाई जाती है ।

लबकना-संज्ञा स्त्री० प्र० [देश०] उलझना । फँसना । उ०—
लबकी अंग तरंग बहु, सरिता रंग अनूप । नव पंकज अंकुर
जहाँ, धरत प्रवाल स्वरूप ।—गुमान ।

लबड़ धोधो-संज्ञा स्त्री० [हि० लबाड़ + धूम] (१) झूठ मूठ का
हल्ला । व्यर्थ का गुल गपाड़ा ।

क्रि० प्र०—करना ।—मचना ।—मचाना ।

(२) क्रम और व्यवस्था का अभाव । गड़बड़ी । अंधेर ।
बदइतज़ासी । कुयवस्था । (३) अन्याय । अनीति ।

क्रि० प्र०—मचना ।—मचाना ।

(४) बातों का झुलावा । असल बात को टालने के लिये
बकवाद और कहा सुनी । बेईमानी की चाल । जैसे,—यहाँ
तुम्हारी यह लबड़धोधों न चलेगी ।

क्रि० प्र०—करना ।

मुहा०—लबड़धोधों चलना = बेईमानी की चाल सफल होना ।

लबड़ना-संज्ञा स्त्री० प्र० [सं० लप = बकना] (१) झूठ बोलना ।
लबारी करना । (२) गप हाँकना ।

लबदा-संज्ञा पुं० [सं० लगुड़] मोटा बेडौल डंडा ।

लबदी-संज्ञा स्त्री० [हि० लवदा] छोटी छड़ी । पतली छड़ी ।
हलकी लाठी ।

लबनी-संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) मिट्टी की लंबी हाँड़ी या मटकी
जो ताड़ के पेड़ों में बाँध दी जाती है और जिसमें ताड़ी
इकट्ठी होती है । (२) काठ की लंबी हाँड़ी लगा हुआ कटोरा
जिससे कड़ाह में से शीरा निकालते हैं । डोई । डौवा ।

लबरा-वि० [सं० लपन = बोलना] [स्त्री० लवरी] (१) झूठ
बोलनेवाला । (२) गप हाँकनेवाला । गप्पी । उ०—आप
सभा में सत्य जू सोहत लालची औ लबरान को लावरा ।
—रघुराज ।

लवरी-वि० स्त्री० [हि० लवरा] झूठ बोलनेवाली । झूठी । गप्पी ।
संज्ञा स्त्री० दे० “लिवड़ी” ।

लवलवी-संज्ञा स्त्री० [फा० लव] बंदूक के गोड़े की कमानी ।

लवलहका-वि० [हि० लपना + लहकना] [स्त्री० लवलहकी]
(१) किसी वस्तु को देखते ही उसकी ओर लपकनेवाला ।

अधीर और लालची । (२) बिना प्रयोजन सब वस्तुओं
को हाथ लगानेवाला । चंचल । चपल ।

लबादा-संज्ञा पुं० [फा०] (१) रुईदार चोगा । दुगला । (२) वह
लंबा ढीला पहनावा जो अँगरेजे आदि के ऊपर से पहन
लिया जाता है और जिसका सामना प्रायः खुला होता है ।
अबा । चोगा ।

लबारी-वि० [सं० लपन = बकना] (१) झूठा । मिथ्यावादी ।
(२) गप्पी । प्रपंची । उ०—(क) आजु गप औरहि काहू
के रिस पावति कहि बड़े लवार ।—सूर । (ख) तौलैं लोल
लोलुप ललात लालची लवार बार बार लालच धरनि धन
धाम को ।—तुलसी । (ग) बालि न कबहुँ गाल अस मारा ।
मिलि तपसिन्ह तैं भएसि लवारा ।—तुलसी ।

लबारी-संज्ञा स्त्री० [हि० लवार] झूठ बोलने का काम ।

वि० (१) झूठा । (२) चुगुलखोर । उ०—यह पापी अति
चोर लबारी । ताहि दीन हम साँसति भारी ।—विश्राम ।

लवालब-क्रि० वि० [फा०] लुँह या किनारे तक । छलकता
हुआ । जैसे,—(क) यह तालाब लवालब भरा है । (ख)
प्याला लवालब भरा है ।

लवी-संज्ञा स्त्री० [हि० लिपड़ा] ईस का रस जो पकाकर खूब
गाढ़ा और दानेदार कर दिया गया हो । राब ।

लवेचू-संज्ञा पुं० [देश०] जैन वैश्यों की एक जाति । लमेचू ।

लवेद-संज्ञा पुं० [सं० वेद का अनु०] वेद के विरुद्ध वचन या प्रसंग ।
लोकाचार और दंत कथा । (बोलचाल) जैसे,—वेद में यह
सब कुछ नहीं है; तुम्हारे लवेद में हो, तो हो ।

लवेदा-संज्ञा पुं० [सं० लगुड़] [स्त्री० अरपा० लवेरी] मोटा बड़ा
डंडा ।

लवेदी-संज्ञा स्त्री० [हि० लवेदा] (१) छोटा डंडा । लाठी । (२)
डंडे का बल । ज़बरदस्ती ।

लवेरा-संज्ञा पुं० [देश०] लसोड़े का पेड़ या फल । लपेरा ।

लब्ध-वि० [सं०] (१) मिला हुआ । पाया हुआ । प्राप्त । (२)
उपाजित । कमाया हुआ । (३) भाग करने से आया
हुआ फल । (गणित)

संज्ञा पुं० इस प्रकार के दासों में से एक । (स्मृति)

लब्धकाम-वि० [सं०] जिसकी कामना सिद्ध हो गई हो ।
जिसका मनोरथ सफल हो गया हो । जिसका मतलब
हासिल हो गया हो ।

लब्धकीर्ति-वि० [सं० लब्धनामन] (१) जिसने कीर्ति पाई हो ।
जिसने यश प्राप्त किया हो । (२) विख्यात । प्रसिद्ध ।
नामवर ।

लब्धनाम-वि० [सं०] जिसने नाम पाया हो । नामवर ।
प्रसिद्ध ।

लब्धप्रतिष्ठ-वि० [सं०] जिसने प्रतिष्ठा पाई हो। प्रतिष्ठित। सम्मानित।

लब्धप्रशमन-संज्ञा पुं० [सं०] मिले हुए धन का सत्पात्र को दान। (मनु०)

लब्धलक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जिसका बार ठीक निशाने पर जा लगे। (२) जिसे अभिप्रेत वस्तु मिल गई हो।

लब्धवर्ण-वि० [सं०] विद्वान्। पंडित।

लब्धांक-संज्ञा पुं० [सं०] गणित करने पर जो अंक प्राप्त हो। जवाब।

लब्धा-संज्ञा स्त्री० [सं०] विप्रलब्धा नायिका।

लब्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्राप्ति। लाभ। (२) हिसाब का जवाब। गणित का लब्धांक।

लभधर-संज्ञा पुं० [देश०] कुदाल के मुँह पर का टेढ़ा भाग।

लभन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० लभ्य, लब्ध] प्राप्त करना। हासिल करना। पाना।

लभस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घोड़ा बाँधने की रस्सी। पिछाड़ी। (२) धन। (३) याचक। माँगनेवाला।

लभ्य-वि० [सं०] (१) पाने योग्य। जो मिल सके। (२) न्याययुक्त। उचित। सुनासिब।

लभई-संज्ञा स्त्री० [देश०] मधुमक्खी का एक भेद। जिसे कटयाल भी कहते हैं।

लभक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जार। उपपत्ति। (२) लंपट। विलासी।

लभकना-क्रि० प्र० [हि० लपकना] (१) लपकना। (२) डकठित होना। उ०—सजि ब्रजवाल नंदलाल सों मिलै के लिए, लगनि लगालगी में लभकि लभकि उठै।—पद्माकर।

लभगजा-संज्ञा पुं० [देश०] इकतारा। ठठवा।

लभगिरदा-संज्ञा पुं० [हि० लंबा + का० गिर्द] लोहे की दानेदार मोटी रेती जिसके दाने कटहल के छिलके के दानों के सदृश होते हैं। यह रेती नारियल के छिलके (खोपड़ी) को रेतने के काम में आती है।

लभगोड़ा-वि० [हि० लंबा + गोड़ा] जिसकी टाँगें लंबी हों।

लभघिचा-वि० [हि० लंबा + घींच = गर्दन] लंबी गर्दनवाला।

लभचा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की बरसाती घास जो काली चिकनी मिट्टी की ज़मीन में बहुत पाई जाती है।

लभकुड़-संज्ञा पुं० [हि० लंबा + कुड़] (१) साँग। बरछी। भाला। (२) कबूतरबाज़ों की लग्गी। (३) पुरानी चाल की लंबी बंदूक।

वि० पतला और लंबा।

लभजक-संज्ञा पुं० [सं० लामजक] कुश की तरह की एक घास जिसमें सुन्दर महक होती है। इसे “उवराकुश” भी कहते हैं और उवर में औषध के रूप में देते हैं। लामज।

लभजक-संज्ञा पुं० दे० “लमजक”।

लमतंगा-वि० [हि० लंबा + टाँग] [स्त्री० लमतंगी] जिसकी टाँगें लंबी हों।

संज्ञा पुं० सारस पक्षी।

लमढींग-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का जंगली जानवर।

लमतङंग-वि० [हि० लंबा + ताङ + अंग] [स्त्री० लमतङंगी] बहुत लंबा या ऊँचा। जैसे,—लमतङंग आदमी।

लमधी-संज्ञा पुं० [देश०] समधी का बाप। उ०—समधी के घर लमधी आयो आगे बहू कौ भाई।—कबीर।

लमाना-क्रि० प्र० [हि० लंबा + ना(प्रत्य०)] (१) लंबा करना। (२) दूर तक आगे बढ़ाना। उ०—कैधों दसकंवर की मीचु मँदराति व्योम कैधों महाकाल कोपि रसना लमाई है।—रघुराज।

क्रि० प्र० दूर निकल जाना। चलने में बहुत दूर बढ़ जाना।

लथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक पदार्थ का दूसरे में मिलना या घुसना। प्रवेश। (२) एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में इस प्रकार मिलना कि वह तद्रूप हो जाय और उसकी सत्ता पृथक् न रह जाय। विलीन होना। लीनता। मश्रता। (३) चित्त की वृत्तियों का सब ओर से हटकर एक ओर प्रवृत्त होना। ध्यान में डूबना। एकाग्रता। (४) लगन। गद्द अनुराग। प्रेम। उ०—अन ते सकल वासना भागी। केवल राम चरण लय लागी।

क्रि० प्र०—लगना।

(५) कार्य का अपने कारण में समाविष्ट होना या फिर कारण के रूप में परिणत हो जाना। (६) सृष्टि के नाना रूपों का लोप होकर अव्यक्त प्रकृति मात्र रह जाना। प्रकृति का विरूप परिणाम। जगत का नाश। प्रलय। उ०—जो संभव, पालन लथ कारिनि। निज इच्छा लीला वपु-धारिनि।—तुलसी। (७) विनाश। लोप। उ०—गो कहे उ हरि वैकुण्ठ सिधारे। रामदस उतहीं संग पधारे। तप संतोष दया अरु गयो। जान यमादि सबै लथ भयो।—सूर। (८) मिल जाना। संश्लेष। (९) संगीत में नृत्य, गीत और वाद्य की समता। नाच, गाने और बाजे का मेल।

विशेष—यह समता नाचनेवाले के हाथ, पैर, गले और मुँह से प्रकट होती है। संगीत दामोदर में हृदय, कंठ और कपाल लय के स्थान माने गए हैं। कुछ आचार्यों ने लय के द्विपदी, त्रितिका और श्रुतिका इत्यादि अनेक भेद माने हैं। (१०) स्थिरता। विध्राम। (११) मूर्च्छा। बेहोशी। (१२) वह समय जो किसी स्वर को निकालने में लगता है।

विशेष—यह तीन प्रकार का माना गया है—द्रुत, मध्य और विलंबित।

(१३) एक प्रकार का पाटा जिससे वैदिक काल में खेत जोतकर उसकी मिट्टी को सम या बराबर करते थे। इसका उल्लेख शुक्ल यजुर्वेद की आजस्वेय संहिता में है। संज्ञा स्त्री० (१) गाने का स्वर। गाने में स्वर निकालने का ढंग। जैसे,—वह बड़ी सुंदर लय से गाता है। (२) गीत गाने का ढंग या लय। धुन।

मुहा०—लय देखना = ठीक लय में गाना।

(३) संगीत में, लय।

लखन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विश्राम। शांति। (२) आश्रय। विश्रामस्थान। (३) आश्रय ग्रहण। आड़ लेना। पनाह लेना। लखन-संज्ञा स्त्री० दे० “लड़”। उ०—नंद के लाल होउ मन मोर। हौं बैठी पोवत मोलियन लर काँकर डारि चले सखि ओर।—सूर।

लखनई-संज्ञा स्त्री० दे० “लड़काई” या “लरिकाई”। उ०—जदपि हते जीवन नवल मधुर लखनई चार। पै उत चतुराई अधिक प्रगटन रस व्यवहार।—हरिश्चन्द्र।

लखनना-संज्ञा स्त्री०-क्रि० प्र० [सं० लदन = झूलना] (१) लटकना। उ०—चोटी गुही मोती अमल, तिन जानु लौं लर लरकती। मनु शरद वारिद की घटा जल बिंदु अवली डरकती।—रघुराज।

(२) झुकना। (३) खिसककर नीचे आना।

संयो० क्रि०—जाना।—पड़ना।

लखका-संज्ञा पुं० दे० “लड़का”।

लखकाना-संज्ञा स्त्री०-क्रि० प्र० [हिं० लखना] (१) लखकाना। (२) झुकाना। (३) नीचे खिसकाना।

लखकिनी-संज्ञा स्त्री० दे० “लड़की”। उ०—बधू लखकिनी पर घर आई। राखेहु नयन पलक की नाई।—तुलसी।

लखखरना-संज्ञा स्त्री०-क्रि० प्र० दे० “लखखरना” या “लड़खड़ाना”। उ०—दिगयंद लखखरत परत दसकंठ झुकल भर।—तुलसी।

लखखरनि-संज्ञा स्त्री० [हिं० लखखरना] (१) लड़खड़ाने की क्रिया या भाव। डगमगाहट। (२) चलने या खड़े होने में पैर न जमने का भाव। उ०—(क) हरिजू को बाल छवि कहाँ बरनि। सकल सुख की सौंव कोटि मनोज सोभा हरनि।...पुण्य कल अनुभवति सुतहिं बिलोकि कै नँद-घरनि।

सूर प्रभु की वसी उर किलकनि ललित लखखरनि।—सूर।

लखखराना-क्रि० प्र० दे० “लड़खड़ाना”।

लखजना-क्रि० प्र० [फा० लखा = कंप] (१) काँपना। हिलना।

उ०—(क) पात बिनु कीन्हें ऐसी भाँति गन बेलिन के, परत न चीन्हें जे ये लखजत लुंज हैं।—पद्माकर। (ख) चंचला चमकै चहुँ ओरन ते चाह भरी, चरज गई ती फेर चरजन लागी री। कहै पद्माकर लवंगन की लोनी लता, लख गई ती फेर लखजन लागी री।—पद्माकर।

संयो० क्रि०—उठना।—जाना।

४०२

(२) भयभीत होना। दहल जाना। डरना। उ०—(क) शरण राखि ले हो नंदताता। घटा आई गरजि युवति गई मन लरजि, बीजु चमकति तरजि, डरत गाता।—सूर। (ख) लाजन हौं लरजाँ गहिरी बरजाँ गहिरी कहिरी किहि दाहल।—देव।

क्रि० प्र०—उठना।—जाना।—पड़ना।

लखजा-संज्ञा पुं० [फा०] (१) कंप। काँपकँपी। धरधराहट। (२) भूकंप। भूचाल। (३) एक प्रकार का उवर जिसमें टोपी का शरीर उवर आते ही काँपने लगता है। जूड़ी।

लखर-संज्ञा स्त्री०-वि० [हिं० लड़ + भड़ना] बरसता हुआ। बहुत अधिक परिमाण में प्राप्त। प्रचुर। उ०—लोचन लेति लगाइ ललकि कै लाल सलोनी। लखर ललित लुनाई ऐसी भई न होनी।—व्यास।

लखना-क्रि० प्र० दे० “लड़ना”।

लखनि-संज्ञा स्त्री० [हिं० लड़ना] (१) युद्ध। लड़ाई। (२) युद्ध करने का ढंग। लड़ने का ढब। उ०—(क) मेरे जिय इहई सोच पय्यो। मन के ढंग सुनो री सजनी जैसे मोहि निदय्यो। आपुनि गयो गंस सँग लीन्हें प्रथमहि इहै कय्यो। मो सों बैर प्रीति करि हरि सों देसी लखनि लय्यो। ज्यों त्यों नैन रहे लपटाने तिनहुँ भेद भय्यो। सुनहु सूर अपनाइ इनहुँ को अबलों रख्यो लय्यो।—सूर। (ख) लामी लूम लसत लपेटि पटकत भट, देखो देखो लखन लखनि हनुमान की।—तुलसी।

लखनई-संज्ञा स्त्री० दे० “लड़वाई”। उ०—(क) जहँ तहँ परे अनेक लखनई। जीते सकल भूप बरिआई।—तुलसी। (ख) खंजन नैन बीच नासा पुट राजत यह अनुहार। खंजन युग मानो लरत लखनई कीर सुझावत शर।—सूर।

लखका-वि० दे० “लड़का”।

लखकई-संज्ञा स्त्री० [हिं० लखिका] (१) लड़कपन। बाल्या-वस्था। उ०—निरखि नवोदा नारि तस छुटत लखकई लेस। ओ प्यारो प्रीतम तियन मानहुँ चलत बिदेस।—बिहारी। (२) लड़कपन की चाल। लड़कों का व्यवहार।

क्रि० प्र०—करना।

(३) चपलता। चंचलता। उ०—लाल भलौकिक लखकई लखि लखि सखी सिहाति। आज कालिह में देखियत उर उकसौहीं भाँति।—बिहारी।

लखि-सलोरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० लखिका + लोल = चंचल] लड़कों का खेल। खेलवाड़।

लखिका-संज्ञा पुं० [स्त्री० लखिकनी] दे० “लड़का”। उ०—(क) देखि कुठार-वान-धनु-धारी। भइ लखिकहि रिस बीरु बिचारी।—तुलसी। (ख) खेलन को मैं जाउँ नहीं। और लखिकनी घर घर खेलति मोही को पै कहत तु ही।—सूर।

लरिकाई—संज्ञा स्त्री० [हि० लड़का + आई (प्रत्य०)] (१)

लड़कपन। बालपन। बाल्यावस्था। उ०—(क) लरिकाई को नेह कहौ सखि कैसे छूटे?—सूर। (ख) तात कहहुँ कछु करहुँ छिटाई। अनुचित छमउ जानि लरिकाई। तुलसी। (ग) भाजि गई लरिकाई मनौ लरिके करि कै दुहुँ दुहुँभि औंधे।—पद्माकर। (२) लड़कों का व्यवहार या आचरण। (३) चपलता। चंचलता।

लरीछ—संज्ञा स्त्री० दे० “लड़ी”। उ०—(क) सुनो अनुज एहि बन इतननि मिलि जानकी प्रिया हरी। कछु इक अंगनि सहिदानी मेरी दृष्टि परी। कटि केहरि कोकिल वाणी अह शशि मुख प्रभा खरी। मृग मूसी नेननि की सोभा जात न गुस करी। चंपक बरन चरन करि कमलनि दाड़िम दशन लरी। गति मराल अह बिब अधर छवि अहि अनूप कवरी। अति करना रघुनाथ गुसाई युग भर जात घरी। सूरदास प्रभु प्रिया प्रेमबस निज महिमा बिसरी।—सूर। (ख) कबिरा मोतिन की लरी हीरन को परगास। चाँद सुरु की गम नहीं तहँ दरसन पावै दास।—कबीर।

लरज—संज्ञा पुं० [हि० लरजना] सितार के एक तार का नाम। यह छः तारों में पाँचवाँ और पीतल का होता है।

ललनिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नाभि तक लटकती हुई माला या हार। (२) गोह।

ललक—संज्ञा स्त्री० [सं० ललन = लालसा करना] प्रबल अभिलाषा। गहरी चाह। उ०—महरानी कौशल्यादिक पुत्र लिखतीं बारहि बारा। तुलहिन दूल्ह देखब केहि दिन लागी ललक अपारा।—रघुराज।

ललकना—क्रि० प्र० [हि० ललक + ना (प्रत्य०)] (१) किसी वस्तु को पाने की गहरी इच्छा करना। लालसा करना। ललचना। उ०—(क) ललकत स्याम, मन ललचात।—सूर। (ख) ललकत लखि उषों कंगाल पातरी सुनाज की।—तुलसी। (२) अभिलाषा से पूर्ण होना। चाह की उमंग से भरना। उ०—बलकि बलकि बोलत बचन, ललकि ललकि लपटाति।—बिहारी।

ललकार—संज्ञा स्त्री० [हि० लड़ना या ले ले अनु० + कार] (१) युद्ध के लिये उच्च स्वर से आह्वान। लड़ने के लिये तैयार होकर शत्रु या विपक्षी से पुकारकर कहना कि यदि हिम्मत हो, तो आकर लड़। प्रचारण। हाँक। जैसे,—ललकार सुनकर वह सामने आया। (२) किसी को किसी पर आक्रमण करने के लिये पुकारकर उत्साहित करना। लड़ने का बढ़ावा।

ललकारना—क्रि० सं० [हि० ललकार] (१) युद्ध के लिये उच्च स्वर से आह्वान करना। लड़ने के लिये तैयार होकर विपक्षी से पुकारकर कहना कि हिम्मत हो, तो आ लड़। प्रचारण। हाँक लगाना। जैसे,—युद्ध के लिये सुग्रीव ने बालि को

ललकारा। (२) किसी पर आक्रमण करने के लिये किसी को पुकारकर उत्साहित करना। लड़ने के लिये उकसाना या बढ़ावा देना। जैसे,—तुम्हारे ललकारने से ही उसकी हिम्मत बढ़ी।

ललचना—क्रि० प्र० [हि० लालच + ना (प्रत्य०)] (१) लालच करना। पाने की प्रबल इच्छा करना। प्राप्त करने की अभिलाषा से अधीर होना। (२) मोहित होना। लुब्ध होना। उ०—मनि मंदिर सुंदर सन साजू। जाहि लखत ललचत सुरराजू।—रघुराज। (३) किसी बात की प्रबल इच्छा करना। अभिलाषा से अधीर होना। लालसा करना। उ०—तौ मुख चंद निरीछन को ललचै चख चाह चकोर लला के।—दीनदयाल।

मुहा०—जी ललचना = मन में पाने की प्रबल इच्छा उत्पन्न होना।

ललचाना—क्रि० सं० [हि० ललचना] (१) किसी के मन में लालच उत्पन्न करना। प्राप्त की अभिलाषा से अधीर करना। लालसा उत्पन्न करना। (२) मोहित करना। लुभाना। उ०—चूनरि चारु चुई सी परै चटकीली हरी अंगिया ललचावै।—पद्माकर। (३) कोई अच्छी या लुभानेवाली वस्तु सामने रखकर किसी के मन में लालच उत्पन्न करना। कोई वस्तु दिखा दिखाकर उसके पाने के लिये अधीर करना। जैसे,—उसे दूर से दिखाकर ललचाना, देना कभी मत।

मुहा०—जी या मन ललचाना = मन मोहित करना। लुभाना। उ०—गली में आय, तान मोहिनी सुनाय, मेरो मन ललचाय भय्यो कानन में रस है।

लल क्रि० प्र० दे० “ललचना”। उ०—(क) भौहन चढ़ाय छिनु रहै लखि ललचाय, मुरि मुखकाय छिन सखी सों लपटि जाय।—रघुनाथ। (ख) सौँत समै दीप को बिलोकि ललचाय सोऊ लैवे को चहत दोऊ कर को उठावै री।—दीनदयाल।

ललचौहाँ—वि० [हि० लालच + औहाँ (प्रत्य०)] [स्त्री० ललचौहीं] लालच से भरा। ललचाया हुआ। जिससे प्रबल लालसा प्रकट हो। उ०—(क) खरी खरी मुसुकाति है, लखि ललचौ हैं लाल। (ख) चितई ललचौ हैं चखनि डटि धूँयट पट माहि।—बिहारी।

ललजिह्व—वि० [सं०] (१) जीभ लपलपाता हुआ। (२) भयंकर। खूँखार।

संज्ञा पुं० (१) कुत्ता। (२) ऊँट।

ललदेया—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का धान जिसकी फसल अगहन में तैयार होती है।

ललन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्यारा बालक। दुलारा लड़का। (२) लड़का। बालक। कुमार। (३) नायक के लिये प्यार का शब्द। प्रिय नायक या पति। उ०—(क) ललन चलन की चित घरी, कल न पलन की ओट।—बिहारी। (ख)

मानहुँ मुख दिखरावनी तुलिहिनि करि अजुराग । सासु
सदन, मन ललनहु, लौतिन दियो सुहाग ।—विहारी ।
(४) केलि । कीड़ा । (५) साल । साख का पेड़ । (६)
पियार या चिरौंजी का पेड़ । प्रियाल ।

ललना—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्त्री । कामिनी । (२) जिह्वा ।
जीभ । (३) एक वर्ण वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में भगण,
मगण और दो सगण होते हैं । उ०—हारत ही सोए सुधरे
पलना । चारिउ मैया, री सुधरी ललना ।

ललनाप्रिय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ह्रीवेर । (२) कर्दब ।

ललनिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] ललना । स्त्री ।

लला—संज्ञा पुं० [सं० ललना । हि० 'लाल' का रूप] [स्त्री० लली]
(१) प्यारा या दुलारा लड़का । (२) लड़का । कुमार ।
(३) लड़के या कुमार के लिये प्यार का शब्द । (४) नायक
या पति के लिये प्यार का शब्द । प्रिय नायक या पति ।
उ०—लला ! फिर आइयो खेलन होरी ।—पद्माकर ।

ललाई—संज्ञा स्त्री० [हि० लाल + लाई (प्रत्य०)] लालिमा । सुर्खी ।
लाली । उ०—रंगीले नैन में औरो ललाई दौरि आई है ।—
प्रताप ।

ललाक—संज्ञा पुं० [सं०] शिबन । लिङ्गेंद्रिय ।

ललाट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भाल । मस्तक । माथा । उ०—
नीको लसत ललाट पर टीको जटित जराय । छबिहिं बदावत
रवि मनो ससि मंडल में आय ।—विहारी ।

मुदा—ललाट में लिखा होना = भाग्य में होना । किस्मत में
होना ।

(२) भाग्य का लेख । किस्मत का लिखा । जैसे,—जो ललाट
में होगा, वही होगा ।

ललाट-पटल—संज्ञा पुं० [सं०] मस्तक का तल । माथे की
सतह । उ०—भृकुटि मनोज-चाप-छविहारी । तिलक
ललाट-पटल दुतिकारी ।—तुलसी ।

ललाट-फलक—संज्ञा पुं० [सं०] ललाट-पटल ।

ललाट-रेखा—संज्ञा स्त्री० [सं०] कपाल का लेख । मस्तक पर
ब्रह्मा का किया हुआ चिह्न जिसके अनुसार संसार में प्राणी
का सुख या दुःख पाना माना जाता है । भाग्यलेख ।

ललाटाक्ष—संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

ललाटाक्षी—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा ।

ललाटिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) माथे पर बाँधने का एक
गहना । टीका । (२) माथे पर का टीका । तिलक ।

ललाना—क्रि० प्र० [सं० ललन = लालच करना] किसी वस्तु को
पाने की इच्छा से अधीर होना । लोभ करना । ललचना ।
लालायित होना । जैसे,—तुम सब कुछ खाते हो, फिर
भी ललते रहते हो । उ०—(क) नीच निरादर-भाजत
कादर ककर दूकन हेतु ललाई ।—तुलसी । (ख) कस गात

ललात जो रोटिन को घरवात बरै खुरपा खरिया ।—
तुलसी ।

विशेष—“किसी वस्तु को ललाना” ऐसे प्रयोगों में “को”
कर्म का चिह्न नहीं है; “के लिये” के अर्थ में संप्रदान का
चिह्न है ।

ललाम—वि० [सं०] (१) रमणीय । सुंदर । बढ़िया । (२)
लाल रंग का । सुर्ख । उ०—स्याम पै ललाम औ ललामन
पै स्याम ऐसी सोभा सुभ सुभित है नाना रंग गुल की ।
—गोपाल । (३) श्रेष्ठ । बड़ा । प्रधान ।

संज्ञा पुं० (१) भूषण । अलंकार । गहना । (२) रत्न ।
उ०—(क) रामनाम ललित ललाम कियो लाखन को,
वेड़ा कूर कायर कपूत कौड़ी बाध को ।—तुलसी । (ख)
चपरि चढ़ायो चाप चन्द्रमा ललाम को ।—तुलसी ।

यौ०—चंद्रमा ललाम = शिव, जिनका भूषण चंद्रमा है ।

(३) चिह्न । निशान । (४) दंड और पताका । ध्वज । (५)
सींग । शृंग । (६) घोड़ा । (७) घोड़े या गाय के माथे
पर का चिह्न । अर्थात् दूसरे रंग का चिह्न । (८) घोड़े का
गहना । (९) प्रभाव । (१०) घोड़े या सिंह की गर्दन पर
का बाल । अयाल ।

ललामक—संज्ञा पुं० [सं०] माथे में लपेटने की माला ।

ललामी—संज्ञा स्त्री० [सं०] कान में पहनने का एक गहना ।

संज्ञा स्त्री० [सं० ललाम + ई (प्रत्य०)] (१) सुंदरता । (२)
लालिमा । लाली । सुर्खी ।

ललित—वि० [सं०] (१) सुंदर । मनोहर । (२) ईप्सित ।
मनचाहा । प्यारा । (३) हिलता डोलता हुआ । चलता
हुआ ।

संज्ञा पुं० (१) शृंगार रस में एक कायिक हाव या अंगचेष्टा
जिसमें सुकुमारता (नज़ाकत) के साथ भौं, आँख, हाथ,
पैर आदि अंग हिलाए जाते हैं । कहीं कहीं भूषण आदि
से सजाने को ललित हाव कहा है । (२) एक विषम वर्ण
वृत्त जिसके पहले चरण में सगण, जगण, सगण, लघु;
दूसरे चरण में नगण, सगण, जगण, गुरु; तीसरे में नगण,
नगण, सगण, सगण; और चौथे में सगण, जगण, सगण,
जगण होता है । उ०—सब त्यागिये असत काम । शरण गहिये
सदा हरी । भव-जनित सकल दुःख टरी । भजिए अहोनिशि
हरी, हरी, हरी । (३) कुछ आचार्यों के मत से एक अलंकार
जिसमें वर्ण्य वस्तु (वात) के स्थान पर उसका प्रतिबिंब
वर्णन किया जाता है । जैसे,—कहना तो यह था कि “राम
को गद्दी मिलनी चाहिए थी, पर बनवास मिला ।” पर गो०
तुलसीदास जी इस प्रकार कहते हैं—(क) लिखत सुधाकर
लिखिगा राहू । इसी प्रकार “जिसे ब्रह्मा अच्छा बनाना
चाहते थे, उसे बुरा बना दिया” इसके स्थान पर यह

कहना—(ख) बिरचत हंस काक किय जेही । (४) पाडव जाति का एक राग जो भैरव राग का पुत्र माना जाता है और जिसमें निषाद स्वर नहीं लगता; तथा चैवत और गांधार के अतिरिक्त और सब स्वर कोमल लगते हैं । इसके गाने का समय रात्रि के तीस वंड़ बीत जाने पर अर्थात् प्रातःकाल है ।

ललितईश्वर-संज्ञा स्त्री० दे० “ललितार्थ” । उ०—लाल ललाई ललितई कलित नई दरसाय । दरसो सारस रस भरे डग आदरस मँगाय ।—रामकहाय ।

ललितक-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल के एक तीर्थ का नाम ।

ललितकांठा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा ।

ललितपद-वि० [सं०] जिसमें सुंदर पद या शब्द हों ।

संज्ञा पुं० एक मात्रिक छंद जिसके प्रत्येक चरण में १६ और १२ के हिसाब से २० मात्राएँ होती हैं । अंत में दो गुरु रखे जाते हैं । इसे सार, नरेन्द्र और दौबे भी कहते हैं ।

उ०—प्रात समय उठि जनक नंदिनी त्रिभुवननाथ जगावै ।

ललितपुराण-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों का “ललित-विस्तर” नामक ग्रन्थ जिसमें बुद्ध का चरित्र वर्णित है ।

ललितव्यूह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बौद्ध शास्त्र के अनुसार एक समाधि । (२) एक बोधिसत्व का नाम ।

ललिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक वर्ण वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में तगण, भगण, जगण और रगण होते हैं । उ०—तैं भाजि री अलि ! छिपी फिरै कहौं । तूही बता थल हरी नहीं जहाँ । (२) पद्मपुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण आदि के अनुसार राधिका की प्रधान आठ सखियों में से एक । (३) एक रागिनी जो संगीत दामोदर और हनुमत के मत से मेघ राग की और सोमेधर के मत से वसंत राग की पत्नी है । इसका स्वरग्राम इस प्रकार है—स ग म ध नि स अथवा स रे ग म प ध नि स (प्रथम) ध नि स ग म ध (द्वितीय) । (४) कस्तूरी । (५) पुराणोक्त एक नदी ।

विशेष—कालिका पुराण में लिखा है कि जब निमि राजा के श्राप से वशिष्ठ देह-हीन हो गए, तब उन्होंने कामरूप देश में संध्याचल पर्वत पर घोर तप किया, जिससे प्रसन्न होकर विष्णु ने उन्हें वर दिया । वर के प्रभाव से वशिष्ठ ने एक अमृतकुंड बनाया । उसी अमृतकुंड के पूर्व ललिता नाम की एक मनोहर नदी है, जिसे शिव जी ले आए थे । वैशाख शुक्ल ३ को इसमें नहाने का बड़ा फल है ।

ललितार्थ-संज्ञा स्त्री० [हि० ललित + आर्थ (प्रत्य०)] सुंदरता । सौंदर्य । उ०—(क) दक्षभाग अनुराग सहित ईंदिरा अधिक ललितार्थ ।—तुलसी । (ख) सुकवि लली के यों ललितार्थ लहलहात तन ।

ललिता पंचमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] आश्विन महीने की शुक्ला पंचमी जिसमें ललिता देवी (पार्वती) की पूजा होती है ।

ललिता-षष्ठी-संज्ञा स्त्री० [सं०] भाद्र कृष्ण षष्ठी । भादों बड़ी छठ, जिस तिथि को खियाँ पुत्र की कामना से या पुत्र के हितार्थ ललिता देवी (पार्वती) का पूजन करती हैं और व्रत रहती हैं । पूजन कुश और पलाश की दहनी पर सिंदूर आदि चढ़ाकर होता है ।

ललिता सप्तमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] भादों सुदी सप्तमी । भाद्र शुक्ल सप्तमी ।

ललितोपमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अर्थालंकार जिसमें उपमेय और उपमान की समता जताने के लिये सम, समान, तुल्य, लौं, इव आदि के वाचक पद न रखकर ऐसे पद लाए जाते हैं, जिनसे बराबरी, मुकाबला, मित्रता, निरादर, ईर्ष्या इत्यादि भाव प्रकट होते हैं । उ०—साहि तनै सरजा सिवा की सभा जामधि है मेरुवारी सुर की सभा को निदरति है । ऐसो ऊँचो दुरग महाबली को जामें नखतावली सों बहस दीपावली करति है ।—भूषण ।

ललितार्थ-संज्ञा पुं० [हि० लाल + र्था (प्रत्य०)] लाल रंग का बैल ।

लली-संज्ञा स्त्री० [हि० लला] (१) लड़की के लिये प्यार का शब्द । (२) दुलारी लड़की । लाडली लड़की । जैसे,—बृषभानुलली, जनकलली । (३) नायिका के लिये प्यार का शब्द । प्रेयसी । प्रेमिका ।

ललीतिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन तीर्थ । (महाभारत)

ललौहाँ-वि० [हि० लाल + लौहाँ (प्रत्य०)] [स्त्री० ललौहाँ] सुर्खी मायल । ललाई लिए हुए । उ०—लाल लिलार लला को लखे गये लोचन हूँ ललना के ललौहें ।

लल्ला-संज्ञा पुं० [हि० लाल, लला] [स्त्री० लल्ली] (१) लड़के या बेटे के लिये प्यार का शब्द । (२) दुलारा लड़का । लाडला लड़का ।

लल्लो-संज्ञा स्त्री० [सं० ललना] जीभ । जिह्वा । ज़बान ।

लल्लो चप्पो-संज्ञा स्त्री० [सं० लल = जीभ इधर उधर डोलना + चप्पो = चिकनी लुपड़ी बात जो केवल किसी को प्रसन्न करने के लिये कही जाय । ठकुरसुहाती ।

क्रि० प्र०—करना ।

लल्लो पत्तो-संज्ञा स्त्री० दे० “लल्लो चप्पो” । उ०—(क) तुमको हमारे ऊपर कुछ शक है, तो इसमें लल्लो पत्तो काहे की है ?—बालकृष्ण भट्ट । (ख) लल्लो पत्तो और ज़ाहिरदारी इसे आती ही न थी ।—बालकृष्ण भट्ट ।

ललहरा-संज्ञा पुं० [देश०] एक पौधा या घास जिसका साग खाया जाता है ।

ललंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मलका द्वीप, जंजिबार तथा दक्षिण

भारत में होनेवाला एक पेड़ जिसकी सूखी कलियाँ मसाले और दवा के काम में आती हैं।

विशेष—दे० “लौंग”।

(२) उक्त वृक्ष की सूखी कली।

लवंगलता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लौंग का पेड़ या उसकी शाखा।

विशेष—यद्यपि “लौंग” के बड़े बड़े पेड़ होते हैं जो बीस बरस तक बढ़े रहते हैं, पर भारतीय कवि संप्रदाय में “चूतलता” आदि के समान “लवंगलता” शब्द का भी व्यवहार होता है। ऐसे स्थलों में लता का अर्थ शाखा या टहनरी ही लेना चाहिए।

(२) राधिका की एक लखी का नाम।

लवंगादि चूर्ण—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रसिद्ध चूर्ण जो संग्रहणी, अतिसार आदि में दिया जाता है।

विशेष—लौंग, मोथा, मोचरस, जीरा, धाय के फूल, लोध, इंद्रजौ, सुगंधबाला, जवाखार, सेंधा नमक और रसांजन बराबर लेकर पीस डाला जाता है। इसकी मात्रा दस रत्ती से बीस रत्ती तक है।

लव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत थोड़ी मात्रा। बहुत छोटी मिकदार। अत्यन्त अल्प परिमाण।

मुहा०—लव भर = थोड़ा सा। नाम मात्र को। जैसे,—उसे लव भर भी डर नहीं है।

(२) काल का एक मान। दो काष्ठा अर्थात् छत्तीस निमेष का अल्प समय। (कुछ लोग एक निमेष के साठवें भाग को लव मानते हैं) उ०—लव निमेष परिमाण जुग वर्ष कल्प-सप्त चंड।—तुलसी। (३) लवा नाम की चिड़िया। (४) जातीफल। (५) लवंग। (६) लामजक। उवरांऊना नाम का लृण। (७) काठना। छेदना। कड़ाई। (८) विनाश। (९) ऊन, बाल या पर जो पशु पक्षियों के शरीर से कतर कर निकाले जाते हैं। (१०) सुरागाय की पूँछ के बाल, जो चँवर बनाने के लिये कतरे जाते हैं। (११) श्री रामचन्द्र के दो यमज पुत्रों में से एक।

विशेष—जब लोकापवाद के कारण राम ने सीता जी को गर्भावस्था में वन में भेजवा दिया था, तब वहीं बाह्यमीकि के आश्रम में लव और कुश इन दो जोड़ुएँ पुत्रों की उत्पत्ति हुई थी। ऋषि ने इन्हें रामायण का गान सिखा दिया था। जब इन्होंने रामचन्द्र की सभा में जाकर वह गान सुनाया, तब राम ने उन्हें पहचाना।

लवण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नमक। लोण।

विशेष—दे० “नमक”।

(२) एक असुर जिसे शत्रुघ्न ने मारा था। वि० दे० “लवणा-सुर”। (३) पुराणोक्त सात समुद्रों में से एक। खारे पानी का समुद्र। वि० दे० “लवणसमुद्र”।

वि०—[सं०] (१) नमकीन। खारा। (२) लवण-युक्त। लोना। सुंदर।

लवणतृण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अमलोनी घास जिसका साग खाते हैं। लोनी। लोनिया। (२) कुलफा नामक साग।

लवणत्रय—संज्ञा पुं० [सं०] तीन प्रकार के नमकों का समूह, सैन्धव, विट और सचल। (वैद्यक)

लवणधेनु—संज्ञा स्त्री० [सं०] गाय के रूप में कल्पित नमक का देर जिसके दान का वराहपुराण में बड़ा माहात्म्य लिखा है।

विशेष—गोबर से लिपे स्थान में कुश के आसन पर शीखड़ प्रस्थ नमक का एक ढोंका रखते और उसे गाय के रूप में कल्पित करे। चार प्रस्थ और नमक पास में रखकर उसे उस गाय का बछड़ा माने। फिर चार गन्ने रखकर चार पैर, सोना रखकर मुँह और सींग, चाँदी रखकर खुर, फल रखकर दाँत, चीनी रखकर जीभ, गंधदूध रखकर नाक, सबखन रखकर स्तन, तागा रखकर पूँछ, ताँबे के पत्तर रखकर, कुश रखकर रोएँ और काँसा रखकर दोहनी कल्पित करे। फिर यथा विधि पूजन करके सब चीजें दान कर दे।

लवणभास्कर—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक का एक प्रसिद्ध चूर्ण जिसमें तीनों नमक और अन्य कई ओषधियाँ पड़ती हैं और जो पेट की अपच आदि बीमारियों में दिया जाता है।

लवणभेद—संज्ञा पुं० [सं०] खारी नमक।

लवणभेद—संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार प्रमेह रोग का एक भेद जिसमें पेशाब के साथ लवण के समान खाव होता है।

लवणयंत्र—संज्ञा पुं० [सं०] दो मुहँडेदार बरतनों के मुँह जोड़ कर बनाया हुआ एक यंत्र जिसमें कुछ ओषधियों का पाक होता है। इनमें से एक बरतन में नमक भर दिया जाता है।

लवणवर्ष—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार कुश द्वीप के अंतर्गत एक वर्ष या खंड।

लवण व्यापत्—संज्ञा स्त्री० [सं०] वोड़ों की एक प्रकार की गहरी पीड़ा जो अधिक नमक खाने से होती है।

लवण समुद्र—संज्ञा पुं० [सं०] खारे पानी का समुद्र।

विशेष—यह पुराणोक्त सात समुद्रों में से एक है। और पुराणों में तो सात समुद्रों की उत्पत्ति सगर के पुत्रों के खोदने से या त्रियंबक राजा के रथ के चलने से बताई गई है; पर ब्रह्मवैवर्त में लिखा है कि श्रीकृष्ण की एक पत्नी विरजा के गर्भ से सात पुत्र हुए, जो सात समुद्र हुए। इनमें से एक पुत्र के राने के कारण थोड़ी देर के लिये कृष्ण का वियोग हो गया। इस पर विरजा ने उसे शाप दिया कि “तू लवण समुद्र होगा और तेरा जल कोई न पीएगा।” यह कथा बहुत पीछे की पल्पित जान पड़ती है।

लवणांतक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लवणासुर को मारनेवाले शत्रुघ्न। (२) नीबू।

लवणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दीप्ति। आभा। (२) महाज्योतिष्मती लता। (३) चुक। (४) चैनेरी। (५) अमलोनी शाक। (६) एक नदी का नाम। लसी।

लवणाचल-संज्ञा पुं० [सं०] पहाड़ के रूप में कल्पित नमक का ढेर जिसके दान का मत्स्य पुराण में बड़ा माहात्म्य लिखा है।

लवणासुर-संज्ञा पुं० [सं०] लवणासुर की बसाई हुई मधुपुरी जो पीछे मथुरा के नाम से प्रसिद्ध हुई।

लवणासुर-संज्ञा पुं० [सं०] मधु नामक असुर का पुत्र जो मथुरा में रहता था और जिसे रामचंद्र की आज्ञा से शत्रुघ्न ने मारा था।

विशेष—रामायण में इसकी कथा इस प्रकार है। सत्ययुग में दैत्य कुल में लोला के गर्भ से “मधु” नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने घोर तप द्वारा शिव को प्रसन्न करके उनसे एक शूल प्राप्त किया। फिर दूसरी बार तप करके उसने शिव से यह वर माँगा कि वह शूल मेरे कुल में सदा बना रहे। शिव ने ऐसा वर न देकर यह वर दिया कि शूल तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र को मिलेगा। विश्वावसु की कन्या अनला के गर्भ से कुंभीनसी नाम की एक कन्या थी। मधु ने उसके साथ विवाह किया; और उसी के गर्भ से लवणासुर उत्पन्न हुआ। शूल पाकर वह अबध्य हो गया और अनेक प्रकार के अत्याचार करने लगा। जब रामचंद्र जी राजा हुए, तब ऋषियों ने जाकर उनकी दुहाई दी। राम की आज्ञा से शत्रुघ्न उसे मारने गए; और जिस समय उसके हाथ में शूल नहीं था, उस समय उसे मारा।

लवणोत्तम-संज्ञा पुं० [सं०] संधा नमक, जो सब नमकों से अच्छा माना जाता है।

लवणोत्था-संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्योतिष्मती लता।

लवणोदक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नमक मिला हुआ पानी। (२) क्षार समुद्र।

लवणोदधि-संज्ञा पुं० [सं०] लवण समुद्र।

लवन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० लवनीय, लव्य] (१) काटना। छेदना। (२) खेत की कटाई। लुनाई। (३) खेत काटने की मजदूरी में दिया हुआ अन्न। लौनी। उ०—तुलसिदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल न जाति कही री। रूपरासि बिरची बिरचि मनो सिला लवनि रति काम लही री।—तुलसी।

लवना-क्रि० सं० [हि० लुनना] पके हुए अन्न के पौधों को खेतों से काटकर एकत्र करना। लुनना। उ०—तुलसी यह तन खेत है, मन बच करम किसान। पाप पुन्य द्वै बीज हैं बोवै सो लवै निदान।—तुलसी।

वि० दे० “लोना”।

लवनाई संज्ञा स्त्री० [सं० लवण्य] लवण्य। सुंदरता।

लवनि, लवनी-संज्ञा स्त्री० [सं० लवन] (१) खेत में अनाज की पकी फसल की कटाई। लुनाई। (२) वह अन्न जो खेत काटनेवालों को मजदूरी में दिया जाता है। उ०—तुलसिदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल न जाति कही री। रूपरासि बिरची बिरचि मनो सिला लवनि रति काम लही री।—तुलसी।

लवनो-संज्ञा स्त्री० [सं०] शरीर का पेड़ या फल।

लवर †-संज्ञा स्त्री० [हि० लपट] अग्नि की लपट। उवाला। उ०—नारी गारी देत रावनहि जरत लवर की झग।—देवस्वामी।

लवलासी संज्ञा स्त्री० [हि० लव = प्रेम + लासी = लसी, लगाव] प्रेम की लगावट।

लवली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हरफारेवरी नाम का पेड़ और उसका फल जो खाया जाता है। (२) एक विषम वर्ण वृत्त जिसके प्रथम चरण में १६, दूसरे चरण में १२, तीसरे चरण में ८ और चौथे चरण में २० वर्ण होते हैं। उ०—दनुज कुल अरि जग हित धरम भर्ता। साँची अहहिं प्रभु जगत भर्ता। रामा असुर सुहर्ता। सरवस तज मन भज नित प्रभु भवदुखहर्ता।

लवलीन-वि० [हि० लय + लीन] तन्मय। तल्लीन। मग्न। उ०—(क) अथ मधुर मुसुकान मनोहर कोटि मदन मनहीन। सूरदास जहाँ दृष्टि परत है होत तहीं लवलीन।—सूर। (ख) जय जय धुनि सुनि करत अमर गन नर नारी लवलीन।—सूर। (ग) अह जे विषयन के आधीना। तिनके उद्यम में लवलीना।—विश्राम।

लवलेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अत्यंत अल्प मात्रा। बहुत थोड़ी मिकदार। (२) ज़रा सा लगाव। अल्प संसर्ग। जैसे,—इस दूध में पानी का लवलेश नहीं है। उ०—(क) जाकी कृपा लवलेश तें मतिमंद तुलसीदास हू।—तुलसी। (ख) जाके बल लवलेश ते जितेहु चराचर क्षारि।—तुलसी।

लवहर †-संज्ञा पुं० [देश०] एक साथ उत्पन्न दो बालक। यमज। जोड़वाँ।

लवा †-संज्ञा पुं० [सं० लाजा] अनाज का दाना जो भूनने से फूल गया हो। भुने हुए धान या ज्वार की खील। लावा। उ०—मिलि माधवी आदिक फूल के व्याज विनोद लवा बरसायो करें।—द्विजदेव।

संज्ञा पुं० [सं० लव] तीतर की जाति का एक पक्षी जो तीतर से बहुत छोटा होता है। उ०—बाज झपट जु लवा लुकाने।—तुलसी।

विशेष—यह तीतर की तरह ज़मीन पर अधिक रहता है। पंजे बहुत लंबे होते हैं। नर और मादा में देखने में कोई भेद नहीं होता। जाड़ा भूरे रंग के अंडे देती है। जाड़े के

दिनों में इस चिड़िया के झुंड के झुंड झाड़ियों और ज़मीन पर दिखाई पड़ते हैं। यह दाने और कीड़े खाता है।

लवाई-वि० [देश०] हाल की व्याई हुई गाय। वह गाय जिसका बच्चा अभी बहुत ही छोटा हो। उ०—(क) पुनि पुनि मिलति सखिन बिलगाई। बालबच्छ जनु धेनु लवाई!—तुलसी। (ख) कौसल्यादि मातु सब धाईं। निरखि बच्छ जनु धेनु लवाई।—तुलसी।

संज्ञा स्त्री० [हि० लवना + आई (प्रत्य०)] (१) खेत की फ़सल की कटाई। लुनाई। (२) फ़सल-कटाई की मज़दूरी।

लवाज़मा-संज्ञा पुं० [अ० लवाजिम] (१) किसी के साथ रहनेवाला दल बल और साज़ सामान। साथ में रहनेवाली भीड़-भाड़ या असबाब। जैसे,—इतना लवाज़मा साथ लेकर क्यों परदेस चलते हो? (२) आवश्यक सामग्री। सामान जो किसी बात के लिये ज़रूरी हो। जैसे,—सब लवाज़मा इकट्ठा कर लो, तब तस्वीर में हाथ लगाओ।

लवासी कर्त्त-वि० [सं० लप, या लव = बकना + आसी (प्रत्य०)] (१) बकवादी। गप्पी। झूठा। (२) लंपट। उ०—काहे दियो सुर सुख में दुःख कपटी कान्ह लवासी।—सूर।

लशकर-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) सेना। फ़ौज। योद्धाओं का दल। (२) मनुष्यों का भारी समूह। भीड़भाड़। दल। जैसे,—इतना बड़ा लशकर क्यों साथ लेकर चलते हो? (३) फ़ौज के टिकने का स्थान। सेना का पड़ाव। छावनी। (४) जहाज़ में काम करनेवालों का दल। जहाज़ी आदमी।

लशकरी-वि० [फ़ा० लशकर] (१) फ़ौज का। सेना संबंधी। सेना से संबंध रखनेवाला। (२) जहाज़ पर काम करनेवाला। खलासी। जहाज़ी। (३) जहाज़ से संबंध रखनेवाला। संज्ञा पुं० (१) सैनिक। सिपाही। (२) जहाज़ी आदमी। (३) जहाज़ियों या खलासियों की भाषा।

लशकारना-क्रि० सं० [अ० लशकर] शिकारी कुत्तों को शिकार पकड़ने के किये पुकारकर बड़ावा देना। लहकारना। (शिकारी)

लशुन, लशुन-संज्ञा पुं० [सं०] लहसुन।

लषन संज्ञा पुं० दे० “लखन”।

लषना-क्रि० सं० दे० “लखना”।

लषन-संज्ञा पुं० दे० “लखन”।

लस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चिपकने या चिपकाने का गुण। श्लेषण। चिपचिपाहट। (२) वह जिसके लगाव से एक वस्तु दूसरी वस्तु से चिपक जाय। लासा। (३) चिप लगने की बात। आकर्षण। जैसे,—वहाँ कुछ लस है; तभी यह नित्य जाता है।

लसक-संज्ञा पुं० [सं०] नाचनेवाला। नर्तक।

लसकर-संज्ञा पुं० दे० “लशकर”।

लसदार-वि० [हि० लस + फा० दार (प्रत्य०)] जिसमें लस हो।

जिसमें चिपकने या चिपकाने का गुण हो गोंद की तरह का। लसीला।

लसना-क्रि० सं० [सं० लसन] एक वस्तु को दूसरी वस्तु के साथ इस प्रकार सटाना कि वह अलग न हो। चिपकाना। जैसे,—इस कागज़ को किताब पर लस दो।

संयो० क्रि०—देना।

❧ क्रि० अ० (१) शोभित होना। छजना। फबना (२) विराजना। विद्यमान होना। उ०—(क) लसत चारु कपोल दुहुँ विच सजल लोचन चारु।—सूर। (ख) तहाँ राजत दसरथ लसैं देव देव अनूप।—केशव।

लसनि संज्ञा स्त्री० [हि० लसना] (१) स्थिति। विद्यमानता। (२) शोभित होने की क्रिया या भाव। शोभा। छटा। उ०—कहत ही बातें श्री गोपाललालजु सों बाल सुने खरिका में खरी माधुरी लसति सों।—रघुनाथ।

लसम-वि० [देश०] जो खरा और चौखा न हो। दागी। दूषित। खोटा। जैसे,—लसम सोना। उ०—और भूप परषि कै ताड़के सुलाखि लेत लसम को खसम तुही पै दशरथ के।—तुलसी।

लसलसा-वि० [हि० लस] [स्त्री० लसलसी] लसदार। चिपचिपा। जो गोंद की तरह चिपकने चिपकनेवाला हो।

लसलसाहट-संज्ञा स्त्री० [हि० लसलसा] लसदार होने का भाव। चिपक। चिपचिपाहट।

लसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] हल्दी।

लसिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] लाला। थूक।

लसी-संज्ञा स्त्री० [हि० लस] (१) लस। चिपचिपाहट। (२) दिल लगाने की वस्तु। आकर्षण। जैसे,—वह कुछ लसी पाकर वहाँ जाता है। (३) लोभ का योग। फ़ायदे का डोल। जैसे,—बिना लसी के आप क्यों कहीं जाने लगे! (४) संबंध। लगाव। मेलजोल। जैसे,—ऐसे आदमी से लसी लगाना ठीक नहीं।

क्रि० प्र०—लगाना।

(५) दूध और पानी मिला शरबत।

लसीका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मांस और चमड़े के बीच में रहनेवाला रस या पानी। लाला।

लसीला-वि० [हि० लस + ईला (प्रत्य०)] [स्त्री० लसीली] (१) लसदार। जिसमें लस हो। जिसके लगाने से कोई वस्तु दूसरी वस्तु से चिपक जाय। चिपचिपा। (२) सुन्दर। शोभायुक्त।

लसुन-संज्ञा पुं० दे० “लहसुन”।

लसुनिया-संज्ञा पुं० दे० “लहसुनिया”।

लसोड़ा-संज्ञा पुं० [हि० लस = चिपचिपाहट] एक प्रकार का छोटा पेड़ जिसकी पत्तियाँ गोल गोल और फल बेर के से होते हैं।

यह बसंत में पत्तियाँ झाड़ता है; और हिन्दुस्तान में प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। फल में बहुत ही लसदार गूदा होता है। यह फल औषध के काम में आता है और सूखी खाँसी को ठीकी करने के लिये दिया जाता है। फ़ारसी में इसे सपिस्तौ कहते हैं। हकीम लोग भिखी मिलाकर इसका अवलेह (चटनी) बनाते हैं, जो खाँसी में चढ़ने के लिये दिया जाता है। संस्कृत में भी इसे श्लेष्मांतक कहते हैं।

लसौटा—संज्ञा पुं० [हि० लासा + औटा (प्रत्य०)] बौंस का चोंगा जिसमें बहेलिए चिड़िया फँसाने का लासा रखते हैं।

लस्टम पस्टम—क्रि० वि० [देश०] (१) धीरे धीरे। (२) किसी न किसी तरह से। अच्छी तरह या पूरे समान के साथ नहीं। जैसे,—लस्टम पस्टम काम चला जाता है।

लस्त—वि० [सं०] (१) क्रीड़ित। (२) शोभायुक्त। सजावट से भरा।

वि० [हि० लटना] (१) थका हुआ। शिथिल। श्रम या थकावट से ढीला। जैसे,—चलते चलते शरीर लस्त हो गया है। (२) जिसमें कुछ करने की शक्ति या साहस न रह गया हो। अशक्त।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

लस्तक—संज्ञा पुं० [सं०] धनुष का मध्य भाग। सूट।

लहंगा—संज्ञा पुं० [हि० लंक = कमर + अंगा] कमर के नीचे का सारा अंग ढाँकने के लिये स्त्रियों का एक घेरेदार पहनावा जो सूत की डोरी या नाले (इज़ारबंद) से कमर में कसकर पहना जाता है और जिसमें बहुत सी चुनटें पड़ी रहती हैं। इसमें नाली के आकार का घेरेदार नाला पड़ा रहता है, जिसे नेफा कहते हैं। लहंगे से केवल कटि के नीचे का भाग ढँकता है; इस से इसके साथ ओढ़नी भी ओढ़ी जाती है। उ०—छुट्टी बंटिका कटि लहंगा रँग तन तनसुख की सारी।—सूर।

लहकना—क्रि० प्र० [सं० लता = हिलना डोलना या अनु०] (१) हवा में इधर उधर डोलना। झोंके खाना। लहराना। उ०—(क) सकपकाहिं विष भरे पसारे। लहर भरे, लहकहिं अति कारे।—जायसी। (ख) बैद्यो ससि ऊपर सँभारि न सकति भार बेली मानो लहकै नवेली सोनजुही की।—रघुनाथ। (ग) नव मालती चहुँ दिसि मँहकत। जमुन-लहर तट लह लह लहकत।—गोपाल। (घ) लाल लाल की लर लटकाए लहकति छन छन।

संयो० क्रि०—उठना।

(२) हवा का बहना। हवा का झोंके देना। उ०—कंत बिनु बासर बसंत लागे अंतक से तीर ऐसे त्रिविध समीर लागे लहकन।—देव। (३) आग का इधर उधर लपट

छोड़ना। लपट का निकलना। दहकना। जैसे,—भाग लहकना। (४) चाह या उत्कंठा से आगे बढ़ना। लपकना। (५) चाह से भरना। उत्कंठित होना। ललकना। उ०—अँखियाँ अधर चूमि हा हा छाँड़ो कहै झूमि छतियाँ सों लगी लग लगी सी लहकिकै।

लहकाना—क्रि० सं० [हि० लहकना] (१) हवा में इधर उधर हिलाना डोलाना। झोंका खिलाना। (२) आगे बढ़ाना। (३) चाह या उत्कंठा से आगे बढ़ाना। लपकाना। जैसे—तुमने लहका दिया, इसी से वह पीछे लगा। (४) उत्साह दिला कर आगे बढ़ाना। आगे बढ़ने के लिये उत्साहित करना। किसी ओर अग्रसर होने के लिये बढ़ावा देना। (५) किसी के विरुद्ध कुछ करने के लिये भड़काना। ताब दिलाना। वरगलाना।

संयो० क्रि०—देना।

लहकौर, **लहकौरि**—संज्ञा स्त्री० [हि० लहना + कौर (प्रास)] विवाह की एक रीति जिसमें दूल्हा और दूल्हिन कोद्वार में एक दूसरे के मुँह में कौर (प्रास) डालते हैं। उ०—(क) लह-कौरि गौरि सिखाव रामहिं सीय सन सारद कहैं।—तुलसी। (ख) गोदा रंगनाथ मुख माहीं। मेलति है लहकौरि तहाँ हीं।—रघुराज।

लहजा—संज्ञा पुं० [अ० लहजः] गाने या बोलने का ढंग। स्वर। लय। जैसे,—वह बड़े अच्छे हलजे से गाता है।

लहजा—संज्ञा पुं० [अ०] पल। अल्पकाल। क्षण।

मुहा०—लहजा भर = चण भर। थोड़ी देर।

लहतना—क्रि० प्र० [देश०] परचना।

लहनदार—संज्ञा पुं० [हि० लहना + प्रा० दार] वह मनुष्य जिसका कुछ लहना किसी पर बाकी हो। ऋण देनेवाला। महाजन।

लहना—क्रि० सं० [सं० लभन, प्रा० लहन] प्राप्त करना। लाभ करना। प्राप्त करना। पाना। उ०—नाचत ही निसि दिवस मय्यो, पै नहिं सुख कबहुँ लह्यो।—सूर।

† क्रि० सं० [सं० लवन] (१) कटना। छेदना। (२) खेत की फसल काटना। (३) छीलना। तराश करना। कतरना। संज्ञा पुं० [सं० लभन, प्रा० लहन] (१) किसी को दिया हुआ धन जो वसूल करना हो। उधार दिया हुआ रुपया पैसा। जैसे,—हमारा सब लहना साफ़ कर दो।

यौ०—लहना पटवना।

मुहा०—लहना चुकाना या साफ़ करना = किसी से लिया हुआ कर्ज अदा करना। लिया हुआ ऋण दे देना।

(२) वह धन जो किसी काम के बदले में किसी से मिलने-वाला हो। रुपया पैसा जो किसी कारण किसी से मिलने-वाला हो। (३) भाग्य। किस्मत। जैसे,—जिसके लहने का होगा, उसे मिलेगा।

लहना बही—संज्ञा पुं० [हि० लहना + बही] वह बही जिसमें ऋण लेनेवालों के नाम और रकमें लिखी जाती हैं, और जिसके अनुसार वसूली होती है।

लहनी—संज्ञा स्त्री० [हि० लहना] (१) प्राप्ति। (२) फलभोग।
उ०—लहनी करम के पाछे। दियो आपनो लैहे सोई मिलै नहीं पाछे।—सूर।

संज्ञा स्त्री० [हि० लहना = काटना, क्षीलना] वह औजार जिससे ठेरे बरतन छीलते हैं।

लहना—संज्ञा पुं० [अ० लहमः] निमेष। पल। क्षण। अत्यन्त अल्प काल।

लहर—संज्ञा स्त्री० [सं० लहरी] (१) हवा के झोंके से एक दूसरे के पीछे ऊँची उठती हुई जल की राशि। बड़ा हिलोरा। मौज। उ०—लोल लहर उठि एक एक पै चलि इमि आवत।—हरिश्चन्द्र।

क्रि० प्र०—आना।—उठना।

मुहा०—लहर लेना = समुद्र के किनारे लहर में स्नान करना।

(२) उमंग। वेग। जोश। उठान। जैसे,—आनंद की लहर। उ०—फूली धेनु, फूले धाम, फूली गोपी अंग अंग फिर तरवर आनंद लहर के।—सूर। (३) मन की मौज। मन में आप से आप उठी हुई प्रेरणा। मन में वेग के साथ उत्पन्न भावना। जैसे,—उनके मन की लहर है; आज इधर ही निकल आए। (४) शरीर के अंदर के किसी उपद्रव (जैसे, बेहोशी, पीड़ा आदि) का वेग जो कुछ अंतर पर रह रहकर उत्पन्न हो। झोंका। जैसे,—साँप के काटने पर लहर आती है। उ०—(क) सुनि के राजा गा मुरझाई। जानौ लहरि सुरुज के आई।—जायसी। (ख) सूर सुरति तनु की कछु आई उत्तरत लहरि के।—सूर।

मुहा०—लहर देना या मारना = रह रहकर किसी प्रकार की पीड़ा उठना। साँप काटने की लहर = साँप काटे आदमी की वह अवस्था जिसमें बेहोशी के बीच बीच में वह जाग उठता है। उ०—लाओ गुनी गोविंद को बादी है अति लहरि।—सूर।

(५) आनंद की उमंग। हर्ष या प्रसन्नता का वेग। मज़ा। मौज। जैसे,—वहाँ चलो; बड़ी लहर आवेगी।

यौ०—लहर बहर = सब प्रकार का आनन्द और सुख।

मुहा०—लहर आना = आनंद आना। लहर लेना या मारना = आनंद भोगना। मौज करना।

(६) आवाज़ की गूँज। स्वर का कंप जो वायु में उत्पन्न होता है। (७) वक्र गति। इधर उधर मुड़ती हुई टेढ़ी चाल। जैसे,—वह लहरें मारता चलता है।

मुहा०—लहर मारना या देना = सीधा न जाकर इधर उधर मुड़ना।

(८) बराबर इधर उधर मुड़ती या टेढ़ी होती हुई जानेवाली रेखा। चलते सर्प की सी कुदिल रेखा। (९) हवा का झोंका।

(१०) किसी प्रकार की गंध से भरी हुई हवा का झोंका। महक। लपट। उ०—खुलि रही खूब खुसबोयन की लहरि तैसे सीतल समीर डालै तनिकऊ न डोली मैं।—निहाल।

लहरदार—वि० [हि० लहर + फा० दार (प्रत्य०)] जो सीधा न जाकर टेढ़ा मेढ़ा गया हो। जो बल खाता गया हो। कुदिल या वक्रगति से गया हुआ। जैसे,—यह लकीर सीधी नहीं है, लहरदार है।

लहरना—क्रि० प्र० दे० “लहराना” उ०—बरसाती तरिवर लहरत तहँ लता रहँ लूमि लूमि।—देवस्वामी।

लहरा—संज्ञा पुं० [हि० लहर] (१) लहर। तरंग। (२) मौज। आनंद। मज़ा। (३) बाजों की वह गत जो आरंभ में नाचने वा गाने के पहले समस्त बाँधन और आनंद बढ़ाने के लिये बजाई जाती है। इसमें कुछ गाना नहीं होता, केवल ताल और स्वरों की लय मात्र होती है।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की घास।

लहराना—क्रि० प्र० [हि० लहर + आना (प्रत्य०)] (१) हवा के झोंके से इधर उधर हिलना डोलना। प्रकंपित होना। लहरें खाना। जैसे,—खेत लहलराना, या खेतों में धान लहराना, लता लहराना, बाल लहराना, पताका लहराना। उ०—(क) भातप पच्यो प्रभात ताहि सौं खिल्यो कमलमुख। अलक भौर लहराय जूथ मिलि करत विविध सुख।—ज्यास। (ख) मनु प्रगट मनोरथ की लता ललकि लहराति है।—गोपाल। (२) हवा का चलना या पानी का हवा के झोंका से उठना और गिरना। बहना, या हिलोर मारना। (३) सीधे न चलकर साँप की तरह इधर उधर मुड़ते या झोंका खाते हुए चलना। जैसे,—यह लकीर लहराती हुई गई है। (४) मन का उमंग में होना। उल्लास में होना। जैसे,—यह सुनकर उसका मन लहरा उठा। (५) किसी वस्तु के लिये उत्कण्ठित होना। प्राप्त करने की इच्छा से अधीर होना। लपकना। जैसे,—उसके लिये वह लहरा उठा। (६) आग की लपट का निकलकर इधर उधर हिलना। दहकना। भड़कना। उ०—श्रीपति सुकवि यो वियोगी कहरन लागे, मदन की आगि लहरान लागी तन में—श्रीपति। (७) शोभित होना। लसना। विराजना। शोभापूर्वक रहना। उ०—(क) कहै पद्याकर अरीन की अवाई पर साहब सवाई की ललाई लहराति है।—पद्याकर। (ख) त्यागि भय भाव चहुँ धूमत अनंद भरे विपिन विहारी पर सुखसाज लहरत।

क्रि० प्र० (१) हवा के झोंके में इधर उधर हिलाना डोलाना या हिलने डोलने के लिये छोड़ देना। जैसे,—सिर के बाल लहराना। (२) सीधे न चलकर साँप की तरह इधर उधर मोड़ते हुए चलाना। वक्र गति से ले जाना (३) वा

वार, इधर से उधर हिलाना डुलाना । उ०—सूरदास प्रभु सोइ कन्हैया लहरावति मलहरावति है ।—सूर ।

लहरिका—संज्ञा स्त्री० दे० “लहर” ।

लहरिया—संज्ञा पुं० [हि० लहर] (१) ऐसी समानांतर रेखाओं का समूह जो सीधी न जाकर क्रम से इधर उधर मुड़ती हुई गई हों । लहरदार चिह्न । टेढ़ी मेढ़ी गई हुई लकीरों की श्रेणी । जैसे,—(क) इसका लहरिया किनारा है । (ख) इसमें लहरिया काम बना हुआ है । (२) एक प्रकार का कपड़ा जिसमें रंग विरंगी टेढ़ी मेढ़ी लकीरें बनी होती हैं । (३) वह साड़ी या धोती जिसकी रंगाई टेढ़ी मेढ़ी लकीरों के रूप में हो । उ०—(क) लहरत लहर लहरिया लहर बहार । मोतिन जड़ी किनरिया बिथुरे वार ।—रहीम । (ख) फहर फहर होत प्रीतम को धीतपट, लहर लहर होत प्यारी को लहरिया ।—देव । (४) जरी के कपड़ों के किनारे बनी हुई बेल ।

संज्ञा स्त्री० “लहर” शब्द का पूरबी निर्देशात्मक रूप । उ०—में गैलिउँ सोइ पिया मोर जागे, आइ गई सुपमन लहरिया हो रामा ।—कबीर ।

लहरियादार—वि० [हि० लहरिया + दार (प्रत्य०)] जिसमें लहरिया बना हो । जिसमें बहुत सी टेढ़ी मेढ़ी रेखाएँ हों ।

लहरो—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लहर । तरंग । हिलोर । मौज । उ०—ऊधो, बसुधा में सुबा-लहरी लला की बरनी मैंन कलावारी कहि प्यारी कब बोलिहैं ।—दीनदयाल ।

† वि० [हि० लहर + ई (प्रत्य०)] मन की तरंग के अनुसार चलनेवाला । आनंदी । मनमौजी । खुश-मिनाज ।

लहलह—संज्ञा पुं० [?] एक प्रकार का राग जो दीपक राग का पुत्र कहा जाता है ।

लहलहा—वि० [हि० लहलहाना या अनु०] (१) लहलहाता हुआ । हरा भरा । सरस । उ०—लाल नील सित पीत कमलकुल सब ऋतु में लहलहाई ।—देवस्वामी । (२) हर्ष से फूला हुआ । खुशी से खिला हुआ । प्रफुल्लित ।

लहलहा—वि० [हि० लहलहाना] [स्त्री० लहलही] लहलहाता हुआ । फूल पत्तों से भरा और सरस । हरा भरा । (२) आनन्द से पूर्ण । खुशी से भरा हुआ । प्रफुल्ल । (३) हृष्ट पुष्ट । जैसे, देह लहलही होना ।

लहलहाना—क्रि० प्र० [हि० लहरना (पत्तियों का)] (१) लहराने वाली हरी पत्तियों से भरना । हरा भरा होना । फूल पत्तों से सरस और सजीव दिखाई देना । जैसे,—चारों ओर लहलहाते खेत चले गए हैं ।

संयो० क्रि०—उठना ।—जाना ।

(२) प्रफुल्ल होना । आनन्द से पूर्ण होना । खुशी से भरना । जैसे,—इतना सुनते ही वे लहलहा उठे । (३) सूखे पेड़ या

पौधे में फिर से पत्तियाँ निकलना । पनपना । जैसे,—चार ही दिन पानी पाने से यह पौधा लहलहा उठा । (४) दुर्बल शरीर का फिर से हृष्ट और सजीव होना । शरीर पनपना ।

संयो० क्रि०—उठना ।

लहलही—वि० स्त्री० दे० “लहलहा”

लहली—संज्ञा स्त्री० [देश०] वह दलदल जो किसी जलाशय के सूख जाने पर रह जाती है ।

लहसुआ—संज्ञा पुं० दे० “लसोड़ा” ।

लहसुन—संज्ञा पुं० [सं० लशुन] (१) एक केन्द्र से उठकर चारों ओर गिरी हुई लम्बी लम्बी पतली पत्तियों का एक पौधा, जिसकी जड़ गोल गाँठ के रूप में होती है । उ०—तुलसी अपनो आचरण भलो न लागत कासु । तेहि न बसति जो खात नित लहसुनहू की बासु ।—तुलसी ।

विशेष—इसकी जड़ या कंद प्याज के ही समान तीक्ष्ण और उग्र गंधवाली होती है; इससे इसे बहुत से आचारवान् हिंदू विशेषतः वैष्णव नहीं खाते । प्याज की गाँठ और लहसुन की गाँठ की बनावट में बहुत अंतर होता है । प्याज की गाँठ कोमल कोमल छिलकों की तहों से मढ़ी हुई होती है; पर लहसुन की गाँठ चारों ओर एक पंक्ति में गुड़ी हुई फाँकों से बनी होती है जिन्हें जवा कहते हैं । वैद्यक में यह मांसवर्द्धक, शुक्रवर्द्धक, क्षिरध, उष्णवीर्य, पाचक, सारक, कटु, मधुर, तीक्ष्ण, दृढी जगह को ठीक करनेवाला, कफ-वातनाशक, कंठशोधक, गुल्म, रक्त पित्त वर्द्धक, बलकारक, वर्ण-प्रसादक, मेघा-जनक, नेत्रों का हितकारी, रसायन तथा हृद्रोग, जीर्णज्वर, कुक्षिशूल, गुल्म, अरुचि, कास, शोथ, अर्श, आमदोष, कुष्ठ, अग्निमांघ, कृमि, वायु, श्वास तथा कफनाशक माना जाता है । आवप्रकाश में लिखा है कि लहसुन खानेवाले के लिये खट्टी चीजें मद्य और मांस हितजनक है; तथा कसरत, धूप, क्रोध, अधिक जल, दूध और गुड़ अहितकर है । वैद्यक में इसके बहुत गुण कहे गए हैं । यह तरकारी के मसाले में पड़ता है । “भावप्रकाश” में लहसुन के संबंध में यह आख्यान लिखा है—जिस समय गरुड़ इंद्र के यहाँ से अमृत हरकर लिए जा रहे थे, उस समय उसकी एक बूँद ज़मीन पर गिर पड़ी । उसी से लहसुन की उत्पत्ति हुई । मनु आदि स्मृतियों में इसके खाने का निषेध पाया जाता है ।

पर्या०—महौषध । अरिष्ट । महाकंद । म्लेच्छकंद । रसोनक । भूतघ्न । उग्रगंध ।

(२) मानिक का एक दोष जिसे संस्कृत में “अशोभक” कहते हैं ।

लहसुनिया—संज्ञा पुं० [हि० लहसुन] धूमिल रंग का एक रत्न या बहुमूल्य पत्थर । रक्षाक्षक ।

विशेष—यह नगरों में है तथा लाल, पीले और हरे रंग का भी होता है। जिस पर तीन अर्द्ध रेखाएँ हों, वह उत्तम समझा जाता है और “ढाई सूत का” कहलाता है।

लहसुवा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का साग।

लहाळ-संज्ञा पुं० दे० “लाह”।

लहाछेह-संज्ञा पुं० [?] (१) नृत्य की क्रियाओं में से चौथी क्रिया। नाच की एक गति। (२) नाचने में तेज़ी और झपट। उ०—गोपिन सँग निस सरद की रमत रसिक रसरास। लहाछेह अति गतिन की सबन लखे सब पास।—बिहारी।

लहालहा-वि० दे० “लहलहा” उ०—(क) मालति औ मुचकुन्द है केदलि के परकास। पुरहन जामें लहालहि शोभा अधिक प्रकास।—कबीर। (ख) नभ पुर मंगल गान निसान गहागहे। देखि मनोरथ सुरतर ललित लहालहे।—तुलसी।

लहालोड-वि० [हि० लाभ, लाह + लोटना] (१) हँसी से लोटता हुआ। हँसी में मग्न। (२) खुशी से भरा हुआ। आनंद के मारे उछलता हुआ। उल्लास-मग्न। जैसे,—यह कविता सुनते ही वह लहालोड हो गया। (३) प्रेम-मग्न। लुभाया हुआ। लुब्ध। मोहित। लट्। जैसे,—यह उसका रूप देखते ही लहालोड हो गया।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

लहासन-संज्ञा स्त्री० [देश०] वह काली भेंड़ जिसकी कनपटी से माथे तक का भाग लाल होता है। (गढ़ेरिये)

लहासी-संज्ञा स्त्री० [सं० लभस, प्रा० लहस = रस्सी] (१) वह मोटी रस्सी जिससे नाव या जहाज़ बाँधे जाते हैं। (२) रस्सी। डोरी। (३) रास्ते में निकली हुई जड़। (पालकी के कहार)

लहि-अव्य० [हि० लहना = प्राप्त होना, पहुँचना] पर्यंत। तक। ताई। उ०—आवहु करहु कदरमस साजू। चढ़हि बजाइ जहाँ लहि राजू।—जायसी।

लहिता-संज्ञा पुं० दे० “रहिला”।

लहुळ-अव्य० दे० “लौ”। उ०—बड़ कलेसु कारज अल्प बड़ी भास लहु लाहु। उदासीन सीतारमबु समय सरिस निरवाहु।—तुलसी।

लहुरा-वि० [सं० लघु, प्रा० लहु + रा (प्रत्य०)] [स्त्री० लहुरी] छोटा। कनिष्ठ। जैसे,—लहुरा भाई।

लहुरी-वि० स्त्री० [हि० लहुरा] छोटी। कनिष्ठा।

लहू-संज्ञा पुं० [सं० लोह, हि० लोह] रक्त। लोहू। रुधिर। खून।

मुहा०—लहूलहान होना = खून से भर जाना। अत्यन्त लहू बहना। विशेष रक्तस्त्राव होना।

लहेर-संज्ञा पुं० [हि० लहना = पाना] ब्राह्मण। (सुनार)

लहेरा-संज्ञा पुं० [हि० लाह = लाख + परा (प्रत्य०)] (१) एक जाति जो रेशम रँगने का काम करती है। (२) लाह का पका रँग चढ़ानेवाला। (३) पकारेशम रँगनेवाला। रँगरेज़। उ०—तारकसौ अत्तार घनेरे। जोलहा पुनि कलवार लहेरे।—गोपाल।

लहेसना-क्रि० सं० [देश०] साँचे के पलों को गाभे पर बैठाना। (बरतन बनानेवाले)

लहेरा-संज्ञा पुं० [देश०] छोटे डील का एक सदाबहार पेड़ जो पंजाब, दक्खिन, गुजरात और राजपूताने में बहुत होता है। इसके हीरे की लकड़ी बहुत चिकनी, साफ़ और मज़बूत होती है और कुरसी, मेज़, आलमारी इत्यादि सजावट के समान बनाने के काम में आती है।

लौंका-संज्ञा स्त्री० [सं० लक = डंठल या बाल] (१) जौ, गेहूँ, चने, अरहर इत्यादि के पके और कटे हुए पौधों का समूह जो झाड़ने के वास्ते एकत्र हों। ताजी कटी हुई फसल। (२) भूसा।

संज्ञा स्त्री० [हि० लंक] (१) कमर। कटि। उ०—लगे लौंक लोचन भरी लोचन लेति लगाय।—बिहारी।

क्रि० प्र०—हालना।—लगाना।

(३) परिमाण। मिकदार।

लौंग-संज्ञा स्त्री० [सं० लांगूल = पूँछ] धोती का वह भाग जो दोनों जाँघों के नीचे से निकालकर पीछे की ओर कमर से खोंस लिया जाता है। काछ। जैसे,—धाँती की लौंग।

क्रि० प्र०—रसना।—बाँधना।—मारना।—लगाना।

लौंगडो-संज्ञा पुं० [सं० लांगूल] हनुमान जी। (हि०)

लौंग प्राइमर-संज्ञा पुं० [ग्रं०] छापेखाने में एक प्रकार का टाइप जिसका आकार आदि इस प्रकार होता है—“लौंग प्राइमर”।

लौंगल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खेत जोतने का हल। (२) चंद्रमा का अर्द्धोन्नत शृंग। (३) शिखर। लिंग। (४) एक प्रकार का फूल। (५) ताड़ का पेड़।

लौंगलक-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार हल के आकार का वह घाव जो भगंदर रोग में गुदा में शल्य चिकित्सा करके किया जाता है।

लौंगलका-संज्ञा स्त्री० [सं०] कलियारी नाम का जहरीला पौधा।

लौंगलमद-संज्ञा पुं० [सं०] खेतिहर। किसान।

लौंगल चक्र-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में एक प्रकार का चक्र जिसकी सहायता से खेती के संबंध में शुभाशुभ फल जाने जाते हैं। इसका आकार इस प्रकार का होता है—



लौंगलध्वज-संज्ञा पुं० [सं०] बलराम।

लांगलाख्य-संज्ञा पुं० [सं०] कलियारी नाम का जहरीला पौधा ।
लांगलि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कलियारी नाम का जहरीला पौधा ।
 (२) मजीठ । (३) जल-पीपल । (४) पिठवन । (५) कौँछ ।
 केवाँच । (६) गज पीपल । (७) चव्य । चाब । (८) महा-
 राष्ट्री या मराठी नाम की लता । (९) ऋषभक नाम की
 अष्टवर्गीय ओषधि ।

लांगलिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का स्थावर विष ।

लांगलिका-संज्ञा स्त्री० दे० "लांगलि" ।

लांगलिकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कलियारी ।

लांगलिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कलियारी । कलिहारी ।

लांगली-संज्ञा पुं० [सं० लांगलिन्] (१) श्री बलराम जी । (२)
 नारियल । (३) सर्प । साँप ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुराणानुसार एक नदी का नाम ।
 (२) कलियारी । (३) मजीठ । (४) पिठवन । (५) कौँछ ।
 केवाँच । (६) जल-पीपल । (७) गजपीपल । (८) चव्य ।
 चाब । (९) महाराष्ट्री नाम की लता । (१०) ऋषभक नाम
 की अष्टवर्गीय ओषधि ।

लांगलीश-संज्ञा पुं० [सं०] एक शिव लिंग का नाम ।

लांगली शक्र-संज्ञा पुं० [सं०] जल पीपल ।

लांगलीषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] हल का लट्ठा । हरिस ।

लांगुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूँछ । डुम । (२) शिश्न । लिंग ।

लांगुली-संज्ञा पुं० [सं० लांगुलिन्] (१) बंदर । (२) ऋषभ नामक
 ओषधि । (३) पिठवन । (४) कौँछ । केवाँच ।

लांगुलीका संज्ञा स्त्री० [सं०] पृश्निपर्णी । पिठवन ।

लांगूल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) डुम । पूँछ । (२) शिश्न । लिंग ।

लांगूला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) केवाँच । कौँछ । (२) पिठवन ।
 पृश्निपर्णी ।

लांगूली-संज्ञा पुं० [सं० लांगुलिन्] बंदर । वानर ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ऋषभक नाम की अष्टवर्गीय ओषधि ।
 (२) पिठवन । पृश्निपर्णी । (३) केवाँच । कौँछ ।

लाँघना-क्रि० सं० [सं० लंघन] (१) किसी चीज के इस पार से
 उस पार जाना । डाँकना । नाँघना । जैसे,—लड़के को
 लाँघकर मत जाया करो । (२) किसी वस्तु को उछलकर
 पार करना । जैसे,—यह नाला तो तुम यों ही लाँघ
 सकते हो ।

लंघो क्रि०—जाना ।

लाँघनी उड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० लाँघना + उड़ी = कुदान] मालखंभ
 की एक कसरत जो साधारण उड़ी के ही समान होती है ।
 इसमें विशेषता यह है कि इसमें बीच का कुछ स्थान छूद
 या लाँघकर पार किया जाता है ।

लाँच-संज्ञा स्त्री० [देश०] रिश्वत । घूस । उत्कोच ।

लाँचुल-संज्ञा पुं० [सं०] धान्य । धान ।

लाँछन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चिह्न । निशान । (२) दाग ।
 (३) दोष । कलंक । जैसे,—तुम तो यों ही सबको लाँछन
 लगाया करते हो ।

क्रि० प्र०—लगाना ।

लाँछनी-संज्ञा स्त्री० दे० "लाँछन" ।

लाँछनित*-वि० [सं० लाँछन] जिसे लाँछन लगा हो । कलंकित ।
 दोषयुक्त । लाँछित ।

लाँजी-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का धान ।

लाँड़ा-संज्ञा पुं० दे० "लंड" ।

लांतकज-संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के एक प्रकार के देवताओं
 का गण ।

लांपट्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लंपट होने का भाव । लंपटता ।
 (२) व्यभिचार ।

लाँचा†-वि० दे० "लंबा" । ड०—(क) चारहि हैं खुर वाके
 गरो अति लाँचों सो मूँड़ उठावत है ।—सीताराम । (ख) सत
 योजन लाँचो भर ऊँचो ।—गिरधर । (ग) लाँची डग भरी
 ठौर ठौर गिर परी राम देखौ जेहि घरी देख रही मुख रूप
 को ।—हृदयराम । (घ) लहलही लाँची लटै लपटी सुलंक
 पर ।—पद्माकर ।

लाइ*-संज्ञा पुं० [सं० अलात = लुक, प्रा० अलाय] भग्नि ।
 ड०—(क) तब लंक हनुमत लाइ दई ।—केशव । (ख)
 ज्यों ज्यों बरसत घोर घन घनघमंड गरुवाइ । त्यों त्यों
 परति प्रचंड अति नई लगन की लाइ ।—पद्माकर ।

लाइक-वि० दे० "लायक" ।

लाइची-संज्ञा स्त्री० दे० "इलायची" ।

लाइन-संज्ञा स्त्री० [अंग०] (१) कतार । अवली । (२) पंक्ति । सतर ।
 (३) रेखा । लकीर । (४) रेल की सड़क । (५) घरों की
 वह पंक्ति जिनमें सिपाही रहते हैं । बारिक । लैन ।

लाई†-संज्ञा स्त्री० [सं० लाजा] उबाले हुए धानों को सुखाकर गरम
 बाखू में शूनने से बनी हुई खीलें । धान का लावा ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० लाना = लगाना] छिपी शिकायत । चुगली ।
 निंदा ।

क्रि० प्र०—लगाना ।

यौ०—लाई लुतरी = (१) चुगली । शिकायत । (२) यह जो इधर उधर
 दूसरों की चुगली खाती फिरती हो । एक से दूसरे की निंदा
 करनेवाली । चुगलखोर । (स्त्री०)

लाऊ-संज्ञा पुं० [हिं० अलावू] लौकी । कद्दू । घिभा । वि० दे०
 "घिया" ।

लाकड़ी-संज्ञा स्त्री० दे० "लकड़ी" ।

लाकिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] तांत्रिकों के अनुसार एक योगिनी
 का नाम ।

लाकुच-संज्ञा पुं० दे० "लकुच" ।

लाक्षकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सीता का एक नाम ।

लक्षण-वि० [सं०] लक्षण संबंधी । लक्षण का ।

लक्षणिक-वि० [सं०] (१) जिससे लक्षण प्रकट हो । (२) लक्षण संबंधी ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह लक्ष्म जिसके प्रत्येक चरण में ३२ मात्राएँ हों । (२) वह जो लक्षणों का ज्ञाता हो । लक्षण जाननेवाला ।

लक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] लाख । लाह ।

लक्षागृह-संज्ञा पुं० [सं०] लाख का वह घर जिसे दुर्योधन ने पांडवों को जला देने की इच्छा से बनवाया था । भाग लगने से पहले ही सूचना पाकर पांडव लोग इस घर से निकल गए थे ।

लक्षातल-संज्ञा पुं० [सं०] पलास का वृक्ष ।

लक्षातैल-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का तेल जो साधारण तेल, लाख, हल्दी और मजीठ आदि डालकर पकाने से बनता है । यह दाह और ज्वर का नाशक माना जाता है ।

लक्षादि तैल-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का तेल जो साधारण तेल में लाख, दूध या दही, लाल चंदन, असगंध, हल्दी, दारु हल्दी, मुलेठी, कुटकी, रेणुका आदि ओषधियाँ पकाने से बनता है । यह जीर्णज्वर और राजयक्ष्मा आदि रोगों को दूर करनेवाला और बलवर्द्धक माना जाता है ।

लक्षाप्रसाद-संज्ञा पुं० [सं०] पठानी लोथ ।

लक्षाप्रसादन-संज्ञा पुं० [सं०] लाल लोथ ।

लक्षारस-संज्ञा पुं० [सं०] महावर, जो पानी में लाख औटाकर बनाते हैं ।

लक्षावृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ढाक । पलास । (२) कोशाग्र । कोसम ।

लक्षिक-वि० [सं०] (१) लक्षा संबंधी । लाख का । (२) लाख का बना हुआ । लाखी ।

लाख-वि० [सं० लक्ष, प्रा० लक्ख] (१) सौ हजार । उ०—लाखन हूँ की भीर से आँखि वहीं चलि जाहि । (२) (लक्षणा से) बहुत अधिक । गिनती में बहुत ज्यादा ।

मुहा०—लाख टके की बात = अत्यंत उपयोगी बात ।

संज्ञा पुं० सौ हजार की संख्या जो इस प्रकार लिखी जाती है—१००००० ।

क्रि० वि० बहुत । अधिक । जैसे,—तुम लाख कहो, मैं एक न मानूँगा ।

मुहा०—लाख से लीख होना = अत्यधिक से अत्यल्प हो जाना । सब कुछ से कुछ न रह जाना । उ०—बहुतक भुवन सोह अँतरीखा । रहे जो लाख भये ते लीखा ।—जायसी । लाख का घर राख होना = लाख रूप का घर या खानदान नाश होना । संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का प्रसिद्ध लाल पदार्थ जो

पलास, पीपल, कुसुम, बेर, अरहर आदि अनेक प्रकार के वृक्षों की टहनियों पर कई प्रकार के कीड़ों से बनता है । लाह ।

विशेष—एक प्रकार के बहुत छोटे कीड़े होते हैं, जिनकी कई जातियाँ होती हैं । ये कीड़े या तो कुछ वृक्षों पर आप से आप हो जाते हैं या इसी लाल पदार्थ के लिये पाले जाते हैं । वृक्षों पर ये कीड़े अपने शरीर से एक प्रकार का लसदार पदार्थ निकालकर उससे घर बनाते हैं और उसी में बहुत अधिक अंडे देते हैं । कीड़े पालनेवाले बैसाख और अगहन में वृक्षों की शाखाओं पर से खुरचकर यह लाल द्रव्य निकाल लेते हैं और तब इसे कई तरह से साफ करके काम में लाते हैं । इससे कई प्रकार के रंग, तेल, वारनिश और चूड़ियाँ, कुमकुमे आदि द्रव्य बनते हैं । चपड़ा भी इसी से तैयार होता है । लाख केवल भारत में ही होती है; और कहीं नहीं होती । यहीं से यह सारे संसार में जाती है । यहाँ इसका व्यवहार बहुत प्राचीन काल से, संभवतः वैदिक काल से, होता आया है । पहले यहाँ इससे कपड़े और चमड़े आदि रँगते थे और पैर में लगाने के लिये भलता या महावर बनाते थे । वैद्यक में इसे कटु, स्निग्ध, कषाय, हलकी, शीतल, बलकारक और कफ, रक्त-पित्त, हिचकी, खाँसी, ज्वर, विसर्प, कुष्ठ, रुधिर-विकार आदि को र करनेवाली माना है ।

पर्या०—कीटजा । रक्तमातृका । अलक्तक । जंतुका ।

(२) लाल रंग के वे बहुत छोटे छोटे कीड़े जिनसे उक्त द्रव्य निकलता है । इनकी कई जातियाँ होती हैं ।

लाखना-क्रि० प्र० [हि० लाख + ना (प्रत्य०)] लाख लगाकर बरतन या और किसी चीज में का छेद बंद करना । उ०—शील तो सिंघाच्यो तब संग न सिंघारी जब तज भलो आजहूँ लौं फूटो घट लाखबो ।—हृदयराम ।

ॐ क्रि० स० [सं० लक्ख] लख लेना । जान लेना । समझ लेना । उ०—सुनि कै महादेव कै आखा । सिद्ध पुरुष राजें मन लाखा ।—जायसी ।

लाखपती-संज्ञा पुं० दे० “लखपती” ।

लाखा-संज्ञा पुं० [हि० लाख] (१) लाख का बना हुआ एक प्रकार का रंग जिसे खियाँ सुन्दरता के लिये हाँठों पर लगाती हैं ।

क्रि० प्र०—जमाना ।—लगाना ।

(२) गेहूँ के पौधों में लगनेवाला एक रोग जिससे पौधे की नाल लाल रंग की होकर सड़ जाती है । इसे गेरुआ या कुकहा भी कहते हैं ।

विशेष—यह एक प्रकार के बहुत ही सूक्ष्म लाल रंग के कीड़ों का समूह होता है ।

संज्ञा पुं० [हि० लाख = लक्ष] एक प्रसिद्ध भक्त जो मारवाड़ देश का निवासी था।

लाखागृह-संज्ञा पुं० दे० "लाक्षागृह।

लाखिराज-वि० [अ०] (भूमि) जिसका लगान न देना पड़ता हो। जिस पर कर न हो। जैसे, लाखिराज जमीन।

लाखिराजी-संज्ञा स्त्री० [हि० लाखिराज + ई (प्रत्य०)] वह भूमि जिस पर कोई लगान न हो।

लाखी-वि० [हि० लाख + ई (प्रत्य०)] लाख के रंग का।
मटमैला लाल।

संज्ञा पुं० मटमैला लाल रंग। लाख का सा रंग।

लाग-संज्ञा स्त्री० [हि० लगना] (१) संपर्क। संबंध। लगाव। ताल्लुक। जैसे,—(क) इन दोनों में कहीं से कोई लाग तो नहीं मालूम होती। (ख) यह डंडा अधर में बे-लाग खड़ा है। (२) प्रेम। प्रीति। मुहब्बत। (३) लगावट। लगन। मन की तत्परता। उ०—वरणत मान प्रवास पुनि निरखि नेह की लाग।—पद्माकर। (४) युक्ति। तरकीब। उपाय। (५) वह स्वाँग आदि जिसमें कोई विशेष कौशल हो और जो जल्दी समझ में न आवे। जैसे,—किसी के पेट या गर्दन के आर पार (वास्तव में नहीं, बल्कि केवल कौशल से) तरुवार या कटार गई हुई दिखलाना। (६) प्रतिस्पर्धा। प्रतियोगिता। चढ़ा ऊपरी।

यौ०—लाग डाँट।

(७) बैर। शत्रुता। दुश्मनी। झगड़ा।

क्रि० प्र०—मानना।—रखना।

(८) जादू। मंत्र। टोना। (९) वह चेप जिससे चेचक का अथवा इसी प्रकार का और कोई टीका लगाया जाता है। (१०) वह नियत धन जो विवाह आदि शुभ अवसरों पर ब्राह्मणों, भाटों, नाइयों आदि को अलग अलग रस्सों के संबंध में दिया जाता है। (११) धातु को फूँककर तैयार किया हुआ रस। भस्म। (१२) दैनिक भोजन सामग्री। रसद। (बुंदेल०) (१३) भूमि कर। लगान। उ०—अपनी लाग लेहु लेखो करि जो कछु राज अंश को दाम।—सूर। (१४) एक प्रकार का नृत्य। उ०—अरु लाग धाउ राय-रंगाल।—केशव।

लागडाँट-संज्ञा स्त्री० [हि० लाग = बैर + डाँट] (१) शत्रुता। दुश्मनी। बैर। (२) प्रतिस्पर्धा। प्रतियोगिता। चढ़ा ऊपरी। संज्ञा स्त्री० [सं० लग्नदंड] नृत्य की एक क्रिया।

लागत-संज्ञा स्त्री० [हि० लगना] वह खर्च जो किसी चीज की तैयारी या बनाने में लगे। कोई पदार्थ प्रस्तुत करने में होने वाला व्यय। जैसे,—(क) इस मकान पर १००००) लागत आई है। (ख) तुम्हारा यह लिहाफ कितनी लागत का है? (ग) तुम से हम लागत भर लेंगे, मुनाफा नहीं लेंगे।

क्रि० प्र०—आना।—बैठना।—लगाना।

लागि—अव्य० [हि० लगना] (१) कारण। हेतु। (२) निमित्त। लिये। खातिर। वास्ते। उ०—(क) जे देव देवी सेइ अति हित लागि चित सनमानि कै। ते यंत्र मंत्र सिखाय राखत सबनि सो पहिचानि कै।—तुलसी। (ख) तुमहिं लागि धरिहौं नर देहा।—तुलसी।

लागू—वि० [हि० लगना] (१) जो लग सकता हो या लगने योग्य हो। प्रयुक्त होने योग्य। चरितार्थ होनेवाला। जैसे,—वही नियम वहाँ भी लागू है।

लागे—अव्य० [हि० लगना] वास्ते। लिये। उ०—पुत्र शरीर परा तव आगे। रोवत मृषा जीव के लागे।

लाघरक-संज्ञा पुं० [सं०] हलीमक नामक रोग।

लाघव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लघु होने का भाव। लघुता। हलकापन या छोटापन। (२) थोड़ा होने का भाव। कमी। अल्पता। (३) हाथ की सफाई। फुर्ती। तेजी। जैसे, हस्त लाघव। (४) नपुंसकता। (५) आरोग्यता। निरोगता। तंदुरुस्ती।

अव्य० [सं०] फुरती से। जल्दी से। सहज में। उ०—अति लाघव उठाय धनु लीन्हा।—तुलसी।

लाघवी—संज्ञा स्त्री० [सं० लाघव + ई (प्रत्य०)] फुर्ती। शीघ्रता।

लाचार वि० [फा०] जिसका कुछ बचा न चलता हो। विवश। मजबूर।

क्रि० वि० विवश होकर। मजबूर होकर।

लाचारी-संज्ञा स्त्री० [फा०] लाचार होने का भाव। मजबूरी। विवशता।

लाची-संज्ञा स्त्री० दे० "इलायची"।

लाचीदाना-संज्ञा पुं० [हि० इलायची + दाना] खाली चीनी की एक प्रकार की मिठाई जो छोटे छोटे गोल दानों के आकार की होती है। कभी कभी इसके अंदर सौंफ या इलायची का दाना भी भरा होता है। इलायची दाना।

लाजुन—संज्ञा पुं० दे० "लांछन"।

लाज-संज्ञा स्त्री० [सं० लज्जा] लज्जा। शर्म। हया।

क्रि० प्र०—आना।—करना।

मुहा०—लाज रखना = प्रतिष्ठा बचाना। श्रावण खराब न होने देना।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) खस। उशीर। (२) पानी में भींगा हुआ चावल। (३) धान का लावा। खील।

लाजना—क्रि० प्र० [हि० लाज + ना (प्रत्य०)] जजित होना। शरमाना। उ०—(क) ये अरुन अधर लखि लखि निवा-फल लाजै।—प्रताप। (ख) जेहि तुरंग पर राम बिराजे। गति बिलोकि खगनायक लाजै।—तुलसी।

लाजपेया-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह माँड़ जो खोई या लावा उबालने से निकले। इसका व्यवहार रोगियों को पथ्य देने में होता है।

लालभक्त-संज्ञा पुं० [सं०] खोई या लावा का पकाया हुआ भात, जो रोगियों को पथ्य में दिया जाता है।

लाजवंत-वि० [हि० लाज + वंत (प्रत्य०)] [स्त्री० लाजवंती] जिसे लजा हो। शर्मदार। हयादार।

लाजवंती-संज्ञा स्त्री० [हि० लजालू] लजालू नाम का पौधा। छुई छुई।

लाजवर्द-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) एक प्रकार का प्रसिद्ध कीमती पत्थर जिसे संस्कृत में 'राजवर्तक' कहते हैं। यह जंगली रंग का होता है और इसके ऊपर सुनहले छींटे होते हैं। यह वातज रोगों के लिये गुणकारी, मन को प्रसन्न करने-वाला, हृदय के लिये बलकारी और उन्माद आदि रोगों में उपकारी माना जाता है। अँखों में सुरमा लगाने के लिये इसकी सलाई भी बनती है, जो बहुत अधिक गुणकारी मानी जाती है। रावरी। (२) विलायती नील जो गंधक के मेल से बनता और बहुत बढ़िया होता है।

लाजवर्दी-वि० [फ़ा०] लाजवर्द के रंग का। हलका नीला।

लाजबाव-वि० [फ़ा०] (१) जिसके जोड़ का और कोई न हो। अनुपम। बेजोड़। (२) जो कुछ जवाब न दे सके। निरुत्तर। चुप। खामोश।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

लाजशक्तु-संज्ञा पुं० [सं०] खोई या लावा का सत्तू।

लाजहोम-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का होम जिसमें खोई या धान का लावा आहुति में दिया जाता था।

लाजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चावल। (२) भूनकर फुलाया हुआ धान। खील। लावा। उ०—अच्छत अंकुर रोचन लाजा। मंजुल मंजरि तुलसि बिराजा।—तुलसी।

लाजिम-वि० [अ०] (१) जो अवश्य कर्त्तव्य हो। (२) उचित। मुनासिब। बाजिब।

लाजिमी-वि० [अ० लाजिम + ई (प्रत्य०)] जो अवश्य कर्त्तव्य हो। जरूरी। आवश्यक।

लाट-संज्ञा पुं० [अ० लाट] किसी प्रांत या देश का सब से बड़ा शासक। गवर्नर।

संज्ञा पुं० [अ० लाट] बहुत सी चीजों का वह विभाग या समूह जो एक ही साथ रखा, बेचा या नीलाम किया जाय। यौ०—लाटबंदी।

संज्ञा स्त्री० [हि० लट्टा ?] मोटा और ऊँचा खंभा। जैसे,—कुतुब साहब की लाट, तालाब के बीच में की लाट, कोल्हू के बीच की लाट आदि।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन देश जहाँ अब भड़ौच, अहमदाबाद आदि नगर हैं। गुजरात का एक भाग। (२) इस देश के निवासी। (३) एक अनुप्रास जिसमें शब्द और अर्थ एक ही होते हैं, पर अन्वय में हेर फेर होने से

वाक्यार्थ में भेद हो जाता है। (४) वह लंबा बाँध जो किसी मैदान के पानी के बहाव को रोकने के लिये बनाया जाता है।

लाटपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] दारचीनी।

लाटपर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] दारचीनी।

लाटा †-संज्ञा पुं० [देश०] (१) भूने हुए मटुओं और तिलों को कूटकर बनाए हुए लड्डू। (२) भुना हुआ मटुआ।

लाटानुप्रास-संज्ञा पुं० [सं०] वह शब्दालंकार जिसमें शब्दों की पुनरुक्ति तो होती है, परंतु अन्वय में हेर फेर करने से तात्पर्य भिन्न हो जाता है। जैसे,—पीय निकट जाके नहीं, घाम चाँदनी ताहि। पीय निकट जाके, नहीं घाम चाँदनी ताहि।

लाटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] साहित्य में चार प्रकार की रचनाओं में से एक प्रकार की रचना या रीति जिसमें वैदर्भी और पांचाली दोनों ही रीतियों का कुछ कुछ अनुसरण किया जाता है। इसमें छोटे छोटे पद और छोटे छोटे समास हुआ करते हैं।

लाटी †-संज्ञा स्त्री० [अनु० लट लट = गाढ़ा या चिपचिपा होना।] वह अवस्था जिसमें मुँह का थूक और होंठ सूख जाते हैं। उ०—सूखहिं अधर लागि मुँह लाटी। जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी।—तुलसी।

क्रि० प्र०—लगना।

संज्ञा स्त्री० [सं०] लाटिका रीति।

लाट-संज्ञा पुं० दे० “लाट”।

संज्ञा स्त्री० दे० “लाट”।

लाठी-संज्ञा स्त्री० [सं० यष्टी, प्रा० लट्टी] वह लंबी और गोल बड़ी लकड़ी जिसका व्यवहार चलने में सहारे के लिये अथवा मार-पीट आदि के लिये होता है। डंडा। लकड़ी।

क्रि० प्र०—बाँधना।—मारना।—रखना।—लगाना।

मुहा०—लाठी चलना = लाठियों की मार पीट होना। लाठी चलाना = लाठी से मारना। लाठी से मारपीट करना। लाठी बाँधना = लाठी लिए रहना। डंड धारण करना।

लाड़-संज्ञा पुं० [सं० लालन] बच्चों का लालन। प्यार। दुलार।

क्रि० प्र०—करना।—लड़ाना।

यौ०—लाड़चाव।

लाड़लड़ा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का साँप जो प्रायः वृक्षों पर रहा करता है।

लाड़लड़ा-वि० [हि० लाड़ + लड़ाना] जिसका बहुत अधिक लाड़ हो। प्यारा। दुलारा। उ०—तुम रानी वसुदेव गेहनी हों गँवारि ब्रजवासी। पठै देहु मेरो लाड़ लड़ैतौ वारों ऐसी हाँसी।—सूर।

लाडला-वि० [हि० लाड़ + ला (प्रत्य०)] [स्त्री० लाडली] जिसका लाड़ किया जाय। प्यारा। दुलारा।

लाड़ा †-संज्ञा स्त्री० [हि० लाड़] [स्त्री० लाड़ी] वर। दूल्हा।
लाड़ू †-संज्ञा पुं० [हि० लड्डू] (१) लड्डू। मोदक। (२) दक्षिणी नारंगी।

लादिया-संज्ञा पुं० [देश०] वह दलाल जो दूकानदार से मिला रहता है और ग्राहकों को धोखा देखर उसका माल बिक्र-वाता है।

लादियापन-संज्ञा पुं० [हि० लादिया + पन (प्रत्य०)] (१) लादिया का काम। (२) धूर्तता। चालाकी। धोखेबाजी।

लात-संज्ञा स्त्री० [?] (१) पैर। पाँव। पद। उ०—तेहि अंगद कहँ लात उठाई। गहि पद पटवयो भूमि भँवाई।—तुलसी। (२) पैर से किया हुआ आघात या वार। पदाघात। पादप्रहार।

मुहा०—लात खाना = (१) पैरों की ठोकर या मार सहना। (२) मार खाना। **लात चलाना** = लात से मारना। लात से आघात करना। **लात जाना** = गौ भैंस आदि का दूध देते समय दूहने-वाले को लात मारकर दूर हट जाना। **लात मारना** = तुच्छ समझकर छोड़ देना। त्याग देना। जैसे,—(क) हम ऐसी दौलत को लात मारते हैं। (ख) तुमने जान बूझकर रोजी को लात मारी है। **लात मारकर खड़ा होना** = बहुत अधिक रगड़वस्था से, विशेषतः स्त्रियों का प्रसव के उपरांत, नीरोग होकर चलने फिरने के योग्य होना।

लातरा-संज्ञा स्त्री० [हि० लतरी] पुराना जूता।

जाद-संज्ञा स्त्री० [हि० लादना] (१) किसी वस्तु को बैल या गाड़ी पर रखकर एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने का कार्य। लादने की क्रिया।

यौ०—लाद फाँद = लादने की क्रिया।

(२) मिट्टी का वह ढोंका जो पानी निकालने की ढेंकी के दूसरे ओर लगा रहता है।

(१) पेट। उदर (जिसमें अँतड़ी आदि भरी रहती है)।

मुहा०—लाद निकलना = पेट का फूलकर आगे निकलना। तौंद निकलना।

(२) अँत। अँतड़ी। जैसे,—उसने पेट में ऐसी छुरी मारी कि लाद निकल पड़ी।

लादना-क्रि० सं० [सं० लब्ध, प्रा० लद्ध = प्राप्त + ना (प्रत्य०)]

(१) किसी चीज पर बहुत सी वस्तुएँ रखना। एक पर एक चीजें रखना। जैसे,—गाड़ी पर असबाब लादना। (२) गाड़ी या पशु को भार से युक्त करना। ढोने या ले जाने के लिये वस्तुओं को भरना। जैसे,—बैल लादना, गाड़ी लादना।

यौ०—लादना फाँदना = लादना और रखना।

(३) किसी के ऊपर किसी बात का भार रखना। जैसे,—तुम सब काम मुझ पर ही लादते चले जाते हो।

संयो० क्रि०—देना।

(४) कुदती लड़ते समय विपक्षी को अपनी पीठ या कमर पर उठा लेना। (पहल०)

संयो० क्रि०—लेना।

लादिया-संज्ञा पुं० [हि० लादना + द्या (प्रत्य०)] वह जो किसी चीज पर बोझ लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता हो।

लादी-संज्ञा स्त्री० [हि० लादना] (१) कपड़ों की वह गठरी जो धोबी गदहे पर लादता है। (२) वह गठरी जो किसी पशु पर लादी जाती है।

लाधना †-क्रि० सं० [सं० लब्ध, प्रा० लद्ध + ना (प्रत्य०)] प्राप्त करना। हासिल करना। पाना। उ०—(क) इन सम काहु न शिव अवराधे। काहु न इन समान फल लाधे।—तुलसी। (ख) छिन छिन परसत अंग मिलावत प्रेम प्रगट ह्वे लाधे।—सूर।

लानांग-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का अंगूर जो कमाऊँ और देहरादून में अधिकता से होता है। इससे अर्क निकाला जाता और एक प्रकार की शराब बनाई जाती है।

लान-संज्ञा पुं० [अंग० लॉन] हरी घास का बड़ा मैदान जिस पर गेंद आदि खेलते हैं।

लान टेनिस-संज्ञा पुं० [अंग०] गेंद का एक खेल जो छोटे से मैदान में खेला जाता है।

लानत-संज्ञा स्त्री० [अ० लानत] धिक्कार। फिटकार। भर्त्सना।

लानती-संज्ञा पुं० [हि० लानत + ती (प्रत्य०)] वह जो सदा लानत मलामत सुनने का अभ्यस्त हो। सदा फिटकार सुननेवाला।

लाना-क्रि० अ० [हि० लेना + आना, ले आना] (१) कोई चीज उठाकर या अपने साथ लेकर आना। कोई चीज उस जगह पर ले जाना, जहाँ उसे ग्रहण करनेवाला हो; अथवा जहाँ ले जानेवाला रहता हो। ले आना। जैसे,—(क) जरा वह किताब तो लाना। (ख) आप जब आते हैं, तब कुछ न कुछ लाते हैं। (ग) मैं आज बाजार से बहुत से कपड़े लाया हूँ। (घ) उनकी स्त्री मैके से बहुत सा धन लाई है।

संयो० क्रि०—देना।

(२) प्रत्यक्ष करना। उपस्थित करना। सामने रखना। जैसे,—(क) अब आप यह नया रंग लाए हैं। (ख) वह जब आता है, तब नया रूप लाता है। (ग) अब वह उन पर मुकदमा लावेगा। (३) उत्पन्न करना। पैदा करना। देना या सामने रखना। जैसे,—इस साल ये पेड़ बहुत फल लाए हैं।

क्रि० सं० [हि० लाय = आग + ना (प्रत्य०)] आग लगाना।

जलाना । उ०—(क) कंत बीसलोचन बिलोकिये कुमत फल,
ख्याल लंक लाई कपि राई की सी सोपड़ी ।—तुलसी ।
(ख) गोपद पयोधि करि होलिका ज्यों लाय लंक । निपट
निशंक पर पुर गलबक भो ।—तुलसी ।

† क्रि० सं० [हि० लगाना] लगाना । उ०—(क) राम
कुचरचा करहि सब सीतहि लाइ कलंक ।—तुलसी । (ख) लै
परजंक निसंक नवेली को लाय लगे गहि गूमन ।—शंभु ।

मुहा०—लाना लगाना या लाने लगाना = धन के बदले में कोई
पदार्थ दे देना या ले लेना ।

लाने†—अव्य० [हि० लाना = लगाना] वास्ते । लिखे । (हुंतेल०)
उ०—तू अलबेली अकेली डरै किन, क्यों डरौ मेरी सहाय के
लाने । है सखि संग मनोभव लो भट कान लौं बान सरासन
ताने ।—पद्माकर ।

लापता-वि० [अ० ला = बिना + हि० पता] (१) जिसका पता न
लगे । जो कहीं मिल न रहा हो । खोया हुआ । (२) गुप्त ।
गायब ।

क्रि० प्र०—करना ।—रहना ।—होना ।

लापरवा-वि० [अ० ला + फ्रा० परवाह] (१) जिसे किसी बात
की परवा न हो । बेफिक्र । (२) जो सावधानी से न रहता
हो । असावधान ।

लापरवाह-वि० दे० “लापरवा” ।

लापरवाही-संज्ञा स्त्री० [अ० ला + फ्रा० परवाह] (१) लापरवा
होने का भाव । बेफिक्री । (२) असावधानी । प्रमाद ।

क्रि० प्र०—करना ।—दिलाना ।—होना ।

लापसी†—संज्ञा स्त्री० दे० “लपसी” । उ०—लुचुई ललित
लापसी सोहै । स्वादु सुवास सहज मन मोहै ।—सूर ।

लापु-संज्ञा पुं० [सं०] लपवन्ती । खदन्ती ।

लावरक्ष†—वि० दे० “लवार” । उ०—काहि के लावर बीस विले
परौ बीस विले व्रत ते न टरौं जू ।—केशव ।

लाभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मिलना । प्राप्ति । लब्धि ।
(२) फायदा । मुनाफा । नफा । (३) उपकार । भलाई ।

यौ०—लाभकारी । लाभदायक ।

लाभकारक-वि० [सं०] जिससे लाभ होता हो । फलदायक ।
लाभजनक । फायदेमंद ।

लाभकारी-वि० [सं० लाभकारिन्] फायदा करनेवाला । गुण
करनेवाला । फायदेमंद ।

लाभदायक-वि० [सं०] जिससे लाभ हो । गुणकारी ।
फायदेमंद ।

लाभमद-संज्ञा पुं० [सं०] वह मद जिससे मनुष्य अपने आपको
लाभवाला और दूसरे को हीनपुण्य समझे । (जैन)

लाभस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार जन्म
कुंडली में लग्न से ग्यारहवाँ स्थान, जिसे देखकर यह निश्चय

किया जाता है कि धन-संपत्ति, [संतान, आशु और विद्या
आदि कैसी रहेगी ।

लाभांतराय-संज्ञा पुं० [सं०] वह अंतराय कर्म जिसके उद्भव
होने से मनुष्य के लाभ में विघ्न पड़ता है । (जैन)

लाम-संज्ञा पुं० [फ्रा० लार्म] (१) सेना । फौज ।

मुहा०—लाम बाँधना = चढ़ाई के लिये सेना तैयार करना ।

(२) बहुत से लोगों का समूह ।

मुहा०—लाम बाँधना = (१) बहुत से लोगों को एकत्र करना । (२)
बहुत सा सामान जमा करना ।

† क्रि० वि० [सं० लंब] फासले पर । दूर ।

लामज-संज्ञा पुं० [सं० लामजक] एक प्रकार का तृण जो संयुक्त
प्रदेश, पंजाब और सिंध में प्रायः बारहो महीने पाया जाता
है । यह खस की तरह का और कुछ पीले रंग का होता है;
इसलिये इसे पीलावाला भी कहते हैं । इसकी जड़ के पास
का भाग मोटा होता है और उस पर रोई होते हैं । इसका
ठंडल सीधा होता है, जिस पर चिकने, पतले और लंबे
पत्ते होते हैं । वैद्यक में इसे उत्तेजक, आमवात में पसीना
जानेवाला, रुधिर को साफ करनेवाला, अजीर्ण, खाँसी
आदि दूर करनेवाला और विशूचिका तथा ज्वर में लाभकारी
माना जाता है ।

लामजक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लामज नामक तृण । जि० दे०
“लामज” । (२) खस । उशीर ।

लामय-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की घास जो प्रायः ऊसर
भूमि में पाई जाती है ।

लामा-संज्ञा पुं० [ति०] तिब्बत या मंगोलिया के बौद्धों का
धर्माचार्य, जो अनेक अंशों में उनका राजनीतिक शासक
भी होता है । ऐसा धर्माचार्य सदा साधु और विरक्त
हुआ करता है और मठों में रहता है ।

संज्ञा पुं० [पेरु देश की भाषा] घास खाने और पागुर करने-
वाला एक जंतु जो ऊँट की तरह का होता है । आकार में यह
ऊँट से कुछ छोटा होता है और इसकी पीठ पर कूबड़ नहीं
होता । यह दक्षिणी अमेरिका में पाया जाता है । यह बहुत
चपल, बलवान् और शीघ्रगामी होता है । इसे जब तक
हरी घास मिलती है, तब तक पानी की कोई आवश्यकता
नहीं होती । इसकी सब उँगलियाँ अलग अलग होती हैं
और प्रत्येक उँगली में एक छोटा मजबूत खुर होता है ।
इसके रोएँ बहुत मुलायम होते हैं और इसकी खाल का
चरसा बहुत अच्छा होता है; इसी लिये कुत्तों की सहायता
से इसका शिकार किया जाता है । जब कोई इसे छेड़ता है,
तब यह उस पर थूक देता है, जिसका कुछ विषैला प्रभाव
होता है । जंगली दशा में इसे ग्वाना और पालू दशा में
लामा कहते हैं ।

वि० दे० “लंबा” । उ०—(क) ऊधो हरि काहे के अंत-
र्यामी । अजहुँ न आइ मिलै इहि औसर अवधि बतावत
लामी ।—सूर । (ख) लामी लूम लसत लपेटि पटकत
भट देखो देखो लखन करनि हनुमान की ।—तुलसी ।

लामी-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का फल जो प्रायः बालिशत
वेद बालिशत लंबा होता है और दिल्ली तथा राजपूताने की
ओर पाया जाता है । इसकी तरकारी बनाई जाती है ।

लामे-वि० [हि० लाम = दूर] दूर । अंतर पर । फासले
पर । उ०—बूटी के तार में मिललस कि तोहें ले गैली । लामें
लामें जे बहुत सान बुझावत बाटस ।—तेग अली ।

लायक-संज्ञा स्त्री० [सं० अलात, प्रा० अलाय] (१) लपट । ज्वाल ।
(२) आग । अग्नि । उ०—कबीर चित चंचल किया चहुँ
दिशि लागी लाय । हरि सुमिरन हाथें घड़ा लीजे बेगि
बुझाय ।—कबीर ।

लायक-वि० [अ०] (१) उचित । ठीक । वाजिब । (२) उप-
युक्त । मुनासिब । जैसे,—लड़के के लायक टोपी चाहिए ।
उ०—देखि सिवहिं सुरतिय मुसुकाहीं । वर लायक दुलहिनि
जग नाहीं ।—तुलसी । (३) सुयोग्य । गुणवान् । सब बातों
में अच्छा । जैसे,—(क) उनके घर के सभी लड़के बहुत
लायक हैं । (ख) अब तुम सयाने हुए; कुछ लायक
बनो । उ०—सो हम तो सिर बैठन लायक श्रेष्ठ सदा ।—
गिरधर । (४) समर्थ । सामर्थ्यवान् । उ०—(क) सब दिन
सब लायक भयो गायक रघुनायक गुनप्राप्त को ।—तुलसी ।
(ख) बहुनायक हौ सब लायक हौ सब प्यारिन के रस को
लहिये ।—रघुनाथ ।

लायकी-संज्ञा स्त्री० [अ० लायक + ई (प्रत्य०)] (१) लायक होने
का भाव या धर्म । (२) सुयोग्यता । काविलीयत । जैसे,—
यह आपकी लायकी है, जो आप ऐसा कहते हैं ।

लायची-संज्ञा स्त्री० दे० “इलायची” ।

लायन-संज्ञा पुं० [हि० लगाना = बदले में देना] वह वस्तु जो
नगद रूप से लेकर उसके बदले में किसी के पास रखी या
उसे दी जाय । बेची या रेहन रखी हुई चीज ।

लायल-वि० [अं०] राजभक्त ।

लायलटी-संज्ञा स्त्री० [अं०] राजभक्ति ।

लार-संज्ञा स्त्री० [सं० लाला] (१) वह पतला लसदार थूक जो
कोई बहुत कड़ुई चीज खाने या मुँह में कोई दवा आदि
लगाने पर तार के रूप में निकलता है ।

मुहा०—मुँह से लार टपकना = किसी चीज को देखकर उसके
पाने की परम लालसा होना । मुँह में पानी भर आना ।

(२) कतार । पंक्ति । (३) लासा । लुभाव । उ०—सो
मुख चूमनि महारि यशोदा दूध लार लपटानी हो ।—सूर ।

कि० वि० [१ मि० मार० लैर = पीछे] साथ । पीछे । उ०—(क)
खत्ती जरि कोइला भई सूये मरे की लार । जउ वह जरती
राम सों साँचे सँग भरतार ।—दादू । (ख) अंधे अंधा
मिल चले दादू बाँधि कतार । कूप पड़े हम देखतों अंधे
अंधा लार ।—दादू । (ग) जो निर्गुण सुमिरन करै दिन में
सौ सौ बार । नगर नायका सत करै जरै कौन की लार ।—
कबीर । (घ) जन्म जन्म के दूत तिरोवन कोनहिं लार
लगाए ।—सूर ।

मुहा०—लार लगाना = फँसाना । बभाना । उ०—बट दरखन
पाखंड न्यावने भरमि पयो संसार । वेद पुरान सबै मिलि
गावैं कर्म लगायो लार ।—कबीर ।

लार्ड-संज्ञा पुं० [अं०] (१) परमेश्वर । ईश्वर । (२) मालिक ।
स्वामी । (३) भूम्याधिकारी । जमींदार । (४) इंग्लैंड के
बड़े बड़े जमींदारों और रईसों आदि को मिलनेवाली कति-
पय बड़ी उपाधियों का सूचक शब्द, जो उनके नाम के
पहले लगाया जाता है । जैसे,—लार्ड कर्जन, लार्ड रीडिंग ।

लाल-संज्ञा पुं० [सं० लालक] (१) छोटा और प्रिय बालक ।
प्यारा बच्चा । (२) बेटा । पुत्र । लड़का । उ०—(क) जसु-
मति माय लाल अपने को शुभ दिन डोल झुलायो । फगुवा
दियो सकल गोपिन को भयो सबन मन भायो ।—सूर ।
(ख) केहिके अब मैं शरणै जावों । बोलौ लाल बहुत दुख
पावों ।—विश्राम । (३) प्रिय व्यक्ति । प्यारा आदमी ।
उ०—(क) आजु यासों बोलि चलि हैंसि खेलि लेहु लाल
कलहि ऐसी ग्वारि लाउँ काम की कुमारी सी ।—केशव ।
(ख) बरनत कविजोहै मुग्धा के भेदन में ललिता ललित सों
प्रवट लाल लखि लेहु ।—रघुनाथ । (ग) दैत जताये प्रगट
जो जावक लागौ भाल । नव नागरि के नेह सों भले बने
हौ लाल ।—रसनिधि । (घ) मेरेई उर गड़ि गये तेरेई हग
लाल । जनि पतियाउ लखौ इन्हें दरपन लैकै लाल ।—
रसनिधि ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग प्रायः कविता और बोलचाल में
किसी प्रिय व्यक्ति के लिये संबोधन के रूप में होता है ।

(४) श्रीकृष्णचंद्र का एक नाम । उ०—सुमन कुंज बिहरत
सदा दै गलबोही माल । बंदों चरन सरोज नित जुगल
लाडिली लाल ।—मन्नलाल ।

संज्ञा पुं० [सं० लालन] दुलार । लाड़ । प्यार । उ०—
जो वन सायर मुज्जते रसिया लाल कराय । अब कबीर पाँजी
परे पंथी आवहिं जाय ।—कबीर ।

संज्ञा पुं० [सं० लाला] पतला थूक जो प्रायः बच्चों और
वृद्धों के मुँह से बहा करता है । लाला । लार ।

लाला संज्ञा स्त्री० [सं० लालसा] लालसा । इच्छा । अभि-
लाषा । चाह । उ०—(क) सुभ कलाई अति बनी सुभजंव

गज चाल । सौरह शृंगार बरन के करहि देवता लाल ।—
जायसी । (ख) सुर नर गंधर्व लाल कराहीं । उलटे चलहि
स्वर्ग कहैं जाहीं ।—जायसी ।

संज्ञा पुं० [का०] मानिक या माणिक्य नाक का रत्न ।
वि० दे० “मानिक” । उ०—(क) कंचन के खंभ मयारि
मरवाडौडी खचि हीरा बिच लाल प्रवाल ।—सूर । (ख)
यह ललित लाल कैयों लसत दिग्भामिनि के भाल को ।—
केशव । (ग) कुंदन सी यह बाल कौं हीरा लाल लगाइ ।
रतन जटित की दुति तबै लीला इग सरसाइ ।—रसनिधि ।
(घ) नख नग जाल लाल अंगुलि प्रवाल माल नूपुर मराल
ये अनूप रव नाँउदे ।—देव ।

मुहा०—लाल उगलना = बहुत अच्छी और प्यारी बातें कहना ।
मीठी और सुंदर बातें कहना ।

वि० (१) मानिक, बीरबहूटी या लहू आदि के रंग का ।
रक्त वर्ण । सुख । उ०—(क) लोचन लाल विमल चारु
मंदार माल गर ।—गोपालचंद्र । (ख) फूल फूले हैं क्या ही
रंगीले । कोई ऊजरो कोई लाल पीले ।—संगीत शाकुंतल ।
(ग) कौने दियो यह भाल मैं लाल गुलाब को फूल कहौ
कहैं पावौ ।—रामाश्वमेध ।

यौ०—लाल अंगारा या लाल भभूका = जो जलने आदि के
कारण अंगारों की तरह लाल रंग का हो गया हो । ताप के कारण
बहुत अधिक लाल । लाल बिंब = बहुत अधिक लाल ।
(२) जिसका चेहरा क्रोध के भारे तमतमा गया हो । जिसके
चेहरे से गुस्सा मालूम होता हो । बहुत अधिक क्रुद्ध ।
जैसे,—बातों बातों में लाल क्यों होते हो ?

मुहा०—लाल आँखें निकालना या दिखाना = क्रोध से आँखें
लाल करना । गुस्से से देखना । लाल पड़ना या होना = क्रुद्ध
होना । नाराज होना । उ०—दशरथ लाल है कराल कछु
लाल परि, भाषत भयोई नेकु रावणै न गनहौं ।—पद्माकर ।
लाल पीले होना = गुस्सा होना । क्रोध करना । उ०—हैं हैं !
एक बारगी इतने लाल पीले हो गए ।—हरिश्चंद्र । लाल
हो जाना = क्रोध में भर जाना । गुस्से होना । लाल होना =
क्रुद्ध होना । नाराज होना ।

(३) (चौसर के खेल में गोटी) जो चारों ओर से घूमकर
बिल्कुल बीच के खाने में पहुँच गई हो, और जिसके लिये
कोई चाल बाकी न रह गई हो । (४) (चौसर के खेल में
खेलाड़ी) जिसकी सब गोठियाँ बीच के घर में पहुँच गई
हों और जिसे कोई चाल चलना बाकी न रह गया हो ।
ऐसा खिलाड़ी जीता हुआ समझा जाता है । (५) (खेलाड़ी)
जो खेल में औरों से पहले जीत गया हो ।

मुहा०—लाल होना = बहुत अधिक संपत्ति पाकर संपन्न होना ।

निहाल होना । जैसे,—उस मकान में गड़ा हुआ खजाना पाकर वह
लाल हो गया ।

संज्ञा पुं० (१) एक प्रसिद्ध छोटी चिड़िया जिसका शरीर
कुछ भूरापन लिए लाल रंग का होता है और जिस पर
छोटी छोटी सफेद बुँदकियाँ पड़ी रहती हैं । यह बहुत
कोमल तथा चंचल होता है और इसकी बोली बहुत प्यारी
होती है । लोग इसे प्रायः पालते हैं । इसकी मादा को
“मुनियाँ” कहते हैं । उ०—(क) ते अपने अपने मिलि
निकसी भाँति भली । मनु लाल मुनिन की पाँति पिंजर
दूरि चली ।—सूर । (ख) दूती लाल कर करे सारस जगर
तोते तीतर तुरमनी बटेर गहियत हैं ।—रघुनाथ । (ग)
लालन को पिंजरा कर लाल लिए प्रति कुंजन कुंजन उवै
रहे ।—जसवंत । (२) चौपायों के मुँह का एक रोग ।

लाल अंबारी-संज्ञा स्त्री० [हि० लाल + अंबारी] एक प्रकार का
पटुआ जिसके बीज दवा में काम आते हैं ।

लाल अग्नि-संज्ञा पुं० [हि० लाल + अग्नि] प्रायः एक बालिशतं
लंबा भूरे रंग का एक प्रकार का पक्षी जिसका गला नीचे
की ओर सफेद होता है । यह मध्य भारत तथा उड़ीसा में
अधिकता से पाया जाता है; और घास फूस से प्याले के
आकार का घोंसला बनाकर उसमें चार तक अंडे देता है ।

लाल आलू-संज्ञा पुं० [हि० लाल + आलू] (१) रतालू । (२) अरई ।
लाल इलायची-संज्ञा स्त्री० [हि० लाल + इलायची] बड़ी इलायची ।
वि० दे० “इलायची” ।

लाल कच्चा-संज्ञा पुं० [हि० लाल + कच्चा] गजकर्ण आलू । बंडा ।
लाल कलमी-संज्ञा पुं० [हि० लाल + कलमी] चाँदनी या गुल
चाँदनी नाम का पौधा या उसका फूल ।

लालकीन-संज्ञा पुं० दे० “नानकीन” ।

लाल घास-संज्ञा स्त्री० [हि० लाल + घास] गोमूत्र नामक वृण ।
लाल चंदन-संज्ञा पुं० [हि० लाल + चंदन] एक प्रकार का चंदन
जिसका पेड़ कद में छोटा होता है और जो मैसूर प्रांत तथा
अरकाट में बहुतायत से पाता जाता है । इसके ऊपर की
लकड़ी सफेद और हीर की लकड़ी कुछ कालापन लिए लाल
होती है । इसे घिसने से बहुत ही लाल रंग और अच्छी सुगंध
निकलती है । यह भी चंदन की तरह माथे पर लगाया जाता
है । रक्त-चंदन । देवी चंदन । वि० दे० “चंदन” ।

लालच-संज्ञा पुं० [सं० लालसा] [वि० लालचो] (१) कोई पदार्थ,
विशेषतः धन आदि प्राप्त करने की इतनी अधिक और ऐसी
कामना जो कुछ भद्दी और वेदंगी हो । कोई चीज पाने की
बहुत जुरी तरह इच्छा करना । लोभ । लोलुपता । जैसे,—
हर काम में बहुत ज्यादा लालच करना ठीक नहीं है ।

क्रि० प्र०—आना ।—करना ।—छाना ।—पकड़ना ।—
बढ़ना ।—मरना ।—होना ।

मुहा०—लालच देना = किसी के मन में लालच उत्पन्न करना।

जैसे,—उसने लड़के को मिठाई का लालच देकर उसके सब गहने ले लिए।

लाल चकवी-संज्ञा पुं० [सं० लालिक] भैंसा। (हिं०)

लालचहा—वि० [हिं० लालच + हा (प्रत्य०)] जिसे बहुत अधिक लालच हो। लालची। लोभी। उ०—बुधरुन को सोर

हुने सकुचै पिय होत ज्यों ज्यों अति लालचहा।—मन्नालाल।

लालचाँव-संज्ञा पुं० [हिं० लाल + चाँव] शुक। तोता। (हिं०)

लालची-वि० [हिं० लालच + ई (प्रत्य०)] जिसे बहुत अधिक लालच हो। लोभी।

लाल चीता-संज्ञा पुं० [हिं० लाल + चीता] लाल फूल का चित्रक या चीता। वि० दे० “चीता”।

लाल चीनी-संज्ञा पुं० [हिं० लाल + चीनी] एक प्रकार का कवूतर, जिसका सारा शरीर सफेद और सिर पर लाल छिटकियाँ होती हैं।

लालटेन-संज्ञा स्त्री० [अंग० लैंटर्न] किसी प्रकार का वह खाना आदि जिसमें तेल का खजाना और जलाने के लिये बत्ती लगी रहती है; और जिसके चारों ओर, तेज हवा और पानी आदि से बचाने के लिये शीशा या इसी प्रकार का और कोई पारदर्शी पदार्थ लगा रहता है। इसका ध्यनहार प्रकाश के लिये ऐसे स्थानों पर होता है, जहाँ या तो प्रकाश को प्रायः एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने की आवश्यकता होती है और या ऐसी जगह स्थायी रूप से रखने के लिये होता है, जहाँ चारों ओर से हवा आया करती हो। कंडील।

लालड़ी-संज्ञा पुं० [हिं० लाल (रंग) + डी (प्रत्य०)] लाल रंग का एक प्रकार का नगीना जो प्रायः नथों और बालियों आदि में मोती के दोनों ओर लगाया जाता है।

लाल दाना-संज्ञा पुं० [हिं० लाल + दाना] लाल रंग का पोस्ते का दाना। लाल खसखस। (पूरब)

लालन-संज्ञा पुं० [सं०] अत्यंत स्नेह करना। प्रेमपूर्वक बालकों का आदर करना। लाड़। प्यार।

लौ०—लालन पालन।

संज्ञा पुं० [हिं० लाला] (१) प्रिय पुत्र। प्यारा बच्चा। उ०—भूल लगी हूँ है लालन को लावो बेगि बुलाई।—सूर। (२)

कुमार। बालक। उ०—भाल के लाल में बाल बिलोक्त ही भरि लालन लोचन लीन्हे।—केशव। वि० दे० “लाल”।

क्रि० अ० लाड़ करना। प्यार करना। उ०—लालन जोग लखन लघु लोने। मे न भाइ अस अहहि न होने।—तुलसी।

संज्ञा स्त्री० [देश०] चिरौजी। पिथाल।

लालनाल-क्रि० स० [सं० लालन] दुलार करना। लाड़ करना।

प्यार करना। उ०—(क) चाहि चुचुकारि चूमि लालत लावत उर तैसे फल पावत जैसे सुबीज बये हैं।—तुलसी।

(ख) कल्पवेलि जिमि बहुविधि लाली। सींचि सनेह ललित प्रतिपाली।—तुलसी।

लालनीय-वि० [सं०] लालन करने के योग्य। दुलार या प्यार करने के लायक।

लाल पानी-संज्ञा पुं० [हिं० लाल + पानी] शराब। मद्य।

लाल पिलका-संज्ञा पुं० [हिं० लाल + पिलका] लाल रंग का एक प्रकार का कवूतर जिसकी दुम और डैने सफेद होते हैं।

लाल पेठा-संज्ञा पुं० [हिं० लाल + पेठा] कुम्हड़ा।

लाल बुभुक्षकड़-संज्ञा पुं० [हिं० लाल + बुभुक्षा] बातों का अटकलपच्च मतलब लगानेवाला। वह जो कोई बात जानता तो न हो, पर यों ही अंदाज लड़ाता हो। (व्यंग्य)

लाल बेग-संज्ञा पुं० [हिं० लाल + तु० बेग] (१) लाल रंग का एक प्रकार का परदार कीड़ा। (२) मुसलमान भंगियों और मेहतरों के एक कल्पित पीर का नाम।

लालबेगी-संज्ञा पुं० [हिं० लालबेग + ई (प्रत्य०)] वह जो लालबेग का अनुयायी हो। भंगी। मेहतर।

लाल भरेड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० लाल + भरेड़ा ?] एक प्रकार का छोटा झाड़ जो भारत के गरम प्रांतों में उत्पन्न होता है। इसके बीजों में से तेल निकलता है, जो गठिया के रोग में काम आता है। इसको उँदरबीबी भी कहते हैं।

लालमन-संज्ञा पुं० [हिं० लाल + मणि] (१) श्रीकृष्ण। उ०—कीन्है चरित लालमन जोई। सुमिरि सुमिरि अब आवत रोई।—विश्राम। (२) एक प्रकार का तोता जिसका सारा शरीर लाल, डैने हरे, चोंच गुलाबी और दुम काली होती है।

लाल मिर्च-संज्ञा स्त्री० दे० “मिर्च” (२)।

लालमी-संज्ञा पुं० [?] खरबूजा।

लालमुँहा-संज्ञा पुं० [हिं० लाल + मुँहा] एक प्रकार का निनावँ जिसमें मुँह के अंदर छाले पड़ जाते हैं और उसका रंग लाल हो जाता है।

लाल मुरगा-संज्ञा पुं० [हिं० लाल + मुरगा] (१) एक प्रकार का पक्षी जिसका शिकार किया जाता है। यह काश्मीर से आसाम तक पाया जाता है। यह दो फुट से अधिक लंबा होता है। (२) मयूरशिखा। (३) गुलमखमली नामक पौधा।

लाल मूली-संज्ञा स्त्री० [हिं० लाल + मूली] शलजम। सलगम। **लालरी-संज्ञा** स्त्री० दे० “लालड़ी”। उ०—छवि होती भली गजमोती के बीच जौ होती बड़ी बड़ी लालरियाँ।—रस-कुसुमाकर।

लाल लाड़-संज्ञा पुं० [हिं० लाल + लाड़ = लड्डू] दक्षिण भारत में होनेवाली एक प्रकार की नारंगी।

लाल शकर-संज्ञा स्त्री० [हिं० लाल + शकर] बिना साफ की हुई चीनी। खाँद।

लाल सफरी-संज्ञा पुं० [हि० लाल + सफरी?] अमरुद ।

लाल समुद्र-संज्ञा पुं० दे० “लाल सागर” ।

लालसर-संज्ञा पुं० [हि० लाल + सर] एक प्रकार का पक्षी जिसकी गरदन और सिर लाल रंग का होता है, छाती चित-कबरी और पीठ काली होती है और डैना सुनहरे रंग का होता है ।

लालसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी पदार्थ को प्राप्त करने की बहुत अधिक उत्कंठा या अभिलाषा । बहुत अधिक इच्छा या चाह । लिप्सा । उ०—एक लालसा बड़ उर माँहीं । सुगम भगम सुजात कहि नहिं ।—तुलसी । (२) उत्सुकता । (३) वह अभिलाषा जो गर्भिणी स्त्री के मन में गर्भावस्था में उत्पन्न होती है । दोहद । (४) किसी से कुछ माँगना या चाहना ।

वि० लोल । चंचल ।

लाल साग-संज्ञा पुं० [हि० लाल + साग] सरसा नाम का साग ।

लाल सागर-संज्ञा पुं० [हि० लाल + सागर] भारतीय महासागर का वह अंश जो अरब और अफ्रिका के मध्य में पड़ता है और जो बाब एल-मंदब से स्वेज तक फैला हुआ है । यह प्रायः १४०० मील लंबा है, और इसकी अधिक से अधिक चौड़ाई २३० मील है । इसके किनारों पर बहुत से छोटे छोटे टापू और प्रवाल द्वीप हैं, जिनके कारण जहाजों को इसमें से होकर आने जाने में बहुत कठिनाता होती है । पहले यह भूमध्यसागर से अलग था, पर स्वेज की नहर खुद जाने से यह उससे मिल गया है । इसके पानी में कुछ ललाई झलकती है; इसी से इसे लाल सागर कहते हैं ।

लालसिखी + संज्ञा पुं० [हि० लाल + सिखा] अरुणचूड़ । सुर्गा । उ०—प्रात उठी रतिमान भद्र धुनि लालसिखी की हिये खटकी है ।—मन्नालाल ।

लालसिरा-संज्ञा स्त्री० [हि० लाल + सिरा = सिर] एक प्रकार की वस्तु जिसका सिर लाल होता है ।

लालसीक-वि० [सं० लालसा + ई (प्रत्य०)] अभिलाषा करनेवाला । इच्छा करनेवाला । उत्सुक । उ०—सो हरि के पद के हम लालसी माया कि है न जहाँ प्रसुताई ।—रघुराज ।

लालसीक-संज्ञा पुं० [सं०] गिलगिला । पिच्छिल ।

लाला-संज्ञा पुं० [सं० लालक] (१) एक प्रकार का संबोधन जिसका व्यवहार किसी का नाम लेते समय उसके प्रति आदर दिखलाने के लिये किया जाता है । महाशय । साहब । जैसे,—लाला गुरदयाल आज यहाँ आनेवाले हैं । (पश्चिम)

विशेष—इस शब्द का व्यवहार प्रायः पश्चिम में स्त्रियों, और बच्चों आदि के लिये अधिकता से होता है ।

मुहा०—लाला भइया करना = किसी को आदरपूर्वक संबोधन

करना । इज्जत के साथ बातचीत करना ।

(२) कायस्थ जाति या कायस्थों का सूचक एक शब्द ।

यौ०—लाला भाई = कायस्थ ।

(३) छोटे प्रिय बच्चे के लिये संबोधन । प्रिय व्यक्ति; विशेषतः बाबूक । उ०—आनंद की निधि मुख लाला को, ताहि निरखि निसिवासर सो तो छवि क्योंहूँ न जाति बखानी ।—सूर ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] मुँह से निकलनेवाली लार । थूक ।

संज्ञा पुं० [क्रा०] पोस्त का लाल रंग का फूल जिसमें प्रायः काली खसखस पैदा होती है । गुले लाला । उ०—कोऊ कहै गुल लाला गुलाल की कोऊ कहै रँग रोरी के भाव की ।—द्विज ।

वि० [हि० लाल] लाल रंग का । वि० दे० “लाल” ।

उ०—(क) पारथ भयो विलोचन लाला । लखि अनर्थक धर्म भुवाला ।—सदल । (ख) केकी के काकी कका कोक कीक का कोक । लोल लालि कोलै लली लाला लीला लोल ।—केशव ।

लाला प्रमेह-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का प्रमेह जिसमें मुँह की लार की तरह तार बँधकर पेशाब होता है ।

लालाभक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक नरक का नाम । कहते हैं कि जो लोग बिना देवताओं आदि को भोग लगाए अथवा बिना अतिथियों को भोजन कराए आप भोजन कर लेते हैं, वे इसी नरक में जाते हैं ।

लालामेह-संज्ञा पुं० दे० “लालाप्रमेह” ।

लालायित-वि० [सं०] (१) जिसके मुँह में बहुत अधिक लालच के कारण पानी भर आया हो । ललचाया हुआ ।

(२) जिसका बहुत अधिक लालन किया गया हो । दुलारा ।

लालाविष-संज्ञा पुं० [सं०] वह जंतु जिसके मुँह की लार में विष हो । जैसे,—मकड़ी आदि ।

लालासव-संज्ञा स्त्री० [सं० लालासव] मकड़ी । (हिं०)

लालासव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुँह से लार बहना । (२) मकड़ी ।

लालासाव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुँह से थूक या लार गिरना । (२) मकड़ी का जाला ।

लालिक-संज्ञा स्त्री० [सं०] भैंस ।

लालित-वि० [सं०] (१) जिसका लालन किया गया हो । दुलारा हुआ । लड़ाया हुआ । प्रिय । प्यारा । (२) जो पाला पोसा गया हो ।

लालित्य-संज्ञा पुं० [सं०] ललित होने का भाव । सौंदर्य । सुंदरता । सरसता । मनोहरता । जैसे,—आपकी भाषा में बहुत अधिक लालित्य होता है ।

लालिमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] लाली । ललाई । अरुणता । सुर्गी ।

लाली-संज्ञा स्त्री० [हि० लाल + ई (प्रत्य०)] (१) लाल होने का भाव । अरुणता । ललाई । लालपन । सुखी । (२) इजत । पत । आवरु । जैसे,—(क) आज आप की ही कृपा से उनकी लाली रह गई । (ख) मेरी लाली तुम्हारे हाथ है ।
विशेष—कभी कभी खाली “लाली” और कभी कभी “मुँह की काली” भी बोलते हैं ।
(३) पीसी हुई ईंटे जो चूने में मिलाई जाती हैं । सुरखी ।
संज्ञा स्त्री० आसाम की एक नदी का नाम ।

लालील-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि । आग ।

लालुका-संज्ञा स्त्री० [सं०] गले में पहनने का एक प्रकार का हार ।

लाले-संज्ञा पुं० [सं० लाला या लालायित] लालसा । अभिलाषा । इच्छा । अरमान । जैसे,—हमें तो आपके देखने के ही लाले हैं ।

मुहा०—किसी चीज के लाले पड़ना = किसी चीज के देखने या पाने के लिये बहुत अधिक तरसना । किसी चीज के अप्राप्य या पहुँच के बाहर होने के कारण बहुत अधिक लालायित होना ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग सदा बहुवचन में होता है ।

लाल्य-वि० [सं०] लालन करने योग्य । दुलार करने लायक ।

लालहा + संज्ञा पुं० [हि० लाल साग = मरसा] मरसा नामक साग । उ०—चौलाई लालहा अरु पोई । मध्य मेलि निबु-आनि निचोई ।—सूर ।

लाव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लवा नामक पक्षी । वि० दे० “लवा” । (२) लौंग ।

लौंग-संज्ञा स्त्री० [हि० लाय = आग] अग्नि । आग । आँच ।

संज्ञा स्त्री० [देश० या सं० रज्जु] (१) वह मोटा रस्सा जिससे चरसा खींचते या इसी प्रकार का और कोई काम करते हैं । रस्सा । लास ।

मुहा०—लाव चलाना = चरसे के द्वारा कूँ से पानी खींचकर खेत सींचना ।

(२) रस्सी । डोरी । रज्जु । उ०—फिरि फिरि चित्त-उत ही रहतु टुटी लाज की लाव । अंग अंग छवि झौर में भयीं और की नाव ।—बिहारी । (३) उतनी भूमि जितनी एक दिन में एक चरसे से सींची जा सके ।

संज्ञा पुं० [हि० लगाना] वह ऋण जो किसी की चीज अपने पास बंधक रखकर उसे दिया जाय ।

मुहा०—लाव उठाना = (१) चीज बंधक रखकर रुपया उधार देना ।

(२) किसानों को उनके कष्ट के समय ऋण स्वरूप धन देना । तकावी बाँटना ।

लावक-संज्ञा पुं० [सं०] लवा पक्षी । उ०—तीतर लावक पद-चर जूया । बरनि न जाइ मनोज बरुथा ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० [देश०] (१) चावल की जाड़े की फसिल । (२)

चरसा । (३) मोट खींचने में बैलों के एक बार जाने और आने का काल ।

लावज-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत प्राचीन काल का एक प्रकार का बाजा जिस पर चमड़ा मढ़ा हुआ होता था ।

लावण-संज्ञा पुं० [सं०] सुँवनी । नस्य ।

वि० (१) जिसका संस्कार लवण द्वारा हुआ हो । (२) लवण का । नमकीन ।

लावणा-संज्ञा पुं० [देश०] वैश्यों की एक जाति ।

लावणिक-वि० [सं०] (१) जिसका लवण द्वारा संस्कार हुआ हो । (२) लवण संबंधी । नमक का ।

संज्ञा पुं० (१) वह जो नमक बेचता हो । (२) वह पात्र जिसमें नमक रखा जाता है । नमकदान ।

लावण्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लवण का भाव या धर्म । नमक-पन । (२) अत्यंत सुंदरता । नमक । लोनाई । उ०—जटा मुकुट सुरसरित सिर लोचन नलिन विशाल । नीलकंठ लावण्यनिधि सोह बालविधु भाल ।—तुलसी । (३) शील की उत्तमता । स्वभाव का अच्छापन ।

लावण्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] ब्राह्मी नाम की बूटी ।

लावदार-वि० [हि० लाव = आग + दा० दार (प्रत्य०)] (तोप) जो छोड़ी जाने या रंजक देने के लिये तैयार हो । उ०—लावदार रक्खो किई सवै अराबौ एहु । ज्यौं हरीफ आवै नजरि तवै धदाधड़ देहु ।—सूदन ।

संज्ञा पुं० तोप में बत्ती लगानेवाला । तोप छोड़नेवाला । तोपची । उ०—किते जजालदार आवदार लावदार हौ । किते निसानवान सान के भरे तयार हौ ।—सूदन ।

लावना-संज्ञा स्त्री० [सं० लावण्य + ता (प्रत्य०)] बहुत अधिक सौंदर्य । सुंदरता । खूबसूरती । नमक । उ०—तुलसी तेहि अवसर लावना दसचारि नवतीनि एकीस सबै ।—तुलसी ।

लावना*†—क्रि० सं० [हि० लाना] लाना । उ०—(क) विप्र कह्यो धन लावनो करन सुता को ब्याह । यहि थल चोर चुराय लिय भयो भोर दुख दाह ।—रघुराज । (ख) जाहि अधम पापी हम चीन्हा । तेहि तब ढिग लावन मन कीन्हा ।—विश्राम । (ग) कीन्हेसि मधु लावइ लेइ माखी । कीन्हेसि भँवर पंखि अरु पाँखी ।—जायसी ।

क्रि० सं० [हि० लगाना] (१) लगाना । स्पर्श कराना । उ०—(क) लावत मैं सुगंध लख्यौ सब सौरभ की तन देत दसीहै ।—रघुनाथ । (ख) तुलसिदास कह रूप देखावहु । मेरे शीश पानि विज लावहु ।—रघुराज । (ग) मेरे अंग सहत सुगंध सो सही है सदा लावन न देत और ऐसे हैं सुधर्मी ।—रघुनाथ । (घ) सो मोहि लेइ मँगावई लावइ भूख पिबास । जउँ न होत अस बहरी केहु काहू कर आस ।—जायसी । (२) जलाना । आग लगाना । उ०—बहुरि

इंद्रजित ब्रह्मअलकृत हनुमत बंधन गायो। सभागमन
रावण समुद्रावन लावन लंक गनायो।—रघुराज।

लावनि—संज्ञा स्त्री० [सं० लावण्य] सौंदर्य। लावण्य। सुंदरता।
नमक। उ०—(क) कोटि काम लावनि बिहारी जा देखत
सब दुख नसंत।—स्वामी हरिदास। (ख) सुंदर मुख की
बलि बलि जाऊँ। पावनि सिधि गुणनिधि शोभा निधि
निरखि निरखि जीवत सब गाऊँ।—सूर।

संज्ञा स्त्री० दे० “लावनी”।

लावनी—संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) गाने का एक प्रकार का छंद।
(२) इस छंद का एक प्रकार जो प्रायः चंग बजाकर
गाया जाता है। इसे ख्याल भी कहते हैं। (३) इस प्रकार
का कोई गीत।

लाववाली—संज्ञा पुं० [अ० लाववाली] (१) वह जिसे किसी प्रकार
की चिंता आदि न हो। लापरवाह। बेफिक्र। (२) वह
जिसके विचार, धार्मिक दृष्टि से, बहुत ही स्वतंत्र और
उच्छृंखल हों। (३) वह जो सदा निकम्मा घूमा करता हो।
आवारा।

संज्ञा स्त्री० लाववाली होने का भाव। लाववालीपन।

लावल्द—वि० [फ्रा०] जिसके बालबच्चा न हो। निःसंतान।

लावल्दी—संज्ञा स्त्री० [फ्रा०] लावल्द या निःसंतान होने का
भाव या अवस्था।

लावा—संज्ञा पुं० [सं०] लवा नामक पक्षी। वि० दे० “लवा”।
उ०—गयउ सहसि नहिं कछु कहि आवा। जनु सचान
बन झपटेउ लावा।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [सं० लाजा] भूना हुआ धान, ज्वार, बाजरा या
रामदाना आदि जो भुनने के कारण फूलकर फूट जाता है
और जिसके अंदर से सफेद गूदा बाहर निकल आता है। यह
बहुत हलका और पथ्य समझा जाता है और प्रायः रोगियों
को दिया जाता है। खील। लाई। फुला।

क्रि० प्र०—फूटना। भूना।

यौ०—लावा परछन।

संज्ञा पुं० [अ०] राख, पत्थर और धातु आदि मिला हुआ
वह द्रव पदार्थ जो प्रायः ज्वालामुखी पर्वतों के मुख से
विस्फोट होने पर निकलता है।

लावाक्षक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का धान।

लावाणक—संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल के एक देश का नाम
जो मगध के पास था।

लावा परछन—संज्ञा पुं० [हि० लावा + परछना] विवाह के समय
की एक रीति। इसमें वर के आगे कन्या खड़ी की जाती है
और उसके हाथ में एक डलिया दी जाती है। कन्या का
भाई उसी डलिया में धान का लावा डालता है। हवन और
सप्तपदी इसके बाद होती है।

लावारिस—संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह मनुष्य जिसका कोई उत्त-
राधिकारी या वारिस न हो। (२) वह संपत्ति जिसका
कोई अधिकारी या स्वामी न हो। (क०)

लावारिसी—वि० [अ० लावारिस] (संपत्ति) जिसका कोई अधि-
कारी न हो।

लाविका—संज्ञा स्त्री० [सं० लावा] लवा नामक पक्षी।

लावु—संज्ञा पुं० [हि० अलाव] कौआ। कद्दू। चिआ।

लाश—संज्ञा स्त्री० [फ्रा०] किसी प्राणी का मृतक देह। श्मशान।
मुरदा। शव।

लाष—संज्ञा पुं० [सं० लाचा] लास नामक लाल द्रव्य। लाह।
उ०—लाष भवन वैठार दुष्ट ने भोजन में विष दीन्हो।—
सूर। वि० दे० “लास”।

लाषनाक्ष—क्रि० स० दे० “लखना”।

लाषुक—संज्ञा पुं० [सं०] लोभी। लालची।

लास—संज्ञा पुं० [सं० लास्य] (१) एक प्रकार का नाच। (२) मटक।
उ०—लास भरी भौहन विलास भरे भाल मृदु हास भरे
अथर सुधारस घुरे परैं।—देव।

संज्ञा पुं० [सं०] जूस। रसा। शोरबा।

संज्ञा पुं० [?] उस छड़ के दोनों कोने जिसे पाल बाँधने के
लिये मस्तूल में लटकते हैं। (लश०)

मुहा०—लास करना = चलती हुई नाव को रोकने के लिये डोंडों को
बहते हुए पानी में वेड़े बल में ठहराना। (लश०)

लासक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मयूर। मोर। (२) नाचनेवाला।
नचनिया। नर्तक। (३) मटका। घड़ा।

वि० चमकानेवाला। दीप्तिकारक।

लासकी—संज्ञा स्त्री० [सं०] नाचनेवाली स्त्री। नर्तकी।

लासन—संज्ञा पुं० [अ० लैरिंग] जहाज बाँधने का मोटा रस्सा।
लहासी।

क्रि० प्र०—खोलना।—बाँधना।—लगाना।

मुहा०—लासन देना = मस्तूल के चारों ओर रस्सी लपेटना। कौड़ी
लेना। (लश०)

लासा—संज्ञा पुं० [हि० लस] (१) कोई लसदार या चिपचिपी
चीज। ज़ेप। लुआब। उ०—(क) नाम लुगि ल्याय लासा
ललित वचन कहि व्याध ज्यों विषय विहंगनि बसावैं।
—तुलसी। (ख) चितवनि ललित लकुट लासा लटकनि
पिय काँपे अलक तरंग।—सूर। (२) एक विशेष प्रकार का
चिपचिपा पदार्थ जो बहेलिए लोग चिड़ियों को फँसाने के
लिये बरगद और गूलर के दूध में तीसी का तेल पकाकर
बनाते हैं। इसे प्रायः वे लोग वृक्षों की डालियों पर
लगा देते हैं; और जब पक्षी उन पर आकर बैठते हैं, तब
उनके पंरों में यह लग जाता है, जिससे वे उड़ नहीं सकते।
उस समय बहेलिए उन्हें पकड़ लेते हैं।

मुहा०—लासा लगाना = किसी को फँसाने के लिये किसी प्रकार का लालच या धोखा देना । फँदे में फँसाना । लासा होना = हरदम साथ लगे रहना । पीछा न छोड़ना ।

लासानी वि० [अ०] जिसका कोई सानी या जोड़न हो । अनुपम । अद्वितीय । बे जोड़ ।

लासि-संज्ञा पुं० दे० “लास्य” । उ०—तांडव लासि ओर अंग को गनें जे जे रुचि उपजत जी केँ ।—स्वा० हरिदास ।

लासी-संज्ञा स्त्री० [देश०] जूँ की तरह का एक प्रकार का काला कीड़ा जो गेहूँ के पेटों से लगकर उन्हें निकम्मा कर देता है ।

संज्ञा स्त्री० दे० “लसी” या “लस्सी” ।

लासु-संज्ञा पुं० दे० “लास्य” ।

लास्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नृत्य । नाच । (२) नाच या नृत्य के दो भेदों में से एक । वह नृत्य जो भाव और ताल आदि के सहित हो, कोमल अंगों के द्वारा हो और जिसके द्वारा शृंगार आदि कोमल रसों का उद्दीपन होता हो ।

विशेष—साधारणतः स्त्रियों का नृत्य ही लास्य कहलाता है । कहते हैं कि शिव और पार्वती ने पहले पहल मिलकर नृत्य किया था । शिव का नृत्य तांडव कहलाया और पार्वती का “लास्य” । यह लास्य दो प्रकार का कहा गया है—छुरित और यौवत । साहित्यदर्पण में इसके दस अंग बतलाए गए हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—गेयपद, स्थितपाठ, आलीन, पुष्पगंडिका, प्रच्छेदक, त्रिगूढ़, सैंधवाख्य, द्विगूढ़, उत्तमोत्तमक और युक्तप्रत्युक्त ।

लाहल-संज्ञा स्त्री० [सं० लाहा] लाख । चपड़ा । लाही । उ०—जाकी वाकी बीरता सुनत सहमत धीर जाकी आँच अजहु लसत लंक लाह सी ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० [सं० लाभ] लाभ । फायदा । नफा । उ०—(क) दावा धरि पाहरू को अवागौन मिसि ताके भातु ससि अभिमति लाहा में फिरत हैं ।—चरण । (ख) सारहि सब विचारिये सोई सब सुख देय । अनसमझा सबदेक है कछु न लाहा लेय ।—कबीर । (ग) लहि जीवनमूरि को लाह अली वै भलें जुग चारि लौं जीबो करैं ।—द्विजदेव । (घ) मैं तुमसों कहि राखत हौं यह मान किये कछु तैहै न लाहे ।—रघुनाथ ।

संज्ञा स्त्री० [?] चमक । आभा । कांति । दीप्ति । उ०—सीसफूल बेनी बेंदी बेसरि और बीरनि मैं हीरान की लाह मैं हँसनि छवि छहरी ।—देव ।

लाहना संज्ञा पुं० [देश०] (१) वह महुआ जो मद्य खींचने के उपरांत देग में बच रहता है । यह प्रायः पशुओं को खिलाया जाता है । (२) जूसी और महुए को मिलाकर उड़ाया हुआ खमीर । (३) किसी प्रकार या पदार्थ का खमीर ।

(४) वे पेय ओषधियाँ जो गौधों को बचा होने पर दी जाती हैं । (५) अनाज होने की मजदूरी ।

लाहल-संज्ञा पुं० दे० “लाहौल” । उ०—लाहल पारख शब्द के जो परखे सो पाक । तामें जो हला करै सोई होइ हलाक ।—कबीर ।

लाही संज्ञा स्त्री० [सं० लाहा, हिं० लाह, लाह] (१) लाल रंग का वह छोटा कीड़ा जो वृक्षों पर लाख उत्पन्न करता है । वि० दे० “लाख” । (२) इससे मिलता जुलता एक प्रकार का कीड़ा जो प्रायः भाव फागुन में पुरवा हवा चलने पर उत्पन्न होता और फसल को बहुत हानि पहुँचाता है ।

वि० लाह के रंग का । मटमैलापन लिये लाल । उ०—तन-सुख सारी लाही अँगिया अतलस अँतरीय छवि चारि चारि चूरी पहुँचीनि पहुँची बमकि बनी नकफूल जेब सुख बीरा चोका कौंथें संभ्रम भूली ।—स्वा० हरिदास ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० लावा] धान, बाजरे आदि के भूने हुए दाने । लावा । लाजा । खील ।

यौ०—लाही का सत्तू = धान की खोलों को पीसकर बनाया हुआ सत्तू जो बहुत हलका होता और प्रायः रोगियों को पथ्य के रूप में दिया जाता है ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) सरसों । (२) काली सरसों । (३) तीसरी बार का साफ किया हुआ शोरा ।

लाहल-संज्ञा पुं० [सं० लाभ] नफा । फायदा । प्राप्ति । लाभ । उ०—(क) हानि कुसंग सुसंगति लाहू । लोकहु बेद विदित सब काहू ।—तुलसी । (ख) मूकनि बचन लाहु मानो अंधनि लहे हैं विलोचन तारे ।—तुलसी ।

लाहौरी नमक-संज्ञा पुं० [हिं० लाहौरी + नमक] सैंधव लवण । सेंधा नमक । वि० दे० “नमक” ।

लाहौल-संज्ञा पुं० [अ०] एक अरबी वाक्य का पहला शब्द जिसका व्यवहार प्रायः भूत-प्रेत आदि को भगाने या घृणा प्रकट करने के लिये किया जाता है । पूरा वाक्य यह है—लाहौल व ला कूवत इला बिलाह । इसका अर्थ है—ईश्वर के सिवा और किसी में कोई सामर्थ्य नहीं है ।

मुहा०—लाहौल पढ़ना = (१) उक्त वाक्य का उच्चारण करना ।

(२) बहुत अधिक घृणा प्रकट करना ।

लाह्ला-संज्ञा स्त्री० [सं०] उल्लू पक्षी ।

लिंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिससे किसी वस्तु की पहचान हो । चिह्न । लक्षण । निशान । (२) वह जिससे किसी वस्तु का अनुमान हो । साधक हेतु । जैसे,—धूम अग्नि का लिंग है; अर्थात् धूम से अग्नि के होने का अनुमान होता है । (न्याय)

विशेष—लिंग चार प्रकार के होते हैं—(क) संबद्ध; जैसे,—धूम अग्नि के साथ संबद्ध है । (ख) न्यस्त; जैसे,—सींग गाय के

साथ है। (ग) सहवर्ती; जैसे, भाषा मनुष्य के साथ है। और (घ) विपरीत; जैसे भला बुरे के साथ है।

(२) सांख्य के अनुसार मूल प्रकृति।

विशेष—विकृति फिर प्रकृति में लय को प्राप्त होती है; इसी से प्रकृति को लिंग कहते हैं।

(४) पुरुष का चिह्न विशेष जिसके कारण स्त्री से उसका भेद जाना जाता है। पुरुष की गुप्त इंद्रिय। शिश्न।

पर्याय—उपस्थ। मदनकुश। मोहन। कंदर्पमुषल। शोफस्। मेढ। ध्वज। साधन।

(५) शिव की एक विशेष प्रकार की मूर्ति।

विशेष—लिंग पुराण में लिखा है कि शिव के दो रूप हैं। निष्क्रिय और निर्गुण शिव अलिंग हैं और जगत्कारण रूप शिव लिंग हैं। अलिंग शिव से ही लिंग शिव की उत्पत्ति हुई है। शिव को लिंगी भी कहते हैं; और वह इसलिये कि लिंग या प्रकृति शिव की ही है। इस प्रकार लिंग जगत्कारण रूप शिव का प्रतीक है। पञ्चपुराण में शिव के इस रूप के संबंध में यह कथा है—एक बार मंदराचल पर ऋषियों ने बड़ा भारी यज्ञ किया। वहाँ उन्होंने यह चर्चा छेड़ी कि ऋषियों का पूज्य देवता किसे बनाना चाहिए। अंत में यह निश्चय हुआ कि शिव, विष्णु और ब्रह्मा तीनों के पास चलकर इसका निर्णय करना चाहिए। सब ऋषि पहले शिव के पास गए। पर उस समय वे पार्वती के साथ क्रीड़ा कर रहे थे; इससे नंदि ने द्वार पर उन्हें रोक दिया। ऋषियों को प्रतीक्षा करते बहुत काल बीत गया। इस पर शृगु ऋषि ने कोप करके शाप दिया—“हे शिव! तुमने काम क्रीड़ा के वशीभूत होकर हमारा अपमान किया; इससे तुम्हारी मूर्ति योनि-लिंग रूप होगी और तुम्हारा नैवेद्य कोई ग्रहण न करेगा”। पर इस कथा के संबंध में यह ध्यान रखना चाहिए कि पञ्चपुराण वैष्णवों का पुराण है।

किसी समय जगत्कारण के रूप में देवता या ईश्वर की उपासना के लिये लिंग का ग्रहण प्राचीन मिस्र, अरब, यहूद, यूनान और रोम आदि देशों में भी था। प्राचीन यूनानी लिंग को ‘फेलस’ कहते थे। यहूदियों में ‘बाल’ देवता की प्रतिष्ठा लिंग रूप में ही थी। बाबुल के खंडहरों में मंदिरों के अंदर बहुत से ‘लिंग’ निकले हैं, जो भारतीयों के शिवलिंग से बिल्कुल मिलते हैं। पर प्राचीन आर्यों में इस प्रकार की उपासना का पता नहीं लगता। वैदिक समय में कुछ अनाथ्य जातियों में ‘लिंग-पूजा’ प्रचलित थी, इसका कुछ आभास वेद के एक मंत्र से मिलता है। उसमें “शिश्रदेवाः” के प्रति उपेक्षा का भाव प्रकट किया गया है। पर कब से वह शिव की प्रतिमा के रूप में गृहीत हुआ, इसका ठीक पता नहीं।

(६) व्याकरण में वह भेद जिससे पुरुष और स्त्री का पता लगता है। जैसे,—पुल्लिंग, स्त्रीलिंग। (७) मीमांसा में छः लक्षण जिनके अनुसार लिंग का निर्णय होता है। यथा—उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, अर्थवाद और उपपत्ति। (८) अठारह पुराणों में से एक। वि० दे० “लिंगपुराण”।

लिंगक—संज्ञा पुं० [सं०] कपित्थ वृक्ष। कैथ।

लिंग जोत्री—संज्ञा पुं० [सं० लिंगज्योति] एक विशेष प्रकार से गढ़ा हुआ शिवलिंग। ज्योतिर्लिंग।

लिंगदेह—संज्ञा पुं० [सं०] वह सूक्ष्म शरीर जो इस स्थूल शरीर के नष्ट होने पर भी संस्कार के कारण कर्मों के फल भोगने के लिये जीवात्मा के साथ लगा रहता है। (अध्यात्म)

विशेष—इसमें ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की सब वृत्तियाँ रहती हैं, केवल उनके स्थूल रूप नहीं रहते। इस देह में सत्रह तत्त्व माने गए हैं—१० इंद्रियाँ, मन, ५ तन्मात्र और बुद्धि। उ०—लिंगदेह नृप को निज गेह। दस इंद्रिये दासी सौं नेह।—सूर।

लिंगनाश—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अँधेरा, जिसमें वस्तु की पहचान न हो सके। तिमिर। अंधकार। (२) आँखों का एक रोग जिसमें आँखों के सामने कभी अँधेरा, कभी लाल पीला आदि दिखाई पड़ता है। नीलिका नामक रोग।

विशेष—सुश्रुत के अनुसार आँख के चौथे पटल में विकार होने से यह रोग होता है। वात, पित्त, और कफ के भेद से यह रोग तीन प्रकार का कहा गया है।

लिंग पुराण—संज्ञा पुं० [सं०] अठारह पुराणों में से एक जिसमें शिव का माहात्म्य और लिंग की पूजा की महिमा वर्णित है।

विशेष—इसकी श्लोक संख्या ११००० है। ब्रह्मा इसके मुख्य वक्ता हैं। इसमें शिव ही ब्रह्मा और विष्णु दोनों के अधिष्ठान कहे गए हैं। शिव जी ने अपने मुख से २८ अवतारों का वर्णन किया है। यह एक सांप्रदायिक पुराण है। जिस प्रकार विष्णु ने अपने उपासक अंबरीष राजा की रक्षा की थी, उसी ढंग पर इसमें शिव द्वारा परम शैव दधीचि की रक्षा की कथा लिखी गई है। पहले पद्म कल्प की सृष्टि की उत्पत्ति की कथा देकर फिर वैवस्वत मन्वन्तर के राजाओं की वंशावली श्रीकृष्ण के समय तक कही गई है। योग और अध्यात्म की दृष्टि से लिंग पूजा का गुह्यार्थ भी बताया गया है।

लिंगवर्धिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] अपामार्ग। चिचड़ा।

लिंगवस्ति रोग—संज्ञा पुं० [सं०] लिंगार्श नामक रोग।

लिंगवान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिह्वाला। लक्षणवाला। (२) शैवों का लिंगायत नामक संप्रदाय।

लिंगवृत्ति—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो केवल बाहरी चिह्न या वेश बनाकर अपनी जीविका करता हो। आडंबर। ढकोसलेबाज।

लिङ्ग शरीर—संज्ञा पुं० दे० “लिङ्गदेह”।

लिङ्गस्थ—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मचारी । (मनुस्मृति)

लिङ्गांकित—संज्ञा पुं० [सं०] एक शैव संप्रदाय । वि० दे० लिङ्गायत ।

लिङ्गायत—संज्ञा पुं० [सं०] एक शैव संप्रदाय जिसका प्रचार दक्षिण में बहुत है ।

विशेष—इस संप्रदाय के लोग शिव के अनन्य उपासक हैं और सोने या चाँदी के संपुट में शिवलिङ्ग रखकर बाहु या गले में पहने रहते हैं । ये लोग ‘जंगम’ भी कहलाते हैं ।

इनके आचार और संस्कार भी औरों से विलक्षण होते हैं ।

लिङ्गिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक स्त्रियाँ जिसे पंचगुरिया कहते हैं और जो वैद्यक में कटु, उष्ण, दुर्गन्धनाशक तथा रसायन कही गई है । (२) धर्मध्वजी या आडंबर करनेवाली स्त्री ।

लिङ्गी—संज्ञा पुं० [सं० लिङ्गिन्] (१) चिह्नवाला । निशानवाला ।

(२) बाहरी रूप रंग या वेश बनाकर काम निकालनेवाला ।

आडंबरी । धर्मध्वजी । (३) हाथी ।

लिङ्गेंद्रिय—संज्ञा पुं० [सं०] पुरुषों की मूर्छेंद्रिय ।

लिट—संज्ञा पुं० [अ०] तृतिप में रंगा हुआ मुलायम कपड़ा या फलालीन जो घाव में मरहम लगाकर इसलिये भर दी जाती है, जिसमें उसका मुँह एकबारगी बंद न हो जाय और मवाद न रुके ।

लिपाक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का नीबू । (२) खर । गदहा ।

लिफ—संज्ञा पुं० [अ०] शीतला का चैप जो टीका लगाने के काम में आता है ।

लिप—हिन्दी का एक कारक-चिह्न जो संप्रदान में आता है, और जिस शब्द के आगे लगता है, उसके अर्थ या निमित्त किसी क्रिया का होना सूचित करता है । जैसे,—मैं तुम्हारे लिये आम लाया हूँ । यह चिह्न शब्द के संबंध-कारक रूप का के साथ लगता है । जैसे—उसके लिप । बहुत से लोग इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत ‘लुप्ते’ से बताते हैं; पर ‘लग्न’ और ‘लग्’ शब्द से इसका अधिक लगाव जान पड़ता है । पुरानी काव्य-भाषा विशेषतः अवधी में ‘लगि’ और ‘लागि’ रूप बराबर मिलते हैं । यह प्रायः “लिये” भी लिखा जाता है ।

लिकिन—संज्ञा पुं० [देश०] मटियाले रंग की एक बड़ी चिड़िया जिसकी टाँगें हाथ हाथ भर की और गरदन एक बालिशत की होती है ।

लिकुच—संज्ञा पुं० [सं०] बड़हर का पेड़ । लकुच । चुक ।

लिखड़ा—संज्ञा पुं० [हि० लिखना] बहुत लिखनेवाला । भारी लेखक । (व्यंग्य या विनोद)

लिखा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) यूकांड । जूँ का अंडा । लीख । (२) एक परिमाण जो कई प्रकार का कहा गया है, जैसे, कहीं चार अणुओं की लिखा कही गई है, कहीं आठ बालाग्र

की । (८ परमाणु = रज । ८ रज = बालाग्र) । ६ लिखा का एक सर्प (सरसों या राई) माना गया है ।

लिखत—संज्ञा स्त्री० [सं० लिखित] (१) लिखी हुई बात । लेख ।

लिपिबद्ध विषय ।

यौ०—लिखत पदत

मुहा०—लिखत पदत होना = लिखा पढ़ा होना । लेख के रूप में पका होना ।

(२) लिखित पत्र । (३) दस्तावेज ।

लिखधार—संज्ञा पुं० [हि० लिखना + धार (प्रत्य०)] लिखनेवाला ।

मुहरिंर या मुंशी । उ०—साँचो सो लिखधार कहावै ।

काया ग्राम मसाहत करिके जमा बाँधि ठहरावै ।

लिखन—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लिपि या लेख । लिखावट ।

(२) कर्म की रेखा । भाग्य में निश्चित बात ।

लिखना—क्रि० स० [सं० लिखन] (१) किसी लुकीली वस्तु से रेखा के रूप में चिह्न करना । अंकित करना । (२) स्याही में डूबी हुई कलम से अक्षरों की आकृति बनाना । अक्षर अंकित करना । लिपिबद्ध करना ।

यौ०—लिखना पढ़ना । लिखा पढ़ी ।

मुहा०—किसी के नाम लिखना = यह लिखना कि अमुक वस्तु किसी के जिम्मे है । जैसे,—१००) तुम्हारे नाम लिखे हैं ।

लिखना पढ़ना = विद्योपार्जन करना । विद्या का अभ्यास करना ।

जैसे,—यह लड़का कुछ लिखता पढ़ता नहीं । लिखा पढ़ा = रचित ।

(३) रंग से आकृति अंकित करना । चित्रित करना । चित्र बनाना । तस्वीर खींचना । जैसे,—चित्र लिखना । उ०—देखी चित्र लिखी सी ठाढ़ी ।—सूर । (४) पुस्तक, लेख या काव्य आदि की रचना करना । जैसे,—यह पुस्तक किसकी लिखी है ?

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।—लेना ।

लिखनी—संज्ञा स्त्री० [सं० लेखनी] कलम ।

लिखाई—संज्ञा स्त्री० दे० “लिखाई” ।

लिखवाना—क्रि० स० दे० “लिखाना” ।

लिखाई—संज्ञा स्त्री० [हि० लिखना] (१) लेख । लिपि । (२)

लिखने का कार्य (३) लिखने का ढंग । लिखावट ।

यौ०—लिखाई पढ़ाई = विद्याभ्यास ।

(४) लिखने की मज़दूरी ।

लिखाना—क्रि० स० [सं० लिखन] अंकित कराना । लिपिबद्ध कराना । दूसरे के द्वारा लिखने का काम कराना ।

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।—लेना ।

मुहा०—लिखाना पढ़ाना = (१) शिक्षा देना । तालीम देना । (२) लेखबद्ध कराना ।

लिखापढ़ी—संज्ञा स्त्री० [हि० लिखना + पढ़ना] (१) पत्र-व्यवहार ।

चिट्ठियों का आना जाना। परस्पर लेखों द्वारा व्यवहार होना। जैसे,—(क) लिखा पढ़ी करके उनसे यह बात तै कर लो। (ख) इसके बारे में बहुत दिनों तक लिखा पढ़ी होती रही। (२) किसी विषय को कागज पर लिखकर निश्चित या पक्का करना। जैसे,—पहले लिखा पढ़ी करके तब रूप दीजिए।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

लिखावट—संज्ञा स्त्री० [हि० लिखना + आवट (प्रत्य०)] (१) लिखे हुए अक्षर आदि। लेख। लिपि। जैसे,—दुम्हारी लिखावट तो किसी से पढ़ी ही नहीं जाती। (२) लिखने का ढंग। लेख-प्रणाली।

लिखित—वि० [सं०] लिखा हुआ। लिपिबद्ध किया हुआ। अंकित।

संज्ञा पुं० (१) लिखी हुई बात। लेख।

विशेष—व्यवहार (सामले, मुकदमे) में 'लिखित' चार प्रकार के प्रमाणों में से एक है। साक्षियों में भी एक 'लिखित' साक्षी होते हैं। अर्थी जिसे लाकर लिखा दे, वह लिखित साक्षी होगा। (मिताक्षरा)

(२) लिखी हुई सनद। प्रमाण-पत्र। (३) एक स्मृतिकार ग्रन्थ।

लिखितक—संज्ञा पुं० [सं० लिखित] एक प्रकार के प्राचीन चौखूँटे अक्षर जो खुतन (मध्य एशिया) में पाए गए शिलालेखों में मिलते हैं।

लिखेरा—संज्ञा पुं० [हि० लिखना] लिखनेवाला। लेखक।

लिखपा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जूँ का अंडा। लीख। (२) एक परिमाण। वि० दे० "लिखा"।

लिगड़ी—संज्ञा स्त्री० [देश०] कमज़ोर छोटी बोड़ी।

लिगु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मन। (२) मूर्ख। (३) मृग। (४) भूप्रदेश।

लिखेन—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की घास जो पानी में होती है।

लिच्छवि—संज्ञा पुं० [सं०] एक इतिहास-प्रसिद्ध राजवंश जिसका राज्य किसी समय में नेपाल, मगध और कोशल में था।

विशेष—प्राचीन संस्कृत साहित्य में क्षत्रियों की इस शाखा का नाम 'निच्छवि' या 'निच्छिवि' मिलता है। पाली रूप 'लिच्छवि' है। मनुस्मृति के अनुसार लिच्छवि लोग ब्राह्म्य क्षत्रिय थे। उसमें इनकी गणना क्षत्र, मल्ल, नट, करण, खश और द्रविड के साथ की गई है। ये 'लिच्छवि' लोग वैदिक धर्म के विरोधी थे। इनकी कई शाखाएँ दूर दूर तक फैली थीं। वैशालीवाली शाखा में जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी हुए और कोशल की शाक्य शाखा में गौतम बुद्ध प्रादुर्भूत हुए। किसी समय मिथिला से लेकर मगध

और कोशल तक इस वंश का राज्य था। जिस प्रकार हिन्दुओं के संस्कृत ग्रंथों में यह वंश हीन कहा गया है, उसी प्रकार बौद्धों और जैनों के पाली और प्राकृत ग्रंथों में यह वंश उच्च कहा गया है। गौतम-बुद्ध के समसामयिक मगध के राजा बिम्बसार ने वैशाली के लिच्छवि लोगों के यहाँ संबंध किया था। पीछे गुप्त सम्राट् ने भी लिच्छवि कन्या से विवाह किया था।

लिटाना—क्रि० सं० [हि० लेटना] लेटने की क्रिया करना। दूसरे को लेटने में प्रवृत्त कराना।

लिट्टा—संज्ञा पुं० [देश०] [स्त्री० ब्रूपा० लिट्टी] मोटी रोटी जो बिना तवे के आग ही पर सेंकी जाय। अंगाकड़ी। बाटी।

लिटोर—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का नमकीन पकवान।

लिडारु—संज्ञा पुं० [देश०] शृगाल। गीदड़।

वि० डरपोक। कायर। बुज़दिल। उ०—त्रिशुद्ध होहु शुद्ध को विरुद्ध बात ना कहौ। न बाँचिहौ घरे घुसे लिडारु होन ना चहौ।

लिडौरी—संज्ञा स्त्री० [देश०] अनाज के वे दाने जो पीटने के पीछे बाल में लगे रह जाते हैं। झुंडारी। दोबरी। पकूरी। चित्ती। (यह शब्द रबी की फसल के लिये बोला जाता है।)

लिपटना—क्रि० प्र० [सं० लिप] (१) एक वस्तु का दूसरी को घेरकर उससे खूब सट जाना। किसी वस्तु से दृढ़तापूर्वक जा लगना। वेष्टित करके संलग्न होना। चिमटना। जैसे,—साँप का पैर में लिपटना, बच्चे का माँ से लिपटना, लता का पेड़ से लिपटना।

संयो० क्रि०—जाना।

(२) इस प्रकार लग जाना कि जल्दी न छूटे। चिपकना।

(३) गले लगना। आलिंगन करना। जैसे—वह उससे लिपट कर रोने लगा। (४) किसी काम में जी जान से लग जाना। तन्मय होकर प्रवृत्त होना। जैसे,—जिस काम में लिपटता हूँ, उसे पूरा करके छोड़ता हूँ।

लिपटाना—क्रि० सं० [हि० लिपटना का सं० रूप] (१) एक वस्तु को दूसरी वस्तु से खूब सटाना। संलग्न करना। चिमटाना।

(२) किसी को हाथों से घेरकर अपने शरीर से खूब सटाना। आलिंगन करना। गले लगाना। उ०—कान्हू के कान आँगुरी नाइ रही लपटाइ लवंगलता सी।—पद्माकर।

लिपड़ा—संज्ञा पुं० [देश०] लुगड़ा। कपड़ा। (कलंदर)

विशेष—कलंदर भालू नचाकर जब उससे लोगों से कपड़ा माँगने को कहते हैं, तब 'लिपड़ा' 'लिपड़ा' करते हैं।

वि० [हि० लेप] लेई की तरह गीला और चिपचिपा।

लिपड़ी—संज्ञा स्त्री० [हि० लिपड़ा] लेई की तरह गीला और चिपचिपा पदार्थ। जैसे,—हलुवा पानी अधिक होने से लिपड़ी हो गया।

संज्ञा स्त्री० दे० "लिबड़ी"।

लिपना—क्रि० प्र० [सं० लिप्] (१) किसी रंग या गीली वस्तु की पतली तह से ढक जाना। पोता जाना। जैसे,—सारा घर गोबर से लिप गया।

यौ०—लिपा पुता = स्वच्छ। साफ। भक।

(२) रंग या गीली वस्तु का फैल जाना। जैसे,—हाथ पड़ने से कागज़ पर स्याही लिप गई।

संयो० क्रि०—जाना।

यौ०—लिपा पुता = जिस पर ध्वने आदि हों। बदरंग।

लिपवाना—क्रि० स० [हिं० लिपना] लिपने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को लिपने में प्रवृत्त करना।

लिपाई—संज्ञा स्त्री० [हिं० लिपना] (१) किसी रंग या घुली हुई गीली वस्तु की तह फैलाने की क्रिया या भाव। (२) दीवार या ज़मीन पर घुली हुई मिट्टी या गोबर की तह फैलाना। लेपना। पोताई। (३) लिपने की मज़दूरी।

लिपाना—क्रि० स० [हिं० लिपना] (१) रंग या किसी गीली वस्तु की तह चढ़वाना। पुताना। (२) दीवार या ज़मीन पर सफाई के लिये घुली हुई मिट्टी या गोबर की तह चढ़वाना। मिट्टी, गोबर आदि का लेप कराना। उ०—जागी महार पुत्र मुख देख्यो आनंद तुर बजायो हो। कंचन कलस होम द्विज पूजा चंदन भवन लिपायो हो।—सूर।

संयो० क्रि०—ढालना।—देना।—लेना।

लिपि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अक्षर या वर्ण के अंकित चिह्न। लिखावट। (२) अक्षर लिखने की प्रणाली। वर्ण अंकित करने की पद्धति। जैसे,—ब्राह्मी लिपि, खरोष्टी लिपि, अरबी लिपि। (३) लिखे हुए अक्षर या बात। लेख। जैसे—भाष्य-लिपि। उ०—जिनके भाल लिखी लिपि मेरी सुख की नहीं निखानी।—गुलसी।

लिपिकर—संज्ञा पुं० [सं०] लेखक। लिखनेवाला।

लिपिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] लिपि। लिखावट।

लिपिकार—संज्ञा पुं० [सं०] लिखनेवाला। लेखक।

लिपिफलक—संज्ञा पुं० [सं०] पत्थर, तख्ती, धातुपत्र आदि जिन पर अक्षर खोदे जायें।

लिपिबद्ध—वि० [सं०] लिखा हुआ। लिखित।

लिस—वि० [सं०] (१) जिस पर किसी गीली वस्तु (जैसे,—घुली मिट्टी, चंदन आदि) की तह चढ़ी हो। जिस पर लेप किया गया हो। लिपा हुआ। पुता हुआ। चर्चित। (२) जो लिपा गया हो। जिसकी पतली तह चढ़ी हो। (३) गाढ़ा लगा हुआ। खूब संलग्न। (४) खूब तत्पर। लीन। अनुरक्त। फँसा हुआ। जैसे,—विषय भोग में लिस।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

लिता—संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्योतिष के अनुसार काल का एक मान जो एक मिनट के बराबर होता है।

लिप्ता—संज्ञा स्त्री० [सं०] लालच। लोभ। चाह। इच्छा।

लिप्सु—संज्ञा पुं० [सं०] लाभ की इच्छा रखनेवाला। लोलुप। लोभी। लालची। जैसे,—यशोलिप्सु।

लिफाफा—संज्ञा पुं० [अ०] (१) कागज़ की बनी हुई चौकोर खोली या थैली जिसके अंदर चिट्ठी या कागज़ पत्र रखकर भेजे जाते हैं। जैसे,—लिफाफे में बंद करके चिट्ठी डाल देना।

मुहा०—लिफाफा खुल जाना = भेद खुल जाना। छिपी हुई बात का प्रकट हो जाना।

(२) ऊपरी आच्छादन। सजावट की पोशाक। दिखावटी कपड़े लत्ते। जैसे,—आज तो खूब लिफाफा बदलकर निकले हो।

मुहा०—लिफाफा बदलना = भड़कदार कपड़े पहनना।

(३) ऊपरी आडंबर। झूठी तड़क भड़क। मुलम्मा। कलई।

मुहा०—लिफाफा खुल जाना = असली रूप प्रकट हो जाना। लिफाफा बनाना = (१) ठाठ बाट बनाना। (२) आडंबर करना। ढकोसला रचना।

(४) जलदी नष्ट हो जानेवाली वस्तु। दिखाऊ चीज़। काजू भोजू चीज़।

लिबड़ी—संज्ञा स्त्री० [हिं० लुगड़ी ?] कपड़ा लत्ता।

यौ०—लिबड़ी बरतना या बारदाना = निर्बाह का सामान। अस-बाव। जैसे,—अपना लिबड़ी बरताना उठाओ, और चल दो।

लिबरल—वि० [अ०] उदार। उदार नीतिवाला।

संज्ञा पुं० (१) इंग्लैंड का एक राजनीतिक दल जिसकी नीति अधीनस्थ देशों की व्यवस्था के संबंध में तथा अन्य राज्यों के साथ व्यवहार करने में उदार कही जाती है। (२) भारत का एक राजनीतिक दल जो बहुत ही सौम्य उपायों से अपने देश को स्वतंत्र करना चाहता है।

लिवास—संज्ञा पुं० [अ०] पहनने का कपड़ा। आच्छादन। पहनावा। पोशाक।

लिबि—संज्ञा स्त्री० [सं०] लिपि। लिखावट।

लियाकत—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) योग्यता। क़ाबिलीयत। (२) गुण। हुनर। (३) सामर्थ्य। समाई। (४) शील। शिष्टता। भद्रता।

लिखाट—संज्ञा पुं० दे० "ललाट"।

लितार—संज्ञा पुं० [सं० ललाट] (१) भाल। माथा। मस्तक। (२) कूँ का वह सिरा जहाँ मोट का पानी उलटते हैं।

लितारी—संज्ञा पुं० [हिं० नील, लाल + कार] नीलगर। रँगरेज़।

लितोही—संज्ञा पुं० [देश०] हाथ का बटा हुआ देसी सूत।

लितोही—वि० [सं० लल = चाह करना] लालची। अति लोभी।

उ०—बुझिबे की जक लागी है कान्हि केशव के रुचि रूप लिलोही ।—केशव ।

लिवाना-क्रि० सं० [हि० लेना का प्रेर०] (१) लेने का काम दूसरे से कराना । ग्रहण कराना । थमाना । पकड़ाना । उ०—सूरदास भीषम परतिज्ञा शख लिवार्जे पैज करी ।—सूर ।
क्रि० सं० [हि० लाना का प्रेर०] लाने का काम दूसरे से कराना । जैसे,—लकड़ी मज़दूर से लिवा लाना ।

विशेष—इस क्रिया का प्रयोग संयोज्य क्रिया 'लाना' के साथ होता है ।

संयो० क्रि०—लाना ।

मुहा०—लिवा लाना = साथ ले आना ।

लिवाल संज्ञा पुं० [हि० लेना + लावा] खरीदनेवाला । लेनेवाला ।

लिवैया—संज्ञा पुं० [हि० लेना] लेनेवाला ।

संज्ञा पुं० [हि० लाना] लानेवाला ।

लिख-संज्ञा पुं० [सं०] नर्तक । नाचनेवाला ।

लिसोड़ा—संज्ञा पुं० [हि० लस = चिपचिहट] मसोले डील का एक पेड़ जिसके पत्ते कुछ गोलाई लिए होते हैं । इसके फल छोटे बेर के बराबर होते हैं और गुच्छों में लगते हैं । पकने पर इसमें लसदार गूदा हो जाता है, जो गोंद की तरह चिपकता है । यह गूदा इकीम लोग खाँसी में देते हैं । पत्ते बीड़ी (तंबाकू की) के ऊपर लपेटने के काम में आते हैं । छाल के रेशे से रस्ते बड़े जाते हैं । अंदर की लकड़ी मज़बूत होती है और किवती तथा खेती के सामान बनाने के काम की होती है । इसे 'लमेरा' और 'लियोरा' भी कहते हैं ।

पर्या०—श्लेष्मातक । भूकडुंदार ।

लिह-क्रि० सं० [सं०] चाटना ।

वि० चाटनेवाला । जैसे,—अभ्रंलिह ।

लिहाज़—संज्ञा पुं० [अ०] (१) व्यवहार या बरताव में किसी बात का ध्यान । कोई काम करते हुए उसके संबंध में किसी बात का खयाल । जैसे,—(क) उसकी तंदुरुस्ती के लिहाज़ से मैंने उसे हलका काम दिया । (ख) दवा में मैंने खाँसी का लिहाज़ भी रखा है ।

क्रि० प्र०—करना ।—रखना ।

(२) कृपापूर्वक किसी बात का ध्यान । मेहरबानी का खयाल । कृपा इष्टि । (३) किसी को कोई बात अप्रिय या दुःखदायी न हो, इस बात का खयाल । मुरध्वत । मुलाहज़ा । शील संकोच । जैसे,—काम बिगड़ने पर वह कुछ भी लिहाज़ न करेगा । (४) पक्षपात । तरफ़दारी । (५) बड़ों के सामने ठिठार्ह आदि न प्रकट हो, इस बात का ध्यान । सम्मान या मर्यादा का ध्यान । अदब का खयाल । जैसे,—बड़ों का लिहाज़ रखा करो । (६) लज्जा । शर्म । हया ।

क्रि० प्र०—आना ।—करना ।—रखना ।

मुहा०—लिहाज़ उठना या टूटना = लिहाज़ न रहना ।

लिहाड़ा—वि० [देश०] (१) नीच । वाहियात । गिरा हुआ (२) खराब । निकम्मा ।

लिहाड़ी—संज्ञा स्त्री० [देश०] उपहास । चिड़बना । निंदा ।

उ०—जाके कुल में भक्त मम नाम लिहाड़ी होय । एक एक शत आपनी पीढ़ी तारत सोय ।

क्रि० प्र०—करना । होना ।

मुहा०—लिहाड़ी लेना = (१) उपहास करना । ठट्ठा करना । बनाना । (२) निंदा करना ।

लिहाफ़—संज्ञा पुं० [अ०] रात को सोते समय ओढ़ने का रुईदार कपड़ा । भारी रज़ाई ।

लीक—संज्ञा स्त्री० [सं० लिख्] (१) लंबा चला गया चिह्न । लकीर । रेखा ।

क्रि० प्र०—खींचना ।

मुहा०—लीक करके = दे० "लीक खींचकर" । उ०—भागम निगम पुरान कहत करि लीक ।—तुलसी । लीक खींचना = (१) किसी बात का अटल और दृढ़ होना । इस प्रकार स्थिर किया जाना कि न टले । (२) मर्यादा बँधना । व्यवहार का प्रतिबंध या नियम स्थापित होना । हद या कायदा मुकर्रर होना । (३) साख बँधना । प्रतिष्ठा स्थिर होना । उ०—हरि चरनारविंद तजि लागत भनत कहूँ तिनकी मति काँची ।—सूरदास । भगवंत भजत जे तिनकी लीक चहूँ दिसि खाँची ।—सूर । लीक खींचकर = इस बात की दृढ़ प्रतिज्ञा करके कि ऐसा ही होगा । निश्चयपूर्वक । जोर देकर । उ०—सूर इयाम तेरे बस राधा, कहति लीक मैं खाँची ।—सूर ।

(२) गहरी पड़ी हुई लकीर । (३) गाड़ी के पहिए से पड़ी हुई लकीर । उ०—लीक लीक गाड़ी चलै लीकै चलै कपूत । (४) चलते चलते बना हुआ रास्ते का निशान । दुरी । जैसे,—यही लीक पकड़े सीधे चले जाओ ।

मुहा०—लीक पकड़ना = दुरी पर चलना । पगडंडी पर होना । लीक पीटना = पुराने निकले हुए रास्ते पर चलना । चली आती हुई प्रथा का ही अनुसरण करना । बँधी हुई रीति या प्रणाली पर ही चलना । लीक लीक चलना = दे० "लीक पीटना" ।

(५) महत्व की प्रतिष्ठा । मर्यादा । नाम । यश । उ०—दंपति धरम आवरन नीका । अजहुँ गाव श्रुति जिह्न कै लीका ।—तुलसी । (६) बँधी हुई मर्यादा । लोक-व्यवहार की बँधी हुई सीमा या व्यवस्था । लोक-नियम । उ०—नंदनंदन के नेह-मेह जिन लोक-लीक लोपी ।—सूर । (७) बँधी हुई विधि । रीति । प्रथा । चाल । दस्तर । (८) हद । प्रतिबंध । (९) कलंक की रेखा । धब्बा । बदनामी । लालन । उ०—तिहि देखत मेरो पट कावत

लीक लगी तुम काज।—सूर। (१०) गिनती के लिये लगाया हुआ चिह्न। गिनती। गणना। उ०—बारिदनाद जेठ सुत तासू। भट महुँ प्रथम लीक जग जासू।—तुलसी। संज्ञा स्त्री० [देश०] मटियाले रंग की एक चिड़िया जो बत्तख से कुछ छोटी होती है।

लीख-संज्ञा स्त्री० [सं० लिखा] जूँ का अंडा।

लीचड़-वि० [देश०] (१) सुस्त। काहिल। निक्कमा। (२) जल्दी न छोड़नेवाला। चिमटनेवाला। उ०—बाहुक सुबाहु नीच लीचर मरीच मिलि मुँह-पीर केतुजा कुरोग जातुधान हैं।—तुलसी। (३) जिसका लेन देन ठीक न हो।

लीची-संज्ञा स्त्री० [चीनी लीचू] एक सदाबहार बड़ा पेड़ जिसका फल खाने में बहुत मीठा होता है। इसकी पत्तियाँ छोटी छोटी होती हैं; फल गुच्छों में लगते हैं और देखने में बहुत सुंदर होते हैं। छिलके के ऊपर कटावदार दाने से उभरे होते हैं। गूदा सफ़ेद खोली की तरह बीच से चिपका रहता है, पर बहुत जल्दी छूटकर अलग हो जाता है। यह पेड़ चीन से आया है और बंगाल तथा बिहार में अधिक होता है।

लीझी-संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) देह में मले हुए उबटन के साथ छूटी हुई मैल की बत्ती। (२) वह गूदा या रेशा जिसका रस चूस या निचोड़ लिया गया हो। सीटी। वि० (१) नीरस। निस्सार। (२) निक्कमा। उ०—श्री रघुराज कहे कह रीझी भई तनु लीझी अजौं दशा एती।—रघुराज।

लीडर-संज्ञा पुं० [अंग०] अगुआ। मुखिया। नेता।

लीथो-संज्ञा पुं० [अंग०] पत्थर का छाप, जिस पर हाथ से लिख कर अक्षर या चित्र छापे जाते हैं।

लीद-संज्ञा स्त्री० [देश०] वोड़े, गधे, ऊँट और हाथी आदि पशुओं का मल। वोड़े आदि का पुरीष।

मुहा०—लीद करना = वोड़े आदि का मल त्याग करना।

लीन-वि० [सं०] (१) लय को प्राप्त। जो किसी वस्तु में समा गया हो। (२) तन्मय। मग्न। डूबा हुआ। (३) बिलकुल लगा हुआ। तत्पर। जैसे,—कार्य में लीन होना। (४) ख्याल में डूबा हुआ। ध्यानमग्न। अनुरक्त। उ०—अति ही चतुर सुजान जानमनि वा छवि पै भइ मैं लीना।—सूर।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

लीनता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तन्मयता। तत्परता। (२) ऐसा संकुचित होकर रहना जिसमें किसी को दुःख न पहुँचे। (जैन)

लीपना-क्रि० प्र० [सं० लेपन] (१) घुले हुए रंग, मिट्टी, गोबर या और किसी गीली वस्तु की पतली तह चढ़ाना। पोतना।

(२) सफ़ाई के लिये ज़मीन या दीवार पर घुली हुई मिट्टी या गोबर फेरना। पोतना।

यौ०—लीपना पोतना = सफ़ाई करना।

मुहा०—लीप पोतकर बराबर करना = किसी काम को विगाड़ना। चौपट करना। चौका लगाना। सत्ताना करना।

लीम-संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक प्रकार का चीड़ का पेड़ जिसमें से तारपीन या अलकतरा निकलता है। (२) एक प्रकार की चिड़िया।

लीला-संज्ञा पुं० [सं० नील] नील।

वि० नीला। नीलवर्ण। नीले रंग का। उ०—लीलांजुल तनुलीलवसन मणि चितथो न जात धूम के भोरे।—सूर।

लीलकंडा-संज्ञा पुं० दे० “नीलकंड”।

लीलक-संज्ञा पुं० [हिं० लील] वह हरा चमड़ा जो जूतों की नोक पर लगाया जाता है।

वि० नीला।

लीलगऊ-संज्ञा स्त्री० [हिं० नील + गऊ] नील गाय।

लीलगर-संज्ञा पुं० दे० “नीलगर”।

लीलना-क्रि० प्र० [सं० गिलन या लीन] गले के नीचे पेट में उतारना। मुँह में लेकर पेट में डालना। निगलना। खा जाना। उ०—(क) बालधी बिसाल विकराल ज्वालमाल मानो लंक लीलिवे को काल रसना पसारी है।—तुलसी। (ख) बीच गये सुरसा मिली और सिंहिका नारि। लील लियो हनुमंत तेहि, चढ़े उदर कहँ फारि।—केशव।

संयो० क्रि०—जाना।—लेना।

लीलया-क्रि० प्र० [सं०] (१) खेल में। (२) सहज में ही। बिना प्रयास। उ०—रामचन्द्र कटि सों पट बाँध्यो। लीलयैव हर को धनु साध्यो।—केशव।

लीला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह व्यापार जो चित्त की उमंग से केवल मनोरंजन के लिये किया जाय। केलि। क्रीड़ा। खेल। जैसे,—बाल लीला। उ०—अति उत्तंग गर सैलगन लीलहिं लेहिं उठाइ।—तुलसी। (२) शृंगार की उमंग भरी चेष्टा। प्रेम का खेलवाड़। प्रेम-विनोद। (३) नायिकाओं का एक हाव जिसमें वे प्रिय के वेश, गति, वाणी आदि का अनुकरण करती हैं। (४) रहस्यपूर्ण व्यापार। विचित्र काम। जैसे,—यह ईश्वर की लीला है जो ऐसे स्थान में ऐसा सुंदर पेड़ होता है। (५) मनुष्यों के मनोरंजन के लिये किए हुए ईश्वरावतारों का अभिनय। चरित्र। जैसे,—रामलीला, कृष्णलीला। (६) बारह मात्राओं का एक छंद जिसके अंत में एक जगण होता है। (७) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में भगण, नगण और एक गुरु होता है। (८) चौबीस मात्राओं का एक छंद जिसमें ७ + ७ + ७ + ३ के विराम से २४ मात्राएँ और अंत में सगण होता है।

संज्ञा पुं० [सं० नील] स्वाह रंग का घोड़ा । उ०—लीले, सुरंग, कुमैत श्याम तेहि परदे सब मन रंग ।

वि० नीला । उ०—कटि लहंगा लीलो बन्धो धौं को जो देखि न मोहे ।—सूर ।

लीलाकमल-संज्ञा पुं० [सं०] कमल का फूल जिसे क्रीड़ा के लिये हाथ में लिए हों ।

लीलापुरुषोत्तम-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण ।

विशेष—राम और कृष्ण इन दो प्रधान अवतारों में राम मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाते हैं और कृष्ण लीला पुरुषोत्तम ।

लीलामय-वि० [सं०] क्रीड़ा के भाव से भरा हुआ । क्रीड़ायुक्त ।

लीलावती-वि० स्त्री० [सं०] क्रीड़ा करनेवाली । विलासवती ।

संज्ञा स्त्री० (१) प्रसिद्ध ज्योतिर्विद भास्कराचार्य की पत्नी का नाम जिसने लीलावती नाम की गणित की एक पुस्तक बनाई थी । पीछे भास्कराचार्य ने भी इस नाम की एक गणित की पुस्तक बनाई । (२) संपूर्ण जाति की एक रागिनी जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं । यह रागिनी ललित, जयश्री और देशकार से मिलकर बनी कही गई है । कोई कोई इसे दीपक राग की पुत्रबधू कहते हैं । (३) एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में १०, ८ और १४ के विराम से ३२ मात्राएँ होती हैं और अंत में एक जगण होता है ।

लीलास्थल-संज्ञा पुं० [सं०] क्रीड़ा करने का स्थान ।

लीली-वि० स्त्री० [सं० नील] नीले रंग की । नीली ।

उ०—बंदन शिरता टंक गंड पर रतन जटित मणि लीली ।

—सूर ।

लुंग-संज्ञा पुं० [सं०] मातुलंग वृक्ष ।

लुंगा-संज्ञा पुं० [देश०] (१) पंजाब में धान रोपने की एक रीति । माच । (२) दे० “लुंगाड़ा” ।

लुंगाड़ा-संज्ञा पुं० [देश०] शोहदा । लफंगा । लुछा ।

लुंगी-संज्ञा स्त्री० [हिं० लँगोट या लॉग] (१) धोती के स्थान पर कमर में लपेटने का छोटा टुकड़ा । तहमत । (इस देश में मुसलमान, मदरासी और बरमी लोग इस प्रकार कपड़ा लपेटते हैं, जिसमें पीछे लॉग नहीं बाँधी जाती ।)

क्रि० प्र०—बाँधना ।—मारना ।

(२) कपड़े का टुकड़ा (जो प्रायः खारूप का होता है) जो हजामत बनाते समय नाई इसलिये पैर पर आगे डाल देता है जिसमें बाल उसी पर गिरें । (३) लाल रंग का एक मोटा कपड़ा । खारवा ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक बड़ी चिड़िया जो हिमालय के जंगलों में, कुमाऊँ से लेकर नैपाल और भूटान तक, तालों के किनारे पाई जाती है । इसकी लंबाई सवा या डेढ़ हाथ के लगभग और आकृति मोर की सी होती है । इसका अगला भाग काला और लाल होता है । सफेद चित्तियाँ भी होती

हैं । चोंच भूरे रंग की होती है । जाड़े के दिनों में यह मैदान में उतर आती है और कीड़े मकोड़े खाकर रहती है । कुत्तों की सहायता से लोग इसका शिकार करते हैं ।

लुंचन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चुटकी से पकड़कर झटके के साथ उखाड़ना । नोचना । उत्पादन । जैसे,—केशलुंचन । (२) जैन यतियों की एक क्रिया जिसमें उनके सिर के बाल नोचे जाते हैं । (३) काटना । तराशना । अलग करना । दूर करना ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

लुंचित-वि० [सं०] उखाड़ा हुआ । नोचा हुआ । उत्पाटित ।

लुंचितकेश-संज्ञा पुं० [सं०] जैन यति, जो अपने सिर के बाल नोचे रहते हैं ।

लुंज-वि० [सं० लुंचन = काटना, उखाड़ना] (१) बिना हाथ पैर का । जिसके हाथ पैर बेकाम हो गए हों । लँगड़ा लला । उ०—ए ऊबो, कहियो माधव सो मदन मारि कीन्हों हम लुंजै—सूर । (२) बिना पत्ते का पेड़ । टूँठ । उ०—पात बिनु कीन्हे ऐसी भाँति गन बेलिन के परत न चीन्हे जैसे लरजत लुंज हैं ।—पद्माकर ।

लुंडक-संज्ञा पुं० [सं०] लुंदरा ।

लुंठन-क्रि० सं० [सं०] [वि० लुंठित] (१) लुंठकना । (२) लूटना । चुराना ।

लुंठी-संज्ञा स्त्री० [सं०] घोड़े का लोटना ।

लुंड-संज्ञा पुं० [सं०] चोर ।

संज्ञा पुं० [सं० रंड] (२) बिना सिर का धड़ । कबंध । रंड । उ०—लुंड मुंड बिनु चलयो प्रचंडा । तब प्रभु काटि किये युग खंडा ।—विश्राम ।

लुंडमुंड-वि० [सं० रंड + मुंड] (१) जिसका सिर, हाथ, पैर आदि कटे हों, केवल धड़ का लोथड़ा रह गया हो । (२) बिना हाथ पैर का । लँगड़ा लला । (३) बिना पत्ते का । टूँठ । (पेड़) (४) यों ही गठरी की तरह लपेटा हुआ ।

लुंडा-वि० [सं० रंड] [स्त्री० अल्पा० लुंडी] (१) जिसकी पूँछ और पर झड़ गए हों या उखाड़ लिए गए हों । (पक्षी) (२) जिसकी पूँछ पर बाल न हों । (बैल)

संज्ञा पुं० [सं० लुंडिका] साफ़ किए हुए लपेटे सूत की पिंडी । कुकड़ी ।

लुंडियाना+क्रि० सं० [हिं० लुंडी] सूत या रस्सी आदि को पिंडी के रूप में लपेटना ।

लुंडी-वि० स्त्री० [हिं० लुंडा] जिसकी पूँछ या पर झड़ गए हों ।

संज्ञा स्त्री० लपेटे हुए सूत की पिंडी या गोली ।

लुंबिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का वाजा ।

लुंबिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कपिलवस्तु के पास का एक वन या उपवन जहाँ गौतम बुद्ध उत्पन्न हुए थे ।

लुभाठा-संज्ञा पुं० दे० “लुभाठा”

लुभाठा-संज्ञा पुं० [सं० लोक = चमकना, प्रज्वलित होना + काष्ठ]

[स्त्री० अल्पा० लुभाठी] वह लकड़ी जिसका एक छोर जलता हुआ हो। सुलगती हुई लकड़ी। लुभाती।

लुभाठी-संज्ञा स्त्री० [हि० लुभाठा] सुलगती या दहकती हुई लकड़ी।

लुभाव-संज्ञा पुं० [अ०] लसदार गूदा। चिपचिपा गूदा। लासा। जैसे,—बिहीदाने का लुभाव।

लुभावदार-वि० [अ० लुभाव + फा० दार] (१) लसदार। चिपचिपा। (२) जिसमें लसदार गूदा हो।

लुआर †-संज्ञा स्त्री० दे० “लू”।

लुकंजनल-संज्ञा पुं० [सं० लोकांजन] वह अंजन जिसे आँख में आँज लेने से आँजनेवाला सब को देखता है, पर उसे कोई नहीं देखता। उ०—बीतिवे ही सुतो बाति चुकी अब आँजती हौ केहि काज लुकंजन।—पद्माकर।

लुकंदर †-वि० [हि० लुकना] छिपनेवाला।

लुक-संज्ञा पुं० [सं० लोक = चमकना] (१) वह लेप जिसे फेरने से वस्तुओं (मिट्टी के बरतन आदि) पर चमक आ जाती है। चमकदार रोगन। वार्निश।

क्रि० प्र०—फेरना।

(२) आग की लपट। लौ। ज्वाला।

लुकना-क्रि० अ० [सं० लुक = लोप] ऐसी जगह हो रहना, जहाँ कोई देख न सके। आड़ में होना। गुप्त स्थान में हो रहना। छिपना। उ०—कातिक के चौस कहुँ आई न्हाइवे को वह गोपिन के संग जऊ नेसुक लुकी रही।—द्विज देव।

क्रि० प्र०—जाना।—रहना।

मुहा०—लुक छिपकर = गुप्त रूप से। अप्रकट में। किसी के देखने में नहीं। जैसे,—लुक छिपकर बहुत से लोग शराब पीते हैं।

लुकमा-संज्ञा पुं० [अ०] ग्रास। कौर। निवाला।

लुकसाज-संज्ञा पुं० [हि० लुक = चमकीला रोगन + फा० साज] एक प्रकार का चमड़ा जो सिझाया और चमकीला किया हुआ होता है।

लुकाट-संज्ञा पुं० [सं० लकुच] एक प्रकार का पेड़ जिसके फल आमड़े के बराबर और खाने में खट-मीठे होते हैं।

लुकाना-क्रि० स० [हि० लुकना] ऐसी जगह करना जहाँ कोई देख न सके। आड़ में करना। छिपाना। उ०—चाँपी पूँछ लुकावत अपनी जुबतिन को नहि सकत दिखाय।—सूर।

† क्रि० अ० लुकना। छिपना। उ०—मानी महिप-कुमुद सकुचाने। कपटी भूप उलूक लुकाने।—तुलसी।

लुकारी†-संज्ञा स्त्री० [हि० लुक] फूस का पूला या लकड़ी जिसका एक छोर जलता हो। मशाल की तरह जलती हुई लकड़ी।

लुकेठा †-संज्ञा पुं० [हि० लुक] जलती हुई लकड़ी। लुभाठा। उ०—कवहुँ प्रवेश करत घर जब हीं। मारहि नारि लुकेठन तब हीं।—रघुराज।

लुक †-संज्ञा पुं० दे० “लुक”।

लुकायित-वि० [सं०] लुका हुआ। छिपा हुआ। अंतर्हित। अदृश्य।

लुका-संज्ञा स्त्री० [देश०] शर या सरपत की तरह की एक वास।

लुगड़ा-संज्ञा पुं० दे० “लूगड़ा”।

लुगड़ी-संज्ञा स्त्री० दे० “लूगड़ी”।

लुगदा-संज्ञा पुं० [देश०] [स्त्री० अल्पा० लुगदी] गीली वस्तु का गोला या पिंडा। लोंदा।

लुगदी-संज्ञा स्त्री० [देश०] गीली वस्तु (जैसे,—कीचड़, सना हुआ आटा) का पिंडा या गोला। छोटा लोंदा। जैसे,—भाँग की लुगदी।

लुगरा †-संज्ञा पुं० [हि० लूगा + ङा (प्रत्य०)] (१) कपड़ा। वस्त्र। (२) ओढ़नी। छोटी चादर। उ०—पीरे पीरे आँचर खेत लुगरा लहर लेत लँहगा की लगी लाल रंगी रंगहेरा की।—देव। (३) फटा पुराना कपड़ा। लत्ता।

† संज्ञा पुं० [देश०] पीठ पीछे बुराई करनेवाला। चुगल-खोर।

लुगरी-संज्ञा स्त्री० [हि० लुगरा] फटी पुरानी धोती।

† संज्ञा स्त्री० [देश०] पीठ पीछे की हुई निंदा। चुगली।

लुगाई-संज्ञा स्त्री० [हि० लोग] स्त्री। औरत। उ०—(क) लग-लगा बातनि अलग लग लगी आवै लोगन की लंग ज्यों लुगाइन की लागरी।—देव। (ख) औध तजी मग वास के रूप ज्यों पंथ के साथ ज्यों लोग लुगाई।—तुलसी।

लुगी†-संज्ञा स्त्री० [हि० लूगा] (१) छोटा कपड़ा। (२) फटी पुरानी धोती। (३) लँहगे का संजाफ़ या चौड़ा किनारा। उ०—पीरे अँचरान स्वेत लुगुरा लहरि लेत लुगी लँहगा की रंगी रंगी रंगहेरा की।—देव।

लुगा †-संज्ञा पुं० दे० “लूगा”। उ०—चूर चूर देख्यो जब सुगा। शकुनि नैन पोंछत लै लुगा।—गोपाल।

लुगड़ना†-क्रि० अ० दे० “लुढ़कना”।

लुचकना-क्रि० स० [सं० लुचन = नोचना खसोटना] दूसरे के हाथ से झटका देकर ले लेना। झटके से छीनना। जैसे,—वह मेरे हाथ से मिठाई लुचककर ले गया।

संयो० क्रि०—लेना।

लुचवाना-क्रि० स० [सं० लुचन] नोचवाना। उखड़वाना। चौंथवाना।

लुचुई†-संज्ञा स्त्री० [सं० रुचि, मा०—लुचि] मैदे की पतली और मुलायम पूरी। लूची। उ०—लुचुई पूरी सुहारी पूरी। इक तो ताती औ सुठ कँवरी।—जायसी।

लुञ्चा-वि० [हि० लुञ्चकना] [ली० लुञ्चो] (१) दूसरे के हाथ से वस्तु लुञ्चकर भागनेवाला। चार्ई। (२) दुराचारी। कुमार्गी। लुञ्चाली। (३) खोटा। कमीना। लफंगा। मोहदा। बदमाश।

लुञ्ची-वि० स्त्री० [हि० लुञ्चा] खोटी या बदमाश। (स्त्री०)
संज्ञा स्त्री० दे० “लुञ्चई”।

लुञ्जा-संज्ञा पुं० [देश०] समुद्र में वह स्थल जो बहुत गहरा हो।
(लक्ष०)

लुटंत संज्ञा स्त्री० [हि० लुट] लुट।

लुटकना-क्रि० अ० दे० “लुटकना”। उ०—गजगाह निहारि
निगाह पुरै मुकुता कर पायन लौ लुटकैं।—गोपाल।

लुटना-क्रि० अ० [सं० लुट = लुटना] (१) दूसरे के द्वारा लुटा जाना। डाकुओं के हाथ धन खोना। जैसे,—रास्ते में बहुत से मुसाफिर लुट गए।

मुहा०—जर लुटना = घर का माल चोरी जाना या अपहृत होना।

(२) तबाह होना। बरबाद होना। सर्वस्व खोना।

संयो० क्रि०—जाना।

*क्रि० अ० दे० “लुठना”।

लुटाना-क्रि० स० [हि० लुटना का प्रेर०] (१) दूसरे को लुटने देना। डाकुओं आदि को छीन लेने देना। जैसे,—तुम रात को टल गए और हमारा माल लुटा दिया। (२) मुफ्त में देना। बिना पूरा मूल्य लिए दे देना। जैसे—तुम्हारा माल है, चाहे यों ही लुटा दो। (३) बरबाद करना। व्यर्थ फेंकना या व्यय करना। (४) मुट्ठी भर भर चारों ओर इस लिये फेंकना जिसमें जो चाहे, सो ले। बहुतायत से बाँटना। स्वच्छंद वितरण करना। सब को बिना रोक टोक देना। अंधाधुंध दान करना। जैसे,—बरात में उसने खूब रूप लुटाए।

संयो० क्रि०—देना।

लुटावना संज्ञा स्त्री० दे० “लुटाना”।

लुटिया-संज्ञा स्त्री० [हि० लोट] जल भरने या रखने का धातु का छोटा बरतन। छोटा लोटा।

लुटेरवा-संज्ञा पुं० [हि० लुटेरा] एक प्रकार का पक्षी।

लुटेरा-संज्ञा पुं० [हि० लुटना + एरा (प्रत्य०)] जबरदस्ती छीन लेनेवाला। डर दिखाकर या मार पीटकर दूसरे का माल ले लेनेवाला। लुटनेवाला। डाकू। दस्तु।

लुटुर-संज्ञा स्त्री० [देश०] वह भेड़ जिसके कान छोटे हों।
(गढ़ेरिये)

लुठाना संज्ञा स्त्री० अ० [सं० लुठन] (१) भूमि पर पड़ना। सारा शरीर पृथ्वी से लगाए हुए पड़ना। लोटना। उ०—राम सखा ऋषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा।—
४०६

लुलसी। (२) पृथ्वी पर नीचे ऊपर फिरते हुए बढ़ना या गमन करना। लुढ़कना।

लुठाना संज्ञा स्त्री० स० [हि० लुठना] (१) भूमि पर या नीचे डालना। लोटाना। उ०—माथो चरणारविंद ऊपर लुठाय
रघुराय लु उठाय कियो छाती सों लगावनो।—हृदयराम।
(२) लुढ़काना।

लुड़कना-क्रि० अ० दे० “लुढ़कना”।

लुड़काना-क्रि० स० दे० “लुढ़काना”।

लुड़की-संज्ञा स्त्री० दे० “लुढ़की”।

लुड़लुड़ाना-क्रि० अ० दे० “लुड़लुड़ाना”।

लुढ़कना-क्रि० अ० [सं० लुठन, हि० लुठना + क] (१) ज़मीन पर नीचे ऊपर फिरते हुए बढ़ना या चलना। गेंद की तरह नीचे ऊपर चकर खाते हुए गमन करना। लुलकना। जैसे,—पहाड़ की चोटी से एक पत्थर लुढ़कता हुआ भागा।

संयो० क्रि०—जाना।—पड़ना।

(२) गिरकर नीचे ऊपर होते हुए गमन करना। जैसे,—सँभलकर खड़े होना; नहीं हो लुढ़क पड़ोगे।

संयो० क्रि०—जाना।—पड़ना।

मुहा०—लुढ़कना पुड़कना = गिरना पड़ना।

लुढ़काना-क्रि० स० [हि० लुढ़कना] ज़मीन पर इस प्रकार चलाना कि नीचे ऊपर होता हुआ कुछ दूर बढ़ता जाय। इस प्रकार फेंकना या छोड़ना कि चकर खाते हुए कुछ दूर चला जाय। लुलकाना। जैसे,—गेंद लुढ़काना, टीले पर से पत्थर लुढ़काना।

संयो० क्रि०—देना।

लुढ़ाना संज्ञा स्त्री० अ० [सं० लुठन] (१) लुढ़कना। (२) गिरना।
उ०—बरही मुकुट लुढ़त अवनी पर नाहिन निज भुज भरतु।
—सूर।

लुढ़ाना संज्ञा स्त्री० स० दे० “लुढ़काना”। उ०—(क) माखन खाय
खवावत ग्वाल जो उबय्यो सो दियो लुढ़ाई।—सूर। (ख)
मियाँ जोड़ें पली पली और लुढ़ा लुढ़ावें कुप्पा। (कहावत)
लुढ़ियाना-क्रि० स० [हि० लुंडी या लोढ़िया] गोल बत्ती की तरह उभरी हुई सिलाई करना। गोल तुरपना।

संयो० क्रि०—देना।

लुतरा-वि० [देश०] [स्त्री० लुतरी] (१) इधर की उधर लगाने-
वाला। पीठ पीछे निंदा करके झगड़ा लगानेवाला। जुगल-
खोर। (२) नटखट। शरारती।

लुतरी-वि० स्त्री० [हि० लुतरा] झगड़ा लगानेवाली। जुगल-
खोर। (स्त्री)

लुत्थ संज्ञा स्त्री० दे० “लोथ”।

लुत्फ संज्ञा पुं० [अ०] (१) कृपा। दया। अनुग्रह। मेहबानी।
(२) भलाई। खूबी। उत्तमता। (३) मज़ा। आनंद।

(४) स्वाद । ज्ञायका । (५) रोचकता ।

क्रि० प्र०—भाना ।—मिलना ।

मुहा०—लुङ्क उठाना = मजा पाना ।

लुङ्की—संज्ञा स्त्री० [हि० लुंदा] दही में बनी हुई भाँग । लुङ्की ।

लुङ्ग्रा—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का धान जो अगहन के महीने में तैयार होता है और जिसका चावल बहुत दिनों तक रह सकता है ।

लुनना—क्रि० सं० [सं० लवन = काटना, लून = कटा हुआ + ना] (१) खेत की तैयार फसल काटना । खेत काटना । उ०—(क) अनबोए लुनना नहीं, बोए लुनना होय ।—कबीर । (ख) करि कुरूप विधि परबस कीन्हा । बया सो लुनिय, लहिय जो दीन्हा ।—तुलसी । (२) दूर करना । हटाना । नष्ट करना । उ०—कस्तूरी अगर सार, चोवा रस घनसार दीपक हजार तें अँध्यार लुनियत है ।—देव ।

लुनाई—संज्ञा स्त्री० [हि० लोना + आई (प्रत्य०)] लावण्य । सुंदरता । सलोनापन । खूबसूरती । उ०—(क) दूटे हरा हियरा पै परे पदमाकर लीक सी लंक लुनाई ।—पद्माकर । (ख) राख्यो न रूप कछु विधि के घर ल्याई है लूटि लुनाई की ढेरी ।—देव ।

लुनेरा—संज्ञा पुं० [हि० लुनना] खेत की फसल काटनेवाला । लुनेनेवाला ।

संज्ञा पुं० [हि० लोन] एक जाति जिसे लोनिया या नोनिया भी कहते हैं । यह जाति पहले नमक निकालती थी ।

लुन्ही—संज्ञा स्त्री० [देश०] मँजकर तैयार लपेटी हुई पाई । (जुलाहे) ।

लुपना—क्रि० प्र० [सं० लुप] छिपना । गुप्त होना । उ०—एक दाय तीन लुपै लुप्तोपमा हैं आठ तिनको उदाहरण ही सों पहिचानिये ।—दूल्हा ।

लुप्त—वि० [सं०] (१) छिपा हुआ । गुप्त । अंतर्हित । (२) गायब । अदृश्य । (३) नष्ट ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

संज्ञा पुं० चोरी का माल । चौर्य-धन ।

लुप्तोपमा—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह उपमा अलंकार जिसमें उसका कोई अंग (जैसे,—उपमेय, धर्म, वाचक शब्द) लुप्त हो, अर्थात् न कहा गया हो ।

लुबरी—संज्ञा स्त्री० [अ० लुब = लासा] किसी तरल पदार्थ के नीचे की बैठी हुई मैल । तरौल । गाद ।

लुबुध—वि० दे० “लुब्ध” । उ०—व्याध विशिख बिलोक नहि कल गान लुबुध कुरंग ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० लुब्धक । अहेरी । बहेलिया ।

लुबुधना—क्रि० प्र० [हि० = लुबुध + ना (प्रत्य०)] लुब्ध होना । मोहित होना । लुभाना । उ०—(क) बीन नाद सुनि लुबुधे

मृग ज्यों त्यों भइ दसा हमारी ।—सूर । (ख) भँवर न उड़हि जो लुबुधे बासा ।—जायसी ।

संयो क्रि०—जाना ।

लुब्ध—वि० [सं०] (१) लोभ युक्त । प्रबल आकांक्षा-युक्त । अत्यंत राग-युक्त । लुभाया हुआ । ललचाया हुआ । (२) तन मन की सुध भूला हुआ । मोहित । उ०—जाके पद-कमल लुब्ध मुनि-मधुकर निकर परम सुगति हू लोभ नाहिन ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० व्याध । बहेलिया । लुब्धक ।

लुब्धक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पशु पक्षियों को लालच दिखाकर पकड़ लेनेवाला । व्याध । बहेलिया । शिकारी । उ०—सूरदास प्रभु [सों] मेरी गति जनु लुब्धक कर मीन तन्यो ।—सूर । (२) उत्तरी गोलार्द्ध का एक बहुत तेजवान तारा । (आधुनिक)

लुब्धना—क्रि० प्र० दे० “लुबुधना” ।

लुब्धापति—संज्ञा स्त्री० [सं०] केशव के अनुसार प्रौढ़ा नायिका का चतुर्थ भेद । वह प्रौढ़ा नायिका जो पति और कुल के सब लोगों की लज्जा करे । यथा—सो लुब्धापति जानिए केशव प्रगट प्रमान । कानि करै कुलपति सबै प्रभुता प्रभुहि समान ।—केशव ।

लुब्धलुबाब—संज्ञा पुं० [अ०] (१) गूदा । सार । (२) किसी बात का तत्व । सारांश ।

लुभाना—क्रि० प्र० [हि० लोभ + आना (प्रत्य०)] (१) लुब्ध होना । अत्यंत रागयुक्त होना । मोहित होना । आकर्षित होना । रीझना । उ०—कूबरी के कौन गुन पै रहे कान्ह लुभाइ ।—सूर । (२) लालसा करना । लालच में पड़ना । (३) तन मन की सुध भूलना । मोह में पड़ना ।

संयो क्रि०—जाना ।

क्रि० सं० (१) लुब्ध करना । अत्यंत रागयुक्त करना ।

अपने ऊपर गहरी प्रेम उत्पन्न करना । मोहित करना ।

रिझाना । (२) प्राप्त करने की गहरी चाह उत्पन्न करना ।

ललचाना । जैसे,—उसकी कारीगरी ने हमें लुभा लिया ।

(३) सुध बुध भूलाना । आंत करना । मोह में डालना ।

उ०—सूर हरि की प्रबल माया देति मोहि लुभाय ।—सूर ।

संयो क्रि०—लेना ।

लुरकना—क्रि० प्र० [सं० लुलन = झूलना] अधर में टगकर हिलना डोलना । नीचे की ओर झुकना । लटकना । झूलना ।

लुरका—संज्ञा पुं० [हि० लुरकना = लटकना] झुमका ।

लुरकी—संज्ञा स्त्री० [हि० लुरकना = लटकना] कान में पहनने की वाली । मुरकी । उ०—देव जगामग जोतिन की लुर मोतिन की लुरकीन सों नाथी ।—देव ।

संज्ञा स्त्री० दे० “लुक्की” ।

लुटना—क्रि० प्र० [सं० लुलन = झूलना] (१) ऊपर से नीचे तक चली आई हुई वस्तु का इधर उधर हिलना डोलना । लटकना । झूलना । लहराना । उ०—(क) छतियाँ पर लोल लुरै अलकै सिर फूल अरु सि सो यों दुति है ।—वेनी । (ख) झपकै पलकै विधुरी अलकै अरु हार लुरै मुकुता गल में ।—सुंदर । (२) ढल पड़ना । झुक पड़ना । टूट पड़ना । (३) कहीं से एक बारगी भा जाना । उ०—ब्रह्म की विभूति, कर्तृति बिबकर्म की, साहिबी सकल पुरहुत की लुरै परी ।

संयो० क्रि०—पड़ना ।

(४) आकर्षित होना । लुभा जाना । लडू होना । प्रवृत्त होना । उ०—संग ही संग बसौ उनके, अँग अंगन देव तिहारे लुरी है ।—देव ।

संयो० क्रि०—पड़ना ।

लुरियाना—क्रि० प्र० [हि० लुरना] प्रेमपूर्वक स्पर्श करना या अंग पर अंग रखना । प्यार करना ।

लुरी—संज्ञा स्त्री० [हि० लेखा = बद्धा ?] वह गाय जिसे बच्चा दिए थोड़े ही दिन हुए हों । उ०—लाडिली लीली कलौरी लुरी कहँ लाल लुके कहँ आँग लगाइकै ।—केशव ।

लुलन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० लुलित] लटकते हुए इधर उधर हिलना डोलना । आंदोलित होना । झूलना ।

लुलना—क्रि० प्र० [सं० लुलन] लटकते हुए हिलना डोलना । झूलना । लहराना । दोलित होना ।

लुलित—वि० [सं०] लटकता या झूलता हुआ । आंदोलित ।

लुवारा—वि० [हि० लू] गरमी के दिनों की तपी हुई गरम हवा । तप्त वायु । लू ।

क्रि० प्र०—चलना ।

लुशई—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की चाय जो आसाम और कछार में होती है ।

लुहँगी—संज्ञा स्त्री० [सं० लौहांग] लोहा जड़ी हुई लाठी । ऐसी लाठी जिसके मोटे सिरे पर लोहा जड़ा रहता है । लोहबंद ।

लुहना—क्रि० प्र० [सं० लुभन] लुभाना । ललचना । मोहित होना । उ०—अरिकै वह आजु अकेली गई खरिकै हरि के गुन रूप लुही ।—देव ।

लुहनी—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का अगहनी धान जिसका चावल बहुत दिन रह सकता है ।

लुहार—संज्ञा पुं० [सं० लौहकार, प्रा० लोहार] [स्त्री० लुहारिन, लुहारी] (१) लोहे का काम करनेवाला । लोहे की चीज़ें बनानेवाला । (२) वह जाति जो लोहे की चीज़ें बनाती है ।

लुहारिन—संज्ञा स्त्री० [हि० लुहार] लुहार जाति की स्त्री ।

लुहारी—संज्ञा स्त्री० [हि० लुहार] (१) लुहार जाति की स्त्री ।

(२) लोहे की वस्तु बनाने का काम । जैसे,—वह लुहारी सील रहा है ।

लुहुरा—संज्ञा स्त्री० [सं० लवु, हि० लहुरा] छोटे कानोंवाली भेड़ । (गढ़ेरिये)

लू—संज्ञा स्त्री० [सं० लुक = जलना । हि० लौ = लपट] गरमी के दिनों की तपी हुई हवा । गरम हवा का लपट सा झोंका । तप्त वायु ।

क्रि० प्र०—चलना ।—बहना ।

मुहा०—लू मारना या लगाना = शरीर में तपी हवा लगने से ज्वर आदि उत्पन्न होना ।

लूक—संज्ञा स्त्री० [सं० लुक = जलना] (१) अग्नि की ज्वाला । आग की लपट । (२) पतली लकड़ी जिसका छोर दहकता हुआ हो । जलती हुई लकड़ी । लुत्ती । उ०—दोड़ लियो ठीक बिचारि । इक लूक लीन्हों बारि ।—रघुराज ।

मुहा०—लूक लगाना = जलती लकड़ी या बत्ती छुलाना । आग लगाना । उ०—मारि मुलुक में लूक लगायो ।—लाल ।

(३) गरमी के दिनों की तपी हवा । तप्त वायु का झोंका जो शरीर में लपट की तरह लगे । लू । उ०—ए प्रजचंद ! चलो किन वा ब्रज, लूकै बसंत की ऊकन लागीं ।—पद्माकर ।

(४) टूटा हुआ तारा । उल्का । लूक । उ०—(क) आवत मुकुट देखि कपि भागे । दिन हीं लूक परन बिधि लागे ।—तुलसी । (ख) सुमिरि राम तकि तरकि तोयनिधि लंक लूक सो आयो ।—तुलसी ।

लूकना—क्रि० प्र० [हि० लूक + ना] आग लगाना । जलाना । उ०—हिय अंदर रावरो मंदिर है तेहि यों बिरहानल लूकिए ना ।

लू० क्रि० प्र० दे० “लूकना” । उ०—लूकि केते रहे, धूकि केते गए, चूकि केते दूए, सूकि केते चहे ।—सूदन ।

लूका—संज्ञा पुं० [सं० लुक = जलना] [स्त्री० अलूपा = लूकी] (१) अग्नि की ज्वाला । आग की लौ या लपट । उ०—नखत अकासहि चढ़े दिपाई । तत तत लूका परहि दिखाई ।—जायसी । (२) पतली लकड़ी जिसका छोर दहकता हो । लकड़ी जिसके एक सिरे में आग हो । लुत्ती ।

मुहा०—लूका लगाना = आग छुलाना । आग लगाना । जलाना । मुँह में लूका लगाना = मुँह जलाना । तिरस्कार करना । (बियों की गाली)

संज्ञा पुं० [देश०] मछली फँसाने का एक प्रकार का जाल ।

लूकी—संज्ञा स्त्री० [हि० लूका] (१) आग की चिनगारी । स्फुलिंग । उ०—हिया फाट वह जब ही कूकी । परै आँसु सब होइ होइ लूकी ।—जायसी । (२) पतली लकड़ी या तिनके का टुकड़ा जिसका सिरा जलता हो । लूका ।

मुहा०—लूकी लगाना = आग लगाना । जलाना ।

लूना #—वि० [सं० लुन = रत्न, रुखा] बिना चिकनाहट का ।
रुखा । उ०—मना मनोरथ छौं दि दे तेरा किया न होय ।
पानी में वी नीकसै लूना खाइ न कोय ।—कबीर ।

लूगड़ा—संज्ञा पुं० [हि० लूगा] (१) वस्त्र । कपड़ा । (२) ओढ़नी ।
चादर ।

लूगा—संज्ञा पुं० [देश०] (१) वस्त्र । कपड़ा । उ०—रोटी लूगा
नीके राखै आगेहु की बेद भाषै भलो हैहै तेरो ताते आनंद
लहत हौं ।—तुलसी । (२) धोती ।

लूघा—संज्ञा पुं० [देश०] कृत्र खोदनेवाला । गोरकन । (ठग)

लूट—संज्ञा स्त्री० [हि० लूटना] (१) बलात् अपहरण । किसी के
माल का जबरदस्ती छीना जाना । किसी की धन संपत्ति
या वस्तु का बलपूर्वक लिया जाना । डकैती । जैसे,—(क)
दंगे में बाज़ार की लूट हुई । (ख) सिपाहियों को लूट का
माल खूब मिला ।

क्रि० प्र०—करना ।—पढ़ना ।—मचना ।—होना ।

यौ०—लूट खूँद, लूटमार, लूटपाट = लोगों को मारने पीटने और
उनका धन छीनने का व्यापार । डकैती और दंगा ।

(२) लूटने से मिला हुआ माल । अपहृत धन । जैसे,—
लूट में सब सिपाहियों का हिस्सा लगा ।

लूटक—संज्ञा पुं० [हि० लूट] (१) जबरदस्ती छीननेवाला । लूटने-
वाला । (२) डाकू । लुटेरा । (३) कांति हरनेवाला । शोभा
में बढ़ जानेवाला । उ०—असनि सरासन लसत, सुचि सर
कर, तून कटि मुनिपट लूटक बसन के ।—तुलसी ।

लूटखूँद—संज्ञा स्त्री० [हि० लूटना + खूँदना] लोगों को मारने और
उनका धन छीनने का व्यापार । डाका और दंगा । लूटमार ।

लूटना—क्रि० सं० [सं० लुट् = लूटना] (१) बलात् अपहरण करना ।
जबरदस्ती छीनना । भय दिखाकर, मार पीटकर या छीन
झपटकर ले लेना । जैसे,—रास्ते में डाकुओं ने सारा माल
लूट लिया । उ०—(क) केशव फूलि नचै अकुटी, कटि लूटि
नितंब लई बहु काली ।—केशव । (ख) जानी न ऐसी चढ़ा
चढ़ी में केहि धौं कटि बीच ही लूटि लई सी ।—पद्माकर ।
(ग) चोर चख चोरिन चलाक चित चोरी भयो, लूटि गई
लाज, कुल कानि को कटा भयो—पद्माकर ।

संयो० क्रि०—लेना ।

यौ०—लूटना पाटना । लूटना मारना ।

मुहा०—लूट खाना = दूसरे का धन किसी न किसी प्रकार ले लेना ।
(२) बरबाद करना । तबाह करना । (३) धोखे से या
अन्यायपूर्वक किसी का धन हरण करना । अनुचित रीति
से किसी का माल लेना । जैसे,—कचहरी में जाओ, तो
अमले लूटते हैं ।

मुहा०—(किसी को) लूट खाना = किसी का धन अनुचित रीति
से ले लेना । किसी का माल मारना ।

(४) बहुत अधिक मूल्य लेना । वाजिब से बहुत ज्यादा
कीमत लेना । ठगना । जैसे,—बह दूकानदार गाहकों को
खूब लूटता है । (५) मोहित करना । भ्रम करना । बशीभूत
करना । मन हाथ में करना । उ०—लूटी छुँवारी लट,
लूटी हैं बधूटी बट, दूटी चट लाज तैं न जूटी परी कहैं ।—
दीनदयाल ।

विशेष—इस क्रिया का प्रयोग सुख या भानन्द भोग करने के
अर्थ में भी सुख, आनंद, मौज आदि कुछ शब्दों के साथ
होता है । जैसे,—आनंद लूटना, सुख लूटना ।

लूटिछा—संज्ञा स्त्री० दे० “लूट” । उ०—गए कंचुकि बँद दूटि
लूटि हिरदय सो पाई । करति मनहि मन सेव निकट रथ
दयो देखाई ।—सूर ।

लूत—संज्ञा पुं० [इब्रानी] यहूदियों के एक पुराने पैगंबर का नाम ।

लूता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मकड़ी । ऊर्णनाभ । (२) कफोले
की तरह की फुंसी जो कहते हैं कि मकड़ी के मूतने से
निकलती है । बुक्का । भर्मव्रण ।

विशेष—वैद्यक के ग्रंथों में ‘लूता’ रोग कई प्रकार का कहा
है और कई प्रकार की विषैली मकड़ियों की चर्चा है ।
जैसे,—त्रिमंडला, रवेता, कपिला, रक्तलूता इत्यादि । विष
संबंध में कहा गया है कि मकड़ी के थूक, नख, मूत्र, रज,
शुक्र और पुरीष के द्वारा विष का संचार होता है । लूता
रोग यदि अच्छा न हो, तो आदमी मर जाता है ।

(३) पिपीलिका । च्यूटी ।

संज्ञा पुं० [हि० लूका] [स्त्री० अरपा० लूती] लकड़ी जिसका
एक सिरा जलता हो । लूका । लुआठा । उ०—सोवत मन-
सिज आनि जगायो पटै सँदेस स्याम के दूते । विरह-समुद्र
सुखाय कौन बिधि किरचक योग अग्नि के लूते ।—सूर ।

मुहा०—लूता लगाना = आग लगाना ।

लूती—संज्ञा स्त्री० [हि० लूता] पतली लकड़ी जिसका एक सिरा
जलता हो । लुआठी ।

मुहा०—लूती लगाना = आग लगाना ।

लून—वि० [सं०] छिन्न । कटा हुआ ।

संज्ञा पुं० दे० “लोन” ।

लूनक—संज्ञा पुं० [हि० लोना] (१) सजी खार । (२) अमलोनी
का साग ।

लूनना—क्रि० सं० दे० “लुनना” ।

लूम—संज्ञा पुं० [सं०] लांगुल । पूँछ । दुम ।

संज्ञा पुं० सम्पूर्ण जाति का एक राग जिसमें सब शुद्ध स्वर
लगते हैं । इसके गाने का समय रात ११ दंड से १५ दंड
तक है । यह मेव राग का पुत्र कहा गया है । (हनुमत्)

संज्ञा स्त्री० [देश०] कलावत् की लच्छी

संज्ञा पुं० [अ० हैड लूम] कपड़ा बुनने का करवा ।

लूमड़ी †-संज्ञा स्त्री० दे० "लोमड़ी"।

लूमना छ-क्रि० प्र० [सं० लंन = दोलन] लटकना । झूलना । लहराना । उ०—(क) लपकि चढ़े हरि तासु पै लूमि उह-उही डार । कियो सदेव कदेव हूँ नाथ कृपा आगार ।—व्यास । (ख) जूमि जूमि बरसाती तरिवर लहरत तहँ लता रहीं लूमि लूमि ।—देव स्वामी ।

लूमर-वि० [देश०] सयाना । जवान । युवा । (व्यंग्य या तिरस्कार) जैसे,—इतने बड़े लूमर हुए, कुछ राजर न आया ।

लूरना छ-क्रि० प्र० दे० "लुरना" । उ०—सिरसि जटा कलाप पानि सायक चाप उरसि लचिर बनमाल लुरति ।—तुलसी ।

लूना-वि० [सं० लून = कटा हुआ] [स्त्री० लूनी] (१) जिसका हाथ फट गया हो या बेकाम हो गया हो । बिना हाथ का । लुंजा । हुंदा । (२) बेकाम । असमर्थ । उ०—कोकिल के—की कुलाहल हुल उठी उर में, मति की गति लूली ।

लूलू-वि० [देश०] मूर्ख । बेवकूफ । उजड़ । उल्लू । बुद्धिहीन ।

मुहा०—लूलू बनाना = (१) बेवकूफ बनाना । बातों में मूर्ख प्रमाणित करना । (२) उपहास करना ।

लूसन-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का फलदार पेड़ ।

लूह †-संज्ञा स्त्री० दे० "लू" ।

लूहर †-संज्ञा स्त्री० दे० "लू" । उ०—ऊँचे से गर्व गिरावत क्रोध सो जो बहि लूहर लावत भारे ।—केशव ।

लूंगा†-संज्ञा पुं० दे० "लूंगा" ।

लूँड-संज्ञा पुं० [सं० लेण्ड] [स्त्री० अल्पा० लेंडी] मल की बत्ती जो उत्सर्ग के समय बँध जाती है । बँधा मल ।

लूँडी-संज्ञा स्त्री० [हि० लेंड] (१) मल की बत्ती जो उत्सर्ग के समय बँध जाती है । बँधा मल । (२) बकरी या ऊँट की मँगनी । बकरी या ऊँट का मल जो बँधी गोलियों के आकार में निकलता है ।

लूँडुआ†-संज्ञा पुं० [देश०] कागज़ का एक खिलौना जो उछाल कर फेंक देने पर ज़मीन में गिरते ही फिर खड़ा हो जाता है । इसे खड़ेखौं और मतवाला भी कहते हैं ।

लूँस-संज्ञा पुं० [अ०] शीशे का ताल जो प्रकाश की किरणों को एकत्र या केंद्रीभूत करे । जैसे,—चश्मे का लूँस, फोटोग्राफी का लूँस ।

लूँहड़ा-संज्ञा पुं० [देश०] झुंड । दल । समूह । क़तार । ग़ला । (चौपायों के लिये) उ०—सिंहन के लूँहड़े नहीं, हंसन की नहिँ पाँत । लालन की नहिँ बोरियाँ, साधु न चलै जमात ।—कबीर ।

ले-अव्य० [हि० लेना, लेकर] आरंभ होकर । शरु होकर । जैसे,—यहाँ से ले वहाँ तक ।

‡ [सं० लग्न, हि० लग, लगि] तक । पर्यंत ।

क्रि० प्र० दे० "लेना" ।

लेह†-अव्य० [सं० लग्न, हि० लगि] तक । पर्यंत ।

लेई-संज्ञा स्त्री० [सं० लेहिन, लेही या लेह] (१) पानी में घुले हुए किसी चूर्ण को गाढ़ा करके बनाया हुआ लसीला पदार्थ जिसे उँगली से उठाकर चाट सकें । अवलेह । (२) आटे को भूनकर उसमें शरबत मिलाकर गाढ़ा किया हुआ पदार्थ जो खाया जाता है । लपसी ।

यौ०—लेई पूँजी = सारी वसा । सर्वस्व ।

(३) घूला हुआ आटा जो आग पर पकाकर गाढ़ा और लसदार किया गया हो और जो कागज़ आदि चिपकाने के काम में आवे । (४) सुरखी मिठा हुआ बरी का चूना जो गाढ़ा घोला जाता है और ईंटों की जोड़ाई में काम आता है ।

लेक्चर-संज्ञा पुं० [अ०] व्याख्यान । वक्तृता ।

क्रि० प्र०—देना ।

मुहा०—लेक्चर झाड़ना = धूमधाम से व्याख्यान देना । (व्यंग्य)

लेक्चरबाज़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० लेक्चर + फ्रा० बाजी] खूब लेक्चर देने की क्रिया ।

लेख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लिखे हुए अक्षर । लिपि । (२) लिखी हुई बात । (३) लिखावट । लिखाई । (४) लेखा । हिसाब किताब । उ०—गुन गुन विधि पूछव होइहि लेख भउ जोख ।—जायसी । (५) देव । देवता । उ०—चढ़े विमानन लेख अलेखन वर्षहि मुदित प्रसूना ।—रघुराज ।

अवि० (१) लेख्य । लिखने योग्य । (२) लेखा करने योग्य । हिसाब के लायक ।

लेखक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० लेखिका] (१) जो किसी बात को अक्षरों में उतारे । लिखनेवाला । लिपिकार । (२) किसी विषय पर लिखकर अपने विचार प्रकट करनेवाला । ग्रंथकार । जैसे,—इस पुस्तक का लेखक कौन है ? (३) एक प्रेत का नाम । उ०—लेखक कहता बात बिचारी । बाम्हन सुन अपराध हमारी ।—सबल० ।

लेखन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० लेखनीय, लेख्य] (१) लिखने का कार्य । अक्षर-विन्यास । अक्षर बनाना । (२) लिखने की कला या विद्या । (३) चित्र बनाना । उ०—जल बिनु तरंग, भीति बिनु लेखन बिनु चेतहि चतुराई ।—सूर । (४) हिसाब करना । लेखा लगाना । कृतना । (५) छंदन । उलटी करना । वमन करना । कै करना । (६) औषध द्वारा रसादि सप्त धातुओं या बात आदि दोषों को शोषण करके पतला करना । (७) इस काम के लिये उपयुक्त औषध । (८) भोजपत्र, जिस पर प्राचीन काल में लिखा जाता था । (९) खाँसी ।

लेखनवस्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] रसादि सप्त धातु या वातादि त्रिदोष और वमन इत्यादि को पतला कर देनेवाली पिचकारी ।

लेखना—क्रि० सं० [सं० लेखन] (१) अक्षर या चित्र बनाना।

लिखना। उ०—कुंदन-लीक कसौटी में लेखी सी देखी
सुनारि सुनारि सलोनी।—देव। (२) हिसाब, संख्या या
परिमाण आदि निश्चित करना। गिनती करना।

यौ०—लेखना जोखना = (१) नाप, तौल या गिनती करके संख्या
या परिमाण आदि निश्चित करना। ठीक ठीक अंदाज करना।
हिसाब करना। (२) जाँच करना। परीक्षा करना। उ०—लेखे
जोखे चोखे चित तुलसी स्वारथ हित, नीके देखे देवता
देवैया घने गथ के।—तुलसी।

(३) मन ही मन ठहराना। समझना। सोचना। विचारना।
मानना। उ०—(क) हौं ओहि आपन दरपन लेखौं। करौं
सिंगार भोर मुख देखौं।—जायसी। (ख) जे जे तव सूर
सुभट कीट सम न लेखौं।—सूर। (ग) सिय सौमित्रि
राम-छवि देखहि। साधन सकल सफल करि लेखहि।—
तुलसी।

लेखनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह वस्तु जिससे लिखें या अक्षर
बनावें। वर्णतुलिका। कलम। लिखनी।

मुहा०—लेखनी उठाना = लिखना आरंभ करना।

लेखनीय—वि० [सं०] लिखने योग्य।

लेखपत्र—संज्ञा पुं० [सं०] लिखित पत्र। लिखा हुआ कागज़।
दस्तावेज़।

लेखप्रणाली—संज्ञा स्त्री० [सं०] लिखने की शैली। लिखने का
ढंग।

लेखर्षभ—संज्ञा पुं० [सं०] देवताओं में श्रेष्ठ, इंद्र।

लेखशैली—संज्ञा स्त्री० [सं०] लेख प्रणाली।

लेखहार—संज्ञा पुं० [सं०] चिट्ठी ले जानेवाला। पत्र-वाहक।

लेखा—संज्ञा पुं० [हि० लिखना] (१) गणना। गिनती। हिसाब
किताब। जैसे,—(क) आमदनी और खर्च का लेखा लगा
लो। (ख) इसका लेखा लगाओ कि वह आठ कोस रोज़
चलकर वहाँ कितने दिनों में पहुँचेगा। (२) ठीक ठीक
अंदाज़। कृत।

क्रि० प्र०—लगाना।

(३) रुपए पैसे या और किसी वस्तु की गिनती आदि का
ठीक ठीक लिखा हुआ व्योरा। आय व्यय आदिका विवरण।
जैसे,—तुम अपना लेखा पेश करो; रुपया चुका दिया
जाय।

यौ०—लेखा बही। लेखा पत्र।

मुहा०—लेखा जाँचना = यह देखना कि हिसाब ठीक है या नहीं।
लेखा डेबिट करना = (१) हिसाब चुकता करना। (२) हिसाब
बराबर करना। (३) चौपट करना। नाश करना। लेखा पूरा या
साफ करना = हिसाब साफ करना। पिछला देना चुकाना।

लेखा डालना = हिसाब किताब खोलना। देन लेन के व्यवहार
की बही में लिखना।

(४) अनुमान। विचार। समझ।

मुहा०—किसी के लेखे = किसी की समझ में। किसी के विचार के
अनुसार। जैसे,—हमारे लेखे तो सब बराबर हैं।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लिपि। लिखावट। (२) रेखा।
लकीर। जैसे,—चंद्रलेखा।

लेखाबही—संज्ञा स्त्री० [हि० लेखा + बही] वह बही जिसमें रोकड़
के लेन देन का व्योरा रहता है।

लेखिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लिखनेवाली। (२) ग्रंथ या
पुस्तक बनानेवाली।

लेखित—वि० [सं०] लिखाया हुआ। लिखवाया हुआ।

लेख्य—वि० [सं०] (१) लिखने योग्य। (२) जो लिखा जाने
को हो।

संज्ञा पुं० (१) लिखी बात। लेख। (२) दस्तावेज़।

विशेष—धर्मशास्त्र में 'लेख्य' मनुष्य-प्रमाण के दो भेदों में
एक से है। इसके भी दो भेद हैं—शासन और जानपद।
(चौरक)

लेख—संज्ञा स्त्री० [सं० रज्जु, मागधी प्रा० लेज्जु] रस्सी। डोरी।

लेजम—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) एक प्रकार की नरम और लचक-
दार कमान जिससे धनुष चलाने का अभ्यास किया जाता
है। (२) वह कमान जिसमें लोहे की जंजीर लगी रहती
है और कटोरियाँ पड़ी रहती हैं और जिससे पहलवान लोग
कसरत करते हैं।

विशेष—इसे हाथ में लेकर कई तरह के पैतरों और बैठकों के
साथ कसरत करते हैं।

क्रि० प्र०—भाँजना।—हिलाना।

लेजरंग—संज्ञा पुं० [लेज ? + हि० रंग] मरकत या पन्ने की एक
रंगत जो उसका गुण मानी जाती है।

लेजिस्लेटिव काउंसिल—संज्ञा स्त्री० [अंग०] प्रधान शासक या
गवर्नर की वह सभा जो देश के लिये कानून बनाती है।

लेजुर—संज्ञा स्त्री० [सं० रज्जु, मागधी प्रा० लेज्जु] (१) रस्सी।
डोरी। (२) कूँ से पानी खींचने की रस्सी। उ०—लेजुरि
भइउँ, नाथ, बिनु तोही।—जायसी।

लेजुरा—संज्ञा पुं० दे० "लेजुर"।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का अगहनी धान जिसका
चावल बहुत दिनों तक रहता है।

लेजुरी—संज्ञा स्त्री० दे० "लेजुर"।

लेट—संज्ञा स्त्री० [देश०] सुरखी, कंकड़ और चूना पीटकर बनाई
हुई कड़ी चिकनी सतह। गच।

लेटना—क्रि० प्र० [सं० लुठन, हि० लोटना] (१) हाथ पैर और सारा
शरीर जमीन या और किसी सतह पर टिकाकर पड़ रहना।

पीठ जमीन या बिस्तरे आदि से लगाकर बदन की सारी लम्बाई उस पर ठहराना। खड़ा या बैठा न रहना। पौढ़ना। जैसे,—जाकर चारपाई पर लेट रहो।

संयो० क्रि०—जाना।—रहना।

(२) किसी चीज का बगल की ओर झुककर जमीन पर गिर जाना।

मुहा०—लेती लेट जाना = (१) फसल का अधिक पानी या हवा के कारण सीधा खड़ा न रहना, झुककर जमीन पर पड़ जाना। (२) नत होना। विनीत हो जाना। प्रभुत्व मान लेना। गुड़ लोट जाना = ताव बिगड़ने के कारण गुड़ का गीला और चिप-चिप हो जाना।

(३) मर जाना।

लेटपेट-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की चाय।

लेटर बाक्स-संज्ञा पुं० [अंग०] डाकखाने का वह संदूक जिसमें कहीं भेजने के लिये लोग चिट्ठियाँ डालते हैं। चिट्ठी-डालने का संदूक।

लेटाना-क्रि० स० [हि० लेटना का प्रेर०] दूसरे को लेटने में प्रवृत्त करना।

संयो० क्रि०—देना।

लेड-संज्ञा पुं० [अंग०] (१) सीसा नामक धातु। (२) प्रायः दो अंगुल चौड़ी सीसे की ठली हुई पत्तर की तरह पतली पटरी जो छापेखाने में अक्षरों की पंक्तियों के बीच में अक्षरों को ऊपर नीचे होने से रोकने के लिये दी जाती है।

लेड मोहड-संज्ञा पुं० [अंग०] छापेखाने में अक्षरों की पंक्तियों के बीच में रखने के लिये सीसे की पटरियाँ ढालने का साँचा। लेड ढालने का साँचा।

लेडी-संज्ञा स्त्री० [अंग०] (१) भले घर की स्त्री। महिला। (२) लार्ड या सरदार की पत्नी।

लेथो-संज्ञा पुं० दे० “लीथो”।

लेद-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का गीत जो फागुन में गाया जाता है।

लेदवा-संज्ञा पुं० [देश०] खेत में होनेवाली एक प्रकार की ककड़ी। फूट।

लेदार-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की चिड़िया।

लेदी-संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) जलाशयों के किनारे रहनेवाली एक प्रकार की छोटी चिड़िया। उ०—बोलहिं सुभा देक बक लेदी। रही अबोल मीन जल-मेदी।—जायसी। (२) वास का पूरा जिसे हल के नीचे के भाग में इसलिये बाँध देते हैं जिसमें चौड़ी कूँद बने।

लेन-संज्ञा पुं० [हि० लेना] (१) लेने की क्रिया या भाव।

यौ०—लेन देन।

(२) वह रकम जो किसी के यहाँ बाकी हो या मिलनेवाली हो। लहना। पाचना।

लेनदार-संज्ञा पुं० [हि० लेन + दा० दार (प्रत्य०)] जिसका कुछ बाकी हो। जिसका ऋण चुकना हो। महाजन। लहनेदार।

लेनदेन-संज्ञा पुं० [हि० लेना + देना] (१) लेने और देने का व्यवहार। आदान प्रदान। (२) रुपया ऋण देने और ऋण लेने का व्यवहार जो किसी के साथ किया जाय। जैसे,—हमारा उसका लेन देन नहीं है। (३) रुपए लेने देने का व्यवसाय। महाजनी। जैसे,—उसके यहाँ रुपए का लेन देन होता है।

मुहा०—लेन देन न होना = व्यवहार न होना। सरोकार न होना। संबंध या प्रयोजन न होना। उ०—हमें कछु लेन न देन है ए बीर! तुम्हारे।—सूर।

लेना-क्रि० स० [सं० लभन, हि० लहना] (१) दूसरे के हाथ से अपने हाथ में करना। ग्रहण करना। प्राप्त करना। लाभ करना। जैसे,—उसने रुपया दिया, तो मैंने ले लिया।

संयो० क्रि०—लेना।

(२) ग्रहण करना। थामना। पकड़ना। जैसे,—छड़ी अपने हाथ में ले लो और किताब मुझे दे दो।

मुहा०—ऊपर लेना = सिर या कंधे पर रखना।

(३) मोल लेना। क्रय करना। खरीदना। जैसे,—बाज़ार में तुम्हें क्या क्या लेना है?

मुहा०—ले देना = दूसरे को मोल लेकर देना। खरीद देना।

(४) अपने अधिकार में करना। कब्जे में लाना। जीतना। जैसे,—उसने सिंध के किनारे का देश ले लिया। (५) उधार लेना। कर्ज लेना। ऋण ग्रहण करना। जैसे,—१००) महाजन से लिए, तब काम चला। (१) कार्य सिद्ध करना या समाप्त करना। काम पूरा करना। जैसे,—आधे से अधिक काम हो गया है; अब ले लिया।

(७) जीतना। जैसे,—बाजी लेना। (८) भागते हुए को पकड़ना। धरना। जैसे,—लेना, जाने न पावे।

(९) गोद में थामना। जैसे,—ज़रा बच्चे को ले लो। (१०) किसी आते हुए आदमी से आगे जाकर मिलना। अगवाना करना। अभ्यर्थना करना। जैसे,—शहर के सब रईस स्टेशन पर उन्हें लेने गए हैं। उ०—भरत आइ आगे मैं लीन्हे।—तुलसी। (११) प्राप्त होना। पहुँचना। जैसे,—घर लेना मुश्किल हो गया है। (१२) किसी कार्य का भार ग्रहण करना। किसी काम को पूरा करने का वादा करना। जिम्मे लेना। जैसे,—जब इस काम को लिया है, तब पूरा करके ही छोड़ूँगा।

मुहा०—ऊपर लेना = जिम्मे लेना। भार ग्रहण करना। जैसे—इस काम को मैं अपने ऊपर लेता हूँ।

(१३) लेवन करना। पीना। जैसे—कभीकभी वे थोड़ी सी भाँग ले लेते हैं। (१४) धारण करना। स्वीकार करना। अंगीकार करना। जैसे,—योग लेना, संन्यास लेना, बाना लेना। (१५) काटकर अलग करना। काटना। जैसे,—(क) नाखून लेना, बाल लेना। (ख) धीरे से ऊपर का हिस्सा ले लो, अंदर खुरी न लगने पावे। (१६) किसी को उपहास द्वारा लजित करना। हँसी ठट्ठा करके या व्यंग्य बोलकर शरमिदा करना। जैसे,—आज आपको खूब लिया।
मुहा०—आड़े हाथों लेना = गूढ़ व्यंग्य द्वारा लजित करना। छिपा हुआ आक्षेप करके लजित करना।

(१७) पुरुष या स्त्री के साथ संभोग करना। (१८) संचय करना। एकत्र करना। जैसे—मैं गुरु के लिये फूल लेने गया था।

मुहा०—ले आना = लेकर आना। लाना। ले उड़ना = (१) लेकर भाग जाना। (२) किसी बात को लेकर उस पर बहुत कुछ कह चलना। किसी बात का संकेत पाते ही वितंडावाद खड़ा करना। जैसे—तुमने तो जहाँ कोई बात सुनी, वस ले उड़े। लेने के देने पड़ना = (१) लेने के स्थान पर उलटे देना पड़ना। भले के लिए कुछ करते हुए बुरा होना। (किसी मामले में) लाभ के बदले हानि होना। (२) बहुत कठिन समय आना। जान पर आ बनना। जैसे,—देखते देखते बच्चे के खेले के देने पड़ गए। ले चलना = (१) लेकर चलना। थामकर या ऊपर उठा कर चलना। (२) चलते समय किसी को साथ करना। साथ साथ गमन कराना या पहुँचाना। जैसे—मेले में उन्हें भी ले चलो। ले जाना = ले कर जाना। पास में रखकर प्रस्थान करना। जैसे—(क) यह किताब ले जाओ, अब काम नहीं है। (ख) यह पत्र उनके पास ले जाओ। ले डालना = (१) खराब करना। चौपट करना। नष्ट करना। (२) पराजित करना। हराना। (३) किसी काम को निबट्टा देना। पूरा करना। समाप्त करना। ले डूबना = अपने साथ दूसरे को भी खराब करना। ले दे करना = (१) डुल्लत करना। तकरार करना। (२) बहुत प्रयत्न करना। बड़ी कोशिश करना। जैसे—बड़ी ले दे की, तब जाकर काम पूरा हुआ। ले देकर = (१) लेना देना सब जोड़कर। खर्च या देना आदि घटा कर। जैसे—सब ले देकर १०० बचते हैं। (२) सब मिलाकर। जोड़ जाड़कर। जैसे,—ले देकर इतने ही रुपए तो होते हैं। (३) बड़ी मुशकिल से। कठिनता से। लेना देना = (१) लेने और देने का व्यवहार। (२) रुपया उधार देने और लेने का व्यवसाय। लेना देना होना = मतलब या प्रयोजन होना। सरोकार होना। जैसे,—मुझे किसी से कुछ लेना देना है जो परवा कहीं! लेना एक न देना दो = कुछ मतलब नहीं। कुछ प्रयोजन नहीं। कुछ सरोकार नहीं। उ०—माँगि कै खैबो, मसीत को सोइबो लैबे को एक न

दैबे को दोऊ।—तुलसी। ले निकलना = लेकर चल देना। ले पड़ना = (१) अपने साथ जमीन पर गिरा देना। (२) संभोग करने लगना। ले पालना = गोद लेना। दत्तक लेना। ले बैठना = (१) बोक लिए डूब जाना। (नाव आदि का) (२) अपने साथ नष्ट या खराब करना। (३) किसी व्यवसाय का नष्ट होकर लगे हुए धन को नष्ट करना। जैसे—यह कारखाना सारी पूँजी ले बैठेगा। ले भागना = लेकर भाग जाना। ले रखना = लेकर रख छोड़ना। ले मरना = अपने साथ नष्ट या बुराव करना। कान में लेना = सुनना। उ०—कहँ बरी दस ता मैं कोऊ जो खबरि देत केत नहिँ कान और मरवावही।—प्रियादास। ले = इस शब्द का प्रयोग किसी को संबोधन करके इन अर्थों का बोध कराने के लिये किया जाता है—(१) अच्छा, जो तू चाहता है, वही होता है। जैसे—ले, मैं चला जाता हूँ, जो चाहे सो कर। (२) अच्छा जो तू किसी तरह नहीं मानता है, तो मैं यहाँ तक करता हूँ। जैसे,—ले, तेरे हाथ जोड़ूँ, क्यों न गावेगी?—हरिश्चन्द्र। (३) (किसी के प्रतिकूल कोई बात हो जाने पर उसे चिढ़ाने या लजित करने के लिये) देख! कैसा फल मिला। जैसे,—(क) ले! और बढ़ बढ़कर बातें कर। (ख) ले! कैसी मिठाई मिली।

विशेष—इस क्रिया का प्रयोग संयो० क्रिया के रूप में सकर्मक और अकर्मक दोनों क्रियाओं के धातु-रूप के आगे कहीं तो (क) केवल पूर्ति सूचित करने के लिये होता है; जैसे—इस बीच में उसने अपना काम कर लिया। और (ख) कहीं स्वयं वक्ता द्वारा किसी क्रिया का जाना सूचित करने के लिये। जैसे,—तुम रहने दो, मैं अपना काम आप कर लूँगा।

लेप—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गीली या पानी आदि के साथ मिली हुई वस्तु जिसकी तह किसी वस्तु के ऊपर फैलाकर चढ़ाई जाय। पोतने, छोपने या चुपड़ने की चीज़। लेई के समान गाढ़ी गीली वस्तु। जैसे,—जहाँ चोट लगी है, वहाँ यह लेप चढ़ा देना।

क्रि० प्र०—चढ़ाना।—रखना।—लगाना।

(२) गाढ़ी गीली वस्तु की तह जो किसी वस्तु के ऊपर फैलाई जाय। (३) उबटन। बटना। (४) लगाव। संबंध।

लेपक—संज्ञा पुं० [सं०] लेप करनेवाला। पोतने या लगानेवाला।

लेपची—संज्ञा पुं० [देश०] नैपालियों की एक जाति।

लेपन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० लेपिता, लेप्य, लिप्त] गाढ़ी गीली वस्तु की तह चढ़ाना। लेई सी गीली चीज़ पोतना या छोपना।

लेपना—क्रि० सं० [सं० लेपन] गाढ़ी गीली वस्तु की तह चढ़ाना। कीचड़ या लेई सी गाढ़ी चीज़ फैलाकर पोतना। छोपना।

लेपालक—संज्ञा पुं० [हि० लेना + पालना] गोद लिया हुआ पुत्र। दत्तक पुत्र। पालक।

लेपी-वि० [सं० लेपिन्] लेप करनेवाला ।

संज्ञा पुं० लेखक । लिपिकार ।

लेप्य-वि० [सं०] लेपन करने योग्य । लेपनीय ।

लेप्यनारी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह स्त्री जिस पर चंदन आदि का लेप लगा हो । (२) पत्थर या मिट्टी की बनी स्त्री की मूर्ति ।

लेफ्टिनेंट-संज्ञा पुं० [अंग०] (१) वह सहायक कर्मचारी जिसे यह अधिकार हो कि अपने से उच्च कर्मचारी के आज्ञानुसार या उसकी आज्ञा के अभाव में यथाभिमत कोई काम कर सके । जैसे,—लेफ्टिनेंट कर्नल, लेफ्टिनेंट गवर्नर, लेफ्टिनेंट जनरल इत्यादि । (२) सेना का वह अध्यक्ष जो कप्तान के मातहत होता है और कप्तान की अनुपस्थिति में सेना पर पूर्ण अधिकार रखता है ।

लेबरना-क्रि० सं० [हिं० लेपटना, लिबड़ना या लेभरना] ताने में माँड़ी लगाना । (जुलाहा)

लेखुल-संज्ञा पुं० [अंग०] पते या विवरण आदि की सूचक वह चिट जो पुस्तकों, औषध आदि की पुड़ियों, बोतलों या गठरियों आदि पर लगाई जाती है । नाम-विधि ।

लेबोरेटरी-संज्ञा स्त्री० [अंग०] वह शाला या मंदिर जिसमें वैज्ञानिक परीक्षाएँ की जाती हों, किसी परिक्रिया की जाँच की जाती हो, अथवा रासायनिक पदार्थ, औषधें इत्यादि बनाई या तैयार की जाती हों । प्रयोग शाला ।

लेमनेड-संज्ञा पुं० [अंग०] नीबू का शरबत जो पहले नीबू के रस को शरबत में मिलाकर बनाते थे, पर जो अब नीबू के सत्त को शरबत में मिलाकर बनाते हैं और बोतल में डबा के जोर से बंद करके रखते हैं । बिलायती मीठा पानी । (यह प्रायः पाचक होता है ।)

लेमर-संज्ञा पुं० [अंग०] एक प्रकार का जंतु जो पेड़ों पर रहता है और फल, फूल, अंकुर, पत्तियाँ, अंडे और कीड़े मकोड़े, जो पेड़ों पर रहते हैं, खाता है । पहले मेडागास्कर टापू में इसका पता लगा था । यह बंदरों से मिलता जुलता होता है । इसकी अनेक जातियों का पता चला है, जो अफ्रिका और पूर्वीय टापुओं में फिलिपाइन और सिलीबीज तक मिलती हैं । इनके सिवा इसकी एक और जाति है, जो बिना पूँछ के होती है और मलया, बोर्नियो, सुमात्रा आदि में मिलती है । इसकी पूँछ लंबी होती है । इसकी कुछ जातियों के जंतुओं को दिन में दिखाई नहीं देता ।

लेर-संज्ञा स्त्री० दे० “लहर” । (लश०)

लेरुआ-संज्ञा पुं० दे० “लड्डू” ।

लेरुआरी-संज्ञा पुं० [हिं० लट + आरी (प्रत्य०)] वह भेंड़ जिसके गले में बालों की लट लटकी रहती है । (गड़रिया)

लेखवा-संज्ञा पुं० [सं० लेह] बछड़ा । उ०—(क) जो न बसों,

लोख नैन, लेखवा मरहि सब खरक खरेई आजु सुनै सुनियतु है ।—केशव । (ख) लाड़िली लली कलौरी लुरी कहँ लाल लुके कहँ अंग लगाइ कै । आजु तो केशव कैसहु लेखवै लागत देत न कैसहुँ आइ कै ।—केशव ।

लेलिह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जूँ । लीख । (२) साँप ।

लेव-संज्ञा पुं० [सं० लेप्य] (१) अच्छी तरह धुली हुई मिट्टी या पिसी हुई ओषधियाँ जो किसी स्थान पर लगाई जायँ । लेप । (२) मिट्टि आदि का लेप जो हंडी या और बर्तनों की पेंदी पर उन्हें आग पर चढ़ाने से पहले जलाने से बचाने के लिये किया जाता है । (३) दीवार पर लगाने का गिलावा । कहगिल ।

क्रि० प्र०—चढ़ना ।—चढ़ाना ।—देना ।

सुहा०—लेव चढ़ना = मोटा होना । मोटाई आना । (व्यंथ)

(४) दे० “लेवा” ।

लेवक-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का वृक्ष जिसकी लकड़ी इमारत के काम में आती है ।

लेवड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० लेव + ढा (प्रत्य०)] लेव । लेप ।

लेवा-संज्ञा पुं० [सं० लेप्य] (१) गिलावा । (२) मिट्टी का गिलावा । कहगिल । (३) नाव की पेंदी का वह तख्ता जो सिरे से पतवार तक लगाया जाता है । (४) लेप । (५) पानी का इतना बरसना कि जोतने पर खेत की मिट्टी और पानी मिलकर गिलावा बन जाय ।

क्रि० प्र०—लगना ।

(६) गाय, भैंस आदि का धन ।

वि० [हिं० लेना] लेनेवाला । जैसे,—नामलेवा । जानलेवा ।

विशेष—इस अर्थ में इसका व्यवहार केवल दौगिक शब्दों के अंत में होता है ।

यौ०—लेवा देई = लेनदेन । आदान-प्रदान । उ०—अपनी काज सँचार सूर सुनि हमहि बतावत कूप । लेवा देई बराबर में है कौन रंक को भूप ।—सूर ।

लेवार-संज्ञा पुं० [सं०] अग्रहार ।

↑ संज्ञा पुं० [हिं० लेव] लेव । गिलावा ।

लेवारना-क्रि० सं० दे० “लेबरना” ।

लेवाल-संज्ञा पुं० [हिं० लेना + वाल (प्रत्य०)] लेने या खरीदनेवाला ।

लेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अणु । (२) छुटाई । सूक्ष्मता । (३)

चिह्न । निशान । उ०—राम सखिदानंद दिनेसा । नहिं तहिं मोहनिसा-लव लेसा ।—तुलसी । (४) संसर्ग । लगाव ।

संबंध । उ०—जो कोई कोप भरे मुख बैना । सनमुख हवै गिरा सर पैना । तुलसी तऊ लेस रिस नाहीं । सो

सीतल कहिये जग माहीं ।—तुलसी । (५) एक अलंकार,

जिसमें किसी वस्तु के वर्णन के केवल एक ही भाग या अंश

में रोचकता आती है । (६) एक प्रकार का गाना ।

वि० अहर। थोड़ा। उ०—(क) हरिका और पदत शाला में, तिनहिं करत उपदेस। हरि को भजन करो सबही मिलि और जगत सब लेस।—सूर। (ख) राज देन कहि दीन बन, मोहिं न सो दुख लेस। तुम्ह बिन भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेस।—तुलसी।

लेश्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] जैनियों के अनुसार जीव की वह अवस्था जिसके कारण कर्म जीव को बाँधता है। यह छः प्रकार की मानी गई है—कृष्ण, नील, कपोत, पीत, पद्म और शुक्ल। विशेष—इसे जैन लोग जीव का पर्य्याय भी मानते हैं।

लेष-संज्ञा पुं० (१) दे० “लेख”। (२) दे० “लेख”।

लेषना *—क्रि० सं० (१) दे० “लखना”। उ०—दुख सुख अरु अपमान बढ़ाई। सब सम लेषहि विपति बिहाई।—तुलसी। (२) दे० “लखना”। उ०—सीय स्वयंवर माई दोऊ भाई आप देषन। सुनत चली प्रमदा प्रमुदित मन, प्रेम पुलकि तन मनहुँ मदन मंजुल पेपन। निरधि मनोहरताई सुषुमाई कहै एक एक सों भूरि भाग हम धन्य आली ए दिन एषन। तुलसी सहज सनेह सुरंग सब, सो समाज चित चित्रसार लागी लेषन।—तुलसी।

लेषनी-संज्ञा स्त्री० दे० “लेखनी”।

लेषे-संज्ञा पुं० दे० “लेखे”।

लेस †—संज्ञा पुं० दे० “लेख”।

संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) कलबच्चू या किनारे पर टाँकने की इसी प्रकार की और कोई पट्टी। गोटा। (२) बेल। संज्ञा पुं० [हि० लासा] (१) मिट्टी का गिलावा जो दीवार पर लगाने के लिये बनाया जाता है। (२) किसी वस्तु को पानी में घोलकर तैयार किया हुआ गाढ़ा गिलावा। चैप। लस।

यौ०—लेसदार = लसीला। चिपचिपा।

लेसना—क्रि० सं० [सं० लेश्या = प्रकाश] जलाना। उ०—एहि विधि लेसइ दीप तेजरासि विज्ञानमय। जातहि जासु समीप जरहि मदादिक सख सब।—तुलसी।

क्रि० प्र०—देना।

क्रि० सं० [हि० लेस या लस] (१) किसी चीज़ पर लेस लगाना। पोतना। (२) घर की दीवार पर मिट्टी का गिलावा पोतना। कहगिल करना। (३) चिपकाना। सटाना। (४) इधर की बात उधर लगाना। चुगली खाना। (५) दो आदमियों में विवाद उत्पन्न करने के लिये उन्हें उत्तेजित करना।

लेसो †—संज्ञा पुं० [देश०] छः ढोली पान का एक गट्टा।

लेह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दे० “अवलेह”। (२) ग्रहण का एक भेद जिसमें पृथ्वी की छाया (या राहु) सूर्य या चंद्रबिंब को जीभ के समान चाटता हुआ जान पड़ता है।

लेहन-संज्ञा पुं० [सं० लेहक, लेह] चाटना। उ०—जहाँ जहाँ भीर परत अक्तन को तहाँ तहाँ होत सहाय। स्तुति कर मन हरष बढ़ायो लेहन जीभ कराय।—सूर।

लेहना-संज्ञा पुं० [हि० लहना] (१) खेत में कटे हुए रास्य या फसिल की वह ढाँठ जो काटनेवाले मज़दूरों को काटने की मज़दूरी में दी जाती है। (२) कटी हुई फसिल का वह बाल सहित ढंठल जो नाई, धोबी आदि को दिया जाता है। (३) ढंठल या बयाल आदि की वह मात्रा जो उठानेवाले के दोनों हाथों के बीच में आ सके। (४) दे० “लहना”।

लेहसुआ-संज्ञा पुं० [हि० लेस] एक प्रकार की घास जिसकी पत्तियाँ चार अंगुल लंबी, तीन अंगुल चौड़ी, ऊपर की तुकीली और धारीदार होती हैं। यह बरसात में उत्पन्न होती है और बहुत कोमल तथा लसीली होती है। इसका साग भी बनाया जाता है और इसे भी पशु खाते हैं। इसके फूल नीले रंग के और छोटे छोटे होते हैं। इसकी पत्ती तेल आदि में तलने से रोटी की भाँति फूल जाती है। कनकौवा।

लेहसुर-संज्ञा पुं० [देश०] कुम्हारों का एक औजार जिससे वे मिट्टी को मिलते हैं। पाँसु।

लेहाड़ा-क्रि० वि० [अं०] इसलिये। इस वास्ते। इस कारण।

लेहाड़ा †—वि० दे० “लिहाड़ा”।

लेहाड़ापन-संज्ञा पुं० दे० “लिहाड़ापन”।

लेहाड़ी-संज्ञा स्त्री० [हि० लिहाड़ी] अप्रतिष्ठा। अपमान। (दलाल)

क्रि० प्र०—करना।—लेना।

लेहाफ़-संज्ञा पुं० दे० “लिहाफ़”।

लेह्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह पदार्थ जो चाटने के लिये हो। वह जो चाटा जाय। यह भोजन के छः प्रकारों में से एक है। चटनी। उ०—विविध भाँति के रुचिर अचारा। लेह्य चोष्य वर पेय प्रकारा।—रघुराज। (२) अवलेह। वि० चाटने के योग्य। जो चाटा जाय।

लैंगिक-संज्ञा पुं० [सं०] वैशेषिक दर्शन के अनुसार अनुमान प्रमाण। वह ज्ञान जो लिंग द्वारा प्राप्त हो। सूत्र में इसका स्पष्ट लक्षण न कहकर इसे उदाहरण द्वारा इस प्रकार लक्षित किया गया है कि यह इसका कार्य है, यह इसका कारण है, यह इसका संयोगी है, यह इसका विरोधी है, यह इसका समवाची है, आदि; इस प्रकार का ज्ञान लैंगिक ज्ञान कहलाता है। इसी को न्याय में अनुमान कहते हैं।

लैंडो-संज्ञा स्त्री० [अं०] एक प्रकार की घोड़ा गाड़ी जिसमें ऊपर टप होता है। यह टप बीच में से इस प्रकार खुलता है कि पिछला अंश पीछे की ओर और अगला आगे की ओर सिकुड़कर दब और नीचे बैठ जाता है। इसमें आग्ने सामने दोनों ओर बैठने की चौकियाँ होती हैं।

लैप-संज्ञा पुं० [अ०] दीपक । चिराग ।

लैक-अव्य० [हि० लगना] तक । पर्यन्त ।

लैटिन-संज्ञा स्त्री० एक भाषा जो पूर्व काल में इटली देश में बोली जाती थी । किसी समय में सारे युरोप में यह विद्वानों और पादरियों की भाषा थी । इस भाषा का साहित्य बहुत उन्नत था; और इसी लिये अब भी कुछ लोग इसका अध्ययन करते हैं ।

लैन-संज्ञा स्त्री० [अ० लाइन] (१) सीधी लकीर जिसमें लंबाई मात्र हो । (२) सीमा की लकीर । (३) कृतार । पंक्ति । (४) पैदल सिपाहियों की सेना ।

लैण्डोरी-पेशवे ।

(५) सिपाहियों के रहने की जगह । बारक ।

लैया-संज्ञा पुं० [हि० लपना] वह धान जो अगहन में कटता है । जड़हन । शाली । लवक ।

लैवेंडर-संज्ञा पुं० [अ०] एक सुगंधित तरल पदार्थ जो एक पौधे के फूलों से निकला जाता है । यह इतर की भाँति कपड़ों में, या ठंडक पहुँचाने के लिये सिर में लगाया जाता है ।

लैसंस-संज्ञा पुं० [अ० लाइसेंस] वह प्रमाणपत्र जिसके द्वारा किसी मनुष्य को विशेष अधिकार प्रदान किया जाता है । सनद । अधिकार पत्र । जैसे,—अफ्रीम बेचने का लैसंस, एका या गाड़ी हाँकने का लैसंस, बन्दूक रखने का लैसंस ।

लैस-वि० [अ० लेस] वही और हथियारों से सजा हुआ । कटि-बद्ध । तैयार ।

क्रि० प्र०—होना ।

संज्ञा पुं० कपड़े पर चढ़ाने का फीता ।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का वाण जिसकी नोक लंबी और बड़ी होती है । उ०—किहूँ लैस कत्ती धरत्ती बुमाई । किहूँ सैल की रेल हथ्यों चलाई ।—सूदन ।

संज्ञा पुं० [हि० लेस] (१) एक प्रकार का सिरका । (२) कमाना ।

लौ-अव्य० दे० “लौ” ।

लौंडी-संज्ञा स्त्री० [सं० लेला] कान का लोलक ।

लौंदा-संज्ञा पुं० [सं० लुंठन] किसी गीले पदार्थ का वह अंश जो डले की तरह बँधा हो । जैसे,—घी का लौंदा, दही का लौंदा, मिट्टी का लौंदा ।

लौ-अव्य० [हि० लेना] एक अव्यय जिसका प्रयोग श्रोता को संबोधन करके उसका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया जाता है । जैसे,—(क) लो ! खाली बैठे देख तुम्हें कैसी पत्र लिखाने की सूझी । (ख) लो ! चलो मैं जाता हूँ । (ग) लो ! देखते जाओ, यह क्या कर रहा है । (घ) लो ! क्या से क्या हो गया ।

लोह-संज्ञा पुं० [सं० लोक, प्रा० लोओ या लोयो] लोग । उ०—

(क) देवि विनु करतूति कहियो जानिहै लघु लोह । कहौ जो मुख की समर सरि कालि कारिख धोह ।—तुलसी ।

(ख) नागर नवल कुँआर वर सुंदर मारग जात लेत मन गोई । सुरस्याम मनहरण मनोहर गोकुल वसि मोहे सब लोई ।—सूर । (ग) बल बसदेव कुशल सब लोई । अजुन यह सुन दीने रोई ।—सूर ।

संज्ञा स्त्री० [सं० रोचि, प्रा० लोई] (१) प्रभा । दीप्ति ।

उ०—(क) इनमें होइ दरसात है हर सूरत की, लोह ।

या तैं लोइन कहत हैं इनसौं मिलि सब कोइ ।—रसनिधि ।

(ख) कैसे ऐसे रूप की वर तैं उतपति होइ । भूतल से निकसति कहीं बिजु छटा की लोइ ।—लक्ष्मण । (२) लव ।

शिखा । उ०—ईंधन के टारे बिना बढ़ति न पावक लोइ ।

फन न उठावत नागहू जो छेड़्यो नहिं होइ ।—लक्ष्मण ।

लोइन-संज्ञा पुं० [सं० लावण्य] लावण्य । नमकीनी । नमक ।

उ०—लीने हूँ साहस सहस, कीने जतन हजार । लोइन लोइन सिंधु तन, पैरि न पावत पार ।—लल्लूलाल ।

संज्ञा पुं० दे० “लोथन” ।

लोई-संज्ञा स्त्री० [सं० लोसी = प्रा० लोवी] गुँधे हुए भाटे का उतना

अंश जो एक रोटी मात्र के लिये निकालकर गोली के

आकार का बनाया जाता है और जिसे बेल कर रोटी

बनाते हैं । उ०—भाजी भावती है महा मोदक मही की

शोभा पूरी रची है कर लोनाई बिधि लोई में ।—रघुनाथ ।

संज्ञा स्त्री० [सं० लोमीय = लोई] एक प्रकार का कम्मल जो

पतले ऊन से बुना जाता है और कम्मल से कुछ अधिक

लंबा और चौड़ा होता है । इसकी बुनावट प्रायः दुसुत्ती

की सी होती है । उ०—सीतलपाटी टाट, लोई कम्मल ऊन

के । बची न एकौ हाट, खेस निवारहि आदि है ।—सूदन ।

लोकंजन-संज्ञा पुं० [सं० लोपांजन या हि० लुकना + अंजन] वह

कल्पित अंजन जिसे आँख में लगाने से मनुष्य का अदृश्य

होना माना जाता है । लोपांजन । उ०—जो कहिये विधना

ही रची सिख तैं धर क्यों पग को सँग लीन्हो । जो कहिये कि

विरंचि रची है तौ देखी न जाति कितौ दग दीन्हो । कीन्ह

विचार न आवै मनै नृप संभु भनै तब मो मति चीन्हो । जो

चितचोर को चित्त चुरावत राधे के लंक लोकंजन कीन्हो ।

—शंभु ।

लोकंदा-संज्ञा पुं० [हि० लोकना ?] [स्त्री० लोकंदी] विवाह में

कन्या के डोले के साथ दासी को भेजना । उ०—छेरी

वाघहि व्याह होत है मंगल गावै गाई । वन के रोझ धै

दायज दीन्हों गोह लोकंदे जाई ।—कबीर ।

क्रि० प्र०—जाना ।—भेजना ।

लोकंदी-संज्ञा स्त्री० [हि० लोकना ?] वह दासी जो कन्या के पहले

पहल ससुराल जाते समय उसके साथ भेजी जाती है ।

लोक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्थान विशेष जिसका बोध प्राणी को हो।

विशेष—उपनिषदों में दो लोक माने गए हैं—इहलोक और परलोक। निरुक्त में तीन लोकों का उल्लेख मिलता है—पृथ्वी, अंतरिक्ष और सुलोक। इनका दूसरा नाम भूः भुव और स्वः है। ये महाव्याहृति कहलाते हैं। इन तीन महाव्याहृतियों की भाँति चार और महः, जनः, तपः और सत्यम् शब्द हैं, जो तीनों महाव्याहृतियों के साथ मिलकर सप्तव्याहृत कहलाते हैं। इन सातों महाव्याहृतियों के नाम से पौराणिक काल में सात लोकों की कल्पना हुई, जिनके नाम इस प्रकार हैं—भूलोक, भुवलोक, स्वलोक, महलोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक। फिर पीछे इनके साथ सात पाताल—जिनके नाम अतल, नितल, वितल, गभस्तिमान, तल, सुतल और पाताल हैं—और मिलाकर चौदह लोक किए गए। पुराणों में पातालों के नाम में मत भेद है। पद्म पुराण में इनके नाम अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल बतलाए गए हैं। अग्निपुराण में अतल, सुतल, वितल, गभस्तिमान्, महातल, रसातल और पाताल; तथा विष्णु पुराण में अतल, वितल, नितल, गभस्तिमान्, महातल, सुतल और पाताल इनके नाम लिखे गए हैं। इस प्रकार चौदह लोक या भुवन माने गए हैं। सुश्रुत में लोक दो प्रकार का माना गया है—स्थायर और जंगम।

(२) संसार। जगत। (३) स्थान। निवासस्थान। जैसे,—ब्रह्म लोक, विष्णु लोक इत्यादि। (४) प्रदेश। दिशा। जैसे,—लोकपाल, लोकपति इत्यादि। (५) लोग। जन। उ०—माधव या लगी है जग जीजतु। जाते हरि सों प्रेम पुरातन बहुरि नयो करि कीजतु। कहँ रवि राहु भयो रिपुमति रचि बिधि संजोग बनायो। उहि उपकारि आउ यह औसर हरि दर्शन सनु पायो। कहँ बसहि यदुनाथ सिंधु तट कहँ हम गोकुल बासी। वह वियोग यह मिलनि कहाँ अब काल चाल औरासी। सूरदास मुनि चरण चरचि करि सुर लोकनि रुचि मानो। तब अरु अब यह दुसह प्रमानी निमिषो पीरि न जानी।—सूर। (६) समाज। उ०—(क) सब से परम मनोहर गोपी। नैद नंदन के नेह मेह जिन लोक लीक लोपी।—सूर। (ख) सो जानव सत संग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ।—तुलसी। (७) प्राणी। उ०—उगोड अरुन अवलोकहु ताता। पंकज लोक कोक सुखदाता।—तुलसी। (८) यश। कीर्ति। उ०—लोक में लोक बड़ो अपलोक सुकेशव दास जो होउ सो होऊ।—केशव। संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पक्षी जो बत्तख से बड़ा और झाकी रंग का होता है।

लोककंटक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो समाज का कंटक, विरोधी या हानिकर हो। लोगों को कष्ट या हानि पहुँचानेवाला। दुष्ट प्राणी।

लोकक्षिति-वि० [सं०] स्वर्ग लोक का निवासी।

लोकचतु-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य।

लोकजननी-संज्ञा स्त्री० [सं०] लक्ष्मी।

लोकजित्-संज्ञा पुं० [सं०] बुद्ध।

लोकज्येष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] बुद्ध।

लोकतुषार-संज्ञा पुं० [सं०] कपूर।

लोकधारिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी।

लोकधुनि-संज्ञा स्त्री० [सं० लोकधनि] जनरव। अफवाह।

उ०—चरचा चरनि सोचि रची जानि मन रघुराइ। दूत मुख सुनि लोकधुनि घर घरनि बूझी जाइ।—तुलसी।

लोकना-क्रि० सं० [सं० तोपन] (१) ऊपर से गिरती हुई किसी वस्तु को भूमि पर गिरने से पहले ही हाथों से पकड़ लेना।

(२) बीच में से ही उड़ा लेना। रास्ते में से ही लेना।

उ०—जाते जेर सब लोक बिलोकि त्रिलोचन सो बिष लोक लियो है।—तुलसी।

क्रि० प्र०—लेना।

लोकनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा। (२) लोकपाल। (३) बुद्ध।

लोकप, लोकपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा। (२) लोकपाल। (३) राजा।

लोकपाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दिक्पाल। पुराणानुसार आठ दिशाओं के अलग अलग लोकपाल हैं। यथा इंद्र पूर्व दिशा का; अग्नि दक्षिण-पूर्व का; यम दक्षिण का; सूर्य दक्षिण-पश्चिम का; वरुण पश्चिम का; वायु उत्तर-पश्चिम का; कुवेर उत्तर का और सोम उत्तर-पूर्व का। किसी किसी ग्रंथ में सूर्य और सोम के स्थान पर निरृति और ईशानी या पृथ्वी के नाम मिलते हैं। (२) अवलोकितेश्वर बोधिसत्व का एक नाम।

लोकपितामह-संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा।

लोकप्रत्यय-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो संसार में सर्वत्र मिलता हो।

लोकप्रदीप-संज्ञा पुं० [सं०] बुद्ध।

लोकप्रवाद-संज्ञा पुं० [सं०] जिसे संसार के सभी लोग कहते और समझते हों। साधारण बात।

लोकबंधु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) सूर्य।

लोकयात्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) व्यवहार। (२) व्यापार।

लोकरव-संज्ञा पुं० [सं०] अफवाह। प्रवाद।

लोकराज-संज्ञा पुं० [देश०] चीथड़ा।

लोकल-वि० [ग्रं०] (१) प्रांतिक। प्रादेशिक। (२) किसी एक ही स्थान या नगर आदि से संबंध रखनेवाला। स्थानीय।

यौ०—लोकल बोर्ड ।

लोकल बोर्ड—संज्ञा पुं० [अ०] वह स्थानीय समिति जिसके सभ्यों का चुनाव किसी स्थान के कर देनेवाले करते हैं और जिसके अधिकार में उस स्थान की सफाई आदि की व्यवस्था हो ।

लोकलीकल—संज्ञा स्त्री० [हि० लोक + लीक] लोक मर्यादा ।
उ०—सरस असन सर सरसिज लोचनि विलोकि लोक-लीक लाज लोपिबे को आगरी ।—केशव ।

लोकविश्रुत—वि० [सं०] संसार भर में प्रसिद्ध । जगद्विख्यात ।

लोकश्रुति—संज्ञा स्त्री० [सं०] जनश्रुति । अफवाह ।

लोकसंग्रह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) संसार के लोगों को प्रसन्न करना । (२) संसार का कल्याण या सब की भलाई चाहनेवाला ।

लोकहृदी—संज्ञा स्त्री० [हि० लोक + हृदी] एक प्रकार की हल्दी ।
लोकांतर—संज्ञा पुं० [सं०] वह लोक जहाँ मरने पर जीव जाता है ।

लोकांतरित—वि० [सं०] (१) जो इस लोक से दूसरे लोक में चला गया हो । (२) मरा हुआ । मृत । स्वर्गीय ।

लोकाचार—संज्ञा पुं० [सं०] संसार में बरता जानेवाला व्यवहार । लोकव्यवहार ।

लोकाट—संज्ञा पुं० [चीनी छः + क्यू] एक पौधा जिसकी पत्तियाँ लंबी और नुकीली, तेंदू की पत्तियों के आकार की, पर उससे कुछ बड़ी होती हैं । इसका पेड़ बीस पचीस हाथ से अधिक ऊँचा नहीं होता । इसके पेड़ में फागुन चैत के महीने में मंजरियाँ लगती हैं और बड़े बेर के बराबर फल लगते हैं, जो पकने पर पीले होते हैं और खाने में प्रायः मीठे, गुदार और स्वादिष्ट होते हैं । सहारनपुर में लोकाट बहुत अच्छा और मीठा उत्पन्न होता है । यह फल चीन और जापान देश का है और वहीं से भारतवर्ष में आया है ।

लोकाधिप—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लोकपाल । (२) बुद्ध ।

लोकाणा—क्रि० सं० [हि० लोकने का प्रे०] अधर में फेंकना । उछालना ।

लोकायत—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह मनुष्य जो इस लोक के अतिरिक्त दूसरे लोक को न मानता हो । (२) चार्वाक दर्शन, जिसमें परलोक या परोक्षवाद का खंडन है । (३) किसी किसी के मत से दुर्मिल नामक छंद का एक नाम ।

लोकालोक—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम । कहते हैं कि यह सातो समुद्रों और द्वीपों को चारों ओर से आवेष्टित किए हुए है, जिसके बाहर सूर्य या चंद्र का प्रकाश नहीं पहुँचता । बौद्ध ग्रंथों में इसे चक्रवाल कहा है ।

लोकैषणा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सांसारिक अभ्युदय की कामना । प्रतिष्ठा और यश की कामना । (२) स्वर्ग के सुख की कामना ।

लोकोक्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कहावत । मसल । (२) काव्य में वह अलंकार जिसमें किसी लोकोक्ति का प्रयोग करके कुछ रोचकता या चमत्कार लाया जाय ।

लोकोत्तर—वि० [सं०] जो इस लोक में होनेवाले पदार्थों आदि से श्रेष्ठ हो । बहुत ही अद्भुत और विलक्षण । अलौकिक । जैसे,—(क) वहाँ एक योगी ने कई लोकोत्तर चमत्कार दिखाए थे । (ख) यह कौन सी लोकोत्तर बात है जिसके लिये तुम इतना अभिमान करते हो !

लोखडी—संज्ञा स्त्री० दे० “लोखड़ी” ।

लोखर—संज्ञा पुं० [हि० लोहा + खंड] (१) नाई के औजार । जैसे,—खुरा, कैंची, नहरनी आदि । (२) लोहारों या बढ़इयों आदि के लोहे के औजार ।

लोग—संज्ञा पुं० [सं० लोक] [स्त्री० लुगाई] जन । मनुष्य । आदमी । उ०—(क) देख रतन हीरासन रोवा । राजा जिव लोगन हठ खोवा ।—जायसी । (ख) अमृत वस्तु जानै नहीं, भगन भये कित लोग । कहहि कबीर कामो नहीं जीवहि मरन न जोग ।—कबीर । (ग) जिन बीथिन बिहरहि सब भाई । थकित होहि सब लोग लुगाई ।—तुलसी ।

विशेष—हिंदी में इस शब्द का प्रयोग सदा बहुवचन में और मनुष्यों के समूह के लिये ही होता है । जैसे,—लोग चले आ रहे हैं ।

लोगचिरकी—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का फूल ।

लोगाई—संज्ञा स्त्री० [हि० लोग + आई (प्रत्य०)] स्त्री । उ०—(क) पुनि ज्वर दौ दीनी पुर लाई । जरन लगे पुर लोग लुगाई ।—सूर । (ख) बृंद बृंद मिलि चलीं लोगाई । सहज सिंगार किए उठि धाई ।—तुलसी ।

विशेष—इस शब्द का शुद्ध रूप प्रायः “लुगाई” ही माना जाता है ।

लोच—संज्ञा पुं० [हि० लचक] (१) लचलचाहट । लचक । (२) क्रोमलता । उ०—चलै चले छुटि जायगो हठ रावरे सँकोच । खरे चढ़ाए देत अथ, आये लोचन लोच ।—बिहारी । (३) अच्छा ढंग ।

संज्ञा पुं० [सं० लचि] अभिलाषा । उ०—भोको पय्यो सोच यत् पूरण को लोच, हिये लिये वाको नाम जिनि नाम तजि जाइये ।—प्रियादास ।

संज्ञा पुं० [सं० लुंचन] जैन साधुओं का अपने सिर के बालों को उखाड़ना । लुंचन ।

लोचन—संज्ञा पुं० [सं०] आँख । नेत्र । नयन ।

मुहा०—लोचन भर आना = आँखों में आँसू डबडबा आना । आँखें भर जाना । उ०—यह सुनिकै हलधर तहँ धाये । देखि इयाम ऊखल सों बाँधे, तबही दोउ लोचन भरि आये ।—सूर ।

लोचना—क्रि० सं० [हि० लोचन] (१) प्रकाशित करना । (२)

रुचि उत्पन्न करना। उ०—निसि वासर लोचन रहत
अपनो मन अभिराम। या तैं पायो रसिक निधि हन नै
लोचन नाम।—रसनिधि। (३) अभिलाषा करना।
उ०—स्वर्ग में देव गण भी लोचते हैं और इस बात के
लिये तरसते हैं कि भारत की कर्म भूमि में किसी तरह एक
बार हमारा जन्म होता।—हिंदीप्रदीप।

क्रि० प्र० शोभित होना। उ०—लोचें परी सियरी पर्यंक
पै बीती घरीन खरी खरी सोचै।—पद्माकर।

क्रि० प्र० (१) अभिलाषा करना। कामना करना।
उ०—(क) कहति है सकोचति है सखी को बोलाइवे को
लोचति है भट्ट बैठी सोचति है मन तैं।—रघुनाथ। (ख)
कुँअरि सयानि बिलोकि मातु पितु सों कहि। गिरिजा जोग
जुरहिं वर अनुदित लोचहि।—तुलसी। (२) ललचना।
तरसना। उ०—अब तिनके बंधन मोचहिंगे। दास बिना
पुनि हम लोचहिंगे।—सूर।

संज्ञा पुं० [सं० लुंचन] नाई। हजाम। (क०)

लोचरक-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक नरक ना नाम।

लोचून-संज्ञा पुं० [सं० लोचूण] (१) लोहे का चूरा। (२) लोहे
की कीट का चूर्ण।

लोजंग-संज्ञा स्त्री० [देश० वा लोहा + जंग ?] एक प्रकार की नाब
जिसके दोनों ओर के सिके लंबे होते हैं।

जोट-संज्ञा स्त्री० [हिं० लोटना] लोटने का भाव वाचक रूप।
लोटने की क्रिया या भाव। लुढ़कना।

क्रि० प्र०—लगाना।

मुहा०—लोट मारना = (१) लटना। सोना। (२) किसी के प्रेम
में वेसुध होना।

मुहा०—लोट होना या हो जाना = (१) आसक्त होना। रीझना।
(२) व्याकुल होना।

संज्ञा पुं० [हिं० लोटना] (१) उतार। घाट। उ०—चारों
तरफ़ पुरता लोट बने।—लल्लू। (२) छ त्रिवली। उ०—
(क) कर उठाय घूँघट करत उसरत पट गुझरौट। सुख मोरे लूटे
ललन लखि ललना की लोट।—बिहारी। (ख) नार नवाये
तकि हरी करी काँकरी चोट। चौँकि कँपी झसकी चकी
चँपी हँसी गहि लोट।—शृंगार०। (ग) बढ़ति निकसि कुच
कोर रुचि कदत गौर भुज मूल। मन लुटिगो लोटन चढ़त चूँदति
अँचे फूल।—बिहारी।

लोटन-संज्ञा पुं० [हिं० लोटना] (१) एक प्रकार का हल जिसकी
जोताई बहुत गहरी नहीं होती। (२) एक प्रकार का कव्तर
जो चौंच पकड़कर भूमि में लुढ़का देने से लोटने लगता है;
और जब तक उठाया न जाय, लोटता रहता है। (३) राइ
में की पड़ी हुई छोटी कंकड़ियाँ जो वायु चलने से इधर उधर
लुढ़कती रहती हैं। उ०—काँट कुरायल पेठन लोटनि ठावहिं

ठाँव बझाऊ रे। जस जस चलिय दूरि तस तस निज वासना
भेंट लगाऊ रे।—तुलसी।

लोटेनसज्जी-संज्ञा स्त्री० [देश० लोटन + सज्जी] एक प्रकार की
सज्जी जो सफ़ेद और गुलाबी रंग की होती है। यह प्रायः
मुरब्बे आदि के गलाने में काम आती है।

लोटेना-क्रि० प्र० [सं० लुठन] (१) भूमि पर या किसी ऐसे
ही आधार के सहारे उसे स्पर्श करते हुए, ऊपर नीचे होते
हुए किसी का एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर जाना या
गमन करना। सीधे और उलटे लेटते हुए किसी ओर को
जाना। उ०—(क) परी कया लुँह लोटै कहँ रे जीव बिनु
भीव। को उठाय बैठारै बाज पियारे जीव।—जायसी।
(ख) काम नारि अति लोटत फिरै। कंत कंत कहि छिति
भुज भरै।—लल्लू। (२) लुढ़कना। उ०—जानहुँ लोटहिं
चढ़े भुशंगा। बेधी बास मलय गिरि अंगा।—जायसी।
(३) कष्ट से करवट बदलना। तड़पना।

क्रि० प्र०—जाना।

मुहा०—लोट जाना = (१) वेसुध होना। बेहोश हो जाना। (२)
मर जाना। जैसे,—एक ही बार में पाँच कव्तर लोट गए।

(४) विश्राम करना। लेटना।

मुहा०—लोट पोट करना = लेटना। विश्राम करना।

(५) मुग्ध होना। चकित होना। उ०—सुनि गये नारद
लोटे ताँमें देखि प्रभु बोलत भये।—रघुनाथ।

लोटेपटा-संज्ञा पुं० [हिं० लोटना + पाटा] (१) विवाह के समय
पीढ़ा या स्थान बदलने की रीति। इस में वर के स्थान
पर बधू और बधू के स्थान पर वर बैठाया जाता है। (२)
बाजी का उलट फेर। दाँव का इधर से उधर हो जाना।
उलटफेर। उ०—कीजै कहा विधि की विधि को दियो
दाँवन लोटपटा करिबे को।—पद्माकर।

लोटा-संज्ञा पुं० [हिं० लोटना] [स्त्री० अर्या० लुटिया] धातु का
एक पात्र जो प्रायः गोल होता है और पानी रखने के
काम में आता है। यह कलसे से छोटा होता है। कभी कभी
इसमें टोंटी भी कगाई जाती है; और ऐसे लोटे को टोंटी-
दार लोटा कहते हैं।

मुहा०—लोटा या लुटिया डुबोना = (१) कलंक लगाना। (२)
सब काम चौपट करना। सर्वनाश करना।

लोटिया-संज्ञा स्त्री० [हिं० लोटा + इया (प्रत्य०)] छोटा गोल जल-
पात्र जो लोटे के आकार का हो। छोटा लोटा।

लोटी-संज्ञा स्त्री० [हिं० लोटा + ई (प्रत्य०)] (१) छोटा लोटा।
(२) वह बर्तन जिससे तमोली पान सींचते हैं।

लोठारी नगर-संज्ञा पुं० [हिं० लोठारी + लंगर] एक प्रकार का
लंगर जो जहाजी या बड़े लंगर से छोटा और केज लंगर से
बड़ा होता है। (लगा०)

लोड़ना—क्रि० स० [पं० लोड़ = आवश्यकता] आवश्यकता होना। दरकार होना। उ०—(क) तिसी घड़ी नग्वाव से कर जोरि बखाना। जेहा जिसनूँ लोड़िया तेहा फुरमाना। (कलपाना छुड़ पाठ)—सूदन। (ख) असी हाल एहा हुवा राख्यो निजु साया। जेहा जिसनूँ लोड़िये तेहा फल पावा।—सूदन।

लोड़कना—क्रि० प्र० दे० “लुड़कना”।

लोड़ना—क्रि० स० [सं० लुंचन] (१) चुबना। लोड़ना। जैसे,— फूल लोड़ना। उ०—कुसुम लोड़न हम जाइव हो रामा।—गीत। (२) ओटना। जैसे,—कपास लोड़ना।

लोड़ा—संज्ञा पुं० [सं० लोष्ट] [स्त्री० अल्पा० लोड़िया] (१) पथर का वह गोल लंबोतरा टुकड़ा जिससे सिल पर किसी चीज़ को रखकर पीसते हैं। बट्टा। उ०—फोरहिं सिल लोड़ा सदन लागे अदुकि पहार। कायर कूर कपूल कलि घर सहर उहार।—तुलसी।

मुहा०—लोड़ा डालना = बराबर करना। उ०—धूमि चहुँ दिसि झूमि रहे घन बूँदन ते छिति डारत लोड़े।—रघुनाथ। लोड़ाढाल = चौपट। सत्यानाश। उ०—विष्णु कलोह रव कहि कोप कियो विकराल। झटक पटक झट लटक कसि कीन्हो लोड़ाढाल।

(२) हुँदेलखंड के बराबर नामक हल का एक अंश। यह मोटी लकड़ी का होता है। इसमें दतुआ या लोहे की कीलें लगी होती हैं, जिनमें पास लगाया जाता है।

लोड़िया—संज्ञा स्त्री० [हि० लोड़ा + इया (प्रत्य०)] छोटा लोड़ा। बट्टा। जैसे,—सिल लोड़िया ले आओ।

लोण—संज्ञा पुं० [सं०] लोनी साग।

संज्ञा पुं० दे० “लोव”।

लोथ, लोथि—संज्ञा स्त्री० [सं० लोष्ट या लोठ] किसी प्राणी का मृत शरीर। लाश। शव। उ०—(क) लोथिन्ह तें लडू के प्रवाह चले जहाँ तहाँ, मानहु गिरिन गेरु झरना झरत हैं।—तुलसी। (ख) गृध्र शृगाल कूकर आपस में लडलड लोथें खैंच खैंच लाते।—लल्लू। (ग) तब कंस की लोथ को घसीट जमुना तीर ले आये।—लल्लू। (घ) भूषन बखानै भूरि भूतन मैं टांगे चंद्रायतन लोथें लटकत हैं।—भूषण।

मुहा०—लोथ गिरना = मारा जाना। लोथ डालना = मार गिराना। प्राणान्त करना। हत्या करना। लोथपोथ = थकने से चूर। अत्यन्त शिथिल। लथपथ।

लोथड़ा—संज्ञा पुं० [हि० लोथ + ड़] मांस का बड़ा खंड जिसमें हड्डी न हो। मांसपिंड।

लोथारी—संज्ञा स्त्री० [सं० लुठन] (१) कम पानी में से नाव को खींचते या धीरे धीरे खेते हुए किनारे लगाना। (२) लोथारी लङ्गर डालकर पानी की तह का पता लेते हुए मार्ग से किनारे की ओर नाव बढ़ाना। (लश०)

यौ०—लोथारी लङ्गर।

मुहा०—लोथारी डालना = लोथारी लंगर को थोड़े पानी में डाल कर तल की थाह लेते हुए नाव को किनारे लगाना। लोथारी तानना = ठीक ओर नाव जाने के योग्य मार्ग से होकर नाव को किनारे ले जाना।

लोथारी लंगर—संज्ञा संज्ञा पुं० [हि० लोथारी + हि० लङ्गर] सब से छोटा लंगर। यह उस जगह डाला जाता है, जहाँ पानी कम होता है और यह जानना अभिप्रेत होता है कि यह किनारे जाने का मार्ग है या नहीं।

लोद—संज्ञा स्त्री० दे० “लोघ”।

लोथ—संज्ञा स्त्री० [सं० लोथ्र] एक प्रकार का वृक्ष जो भारतवर्ष के जंगलों में उत्पन्न होता है। इसकी छाल रँगने, चमड़ा सिसाने और ओषधियों में काम आती है। छाल को गरम पानी में भिगो देने से पीला रंग निकलता है। कहीं कहीं इसकी छाल पानी में उवालकर भी रंग निकाला जाता है। छाल को सजी मिट्टी के साथ पानी में उवालने से लाल रंग निकलता है, जिससे छोट छापते हैं। वैद्यक में इसकी छाल और लकड़ी दोनों का प्रयोग होता है। इसकी छाल कुछ कसैली होती है और पेचिश आदि पेट के कई रोगों में दी जाती जाती है। इसका गुण ठंडा है और २० ग्रेन तक इसकी मात्रा है। इसके काढ़े का भी प्रयोग किया जाता है। लोथ की लकड़ी के काढ़े से कुंड़ा करने से मसूदे से रक्त निकलना जाता रहता है और वह दड़ हो जाता है। इसकी लकड़ी जल्दी फट जाती है; पर मजबूत होती है और कई तरह के काम में लाई जाती है।

लोथरा—संज्ञा पुं० [सं० लोथ्र] एक प्रकार का तौबा जो जापान से आता है।

लोथी—संज्ञा [?] पठानों की एक जाति।

लोथ्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लोथ नामक वृक्ष। इसके दो भेद होते हैं—श्वेत लोथ और रक्त लोथ। यह कसैला, ठंडा और वात, पित्त नाशक होता। वि० दे० “लोथ”।

पर्या०—तिल्वक। गालव। शावर। तिरांट। तिल्वक। मार्जन। भिल्लतर। कांस्कीलक। शंवर। कांडनीलक हेमपुष्पक। मिछी।

(२) एक जाति का नाम।

संज्ञा पुं० [सं० लोथ्र] जापानी तौबा। लोथरा।

लोथ्रतिलक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अलंकार जो उपमा का एक भेद माना जाता है।

लोन—संज्ञा पुं० [सं० लवण] (१) लवण। नमक।

मुहा०—किसी का लोन खाना = अन्न खाना। पाला जाना। दास होना। उ०—पाछे कछो लंकापति सुनो हनुमान कपि रामचंद्र ही को एक तही लोन खायो है।—उज्ज्वलदास।

किसी का लोन निकलना = निमकहरामी का फल मिलना ।
अकृतज्ञता का फल पाना । उ०—साते मन पोखियत घोर वर-
तोर मिसि फूटि फूटि निकसत है लोन राम राय को ।—
तुलसी । किसी का लोन न मानना = किसी का उपकार न
मानना । कृतज्ञ होना । उ०—नैनन को अब नाहि पस्याऊँ ।
बहुज्यो उनको बोलति हों तुम हाइ हाइ लीनै नहि नाऊँ ।
अब उनको मैं नाहि बसाऊँ मेरे उनको नाहीं ठाऊँ । व्याकुल
भई डोलत हों ऐसेहि वे जहँ रहै तहाँ नहि जाऊँ । खाइ खवाइ
बड़े जब कीन्हे बसे जाइ अब औरहि गाऊँ । अपना कियो
आप पावैगे मैं काहे उनको पछिताऊँ । जैसे लोन हमारो
मान्यो कहा कहौ कहि काहि सुनाऊँ । सूरदास मैं इन
बिन रहिहौं कृपा करै उनको सरमाऊँ ।—सूर । जले पर
लोन लगाना या देना = दुःख पर दुःख देना । दुखी को दुखी
करना । उ०—सति कटु वचन कहै कैकेई । मानो लोन
जले पर देई ।—तुलसी । किसी बात का लोन सा लगना =
अशुचिकर होना । अप्रिय होना । उ०—राजै लोन सुनावा
लागहु हूँ जस लोन । आइ कुँहाइ महरि कहँ सिंह जान
औ गौन ।—जायसी । लोन चराना = नमकोन बनाना ।
जैसे,—आम को लोन चराना ।

(२) सौंदर्य । लावण्य । उ०—जो उन महुँ देखेसि इक
दासी । देखि लोन होय लोन बिलासी ।—जायसी । वि०
दे० “नमक” ।

लोनहरामी—वि० [हि० लोन + अ० हरामी] कृतघ्न । नमक-
हराम । उ०—मन भयो ठीठ इनहिं के कीन्हे ऐसे लोन-
हरामी । सूरदास प्रभु इनहिं पत्याने आखिर बड़े निकामी ।
—सूर ।

लोना—वि० [हि० लोन] [भाव० लोनाई] (१) नमकीन ।
सलोना । (२) सुंदर । उ०—(क) लालन जोग लखन
अति लोने । भे न भाइ अस अहिं न होने ।—तुलसी ।
(ख) नाउन अति गुन आनि लौ बेगि बोलाइहो । करि
सिंगार अति लोनि लौ बिहँसति आइहो ।—तुलसी ।
संज्ञा पुं० [हि० लोन] (१) एक प्रकार का रोग जो ईंट,
पत्थर और मिट्टी की दीवारों में लगता है । इस से दीवार
झड़ने लगती और कमज़ोर हो जाती है; थोड़े
दिनों में उसमें गड्ढे पड़ जाते हैं; और वह कटकर गिर
पड़ती है । यह रोग प्रायः नींव के पास के भाग में आरंभ
होता है और ऊपर की ओर बढ़ता है ।

क्रि० प्र०—लगना ।

(२) वह धूल या मिट्टी जो लोना लगने पर दीवार से झड़-
कर गिरती है । यह खेत में डाली जाती है और खाद का
काम देती है । (३) नमकीन मिट्टी, जिससे शोरा बनाया जाता
है । (४) वह क्षार जो चने की पत्तियों पर इकट्ठा होता

है और जिसके कारण उसकी पत्तियाँ चाटने में खट्टी जान
पड़ती हैं । (५) एक प्रकार का कीड़ा जो घोंघे की जाति का
होता है और प्रायः नाव के पेंदे में चपका हुआ मिलता है ।
क्रि० सं० [सं० लवण] फसल काटना । उ०—(क) बीज
बोई जोई अंत लोलिये सोइ समुलि वह बात नहि चित्त
धरई ।—सूर । (ख) अपना बयो आप ही लुनिये तुम
आपहि निरवारौ ।—सूर ।

लोनाई—संज्ञा स्त्री० [हि० लोना + ई (प्रत्य०)] लावण्य । सुंदरता ।
उ०—हृदय सराहत सीय लोनाई । गुरु समीप गवने दोड
भाई ।—तुलसी ।

लोनिका—संज्ञा स्त्री० [हि० लवण, लोन] लोनी नामक साग ।
वि० दे० “लोनी” । उ०—रुचितल जानि लोनिका फाँगी ।
कही कृपालु दूसरी माँगी ।—सूर ।

लोनिया—संज्ञा पुं० [हि० लवण, लोन + इया (प्रत्य०)] एक जाति
जो लोन या नमक बनाने का व्यवसाय करती है । यह
जाति शूद्रों के अंतर्गत मानी जाती है । नोनियाँ ।

संज्ञा स्त्री० [हि० लोन] लोनी नामक साग ।

लोनी—संज्ञा स्त्री० [हि० लवण, लोन] (१) कुल्फे की जाति का एक
प्रकार का साग जिसकी पत्तियाँ बहुत छोटी छोटी होती हैं । यह
ठंडी जगह पर, जहाँ सीढ़ होती है, उत्पन्न होती है । यह
स्वाद में खटास लिए होती है । इसमें रंग बिरंग के फूल लगते
हैं । इसे लोग गमलों में बोते हैं और बिलायती लोनी
कहते हैं । इसके बीज बिलायत से आते हैं । (२) वह क्षार
जो चने की पत्तियों पर बैठता है । (३) एक प्रकार की मिट्टी
जिससे लोनियाँ लोग शोरा और नमक बनाते हैं । (४) दे०
“लोना” ।

लोप—संज्ञा पुं० [सं०] [संज्ञा लोपन] [वि० लुप्त । लोपक । लोप्ता ।
लोप्य ।] (१) नाश । क्षय । (२) विच्छेद । जैसे,—
कर्म का लोप होना । (३) अदर्शन । अभाव । (४) व्या-
करण के चार प्रधान नियमों में से एक, जिसके अनुसार
शब्द के साधन में किसी वर्ण को उड़ा देते हैं । जैसे,—
अपिधान के अ का लोप करके पिधान शब्द बनाया जाता
है । (५) छिपना । अंतर्धान होना । उ०—बहु बारिष आयुध
बारिधर सम दियो पटरथ लोप कै ।—गिरिधर ।

लोपन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लुप्त करना । तिरोहित करना ।
(२) नष्ट करना । वना ।

लोपना—क्रि० सं० [सं० लोपन] (१) लुप्त करना । मिटाना ।
उ०—(क) कलि सकोप लोपी सुचलि निज कठिन कुचालि
चलाई ।—तुलसी । (ख) सब ते परम मनोहर गोपी ।
नैद नंदन के नेह मेह जिनि लोक लीक लोपी ।—सूर ।
(ग) लोपे कोपे इंद्र लौ रोपे प्रलय अकाल । गिरिधारी
राखे सबै गो, गोपी, गोपाल ।—विहारी । (२) छिपाना ।

क्रि० अ० (१) लुप्त होना । मिटना । उ०—राय दसरथ के समर्थ राम राय रान तेरे हेरे लोपे लिपि विधिहू गनक की ।—तुलसी । (२) छिपना । (क०)

लोपांजन संज्ञा पुं० [सं०] वह कवित्त अंजन जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि इसके लगाने से लगानेवाला अदृश्य हो जाता है ।

लोपाक, लोपायक—संज्ञा पुं० [सं०] गीदड़ । सियार ।

लोपामुद्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अगस्त्य ऋषि की स्त्री का नाम । पुराणों में लिखा है कि अगस्त्य ने बहुत दीर्घ काल तक ब्रह्मचर्य धारण किया था, और वे विवाह नहीं करते थे । एक बार उन्होंने स्वप्न में देखा कि हमारे पितर गड्ढे में उलटे लटके हुए हैं । अगस्त्य ने उन्हें इस प्रकार अघो-मुख लटका देखकर उनसे कारण पूछा । पितरों ने कहा कि यदि तुम विवाह करके संतान उत्पन्न करो तो हम लोगों को इस यातना से छुटी मिले । अगस्त्य ने बहुत हँसा, पर उनको सर्व लक्षणों से युक्त कोई कन्या विवाह करने योग्य नहीं मिली । निदान उन्होंने सब प्राणियों के उत्तम उत्तम अंग लेकर एक कन्या बनाई । उस समय विदर्भ देश का राजा पुत्र के लिये तप कर रहा था । अगस्त्य जी ने लोपामुद्रा उसी विदर्भराज को प्रदान की । जब वह बड़ी हुई, तब अगस्त्य जी ने विदर्भराज से उस कन्या की याचना की । विदर्भ राजा ने लोपामुद्रा अगस्त्य जी को सौंप दी, और अगस्त्य जी ने उसका पाणिग्रहण कर उसे अपनी पत्नी बनाया ।

पर्या०—लीपा । कोशीतकी । वरप्रदा ।

(२) एक तारे का नाम जो दक्षिण में अगस्त्य मंडल के पास उदय होता है ।

लोपाशक—संज्ञा पुं० [सं०] गीदड़ । सियार ।

लोबान—संज्ञा पुं० [अ०] एक वृक्ष का सुगंधित गोंद । यह वृक्ष अफ्रीका के पूर्वी किनारे पर, सुमालीलैंड में और अरब के दक्षिणी समुद्र तट पर होता है और वहीं से लोबान अनेक रूपों में भारतवर्ष में आता है । कुंहरकर, कुदुर-उनस, कुदुर घगा, कुदुरकशफा आदि इसी के भेद हैं । इनमें से कई दवा के काम में आते हैं । इनमें लोबानकशफा, जिसे धूप भी कहते हैं, भारतवर्ष में लोबान के नाम से विक्रता है । यह गोंद वृक्ष की छाल के साथ लगा रहता है । अरब से लोबान बंबई आता है । वहाँ छोट छोटकर उसके भेद किए जाते हैं । जो पीले रंग की बूंदों के रूप के साफ़ दाने होते हैं, वे कौड़िया कहलाते हैं । उनको छोटकर युगोप भेज देते हैं । तथा मिला जुला और चूरा भारतवर्ष और चीन के लिये रख लेते हैं । एक और प्रकार का लोबान जावा, सुमात्रा आदि स्थानों से आता है,

जिसे जावी लोबान कहते हैं । युगोप में इससे एक प्रकार का क्षार बनाया जाता है जिसे बंजोहक एसिड कहते हैं । लोबान प्रायः जलाने के काम में लाया जाता है, जिससे सुगंधित धूआँ निकलता है । वैद्यक में कुदुरलोबान का प्रयोग सूजाक में और जावी लोबान का प्रयोग काँसी में होता है । यह अधिकतर मरहम के काम में लाया जाता है ।

लोबिया—संज्ञा पुं० [सं० लोभ्य, मि० अ०] एक प्रकार का खोड़ा जो सफ़ेद रंग का और बहुत बड़ा होता है । इसके फल एक हाथ तक लंबे और पौन अंगुल तक चौड़े तथा बहुत कोमल होते हैं और पकाकर खाए जाते हैं । बीजों से दाल और दालभोट बनाते हैं । इसकी और भी जातियाँ हैं, पर लोबिया सब से उत्तम माना जाता है । इसकी पत्तियाँ उर्द के सहज पर उससे बड़ी और चिकनी होती हैं । पौधा शोभा और भाजी के लिये बागों में बोया जाता है और बहुमूल्य होता है । उ०—कंचन के धाम कहि काम जहाँ ये उपाधि, राम राज भलो जहाँ सबै खाय लोबिया—हनुमन्नाटक ।

लोबिया कंजई—संज्ञा पुं० [हि० लोबिया + कंजह] एक रंग जो गहरा हरा होता है ।

लोभ—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० लुब्ध, लोभी] (१) दूसरे के पदार्थ को लेने की कामना । लालच ।

पर्या०—तृष्णा । लिप्सा । स्थुहा । कांक्षा । शंस । गळ । इच्छा । वांछा । अभिलाष ।

(२) जैन दर्शन के अनुसार वह मोहनीय कर्म जिसके कारण मनुष्य किसी पदार्थ को त्याग नहीं सकता । अर्थात् यह त्याग का बाधक होता है । (३) कृपणता । कंजसी ।

लोभना कृ० प्र० [हि० लोभ] लुब्ध होना । मुग्ध होना ।

उ०—(क) करनफूल नासिक अति सोभा । ससि मुख आइ सूक जु लोभा ।—जायसी । (ख) सोहन सुबरन सुरथ फनद मंदिर सम ओभा । जिनमें रतन बिहंग बने जेहि लखि जग लोभा ।—जरासंधबध ।

क्रि० सं० [सं०] लुभाना । मुग्ध करना ।

लोभाना कृ० प्र० [हि० लोभना का सक०] मोहित करना । मुग्ध करना । उ०—माँगहु बर बहु भाँति लोभाये । परम धीर नहि चले चलाये ।—तुलसी ।

क्रि० प्र० मोहित होना । मुग्ध होना । उ०—(क) अस विचारि हरि भजत सयाने । मुक्ति निरादरि भगति लोभाने ।—तुलसी । (ख) बहुरि भगवान को निरखि सुनर परम कछ एहि माहि है सब भलाई । पै न इच्छा इन्है है कछ वस्तु की, अरुन ए देखि मोहइ लोभाई ।—सूर ।

लोमार कृ० वि० [हि० लोभ + मार (प्रत्य०)] लुभानेवाला । मुग्ध

करनेवाला । उ०—वय किशोर वय तद्धित वरन तन नख
सिख अंग लोभारे । है चितु कै हित लै सब छवि बितु विधि
निज हाथ सँवारे ।—तुलसी ।

लोभित-वि० [हि० लोभ] लुब्ध । सुग्ध । लुभाया हुआ । उ०—
नखिन पराग मेघ माधुरि सौं सुकुलित अंब । कदंब मुनि मन
मधुप सदा रस लोभित सेवत भज शिव अंब ।—सूर ।

लोभी-वि० [सं० लोभिन] (१) जिसे किसी बात का लोभ हो ।
उ०—नए नए हरि दरसन लोभी श्रावण शब्द रसाल ।
प्रथम ही मन गयो तनु तजि तब भई बेहाल ।—सूर ।
(२) बहुत अधिक लोभ करनेवाला । लालची । (३) लुब्ध ।
लुभाया हुआ । उ०—ए कैसी है लोभिनी छवि धरति चुराई ।
और न ऐसी करि सकै मर्यादा जाई ।—सूर ।

लोभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शरीर भर के छोटे छोटे बाल । रोवाँ ।
रोम । उ०—शत शत इंद्र लोभ प्रति लोमनि, शत लोमनि
मेरे इक लोमनि ।—सूर । (२) बाल । जैसे,—गो लोभ ।
संज्ञा पुं० [सं० लोमश] लोमड़ी । उ०—भूषण भनत भारे ।
भालुक भयानक हैं भीतर भवन भेर लीलगऊ लोम हैं ।
—भूषण ।

लोभकरणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जटामासी । (२) माँसी
नामक घास ।

लोभकर्कटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] अजमोदा ।

लोभकर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] शशक । खरगोश ।

लोभकूप-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर में का वह छिद्र जो रोएँ की
जड़ में होता है । लोमगर्त ।

लोभघ्न-संज्ञा पुं० [सं०] गंज नामक रोग । इंद्रलुप्तक ।

लोमड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० लोमश] कुत्ते या गीदड़ की जाति का
एक जंतु जो ऊँचाई में कुत्ते से छोटा होता है, पर विस्तार
में लंबा । भारतवर्ष की लोमड़ी का रंग गीदड़ सा होता
है; पर यह उससे बहुत छोटी होती है । इसकी नाक
तुकीली, पूँछ झबरी और आँखें बहुत तेज़ होती हैं और
यह बहुत तेज़ भागनेवाली होती है । अच्छे अच्छे कुत्ते
इसका पीछा नहीं कर सकते । चालाकी के लिये यह बहुत
प्रसिद्ध है । ऋतु के अनुसार इसका रोवाँ झड़ता और रंग
बदलता है । यह कीड़े मकोड़ों और छोटे छोटे पक्षियों को
पकड़कर खाती है । अन्य देशों में इसकी अनेक जातियाँ
मिलती हैं । अमेरिका में लाल रंग की एक लोमड़ी होती है;
और शीतकटिबंध प्रदेशों में काले रंग की लोमड़ी होती है,
जिसके रोएँ जाड़े में सफेद रंग के हो जाते हैं । कहीं कहीं
बिल्कुल काली लोमड़ी भी होती है । उन सब के बाल या
रोएँ बहुत कोमल होते हैं; और उनका शिकार उनकी खाल
के लिये किया जाता है, जिसे समूर या पोस्तीत कहते हैं ।
शीतकटिबंध प्रदेश की लोमड़ियाँ बिल बनाकर झुंड में

रहती हैं । यूरोप की लोमड़ियाँ बड़ी भयानक होती हैं ।
वे गाँवों में घुसकर अंगूर भादि फलों का और पालतू
पक्षियों का नाश कर देती हैं । भारत की लोमड़ी चैत वैशाख
में बच्चे देती हैं । बच्चों की संख्या पाँच छः होती है; और
वे डेढ़ वर्ष में पूरी बाढ़ को पहुँचते हैं । इसकी आयु तेरह
चौदह वर्ष की कही गई है ।

लोमपाद-संज्ञा पुं० [सं०] अंग देश के एक राजा का नाम । यह
राजा दशरथ के मित्र थे । एक बार इन्होंने ब्राह्मणों
का अपमान किया । उससे क्रोध कर ब्राह्मण उसका देश
छोड़कर चले गए । ब्राह्मणों के चले जाने से अंग देश में
अवर्षण पड़ा । इसके निवारणार्थ राजा लोमपाद ने ऋष्य-
शृंग को राज्य में बुलाकर उन्हें अपने मित्र दशरथ की
कन्या, जिसका नाम श्रोता था, प्रदान की, जिससे अना-
वृष्टि दूर हो गई । इन्हें रोमपाद भी कहते हैं ।

लोमपादपुर-संज्ञा पुं० [सं०] चंपा नगरी जिसे अब भागलपुर
कहते हैं ।

लोमरी-संज्ञा स्त्री० दे० “लोमड़ी” ।

लोमश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक ऋषि का नाम । पुराणों में
इनको अमर माना गया है । महाभारत के अनुसार ये
युधिष्ठिर के साथ तीर्थ-यात्रा को गए थे और उन्हें सब तीर्थों
का वृत्तान्त बतलाया था । (२) मेष । भेड़ा ।

वि० अधिक और बड़े बड़े रोएँवाला ।

लोमशकोडा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कर्कटी । ककड़ी ।

लोमशपर्णी लोमशपर्णिनी-संज्ञा स्त्री० [सं० लोमशपर्णिनी]
माषपर्णी नामक ओषधि ।

लोमशपुष्पक-संज्ञा पुं० [सं०] सरिस । शिरीष ।

लोमशमार्जार-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की बिल्ली जिसके
बाल कोमल होते हैं और जिससे मुस्क निकलता है ।
गंधमार्जार । वि० दे० “गंधबिलाव” ।

पर्या०—पूतिक । मारजातक । सुगंधी । मूत्रयातन ।

लोमशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वैदिक काल की एक स्त्री जो
कई मंत्रों की रचयिता मानी जाती है । (२) काकजंवा ।
माँसी । (३) बच । (४) अतिबला । (५) कौंड । केवाँच ।
(६) कसीस ।

लोमशातन-संज्ञा पुं० [सं०] हरताल ।

लोमस-संज्ञा पुं० दे० “लोमश” ।

लोमहर्षण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणों के अनुसार व्यास के
एक शिष्य का नाम जो उग्रश्रवा के पुत्र थे । इन्हीं
को सूत कहते हैं । (२) रोमांच ।

वि० ऐसा भीषण जिससे रोएँ खदे हो जायँ । बहुत अधिक
भयानक ।

लोमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वचा । वच ।

लोमाशिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] गीदड़ी । स्त्रियारिन ।

लोय संज्ञा पुं० [सं० लोक] लोग । उ०—जहाँ प्रगट भूषण भनत हेतु काज ते होय । सो विभावना औरज कहत सयाने लोय ।—भूषण ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० लव या लाव] लौ । लपट । ज्वाला । उ०—दुति निर्मल रत्न प्रदीप धरे बड़ी लोय सो आँखन ओरी जरे ।—लक्ष्मण ।

संज्ञा पुं० [सं० लोचन, हिं० लोयन] आँख । नेत्र । नयन । अव्य० दे० “लौ” ।

लोयन संज्ञा पुं० [सं० लोचन] आँख । उ०—जनक सुता तब उर धरि धीरा । नील नलिन लोयन भरि नीरा ।—तुलसी ।

लोरा वि० [सं० लोल] (१) लोल । चंचल । उ०—यह बाणी कहत ही लजानी समुझि भई जिय और । सुरश्याम मुख निरखि चली घर आनंद लोचन लोर ।—सूर । (२) उत्सुक । इच्छुक । उ०—बोलि दिग बैठारि ताको पोंछि लोचन लोर । सूर प्रभु के बिरह व्याकुल सखी लखि मुख ओर ।—सूर । संज्ञा पुं० [सं० लोल] (१) कान का कुंडल । (२) लटकन । (३) आँख ।

लोरना संज्ञा पुं० [सं० लोल] (१) चंचल होना । (२) लपकना । लटकना । उ०—पुनि उठि जागि देखैं मुकुट नारि ललचान अंक भरि लैन लोरै । सूर प्रभु भावती के सदा रस भरे नैन भरि भरि प्रिया रूप चोरै ।—सूर । (३) लिटपना । उ०—लोरहिं आइ भूमि तरु शाखा फल फूलन के भारा । नाना रंग कुरंग संग एक चरै सुदंग अपारा ।—रघुराज । (४) झुकना । उ०—देव कर जोरि जोरि बंदति सुरति लघु लोगनि के लोरि लोरि पायन परति है ।—देव । (५) लोटना । उ०—कलप लता से लता वृंदन विलासे, झुके अजब किता से भूमि लोरन के आसे हैं ।—रघुराज ।

लोरी संज्ञा स्त्री० [सं० लोल] (१) एक प्रकार का गीत जो स्त्रियाँ बच्चों को सुलाने के लिये गाती हैं । साथ ही वे बच्चे को गोद में लेकर हिलाती भी जाती हैं; अथवा खाट पर लेटाकर थपकी देती जाती हैं । (२) तोते की एक जाति ।

लोख वि० [सं०] (१) हिलता डोलता । कंपायमान । (२) चंचल । उ०—भाल तिलक कंचन किरीट सिर कुण्डल लोल कपोलनि झाँई । निरखहिं नारि-निकर विदेह-पुर निमिशा की मरजाद मिटाई ।—तुलसी । (३) परिवर्तन-शील । (४) क्षणिक । क्षणभंगुर । (५) उत्सुक । अति इच्छुक ।

संज्ञा पुं० लिंगोद्विज ।

लोखक संज्ञा पुं० [सं०] (१) लटकन जो बालियों में पहना जाता है । यह मछली के आकार का या किसी और आकार का होता है । स्त्रियाँ इसे नथ या वाली में पिरोकर पहनती

हैं । उ०—करनफूल कुटिला अरु लुंभिय । लोलक सोन सीक हूँ लुंभिय ।—सूदन । (२) कान की लव । लोलकी । (३) करवे में मिट्टी का एक लट्ठ जो राख में इसलिये लगाया जाता है कि उसको ऊपर या नीचे करके राख उठा या दबा सकें । (४) घंटी या घंटे के बीच में लगा हुआ लटकन जो हिलाने से इधर उधर टकराकर घंटी में लगाकर शब्द उत्पन्न करता है ।

लोलकी संज्ञा स्त्री० [हिं० लोलक] कान का वह भाग जो कान के किनारे इधर उधर नीचे को लटकता रहता है । इसी में छेद करके कुण्डल या वाली आदि पहनते हैं ।

लोलजट संज्ञा पुं० [सं०] बृहत्संहिता के अनुसार एक राज्य जो ईशान कोण में है ।

लोलादिनेश संज्ञा पुं० [सं०] लोलाक नामक सूर्य । उ०—लोमदिनेस त्रिलोचन लोचन करणघंट घंटा सी—तुलसी ।

लोलना संज्ञा पुं० [सं० लोल] हिलना । डोलना । उ०—गागरि नागरि लिये पवित्रत तैं चली घरहि आवै । ग्रीवा डोलत लोचन लोलत हरि के चितहि चुरावै ।—सूर ।

लोला संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जिह्वा । जीभ । (२) लक्ष्मी । (३) मधु दैत्य की माता । (४) एक योगिनी का नाम । (५) एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में सगण, सगण, मगण, भगण और अंत में दो गुरु होते हैं । इसमें सात सात पर यति होती है । उ०—मा लौमौ भग गौरी काहू ती मुख देखे । सिहौ री कटि जोहे हस्ती चालहिं पेखे । लोला सी मृदुवैना पूछे बाल नवीना । बोली मातु कवै ना बाणी नीतिविहीना ।—छंदःप्रभाकर ।

संज्ञा पुं० [देश०] लडकों का एक खिलौना । यह एक डंडा होता है, जिसके दोनों सिरों पर दो लट्ठ होते हैं ।

लोलाक संज्ञा पुं० [सं०] काशी के एक प्रसिद्ध तीर्थ का नाम ।

लोलुप वि० [सं०] (१) लोभी । लालची । (२) चटोर । चट्ट । (३) किसी बात के लिये परम उत्सुक ।

लोवा संज्ञा स्त्री० [सं० लोमश] (१) लोमड़ी । उ०—(क) बाँई अकाशे धँवरे आये । लोवा दरस आइ देखराये ।—जायसी । (ख) लोवा फिरि फिरि दरस देखावा । सुरभी सनमुख शिशुहि पियावा—तुलसी ।

संज्ञा पुं० तीतर की जाति का एक पक्षी जो बटेर से छोटा होता है और कश्मीर, मध्य प्रदेश तथा संयुक्त प्रांत में पाया जाता है । नर प्रायः मादा से कुछ अधिक बड़ा होता है । शिकारी इसका शिकार करते हैं । इसे गुरगा भी कहते हैं । लवा ।

लोशन संज्ञा पुं० [अंग०] अधिक पानी में घुली हुई ओषधि जो शरीर में ऊपर से लगाने, किसी पीड़ित अंग को धोने या तर रखने आदि के काम में आती है ।

लोष्ट संज्ञा पुं० [सं०] (१) पत्थर । (२) ढेला । डला ।

लोहप्र-संज्ञा पुं० [सं०] खेती का वह औजार जिससे खेत के ढेले फोड़ते हैं। पटेला। पाटा।

लोहड़ा-संज्ञा पुं० [सं० लोहमांड] [ली० लोहड़ी] (१) लोहे का एक प्रकार का पात्र जिसमें खाना पकाया जाता है। कभी कभी इसमें दस्ता भी लगा रहता है। (२) तसला। उ०—
चुंकर लोहड़ा औंश खोवा। भा हलुवा चिउ केर निबोवा।
—जायसी।

लोह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लोहा नामक प्रसिद्ध धातु। (२) रक्त। (३) लाल बकरा।

लोहकार-संज्ञा पुं० [सं०] लोहार।

लोहकिट्ट-संज्ञा पुं० [सं०] लोहे की कीट या मैल जो भट्टे में डालकर लोहे को गलाने या ताव देने से निकलती है। वैद्यक में इसे कृमि, वात, पित्त, शूल, मेह, गुल्म और शोक का नाशक लिखा है। इसका स्वाद मधुर और कटु तथा प्रकृति उष्ण मानी गई है।

पद्या—लोहचूर्ण। अयोमल। लोहज। कृष्णचूर्ण।
लोष्ट।

लोहगंध-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक जाति का नाम।

लोहजातक-संज्ञा पुं० [सं०] कर्मकार नामक जाति। इस जाति के लोग लोहे को तपाकर पीटत हैं।

लोहद्रात्री-संज्ञा पुं० [सं० लोहद्रात्रे] (१) सोहागा। (२) अश्लवेत।

लोहनाभ-संज्ञा पुं० [सं०] नाराच नामक अस्त्र। वि० दे०
“नाराच”।

लोहवान-संज्ञा पुं० दे० “लोवान”।

लोहलंगर-संज्ञा पुं० [हि० लोहा + लंगर] (१) जहाज का लंगर।
(२) बहुत भारी वस्तु।

लोहसंकु-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार इक्कीस नरकों में से एक नरक का नाम।

लोहश्लेष्म-संज्ञा पुं० [सं०] सुहागा।

लोहहाक-संज्ञा पुं० [सं०] मनु के अनुसार एक नरक का नाम।

लोहगंग-संज्ञा स्त्री० [हि० लोह + गंग + ई] वह छड़ी जिसके एक किनारे पर लोहा लगा होता है।

लोहा-संज्ञा पुं० [सं० लोह] (१) एक प्रसिद्ध धातु जो संसार के सभी भागों में अनेक धातुओं के साथ मिली हुई पाई जाती है। इसका रंग प्रायः काला होता है। वायु या जल के ससर्ग से इसमें मोर्चा लग जाता है। भारतवर्ष में इस धातु का ज्ञान वैदिक काल से चला आता है। वेदों में लोहे को साफ करने की विधि पाई जाती है। आर उसके अने कटिन और तीक्ष्ण हथियारों का उल्लेख मिलता है। लोहे का ज्ञान पहले पहल संसार में किसे, कब, कहाँ और किस प्रकार हुआ, इसका उल्लेख नहीं मिलता। वैद्यक शास्त्र के अनुसार

लोहा पाँच प्रकार का होता है।—कांची, पांडि, कांत, कालिंग और वज्रक। इनमें कांची, पांडि और कालिंग क्रमशः दक्षिण की कांचीपुरी, पंडा, और कालिंग देश के लोहों के नाम हैं, जो वहाँ की खानों से निकलते थे। जान पड़ता है, वज्रक उस लोहे को कहते थे, जो आकाश से उल्का के रूप में गिरता था। क्योंकि बहुत दिनों से संसार में यह बात चली आती है कि बिजली से या उल्कापात में लोहा गिरता है। कांत हर एक स्थान के शुद्ध किए हुए लोहे को कहते हैं। इन्हीं पाँच प्रकार के लोहों का प्रयोग वैद्यक में सर्वश्रेष्ठ मानकर लिखा गया है। यह बलप्रद, शोथ, शूल, अर्श, कुष्ठ, पांडु, प्रमेह, मेह और वायु का नाशक, आँखों की ज्योति और आयु को बढ़ानेवाला, गुरु तथा सारक माना जाता है। कुछ लोगों का तो यह भी मत है कि लोहा सब रोगों का नाश कर सकता है; और मृत्यु तक को हटा देता है। वैद्यक में लोहे के भस्म का प्रयोग होता है। भारतवर्ष का लोहा प्राचीन काल में संसार भर में प्रख्यात था। यहाँ के लोगों को ऐसे उपाय मालूम थे जिनसे लोहे पर सैकड़ों वर्षों तक ऋतु का प्रभाव नहीं पड़ता था; और वर्षा तथा वायु के सङ्ग से तथा मिट्टी में गड़े रहने से उसमें मोर्चा नहीं लगता था। दिल्ली का प्रसिद्ध स्तंभ इसका उदाहरण है, जिसे पंद्रह सौ वर्ष से अधिक बीत चुके हैं। उस पर अभी तक कहीं मोर्चे का नाम तक नहीं है। आज कल लोहे को जिस प्रणाली से साफ करते हैं, वह यह है। खान से निकले हुए लोहे को पहले भाग में डालकर जला देते हैं, जिससे पानी और गंधक आदि के अंश उसमें से निकल जाते हैं। फिर उस लोहे को कोयले या पत्थर के चूने के साथ मिलाकर बड़ी में डालकर गलाते हैं। इससे आक्सिजन का अंश, जो पहली बार जलाने से नहीं निकल सकता है, निकल जाता है। इतना साफ करने पर भी लोहे में प्रति सैकड़ा दो से पाँच अंश तक गंधक, कार्बन, सिलिका, फास्फोरस, अल्यूमीनम आदि रह जाते हैं। उन्हें अलग करने के लिये उसे फिर भट्टी तैयार करके गलाते हैं; और तब वन से पीटते हैं। पहले को देगचून, और दूसरे को लोहा या कमाया हुआ लोहा कहते हैं। इस सच्चे लोहे में भी सैकड़ा पीछे ०.१५ से ०.५ तक कार्बन मिला रहता है। उसी कार्बन का निकालना प्रधान काम में है। इस्पात में सैकड़े पीछे ०.६ से ०.२ तक कार्बन होता है। उत्तम लोहा वही माना जाता है, जिस पर अम्ल या एसिड आदि का कुछ भी प्रभाव न पड़े। विशुद्ध लोहे का रंग चाँदी की तरह सफ़ेद होता है और जिला करने पर वह चमकने लगता है। यदि लोहे को घिसा जाय, तो उससे एक प्रकार की गंध सी निकलती है। पुराणों में लिखा है कि प्राचीन काल

में जब देवताओं ने लोमिल दैत्य का वध किया, तब उसी के शरीर से लोहा उत्पन्न हुआ। तीक्ष्ण, मुंड और कांत लोहों के पर्याय भी अलग अलग हैं। तीक्ष्ण के पर्याय, — शस्त्रायस, शस्त्र, पिंड, शठ, आयस, निशित, तीव्र, खड्ग, चित्रायस, मुंडज इत्यादि। मुंड के पर्याय— हस्तार, शिलात्मज, अस्मज, कृषिलौह इत्यादि। कुछ लोगों का कथन है कि आदि में 'लोहा' ताँवे को कहते थे। कारण यह कि 'लौह' शब्द का प्रधान या यौगिक अर्थ है—लाल। पीछे इसका प्रयोग लोहे के लिये करने लगे। पर यह कथन कई कारणों से ठीक नहीं जान पड़ता। एक कारण यह है कि वेदों में लौह और अयस शब्दों का प्रयोग प्रायः सब धातुओं के लिये मिलता है। दूसरे यह कि अब लोहे को आधुनिक विद्वान् लाल रंग का कारण मानने लगे हैं। उनकी धारणा है कि रक्त में लोहे के अंश ही के कारण ललाई है; और मिट्टी में लोहे का अंश मिला रहने से ही मिट्टी के बर्तन और ईंटें आदि पकाने पर लाल हो जाती हैं।

मुहा०—लोहे के चने = अत्यंत कठिन और दुःसाध्य काम। लोहे के चने चबाना = अत्यंत कठिन काम करना।

यौ०—लोहे की स्याही = एक प्रकार का रंग जो लोहे से तैयार किया जाता है। पहले गुड़ या शर को पानी में घोल लेते हैं और उसमें लोहचूर्ण छोड़कर धूप में रख देते हैं। कई दिनों में वह ठठने लगता है, और उसके ऊपर भाग आ जाता है। जब यह भाग काले रंग का हो जाता है, तब जान लेते हैं कि रंग तैयार हो गया है। इसे कसेरी की स्याही और कथ भी कहते हैं। यह रँगई के काम में आता है।

(२) अस्त्र। हथियार। उ०—नेही लोहा नूर लखि कटत कटाच्छन माहिं। असनेही हित खेत तजि भागत लोहे जाहिं।—रसनिधि।

मुहा०—लोहा गहना = हथियार उठाना। युद्ध करना। उ०—

(क) लोह गहे लालच करि जिय को औरो सुभट लजावै।

सूरदास प्रभु जीति शत्रु को कुशल क्षेम घर आवै।—सूर।

(ख) काशीराम कहैं रघुवंशिन की रीति यही है, जासों कीजै मोह तासों लोह कैसे गहिए।—हनुमन्नाटक। लोहा बजना = युद्ध होना। उ०—दोनों वीर ललकार के ऐसे दूटे कि जैसे हाथियों के यूथ पै सिंह दूटे और लगा हुहा बजने।—लल्लू। लोहा बरसना = तलवार चलना। धमसान मचना। किसी का लोहा मानना = (१) किसी विषय में किसी का प्रभुत्व स्वीकार करना। किसी विषय में किसी से दबना। (२) पराजित होना। हार जाना। लोहा लेना = लड़ना। युद्ध करना। लड़ाई करना। उ०—सनमुख लोह भरत सन लेजै। जियत न सुरसरि उतरन देजै।—तुलसी।

(३) लोहे की बनाई हुई कोई चीज़ या उपकरण। जैसे,—

लगाम, कवच आदि। उ०—(क) राजा धरा आन के तन पहिरावा लोह। ऐसे लोह सो पहिरे चेत इयाम की ओह।—जायसी। (ख) पवन समान समुंद पर भावहिं। बूढ़ि न पाँव पार होइ आवहिं। थिर न रहहिं रिस लोह चलाई। भाजहिं पूँछ सीस उपराहीं।—जायसी। (४) लाल रंग का बैल।

वि० [लो० लोही] (१) लाल। (२) बहुत अधिक कड़ा। कठोर।

लोहाना—क्रि० प्र० [हि० लोहा + आना (प्रत्य०)] लोहे के बर्तन में रखी रहने के कारण किसी वस्तु में लोहे के गुण या रंग आदि का उत्तर आना। किसी पदार्थ में लोहे का रंग या स्वाद आ जाना।

संज्ञा पुं० [देश०] एक जाति का नाम।

लोहार—संज्ञा पुं० [सं० लौहकार] [लो० लोहारिन या लोहारन] एक जाति जो लोहे का काम करती है। इस जाति के अनेक भेद हैं। उनमें से कुछ अपने ओ ब्राह्मण कहते और यज्ञोपवीत धारण करते हैं। उनकी अंतर्जातियों के नाम भी ओझा आदि होते हैं। पर अधिकतर आचारहीन होते हैं और शूद्र माने जाते हैं। प्रत्येक अंतर्जाति का खान पान और विवाह संबंध पृथक् पृथक् होता है; और उनके नाम भी भिन्न होते हैं।

यौ०—लोहार की स्याही = कमीस। हीगकसीस।

लोहारी—संज्ञा स्त्री० [हि० लोहार + ई (प्रत्य०)] लोहार का काम।

लोहित—वि० [सं०] रक्त। लाल।

संज्ञा पुं० [सं० लोहितक] मंगल ग्रह। उ०—प्रति मंदिर कलसनि पर भ्राजहिं मनि गन दुति अपनी। मानहुँ प्रगटि विपुल लोहितपुर पठइ दिये अघनी।—तुलसी।

लोहितक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल मणि। (२) मंगल ग्रह। (३) एक प्रकार का धान। (४) फूल नामक धातु। (५) ताँबा। (६) आजकल के रोहतक नगर का प्राचीन नाम।

लोहितांग—संज्ञा पुं० [सं०] मंगल ग्रह।

लोहिताद—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार इकीस नरकों में से एक नरक का नाम।

लोहित्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन गाँव का नाम। बाल्मीकि ने कपीवती नदी का इसमें होकर बहना लिखा है।

(२) ब्रह्मपुत्र नदी। (३) एक समुद्र का नाम। पुराणानुसार यह कुश द्वीप के पास है।

लोहित्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक नदी का नाम। (२) एक अप्सरा का नाम।

लोहिया—संज्ञा पुं० [हि० लोहा + या (प्रत्य०)] (१) लोहे की चीजों का व्यापार करनेवाला। (२) वनियों और मारवाड़ियों

की एक जात का नाम । (३) लाल रंग का बैल । (४) लोहे की बनी हुई गोली ।

लोहू-संज्ञा पुं० [सं० लोहित = लाल] रक्त । वि० दे० “लहू” । उ०—(क) तहिया हम तुम एकै लोहू । एकै प्रान विधायक मोहू ।—कबीर । (ख) राते बिब भये तेहि लोहू । परवर पाक फटे हिय गोहू ।—जायसी (ग) लोधिन्ह ते लोहू के प्रवाह चले जहाँ तहाँ मानहु गिरिन गेरु क्षरना क्षरत हैं ।—तुलसी । (घ) माता ही को मांस तोहिं लागतु है मीठो मुख पियत पिता को लोहू नेक न अवाति है ।—केशव ।

लौं *†-ग्रन्थ० [हि० लग] (१) तक । पर्यंत । उ०—अजहूँ लौं राजत नीरधि तट करत सांख्य विस्तार । सांख्यायन से बहुत महामुनि सेवत चरण सुचार ।—सूर । (ख) चलत चलत लौं लै चले सब सुख संग लगाय । ग्रीष्म वासर सिसिर निसि पिय मो पास बसाय ।—बिहारी । (२) समान । तुल्य । बराबर । उ०—(क) छितिये के शशि लौं बाहें शिशु देखै जननि जसोई । यह सुख सूरदास के नैनन दिन दिन दूनौ होई ।—सूर । (ख) कहति न देवर की कुवत कुलतिथ कलह डराति । पंजर गात मँजार दिग सुक लौं सुखति जाति ।—बिहारी ।

लौंकना *†-कि० प्र० [सं० लोकन] (१) दृष्टिगोचर होना । दिखाई देना । उ०—लौंकत चीर ध्वजा रतनारे । सावन भादों के घन वारे ।—गुमान । (२) चमकना । (३) आँखों में चकाचौंध होना ।

लौंग-संज्ञा पुं० [सं० लवंग] (१) एक झाड़ू की कली जो खिलने के पहले ही तोड़कर सुखा ली जाती है । इसके वृक्ष मालाबार, अफ्रिका के समुद्र तट, जंजिबार, मलाया, जावा आदि में होते हैं । लौंग की खेती के लिये काली मिट्टी और विशेषतः वह मिट्टी जो उबाला-मुखी की राख हो या जिसमें बालू मिला हो, अच्छी मानी जाती है । पहले इसे पनीरी में एक एक फुट पर बो देते हैं । इसका बीज जहाँ तक हो, जब एक ताज़ा रहे, तभी तक बोया जाता है; क्योंकि फूल सूख जाने पर बीज नहीं जमते । चार पाँच सप्ताह में बीज उग आते हैं । पौधे जब चार फुट ऊँचे हो जाते हैं, तब उनको पनीरी से उखाड़कर बीस बीस फुट की दूरी पर बाग में लगाते हैं । जहाँ यह लगाया जाय, वहाँ की भूमि पोली और दोमट होनी चाहिए । मटियार, बालू या दलदल में यह पौधा नहीं रह सकता । यदि काली मिट्टी में बालू मिला हो और उसके नीचे पीली मिट्टी और कंकड़ पड़ जाय, तो लौंग का पेड़ बहुत शीघ्र बढ़ता है । अत्यंत घनी छाया इसको हानिकर होती है । पनीरी बैधाने के समय प्रायः वर्षा का आरंभ है । बैठाए हुए पौधे को दो तीन वर्ष तक धूप से बचाने के लिये प्रायः

छाया की आवश्यकता पड़ती है; और आँधी से बचाने के लिये इसके बाग की घनी झाड़ी से रेंधाई करने की आवश्यकता होती है । कभी कभी इसमें आवश्यकतानुसार पानी भी दिया जाता है । तीसरे वर्ष इसके ऊपर से छाजन हटा ली जाती है; और छठे वर्ष से फूल आने लगता है । बारहवें वर्ष पौधा खूब खिलता है; और बीस पचीस वर्ष तक फूलता रहता है । इसके बाद फूल कम आने लगते हैं । कलियाँ पहले हरी रहती हैं; फिर पीली और अंत को गुलाबी रंग की हो जाती हैं । वही उनके तोड़ने का समय है । ये कलियाँ या तो बँधी हुई चुन ली जाती हैं अथवा लकड़ियों से पीटकर नीचे गिरा दी जाती हैं; और फिर उनको इकट्ठा करके सुखा लिया जाता है । यही लौंग है जो बाजारों में बिकता है । कोई कोई कलियाँ जो पेड़ों में रह जाती हैं, बढ़कर फूल जाती हैं । और फूल झड़ जाने पर नीचे का भाग फूलकर छोटी सी घुंडी के आकार का हो जाता है, जिसमें एक या दो दाने होते हैं । यही घुंडी बोने के काम में आती है । लौंग की कलम भी उसकी डाली को मिट्टी में दबाने से तैयार की जाती है । डेढ़ दो महीने में उसमें जड़ें निकल आती हैं । इस प्रकार की कलम जल्दी फूलने लगती है । वैद्यक में इसका स्वाद चरपरा, कड़ुआ, गुण शीतल, दीपन, पाचन, रुचिकारक, कफ पित्त-नाशक, प्यास और वमन को मिटानेवाला, आँखों के लिये हितकर और चूल्, खाँसी, श्वास, हिचकी और क्षय रोग का नाशक माना गया है । लौंग से भबके द्वारा एक प्रकार का तेल निकलता है । उसका व्यवहार सभी देशी और विदेशी औषधों में होता है । वैद्यक में इसके तेल को वातनाशक, अमिदीपक, कफनाशक और गर्भिणी के वमन को दूर करनेवाला लिखा है । दाँत की पीड़ा में जब दूषित कृमि हो जायँ, इसको लगाना विशेष लाभदायक होता है । लौंग का प्रयोग विशेष कर मसाले में होता है ।

पर्या०—देवकुसुम । श्रीसंज्ञ । कलिकोत्तम । भृंगार । सुषिर । तीक्ष्ण । वारिज । शेखर । लव । श्रीपुष्प । रुचिर । वारिपुष्प । दिव्यगंध । तीक्ष्णपुष्प ।

(२) लौंग के आकार का एक आभूषण जिसे स्त्रियाँ नाक या कान में पहनती हैं । उ०—यदपि लौंग ललितौ तज तू नयहरि इक आँक । सदा संक बहियै रहै रहै चढ़ी सी नाक ।—बिहारी ।

लौंगचिड़ा-संज्ञा पुं० [हि० लौंग + चिड़ा = चिड़िया] (१) एक प्रकार का कबाब जो बेसन मिलाकर बनाया जाता है । (२) फुलकी रोटी । (क०)

लौंगमुश्क-संज्ञा पुं० [हि० लौंग + मुश्क] एक प्रकार के फूल का नाम ।

लौंगरा-संज्ञा पुं० [हि० लौंग] एक प्रकार की घास जिसकी पत्तियाँ गोल और नुकीली, बरियारे से कुछ अधिक बड़ी और चमकीली होती हैं। यह घास बरसात में उगती है और इसमें लौंग के आकार की कलियाँ लगती हैं, जिनके डंठल प्रायः चौकोर होते हैं। फूल पीले रंग के होते हैं और उनके पक जाने पर नीचे के डंठल कुछ मोटे हो जाते हैं, जिनमें बीजों से भरे चार बीजकोश निकलते हैं। बीज काले रंग के और चिचटे होते हैं। बंगाल में लोग इसकी पत्तियों का साग बनाते हैं।

लौंगिया मिर्च-संज्ञा स्त्री० [हि० लौंग + मिर्च] एक प्रकार की बहुत कड़वी मिर्च जिसका पेड़ बहुत बड़ा और फल छोटे छोटे होते हैं। इसे मिर्ची भी कहते हैं।

लौंडा-संज्ञा पुं० [?] [स्त्री० लौंडी, लौंडिया] (१) छोकरा। बालक। लड़का। (२) खूबसूरत और नमकीन लड़का।

यौ०-लौंडेबाज। लौंडेबाजी।

वि० (१) अबोध। (२) छिछोरा।

लौंडापन-संज्ञा पुं० [हि० लौंडा + पन (प्रत्य०)] (१) लौंडा होने का भाव। (२) लड़कपन। (३) छिछोरापन।

लौंडी-संज्ञा स्त्री० [हि० लौंडा] दासी। मजदूरी। उ०—मन मनसा द्वै लौंडी निकारि डारो, भारो हंकार तृष्ण कुबुधि कुवाद की।—कबीर।

लौंडेबाज-वि० [हि० लौंडा + फा० बाज] (१) (पुरुष) जो सुंदर बालकों से प्रेम रखता हो और उनके साथ प्रकृति विरुद्ध आचरण करता हो। (स्त्री) जो कम अवस्था के युवकों से प्रेम रखती हो। (बाजारू)

लौंडेबाजी-संज्ञा स्त्री० [हि० लौंडा + फा० बाजी] लौंडेबाज का काम। लौंडों से प्रेम रखना।

लौंद-संज्ञा पुं० [?] अधिमास। मल मास।

लौंदरा-संज्ञा पुं० [हि० लव = बालू] वह पानी जो ग्रीष्म ऋतु में वर्षा आरंभ होने से पहले बरसता है। लवंदरा। लवंद। लौंगरा।

लौंदा-संज्ञा पुं० दे० “लौंदा”।

लौंदी-संज्ञा स्त्री० [देश०] वह करछी जिससे खंडसार में पाक चलाया जाता है। (बुंदेल०)

लौन-संज्ञा पुं० (१) दे० “लवन”। (२) दे० “लौंद”।

लौ-संज्ञा स्त्री० [सं० दावा] (१) आग की लपट। ज्वाला। उ०—जोरि जो धरी है वेदरद द्वारे लौन होरी, मेरी बिरहागि की उल्लूकनि लौ लाइ आव।—पद्माकर। (२) दीपक की टेम। दीपशिखा।

संज्ञा स्त्री० [हि० लाग] (१) लाग। चाह। राग। उ०—लौ इनकी लागी रहै निज मन मोहन रूप। तातैं इन रसनिधि लयौ लोयन नाम अनूप।—रसनिधि। (२) चित्त की वृत्ति।

यौ०-लौलीन = किसी के ध्यान में डूबा हुआ या मस्त। उ०—खसम न चीन्हें बावरी पर पूरपै लौ लीन। कहहिं कबीर पुकारि के परी न बानी चीन्ह।—कबीर।

(३) आशा। कामना। उ०—लौ लगी लोयन में लखिबे की उतै गुरु लोगन को भय भारी—सुंदरी सार्वस्व।

क्रि० प्र०-लगना।—लगाना।

लौआ-संज्ञा पुं० [सं० लावुक] कटू। वीधा।

लौका-संज्ञा पुं० [सं० लावुक] [स्त्री० लौकी] कटू। उ०—भइ भूजी लौका परबती। रीता कीन्ह काटि कै रती।—जायसी।

लौकिक-वि० [सं०] (१) लोक संबंधी। सांसारिक। (२) व्यावहारिक।

संज्ञा पुं० सात मात्राओं के छंदों का नाम। ऐसे छंद इकीस प्रकार के होते हैं।

लौकिक न्याय-संज्ञा पुं० [सं०] लोक में पाला जानेवाला नियम। साधारण नियम।

लौकी-संज्ञा स्त्री० [सं० लावुक] (१) कटू। वीधा। (२) काठ की वह नली जिसे सबके में लगाकर मद्य चुभाते हैं।

लौगादि-संज्ञा पुं० [सं०] धर्म शास्त्र के कर्त्ता एक प्राचीन आचार्य का नाम।

लौज-संज्ञा पुं० [सं० लौज] (१) बादाम। (२) एक प्रकार की मिठाई जो काटकर तिकोनिया बरफी के आकार की बनाई जाती है। इसमें प्रायः बादाम पीसकर डालते हैं।

यौ०-लौजात की गोठ = वह ऎठ की गोठ जो समोसे के जोड़ों पर बनाई जाती है।

लौजोरा-संज्ञा पुं० [हि० लौ + जोड़ना] पीतल या काँसे के कारखाने में वह काम करनेवाला जो भट्टी के पास बैठा हुआ यह देखता रहता है कि धातु गल गई या नहीं। धातु गलानेवाला।

लौटना-क्रि० प्र० [हि० उलटना] (१) कहीं जाकर पुनः वहाँ से फिरना। वापस आना। पलटना। उ०—(क) नख तैं सिख लैं लखि मोहन को तन लाड़िली लौटन पीठ दर्ई। कबि बेनी छबीले भरी अँक्यारि पसारि भुजा करि नेहमई। यह गुंज की माल कठोर अहो रहो मो छतियाँ गदि पीर भई। उचकी लची चौकी चकी मुख फेरि तरेरि बड़ी अँखियाँ चितई।—बेनी। (ख) साँकरी खोर में काँकरी की करि चोट खलौ फिरि लौटनहारौ।—पद्माकर। (२) इधर से उधर मुँह फेरना। पीछे की ओर मुँह करना। उ०—ताही समय उठो घन घोर दामिनी सी लागी लौटि श्याम घन उर सों लपकि कै।—केशव।

संयो० क्रि०-जाना।—पड़ना।

क्रि० सं० इधर से उधर करना। पलटना। उलटना। जैसे,—पुस्तक के पन्ने लौटना। (क०)

लौट पोट-संज्ञा स्त्री० [हि० लौट + प्रत्य० पोट] (१) दोस्ती छपाई। वह छपाई जिसमें दोनों ओर एक से बेल बड़े दिखाई पड़ें। वह छपाई जिसमें उलटा सीधा न हो। (२) उलटने पुलटने की क्रिया। (३) दे० "लोट पोट"।

लौट फेर-संज्ञा पुं० [हि० लौट + फेर] इधर का उधर हो जाना। उलटफेर। हेर-फेर। भारी परिवर्तन।

लौटाना-क्रि० सं० [हि० लौटाना का सक०] (१) फेरना। फलटाना। (२) वापस करना। जैसे,—(क) यदि आप वहाँ जायें, तो उन्हें लौटाना का सकते हैं। (ख) अब आप ये सब पुस्तकें उन्हें लौटा दें। (३) किसी को उल्टे मुँह फेरना। वापस लाना। (४) ऊपर नीचे करना। जैसे,—रुपड़ा लौटाना। क०)

लौटान-संज्ञा स्त्री० [हि० लौटाना] लौटने की क्रिया या भाव।

लौटानी-क्रि० वि० [हि० लौटाना] लौटते समय। लौटती बार।

लौड़ा-संज्ञा पुं० [सं० लोल या हि० लड़] पुरुष की मूर्च्छाद्रिय।

लौद, लौदरा†-संज्ञा पुं० [सं० नव + डाली] [स्त्री० लौदरी; लौदरी] अरहर आदि की नरम डाली जिससे छानी छाने का काम लेते हैं। (दुआब वा अंतर्वेद)

लौन ❧ संज्ञा पुं० [सं० लवण] नमक। लवण। उ०—(क) कीन्हेहु कोटिक जतन अब गहि काढ़े कौन। भौ मनमोहन रूप मिलि पानी में को लौन।—बिहारी। (ख) प्रीतम पै चाख्यो दगन रूप खलोने लौन। कटे इक्क मैदान में तौ कहु अचरज कौन।—रसनिधि।

लौनहार†-संज्ञा पुं० [हि० लौना + हार (प्रत्य०)] [स्त्री० लौनहारिन] खेत काटनेवाला। लौनी करनेवाला।

लौना†-संज्ञा पुं० [सं० लूम या रोम] वह रस्सी जिससे किसी पशु के एक अगले और एक पिछले पैर को एक साथ बाँधते हैं, जिसमें खुला छोड़ देने पर भी वह दूर तक न जा सके।

संज्ञा पुं० [सं० ज्वलन] ईंधन।

संज्ञा पुं० [सं० लवन] फसिल काटने का काम। कटनी। कटाई। लौनी।

* वि० [सं० लावण्य = लोन] [स्त्री० लौनी] लावण्ययुक्त। सुंदर। उ०—खेलत हैं हरि बागे बने जहाँ बैठी प्रिया रति तें भति लौनी।—केशव।

लौनी †-संज्ञा स्त्री० [हि० लौना] (१) फसल की कटनी। कटाई। (२) वह कटा हुआ डंडल जो अँकवार में आवे। अँकोरा। डाबी। लहना।

❧ संज्ञा स्त्री० [सं० नवनीत] नैनू। नवनीत। उ०—लौनी कर आनन परसत हैं कछुक खाइ कछु लख्यो कपोलनि। कहि जन सूर कहाँ लौ बरनौ धन्य नंद जीवन युग तोलनि।—सूर।

लौमना†-संज्ञा पुं० दे० "लौना"।

लौमनी†-संज्ञा स्त्री० (१) दे० "लौना"। (२) दे० "लौनी"।

लौह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लोहा। (२) रासायन।

संज्ञा स्त्री० [प्र०] (१) तड़ती। (२) पुस्तक का सफ़ा। पृष्ठ। पन्ना।

लौहकार-संज्ञा पुं० [सं०] लोहार।

लौहचारक-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक भीषण नरक का नाम।

लौहसार-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का लवण जो लोहे से बनाया जाता है। यह रासायनिक परिक्रिया द्वारा बनता है और औषधों में काम आता है।

लौहा-संज्ञा पुं० दे० "लोहा"।

लौाचार्य-संज्ञा पुं० [सं०] धार्यों के तत्व को जाननेवाला आचार्य। वह जो धातु विद्या का अच्छा ज्ञाता हो। धातु-विद्याविद्।

लौहायस-वि० [सं०] लोहे या ताँबे का बना हुआ।

लौहासख-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का आसव जो लोहे के योग से बनाया जाता है। (वैद्यक)

लौहि-संज्ञा पुं० [सं०] हरिवंश के अनुसार अष्टक के एक पुत्र का नाम।

लौहित-संज्ञा पुं० [सं०] महादेव का त्रिशूल।

लौहिना-संज्ञा पुं० [हि० लोहा] वैश्यों की एक जाति जो लोहे का व्यापार करती है। लोहिया।

लौहितायन-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्र का नाम।

लौहित्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का धान जिसके चावल लाल रंग के होते हैं। (२) ब्रह्मपुत्र नदी। (३) एक पर्वत का नाम। (४) एक तीर्थ का नाम। (५) लाल सागर।

ल्याना ❧-क्रि० सं० (१) दे० "लाना"। उ०—(क) ल्याई लाल बिलोकिये जिय की जीवन मूलि। रही औन के कौन में सोनखुही सी फूलि।—बिहारी। (ख) काहे ते न ल्याई फिर मोहन बिहारी जू को, कैसे वाहि ल्यावों, जैसे वाको मन ल्याई है।—पद्माकर। (ग) विप्र बचन सुनि सखी सुआसिनि चलीं जानकिहि ल्याई। कुँवर निरखि जयमाल मेलि उर कुँवरि रही सकुचाई।—तुलसी।

ल्यारी†-संज्ञा पुं० [देश०] भेड़िया। उ०—श्रीकृष्णचंद्र ने मुसकरा के कहा—बहुत अच्छा, तू बन भेड़िया और सब ग्वाल बाल होवें मेढ़ा। सो सुनते ही व्योमासुर तो फूलकर ल्यारी हुआ और ग्वाल बाल सब बने मेढ़े।—लल्लू।

ल्याब-संज्ञा पुं० दे० "लुआब"।

ल्यारि *†-संज्ञा स्त्री० दे० "लूह"।

ल्यासा†-संज्ञा पुं० दे० "लासा"।

लहीक†-संज्ञा स्त्री० दे० "लीख"।

व

व-हिंदी या संस्कृत वर्णमाला का उन्तीसवाँ व्यंजन वर्ण, जो उकार का विकार और अंतस्थ अर्द्धव्यंजन माना जाता है। इसका उच्चारण स्थान दंत्योष्ठ है; अर्थात् दाँत और ओष्ठ से इसका उच्चारण होता है। प्रयत्न ईषस्पृष्ट होता है; अर्थात् उच्चारण के समय दाँतों का ओष्ठ से कुछ स्पर्श होता है। हिंदी में इस वर्ण का उच्चारण अधिकतर केवल ओष्ठ से होता है, केवल संस्कृतभाषी लोग ही शुद्ध दंत्योष्ठ उच्चारण करते हैं।

वंक-वि० [सं०] कुछ झुका हुआ। टेढ़ा। वक्र।

संज्ञा पुं० [सं०] नदी का मोड़। वंकर।

वंकट-वि० [सं० वंक] (१) टेढ़ा। बाँका। (२) कुटिल। जो सीधा न हो। (३) विकट। दुर्गम। उ०—रही है धूँयट-पट की ओठ। मनौ कियो फिर मान मवासो मन्मथ वंकट कोट।—सूर।

वंकनाल-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर की एक नाड़ी का नाम।

वंकनाली-संज्ञा स्त्री० [हि० वंक + नाड़ी] साधुओं की बोलचाल में सुपुग्ना नामक नाड़ी, जो मध्य में मानी गई है। उ०—वंकनालि सदा रस पीवै, तब यह मनुवाँ कहीं न जाय। बिगसै केवल प्रेम जब उपजै ब्रह्म जीव को करै सहाय।—दादू।

वंकर-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ से नदी मुड़ी हो। नदी का मोड़।

वंकसेन-संज्ञा पुं० [सं०] अगस्त का वृक्ष।

वंका-संज्ञा स्त्री० [सं०] चारजामे की अगली मेंढी।

वंकाटक-संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्वत का नाम।

वंकाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] बंगाल की प्राचीन राजधानी का नाम जिसके कारण उस देश का बंगाल नाम पड़ा। (राजतरंगिणी)

वंकिम-वि० [सं०] ईषत् वक्र। कुछ टेढ़ा या झुका हुआ। बाँका।

वंकिल-संज्ञा पुं० [सं०] कंटक। काँटा।

वंक्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पशुओं की पसली की हड्डी। (२) काँड़ी। कड़ी। (३) प्राचीन काल का एक प्रकार का बाजा।

वंक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] मूत्राशय और जंघास्थल का संधि स्थान। वह स्थान जो पेड़ और जाँघ के बीच में है और जहाँ 'वर्ध्म' नामक रोग की गाँठ निकला करती है।

वंक्षु-संज्ञा स्त्री० [सं०] आवसस नदी जो हिंदुकुश पर्वत से निकलकर मध्य एशिया में बहती हुई आरल समुद्र में गिरती है।

विशेष—इस नदी का नाम वेदों में कई जगह आया है। पुराणों में यह केतुमाल वर्ष की एक नदी कही गई है।

५०६

महाभारत में इसकी गणना पवित्र नदियों में की गई है। रघुवंश की प्राचीन प्रतियों में भी रघु के दिग्विजय के अंतर्गत इस नदी का उल्लेख है और इसके किनारे हूणों की बस्ती कही गई है।

वंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मगध या बिहार के पूर्व पड़नेवाला प्रदेश। बंगाल।

विशेष—ऋग्वेद में सब से पूर्व पड़नेवाले जिस प्रदेश का उल्लेख है, वह "कीकट" (मगध) है। अथर्वसंहिता में 'अंग' देश का भी नाम मिलता है। संहिताओं में 'वंग' नाम नहीं मिलता। ऐतरेय आरण्यक में ही सब से पहले वंग देश की चर्चा आई है; और वहाँ के निवासियों की दुर्बलता और दुराहार आदि का उल्लेख पाया जाता है। बात यह है कि संहिता काल में कीकट और वंग देश में अनाय्यों का ही निवास था। आर्य लोग वहाँ तक न पहुँचे थे। बौद्ध-यन धर्मसूत्र में लिखा है कि वंग, कलिंग, पुंड्र आदि देशों में जानेवाले को लौटने पर पुनस्तोम यज्ञ करना चाहिए। मनुस्मृति में तीर्थ यात्रा के लिये जाने की आज्ञा है। इससे जान पड़ता है कि उस समय आर्य वहाँ बस गए थे। शतपथ ब्राह्मण के समय में मिथिला में विदेह वंश प्रतिष्ठित था। रामायण में प्राग्ज्योतिषपुर (रंगपुर से लेकर भासाम तक प्राग्ज्योतिष प्रदेश कहलाता था) की स्थापना का उल्लेख है।

महाभारत (आदि पर्व) में लिखा है कि क्षत्रिय राजा बलि को कोई संतति न हुई। तब उन्होंने अंधे दीर्घतमा ऋषि द्वारा अपनी रानी के गर्भ से पाँच पुत्र उत्पन्न कराए, जिनके नाम हुए—अंग, वंग, कलिंग, पुंड्र और सुह। इन्हीं के नाम पर देशों के नाम पड़े।

(२) राँगा नाम की धातु। (३) राँगे का भस्म। (४) कपास। (५) बैंगन। भंडा।

वंगज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिंदूर। (२) पीतल।

वि० (१) बंगाल में उत्पन्न होनेवाला। (२) बंगाली।

वंगजीवन-संज्ञा पुं० [सं०] चाँदी।

वंगन-संज्ञा पुं० [सं०] बैंगन।

वंगमल-संज्ञा पुं० [सं०] सीसा नामक धातु। प्राचीनों की यह धारणा थी कि राँगा और सीसा दोनों एक ही धातु हैं और वे सीसे को राँगे का मल समझते थे।

वंगसेन-संज्ञा पुं० [सं०] लाल फूलवाला अगस्त।

वंगारि-संज्ञा पुं० [सं०] हरताल।

वंगाली-संज्ञा स्त्री० [हि० बंगाल] भैरव राग की एक रागिनी।

विशेष—यह ओढ़न जाति की है और इसमें ऋषभ तथा धैवत

स्वर नहीं लगते। कलिनाथ के मत से यह संपूर्ण जाति की है और इसमें दो बार मध्यम आता है।

वंगाष्टक-संज्ञा पुं० [सं०] एक रसौषध जिसमें राँगा आदि आठ धातुएँ एक साथ मिलाकर फूँकी जाती हैं। यह प्रमेह रोग पर दिया जाता है।

विशेष—पारा, गंधक, लोहा, चाँदी, खपरिया, अभ्रक और ताँबा बराबर लेकर जितना सब हो, उतना राँगा लेकर सब को एक साथ मर्दन करके गजपुट द्वारा फूँकते हैं। जब भस्म हो जाता है, तब उसको वंगाष्टक कहते हैं। वंगाष्टक की मात्रा दो रत्ती है; और मधु, हलदी के चूर्ण तथा आमले के रस में इसे खाते हैं।

वंगेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रसिद्ध रस।

विशेष—पारे का भस्म ८ तोला, वंग का भस्म ८ तोला, ताँबे का भस्म ३२ तोला और गंधक ३२ तोला लेकर मदार के दूध में मलकर फिर पिंडी बनाकर भूधर यंत्र द्वारा फूँकते हैं। जब भस्म हो जाता है, तब उसे वंगेश्वर कहते हैं। इसकी मात्रा २ रत्ती है। इसे रुद्धोदर रोग में घी के साथ देते हैं; और ऊपर से पुनर्नवा का रस और गोमूत्र या हल्दी का रस पिलाते हैं।

वंचक-वि० [सं०] (१) धूर्त। धोखेबाज़। ठग। (२) खल।

संज्ञा पुं० (१) गीदड़। (२) सौंधियार। (३) चोर। ठग।

वंचन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० वंचित] धोखा देना या खाना। धूर्तता। ठगी।

वंचना-संज्ञा स्त्री० [सं०] धोखा। जाल। फ़रेब। छल।

ॐ क्रि० स० [सं० वंचन] धोखा देना। ठगना। उ०—
दंभ विलोक्यो कलह जो, दिल्ली नगरी जाइ। वंचतु जग
जैसे फिरतु मो पै बरनि न जाइ।—केशव।

† क्रि० स० [सं० वंचन] पढ़ना। वाँचना।

वंचित-वि० [सं०] (१) धोखे में आया हुआ। जो ठगा गया हो। (२) अलग किया हुआ। (३) विमुख। अलग। हीन। रहित। जैसे,—मैं इस कृपा से वंचित रखा गया हूँ।

वंचुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बेंत। (२) तिनिश का पेड़। (३) अशोक का पेड़। (४) स्थलपद्म। (५) एक प्रकार के पक्षी का नाम।

वंचुला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुधारी गाय। (२) एक नदी का नाम जो मत्स्यपुराणानुसार सद्योजि पर्वत से निकलती है।

वंचुलावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम जो दक्षिण के एक पर्वत से निकलती है।

वंट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भाग। बाँट। (२) हँसिया आदि की मूठ। बेंठ। (३) जिसकी पूँछ न हो या कट गई हो। लँहूरा। बाँड़ा। (४) अविवाहित पुरुष।

वंटक-संज्ञा पुं० [सं०] भाग। बाँट।

वि० बाँटनेवाला। विभाजक।

वंटाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शूरो का युद्ध। (२) नौका। (३) खोदने का औज़ार। खनती।

वंट-वि० [सं०] जिसका कोई अंग खंडित हो। हीनांग। जैसे—
लूला, लँहूरा, खंजा आदि।

संज्ञा पुं० (१) अविवाहित पुरुष। (२) दास। (३) वामन। बौना। (४) कुंत। भाला।

वंडर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ताड़ के वृक्ष का कोंपल। (२) बाँस के कले का वह मोटा पत्ता जो उसे छिपाए रहता है। यह पत्ता गाँठ गाँठ पर होता है और बहुत कड़ा तथा भूरे रंग का होता है। (३) कुत्ते की पूँछ। (४) वह रस्सी जिससे बकरी, गाय आदि को गले से बाँधते हैं। (५) स्तन। धन। (६) मेघ। (७) कुत्ता।

वंडाल-संज्ञा पुं० दे० “वंडाल”।

वंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसकी लिंगेन्द्रिय के अग्र भाग पर वह चमड़ा न हो, जो सुपारी को ढँके रहता है। (२) ध्वजभंग नामक रोग।

पर्याय—दुश्चर्मा। द्विनधक। शिपिविष्ट।

वि० बाँड़ा। हीनांग।

वंडर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मक्खीचूस। सूम। कंजूस। (२) वह नपुंसक जो अंतःपुर का रक्षक हो। खोजा।

वंडा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुंश्चली स्त्री।

वंदन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्तुति और प्रणाम। पूजन।

विशेष—वंदन षोडशोपचार पूजन में है। यह समस्त पद के अंत में ‘वंदन’ शब्द से पूजित या पूज्य का अर्थ देता है। जैसे,—जगवंदन।

(२) शरीर पर बनाए हुए तिलक आदि चिह्न। (३) एक विष का नाम। (४) एक असुर का नाम। (५) एक ऋषि का नाम। (६) वंदाक। बाँदा।

वंदनमाल, वंदनमाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] वंदनवार।

वंदनवार-संज्ञा स्त्री० [सं० वंदनमाल] वह माला जो सजावट के लिये घरों के द्वार पर या मंडप के चारों ओर उत्सव के समय बाँधी जाती है। उ०—सेजहि सुधारैं एक, रोसनी उज्यारैं एक, बाँधती वंदनवारैं द्वारैं फूल बगारी को।—राम।

विशेष—इस माला में फूल पत्तियाँ गुंथी रहती हैं। यज्ञादि में आम के पल्लव गुंथे जाते हैं।

वंदना-संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० वंदित, वंदनीय] (१) स्तुति।

(२) प्रणाम। वंदन। (३) वह तिलक जो होम के भस्म से यज्ञ के अंत में लगाया जाता है।

वंदनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्तुति। (२) जीवातु नामक ओषधि। (३) गोरोचन। (४) तिलकादि चिह्न जो शरीर पर बनाए जाते हैं। (५) याचनाकर्म। (६) वंदी।

वन्दनीय-वि० [सं०] वन्दना करने योग्य । आदर करने योग्य ।
वन्दा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दूसरे पेड़ों के ऊपर उसी के रस से पलने-
वाला एक प्रकार का पौधा । वन्दाक । वन्दा ।

पर्या०—वृक्षादनी । वृक्षरहा । वन्दाका । जीवन्तिका । शेखरी ।
सेन्या । वन्दका । वन्दक । नीलवल्ली । वन्दाकी । परवासिका ।
वशिनी । पुत्रिणी । वन्दा । परपुष्टा । पराश्रया । कामवृक्ष ।
केशरूपा । गन्धमादनी । कामिनी । श्यामा । कामवृक्ष ।

विशेष—इसका स्वाद तिक्त होता है; और वैद्यक में यह कफ,
पित्त तथा श्रम को दूर करनेवाला कहा गया है ।

वन्दारु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्तोत्र । (२) बाँदा । वन्दाक ।

वि० वन्दनशील ।

वन्दिग्राह-संज्ञा पुं० [सं०] डाकू ।

वन्दित-वि० [सं०] पूज्य । आदरणीय ।

वन्दी-संज्ञा पुं० दे० “वदी” ।

वन्दीक-संज्ञा पुं० [सं०] इन्द्र ।

वन्दीगृह-संज्ञा पुं० [सं०] कैदखाना ।

वन्दीजन-संज्ञा पुं० [सं०] राजाओं आदि का यश वर्णन करनेवाली
एक प्राचीन जाति ।

वन्दी-वि० [सं०] वन्दना करने योग्य । वन्दनीय । आदरणीय ।
पूजनीय ।

वन्धु-संज्ञा पुं० दे० “वन्धु” ।

वन्धुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रथ या गाड़ी का आश्रय जिसमें
दोनों हारसे और धुरा प्रश्न हैं । (२) गाड़ी में का वह स्थान
जहाँ सारथी या गाड़ीवान बैठकर उसे चलाता है ।

वन्श-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाँस । (२) बँडेर । (३) पीठ की
हड्डी । (४) नाक के ऊपर की हड्डी । बाँसा । (५) बाँसुरी ।
(६) एक प्रकार की ईख । (७) खड्ग के बीच का वह भाग
जो ऊँचा होता है; अर्थात् जहाँ पर वह अधिक चौड़ा होता
है । (८) बारह हाथ का एक मान । (९) बाहु आदि की
लम्बी हड्डियाँ । (१०) युद्ध की सामग्री । जैसे, रथ, ध्वजा
इत्यादि । (११) बिष्णु । (१२) वंशलोचन । (१३) फूल ।

थौ०—वंशज । वंशकृत् । वंशक्षय । वंशच्छेद इत्यादि ।

वंशऋषि-संज्ञा पुं० [सं०] वे ऋषि जिनके नाम वंश ब्राह्मण में
आए हैं ।

वंशकज-संज्ञा पुं० [सं०] काले अगर की लकड़ी । कृष्णागुरु ।

वंशक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अगर नामक गंध द्रव्य । अगरु ।
(२) एक प्रकार की मछली । (३) एक प्रकार का गन्ना या
ईख ।

विशेष—वैद्यक में इसे शीतल, मधुर, स्निग्ध, पुष्टिकारक,
सारक, वृष्य और कफनाशक लिखा है । इसके रस का
स्वाद कुछ खारीपन लिए और भारी होता है । इसे
'कडुअस' कहते हैं ।

(४) छोटी जाति का बाँस ।

वंशकपूर-संज्ञा पुं० [सं० वंशकपूर] बंसलोचन ।

वंशकफ-संज्ञा पुं० [सं०] सेमल आदि का घूआ जो आकाश में उड़ता
फिरता है ।

वंशकर-संज्ञा पुं० [सं०] वह पुरुष जिससे किसी वंश का आरंभ
हुआ हो । मूलपुरुष ।

वंशकरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मार्कंडेयपुराणानुसार एक नदी जो
महेंद्र पर्वत से निकलती है । वंशधरा ।

वंशकार-संज्ञा पुं० [सं०] गंधक ।

वंशक्षीरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बंसलोचन ।

वंशघटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] दिव्यावदान के अनुसार एक प्रकार
का खेल ।

वंशज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाँस का चावल । (२) पुत्र । (३)
कुल में उत्पन्न पुरुष । संतान । संतति । औलाद ।

वंशजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बंसलोचन । (२) कन्या ।

वंशतिलक-संज्ञा पुं० [सं०] एक छंद का नाम ।

वंशधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुल में उत्पन्न । वंशज । संतति ।
संतान । (२) वंश की मर्यादा रखनेवाला ।

वंशधरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी जो महेंद्र पर्वत से निकली
है । यह नदी मध्य प्रदेश में है । इसे वंशकरा भी कहते हैं ।
इसका आधुनिक नाम वंशधारा है ।

वंशधान्य-संज्ञा पुं० [सं०] बाँस का चावल ।

वंशनर्ती-संज्ञा पुं० [सं० वंशनर्त्तिन्] भाँड़ ।

वंशनाश-संज्ञा पुं० [सं०] कलित ज्योतिष के अनुसार एक योग
जो शनि और राहु के सूर्य के साथ एक लग्न में, विशेषतः
पंचम में, पड़ने पर होता है ।

वंशनेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] ईख के अँकुरवाले डंडल जिन्हें जमीन में
गाड़ने से ईख का नया पौधा उत्पन्न होता है । आँखा ।

वंशपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] हरताल ।

वंशपत्रक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार की ईख जो सफेद
होती है । (२) एक प्रकार की मछली । (३) हरताल ।

वंशपत्रपतित-संज्ञा पुं० [सं०] एक छंद का नाम ।

वंशपत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की हींग । (२) एक
घास जिसे बाँसा कहते हैं । इसकी पत्तियाँ बाँस की पत्तियों
से मिलती हैं । वैद्यक में यह शीतल, मधुर, रुचिकारी तथा
रक्त पित्त के दोषों को शांत करनेवाली कही गई है ।

पर्या०—वंशदला । जीरिका । जीर्णपत्रिका । वेणुपत्री । पिंडा ।
शिराटिका ।

वंशपीत-संज्ञा पुं० [सं०] गुग्गुलु ।

वंशब्राह्मण-संज्ञा पुं० [सं०] सामवेद के ब्राह्मणों में एक प्रधान
ब्राह्मण, जिसमें सामवेदी ब्राह्मणों के वंशकार ऋषियों की
नामावली है ।

वंशरोचना-संज्ञा स्त्री० [सं०] वंशलोचन ।

वंशलोचन-संज्ञा पुं० [सं०] वंशलोचन ।

पर्याय—त्वक्षीरा । वंशलोचना । तुगाक्षीरी । वांशी ।

वंशजा । क्षीरिका । तुंगा । त्वक्षीरी । शुभा । शुभा ।

वंशक्षीरी । त्वक्षारा । कर्मरी । श्वेता । वंशकर्पूर । रोचना ।

रोचनिका । पिंगा । वंशशर्करा । वेणुलवण । वैणवी ।

वंशलोचना-संज्ञा स्त्री० [सं०] वंशलोचन ।

वंशशर्करा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वंशलोचन ।

वंशशलाका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बीन, सितार आदि बाजों का डंडा ।

वंशस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] बारह वर्णों का एक वर्णवृत्त जिसका व्यवहार संस्कृत काव्यों में अधिक मिलता है । इसमें जगण, तगण, जगण और रगण आते हैं । जैसे,—प्रथा जु वंशस्थ विलंबि धावती । नसाय तीनों कुल को लजावती । इसे 'वंशस्थविल' भी कहते हैं ।

वंशहीन-वि० [सं०] (१) जिसके वंश में कोई न हो । निर्वंश । (२) अपुत्र ।

वंशानुचरित-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन राजवंशों की कथा ।

विगण—यह पुराणों के लक्षणों में से एक है ।

वंशावली-संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी वंश में उत्पन्न पुरुषों की पूर्वोत्तर क्रम से सूची ।

वंशिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अगर की लकड़ी । (२) काला गन्ना । केतारा ।

वंशिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अगर की लकड़ी । (२) वंसी । मुरली । (३) पिप्पली ।

वंशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुँह से फूँककर बजाया जानेवाला एक प्रकार का बाजा जो बाँस में सुर निकालने के लिये छेद करके बनाया जाता है । बाँसरी । मुरली ।

विशेष—पुगने ग्रंथों में लिखा है कि वंशी बाँस ही की होनी चाहिए, पर चैर, लालचंदन आदि की लकड़ी की भयवा सोने, चाँदी की भी हो सकती है । यह वास्तव में बाँस की एक पोली नली होती है, जिसके बजानेवाले छोर पर एक जीभ लगी होती है और दूसरी ओर नली के ऊपर एक पंक्ति में सुर निकलने के छेद होते हैं । मातंग ऋषि का मत है कि नली का छेद कनिष्ठा उँगली के मूल के बराबर होना चाहिए । जो छोर मुँह में रखकर फूँका जाता है, उसे 'फूँकाररंध्र' और सुर निकलनेवाले सात छेदों को 'ताररंध्र' कहते हैं । इस वंशी के अतिरिक्त मातंग के अनुसार चार प्रकार की मुगलियाँ और होती हैं, जिन्हें मदानंदा, नंदा, विजया और जया कहते हैं । मदानंदा में ताररंध्र फूँकाररंध्र से दस अंगुल पर, नंदा में ग्यारह अंगुल पर, विजया में बारह अंगुल पर और जया में चौदह अंगुल पर होते हैं । आज

कल वह वंशी जो एक साथ दो बजाई जाती है, अलगोजा कहलाती है । प्राचीन काल के गोपों में इस बाजे का प्रचार बहुत था ।

यौ०—वंशीधर ।

(२) चार कर्ष का एक मान जो आठ तोले के बराबर होता है । (३) वंशलोचन ।

वंशीधर-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण, जो वंशी बजाया करते थे वंशीय-वि० [सं०] वंशोज्ज्वल । कुल में उत्पन्न । जैसे,—चंद्र-वंशीय ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग यौगिक शब्दों के अंत में हुआ करता है ।

वंशीवट-संज्ञा पुं० [सं०] वृंदावन में वह बरगद का पेड़ जिसके नीचे श्रीकृष्ण वंशी बजाया करते थे ।

वंशीवादन-संज्ञा पुं० [सं०] वंशी बजाना ।

वंशोज्ज्वल-वि० [सं०] वंशज । कुल में उत्पन्न ।

वंशोज्ज्वल-संज्ञा स्त्री० [सं०] वंशलोचन ।

वंश्य-वि० [सं०] वंशी । वंशज ।

संज्ञा पुं० (१) पीठ की रीढ़ । (२) वह बड़ी लकड़ी जो छाजन के बीचोबीच रीढ़ के समान होती है । बँडेर ।

व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु । (२) वाण । (३) वरुण । (४) बाहु । (५) मंत्रण । (६) कल्याण । (७) सांत्वन । (८) वसति । वस्ती । (९) वरुणालय । समुद्र । (१०) शार्दूल । (११) वस्त्र । (१२) कोई का कंद । सेरकी । (१३) जल में उत्पन्न होनेवाले कंद । शालूक । (१४) वंदन । (१५) अस्त्र । (१६) खड्गधारी पुरुष । (१७) भूर्वा नामक लता । (१८) वृक्ष । (१९) कलश से उत्पन्न ध्वनि । (२०) मद्य । (२१) प्रचेता ।

वि० बलवान् ।

अव्य० [का०] और । जैसे,—राजा व रईस ।

वक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बगला नाम का पक्षी । (२) अगस्त का पेड़ या फूल । (३) एक दैत्य का नाम जिसे श्रीकृष्ण ने बाल्यावस्था में मारा था । (४) एक राक्षस जिसे भीम ने मारा था । (५) कुबेर । (६) एक यज्ञ का नाम । (७) एक जाति का नाम ।

वककच्छ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन जनपद जो नर्मदा के किनारे था ।

विशेष—कथासरित्सागर में लिखा है कि उज्जयिनी के राजा सातवाहन सर्ववर्मा ने कलाप व्याकरण का अध्ययन करके अपने गुरु को यह राज्य गुरु-दक्षिणा में दिया था ।

वकचिचिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की छोटी मल्लिका ।

वकजित्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्रीकृष्ण । (२) भीमसेन ।

वकनख-संज्ञा पुं० [सं०] विश्वामित्र के एक पुत्र का नाम ।

वक्त्रपंचक-संज्ञा पुं० [सं०] कार्तिक के शुद्ध पक्ष की एकादशी से लेकर पूर्णिमा तक की पाँच तिथियाँ।

वक्त्रयंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] आसव आदि भवके से उतारने के लिये एक यंत्र या वस्तु, जिसके मुँह पर बगले की गरदन की तरह देदी नली लगी रहती है।

वक्त्रवृत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] धोखा देकर काम निकालने की बात में रहने की वृत्ति। कदाचार।

वक्त्रव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] बगले की तरह बात में रहनेवाला। कपटी मनुष्य।

वकालत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) दूसरे के किसी काम का भार लेना। दूसरे के स्थानापन्न होकर काम करना। (२) दूसरे का सँदेसा जोर देकर कहना। दूतकर्म। (३) दूसरे के पक्ष का मंडन। दूसरे की ओर से उसके अनुकूल बातचीत करना। जैसे,—उन्हें जो कुछ कहना होगा आप कहेंगे, तुम क्यों उनकी ओर से वकालत करते हो। (४) अदालत या कचहरी में किसी मामले में वादी या प्रतिवादी की ओर से प्रश्नोत्तर या वादविवाद करने का काम। मुकदमे में किसी ज़रीफ़ की तरफ से बहस करने का पेशा।

मुहा०—वकालत चलना या चमकना = वकालत के पेशे में आम-दनी होना। **वकालत जमना** = वकालत के पेशे में लाभ होने लगना।

यौ०—वकालतनामा।

वकालतन-क्रि० वि० [अ०] वकील के द्वारा। असालतन का उलटा।

वकालतनामा-संज्ञा पुं० [अ० + फा०] वह अधिकारपत्र जिसके द्वारा कोई किसी वकील को अपनी तरफ से मुकदमे में बहस करने के लिये मुक़र्रर करता है।

वकासुर-संज्ञा पुं० [सं०] एक राक्षस का नाम।

विशेष—इस नाम के दो राक्षस हुए हैं। एक को श्रीकृष्ण ने अपनी बाल्यावस्था में मारा था। यह पूतना नाम की राक्षसी का भाई और कंस का अनुचर था। दूसरे को भीमसेन ने उस समय मारा था, जब पाँचों पांडव लाक्षा-गृह से निकलकर वन में जाकर रहते थे।

वकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक राक्षसी का नाम।

वकील-संज्ञा पुं० [अ०] (१) दूसरे के काम को उसकी ओर से करने का भार लेनेवाला। (२) दूसरे का सँदेसा ले जाकर उस पर जोर देनेवाला। दूत। (३) राजदूत। प्लची। उ०—सूरज कहीं नवाब के है आनंद सरीर। तब वकील बिनती करी कृपा पाइ जदुबीर।—सूदन। (४) प्रतिनिधि। (५) दूसरे का पक्ष मंडन करनेवाला। दूसरे की ओर से उसके अनुकूल बात करनेवाला। (६) क़ानून के अनुसार वह आदमी जिसने वकालत की परीक्षा पास की हो और जिसे

हाईकोर्ट की ओर से अधिकार मिला हो कि वह अदालतों में मुद्दई या मुद्दालैह की ओर से बहस करे।

वकुल-संज्ञा पुं० [सं०] अगस्त का पेड़ या फूल।

वकुला-संज्ञा स्त्री० [सं०] कुटकी नामक ओषधि।

वकुली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) काकोली नाम की ओषधि। (२) वकुल। मौलसिरी।

वकुआ-संज्ञा पुं० [अ०] घटित होना। प्रकट हो।

मुहा०—वकुअ में आना = प्रकट होना। घटित होना।

वकुफ़-संज्ञा पुं० [अ०] (१) जानकारी। ज्ञान। (२) बुद्धि। समझ। **यौ०—वेवकुफ़** = मूर्ख।

वक्त-संज्ञा पुं० [अ०] (१) समय। काल।

मुहा०—वक्त काटना = (१) किसी प्रकार समय बिताना। (२) जी बहलाना। **वक्त की चीज़** = (१) किसी समय या क़तु विशेष में मिलनेवाली चीज़। (२) किसी विशेष समय में गाया जानेवाला गीत या राग। जैसे,—कोई वक्त की चीज़ गाइए। **वक्त खोना** = समय नष्ट करना।

(२) किसी बात के होने का समय। अवसर। मौका।

मुहा०—वक्त पर = अवसर आने पर। कोई विशेष परिस्थिति होने पर। जैसे,—इसे रख छोड़ो, वक्त पर काम आवेगी। **वक्त ताकना** = मौका देवना। इस बात की प्रतीक्षा में रहना कि कब उपयुक्त अवसर मिले और कोई बात कहें। **वक्त हाथ से देना** = अवसर चूकना। मौका आने पर भी काम न करना।

(३) इतना समय कि कोई काम किया जा सके। अवकाश। फुरसत।

क्रि० प्र०—निकलना।—निकालना।—मिलना।

(४) भरने का नियत समय। मृत्युकाल।

क्रि० प्र०—आ जाना।—आ पहुँचना।

वक्तन् फौक़तन्-क्रि० वि० [अ०] (१) थकना। कभी कभी। (२) यथासमय।

वक्तव्य-वि० [सं०] (१) कहने योग्य। वाच्य। (२) कुछ कहने सुनने लायक। (३) हीन। तुच्छ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) कथन। वचन। (२) वह बात जो किसी विषय में कहनी हो।

वक्ता-वि० [सं० वक्तृ] (१) वाग्मी। बोलनेवाला। (२) भाषण-पटु। वदान्य।

संज्ञा पुं० कथा कहनेवाला पुरुष। व्यास। उ०—सूत तहँ कथा भागवत की कहत है कपि अठासी सहस्र हुते श्रोता। राम को देखि सनमान सब ही कियो सूत नहिं उठ्यो निज जानि वक्ता।—सूर।

वक्तृता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वाग्मिता। वाक्पटुता। (२) व्याख्यान। (३) कथन। भाषण।

वक्रत्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वक्रता। वाग्मिता। (२) व्याख्यान।
(३) कथन।

वक्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुल। (२) तगर की जड़। (३) एक प्रकार का छंद जो अनुष्टुभ छंद के अनुरूप होता है। (४) काम का आरंभ।

यौ०—वक्रज।

वक्रताल-संज्ञा पुं० [सं०] वह ताल जो मुँह से उत्पन्न किया जाय। जैसे, बंसी को बजाने से या मुँह में वायु भरकर छोड़ने से।

वक्रतुंड-संज्ञा पुं० [सं०] गणेश।

वक्रदल-संज्ञा पुं० [सं०] ताल।

वक्रबाहु-संज्ञा पुं० [सं०] वाराही कंद।

वक्रवास-संज्ञा पुं० [सं०] नारंगी।

वक्रशल्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] गुंजा। घुँघची।

वक्रासव-संज्ञा पुं० [सं०] लाल। थूक।

वक्र-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह भूमि या संपत्ति जो धर्मार्थ दान कर दी गई हो। किसी धर्म के काम में लगी हुई जायदाद।

क्रि० प्र०—करना।

(२) किसी धर्म के काम में धन आदि देना। धर्मार्थ दान।

(३) किसी के लिये कोई चीज या धन संपत्ति आदि छोड़ देना। (क०)

वक्रफुनामा-संज्ञा पुं० [अ० वक्र + फा० नामा] वह पत्र जिसके अनुसार किसी के नाम कोई चीज वक्र की जाय। दानपत्र।

वक्रफा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) अवकाश। अंतर। छुट्टी। मोहलत।

क्रि० प्र०—देना।—मिलना।

(२) काम करने से चिराम।

क्रि० प्र०—मिलना।

वक्र-वि० [सं०] (१) टेढ़ा। बाँका। ऋजु का उलटा। (२) झुका हुआ। तिरछा। (३) कुटिल। दाँव पेंच चलनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) नदी का मोड़। बाँका। (२) तगरपादुका।

(३) शनैश्चर। (४) भौम। मंगल। (५) रुद्र। (६) पर्यट।

(७) वह ग्रह जिससे तीस अंश के अंदर ही सूर्य हो।

वक्रग्रह। (८) एक राक्षस का नाम। (९) त्रिपुरासुर।

वक्रकंडक-संज्ञा पुं० [सं०] बैर का बुझ।

वक्रगति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भौम। मंगल। (२) ग्रहलाघव के अनुसार वे ग्रह जो सूर्य से पाँचवें, छठे, सातवें और आठवें हों। इस प्रकार मंगल ३६ दिन, बुध २१ दिन, बृहस्पति १०० दिन, शुक्र १२ दिन और शनि १८४ दिन वक्र होता है।

वक्रगल-संज्ञा पुं० [सं० वक्र + गला] एक प्रकार का बाजा जो मुँह से फूँककर बजाया जाता है।

वक्रगामी-वि० [सं० वक्रगामिन्] (१) टेढ़ी चाल चलनेवाला। (२) राठ। कुटिल।

वक्रगुल्फ-संज्ञा पुं० [सं०] ऊँट।

वक्रचंचु-संज्ञा पुं० [सं०] तोता। शुक्र पक्षी।

वक्रताल-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बाजा जो मुँह से बजाया जाता है। वक्रनाल।

वक्रतुंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शुक्र पक्षी। तोता। (२) गणेश।

वक्रदंष्ट्र-संज्ञा पुं० [सं०] शूकर। सूअर।

वक्रदृष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) टेढ़ी दृष्टि। (२) क्रोध की दृष्टि। (३) मंद दृष्टि।

वक्रधर-संज्ञा पुं० [हि० वक्र + धर] द्वितीया का टेढ़ा चंद्रमा धारण करनेवाले, शिव।

वक्रनक्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पिशुन। चुगलखोर। (२) शुक्र पक्षी। तोता।

वक्रनाल-संज्ञा पुं० [सं०] वक्रताल नाम का बाजा जो मुँह से फूँककर बजाया जाता है।

वक्रनासिक-संज्ञा पुं० [सं०] उल्लू।

वि० टेढ़ी नाकवाला।

वक्रपुच्छ-संज्ञा पुं० [सं०] कुत्ता।

वक्रपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अगस्त का पेड़। (२) पलाश।

वक्रय-संज्ञा पुं० [सं०] मूल्य। दाम।

वक्रशल्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कड़वा कद्दू या घीया। (२) लाल फूल की विषलांगली।

वक्रांग-वि० [सं०] जिसका अंग टेढ़ा हो।

संज्ञा पुं० (१) हंस। (२) सर्प। साँप।

वक्रित-वि० [सं०] जो टेढ़ा हो गया हो।

वक्रिम-वि० [सं०] टेढ़ा। कुटिल।

वक्री-वि० [सं० वक्रिन्] अपने मार्ग को छोड़कर पीछे लौटने-वाला।

विशेष—फलित ज्योतिष में जो ग्रह अपनी राशि से एक बारगी दूसरी राशि में चला जाता है, उसे अतिवक्रि या महावक्रि कहते हैं। यह वक्रता मंगल आदि पाँच ग्रहों में ही होती है। वि० दे० “वक्रगति”।

संज्ञा पुं० (१) वक्र ग्रह। (२) वह प्राणी जिसके अंग जन्म से टेढ़े हों। (३) बुद्धदेव, जिन्होंने टेढ़ी युक्तियों से वैदिक मत का विरोध किया था।

वक्रोक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का काव्यालंकार जिसमें काकु या श्लेष से वाक्य का और का और अर्थ किया जाता है। (२) काकृति। (३) वह उक्ति जिसमें चमत्कार हो। बढ़िया उक्ति।

विशेष—किसी किसी आचार्य (जैसे “वक्रोक्तिजीवितम्” के कर्ता) ने वाक्चातुर्य को ही काव्य की आत्मा कह दिया है, जिसका और आचार्यों ने खंडन किया है।

वक्रोष्ठिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] ऐसी मंद हँसी जिसमें दाँत न खुलें, केवल ओंठ कुछ टेढ़े हो जायें। मुसकान। स्मित।

वक्रस्—संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का मद्य।

वक्ष—संज्ञा पुं० [सं० वक्ष्] (१) पेट और गले के बीच में पड़नेवाला भाग जिसमें स्त्रियों के स्तन और पुरुषों के स्तन के से चिह्न होते हैं। छाती। उरस्थल। (२) बैल।

वक्षःस्थल—संज्ञा पुं० [सं०] उर। छाती।

वक्षी—संज्ञा स्त्री० [सं०] अग्निशिखा।

वक्षु—संज्ञा पुं० दे० “वक्षु”।

वक्षोग्रीव—संज्ञा पुं० [सं०] विश्वामित्र के एक पुत्र का नाम।

वक्षोज—संज्ञा पुं० [सं०] स्तन। कुच।

वक्षुरुह—संज्ञा पुं० [सं०] स्तन। कुच।

वक्ष्यमाण—वि० [सं०] (१) वाच्य। वक्तव्य। (२) जिसे कह रहे हों। जो कथन का प्रस्तुत विषय हो।

वगलामुखी—संज्ञा स्त्री० [सं०] दस महाविद्याओं में से एक जिनकी पूजा का महत्त्व तंत्रों में वर्णित है।

वगैरह—अव्य० [सं०] एक अव्यय जिसका अर्थ यह होता है कि “इसी प्रकार और भी समझिए”। इत्यादि। आदि। जैसे,—बैल, ऊँट, हाथी वगैरह बहुत से जानवर वहाँ आए थे।

विशेष—इसका प्रयोग वस्तुओं को गिनाने में उनके नामों के अंत में संक्षेप या लाघव के लिये होता है।

वचंडी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सारिका। मैना। (२) बत्ती। (३) एक शस्त्र का नाम।

वच—संज्ञा पुं० [सं०] (१) तोता। शुक्र पक्षी। (२) सूर्य। (३) कारण।

संज्ञा पुं० [सं० वच्, वचन] वचन। वाक्य।

वचद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनुष्य के मुँह से निकला हुआ सार्थक शब्द। वाणी। वाक्य।

पर्या०—हरा। सरस्वती। ब्राह्मी। भाषा। गिरा। गीर्देवी।

भारती। वाचा। वर्णमातृका। व्याहार। लपित।

(५) कही हुई बात। कथन। उक्ति।

यौ०—वचनबद्ध। वचनगुप्ति।

(३) व्याकरण में शब्द के रूप में वह विधान जिससे एकत्व या बहुत्व का बोध होता है। हिंदी में दो ही वचन होते हैं—एकवचन और बहुवचन। पर कुछ और प्राचीन भाषाओं के समान संस्कृत में एक तीसरा वचन द्विवचन भी होता है।

वचनकारी—वि० [सं०] आज्ञाकारी।

वचनगुप्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] जैन धर्म के अनुसार वाणी का ऐसा संयम जिससे वह अशुभ वृत्ति में प्रवृत्त न हो।

वचनलक्षिता—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह परकीया नायिका जिसकी बातचीत से उसका उपपत्ति से प्रेम लक्षित या प्रकट होता हो। उ०—अंगन की छवि भूषण की रघुनाथ सराहि सबै सियरातें। अपनी प्रीति, मया उनकी प्रगटी प्रगटे सुख के हियरातें। काहे को आजु छिपावति हौ हमसों करि ये वतु-राई की बातें। मैं निज कान सुनी जो कही यह काहिद सखी सों गोपाल की बातें।

वचनविदग्धा—संज्ञा स्त्री० [सं०] नायिकाओं का एक भेद। वह परकीया नायिका जो अपने वचन की चतुराई से नायक की प्रीति का साधन करती हो। उ०—जब लौं घर को धनी आवै धरै तब लौं तो कहूँ चित देवो करो। पदमाकर ये बछरा अपने बछरान के संग चरैवो करो। अर औरन के घर तैं हम सों तुम दूनी दुहावन लैवो करो। नित साँझ सकारे हमारी हहा! हरि गैयन को दुहि जैवो करो।—पद्माकर।

वचनीय—वि० [सं०] कथनीय।

संज्ञा पुं० निंदा। शिकायत।

वचर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुक्कुट। (२) शठ।

वचा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वच नाम की ओषधि। वि० दे० “वच”। (२) सारिका पक्षी। मैना।

वच्छ—संज्ञा पुं० [सं० वक्ष्, प्रा० वच्छ] उर। छाती।

वज्रन—संज्ञा पुं० [अ०] (१) भार। बोझ। (२) तौल। (३) मान। भय्यादा। गौरव।

क्रि० प्र०—रखना।

वज्रनी—वि० [अ० वज्रन + ई] (१) जिसका बहुत बोझ हो। भारी। (२) जिसका कुछ असर हो। मानने योग्य।

वज्रह—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) कारण। हेतु। (२) प्रकृति। (३) तत्त्व।

वज्रा—संज्ञा स्त्री० [अ० वज्र] (१) संघटन। बनावट। रचना। (२) चालढाल। सजधज। (३) रूप। आकृति। (४) दशा। अवस्था। (५) रीति। प्रणाली। (६) मुजरा। मिनहा। कटती।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

वज्राहार—वि० [अ० वज्रा + हार] जिसकी बनावट या गठन आदि बहुत अच्छी हो। तरहदार। दर्शनीय।

वज्रादारी—संज्ञा स्त्री० [अ० + दार] (१) कपड़े वगैरह पहनने का सुंदर ढंग। फैशन। (२) सजावट का उत्तम ढंग। (३) किसी प्रकार की मर्यादा आदि का भली भाँति निर्वाह।

वज्रारत—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मंत्री या अमात्य का पद। वजीरी। (२) मंत्री या अमात्य का कार्य। (३) अमात्य का कार्यालय।

वज्रीफा—संज्ञा पुं० [व०] (१) वृत्ति । (२) वह वृत्ति या आर्थिक सहायता जो विद्वानों, छात्रों, संन्यासियों, दीनों या बिगड़े हुए रहस्यों आदि को दी जाती है । (३) वह जप या पाठ जो नियमपूर्वक प्रति दिन किया जाता है । (मुसलमान)

क्रि० प्र०—पढ़ना ।

वज्रीफादार—वि० [व० वज्रीफा + फा० दार] वज्रीफा पानेवाला ।

वज्रीर—संज्ञा पुं० [व०] (१) वह जो बादशाह को रियासत के प्रबंध में सलाह या सहायता दे । मंत्री । अमात्य । दीवान । (२) शतरंज की एक गोरी, जो बादशाह से छोटी और शेष सब मोहरों से बड़ी होती है । यह गोटी आगे, पीछे, दाहिने, बाएँ और तिरछे जिधर चाहे, उधर और जितने घर चाहे, उतने घर चल सकती है ।

वज्रीरी—संज्ञा स्त्री० [व०] वज्रीर का काम या पद ।

संज्ञा पुं० घोड़ों की एक जाति जो बलूचिस्तान में पाई जाती है । इस जाति के घोड़े बड़े परिश्रमी और दौड़ने में बहुत तेज होते हैं । इनके कंधे ऊँचे और पुट्टे चौड़े होते हैं ।

वज्र—संज्ञा पुं० [व० वज्र] नमाज़ पढ़ने के पूर्व शौच के लिये हाथ पाँव आदि धोना । (मुसलमानों का नियम है कि नमाज़ पढ़ने के पूर्व वे पहले तीन बार हाथ धोते, फिर तीन बार कुली करके नथनों में पानी देते हैं । फिर मुँह धोकर कुहनियों तक हाथ धोते हैं, और सिर पर पानी लगे हाथ फेरते हैं । अंत में पाँव धोते हैं । इसी आचार का नाम वज्र है) । उ०—आ भो वज्र व मजन कीन्हे का मसजिद सिर नायें । हृदया कपट निमाज गुजारै का भो मक्का जायें ।—कबीर ।

क्रि० प्र०—करना ।

वज्रद—संज्ञा पुं० [व०] (१) सत्ता । अस्तित्व । (२) शरीर । देह । (३) सृष्टि । (४) प्रकट या घटित होना । अभिव्यक्ति ।

मुहा०—वज्रद पकड़ना = प्रकट होना । अस्तित्व में आना । वज्रद में आना = उत्पन्न होना । प्रकट होना । वज्रद में लाना = उत्पन्न करना ।

वज्रहात—संज्ञा स्त्री० [व० वज्रहात का बहु० रूप] कारणों का समूह ।

विशेष—यह बहुवचन शब्द है; और इसका प्रयोग भी सदा बहुवचन में ही होता है ।

वज्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार भाले के फल के समान एक शस्त्र जो इंद्र का प्रधान शस्त्र कहा गया है ।

विशेष—इसकी उत्पत्ति की कथा ब्राह्मण ग्रंथों और पुराणों में लिखी हुई है । ऋग्वेद में उल्लेख है कि दधीचि ऋषि की हड्डी से इंद्र ने राक्षसों का ध्वंस किया । ऐतरेय ब्राह्मण में इसका इस प्रकार विवरण है । दधीचि जब तक जीते थे, तब तक असुर उन्हें देखकर भाग जाते थे । पर जब वे मर गए, तब असुरों ने उत्पात मचाना आरंभ किया । इंद्र दधीचि

ऋषि की खोज में पुष्कर गए । वहाँ पता चला कि दधीचि का देहावसान हो गया । इस पर इंद्र उनकी हड्डी ढूँढ़ने लगे । पुष्कर क्षेत्र में उनके सिर की हड्डी मिली । उसी का वज्र बनाकर इंद्र ने असुरों का संहार किया । भागवत में लिखा है कि इंद्र ने वृत्रासुर का वध करने के लिये दधीचि से वज्र बनवाया था । मत्स्यपुराण के अनुसार जब विश्वकर्मा ने सूर्य को भ्रमयंत्र (खराद) पर चढ़ाकर खरादा था, तब छिलकर जो तेज निकला था, उसी से विष्णु का चक्र, रुद्र का शूल और इंद्र का वज्र बना था । वामनपुराण में लिखा है कि इंद्र जब दिति के गर्भ में घुस गए थे, तब वहाँ उन्हें बालक के पास ही एक मांस पिंड मिला था । इंद्र ने जब उसे हाथ में लेकर दबाया, तब वह लंबा हो गया और उसमें सौ गाँठें दिखाई पड़ीं । वही पीछे कठिन होकर वज्र बन गया । इसी प्रकार और और पुराणों में भी भिन्न भिन्न कथाएँ हैं ।

पर्या०—ह्लादिनी । कुलिश । भिदुर । पवि । शतकोटि । स्वर । शंब । दंभोलि । अशनि । स्वरसू । जंभारि । शतार । शतधार । आपोत्र । अक्षज । गिरिकंटक । गो । अभ्रोत्थ । दंभ इत्यादि ।

वैदिक निवृत्त के अनुसार—विद्युत् । नेमि । हेति । नम । पवि । सूक् । वृक । वध । अर्क । कुत्स । कुलिश । तुज । तिग्म । मेनि । स्वधिति । सायक । परशु ।

(२) विद्युत् । बिजली ।

क्रि० प्र०—गिरना ।—पढ़ना ।

मुहा०—वज्र पड़े = देव से भारी वंद मिले । सत्यानाश हो । (लियाँ)

(३) हीरा । (४) एक प्रकार का लोहा । फौलाद ।

विशेष—वैद्यक के ग्रंथों में वज्रलौह के अनेक भेद कहे गए हैं । यथा—नीलपिंड, अरुणाभ, मोरक, नागकेसर, तित्तिरांग, स्वर्णवज्र, शैवालवज्र, शोणवज्र, रोहिणी, कांकोल, ग्रंथिवज्रक और मदन ।

(५) भाला । बरछा । उ०—हरन रुक्मिणी होत है, दुहुँ ओर भइ भीर । अति अघात, कछु नाहिंन सूझत, वज्र चल्हिं ज्यों नीर ।—सूर । (६) ज्योतिष में २२ व्यतीपात योगों में से एक । (७) वास्तु विद्या के अनुसार वह स्तंभ (खंभा) जिसका मध्य भाग अष्टकोण हो । (८) विष्णु के चरण का एक चिह्न । (९) अभ्रक । (१०) कोकिलाक्ष वृक्ष । (११) श्वेत कुश । (१२) काँजी । (१३) वज्रपुष्प । (१४) धात्री । (१५) यूहर का पेड़ । सेहुँड़ । (१६) कृष्ण के एक प्रपौत्र जो अनिरुद्ध के पुत्र थे । (१७) विश्वामित्र के एक पुत्र का नाम । (१८) बौद्ध मत में चक्राकार चिह्न । (१९) अकलबीर नाम का पौधा ।

वि० (१) वज्र के समान कठिन । बहुत कड़ा या मजबूत ।

अत्यंत दृढ़ और पुष्ट । जैसे,—यह मसाला चूब सूखेगा, तब वज्र हो जायगा । (२) घोर । दारुण । भीषण । उ०—वज्र अग्नि विरहिनि हिय जारा । सुलगि सुलगि दहि कै भइ उारा ।—जायसी ।

वज्रकंद-संज्ञा पुं० [सं०] हनुमान का एक नाम ।

वज्रकंदक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्नुही वृक्ष । थूहर । सेहूँड़ । (२) कोकिलाक्ष वृक्ष ।

वज्रकंदशाल्मली-संज्ञा पुं० [सं०] भागवत पुराण के अनुसार अट्टाईस नरकों में से एक नरक का नाम ।

वज्रकंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जंगली सुरन या जिमीकंद । (२) शकरकंद । कंद । (३) ताल के वृक्ष का फूल ।

वज्रक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वज्रधार । (२) कलित ज्योतिष के अनुसार सूर्य के आठ उपग्रहों में से एक, जो सूर्य से सेईसवाँ नक्षत्र होता है ।

वज्रकपाली-संज्ञा पुं० [सं० वज्रकपालिन्] बौद्धों की महायान शाखा के अनुसार एक बुद्ध का नाम ।

वज्रकारक-संज्ञा पुं० [सं०] नख नामक सुगंधित द्रव्य ।

वज्रकालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बुद्ध की माता मायादेवी का एक नाम ।

वज्रकीट-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कीड़ा जो पत्थर या काठ को काटकर उसमें छेद कर देता है ।

विशेष—कहते हैं कि गंडक नदी में इन कीटों के द्वारा काटी हुई शिला ही शालग्राम की बटिया बन जाती है ।

वज्रकूट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक पर्वत का नाम । (२) हिमालय की चौटी पर का एक प्राचीन नगर ।

वज्रकेतु-संज्ञा पुं० [सं०] मार्कंडेय पुराण के अनुसार एक राक्षस जो नरक का राजा था ।

वज्रक्षार-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक रसायन योग जिसका व्यवहार गुल्म, शूल, अजीर्ण, शोथ तथा मंदाग्नि आदि उदर रोगों में होता है ।

विशेष—साँभर, सैंधव, काच और सौवर्चल लवण तथा जवाखार और सजी सम भाग लेकर चूर्ण करते हैं; और उस चूर्ण को थूहर के दूध में भिगोकर तीन दिन तक छाया में सुखाते हैं । इसके उपरांत उस चूर्ण को आक (मदार) के पत्तों में लपेटकर एक घड़े में गजपुट द्वारा फूँकते हैं । जब वह भरम हो जाता है, तब उसमें सोंठ, मिच, पीपल, त्रिफला, अजवायन, जीरा और चित्रक (चीता) का चूर्ण उतना ही मिलाकर खरल कर लेते हैं और दो टंक मात्रा में सेवन कराते हैं । इसका अनुपान उष्ण जल, गोमूत्र, घी या काँजी है ।

वज्रगर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों की महायान शाखा के अनुसार एक बोधिसत्व का नाम ।

४१०

वज्रगोप-संज्ञा पुं० [सं०] वीरबहूटी नाम का कीड़ा । इंद्रगोप । वज्रचर्मा-संज्ञा पुं० [सं० वज्रचर्मन्] गेंडा ।

वज्रज्वाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विरोचन देव की पौत्री का नाम । (२) कुंभकर्ण की पत्नी ।

वज्रडाकिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] महायान शाखा के तांत्रिक बौद्धों को उपास्य डाकिनियों का एक वर्ग, जिसके अंतर्गत ये आठ डाकिनियाँ मानी जाती हैं—लास्या, साला, गीता, नृत्या, पुष्पा, धूपा, दीपा और गंधा । इनकी पूजा तिब्बत में होती है ।

वज्रतुंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गरुड़ । (२) गणेश । (३) गीध । (४) मशक । मच्छड़ । (५) थूहर । सेहूँड़ ।

वज्रदंड-संज्ञा पुं० [सं०] एक अस्त्र का नाम जिसे इंद्र ने अर्जुन को प्रदान किया था ।

वज्रदंत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चूहा । (२) सूअर ।

वज्रदंती-संज्ञा स्त्री० [हि० वज्र + दंत] एक प्रकार का पेड़ या पौधा ।

विशेष—इसकी दंतुवन अच्छी होती है और वैद्यक में इसकी जड़ वमनकारक कही गई है ।

वज्रदंष्ट्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्रगोप नाम का कीड़ा । वीर-बहूटी । (२) भागवत के अनुसार एक असुर का नाम ।

वज्रदुम-संज्ञा पुं० [सं०] थूहर का वृक्ष । स्नुही । सेहूँड़ ।

वज्रधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र । (२) बौद्धों की महायान शाखा के अनुसार आदि बुद्ध ।

विशेष—तिब्बत के तांत्रिक बौद्ध मतानुसार ये प्रधान बुद्ध, प्रधान जिन, गुह्यपति तथा सब तथागतों के प्रधान मंत्री आदि, अनंत और वज्रसत्त्व हैं । अपदेवताओं ने इनसे द्वार मानकर प्रतिज्ञा की थी कि बौद्ध धर्म के विरुद्ध कभी प्रयत्न न करेंगे ।

वज्रनख-संज्ञा पुं० [सं०] नृसिंह ।

वज्रनाभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्कंद के एक अनुचर का नाम । (२) एक दानवराज । (३) राजा उदय के पुत्र का नाम ।

वज्रपाणि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र । (२) ब्राह्मण । (३) बौद्धशास्त्रानुसार एक प्रकार की देवयोनि । (४) एक बोधिसत्व । ध्यानी बोधिसत्व ।

वज्रप्रभ-संज्ञा पुं० [सं०] एक विद्याधर का नाम ।

वज्रबाहु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र । (२) रुद्र । (३) अग्नि ।

वज्रभैरव-संज्ञा पुं० [सं०] महायान शाखा के बौद्धों के एक देवता, जिन्हें भूटान में 'यमांतक शिव' कहते हैं । इनके अनेक मुख और हाथ माने जाते हैं ।

वज्रमणि-संज्ञा पुं० [सं०] हीरा ।

वज्रमुष्टि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र । (२) एक राक्षस का नाम । (३) जंगली सुरन ।

वज्रमूली-संज्ञा स्त्री० [सं०] माषपर्णी ।

वज्रयोगिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] तंत्रानुसार एक देवी । इसे वरद-योगिनी भी कहते हैं ।

वज्ररथ-संज्ञा पुं० [सं०] क्षत्रिय ।

वज्रलेप-संज्ञा पुं० [सं०] एक मसाला या पलस्तर जिसका लेप करने से दीवार, मूर्ति आदि अत्यंत हृद और मजबूत हो जाती हैं ।

विशेष—यह दो तरह से बनता है । एक में तो तेंदू और कैथ के कच्चे फल, सेमल के फूल, शलकी (सलई) के बीज, धन्वन की छाल और बच को लेकर एक द्रोण पानी में उबालते हैं । जब जलकर आठवाँ भाग रह जाता है, तब उसे उतारकर उसमें गंधा बिरोजा, बोल, गूगल, भिलावाँ, कुंदुरु गोंद, राल, अलसी और बेल का गूदा घोटकर मिलाते हैं । दूसरा मसाला इस प्रकार है । लाख, कुंदुरु गोंद, बेल का गूदा, गोंगरन का फल, तेंदू का फल, महुए का फल, मजीठ, राल, बोल और आँवला इन सब को द्रोण भर पानी में उबालते हैं । जब अष्टमांश रह जाता है, तब काम में लाते हैं ।

वज्रवारक-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार जैमिनि, सुमंत, वैशंपायन, पुलस्त्य और पुलह नामक पाँच ऋषि, जिनका नाम लेने से वज्रपात का भय नहीं रहता ।

वज्रवाराही-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बौद्धों की एक देवी का नाम ।

पदार्थ० - मारीची । त्रिमुखी । वज्रकालिका । विकटा । गौरी ।

(२) बुद्ध की माता मायादेवी का एक नाम ।

वज्रत्रिकुम्भ-संज्ञा पुं० [सं०] गरुड़ के एक पुत्र का नाम ।

वज्रवार-संज्ञा पुं० [सं०] महाकाल रुद्र का एक नाम ।

वज्रवैद्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक राक्षस का नाम । (२) एक विद्याधर का नाम ।

वज्रद्यूह-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की सेना की रचना जो दुधारे खड्ग के आकार में स्थित की जाती थी ।

वज्रशाखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] जैन मत के एक संप्रदाय का नाम जिसे वज्र स्वामी ने चलाया था ।

वज्रशृङ्खला-संज्ञा स्त्री० [सं०] जैन मतानुसार सोलह महा-विद्याओं में से एक ।

वज्रसंघात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भीमसेन । (२) पत्थर जोड़ने का एक मसाला जिसमें आठ भाग सीसा, दो भाग काँसा और एक भाग पीतल होता था । इससे पत्थर की जोड़ाई की जाती थी ।

वज्रसंहत-संज्ञा पुं० [सं०] ललित विस्तर के अनुसार एक बुद्ध का नाम ।

वज्रसरव-संज्ञा पुं० [सं०] एक ध्यानी बुद्ध का नाम ।

वज्रसमाधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] बौद्ध धर्म के अनुसार एक प्रकार की समाधि ।

वज्रसार-संज्ञा पुं० [सं०] हीरा ।

वज्रसूर्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक बुद्ध का नाम ।

वज्रहस्त-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र ।

वज्रांग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सर्प । साँप । (२) हनुमान ।

वज्रांगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गवेधुक् । कौड़िला । (२) हड़-जोड़ नाम की लता जो चोट लगने पर लगाई जाती है ।

वज्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्नुही । थूहर । (२) गुडुच । (३) दुर्गा ।

वज्राचार्य-संज्ञा पुं० [सं०] नेपाली बौद्धों के अनुसार तांत्रिक बौद्ध आचार्य जिसे तिब्बत में लामा कहते हैं । यह गृहस्थ होता है और अपने पुत्र कलत्र के साथ विहार में रह सकता है । नेपाल और तिब्बत में ऐसे आचार्यों का बड़ा मान है ।

वज्राभिषेक-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का अनुष्ठान जिसमें तीन दिन तक जौ का सत्तू पीकर रहते थे ।

वज्राभ्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अभ्रक जो काले रंग का होता है ।

वज्रायुध-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र ।

वज्रावर्त-संज्ञा पुं० [सं०] एक मेघ का नाम । उ०—सुनत मेघवर्तक सजि सैन लै आये । जलवर्त, वारिवर्त, पवनवर्त, वज्रावर्त, आगिवर्तक जलद संग लाये ।—सूर ।

वज्रासन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हठ योग के चौरासी आसनों में से एक जिसमें गुदा और लिंग के मध्य के स्थान को बाएँ पैर की एड़ी से दबाकर उसके ऊपर दाहिना पैर रखकर पालथी लगाकर बैठते हैं । (२) वह शिला जिस पर बैठकर बुद्ध-देव ने बुद्धत्व लाभ किया था । यह गया जी में बोधिद्रुम के नीचे थी ।

वज्री-संज्ञा पुं० [सं० वज्रिन्] (१) इंद्र । (२) एक प्रकार की ईंट ।

संज्ञा स्त्री० (१) थूहर । स्नुही । (२) तिधारा । नरसेज ।

वज्रेश्वरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बौद्धों की एक देवी । (२) एक तांत्रिक अनुष्ठान जिसे वज्रवाहनिका भी कहते हैं । इसमें वज्र बनाकर मंत्रों द्वारा अभिषेक करते हैं और उस पर सोने से मंत्र लिखते हैं । इसके उपरान्त उस वज्र को किसी जितेंद्रिय पुरुष के हाथ में दे देते हैं और लाख बार मंत्र जप करके वज्रकुंड में हवन करते हैं । इस प्रयोग से शत्रुओं पर विजय प्राप्त होती है ।

वज्रोली-संज्ञा स्त्री० [हि० वज्र] हठ योग की एक मुद्रा का नाम ।

वट-संज्ञा पुं० [सं०] बरगद का पेड़ ।

वटक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ी दिकिया या गोला । बड़ा । (२)

बड़ा। पकौड़ा। (३) एक तौल जो भाठ मासे की होती और सोना तौलने के काम में आती थी। इसे छुद्रम, द्रक्षण और कोक भी कहते थे। १० गुंजा = १ माशा, ४ माशा = १ शोण, २ शोण = १ घटक।

वटच्छन्द-संज्ञा पुं० [सं०] श्वेत बर्बरी। सफेद बनबुलसी।
वटपत्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वृत्तमल्लिका नामक फूल का पौधा।
वटपत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाखान-भेद। पथरफोड़।
वटर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खोर। (२) बटेर नामक पक्षी।
(३) पगड़ी। (४) बिस्तर। (५) मथानी।
वटसावित्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक व्रत का नाम जिसमें स्त्रियाँ वट का पूजन करती हैं।

वटाक-संज्ञा पुं० [सं०] रस्सी।
वटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बटी। गोली।
वटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गोली या टिकिया। बटी।
वटु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बालक। (२) ब्रह्मचारी। माणवक।
वटुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बालक। (२) माणवक। ब्रह्मचारी।
(३) एक भैरव। बटुकभैरव।
वटोदका-संज्ञा स्त्री० [सं०] भागवत के अनुसार एक नदी जो पवित्र मानी जाती है।
वठर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंबष्ठ नामक एक वर्णसंकर जाति।
(२) शब्दकार।

वि० (१) सूख। (२) शठ। (३) मंद।
वड्ड-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० वड्डा] बोड़ा।
वड्डभी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह शाला या घर जो किसी प्रासाद के शिखर पर हो। गृहचूड़ा। घौरहर। धरहरा।
पठ्यां—गोयानसी। चंद्रशाला। कूटागार।
वडिश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बंसी जिससे मछली फँसाई जाती है। कैटिया। (२) चिकित्सकों का एक अस्त्र जिससे वेधते या नष्ट कर लगाते हैं। (वैद्यक)
वणिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो वाणिज्य के द्वारा अपनी जीविका का निर्वाह करता हो। रोजगार करनेवाला। (२) वैश्य। बनिया।

वतंस-संज्ञा पुं० दे० “अवतंस”।
वतन-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वासस्थान। (२) जन्मभूमि।
वतीरा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) ढंग। रीति। प्रथा। (२) चाल बाल। (३) लत। टेव।
वत्स-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गाय का बच्चा। बछड़ा। (२) शिशु। बालक। बच्चा। (३) वत्सर। वर्ष। (४) कंस का एक अनुचर। वत्सामुर। (५) इंद्रजौ। (६) वक्ष। उर। छाती। (७) एक देश का नाम।
वत्सक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुष्पकसीस। (२) कुटज। (३) इंद्रजौ। (४) निर्गुंडी।

वत्सघोष-संज्ञा पुं० [सं०] एक देश का नाम जो नक्षत्रों के प्रथम वर्ग में है।

वत्सतर-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० वत्सतरी] जवान बछड़ा जो जोता न गया हो। दोहान।

वत्सतरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह बछिया जो तीन वर्ष की हो। कलोर।

विशेष—उषोत्सर्ग में चार वत्सतरी के साथ एक वृष उत्सर्ग करने का विधान है।

वत्सनाभ-संज्ञा पुं० [सं०] एक विष जिसे ‘बछनाग’ या ‘वत्सनाग’ भी कहते हैं। मीठा जहर।

विशेष—इसका पौधा हिमालय के कम उँचे भागों में होता है। इसकी जड़ विशेषतः नैपाल से आती है। इसके पत्ते सँभल के पत्तों के समान होते हैं। विष जड़ में होता है। यह विष शोधकर औषधों में दिया जाता है। शोधन के लिये जड़ के छोटे छोटे टुकड़े काटकर तीन दिन तक गोमूत्र में भिगोते हैं। फिर छाल अलग करके लाल सरसों के तेल में भिगोए हुए कपड़े में पोटली बाँधकर रखते हैं। उपयुक्त मात्रा और युक्ति के साथ सेवन करने से यह रसायन, योगवाही, वातनाशक और त्रिदोषघ्न कहा गया है। वैद्य लोग इसे उवर और लकवे में देते हैं। इसके प्रयोग में बड़ी सावधानी चाहिए; क्योंकि अधिक मात्रा में होने से यह विष प्राणनाशक होता है। इसके योग से मृत्युंजय रस, आनंद-भैरव रस, पंचवक्त्र रस आदि कई प्रसिद्ध औषधें बनती हैं।

पय्यां—अमृत। विष। उग्र। महौषध। गरल। मारण। नाग। स्तौकक। प्राणहारक। स्थावर।

वत्सर-संज्ञा पुं० [सं०] उतना काल या समय जितने में धृत्वी सूर्य की एक परिक्रमा पूरी करती है और सब ऋतुओं की एक उद्धारणी हो जाती है। काल का वह मान जो बारह महीनों या ३६५ दिनों का होता है। वर्ष। साल। बरस।

वत्सराज-संज्ञा पुं० [सं०] एक राजा का नाम।

विशेष—इस नाम के अनेक राजा हो गए हैं। एक तो कौशांबी का प्रसिद्ध राजा था, जो गौतम बुद्ध का समसामयिक था। चौहान वंश में भी एक वत्सराज हुआ। लाट देश का एक चौलुक्यवंशी राजा इस नाम का हुआ है। महोबे के चँदेल राजाओं का एक मंत्री वत्सराज था, जो आल्हा गानेवालों में “बछराज” के नाम से प्रसिद्ध है।

वत्सल-वि० [सं०] [स्त्री० वत्सला] (१) पुत्र या संतान के प्रति पूर्ण स्नेह-युक्त। बच्चे के प्रेम से भरा हुआ। जैसे,—पुत्र-वत्सल पिता, पुत्र-वत्सला माता। (२) अपने से छोटी के प्रति अत्यंत स्नेहवान् या कृपालु। जैसे,—प्रजावत्सल राजा। संज्ञा पुं० साहित्य में कुछ लोगों के द्वारा माना हुआ दसवाँ

वात्सल्य रस, जिसमें पिता या माता का अपनी संतति के प्रति रतिभाव या प्रेम प्रदर्शित होता है।
वत्सराजी-संज्ञा स्त्री० [सं०] तरबूज। कर्लीदा।
वत्सादनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गुडुच। गिलोय।
वत्सासुर-संज्ञा पुं० [सं०] कंस का अनुचर एक राक्षस जिसे कृष्ण ने बाल्यावस्था में मारा था।
वदंती-संज्ञा स्त्री० [सं०] कथा। बात।
वदक-संज्ञा पुं० [सं०] वक्ता। कहनेवाला।
वदतोऽद्यापत-संज्ञा पुं० [सं०] कथन का एक दोष जिसमें कोई एक बात कहकर फिर उसके विरुद्ध बात कही जाती है।
वदन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुख। मुँह। (२) अगला भाग। (३) कथन। बात कहना।
वदान्य-वि० [सं०] (१) अतिशय दाता। उदार। (२) मधुरभाषी। अपनी बात से दूसरों को संतुष्ट करनेवाला।
वदाल-संज्ञा पुं० [सं०] पाठीन मत्स्य। पहिना मछली।
वदि-संज्ञा पुं० [सं०] अवदिन। कृष्ण पक्ष। जैसे,—जेठ वदि ४।
वदुसानाळ-क्रि० सं० [सं०] विदूषण। दोष देना। भला बुरा कहना। इलजाम लगाना। उ०—हम सब जानत हरि की बातें। तुम जो कहत हरि राज करत नहि जानत हौ कछु का तैं ? उग्रसेन बैठारि सिंघासन लोग कहत कुल नाते। तप तैं राज, राज तैं आगे तुम सन समुझत बातें। सुरक्षाम यहि भाँति सयाने हमही को वदुसाते।—सूर।
वध-संज्ञा पुं० [सं०] घात। नाश। मारण। वि० दे० “वध”।
वधक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वातक। हिंसक। (२) व्याध। (३) मृत्यु। (४) दे० “वधक”।
वधजीवी-संज्ञा पुं० [सं०] वधजीविन्। वह जो वध करके जीविका निर्वाह करता हो।
वधत्र-संज्ञा पुं० [सं०] अस्त्र। हथियार।
वधभूमि-संज्ञा स्त्री० दे० “वधभूमि”।
वधांगक-संज्ञा पुं० [सं०] कारागार। कैदखाना।
वधुका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुत्र की स्त्री। बहू। (२) दुलहन। स्त्री।
वधू-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नव विवाहिता स्त्री। दुलहन। (२) पत्नी। भार्या। (३) पुत्र की बहू। पतोहू।
वधूटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नई व्याही हुई स्त्री। दुलहिन। (२) भार्या। पत्नी। (३) पुत्र-वधू। पतोहू।
वधूत-संज्ञा पुं० दे० “अवधूत”। उ०—श्रवन कुंडल गरल कंठ करुणाकंद सच्चिदानंद वंदे वधूतं।—तुलसी।
वध्य-वि० [सं०] मार डालने योग्य। वधाई।
वध्र-संज्ञा पुं० [सं०] सीसा नाम की धातु।
वध्रि-संज्ञा पुं० [सं०] वधिया।
वध्रिका-संज्ञा पुं० [सं०] वह पुरुष जो वधिया हो। खोजा।

वधूश्च-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आख्या घोड़ा। (२) एक प्राचीन राजा का नाम।
वन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वन। जंगल। (२) वाटिका। (३) जल। (४) घर। आलय। (५) चमसा नामक यज्ञपात्र। (६) रश्मि। (७) शंकराचार्य के अनुयायी संन्यासियों की एक उपाधि। (८) फूलों का गुच्छ।
वनकणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वनपिप्पली।
वनकुंडल-संज्ञा पुं० [सं०] अच्छी जाति का सूरन या जिमीकंद।
वनचंद्रन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अगुरु। अगर। (२) देवदार।
वनचंद्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मल्लिका।
वनचर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वन में भ्रमण करने या रहनेवाला। (२) जंगली मनुष्य या प्राणी। (३) शरभ नामक वनजंतु।
वनज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो वन (जंगल या पानी) में उत्पन्न हो। (२) कमल। (३) मुस्तक। मोथा। (४) तुंबुरु का फल। (५) जंगली बिजौरा नीबू। (६) वनकुलथी।
वनजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुद्रपर्णी। (२) निर्गुंडी। (३) सफेद कंटकारि। (४) वनतुलसी। (५) अश्वगंधा। (६) वनकपासी।
वनजीर-संज्ञा पुं० [सं०] काली जीरी।
वनतिलक-संज्ञा पुं० [सं०] हरीतकी। हड़।
वनतिलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पाठा। (२) पथरी नाम का शाक।
वनद-संज्ञा पुं० [सं०] मेघ। बादल।
वनदीप-संज्ञा पुं० [सं०] वनचंपक।
वनदेव-संज्ञा पुं० [सं०] वन का अधिष्ठाता देवता।
वनदेवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वन की अधिष्ठात्री देवी।
वनपिप्पली-संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटी पीपल।
वनप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोकिल। (२) बहेड़े का वृक्ष। (३) कपूर कचरी। (४) सौंभर हिरन।
वनमल्लिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] सेवती का पौधा या फूल।
वनमाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वन के फूलों की माला। (२) एक विशेष प्रकार की माला जो सब ऋतुओं में होनेवाले अनेक प्रकार के फूलों से बनती और घुटने तक लंबी होती थी। ऐसी माला श्रीकृष्ण धारण करते थे।
वनमाली-वि० [सं०] वनमाला धारण करनेवाला। संज्ञा पुं० श्रीकृष्ण।
वनमूत-संज्ञा पुं० [सं०] मेघ। बादल।
वनमूर्धजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जंगली बिजौरा नीबू। (२) काकड़ासिंगी।
वनराज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिंह। (२) अश्वमेधक वृक्ष।
वनराजि, वनराजी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वन की श्रेणी।

वन-समूह । वृक्ष-समूह । (२) वन के बीच गई हुई पगडंडी ।

(३) वसुदेव की एक दासी का नाम ।

वनरुह-संज्ञा पुं० [सं०] कमल ।

वनलक्ष्मी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वन की शोभा । वनश्री । (२) कदली । केला ।

वनवास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वन का निवास । जंगल में रहना ।

(२) बस्ती छोड़कर जंगल में रहने की व्यवस्था या विधान ।

मुहा०—वनवास देना = जंगल में रहने की आज्ञा देना । बस्ती छोड़ने की आज्ञा देना । वनवास लेना = बस्ती छोड़कर जंगल में रहना श्रमीकार करना ।

वि० जंगल में रहनेवाला । वनवासी ।

वनवासक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शात्मली कंद । (२) एक प्राचीन नगर जो कादंब राजाओं की राजधानी था ।

वनवासी-वि० [सं० वनवासिन्] [स्त्री० वनवासिनी] वन में रहनेवाला । बस्ती छोड़कर जंगल में निवास करनेवाला ।

संज्ञा पुं० (१) ऋषभ नामक ओषधि । (२) वाराही कंद ।

(३) शात्मली कंद । (४) नीलमहिष कंद । (५) द्रोणकाक । डोम कौआ । बड़ा काला कौआ । (६) दक्षिण में तुंगभद्रा की शाखा वरदा नदी के किनारे बसा हुआ एक प्राचीन नगर जो कादंब राजाओं का प्रधान नगर था ।

वनविलासिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] शंखपुष्पी लता ।

वनशूकरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कपिकच्छु । केवाँच । (२) जंगली मादा सूअर ।

वनशृंगार-संज्ञा पुं० [सं०] गोखरू ।

वनसंकट-संज्ञा पुं० [सं०] मसूर ।

वनस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वन में रहनेवाला । (२) वानप्रस्थ । (३) मृग ।

वनस्थली-संज्ञा स्त्री० [सं०] वन भूमि । अरण्य देश । जंगली ज़मीन ।

वनस्था-संज्ञा स्त्री० [सं०] अश्वत्थ । पीपल का पेड़ ।

वनस्पति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह वृक्ष जिसमें फूल न हों (अर्थात् न दिखाई पड़ें) केवल फल ही हों । जैसे,—गूलर, बड़, पीपल आदि वट वर्ग के वृक्ष । (मनु०) (२) वृक्ष मात्र । पेड़ । पौधा । (३) वट वृक्ष । बरगद ।

संज्ञा पुं० धृतराष्ट्र के एकपुत्र का नाम ।

वनस्पति शास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसके द्वारा यह जाना जाता हो कि पौधों और वृक्षों आदि के क्या क्या रूप और कौन कौन सी जातियाँ होती हैं, उनके भिन्न भिन्न अंगों की बनावट कैसी होती है और कलम आदि के द्वारा किस प्रकार के नए पौधे या वृक्ष उत्पन्न होते हैं । वनस्पति विज्ञान ।

वनहास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काश । काँस । (२) कुंद का फूल ।

वनांत-संज्ञा पुं० [सं०] वन प्रांत । जंगली भूमि या मैदान ।

वनायु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन देश का नाम जहाँ का बोड़ा अच्छा होता था । (२) इस देश में रहनेवाली जाति ।

(३) पुरुरवा के एक पुत्र का नाम ।

वनायुज-संज्ञा पुं० [सं०] वनायु देश का घोड़ा ।

वनालक-संज्ञा पुं० [सं०] गेरू ।

वनालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] हस्तिशुंडी लता । हाथी सुंडी ।

वनाश्रय-संज्ञा पुं० [सं०] काला कौआ । डोम कौआ ।

वनिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] कुंजवन ।

वनिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अनुरक्ता स्त्री । प्रिया । प्रियतमा ।

(२) स्त्री । औरत । (३) डः वर्णों की एक वृत्ति जिसे 'तिलका' और 'डिल्ला' भी कहते हैं । इसमें दो सगण होते हैं । जैसे,—ससि बाल खरो । शिव भाल धरो ।

वनितामुख-संज्ञा पुं० [सं०] मार्कंडेय पुराण के अनुसार मनुष्यों की एक जाति ।

वनी-संज्ञा पुं० [सं० वनिन्] वानप्रस्थ ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटा वन । वनस्थली । उ०—अति चंचल जहाँ चलदलै, विधवा वनी, न नारि ।—केशव ।

वनेकिंशुक-संज्ञा पुं० [सं०] वह वस्तु जो वैसे ही बिना माँगे मिले, जैसे वन में किंशुक बिना माँगे या प्रयास किए मिलता है ।

वनेचर-संज्ञा पुं० [सं०] वन में फिरनेवाला मनुष्य । वनचर । जंगली आदमी ।

वनेजा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आम । (२) पर्पट । पापड़ा ।

वनोत्सर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवमंदिर, वापी, कूप, उपवन आदि का उत्सर्ग जो शास्त्रविधि से किया जाता है । मंदिर, कूआँ आदि बनवाकर सर्वसाधारण के लिये दान करना । (२) ऐसे दान या उत्सर्ग की विधि ।

वनौकस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसका घर वन में हो । वनवासी । (२) बंदर ।

वनौषध-संज्ञा स्त्री० [सं०] वन की ओषधियाँ । जंगली जड़ी बूटी ।

वन्य-वि० [सं०] (१) वन में उत्पन्न होनेवाला । वनोद्भव । (२) जंगली ।

संज्ञा पुं० (१) वनसूरन । (२) क्षीर विदारी । (३) वाराही कंद । (४) शंख ।

वन्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुद्रपर्णी । (२) गोपालककड़ी । (३) गुंजा । (४) भद्रमुस्ता । (५) अश्वगंध । असगंध ।

वपन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० वपनीय] (१) केशमुंडन । (२) बीज बोना ।

वपनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह स्थान जहाँ नाई क्षीर कार्य करते हैं । वह स्थान जहाँ हजाम बैठकर हजामत बनाते हैं । (२) वह स्थान जहाँ जुलाहे कपड़ा बुनते हैं ।

वपनीय-वि० [सं०] बोलने योग्य ।

वपा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चरबी । मेद । (२) चल्मीक । बाँबी ।

वपु-संज्ञा पुं० [सं० वपुस्] (१) शरीर । देह । (२) रूप ।

वपुष्टमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पद्मचारिणी लता । (२) हरिवंश के अनुसार काशीराज की एक कन्या, जो परीक्षित के पुत्र जन्मेजय से ब्याही थी ।

विशेष—हरिवंश में लिखा है कि राजा जन्मेजय ने एक अश्वमेध यज्ञ किया । उनकी पत्नी वपुष्टमा साथ ही बैठी थी । इंद्र ने अश्व के शरीर में प्रविष्ट होकर उसके साथ सहवास किया । जब मारा हुआ अश्व जीवित दिखाई पड़ा, तब इंद्र की चाल का पता लगा । जन्मेजय ने क्रुद्ध होकर इंद्र को शाप दिया कि अब से अश्वमेध में तुम्हारा कोई पूजन न करेगा । उन्होंने ऋत्विक् ऋषियों को भी देश से निकाल दिया और वपुष्टमा का भी तिरस्कार किया । उसी समय गंधर्वराज विश्वावसु ने आकर राजा को समझाया कि इंद्र ने तुम्हारे अश्वमेध यज्ञों से डरकर रंभा अप्सरा को वपुष्टमा का शरीर धारण करा के भेजा है । ऋत्विजों को निकालने से तुम्हारा अश्वमेध का पुण्य क्षीण हो गया ।

वप्ता-संज्ञा पुं० [सं० वप्] (१) पिता । जनक । (२) कवि । (३) नापित । नाई । (४) बीज बोनेवाला ।

वप्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मिट्टी का ऊँचा धुस्स जो गढ़ या नगर की खाई से निकली हुई मिट्टी के ढेर से चारों ओर उठाया जाता है और जिसके ऊपर प्राकार या दीवार होती है । अथ । मृत्तिकास्तूप । (२) क्षेत्र । खेत । (३) रेणु । धूल । (४) ऊँचा किनारा । कगार । (नदी आदि का) (५) पहाड़ की चोटी । (६) टीला । भीटा । (७) सीसा नाम की धातु । (८) प्रजापति । (९) द्वापर युग के एक व्यास । (१०) चौदहवें मनु के एक पुत्र का नाम ।

वप्रक-संज्ञा पुं० [सं०] वृत्त की परिधि । गोलाई का घेरा । चक्र ।

वप्रक्रिया-संज्ञा स्त्री० दे० “वप्रक्रीडा” ।

वप्रक्रीडा-संज्ञा स्त्री० [सं०] टीले या ऊँचे उठे हुए मिट्टी के ढेर को हाथी, साँड़ आदि का दाँतों या सींगों से मारना, जो उनकी एक क्रीडा है ।

वप्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मजीठ । (२) जैनों के इक्कीसवें जिन नेमिनाथ की माता का नाम ।

वप्रि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्षेत्र । (२) समुद्र । (३) स्थान की दुर्गमता । दुर्गति ।

वप्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] चल्मीक । बाँबी ।

वफा-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) वादा पूरा करना । बात निबाहना । यौ०—वफादार । वफादारी ।

(२) निर्वाह । पूर्णता । उ०—अब कूच ही करना सही इस खेत से न वफा लही ।—सूदन ।

क्रि० प्र०—करना ।

(३) मुरौवत । सुशीलता । उ०—बे खाये ते बेवफा वफा रहै ठहराह । मीनै कीनै दूर ज्यों तेही तै रह जाह ।—रसनिधि ।

वफादार-वि० [अ० वफा + फा० दार] [संज्ञा वफादारी] (१) वचन या कर्तव्य का पालन करनेवाला । (२) अपने काम को ईमानदारी से करनेवाला । (३) सच्चा ।

वफात-संज्ञा स्त्री० [अ०] मरण । मृत्यु ।

क्रि० प्र०—करना ।—पाना ।—होना ।

ववा-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मरी । महामारी । फैलनेवाला भयंकर रोग । जैसे,—हैजा, प्लेग आदि । (२) कूत का रोग ।

क्रि० प्र०—आना ।—पड़ना ।—फैलना ।

ववाल-संज्ञा पुं० [अ०] (१) बोझ । भार । (२) आपत्ति । कठिनाई । (३) घोर विपत्ति । आफत । (४) ईश्वरीय कोप । (५) पाप का फल ।

क्रि० प्र०—होना ।

मुहा०—किसी का ववाल पड़ना = किसी को दुःख पहुँचाने का फल मिलना । दुखिया की आह पड़ना । जैसे,—इसका ववाल तेरे ऊपर पड़ेगा ।

वभ्रु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का सर्प । (सुभ्रुत) (२) एक बहुवंशीय योद्धा । वि० दे० “वभ्रु” ।

वभ्रुवाहन-संज्ञा पुं० दे० “वभ्रुवाहन” ।

वमन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कै करना । उलटी करना । छुदना । (२) वमन किया हुआ पदार्थ । (३) आहुति । (४) पीड़ा ।

वमनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] जोंक ।

वमनीया-संज्ञा स्त्री० [सं०] मक्खी ।

वमि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक रोग जिसमें मनुष्य का जी मतलाता है, मुँह से पानी छूटता है और जो कुछ वह खाता पीता है, उसे मुँह के रास्ते निकालकर बाहर फेंक देता या कै कर देता है ।

विशेष—यह वमन रोग पाँच प्रकार का माना गया है—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और आगंतुक । वातज में बगल और छाती में दर्द, मस्तक और नाभि में शूल तथा अंगों में सूई छेदने की सी पीड़ा होती है । वमन बढ़े वेग से और बढ़े शब्द के साथ अधिक मात्रा में निकलता है । पित्तज में मूर्च्छा, प्यास, मुँह सूखना, तालू और आँखों में जलन और आँखों के सामने धँधेरा छाना आदि लक्षण होते हैं और वमन कुछ हरा और तीता होता है । कफज में मुँह मीठा रहता है, कुछ कफ निकलता है, भोजन की अनिच्छा होती है, शरीर भारी जान पड़ता है और वमन

सफेद, गाढ़ा और मीठा होता है; तथा वमन के समय रोंगटे खड़े हो जाते हैं और बड़ी पीड़ा होती है। आगंतुक वमन कोई खुरी वस्तु खा लेने या वृणित वस्तु देखने या सूँघने से एक बारगी हो जाता है।

(२) अग्नि।

वध्वी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दीमक।

वध्वीकूट-संज्ञा पुं० [सं०] वल्कीक। बाँबी। बिमौट।

वयं ऋ-सर्व० [सं० प्र, पु० बहु] हम। उ०—विकटतर वक्र धुर धार प्रमदा तीव्र दर्प कंदर्प खर खड्गधारा। धीर गंभीर मन पीर कारक तत्र केवरा का वयं विगत सारा।
—तुलसी।

वयःकृप-संज्ञा पुं० [सं०] क्रमागत जीवन काल। अवस्था। उन्न।

वयःसंधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] बाल्यावस्था और यौवनावस्था के बीच की स्थिति। लड़कपन और जवानी के बीच का काल।

वय-संज्ञा स्त्री० [सं० वयस्] (१) बीता हुआ जीवन-काल। अवस्था। उन्न। (२) बल। (३) पक्षी।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) तंतुवाय। जुलाहा। (२) बया पक्षी।

संज्ञा स्त्री० जुलाहों के करघे में सूत का एक जाल। वि० द्वे० “वै” या “वय”।

वयन-संज्ञा पुं० [सं०] बुनने की क्रिया या भाव। बुनना।

वयस्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बीता हुआ जीवन काल। अवस्था। उन्न। (२) पक्षी।

वयस्क-वि० [सं०] [स्त्री० वयस्का] (१) उमर का। अवस्था-वाला।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग समस्त पद के अंत में होता है। जैसे अल्पवयस्क, समवयस्क इत्यादि।

(२) पूरी अवस्था को पहुँचा हुआ। जो अब बालक न हो। सयाना। बालिग।

वयस्कृत्-वि० [सं०] आयुःप्रद। जीवन देनेवाला।

वयस्थ-वि० [सं०] [स्त्री० वयस्था] (१) प्राप्तवयस्क। (२) युवा। युवक। (३) समवयस्क।

संज्ञा पुं० समवयस्क पुरुष।

वयस्था-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आमलकी। आँवला। (२) हरीतकी। हड़। (३) गुडुच। (४) छोटी इलायची। (५) काकोली। (६) सेमल। (७) युवती।

वयस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] यौवन।

वयस्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समवयस्क। एक उमरवाले। हम-जोली। (२) मित्र।

वयस्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सखी। (२) ईंट।

वयोवृद्ध-वि० [सं०] जो अवस्था में बड़ा हो। बड़ा बूढ़ा।

वरञ्च-अन्य० [सं०] (१) ऐसा न होकर ऐसा। बल्कि। अपितु। (२) परंतु। लेकिन।

वरंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वंसी की डोर। शिस्त। (२) समूह। (३) मुहाँसा। (४) घास का गट्टर। (५) फीलखाने आदि में की वह दीवार जो दो लड़ाके हाथियों के बीच में लड़ाई बचाने के लिये बनाई जाती है।

वरंडक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मिट्टी का भीटा। दूह। (२) दो लड़ाके हाथियों के बीच की दीवार। (३) हाथी की पीठ पर कसा जानेवाला हौदा।

वरंडा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कटारी। कत्ती। (२) बत्ती। संज्ञा पुं० दे० “वरामदा”।

वर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी देवता या बड़े से माँगा हुआ मनोरथ। वह बात जिसके लिये किसी देवी देवता या बड़े से प्रार्थना की जाय। जैसे,—उसने शिव से यह वर माँगा।

क्रि० प्र०—माँगना।

(२) किसी देवता या बड़े से प्राप्त किया हुआ फल या सिद्धि। वह बात जो किसी देवता या बड़े की प्रसन्नता से प्राप्त हुई हो। जैसे,—उसे यह वर था कि वह किसी के हाथ से न मरेगा।

क्रि० प्र०—देना।—पाना।—मिलना।

(३) जामाता। (४) पति या दूल्हा। (५) गुग्गुलु। (६) कुंकुम। केसर। (७) दारचीनी। (८) बालक। (९) अदरक। आद्रक। (१०) सुगंध तृण। (११) सेंधा नमक। (१२) पियाल या चिरौंजी का पेड़। (१३) वकुल। मौलसिरी। (१४) हलदी। (१५) गौरा पक्षी।

वि० श्रेष्ठ। उत्तम।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग प्रायः श्रेष्ठता सूचित करने के लिये संज्ञा या विशेषणों के आगे होता है। जैसे,—पंडित-वर, विज्ञ-वर, वीर-वर मित्र-वर।

वरक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साधारण वस्त्र। (२) नाव का आच्छादन। (३) बन मूँग। (४) काकुन। प्रियंगु। (५) जंगली बेर। झड़बेरी।

वरक-संज्ञा पुं० [अ०] (१) पत्र। (२) पुस्तकों का पन्ना। पन्ना। (३) सोने, चाँदी आदि के पतले पत्तर, जो कूटकर बनाए जाते हैं और मिठाइयों पर लगाने और औषध में काम आते हैं।

वरकतु-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

वरकोद्रव-संज्ञा पुं० [सं०] कोविदार। कचनार का पेड़।

वरचंदन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काला चंदन। (२) देवदारु।

वरज-वि० [सं०] ज्येष्ठ। बड़ा।

वरजीवी-संज्ञा पुं० [सं० वरजीविन्] (१) एक वर्णसंकर जाति जो स्मृतियों में गोप और तंतुवाय के संयोग से उत्पन्न कही गई है। (२) ब्राह्मण का औरस पुत्र जो शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न हो।

वरद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हंस । (२) कुंद का फूल । (३) भिड़ । बरें ।

वरटा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हंसी । (२) गंधिया कीड़ा । (३) बरें नाम का उड़नेवाला कीड़ा । भिड़ ।

वरटी संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हंसी । (२) गंधिया कीड़ा ।

वरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी को पसंद करके किसी कार्य के लिये नियुक्त करना । किसी को किसी काम के लिये चुनना या मुर्कर कराना ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

(२) मंगल कार्य के विधान में होता आदि कार्य-कर्त्ताओं को नियत करके दान आदि से उनका सत्कार करना । (३) मंगल कार्य में नियत किए हुए होता आदि के सत्कारार्थ दी हुई वस्तु या दान । जैसे,—विवाह में ११ आदमियों को वरण मिला है ।

क्रि० प्र०—देना ।—पाना ।—मिलना ।

(४) कन्या के विवाह में वर को अंगीकार करने की रीति । (५) पूजा । अर्चना । सत्कार । (६) ढकने या लपेटने की वस्तु । आवरण । आच्छादन । वेष्टन । (७) किसी स्थान के चारो ओर घेरी हुई दीवार । (८) ऊँट । (९) वरुण वृक्ष । (१०) पुल । सेतु ।

वरणक-संज्ञा पुं० [सं०] आच्छादन । आवरण ।

वरणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक छोटी नदी का नाम जो काशी के उत्तर में बहती है । यह नदी वाराणसी क्षेत्र की उत्तरीय सीमा है । वरुणा । (२) पंजाब देश की एक नदी का नाम जो सिंधु नद में दक्षिण ओर से अटक के विपरीत दिशा से आकर मिलती है । (३) अरहर ।

वरणी-संज्ञा स्त्री० दे० “वरण” (३) ।

वरणीय-वि० [सं०] (१) पूजनीय । पूज्य । (२) श्रेष्ठ । बड़ा ।

वरतंतु-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम ।

वरतिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुटज । कोरैया । (२) नीम । (३) पर्पट । पापड़ा । (४) रोहितक । रोड़ना का पेड़ ।

वरतिकिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाठा ।

वरत्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बरेत । बरेता । (२) हाथी खींचने का रस्सा । (३) चमड़े का तसमा ।

वरत्वच-संज्ञा पुं० [सं०] नीम का पेड़ ।

वरद-वि० [सं०] [स्त्री० वरदा] वर देनेवाला । अभीष्टदाता ।

वरदक्षिणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह धन जो वर को विवाह के समय कन्या के पिता से मिलता है । दहेज । दायजा ।

वरदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कन्या । (२) अश्वगंध । (३) अड़हुल । हुरहुर । (४) वाराही कंद ।

वरदा चतुर्थी-संज्ञा स्त्री० [सं०] माघ महीने के शुक्ल पक्ष की चतुर्थी । वरदा चौथ ।

वरदाता-वि० [सं०] वर देनेवाला । वरद ।

वरदान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी देवता या बड़े का प्रसन्न होकर कोई अभिलषित वस्तु या सिद्धि देना । उ०—(क) कश्यप अदिति महा तप कीन्हा । तिन्ह कहँ मैं पूरब वर दीन्हा ।—तुलसी । (ख) देन कहेहु वरदान दुइ तेउ पावत संदेह ।—तुलसी ।

क्रि० प्र०—देना ।

(२) किसी फल का लाभ जो किसी की प्रसन्नता से हो ।

क्रि० प्र०—पाना ।—मिलना ।

वरदानी-संज्ञा पुं० [सं०] वर प्रदान करनेवाला । मनोरथ पूर्ण करनेवाला । वरदायक ।

वरदी-संज्ञा स्त्री० [अ०] वह परिधान जो किसी विशेष विभाग के कर्मचारियों के लिये नियत हो । वह पोशाक या पहनावा जो किसी खास महकमे के अफसरों और नौकरों के लिये मुकर्र हो । जैसे,—पुलिस की वरदी, फौज की वरदी ।

वरद्वम-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अगर जिसका वृक्ष बहुत बड़ा होता है ।

वरन्-अव्य० [सं० वरम्] ऐसा नहीं । बल्कि ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग अब उठता जा रहा है ।

वरना-संज्ञा पुं० [सं० वरण] ऊँट । उ०—वरना-भख कर मैं अवलोकत केश पास कृत बंद । अघर समुद्र सदल जो सहसा ध्वनि उपजत सुख-कंद ।—सूर ।

अव्य० [अ०] नहीं तो । यदि ऐसा न होगा तो । जैसे,—आप बैठिए; वरना मैं भी उठकर चला जाऊँगा ।

वरप्रद-वि० [सं०] [स्त्री० वरप्रदा] (१) वर देनेवाला । (२) प्रसन्न ।

वरप्रदान-संज्ञा पुं० [सं०] मनोरथ पूर्ण करना । कोई फल या सिद्धि देना । वर देना ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

वरफल-संज्ञा पुं० [सं०] नारिकेल । नारियल ।

वरम-संज्ञा पुं० दे० “वर्म” ।

वरमेल्हो-संज्ञा पुं० [पुर्व०] एक प्रकार का लाल चंदन जो मलाया द्वीप से आता है ।

वरयात्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विवाह के लिये वर का अपने दूह-मित्रों और संबंधियों के सहित धूमधाम ले साथ कन्या के घर जाना । दूल्हे का वाजे गाजे के साथ दुल्हिन के घर विवाह के लिये जाना । (२) वह भीड़ भाड़ जो दूल्हे के साथ चलती है । बरात ।

वरयिता-संज्ञा पुं० [सं० वरयितृ] (१) वरण करनेवाला । (२) पति । भर्ता ।

वररुचि-संज्ञा पुं० [सं०] एक अत्यंत प्रसिद्ध प्राचीन पंडित, वैयाकरण और कवि ।

विशेष—अष्टाध्यायी वृत्ति, प्राकृतप्रकाश, लिङ्गानुशासन, राक्षसकाव्य आदि अनेक ग्रंथ इनके नाम से प्रसिद्ध हैं; पर सब इनके नहीं बनाए हैं। इनका प्राकृत का व्याकरण 'प्राकृत प्रकाश' बहुत प्राचीन और प्रामाणिक माना जाता है। ये कब हुए, इसका ठीक ठीक निश्चय विद्वानों को अभी नहीं हुआ है। कथासरित्सागर में ये पाणिनि के सहाध्यायी और प्रातद्वंद्वी कहे गए हैं; पर यह कल्पना मात्र है। उसी ग्रंथ में वररुचि और कात्यायन एक ही गए हैं; पर यह भी ठीक नहीं है। इसी प्रकार ज्योतिर्विवाभरण का वह नवरत्न-वाला श्लोक भी, जिसमें वररुचि का नाम है, कपोल कल्पना मात्र है। 'प्राकृतप्रकाश' की भूमिका में कावेल साहब ने वररुचि को ईसा की पहली शताब्दी का ठहराया है; और कोई कोई इन्हें चंद्रगुप्त मौर्य से भी पहले ईसा से ४०० वर्ष पूर्व का मानते हैं।

वरला-संज्ञा स्त्री० [सं०] हंसी।

वरवराह-संज्ञा पुं० [सं०] ऊँचराले बालोंवाला जंगली आदमी।
वर्वर।

वरवर्णिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) उत्तम स्त्री। (२) लाख।
(३) हल्दी। (४) गोरोचन। (५) कँगनी। काकुन। (६) गौरी। (७) लक्ष्मी। (८) सरस्वती।

वरवाह्नीक-संज्ञा पुं० [सं०] कुंकुम। केसर।

वरशिख-संज्ञा पुं० [सं०] एक असुर जिसे इंद्र ने सपरिवार मारा था।

वरहक-संज्ञा पुं० [सं०] एक जनपद का नाम।

वरही-संज्ञा पुं० [हिं० वर] सोने की एक लंबी पट्टी जो विवाह के समय वधू को पहनाई जाती है। टीका।

ॐ संज्ञा पुं० दे० "वहीं"।

संज्ञा स्त्री० दे० "वरही"।

वरांग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मस्तक। (२) गुदा। (३) योनि।
(४) हस्ती। (५) विष्णु का एक नाम। (६) एक प्रकार का जलधर वस्त्र जो ३२४ दिनों का होता है। (७) दारचीनी।
(८) पेड़ की ठहनी का सिरा।

वरांगक-संज्ञा पुं० [सं०] दारचीनी।

वरांगना-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुंदर स्त्री।

वरांगी-संज्ञा पुं० [सं० वरांगिन्] (१) हाथी। (२) अमलबेत।
संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हल्दी। (२) नागदंती। (३) मजीठ।

वरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) त्रिकला। (२) रेणुका नामक गंध-द्रव्य। (३) गुरुच। (४) मेदा। (५) ब्राह्मी। (६) बिडुंग।
(७) पाठा। (८) हल्दी। (९) बैंगन। (१०) अड़हुल।
जपा। देवीफूल। (११) मय। (१२) सोमराजी। (१३) श्वेतापराजिता। (१४) शतमूली।

वराक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) युद्ध। (३) पापड़ा।

वि० (१) शीघ्रनीय। (२) नीच।

वराजीवी-संज्ञा पुं० [सं० वराजीविन्] ज्योतिषी। गणक।

वराट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कौड़ी। (२) रस्सी। (३) पञ्चमीज।
कैवलगाहे का बीज।

वराटक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कौड़ी। (२) रस्सी। (३) पञ्च का बीज।

वराटकरजा-संज्ञा पुं० [सं० वराटकरजस्] नागकेसर का पेड़।

वराटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कौड़ी। (२) तुच्छ वस्तु।
(३) नागकेसर।

वराण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र। (२) वरुण वृक्ष। वरना।

वरानना-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुंदर स्त्री।

वरान्न-संज्ञा पुं० [सं०] दल हुआ उत्तम अन्न।

वराभिद-संज्ञा पुं० [सं०] अमलबेतसू। अमलबेद।

वरास्त-संज्ञा पुं० [सं०] करौंदा।

वरारक-संज्ञा पुं० [सं०] हीरा। हीरक।

वरारणि-संज्ञा स्त्री० [सं०] माता।

वरारोह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) एक प्रकार का पक्षी।
वि० श्रेष्ठ सवारीवाला।

वराद्धक-संज्ञा पुं० [सं०] पूजा की एक सामग्री जिसमें चंदन, कुंकुम और जल सम भाग होता है।

वराल-संज्ञा पुं० [सं०] लवंग। लौंग।

वरालि-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा।

वरालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

वराशि-संज्ञा पुं० [सं०] मोटा कपड़ा।

वरासन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्रेष्ठ आसन। ऊँचा आसन।
(२) विवाह में वर के बैठने का आसन या पाटा। (३) जपा। देवीफूल। अड़हुल। (४) हिजड़ा। खोजा। (५) द्वारपाल।

वरासि-संज्ञा पुं० [सं०] मोटा कपड़ा।

वराह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शूकर। सूअर। (२) विष्णु। (३) मुस्ता। मोथा। (४) एक पर्वत का नाम। (५) एक मान।
(६) सूँस। शिशुमार। (७) वराहीकंद। (८) अठारह द्वीपों में से एक छोटा द्वीप।

वराहक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हीरा। (२) शिशुमार। सूँस।

वराहकर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] अश्वगंधा। असगंध।

वराहकांता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वाराही। (२) लजालु।
लजालू।

वराहपत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] अश्वगंधा। असगंध।

वराहमिहिर-संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष के एक प्रधान आचार्य जिनके बनाए गृहसंहिता, पंचसिद्धांतिका और गृहजातक नामक ग्रंथ प्रचलित हैं।

विशेष—इनके समय के संबंध में अनेक प्रकार के प्रवाद कुछ

वचनों के आधार पर प्रचलित हैं। जैसे,—ज्योतिर्विदाभरण के एक श्लोक में कालिदास, धन्वंतरि आदि के साथ वराह-मिहिर भी विक्रम की सभा के नौ रत्नों में गिनाए गए हैं। पर इन नौ नामों में से कई एक भिन्न भिन्न काल के सिद्ध हो चुके हैं। अतः यह श्लोक प्रमाण के योग्य नहीं। इसी प्रकार कुछ लोग ब्रह्मगुप्त के टीकाकार पृथुस्वामी के इस वचन का आश्रय लेते हैं—

नवाधिक पंचशतसंख्य शाके वराहमिहिराचार्या दिवं गतः।
और शक ५०९ में वराहमिहिर की मृत्यु मानते हैं। पर अपनी पंचसिद्धांतिका में रोमकसिद्धांत का अहर्गण स्थिर करते हुए वराहमिहिर ने शक संवत् ४२७ लिया है। ज्योतिषी लोग अपना समय लेकर ही अहर्गण स्थिर करते हैं। अतः इससे ईसा की पाँचवीं शताब्दी में वराहमिहिर का होना सिद्ध होता है। अपने बृहज्जातक के उपसंहाराध्याय में आचार्य ने अपना कुछ परिचय दिया है। उसके अनुसार ये अवंती (उज्जयिनी) के रहनेवाले थे। 'कायित्य' स्थान में सूर्यदेव को प्रसन्न करके इन्होंने वर प्राप्त किया था। इनके पिता का नाम आदित्यदास था।

वराहमुक्ता—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का मोती।

विशेष—जैसे,—‘गजमुक्ता’ हाथी से उत्पन्न मानी जाती है, वैसे ही यह सूअर से उत्पन्न मानी जाती है।

वराहव्यूह—संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का व्यूह यासेना की रचना, जिसमें अग्र भाग पतला और बीच का भाग चौड़ा रखा जाता था।

वराहशिला—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक विचित्र पवित्र शिला जो हिमालय के शिखर पर है।

वराहशैल—संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्वत का नाम।

वराहसंहिता—संज्ञा स्त्री० [सं०] वराहमिहिर रचित ज्योतिष की बृहत्संहिता नाम की प्रसिद्ध पुस्तक।

वराहांगी—संज्ञा स्त्री० [सं०] क्षुद्रदंती।

वराहिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] कपिकच्छु। केव्राँच। कौंच।

वराही—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सूअरी। शूअरी। (२) भद्रमुस्ता। नागरमोथा। (३) बाराहीकंद। (४) अश्वगंधा। (५) एक प्रकार का पक्षी जो गौरैया के बराबर और काले रंग का होता है। (६) दे० “वाराही”।

वरिष—संज्ञा पुं० [सं०] वर्ष।

वरिष्ठ—वि० [सं०] श्रेष्ठ। पूजनीय।

संज्ञा पुं० (१) तिस्रि पक्षी। तीतर। (२) चाक्षुष मनु के पुत्र का नाम। (३) धर्म सावर्णि मन्वंतर के सप्त ऋषियों में से एक। (४) ताड। ताँबा। (५) मिर्च। (६) उरुतमस ऋषि का एक नाम।

वरिष्ठा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हल्दी। (२) दुरदुर नाम का पौधा।

वरिहिष्ठ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) डशीर। खस। (२) सुगंधवाला।

वरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शातावरी। सतावर। (२) सूर्य की पत्नी।

वरीयान्—वि० [सं०] (१) श्रेष्ठ। बड़ा। (२) अति युवा।

संज्ञा पुं० (१) फलित ज्योतिष में विष्कम्भ अदि सत्ताईस योगों में से अठारहवाँ योग, जिसमें जन्म लेनेवाला मनुष्य दयालु, दाता, सुंदर, सत्कर्म करनेवाला और मधुर स्वभाव का होता है। (२) पुलह ऋषि के एक पुत्र का नाम।

वरीषु—संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

वरुण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक वैदिक देवता जो जल का अधिपति, दस्युओं का नाशक और देवताओं का रक्षक कहा गया है। पुराणों में वरुण की गिनती दिक्पालों में है और वह पश्चिम दिशा का अधिपति माना गया है। वरुण का अष्ट पाश है।

विशेष—बहुत प्राचीन वैदिक काल में वरुण प्रधान देवता थे; पर क्रमशः उनकी प्रधानता कम होती गई और इंद्र को प्रधानता प्राप्त हुई। वरुण अदिति के आठ पुत्रों में कहे गए हैं। निरुक्तकार इन्हें द्वादश आदित्यों में बतलाते हैं। ऋग्वेद में वरुण के अनेक मंत्र हैं, जिनमें से कुछ के संबंध में ऐतरेय ब्राह्मण में शुनःशेफ की प्रसिद्ध गाथा है। इस के अनुसार हरिश्चंद्र वैधस नामक एक राजा ने पुत्र-प्राप्ति के लिये वरुण की उपासना की। वरुण ने पुत्र दिया, पर यह वचन लेकर कि उसी पुत्र से तुम मेरा यज्ञ करना। पुत्र का नाम रोहित हुआ। जब वह कुछ बड़ा हुआ और उसे यह पता चला कि मुझे वरुण के यज्ञ में बलिपशु बनना पड़ेगा, तब वह जंगल में भाग गया। वहाँ उसे इंद्र वर लौटने को बराबर मना करते रहे। अंत में राजा ने अजीगर्त नामक एक ऋषि को सौ गौएँ देकर उनके पुत्र शुनःशेफ को बलि के लिये मोल लिया। जब शुनःशेफ यूप में बाँधा गया, तब वह अपने छुटकारे के लिये प्रजापति, अग्नि, सविता आदि कई देवताओं की स्तुति करने लगा। अंत में वरुण की स्तुति करने से उसका उद्धार हुआ। ऋग्वेद में वरुण के कुछ मंत्र वे ही हैं, जिन्हें पढ़कर शुनःशेफ ने स्तुति की थी।

पुराणों में वरुण कश्यप के पुत्र कहे गए हैं। भागवत में लिखा है कि चर्षली नाम्नी पत्नी से वरुण को भाद्र और वाल्मीकि नामक दो पुत्र हुए थे। वरुण अब तक जल के देवता माने जाते हैं और जलाशयोत्सर्ग में इनका पूजन होता है। साहित्य में ये वरुण रस के अधिष्ठाता माने गए हैं।

पर्याय—प्रचेतस। पाशी। यादशांपति। अंपति। यादःपति।

अपांरति । जंबूक । मेघनाद । परंजय । वारिलोम । कुंडली ।
(१) बरुना का पेड़ । (२) जल । पानी । (३) सूर्य ।
(४) एक ऋषि का नाम । (५) एक ग्रह का नाम जिसे
अंगरेजी में "नेपचून" कहते हैं । (आधुनिक)

वरुणग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों का एक रोग जो अचानक हो
जाता है । इस रोग में घोड़े का तालू, जीभ, आँख और
छिगैँद्रिय आदि अंग काले रंग के हो जाते हैं । उसका
शरीर भारी हो जाता है और पसीना छूटता है । यह रोग
भयानक होता है और बहुत यत्न करने से घोड़े के प्राण
बचते हैं ।

वरुणघृत-संज्ञा पुं० [सं०] घृत में बनी हुई एक औषध जो
अश्मरी (पथरी) रोग में दी जाती है ।

विशेष—इसमें बरुना नामक पेड़ की छाल को जल और घी
में जलाकर काथ बनाया जाता है ।

वरुणदैवत-संज्ञा पुं० [सं०] शतभिषा नक्षत्र ।

वरुणपाश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वरुण का अस्त्र पाश या फंदा ।
(२) नाक नामक जल-जंतु । नक्र ।

वरुणप्रवास-संज्ञा पुं० [सं०] एक व्रत या कृत्य जो आषाढ़ या
श्रावण की पूर्णिमा के दिन किया जाता है । इसमें लोग जौ
का सत्तू खाकर रहते हैं । इस व्रत का फल यह कहा गया
है कि व्रत करनेवाला जल में डूबता नहीं और उसे मगर,
वड़ियाल आदि जलजंतु नहीं पकड़ते ।

वरुणप्रस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन नगर जो कुरुक्षेत्र के
पश्चिम में था ।

वरुणमंडल-संज्ञा पुं० [सं०] नक्षत्रों का एक मंडल जिसमें रेवती,
पूर्वाषाढ़ा, भार्वा, आश्लेषा, मूल, उत्तराभाद्रपदा और
शतभिषा हैं ।

वरुणात्मजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वारुणी । सुरा । मदिरा । शराब ।
वरुणादिगण-संज्ञा पुं० [सं०] पेड़ों और पौधों का एक वर्ग
जिसके अंतर्गत वरुन, नीलशिटी, सहिजन, जयती, मेढासींगी,
पूतिका, नाटकरंज, अग्निमंथ (अगेंथू), चीता, शतमूली,
बेल, अजशृंगी, डाभ, बृहती और कंटकारी (भटकटैया)
हैं । (सुश्रुत)

वरुणानी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वरुण की स्त्री ।

वरुणालय-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र ।

वरुथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तलुत्राण । बकतर । (२) ढाल ।
(३) लोहे की चढ़र या सीकड़ों का बना हुआ आवरण या
झूल जो शत्रु के आघात से रथ को रक्षित करने के लिये
उसके ऊपर डाली जाती थी । (४) सैन्य । सेना । फौज ।
(५) एक प्राचीन ग्राम । (रामायण)

वरुथिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सेना ।

वरुथी-संज्ञा पुं० [सं०] वरुथिन् । [स्त्री० वरुथिनी] हाथी की काढ़ी ।

वरेंद्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा । (२) इंद्र । (३) बंगाल का
एक भाग ।

वरैण्य-वि० [सं०] (१) प्रधान । मुख्य । (२) वरणीय ।
पूजनीय ।

संज्ञा पुं० (१) भृगु के एक पुत्र का नाम । (२) महादेव ।
(३) कुंकुम । केसर ।

वरोट-संज्ञा पुं० [सं०] मरुवा । मरुवक ।

वरोल-वि० [सं०] (१) श्रेष्ठ जर्बोंवाला । (२) सुंदरी ।

वर्कट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथी का बंधन जो लकड़ी का बना
हुआ और काँटेदार होता है । (२) काँटा । कील (३)
अगरी । अर्गल ।

वर्करा-संज्ञा स्त्री० [सं०] जवान बकरी । पठिया ।

वर्कर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जवान पशु । (२) बकरा । (३) भेड़
का बच्चा । मेमना । (४) आमोद प्रमोद । परिहास ।

वर्कराट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कटाक्ष । (२) मध्याह्न के सूर्य
की प्रभा । (३) स्त्री के कुच के किनारे लगा हुआ नखक्षत ।

वर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक ही प्रकार की अनेक वस्तुओं का
समूह । जाति । कोटि । गण । श्रेणी । (२) आकार प्रकार
में कुछ भिन्न, पर कोई एक सामान्य धर्म रखनेवाले पदार्थों
का समूह । जैसे,—अंतरिक्ष वर्ग, शूद्र वर्ग, ब्राह्मण वर्ग ।
(३) शब्द शास्त्र में एक स्थान से उच्चरित होनेवाले स्पर्श
व्यंजन वर्णों का समूह । जैसे,—कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग
इत्यादि ।

विशेष—उद्योतिष में स्वर, अंतस्थ और उत्पन्न वर्ण भी (जैसे,—
अ, य, श) क्रमशः अवर्ग, यवर्ग और शवर्ग के अंतर्गत
रखे गए हैं । इस प्रकार उद्योतिष के व्यवहार के लिये सब
वर्णों के विभाग 'वर्ग' के अंतर्गत किए गए हैं और अवर्ग,
कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, यवर्ग तथा शवर्ग के स्वामी
क्रमशः सूर्य, मंगल, शुक्र, बुध, बृहस्पति, शनि और चंद्रमा
कहे गए हैं ।

(४) ग्रंथ का विभाग । परिच्छेद । प्रकरण । अध्याय । (५)
दो समान अंकों या राशियों का घात या गुणनफल । जैसे—
३ का ९, ५ का २५ (३ × ३ = ९ । ५ × ५ = २५) ।

(६) वह चौखूँटा क्षेत्र जिसकी लम्बाई चौड़ाई बराबर और
चारों कोण समकोण हो । (रेखा गणित)

वर्गचर-संज्ञा पुं० [सं०] पढ़ना या पहिना मछली । वाष्पीन ।

वर्गण-संज्ञा पुं० [सं०] गुणन । घात ।

वर्गपद्-संज्ञा पुं० [सं०] वह अंक जिसके घात से कोई वर्गांक
बना हो । वर्गमूल ।

वर्गफल-संज्ञा पुं० [सं०] वह गुणनफल जो दो समान राशियों
के घात से प्राप्त हो । वह अंक जो किसी अंक को उसी अंक
के साथ गुणा करने से आवे । जैसे,—५ का वर्गफल २५
होता है ।

वर्गमूल-संज्ञा पुं० [सं०] किसी वर्गांक का वह अंक जिसे यदि उसी से गुणन करें, तो गुणन वही वर्गांक हो। जैसे,—४ वर्गांक का वर्गमूल २ और २५ का ५ होगा।

वर्गलाना-क्रि० सं० [क्रा० 'वरगलानीदन' से] (१) कोई काम करने के लिये उभारना। कुछ करने के लिये उत्तेजित करना। उकसाना। (२) बहकाना। फुसलाना।

वर्गोत्तम-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में राशियों के वे श्रेष्ठ अंश जिनमें स्थित ग्रह शुभ होते हैं।

विशेष—चर राशि (मेघ, कर्कट, तुला, मकर) का प्रथम अंश, स्थिर राशि (वृष, सिंह, वृश्चिक, कुंभ) का पंचम अंश और ब्यात्मक राशि (मिथुन, कन्या, धनु, मीन) का नवम अंश वर्गोत्तम कहा जाता है। इसके अतिरिक्त राशियों का नवांश भी वर्गोत्तम कहा जाता है।

वर्चस्-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० वर्चस्वान्, वर्चस्वी] (१) रूप। (२) तेज। कांति। दीप्ति। (३) अन्न। (४) विद्या।

वर्चस्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दीप्ति। तेज। (२) विद्या।

वर्चस्य-वि० [सं०] तेजवर्द्धक।

वर्चस्वन-वि० [सं० वर्चस्वत्] [स्त्री० वर्चस्वती] तेजवान्। दीप्तियुक्त। समुज्ज्वल।

वर्चस्वी-वि० [सं० वर्चस्विन्] [स्त्री० वर्चस्विणी] तेजस्वी। दीप्तियुक्त।

संज्ञा पुं० चंद्रमा।

वर्जन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० वर्जनीय, वर्ज्य, वर्जित] (१) त्याग। छोड़ना। (२) ग्रहण या आचरण का निषेध। मनाही। मुमानियत। (३) हिंसा। मारण।

वर्जनीय-वि० [सं०] (१) छोड़ने योग्य। न ग्रहण करने योग्य। त्याज्य। (२) निषेध के योग्य। निषिद्ध। मना।

वर्जयिता-वि० [सं०] वर्जन करनेवाला। त्यागनेवाला।

वर्जित-वि० [सं०] (१) त्यागा हुआ। छोड़ा हुआ। त्यक्त। (२) जो ग्रहण के अयोग्य ठहराया गया हो। निषिद्ध। जैसे,—कलि में नियोग वर्जित है।

वर्ज्य-वि० [सं०] (१) छोड़ने योग्य। त्याज्य। वर्जनीय। (२) जिसका निषेध किया गया हो। जो मना हो।

वर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पदार्थों के लाल, पीले आदि भेदों का नाम। रंग। वि० दे० रंग। (२) जन-समुदाय के चार विभाग—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—जो प्राचीन आर्यों ने किए थे। जाति।

विशेष—इस शब्द का प्राचीन प्रयोग ऋग्वेद में है। वहाँ यह जनता के दो वर्गों—आर्यों और द्रव्युओं—को सूचित करने के लिये हुआ है। यह विभाग पहले रंग के आधार पर था; क्योंकि आर्यों गोरे थे और द्रव्यु या अनार्य काले। पर पीछे यह विभाग व्यवसाय के आधार पर हुआ और

चार वर्ण माने गए। पुरुषसूक्त में चारों वर्णों की उत्पत्ति का आलंकारिक रूप से इस प्रकार वर्णन है कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख से, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य जंघे से और शूद्र पैर से उत्पन्न हुए। इस व्यवस्था के अनुसार “वर्ण” शब्द की व्युत्पत्ति ‘वृ’ धातु से बताई जाती है, जिसका अर्थ है ‘चुनना’। अतः ‘वर्ण’ शब्द का अर्थ हुआ व्यवसाय। स्मृतियों में भिन्न भिन्न वर्णों के धर्म निरूपित हैं। जैसे,—ब्राह्मण का धर्म—अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह; क्षत्रिय का धर्म—प्रजारक्षा, दान, यशानुष्ठान और अध्ययन; वैश्य का धर्म—पशुपालन, कृषि, दान, यज्ञ और अध्ययन। शूद्र का धर्म—तीनों वर्णों की सेवा। व्यवसाय-भेद और सब देशों में भी चला आ रहा है, पर भारतीय आर्यों की लोकव्यवस्था में वह व्यवसायों के विचार से जाति-गत या जन्मना माना गया है। इसी ‘वर्ण’ और ‘आश्रम’ की व्यवस्था को भारतीय आर्य अपना विशेष लक्षण मानते थे और अपने धर्म को ‘वर्णाश्रम धर्म’ कहते थे। (३) भेद। प्रकार। किस। (४) आकारादि शब्दों के चिह्न या संकेत। अक्षर। (५) गुण। (६) यश। कीर्ति। (७) स्तुति। बड़ाई। (८) स्वर्ण। सोना। (९) मृदंग का एक ताल जो चार प्रकार का होता है—पाट, विधिपाट, कूटपाट और खंडपाट। (१०) रूप। (११) अंगराग। विलेपन। (१२) कुंकुम। केसर। (१३) चित्र। तस्वीर।

वर्णकंड-संज्ञा पुं० [सं०] तृत्तिया।

वर्णक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हरताल। (२) अनुलेपन। उबटन। (३) चंदन। (४) पिंसी हुई हल्दी आदि जो देवताओं को चढ़ाई जाती है। (५) मंडल। (६) चरण। (७) रंग। (८) अभिनेताओं के परिधान या परिच्छद। (९) चित्रकार।

वर्णखंडमेरु-संज्ञा पुं० [सं०] पिंगल या छंदः शास्त्र में वह क्रिया जिससे बिना मेरु बनाए मेरु का काम निकल जाता है; अर्थात् यह ज्ञात हो जाता है कि इतने वर्णों के कितने वृत्त हो सकते हैं और प्रत्येक वृत्त में कितने गुरु और कितने लघु होंगे।

विशेष—जितने वर्णों का खंडमेरु बनाना हो, उतने से एक कोष्ठ अधिक बाईं से दाहिनी ओर को बनावे। फिर उन्हीं कोष्ठों के नीचे पहला स्थान छोड़कर दूसरे स्थान से आरंभ करके ऊपर से एक कोष्ठ कम बनावे। इसी प्रकार उसी स्थान से नीचे एक कोष्ठ कम बराबर बनाता जाता जाय, जब तक एक कोष्ठ न आ जाय। इन कोष्ठों को इस प्रकार भरे। कोष्ठों की पहली पंक्ति में बाईं ओर से सब में एक एक का अंक लिखे। दूसरी पंक्ति के पहले कोष्ठ से आरंभ करके क्रमशः २, ३, ४, ५, ६ आदि अंत तक लिख जाय। इसके अनंतर कोष्ठों की प्रथम पंक्ति के तीसरे अंक

से उत्तरोत्तर नीचे की ओर वक्रगति से अंकों को जोड़कर अगले खानों में रखता जाय। अंतिम कोष्ठों में जो अंक होंगे, वे लघु गुरु के हिसाब से वृत्तों के भेद सूचित करेंगे। उदाहरणार्थ आठ वर्णों का खंडमेह बनाना हो, तो इस प्रकार करे—

१	१	१	१	१	१	१	१	१
	२	३	४	५	६	७	८	
	३	६	१०	१५	२१	२८		
	४	१०	२०	३५	५६			
	५	१५	३५	७०				
	६	२१	५६					
	७	२८						
	८							

वर्ण वृत्तों में एक भेद ऐसा होगा जिसमें सब गुरु होंगे; और एक ऐसा होगा, जिसमें सब लघु होंगे। अतः सर्व गुरु से आरंभ करके एक एक गुरु घटाते जायँ, तो भेदों की संख्या इस प्रकार होगी—१ भेद ऐसा होगा, जिसमें सब (८) गुरु होंगे। ८ भेद ऐसे होंगे जिनमें १ लघु और ७ गुरु होंगे। ८ भेद ऐसे होंगे जिनमें २ लघु और ६ गुरु होंगे। ५६ भेद ऐसे होंगे, जिनमें ३ लघु और ५ गुरु होंगे। ७० भेद ऐसे होंगे जिनमें ४ लघु और ४ गुरु होंगे। ५६ भेद ऐसे होंगे, जिनमें ५ लघु और ३ गुरु होंगे। २८ भेद ऐसे होंगे जिनमें ६ लघु और २ गुरु होंगे। ८ भेद ऐसे होंगे जिनमें ७ लघु और १ गुरु होगा। एक भेद ऐसा होगा, जिसमें सब लघु होंगे।

वर्णज्येष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] सब वर्णों में बड़ा, ब्राह्मण।

वर्णतूति, वर्णतूलिका, वर्णतूली-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह कूँची जिससे चित्रकार चित्र बनाते हैं। कलम।

वर्णदूत-संज्ञा पुं० [सं०] लिपि।

वर्णदूषक-संज्ञा पुं० [सं०] अपने संसर्ग से दूसरे को जातिभ्रष्ट करनेवाला। पंक्ति-दूषक। पतित मनुष्य।

वर्णन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० वर्णनीय, वर्ण्य, वर्णित] (१) चित्रण। रँगना। (२) किसी बात को सविस्तर कहना। कथन। बयान। उ०—सो चौबीस रूप निज कहियत वर्णन करत

विचार।—सूर। (३) स्तवन। प्रशंसा। गुणकथन। तारीफ़।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

वर्णनष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] पिंगल या छंदः शास्त्र में एक क्रिया जिसके द्वारा यह जाना जाता है कि प्रस्तार के अनुसार इतने वर्णों के वृत्तों के अमुक संख्यक भेद का रूप लघु गुरु के हिसाब से कैसा होगा।

विशेष—जितने वर्ण के प्रस्तार के किसी भेद का रूप निकालना हो, उतने लघु के चिह्न लिखकर उनके सिरे पर क्रमशः वर्णोद्दिष्ट अंक (१ से आरंभ करके क्रमशः दूने दूने अंक) लिखे। फिर अंतिम अंक का दूना करके उसमें से पूछी हुई संख्या घटावे। जो अंक शेष रहे, वह जिन जिन उद्दिष्टों के योग से बना हो, उनके नीचे की लघु मात्राओं के चिह्नों को गुरु कर दे। जो रूप सिद्ध होगा, वही उत्तर होगा। जैसे,—किसी ने पूछा कि चार वर्णों के प्रस्तार में तेरहवें भेद का रूप क्या होगा? इसके लिये हमने यह क्रिया की—

१	२	४	८

अंतिम अंक ८ का दूना १६ हुआ। उसमें से १३ घटाया, तो ३ रहा। अब हमने देखा कि ३ संख्या ऊपर दिए हुए उद्दिष्टांकों में से १ और २ जोड़ने से आ जाती है। अतः उनके नीचे गुरु बनाया तो यह रूप S S।। सिद्ध हुआ।

वर्णना-संज्ञा स्त्री० [सं०] गुण कथन।

वर्णनाश-संज्ञा पुं० [सं०] निरुक्तकार के अनुसार शब्द में किसी वर्ण का नष्ट हो जाना। जैसे—‘पृषोदर’ शब्द में ‘पृषतोदर’ शब्द के ‘त’ का नाश पाया जाता है।

वर्णपाताका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पिंगल या छंदः शास्त्र में एक क्रिया जिसके द्वारा यह जाना जाता है कि वर्णवृत्तों के भेदों में से कौन सा (पहला, दूसरा या तीसरा आदि) ऐसा है, जिसमें इतने लघु और इतने गुरु होंगे।

वर्णपाताल-संज्ञा पुं० [सं०] पिंगल या छंदः शास्त्र में एक क्रिया जिसके द्वारा यह जाना जाता है कि अमुक संख्या के वर्णों के कुल कितने वृत्त हो सकते हैं और उन वृत्तों में से कितने लघ्वादि और कितने लघ्वंत, कितने गुर्वादि और कितने गुर्वंत तथा कितने सर्वगुरु और कितने सर्वलघु होंगे।

विशेष—जितने वर्णों का पाताल बनाना हो, उतनी ही खड़ी रेखाएँ और उन्हें काटती हुई पाँच आड़ी रेखाएँ खींचें। इस प्रकार कोष्ठ बन जाने पर कोष्ठों की पहली पंक्ति में क्रम से १, २, ३, ४ आदि अंक भरे। दूसरी पंक्ति में २, ४, ६, १६ आदि वर्णसूची के अंक लिखें। तीसरी पंक्ति में सूची के अंकों के आधे लिखें; और चौथी पंक्ति में पहली और तीसरी पंक्ति

के अंकों का गुणनफल लिखे। उदाहरण के लिये ९ वर्णों का पाताल इस प्रकार होगा—

१	२	३	४	५	६	७	८	९	वर्ण संख्या !
२	४	८	१६	३२	६४	१२८	२५६	५१२	सर्व संख्या !
१	२	४	८	१६	३२	६४	१२८	२५६	लघ्वादि, लघ्वंत, गुर्वादि, गुर्वंत ।
१	४	१२	३२	८०	१९२	४४८	१०२४	२३०४	सर्व गुरु, सर्व लघु ।

इस पाताल से विदित हुआ कि ९ वर्णों के ५१२ वृत्त हो सकते हैं। इन वृत्तों में २५६ ऐसे वृत्त होंगे, जिनके आदि में लघु होंगे; २५६ ऐसे होंगे, जिनके अंत में लघु होंगे; फिर २५६ ऐसे होंगे जिनके आदि में गुरु होंगे; और २५६ ऐसे होंगे, जिनके अंत में गुरु होंगे। सब वृत्तों में कुल मिलाकर २३०४ गुरु और २३०४ लघु होंगे।

वर्णपुर-संज्ञा पुं० [सं०] शुद्ध राग का एक भेद ।

वर्णप्रत्यय-संज्ञा पुं० [सं०] छंदः शास्त्र या पिंगल में वे क्रियाएँ जिनके द्वारा यह जाना जाता है कि अमुक संख्या के वर्णवृत्तों के कितने भेद हो सकते हैं, उनके स्वरूप क्या होंगे, इत्यादि ।

विशेष—जिस प्रकार मात्रिक छंदों में ९ प्रत्यय होते हैं, उसी प्रकार वर्णवृत्तों में भी ९ प्रत्यय होते हैं—प्रस्तार, सूची, पाताल, उद्दिष्ट, नष्ट, मेरु, खंडमेरु, पताका और मर्कटी ।

वर्णप्रस्तार-संज्ञा पुं० [सं०] पिंगल या छंदः शास्त्र में वह क्रिया जिसके द्वारा यह जाना जाता है कि इतने वर्णों के वृत्तों के इतने भेद हो सकते हैं और उन भेदों के स्वरूप इस प्रकार होंगे ।

विशेष—जितने वर्णों का प्रस्तार बढ़ाना हो, उतने वर्णों का पहला भेद (सर्व गुरु) लिखे। फिर गुरु के नीचे लघु लिख कर शेष ज्यों का त्यों लिखे। फिर सब से बाईं ओर के गुरु के नीचे लघु लिखकर आगे ज्यों का त्यों लिखे; और बाईं ओर जितनी न्यूनता रहे, उतनी गुरु से भरे। यह क्रिया अंत तक अर्थात् सर्वलघु भेद के आने तक करे। उदाहरण के लिये तीन वर्णों का प्रस्तार इस प्रकार होगा—

रूप	भेद
१ १ १	पहला
१ १ २	दूसरा
१ २ १	तीसरा
१ २ २	चौथा
२ १ १	पाँचवाँ

१ १ १

छटा

१ १ २

सातवाँ

१ २ १

आठवाँ

इस प्रस्तार से प्रकट हुआ कि तीन वर्णों के आठ ही भेद हो सकते हैं; अर्थात् आठ ही प्रकार के वृत्त बन सकते हैं, अधिक नहीं।

वर्णमर्कटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पिंगल या छंदः शास्त्र में एक क्रिया जिसके द्वारा यह जाना जाता है कि इतने वर्णों के इतने वृत्त हो सकते हैं, जिनमें इतने गुर्वादि, गुर्वंत और इतने लघ्वादि लघ्वंत होंगे; तथा सब वृत्तों में मिलाकर इतने वर्ण, इतने गुरु लघु, इतनी कलाएँ और इतने पिंड (= दो कल) होंगे।

विशेष—जितने वर्ण हों, उतने खाने बाएँ से दाहिने बनावे। फिर उन खानों के नीचे उतने ही खानों की छः पंक्तियाँ और बनावे। कोष्ठों की पहली पंक्ति में १, २, ३ आदि अंक लिखे; दूसरी में वर्ण सूची के अंक (२, ४, ८, १६ आदि) लिखे; तीसरी पंक्ति में दूसरी पंक्ति के अंकों के आधे अंक भरे; चौथी में पहली और दूसरी पंक्ति के अंकों के गुणनफल लिखे; पाँचवीं में चौथी पंक्ति के आधे अंक भरे; छठी पंक्ति में चौथी और पाँचवीं पंक्ति के अंकों का योग लिखे; और सातवीं पंक्ति में छठी पंक्ति के आधे अंक भरे। उदाहरण के लिये छः वर्णों की मर्कटी इस प्रकार होगी—

१	२	३	४	५	६	वर्ण संख्या
२	४	८	१६	३२	६४	वृत्तों की संख्या
१	२	४	८	१६	३२	गुर्वादि, गुर्वंत, लघ्वादि, लघ्वंत
२	८	२४	६४	१६०	३८४	सर्व वर्ण
१	४	१२	३२	८०	१९२	गुरु लघु
३	१२	३६	९६	२४०	५७६	सर्व कला
११	६	१८	४८	१२०	२८८	पिंड

इस मर्कटी से प्रकट हुआ कि ६ वर्णों के ६४ वृत्त हो सकते हैं। ३२ वृत्त ऐसे होंगे जिनके आदि में गुरु, ३२ ऐसे जिनके अंत में गुरु, ३२ ऐसे जिनके आदि में लघु और ३२ ही ऐसे जिनके अंत में लघु होंगे। सब वृत्तों को मिलाकर ३८४ वर्ण होंगे; इत्यादि, इत्यादि।

वर्णमाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] अक्षरों के रूपों की यथा श्रेणी लिखित सूची। किसी भाषा में आनेवाले सब हरफ जो ठीक सिलसिले से रखे हों। जैसे देवनागरी में—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ए ऐ ओ औ।

क ख ग घ ङ।

च छ ज झ ञ।

ट ठ ड ढ ण।

त थ द ध न।

प फ ब भ म।

य र ल व।

श ष स ह।

अं अः।

वर्णवती संज्ञा स्त्री० [सं०] हल्दी।

वर्णविकार संज्ञा पुं० [सं०] निरुक्त के अनुसार शब्दों में एक वर्ण का बिगड़कर दूसरा वर्ण हो जाना। जैसे 'हल्दी' शब्द में 'हरिद्रा' के 'र' का 'ल' हो गया है। "द्वादश" के 'द' का "बारह" शब्द में 'र' हो गया है।

वर्णविचार-संज्ञा पुं० [सं०] आधुनिक व्याकरण का वह अंश जिसमें वर्णों के आकार, उच्चारण और संधि आदि के नियमों का वर्णन हो। प्राचीन वेदांग में यह विषय 'शिक्षा' कहा जाता था और व्याकरण से बिल्कुल स्वतंत्र माना जाता था।

वर्णविपर्यय-संज्ञा पुं० [सं०] निरुक्त के अनुसार शब्दों में वर्णों का उलट फेर हो जाना। जैसे 'हिंस' शब्द से बने 'सिंह' शब्द में हुआ है।

वर्णविलाशिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] हल्दी।

वर्णवृत्त-संज्ञा पुं० [सं०] वह पद्य जिसके चरणों में वर्णों की संख्या और लघु गुरु के क्रमों में समानता हो।

वर्णश्रेष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण।

वर्णसंकर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह व्यक्ति या जाति जो दो भिन्न भिन्न जातियों के स्त्री पुरुष के संयोग से उत्पन्न हो।

विशेष—स्मृतियों में ऐसी बहुत सी जातियाँ गिनाई गई हैं। इस विषय में एक दूसरे के मत भी नहीं मिलते। वर्णसंकर दो प्रकार के कहे गए हैं—अनुलोमज और प्रतिलोमज। अनुलोमज का पिता माता से श्रेष्ठ वर्ण का होता है और प्रतिलोमज की माता पिता से श्रेष्ठ वर्ण की होती है। प्रतिलोमज संकर प्राचीन काल में निषिद्ध माने जाते थे। अनुलोम विवाह का प्रचार प्राचीन काल में था; पर पीछे बंद हो गया। धर्मशास्त्रों में यद्यपि वर्णसंकरता के ये कारण गिनाए गए हैं—(१) व्यभिचार, (२) अवेद्यावेदन और (३) स्वकर्मत्याग; पर लोक में अंतिम बात पर ध्यान नहीं दिया जाता।

(२) वह व्यक्ति जो ऐसे स्त्री पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ

हो, जो धर्मानुसार विवाहित न हों। व्यभिचार से उत्पन्न मनुष्य। दोगला।

वर्णसमाधाय-संज्ञा पुं० [सं०] वर्णमाला।

वर्णसूची-संज्ञा स्त्री० [सं०] छंदः शास्त्र या पिंगल में एक क्रिया जिसके द्वारा वर्णवृत्तों की संख्या की शुद्धता, उनके भेदों में आदि अंत लघु और आदि अंत गुरु की संख्या जानी जाती है।

विशेष—जितने वर्णों की सूची देखनी हो, उतने वर्णों की संख्या तक क्रम से १, ४, ८ इत्यादि अर्थात् उत्तरोत्तर दूने अंक लिखे। इस क्रिया के अंत में जो संख्या आवेगी, वह वृत्त-भेद की संख्या होगी। अंत के अंक से बाईं ओर जो अंक होगा, उतने आदि लघु और अंतलघु तथा आदिगुरु और अंतगुरु होंगे। फिर उससे भी बाईं ओर अर्थात् अंत से तीसरे कोष्ठ में जो अंक होगा, उतने ही आद्यंत लघु और आद्यंत गुरु वृत्त होंगे। उदाहरणार्थ ४ वर्णों की सूची यह है—

२	४	८	१६
	आदि लघु	आदि लघु आदि गुरु	सू ची

वर्णा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अरहर।

वर्णाधिप-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार ब्राह्मणादि वर्णों के अधिपति ग्रह। (ब्राह्मण के अधिपति बृहस्पति और शुक्र, क्षत्रिय के भीम और रवि, वैश्य के चंद्र, शूद्र के बुध और अंत्यज के शनि माने जाते हैं।)

वर्णार्ह-संज्ञा पुं० [सं०] मूँग।

वर्णि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वर्ग। सोना। (२) वलि।

वर्णिक-संज्ञा पुं० [सं०] लेखक।

वर्णिक वृत्त-संज्ञा पुं० [सं०] वह वृत्त या छंद जिसके प्रत्येक चरण के वर्णों की संख्या और लघु गुरु के स्थान समान हों।

वर्णिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कठिनी। खड़िया। (२) मसि। स्याही। (३) सोने का पानी। (४) चंद्रमा। (५) विलेपन।

वर्णित-वि० [सं०] (१) कथित। कहा हुआ। (२) जिसका वर्णन हो चुका हो। बयान किया हुआ।

वर्णी-संज्ञा पुं० [सं० वर्णिन्] (१) लेखक। (२) चित्रकार। (३) ब्रह्मचारी।

वर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक नदी का नाम। बन्नू। आदित्या। (२) बन्नू नामक देश।

वर्णोद्दिष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] छंदः शास्त्र में एक क्रिया जिसके द्वारा यह जाना जाता है कि अमुक संख्यक वर्णवृत्त का कोई रूप कौन सा भेद है।

विशेष—जो भेद दिया गया हो, उसमें लघु गुरु के ऊपर क्रम से दूने अंक अर्थात् १, २, ४, ८ इत्यादि लिखें। फिर लघु के ऊपर जितने अंक हों, उन्हें जोड़कर उसमें १ और जोड़ दें। जैसे,—किसी ने पूछा कि चार वर्ण के वृत्तों में ॥५५ कौन सा भेद है, तो यह क्रिया की—

१ २ ४ ८
। । ५ ५

अब लघु वर्णों के ऊपरके अंक (१ + २) जोड़ने से ३ हुए। उसमें एक जोड़ने से ४ हुए। इससे विदित हो गया कि यह चौथा भेद है।

वर्ण्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुंकुम। (२) बनतुलसी। बवई। (३) प्रस्तुत विषय। (४) उपमेय।

वि० (१) वर्णन के योग्य। (२) जो वर्णन का विषय हो।

वर्तक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बटुवा। (२) नर बटेर। (३) घोड़े का खुर।

वर्तका, वर्तकी—संज्ञा स्त्री० [सं०] बटेर।

वर्तन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० वर्तित] (१) बरताव। व्यवहार। (२) व्यवसाय। जीवनोपाय। वृत्ति। रोज़ी। (३) फेरना। घुमाना। बटना। (४) परिवर्तन। फेर फार। (५) स्थिति। ठहराव। (६) व्यापन। रखना। (७) सिल बट्टे से पीसना। पेषण। बटना। (८) वर्तमान। (९) चरखे की वह लकड़ी जिसमें तकला लगा रहता है। (१०) बटलोई। बटुला। (११) पात्र। बरतन। (१२) घाव में सलाई डालकर हिलाना डुलाना, जिससे घाव या नासूर की गहराई और फैलाव आदि का पता लगता है। शल्यकर्म। (१३) विष्णु। (१४) कोआ।

वर्तना—क्रि० प्र०, क्रि० स० दे० 'बरतना'।

वर्तनि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूर्व दिशा। पूर्व देश। (२) बाट। रास्ता। (३) शुद्ध राग का एक भेद।

वर्तनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बट्टने की क्रिया। पेषण। पिसाई। (२) बाट। रास्ता।

वर्तमान—वि० [सं०] (१) चलता हुआ। जो जारी हो। जो चल रहा हो। (२) उपस्थित। मौजूद। विद्यमान। (३) साक्षात्। (४) आधुनिक। हाल का।

संज्ञा पुं० (१) व्याकरण में क्रिया के तीन कालों में से एक, जिससे सूचित होता है कि क्रिया अभी चली चलती है, समाप्त नहीं हुई है।

विशेष—वर्तमान के कई भेद होते हैं। “वह आता है” इस क्रिया में क्रिया में आरंभ और चला चलना पाया जाता है, समाप्ति नहीं; इससे यह सामान्य वर्तमान है। कभी कभी वर्तमान के प्रयोग द्वारा ‘नित्य प्रवृत्ति’ भी पाई जाती है। जैसे,—“भारत के उत्तर में हिमालय है”। कभी

कभी “वृत्ताविरतता” भी पाई जाती है। जैसे,—“इस मैदान में लड़के खेलते हैं”। इस वाक्य से यह सूचित होता है कि चाहे कहने के समय लड़के न खेलते रहे हों, पर उसके पूर्व कई बार खेल चुके हैं और आगे भी बराबर खेलेंगे। इसी प्रकार “वह मांस नहीं खाता” इस वाक्य में “प्रवृत्तोपरता” पाई जाती है; अर्थात् वह जन्म से ही मांस नहीं खाता। इसी प्रकार और भी भेद हैं।

(२) वृत्तांत। समाचार। (३) चलता व्यवहार। उ०—तुम पाँच सात पीढ़ियों के वर्तमान को सनातन व्यवहार मानते हो।—सत्यार्थ प्रकाश।

वर्त्तक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक नदी का नाम। (२) कौवे का घोंसला। (३) द्वारपाल।

वर्त्तलोह—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का लोहा।

विशेष—वैद्यक में शोथे हुए वर्त्तलोह को कफ, दाह और पित्त का नाशक और उसके स्वाद को कटु, मधुर और तिक्त लिखा है। यह वही लोहा है, जिसके विदरी बरतन बनते हैं।

पर्या०—वर्त्ततीक्ष्ण। वर्त्तक। लोहसंकट। नीलक। नीलज। नीललोह।

वर्त्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बत्ती। (२) अंजन। (३) वह बत्ती जो वैद्य घाव में देता है। (४) औषध बनाना। (५) अनुलेपन। उबटन। (६) गोली। बट्टी।

वर्त्तिक—संज्ञा पुं० [सं०] बटेर।

वर्त्तिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बटेर। (२) अजशृंगी। (३) बत्ती। (४) शलाका। सलाई।

वर्त्तिकाविदु—संज्ञा पुं० [सं०] हीरे का एक दोष। (इस प्रकार के हीरे को धारण करने से भय उत्पन्न होता है।—रत्न परीक्षा।)

वर्त्तित—वि० [सं०] (१) संपादित। निष्पादित। किया हुआ। (२) चलाया हुआ। जारी किया हुआ। (३) दुरुस्त किया हुआ।

वर्त्तिर—संज्ञा पुं० [सं०] बटेर।

वर्त्ती वि० [[सं० वर्त्तिन्] [स्त्री० वर्त्तिनी] (१) वर्त्तनशील। बरतनेवाला। (२) स्थित रहनेवाला। जैसे,—समीपवर्त्ती। संज्ञा स्त्री० (१) बत्ती। (२) शलाका। सलाई।

वर्त्तुल—वि० [सं०] गोल। वृत्ताकर।

संज्ञा पुं० (१) गृजन। गाजर। (२) मटर। (३) गुंडतृण। (४) सुहागा।

वर्त्म—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मार्ग। पथ। (२) गाड़ी के पहिए का मार्ग। लीक। (३) किनारा। औंठ। बारी। (४) आँख की पलक। (५) आवार। आश्रय।

वर्मकर्म-संज्ञा पुं० [सं०] आँख का एक रोग जिसमें पित्त और रक्त के प्रकोप से आँखों में कीचड़ भरा रहता है।

वर्मबंध-संज्ञा पुं० [सं०] आँख का एक रोग जिसमें पलक में सूजन हो आती है, खुजली तथा पीड़ा होती है और आँख नहीं खुलती।

वर्ममाक्षिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्वर्ण माक्षिका। सोना माखी।

वर्मरोग-संज्ञा पुं० [सं०] आँख का एक रोग जिसमें पलकों में विकार उत्पन्न हो जाता है और आँखों को खोलने से बड़ी पीड़ा होती है। वैद्यक में इस रोग के २१ भेद माने गए हैं—उत्संगिनी, कुम्भिका, पोथकी, वर्माशर्करा, वर्मशर्श, शुष्काशर्श, अंजन-दूषिका, बहुलवर्म, वर्मवधक, क्लिष्टवर्म, वर्मकर्म, दयाव-वर्म, प्रक्तिन्नवर्म, अक्तिन्नवर्म, वातहतवर्म, वर्मावर्ध, निमेष, शोणितार्श, नगण, विष-वर्म और कुंचन।

वर्मशर्करा-संज्ञा स्त्री० [सं०] आँख का एक रोग जिसमें पलकों में छोटी छोटी कुंभियों के सहित एक बड़ी और कड़ी कुंसी हो जाती है।

वर्मरूपा-संज्ञा स्त्री० [सं०] आँखों का एक रोग। वर्मरोग।

वर्मरुद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] आँखों का एक रोग जिसमें पलक के अंदर एक गाँठ उत्पन्न हो जाती है। यह टेढ़ी और लाल रंग की होती है और इसमें पीड़ा नहीं होती।

वर्मावरोध-संज्ञा पुं० [सं०] वर्मरोग।

वर्दी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वर्ती = बत्ती। सूँज की पत्ती जो गज के ढीले होने पर चरखे में लगाई जाती है।

संज्ञा स्त्री० दे० “वरदी”।

वर्द्ध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सीसा धातु। (२) भारंगी। (३) काटना। तराशना। (४) पूर्ति। पूरण।

वर्द्धन-वि० [सं०] (१) बढ़ानेवाला। पूरक। (२) काटनेवाला। छीलनेवाला।

वर्द्धकी संज्ञा पुं० [सं०] वर्द्धकि, वर्द्धकिन्) बढ़ई। लकड़ी का काम करनेवाला।

वर्द्धन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० वर्द्धित] (१) बढ़ाना। (२) वृद्धि। बढ़ती। उन्नति। (३) छेदना। काटना। छीलना। तराशना।

वर्द्धमान-वि० [सं०] (१) बढ़ता हुआ। जो बढ़ता जा रहा हो। (२) बढ़नेवाला। वर्द्धनशील।

संज्ञा पुं० (१) एक वर्ण वृत्त जिसके चारों चरणों में वर्णों की संख्या भिन्न होती है; अर्थात् १४, १३, १८ और १५।

विशेष—इसके चारों चरणों में वर्णों की संख्या इस प्रकार होती है—प्रथम चरण—मगण, सगण, जगण, भगण, गुरु, गुरु; द्वितीय चरण—सगण, नगण, जगण, रगण, गुरु; तृतीय चरण—नगण, नगण, सगण, नगण, नगण, सगण; और चतुर्थ चरण—नगण, नगण, नगण, जगण, यगण।

४१२

यथा—गोविंदा पद में जु, मित्त चित्त लगैहौ। निहचै यहि अवसिंधु पाइ जैहौ। असत सकल जग मोह मदीहि सब तज रे। तन मन धन सन भजिए हरि को रे।

(२) मिट्टी का प्याला। सकोरा। (३) जैनियों के २४ वें जिन महावीर का नाम। (४) बंगाल का एक जिला और नगर।

वर्द्धयिता-संज्ञा पुं० [सं०] वर्द्धयित्] [स्त्री० वर्द्धयित्री] बढ़ानेवाला।

वर्द्धा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम जो सतपुरा के पर्वतों से निकलकर गोदावरी में गिरती है। मध्य प्रदेश की भमरावती नगरी इसी नदी के किनारे बसी है।

वर्द्धायन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कर्ण वेध। नाड़ी छेदन। कन-छेदन। (२) महाराष्ट्र देश में अभ्यंगादि क्रिया जो किसी पुरुष की जन्मतिथि को की जाती है।

वर्द्धित-वि० [सं०] (१) बढ़ा हुआ। (२) पूर्ण। (३) छिन्न। कटा हुआ।

वर्द्धिगुण-संज्ञा पुं० [सं०] वह सफेद रंग का बकरा जिसके कान नदी में पानी पीते समय पानी में डू जायँ।

वर्द्ध-संज्ञा पुं० [सं०] चमड़ा। खाल।

वर्द्धिका, वर्द्धी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चमड़े की रस्सी। बड़ी। (२) एक प्रकार का आभूषण जिसे बड़ी कहते हैं।

वर्द्ध-संज्ञा पुं० [सं०] वर्द्धन्] (१) वह फोड़ा जो जाँव के मूल में संधिस्थान में निकल आता है। यह फोड़ा कठिन होता है। इसके रोगी को ज्वर आता है, शूल होता है, और वह सुस्त पड़ा रहता है। बढ़। (२) अंत्रवृद्धि रोग। आँत उत्तरने का रोग।

वर्म-संज्ञा पुं० [सं०] वर्मन्] (१) कवच। बकतर। (२) घर। (३) पित्त पापड़ा। पर्पटक।

वर्मक-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक जनपद का नाम जिसे अब ‘वरमा’ कहते हैं।

वर्मकंडक-संज्ञा पुं० [सं०] पित्तपापड़ा। पर्पटक।

वर्मकषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सातला। ससला।

वर्महर-वि० [सं०] वर्महर। कवचधारी।

वर्मा-संज्ञा पुं० [सं०] वर्मन्] क्षत्रियों आदि की उपाधि जो उनके नाम के अंत में लगाई जाती है।

वर्मि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली।

वर्मित-वि० [सं०] कवचधारी। कृतसन्नाह।

वर्थ्य-वि० [सं०] (१) प्रवान। (२) श्रेष्ठ।

विशेष—इसका प्रयोग विशेषतः समस्त पदों में होता है। जैसे,—विद्धवर्थ्य।

संज्ञा पुं० कामदेव।

वर्थ्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कन्या। (२) पतिवरा बध। (३) भरहर।

वर्षवर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] लोबिया। बोड़ा। बजरबटू।

वर्षवर्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नीली मक्खी।

वर्षवर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक देश का नाम। (२) इस देश का असभ्य निवासी जिसके बाल घुँघराले कहे गए हैं।

विशेष—यद्यपि वर्षवर्ष देश का उल्लेख महाभारत (भीष्म पर्व) तथा वामन, मार्कण्डेय आदि पुराणों में है, पर यह जनपद कहाँ था, इसका ठीक ठीक पता नहीं। कहीं कहीं वर्षवर्षों के बाल घुँघराले कहे गए हैं। पुराने यूनानी और रोमन भौगोलिकों ने सिंधु नद के मुहाने के आसपास के प्रदेश को वर्षवर्ष (Barbarion) देश कहा है। कुछ भारतीय ग्रंथकारों ने महाराष्ट्र देश के एक विशेष भाग को वर्षवर्ष कहा है। वर्षवर्ष नाम की एक प्राकृत भाषा का उल्लेख भी 'प्राकृतचन्द्रिका' में है। इसमें संदेह नहीं कि इस जनपद के निवासी असभ्य समझे जाते थे और घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। पीछे से दूर दूर तक की सभ्य जातियों में यह शब्द 'म्लेच्छ' और 'जंगली' का वाचक हुआ। प्राचीन यूनानी अपनी जाति के लोगों के अतिरिक्त औरों को 'वर्षवर्ष' कहा करते थे। रोमनों में भी ऐसा ही था।

(१) पामर। नीच। (४) घुँघराले बाल। (५) काली बन तुलसी। (६) हिंगुल। ईगुर। (७) पीला चंदन।

वर्षवर्षक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का चंदन। इसका गुण शीतल, कफ, वायु, पित्त, कोढ़, खाज और व्रण तथा रक्त दोष का नाशक और स्वाद कड़ुवा माना गया है।

पर्याय—वर्षवर्षोत्थ। शीत। पिच्छारि।

वर्षवर्षी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बन तुलसी।

वर्षवर्षीक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भारंगी। (२) बन तुलसी। (३) महाकाल।

वर्षवर्षर-संज्ञा पुं० [सं०] बबूल।

वर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वृष्टि। जलवर्षण। (२) काल का एक मान जिसमें दो अयन और बारह महीने होते हैं। उतना समय जितने में सब ऋतुओं की एक आवृत्ति हो जाती है। संवत्सर। साल।

विशेष—वर्ष चार प्रकार के होते हैं—सौर, चांद्र, सावन और नाक्षत्र। सौर वर्ष ३६५ दिन, ५ घंटे, ४८ मिनट और ४६ सेकंड का होता है। यह उतना समय है, जितने में पृथ्वी सूर्य की एक परिक्रमा पूरी कर लेती है। पृथ्वी के इसी भ्रमण के कारण सूर्य का सत्ताईस नक्षत्रों और बारह राशियों गमन दिखाई पड़ता है। लोग कहते हैं कि अब सूर्य अमुक नक्षत्र या राशि में है। धूमते समय पृथ्वी की धुरी सीधी न रहकर कुछ टेढ़ी रहती है और उसके मार्ग की कक्षा गोल न होकर अंडाकार होती है। इसी से सूर्य कुछ महीनों तक भूमध्यरेखा के उत्तर और कुछ महीनों तक दक्षिण में उदय

होता दिखाई पड़ता है। ये दोनों 'उत्तर अयन' और 'दक्षिण अयन' कहलाते हैं। वर्ष में केवल दो दिन सूर्य भूमध्य या विषुवत् रेखा पर उदय होता है। इन दोनों को सायन कहते हैं। एक सायन तुला राशि में और दूसरा मेष में होता है। सूर्य कर्क राशि में आकर दक्षिण की ओर बढ़ने लगता है और धनु राशि में पहुँचने तक भूमध्यरेखा के दक्षिण ही रहता है। मकर राशि से फिर उत्तर की ओर बढ़ने लगता है और कर्क राशि में पहुँचने तक उत्तर ही रहता है। प्राचीन भारतीय आर्यों में राशियों का व्यवहार न था; इससे सौर वर्ष दो अयनों का ही माना जाता था। ग्रहों का उदय राशियों में न माना जाकर २७ नक्षत्रों में माना जाता था। इससे कभी कभी बड़ी अव्यवस्था होती थी। चांद्र वर्ष ३५४ दिन, ८ घंटे, ४८ मिनट और ३६ सेकंड का होता है। इतने काल में चंद्रमा पृथ्वी की बारह परिक्रमाएँ कर लेता है। इस प्रकार सौर वर्ष और चांद्र वर्ष में प्रति वर्ष १० दिन, २१ घंटे का अंतर पड़ता है। हिन्दू पंचांग में यह अंतर प्रति तीसरे वर्ष १३ महीने का वर्ष मानकर दूर किया जाता है। उस बड़े हुए महीने को 'अधिमास' या 'मलमास' कहते हैं। सावन वर्ष पूरे ३६० दिनों का होता है और उसके महीने तीस तीस दिन के होते हैं। वैदिक काल में सावन मास ही अधिक चलता था और प्रत्येक मास की तिथि की गणना चंद्रमा के ही हिसाब से होती थी। शुक्ल प्रतिपदा से पूर्णिमा तक १५ दिन का शुक्ल पक्ष और कृष्ण प्रतिपदा से अमावास्या तक १५ दिन का कृष्ण पक्ष होता था। नाक्षत्र वर्ष ३२४ दिन का और उसका प्रत्येक महीना २७-२७ दिन का होता है। इन चार प्रकार के वर्षों के अतिरिक्त प्राचीन काल में और कई प्रकार के वर्षों का प्रचार था। जैसे,—सप्तर्षि वर्ष।

(३) पुराण में माने हुए सात द्वीपों का एक विभाग। (४) किसी द्वीप का प्रधान भाग जैसे,—भारतवर्ष। (५) मेघ। बादल।

वर्षकर-संज्ञा पुं० [सं०] मेघ।

वर्षकरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] झिल्ली। झींगुर।

वर्षकाम-वि० [सं०] वृष्टि की कामना रखनेवाला। वृष्टि चाहनेवाला।

वर्षकामेष्टि-संज्ञा पुं० [सं०] एक यज्ञ जो वर्षों के लिये किया जाता था।

वर्षकाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] ज़ीरा।

वर्षकंतु-संज्ञा पुं० [सं०] लाल रंग की पुनर्नवा। लाल गद्दहूरना।

वर्षकोष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दैवज्ञ। ज्योतिषी। (२) माष। डब्ब।

वर्षगाँठ-संज्ञा स्त्री० [हि० वर्ष + गाँठ] वह कृत्य जो किसी पुरुष के जन्म दिन पर किया जाता है। वि० दे० “बरस गाँठ।
वर्षघ्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पवन। (२) ग्रहों का वह योग जिससे वर्षा नष्ट हो जाती है।

वर्षण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० वर्षित] वृष्टि। बरसना।

वर्षधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ। बादल (२) अंतःपुर रक्षक। नपुंसक। खोजा।

वर्षधर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] अंतःपुर-रक्षक। नपुंसक। खोजा।

वर्षप, वर्षपति-संज्ञा पुं० [सं०] वर्ष के अधिपति ग्रह।

विशेष—फलित ज्योषित में वर्ष प्रवेश होने पर कोई न कोई ग्रह उस वर्ष के अधिपति या राजा माना जाता है। इसी अधिपति के विचार से यह बताया जाता है कि वर्ष शुभ होगा या अशुभ।

वर्षपाकी-संज्ञा पुं० [सं० वर्षपाकिन] आन्नातक। आमड़ा।

वर्षफल-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योषित में जातक के अनुसार वह कुंडली जिससे किसी के वर्ष भर के ग्रहों के शुभाशुभ फलों का विवरण जाना जाता है।

क्रि० प्र०—निकालना।—बनाना।

वर्षाश-संज्ञा पुं० [सं०] महीना।

वर्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह ऋतु जिसमें पानी बरसता है।

विशेष—छः ऋतुओं के हिसाब से सावन और भादों में दो महीने वर्षा ऋतु के माने जाते हैं। पर साधारण व्यवहार में जाड़ा, गरमी और बरसात के हिसाब से वर्षा काल आषाढ़ से कुम्भार तक चार महीने का लिया जाता है, जिसे चातुर्मास या ‘चौमासा’ कहते हैं।

पर्याय—प्रावृत्। पावस। घनागम। घनाकर।

(२) पानी बरसने की क्रिया या भाव। वृष्टि।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—(किसी वस्तु की) वर्षा होना = (१) बहुत अधिक परिमाण में ऊपर से गिरना। जैसे,—फूलों की वर्षा होना। (२) बहुत अधिक संख्या में मिलना। जैसे,—वहाँ रुपयों की वर्षा होती है।

वर्षाकाल-संज्ञा पुं० [सं०] वर्षा ऋतु। बरसात।

वर्षागम-संज्ञा पुं० [सं०] वर्षा ऋतु का आगमन। वर्षारंभ।

वर्षाधिप-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योषित के अनुसार वह ग्रह जो संवत्सर के वर्ष का अधिपति हो। वि० दे० “वर्षपति”।

वर्षाप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] चातक। पपीहा।

वर्षावीज-संज्ञा पुं० [सं०] मेघ। बादल।

वर्षाभू-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भेक। दादुर। मेढ़क। (२) इंद्र-गोप। ग्वालिन नाम का कीड़ा। (३) लाल रंग की पुन-नवा। (४) कीड़े मकोड़े।

वि० वर्षा में उत्पन्न होनेवाला।

वर्षामिद-संज्ञा पुं० [सं०] मयूर। मोर।

वर्षायस-वि० [सं०] नब्बे बरस से ऊपर की अवस्था का। अति वृद्ध।

वर्षार्ची-संज्ञा पुं० [सं०] मंगल ग्रह।

वर्षात-संज्ञा पुं० [सं०] फतिगा। पसंग।

वर्षाहिक-संज्ञा पुं० [सं०] बरसाती साँप जिसमें विष नहीं होता।

वर्षेश-संज्ञा पुं० [सं०] वर्षाधिप। वि० दे० “वर्षपति”।

वर्ष्मा-संज्ञा पुं० [सं० वर्मन] (१) शरीर। (२) प्रमाण। (३) इयत्ता। (४) जल-रोधक। बाँध।

वर्ह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोर का पंख। (२) गँठिवन। ग्रंथि-पर्णी। (३) पत्र। पत्ता।

वर्हण-संज्ञा पुं० [सं०] पत्र। पत्ता।

वर्हा-संज्ञा पुं० [सं० वर्हस्] (१) अग्नि। (२) दीप्ति। (३) यज्ञ। (४) कुश। (५) चित्रक। चीते का पेड़। (६) एक राजा का नाम।

वर्हिषद्-संज्ञा पुं० [सं०] एक पितर का नाम।

वर्ही-संज्ञा पुं० [सं० वर्हिन] (१) मयूर। मोर। (२) कश्यप के एक पुत्र का नाम। (३) तगर।

वर्लंब-संज्ञा पुं० [सं०] अवलंब। सहारा।

वल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ। (२) एक भलुर का नाम।

यह देवताओं की गौएँ चुराकर एक गुहा में जा छिपा था।

इंद्र उस गुहा को छेँककर उसमें से गौओं को छुड़ा लाए थे।

फिर वल ने बैल का रूप धारण किया और वह वृहस्पति के हाथ से मारा गया।

वलक-संज्ञा पुं० [सं०] मार्कंडेय पुराणानुसार तामस मन्वन्तर के सप्तर्षियों में से एक ऋषि का नाम।

वलहिष-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

वलन-संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष शास्त्रानुसार ग्रह, नक्षत्रादि का सायनांश से हटकर चलना। विचलन।

वलनांश-संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष के अनुसार अयनांश से किसी ग्रह के चलन अर्थात् हटकर चलने या वक्रगति की दूरी का अंश।

वलभी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह मंडप जो घर के ऊपर शिखर पर बना हो। रावटी। (२) घर की चोटी। (३) छानी। (४) एक पुरानी नगरी जो काठियावाड़ में थी और जिसके खंडहर अब तक मिलते हैं।

विशेष—यहाँ एक प्रसिद्ध राजवंश का राज्य था, जिसके संस्थापक सेनापति भट्टार्क थे।

वलय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मंडल। (२) कंकड़। (३) चूड़ी। (४) वेष्टन। (५) अठारह प्रकार के गलगंड रोगों में से एक।

इसमें कफ के कारण गले के अंदर उस नली में जिसमें से होकर अन्न जल पेट में जाता है, एक गाँठ उत्पन्न हो जाती

है। यह गाँठ ऊँची और बड़ी होती है और अन्न जल के जाने का मार्ग रोक देती है। वैद्य लोग इसे असाध्य मानते हैं। (१) दंड व्यूह का एक भेद।

वर्णयित-वि० [सं०] वेष्टित। परिवृत्त। घेरा हुआ।

वर्णवला-संज्ञा पुं० [अ०] उर्मंग। आवेष्ट।

वर्णसूदन-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

वर्णहंता-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

वर्णका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बगला।

वर्णाट-संज्ञा पुं० [सं०] मूँग।

वर्णाटक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ। बादल। (२) पर्वत। (३) एक दैत्य का नाम। (४) साँपों की एक जाति जो दुर्वाकर के अंतर्गत मानी जाती है। (५) मुस्तक। मोथा। (६) श्रीकृष्ण के रथ के एक घोड़े का नाम। (७) एक नद का नाम। (८) कुश द्वीप के एक पर्वत का नाम।

वर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रेखा। लकीर। (२) चंदन आदि से बनाई हुई रेखा। (३) सिंघुदने के कारण पड़ी हुई लकीर। झुर्रियाँ। (४) पेट के दोनों ओर पेटी के सिंघुदने से पड़ी हुई रेखा। बल। जैसे,—त्रिवली। (५) देवता को चढ़ाने की वस्तु। (६) राजकर। (७) एक दैत्य जो प्रह्लाद का पौत्र था और जिसे विष्णु ने वामन अवतार लेकर छला था।

विशेष—दे० “वर्ण”।

(८) श्रेणी। पंक्ति। (९) बवासीर का मरसा। (१०) छाजन की ओलती। (११) गंधक। (१२) एक प्रकार का बाजा।

वर्णिक-संज्ञा पुं० [सं०] घर की छत या छाजन की ढाल का अंत जहाँ से पानी गिरता है। ओलती।

वर्णित-वि० [सं०] (१) बल खाया हुआ। लचका हुआ। (२) झुकाया हुआ। मोड़ा हुआ। (३) परिवृत्त। आवेष्टित। घेरा हुआ। (४) जिसमें झुर्रियाँ पड़ी हों। जो जगह जगह से सुकड़ा हो। (५) लिपटा हुआ। लगा हुआ। उ०—उरज मलय शैल शील सम सुनि देखि अलक वर्णित व्याल आशा कर आए हैं।—केशव। (६) आच्छादित। ढका हुआ। उ०—कंटक-कलित नून वर्णित विध्वजल।—केशव। (७) युक्त। सहित। उ०—श्री रघुबर के इष्ट अश्रुवर्णित सीता नयन।—केशव।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग ‘कलित’ आदि के समान काव्य की भाषा में बहुत अधिक होता है।

संज्ञा पुं० (१) काली मिर्च। (२) नृत्य में हाथ मोड़ने की एक मुद्रा।

वर्णमुख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बालर। (२) गरम दूध में मट्ठा मिलने से उत्पन्न छठा विकार।

वर्ण-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) झुर्रियाँ। शिकन। (२) अवली। श्रेणी।

(३) रेखा। लकीर। (४) चंदन आदि से बनाई हुई लकीर।

(५) पेट के दोनों ओर पेटी के सिंघुदने से पड़ी हुई लकीर। जैसे,—त्रिवली।

संज्ञा पुं० [अ०] (१) मालिक। स्वामी। (२) शासक। हाकिम। अधिपति।

यौ०—वलीअहद।

(३) साधू। फकीर।

यौ०—वली खंगर = साधू होने का झूठा दावा रखनेवाला। धर्मध्वजी साधु।

वलीअहद-संज्ञा पुं० [अ०] खुवराज। टीका। टिकैत।

वलीक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घर की छत या छाजन की ओलती। (२) सरकंडा। शर।

वलूक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पद्ममूल। भिस्ता। भसींड। कमल की जड़। (२) एक प्रकार का पक्षी।

वलक-संज्ञा पुं० [सं०] पेड़ों के धड़ और कांड पर का आवरण। वल्कल। छाल।

यौ०—वलकतरु। वल्कदुम।

वलकतरु-संज्ञा पुं० [सं०] सुपारी का वृक्ष।

वलकदुम-संज्ञा पुं० [सं०] भोजपत्र का वृक्ष।

वलकल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वृक्ष की छाल। पेड़ों के धड़ और कांड पर का आवरण।

पर्या०—त्वक्। वल्क। चोच। चोलक। शल्क।

(२) वृक्ष की छाल का वल्क, जिसे अरण्यवासी मुनि और तपस्वी पहना करते थे। (३) ऋग्वेद की वाष्कल नामक शाखा।

वलकला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सफेद रंग का प्रकार का एक पत्थर जिसका गुण शीतल और शांतिकारक माना जाता है। शिलावलक। (२) तेजवल।

वलकली-वि० [सं० वल्कलि] वल्कल या पेड़ की छाल पहनने-वाला। वल्कलधारी।

वलकलोध्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की लोध्र। पठानी लोध्र।

वलकल-संज्ञा पुं० [सं०] कंटक। काँटा।

वलगन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घोड़े का कूदते या उछलते हुए चलना। दुलकी। (२) बहुत सी इधर उधर की बातें कहना। बहुत बकना।

वल्गा-संज्ञा स्त्री० [सं०] लगाम। बाग।

वल्गु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छाग। बकरा। (२) बौद्धों के बोधि-द्रुम के चार अधिष्ठाता देवताओं में से एक।

वि० सुंदर। खूबसूरत।

वल्गुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंदन। (२) विपिन। बन। (३) पण। बाज़ी। (४) सौदा।

वि० रुचिर। सुंदर।

वल्गुजंघ-संज्ञा पुं० [सं०] विश्वामित्र के एक पुत्र का नाम।

बल्लभ-संज्ञा पुं० [सं०] [ली० बल्लभ] छाग । बकरा ।

बल्लभ-संज्ञा पुं० [सं०] बनभूँग ।

बल्लभपोदिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लहसुआ नाम का साग ।
(२) एक प्रकार की लता ।

बल्लभ-संज्ञा पुं० [सं०] शृगाल । गीदड़ ।

बल्लभ-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बकुची । (२) चमगादड़ ।

बल्लभलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कथई रंग का पतंग जाति का कीड़ा जिसे "तैलपायी" भी कहते हैं । चपड़ा । (२) मंजूषा । झाबा । पिटारा ।

बल्लभली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चमगादड़ । गादुर । (२) मंजूषा । झाबा । पिटारा ।

बल्लभ-संज्ञा पुं० [अ०] औरस वेदा । पुत्र ।

विशेष—किसी मनुष्य के कुल के परिचय के लिये उसके नाम के आगे इस शब्द का व्यवहार करके उसके पिता का नाम रखा जाता है । जैसे,—“गोकुल बल्लभ बल्लभदेव” अर्थात् ‘गोकुल, बेटा बल्लभदेव का’ । दस्तावेजों और सरकारी कागजों आदि में, जिनकी भाषा उर्दू होती है, इस शब्द का प्रयोग अधिक होता है ।

बल्लभयत-संज्ञा स्त्री० [अ०] पिता के नाम का परिचय । बाप के नाम का पता । जैसे,—अपनी बल्लभयत और सकूनत लिखाओ ।

बल्लभक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दीमकों का लगाया हुआ मिट्टी का ढेर । बाँवी । बिमौट । (२) बाल्मीकि मुनि । (३) वह मेघ जिस पर सूर्य की किरणें पड़ती हों । (४) एक प्रकार का रोग जिसमें त्रिदोष के कारण गले, कंधे, कोंल, हाथ, पैर और संधि-स्थानों (जोड़ों) में सूजन हो जाती है, जो क्रमशः गाँठ की तरह कड़ी हो जाती है । इसमें सूई चुभने की सी पीड़ा होती है और पकने पर अनेक छेद हो जाते हैं । यदि आरंभ में ही इसकी चिकित्सा न की जाय, तो यह रोग असाध्य हो जाता है ।

बल्लभकशीर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] स्रोतांजन । लाल सुरमा ।

बल्लभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक मान जो तीन गुंजा या रत्ती के बराबर तौल में होता है । (वैद्यक में दो गुंजा का एक 'बल्ल' है ।) माना गया है । राजनिबंद १॥ घुँघची का ही बल्ल मानता (२) खलियान में भूसा मिले हुए अनाज के दाने को ऊपर से गिराना, जिसमें हवा के जोर से भूसा अलग हो जाय । बरसाना । ओसाना । (३) निषेध । (४) आवरण । (५) सलई का पेड़ । (६) बौरा ।

बल्लभक-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र में रहनेवाला एक प्रकार का जंतु ।

बल्लभकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बीणा । (२) सलई का वृक्ष ।

बल्लभ-वि० [सं०] अत्यंत प्रिय । प्रियतम । प्यारा ।

संज्ञा पुं० (१) अत्यंत प्यारी व्यक्ति । प्रिय मित्र । नायक ।

(२) पति । स्वामी । जैसे,—राधावल्लभ । (३) अध्यक्ष । मालिक । (४) सुंदर लक्षणों से युक्त बौद्ध । (५) एक प्रकार की सेम । (६) वैष्णव-संप्रदाय के प्रवर्तक एक प्रसिद्ध आचार्य जिनका संप्रदाय बल्लभ संप्रदाय कहलाता है ।

विशेष—इनके माता-पिता का पता नहीं । लक्ष्मण भट्ट नामक एक दक्षिणी ब्राह्मण ने चुनारगढ़ के पास एक बालक पड़ा पाया; और उसे अपने घर लाकर पुत्र के समान पाला । फिर वही बालक प्रसिद्ध बल्लभाचार्य हुआ । जब तक लक्ष्मण भट्ट जीते रहे, तब तक बल्लभ उन्हीं के पास अध्ययन करते थे । उनके मरने पर वे विष्णुस्वामी के मंदिर में जाकर शिष्य हुए और काशी में आकर संन्यास लिया । संन्यास छोड़कर ये फिर गृहस्थ हो गए थे । इनके कई पुत्र हुए, जो गदियों के मालिक गोस्वामी हुए । इन्होंने राधाकृष्ण की बड़ी आडंबरपूर्ण उपासना चलाई और अपना वेदांत संबंधी एक स्वतंत्र सिद्धांत भी स्थापित किया, जो विशुद्धाद्वैत वाद के नाम से प्रसिद्ध है । इस कारण ये वेदांत के चार मुख्य आचार्यों में माने जाते हैं । इनका जन्म सन् १४७९ ई० और मृत्यु सन् १५३१ ई० में हुई । सूरदास आदि अष्ट-छाप के कवि इन्हीं के शिष्य थे ।

बल्लभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रिय स्त्री । प्रिय पत्नी । प्यारी जोरू ।

वि० स्त्री० प्यारी । प्रिय ।

बल्लभाचार्य-संज्ञा पुं० [सं०] वैष्णव मत के एक प्रसिद्ध आचार्य । वि० दे० “बल्लभ” (६) ।

बल्लभ-संज्ञा पुं० दे० “बल्लभ” ।

बल्लभ-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बली । लता । (२) मंजरी । (३) मेथी । (४) बच्च । (५) एक प्रकार का बाजा ।

बल्लभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गोप । (२) सूतकार । सुआर । रसोहया ।

बल्लभ-अव्य० [अ०] ईश्वर की शपथ । सचमुच ।

बल्लभकटकारिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] अग्निदमनी । शोला ।

बल्लिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लता । (२) बेला । (३) पोई नाम की लता जिसकी पत्तियों का साग बनाकर खाया जाता है ।

बल्लिज-संज्ञा पुं० [सं०] मरिच । मिर्च ।

बल्लिदूर्वा-संज्ञा स्त्री० [सं०] श्वेत दूर्वा । सफेद दूब ।

बल्लिशूरण-संज्ञा पुं० [सं०] अत्यम्लपर्णी लता । रामचना । रपटुआ ।

बल्लि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लता । (२) केवटी मोथा । (३) अग्निदमनी । शोला । (४) काली अपराजिता ।

बल्लिज-संज्ञा पुं० [सं०] मिर्च ।

बल्लिचूर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] शाल वृक्ष ।

बल्लुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुंज । (२) मंजरी । (३) क्षेत्र ।
(४) निर्जल स्थान । सूखी जगह ।

बल्लुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) धूप में सुलाया हुआ मांस । (२)
शूकर का मांस । (३) ऊपर । ऊसर । (४) जंगल । (५)
वीरान । उजाड़

बल्लवग-संज्ञा पुं० [सं०] आँवला ।

बल्लवज-संज्ञा पुं० [सं०] ओखली ।

बल्लज्जा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का तृण या घास ।

पर्या०—दृढपत्री । तृणक्षु । दृढक्षुरा । मौंजीपत्री ।

विशेष—वैद्यक में यह शीतल, मधुर तथा पित्त, दाह और
तृषा को दूर करनेवाली कही गई है ।

बल्लवत्त-संज्ञा पुं० [सं०] एक दैत्य जिसे बलराम जी ने मारा था ।
इल्लव । उ०—राम दिन कइक ता ठौर औरहु रहे, आइ
बल्लवत्त तहाँ दियो दिखाई । रुधिर अरु मांस की लग्यो वर्षा
करन, ऋषि सकल देखि कै गये डराई ।—सूर ।

बल्ल-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार ग्यारह करणों
में एक करण जिसमें जन्म लेनेवाले मनुष्य का बलवान्,
धीर, कृती और विचक्षण होना माना जाता है ।

बल्लवद-वि० [सं०] (१) वशीभूत । वशवर्त्ती । (२) आज्ञा-
कारी । दास ।

बल्ल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इच्छा । चाह । (२) एक व्यक्ति पर
दूसरे का ऐसा प्रभाव कि दूसरा उसके साथ जो चाहे कर
सके, या उससे जो चाहे करा सके । काबू । इच्छित्यार ।
अधिकार । जैसे,—(क) इस समय वह तुम्हारे वश में है;
जो चाहो, करा लो । (ख) मैं उसके वश में हूँ; जैसा वह
कहेगा, वैसा करूँगा । (ग) उस पर मेरा कोई वश नहीं है ।

मुहा०—(किसी का किसी के) वश में होना = (१) अधिकार
में होना । काबू में होना । कब्जे में होना । अधीन होना । (२)
कहे में होना । आज्ञानुवर्त्ती होना । दबाव मानना । किसी पर
वश होना = किसी पर अधिकार होना । किसी पर ऐसा प्रभाव
होना कि उसे इच्छानुकूल चलाया जा सके । जैसे,—उस लड़के पर
हमारा कोई वश नहीं है । वश का = जिस पर अधिकार हो ।
जो इच्छानुसार चलाया जा सके । अधीन । जैसे,—अब वह
सयाना हुआ; हमारे वश का नहीं है ।

(३) किसी वस्तु या बात को अपने अनुकूल घटित करने की
सामर्थ्य । शक्ति की पहुँच । काबू । जैसे,—(क) जो अपने
वश की बात नहीं, उसके लिये शोक क्या ? (ख) हार जीत
अपने वश की बात नहीं ।

मुहा०—वश का = इच्छा के अधीन । वश चलना = शक्ति काम
करना । कुछ करने की सामर्थ्य होना । काबू चलना । जैसे,—
यदि मेरा वश चलता, तो मैं उसे निकाल देता ।

(४) अधीन करने का भाव । अधिकार । कब्जा । प्रभुत्व ।
उ०—हरि कछु ऐसी टोना जानत । सब के मन अपने वश
आनत ।—सूर । (५) जन्म । (६) वेदियों के रहने का
स्थान । चकला ।

वशवर्त्ती-वि० [सं० वशवर्त्तिन्] जो दूसरे को वश में रहे । जो
दूसरे के आज्ञानुसार चलता हो । अधीन । ताबे ।

वशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वंध्या स्त्री । बाँझ । (२) स्त्री ।
पत्नी । (३) गाय । (४) हथिनी । (५) वंध्या गाय । ठाँठ ।
(६) पति की बहन । ननद ।

वशाकु-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की चिड़िया ।

वशाढ्यक-संज्ञा पुं० [सं०] शिशुमार । सूँस ।

वशानुग-संज्ञा पुं० [सं०] आज्ञाकारी । अधीन । दास ।
वि० वशीभूत ।

वशिक-वि० [सं०] शून्य ।

वशिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] अगह । अगर की लकड़ी ।

वशिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अधीनता । ताबेदारी । (२)
मोहने की क्रिया या भाव । मोहन ।

वशित्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वशता । (२) योग के अणिमादि
आठ प्रकार के ऐश्वर्यों में से एक । कहते हैं कि इस सिद्धि
से साधक सब को अपने वश में कर लेता है ।

वशिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] शमी का पेड़ ।

वशिमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] योग की आठ सिद्धियों में से एक ।
वशित्व ।

वशिर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समुद्र लवण । समुद्री नमक । (२)
एक प्रकार का वृक्ष । (३) एक प्रकार की लाल मिर्च । मिर्चा ।

वशिष्ठ-संज्ञा पुं० दे० “वसिष्ठ” ।

वशी-वि० [सं० वशिन्] [स्त्री० वशिनी] (१) अपने को वश में
रखनेवाला । (२) वश में किया हुआ । काबू में लाया
हुआ । अधीन ।

वशीकरण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० वशीकृत] (१) वश में लाने
की क्रिया । (२) मणि, मंत्र या औषध आदि के द्वारा किसी
को अपने वश में करने का प्रयोग । अधीन करना ।

विशेष—तंत्र में चार प्रकार के प्रयोग कहे जाते हैं—मारण,
मोहन, वशीकरण और उच्चाटन । अथर्व वेद में मंत्र सिद्ध
करके मणि और औषध द्वारा वश में करने का उल्लेख है ।

वशीकार-संज्ञा पुं० [सं०] वश में करना ।

वशीकृत-वि० [सं०] (१) किसी प्रकार वश में किया हुआ ।
(२) मंत्र द्वारा वश में किया हुआ । मंत्रमुग्ध । (३)
मोहित । मुग्ध ।

वशीभूत-वि० [सं०] (१) वश में आया हुआ । अधीन । ताबे ।

(२) दूसरे की इच्छा के अधीन ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

वश्य-वि० [सं०] (१) बल में आनेवाला । ताबे होनेवाला ।
(२) किसी की इच्छा के अधीन । दूसरे की आज्ञा या कहने में रहनेवाला ।

संज्ञा पुं० (१) दास । सेवक । (२) मातहत । (३) आनिध्र का पाँचवाँ पुत्र । (मार्कण्डेय पुराण)

वश्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] वश में होने की अवस्था या भाव । अधीनता ।

वश्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लगाम । (२) नीलापराजिता । (३) गोरोचन ।

वषट्-अव्य० [सं०] एक शब्द जिसका उच्चारण अग्नि में आहुति देते समय यज्ञों में होता है । अंगन्यास और करन्यास में शिवा और मध्यमा के साथ इसका व्यवहार होता है ।

वषट्कार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवताओं के उद्देश्य से किया हुआ यज्ञ । होम । होत्र । (२) वेदोक्त तैत्तिरीय देवताओं में से एक ।

वषट्कृत-वि० [सं०] देवताओं के निमित्त अग्नि में डाला हुआ । होम किया हुआ । हुत ।

वषट्कृत्य-संज्ञा पुं० [सं०] होम ।

वस्कयिणी, वस्कयिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बकेना गाय ।

वसंत-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० वासंत, वासंतक, वासंतिक, वसंती] (१) वर्ष की छः ऋतुओं में से प्रधान और प्रथम ऋतु जिसके अंतर्गत चैत और वैशाख के महीने माने गए हैं । नई पत्ती लगने और बहुत से फूल फूलने की सुंदर ऋतु । बहार का मौसिम ।

विशेष—प्राचीन वैदिक काल में यह ऋतु चैत और वैशाख में ही पड़ती थी; पर क्रमशः अग्रज खिसकने से आज कल प्रकृति में कुछ अंतर दिखाई पड़ता है । इसी से पीछे के कुछ ग्रंथों में फागुन और चैत के महीने वसंत ऋतु कहे गए हैं । पर काव्य आदि में परंपराानुसार अब तक चैत और वैशाख ही इस ऋतु के महीने माने जाते हैं । वसंत ऋतु के ये लक्षण कहे गए हैं—पेड़ों में फूल लगना और नई पत्तियाँ आना, शीतल मंद और सुगंधयुक्त वायु चलना, सायंकाल अत्यंत मनोरम होना, और स्त्री पुरुषों का उमंग से भरना । इस ऋतु में प्राचीन काल में वसंतोत्सव और मदन-पूजा होती थी । आज कल होली का उत्सव उसी की परंपरा है । पुराणों में इस ऋतु का अधिकृता देवता कामदेव का सहचर कहा गया है ।

(२) अतीसार रोग । (३) शीतला रोग । विस्फोटक । चेचक । (४) मसूरिका रोग । (५) छः रागों में दूसरा राग । (संगीत)

विशेष—इस राग की उत्पत्ति पंचवक्त्र शिव के पाँचवें मुख से कही गई है । इसकी छः रागिनियाँ ये हैं—देशी, देवगिरी,

वैराटी, तोड़िका, ललिता और हिंडोला । कल्लिनाथ के अनुसार छः रागिनियाँ ये हैं—अंधूली, गमकी, पटमंजरी, गौड़करी, धामकली और देवशाखा । संगीतदामोदर का मत है कि श्रीपंचमी से हरि-शयनी एकादशी तक वसंत राग गा सकते हैं । पर संगीतदर्पण के अनुसार इसे वसंत ऋतु में ही गाना चाहिए । इसका सरगम इस प्रकार है—सा, रि, ग, म, प, ध, नि, सा । कुछ लोग इस राग को हिंडोल राग का पुत्र मानते हैं ।

(६) एक ताल का नाम । (संगीत) (७) फूलों का गुच्छा ।

वसंतक-संज्ञा पुं० [सं०] श्योनाक । सोनापाखी । टेंद्र । अरलू ।

वसंतघोषी-संज्ञा पुं० [सं०] वसंतघोषिन् । कोकिल ।

वसंतजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वासंती लता । (२) सफेद जुही । (३) वसंतोत्सव ।

वसंततिलक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार के फूल का नाम ।

(२) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में तगण, भगण, जगण, जगण और दो गुरु, इस प्रकार कुल चौदह वर्ण होते हैं । उ०—लाकी ललाम मृदुता अवलोकनीया ।

वसंततिलका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्णवृत्त । वि० दे० “वसंततिलक” ।

वसंतदूत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आम का वृक्ष । (२) कोयल ।

(३) पंचम राग । (४) चैत्र मास ।

वसंतदूती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कोकिल । (२) पटोली वृक्ष ।

पाँडरि । पाडर । (३) माघवी लता ।

वसंतपंचमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] माघ महीने की शुक्ल पंचमी । इस दिन वसंत और रतिसहित कामदेव की पूजा करने का विधान है और वसंत राग के सुनने का महाफल है । इसे श्रीपंचमी भी कहते हैं । इस दिन एकाहार व्रत भी किया जाता है ।

वसंतबंधु-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव ।

वसंतभैरवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रागिनी का नाम ।

वसंतमहोत्सव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक उत्सव जो प्राचीन काल में वसंत पंचमी के दूसरे दिन कामदेव और वसंत की पूजा के उपलक्ष्य में मनाया जाता था । (२) होलिकोत्सव ।

वसंतमारु-संज्ञा पुं० [सं०] संपूर्ण जाति का एक राग जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं ।

वसंतयात्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वसंतोत्सव ।

वसंतवाक्-संज्ञा पुं० [सं०] चौदह तालों में से एक । (संगीत दामोदर)

वसंतव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] कोकिल ।

वसंतसख, वसंतसखा-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव ।

वसन्ता-संज्ञा पुं० [हि० वसंत] हरे रंग की एक सुंदर चिड़िया जिसका कंठ और सिर लाल होता है ।

वसंतार्च-संज्ञा पुं० [सं०] विभीतक वृक्ष । बहेड़ा ।
वसंती-संज्ञा पुं० [हि० वसंत] एक रंग जो हलका पीला होता है । सरसों के फूल के रंग का । वसंती ।
वि० वसंती रंग का ।

विशेष—वसंतोत्सव में इस रंग के कपड़े पहने जाते हैं ।
वसंतोत्सव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक उत्सव जो प्राचीन काल में वसंत पंचमी के दूसरे दिन होता था । इसे 'मदनोत्सव' भी कहते थे । इसमें उद्यानों में जाकर लोग वसंत और कामदेव का पूजन करते थे । होली का उत्सव इसी की परंपरा है । (२) होली का उत्सव ।
वसन्त-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) विस्तार । फैलाव । (२) (३) समाई । अँटने की जगह । (४) चौड़ाई । (५) सामर्थ्य । शक्ति । जैसे,—सब काम अपनी वसन्त देखकर करना चाहिए ।

वसति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वास । रहना । (२) घर । (३) वस्ती । आबादी । (४) जैन साधुओं का मठ । (५) रात । रात्रि ।

वसती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वास । रहना । (२) रात । (३) घर ।

वसन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वस्त्र । (२) ढकने की वस्तु । आवरण । छादन । (३) निवास । (४) स्त्रियों की कमर का एक आभूषण । (५) तेजपत्ता ।

वसना-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्त्रियों की कमर का एक आभूषण ।

वसनार्णवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] भूमि । पृथिवी ।

वसमा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) नील का पत्ता । (२) खिजाव । (३) उबटन । (४) एक प्रकार का छपा कपड़ा जो चाँदी के बर्क लगाकर छपा जाता है ।

वसवास-संज्ञा पुं० [अ०] [वि० वसवासी] (१) भ्रम । दुबधा । संदेह । (२) भुलावा । बहकावा । प्रलोभन या मोह ।

उ०—सरगहूँ ते दोड निकसे नारद के वसवास ।-जायसी ।

वसवासी-वि० [अ० वसवास] (१) विश्वास न करनेवाला । संशयात्मा । शक्की । (२) भुलावे में डालनेवाला । बहकानेवाला ।

वसह-संज्ञा पुं० [सं० वृषभ, प्रा० वसह] बैल । वि० दे० "वसह" ।

वसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मेद । (२) चरबी ।

वसाकेतु-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के धूमकेतु जो पश्चिम में उदय होते हैं और जिनकी पूँछ का विस्तार उत्तर की ओर होता है । ये देखने में स्निग्ध जान पड़ते हैं और इनके उदय से सुभिक्ष होता है ।

वसादय, वसादयक-संज्ञा पुं० [सं०] शिशुमार । सूँस ।

वसातनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पीला शीशम ।

वसाति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वसाति नामक जनपद का अधि-

वासी । (२) इक्ष्वाकु के एक पुत्र का नाम । (३) जन्मेजय के एक पुत्र का नाम ।

संज्ञा स्त्री० उत्तर के एक जनपद का नाम ।

वसापाथी-संज्ञा पुं० [सं० वसापाथिन्] कुत्ता ।

वसापावन-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के वैदिक देवता । पशुभाजा ।

वसाप्रमेह-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मेह रोग जिसमें मूत्र के साथ चरबी मिलकर निकलती है ।

विशेष—आधुनिक डाक्टरों की चिकित्सा में यह बहुमूत्र का भेद है, जिसमें मूत्र के साथ शरीर का सत निकलता है और रोगी बहुत क्षीण हो जाता है ।

वसामूर-संज्ञा पुं० [सं०] एक जनपद का नाम ।

वसामेह-संज्ञा पुं० [सं०] वसाप्रमेह ।

वसार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इच्छा । (२) वश । (३) अभिप्राय ।

वसारोह-संज्ञा पुं० [सं०] कुकरमुत्ता । खुमी ।

वसिर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समुद्र लवण । (२) गज पिप्पली ।

(३) लाल रंग का अपामार्ग । लाल चिचड़ा । (४) जलनीम ।

वसिष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रचीन ऋषि जिनका उल्लेख वेदों से लेकर रामायण, महाभारत, पुराणों आदि तक में है ।

विशेष—वेदों में ये मित्र और वरुण के पुत्र कहे गए हैं । यज्ञस्थल में एक बार उर्वशी को देखकर मित्र और वरुण का वीर्यपात हो गया । वह वीर्य एक यज्ञकुंभ में रखा गया । कुंभ से वसिष्ठ और अगस्त्य का जन्म हुआ । 'बृहदेवता' में लिखा है कि कुंभ के जल में मत्स्य, स्थल में वसिष्ठ और कुंभ में अगस्त्य उत्पन्न हुए थे । ऋग्वेद के अनुसार ये वसिष्ठ गांधार और काबुल की ओर राज्य करनेवाले त्रिसु वंश के राजा दिवोदास के पौत्र और पित्रवन् के पुत्र सुदास के पुरोहित थे । सुदास ने इनको बहुत कुछ दान दिया था । एक बार सुदास ने यज्ञ करने के लिये विश्वामित्र को बुलाया इस पर वसिष्ठ बहुत क्रुद्ध हुए । उन्होंने अपने अन्य यज्ञमानों "भरतों" के द्वारा विश्वामित्र को बहुत तंग किया । विश्वामित्र तो चले आए; पर सुदास के पुत्रों ने वसिष्ठ के सौ पुत्रों का नाश कर दिया । फिर वसिष्ठ ने "एक-स्नात" इत्यादि ५० मंत्रों द्वारा यज्ञ करके सौदासों को पराभूत किया ।

पुराणों में वसिष्ठ ब्रह्मा के मानस-पुत्र कहे गए हैं । राजा निमि और वसिष्ठ के बीच एक बार झगड़ा हुआ । वसिष्ठ ने निमि को और निमि ने वसिष्ठ को शाप दिया । निमि तप करके शरीर रहित होकर अमर हुए और उनका वंश विदेह कहलाया । वसिष्ठ ने शरीर त्याग कर मित्रावरुण के वीर्य से जन्म ग्रहण किया । कामधेनु के लिये वसिष्ठ और विश्वामित्र (जो पहले राजा

थे) से बहुत दिनों तक झगड़ा होता रहा। विश्वामित्र के सौ पुत्रों को वसिष्ठ ने केवल हुंकार से जला दिया था। विश्वामित्र अंत में हारकर ब्राह्मणत्व प्राप्त करने के लिये तप करने लगे। पुराणों में वसिष्ठ की अनेक पत्नियों के नाम मिलते हैं, जिनमें से अरुंधती कर्दम की कन्या थी; और वसिष्ठ को सब से प्रिय थी। इनकी एक और स्त्री अक्षमाला नीच जाति की थी। किसी और पत्नी से इन्हें शक्त नामक एक पुत्र हुआ था जो गोत्रकार ऋषि हुआ। ऋग्वेद के अनेक मंत्रों के द्रष्टा वसिष्ठ हैं। सप्तम मंडल के द्रष्टा ये ही माने जाते हैं।

(२) सप्तर्षि मंडल का एक तारा जिसके पास का छोटा तारा अरुंधती कहलाता है।

वसिष्ठनिह—संज्ञा पुं० [सं०] एक साम का नाम।

वसिष्ठ पुराण—संज्ञा पुं० [सं०] एक उपपुराण जिसका उल्लेख देवी भागवत में है। कुछ लोग कहते हैं कि लिंग पुराण ही वसिष्ठ पुराण है।

वसिष्ठप्राची—संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल के एक जनपद का नाम।

वसिष्ठगण—संज्ञा पुं० [सं०] एक साम का नाम।

वसिष्ठपंमर्प—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का संन्यासी।

वसिष्ठसंविता—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक स्मृति का नाम।

वसिष्ठसिद्धांत—संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष का एक सिद्धांत ग्रंथ।

वसिष्ठांश—संज्ञा पुं० [सं०] एक साम का नाम।

वसिष्ठानुपद—संज्ञा पुं० [सं०] एक साम का नाम।

वसिष्ठपत्रा—संज्ञा पुं० [सं०] सरस्वती नदी के किनारे का एक प्राचीन स्थान।

विशेष—कथा है कि जब वसिष्ठ और विश्वामित्र के बीच घोर युद्ध हुआ था, तब सरस्वती नदी ने वसिष्ठ को विश्वामित्र से बचाने के लिये इसी स्थान पर छिपा लिया था।

वसीका—संज्ञा पुं० [अ०] (१) मुसलमानी धर्मशास्त्र के अनुसार वह धन जो विधर्मी या काफिर से नक़्द रूप के मुनाफे के तौर पर लिया जाय। (२) वह धन जो इस उद्देश्य से सरकारी खजाने में जमा किया जाय कि उसका सूद जमा करनेवाले के संबंधियों को मिला करे अथवा किसी धर्म-कार्य, मकान की मरम्मत आदि में लगाया जाय। (३) ऐसे धन से आया हुआ सूद। वृत्ति। (४) वक्फ का इकरारनामा।

वसीयत—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) वह अंतिम आदेश जो विदेश जानेवाला या मरणासन्न पुरुष इस उद्देश्य से करता है कि मेरी अनुपस्थिति में अमुक काम इस प्रकार किया जाय। (२) अपनी संपत्ति के विभाग और प्रबंध आदि के संबंध

में की हुई वह व्यवस्था, जो मरने के समय कोई मनुष्य लिख जाता है। विल।

वसीयतनामा—संज्ञा पुं० [अ० वसीयत + फा० नामा] वह लेख जिसके द्वारा कोई मनुष्य यह व्यवस्था करता है कि मेरी संपत्ति का विभाग और प्रबंध मेरे मरने के पीछे किस प्रकार हो। विल।

वसीला—संज्ञा पुं० [अ०] (१) संबंध। (२) आश्रय। सहायता। (३) किसी कार्य की सिद्धि का मार्ग। जारया। द्वार। जैसे,—(क) किस वसीले से वह यहाँ आया? (ख) नौकरी के लिये जाता हूँ; कोई वसीला निकल ही आवेगा।

मुहा०—वसीला पैदा करना = (१) किसी कार्य की सिद्धि का मार्ग निकालना। सहारा पैदा करना। (२) आमदनी आदि का रास्ता निकालना। वसीला रखना = (१) संबंध रखना। (२) आसरा रखना।

वसुंधरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पृथ्वी। (२) श्वफलक की कन्या जो साँव से व्याही थी।

वसु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवताओं का एक गण जिसके अंतर्गत आठ देवता हैं।

विशेष—वेदों में वसु शब्द का प्रयोग अग्नि, मरुद्गण, इंद्र, उषा, अद्वी, रुद्र और वायु के लिये मिलता है। वसु को आदित्य भी कहा है। बृहदारण्यक में इस गण में पृथिवी, वायु, अंतरिक्ष, आदित्य, द्यौ, अग्नि, चंद्रमा और नक्षत्र माने गए हैं। महाभारत के अनुसार आठ वसु ये हैं—धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास। श्रीमद्भागवत में ये नाम हैं—दूषण, प्राण, ध्रुव, अर्क, अग्नि, दोष, वास्तु और विभावसु। अग्नि पुराण में आप, ध्रुव, सोम, धर, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास वसु कहे गए हैं। भागवत के अनुसार दक्ष प्रजापति की कन्या 'वसु' ने, जो धर्म को व्याही थी, वसुओं को उत्पन्न किया।

देवी भागवत में कथा है कि एक बार वसुओं ने वसिष्ठ की नंदिनी गाय चुरा ली थी, जिससे वसिष्ठ ने शाप दिया था कि तुम लोग मनुष्य योनि में जन्म लोगे। उसी शाप के अनुसार वसुओं का जन्म शांतनु की पत्नी गंगा के गर्भ से हुआ, जिनमें सात को तो गंगा जनमते ही गंगा में फेंक आई, पर अंतिम भीष्म बचा लिए गए। इसी से भीष्म वसु के अवतार माने जाते हैं।

(२) शब्दों द्वारा संख्या सूचित करने की रीति के अनुसार आठ की संख्या। (३) रत्न। (४) धन। (५) वक् वृक्ष। अगस्त का पेड़। (६) अग्नि। (७) रश्मि। किरन। (८) जल। (९) सुवर्ण। सोना। (१०) योक्। जोत। (११) कुबेर। (१२) पीली मूँग। (१३) वृक्ष। पेड़। (१४) शिव। (१५) सूर्य। (१६) विष्णु। (१७) मौलसिरी।

वकुल । (१८) साधु पुरुष । सजन । (१९) सरोवर । तालाव । (२०) राजा नृग के एक पुत्र का नाम । (२१) छप्पय के हो सकनेवाले भेदों में से ६९ वाँ भेद ।

संज्ञा स्त्री० (१) दीप्ति । आभा । (२) वृद्धौषध । (३) दक्ष प्रजापति की एक कन्या जो धर्म को व्याही थी और जिससे दूध आदि आठ वसुओं का जन्म हुआ था ।

वि० (१) जो सब में वास करता हो । (२) जिसमें सब का वास हो ।

वसुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साँभर नमक । (२) पांशु लवण । रेह । (३) वस्तुक शाक । बथुआ । (४) काला अगर । कृष्णागुरु । (५) क्षार लवण । (६) मदार का वृक्ष । (७) बनहुला वृक्ष । बड़ी मौलसिरी ।

वसुकर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] एक मंत्रद्रष्टा ऋषि ।

वसुकृत-संज्ञा पुं० [सं०] एक मंत्रद्रष्टा ऋषि ।

वसुकोदर-संज्ञा पुं० [सं०] तालीशपत्र ।

वसुक-संज्ञा पुं० [सं०] एक मंत्रद्रष्टा ऋषि का नाम । इस नाम के दो ऋषि हुए हैं । एक इन्द्र के गोत्र में उत्पन्न हुए थे; दूसरे वसिष्ठ के गोत्र के थे ।

वसुवरण-संज्ञा पुं० [सं०] डगण के चौथे भेद का नाम जिसके आदि में गुरु और फिर दो लघु होते हैं । (पिंगल)

वसुचारु-संज्ञा पुं० [सं०] सोना ।

वसुच्छिद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभेदा ।

वसुद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुबेर । (२) विष्णु ।

वसुदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्कंद माताओं में से एक । (२) पृथ्वी । (३) माली राक्षस की पत्नी जो नर्मदा नाम की गंधर्वों की पुत्री थी । इसके अनल, निल, हर और संपाति नामक चार पुत्र थे, जो विभीषण के अमात्य थे ।

वसुदान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विदेहराज के एक पुत्र का नाम । (२) बृहद्रथ के एक पुत्र का नाम ।

वसुदामा-संज्ञा पुं० [सं० वसुदामन्] बृहद्रथ में एक पुत्र का नाम । संज्ञा स्त्री० [सं०] स्कंद माताओं में से एक का नाम ।

वसुदेव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यदुवंशियों के शूर कुल के एक राजा जो श्रीकृष्ण के पिता थे ।

विशेष—इनके पिता का नाम देवमीद और माता का मारिषा था । इनके जन्म के समय स्वर्ग में दुंदुभि का शब्द सुनाई पड़ा था, इससे ये 'भानकदुंदुभी' कहलाते थे । ये अपने पिता के ज्येष्ठ पुत्र थे । इनकी बारह स्त्रियाँ थीं—पौरवी, रोहिणी, मदिरा, धरा, वैशाखी, भद्रा, सुनाग्री, सहदेवा, शांतिदेवा, सुदेवा, देवश्रिता और देवकी । इन पत्नियों के अतिरिक्त इनके सुतनु और बड़वा नाम की दो परिचारिकाएँ भी थीं । रोहिणी के गर्भ से बलराम और देवकी के गर्भ से श्रीकृष्ण

का जन्म हुआ था । वसुदेव की बहन कुंती थीं, जिनसे पांडव उत्पन्न हुए थे ।

(२) एक राजा जो पहले वसुभूति का अमात्य था और पीछे उसे मारकर आप राजा हुआ । (३) धनिष्ठा नक्षत्र ।

वसुदेवत-संज्ञा पुं० [सं०] धनिष्ठा नक्षत्र ।

वसुदेव्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] धनिष्ठा नक्षत्र ।

वसुदेवत-संज्ञा पुं० [सं०] धनिष्ठा नक्षत्र ।

वसुदुम-संज्ञा पुं० [सं०] उर्दुंबर । गूलर ।

वसुधर्मा-संज्ञा पुं० [सं० वसुधर्मन्] महाभारत के अनुसार एक राजा का नाम ।

वसुधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी ।

वि० वसु अर्थात् धन देनेवाला । धनदाता ।

वसुधाधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पर्वत । (२) विष्णु ।

वसुधाधिप-संज्ञा पुं० [सं०] राजा ।

वसुधान-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी ।

वसुधार-संज्ञा पुं० [सं०] मार्कंडेय पुराण के अनुसार एक पर्वत का नाम ।

वसुधारा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जैनों की एक देवी का नाम ।

पर्याय—तारा । नीलसरस्वती । महाश्री । स्वाहा । श्री । जया । अनंता । शिवा । भद्रा । शंखिनी । महातारा । त्रिलोचना । तारिणी ।

(२) कुबेर की पुत्री, अलका । (३) एक तीर्थ का नाम ।

(४) नांदीमुख श्राद्ध का अंग एक कृत्य, जिसमें राजा वसु के लिये घी की सात धारें दी जाती हैं । पहले दीवार में बंदन से सात चिह्न बनाए जाते हैं । फिर वेद मंत्र पढ़ते हुए धारें दी जाती हैं । (५) एक नदी का नाम ।

वसुधार्मिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्फटिक । बिलौर । (२) संगमर्म ।

वसुनीत-संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा ।

वसुनीथ-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि ।

वसुप्रद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । (२) स्कंद के एक अनुचर का नाम । (३) कुबेर ।

वसुबंधु-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन बौद्ध आचार्य जो महायान शाखा के अनुयायी थे । इन्होंने अनेक ग्रंथ रचे थे, जिनमें से कुछ के अनुवाद चीनी भाषा में भी वर्तमान हैं ।

वसुम-संज्ञा पुं० [सं०] धनिष्ठा नक्षत्र ।

वसुमती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पृथ्वी । (२) छः वर्णों का एक वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में तगण और सगण होते हैं । उ०—तासों परिहरो । जो है हिनु खरो । रारी जड़मती । धारी वसुमती ।

वसुमना-संज्ञा पुं० [सं० वसुमनस्] पुराणानुसार एक मंत्रद्रष्टा ऋषि का नाम ।

वसुमान-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम जो उत्तर दिशा में है।

वसुमित्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक बौद्ध आचार्य जो महायान शाखा के अंतर्गत वैभाषिक संप्रदाय के थे। ये काश्मीर के पश्चिम अश्मापरांत देश के निवासी कहे गए हैं।

वसुरक्षित-संज्ञा पुं० [सं०] एक बौद्ध आचार्य का नाम।

वसुरात-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम।

वसुरुच-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के देवता।

वसुरुचि-संज्ञा पुं० [सं०] एक गंधर्व का नाम।

वसुरुप-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

वसुरेता-संज्ञा पुं० [सं० वसुरेतस्] (१) अग्नि। (२) शिव।

वसुरोधो-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

वसुत-संज्ञा पुं० [सं०] देवता।

वसुवन-संज्ञा पुं० [सं०] बृहत्संहिता के अनुसार ईशान कोण में स्थित एक देश।

वसुधाह-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम।

वसुविद्-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि।

वसुश्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्कंद की अनुचरी एक मातृका का नाम।

वसुश्रुत-संज्ञा पुं० [सं०] अत्रिगोत्री एक ऋषि का नाम।

वसुश्रेष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] चाँदी।

वसुसारा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कुवेर की पुरी, अलका।

वसुस्थली-संज्ञा स्त्री० [सं०] कुवेर की पुरी, अलका।

वसुहंस-संज्ञा पुं० [सं०] वसुदेव के पुत्र एक यादव का नाम।
उ०—चक्षुषी वीर वसुहंस हंस-दुति हंस-वरन पट। जादव-कुल-अवतंस शत्रु विध्वंसकरन झट।—गोपाल।

वसुहोम-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार अंग देश के एक राजा का नाम।

वसूक-संज्ञा पुं० [सं०] अगस्त का पेड़।

वसूज-संज्ञा पुं० [सं०] अत्रिगोत्री एक ऋषि जो ऋग्वेद के एक सूक्त के द्रष्टा थे।

वसूल-वि० [अ०] (१) पास पहुँचा हुआ। मिला हुआ। प्राप्त। जैसे,—खत का वसूल होना। (२) जो चुका लिया गया हो। जो हाथ में आ गया हो। प्राप्त। लब्ध। जैसे,—लगान वसूल करना। रुपया वसूल करना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—वसूल पाना = दूसरे से जो पाना हो, वह मिल जाना।
संज्ञा पुं० दे० “उसूल”।

वसूली-संज्ञा स्त्री० [अ० वसूल] (१) चुकता कराने की क्रिया। दूसरे से रुपया पैसा या वस्तु लेने का काम। प्राप्ति। जैसे,—इन्हें रुपया देते तो हो, पर वसूली में बड़ी दिक्कत होगी। (२) बाकी निकला या चाहता हुआ रुपया लेने का काम। जैसे,—उस गाँव में वसूली शुरू हो गई।

वस्त-संज्ञा पुं० [सं०] बकरा।

संज्ञा स्त्री० दे० “वस्तु”।

वस्तक-संज्ञा पुं० [सं०] कृत्रिम लवण। बनाया हुआ नमक।

वस्तकर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] शाल वृक्ष। सालू का पेड़।

वस्तमोदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अजमोदा।

वस्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नाभि के नीचे का भाग। पेड़।

(२) मूत्राशय। (३) पिचकारी।

वस्तिकर्म संज्ञा पुं० [सं०] लिङ्गेन्द्रिय, गुर्देन्द्रिय आदि मार्गों में पिचकारी देने की क्रिया।

वस्तिकुंडलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रोग जिसमें मूत्राशय में गाँठ सी पड़ जाती है, उसमें पीड़ा तथा जलन होती है और पेशाब कठिनता से उतरता है। गाँठ को दवाने से कभी तो बूँद बूँद करके पेशाब गिरता है, और कभी धार भी निकल पड़ती है। यह रोग अवाध्य कहा जाता है। अधिक परिश्रम करने, दौड़कर चलने या चोट लगने से इस रोग की उत्पत्ति कही गई है।

वस्तिवात-संज्ञा पुं० [सं०] एक मूत्र रोग जिसमें वायु बिगड़ कर वस्ति (पेड़) में मूत्र को रोक देता है।

वस्तिशोधन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मदन वृक्ष। मैनफल का पेड़। (२) मदनफल। मैनफल।

वस्तु-संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० वास्तव, वास्तविक] (१) वह जिसका अस्तित्व हो। वह जिसकी सत्ता हो। वह जो सचमुच हो। जैसे,—डर कोई वस्तु नहीं। (२) सत्य। (३) वह जिसका नामरूप हो। गोचर पदार्थ। चीज। जैसे,—घर में बहुत सी वस्तुएँ इधर उधर पड़ी हैं। (४) इतिवृत्त। वृत्तान्त। (५) नाटक का कथन या आख्यान। कथावस्तु।

विशेष—नाटकीय कथावस्तु दो प्रकार की कही गई है—अधिकारिक जिसमें नायक का चरित्र हो; और प्रासंगिक जिसमें नायक के अतिरिक्त और किसी का चरित्र बीच में आ गया हो। वि० दे० “नाटक”।

वस्तुकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बथुआ नाम का साग।

वस्तुज्ञान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी वस्तु की पहचान। (२) मूल तथ्य का बोध। सत्य की जानकारी। तत्त्वज्ञान।

वस्तुतः अर्थ० [सं०] यथार्थतः। सचमुच। असल में।

वस्तुनिर्देश-संज्ञा पुं० [सं०] मंगलाचरण का एक भेद जिसमें कथा का कुछ आभास दे दिया जाता है।

वस्तुबल-संज्ञा पुं० [सं०] वस्तु का गुण।

वस्तुवाद-संज्ञा पुं० [सं०] वह दार्शनिक सिद्धांत जिसमें जगत् जैसा दृश्य है, उसी रूप में उसकी सत्ता मानी जाती है। जैसे,—न्याय और वैशेषिक। यह सिद्धांत अद्वैतवाद का विरोधी है, जिसमें नामरूपात्मक जगत् की सत्ता नहीं मानी जाती।

वत्स्य-संज्ञा पुं० [सं०] बसने की जगह, घर ।

वत्स-संज्ञा पुं० [सं०] कपड़ा ।

वत्सकुट्टि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छाता । (२) खेमा । डेरा ।

वत्सप्रिय-संज्ञा स्त्री० [सं०] नीवी । नाड़ा । इज़ारबंद ।

वत्सवर्धरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का बाजा ।

वत्सप-संज्ञा पुं० [सं०] एक तीर्थ स्थान जिसका नाम पुराणों में "वत्सापथ क्षेत्र" मिलता है । यह आज कल का गिरनार है, जो गुजरात में है ।

वत्सपुन-वि० [सं०] कपड़े से छाना हुआ ।

वत्सबंध-संज्ञा पुं० [सं०] नीवी ।

वत्सभूषण-संज्ञा पुं० [सं०] रक्तांजन ।

वत्सभूषणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मजीठ ।

वत्सरंजन-संज्ञा पुं० [सं०] कुसुंभ का वृक्ष ।

वत्सरंजनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मजीठ ।

वत्स-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेतन । (२) मूल्य । (३) वसन । (४) द्रव्य । चीज (५) धन । (६) त्वक् । बल्कल । छाल ।

वत्सक-संज्ञा पुं० [सं०] कटिभूषण । करधनी ।

वत्स-संज्ञा पुं० [अ०] (१) प्रशंसा । स्तुति । (२) गुण । सिफत । (३) विशेषता ।

वत्सौकसार-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) इंद्रपुरी । (२) कुबेरपुरी । (३) गंगा । (४) इंद्र नामक नदी ।

वहंत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु । (२) बालक ।

वह-सर्व० [सं० सः] (१) एक शब्द जिसके द्वारा दूसरे मनुष्य से बातचीत करते समय किसी तीसरे मनुष्य का संकेत किया जाता है । कर्तृकारक प्रथम पुरुष सर्वनाम । जैसे,—तुम जाओ; वह आता होगा । (२) एक निर्देशकारक शब्द जिससे दूर की या परोक्ष वस्तुओं का संकेत करते हैं । जैसे,—यह और वह दोनों एक ही हैं ।

विशेष—इस अर्थ में यह शब्द संज्ञा के पहले विशेषण की तरह भी आता है । जैसे,—यह आदमी और वह आदमी । संज्ञा पुं० [सं०] (१) बैल का कंधा । (२) घोड़ा । (३) वायु । (४) मार्ग । पथ । (५) नद ।

वि० बोझ उठाकर ले जानेवाला । वाहक । (समास में)

वहत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बैल । (२) पथ । मार्ग ।

वहतात्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] छागलाक्षी क्षुप ।

विशेष—वैद्यक में वह पौधा कटु तथा कास रोग नाशक और शुक्र वर्द्धक कहा गया है ।

पर्याय—वृषगंधा । मेवांत्री । वृषपत्रिका ।

वहति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु । (२) सचिव ।

वहतो-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गाय । (२) नदी ।

वहन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० वहनीय, वहमान, वहित] (१) बेड़ा । तरैया । (२) खींचकर अथवा सिर या कंधे पर लादकर एक

जगह से दूसरी जगह ले जाना । जैसे,—भार वहन करना ।

रथ वहन करना । (३) कंधे या सिर पर लेना । (४)

ऊपर लेना । उठाना । (५) खंभे के नौ भागों में से सब से नीचे का भाग । वास्तु विद्या)

वहनीय-वि० [सं०] (१) उठा या खींचकर ले जाने योग्य । (२) ऊपर लेने योग्य ।

वहम-संज्ञा पुं० [अ०] (१) बिना संकल्प के चित्त का किसी बात पर जाना । मिथ्या धारणा । झूठा खयाल । (२) भ्रम । (३) व्यर्थ की शंका । मिथ्या संदेह । फ़ज़ूल शक । जैसे,—वहम की तो कोई दवा ही नहीं ।

वहमी-वि० [अ० वहम] बुद्धि संदेह द्वारा उत्पन्न । भ्रम-जन्य । (२) झूठे खयाल में पड़ा रहनेवाला । (३) वहम करनेवाला । जो व्यर्थ संदेह में पड़े । किसी बात के संबंध में जो व्यर्थ भला बुरा सोचे । संशयात्मा ।

वहल-संज्ञा पुं० [सं०] नौका । नाव ।

वि० हड़ । मजबूत ।

वहलगंध-संज्ञा पुं० [सं०] शंबर चंदन ।

वहलचक्षु-संज्ञा पुं० [सं० वहलचक्षुः] मेढासींगी । मेधभृंगी ।

वहलत्वच-संज्ञा पुं० [सं०] लोथ ।

वहला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शतपुष्पा । (२) बड़ी इलायची । (२) दीपक राग की एक रागिनी का नाम ।

वहशत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) जंगलीपन । असभ्यता । वर्वरता । (२) उजड़पन । (३) पागलपन । वावलापन । (४) चित्त की चंचलता । अधीरता । (५) विकलता । घबराहट । (६) वहल-पहल या रौनक न होना । सन्नाटापन । उदासी । (७) डरावनापन ।

मुहा०—वहशत उछलना = (१) सनक होना । खन्त होना । (२) धुन होना । वहशत बरसना = (१) उदासी छाना । कष्ट या दुःख का भाव प्रकट होना । रौनक न रहना । (२) जंगलीपन प्रकट होना ।

वहशी-वि० [अ०] (१) जंगल में रहनेवाला । जंगली । (२) जो पालतू न हो । जो आदमियों में रहना न जानता हो । (३) असभ्य । (४) अड़कनेवाला ।

वहाँ-अव्य० [हि० वह] उस जगह । उस स्थान पर ।

विशेष—जैसे,—“वहाँ” का प्रयोग पास के स्थान के लिये होता है, वैसे ही इस शब्द का प्रयोग दूर के स्थान के लिये होता है ।

वहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नदी ।

वहाबा-संज्ञा पुं० [अ०] मुसलमानों का एक संप्रदाय जो अब्दुल वहाब नज्दी का चलाया हुआ है ।

विशेष—अब्दुलवहाब अरब के नज्द नामक स्थान में उत्पन्न हुआ था । वह मुहम्मद साहब के सर्वोच्च पद को अस्वीकार

करता था। इस मत के अनुयायी किसी व्यक्ति या स्थान विशेष की प्रतिष्ठा नहीं करते। अब्दुलबहाव ने अनेक मस्जिदों और पवित्र स्थानों को गिराया और मुहम्मद साहब की कब्र को भी खोदकर फेंक देना चाहा था। इस मत के अनुयायी अरब और फारस में अधिक हैं।

वहिः-अव्य० [सं०] जो अंदर न हो। बाहर।

विशेष—हिंदी में इस शब्द का प्रयोग अकेले नहीं होता, समस्त रूप में होता है। जैसे,—वहिरगत। वहिष्कार। वहिरंग इत्यादि।

वहिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नौका। नाव।

वहिरंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शरीर का बाहरी भाग। देह का बाहरी हिस्सा। (२) ऊपर या बाहर का हिस्सा। बाहरी भाग। अंतरंग का उलटा। (३) वह जो किसी वस्तु के भीतरी तत्व को न जानना चाहता हो। (४) आगंतुक पुरुष। कहीं बाहर से आया हुआ आदमी। (५) वह मनुष्य जो अपने दल या मंडली का न हो। बायबी आदमी। (६) पूजा में वह कृत्य जो आदि में किया जाय। वि० (१) ऊपर ऊपर का। बाहर का। जो अंतरंग न हो। बाहरी। (२) जो सार रूप न हो। जो भीतरी तत्व न हो। (३) अनावश्यक। फालतू।

वहिरिन्द्रिय-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कर्मेन्द्रिय। (२) बाह्यकरण मात्र। कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय।

वहिरगत-वि० [सं०] जो बाहर गया हो। निकला हुआ। बाहर का।

वहिरैश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाहर का स्थान। (२) विदेश। (३) अज्ञात स्थान। (४) द्वार। दरवाजा।

वहिरैर-संज्ञा पुं० [सं०] बाहरी फाटक। सदर फाटक। तोरण।

वहिरैवजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

वहिरैत-वि० [सं०] वहिरगत।

वहिरैमुख-वि० [सं०] विमुख।

वहिरैयग-संज्ञा पुं० [सं०] हठयोग।

वहिरैलब-संज्ञा पुं० [सं०] रेखा-गणित में वह लंब जो किसी क्षेत्र के बाहर बढ़ाए हुए आधार पर गिराया जाता है।

वहिरैलपिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] कोई ऐसा टेढ़ा वाक्य या प्रश्न जिसका उत्तर बतलाने के लिये श्रोता से कहा जाय। पहेली।

विशेष—पहेलियाँ दो प्रकार की होती हैं। जिनके उत्तर का शब्द पहेली के वाक्य के अंदर ही रहता है, उसे अंतर्लपिका कहते हैं। और जिनके उत्तर का पूरा शब्द पहेली के अंदर नहीं होता, वे वहिरैलपिका कहलाती हैं। जैसे,—“भाखै काह सजन को? कौन शंभु-वाहन है? का को सुख होत है? काकी माल शिव धारो है? कहा गज बंधन? छबीले इग का के अति? कौन हरपुत्र? सीपसुत को

सुप्यायो है। शोभा को सुनाम का है, कृष्ण नख धारो कहा? सिंधु से मिलत कौन? काह अनियारो है? उत्तर के वर्णन में आदि अंत छौंदि दीजै, मध्य लीजै सो हिये मनोरथ हमारो है।”

इन प्रश्नों के उत्तर क्रमशः ये होंगे—(१) सयाने। (२) बरद। (३) सुकृती। (४) कपाल। (५) साँकल। (६) हरिणी। (७) गनेश। (८) मुक्ता। (९) पानिप। (१०) पहाड़। (११) सरिता। (१२) नयन। इन शब्दों के मध्याक्षर लेने से यह उत्तर वाक्य निकलता है।—“यार! कृपा करि नेक निहारिय”।

वहिरैर-संज्ञा पुं० [सं०] केकड़ा।

वहिरैकरल-संज्ञा पुं० [सं०] बाहर की इंद्रियाँ। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। बाह्येन्द्रिय। (मन या अन्तःकरण को भीतर की इंद्रिय कहते हैं।)

वहिरैकृत-वि० [सं०] (१) निकाला हुआ। बाहर किया हुआ। (२) अलग किया हुआ। त्यागा हुआ। त्यक्त।

वहिरैष्ट-वि० [सं०] अधिक भार उठानेवाला।

वहिरैप्राण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जीवन। (२) आस वायु। (३) अर्थ।

वहिरै-अव्य० [हि० वहाँ + ही] उसी स्थान पर। उसी जगह।

विशेष—जब वहाँ शब्द पर जोर होता है, तब “ही” लगाने के कारण उसका यह रूप हो जाता है।

वही-सर्व० [हि० वह + ही] (१) उस तृतीय व्यक्ति की ओर निश्चित रूप से संकेत करनेवाला सर्वनाम, जिसके संबंध में कुछ कहा जा चुका हो। पूर्वोक्त व्यक्ति। जैसे,—(क) यह वही आदमी है जो कल आया था। (२) निर्दिष्ट व्यक्ति। अन्य नहीं। जैसे,—जो पहले वहाँ पहुँचेगा, वही इनाम पावेगा।

वहीर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रक्तवाहिनी नाडियों का एक वर्ग। शिरा। (२) स्नायु। (३) मांसपेशी। पुट्टा।

वहूदक-संज्ञा पुं० [सं०] चार प्रकार के संन्यासियों में से एक। विशेष—सूत-संहिता के अनुसार कुटीचक, वहूदक, हंस और परमहंस ये चार प्रकार के संन्यासी कहे गए हैं। वहूदकों के लिये यह नियम है कि वे एक घर से पूरी भिक्षा न ग्रहण करें, सात घरों से लें। उन्हें अपने साथ में गाय की पूँछ के रोयों से बँधा हुआ त्रिदंड, शिब्य, जलपूर्ण पात्र, कौपीन, कर्मडल, कंथा, पादुका, छत्र, रुद्राक्ष की माला, योगपट, खनित्र और कृपाण रखना चाहिए। सरसे पर वहूदक संन्यासी जल में डुबाए जाते हैं।

वहिरै-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि। (२) कृष्ण के एक पुत्र का नाम, जो मित्रविंदा से उत्पन्न हुआ था। (३) तुर्वसु के पुत्र का नाम। (४) कुक्कुर वंशी एक यादव का नाम। (५)

चित्रक। चीता। (६) भिलावाँ। (७) तीन की संख्या।
 (८) राम की सेना के सेनापति एक बंदर का नाम।
 वहिकर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विद्युत्। बिजली। (२) जठराग्नि।
 (३) चक्रमक। पथरी।
 वहिकरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] धौ का फूल।
 वहिकुमार-संज्ञा पुं० [सं०] भुवनपति देवगण में से एक।
 वहिगर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] बाँस।
 वहिचक्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कलिहारी या कलियारी नाम का विष।
 वहिज्वाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] धव का पेड़।
 वहिदीपक-संज्ञा पुं० [सं०] कुसुंभ का वृक्ष।
 वहिदीपिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] अजमोदा।
 वहिनाम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चित्रक। चीते का पेड़। (२) भिलावाँ।
 वहिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] जटामासी।
 वहिपुष्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] धव का वृक्ष।
 वहिबीज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वर्ण। सोना।
 विशेष—ब्रह्मवैवर्त पुराण के कृष्णजन्म खंड में स्वर्ण की उत्पत्ति की कथा यह है। स्वर्ग की सभा में एक बार सब देवता बैठे हुए थे और रंभा नाच रही थी। रंभा को देखकर अग्नि देव काम पीड़ित हुए और उनका वीर्य गिरा, जिसे उन्होंने लजावश कपड़ों से ढाँक लिया। कुछ दिनों पीछे वह वीर्य दमकती हुई धातु होकर वज्र भेदकर नीचे गिरा, जिससे सुवर्ण की उत्पत्ति हुई।
 (२) तंत्र में “रं” बीज।
 वहिभूतिक-संज्ञा पुं० [सं०] चाँदी।
 वहिभोग-संज्ञा पुं० [सं०] घी।
 वहिमंथ-संज्ञा पुं० [सं०] गनियारी का पेड़। अग्निमंथ वृक्ष। अंगेथू का पेड़।
 वहिमंथन-संज्ञा पुं० [सं०] गनियारी का पेड़।
 वहिमित्र-संज्ञा पुं० [सं०] वायु। हवा।
 वहिमुख-संज्ञा पुं० [सं०] देवता।
 विशेष—यज्ञ की अग्नि में डाला हुआ भाग देवताओं को पहुँचता है; इसी से वे वहिमुख कहलाते हैं।
 वहिरेता-संज्ञा पुं० [सं० वहिरेतस्] शिव।
 वहिलोह-संज्ञा पुं० [सं०] ताँबा। ताँबा।
 वहिलोहक-संज्ञा पुं० [सं०] काँसा।
 वहिवक्त्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कलिहारी या कलियारी नाम का विष।
 वहिशिखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कलिहारी या कलियारी नाम का विष। (२) धव का पेड़। (३) काकुन नाम का अन्न। प्रियंगु। (४) गज पिप्पली। गजपीपल।
 वह्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वाहन। यान। (२) शकट। गाड़ी।

वह्यक-संज्ञा पुं० [सं०] उठाकर ले जानेवाला। वाहक।
 वाँ-अव्य० [हि० वहाँ का संक्षिप्त रूप] उस जगह। उस स्थान पर।
 वांछनीय-वि० [सं०] (१) चाहने योग्य। (२) जिसकी इच्छा हो।
 वांछा-संज्ञा स्त्री० [सं० वाञ्छा] [वि० वांछित, वांछनीय] इच्छा। अभिलाषा। चाह।
 विशेष—सिद्धांतमुक्तावली के अनुसार वांछा नामक आत्मवृत्ति दो प्रकार की होती है। एक उपाय-विषयिणी, दूसरी फल-विषयिणी। फल का अर्थ है—सुख की प्राप्ति और दुःख का न होना। जिस वांछा का कारण फलज्ञान हो, अर्थात् जो वांछा इस रूप में हो कि अमुक सुख मुझे मिले, वह फलविषयिणी है। जो वांछा किसी ऐसे उपाय के संबंध में हो, जिससे इष्ट साधन हो, वह उपाय-विषयिणी है।
 वांछित-वि० [सं०] अभिलषित। इच्छित। चाहा हुआ। जिसकी इच्छा हो।
 वांत-संज्ञा पुं० [सं०] वमन। उलटी। कै।
 वांताद-संज्ञा पुं० [सं०] कुत्ता।
 वांताशी-वि० [सं०] वमन खानेवाला।
 संज्ञा पुं० (१) कुत्ता। (२) वह ब्राह्मण जो भोजन के लिये अपने कुल या गोत्र की प्रशंसा करे।
 वांति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वमन। वांत। कै।
 वांतिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] कुटकी।
 वांतिकृत-संज्ञा पुं० [सं०] मदनफल वृक्ष। मैनफल का पेड़।
 वांतिदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कुटकी।
 वांतिशोधनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] जीरक। जीरा।
 वाःकिटि-संज्ञा पुं० [सं०] शिशुमार। सूँस।
 वाःपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] लवंग। लौंग।
 वा-अव्य० [सं०] विकल्प या संदेहवाचक शब्द। या। अथवा।
 वाँ सर्व० [हि० वह] ब्रज भाषा में प्रथम पुरुष का वह एकवचन रूप जो कारक चिह्न लगने के पहले उसे होता है। जैसे,—वाने, वाकों, वासों इत्यादि। उ०—दहै देह वाके परस याहि दगन ही देखि।—बिहारी।
 वाइ-सर्व० दे० “वाहि”। उ०—नैन कमल हाँ लगत है कमल लगत है वाइ। कमल काल सजन हियो दोनों एक सुभाइ।—रसनिधि।
 वाइदा-संज्ञा पुं० [अ०] दे० “वादा”।
 वाइस चान्सलर-संज्ञा पुं० [अ०] विश्वविद्यालय का वह ऊँचा अधिकारी जो चान्सलर के सहायतार्थ हो और उसकी अनुपस्थिति में उसके सारे कामों को उसी की भाँति कर सकता हो।
 वाइसराय-संज्ञा पुं० [अ०] हिंदुस्तान का वह सर्वप्रधान शासक

अधिकारी जो सम्राट् के प्रतिनिधि स्वरूप यहाँ रहता है।
बड़ा लाट।

वाक्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वाणी। वाक्य। (२) सरस्वती।
(३) बोलने की इंद्रिय।

वाक्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बगलों का समूह। (२) वाक्य।
(३) वेद का एक भाग। (४) खेत की वह कूत जो बिना
खेत नापे की जाती है।

वि० वक् संबंधी। बगलों का।

वाकई-वि० [अ०] ठीक। यथार्थ। सच। वास्तव। जैसे,—जो
कुछ कहता हूँ, वह वाकई कहता हूँ।

अव्य० सचमुच। यथार्थ में। वास्तव में। जैसे,—क्या आप
वाकई वहाँ गए थे ?

वाक्या-संज्ञा पुं० [अ०] (१) कोई बात जो घटित हो।
व्यापार-संयोग। घटना। (२) वृत्तान्त। समाचार।

थी०—वाक्या नवीस = मुसलमानी साम्राज्य में वह कर्मचारी
जिसका कार्य इतिहास के रूप में घटनाओं को लिखना होता था।

वाका-संज्ञा पुं० [अ०] (१) होनेवाला। घटनेवाला।

मुहा०—वाका होना = घटना के रूप में उपस्थित होना। घटित
होना।

(२) स्थित। खड़ा। प्रतिष्ठित। जैसे,—वह मकान दरिया
के किनारे वाका है।

वाकिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] तंत्र के अनुसार एक देवी का नाम।

वाकिफ़-वि० [अ०] (१) जानकार। ज्ञाता। जैसे,—मैं
इस बात से वाकिफ़ न था। (२) बात को समझने बूझने-
वाला। बातों की जानकारी रखनेवाला। अनुभवी। जैसे,—
किसी वाकिफ़ आदमी को इंतजाम के लिये भेजना चाहिए।

वाकिफ़कार-वि० [अ० वाकिफ़ + का० कार] काम को समझने
बूझनेवाला। जो अनाड़ी न हो। कार्यभिज्ञ।

वाकुची-संज्ञा स्त्री० [सं०] बकुची।

वाकोवाक-संज्ञा पुं० [सं०] कथोपकथन। बातचीत।

वाकोवाक्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परस्पर कथोपकथन। बातचीत।
(२) परस्पर तर्क। (३) तर्क विद्या।

विशेष—छांदोग्योपनिषद् में नारद ने सप्तकुमारों से अपनी
जिन जिन विद्याओं के ज्ञाता होने की बात कही थी, उनमें
“वाक्योवाक्य” विद्या भी थी।

वाका-संज्ञा स्त्री० [सं०] चक्र के अनुसार एक प्रकार का पक्षी।

वाक्चपल-वि० [सं०] (१) बहुत बातें करनेवाला। बातें करने
में तेज़। सुँहजोर। (२) भड़भड़िया।

वाक्कुल-संज्ञा पुं० [सं०] न्यायशास्त्र के अनुसार छल के तीन
भेदों में से एक।

विशेष—जब वक्ता के साधारण रूप से कहे हुए कथन में
दूसरे पक्ष द्वारा अभिप्रेत अर्थ से अन्य अर्थ की कल्पना उसे

केवल चक्र में डालने के लिये की जाती है, तब वाक्कुल
कहा जाता है। जैसे,—वक्ता ने कहा,—“यह बालक नव
कंबल है।” अर्थात् नए कंबलवाला है। इसका प्रतिवादी यदि
यह अर्थ लगावे कि इस बालक के पास संख्या में नौ कंबल
हैं, और कहे—“नौ कंबल कहाँ हैं, एक ही तो है।” तो यह
वाक्कुल होगा।

वाक्पटु-वि० [सं०] बात करने में चतुर। वाक्कुशल।

वाक्पति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बृहस्पति। (२) विष्णु। (३)
अनवद्य वचन। पटु वाक्य। निर्दोष बात।

वाक्पतिराज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक कवि जो राजा यशोवर्मा
के आश्रित थे। इन्होंने प्राकृत में गौडबहो (गौडवध) नामक
काव्य की रचना की है। ये भवभूति के सम सामयिक थे।
(२) मालवा का एक परमार राजा जो लीयक का पुत्र था।
(इस नाम का एक और राजा हुआ है।)

वाक्पारुष्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वचन की कठोरता। बात
का कड़ुआपन। सुँहजोरी। (२) धर्मशास्त्रानुसार किसी की
जाति, कुल इत्यादि के दोषों को इस प्रकार ऊँचे स्वर से
कहना कि उससे उद्वेग उत्पन्न हो।

वाक्फ़ियत-संज्ञा स्त्री० [अ०] जानकारी। परिज्ञान।

वाक्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह पद समूह जिससे श्रोता को वक्ता के
अभिप्राय का बोध हो। वाक्य में कम से कम कर्त्ता, जो संज्ञा
या सर्वनाम होता है, और क्रिया का होना आवश्यक है।

विशेष—नैयायिकों और अलंकारियों के अनुसार वाक्य में (१)
आकांक्षा, (२) योग्यता और (३) आसत्ति होनी चाहिए।
“आकांक्षा” का अभिप्राय यह है कि शब्द यों ही रखे हुए
न हों; वे मिलकर किसी एक तात्पर्य का बोध कराते हों।
जैसे,—कोई कहे—“मनुष्य चारपाई पुस्तक” तो यह वाक्य
न होगा। जब वह कहेगा—“मनुष्य चारपाई पर पुस्तक
पढ़ता है।” तब वाक्य होगा। “योग्यता” का तात्पर्य यह
है कि पदों के समूह से निकला हुआ अर्थ असंगत या
असंभव न हो। जैसे,—कोई कहे—“पानी में हाथ जल
गया” तो यह वाक्य न होगा। “आसत्ति” का मतलब है
सामीप्य या निकटता। अर्थात् तात्पर्य बोध करानेवाले पदों
के बीच देश या काल का व्यवधान न हो। जैसे,—कोई
यह न कह कर कि “कुत्ता मारा, पानी पिया” यह कहे—
“कुत्ता पिया मारा पानी” तो इसमें आसत्ति न होने से वाक्य
न बनेगा; क्योंकि “कुत्ता” और “मारा” के बीच “पिया” शब्द
काव्यवधान पड़ता है। इसी प्रकार यदि कोई “पानी” सवेरे
कहे और “पिया” शाम को कहे, तो इसमें काल संबंधी
व्यवधान होगा।

वाक्यकर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक की बात दूसरे से
कहनेवाला। दूत। (२) बातें बनानेवाला।

वाक्यभेद-संज्ञा पुं० [सं०] मीमांसा के एक ही वाक्य का एक ही काल में परस्पर विरुद्ध अर्थ करना ।

वाक्यैकवाक्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मीमांसा के अनुसार एक वाक्य को दूसरे वाक्य से मिलाकर उसके सुसंगत अर्थ का बोध कराना ।

वाक्यसंयम-संज्ञा पुं० [सं०] वाणी का संयम । अन्यथा बात न कहना । व्यर्थ बातें न करना ।

वाक्यसिद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] वाणी की सिद्धि; अर्थात् इस प्रकार की सिद्धि या शक्ति कि जो बात मुँह से निकले, वह ठीक घटे ।

वागर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वारक । (२) शाण । सान । (३) निर्णय । (४) वृत्त । भेड़िया । (५) पंडित । (६) सुसुधु । (७) निर्भय । निडर ।

वागा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बहगा । लगाम ।

वागारु-संज्ञा पुं० [सं०] आशा देकर निराश करनेवाला । आसरे में रखकर पीछे छोड़ा देनेवाला । विश्वासघाती ।

वागाशनि-संज्ञा पुं० [सं०] बुद्धदेव ।

वागीश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बृहस्पति । (२) ब्रह्मा । (३) वाग्मी । कवि ।

वि० अच्छा बोलनेवाला । वक्ता ।

वागीशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती ।

वागीश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बृहस्पति । (२) ब्रह्मा । (३) मंजुवोष बोधिसत्व । (४) कवि ।

वि० अच्छा बोलनेवाला । सद्बक्ता ।

वागीश्वरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती ।

वागुंजार-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली । (सुश्रुत)

वागुजो-संज्ञा स्त्री० [सं०] बकुची नाम की ओषधि ।

वागुण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कसरख । (२) बैंगन । भंटा ।

वागुरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मृगों के फँसाने का जाल ।

वागुरिक-संज्ञा पुं० [सं०] हिरन फँसानेवाला शिकारी । मृगव्याध ।

वागुलि-संज्ञा पुं० [सं०] डिब्बा । पानदान ।

वागुलिक-संज्ञा पुं० [सं०] राजाओं का वह सेवक जिसका काम उनको पान खिलाना होता है । खवास ।

वागुद-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पक्षी ।

विशेष—मनुस्मृति में लिखा है कि जो गुड़ चुराता है, वह दूसरे जन्म में वागुद पक्षी होता है ।

वागुलि-संज्ञा पुं० [सं०] राजाओं का वह खवास जो उनको पान खिलता है ।

वाग्जाल-संज्ञा पुं० [सं०] बातों की लपेट । बातों का आडम्बर या भरमार ।

वाग्दंड-संज्ञा पुं० [सं०] भला बुरा कहने का दंड । मौखिक दंड । हाँट डपट । लिखाब ।

वाग्दत्त-वि० [सं०] मुँह से दिया हुआ । वचनों द्वारा प्रदान किया हुआ । जिसे दूसरे को देने के लिये कह चुके हों ।

वाग्दत्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह कन्या जिसके विवाह की बात किसी के साथ ठहराई जा चुकी हो, केवल विवाह संस्कार होने को बाकी हो ।

विशेष—पूर्व काल में प्रथा थी कि कन्या का पिता जामाता के पास जाकर कहता था कि मैं अपनी कन्या तुम्हें दूँगा । आजकल इस प्रकार तो नहीं कहा जाता; पर वरच्छा या फलदान का टीका चढ़ाया जाता है ।

वाग्दल-संज्ञा पुं० [सं०] ओछाघर । ओठ ।

वाग्दान-संज्ञा पुं० [सं०] कन्या के पिता का किसी से जाकर यह कहना कि मैं अपनी कन्या तुम्हें व्याहूँगा ।

विशेष—प्राचीन काल में कन्या का पिता जिसे उत्तम वर समझता था, उसके पास जाकर कहता था—“मैं अपनी कन्या तुम्हें दूँगा” । यही कथन वाग्दान कहलाता था ।

वाग्दुष्ट-वि० [सं०] (१) परुषभाषी । कटुभाषी । (२) जिसे किसी ने शाप दिया हो । जिसे किसी ने कोसा हो । अमिश्र ।

वाग्देवता-संज्ञा पुं० [सं०] वाणी । सरस्वती ।

वाग्देवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती । वाणी ।

वाग्दैवत्यनरु-संज्ञा पुं० [सं०] वह चर जो सरस्वती के उद्देश्य से पकाया गया हो ।

वाग्दोष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बोलने की त्रुटि । जैसे,—वर्णों का ठीक उच्चारण न करना इत्यादि । (२) व्याकरण संबंधी त्रुटियाँ या दोष । (३) निंदा या गाली ।

वाग्भट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अष्टांगहृदय संहिता नामक वैद्यक के ग्रंथ के रचयिता जिनके पिता का नाम सिंहगुप्त था । (२) पदार्थचंद्रिका, भावप्रकाश, रसरत्न-समुच्चय, शास्त्रदर्पण आदि के रचयिता । (३) वैद्यक निघंटु के रचयिता । (४) एक जैन पंडित जिनके पिता का नाम नेमिकुमार था । इनके रचे अलंकारतिलक, वाग्भटालंकार, और छदानुशासन प्रसिद्ध ग्रंथ हैं ।

वाग्मी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वाचाल । अच्छा वक्ता । (२) पंडित । (३) बृहस्पति । (४) एक पुरुवंशी राजा ।

वाग्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिमित-भाषी (२) निर्वेद ।

वाग्यमन-संज्ञा पुं० [सं०] वाणी का संयम । बोलने में संयम ।

वाग्वज्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कठोर वाक्य । (२) शाप ।

वाग्वादिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती ।

वाग्विदग्ध-वि० [सं०] (१) पंडित । (२) बातचीत करने में चतुर ।

वाग्विलास-संज्ञा पुं० [सं०] आनंदपूर्वक परस्पर संभाषण । आनंदपूर्वक बात-चीत करना ।

वाचवैदग्ध्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बात करने की चतुरता । (२) सुंदर अलंकार और चमत्कारपूर्ण उक्तियों की निपुणता ।

विशेष—काव्य में वाचवैदग्ध्य की प्रधानता मानते हुए भी काव्य की आत्मा रस ही कहा गया है । अग्नि पुराण में स्पष्ट लिखा है—“वाचवैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्” ।

वाङ्मती-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी जो नेपाल में है और आजकल “वागमती” कहलाती है ।

विशेष—वराह पुराण (गोकर्ण माहात्म्य) में इस नदी को अत्यंत पवित्र, गंगा से भी पवित्र, कहा है और इसमें स्नान करने तथा इसके किनारे मरने से विष्णुलोक की प्राप्ति बतलाई है ।

वाङ्मय-वि० [सं०] (१) वाक्यात्मक । वचन-संबंधी । (२) वचन द्वारा किया हुआ । जैसे,—वाङ्मय पाप ।

विशेष—वचनों द्वारा किए हुए पाप चार प्रकार के कहे गए हैं—पातक्य, अनृत, पैशुन्य और असंख्य प्रकाप ।

(३) जो पठन-पाठन का विषय हो ।

संज्ञा पुं० गद्य-पद्यात्मक वाक्य आदि जो पठन-पाठन का विषय हों । साहित्य ।

वाङ्मयी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती ।

वाङ्मुख-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का गद्य काव्य । उपन्यास ।

वाचंयम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुनि । (२) मौन व्रत धारण करनेवाला पुरुष । मौनी ।

वाच्-संज्ञा स्त्री० [सं०] वाचा । वाणी । वाक्य ।

वाच-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की मछली ।

वाँच-संज्ञा स्त्री० [अं०] जब में रखने की या कलाई पर बाँधने की छोटी घड़ी ।

वाचक-वि० [सं०] बतानेवाला । कहनेवाला । द्योतक । सूचक । बोधक । जैसे,—उपमावाचक शब्द । लिंगवाचक प्रत्यय ।

संज्ञा पुं० वह जिससे किसी वस्तु का अर्थ बोध हो । नाम । संज्ञा । संकेत ।

वाचकधर्मलुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह उपमा जिसमें वाचक शब्द और सामान्य धर्म का लोप हो । उ०—ईस प्रसाद असीस तुम्हारी । सब सुतबधू देवसरि-बारी ।—तुलसी ।

वाचकलुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का उपमालंकार जिसमें उपमावाचक शब्द का लोप होता है । जैसे,—नील सरोरुह दयाम, तरुण अरुण वारिज नयन ।—तुलसी ।

वाचकोपमानधर्मलुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह उपमा जिसमें वाचक शब्द, उपमान और धर्म तीनों लुप्त हों, केवल उपमेय भर हो । जैसे,—जेहि वर बाजि राम असवारा । तेहि सारदौ न वरनै पारा ।—तुलसी ।

वाचकोपमानलुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] उपमालंकार का एक भेद

जिसमें वाचक और उपमान का लोप होता है । यथा,—तेरे ये कहु बचन हूँ सुनत हियो हरखात ।

वाचकोपमेयलुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] उपमालंकार का एक भेद जिसमें वाचक और उपमेय का लोप होता है । जैसे,—अटा उदय होतै भयो छविधर पुरन चंद ।

वाचकृती-संज्ञा स्त्री० [सं०] गार्गी । वाचकूटी । (वचकृ कृषि की अपत्य ।)

वाचन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पढ़ना या उच्चारण करना । पठन । बाँचना । (२) कहना । बताना । (३) प्रतिपादन ।

वाचनक-संज्ञा पुं० [सं०] पहेली ।

वाचयिता-वि० [सं० वाचयितृ] वाचक । बाँचनेवाला ।

वाचसांपति-संज्ञा पुं० [सं०] बृहस्पति ।

वाचस्पति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बृहस्पति । (२) शब्दप्रतिपालक ।

वाचा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वाणी । (२) वाक्य । वचन । शब्द ।

वाचाट-वि० [सं०] (१) वाचाल । (२) बकी । बकवादी ।

वाचापत्र-संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिज्ञापत्र ।

वाचाबंध-वि० [सं० वाचाबद्ध] वाचाबद्ध । प्रतिज्ञाबद्ध ।

उ०—वाचाबंध कंस करि छाँड़्यो तब वसुदेव पतीजे हो ।

याके गर्भ भवतरे जे सुत सावधान है लीजे हो ।—सूर ।

वाचाबंधन-संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिज्ञाबद्ध होना ।

वाचाबद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] बाँधे में बँधा हुआ । वचन देने के कारण विवश । प्रतिज्ञाबद्ध ।

वाचाल-वि० [सं०] (१) बोलने में तेज़ । वाक्पटु । (२) बकवादी । व्यर्थ बकनेवाला ।

वाचालता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बहु-भाषिता । बहुत बोलनेवाला । (२) बातचीत में निपुणता ।

वाचिक-वि० [सं०] (१) वाणी संबंधी । (२) वाणी से किया हुआ । (३) संकेत से कहा हुआ ।

संज्ञा पुं० अभिनय का एक भेद जिसमें केवल वाक्य विन्यास द्वारा अभिनय का कार्य संपन्न होता है ।

वाची-वि० [सं० वाचिन्] (१) वाक्ययुक्त । (२) प्रकट करनेवाला । बोध करानेवाला । सूचक ।

विशेष—यह शब्द समास में समस्त पद के अंत में आने से वाचक और विधायक का अर्थ देता है । जैसे,—पुरुषवाची = पुरुषवाचक ।

वाच्य-वि० [सं०] (१) कहने योग्य । जो कथन में आवे । (२) शब्द संकेत द्वारा जिसका बोध हो । अभिधा द्वारा जिसका बोध हो । अभिधेय ।

विशेष—जिस शब्द द्वारा बोध होता है, उसे “वाचक” कहते

हैं; और जिस वस्तु या अर्थ का बोध होता है, उसे “वाच्य” कहते हैं।

(३) जिसे लोग भला बुरा कहें। कुत्सित। हीन।

संज्ञा पुं० (१) अभिधेयार्थ। (२) प्रतिपादन। वि० दे० “वाच्यार्थ”।

वाच्यार्थ-संज्ञा पुं० [सं०] वह अभिप्राय जो शब्दों के नियत अर्थ द्वारा ही प्रकट हो। संकेत रूप से स्थिर शब्दों का नियत अर्थ। मूल शब्दार्थ।

विशेष—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना ये तीन शक्तियाँ शब्द की मानी जाती हैं। इनमें से प्रथम के सिवा और सब का आधार “अभिधा” है, जो शब्द-संकेत में नियत अर्थ का बोध कराती है। जैसे,—‘कुत्ता’ और ‘इमली’ कहने से पशु विशेष और वृक्ष विशेष का बोध होता है। इस प्रकार का मूल अर्थ वाच्यार्थ कहलाता है। वि० दे० “शब्दशक्ति”।

वाच्यवाच्य-संज्ञा पुं० [सं०] भली बुरी या कहने न कहने योग्य बात। जैसे,—उसे वाच्यवाच्य का विचार नहीं है।

वाज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घृत। घी। (२) यज्ञ। (३) अन्न। (४) जल। (५) संग्राम। (६) बल। (७) वाण में का पंख जो पीछे लगा रहता है। (८) पलक। (९) वेग। (१०) मुनि। (११) शब्द। आवाज़।

वाज-संज्ञा पुं० [अ०] (१) उपदेश। शिक्षा। (२) धार्मिक व्याख्यान। (३) धार्मिक उपदेश। कथा।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—होना।

वाजदावर्षा-संज्ञा पुं० [सं० वाजदावर्ष] एक साम का नाम।

वाजपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि। (२) अक्षपति।

वाजपेय-संज्ञा पुं० दे० “वाजपेयी”।

वाजपेय-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रसिद्ध यज्ञ, जो सात श्रौत यज्ञों में पाँचवाँ है।

वाजपेयी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह पुरुष जिसने वाजपेय यज्ञ किया हो। (२) ब्राह्मणों की एक उपाधि जो कान्यकुब्जों में होती है। (३) अत्यंत कुलीन पुरुष। जैसे,—वे कौन बड़े भारी वाजपेयी हैं। उ०—व्याध अपराध की साध राखी कौन, पिंगलै कौन मति भक्तमेई। कौन धौं सोम-जाजी अजामिल अधम कौन गजराज धौं वाजपेई?—बुलसी।

वाजप्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्रकार ऋषि। इनके गोत्र के लोग वाजप्यायन कहलाते हैं।

वाजवी-वि० दे० “वाजिबी”।

वाजभर्मीय-संज्ञा पुं० [सं०] एक साम का नाम।

वाजभृत्-संज्ञा पुं० [सं०] एक साम का नाम।

वाजवत-संज्ञा पुं० [सं०] [अग्रत्य वाजवतायनि] एक गोत्रकार ऋषि, जिनके गोत्र के लोग “वाजवतायनि” कहलाते हैं।

वाजश्रव-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम।

वाजश्रव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वाजश्रवा ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष। (२) एक ऋषि जिनके पुत्र का नाम “नचिकेता” था और जो अपने पिता के क्रुद्ध होने पर यमराज के यहाँ चला गया था। वहाँ उसने उनसे ज्ञान प्राप्त किया था।

वाजश्रवा-संज्ञा पुं० [सं० वाजश्रवस्] (१) अग्नि। (२) एक गोत्रकार ऋषि का नाम।

वाजस-संज्ञा पुं० [सं०] एक साम का नाम।

वाजसनि-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य।

वाजसनेय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यजुर्वेद की एक शाखा का नाम जिसे याज्ञवल्क्य ने अपने गुरु वैशंपायन पर क्रुद्ध होकर उनकी पढ़ाई हुई विद्या उगलने पर सूर्य के तप से प्राप्त की थी। मत्स्य पुराण के अनुसार वैशंपायन के श्राप से वाजसनेय शाखा नष्ट हो गई। पर आजकल शुद्ध यजुर्वेद की जो संहिता मिलती है, वह वाजसनेय संहिता कहलाती है। (२) याज्ञवल्क्य ऋषि।

वाजसाम-संज्ञा पुं० [सं० वाजसामन्] एक साम का नाम।

वाजस्रजाद-संज्ञा पुं० [सं०] वेणु राजा का नाम।

वाजिगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अश्वगंधा। असगंध

वाजिदंत-संज्ञा पुं० [सं०] वासक। अडूसा।

वाजिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घोड़ी। (२) अश्वगंधा। असगंध।

वाजिब-वि० [अ०] उचित। ठीक। मुनासिब।

वाजिबी-वि० [अ०] उचित। ठीक। मुनासिब।

मुहा०—वाजिबी बात = ठीक बात। सच्ची बात। वाजिबी खर्च = आवश्यक खर्च।

वाजिबुल्-अर्ज-वि० [अ०] (रकम या धन) जिसके देने का समय आ गया हो। (वह रकम) जिसका दे देना उचित हो, या जिसे देने का समय पूरा हो गया हो।

संज्ञा पुं० ऐसा धन या रकम।

वाजिबुल्-अर्ज-संज्ञा पुं० [अ०] वह शर्त जो कानूनी बन्दोबस्त के समय ज़मींदारों और काश्तकारों के बीच गाँव के रिवाज आदि के संबंध में लिखी जाती है।

वाजिबुल्-वसूल-वि० [अ०] (धन) जिसके वसूल करने का वक्त आ गया हो।

संज्ञा पुं० ऐसा धन या रकम।

वाजिभ-संज्ञा पुं० [सं०] अश्विनी नक्षत्र।

वाजिमेध-संज्ञा पुं० [सं०] अश्वमेध।

वाजिराज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) उच्चैःश्रवा।

वाजिशत्रु-संज्ञा पुं० [सं०] अश्वमार। कनेर का पेड़।

वाजिशिरा-संज्ञा पुं० [सं० वाजिशिरस्] (१) भगवान के एक अवतार का नाम। (२) एक दानव का नाम।

वाजी-संज्ञा पुं० [सं० वाजिन्] (१) घोड़ा। (२) वासक। अडूसा। (३) फटे हुए दूध का पानी। वैद्यक में इसे रुचिकर तथा

तृष्णा, दाह, रक्तपित्त और उदर का नाशक लिखा है।

(४) हवि।

वाजीकरण—संज्ञा पुं० [सं०] वह आयुर्वेदिक प्रयोग जिससे मनुष्य में वीर्य और पुंस्त्व की वृद्धि हो।

विशेष—जिस प्रयोग से मनुष्य अश्व के समान रतिशक्तिवाला हो, उसे वाजीकरण कहते हैं। मनुष्य में जब वीर्य की अल्पता होती है, तब वाजीकरण औषधों का व्यवहार किया जाता है। साधारणतः घी, दूध, मांस आदि पदार्थ वीर्य-वर्द्धक होते हैं। पर आयुर्वेद में वाजीकरण पर एक अलग प्रकरण रहता है, जिसमें अनेक प्रकार की काष्ठौषधों और रसौषधों की व्यवस्था रहती है।

वाट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मार्ग। रास्ता। (२) वास्तु। इमारत। (३) मंडप।

वाटधान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक जनपद जो कादमीर के नैऋत्य कोण में कहा गया है। नकुल के दिग्विजय में इसे पश्चिम में और मत्स्य पुराण में उत्तर दिशा में लिखा है। (२) ब्राह्मणी माता और वर्ण ब्राह्मण या कर्महीन ब्राह्मण से उत्पन्न एक संकर जाति। (स्मृति)

वाटर—संज्ञा पुं० [अ०] पानी।

यौ०—वाटरप्रूफ। वाटरवर्क्स। वाटरशूट। सोडावाटर आदि।

वाटरप्रूफ—वि० [अ०] जिस पर पानी का प्रभाव न पड़े। जो पानी में न भीग सके। जैसे,—वाटरप्रूफ कपड़ा।

वाटर वर्क्स—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नगर में पानी पहुँचाने का विभाग। पानी पहुँचाने की कल का कार्यालय। (२) पानी पहुँचाने की कल। जलकल।

वाटरशूट—संज्ञा स्त्री० [अ०] पानी में छूदकर तैरने की क्रीड़ा। जलक्रीड़ा।

वाटिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वास्तु। इमारत। (२) बाग। बगीचा। (३) हिंदुपत्नी।

वाटी—संज्ञा स्त्री० [सं०] वास्तु। इमारत। घर।

वाटुक—संज्ञा पुं० [सं०] भुना हुआ जौ। बहुरी।

वाट्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बला। बरियारा। खिरँटी। (२) भुना हुआ जौ।

वाट्यपुष्प—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंदन। (२) कुंकुम।

वाट्यमंड—संज्ञा पुं० [सं०] बिना भूसी या छिलके के भुने हुए और दले हुए जौ का माँड।

विशेष—एक भाग दले हुए जौ को चौगुने पानी में पकाने से वाट्यमंड बनता है। वैद्यक में यह हल्का, रुचिकर, दीपन हृद्य तथा पित्त, श्लेष्मा, वायु और अनाहनाशक कहा गया है।

वाट्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] बरियारा। बीजबंद।

वाट्याल, **वाट्यालक**—संज्ञा पुं० [सं०] बरियारा। बीजबंद।

वाट्यालिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटा बरियारा।

वाडव—संज्ञा पुं० [सं०] दे० “वाडव”।

वाडवाझि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) समुद्र के अंदर की आग।

(२) समुद्री आग। वह आग जो समुद्र में दिखाई देती है।

वाडम—अव्य० [सं०] अलम। वस। काफ़ी है। बहुत हो चुका।

वाण—संज्ञा पुं० [सं०] धारदार फल लगा हुआ छड़ी के आकार का छोटा अस्त्र जो धनुष की डोरी पर खींचकर छोड़ा जाता है। तीर।

विशेष—बृहत् शार्ङ्गधर में धनुष और वाण बनाने के संबंध में बहुत से नियम दिए गए हैं। उसमें लिखा है कि वाण या तीर का फल शुद्ध लौह का होना चाहिए। फल कई आकार के बनाए जाते थे; जैसे,—आरामुख, क्षुरप्र, गोपुच्छ, अर्द्धचंद्र, सूचीमुख, भल, वत्सवंत, द्विभल, कीर्णक और काकगुंड। ये सब भिन्न भिन्न कामों के लिये होते थे। जैसे,—आरामुख वाण वर्म (बकतर) भेदने के लिये, अर्द्धचंद्र सिर काटने के लिये, आरामुख और सूची ढाल छेदने के लिये, क्षुरप्र धनुष काटने के लिये, भल हृदय भेदने के लिये, द्विभल धनुष की डोरी काटने के लिये आदि। फल पर अच्छी ज़िला होनी चाहिए। पीपल, सेंधा नमक और कुड़ को गोमुत्र में पीसकर फल पर लेप करे; फिर फल को अग्नि में तपाकर तेल में छुसावे, तो अच्छी जिला होगी। शर कैसा होना चाहिए, इसके संबंध में भी बहुत सी बातें हैं। वाण ठीक सीधा जाय, रास्ते में इधर उधर न हो; इसके लिये उसके पिछले भाग में कुछ दूर तक कौदे, हंस, बगले, गीध और मयूर आदि किसी पक्षी के पर लगाने चाहिए।

वाणावली—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वाणों की अवली। तीरों की कतार। (२) तीरों की लगातार वर्षा। (३) एक साथ बने हुए पाँच श्लोक। श्लोकों का पंचक।

वाणिज्य—संज्ञा पुं० दे० “वाणिज्य”।

वाणिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नर्सकी। (२) मत्त स्त्री। (३) एक वर्ण वृत्त का नाम, जिसके प्रत्येक चरण में १६ वर्ण अर्थात् क्रमानुसार नगण, जगण, भगण, फिर जगण और अंत में रगण और गुरु होता है।

वाणी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सरस्वती। (२) मुँह से निकले हुए सार्थक शब्द। वचन। जैसे,—ऐसी बानी बोलिए मन का आपा खोय।—कबीर।

मुहा०—वाणी फुरना = मुँह से शब्द निकलना।

(३) वाक्शक्ति। उ०—इतनी कहत गरुड़ पर चढ़िकै तुरतहि मधुवन आयै। कंडु कपोल परसि बालक के वाणी प्रगट करायै।—सूर। (४) वागिद्विष। जीभ। रसना। उ०—नैन निरखि चकित झै गये। मन वाणी दोऊ थकि रये।—सूर। (५) स्वर।

वातंड-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्रकार ऋषि का नाम, जिनके गोत्रवाले वातंड्य कहलाते हैं।

वातंड्य-संज्ञा पुं० [सं०] [वी० वातंड्यायिनी] वातंड ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष।

वात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु। हवा। (२) वैद्यक के अनुसार शरीर के अंदर की वह वायु जिसके कुपित होने से अनेक प्रकार के रोग होते हैं। शरीर में इसका स्थान पकाशय माना गया है। कहते हैं कि शरीर की सब धातुओं और मल आदि का परिचालन इसी से होता है; और श्वास प्रश्वास, चेष्टा, वेग आदि इंद्रियों के कार्यों का भी यही मूल है।

वातकंडक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का वात रोग जिसमें पाँव की गाँठों में वायु के घुसने के कारण जोड़ों में बड़ी पीड़ा होती है। यह रोग ऊँचे नीचे पैर पड़ने या अधिक परिश्रम करने से हो जाता है।

वातक-संज्ञा पुं० [सं०] अशनपर्णी।

वातकुंडलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का मूत्ररोग जिसमें वायु कुंडलाकार होकर पेट में घूमता रहता है, रोगी को पेशाब करने में पीड़ा होती है, और बूँद बूँद करके पेशाब उतरता है।

विशेष—मूत्रकुच्छ का रोगी यदि कुपथ्य करके खड़ी वस्तुएँ खाता है, तो यह उपद्रव होता है।

वातकेतु-संज्ञा पुं० [सं०] धूल। गर्द।

वातकेलि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुंदर आलाप। (२) उपपत्ति के दर्शनों का क्षत।

वातगंड-संज्ञा पुं० [सं०] वातज गलगंड रोग जिसमें गले की नसें काली या लाल और कड़ी हो जाती हैं और बहुत दिन में पकती हैं।

वातगुल्म-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का गुल्म रोग जो वात के प्रकोप से होता है।

विशेष—वैद्यक के अनुसार अधिक भोजन करने, खुराक अन्न खाने, बलवान् से लड़ने, मल मूत्र रोकने या अधिक विरेचनादि लेने से यह रोग होता है। इसमें गोला सा बँध जाता है, जो हृदय से उधर रेंगता सा जान पड़ता है। कभी कभी बड़ी पीड़ा होती है। यह पीड़ा प्रायः भोजन पचने के पीछे खाली पेट पाने पर होती है और भोजन करने पर घट जाती है।

वातघ्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शालपर्णी। (२) अश्वगंधा। असर्गंध।

वातचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ज्योतिष में एक योग।

विशेष—आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन सूर्यास्त के समय यह योग आता है। उस समय वायु की दिशा द्वारा वर्ष के फलाफल का विचार किया जाता है।

(२) चक्रवात। बवंडर।

वातचटक-संज्ञा पुं० [सं०] तित्तिर। तीतर पक्षी।

वातज-वि० [सं०] वायु द्वारा उत्पन्न। वातकृत।

वातज्वर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का ज्वर।

विशेष—इसमें गला, होंठ और मुँह सूखते हैं, नींद नहीं आती, हिचकी आती है, शरीर रुखा हो जाता है, सिर और देह में पीड़ा होती है, मुँह फीका लगता है और मल रुद्ध हो जाता है। यह ज्वर कभी घट और कभी बढ़ जाता है।

वाततूल-संज्ञा पुं० [सं०] महीन तागा जो कभी कभी आकाश में इधर उधर उड़ता दिखाई पड़ता है।

विशेष—यह एक प्रकार की बहुत छोटी मकड़ियों का जाल होता है जिसके सहारे वह एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर जाया करती हैं। इसी को बुढ़िया का तागा कहते हैं।

पर्याय—वृद्धसूत्रक। इंदूतूल। आवाहास। वंशकफ। मरुध्वज।

वातध्वज-संज्ञा पुं० [सं०] मेघ।

वातनाड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का नासूर जिसमें वायु के प्रकोप से दाँत की जड़ में नासूर हो जाता है। इस में से रक्त सहित पीव निकला करता है और खुभने की सी पीड़ा होती है।

वातपट-संज्ञा पुं० [सं०] पताका। ध्वजा।

वातपल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] दिशा।

वातपर्यय-संज्ञा पुं० [सं०] एक चक्षु रोग जिसमें कभी भौं में और कभी आँखें धँसने से बड़ी पीड़ा होती है।

वातपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान। (२) भीम।

वातपोथ-संज्ञा पुं० [सं०] पलाश।

वातप्रकृति-वि० [सं०] जिसकी प्रकृति वायु-प्रधान हो।

वात प्रकोप-संज्ञा पुं० [सं०] वायु का बढ़ जाना। वायु की अधिकता। इसमें अनेक प्रकार के रोग होते हैं।

वातप्रसी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हिरन। (२) नकुल। नेवला। (३) घोड़ा।

वातप्रशमिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] आलुबुखारा।

वातमज-संज्ञा पुं० [सं०] जिधर की हवा हो, उधर मुख करके दौड़नेवाला मृग। वातमृग।

वातमृग-संज्ञा पुं० [सं०] जिधर की हवा हो, उधर मुख करके दौड़नेवाला मृग।

वातरंग-संज्ञा पुं० [सं०] चलदल वृक्ष। पीपल।

वातरक्त-संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें कुपथ्य और अयुक्ताहार विहार से रक्त वायु से दूषित हो जाता है। इसमें पैर के तलवे से घुटने तक छोटी छोटी फुंसियाँ हो जाती हैं, जठराग्नि मंद पड़ जाती है और शरीर दुर्बल होता जाता है।

वातरथ-संज्ञा पुं० [सं०] मेघ।

वातराशय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निष्प्रयोजन पुरुष । निष्कम्पा आदमी । (२) कांड । (३) करपात्र । लोटा । (४) कुट । (५) लीधा पेड़ । (६) उन्मत्त पुरुष ।

वातरुच-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्रचतुष । (२) उत्क्रोच । घूस । रिशवत ।

वातरौहिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें जीभ पर चारों ओर काँटे के समान मांस उभर आता है और उसका गला रुक सा जाता है । इसमें रोगी को बड़ा कष्ट होता है ।

वातर्द्धि-संज्ञा पुं० [सं०] काठ और लोहे का बना हुआ पात्र ।

वातल-संज्ञा पुं० [सं०] चना ।

वि० वायुकारक । वायुवर्द्धक ।

वातवैरी-संज्ञा पुं० [सं०] बादाम ।

वातव्याधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] गठिया ।

वातशत्रु-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि ।

वातशीर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] वस्ति । पिचकारी ।

वातस्नार-संज्ञा पुं० [सं०] बिस्व । बेल ।

वातसारथि-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि ।

वातरुन्ध-संज्ञा पुं० [सं०] आकाश का वह भाग जहाँ वायु चलती रहती है ।

वातस्वन-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि ।

वातांड-संज्ञा पुं० [सं०] अंडकोश का एक रोग, जिसमें एक अंड चलता रहता है ।

वाताट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य का घोड़ा । (२) हिरन ।

वातात्मज-संज्ञा पुं० [सं०] हनुमान ।

वाताद्-संज्ञा पुं० [सं०] बादाम ।

वातापि-संज्ञा पुं० [सं०] एक असुर का नाम ।

विशेष—आतापि और वातापि दो भाई थे । दोनों मिलकर ऋषियों को बहुत सताया करते थे । वातापि तो भेड़ बन जाता था और उसका भाई आतापि उसे मारकर ब्राह्मणों को भोजन कराया करता था । जब ब्राह्मण लोग खा चुकते, तब वह वातापि का नाम लेकर पुकारता था और वह उनका पेट फाड़कर निकल जाता था । इस प्रकार उन दोनों ने बहुत से ब्राह्मणों को मार डाला । एक दिन अगस्त्य ऋषि उन दोनों के घर आए । आतापि ने वातापि को मारकर अगस्त्य को खिलाया और फिर नाम लेकर पुकारने लगा । अगस्त्य जी ने डकार लेकर कहा कि वह तो मेरे पेट में कभी का पच गया; अब कहाँ आता है ।

वाताप्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जल । (२) सोम ।

वाताम-संज्ञा पुं० [सं०] बादाम ।

वातामोदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कस्तूरी ।

वातायन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गवाक्ष । झरोखा । झोरी

खिड़की । (२) घोड़ा । (३) एक मंत्रदृष्टा ऋषि का नाम । (४) रामायण के अनुसार एक जनपद का नाम ।

वातायु-संज्ञा पुं० [सं०] हिरन ।

वातारि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एरंड । रेंड । (२) शतमूली । (३) सिंहाल । निर्गुडी । (४) अजवायन । (५) थूहर । सेंदुड़ । (६) बायबिडंग । (७) सूरन । जिमीकंद । (८) भिलावाँ । (९) सतावर । (१०) तिलक वृक्ष । (११) नील का पौधा ।

वाताग्रीला-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक उदर रोग जिसमें नाभि के नीचे वायु की गाँठ सी पड़ जाती है, जो इधर उधर रेंगती सी जान पड़ती है । यह कभी कभी मूत्र का अवरोध भी करती है ।

वाति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु । (२) सूर्य । (३) चंद्रमा ।

वातिगम-संज्ञा पुं० [सं०] भंडा । बैंगन ।

वातीक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का छोटा पक्षी ।

वातुल-वि० [सं०] (१) वायुप्रधान । (२) वायु के कोप से जिसकी बुद्धि ठिकाने न हो ।

संज्ञा पुं० बाबला । उन्मत्त ।

वातोदर-संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें हाथ, पाँव, नाभि, कूँख, पसली, पेट, कमर और पीठ में पीड़ा होती है; सूखी खाँसी आती है; शरीर भारी रहता है; अंगों में ऐंठन होती है; और मल का अवरोध हो जाता है । पेट में कभी कभी गुड़गुड़ाहट भी होती है और पेट फूला रहता है । पेट ठोंकने से ऐसा शब्द निकलता है, जैसे हवा भरी हुई मशक ठोंकने से ।

वातोर्मी-संज्ञा पुं० [सं०] ग्यारह अक्षरों का एक वर्ण वृत्त जिसमें मतण, भगण, तगण और अंत में दो गुरु होते हैं । जैसे,— मो भाँती गो गहि धीरा धरो जू । नीकै कौरो सह युद्धै करो जू । पाओगे अर्जुन या रीति मुक्ती । वातोर्मी सो समुक्ती आत्मयुक्ती ।

वातोलंबन-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सन्निपात उवर । इसमें रोगी को आस, खाँसी, भ्रम और मूर्च्छा होती है और वह प्रलाप करता है । उसकी पसलियों में पीड़ा होती है, वह जँभाई अधिक लेता है और उसके मुँह का स्वाद कसैला रहता है ।

वातस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक गोत्रकार ऋषि का नाम । (२) एक साम का नाम ।

वातसरिक-संज्ञा पुं० [सं०] उपोतिषी ।

वातसत्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रेम । स्नेह । (२) वह स्नेह जो पिता या माता के हृदय में संतति के प्रति होता है । माता-पिता का प्रेम ।

विशेष—वातसत्य में निम्न प्रकार वायव्य वायिका के रति भाव

के वर्णन द्वारा शृंगार रस माना जाता है, उसी प्रकार कुछ लोग माता-पिता के रति भाव के विभाव, अनुभाव और संचारी सहित वर्णन को वात्सल्य रस मानते हैं। पर यह सर्वसम्मत नहीं है। अधिकांश लोग दांपत्य रति के अतिरिक्त और प्रकार के रति भाव को “भाव” ही मानते हैं।

वात्स्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक ऋषि का नाम। (२) एक गोत्र जिसमें ओर्व, च्यवन, भार्गव, जामदग्न्य और आमुवान नामक पाँच प्रवर होते हैं।

वात्स्यायन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक ऋषि का नाम। (२) न्यायशास्त्र के प्रसिद्ध भाष्यकार। (३) काम सूत्र-प्रणेता एक प्रसिद्ध ऋषि।

वाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह बात-चीत जो किसी तरफ के निर्णय के लिये हो। तर्क। शास्त्रार्थ। दलील।

विशेष—“वाद” न्याय के सोलह पदार्थों में दसवाँ पदार्थ माना गया है। जब किसी बात के संबंध में एक कहता है कि यह इस प्रकार है और दूसरा कहता है कि नहीं, इस प्रकार है, और दोनों अपने अपने पक्ष की युक्तियों को सामने रखते हुए कथोपकथन में प्रवृत्त होते हैं, तब वह कथोपकथन “वाद” कहलाता है। यह वाद शास्त्रीय नियमों के अनुसार होता है; और उसमें दोनों अपने अपने कथन को प्रमाणों द्वारा पुष्ट करते हुए दूसरे के प्रमाणों का खंडन करते हैं। यदि कोई निग्रह स्थान में आ जाता है, तो उसका पक्ष गिरा हुआ माना जाता है और वाद समाप्त हो जाता है।

(२) किसी पक्ष के तत्त्वज्ञों द्वारा निश्चित सिद्धांत। उसूल। जैसे,—अद्वैतवाद, आरंभवाद, परिणामवाद। (३) बहस। झगड़ा।

वादक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाजा बजानेवाला। (२) वक्ता। (३) वाद करनेवाला। तर्क या शास्त्रार्थ करनेवाला।

वादचंचु-संज्ञा पुं० [सं०] शास्त्रार्थ करने में पटु। वाद करने में दक्ष।

वाददंड-संज्ञा पुं० [सं०] सारंगी आदि बाजों के बजाने की कसानी।

वादन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाजा बजाना। (२) बाजा।

वादनक-संज्ञा पुं० [सं०] बाजा।

वादप्रतिवाद-संज्ञा पुं० [सं०] शास्त्रीय विषयों में होनेवाला कथोपकथन। बहस।

वाद्दर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कपास के सूत का कपड़ा। (२) कपास का पेड़। (३) बेर का पेड़।

वाद्दरंग-संज्ञा पुं० [सं०] अश्वत्थ का वृक्ष।

वाद्दरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कपास।

वाद्दरायण-संज्ञा पुं० [सं०] व्यासदेव। वेदव्यास।

वाद्दरायणि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्यास के पुत्र शुकदेव। (२) व्यासदेव।

वाद्दरि-संज्ञा पुं० [सं०] वाद्दरायण के पिता। इनका मत वेदांत दर्शन में प्रायः उद्धृत मिलता है।

वाद्दरिक-संज्ञा पुं० [सं०] बेर बीननेवाला।

वाद्दल-संज्ञा पुं० [सं०] मधुयष्टिका। जेठी मधु। मुलेठी।

वाद्दविवाद-संज्ञा पुं० [सं०] शाब्दिक झगड़ा। बहस।

वाद्दसाधन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपकार करना। (२) तर्क करना।

वादा-संज्ञा पुं० [अ० वादश] (१) नियत समय या घड़ी।

मुहा०—वादा आना = (१) घड़ी आ पहुँचना। नियत समय का प्राप्त होना। (२) काल आना। मृत्यु का समय आना। वादा पूरा होना = जीवन काल समाप्त होना।

(२) इस बात का विश्वास दिलाना कि मैं अमुक काम करूँगा। वचन। प्रतिज्ञा। इकरार।

मुहा०—वादा पूरा करना = वचन के अनुसार काम करना। प्रतिज्ञा पूर्ण करना। वादा टालना = जिस समय कोई काम करने का वचन दिया हो, उस समय न करना। प्रतिज्ञा भंग करना। वादाखिलाफी करना = बात पूरी न करना। कथन के विरुद्ध कार्य करना। वादा रखाना = वचन लेना। प्रतिज्ञा कराना। उ०—सौह करि कहत हौं, एहो प्यारे रघुनाथ ! आवति रखाए वादो उनहीं के घर सों।—रघुनाथ।

वादानुवाद-संज्ञा पुं० [सं०] तर्क वितर्क। शास्त्रार्थ। बहस।

वाद्दाल-संज्ञा पुं० [सं०] सहस्रदंष्ट्रा नामक मछली।

वादि-संज्ञा पुं० [सं०] विद्वान्।

अव्य० दे० “वादि”।

वादिक-संज्ञा पुं० [सं०] तार्किक।

वादित-वि० [सं०] बजाया हुआ। नादित।

वादित्र-संज्ञा पुं० [सं०] वाद्य। बाजा।

वादिराज-संज्ञा पुं० [सं०] मंजुघोष।

वादीन्द्र-संज्ञा पुं० [सं०] मंजुघोष।

वादी-संज्ञा पुं० [सं० वादिर्] (१) वक्ता। बोलनेवाला। (२) किसी बात का पहले पहल प्रस्ताव करनेवाला, जिसका प्रतिवादी की ओर से खंडन होता है। (३) व्यवहार में किसी के प्रति कोई अभियोग चलानेवाला। मुकदमा लानेवाला। फरियादी। मुद्दई।

वाद्दलि-संज्ञा पुं० [सं०] विश्वामित्र के एक पुत्र का नाम।

वाद्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बजाना। (२) बाजा।

वाद्यक-संज्ञा पुं० [सं०] बाजा बजानेवाला।

वाद्यभांड-संज्ञा पुं० [सं०] मुरज आदि बाजे।

वाधू-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाव का बौंड। (२) चौका। नाव।

वाधूल-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्रकार ऋषि का नाम । इस गोत्र के लोग वाधौल कहलाते हैं ।

वाधूख्य-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि ।

वान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कट । गोनटी । चटाई । (२) पानी में लगनेवाला वायु का झोंका । (३) गति । (४) सुरंग । (५) सौरभ । सुगंध । (६) सूखा फल । (७) वाना ।

संज्ञा पुं० दे० “वाण” ।

वानवर्द्ध-संज्ञा पुं० [सं०] वह लकड़ी जिसमें वाना कपेटकर बुना जाता है ।

वानप्रस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महुए का पेड़ । मधूक वृक्ष । (२) पलाश । (३) प्राचीन भारतीय आर्यों के अनुसार मनुष्य जीवन के चार विभागों या आश्रमों में से तीसरा विभाग या आश्रम ।

विशेष—यह आश्रम गार्हस्थ्य के पीछे और संन्यास के पहले पड़ता है । शास्त्र के अनुसार पचास वर्ष के ऊपर हो जाने पर और गार्हस्थ्य आश्रम से चित्त हट जाने पर मनुष्य इस आश्रम का अधिकारी होता है । इस आश्रम में प्रवेश करने वाले को नगर, गाँव या बस्ती से अलग बन में रहना, जंगली फल खाना, और उन्हीं से पंचमहा यज्ञादि करना चाहिए । शय्या, वाहन, वस्त्र, पलंग आदि सब त्याग देना चाहिए । स्त्री को चाहे पुत्र के पास छोड़े, चाहे अपने साथ वन में ले जाय । जब इस आश्रम में रहकर मनुष्य पूर्ण वैराग्य संपन्न हो जाय, तब उसे संन्यास लेना चाहिए ।

वानर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बंदर । (२) दोहे का एक भेद जिसके प्रत्येक चरण में १० गुरु और २० लघु होते हैं । यथा—जड़ चेतनगुण दोषमय, विश्व कीन्ह करतार । संत हंस गुण गहहि पै परिहरि वारि विकार ।

वानरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) केवौच । कपिकण्ठु । (२) बंदर की मादा ।

वानल-संज्ञा पुं० [सं०] काली बन-तुलसी ।

वानवासिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] सोलह मात्राओं के छंदों या चौपाई का एक भेद जिसमें नवीं और बारहवीं मात्राएँ लघु पड़ती हैं । जैसे,—“सीय लघन जेहि विधि सुख लहहीं” ।

वानस्पत्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह वृक्ष जिसमें पहले फूल लगकर पीछे फल लगते हैं । जैसे,—आम, जामुन आदि । (२) वनस्पति का समूह ।

वाना-संज्ञा स्त्री० [सं०] बटेर पक्षी ।

वानायुज-संज्ञा पुं० [सं०] वनायुज देश का घोड़ा ।

वानीय-संज्ञा पुं० [सं०] कैवर्त मुस्तक । केवटीमोथा । कुट । गोन ।

वानीर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बेंत । (२) पाकड़ का पेड़ । पकड़ ।

वानीरक-संज्ञा पुं० [सं०] मूँज ।

वानेय-संज्ञा पुं० [सं०] गोन नाम का वृण जो पानी में होता है । कैवर्त मुस्तक ।

वाप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बोना । वयन । (२) मुंडन । (३) क्षेत्र । खेत ।

वापक-संज्ञा पुं० [सं०] बीज बोनेवाला ।

वापन-संज्ञा पुं० [सं०] बीज बोना ।

वापस-वि० [फा०] लौटा हुआ । फिरा हुआ ।

मुहा०—**वापस आना** = किसी स्थान पर जाकर वहाँ से फिर आ जाना । लौट आना । **वापस करना** = (१) किसी आए हुए मनुष्य को फिर वहाँ भेजना, जहाँ से वह आया हो । लौटाना । (२) किसी वस्तु को मोल लेकर फिर दूकानदार को दे देना और उससे दाम ले लेना । जैसे,—यह छाता अच्छा नहीं है; वापस कर दो । (३) दे० “वापस लेना” । (४) किसी से ली हुई वस्तु को उसे फिर दे देना । **वापस जाना** = फिर वहाँ जाना, जहाँ से आया हो । लौट जाना । **वापस होना** = (१) लौट जाना । (२) किसी मोल ली हुई वस्तु का फिर दूकानदार को उससे दाम लेकर दे दिया जाना । फेरा जाना । जैसे,—अब यह छाता वापस नहीं हो सकता । (३) दी हुई वस्तु का फिर मिल जाना या ली हुई वस्तु का फिर दे दिया जाना ।

वापसी-वि० [फा० वापस] लौटा हुआ या फेरा हुआ । जैसे,—वापसी डाक ।

संज्ञा स्त्री० (१) लौटने की क्रिया या भाव । प्रत्यावर्त्तन । जैसे,—वापसी के समय लेते जाना । (२) किसी दी हुई वस्तु को फिर लेने या ली हुई वस्तु को फिर देने का काम या भाव ।

वापिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का बड़ा चौड़ा कूआँ या जलाशय । वापी । बावली ।

वापित-वि० [सं०] (१) बोया हुआ । (२) मुंडित । मूँड़ा हुआ ।

वापी-संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटा जलाशय । बावली ।

वाप्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुट । (२) बोवारी धान । (३) बावली का पानी ।

वाम-वि० [सं०] (१) बायाँ । दक्षिण या दाहिने का उल्टा । (२) प्रतिकूल । विरुद्ध । खिलाफ़ । अहित में तत्पर । उ०—विधि वाम की करनी कठिन जेह मातु कीन्ही बावरी ।—तुलसी । (३) टेढ़ा । कुटिल । (४) खोटा । दुष्ट । नीच । (५) जो अच्छा न हो । बुरा ।

संज्ञा पुं० (१) कामदेव । (२) एक रुद्र का नाम । वामदेव । (३) वरुण । (४) कुच । स्तन । (५) धन । (६) ऋचीक के एक पुत्र का नाम । (७) कृष्ण के एक पुत्र का नाम । (८) चंद्रमा के रथ के एक घोड़े का नाम । (९) २४ अक्षरों का एक वर्ण वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में सात जगण और

एक यगण होता है। इसे मंजरी, मकरंद और माधवी भी कहते हैं। यह एक प्रकार का सवैया ही है। जैसे,—
लोक यथामति वेद पढ़ें सह आगम औ दस आठ सयाने।
संज्ञा स्त्री० दे० “वामा”। उ०—नवल त्रिभंग कदम तर ठाढ़ो, मोहत सब ब्रज वाम। (गीत)

वामक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंगभंगी का एक भेद। (२) बौद्ध ग्रंथों के अनुसार एक चक्रवर्ती।

वामकक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्रकार ऋषि का नाम जिनके गोत्र के लोग वामकक्षायन कहे जाते थे।

वामदेव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। महादेव। (२) गौतम गोत्रीय एक वैदिक ऋषि जो ऋग्वेद के चौथे मंडल के अधिकांश सूक्तों के दूता थे। (३) दशरथ के एक मंत्री का नाम।

वामदेवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा। (२) सावित्री।

वामदेव्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक साम का नाम। (२) एक ऋषि का नाम। (३) पुराणानुसार शालमलि द्वीप के एक पर्वत का नाम।

वामन-वि० [सं०] (१) बौना। छोटे डील का। (२) ह्रस्व। खर्व।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) शिव। (३) एक दिग्गज का नाम। (४) एक प्रकार का घोड़ा जो डील डौल में छोटा होता है। (५) हनु के एक पुत्र का नाम। (६) एक नाग का नाम। (७) गरुड़ वंशी एक पक्षी का नाम। (८) क्रौंच द्वीप के एक पर्वत का नाम। (९) विष्णु भगवान का पाँचवाँ अवतार जो बलि को छलने के लिये अश्विनी के गर्भ से हुआ था। (१०) अठारह पुराणों में से एक।

वामनक-संज्ञा पुं० [सं०] क्रौंच द्वीप का एक पर्वत।

वामनद्वादशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक पर्व तिथि जो भाद्र शुक्ल १२ को पड़ती है। इस दिन व्रत करके विष्णु भगवान के वामनावतार की पूजा की जाती है।

वामना-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अप्सरा का नाम।

वामनिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्कंद की अनुचरी एक माता या मातुका का नाम। (२) बौनी स्त्री।

वाम मार्ग-संज्ञा पुं० [सं०] वेद-विहित दक्षिण मार्ग के प्रतिकूल तांत्रिक मत जिसमें, मद्य, मांस, व्यभिचार आदि निषिद्ध बातों का विधान रहता है।

वामरथ-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्रकार ऋषि का नाम जिनके गोत्रवाले वामरथ्य कहलाते थे।

वामलूर-संज्ञा पुं० [सं०] दीमक का भीटा। वल्मीक। बाँबी।

वामलोचना-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुंदरी स्त्री।

वामा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्त्री। (२) दुर्गा। (३) दस भक्षरों के एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में लगण,

यगण और भगण तथा अंत में एक गुरु होता है। यथा—
तू यों भगवामा तें सरला। टेढ़े धनु ते ज्यों तीर चला। ये हैं दुख नाना की जननी। ऐसी हम गाथा ते अकनी।

वामाक्षी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुंदर स्त्री। (२) दीर्घ ई-कार।

वामाचार-संज्ञा पुं० [सं०] तांत्रिक मत का एक भेद जिसमें पंच मकार अर्थात् मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन द्वारा उपास्य देव की पूजा की जाती है। इस मतवाले स्वमता-वलंबी को वीर, साधक आदि और विरोधी को कंडक कहते हैं।

वामापीडन-संज्ञा पुं० [सं०] पीट का पेड़।

वामावर्त-वि० [सं०] (१) दक्षिणावर्त का उलटा। (वह फेरी) जो किसी वस्तु (देव-प्रतिमा आदि) की बाईं ओर से आरंभ की जाय। जैसे,—वामावर्त परिक्रमा। (२) (वह चकर) जो बाईं ओर से चला हो। (३) जिसमें बाईं ओर का घुमाव या भ्रंश हो। जैसे,—वामावर्त शंख।

विशेष—शंख दो प्रकार के होते हैं—एक वामावर्त, दूसरा दक्षिणावर्त। दक्षिणावर्त शंख अत्यन्त शुभ और दुष्प्राप्य कहा जाता है।

वामिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] चंडिका।

वामिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का योनि रोग जिसमें गर्भाशय से छः सात दिन तक रज का स्राव होता रहता है। इसमें कभी पीड़ा होती है, कभी नहीं होती।

वामी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शृगाली। गीदड़ी। (२) घोड़ी। (३) गदही।

वामोर-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुंदर उरवाली स्त्री। सुंदरी स्त्री।

वाञ्छी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक स्त्री जो गोत्रकार थी। इसके गोत्र-वाले वाञ्छेय कहलाते थे।

वाम्य-संज्ञा पुं० [सं०] वामदेव ऋषि के बोड़े का नाम।

वाम्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक साम का नाम।

वाय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बुनना। (२) साधन।

वायक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बुननेवाला। (२) तंतुवाय। जुलाहा।

वायदंड-संज्ञा पुं० [सं०] जुलाहों की ढरकी।

वायन-संज्ञा पुं० [सं०] वह मिठाई या पकवान जो देव-पूजा या विवाहादि के लिये बनाया जाय।

विशेष—दे० “वायन”।

वायनरज्जु-संज्ञा पुं० [सं०] जुलाहों के करवे की बै।

वायव्य-वि० [सं०] (१) वायु संबंधी। (२) वायुवर्धित।

वायु से बना हुआ। (३) जिसका देवता वायु हों।

संज्ञा पुं० (१) वह कोण या दिशा जिसका अधिपति वायु है। उत्तर पश्चिम का कोना। पश्चिमोत्तर दिशा। (२)

वायु पुराण। (३) एक भस्त्र का नाम।

वायस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अगुरु। अगर का पेड़। (२) कौआ।

वायसतंतु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनु के दोनों जोड़। (२) काकतुंडी। कौआठोंडी।

वायसांतक-संज्ञा पुं० [सं०] उल्लूक। उल्लू।

वायसाहिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) महाज्योतिष्मती लता। (२) कौआठोंडी।

वायसी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटी मकौय जिसमें गुच्छों में गोल मिर्च के समान लाल फल लगते हैं। काकमाची। (२) महाज्योतिष्मती। (३) काकतुंडी। कौआठोंडी। (४) सफेद छुँचुची। (५) काकजंघा। मासी। (६) महाकरंज। बड़ा कंजा।

वायसेत्तु-संज्ञा पुं० [सं०] कौस नाम का वृण।

वायसोलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) काकोली। मालकंगनी। (२) महाज्योतिष्मती लता।

वायु-संज्ञा स्त्री० [सं०] हवा। वात।

विशेष—वैशेषिक दर्शन वायु को दृष्यों में मानता है और उसे रूपरहित, स्पर्शवान् तथा नित्य कहता है। न्याय दर्शन में वायु पंचभूतों में है और इसका गुण स्पर्श कहा गया है। वायु से ही स्पर्शोद्भूत की उत्पत्ति मानी गई है। वैशेषिक दर्शन स्पर्श के अतिरिक्त संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और वेग भी वायु के गुण मानता है। सांख्य में वायु की उत्पत्ति स्पर्श तन्मात्रा से मानी गई है। उपनिषदों के अनुसार वेदांत भी वायु की उत्पत्ति आकाश से मानते हैं।

वायुकोण-संज्ञा पुं० [सं०] पश्चिमोत्तर दिशा।

वायुगुलम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वातचक्र। बगोला। बवंडर। (२) पेट का एक रोग जिसमें उसके अंदर वायु का एक गोला सा बँध जाता है, जो घटता बढ़ता और सारे पेट में फिरता रहता है। कभी कभी यह पीड़ा भी उत्पन्न करता है। बायगोला।

विशेष—इसमें प्रायः मल मूत्र का अवरोध भी हो जाता है और गला सूखा रहता है। हृदय, बगल और पसली में कभी कभी बड़ा दर्द होता है। खाली पेट में इसका जोर अधिक रहता है और भरे पेट में कम। कड़वे, कसैले पदार्थों के खाने से यह रोग बढ़ता है।

वायुदारु-संज्ञा पुं० [सं०] मेघ। बादल।

वायुपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान। (२) भीम।

वायुफल-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रधनुष।

वायुभक्ष्य-संज्ञा पुं० [सं०] सर्प। साँप।

वायुमंडल-संज्ञा पुं० [सं०] आकाश, जिसमें वायु प्रवाहित होती है।

४१५

वायुमल्लिधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] ललितविस्तर के अनुसार एक लिपि का नाम।

वायुरोषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] रात।

वायुलोक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक लोक का नाम। (२) आकाश।

वायुवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] धूँज। धूँआँ।

वायुलख-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि।

वायुहन्-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम जो मंजु ऋषि के पुत्र थे। कथा है कि मंजु ऋषि एक बार सरस्वती में स्नान कर रहे थे। वहाँ उनको एक नग्न स्त्री स्नान करती हुई दिखाई दी। उसे देखकर उनका वीर्य स्खलित हो गया। उसे उन्होंने एक घड़े में रखा, वह सात भागों में विभक्त हो गया और उनसे वायुवेग, वायुबल, वायुहन्, वायुमंडल, वायुनाल, वायु-रेता और वायुचक्र नामक सात पुत्र उत्पन्न हुए।

वारंक-संज्ञा पुं० [सं०] पक्षी।

वारंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तलवार की सूट। (२) अँकड़े के आकार का एक अन्न जिससे चिकित्सक अस्थिविनष्ट शल्य निकालते थे। (सुश्रुत)

वारंट-संज्ञा पुं० [अं०] अदालत का वह आज्ञापत्र जिसके अनुसार किसी कर्मचारी को वह काम करने का अधिकार प्राप्त हो जाय, जिसे वह अन्यथा करने में असमर्थ हो। यह कई प्रकार का होता है, जैसे,—वारंट गिरफ्तारी, वारंट तलाशी, वारंट रिहाई, इत्यादि।

वारंट गिरफ्तारी-संज्ञा पुं० [अं० वारंट + फा० गिरफ्तारी] अदालत का वह आज्ञापत्र जिसके अनुसार किसी कर्मचारी को यह अधिकार दिया जाय कि वह किसी पुरुष को पकड़कर अदालत में हाज़िर करे।

वारंट तलाशी-संज्ञा पुं० [अं० वारंट + फा० तलाशी] अदालत का वह आज्ञापत्र जिसके अनुसार किसी कर्मचारी को यह अधिकार दिया जाय कि वह किसी स्थान में जाकर वहाँ की तलाशी ले।

वारंट रिहाई-संज्ञा पुं० [अं० वारंट + फा० रिहाई] अदालत का वह आज्ञापत्र जिसके अनुसार किसी सरकारी कर्मचारी को यह आज्ञा और अधिकार मिले कि वह किसी पुरुष को, जो जेल, हवालात या गिरफ्तारी में हो, छोड़ दे; या किसी माल या जायदाद को, जो कुर्क हो या किसी की संपूर्णता में हो, मालिक को लौटा दे।

वारंवार-अव्य० दे० 'वारंवार'।

वाद्-संज्ञा पुं० [सं०] जल। पानी।

वार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) द्वार। दरवाजा। (२) अवरोध। रोक। रुकावट। (३) ढाँकेवाली वस्तु। आवरण। (४)

कोई नियत काल। अवसर। दफा। भरतयः। जैसे,—
बारवार। (५) क्षण। (६) सप्ताह का दिन। जैसे,—
आज कौन बार है? (७) कुज वृक्ष। (८) पानपात्र। मद्य
का प्याला। (९) बाण। तीर। (१०) नदी या समुद्र का
किनारा। (११) शिव का एक नाम। (१२) दाँव। बारी।
जैसे,—अपना अपना बार है।

मुहा०—बार मिलना = फुरसत मिलना।

संज्ञा पुं० [सं० बार = दाँव, बारी] चोट। आघात। आक्रमण।
हमला।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—बार खाली जाना = (१) प्रहार का ठीक स्थान पर न
पड़ना। चलाया हुआ अन्न न लगना। (२) युक्ति सफल न होना।
चलो इसे चाल या तद्वैर का कुछ नतीजा न होना।

वारक संज्ञा पुं० [सं०] (१) निषेध करनेवाला। प्रतिबंधक।
(२) घोड़े का कदम। (३) घोड़ा। (४) वह स्थान जहाँ
पीड़ा हो। कष्ट-स्थान। (५) बाधा का स्थान। (६) एक
सुगंधित वृक्ष।

वारकथा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेश्या। रंडी।

वारकी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रतिवादी। शत्रु। (२) समुद्र।
(३) पत्ते खाकर रहनेवाला तपस्वी। पर्णाशी यती।

वारकीर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साला। (२) द्वारपाल। (३)
बाइवाग्री। (४) जूँ। (५) कंघी। (६) लड़ाई का घोड़ा।
चित्राश्व।

वारण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी बात को न करने का संकेत
या आज्ञा। निषेध। मनाही।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) रोक। रुकावट। बाधा। (३) कवच। बकतर। (४)
हाथी। (५) अंकुश। (६) हस्त। (७) काला सीसम।
(८) पारिभद्र। (९) सफेद कोरैया का फूल। (१०) छत्रपय
छंद का एक भेद जिसमें ४१ गुरु, ७० लघु, कुल १११ वर्ण
या १५२ मात्राएँ होती हैं; अथवा ४१ गुरु, ६६ लघु, कुल
१०७ वर्ण या १४८ मात्राएँ होती हैं।

वारणकणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गजपिप्पली।

वारणकुल्ल-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कृष्ण व्रत जिसमें
एक महीने तक पानी में जौ का सत्तू घोलकर पीना पड़ता है।

वारणवृषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कदली। केला।

वारणावत-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक जनपद
या नगर जो गंगा के किनारे था।

विशेष—यहीं पर दुर्योधन ने पांडवों को जलाने के लिये
काष्ठागृह बनवाया था। कुछ लोग इसे करनाल के आस-
पास मानते हैं और कुछ लोग इलाहाबाद जिले के हँडिया
नामक स्थान के पास।

वारणीय-वि० [सं०] निषेध योग्य। प्रतिषेध्य।

वारतिय-संज्ञा स्त्री० [सं० वारली] वेश्या। उ०—ताके रहीं
वारतिय दोई। रूपवती रंभा छबि छोई।—रघुराज।

वारद-संज्ञा पुं० [सं० वारिद] बादल। उ०—सोहति धोती
सेत में कनक बरन तन बाल। सारद-वारद बीजुरी-भा रह
कीजत लाल।—बिहारी।

वारदात-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कोई भीषण या शोचनीय कांड।
दुर्घटना। (२) मारपीट। मारकाट। दंगा फसाद।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(३) बटना संबंधी समाचार। हाल। (क०)

वारधान-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक जनपद का नाम।
इसे वाटधान भी कहते हैं।

वारन-संज्ञा स्त्री० [हि० वारना] निछावर। बलि। उ०—नित
हित सों पालत रहै रूप भूप नैदलाल। छवि पनिवारन मैं
मनौ हग पर वारन हाल।—रसनिधि।

संज्ञा पुं० [सं० वंदन] वंदनवार। वंदनमाला। उ०—घर
घर धुजा पताका बानी। तोरन वारन वासर ठानी।—सूर।

वारना-क्रि० प्र० [हि० उतारना] निछावर करना। उत्सर्ग
करना। उ०—(क) चितै रही मुख ईंदु मनोहर या छवि
पर वारति तन को। कछि काछिनी भेच नरवर को बीच मिली
मुरलीधर को।—सूर। (ख) कौंसिला की कोषि पर तोषि
तन वारिण री राम दसरथ की बलाय लीजै आलि री।—
तुलसी। (ग) तो पर वारौं उरवसी सुन राधिका सुजान।
तू मोहन के उर बसी है उरवसी समान।—बिहारी।

संज्ञा पुं० निछावर। उत्सर्ग। उ०—अति कोमल कर-
चरन-सरोरुह, अधर दसन नासा सोहै री। लटकन सीस
कंठ मणि आजत कोटि वारने है।—सूर।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—वारने जाना = निछावर होना। बलि जाना। उ०—बाल
बिभूषन, बसन मनोहर अंगनि बिरचि बनैहैं। सोभा
निरखि निछावरि करि उर लाइ वारने जैहैं।—तुलसी।

वारनारी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेश्या।

वारपार-संज्ञा पुं० [सं० अवर + पार] (१) (नदी आदि का)
यह किनारा और वह किनारा। पूरा विस्तार। जैसे,—नदी
इतनी बड़ी है कि वारपार नहीं सूखता। (२) यह छोर और
वह छोर। अंत। उ०—वार पार नहीं सूझहि लाखन उमरा
मीर।—जायसी।

अव्य० (१) इस किनारे से उस किनारे तक। जैसे,—वार
पार जाने में एक घंटा लगेगा।

मुहा०—वार पार करना = पूरा विस्तार तै करना। वार पार
होना = पूरा विस्तार तै होना।

(२) एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व तक। एक बगल से दूसरी

बगल तक। पूरी चौड़ाई या मोटाई तक। जैसे,—बरछी वारपार हो गई।

मुहा०—वार पार करना = इस ओर से उस ओर तक घसाना।
पूरी मोटाई छेदकर दूसरी ओर निकालना।

वारफेर-संज्ञा स्त्री० [हि० वार + फेर] (१) निछावर। बलि।
(२) वह रुपया पैसा जो बूल्हा या दुल्हिन के सिर पर से घुमाकर डोमनियों आदि को दिया जाता है। उ०—बोली कर जोरि मेरो जोर न चलत कछु चाहो सोई होहु यह वारि फेरि डारिये।—प्रियादास।

वारमुखी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेद्या। उ०—कहै तुम कौन वारमुखी नहीं भोग संग भरवा सुगहै मौन सुनि परी बेरी है।—प्रियादास।

वारला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हंसी। (२) केला।

वारलीक-संज्ञा पुं० [सं०] विव्वजा वृण। बनकस।

वारवधू-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेद्या। रंडी।

वारवाणि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वंशी बजानेवाला। (२) उत्तम गायक। (३) धर्माध्यक्ष। न्यायाधीश। जज। (४) ज्योतिषी।

वारवाणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेद्या।

वारवास्ति, वारवास्थ-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक जनपद का नाम जो भारत की पश्चिमी सीमा के आगे था।

वारखो-संज्ञा स्त्री० [सं०] बाजार में बैठनेवाली स्त्री। वेद्या। रंडी।

वारांगला-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेद्या। रंडी।

वारांनिधि-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र। उ०—जयति वैराग्य-विज्ञान-वारांनिधे, नमत नमैद पाप-ताप-हर्ता।—तुलसी।

वारा-संज्ञा पुं० [सं० वारण = रत्ना, बचाव] (१) खर्च की वचत। किरायत। (२) लाभ। फायदा।

क्रि० प्र०—पढ़ना।—बैठना।

संज्ञा पुं० [हि० वार = यह किनारा] इधर का किनारा। वार।

थौ०—वारा न्यारा।

वि० किरायत। सस्ता।

वि० [हि० वारना] [स्त्री० वारी] जो निछावर हुआ हो। जिसने किसी पर अपने को उत्सर्ग किया हो।

मुहा०—वारा होना = निछावर होना। कुरवान होना। (प्यार का वाक्य) उ०—हैं वारी तेरे इंदुवदन पर अति छवि अल-क्षानि रोई।—सूर। वारा जाना = दे० “वारा होना”।

उ०—वनवारी वारी गई वनवारी पै आज।—रसनिधि।

वाराणसी-संज्ञा स्त्री० [सं०] काशी नगरी का प्राचीन नाम।

विशेष—कुछ लोग यह नाम वरुणा और असी नदियों के कारण मानते हैं। पर इस प्रकार यह शब्द सिद्ध नहीं होता। लोग इसकी ठीक व्युत्पत्ति ‘वर’ + ‘अनस्’ (जल) भर्त्ता

“पवित्र जलवाली पुरी” बतलाते हैं। “असम रथोंवाली पुरी” भी कुछ विद्वान् अर्थ करते हैं।

वारा न्यारा-संज्ञा पुं० [हि० वार + न्यारा] (१) इस पक्ष वा उस पक्ष में निर्णय। किसी ओर निश्चय। फ़ैसला। (२) संशय या शगदे का निबटेरा। चले जाते हुए मामले का खातमा। जैसे,—उस मामले का अभी तक कुछ वारा न्यारा नहीं हुआ।

वारातिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

वारावस्कंदी-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि।

वाराह-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० वाराही] (१) दे० “वराह”। (२) काली मैनी का वृक्ष। (३) पानी के किनारे होनेवाला बेंत। अंबुवेतस्।

वाराहपत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] अश्वगंधा। अश्वगंध।

वाराहांगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दंती का पेड़।

वाराही-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ब्रह्माणी आदि आठ मातृकाओं में से एक मातृका का नाम। (२) एक योगिनी का नाम। (३) वाराही कंद। (४) कँगनी। (५) इयामा पक्षी। (६) सफेद भूकुष्मांडा। बिलाई कंद। विदारी कंद।

वाराहीकंद-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का महाकंद जो गेंदी कहलाता है। कहते हैं कि यह अनूप देश में होता है। इसके कंद के ऊपर सूर्य के बालों के समान रोएँ होते हैं। इसका आकार प्रायः गुड़ की भेली के समान होता है और इसके पत्ते कैंटीले, बड़े बड़े तथा अनीदार होते हैं। वैद्यक में यह चरपरा, कटुवा, बलकारक, पित्तजनक, रसायन, शुक्रजनक, वीर्यवर्धक, अग्निदीपक, मधुर, गरम, स्वर को शुद्ध करनेवाला, आयुवर्द्धक तथा कोढ़, प्रमेह, त्रिदोष, कफ, वात, कृमि और मूत्रकृच्छ्र का नाशक माना है।

पर्या०—वाराही। चर्मकारालुक। विष्वक्सेनप्रिया। वृष्टि। वदरा। कच्छा। वनमालिनी। गृष्टि। विष्वमूला। शूकरी। क्रोडकन्या। कौमारी। त्रिनेत्रा। ब्रह्मपुत्री। क्रोडी। कन्या। माधवेष्टा। शूकरकंद। वनवासी। कुष्ठनाशन। वक्ष्य। अमृत। महावीर्य। शंवरकंद। वराहकंद। वीर। ब्राह्मीकंद। महौषध। सुकंदक। वृष्टिद। व्याधिहंता। मागधी।

वारि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जल। पानी। (२) तरल पदार्थ। (३) ह्रीवेर। (४) सुगंधवाला।

संज्ञा स्त्री० (१) वाणी। सरस्वती। (२) हाथी के बाँधने की जंजीर आदि। (३) हाथी के बाँधने का स्थान। (४) जोटा कलसा या गगरा।

वारिकफ-संज्ञा पुं० [सं०] बसुम्र।

वारिकुञ्ज, वारिकुञ्जक-संज्ञा पुं० [सं०] सिंघाड़ा।

वारिकोल-संज्ञा पुं० [सं०] कच्छप। कछुआ।

वारिचर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पानी में रहनेवाले जंतु । (२) मत्स्य । मछली । (३) शंख ।
 वारिज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल । (२) द्रोणीलवण । (३) मछली । (४) शंख । (५) घोंघा । (६) कौड़ी । (७) उत्तम सुवर्ण । खरा सोना ।
 वारिजात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल । (२) शंख । (३) दे० “वारिज” ।
 वारित-वि० [सं०] जो रोका गया हो । जो मना किया गया हो । निवारित ।
 वारितर-संज्ञा पुं० [सं०] उशीर । खस ।
 वारिद्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ । बादल । (२) भद्रमुस्तक । नागरमोथा ।
 वारिधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ । बादल । (२) भद्रमुस्तक । नागरमोथा ।
 वारिधि-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र ।
 वारिनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वरुण । (२) समुद्र । (३) बादल । मेघ ।
 वारिनिधि-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र ।
 वारिपर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जलकुंभी । (२) पानी की काई ।
 वारिपृष्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] जलकुंभी ।
 वारिमुच्-संज्ञा पुं० [सं०] बादल । मेघ ।
 वारियंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] झौआरा । जलयंत्र ।
 वारियाँ-संज्ञा स्त्री० [हि० वारी] निछावर । बलि ।
 क्रि० प्र०—जाना ।
 मुहा०—वारियाँ जाऊँ = तुझ पर निछावर हूँ । (स्त्रियों का प्यार का वाक्य जो वे बात चीत में लाया करती हैं ।)
 वारिरुह-संज्ञा पुं० [सं०] कमल ।
 वारिलोमा-संज्ञा पुं० [सं० वारिलोमन्] वरुण ।
 वारिवंद-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन जनपद ।
 विशेष—यह कूचविहार के उत्तर में बताया जाता है ।
 वारिवर-संज्ञा पुं० [सं०] करौंदा ।
 वारिवर्त ३-संज्ञा पुं० [सं० वारि + आवर्त] एक मेघ का नाम ।
 उ०—सुनत मेघवर्तक साजि सैन लै आए । जलवर्त, वारिवर्त, पवनवर्त, वज्रवर्त, आगिवर्तक जलद संग लाए ।
 —सूर ।
 वारिवास-संज्ञा पुं० [सं०] मद्य बनानेवाला । कलवार । कलार ।
 वारिवाह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ । (२) मुस्तक । मोथा ।
 वारिश-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।
 वारिशास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष का एक ग्रंथ जो गर्ग मुनि का रचा हुआ कहा जाता है । इससे यह निकाला जाता है किस स्थान में कैसी बृद्धि होगी, और कब कब होगी ।

वारिस-संज्ञा पुं० [अ०] (१) दायद । दायभागी पुरुष । (२) वह पुरुष जो किसी के मरने के पीछे उसकी संपत्ति आदि का स्वामी और उसके ऋण आदि का देनदार हो । उत्तराधिकारी ।
 वारिसार-संज्ञा पुं० [सं०] भागवत पुराण के अनुसार चंद्रगुप्त के एक पुत्र का नाम ।
 वारिंद्र-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र ।
 वारी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हाथी के बाँधने की जंजीर या अँडुआ । गजबंधन । (२) कलसी । छोटा गगरा ।
 वि० दे० “वारा” ।
 वारीट-संज्ञा पुं० [सं०] हाथी ।
 वारी फेरी-संज्ञा स्त्री० [हि० वारना + फेरना] किसी प्रिय व्यक्ति के ऊपर कुछ द्रव्य, या और कोई वस्तु धुमाकर इसलिये छोड़ना या उत्सर्ग करना, जिसमें उसकी सब बाधाएँ दूर हो जायँ । निछावर । (स्त्रियों का एक डोटका) उ०—भुजन पर जननी वारी फेरी डारी । क्यों तोय्यो कोमल कर-कमलन संभु-सरासन भारी ?—तुलसी ।
 क्रि० प्र०—डालना ।
 वारीश-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र ।
 वारुंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साँपों का राजा । (२) नाव में से पानी निकालने का बरतन । तसला । (३) कान की मैल । खूँट । (४) आँख का कीचड़ ।
 वारु-संज्ञा पुं० [सं०] विजय हस्ति, जिस पर विजयपताका चलती है ।
 वारुठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंतश्शय्या । मरण खाट । (२) वह टिकठी जिस पर मुरदे को लेटाकर ले जाते हैं । अरथी ।
 वारुण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जल । (२) शतभिषा नक्षत्र । (३) भारतवर्ष के एक खंड का नाम । इसे आज कल ‘वरनारक’ कहते हैं । (४) एक अस्त्र का नाम । (५) हरताल । (६) एक उपपुराण का नाम । (७) वरुण या वरुना नाम का पेड़ ।
 वारुणक-संज्ञा पुं० [सं०] एक जनपद का नाम ।
 वारुणकर्म-संज्ञा पुं० [सं०] कूआँ, पोखरा, बावली आदि जलाशय बनवाने का काम ।
 वारुणि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अगस्त्य मुनि । (२) वसिष्ठ । (३) भृगु । (४) विनता के एक पुत्र का नाम । (५) एक जनपद का नाम । (६) दँतैला हाथी । (७) वारुण वृक्ष । वरुना का पेड़ ।
 वारुणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मदिरा । शराब ।
 विशेष—कई प्रकार की मदिरा का नाम वारुणी है । जैसे,—पुनर्नवा (गदहपूना) को पीसकर बनाई हुई, ताड़ या

खजूर के रस से बनी हुई, साठी धान के चावल और हड़ पीसकर बनाई हुई।

(२) वरुण की स्त्री। वरुणानी। (३) उपनिषद् विद्या जिसका उपदेश वरुण ने किया था। (४) पश्चिम दिशा। (५) शतभिषा नक्षत्र। (६) एक नदी का नाम। (७) भुईआँवला। (८) गौँडर दूब। (९) घोड़े की एक चाल। (१०) इन्द्रवाहणी लता। इन्द्रास्न की बेल। (११) हथनी। (१२) एक पर्व जो उस समय माना जाता है, जब चैत महीने की कृष्ण त्रयोदशी को शतभिषा नक्षत्र पड़ता है। इस दिन लोग गंगा स्नान, दान आदि करते हैं। (१३) वृंदावन के एक कदंब का रस जो वरुण की कृपा से बलराम जी के लिये निकला था। (१४) कदंब के पके हुए फलों से बनाया हुआ मद्य।

वारुड-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि। आग।

वारुड-संज्ञा पुं० [सं०] गौड़ देश के एक प्राचीन जनपद का नाम जो आज कल के राजशाही ज़िले में था।

वार्कजंभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक साम का नाम। (२) वृक्ष-जंभ ऋषि का गोत्रज।

वार्क्यार्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक यज्ञ कर्म।

वार्क-वि० [सं०] वृक्ष संबंधी या वृक्ष का बना हुआ।

संज्ञा पुं० वृक्ष की छाल का बना हुआ वस्त्र।

वार्क-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रचेतागण की स्त्री मारिषा का नाम।

विशेष—इसका जन्म कुंड मुनि और प्रम्लोचा अप्सरा से हुआ था। कुंड मुनि गोमती के तट पर तप कर रहे थे। उनको तपोभ्रष्ट करने के लिये इंद्र ने प्रम्लोचा को भेजा था। वह मुनि के आश्रम में बहुत काल तक रही। जब मुनि को उसके छल का ज्ञान हुआ, तब वे अपने को धिक्कारने लगे। प्रम्लोचा शाप के भय से भागी। उसके शरीर से पसीना निकला, जो एक वृक्ष के ऊपर पड़ा। उसी से मारिषा उत्पन्न हुई। मारिषा को राजा ने प्रचेतागण को प्रदान किया, जिससे दक्ष प्रजापति का जन्म हुआ।

वार्क-संज्ञा पुं० [सं०] हंस।

वार्ड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रक्षा। हिफाजत। (२) किसी विशिष्ट कार्य के लिये घेरकर बनाया हुआ स्थान। (३) नगर में उनके महलों आदि का समूह, जो किसी विशिष्ट कार्य के लिये अलग नियत किया गया हो। (४) अस्पताल या जेल आदि के अंदर के अलग अलग विभाग।

वार्डर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो रक्षा करता हो। रक्षक। (२) जेल आदि के अंदर का पहरेदार।

वार्क-संज्ञा पुं० [सं०] लेखक।

वार्क-संज्ञा पुं० [सं०] लेखक।

वार्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आरोग्य। निरामय। (२) किसी वृत्ति या व्यवसाय में लगा हुआ। काम-काजी।

वार्क-संज्ञा पुं० [सं०] बटेर पक्षी।

वार्क-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जनश्रुति। अफवाह। (२) संवाद। वृत्तान्त। हाल। (३) विषय। मामला। प्रसंग। बात। (४) कथोपकथन। बातचीत।

यौ०—वार्कालाप।

(५) वैश्य वृत्ति जिसके अंतर्गत कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा और कुसीद है। (६) दुर्गा। (७) अन्य के द्वारा क्रय विक्रय होना।

वार्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बैंगन। भंडा। (२) बटेर पक्षी।

वार्क-संज्ञा स्त्री० [सं०] बैंगन। भंडा।

वार्क-संज्ञा पुं० [सं०] बैंगन। भंडा।

वार्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गूड़ पुरुष। प्रणिधि। चर। (२) दूत। एलची।

वार्क-संज्ञा पुं० [सं०] बात चीत। कथोपकथन।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

वार्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पनसारी। (२) समाचार ले जानेवाला। दूत। (३) नीति शास्त्र का वह भाग, जो आय व्यय से संबंध रखता है। वार्क।

वार्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी ग्रन्थ के उक्त, अनुक्त और दुरुक्त अर्थों को स्पष्ट करनेवाला वाक्य या ग्रंथ। जैसे,—पाणिनि की अष्टाध्यायी पर कात्यायन का वार्क, न्यायसूत्र के वात्स्यायन भाष्य पर उद्योत्तर का न्याय-वार्क।

विशेष—वृत्ति और भाष्य केवल मूल ग्रंथ के आशय को स्पष्ट करते हैं, उसके बाहर कुछ नहीं कहते। पर वार्ककार को पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। वह नई बातें भी कह सकता है।

(२) वृत्ति या आचार शास्त्र का अध्ययन करनेवाला। (३) दूत। चर।

वार्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अर्जुन। (२) जयंत।

वार्क-संज्ञा पुं० [सं०] एक साम का नाम।

वार्क-संज्ञा पुं० [सं०] मेघ। बादल।

वार्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दक्षिणावर्त्त शंख। (२) जल। (३) घोड़े के गले पर की दाहिनी ओर की भौरी। (४) आम की गुठली। (५) रेशम। (६) जल। (७) काकचिंचा।

वार्क-संज्ञा पुं० [सं०] बुढ़ापा।

वार्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बुढ़ापा। (२) बुद्धि। बढ़ती।

वार्क-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

वार्क-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत अधिक व्याज लेनेवाला।

वार्क-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत अधिक सूद लेनेवाला। सूदखोर।

वार्क-संज्ञा पुं० [सं०] अन्न को अधिक व्याज पर देने का व्यवसाय। बिसार।

वाङ्मयस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गेंदा । (२) वह बधिया बकरा जिसका रंग सफ़ेद हो और जिसके कान इतने लंबे हों कि पानी पीते समय पानी से छू जायें । (३) एक प्रकार का पक्षी जिसका सिर लाल, गला नीला और शेष शरीर काला कहा गया है । प्राचीन काल में इस पक्षी का बलिदान विष्णु के उद्देश्य से होता था ।

वार्भट-संज्ञा पुं० [सं०] बड़ियाल ।

वार्मुच-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बादल । (२) सुस्तक । मोथा ।

वार्य्य-वि० [सं०] (१) जो रोका जा सके । जिसका निवारण हो सके । वारणीय । (२) जिसे वारण करना हो । जिसे रोकना हो ।

वार्य्योका-संज्ञा स्त्री० [सं०] जोंक ।

वाराशि-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र ।

वार्वट-संज्ञा पुं० [सं०] नौका । नाव । बेड़ा ।

वार्वणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नीले रंग की मक्खी ।

वार्षक-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार पृथ्वी के दस भागों में से एक भाग का नाम जिसे सुद्युम्न ने विभक्त किया था ।

वार्षगण-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के वैदिक आचार्य ।

वार्षाहर-संज्ञा पुं० [सं०] एक साम का नाम ।

वार्षिक-वि० [सं०] (१) वर्ष संबंधी । (२) जो प्रति वर्ष होता हो । सालाना । (३) वर्षा काल में होनेवाला ।

वार्षिकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बेले का फूल ।

वार्षिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] ओला । करका । पत्थर ।

वार्ष्ण-संज्ञा पुं० [सं०] कृष्णचंद्र ।

वार्ष्ण्य-संज्ञा पुं० [सं०] कृष्णचंद्र ।

वार्हद्रथ-संज्ञा पुं० [सं०] बृहद्रथ का पुत्र, जरासंध ।

वालंटियर-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह मनुष्य जो बिना किसी पुरस्कार या वेतन के किसी कार्य में अपनी इच्छा से योग दे । स्वयंसेवक । स्वेच्छासेवक । (२) वह सिपाही जो बिना वेतन के अपनी इच्छा से फौज में सिपाही या अफसर का काम करे । बलमटेर ।

वालक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बालछड़ । (२) कंकण । कंगन ।

वालदैत-संज्ञा पुं० [अ०] माता पिता । माँ बाप ।

वालव-संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष में एक करण का नाम ।

वाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] इंद्रवज्रा और उपेंद्रवज्रा के मेल से बने हुए उपजाति नामक सोलह प्रकार के वृक्षों में से एक, जिसके पहले तीन चरणों में दो तगण, एक जगण और दो गुरु होते हैं; तथा चौथे चरण में और सब वही रहता है, केवल प्रथम वर्ण लघु होता है । जैसे,—राखौ सदा शंभु हिम अखंडा । बाधौ सबै शूर तनै जु दंडा । भारो निभूती तन अक्षमंडा । नसैं सबैहँ अब ओज चंडा ।

वालादी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक पौधा जिसके फूलों के दूध आँख के आकार के लगते हैं ।

वालाग्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन मान जो आठ रज का माना जाता था ।

वालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दे० “बालिका” । (२)

वालुका । बालू । (३) कान का एक गहना । बाला ।

बाली । (४) इलायची ।

वालिल्ल-संज्ञा पुं० दे० “बालखिल्य” ।

वालित-संज्ञा पुं० [अ०] पिता । बाप ।

वालित-संज्ञा स्त्री० [अ०] माता । माँ ।

वालो-संज्ञा पुं० [सं० वालिन्] बंदरों का एक राजा जो सुग्रीव का बड़ा भाई और अंगद का पिता था ।

विशेष—पुराणों में इसकी उत्पत्ति इंद्र के वीर्य से कही गई है । वि० दे० “बालि” ।

वालु-संज्ञा पुं० [सं०] एक गंध द्रव्य ।

वालुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक गंध द्रव्य । (२) पनियालू ।

वालुका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बालू । रेत । (२) शाखा ।

(३) हाथ पैर । (४) ककड़ी । (५) कपूर ।

वालुकाप्रभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नरक का नाम ।

वालुकायंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] औषध सिद्ध करने का एक प्रकार का यंत्र ।

वालुकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की ककड़ी ।

वालुक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का विष ।

वालैय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गदहा । (२) पुत्र । (३) एक प्रकार का करंज । अंगारवल्लरी ।

वालक-संज्ञा पुं० [सं०] क्षौमादि वृक्ष ।

वालकल-वि० [सं०] बल्कल का । छाल का ।

वालकली-संज्ञा स्त्री० [सं०] मदिरा । गौड़ी मद्य ।

वाल्मीकि-संज्ञा पुं० [सं०] एक मुनि जो रामायण के रचयिता और आदिकवि कहे जाते हैं । इनका जन्म भृगु वंश में हुआ था । ये प्रचेता के वंशज थे और तमसा नदी के किनारे, जिसे अब टौंस कहते हैं, रहते थे । ये एक बार अपने शिष्यों सहित नदी तट पर स्नान करने गए । वहाँ शिष्यों को घाट पर स्नान संध्या करने के लिये छोड़कर नदी के किनारे टहल रहे थे कि इसी बीच में एक निषाद ने एक क्रौंच को मारा । क्रौंच रक्त में लथपथ भूमि पर गिर पड़ा और क्रौंची चिल्लाने लगी । यह घटना देखकर मुनि के सुँह से यह वाक्य निकल गया—मा निषाद प्रतिष्ठास्वमगमच्छास्वती समा, यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधी काममोहिता । यह वाक्य विशुद्ध वर्ण-युक्त सुंदर अनुष्टुभ था । यह छंद मुनि को इतना रुचिकर हुआ कि उन्होंने समस्त रामायण महाकाव्य इसी छंद में रच डाला ।

वाल्मीकीय-वि० स्त्री० [सं०] (१) वाल्मीकि संबंधी । वाल्मीकि की । (२) वाल्मीकि की बनाई हुई ।

वावदूक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अच्छा बोलनेवाला । वक्ता । वाग्मी । (२) बहुत बकनेवाला । बकवादी ।

वावैला-संज्ञा पुं० [अ०] (१) विलाप । रोना पीटना । (२) शोरगुल । हल्ला । चिल्लाहट ।

क्रि० प्र०—करना ।—मचाना ।

वाश-संज्ञा पुं० [सं०] अडूसा । वासक ।

वि० (१) बहुत रोनेवाला । रोना । (२) निवैदित ।

संज्ञा पुं० [सं०] एक साम का नाम ।

वाशक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चिल्लानेवाला । निनादकारी । (२) रोनेवाला । (३) अडूसा ।

वाशन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पक्षियों का बोलना । (२) मक्खियों का भिनभिनाना ।

वि० (१) चिल्लानेवाला । शब्द करनेवाला । (२) चहचहानेवाला । (३) भिनभिनानेवाला ।

वाशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वासक । अडूसा ।

वाशि-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि । आग ।

वाशिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] अडूसा ।

वाशित-संज्ञा पुं० [सं०] पशु पक्षी आदि का शब्द ।

वि० दे० “वासित” ।

वाशिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्त्री । (२) हथिनी ।

वाशिष्ठ-संज्ञा पुं० (१) एक उपपुराण का नाम । (२) एक प्राचीन तीर्थ का नाम ।

वि० [सं०] वशिष्ठ संबंधी । वशिष्ठ का

वाशिष्ठी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गोमती नदी ।

वाध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मंदिर । (२) चौराहा ।

वाष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लोहा । (२) आँसू । (३) भाप । भाफ । (४) कंठकारि । भटकटैया ।

वाष्पक-संज्ञा पुं० [सं०] मरसा नाम का साग ।

वाष्पिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] हिं गुपत्री ।

वासंत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जैट । (२) कोकिल । (३) मलय वायु । (४) मूँग । (५) मैनफल ।

वासंतक-वि० [सं०] (१) वसंत संबंधी । (२) वसंत ऋतु में बोया हुआ ।

वासंतिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भाँड़ । विदूषक । (२) नाचनेवाला । नर्तक ।

वि० वसंत संबंधी ।

वासंती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (२) माधवी लता । (२) जूही । (३) गनियारी नामक फूल । (४) मदनोत्सव । (५) दुर्गा ।

(६) एक वृक्ष का नाम जिसके प्रत्येक चरण में चौदह वर्ण होते हैं, जिनमें ६, ७, ८ और ९ वर्ण लघु और शेष गुरु होते हैं । (म, त, न म, ग ग)

वास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अवस्थान । रहना । निवास ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

यौ०—कारावास । तीर्थवास । कल्पवास । कैलाशवास । वैकुण्ठवास ।

(२) गृह । घर । मकान । (३) वासक । अडूसा । (४)

सुगंध । बू ।

वासक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अडूसा । (२) गान का एक अंग ।

विशेष—शंकर के मत से मनोहर, कंदर्प, चारु और नंदन नामक इसके चार भेद हैं । कोई कोई विनोद, वरद, नंद और कुमुद को इसके भेद मानते हैं ।

(३) वासर । दिन । (४) शालक राग का एक भेद ।

वासकसंज्ञा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नायिका भेद के अनुसार वह नायिका जो नायक से मिलने की तैयारी किए हुए घर आदि सजाकर और आप भी सजकर बैठी हो ।

वासका-संज्ञा स्त्री० [सं०] अडूसा ।

वासकैट-संज्ञा पुं० स्त्री० [अ० वेस्टकोट] एक प्रकार की छोटी बंडी या कमर तक की कुरती जिससे केवल पीठ, छाती और पेट ढकता है ।

विशेष—इसमें आस्तीन नहीं होती । आगे और पीछे के कपड़ों में भेद होता है । इसे कसने के लिये पीछे बकसुप-दार दो बंद होते हैं ।

वासत-संज्ञा पुं० [सं०] गर्दभ । गदहा ।

वासतेय-वि० [सं०] बस्ती के योग्य । रहने लायक ।

वासतेयी-संज्ञा स्त्री० [सं०] रात ।

वासन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० वासित] (१) सुगंधित करना ।

वासना । धूपन । (२) वस्त्र । (३) वास । (४) ज्ञान ।

वासना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रत्याशा । (२) ज्ञान । (३)

किसी पूर्व स्थिति के जमे प्रभाव से उत्पन्न मानसिक दशा ।

भावना । संस्कार । स्मृति हेतु । (४) न्याय के अनुसार देहात्म

बुद्धिजन्य मिथ्या संस्कार । (५) इच्छा । कामना । (६)

दुर्गा । (७) अर्क की पत्नी ।

क्रि० सं० दे० “वासना” ।

वासर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दिन । दिवस । (२) वह घर जिसमें विवाह हो जाने पर स्त्री पुरुष पहली रात को सोते हैं ।

वासरमणि-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य ।

वासरसंग-संज्ञा पुं० [सं०] प्रातःकाल ।

वासव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र । (२) धनिष्ठा नक्षत्र ।

वासवि-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र के पुत्र, अर्जुन ।

वासवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] व्यास की माता सत्यवती । मत्स्यगंधा ।

वासवेध-संज्ञा पुं० [सं०] वासवी के पुत्र, वेदव्यास ।

वासस्-संज्ञा पुं० [सं०] वस्त्र । कपड़ा ।

वासा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वासक। अड्डा। (२) वासंती। माधवी लता।

वासि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कुठार। बसूला।

वासित-वि० [सं०] (१) सुगंधित किया हुआ। महकाया हुआ। (२) वस्त्राच्छादित। कपड़े से ढका हुआ। (३) जो ताजा न हो। वासी।

वासिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्त्री। (२) हथिनी। (३) चंद्रशेखर के मत से आर्या छंद का एक भेद जिसमें ९ गुरु और ३९ लघु वर्ण होते हैं।

वासित-वि० [अ०] (१) पहुँचाया हुआ। प्राप्त। (२) मिला हुआ। जो वसूल हुआ हो।

यौ०—वासित बाकी = वसूल और बाकी रकम। उ०—वासित बाकी स्याहा मुजमिल सब अधरम की बाकी। चित्रगुप्त होत मुस्तौफी शरण गहौं मैं काकी।—सूर।

वासितात-संज्ञा पुं० [अ०] वह धन जो वसूल हुआ हो। वसूल हुए धन का योग। (इसका प्रयोग बहु० में होता है।)

वासिष्ठ-वि० [सं०] वसिष्ठ संबंधी।

संज्ञा पुं० रक्त। रुधिर।

वासी-संज्ञा पुं० [सं० वासिन्] रहनेवाला। बसनेवाला। अधिवासी। जैसे,—ग्रामवासी। नगरवासी।

संज्ञा स्त्री० [सं०] बसूला जिससे बढ़ई लकड़ी छीलते हैं। तक्षणी।

वासु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) परमात्मा। (३) पुनर्वसु नक्षत्र।

वासुकी-संज्ञा पुं० [सं०] आठ नागों में से दूसरा नागराज।

वासुदेव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वसुदेव के पुत्र, श्रीकृष्णचंद्र। (२) पीपल का पेड़। अश्वत्थ। (बोलचाल)

वासुदेवक-संज्ञा पुं० [सं०] वासुदेव या श्रीकृष्ण का उपासक।

वासुभद्र-संज्ञा पुं० [सं०] वासुदेव। श्रीकृष्णचंद्र।

वासुमंद-संज्ञा पुं० [सं०] एक साम का नाम।

वासुरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्त्री। (२) हथिनी। (३) रात्रि। रात। (४) भूमि। जमीन।

वासू-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाटकों की परिभाषा में स्त्रियों के लिये संबोधन का शब्द।

वास्त-संज्ञा पुं० [सं०] बकरा।

वास्तव-वि० [सं०] प्रकृत। यथार्थ। सत्य।

यौ०—वास्तव में = सचमुच। सत्यतः। असल में। दर-असल। वाकई।

संज्ञा पुं० परमार्थ भूत। असल तत्व।

वास्तविक-वि० [सं०] (१) परमार्थ। सत्य। प्राकृत। (२) यथार्थ। ठीक।

वास्तव्य-वि० [सं०] (१) रहने योग्य। बसने योग्य। (२) बसनेवाला। अधिवासी।

संज्ञा पुं० बस्ती। आबादी।

वास्ता-संज्ञा पुं० [अ०] (१) संबंध। लगाव।

मुहा०—वास्ता पड़ना = व्यवहार का व्यवसर आना। काम पड़ना।

जैसे,—तुमको उससे वास्ता नहीं पड़ा है; नहीं तो जानते।

वास्ता पैदा करना = ढव लगाना। संबंध जोड़ना। वास्ता

रखना = लगाव रखना। संबंध रखना।

(२) मित्रता। (३) स्त्री और पुरुष का अनुचित संबंध।

वास्तु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शुभ निवास योग्य स्थान। वह स्थान जिस पर घर उठाया जाय। डीह।

विशेष—घर बनाने के पहले वास्तु या डीह के शुभाशुभ का विचार किया जाता है। बृहत्संहिता में वास्तुगृह के उत्तम, मध्यम आदि क्रम से पाँच भेद कहे गए हैं।

(२) घर। गृह। मकान। (३) इमारत।

वास्तुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बथुआ नाम का साग। (२) पुनर्ववा। गदहपूरना।

वास्तुकालिंग-संज्ञा पुं० [सं०] तरबूज। कलींदा।

वास्तुप, वास्तुपति-संज्ञा पुं० [सं०] वास्तु का अधिष्ठाता देवता। उस स्थान का देवता जिसमें घर बना हो। वास्तुपुरुष।

वास्तुपूजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वास्तु पुरुष की पूजा जो नवीन घर में गृहप्रवेश के आरंभ में की जाती है।

वास्तुयाग-संज्ञा पुं० [सं०] वह याग जो नवीन गृह में प्रवेश करने के समय किया जाता है।

वास्तुविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह विद्या जिससे वास्तु या इमारत के संबंध की सारी बातों का परिज्ञान होता है। भवन-निर्माण की कला।

वास्तुशांति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वे शांति आदि कर्म जो नवीन गृह में प्रवेश करते समय किए जाते हैं।

वास्तुशास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] वास्तुविषयक शास्त्र। वि० दे० “वास्तु विद्या”।

वास्तुक-संज्ञा पुं० [सं०] बथुआ।

वास्ते-अव्य० [अ०] (१) लिये। निमित्त। जैसे,—तुम्हारे वास्ते आभ लाया हूँ। (२) हेतु। सबब। जैसे,—तुम किस वास्ते वहाँ जाते हो?

वास्तोष्पति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र। (२) देवता मात्र। (३) वास्तुपति।

वास्थ-वि० [सं०] जल में रहनेवाला। जलस्थ।

वास्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गरमी। ऊष्मा। (२) लोहा। (३) भाप।

वास्पेय-संज्ञा पुं० [सं०] नागकेसर।

वाह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वाहन। सवारी। (२) लादकर या खींचकर ले चलनेवाला। (३) घोड़ा। (४) बैल। (५) भैंसा। (६) वायु। (७) प्राचीन काल का एक तौल या मान जो चार गोपी का होता था।

अव्य० [का०] (१) प्रशंसासूचक शब्द। अन्य। जैसे,—
वाह ! यह तुम्हारा ही काम था।

विशेष—कभी कभी अत्यंत हर्ष प्रकट करने के लिये यह शब्द दो बार भी आता है। जैसे,—वाह वाह, आ गए।

(२) आश्चर्यसूचक शब्द। जैसे,—वाह ! मियाँ काले, क्या खूब रंग निकाले। (३) घृणाघोतक शब्द। जैसे,—वाह तुम्हारा यह मुँह ! (४) आनंदसूचक शब्द।

वाहक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लादकर या खींचकर वस्तुओं को ले चलनेवाला। बोझ ढोने या खींचनेवाला। जैसे,—भारवाहक। (२) सारथी।

वाहन-संज्ञा पुं० [सं०] सवारी।

वाहरिपु-संज्ञा पुं० [सं०] महिष। भैंसा।

वाहवाही-संज्ञा स्त्री० [का०] लोगों की प्रशंसा। स्तुति। साधुवाद।

मुहा०—वाहवाही लेना या लूटना = लोगों की प्रशंसा का पात्र बनना। जैसे,—दूसरे का माल बाँटकर उसने खूब वाहवाही लूटी।

वाहिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गाड़ी। छरड़ा। (२) ढका।

वाहित-वि० [सं०] (१) प्रवाहित। (२) चलाया हुआ। चालित। (३) वंचित।

वाहिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सेना। (२) सेना का एक भेद जिसमें ८१ हाथी, ८१ रथ, २४३ घोड़े और ४०५ पैदल होते थे। एक वाहिनी में तीन गण होते थे।

वाहिनीपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वाहिनी नामक सेना विभाग का अधिपति। (२) सेनापति।

वाहियात-वि० [अ० वाही + का० यात] (१) व्यर्थ। फजूल। जैसे,—तुम तो यों ही वाहियात बका करते हो। (२) बुरा। खराब। जैसे,—वाहियात आदमियों का साथ मत किया करो।

वाही-वि० [अ०] (१) सुस्त। ढीला। (२) निरुत्साह। (३) बुद्धिहीन। मूर्ख। उ०—पीठि परो ईठि सो बसीठि बिनु ठीठ मन नीठ न सँभारै वाही मोहि मदि रहो है।—देव। (४) आवारा। (५) बेठिकाने का। (६) बेहूदा।

वाहीतवाही-वि० [अ० वाही + तवाही] (१) बेहूदा। आवारा। क्रि० प्र०—फिरना।

(२) अंडबंड। बेसिर पैर का।

क्रि० प्र०—बकना।

संज्ञा स्त्री० अंडबंड बातें। गाली गलौज।

वाहु-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हाथ के ऊपर का भाग जो कुहनी और कंधे के बीच में होता है। भुजदंड। (२) गणित शास्त्र में त्रिकोणादि क्षेत्रों के किनारे की (पार्श्व) रेखा। भुजा।

वाहुमूल-संज्ञा पुं० [सं०] काँख।

वाहुल-संज्ञा पुं० [सं०] कार्तिक का महीना।

वाहुल्य-संज्ञा पुं० [सं०] आधिक्य। अधिकता।

बाहुवार-संज्ञा पुं० [सं०] बहेड़े का वृक्ष।

वाह्य-संज्ञा पुं० [सं०] यान। रथ। सवारी।

क्रि० वि० (१) बाहर। (२) भलग। जैसे,—लोकवाह्य।

वाह्यांतर-वि० [सं०] भीतर और बाहर का। जैसे,—वाह्यांतर शुद्धि।

क्रि० वि० भीतर और बाहर।

वाह्येन्द्रिय-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ जिनका काम वाह्य विषयों का ग्रहण करना है। आँख, कान, काक, जिह्वा और त्वचा।

वाह्लीक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक जनपद जो भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर था। गांधार के पास का एक प्रदेश।

विशेष—साधारणतः आजकल के 'बलख' (जो अफगानिस्तान के उत्तरी भाग में है) के आस पास का प्रदेश ही, जिसे प्राचीन पारसी 'वक्तुर' और यूनानी 'वैक्ट्रिया' कहते थे, वाह्लीक माना जाता है; पर पाश्चात्य पुरातत्त्वविद् इसे आजकल के हिंदुस्तान के बाहर नहीं मानना चाहते।

(२) वाह्लीक देश का घोड़ा। (३) कुंकुम। केसर। (४) हाँग।

(५) एक गंधर्व का नाम।

विगोरा-संज्ञा पुं० [?] अग्नि। भाग।

विजामर-संज्ञा पुं० [सं०] आँख का वह भाग जो सफ़ेद होता है।

विजाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] श्रेणी। पंक्ति। कृतार।

विंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अवन्ती के एक राजा का नाम। (२) धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम। (३) दिन का एक विशेष भाग। (४) प्राप्ति। लाभ।

संज्ञा पुं० दे० "हुँद"। उ०—कलिदंजा के सुख मूल लतान के विंद चितान तने हैं।—दास।

संज्ञा पुं० दे० "विन्दु"।

विंदकल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राप्त करनेवाला। पानेवाला।

(२) जाननेवाला। ज्ञाता। वेत्ता। उ०—(क) परम साधु परमार्थ विंदक। संशु उपासक नहिं हरि निंदक।—तुलसी। (ख) अर्थ कि परहिं परमात्म विंदक। सुखी कि होहि कबहुँ पर निंदक।—तुलसी।

विंदु-संज्ञा पुं० [सं० विन्दु] (१) जलकण। बूँद। (२) बूँदकी।

बिंदी। (३) रंग की बिंदी जो हाथी के मस्तक पर शोभा के लिये बनाई जाती है। (४) अनुस्वार। (५) शून्य। (६) दाँत का लगाया हुआ क्षत। दंत क्षत। (७) दो भौंहों के बीच की बिंदी। (८) एक बूँद परिणाम। (९) रेखागणित के अनुसार वह जिसका स्थान नियत हो, पर विभाग न हो सके। (१०) छोटा टुकड़ा। कण। कनी।

उ०—कनक विंदु दुइ चारि के देखे। राखे सीस सीय सम लेखे।—तुलसी। (११) रत्नों का एक दोष या धब्बा जो चार प्रकार का कहा गया है—आदर्स (गोल), वर्त्ति (लंबा) भारफ (ढाल) और यव (जौ के आकार का)। (१२) सूँज या सरकंडे का धूँआँ।

वि० (१) ज्ञाता। वेत्ता। जानकार। (२) दाता। (३) जानने योग्य।

विदुचित्रक-संज्ञा पुं० [सं०] वह मृग जिसके शरीर पर गोल गोल सफ़ेद बुँदियाँ होती हैं। सफ़ेद चित्तियों का हिरन।

विदुजाल-संज्ञा पुं० [सं०] सफ़ेद विदियों का समूह जो हाथी के मस्तक और सूँड़ पर बनाया जाता है।

विदुजालक-संज्ञा पुं० [सं०] हाथियों का पक्षक नामक रोग।

विदुतंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चौपड़ आदि की बिसात। अक्ष। सारिफलक। (२) तुरंगक।

विदुतीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] काशी के प्रसिद्ध पंचनद तीर्थ का नामांतर जहाँ विंदु माधव का मंदिर है। पंचगंगा।

विदुत्रिवेणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गाने में स्वर साधन की एक प्रणाली जिसमें तीन बार एक स्वर का उच्चारण करके एक बार उसके बाद के स्वर का उच्चारण करते हैं। फिर तीन बार उस दूसरे स्वर का उच्चारण करके एक बार तीसरे स्वर का उच्चारण करते हैं; और अंत में तीन बार सातवें स्वर का उच्चारण करके एक बार उसके अगले सप्तक के पहले स्वर का उच्चारण करते हैं। यथा—आरोही—सा सा सा रे, रे रे रे ग, ग ग ग म, म म म प, प प प ध, ध ध ध नि, नि नि नि सा। अवरोही—सा सा सा नि, नि नि नि ध, ध ध ध प, प प प म, म म म ग, ग ग ग रे, रे रे रे सा।

विदुपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] भोजपत्र।

विदुमति, विदुमती-संज्ञा स्त्री० [सं०] राजा शशिविंदु की कन्या का नाम।

विंदुमाधव-संज्ञा पुं० [सं०] काशी की एक प्रसिद्ध विष्णुमूर्ति का नाम। इसके विषय में काशी खंड में लिखा है कि एक बार भगवान विष्णु शिवजी की सम्मति पाकर काशी आए और यहाँ से राजा दिवोदास को बाहर निकाल दिया। उस समय अग्निविंदु नामक ऋषि ने विष्णु की स्तुति की और भगवान ने प्रसन्न होकर उससे वर माँगने के लिये कहा। ऋषि ने कहा कि मोक्षाभिलाषियों के हितार्थ पंचनद तीर्थ पर आप अवस्थान करें और हमारे नाम से प्रसिद्ध होकर सब को मुक्ति प्रदान करें। विष्णु भगवान ने “एवमस्तु” कहकर कहा कि आज से हम तुम्हारा आधा नाम अपने नाम के आगे जोड़कर विंदुमाधव नाम से प्रख्यात होकर पंचनद तीर्थ (पंचगंगा) पर वास करेंगे। पंचनद तीर्थ भी विंदु तीर्थ कहलावेगा।

विंदुर-संज्ञा पुं० [सं० विंदु + र (प्रत्य०)] किसी पदार्थ पर दूसरे रंग के लगे हुए छोटे छोटे चिह्न। बुँदकी। उ०—सिंदुर विंदुर बान के चिह्न चुनी जरि केसर कुंदन कीजै।—सुंदरी०।

विंदुराजि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साँप। राजमन।

विंदुल-संज्ञा पुं० [सं०] अगिया नामक कीड़ा जिसके छूने से बारीर में फफोले निकल आते हैं।

विंदुसर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक सरोवर का नाम जिसके उत्तर कैलाश पर्वत है। कहते हैं कि भगीरथ ने गंगा के लिये इसी सर के किनारे तप किया था। गंगा जी इसी स्थान से निकली हैं। देवताओं ने यहाँ अनेक यज्ञ किए थे और भगवती गंगा के जितने विंदु पृथ्वी पर उतरते समय गिरे, वे इसी स्थान पर गिरे थे। इस से वह सर बन गया और विंदुसर कहलाने लगा। (२) उड़ीसा में भुवनेश्वर क्षेत्र के एक प्राचीन सरोवर का नाम।

विंदुसार-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रगुप्त के एक पुत्र का नाम। यह चंद्रगुप्त के बाद मगध का राजा हुआ था। सम्राट् अशोक इसी का पुत्र था।

विंध्य-संज्ञा पुं० [सं० विंध्य] विंध्याचल। विंध्य पर्वत। उ०—कुसुमउ देखि सनेह सँभारा। बढ़त विंध्य जिमि घटज निवारा।—तुलसी।

विंध्यपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] बेलसोंठ। विंध्यशलाह।

विंध्यपत्री-संज्ञा स्त्री० दे० “विंध्यपत्र”।

विंध्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रसिद्ध पर्वत या पर्वत-श्रेणी का नाम जो भारतवर्ष के मध्य में पूर्व से पश्चिम को फैला हुआ है। आर्यावर्त देश की दक्षिण सीमा पर यह पर्वत है। विंध्य पर्वत के दक्षिण का प्रदेश दक्षिणापथ या दक्षिण कहलाता है। इससे दो प्रधान नदियाँ नर्मदा और ताप्ती दक्षिण और पश्चिम दिशा में बहकर अरब की खाड़ी में गिरती हैं। इस पर्वत के पत्थर प्रायः बलुए और परतदार होते हैं। इसकी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ सतपुरा आदि नाम से विख्यात हैं। पुराणानुसार यह सात कुल पर्वतों में है और मनु के अनुसार मध्य देश की दक्षिणी सीमा है। महाभारत में कहा है कि विंध्य ने सूर्य से कहा कि मेरे के समान तुम हमारी प्रदक्षिणा किया करो। जब सूर्य ने न माना, तब विंध्य ऊपर बढ़ने लगा और यह आशंका हुई कि यह सूर्य का मार्ग ही रोक देगा। देवताओं ने अगस्त्य से प्रार्थना की। अगस्त्य उसके पास गए और उसने साष्टांग दंडवत की। मुनि ने कहा कि जब तक मैं न लौटूँ, तब तक इसी तरह पड़े रहना। इतना कहकर अगस्त्य जी चले गए और फिर वापस नहीं आए। कहते हैं कि इसी लिये यह पर्वत अब तक ज्यों का त्यों लेटा पड़ा है; और इसी लिये इसका इतना अधिक विस्तार है।

विंध्यकूट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विंध्य पर्वत । (२) अगस्त्य मुनि का एक नाम ।

विंध्यचूलाक, विंध्यचूलिक-संज्ञा पुं० [सं०] विंध्य पर्वत के दक्षिण का प्रदेश । महाभारत के अनुसार यहाँ एक प्राचीन जंगली जाति बसती थी ।

विंध्यवासिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] देवी की एक प्रसिद्ध मूर्ति जो मिर्जापुर जिले में विंध्य के एक टीले पर अवस्थित है । पुराणों में इस मूर्ति के संबंध में अनेक आख्यान हैं । वामन पुराण का मत है कि इंद्र ने भगवती दुर्गा को विंध्य पर्वत पर ले जाकर स्थापित किया था । किसी किसी का मत है कि सती के देह परित्याग करने पर जब शिव जी उनके शव को अपनी पीठ पर लादकर फिरने लगे, तब विष्णु धनुष बाण लेकर उनके पीछे पीछे चले; और जहाँ जहाँ अवकाश पाया, शव को काट काटकर गिराते गए । उसी समय एक अंग यहाँ भी गिरा था, जिससे यह सिद्ध-पीठ हो गया । यह मूर्ति बहुत प्राचीन है; क्योंकि प्राकृत के गौड़बहो (गौड़बध) काव्य में वाक्पतिराज ने, जो आठवीं शताब्दी में था, इसका वर्णन किया है । राजतरंगिणी में विंध्यवासिनी को अमरवासिनी नाम से लिखा है । जिस स्थान पर यह मूर्ति है, वह स्थान विंध्यचल कहलाता है ।

विंध्यवासी-संज्ञा पुं० [सं०] व्याडि मुनि का एक नाम ।

विंध्यशक्ति-संज्ञा पुं० [सं०] एक यवन राजा का नाम ।

विंध्यस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] व्याडि मुनि का एक नाम ।

विंध्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम ।

संज्ञा पुं० दे० "विंध्य" ।

विंध्याचल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विंध्य पर्वत । (२) विंध्य पर्वत की एक शाखा पर बसी हुई एक छोटी सी बस्ती जिसमें विंध्यवासिनी देवी का मंदिर है । यह मिरजापुर से थोड़ी दूर पर है ।

विंध्यावली-संज्ञा स्त्री० [सं०] राजा बलि की स्त्री का नाम ।

विंश-वि० [सं०] क्रम में बीस के स्थान पर पड़नेवाला । बीसवाँ ।

विंशत-वि० [सं०] बीस । (कुछ समस्त शब्दों में)

विंशति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बीस की संख्या । (२) इसका सूचक अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—२० ।

वि० जो गिनती में बीस हो ।

विंशतिप-संज्ञा पुं० [सं०] बीस गाँवों का अधिपति ।

विंशतिबाहु-संज्ञा पुं० [सं०] रावण का एक नाम । विंशद्बाहु ।

विंशतीश-संज्ञा पुं० [सं०] बीस गाँवों का अधिपति ।

विंशतीशी-संज्ञा पुं० [सं०] विंशतीशान्] बीस गाँवों का अधिपति । विंशतीश ।

विंशोत्तरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार मनुष्य के शुभाशुभ फल जानने की एक रीति, जिसमें मनुष्य की

आयु १२० वर्ष मानकर उसके विभाग करके नक्षत्रों और ग्रहों के अनुसार शुभाशुभ फल की कल्पना की जाती है ।

यथा—

ग्रह	काल	नक्षत्र
सूर्य	६ वर्ष	कृत्तिका, उत्तर फाल्गुनी और उत्तराषाढ़ ।
चंद्र	१० "	रोहिणी, हस्त और श्रवण ।
मंगल	७ "	मृगशिरा, चित्रा और धनिष्ठा ।
राहु	१८ "	आर्द्रा, स्वाती और शतभिषा ।
बृहस्पति	१६ "	पुनर्वसु, विशाखा और पूर्व भाद्र ।
शनि	१९ "	पुष्य, अनुराधा और उत्तर भाद्र ।
बुध	१७ "	अश्लेषा, ज्येष्ठा और रेवती ।
केतु	७ "	मघा, मूल और अश्विनी ।
शुक्र	२० "	पूर्वफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा और भरणी ।

कुल १२० वर्ष

विःकृंधिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मेढ़कों की बोली । (२) टर्र टर्र की आवाज़ । कर्कश ध्वनि । टर्राहट ।

वि-उप० [सं०] एक उपसर्ग जो शब्द के पहले लगकर इस प्रकार अर्थ देता है—(१) विशेष; जैसे,—विकराल, विहीन । (२) वैरूप्य; जैसे,—विविध । (३) निषेध या वैपरीत्य । जैसे,—विक्रय, विकच्छ ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) अन्न । (२) आकाश । (३) चक्षु । आँख ।

संज्ञा स्त्री० पक्षी ।

विकंकट-संज्ञा पुं० [सं०] गोक्षुर । गोखरु ।

विकंकत-संज्ञा पुं० [सं०] एक जंगली वृक्ष का नाम जिसे कंटाड़, किंकिणी और बंज कहते हैं । इसके पत्ते छोटे छोटे और डालियों में काँटे होते हैं । इसके फल बेर के आकार के तथा पकने पर मीठे होते हैं; पर अधपकी अवस्था में खटमीठे होते हैं । वैद्यक में यह लघु, दीपन और पाचक तथा कमल और प्लीहा का नाशक लिखा है । यज्ञों के लिये सुवा इसी की लकड़ी के बनाने का विधान है ।

पर्या०—ग्रंथिल । सुवावृक्ष । स्वादुकंटक । कंटकी । व्याघ्र-पाद । कंटकारी । वृत्तिकंट । सुग्दारु । मधुपर्णी । बहुफल । गोपघंटी । दंतकाष्ठ । ब्रह्मपादप । हिमक । पिंडार । पृथु-वीज । रावण । पादरोहण । सुधावृक्ष इत्यादि ।

विकंकता-संज्ञा स्त्री० [सं०] अतिबला ।

विकंटक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जवासा । (२) विकंकट ।

विकंपन-संज्ञा पुं० [सं०] एक राक्षस का नाम ।

विक-संज्ञा पुं० [सं०] सद्यः प्रसूता गाय का दूध । तुरन्त का व्याई गौ का दूध । पेउस । पीयूष ।

विकच-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार के धूमकेतु जिनकी

संख्या ६५ है। ये बृहस्पति के पुत्र माने जाते हैं। इनमें शिखा नहीं होती। इनका वर्ण सफेद होता है और ये प्रायः दक्षिण दिशा में उदय होते हैं। इनके उदय का फल अशुभ माना जाता है। (बृहत्संहिता) (२) भवजा। (३) क्षपणक। वि० (१) विकसित। खिला हुआ। (२) जिसमें बाल न हो। बिना बाल का। केशहीन।

विकच्छु-संज्ञा पुं० [सं०] (नदी) जिसके दोनों ओर तराईया कटार न हो। जिसके किनारे पर दलदल या गीली जमीन न हो।

विकट-वि० [सं०] (१) विशाल। (२) विकराल। भयंकर। भीषण। (३) वक्र। टेढ़ा। उ०—(क) भुकुटी विकट विकट नैनन के राजत अति वर नारि। मनहुँ मदन जग जीति जेर करि राख्यो धनुष उतारि।—सूर। (ख) विकट भुकुटी कच घूँघरवारे। नव सरोज लोचन रतनारे।—तुलसी। (४) कठिन। मुश्किल। उ०—(क) नित प्रति सत्रे उरहने के मिस आवति हैं उठि प्रात। अनसमुझे अपराध लगावति विकट बनावति बात।—सूर। (ख) नट कृत कपट विकट खगराया। नट सेवकहि न व्यापहि माया।—तुलसी। (५) दुर्गम। जैसे, विकट मार्ग। (६) दुस्तार्थ। (७) बिना चटाई का।

संज्ञा पुं० (१) विस्फोटक। (२) सोम लता। (३) धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम।

विकटा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बुद्ध देव की माता माया देवी का एक नाम।

विकटानन-संज्ञा पुं० [सं०] धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम।

विकथा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विशिष्ट कथा। (२) कुत्सित कथा। (जैन)

विकटु-संज्ञा पुं० [सं०] यादवों के एक भेद का नाम।

विकनिकाहिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक साम का नाम।

विकर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोग। व्याधि। (२) तलवार के ३२ हाथों में से एक का नाम।

विकरार-वि० [सं० विकराल] विकराल। भयंकर। डरावना। उ०—(क) नाक कान बिनु भइ विकरारा। जनु खव सैल गेर के धारा।—तुलसी। (ख) कियो बुद्ध अति ही विकरार। लागी चलन रुधिर की धार।—सूर। वि० [अ० फा० नेकरार] विकल। बेचैन। व्याकुल। उ०—खनहि चेत खन होइ विकरारा। भा चंदन वंदन सब छारा।—जायसी।

विकराल-वि० [सं०] भीषण। भयानक। डरावना।

विकर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कर्ण के एक पुत्र का नाम। (२) दुर्योधन के एक भाई का नाम जो कुरुक्षेत्र की लड़ाई में मारा गया था। (३) एक साम का नाम। (४) एक प्रकार का बाण।

विकर्णक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार की गँठिवन। (२) शिव का व्याधि नामक गण।

विकर्णिक-संज्ञा पुं० [सं०] सारस्वत प्रदेश।

विकर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की ईंट जिसका व्यवहार यज्ञ की वेदी बनाने में होता था। (२) एक साम का नाम।

विकर्त्तन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य। (२) मंदार। आक।

विकर्म-संज्ञा पुं० [सं०] निषिद्ध कर्म। विरुद्धाचार।

वि० कर्मभ्रष्ट। दुराचारी।

विकर्मस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] धर्मशास्त्रानुसार वह पुरुष जो वेद-विरुद्ध कर्म करता हो। वेद के विरुद्ध आचार करनेवाला व्यक्ति।

विकर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] बाण। तीर।

विकर्षण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकर्षण। खींचना। (२) विभाग। हिस्सा। (३) एक शास्त्र का नाम जिसमें आकर्षण करने की विद्या का वर्णन है। उ०—सत्य अस्त्र मायास्त्र महाबल घोर तेज तनुकारी। पुनि पर तेज विकर्षण लीजे सौम्य अस्त्र भयहारी।

विकल-वि० [सं०] (१) बिहल। व्याकुल। बेचैन। (२) कलाहीन। (३) खंडित। अपूर्ण। जैसे,—विकलांग। (४) घटा हुआ। हासप्राप्त। (५) अस्वाभाविक। अनैसर्गिक। (६) असमर्थ।

संज्ञा पुं० दे० “विकला”।

विकलांग-वि० [सं०] जिसका कोई अंग टूटा या खराब हो। न्यूनांग। अंगहीन। जैसे,—लूला, लँगड़ा, काना, खंजा आदि।

विकला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कला का साठवाँ अंश। (२) वह स्त्री जिसका रजोदर्शन होना बंद हो गया हो। (३) बुध ग्रह की गति का नाम। (४) समय का एक अत्यंत छोटा भाग।

विकलाना-क्रि० प्र० [सं० विकल + आना (प्रत्य०)] व्याकुल होना। ववराना। बेचैन होना। उ०—(क) निदुर वचन सुनि स्याम के युवती विकलानी। मनो महानिधि पाइके खाये पछितानी।—सूर। (ख) एक एक है ईँदहीं तरुनी विकलाहीं। सूर प्रभू कहु नाहि मिले ईँदति हुमपाहीं।—सूर।

विकलास-संज्ञा पुं० [सं० विकलास्य] एक प्रकार का प्राचीन बाजा, जिस पर चमड़ा मड़ा होता था।

विकलित-वि० [सं०] (१) व्याकुल। बेचैन। (२) दुःखी। पीड़ित।

विकर्तृद्विध-वि० [सं०] (१) जिसकी इंद्रियाँ वश में न हों।

(२) जिसकी कोई इंद्रिय खराब हो, अथवा बिल्कुल न हो।
न्यूनेंद्रिय। जैसे,—लला, लँगड़ा, काना, खंजा इत्यादि।

विकल्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भ्रांति। भ्रम। धोखा। (२) एक बात मन में बैठकर फिर उसके विरुद्ध सोच विचार। संकल्प का उल्टा। (३) विपरीत कल्पना। विरुद्ध कल्पना। (४) विशेष रूप से कल्पना करना या निर्धारित करना। जैसे,—दंड विकल्प। (५) विविध कल्पना। नाना भांति से कल्पना करना। (६) कई प्रकार की विधियों का मिलना।

विशेष—मीमांसा में विकल्प दो प्रकार का माना गया है—
एक व्यवस्थायुक्त, दूसरा इच्छानुयायी। जिसमें दो प्रकार की विधियाँ मिलती हों, उसे व्यवस्थायुक्त कहते हैं। यथा “दर्श पौर्णमास याग में यज द्वारा होम करे, व्रीहि द्वारा होम करे” इसमें दो प्रकार की विधियाँ हैं। इसमें यदि कर्त्ता यज से होम करे या व्रीहि से, तो यह इच्छानुयायी विकल्प होगा। इच्छा विकल्प में भाठ दोष होते हैं—
प्रमाणत्व परिच्छाग, अप्रामाण्य कल्पना, अप्रामाण्यजीवन और प्रामाण्य हानि। ये चारों उक्त दोनों में लगने से भाठ हो जाते हैं।

(७) योग शास्त्रानुसार पंच विधि चित्तवृत्तियों में एक, जो ऐसे शब्द-ज्ञान की शक्ति है जिसका वाच्य वस्तु नहीं होती। इसमें मनुष्य इस बात की खोज नहीं करता कि अमुक शब्द का वाच्य कोई पदार्थ है या नहीं, अथवा हो सकता है या नहीं। परंपरा से उसके वाच्य के संबंध में जैसा लोग मानते आते हैं, वैसा ही वह भी मान बैठता है। जैसे,—पारस पत्थर न मिला और न किसी ने देखा है। पर पारस पत्थर शब्द से लोग यही समझते हैं कि कोई ऐसा पत्थर है, जिसके स्पर्श से लोहा सोना हो जाता है। इस प्रकार के शब्दों के वाच्य के संबंध में जो वृत्ति चित्त में उत्पन्न होती है, उसे विकल्प कहते हैं। (८) अर्थांतर कल्प। (९) एक काव्यालंकार जिसमें दो विरुद्ध बातों को लेकर कहा जाता है कि या तो यही होगा या यही। जैसे,—कै लखिहौं मुख मोहन को कै पलास-प्रसून की आगि जरौंगी। (१०) वैचित्र्य। चिह्नध्वनता। (११) समाधि का एक भेद जिसे सविकल्प कहते हैं। (१२) व्याकरण में एक ही विषय के कई नियमों में से किसी एक का इच्छानुसार ग्रहण।

विकल्पसंप्राप्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वातादि दोषों की मिश्रित अवस्था में प्रत्येक के अंशांश की कल्पना करना। (वैद्यक)

विकल्पसम-संज्ञा पुं० [सं०] न्यायदर्शन में २४ जातियों में से एक जिसमें वादी के दिए हुए दृष्टांत में अन्य धर्म की योजना करते हुए साध्य में भी उसी धर्म का आरोप करके अथवा दृष्टांत की असिद्ध रहकर वादी की युक्ति का मिथ्या

संबंध किया जाता है। जैसे,—वादी—“शब्द अनित्य है; क्योंकि वह उत्पत्ति धर्मवाला है, वट के समान”। प्रति-वादी—“अनित्य और मूर्त्त है; क्योंकि वह उत्पत्ति धर्मवाला है, वट के समान जो अनित्य और मूर्त्त है।” यहाँ प्रतिवादी का अभिप्राय यह है कि या तो शब्द को मूर्त्त मानो अथवा उसका नित्य होना स्वीकार करो।

विकल्पित-वि० [सं०] (१) जिसके संबंध में निश्चय न हो।

संदिग्ध। (२) जिसका कोई नियम न हो। अनियमित।

विकल्प-वि० [सं०] जिसमें पाप न हो। निष्पाप। पाप-रहित।

विकल्पर-वि० दे० “विकल्पर”।

विकल्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मजीठ।

विकल्पा-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा।

विकल्पा-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विकसित] प्रस्फुटन। फूटना।
खिलना।

विकल्पा-क्रि० अ० दे० “विकल्पा”।

विकल्पर-वि० [सं०] विकासशील। खिलनेवाला।

संज्ञा पुं० एक काव्यालंकार जिसमें पहले कोई विशेष बात कहकर उसकी पुष्टि सामान्य बात से की जाती है। उ०—
सधुप मोह मोहन तज्यो यह स्यामन की रीति। करौ
आपने काज लौं तुम्हें भाति सौं प्रीति।

विकल्पर-संज्ञा स्त्री० [सं०] लाल रंग की पुनर्नवा। लाल
गह्वरना।

विकार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी वस्तु का रूप, रंग आदि बदल जाना। (२) निरुक्त के चार प्रधान नियमों में एक जिसके अनुसार एक वर्ण के स्थान में दूसरा वर्ण हो जाता है। (३) दोष की प्राप्ति। बिगड़ना। खराबी। (४) दोष। बुराई। अवगुण। (५) मन की वृत्ति या अवस्था। मनोवेग या प्रवृत्ति। वासना। उ०—सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम वचन करहु लेवकाई।—तुलसी। (६) वेदांत और सांख्य दर्शन के अनुसार किसी पदार्थ के रूप आदि का बदल जाना। परिणाम। जैसे,—कंकण सोने का विकार है; क्योंकि वह सोने से ही रूपांतरित होकर बना है। (७) उपद्रव। हानि।

विकारी-वि० [सं० विकारिन्] (१) जिसमें विकार हो। विकार युक्त। (२) क्रोधादि मनोविकारों से युक्त। दुष्ट वासना-वाला। उ०—रे रे अंध बीसहूँ लोचन पर-तिय हर न विकारी। सूने भवन गवन तैं कीनो शेष रेख नहि टारी।—सूर। (३) जिसमें विकार या परिवर्तन हुआ हो। परिवर्तित। उ०—तो हूँ क्रोध न कियो विकारि। महादेव हूँ फिरे निहारि।—सूर।

संज्ञा पुं० [सं०] साठ संवत्सरों में से एक संवत्सर का नाम।
विकाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अतिशय। देर। (२) ऐसा समय

जब देव कार्य या पितृकार्य करने का समय बीत गया हो ।
सायंकाल का समय ।

पर्या०—सायं । दिनांत । सायाह्न । विकालक ।

विकालत-संज्ञा स्त्री० दे० “विकालत” ।

विकालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] घड़ियाल का कटोरा । जलवड़ी ।

विकाश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रकाश । (२) प्रसार । फैलाव ।

विस्तार । वृद्धि । (३) आकाश । (४) विषम गति । (५)

प्रस्फुटन । खिलना । (६) एक काव्यालंकार जिसमें किसी

वस्तु का बिना निज का आधार छोड़े अत्यंत विकसित होना

वर्णन किया जाता है । (७) किसी वस्तु की वृद्धि के लिये

उसके रूप आदि में उत्तरोत्तर परिवर्तन होना ।

वि० निर्जन । एकांत ।

विकास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रसार । फैलाव । (२) खिलना ।

प्रस्फुटित होना । (३) किसी पदार्थ का उत्पन्न होकर अन्त

या आरंभ से भिन्न भिन्न रूप धारण करते हुए उत्तरोत्तर

बढ़ना । क्रमशः उन्नत होना । जैसे,—सृष्टि का विकास,

मानव सभ्यता का विकास, बीज से पेड़ों का विकास,

गर्भादि से शरीर का विकास । (४) एक प्रसिद्ध पाश्चात्य

सिद्धांत जिसके आचार्य डार्विन नामक प्रसिद्ध प्राणि-

विज्ञानवेत्ता हैं । इस सिद्धांत में यह माना जाता है कि

आधुनिक समस्त सृष्टि और उसमें पाए जानेवाले जीव-

जन्तु तथा वृक्ष आदि एक ही मूल तत्व से उत्तरोत्तर निकलते

गए हैं । यह सिद्धांत इस बात का विरोधी है कि सारी सृष्टि

जैसी है, वैसी ही एक बारगी उत्पन्न हो गई थी ।

संज्ञा स्त्री० [सं० वि + काश] एक प्रकार की घास जो नीच

भूमि में होती है । इसकी पत्तियाँ दूब की भाँति पर कुछ

बढ़ी होती हैं । चौपाए इसे बड़े चाव से खाते हैं ।

विकासनाक-क्रि० सं० [सं० विकास] (१) प्रकट करना ।

निकालना । उ०—(क) जनु अमृत होइ बचन विकास ।

कमल जो बास बास धन बासा ।—जायसी । (ख) छटपटाहि

वै अर्थ विकासैं । ये पुनि आतम अर्थ प्रकाशैं । (२) विकसित

करना । प्रस्फुटित करना । खिलने में प्रवृत्त करना ।

क्रि० प्र० (१) विकसित होना । खिलना । (२) प्रकट होना ।

जाहिर होना ।

विकिर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पक्षी । चिड़िया । (२) कूआँ ।

(३) वह चावल आदि जो पूजा के समय विघ्न आदि दूर

करने के लिये चारों ओर फेंका जाता है । अक्षत ।

विकिष्क-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का बड़हूँ का एक प्रकार

का गज जो प्रायः सवा दो हाथ या ४२ इंच का होता था ।

विकीरण-संज्ञा पुं० [सं०] आक । मदार ।

विकीर्ण-वि० [सं०] (१) चारों ओर फैला या छितराया हुआ ।

(२) प्रसिद्ध । मशहूर ।

संज्ञा पुं० स्वर के उच्चारण में होनेवाला एक प्रकार का दोष ।
विकीर्णरोम-संज्ञा पुं० [सं० विकीर्णरोमन्] एक प्रकार का सुगंधित

पौधा ।

विकुंज-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक जाति का

नाम ।

विकुंठ-संज्ञा पुं० [सं० वैकुंठ] वैकुंठ । उ०—(क) हरिरस माते

मगन रहइ । निरमल भगति प्रेमरस पीवइ आन न दूजा

भाव धरइ । सहजइ सदा राम रसराते, मुक्ति विकुंठइ

कहा करइ ।—दादू । (ख) नारायण सुंदर भुज चारी ।

बसहि विकुंठहि सदा सुरारी ।—रघुराज ।

वि० [सं०] जो कुंठित न हो । तेज धारवाला । कुंद या

भुथरा का उलटा ।

विकुंभांड-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक दानव का नाम ।

विकुक्षि-संज्ञा पुं० [सं०] अयोध्या के राजा कुक्षि के पुत्र का

नाम ।

वि० जिसका पेट फूला या आगे को निकला हुआ हो । तोंद-
वाला ।

विकुस्त-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा ।

विकूणिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] नासिका । नाक ।

विकृत-वि० [सं०] (१) जिसमें किसी प्रकार का विकार आ

गया हो । बिगड़ा हुआ । (२) जो भद्दा या कुरूप हो गया

हो । उ०—पुरुष के शुक और स्त्री के आर्तव में कैसा दोष

हो जाने से संतान नहीं होती अथवा विकृत संतान होती

है ।—जगन्नाथ शर्मा । (३) असाधारण । अस्वाभाविक ।

(४) अपूर्ण । अधूरा । (५) विद्रोही । अराजक । (६)

रोगी । बीमार ।

संज्ञा पुं० (१) दूसरे प्रजापति का नाम । (२) पुराणानुसार

परिवर्त राक्षस के पुत्र का नाम । (३) साठ संवत्सरों में से

चौबीसवाँ संवत्सर ।

विकृतदृष्टि-संज्ञा पुं० [सं०] ऐंचा ताना ।

विकृत स्वर-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्वर जो अपने नियत स्थान

से हटकर दूसरी श्रुतियों पर जाकर ठहरता है । संगीत-शास्त्र

में १२ विकृत स्वर माने गए हैं—(१) व्युत्त षड्ज, (२)

अच्युत्त षड्ज, (३) विकृत षड्ज, (४) साधारण गांधार,

(५) अंतर गांधार, (६) व्युत्त मध्यम, (७) अच्युत्त मध्यम,

(८) त्रिश्रुति मध्यम, (९) कैशिक पंचम, (१०) विकृत

धैवत, (११) कैशिक निषाद और (१२) काकली निषाद ।

विकृता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक योगिनी का नाम ।

विकृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विकार । खराबी । बिगाड़ ।

(२) वह रूप जो विकार के उपरांत प्राप्त हो । बिगड़ा

हुआ रूप । (३) रोग । बीमारी । (४) सांख्य के अनुसार

मूल प्रकृति का वह रूप जो उसमें विकार आने पर होता

है। विकार। परिणाम। (५) परिवर्तन। (६) मन में होनेवाला क्षोभ। (७) विद्रोही होने का भाव। शत्रुता। (८) मूल धातु से बिगड़कर बना हुआ शब्द का रूप। (९) उत्पत्ति। विकास। (१०) माया का एक नाम। (११) २३ वर्ण के वृत्तों की संज्ञा।

विकृष्ट-वि० [सं०] खींचा हुआ। आकृष्ट।

विकेट डोर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का छोटा चक्रदार दरवाजा या जाने का रास्ता, जो प्रायः कमर तक ऊँचा और ऊपर से बिल्कुल खुला हुआ होता है। यह बागों आदि के बड़े दरवाजों के पास ही इसलिये लगाया जाता है कि आदमी तो आ जा सके, पर पशु आदि न आ सकें। इसके रूप प्रायः इस प्रकार के होते हैं—(१) \subset , (२) \times , (३) \diamond ।

विकेश-वि० [सं०] [स्त्री० विकेशी] (१) जिसके बाल खुले हों। (२) गंजा।

संज्ञा पुं० (१) एक प्राचीन ऋषि का नाम। (२) पुच्छल तारा। (३) एक प्रकार के प्रेत।

विकेशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मही (पृथ्वी) रूप शिव की पत्नी का नाम। (२) एक प्रकार की राक्षसी या पूतना।

विकोक-संज्ञा पुं० [सं०] वृकासुर के पुत्र और कोक के छोटे भाई का नाम।

विकोष-वि० [सं०] (१) कोष या म्यान से निकली हुई (तलवार)। (२) जिसके ऊपर किसी प्रकार का आवरण या आच्छादन न हो।

विकटोरिया-संज्ञा स्त्री० [अंग०] एक प्रकार की बोड़ा गाड़ी जो देखने में प्रायः फिटन से मिलती जुलती, पर उससे कुछ छोटी और हलकी होती है और जिसे प्रायः एक ही बोड़ा खींचता है।

संज्ञा पुं० एक छोटे ग्रह का नाम जिसका पता हैण्ड नामक एक युरोपियन ने सन् १८५० में लगाया था।

विक्रम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु का एक नाम। उ०—कटि तट प्रगट प्रताप महान त्रिविक्रम रक्षै। पृष्ठ देस मैंह परम रास वर विक्रम रक्षै।—गोपाल। (२) बल, शौर्य या शक्ति की अधिकता। ताकत का ज्यादा होना। बहादुरी। पराक्रम। उ०—(क) कासी भूपति चलेउ प्रकासी विक्रम रासी।—गोपाल। (ख) वर भोगी भूषन को धरे पंचानन विक्रम अधिक।—गोपाल। (ग) विपुल बल मूल सार्वल विक्रम जलद नाद मर्दन महावीर भारी।—तुलसी। (३) ताकत। बल। (४) गति। (५) प्रकार। ढंग। (६) साठ संवत्सरों में से चौदहवाँ संवत्सर। (७) वेद पाठ की वह प्रणाली जिधमें क्रम का अभाव हो। (८) दे० “विक्रमादित्य”।

वि० श्रेष्ठ। उत्तम। उ०—सुवा सुफल लै भाएउँ तेहि गुन ते मुख रात। क्या पीत सो तासों सबरौ विक्रम बात।—जायसी।

विक्रमक-संज्ञा पुं० [सं०] कार्तिकेय के एक गण का नाम।

विक्रमण-संज्ञा पुं० [सं०] चलना। कदम रखना।

विक्रमाजीत-संज्ञा पुं० दे० “विक्रमादित्य”।

विक्रमादित्य-संज्ञा पुं० [सं०] उज्जयिनी के एक प्रसिद्ध प्रतापी

राजा का नाम जिनके संबंध में अनेक प्रकार के प्रवाद प्रचलित हैं। ये बहुत बड़े विद्याप्रेमी, कवि, उदार, गुणग्राहक और दानी कहे जाते हैं। यह भी कहा जाता है कि इनकी सभा में नौ बहुत बड़े बड़े और प्रसिद्ध पंडित रहा करते थे, जो “नवरत्न” कहलाते थे और जिनके नाम इस प्रकार हैं—कालिदास, वररुचि, अमरसिंह, धन्वंतरि, क्षपणक, वेतालभट्ट, चटकपर्प, शंकु और वराहमिहिर। परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से इन नौ विद्वानों का एक ही समय में होना सिद्ध नहीं होता, जिससे “नवरत्न” को लोग कल्पित ही समझते हैं। आजकल जो विक्रमी संवत् प्रचलित है, उसके संबंध में भी लोगों की यही धारणा है कि इन्हीं राजा विक्रमादित्य का चलाया हुआ है; पर इस बात का भी कोई ऐतिहासिक प्रमाण अभी तक नहीं मिला है कि विक्रमी संवत् के आरंभ होने के समय मालव देश में या उसके आस पास विक्रमादित्य नाम का कोई राजा रहता था। विक्रमी संवत् किस राजा विक्रमादित्य का चलाया हुआ है, इसका अभी तक कोई ठीक ठीक पता नहीं चला है। कुछ विद्वानों का मत है कि विक्रम संवत् का विक्रमादित्य नाम के किसी राजा के साथ कोई संबंध नहीं है और न वह किसी एक व्यक्ति का चलाया हुआ है। उनका मत है कि ईसवी सन् से ५८ वर्ष पूर्व शक नरपाण को गौतमीपुत्र ने युद्ध में बुरी तरह परास्त करके उसे मार डाला था। इस युद्ध में उसने अपना जो विक्रम (वीरता) दिखाया था, उसी की स्मृति के रूप में मालवों के गण ने उसी तिथि से कृत-युग का आरंभ माना; और इस प्रकार इस विक्रम संवत् का प्रचार हुआ। तात्पर्य यह है कि संवत्वाला “विक्रम” शब्द किसी विक्रमादित्य नामक संवत् चलानेवाले राजा का सूचक नहीं है, बल्कि वह पीछे के किसी राजा के विक्रम या वीरता का बोधक है। स्कंद पुराण में लिखा है कि कलियुग के तीन हजार वर्ष बीत जाने पर विक्रमादित्य नाम का एक बहुत प्रतापी राजा हुआ था। मोटे हिसाब से यह समय ईसवी सन् से प्रायः सौ वर्ष पूर्व पड़ता है; पर यह राजा कौन था, इसका निश्चय नहीं होता। यह भी प्रसिद्ध है कि इस राजा ने शकों को एक घोर युद्ध में पराजित किया था और उसी विजय के उपलक्ष्य में अपना संवत्

भी चलाया था। शकों को पराजित करने के कारण ही इसकी एक उपाधि “शकारि” भी हो गई थी। बौद्धों और जैनियों के धर्मग्रंथों तथा चीनी और अरबी आदि यात्रियों के यात्रा विवरण में भी विक्रमादित्य के संबंध में कुछ फुटकर बातें पाई जाती हैं। पर न तो यही ज्ञात है कि इन्होंने कब से कब तक राज्य किया और न इनके जीवन की और बातों का ही कोई क्रमबद्ध इतिहास मिला है। इतिहास से यह भी पता चलता है कि गुप्त वंशीय प्रथम चन्द्रगुप्त ने उत्तर भारत में शकों को परास्त करके “विक्रमादित्य” की उपाधि धारण की थी; परंतु ये संवत् चलानेवाले विक्रमादित्य के बहुत बाद के हैं। इसके अतिरिक्त इसी गुप्त वंश के समुद्रगुप्त के पुत्र द्वितीय चंद्रगुप्त ने भी “विक्रमादित्य” की उपाधि धारण की थी। इसी सातवीं शताब्दी के आरंभ में काश्मीर में भी विक्रमादित्य नाम का एक राजा हुआ था जिसके पिता का नाम रणादित्य था। इसी प्रकार चालुक्य वंश में भी इस नाम के कई राजा हो गए हैं। पीछे से तो मानों यह प्रथा सी चल पड़ी थी कि जहाँ कोई राजा कुछ अधिक बढ़ निकलता था, तहाँ वह अपने नाम के साथ “विक्रमादित्य” की उपाधि लगा लिया करता था। यहाँ तक कि अकबर की बाल्यावस्था में जब हेमू दूसर ने दिल्ली पर अधिकार किया, तब वह भी “विक्रमादित्य” बन बैठा था।

विक्रमाब्द-संज्ञा पुं० [सं०] विक्रमादित्य के नाम से चला हुआ संवत्। विक्रम संवत्।

विक्रमार्क-संज्ञा पुं० दे० “विक्रमादित्य”।

विक्रमी-संज्ञा पुं० [सं० विक्रमिन्] (१) वह जिसमें बहुत अधिक बल हो। विक्रमवाला। पराक्रमी। उ०—अति विक्रमी मोरध्वजनंदन। नाम ताम्रध्वज दुष्ट निकंदन।—रघुराज। (२) विष्णु। (३) शेर।

वि० विक्रम का। विक्रम संबंधी। जैसे,—विक्रमी संवत्।

विक्रय-संज्ञा पुं० [सं०] मूल्य लेकर कोई पदार्थ देना। बेचना। बिक्री। उ०—इस दलील के आधार पर क्रय-विक्रय के मामूली व्यापार में दस्तदाजी करना—अर्थात् किसी चीज के बेचने या मोल लेने की मनाई कर देना—और भी अनुचित बात होगी।—स्वाधीनता।

यौ०—क्रय-विक्रय।

विक्रयक-संज्ञा पुं० [सं०] बेचनेवाला। विक्रेता।

विक्रयण-संज्ञा पुं० [सं०] बेचने की क्रिया। विक्रय। बिक्री।

विक्रयपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह पत्र जिसमें यह लिखा हो कि अमुक पदार्थ अमुक व्यक्ति के नाम इतने मूल्य पर बेचा गया। बैनामा।

विक्रयिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो विक्रय करता या बेचता हो। बेचनेवाला। विक्रेता।

विक्रयी-संज्ञा पुं० [सं० विक्रयिन्] विक्रय करनेवाला। बेचनेवाला। विक्रेता।

विक्रांत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वैक्रांत मणि। (२) शूर। वीर। बहादुर। (३) शोर। (४) पुराणानुसार हिरण्याक्ष के एक पुत्र का नाम। (५) व्याकरण में एक प्रकार की संधि जिसमें विसर्ग अविकृत ही रहता है। (६) एक प्रजापति का नाम। (७) पुराणानुसार कुबलयाश्व के पुत्र का नाम जिसका जन्म मद्रालसा के गर्भ से हुआ था। (८) चलने का ढंग। (९) साहस। हिम्मत। (१०) एक प्रकार का मादक पेय पदार्थ। वि० (१) जिसकी क्रांति नष्ट हो गई हो। (२) तेजस्वी। प्रतापी।

विक्रांता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अग्निमंथ वृक्ष। अरणी। (२) जयंती। (३) सूसाकानी। (४) अड़हुल। गुड़हर। (५) अपराजिता। (६) लाल लजाल। छुई मुई। (७) हंसपदी नाम की लता।

विक्रांति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गति। (२) घोड़े की सरपट चाल। (३) विक्रम। बल। (४) वीरता। शूरता। बहादुरी।

विक्रायक-संज्ञा पुं० [सं०] बेचनेवाला। विक्रेता।

विक्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विकार। खराबी। (२) किसी क्रिया के विरुद्ध होनेवाली क्रिया।

विक्रियोपमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का उपमालंकार जिसमें किसी विशिष्ट क्रिया या उपाय का अवलंबन कहा जाता है।

विक्रो-संज्ञा स्त्री० [सं० विक्रय] (१) बेचने की क्रिया या भाव। विक्रय। बिक्री। (२) वह धन जो बेचने पर मिले।

विक्रोत-वि० [सं०] जो बेच दिया गया हो। बेचा हुआ।

विक्रुष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] निष्ठुर। निर्दय। निडुर।

विक्रेता-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो मूल्य लेकर देता हो। बेचनेवाला। बिक्री करनेवाला।

विक्रय-वि० [सं०] जो विक्रय होने को हो। बिकनेवाला।

विक्रय-वि० [सं०] बिहल। बेचैन।

विक्लिन्न-वि० [सं०] जो पुराना होने के कारण सड़ या गल गया हो।

विक्षत-वि० [सं०] (१) जिसमें क्षत लगा हो। जिसमें खराब पड़ी हो। घायल। जखमी।

विक्षय-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का रोग जो अधिक मद्य-पान करने से होता है।

विक्षिप्त-वि० [सं०] (१) फेंका या छितराया हुआ। (२) जिसका त्याग किया गया हो। त्यक्त। (३) जिसका दिमाग ठिकाने न हो। पागल। उ०—(क) उसकी नींद भी उड़

जाती होगी और जो रात-दिन जागता होगा, तो विक्षिप्त या अति रोगी होगा।—दयानंद । (ख) तुमहिं कछो श्रुति शास्त्रन माहीं । जहँ विक्षिप्त भूप है जाहीं ।—रघुराज । (४) धवराया हुआ । पागलों का सा । विकल । ध्याकुल ।

विक्षिप्तक—संज्ञा पुं० [सं०] वह मृत शरीर जो जलाया या गाड़ा न गया हो, बल्कि योही कहीं फेंक दिया गया हो ।

विक्षिप्तता—संज्ञा स्त्री० [सं०] विक्षिप्त या पागल होने का भाव । पागलपन । उ०—वहाँ तक कि कुछ काल के पश्चात् स्वयं उसे ही अपनी विक्षिप्तता को देखकर विस्मित होना पड़ता है ।—निबंधमालादर्श ।

विक्षीर—संज्ञा पुं० [सं०] आक । मदार ।

विक्षीरणी—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुग्धी । दुग्धिका ।

विक्षुब्ध—वि० [सं०] जिसके मन में क्षोभ उत्पन्न हुआ हो । जिसका मन चंचल हो गया हो । क्षुब्ध ।

विक्षुभा—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक छाया का नाम ।

विक्षेप—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊपर की ओर अथवा इधर उधर फेंकना । डालना । (२) इधर उधर हिलाना । झटका देना । (३) धनुष की डोरी खींचना । चिल्ला चढ़ाना । (४) मन को इधर उधर भटकाना । इन्द्रियों को वश में न रखना । संयम का उलट । उ०—ईर्ष्या, द्वेष, काम, अभिमान, विक्षेप आदि दोषों से अलग होके सत्य आदि गुणों को धारण करे ।—दयानंद । (५) प्राचीन काल का एक प्रकार का अस्त्र जो फेंककर चलाया जाता था । (६) सेना का पड़ाव । छावनी । (७) एक प्रकार का रोग । (८) बाधा । विघ्न । खलल । जैसे,—इस काम में कई विक्षेप पड़े हैं । उ०—समाधि की प्राप्ति होने पर भी उसमें चित्त स्थिर न होना ये सब चित्त की समाधि होने में विक्षेप अर्थात् उपासना-योग के शत्रु हैं ।—दयानंद ।

विक्षेपण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊपर अथवा इधर उधर फेंकने की क्रिया । (२) हिलाने या झटका देने की क्रिया । (३) धनुष की डोरी खींचने की क्रिया । (४) विघ्न । बाधा । खलल ।

विक्षेपलिपि—संज्ञा स्त्री० [सं०] ललितविस्तर के अनुसार एक प्रकार की प्राचीन लिपि या लेख-प्रणाली ।

विक्षोभ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मन की चंचलता या उद्दिग्धता । क्षोभ । (२) हाथी की छाती का एक भाग या पार्श्व ।

विक्षोभण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक दानव का नाम । (२) मन में बहुत अधिक क्षोभ उत्पन्न होना या करना ।

विक्षोभी—वि० [सं० विक्षोभिन्] [स्त्री० विक्षोभिणी] जो क्षोभ उत्पन्न करे । क्षोभकारी ।

विख—वि० [सं०] जिसकी नाक न हो । बिना नाकवाला ।

❧ संज्ञा पुं० दे० “विष” ।

विखडा—संज्ञा पुं० [सं० विषडा] गरुड़ ।

विखादितक—संज्ञा पुं० [सं०] वह मृत शरीर जिसे पशुओं ने खा डाला हो ।

विखानक—संज्ञा पुं० [सं० विषाण] सींग ।

विखानस—संज्ञा पुं० दे० “वैखानस” ।

विखायँध—संज्ञा स्त्री० [हि० विख = जहर + आयँध (गंध) (प्रत्य०)] कड़वी या जहर की सी गंध । बिखायँध । उ०—जो अन्हवाय भरै अरगजा । तौहु बिखायँध ओहि नहिं तजा । जायसी ।

विखुर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) राक्षस । (२) चोर ।

विख्यात—वि० [सं०] जिसे सब लोग जानते हों । प्रसिद्ध । महादूर । उ०—(क) यक्ष प्रबल बाढ़े भुव मंडल तिन मान्यो निज भ्रात । तिनके काज अंश हरि प्रगटे ध्रुव जगत विख्यात ।—सूर । (ख) मन तैं बढ़ि रथ जात केतु फहरात वात बस । लखि लजात सुरतात बहुत विख्यात जगत जस ।—गोपाल ।

विख्याति—संज्ञा स्त्री० [सं०] विख्यात होने का भाव । प्रसिद्धि । शोहरत । उ०—राम नाम सुमिरत सुजस भाजन भयेउ कुजाति । कुतर कुसर पुर राज बन लहत भुवन विख्याति । तुलसी ।

विख्यापन—संज्ञा पुं० [सं०] प्रसिद्ध करना । महादूर करना ।

विगंध—वि० [सं०] (१) जिसमें किसी प्रकार की गंध न हो । (२) बह्वृत्तर । उ०—कंटक कलित त्रिनबलित विगंध जल तिनके तलपत लता को ललचात जू ।—केशव ।

विगंधक—संज्ञा पुं० [सं०] इंगुदी वृक्ष ।

विगंधिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हनुषा । हाऊबेर । (२) अजगंधा । तिलवन ।

विगणन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हिसाब लगाना । लेखा करना । (२) ऋण से मुक्त होना । कर्ज चुकाना ।

विगत—वि० [सं०] (१) जो गत हो गया हो । जो बीत चुका हो ।

विशेष—जब यह शब्द यौगिक अवस्था में किसी संज्ञा के पहले आता है, तब इसका अर्थ होता है—“जिसका नष्ट हो गया हो ।” जैसे,—विगत-ज्वर = जिसका ज्वर उतर गया हो । विगत नयन = जिसकी आँखें नष्ट हो गई हों । उ०—विगत ब्रास प्रमुदित मन माहीं । निरखि राम छवि दग न अघाहीं । रामायणमेघ ।

(२) गत से पहले का । अंतिम या बीते हुए से पहले का । जैसे,—विगत सप्ताह = गत सप्ताह से पहले का सप्ताह । (३) जो कहीं इधर उधर चला गया हो । (४) जिसकी प्रभा या कांति नष्ट हो गई हो । जिसकी चमक आदि जाती रही हो । निष्प्रभ । (५) रहित । विहीन । उ०—

(क) विगत मानसम सीतल मन पर गुन नहि दोस कहौंगो।—तुलसी। (ख) प्रमुदित जनक निरखि अंजुज मुख विगत नयन मन पीर।—सूर।

विगता—वि० स्त्री० [सं०] (१) जो विवाह करने के योग्य न रह गई हो। (२) जो पर पुरुष से प्रेम करती हो।

विगति—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्दशा। दुर्गति। खराबी।

विगतोद्धव—संज्ञा पुं० [सं०] एक बुद्ध का नाम।

विगम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रस्थान। चला जाना। (२) समाप्ति। अंत। स्वातमा। (३) नाश। (४) मोक्ष।

विगर्हण—संज्ञा पुं० [सं०] भर्त्सना करना। डाँटना। डपटना।

धिकार। फटकार।

विगर्हणा—संज्ञा स्त्री० [सं०] भर्त्सना। डाँट। फटकार।

विगर्हित—वि० [सं०] (१) जिसे भर्त्सना की गई हो। जिसे डाँट या फटकार बतलाई गई हो। (२) बुरा। खराब।

निंदनीय। (३) निषिद्ध।

विगर्ह्य—वि० [सं०] जो भर्त्सना करने योग्य हो। डाँट डपटने या निंदा करने के योग्य।

विगलित—वि० [सं०] (१) जो गिर गया हो। (२) जो बह गया हो। जो चूकर या टपककर निकल गया हो। (३) ढीला पड़ा हुआ। छूटा हुआ। शिथिल। (४) बिगड़ा हुआ। उ०—ऋतुपति तरु विगलित सुदल, तहाँ कुरुपता बास। वसी अरुचि यक अधन में, पाप न बस्यो विनास।

—रामस्वयंवर।

विगाथा—संज्ञा स्त्री० [सं०] आर्या छंद का एक भेद जिसके विषम पदों में १२, दूसरे में १५ और चौथे में १८ मात्राएँ होती हैं और अंत का वर्ण गुरु होता है। विषम गणों में जगण नहीं होता, पहले दल का छटा गण (२७ ही मात्रा के कारण) एक लघु का मान लिया जाता है। इसे 'विगाथा' और 'उद्गीति' भी कहते हैं।

विगुण—वि० [सं०] जिसमें कोई गुण न हो। गुण रहित। निर्गुण। वि० दे० "निर्गुण"। उ०—इति रूप मनं तमजं विगुणं। हृदयस्थ लखौ सब त्यागि भ्रमं।—स्वामी रामकृष्ण।

विगाथा—संज्ञा स्त्री० [सं०] विगाथा। विगाथा नामक छंद जो आर्यों का एक भेद है।

विग्रह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूर या अलग करना। (२) विभाग। (३) यौगिक शब्दों अथवा समस्त पदों के किसी एक अथवा प्रत्येक शब्द को अलग करना। (व्याकरण) (४) कलह। लड़ाई। झगड़ा। (५) युद्ध। समर। (६) नीति के छः गुणों में से एक। विपक्षियों में फूट या कलह उत्पन्न करना। (७) आकृति। शकल। (८) शरीर। (९) मूर्ति। (१०) सजावट। शृंगार। (११) सांख्य के अनुसार कोई तत्व। (१२) शिव का एक नाम। (१३) स्कंद के एक अनुचर का नाम।

विग्रहण—संज्ञा पुं० [सं०] रूप धारण करना। शकल में आना।

विग्रही—संज्ञा पुं० [सं०] विग्रहिन्। (१) लड़ाई झगड़ा करनेवाला।

(२) युद्ध करनेवाला। (३) युद्ध विभाग का मंत्री या सचिव।

विग्राह्य—वि० [सं०] जो इस योग्य हो कि उसके साथ लड़ाई की जा सके। जिसके साथ युद्ध हो सके।

विघटन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) संयोजक अंगों को अलग अलग करना। (२) तोड़ना फोड़ना। उ०—प्रगटी धनु-विघटन परिपाटी।—तुलसी। (३) नष्ट करना।

विघटिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] समय का एक छोटा मान। बड़ी का २३वाँ भाग।

विघटित—वि० [सं०] (१) जिसके संयोजक अंग अलग अलग किए गए हों। (२) जो तोड़ फोड़ डाला गया हो। (३) नष्ट।

विघटन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) खोलना। (२) पटकना। (३) रगड़ना। (४) दे० "विघटन"।

विघटित—वि० [सं०] (१) खुला हुआ। (२) तोड़ा फोड़ा हुआ।

विघन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) आघात करना। चोट पहुँचाना। (२) एक प्रकार का बहुत बड़ा हथौड़ा। घन। (३) इंद्र।

* संज्ञा पुं० दे० "विघ्न"।

विघर्षण—संज्ञा पुं० [सं०] अच्छी तरह रगड़ने या घिसने की क्रिया।

विघस—संज्ञा पुं० [सं०] (१) आहार। भोजन। खाना। (२) वह अन्न जो देवता, पितर, गुरु या अतिथि आदि के खाने पर बच रहे।

विधात—संज्ञा पुं० [सं०] (१) आघात। प्रहार। चोट। (२) टुकड़े टुकड़े करना। तोड़ना फोड़ना। (३) नाश। (४) बाधा। विघ्न। (५) सफल न होना। विफलता।

विधातक—संज्ञा पुं० [सं०] विघ्न डालनेवाला। बाधक।

विधातन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विधात करने की क्रिया। (२) मार डालना। हत्या करना।

विधाती—संज्ञा पुं० [सं०] विधातिन् [स्त्री० विधातिनी] (१) विधात करनेवाला। (२) बाधा डालनेवाला। (३) हत्या करनेवाला। घातक।

विघृणिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] नासिका। नाक।

विघूर्णन—संज्ञा पुं० [सं०] चारों ओर घुमाना। चक्कर देना।

विघ्न—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी काम के बीच में पड़नेवाली अड़चन। रुकावट। बाधा। व्याघात। अंतराय। खलल।

क्रि० प्र०—करना।—डालना।—दूर करना।—पड़ना।—होना।

विशेष—जब इस शब्द के साथ नायक, नाशक अथवा इनके

पर्यायवाची शब्दों का योग होता है, तब इसका अर्थ "गणेश" होता है।

(२) पाकफला।

विभक्त-वि० [सं०] विभक्त करनेवाला। बाधा डालनेवाला।

विभक्तारी-संज्ञा पुं० [सं० विभक्तारिन्] वह जो विभक्त डालता हो। बाधा उपस्थित करनेवाला।

विभक्तित्-संज्ञा पुं० [सं०] गणेश।

विभक्तायक-संज्ञा पुं० [सं०] गणेश।

विभक्ताशक-संज्ञा पुं० [सं०] गणेश।

विभक्तपति, विभक्तराज-संज्ञा पुं० [सं०] गणेश।

विभक्तिनायक-संज्ञा पुं० [सं०] गणेश।

विभक्तेश-संज्ञा पुं० [सं०] गणेश।

विभक्तेशकांता-संज्ञा स्त्री० [सं०] सफेद दूब।

विचकित-वि० [सं०] घबराया हुआ।

विचकित-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मल्लिका या चमेली। मदनक।

विचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक दानव का नाम।

विचक्षण-वि० [सं०] (१) प्रकाशमान्। चमकता हुआ। (२) जो स्पष्ट दिखाई दे। (३) जो किसी विषय का अच्छा ज्ञाता हो। निपुण। पारदर्शी। (४) पंडित। विद्वान्। (५) बहुत बड़ा चतुर या बुद्धिमान्। उ०—(क) परम साधु सब बात विचक्षण। बसे ताहि मैं सकल सुलक्षण।—रघुराज। (ख) अंतरवेद विचक्षण नारि निरंतर अंतर की गति जानै।—देव।

विचक्षणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नागदंती।

विचच्छन्न-संज्ञा पुं० [सं० विचक्षण] बहुत बड़ा बुद्धिमान् या चतुर। उ०—(क) रत्न परम विचच्छन्न गरम तर धरम सुरच्छन्न करम कर।—गोपाल। (ख) लच्छ रथी अध्यच्छ प्रबल प्रत्यच्छ विचच्छन्न। कसे कच्छ निज सैन्य रच्छ करि पर बल भच्छन्न।—गोपाल। (ग) हैं कपूर मनिसय रही मिलि तन दुति मुकुतालि। छिन छिन खरी विचच्छन्नौ लखति द्वाय तिन आलि।—बिहारी।

विचय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एकत्र करना। इकट्ठा करना। जमा करना। (२) जाँच पड़ताल करना। परीक्षा करना।

विचयन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इकट्ठा करना। एकत्र करना। (२) जाँचना। परीक्षा करना।

विचरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चलना। (२) घूमना फिरना। पर्यटन करना। उ०—आर्य्य संतान उस दिन अपने प्राचीन वेष में विचरण करती थी।—बालमुकुंद गुप्त।

विचरन-संज्ञा पुं० दे० "विचरण"। उ०—(क) पूछ पूरी सोभा विचरन नरचपैं ब्रीह सीकर की चरनन रचना ऊपर

है।—गौपाल। (ख) भये कबीर प्रगट मथुरा में। विचरन लगे सकल वसुधा में।—कबीर।

विचरना-क्रि० प्र० [सं० विचरण] चलना फिरना। उ०—(क) जग मैं विचरि विचरि सब ठौर। हरि विमुखन किय हरि की ओर।—रघुराज। (ख) भोग समग्री जुरी अपार। विचरन लागे सुख संसार।—सूर। (ग) रामचरण धरि हृदय मुदित मन विचरत फिरत निशंक।—सूर।

विचरनि-संज्ञा स्त्री० [सं० विचरण] चलने फिरने या विचरण करने की क्रिया या भाव।

विचर्चिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का रोग जिसमें दाने निकलते और खुजली होती है। व्योची। (२) छोटी कुंसी।

विचल-वि० [सं०] जो बराबर हिलता रहता हो। (२) जो स्थिर न हो। अस्थिर। (३) डिगा हुआ। स्थान से हटा हुआ। (४) प्रतिज्ञा या संकल्प से हटा हुआ।

मुहा०—चल-विचल होना = मन का किसी एक बात पर न ठहरना। चित्त का चंचल होना।

विचलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विचल होने की क्रिया या भाव। चंचलता। अस्थिरता। (२) घबराहट।

विचलना-क्रि० प्र० [सं० विचलन] (१) अपने स्थान से हट जाना या चल पड़ना। (विशेषतः घबराहट या गड़बड़ी आदि के समय) उ०—(क) भौं जोवन मैमंत बिधाँसा। विचला बिरह बिरह लै नासा।—जायसी। (ख) दल विचलत लखिकै भट सगरे। धरि धरि धनुष गदादिक अगरे।—गोपाल। (ग) जो सीता सतते विचलै तौ श्रीपति काहि सँभारै। मोसे मुग्ध महापापी को कौन क्रोध करि तारै।—सूर। (२) विचलित होना। अधीर होना। घबराना। उ०—(क) जेहि भजत विनाइक इकरदन चलत समर विचलत प्रबल।—गोपाल। (ख) चलत जबै रन हेत तबै विचलत लखिकै पर।—गोपाल। (३) प्रतिज्ञा या संकल्प पर दृढ़ न रहना। बात पर जमा न रहना।

विचलाना-क्रि० प्र० [सं० विचलन] (१) इधर उधर हटाना या चलाना। विचलित करना। उ०—एहि विधान भरि जोर सकल यहु दल विचलायो।—गोपाल। (२) ऐसा काम करना जिससे कोई घबरा जाय या स्थिर न रह सके।

विचलित-वि० [सं०] (१) जो विचल हो गया हो। अस्थिर। चंचल। जैसे,—किसी चीज को देखकर मन विचलित होना। उ०—(क) उसकी बुद्धि ऐसी तीक्ष्ण थी कि कोई कैसा ही दुर्घट काम हो, परंतु वह कभी विचलित न होता।—कादंबरी। (ख) तेहि ते अब यह रूप दुरावहु। विचलित सकल लोक सुख पावहु।—शं० दि०। (२) प्रतिज्ञा या संकल्प से हटा हुआ। जो दृढ़ न रहा हो। डिगा हुआ।

विचार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो कुछ मन से सोचा जाय अथवा सोचकर निश्चित किया जाय। किसी विषय पर कुछ सोचने या सोचकर निश्चय करने की क्रिया। (२) वह बात जो मन में उत्पन्न हो। मन में उठनेवाली कोई बात। भावना। खयाल। जैसे,—अभी मेरे मन में विचार आया है कि चलकर उससे बातें करूँ। (३) राजा या न्यायाधीश आदि का वह कार्य, जिसमें वादी और प्रतिवादी के अभियोग और उत्तर आदि सुने जाते हैं; यह निश्चित किया जाता है कि किस पक्ष का कथन ठीक है; और तब कुछ निर्णय किया जाता है। मुकदमे की सुनवाई और फैसला। जैसे,—राजकर्मचारी दोनों को पकड़कर उनका विचार कराने के लिये उन्हें राजद्वार पर ले गया।

धौ०—विचारकर्त्ता। विचारस्थल। विचारसभा।

(४) विचारना। धूमना। (५) धुमाना। फिराना।

विचारक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० विचारिका] (१) वह जो विचार करता हो। विचार करनेवाला। उ०—इन बातों पर ध्यान करके विचारक पुरुष जानते हैं कि ऐसा वृत्तान्त केवल कवीश्वर का कल्पित मात्र है।—मत परीक्षा। (२) फैसला करनेवाला। न्यायकर्त्ता। उ०—तब तक विरोधी विचारकों का होना बहुत ही जरूरी है।—स्वाधीनता। (३) नेता। पथ-प्रदर्शक। (४) गुप्तचर। जासूस।

विचारकर्त्ता-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो किसी प्रकार का विचार करता हो। सोचने विचारनेवाला। (२) वह जो अभियोग आदि सुनकर उनका निर्णय करता हो। न्यायाधीश।

विचारज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो विचार करना जानता हो। (२) वह जो अभियोग आदि का निर्णय या निपटारा करता हो।

विचारण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विचार करने की क्रिया या भाव। (२) धूमना फिरना। (३) धुमाना। फिराना।

विचारणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विचार करने की क्रिया या भाव। उ०—क्योंकि केवल अपनी बुद्धि, या अपने ज्ञान या अपनी विचारणा पर आदमी का विश्वास जितना कम होता है, उतना ही संसार की प्रमाद-हीनता या निर्भ्रमता पर उसका विश्वास अधिक होता है।—स्वाधीनता। (२) धूमने फिरने या धुमाने फिराने की क्रिया या भाव।

विचारणीय-वि० [सं०] (१) जो विचार करने के योग्य हो। जिस पर कुछ विचार करने की आवश्यकता हो। उ०—अब यह अवश्यमेव विचारणीय है कि यदि ऐसा ही है तो बिना कारण किसी को दूषित करना और व्यर्थ उस पर दोषारोपण कर लोगों में उसकी योग्यता कम करने के लिये यत्न करना नीचता एवं अधमता है।—निबंध-माला-

दर्श। (२) जो सिद्ध न हो। जिसे प्रमाणित करने की आवश्यकता हो। चिन्त्य। संदिग्ध।

विचारना-क्रि० अ० [सं० विचार + ना (प्रत्य०)] (१) विचार करना। सोचना। समझना। गौर करना। उ०—(क) कृष्णदेव द्वारावति अहैं। मन में बहुत विचारत रहैं।—सबल (ख) फिर मैंने यह बात विचारी कि लिखने में तो कुछ अधिक अनर्थ नहीं होता।—श्रद्धाराम। (ग) आजुही अजादवी धरा करौं विचारि कै।—गोपाल। (घ) रचो विरंचि विचार तहैं, नृपमणि मधुकर शाहि।—केशव। (२) पूछना। (३) ढूँढना। पता लगाना। उ०—तुलसी तेहि अवसर लावनता दस चारि नव तीनि एकीस सवै। मति भारति पंगु भई जो निहारि विचारि फिरी उपमान पवै।—तुलसी।

विचारपति-संज्ञा पुं० [सं० विचार + पति] वह जो किसी बड़े न्यायालय में बैठकर मुकदमों आदि के फैसले करता हो। विचारक। न्यायाधीश।

विचारवान्-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसमें सोचने समझने या विचारने की अच्छी शक्ति हो। विचारशील।

विचारशक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह शक्ति जिसकी सहायता से विचार किया जाय। सोचने या भला बुरा पहचानने की शक्ति। उ०—मनुष्य जानता तो है कि मैं जीता हूँ और सोच विचार भी करता हूँ, परंतु प्राण और विचारशक्ति किससे बनाई गई।—गोलविनोद।

विचारशास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] मीमांसा शास्त्र।

विचारशील-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसमें किसी विषय को सोचने या विचारने की अच्छी शक्ति हो। विचारवान्। उ०—(क) जिसका सत्य विचारशील ज्ञान और अनंत ऐश्वर्य है, इससे उस परमात्मा का नाम ईश्वर है।—सत्यार्थ-प्रकाश। (ख) विद्वान् बुद्धिमान और विचारशील पुरुषों के चरण जिस भूमि पर पड़ते हैं, वह तीर्थ बन जाती है।—शिवशंभु का चिट्ठा।

विचारशीलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विचारशील होने का भाव या धर्म। बुद्धिमत्ता। अकृमंदी। उ०—आत्मकर्त्तव्य का मामूली अर्थ विचारशीलता या बुद्धिमानी है।—स्वाधीनता।

विचारस्थल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह स्थान जहाँ किसी विषय पर विचार होता हो। (२) न्यायालय। अदालत।

विचाराध्यक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो न्याय-विभाग का प्रधान हो। प्रधान विचारक। प्रधान न्यायाधीश।

विचारालय-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ अभियोगों आदि का विचार होता हो। न्यायालय। कचहरी। उ०—बड़े बड़े आचार्य नीतिज्ञ धर्मशास्त्री लोग विचारालय में बैठे विचार कर रहे हैं।—कादंबरी।

विचारिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्राचीन काल की वह दासी जो घर में लगे हुए फूल पौधों की देख-भाल तथा इसी प्रकार के और काम करती थी। (२) वह स्त्री जो अभियोगों आदि का विचार करती हो।

विचारित-वि० [सं०] (१) जिस पर विचार किया जा चुका हो। जो सोचा समझा जा चुका हो। (२) जो अभी विचाराधीन हो। जिस पर विचार होने को हो।

विचारी-संज्ञा पुं० [सं० विचारिन्] (१) वह जिस पर चलने के लिये बहुत बड़े बड़े मार्ग बने हों (जैसे, पृथ्वी)। (२) जो इधर उधर चलता हो। विचरण करनेवाला। (३) वह जो विचार करता हो। विचार करनेवाला। (४) कबंध के एक पुत्र का नाम।

विचारु-संज्ञा पुं० [सं०] भागवत के अनुसार श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम।

विचार्य-वि० [सं०] जो विचार करने के योग्य हो। जिस पर विचार करने की आवश्यकता हो। विचारणीय।

विचालन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हटाना या चलाना। (२) नष्ट करना।

विचिंतन-संज्ञा पुं० [सं०] चिन्ता करना। सोचना।

विचिंतनीय-वि० [सं०] जो चिन्ता करने या सोचने योग्य हो।

विचिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] सोच-विचार।

विचित्य-वि० [सं०] (१) जो चिन्तन करने या सोचने के योग्य हो। (२) जिसमें किसी प्रकार का संदेह हो। संदिग्ध।

विचि-संज्ञा स्त्री० [सं०] चीची। तरंग। लहर।

विचिकित्सा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) संदेह। अनिश्चय। शक। (२) वह संदेह जो किसी विषय में कुछ निश्चय करने के पहले उत्पन्न हो और जिसे दूर करके कुछ निश्चय किया जाय।

विचित-वि० [सं०] जिसका अन्वेषण किया जाय।

विचिति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विचार। सोचना। (२) अनुसंधान।

विचित्त-वि० [सं०] (१) अचेत। बेहोश। (२) जिसका चित्त ठिकाने न हो। जो अपना कर्त्तव्य न समझ सकता हो।

विचित्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बेहोशी। (२) वह अवस्था जिसमें मनुष्य का चित्त ठिकाने न रहे।

विचित्र-वि० [सं०] (१) जिसमें कई प्रकार के रंग हों। कई तरह के रंगों या वर्णोंवाला। (२) जिसमें किसी प्रकार की विलक्षणता हो। जिसमें किसी प्रकार की असाधारणता हो। विलक्षण। जैसे,—(क) ऐसा विचित्र पक्षी मैंने पहले नहीं देखा था। (ख) तुम भी बड़े विचित्र आदमी हो। (३) जिसके द्वारा मन में किसी प्रकार का आश्चर्य उत्पन्न हो। विस्मित या चकित करनेवाला। (४) सुंदर। खूबसूरत।

संज्ञा पुं० (१) पुराणानुसार रौच्य मनु के एक पुत्र का नाम। (२) साहित्य में एक प्रकार का अर्थालंकार जो उस समय होता है, जब किसी फल की सिद्धी के लिये किसी प्रकार का उलटा प्रयत्न करने का उल्लेख किया जाता है। उ०—(क) करिवैकौ उज्ज्वल सुधा सों अभिराम देखो, मन ब्रजवाम रंगती हैं श्याम रंग में। (ख) राम कहेउ रिस तजहु मुनीसा। कर कुठार भागे यह सीसा।—तुलसी। (ग) जीवन हित प्रानहिं तजत नवैं उँचाई हेत। सुख कारण दुख संग्रहैं बहुधा पुरुष सचेत। (घ) क्यों नहिं गंगा को सुमिरि दरस परस सुख लेत। जाके तट में मरत नर अमर होने के हेत।

विचित्रक-संज्ञा पुं० [सं०] भोजपत्र का वृक्ष।

वि० दे० “विचित्र”।

विचित्रता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रंग बिरंगे होने का भाव।

(२) विलक्षण या अद्भुत होने का भाव।

विचित्रदेह-संज्ञा पुं० [सं०] मेघ। बादल।

विचित्रवीर्य-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रवंशी राजा शांतनु के पुत्र का नाम जिनकी कथा महाभारत में है। जब राजा शांतनु ने अपने पुत्र भीष्म के आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा करने पर सत्यवती के साथ विवाह कर लिया था, तब उसी सत्यवती के गर्भ से उन्हें चित्रांगद और विचित्रवीर्य नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए थे। चित्रांगद तो छोटी अवस्था में ही एक गंधर्व द्वारा मारा गया था; पर विचित्रवीर्य ने बड़े होने पर राज्याधिकार पाया था। इसने काशिराज की अंशिका और अंबालिका नाम की दो कन्याओं के साथ विवाह किया था। परंतु थोड़े ही दिनों बाद निःसंतान अवस्था में ही इसकी मृत्यु हो गई। सत्यवती को विवाह से पहले ही पराशर से गर्भ रह चुका था और उससे द्वैपायन का जन्म हुआ था। विचित्रवीर्य के निःसंतान मर जाने पर सत्यवती ने अपने उसी पहले पुत्र द्वैपायन को बुलाया और उसे विचित्रवीर्य की विधवा स्त्रियों के साथ नियोग करने को कहा। तदनुसार द्वैपायन ने धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर नाम के तीन पुत्र उत्पन्न किए थे।

विचित्रशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ अनेक प्रकार के विचित्र पदार्थों का संग्रह हो। अजायबघर।

विचित्रांग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोर। (२) बाघ।

विचित्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रागिनी जिसे कुछ लोग भैरव राग की पाँच स्त्रियों में से एक और कुछ लोग त्रिवण, बरारी, गौरी और जयसी के मेल से बनी हुई संकर जाति की मानते हैं।

विचित्रित-वि० [सं०] जो कई तरह के रंगों आदि से बना हो। अनेक प्रकार के रंगों से चित्रित। रंग-बिरंगा।

विचित्रक-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का जहरीला कीड़ा ।

विची-संज्ञा स्त्री० [सं०] वीची । तरंग । लहर ।

विचेतन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसे चेतना न हो । संज्ञाहीन । अचेतन । बेहोश । (२) वह जिसे भले बुरे का ज्ञान न हो । विवेकहीन ।

विचेता-संज्ञा पुं० [सं० विचेतः] (१) जिसका चित्त ठिकाने न हो । बबराया हुआ । (२) बेहोश । (३) जिसे किसी विषय का विशेष ज्ञान हो । (४) दुष्ट । पाजी । (५) मूर्ख । बेवकूफ ।

विचेष्ट-वि० [सं०] जिसमें किसी प्रकार की चेष्टा न हो । जो हिलता डोलता न हो ।

विचेष्टन-संज्ञा पुं० [सं०] पीड़ा आदि से बुरी चेष्टा करना । इधर उधर लोटना । तड़पना ।

विचेष्टा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बुरी या खराब चेष्टा करना । मुँह बनाना या हाथ पैर पटकना ।

विच्छेदक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) देव-मंदिर । देवालय । (२) प्रासाद । महल ।

विच्छेदक-संज्ञा पुं० [सं०] सुसनी का साग ।

विच्छेदक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) देव-मंदिर । देवालय । (२) प्रासाद । महल ।

विच्छेदन-संज्ञा पुं० [सं०] कै । वमन ।

विच्छेदिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] वमन । कै ।

विच्छेदित-वि० [सं०] (१) जो वमन किया गया हो । कै किया हुआ । (२) जिसकी उपेक्षा की गई हो । जो तुच्छ समझा गया हो ।

विच्छल-संज्ञा पुं० [सं०] बेंत की लता ।

विच्छलाय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पक्षियों की छाया । (२) मणि । (३) वह जिसकी छाया न पड़ती हो ।

विशेष-प्रायः ऐसा माना जाता है कि देवताओं, दानवों, भूतों और प्रेतों आदि की छाया नहीं पड़ती ।

वि० कांतिहीन । श्रीहीन ।

विच्छित्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) काटकर अलग या टुकड़े करना । (२) विच्छेद । अलगाव । (३) कमी । वृद्धि । (४) वेषभूषा आदि में होनेवाली लापरवाही या बेढंगापन । (५) रंगों आदि से शरीर को चित्रित करना । (६) कविता में, यति । (७) एक प्रकार का हार । (८) साहित्य में एक हाव जिसमें स्त्री थोड़े श्रृंगार से पुरुष को मोहित करने की चेष्टा करती है । उ०—बेंदी भाल, तमोल मुख, सीस सिलसिले बार । दग आँजै, राजे खरी, साजे सहज सिंगार ।

विच्छिन्न-वि० [सं०] (१) जो काट या छेदकर अलग कर दिया गया हो । जिसका अपने मूल अंग के साथ कोई संबंध न

रह गया हो । विभक्त । (२) जुदा । अलग । उ०—बंग-निवासी इससे विच्छिन्न नहीं हुए वरंच और युक्त हो गये । —शिवशंभु का चिट्ठा । (३) जिसका विच्छेद हुआ हो । (४) जिसका अंत हो गया हो । (५) कुटिल ।

विच्छेद्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काट या छेदकर अलग करने की क्रिया । (२) क्रम का बीच से टूट जाना । सिलसिला न रह जाना । (३) किसी प्रकार अलग या टुकड़े टुकड़े करना । सब में से कुछ अलग करना । (४) नाश । उ०—जैसे इस समय बद्ध मुक्त जीव हैं, वैसे ही सर्वदा रहते हैं; अत्यंत विच्छेद बंध मुक्ति का कभी नहीं होता, किंतु बंध और मुक्ति सदा नहीं रहती ।—दयानंद । (५) विरह । वियोग । (६) पुस्तक का प्रकरण या अध्याय । परिच्छेद । (७) बीच में पड़नेवाला खाली स्थान । अवकाश । (८) कविता में यति ।

विच्छेदक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो विच्छेद करता हो । (२) वह जो काट या छेदकर अलग करता हो । (३) विभाग करनेवाला । विभाजक ।

विच्छेदन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काट या छेदकर अलग करने की क्रिया । अलग करना । (२) नष्ट करना । बरबाद करना ।

विच्छेदनीय-वि० [सं०] (१) जो काट या छेदकर अलग करने के योग्य हो । (२) जो विच्छेद करने के योग्य हो ।

विच्छेदी-संज्ञा पुं० [सं० विच्छेदिन्] वह जो विच्छेद करता हो । विच्छेदन करनेवाला ।

विच्छेद्य-वि० [सं०] जो विच्छेद करने के योग्य हो । जो काटने या विभाग करने के योग्य हो ।

विच्युत-वि० [सं०] (१) जो कटकर अथवा और किसी प्रकार इधर उधर गिर पड़ा हो । (२) जो जीवित अंग में से काटकर निकाला गया हो । (वैद्यक) (३) जो अपने स्थान से गिर या हट गया हो । च्युत ।

विच्युति संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी पदार्थ का अपने स्थान से हट या गिर जाना । च्युत होना । (२) गर्भ का गिर जाना । गर्भ-पात ।

विछलना क्ति० प्र० [हि० फिसलना] (१) फिसलना । (२) विचलित होना । उ०—उच्छल्यो उदधिराज विछल्यो ग्रहन-राज ध्यान की धमारि भूरि भूली भूतराज की ।—रघुराज ।

विछेद संज्ञा पुं० [सं० विच्छेद] प्रिय से अलग या दूर होना । वियोग । विछोह । उ०—सूरदयाम के परम भावती पलक न होत विछेद ।—सूर ।

विछोई संज्ञा पुं० [हि० विछोह + ई (प्रत्य०)] वह जिसका अपने प्रिय से विच्छेद हो गया हो । वियोगी । उ०—हित् पियारा मीत विछोई । साथ न लाग आप गा सोई ।—जायसी ।

विछोह संज्ञा पुं० [सं० विच्छेद] प्रिय से अलग या दूर होना ।

वियोग । उ०—जस बिछोह जल मीन दुहेला । जल हति काढ़ अँगन महीं मेला ।—जायसी ।

विजय-वि० [सं०] (१) जिसकी जाँचें कट गई हों या न हों । (२) (गाड़ी) जिसमें धुरी और पहिए आदि न हों ।

विजई*†-संज्ञा पुं० दे० “विजयी” ।

विजन-वि० [सं०] जिसमें अथवा जहाँ आदमी न हो । जन-रहत । एकांत । निराला । उ०—तहाँ सचिव सब लेहि सुधारी । भूपहि विजन भवन महीं डारी ।—रघुराज । संज्ञा पुं० [सं० व्यजन] हवा करने का पंखा । बीजन । उ०—(क) मुरछल चँवर विजन बहु करते । मृदु कहि राह परिलभ हरते ।—गोपाल । (ख) कोऊ विजन डोलावन लागे । कोउ सींचे जल अति अनुरागे ।—रघुराज ।

विजनता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विजन होने का भाव । एकांत का भाव ।

विजनन-संज्ञा पुं० [सं०] जनन करने की क्रिया । प्रसव ।

विजना*†-संज्ञा पुं० [सं० विजन] पंखा । उ०—इत एक सखी बतराय रही विजना इत एक डुलाय रही—संगीत शाकुंतल ।

विजमा-संज्ञा पुं० [सं० विजमन्] (१) किसी स्त्री का उसके उपपति या थार से उत्पन्न पुत्र । जारज । दोगला । (२) मनु के अनुसार एक वर्णसंकर जाति । (३) वह जो जाति च्युत कर दिया गया हो ।

विजन्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जो प्रसव करने को हो । गर्भवती । गर्भिणी ।

विजयंत-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र का एक नाम ।

विजयंतिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक योगिनी का नाम ।

विजयंती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक अप्सरा का नाम । (२) ब्राह्मी वृत्ति ।

विजय-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) युद्ध या विवाद आदि में होने-वाली जीत । विपक्षी या शत्रु को दबाकर अपना प्रभुत्व या पक्ष स्थापित करना । जय । जीत । पराजय का उलटा । (२) एक प्रकार का छंद जो केशव के अनुसार सवैया का मत्तगयंद नामक भेद है । (३) भोजन करना । खाना । (पूरव)

विजयक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो विजय करता हो । सदा जीतनेवाला ।

विजयकुंजर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा की सवारी का हाथी । (२) लड़ाई के मैदान में जानेवाला हाथी ।

विजयकेतु-संज्ञा पुं० [सं०] वह ध्वजा जो शत्रु पर विजय प्राप्त करके फहराई जाती है । विजय-पताका ।

विजयकच्छुद्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँच सौ मोतियों का हार । (२) एक प्रकार का कल्पित हार जो दो हाथ लंबा और

५०४ लड़ियों का माना जाता है । कहते हैं कि ऐसा हार केवल देवता लोग पहनते हैं ।

विजयडिडिम-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का बड़ा ढोल जो युद्ध के समय बजाया जाता था ।

विजयतीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम ।

विजयदंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सैनिकों का वह समूह अथवा सेना का वह विभाग जो सदा विजयी रहता हो । (२) सेना का एक विशिष्ट विभाग जिस पर विजय विशेष रूप से निर्भर करती है ।

विजयदशमी-संज्ञा स्त्री० दे० “विजयादशमी” ।

विजयनंदन-संज्ञा पुं० [सं०] इक्ष्वाकु वंश के राजा जय का एक नाम ।

विजयपताका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सेना में की वह पताका जो जीत के समय फहराई जाती है । (२) विजय का सूचक कोई चिह्न ।

विजयपपटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार की औषध जो पारे, जयंती के पत्तों, रेंड की जड़ और अदरक आदि के योग से बनाई और संग्रहणी रोग में दी जाती है ।

विजयपूर्णिमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] विजयादशमी के उपरांत पड़ने-वाली पूर्णिमा । आश्विन की पूर्णिमा ।

विशेष—इस तिथि को बंगाल में लक्ष्मी का पूजन होता और उत्सव मनाया जाता है ।

विजयभैरव-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का रस । इसमें हड़ का छिलका, चीता, इलायची, तज, सँभाल, पीपल, लोहसार आदि के योग से गंधक और पारे की कजली तैयार की जाती है । यह सब प्रकार के रोगों और दुर्बलता को दूर करनेवाला माना जाता है ।

विजयभैरव तैल-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का तेल जो मालकंगनी, अजवायन, काले जीरे, मेथी और तिल को कोल्हू में पेरकर निकाला जाता है और जो सब प्रकार के वायु रोगों का नाशक माना जाता है ।

विजयमर्हल-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का ढोल । ढक्का ।

विजय यात्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह यात्रा जो किसी पर किसी प्रकार की विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से की जाय ।

विजय रस-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का रस जो पारे, गंधक और सीसे के योग से बनता और प्रायः अजीर्ण रोग में दिया जाता है ।

विजयलक्ष्मी-संज्ञा स्त्री० [सं०] विजय की अधिष्ठात्री देवी, जिसकी कृपा पर विजय निर्भर मानी जाती है ।

विजयशील-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बराबर विजय करता हो । सदा जीतनेवाला ।

विजयश्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] विजय की अधिष्ठात्री देवी जिसकी कृपा पर विजय निर्भर मानी जाती है।

विजयसार-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बड़ा वृक्ष जिसकी लकड़ी भौजार बनाने और इमारत के काम में आती है।
वि० दे० "विजैसार"।

विजया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुराणानुसार पार्वती की एक सखी का नाम जो गोतम की कन्या थी। (२) दुर्गा। (३) यम की भार्या का नाम। (४) हरीतकी। हरे। (५) वच। (६) जयन्ती। (७) जजीठ। (८) एक प्रकार का शमी। (९) अग्निमंथ। (१०) भौंग। सिद्धि। भंग। उ०—(क) संसार के सब दुःखों और समस्त चिंताओं को जो शिवशंभु शम्भा दो चुल्लू बूटी पीकर भुला देता था, आज उसका उस प्यारी विजया पर भी मन नहीं है।—शिवशंभु का चिट्ठा। (ख) हम तो यह जानते हैं कि यदि किसी मंत्र, यंत्र से सर्पादि के डंक का कष्ट या कोई ज्वर, शूल आदि विकार दूर हो जाता हो, तो वह मंत्र संख्या, धृत्वा, विजयादि के विषों पर पड़ा हुआ भी अवश्य फल करे।—श्रद्धाराम। (११) एक योगिनी का नाम। (१२) वर्तमान अपसर्पिणी के दूसरे अर्धत की माता का नाम। (१३) दक्ष की एक कन्या का नाम। (१४) श्रीकृष्ण की माला का नाम। (१५) इंद्र की पताका पर की एक कुमारी का नाम। (१६) प्राचीन काल का एक प्रकार का बड़ा खेमा। (१७) काश्मीर के एक पवित्र क्षेत्र का नाम। (१८) दस मात्राओं का एक मात्रिक छंद जिसमें अक्षरों का कोई नियम नहीं होता और जिसके अंत में रगण रखना कर्ण मधुर होता है। (१९) एक वर्णिक वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में आठ वर्ण होते हैं। इसके अंत में लघु और गुरु अथवा नगण भी होता है। उ०—बरन बसु चारिए। चरण प्रति धारिए। लगन ना विसारिए। सुविजया सम्हारिए। (२०) दे० "विजयादशमी"।

विजया एकादशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आश्विन मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी। (२) फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी।

विजया दशमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] आश्विन मास के शुक्ल पक्ष की दशमी जो हिंदुओं का और विशेषतः क्षत्रियों का एक बहुत बड़ा त्यौहार है। प्राचीन काल में राजा लोग इसी दिन अपने शत्रुओं पर आक्रमण करने अथवा दिग्विजय आदि करने के लिये निकला करते थे। इस दिन देवी, घोड़े, हाथी और खड्ग आदि का पूजन तथा राजा के दर्शन करने का विधान है। इस दिन किसी नए कार्य का आरंभ करना बहुत ही शुभ समझा जाता है।

विजयानंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) संगीत में ताल के साठ मुख्य भेदों में से एक। (२) वैद्यक में एक प्रकार की औषध जो

पारे और हरताल के योग से बनाई जाती और कुछ रोग में दी जाती है।

विजयार्थ-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम।

विजया वटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार की वटिका या गोली जो पारे और गंधक के योग से बनाई जाती है और जिसका व्यवहार संग्रहणी रोग में होता है।

विजया सप्तमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार किसी मास के शुक्ल पक्ष की वह सप्तमी जो रविवार को पड़े। ऐसी तिथि को पुराणानुसार रामचंद्र जी का पूजन और दान करने का विधान है।

विजयी-संज्ञा पुं० [सं० विजयिन्] [स्त्री० विजयिनी] (१) वह जिसने विजय प्राप्त की हो। विजय करनेवाला। जीतने-वाला। उ०—(क) सीजर भी उसी धर्म के प्रभाव से ऐसी विजयी सेना संग होने पर भी काँप उठता है।—तोताराम। (ख) ऐरावत-विजयी द्विरद मत्त उसके सब। मेवों से टकर मार खेलते हैं अब।—द्विवेदी। (ग) पांडव विजयी यह कथा, राजा सुन दे कान। विजय होय सब जगत में, शत्रु होय क्षय जान।—सबल। (२) अर्जुन।

विजयेश-संज्ञा पुं० [सं०] शिव का एक नाम, जो विजय के देवता माने जाते हैं।

विजयोत्सव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह उत्सव जो आश्विन मास के शुक्ल पक्ष की दशमी को होता है। विजया दशमी को होनेवाला उत्सव। (२) वह उत्सव जो किसी प्रकार की विजय प्राप्त करने पर होता है।

विजर-वि० [सं०] (१) जिसे जरा या बुढ़ापा न आता हो। (२) नवीन। नया।

विजरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] ब्रह्मलोक की एक नदी का नाम।

विजल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जल या वर्षा का अभाव। अना-वृष्टि। सूखा। (२) जल का न होना। पानी का अभाव।

विजला-संज्ञा स्त्री० [सं०] चंचु या चंच नाम का साग।

विजल्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सच, झूठ और तरह तरह की ऊट पटाँग बातें करना। व्यर्थ की बहुत सी बकवाद। (२) किसी सज्जन या भले आदमी के संबंध में द्वेषपूर्ण झूठी बातें कहना।

विजागल-संज्ञा पुं० [सं० वियोग] विमोह। वियोग। उ०—सूरज जरत हिमंचल ताका। विरह विजाग सौंह रथ हाँका।—जायसी।

विजागी-संज्ञा पुं० [हि० वियोगी] जिसका अपने प्रिय से विछोह हुआ हो। वियोगी। उ०—तेहि के जरत जो उठै विजागी। तीनों लोक जरहिं तेहि लागी।—जायसी।

विजात-वि० [सं०] वर्णसंकर। दोगला। हरामजादा।

संज्ञा पुं० सखी छंद का एक भेद जिसके प्रत्येक चरण में ५-५-४ के विग्रह से १४ मात्राएँ और अंत में मगण या यगण होता है। इसकी पहली और आठवीं मात्राएँ लघु रहती हैं। इसके अंत में जगण, तगण या रगण नहीं होना चाहिए।

विजाता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जारज लड़की। दोगली। (२) वह स्त्री जिसे हाल में संतान हुई हो। ज़चा।

विजाति-वि० [सं०] भिन्न या दूसरी जाति का।

विजातीय-वि० [सं०] जो दूसरी जाति का हो। एक अथवा अपनी जाति से भिन्न जाति का। उ०—(क) हम विजातीय कार्यकर्ताओं की बनाई हुई वस्तुओं को काम में लाते हैं। (ख) ब्रह्म से पृथक् कोई सजातीय विजातीय और स्वगत अवयवों के भेद न होने से एक ब्रह्म ही सिद्ध होता है।—दयानन्द।

विजानु-संज्ञा पुं० [सं०] तलवार चलाने के ३२ हाथों में से एक हाथ या प्रकार। उ०—तिमि सव्य जानु विजानु संकोचित सुआहित चित्रको।—रघुराज।

विजार-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की मटिया भूमि जिसमें धान और कभी कभी चना भी बोया जाता है।

विजारत-संज्ञा स्त्री० [अ०] वजीर का पद, धर्म या भाव। मंत्रित्व। उ०—वजीर की तनखाह १ लाख रुपए की और विजारत के दस्तूर समेत २ लाख रुपए की सालाना है।—देवीप्रसाद।

विजिगीषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह इच्छा जिसके अनुसार मनुष्य यह चाहता है कि मुझे कोई यह न कह सके कि मैं अपना पेट पालने में असमर्थ हूँ। (२) विजय प्राप्त करने की इच्छा। (३) व्यवहार। (४) उत्कर्ष। उन्नति।

विजिगीषु-वि० [सं०] विजय की इच्छा करनेवाला।

विजिगोषुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विजिगीषु होने का भाव या धर्म।

विज्जित-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) भेंट। मुलाकात। (२) डाक्टर आदि का रोगी के देखने के लिये आना। (३) वह धन जो डाक्टर आदि को आने के उपलक्ष में दिया जाय। डाक्टर की फीस।

विज्जिटर्स बुक-संज्ञा स्त्री० [अ०] किसी सार्वजनिक संस्था की वह पुस्तक जिसमें वहाँ के आने जानेवाले अपना नाम और कभी कभी उस संस्था के संबंध में अपनी सम्मति भी लिखते हैं।

विज्जिटिंग कार्ड-संज्ञा पुं० [अ०] एक प्रकार का बढिया छोटा कार्ड जिस पर लोग अपना नाम, पद और पता छपवा लेते हैं; और जब किसी से मिलने जाते हैं, तब उसे अपने आगमन की सूचना देने के लिये पहले यह कार्ड उसके पास भेज देते हैं।

४१८

विजित-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिस पर विजय प्राप्त की गई हो। वह जो जीत लिया गया हो। (२) वह प्रदेश जिस पर विजय प्राप्त की गई हो। जीता हुआ देश। (३) कोई प्रांत या प्रदेश। (४) कलित ज्योतिष में वह ग्रह जो युद्ध में किसी दूसरे ग्रह से बल में कम होता है।

विजितात्मा-संज्ञा पुं० [सं० विजितात्मन्] शिव का एक नाम।

विजितारि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक राक्षस का नाम। (२) वह जिसने अपने शत्रु को जीत लिया हो।

विजिताश्व-संज्ञा पुं० [सं०] राजा पृथु के एक पुत्र का नाम।

विजिति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विजय। जीत। (२) प्राप्ति।

विजित्वर-वि० [सं०] जीतनेवाला। विजेता।

विजित्वरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक देवी का नाम।

विजिल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऐसा भोजन जिसमें अधिक रस न हो। (२) एक प्रकार का दही।

विजीष-वि० [सं०] जिसे जय प्राप्त करने की इच्छा हो।

विजुल-संज्ञा पुं० [सं०] शालमलि कंद।

विजुली-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक देवी का नाम। संज्ञा स्त्री० दे० “विजली”।

विजृम्भा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पदार्थ का मुँह खोलना। (२) जैभाई लेना। उबासी लेना। (३) धनुष की डोरी खींचना। (४) (भौं) सिकोड़ना।

विजृम्भा-संज्ञा स्त्री० [सं०] उबासी। जैभाई।

विजेतव्य-वि० [सं०] जो विजित करने के योग्य हो। जो जीतने के योग्य हो।

विजेता-संज्ञा पुं० [सं० विजेतृ] जिसने विजय पाई हो। जीतनेवाला। विजय करनेवाला।

विजेय-वि० [सं०] जिस पर विजय प्राप्त की जाने को हो। जीता जाने के योग्य।

विजैल-संज्ञा स्त्री० दे० “विजय”। उ०—हारि जात नर करि उपाय। कपट न तिनको यह कैपाय। सोइ अकंपन पद कहाय। त्रैलोक्य विजै जौ रहा पाय।—देव स्वामी।

विजैसार-संज्ञा पुं० [सं० विजयसार] एक प्रकार का बड़ा वृक्ष जो साल का एक भेद माना जाता है। यह पूर्वी भारत तथा बर्मा में बहुत अधिकता से पाया जाता है। इसकी लकड़ी बहुत मजबूत होती है और खेती के औजार बनाने तथा इमारत आदि के काम में आती है।

विजैसाल-संज्ञा पुं० दे० “विजैसार”।

विजौरा-संज्ञा पुं० दे० “विजौरा”।

वि० [हि० वि + जोर = बल] निर्बल। कमजोर। उ०—जीव को सुख दुख तजु सँग होई। जोर विजोर तन के सँग सोई।—सूर।

विजोहा-संज्ञा पुं० [सं० विजोहा] एक वृक्ष का नाम जिसके प्रत्येक

चरण में दो रगण होते हैं। इसे “जोहा” “विमोहा” और “विजोहा” भी कहते हैं।

विजव-संज्ञा पुं० [सं०] एक विशेष प्रकार का वाण या तीर।
विज्जु संज्ञा स्त्री० [सं० विद्युत्] विद्युत्। बिजली। उ०—
ससि विज्जु मनहुँ दोउ दिसि बसत उड़गन को बखतर
धरे।—गोपाल।

विज्जुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) त्वचा। छिलका। (२) दारचीनी।
विज्जुलता संज्ञा स्त्री० [सं० विज्जुलता] विद्युत्। बिजली।
उ०—कर लीने मनि रस्मि रस्मि रहि कैलि अथोरी।
विज्जुलता बढि मनहुँ रची बिसुकरमा डोरी।—गोपालचंद्र।
विज्जुलि संज्ञा स्त्री० [सं०] जतुका या पहाड़ी नाम की
लता।

विजोहा-संज्ञा पुं० दे० “विजोहा”।

विज्ञ-वि० [सं०] (१) जो जानता हो। जानकार। (२) बुद्धि-
मान्। समझदार। (३) विद्वान्। पंडित।

विज्ञता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विज्ञ होने का भाव। जानकारी।
(२) बुद्धिमत्ता। (३) पांडित्य। विद्वत्ता।

विज्ञत्व-संज्ञा पुं० दे० “विज्ञता”।

विज्ञप्त-वि० [सं०] जो बतलाया या सूचित किया गया हो।
जतलाया हुआ।

विज्ञप्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जतलाने या सूचित करने की
क्रिया। (२) विज्ञापन। इश्तहार।

विज्ञप्तिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रार्थना। निवेदन।

विज्ञबुद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] जटामासी।

विज्ञात-वि० [सं०] (१) जाना या समझा हुआ। (२) प्रसिद्ध।
मशहूर।

विज्ञातव्य-वि० [सं०] जो जानने या समझने के योग्य हो।

विज्ञाता-संज्ञा पुं० [सं० विज्ञात] वह जो जानता या समझता
हो।

विज्ञाति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ज्ञान। समझ। (२)
जानकारी। (३) एक प्रकार की देवयोनि जिसे गय भी
कहते हैं। (४) एक कल्प का नाम।

विज्ञान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ज्ञान। जानकारी। (२) किसी
विशिष्ट विषय के तत्त्वों या सिद्धांतों आदि का विशेष रूप
से प्राप्त किया हुआ ज्ञान जो ठीक क्रम से एकत्र या संगृहीत
हो। किसी विषय की जानी हुई बातों का ठीक तरह से
किया हुआ संग्रह जो एक अलग शास्त्र के रूप में हो।
शास्त्र। जैसे,—पदार्थ विज्ञान, राजनीति विज्ञान, शरीर
विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, समाज विज्ञान आदि। (३) किसी
विषय का अनुभव-जन्य, पूरा और अच्छा ज्ञान। कार्य
कुशलता। (४) कर्म। (५) माया या भविष्य नाम की
दृष्टि। (६) बौद्धों के अनुसार आत्मा के स्वरूप का ज्ञान।

आत्मा का अनुभव। (७) ब्रह्म। (८) आत्मा। (९)

आकाश। (१०) निश्चयात्मिका बुद्धि। (११) मोक्ष।

विज्ञानकोश-संज्ञा पुं० [सं०] वेदांत के अनुसार ज्ञानेंद्रियाँ और
बुद्धि। विज्ञानमय कोश। वि० दे० “कोष”।

विज्ञानता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विज्ञान का भाव या धर्म।

विज्ञानापति-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो परम ज्ञानी हो।

विज्ञानपाद-संज्ञा पुं० [सं०] वेदव्यास का एक नाम।

विज्ञानमय कोष-संज्ञा पुं० [सं०] ज्ञानेंद्रियों और बुद्धि का
समूह। वि० दे० “कोष”।

विज्ञानमातृक-संज्ञा पुं० [सं०] बुद्ध का एक नाम।

विज्ञानवाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह वाद या सिद्धांत जिसमें
ब्रह्म और आत्मा की एकता प्रतिपादित हो। (२) वह वाद
या सिद्धांत जिसमें केवल आधुनिक विज्ञान की बातें ही
प्रतिपादित या मान्य की गई हों।

विज्ञानवादी-संज्ञा पुं० [सं० विज्ञानवादिन्] (१) वह जो योग के
मार्ग का अनुसरण करता हो। योगी। (२) वह जो आधु-
निक विज्ञान-शास्त्र का पक्षपाती हो। विज्ञान के मत का
समर्थन करनेवाला।

विज्ञानिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जिसे ज्ञान हो। (२) विज्ञ।
पंडित। (३) दे० “वैज्ञानिक”।

विज्ञानिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विज्ञानी का भाव या धर्म।

विज्ञानी-संज्ञा पुं० [सं० विज्ञानिन्] (१) वह जिसे किसी विषय
का अच्छा ज्ञान हो। (२) वह जो किसी विज्ञान का अच्छा
वेत्ता हो। वैज्ञानिक। (३) वह जिसे आत्मा तथा ईश्वर आदि
के स्वरूप के संबंध में विशेष ज्ञान हो।

विज्ञानीय-वि० [सं०] विज्ञान-संबंधी। वैज्ञानिक।

विज्ञापक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो विज्ञापन करता हो।
समझाने, बतलाने या जतलानेवाला।

विज्ञापन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विज्ञापनीय] (१) किसी बात
को बतलाने या जतलाने की क्रिया। जानकारी कराना।
सूचना देना। (२) वह पत्र या सूचना आदि जिसके द्वारा
कोई बात लोगों को बतलाई जाय। इश्तहार।

विज्ञापना-संज्ञा स्त्री० [सं०] विज्ञप्त करना। जतलाना।
बतलाना।

विज्ञापनीय-वि० [सं०] जो बतलाने या जतलाने के योग्य हो।
सूचित करने के योग्य।

विज्ञापित-वि० [सं०] (१) जो बतलाया जा चुका हो।
जिसकी सूचना दी जा चुकी हो। (२) जिसका इश्तहार
दिया जा चुका हो।

विज्ञापि-वि० [सं० विज्ञापिन्] जतलाने या बतलानेवाला।
सूचना देनेवाला।

विज्ञप्ति-संज्ञा स्त्री० दे० “विज्ञप्ति”।

विज्ञाप्य-वि० [सं०] बतलाने योग्य । सूचित करने योग्य ।

विज्ञेय-वि० [सं०] जो जानने या समझने के योग्य हो ।

विज्यर-वि० [सं०] (१) जिसका उबर उतर गया हो । जिसका छुहार छूट गया हो । (२) जिसे सब प्रकार की चिंताओं से छुटकारा मिल गया हो । निश्चित । बेफिक । (३) जो सब प्रकार के क्लेशों आदि से मुक्त हो । जिसे किसी प्रकार का शोक या संताप न हो ।

विटंक-वि० [सं०] सुंदर । मनोहर ।

संज्ञा पुं० (१) सब से ऊँचा सिरा या स्थान । (२) कवृतर का दरवा । काठुक । (३) बड़ी ककड़ी ।

विट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसमें काम-वासना बहुत अधिक हो । कामुक । लंपट । (२) वह जो किसी वेश्या का यार हो या जिसने किसी वेश्या को रख लिया हो । (३) धूर्त । चालाक । (४) साहित्य में एक प्रकार का नायक । साहित्य-दर्पण के अनुसार जो व्यक्ति विषय-भोग में अपनी सारी संपत्ति नष्ट कर चुका हो, भारी धूर्त हो, फल या परिणाम का एक ही अंग देखता हो, वेव-भूषा और बातें बनाने में बहुत चतुर हो, वह विट कहलाता है । (५) एक पर्वत का नाम । (६) एक प्रकार का खैर जिसे दुर्गव खैर भी कहते हैं । (७) नारंगी का वृक्ष । (८) चूहा । (९) साँचर नमक ।

विटक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल की एक जाति का नाम । (२) पुराणानुसार एक प्राचीन देश जो नर्मदा नदी के तट पर था । (३) घोड़ा ।

विटकारिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का पक्षी ।

विटकुमि-संज्ञा पुं० [सं०] चुन्ना या चुनचुना नाम का कीड़ा जो बच्चों की गुदा में उत्पन्न होता है ।

विटप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वृक्ष या लता की नई शाखा । कोंपल । (२) छतनार पेड़ । झाड़ी । (३) वृक्ष । पेड़ । (४) आदित्य-पत्र ।

विटपक-संज्ञा पुं० [सं०] दुष्ट । पाजी ।

विटपी-संज्ञा पुं० [सं० विटपिन्] (१) जिसमें नई शाखाएँ या कोंपल निकली हों । (२) वृक्ष । पेड़ । (३) अंजीर का पेड़ । (४) बट वृक्ष । बड़ का पेड़ ।

विटपीमृग-संज्ञा पुं० [सं०] शाखामृग । बंदर ।

विटप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] मोगरा नामक फूल या उसका पौधा ।

विटभूत-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक असुर का नाम ।

विटमानिक-संज्ञा पुं० [सं०] सोनामक्खी नाम का खनिज द्रव्य ।

विटलवण-संज्ञा पुं० [सं०] साँचर नमक ।

विटवल्लभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाटली वृक्ष ।

विटि-संज्ञा स्त्री० [सं०] लाल चंदन ।

विट्-संज्ञा पुं० [सं०] साँचर नमक ।

विट्क-संज्ञा पुं० [सं०] त्रिप । जहर ।

विट्घात-संज्ञा पुं० [सं०] सूत्राघात नामक रोग ।

विट्धर-संज्ञा पुं० [सं०] गाँवों में रहनेवाला सूअर ।

विट्ठल-संज्ञा पुं० [?] दक्षिण भारत की विष्णु की एक मूर्ति का नाम ।

विट्पति-संज्ञा पुं० [सं०] जामाता । दामाद ।

विट्प्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] शिशुमार या सूँस नामक जल-जंतु ।

विट्शूल-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का शूल रोग ।

विट्शंग-संज्ञा पुं० [सं०] मलरोध । कब्जियत ।

विट्सारिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का पक्षी ।

विटल-संज्ञा पुं० दे० "विट्ठल" ।

विडंग-संज्ञा पुं० [सं०] बायबिडंग ।

विडंबक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ठीक ठीक अनुकरण करनेवाला । पूरी पूरी नकल करनेवाला । (२) अनुकरण करके चिढ़ाने या अपमान करनेवाला । (३) निंदा या परिहास करनेवाला ।

विडंबन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी के रंग ढंग या चाल ढाल आदि का ठीक ठीक अनुकरण करना । पूरी पूरी नकल करना । (२) चिढ़ाने या अपमानित करने के लिये नकल करना । भौंड़पन करना । (३) निंदा या उपहास करना ।

विडंबना-संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० विडंबनीय, विडंबित] (१) अनुकरण करना । नकल उतारना । (२) किसी को चिढ़ाने या बनाने के लिये उसकी नकल उतारना । (३) हँसी उड़ाना । मजाक करना । (४) डाँटना डपटना । फट-करना ।

विडंबनीय-वि० [सं०] (१) जो अनुकरण करने के योग्य हो । नकल उतारने लायक । (२) चिढ़ाने या उपहास करने के योग्य ।

विडंबी-संज्ञा पुं० [सं० विडंबिन्] वह जो किसी प्रकार की विडंबना करता हो । विडंबना करनेवाला ।

विड-संज्ञा पुं० [सं०] विट लवण ।

विडंग-संज्ञा पुं० [सं०] विट लवण । साँचर नमक ।

विडरना-संज्ञा पुं० [सं०] तलव, हिं० डालना या सं० बितरण । (१) इधर उधर होना । तितर बितर होना । उ०—(क) विडरत बिडुकि जानि रथ ते मृग जनु ससंकि शशि लंगर सारे ।—सूर । (ख) जानत नहीं कौन गुण यहि तन जाते सब विडरे ।—सूर । (२) भागना । दौड़ना । उ०—हाँके मुगल ताल की जोरी । भजें विडरि बालक चहुँ ओरी ।—छत्रप्रकाश ।

विडराना-संज्ञा पुं० [सं०] दे० "विडारना" ।

विडारक-संज्ञा पुं० [सं०] विडाल । बिल्ली ।

विडारना-क्रि० सं० [हि० विडरना का सं० रूप] (१) तितर वितर करना। इधर उधर करना। छितराना। उ०—हारे लै विडारे जोइ पति पै पुकारे कहो वजमारे मति जावो हरि गाइये।—नाभादास। (२) नष्ट करना। उ०—विष्वक्सेन रूप हरि लेंगे कीन्हो शिव को हेत। असुर मारि सब तुरत विडारे दीन्हें रुद्र निकेत।—सूर। (३) भगाना। दौड़ाना।

विडाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आँख का पिंड। (२) आँख की एक प्रकार की दवा जो जेठी मधु, गेरू, दारु हल्दी और रसांजन आदि से बनती है और जिसका आँख के चारों ओर लेप किया जाता है। (३) आँख के चारों ओर किया जानेवाला कोई लेप। (४) बिल्ली। (५) गंध मार्जार। मुद्दक बिलाव। (६) हरताल।

विडालक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हरताल। (२) बिल्ली।

विडालपद्-संज्ञा पुं० [सं०] दो तोले का परिमाण।

विडालाक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक राजा का नाम जो महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में गया था।

विडाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विदारी कंद। (२) बिल्ली।

विडोली-संज्ञा पुं० [सं०] पक्षियों की उड़ान का एक प्रकार।

विडोली-संज्ञा पुं० [सं० विडोली] इंद्र का एक नाम।

विड्गंध-संज्ञा पुं० [सं०] विड लवण।

विड्ग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] कोष्ठबद्धता। कब्जियत। मलरोध।

विड्घात-संज्ञा पुं० [सं०] मलमूत्र का अवरोध। पेशाब और पाखाना रुकना।

विड्ज-संज्ञा पुं० [सं०] विष्टा आदि से उत्पन्न होनेवाले कीड़े मकोड़े।

विड्वंध-संज्ञा पुं० [सं०] मल का अवरोध। कब्जियत।

विड्वभंग-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत दस्त होना। पेट चलना।

विड्वभेद-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत दस्त होना। पेट चलना।

विड्वेदी-संज्ञा पुं० [सं० विड्वेदिन] वह ओषधि या द्रव्य जो विरेचक हो। दस्तावर चीज या दवा।

विड्वोजी-संज्ञा पुं० [सं० विड्वोजिन्] वह जो विष्टा खाता हो।

विड्वलवण-संज्ञा पुं० [सं०] विट लवण। साँचर नमक।

विड्वराह-संज्ञा पुं० [सं०] गाँवों में रहनेवाला सूअर।

विड्विघात-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मूत्रघात रोग।

वितंड-संज्ञा पुं० [सं०] हाथी।

वितंडा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दूसरे के पक्ष को दबाते हुए अपने मत की स्थापना करना। (२) व्यर्थ का क्षगड़ा या कहा-सुनी। (३) कचूर। (४) दर्वा। (५) शिलारस।

वितंत-संज्ञा पुं० [सं० वितं + तन्त्र] वह बाजा जिसमें तार न लगे हों। बिना तार का बाजा। उ०—तंत वितंत सुअ घन राजहि शब्द होय शनकारा।—जायसी।

वितंस-संज्ञा पुं० [सं०] पक्षियों अथवा छोटे छोटे पशुओं आदि को फँसाने का जाल।

वितस्-वि० [सं० विट्] (१) जाननेवाला। ज्ञाता। उ०—सब शस्त्र विसारद अस्त्र वित विदित बली मनि जगत जित।—गोपाल। (२) चतुर। निपुण। उ०—रन जु आन रद वित नृप लख्यो करद मगध महाराज को।—गोपाल।

वितस्त्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटी भरणी।

वितत-वि० [सं०] विस्तृत। फैला हुआ।

संज्ञा पुं० [सं०] वीणा अथवा उससे मिलता जुलता हुआ और कोई बाजा।

वितताना-क्रि० प्र० [सं० व्यथा] व्याकुल होना। बेचैन होना। उ०—देखे आइ तहाँ हरि नहीं, चितवति जहाँ तहाँ विततानी।—सूर।

वितति-संज्ञा स्त्री० [सं०] विस्तार। फैलाव।

वितथ-वि० [सं०] [संज्ञा वितथता] (१) मिथ्या। झूठ। (२) व्यर्थ। निरर्थक। बेफायदा।

वितथता-संज्ञा स्त्री० [सं०] वितथ का भाव। मिथ्यात्व।

वितथ्य-वि० [सं०] मिथ्या। असत्य। झूठ।

वितहु-संज्ञा पुं० [सं०] पंजाब की वितस्ता या झेलम नदी का एक नाम।

वितनु-वि० [सं०] जो बहुत ही सूक्ष्म हो।

वितपन्न-संज्ञा पुं० [सं० व्युत्पन्न] वह जो किसी काम में कुशल हो। व्युत्पन्न। दक्ष। प्रवीण। उ०—(क) सूरज प्रभु वितपन्न कोक गुन ताते हरि हरि ध्यावत।—सूर। (ख) संगहि रहति सदा पिय प्यारी क्रीडत करति उपाधा। कोककला वितपन्न भई हौ कान्हरूप तनु आधा।—सूर। वि० बबराया हुआ। व्याकुल। उ०—उनहि मिले वितपन्न भई अब वै दिन गए भुलाह।—सूर।

वितनस्क-वि० [सं०] (१) जिसमें अंधकार न हो। (२) जिसमें तमोगुण न हो।

वितरक-संज्ञा पुं० [सं० वितरण] वितरण करनेवाला। बाँटनेवाला। उ०—नुनु धुनि पूरत ताते नूपुर वितरक अर्थ सुरायन में। देव स्वामी।

वितरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दान करना। अर्पण करना। देना। (२) बाँटना।

वितरन-संज्ञा पुं० [सं० वितरण] (१) बाँटनेवाला। वितरण करनेवाला। तरन तरन दुति भवतरन वितरन सुख हित रनकरन।—गोपाल। (२) दे० “वितरण”। उ०—कष्ट दिन प्रभु तहँ कियो निवासा। वितरन वैष्णव वृंद हुलासा।—रघुराज।

वितरना-क्रि० सं० [सं० वितरण] वितरण करना। बाँटना। उ०—(क) ये लहुरे अति रहैं उदारा। वितरहि सब को दृश्य

अपारा।—रघुराज। (ख) सुवर्ण तनु तिनके किये, सुवर्ण वितरि अपार।—रघुराज।

वितरित-अव्य० [सं० व्यतिरिक्त] अतिरिक्त। सिवा।
उ०—हरि वितरित जाहि शिर नावै। मूरति तुरत फूटि सो जावै—रघुराज।

वितरित-वि० [सं०] जो वितरण किया गया हो। बाँटा हुआ।
वितरेक-क्रि० वि० [सं० व्यतिरिक्त] छोड़कर। सिवा। उ०—
वितरेक तोहि निर्दय महाबल आनु कहु को सहि सकै।—
तुलसी।

वितर्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक तर्क के उपरांत होनेवाला दूसरा तर्क। (२) संदेह। शक। (३) अनुमान।
(४) एक प्रकार का अर्थालंकार जिसमें किसी प्रकार के संदेह या वितर्क का उल्लेख होता है और कुछ निर्णय नहीं होता।

वितर्क-वि० [सं०] (१) जिसमें किसी प्रकार के वितर्क या संदेह का स्थान हो। (२) जो देखने में बहुत विलक्षण हो।
वितर्हि, वितर्हिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेदी। मंच।

वितल-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार सात पातालों में से तीसरा पाताल। देवी भागवत के अनुसार यही दूसरा पाताल है। कहते हैं कि इस पाताल में शिव जी “हाटकेश्वर” नाम से अपने पार्षदों के साथ रहते हैं। इनके वीर्य से हाटकी नाम की नदी बहती है जिसे हुताशन पीते हैं। उन्हीं हुताशन के मुँह से जब फुफकार निकलता है, तब उससे हाटक नामक सोना निकलता है।

वितलिन-संज्ञा पुं० [सं० वितलिन] वितल लोक को धारण करनेवाले, बलदेव। उ०—विलिनं मुशलिनं देव हलिनं वितलिनं तलिनं स्वयं।—गर्गसंहिता।

वितस्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] पंजाब की झेलम नामक नदी का प्राचीन नाम।

वितस्ताख्य-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार तक्षक नाग का निवास-स्थान।

वितस्ताद्रि-संज्ञा पुं० [सं०] राजतरंगिणी के अनुसार एक पर्वत का नाम।

वितस्ति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उतना परिमाण जितना हाथ के अँगूठे और उँगली को पूरा पूरा फेराने से होता है। बालिस्त। वित्ता। (२) बारह अंगुल का परिमाण।

वितान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ। (२) विस्तार। फैलाव। (३) बड़ा चँदोआ या खेमा। (४) समूह। संव। जमाव। (५) सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का बंधन जो सिर पर के भाघात या बाव आदि पर बाँधा जाता है। (६) अवसर। अवकाश। (७) घुणा। बफरत। (८) शून्य। खाली स्थान। (९) अग्निहोत्र आदि कर्म। (१०) एक प्रकार का लंद।

(११) एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में एक सगण, एक भगण और दो गुरु होते हैं। उ०—सुभ गंगा जल तेरो। सुखशता जन केरो। नसिकै भौ-दुख नाना। जस को तान विताना।—जगन्नाथ।

वि० (१) मंद। धीमा। (२) शून्य। खाली।

वितानक-संज्ञा पुं० [सं०] धनिया।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ा चँदोआ या खेमा। (२) समूह। जमावड़ा। (३) धन संपत्ति।

वितानना-क्रि० स० [सं० वितान] (१) शामियाना आदि तानना। (२) कोई चीज़ तानना। उ०—मनी हीन छीन कनी, मीन बारि सों बिहीन है कै मलीन मति दीनता वितानई।—रसकुसुमाकर।

वितानमूल-संज्ञा पुं० [सं०] खस। उशीर।

वितानमूलक-संज्ञा पुं० [सं०] उशीर। गाढर। खस।

वितामस-संज्ञा पुं० [सं०] प्रकाश। उजाला।

वि० जिसमें तमोगुण न हो।

वितार-संज्ञा पुं० [सं०] बृहत्संहिता के अनुसार एक प्रकार का केतु या पुच्छल तारा।

वितारक-संज्ञा पुं० [सं०] विधारा नामक जड़ी।

वितिक्रम-संज्ञा पुं० [सं० व्यतिक्रम] क्रम का भंग होना। व्यतिक्रम। गड़बड़ी। उ०—प्रीति परीक्षा तिहुन की वैर वितिक्रम जानि।—तुलसी।

वितिहोतर-संज्ञा पुं० [सं० वीतिहोत्र] अग्नि। (हिं०)

वित्तीत-वि० दे० “व्यतीत”। उ०—आम मंजरी सँग सनेह सों कहु दिन करत वित्तीत।—संगीत शाकुंतल।

वित्तीपात-संज्ञा पुं० दे० “व्यतीपात”।

वित्तीपाती-संज्ञा पुं० [सं० व्यतीपात + ई० (प्रत्य०)] वह जो बहुत अधिक उपद्रव करता हो। पाजी। शरारती। (लड़का)

वितोर्ण-संज्ञा पुं० दे० “वितरण”।

वि० दे० “उत्तीर्ण”।

वितुंड-संज्ञा पुं० [सं० वि + तुंड] हाथी। उ०—(क) जादां पुंड के वितुंड चित्र तुंड झुंड झुंड मुंड धरे कुंड सुंड कुंडल करे करे।—गोपाल। (ख) तहँ वसिष्ठ आदिक मुनिराई। चढ़े वितुंडन आनंद छाई।—रघुराज।

वितुङ्ग-संज्ञा पुं० [सं० वित्त] धन-संपत्ति। उ०—दे वितु कै हित ले सब छवि वितु विधि निज हाथ सँवारे।—तुलसी।

वितुड-संज्ञा पुं० [सं०] नीला थोथा। तूतिया।

वितुद्-संज्ञा पुं० [सं०] वैदिक साहित्य के अनुसार एक प्रकार की भूतयोनि।

वितुज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किरियारी या सुसका नामक झाग। (२) खेबार।

वितुन्नक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) धनिया । (२) तृतिया । (३)

कैवर्त्तमुस्तक । (४) भुईं आँवला ।

वितुन्नका-संज्ञा स्त्री० [सं०] भुईं आँवला ।

वितुन्नभूता-संज्ञा स्त्री० [सं०] भुईं आँवला ।

वितुन्ना-संज्ञा स्त्री० [सं०] भुईं आँवला ।

वितुष्ट-वि० [सं०] जो संतुष्ट न हो । असंतुष्ट ।

वितृण-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ तृण या घास आदि न होती हो ।

वितृप्त-वि० [सं०] जो तृप्त या संतुष्ट न हुआ हो ।

वितृप्तता-संज्ञा स्त्री० [सं०] वितृप्त या असंतुष्ट होने का भाव ।

वितृष-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसे किसी प्रकार की तृष्णा न रह गई हो । तृष्णा से रहित ।

वितृष्ण-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसे किसी प्रकार की तृष्णा न हो । निस्पृह । उदासीन ।

वितृष्णा-संज्ञा स्त्री० [सं०] तृष्णा का अभाव । तृष्णा का न होना ।

वित्त-संज्ञा पुं० [सं०] धन । संपत्ति ।

वि० (१) सोचा या विचारा हुआ । (२) जाना या समझा हुआ । (३) मिला या पाया हुआ । (४) विख्यात । प्रसिद्ध । मशहूर ।

वित्तकोश-संज्ञा पुं० [सं०] रुपय पैसे आदि रखने की थैली ।

वित्तगोप्त-संज्ञा पुं० [सं०] कुवेर के भंडारी का नाम ।

वित्तदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्तिकेय की एक मातृका का नाम ।

वित्तनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] कुवेर का एक नाम ।

वित्तप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो धन की रक्षा करता हो । भंडारी । (२) कुवेर का एक नाम ।

वित्तपति-संज्ञा पुं० [सं०] कुवेर का एक नाम । उ०—लज्जो वित्तपित्त वित्त महीं, कहि धनि अनुज हमार ।—रघुराज ।

वित्तपाल-संज्ञा पुं० [सं०] कुवेर का एक नाम ।

वित्तपुरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कुवेर की पुरी, अलका ।

वित्तहीन-संज्ञा पुं० [सं०] धनहीन । दरिद्र । गरीब । उ०—सब परिवार मेरो याही लागे राजाजू हौं दीन वित्तहीन कैसे दूसरी गढ़ाइहौं ।—तुलसी ।

वित्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विचार । (२) लाभ । प्राप्ति । (३) ज्ञान । (४) संभावना ।

वित्तेश, वित्तेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] कुवेर ।

वित्तप-वि० [सं०] निर्लज्ज । बेहया । बेशरम ।

वित्त्रास-संज्ञा पुं० [सं०] भय । डर ।

वित्त्व-संज्ञा पुं० [सं०] वेत्ता होने का भाव ।

विस्तन-संज्ञा पुं० [सं०] बैल ।

विथकना-संज्ञा-क्रि० प्र० [हि० थकना] (१) थकना । शिथिल होना । उ०—सुनि किन्नर गंधर्व सराहत विथके हैं विबुध विमान ।—तुलसी । (२) मोहित या चकित होकर डुप

हो जाना । उ०—तुलसी सुनि ग्रामवधू विथकीं पुलकीं तन औ चले लोचन चवै ।—तुलसी ।

विथकित-वि० [हि० विथकना] (१) थका हुआ । शिथिल ।

उ०—तुलसी भइ मति विथकित करि अनुमान । राम लखन के रूप न देखेउ आन ।—तुलसी । (२) जो आश्चर्य या मोह आदि के कारण कुछ न बोल सकता हो । उ०—गोपीजन विथकित है चितवत सब ठाढ़ी ।—सूर ।

विथराना-क्रि० प्र० [सं० वितरण] (१) फैलाना । (२) इधर उधर करना ।

विथा-संज्ञा स्त्री० [सं० व्यथा] (१) व्यथा । पीड़ा । तकलीफ । उ०—(क) तनकहु विथा नहीं मन मान्यो । पर उपकार न तनु प्रिय जान्यो ।—रघुराज । (ख) भँवर जानि पै कमल पिरिती । जेहिं महीं विथा प्रेम नै बीती ।—जायसी । (ग) वृटी जड़ी मनी बहु विधि की । लीनी विथा निवारन सिधि की ।—गोपाल । (२) रोग । बीमारी । उ०—फेन तजै मुख तैं, पटकै कर, जौ न कियौ जू विथा निवारन ।—रसकुसुमाकर ।

विथारना-क्रि० प्र० [सं० वितरण] फैलाना । छितराना । उ०—श्री रघुवीर के वाक विलास तैं धर्म रच्यो त्रैलोक्य विथान्यो ।—हृदयराम ।

विथित-वि० [सं० व्यथित] जिसे किसी प्रकार की व्यथा हो । दुःखी ।

विथुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चोर । (२) राक्षस । (३) क्षय । नाश ।

वि० (१) अल्प । थोड़ा । कम । (२) व्यथित । दुःखित । विथुरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जिसका स्वामी से वियोग हुआ हो । विरहिणी ।

विथ्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] गोभी ।

विदंता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की कौड़ी ।

विद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तिल पुष्पी । तिलक । (२) जानकार । जाननेवाला । (३) पंडित । विद्वान् ।

विदग्ध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रसिक पुरुष । रसज्ञ । नागर । (२) पंडित । विद्वान् । (३) चतुर । चालाक । होशियार । (४) रुसा नामक वास ।

वि० जला हुआ ।

विदग्धता-संज्ञा स्त्री० [सं०] पांडित्य । विद्वता ।

विदग्धा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह परकीया नायिका जो होशियारी के साथ पर-पुरुष को अपनी ओर अनुरक्त करे । यह दो प्रकार की मानी गई है—वचन विदग्धा और क्रिया विदग्धा । जो स्त्री अपनी बात चीत के कौशल से पर पुरुष पर अपनी काम-वासना प्रकट करती है, वह वचन विदग्धा कहलाती है; और जो किसी प्रकार के क्रिया-कलाप

से अपना भाव प्रकट करती है, उसे क्रिया विदग्धा कहते हैं।
विदग्धाजीर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अजीर्ण रोग जो पित्त के प्रकोप से उत्पन्न होता है और जिसमें रोगी को भ्रम, तृष्णा, मूच्छा, दाह और पेट में दर्द होता है।

विदग्धाम्लट्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] आँखों का एक प्रकार का रोग जो बहुत अधिक खटाई खाने से होता है और जिसमें आँखें पीली पड़ जाती हैं।

विदग्ध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) योगी। (२) यज्ञ। (३) वैदिक काल के एक राजा का नाम।

विदग्धी-संज्ञा पुं० [सं० विदग्धिन्] एक वैदिक ऋषि का नाम।

विदग्मान-संज्ञा पुं० [सं० विद्यमान] जो विद्यमान हो। सामने। सम्मुख। (क) उ०—फोन्पो नयन काग नहिं छाँदो सुर-पति के विदग्मान।—सूर। (ख) ताको बधन कियो इहि रघुपति तो देखत विदग्मान।—सूर।

विदग्गर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कंकारी। विश्वसारक। (२) विदारण करना। फाड़ना।

विदग्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विदारण करना। फाड़ना। (२) विद्रधि नामक रोग।

विदग्गना-संज्ञा पुं० [सं० विदग्ग] विदीर्ण होना। फटना। उ०—(क) विदग्गत नाहिं वज्र की छाती हरि विद्योग क्यों सहिए।—सूर।

क्रि० सं० विदीर्ण करना। फाड़ना। उ०—महेश यही तुमको निदग्ग्योजू। अरा सम पत्रनि है विदग्ग्योजू।—गुमान।

विदग्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आधुनिक बरार प्रदेश का प्राचीन नाम। (२) भागवत के अनुसार एक राजा का नाम। कहते हैं कि इसी राजा के नाम पर विदग्ग देश का नाम पड़ा था। (३) पुराणानुसार एक प्राचीन ऋषि का नाम। (४) दाँतों में चोट लगने के कारण मसूड़ा फूलना या दाँतों का हिलना।

विदग्गजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अगस्त्य ऋषि की स्त्री लोपा-मुद्रा का एक नाम। (२) दमयंती का एक नाम जो विदग्ग के राजा भीष्म की कन्या थी। (३) रुक्मिणी का एक नाम।

विदग्गराज-संज्ञा पुं० [सं०] दमयंती के पिता राजा भीष्म जो विदग्ग के राजा थे।

विदग्गि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

विदग्ग-संज्ञा पुं० [सं०] बिना फनवाला साँप।

विदग्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल रंग का सोना। (२) सोना। स्वर्ण। (३) अनार का दाना। (४) बाँस का बना हुआ दौरा या और कोई पात्र। (५) चना। (६) पीठी। वि० विकसित। खिला हुआ। (२) जिसमें दल न हों। बिना दल का।

विदलन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मलने दलने या दवाने आदि की क्रिया। (२) टुकड़े टुकड़े या हथर उधर करना। फाड़ना।

विदलना-संज्ञा पुं० [सं० विदलन] दलित करना। नष्ट करना। उ०—तैरन केहरि केहरि के विदले अरि कुंजर छैल छवासे।—तुलसी।

विदलान्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पकाई हुई दाल। (२) वह अन्न जिसमें दो दल हों। जैसे,—चना, उड़द, मूँग, अरहर, मसूर आदि।

विदलित-वि० [सं०] (१) जिसका अच्छी तरह दलन किया गया हो। (२) रौंदा हुआ। मला हुआ। (३) टुकड़े टुकड़े किया हुआ। (४) फाड़ा हुआ।

विदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बुद्धि। ज्ञान। अकू।

संज्ञा स्त्री० [सं० विदाय, मि० अ० विदाग्र] (१) प्रस्थान। रवाना होना। (२) कहीं से चलने की आज्ञा या अनुमति।

क्रि० प्र०—करना।—माँगना।—होना।

विदाई-संज्ञा स्त्री० [हि० विदा + ई (प्रत्य०)] (१) विदा होने की क्रिया या भाव। रखसती। प्रस्थान। (२) विदा होने की आज्ञा या अनुमति। (३) वह धन आदि जो विदा होने के समय किसी को दिया जाय।

क्रि० प्र०—देना।—पाना।—मिलना।

विदाय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विसर्जन। (२) प्रस्थान। (३) जाने की आज्ञा या अनुमति। विदा।

क्रि० प्र०—माँगना।—लेना।

(४) दान।

विदायी-संज्ञा पुं० [सं० विदायिन्] (१) वह जो ठीक तरह से चलाता या रखता हो। नियामक। (२) दान करनेवाला।

संज्ञा स्त्री० दे० “विदाई”।

विदार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) युद्ध। समर। (२) दे० “विदारण”।

विदारक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह वृक्ष या पर्वत आदि जो जल के बीच में हो। (२) छोटी नदियों के तल में बनाया हुआ गड्ढा, जिसमें नदी के सूखने पर भी पानी बचा रहता है। (३) नौसादर।

वि० विदारण करनेवाला। फाड़ डालनेवाला।

विदारण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बीच में से अलग करके दो या अधिक टुकड़े करना। फाड़ना। (२) मार डालना। हत्या करना। (३) युद्ध। समर। लड़ाई। (४) कनेर। (५) खपरिया। (६) नौसादर।

विदारना-संज्ञा पुं० [हि० विदरना] (१) फाड़ना। उ०—(क) जनु उडगन विधु मिलन कौ चले तम विदारि करि-बाट।—तुलसी। (ख) निज जाँघन पर ताहि पछान्यो। नखन साथ तब उदर विदान्यो।—केशव।

विदारिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बृहत्संहिता के अनुसार एक

प्रकार की हाकिमी जो घर के बाहर अग्नि कोण में रहती है ।
(२) गंभारी वृक्ष । (३) विदारीकंद । (४) शालपर्णी ।
(५) कड़वी तूबी ।

विदारिगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] शालपर्णी ।

विदारिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंभारी ।

विदारित-वि० [सं०] विदीर्ण किया हुआ । फाड़ा हुआ ।

विदारी-वि० [सं० विदारिन्] फाड़नेवाला । विदारण करने-
वाला ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शालपर्णी । (२) भुईं कुम्हड़ा । (३) भावप्रकाश के अनुसार अठारह प्रकार के कंठ रोगों में से एक प्रकार का कंठ रोग जो पित्त के प्रकुपित होने से होता है । इस में गले और मुँह पर लाली आ जाती है, जलन होती है और बदबूदार मांस के टुकड़े कट कटकर गिरने लगते हैं । कहते हैं कि जिस करवट कोई अधिक सोता है, उसी ओर यह रोग होता है । (४) एक प्रकार का क्षुद्र रोग जिसमें बगल में फुंसी निकलती है । (५) कान का एक रोग । (६) वाराहीकंद । (७) क्षीर काकोली । (८) वाग्भट्ट के अनुसार मेढासींगी, सफेद पुनर्नवा, देवदार, अनंतमूल, बृहती आदि ओषधियों का एक गण ।

विदारीकंद-संज्ञा पुं० [सं०] भुईं कुम्हड़ा ।

विदारिगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शालपर्णी । (२) सुश्रुत के अनुसार शालपर्णी, भुईं कुम्हड़ा, गोखरू, रातमूली, अनंत-मूल, जीवंती, मुगवन, कटियारी, पुनर्नवा आदि ओषधियों का एक गण । इस गण की सब ओषधियाँ वायु तथा पित्त की नाशक, और शोथ, गुल्म, ऊर्ध्वश्वास तथा खाँसी आदि रोगों में हितकर मानी जाती हैं ।

विदाह-संज्ञा पुं० [सं०] गिरगिट ।

विदाह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पित्त के प्रकोप के कारण होनेवाली जलन । (२) हाथ पैर में किसी कारण से होनेवाली जलन ।

विदाहक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो विदाह उत्पन्न करता हो । (२) दे० "विदाह ।"

विदाही-संज्ञा पुं० [सं० विदाहिन्] वह पदार्थ जिससे जलन पैदा हो । दाह उत्पन्न करनेवाला । उ०—विदाही, अर्थात् जो चीज़ खाने से छाती में जलन होती है; और जितने प्रकार के रुखे अन्न हैं, जैसे बाजरा आदि इनको न खाय ।

विदित-संज्ञा पुं० [सं०] जाना हुआ । अवगत । ज्ञात ।

संज्ञा पुं० कवि ।

विदिथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पंडित । विद्वान् । (२) योगी ।

विदिशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वर्त्तमान मेलसा नामक नगर का प्राचीन नाम । (२) पुराणानुसार पारिपात्र पर्वत से निकली हुई एक नदी का नाम । (३) दे० "विदिश" ।

विदिश-संज्ञा स्त्री० [सं०] दो दिशाओं के बीच का कोना । जैसे,—अग्नि या ईशान आदि ।

विदीपक-संज्ञा पुं० [सं०] दीपक । दीभा ।

विदीर्ण-वि० [सं०] (१) बीच से फाड़ा या विदारण किया हुआ । (२) टूटा हुआ । (३) मार डाला हुआ । निहत ।

विदु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथी के मस्तक के बीच का भाग । (२) घोड़े के कान के नीचे का भाग ।

विदुत्तम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो सब बातें जानता हो । (२) विष्णु का एक नाम ।

विदुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो जानता हो । जानकार । वेत्ता । ज्ञाता । (२) पंडित । ज्ञानी । (३) कौरवों के सुप्रसिद्ध मंत्री जो राजनीति, धर्मनीति और अर्थनीति में बहुत निपुण थे और जो धर्म के अवतार माने जाते हैं । महाभारत में कथा है कि जब सत्यवती ने अपनी पुत्रवधू अंबिका को दूसरी बार कृष्णद्वैपायन के साथ नियोग करने की आज्ञा दी, तब उसने कृष्णद्वैपायन की आज्ञा से भयभीत होकर एक सुन्दरी दासी को अपने कपड़े आदि पहनाकर उनके पास भेज दिया, जिससे विदुर का जन्म हुआ । ये बहुत बड़े पंडित, बुद्धिमान्, शांत और दूरदर्शी थे; और पांडवों के बहुत बड़े पक्षपाती थे । पहले ये राजा पांडु के मंत्री थे; और इसी लिये पीछे से अनेक अवसरों पर इन्होंने पांडवों की भारी भारी विपत्तियों से रक्षा की थी । जतुगृह के जलने के समय भी इन्हीं के परामर्श से पांडवों की जान बची थी । ये शतराष्ट्र के छोटे भाई और मंत्री भी थे । जिस समय दुर्योधन के बहुत कहने पर शतराष्ट्र ने इनसे जूए के संबंध में सम्मति माँगी थी, उस समय इन्होंने उन्हें बहुत रोका और समझाया था । पांडवों के वन जाने पर ये दुर्योधन के पास रहते थे । महाभारत का युद्ध आरंभ होने से पहले इन्होंने शतराष्ट्र को रात भर अनेक प्रकार के अच्छे अच्छे उपदेश देकर युद्ध रुकवाना चाहा था; पर इसमें भी इन्हें सफलता नहीं हुई । युद्ध में इन्होंने पांडवों का पक्ष ग्रहण किया था । महाभारत के युद्ध के उपरान्त जब पांडवों का राज्य हुआ, तब भी ये बहुत दिनों तक मंत्री के पद पर थे; पर पीछे से वन में चले गए । वहाँ राजा युधिष्ठिर से एक बार इनकी भेंट हुई थी । वहाँ बहुत दिनों तक घोर तपस्या करने के उपरांत इनका परलोक वास हुआ था । नीति की प्रसिद्ध पुस्तक "विदुरनीति" इन्हीं की रचित मानी जाती है ।

विदुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बेंत । (२) जल बेंत । (३) बोल या गंधरस नामक गंधद्रव्य । (४) अमलबेत ।

विदुला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का थूहर जिसे सातला कहते हैं । (२) विट खदिर ।

विदूष-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० विदुषी] विद्वान् । पंडित । उ०—
(क) निज निज वेद की सप्रेम जोग छेम मई मुदित असीस
विप्र विदुष निदई है ।—तुलसी । (ख) विदुष जनन
विराट प्रभु दीखे अति मन में सुख पायो ।—सूर ।

विदुषी-संज्ञा स्त्री० [सं०] विद्या पदी हुई स्त्री । विद्वान् स्त्री ।
उ०—(क) जैसे लड़के ब्रह्मचर्य सेवन से पूर्ण विद्या और
सुशिक्षा को प्राप्त होके युवति, विदुषी, अपने अनुकूल प्रिय
सहस स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं ।—दयानंद । (ख)
जहाँ पूर्ण विद्वान् और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्या-
दान करनेवाली हों, वहाँ भेज दें ।—दयानंद ।

विदूर-वि० [सं०] जो बहुत दूर हो ।

संज्ञा पुं० (१) बहुत दूर का प्रदेश । (२) एक देश का नाम ।
(३) एक पर्वत का नाम । कहते हैं कि वैदूर्य मणि इसी
पर्वत में मिलती है । (४) दे० “वैदूर्य” । (मणि)

विदूरज-संज्ञा पुं० [सं०] विदूर पर्वत से उत्पन्न, वैदूर्य मणि ।

विदूरत्व-संज्ञा पुं० [सं०] विदूर होने का भाव । बहुत अधिक
दूर होना ।

विदूरथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुरुक्षेत्र का एक नाम । (२)
पुराणानुसार एक राजा का नाम ।

विदूरभूमि-संज्ञा स्त्री० [सं०] विदूर नामक देश । कहते हैं कि
वैदूर्य मणि इसी देश में होती है ।

विदूरविगत-संज्ञा पुं० [सं०] अन्यज ।

विदूषक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो बहुत अधिक विषयी
हो । कामुक । (२) वह जो तरह तरह की नकलें आदि
करके, वेष भूषा बनाकर अथवा बातचीत करके दूसरों को
हँसाता हो । मसखरा ।

विशेष—प्राचीन काल में राजाओं और बड़े आदमियों के
मनोविनोद के लिये उनके दरबार में इस प्रकार के मसखरे
रहा करते थे, जो अनेक प्रकार के कौतुक करके, वेवकूफ बनकर
अथवा बातें बनाकर लोगों को हँसाया करते थे । प्राचीन
नाटकों आदि में भी इन्हें यथेष्ट स्थान मिला है; क्योंकि
इनसे सामाजिकों का मनोरंजन होता है । साहित्यदर्पण
के अनुसार विदूषक प्रायः अपने कौशल से दो आदमियों
में झगड़ा भी कराता है; और अपना पेट भरना या स्वार्थ
सिद्ध करना खूब जानता है । यह शृंगार रस में सहायक
होता है और मानिनी नायिका को मनाने में बहुत कुशल
होता है ।

(३) चार प्रकार के नायकों में से एक प्रकार का नायक जो
अपने कौतुक और परिहास आदि के कारण काम केलि में
सहायक होता है । (४) वह जो दूसरों की निंदा करता
हो । खल । (५) भौंड । उ०—नाचहिं कहुँ विदूष करि
जाला । कृजहिं काँव बजावहिं ताला ।—सबल ।

४१६

विदूषण-संज्ञा पुं० [सं०] किसी पर विशेष रूप से दोष लगाने
की क्रिया । ऐव लगाना ।

विदूषना-क्रि० सं० [सं० विदूषण] (१) सताना । दुःख देना ।
उ०—सुनु सठ काल प्रसित यह देही । जनि तेहि लागि
विदूषहिं केही ।—तुलसी । (२) दोष लगाना । दोषी
ठहराना ।

क्रि० अ० दुःखी होना । पीड़ा का अनुभव करना । उ०—
तापन सौं तपती विर में विन काल वृथा मन माहिं
विदूषतीं ।—मन्नालाल ।

विद्वश-वि० [सं०] जिसे दिखाई न पड़े । अन्धा ।

विदेघ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन ऋषि का नाम । (२)
दे० “विदेह” ।

विदेव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राक्षस । (२) यक्ष ।

विदेश-संज्ञा पुं० [सं०] अपने देश को छोड़कर दूसरा देश ।
परदेश ।

विदेह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो शरीर से रहित हो । (२)
वह जिसकी उत्पत्ति माता पिता से न हो । जैसे,—देवता
आदि । (३) राजा जनक का एक नाम । वि० दे० “जनक” ।
(४) राजा निमि का एक नाम । वि० दे० “निमि” ।
(५) प्राचीन मिथिला का एक नाम । (६) इस देश के
निवासी ।

विदेहक-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम ।

विदेहकूट-संज्ञा पुं० [सं०] जैन पुराणानुसार एक पर्वत का
नाम ।

विदेहकैवल्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह निर्वाण या मोक्ष जो
जीवन्मुक्त को मरने पर प्राप्त होता है ।

विदेहत्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विदेह होने का भाव । (२)
शरीर का नाश । मृत्यु । मौत ।

विदेहपुर-संज्ञा पुं० [सं०] राजा जनक की राजधानी, जनकपुर ।
उ०—विदित विदेहपुरनाथ भृगुनाथ गति समय सयानी
कीन्ही जैसी आइ गौं परी ।—तुलसी ।

विदेहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मिथिला नगरी और प्रदेश का एक
नाम ।

विदोष-वि० [सं०] जिसमें किसी प्रकार का दोष न हो । दोष-
रहित । बे ऐव ।

विद्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो जानता हो । जानकार । (२)
पंडित । विद्वान् । (३) बुध ग्रह । (४) तिल का पौधा ।

विज-वि० [सं०] (१) बीच में से छेद किया हुआ । (२) फँका
हुआ । (३) जिसमें बाधा पड़ी हो । (४) समान । तुल्य ।
बराबर । (५) जिसको चोट लगी हो । (६) देवा । (७)
मिला हुआ । आबद्ध ।

विद्वक-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का यंत्र जिससे मिट्टी खोदी जाती थी।

विद्धा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का छुद रोग जिससे शरीर में बहुत छोटी छोटी फुंसियाँ निकलती हैं।

विद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] आवात करना। मारना।

विद्यमान-वि० [सं०] वर्तमान। उपस्थित। मौजूद।

विद्यमानता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विद्यमान होने का भाव। उपस्थिति। मौजूदगी।

विद्यमानत्व-संज्ञा पुं० [सं०] विद्यमान होने का भाव। उपस्थिति। मौजूदगी।

विद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह ज्ञान जो शिक्षा आदि के द्वारा उपार्जित या प्राप्त किया जाता है। वह जानकारी जो सीखकर हासिल की जाती है। किसी विषय का विशिष्ट ज्ञान। इत्थम्। जैसे,—(क) विद्या पढ़कर मनुष्य पंडित होता है। (ख) आजकल पाठशालाओं में अनेक प्रकार की विद्याएँ पढ़ाई जाती हैं।

विशेष—हमारे यहाँ विद्या दो प्रकार की मानी गई है—परा और अपरा। जिस विद्या के द्वारा ब्रह्मज्ञान होता है, वह परा विद्या और इसके अतिरिक्त जो अन्य लौकिक या पदार्थ विद्याएँ हैं, वे सब अपरा विद्या कहलाती हैं।

(२) वह ज्ञान जिसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति या परमपुरुषार्थ की सिद्धि होती है। (३) वे शास्त्र आदि जिनके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है। हमारे यहाँ इनकी संख्या १८ बतलाई गई है। यथा—चारों वेद, छठो अंग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र। (४) दुर्गा। (५) देवी का मंत्र। (६) गनियारी। (७) सीता की एक सखी का नाम। (८) आर्या छंद का पाँचवाँ भेद जिसमें चन्द्रशेखर के मत से २३ गुरु और ११ लघु मात्राएँ होती हैं।

विद्यागुरु-संज्ञा पुं० [सं०] वह गुरु जिससे विद्या पढ़ी हो। पढ़ानेवाला गुरु। शिक्षक।

विद्यागृह-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ विद्या पढ़ाई जाती हो। विद्यालय। पाठशाला।

विद्यातीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन तीर्थ का नाम।

विद्यात्व-संज्ञा पुं० [सं०] विद्या का भाव।

विद्यादल-संज्ञा पुं० [सं०] भोजपत्र का पेड़।

विद्यादाता-संज्ञा पुं० [सं० विद्यादातृ] विद्या पढ़ानेवाला गुरु, जो शास्त्रों के अनुसार पिता माना जाता है।

विद्यादान-संज्ञा पुं० [सं०] विद्या पढ़ाना। शिक्षा देना।

विद्यादेवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सरस्वती। (२) जैनियों की सोलह जिन देवियों में से एक देवी का नाम।

विद्याधन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विद्या रूपी धन। (२) वह धन जो अपनी विद्या द्वारा उपार्जित किया जाय। ऐसे धन में किसी का हिस्सा नहीं लग सकता।

विद्याधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार की देवयोनि जिसके अंतर्गत खेचर, गंधर्व, किन्नर आदि माने जाते हैं। (२) सोलह प्रकार के रतिबंधों में से एक प्रकार का रतिबंध। (३) वैद्यक में एक प्रकार का यंत्र जिसमें एक थाली में पारा रखकर उस पर दूसरी थाली रखकर मिट्टी से बीच का जोड़ बंद कर देते हैं; और ऊपर की थाली में पानी भरकर दोनों मिली हुई थालियों पाँच पहर तक आग पर रखते हैं। इसके उपरान्त ठंडे होने पर पारा निकाल लेते हैं।

विद्याधर रस-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का रस जो पारे, गंधक, ताम्र, लौह, पीपल, मिर्च, धतूरे आदि की सहायता से बनाया जाता है और ज्वर में बहुत उपयोगी माना जाता है।

विद्याधरो-संज्ञा स्त्री० [सं०] विद्याधर नामक देवता की स्त्री।

उ०—विद्याधरी किन्नरी नामा स्यात् वानरी अपारा।—रघुराज।

विद्याधरेंद्र-संज्ञा पुं० [सं०] जाम्बुवान् का एक नाम।

विद्याधरेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक शिवलिंग का नाम।

विद्याधार-संज्ञा पुं० [सं०] पंडित। विद्वान्।

विद्याधारी-संज्ञा पुं० [सं० विद्याधारिन्] एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में चार मराण होते हैं। उ०—मैं चारों बंधू गाऊँ भक्ती को पाऊँ। रे लाभ सारे यामें अन्ते न ना जाऊँ। जानै भेदा याको सत्संगा को धारी। वोही साँचो भक्ता साँचो विद्याधारी।—जगन्नाथ।

विद्याधिदेवता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विद्या की अधिष्ठात्री देवी, सरस्वती।

विद्याधिप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विद्या पढ़ानेवाला। गुरु। शिक्षक। (२) विद्वान्। पंडित।

विद्याधिराज-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बहुत बड़ा पंडित हो।

विद्याध्र-संज्ञा पुं० [सं०] विद्याधर नाम की देव-योनि।

विद्यामणि-संज्ञा पुं० दे० “विद्याधन”।

विद्यामय-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो पूर्ण पंडित हो।

विद्यारंभ-संज्ञा पुं० [सं०] वह संस्कार जिसमें विद्या की पढ़ाई आरंभ होती है।

विद्याराज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु की एक मूर्ति का नाम।

विद्याराशि-संज्ञा पुं० [सं०] शिव का एक नाम।

विद्यार्थी-संज्ञा पुं० [सं० विद्याधिन्] वह जो विद्या पढ़ता हो। पढ़नेवाला छात्र। शिष्य।

विद्यालय-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ विद्या पढ़ाई जाती हो। पाठशाला।

विद्याविद्-संज्ञा पुं० [सं०] विद्वान् । पंडित ।
 विद्याव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] वह व्रत जो गुरु के घर रहकर विद्या पढ़ने के उद्देश्य से धारण किया जाता है ।
 विद्याव्रतस्नातक-संज्ञा पुं० [सं०] मनु के अनुसार वह स्नातक जो गुरु के पास रहकर वेद और विद्या व्रत दोनों समाप्त करके अपने घर लौटे ।
 विद्यास्नातक-संज्ञा पुं० [सं०] मनु के अनुसार वह स्नातक जो गुरु के घर रहकर वेदाध्ययन समाप्त करके घर लौटा हो ।
 विद्युज्जिह्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रामायण के अनुसार रावण के पक्ष के एक राक्षस का नाम जो शूर्पणखा का पति था । (२) एक यक्ष का नाम ।
 विद्युज्जिह्वा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्तिकेय की एक मातृका का नाम ।
 विद्युज्ज्वाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] कलिकारी या कलियारी नामक वृक्ष ।
 विद्युता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विद्युत् । बिजली । (२) महाभारत के अनुसार एक अप्सरा का नाम ।
 विद्युताक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] कार्तिकेय के एक अनुचर का नाम ।
 विद्युत्-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) संध्या । (२) बिजली । (३) बृहत्संहिता के अनुसार एक प्रकार की उल्का । (४) एक प्रकार की वीणा ।
 संज्ञा पुं० एक प्राचीन ऋषि का नाम ।
 वि० (१) जिसमें बहुत अधिक दीप्ति हो । बहुत चमकीला । (२) जिसमें किसी प्रकार की दीप्ति या प्रभा न होना ।
 विद्युत्केश-संज्ञा पुं० [सं०] रामायण के अनुसार हेति नामक राक्षस का पुत्र जो काल की कन्या भया के गर्भ से उत्पन्न हुआ था । इसी विद्युत्केश और पौलोमी से राक्षसों के वंश की वृद्धि हुई थी ।
 विद्युत्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विद्युत् का भाव या धर्म । बिजली-पन ।
 विद्युत्पताक-संज्ञा पुं० [सं०] प्रलय के समय के सात मेघों में से एक मेघ का नाम ।
 विद्युत्पर्णा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अप्सरा का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है ।
 विद्युत्पात-संज्ञा पुं० [सं०] बिजली का गिरना । वज्रपात ।
 विद्युत्प्रभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महाभारत के अनुसार एक ऋषि का नाम । (२) एक दैत्य का नाम ।
 विद्युत्प्रभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दैत्यों के राजा बालि की पोती का नाम । (२) अप्सराओं का एक गण ।
 विद्युत्प्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] कौसा नामक धातु या उसका कोई वस्तु, जिसकी ओर बिजली जबदी खिंचती है ।
 विद्युत्थ-वि० [सं०] विद्युत् या बिजली से उत्पन्न ।

विद्युत्त्वत्-संज्ञा पुं० [सं०] मेघ । बादल ।
 विद्युदाक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक दैत्य का नाम ।
 विद्युद्गौरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] शक्ति की एक मूर्ति का नाम ।
 विद्युद्भ्रज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक असुर का नाम । (२) दे० "विद्युत्पताक" ।
 विद्युत्मापक-संज्ञा पुं० [सं० विद्युत् + मापक] एक विशेष प्रकार का यंत्र जिससे यह जाना जाता है कि विद्युत् का बल कितना और प्रवाह किस ओर है ।
 विद्युत्माल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रामायण के अनुसार एक बंदर का नाम । (२) दे० "विद्युत्माला" ।
 विद्युत्माला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बिजली का समूह या सिलसिला । (२) एक यक्षिणी का नाम । (३) एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में आठ आठ गुरु वर्ण अथवा दो मगण और दो गुरु वर्ण होते हैं और चार वर्णों पर यति होती है । उ०—मैं माँगीं गोपी सों दाना । भागी बोली नाहीं काना । कारी सारी ताही माला । भासी मोही विद्युत्माला ।—जगन्नाथ ।
 विद्युत्माली-संज्ञा पुं० [सं० विद्युत्मालिन्] (१) पुराणानुसार एक राक्षस का नाम जिसने शिव की भक्ति करके सोने का एक विमान प्राप्त किया था और जो उसी विमान पर चढ़कर सूर्य के पीछे पीछे घूमा करता था । इससे रात के समय भी उस विमान में अन्धकार नहीं होने पाता था । इससे घबराकर सूर्य ने अपने तेज से वह विमान गलाकर जमीन पर गिरा दिया था । रामायण में कहा है कि धर्म के पुत्र सुषेण के साथ इसका युद्ध हुआ था । उ०—विद्युत्माली रजनिचर, हन्यो सुषेणहि बान । मारि सुषेणहुँ शृंग इक, तोण्यो ताकर यान ।—रघुराज । (२) महाभारत के अनुसार एक असुर का नाम । (३) एक छंद का नाम जिसके प्रत्येक चरण में एक भगण, एक मगण और अंत में दो गुरु होते हैं ।
 विद्युत्मुख-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के उपग्रह ।
 विद्युत्क्षता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विद्युत् । बिजली ।
 विद्युत्क्षेखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में दो मगण होते हैं । इसे शेषराज भी कहते हैं । उ०—मैं माटी ना खाई । झूठे भाला माई । मू बायो मा देखा । जोती विद्युत्क्षेखा ।—जगन्नाथ । (२) विद्युत् । बिजली ।
 विद्येश-संज्ञा पुं० [सं०] शिव का एक नाम ।
 विद्योत्-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विद्युत् । बिजली । (२) प्रभा । दीप्ति । चमक । (३) एक अप्सरा का नाम ।
 विद्र-संज्ञा पुं० [सं०] छिद्र । छेद ।
 विद्रध-वि० [सं०] (१) मोटा ताड़ा । (२) दृढ़ । मजबूत । पक्का । (३) जो किसी काम के लिये अच्छी तरह तैयार हो ।

विद्रधि

संज्ञा पुं० दे० “विद्रधि” ।

विद्रधि-संज्ञा पुं० स्त्री० [सं०] पेट के अंदर का एक प्रकार का फोड़ा जो बहुत घातक होता है ।

विद्रधिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुभुत के अनुसार एक प्रकार का छोटा फोड़ा जो प्रमेह रोग के बहुत दिनों तक रहने के कारण होता है ।

विद्रधिघ्न-संज्ञा पुं० [सं०] शोभाजन । सहिजन ।

विद्रव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भागना । (२) बुद्धि । अरु । (३) नाश । (४) भय । डर । (५) युद्ध । लड़ाई । (६) बहना । (७) पिघलना । (८) निंदा । शिकायत ।

विद्राघ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहना । क्षरण । (२) पिघलना । (३) गलना ।

विद्रावण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भागना । (२) पिघलना । (३) गलना । (४) उड़ना । (५) फाड़ना । (६) वह जो नष्ट करता हो । (७) एक दानव का नाम ।

विद्राविणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कौवा ठोड़ी ।

विद्रावी-संज्ञा पुं० [सं० विद्राविन्] (१) भागनेवाला । (२) गलनेवाला । (३) फाड़नेवाला ।

विद्रुत-वि० [सं०] (१) भागा हुआ । (२) गला हुआ । (३) पिघला हुआ ।

विद्रुति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भागना । (२) गलना । (३) पिघलना । (४) नष्ट होना ।

विद्रुधि-संज्ञा पुं० दे० “विद्रधि” ।

विद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रवाल । मूँगा । (२) मुकाफल नामक वृक्ष । (३) वृक्ष का नया पत्ता । कोंपल ।

विद्रुमफल-संज्ञा पुं० [सं०] कुंदुरु नामक सुगंधित गोंद ।

विद्रुमलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नलिका या नली नामक गंध द्रव्य । (२) मूँगा ।

विद्रोह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी के प्रति होनेवाला वह द्वेष या आचरण जिससे उसको हानि पहुँचे । (२) राज्य में होनेवाला भारी उपद्रव जो राज्य को हानि पहुँचाने या नष्ट करने के उद्देश्य से हो । बलावत । बगावत ।

विद्रोही-संज्ञा पुं० [सं० विद्रोहिन] (१) वह जो किसी के प्रति विद्रोह या द्वेष करता हो । (२) राज्य का अनिष्ट करनेवाला । बागी ।

विद्रु-संज्ञा पुं० [सं०] शिव का एक नाम ।

विद्रुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] बहुत अधिक विद्वान् होने का भाव । पांडित्य ।

विद्रुत्व-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत अधिक विद्वान् होने का भाव । विद्रुता । पांडित्य ।

विद्वान्-संज्ञा पुं० [सं० विद्वत्] (१) वह जो आत्मा का स्वरूप

जानता हो । (२) वह जिसने बहुत अधिक विद्या पढ़ी हो ।

पंडित । (३) वह जो सब कुछ जानता हो । सर्वज्ञ ।

विद्रिष-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो विद्वेष या शत्रुता करता हो । शत्रु । दुश्मन ।

विद्रिष्ट-वि० [सं०] जिसके साथ विद्वेष या शत्रुता की जाय । द्वेष का पात्र या भाजन ।

विद्रिष्टता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विद्रिष्ट होने का भाव ।

विद्रिष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] विद्वेष । शत्रुता । दुश्मनी ।

विद्वेष-संज्ञा पुं० [सं०] शत्रुता । दुश्मनी । वैर । द्वेष ।

विद्वेषक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो विद्वेष करता हो । शत्रु । दुश्मन । वैरी ।

विद्वेषण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शत्रुता । दुश्मनी । वैर । (२) तंत्र के अनुसार एक प्रकार की क्रिया जिसके द्वारा दो व्यक्तियों में द्वेष या शत्रुता उत्पन्न की जाती है । (३) वह जो द्वेष करता हो । शत्रु । वैरी । (४) सज्जनता का उल्टा । दुष्टता ।

विद्वेषिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार दुःसह नामक यक्ष की आठवीं और अंतिम कन्या जो निर्माष्टि के गर्भ से उत्पन्न हुई थी । कहते हैं कि यही लोगों में द्वेष उत्पन्न करती है । इसे शांत करने के लिये दूध, शहद और घी में मिले हुए तिलों से होम आदि करने का विधान है ।

विद्वेषी-संज्ञा पुं० [सं० विद्वेषिन्] वह जो विद्वेष करता हो । द्वेषी । शत्रु । वैरी ।

विद्वेषा-संज्ञा पुं० [सं० विद्वेष] वह जो विद्वेष करता हो । शत्रु । वैरी ।

विद्वेष्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जिसके साथ विद्वेष किया जाय । द्वेष का पात्र या भाजन । (२) कंकाल ।

विधंस-संज्ञा पुं० [सं० विध्वंस] विध्वंस । नाश । उ०—माया कंस विधंससुरारी । दारिद बारिद प्रबलबयारी ।—रघुराज । वि० विध्वस्त । नष्ट । विनष्ट ।

विधंसना-संज्ञा पुं० [सं० विध्वंसन्] नष्ट करना । बरबाद करना । उ० चाँद सुरज सौं होइ विवाहू । बारि विधंसव, बेधब राहू ।—जायसी ।

विध-संज्ञा पुं० [सं० विधि] विधि । ब्रह्मा । उ०—नैन की कोर ते नेह कियो विध डील की छाँह ते शील सँवारो ।—हृदय । संज्ञा स्त्री० दे० “विध” ।

विधत्री-संज्ञा स्त्री० [सं० विधात्री] ब्रह्मा की शक्ति, महासरस्वती ।

विधन-वि० [सं०] जिसके पास धन न हो । निर्धन । गरीब ।

विधनता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विधन होने का भाव । निर्धनता । गरीबी ।

विधना-क्रि० स० [सं० विधि] प्राप्त करना । अपने साथ लगाना । ऊपर लेना । उ०—(क) लप फँदाइ बिहंग मानो मदन

व्याधि विधयः।—सूर। (ख) थाके सूर पथिक मग मानो
मदन व्याधि विधये री।—सूर।

संज्ञा स्त्री० [सं० विधि] वह जो कुछ होने को हो भवितव्यता।
होनी।

संज्ञा पुं० विधि। ब्रह्मा। उ०—विधना ऐसी रैन कर भोर
कभी ना होय।

विधमन-संज्ञा पुं० [सं०] धौकनी या नल आदि के द्वारा हवा
पहुँचाकर आग सुलगाना। धौकना।

विधरत्न-क्रि० वि० दे० “उधर”। उ०—जैसे रथ के घोड़े बाग
के आश्रय जिधर ले जाते हैं, विधर जाता है।—यमुनाशंकर।

विधरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पकड़ना। रोकना। (२) दे०
“विधृत”।

विधर्म-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपने धर्म को छोड़कर और
किसी का धर्म। पराया धर्म। (२) अपने धर्म को छोड़
कर दूसरे का धर्म ग्रहण करना, जो पाँच प्रकार के अधर्मों
में से एक कहा गया है।

वि० (१) जिसकी धर्मशास्त्र में निंदा की गई हो। (२)
जिसमें गुण न हो। गुणहीन।

विधर्मिक-वि० [सं०] (१) जो धर्मविरुद्ध आचरण करता
हो। (२) जो दूसरे धर्म का अनुयायी हो।

विधर्मी-संज्ञा पुं० [सं० विधर्मिन्] (१) वह जो अपने धर्म के
विपरीत आचरण करता हो। धर्मभ्रष्ट। (२) वह जो
किसी दूसरे धर्म का अनुयायी हो।

विधवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जिसका पति मर गया हो।
पतिहीन स्त्री। रौंड़। बेवा। उ०—(१) सुत बधू विधवा
साँ बोलि कै सुनायो लेहु धनपति गेह श्री गुपाल भरतार
है।—नाभा। (२) ब्राह्मण विधवा नारि सुर गुरु अंश
चुरावहीं। कहैं न बचन विचारि, परै सोई निरन्धास भैंह।
—विश्राम।

विशेष—स्मृतियों में विधवा स्त्रियों के लिये ब्रह्मचर्य तथा
कठिन नियमों का पालन विधेय है। जैसे,—तांबूल
और मद्यमांस आदि का त्याग। द्विजातियों में विधवा
के लिये पुनर्विवाह का नियम नहीं है। केवल पराशर-
संहिता में यह कहा गया है कि स्वामी के लापता होने,
मरने, अथवा संन्यासी, कृषि या पतित होने पर स्त्री
दूसरा पति कर सकती है। पर और स्मृतियों के साथ
अविरोध सिद्ध करने के लिये पंडित लोग “अन्य पति”
शब्द का अर्थ “दूसरा पालनकर्ता” किया करते हैं।

विधवापन-संज्ञा पुं० [सं० विधवा + हि० पन (प्रत्यय)] विधवा
होने की अवस्था। वह अवस्था जिसमें पति के मरने के
कारण स्त्री पतिहीन हो जाती है। रूढ़ापा। वैधव्य। उ०—

लिख्यो न विधि मिलिबे तिहि मोंही। प्राण जई विधवापन
तोही।—रघुराज।

विधवाश्रम-संज्ञा पुं० [सं० विधवा + आश्रम] विधवाओं के रहने
का स्थान। वह स्थान जहाँ विधवाओं के पालन पोषण तथा
शिक्षा आदि का प्रबंध किया जाता है। उ०—इन बालि-
काओं के लिये अध्यापक कर्त्ते ने पूता में “अनाथ विधवाश्रम”
खोला है।—सरस्वती।

विधवस-संज्ञा पुं० [सं०] मोम।

विधौसना-क्रि० स० [सं० विध्वंसन्] (१) नष्ट करना। बरबाद
करना। उ०—(क) औ जोबन मैमंत विधौसा। बिचला
बिरह बिरह लै नासा।—जायसी। (ख) भएउ जूझ जस
रावन रामा। सेज विधौस, बिरह संग्रामा।—जायसी।
(२) अस्त व्यस्त करना। ध्वस्त ध्वस्त करना। गड़बड़
कर देना।

विधातव्य-वि० [सं०] (१) विधान के योग्य। विधेय। (२)
करने योग्य। कर्त्तव्य।

विधाता-संज्ञा पुं० [सं० विधातृ] [स्त्री० विधात्री] (१) विधान
करनेवाला। रचनेवाला। बनानेवाला। (२) उत्पन्न करने-
वाला। तैयार करनेवाला। उ०—विद्या-वारिधि बुद्धि-
विधाता।—तुलसी। (३) व्यवस्था करनेवाला। प्रबंध
करनेवाला। इंतजाम करनेवाला। ठीक तरह से लगानेवाला।
उ०—ए गोसाईं! तू ऐस विधाता। जावत जीव सबन्ह
भुकदाता।—जायसी। (४) सृष्टि बनानेवाला। जगत् की
रचना करनेवाला। सृष्टिकर्त्ता। ब्रह्मा या ईश्वर। उ०—कुछ
संदेह नहीं कि विधाता ने मुझे अत्यंत सुकुमारी बनाया है।
—तोताराम।

विधातृका-संज्ञा स्त्री० [सं०] विधान करनेवाली। विधायिका।
विधात्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विधान करनेवाली। रचनेवाली।
बनानेवाली। (२) व्यवस्था करनेवाली। प्रबंध करनेवाली।
(३) पिप्पली। पीपल।

विधान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी कार्य का आयोजन।
काम का होना या चलना। विन्यास। संपादन-क्रम।
अनुष्ठान। जैसे,—जो कुछ करना है, उसी का विधान अब
होना चाहिए।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) व्यवस्था। प्रबंध। इंतजाम। बंदोबस्त। जैसे,—पहले
ही से ऐसा विधान करो कि कार्य आरंभ करने में देर न
हो। (३) कार्य करने की रीति। विधि। प्रणाली। पद्धति।
जैसे,—शास्त्रों में ऐसा विधान है। उ०—तुम विज्ञ विविध
विधान।—केशव। (४) रचना। निर्माण। (५) ढंग।
तरकीब। उपाय। युक्ति। जैसे,—कोई ऐसा विधान
निकाळो कि कार्य निर्विघ्न हो जाय। (६) उतना चारा

जितना हाथी एक बार मुँह में डालता है। हाथी का प्राप्त।
(७) हानि पहुँचाने का दाँवपेच। शत्रुता का आचरण। (८) प्रेरण। भेजना। (९) अनुमति देने का कार्य। आज्ञा करना।
(१०) धन संपत्ति। (११) पूजा। अर्चन। (१२) नाटक में वह स्थल जहाँ किसी वाक्य द्वारा एक साथ सुख और दुःख प्रकट किया जाता है। जैसे,—“वाल्मीकाल ही में तुम्हारा ऐसा उत्साह देख मुझे हर्ष और विषाद दोनों होते हैं।”

विधानक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विधान। विधि। (२) विधान-वेत्ता। विधि या रीति जाननेवाला।

विधानसप्तमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] माघ शुक्ला सप्तमी।

विधानसप्तमी व्रत-संज्ञा स्त्री० [सं०] सूर्य का एक व्रत जो माघ शुक्ला सप्तमी को आरंभ करके साल भर तक (पौष तक) किया जाता है। इसमें सूर्य का पूजन होता है।

विधानिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] वृहती।

विधानी-संज्ञा पुं० [सं० विधान + ई (प्रत्य०)] (१) विधान का जाननेवाला। (२) विधिपूर्वक कार्य करनेवाला।

विधायक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० विधायिका] (१) विधान करनेवाला। कार्य करनेवाला। (२) बनानेवाला। रचनेवाला। उ०—हे विरंचि तैं विश्वविधायक।—रघुराज।
(३) व्यवस्था करनेवाला। प्रबंध करनेवाला। प्रस्तुत करनेवाला। उ०—मंगल मूर्ति सिद्धि विधायक।—शंकर-दिग्विजय।

विधारा-संज्ञा पुं० [सं० वृद्ध + दाह] एक प्रकार की लता जो दक्षिण भारत में बहुतायत से होती है। इसका शाद बहुत बड़ा और इसकी शाखाएँ बहुत घनी होती हैं। इसकी डालियों पर गुलाब के से काँटे होते हैं। पत्ते तीन अंगुल लंबे अण्डाकार और नोकदार होते हैं। डालियों के सिरे पर चमकदार पीले फूलों का गुच्छा होता है। वैद्यक में इसे गरम, मधुर, मेधाजनक, अग्नि-प्रदीपक, धातुवर्धक और पुष्टिदायक माना है। उपदंश, प्रमेह, क्षय, वातरक्त आदि में इसे ओषधि की भाँति व्यवहार में लाते हैं।

पर्या०—जीर्णदारु। वृद्धदारु। वृद्धदारुक। गर्भवृद्धि।

विधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कोई कार्य करने की रीति। कार्यक्रम। प्रणाली। ढंग। नियम। क़ायदा। जैसे,—पूजा की विधि, यज्ञ की विधि। (२) व्यवस्था। संगति। योजना। करीना। मेल या सिलसिला।

मुहा०—विधि बैठना = (१) परस्पर अनुकूलता होना। मेल बैठना। मेल खाना। व्यवहार निभना। जैसे,—हमारी उनकी विधि नहीं बैठेगी। (२) सब बातों का ठीक होना। इच्छानुकूल व्यवस्था होना। जैसे,—फिर क्या है, तुम्हारी विधि बैठ गई।

(३) किसी शास्त्र या ग्रंथ में लिखी हुई व्यवस्था। शास्त्रोक्त विधान।

मुहा०—कुंडली की विधि मिलना = कुंडली में लिखी बात का पूरा होना। फलित ज्योतिष द्वारा बताई हुई बात का ठीक घटना।

(४) किसी शास्त्र या धर्म-ग्रंथ में किया हुआ कर्त्तव्य-निर्देश। कर्म के अनुष्ठान की आज्ञा या अनुमति। शास्त्र में इस प्रकार का कथन कि मनुष्य यह काम करे।

विशेष—किसी काम को करने की आज्ञा को “विधि” और न करने की आज्ञा को “निषेध” कहते हैं। पूर्वमीमांसा में नियोग का नाम विधि है। अर्थात् जो वाक्य किसी इष्ट फल की प्राप्त का उपाय बताकर उसे करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करे, वही विधि है। जैसे,—“स्वर्ग चाहनेवाला यज्ञ करे।” विधि दो प्रकार कही गई है—प्रधान-विधि और अंग-विधि। फल देनेवाली संपूर्ण क्रिया के आदेश करनेवाले वाक्य को “प्रधान विधि” कहते हैं। जैसे,—“जिसे पुत्र की कामना हो, वह पुत्रेष्टि यज्ञ करे”। प्रधान क्रिया के अंतर्गत होनेवाली छोटी छोटी क्रियाओं के निर्देश को ‘अंग-विधि’ कहते हैं। जैसे,—“चावल से यज्ञ करे” “दधि का हवन करे” इत्यादि।

यौ०—विधि निषेध। उ०—विधि-निषेध-मय कलिमल-हरनी।—तुलसी।

(५) व्याकरण में क्रिया का वह रूप जिसके द्वारा किसी को कोई काम करने का आदेश किया जाता है। जैसे,—यह काम करो या काम करना चाहिए। (६) साहित्य में एक अर्थालंकार जिसमें किसी सिद्ध विषय का फिर से विधान किया जाता है। जैसे,—वर्षा काल के ही मेघ मेघ है। (७) आचार-व्यवहार। चालढाल।

यौ०—गतिविधि = चेष्टा और कार्यवाई। जैसे,—उसकी गति विधि पर ध्यान रखना।

(८) भाँति। प्रकार। किस्म। तरह। उ०—एहि विधि राम सर्वादि समुदावा।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [सं०] सृष्टि का विधान करनेवाला। ब्रह्मा। उ०—विधि करतव सब उलटे अहर्ही।—तुलसी।

विधिज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विधि को जाननेवाला। शास्त्रोक्त विधान को जाननेवाला। (२) रीति जाननेवाला।

विधिदर्शी-संज्ञा पुं० [सं० विधिदर्शिन्] यज्ञ में यह देखने के लिये नियुक्त पुरुष कि होता, आचार्य आदि ठीक ठीक विधि के अनुकूल कर्म कर रहे हैं या नहीं।

विधिना ऽ-संज्ञा पुं० [सं० विधि + ना (प्रत्य०)] विधि। ब्रह्मा।

विधिपाट-संज्ञा पुं० [सं०] मृदंग के चार वर्णों में से एक वर्ण। चारो वर्ण ये हैं—पाट, विधिपाट, कूटपाट और खंडपाट।

विधिपुत्र-संज्ञा पुं० [सं० विधि + पुत्र] ब्रह्मा के पुत्र, नारद।

विधिपुर-संज्ञा पुं० [सं० विधि + पुर] ब्रह्मा का लोक, ब्रह्म-लोक।

उ०—स्वर्ग लोक महीं बचव न देखी। विधिपुर गयो त्राण निज लेखी।—रघुराज।

विधिबोधित-वि० [सं०] शास्त्र विधि द्वारा बताया हुआ। शास्त्रसम्मत।

विधियज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] वह यज्ञ जिसके करने की विधि हो। जैसे,—दर्शपौर्णमास।

विधिरानी-संज्ञा स्त्री० [सं० विधि + हि० रानी (हि०)] ब्रह्मा की पत्नी, सरस्वती। उ०—बंदौ दाणी वीण कर विधिरानी विख्यात।—रघुराज।

विधिलोक-संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मलोक। सत्यलोक।

विधिवत्-क्रि० वि० [सं०] (१) विधिपूर्वक। विधि से। पद्धति के अनुसार। कायद के मुताबिक। (२) जैसा चाहिए। उचित रूप से। यथा योग्य।

विधिवधू-संज्ञा स्त्री० [सं०] ब्रह्मा की पत्नी, सरस्वती।

विधिवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा की सवारी, हंस।

विधिसेध-संज्ञा पुं० [सं०] विधि और निषेध।

विधुंतुद-संज्ञा पुं० [सं० विधु + तुद] चंद्रमा को दुःख देनेवाला, राहु। उ०—ज्ञानराकेस-प्रासन विधुंतुद दलन काम-करि मत्त हरि दूषनारी।—तुलसी।

विधु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा। (२) वायु। (३) कपूर। (४) ब्रह्मा। (५) विष्णु। (६) एक राक्षस का नाम। (७) आयुध। (८) जल-स्नान। (९) पाप क्षालन। पाप छुड़ाना।

विधुकांत-संज्ञा पुं० [सं०] संगीत का एक ताल।

विधुदार-संज्ञा पुं० [सं० विधु + दार] चंद्रमा की स्त्री। रोहिणी। उ०—तारा किधौ विधुदार किधौ धृतधार सी पावक है परिंभौ।—मन्नालाल।

विधुपंजर-संज्ञा पुं० [सं०] खड्ग। खौड़ा।

विधुप्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चंद्रमा की स्त्री, रोहिणी। (२) कुमुदिनी।

विधुबंधु-संज्ञा पुं० [सं०] कुमुद का फूल। उ०—विधुबंधु मुख भा बड़ी वारिज नैन प्रभाति।—रामसहाय।

विधुवैनी-संज्ञा स्त्री० [सं० विधु + वदन, प्रा० वयन] चंद्र-मुखी। सुंदरी स्त्री। उ०—संग लिए विधुवैनी बधू रति हू जेहि रंचक रूप दियो है।—तुलसी।

विधुर-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० विधुरा] (१) दुःखी। (२) घबराया हुआ। डरा हुआ। (३) विकल। व्याकुल। जैसे,—विरह-विधुर। (४) असमर्थ। अशक्त। (५) परित्यक्त। (६) विमूढ़।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) कष्ट। दुःख। (२) वियोग। जुड़ाई। (३) अलग होने की क्रिया या भाव। (४) कैवल्य। मोक्ष। (५) शत्रु।

विधुरा-वि० स्त्री० [सं०] (१) कातर। व्याकुल। पीड़ित। (२) कानों के पीछे की एक स्नायु-ग्रंथि जिसके पीड़ित या खराब होने से प्राणी बहुरा हो जाता है।

विधुवदनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] चंद्रमा के समान मुखवाली स्त्री। सुंदरी स्त्री। उ०—विधुवदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना वरनारी।—तुलसी।

विधूत-वि० [सं०] (१) कंपित। काँपता हुआ। (२) हिलता हुआ। डोलता हुआ। (३) त्यागा हुआ। छोड़ा हुआ। त्यक्त। (४) दूर किया हुआ। हटाया हुआ। (५) निकाला हुआ। बाहर किया हुआ।

विधूनन-पुं० पुं० [सं०] कंपन। काँपना।

विधूम-वि० [सं०] धूम रहित। बिना धूँ का। उ०—जारि बारि कै विधूम वारिधि बुताई लूम।—तुलसी।

विधूम्र-वि० [सं०] धूमिल या मटमैले रंग का। धूसर वर्ण।

विधूवन-संज्ञा पुं० [सं०] कंपन। काँपना।

विधेय-वि० [सं०] (१) विधान के योग्य। जिसका विधान या अनुष्ठान उचित हो। जिसका करना उचित हो। कर्तव्य। (२) जिसका विधान हो या होनेवाला हो। जो किया जाय या किया जानेवाला हो। (३) जो नियम या विधि द्वारा जाना जाय। जिसके करने का नियम या विधि हो। (४) वचन या आज्ञा के वशीभूत। अधीन। (५) वह (शब्द या वाक्य) जिसके द्वारा किसी के संबंध में कुछ कहा जाय। जैसे,—“गोपाल सज्जन है” इस वाक्य में “सज्जन है” विधेय है; क्योंकि वह गोपाल के संबंध में कुछ विधान करता है, अर्थात् उसकी कोई विशेषता बताता है।

विशेष-न्याय और व्याकरण में वाक्य के दो मुख्य भाग माने जाते हैं—उद्देश्य और विधेय। जिसके संबंध में कुछ कहा जाता है (अर्थात् कर्त्ता), वह “उद्देश्य” कहलाता है; और जो कुछ कहा जाता है, वह “विधेय” कहलाता है।

विधेयता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विधान की योग्यता या औचित्य। (२) अधीनता।

विधेयत्व-संज्ञा पुं० [सं०] विधेयता।

विधेयाविमर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] साहित्य में एक वाक्य-दोष जो विधेय अंश को अप्रधान स्थान प्राप्त होने पर होता है। जो बात प्रधानतः कहनी है, उसका वाक्य-रचना के बीच दबा रहना।

विशेष-प्रत्येक वाक्य में विधेय की प्रधानता के साथ निर्देश होना चाहिए। ऐसा न होना दोष है। “विधेय” शब्द के समास के बीच पड़ जाने से या विशेषण रूप से आ जाने पर प्रायः यह दोष होता है। जैसे,—किसी वीर ने खिन्न होकर कहा—“मेरी इन व्यर्थ फूली हुई बाँहों से क्या”। इस वाक्य में कहनेवाले का अभिप्राय तो

यह है कि मेरी बाँहें व्यर्थ फूली हैं; पर “फूली हैं” के विशेषण रूप में आ जाने से विधेय की प्रधानता नहीं स्पष्ट होती। दूसरा उदाहरण—“मुझ रामानुज के सामने राक्षस क्या ठहरेंगे?” यहाँ कहना चाहिए था कि—“मैं राम का अनुज हूँ” तब राम के संबंध से लक्ष्मण की विशेषता प्रकट होती।

विध्य-वि० [सं०] (१) विधने योग्य। छिदने योग्य। (२) जिसे बेधना हो। जो छेदा जानेवाला हो।

विध्याभास-संज्ञा पुं० [सं०] एक अर्थात्कार जिसमें घोर अनिष्ट की संभावना दिखाते हुए अनिच्छापूर्वक किसी बात की अनुमति दी जाती है। जैसे,—विदेश जाते हुए नायक के प्रति नायिका का यह कथन “जाते हो तो जाओ! जहाँ जाते हो, मैं भी वहाँ जन्म लेकर पहुँचूँगी”।

विध्वंस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विनाश। नाश। बरबादी। (२) घृणा। (३) अनादर। (४) वैर। (५) वैमनस्य।

विध्वंसक-संज्ञा पुं० [सं०] नाश करनेवाला।

विध्वंसन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विध्वंसित, विध्वस्त] नाश करना। बरबाद करना।

विध्वंसित-वि० [सं०] नष्ट किया हुआ। बरबाद किया हुआ।

विध्वंसी-संज्ञा पुं० [सं० विध्वंसिन्] [स्त्री० विध्वंसिनी] नाशकारी। नाश करनेवाला। बरबाद करनेवाला।

विध्वस्त-वि० [सं०] नष्ट किया हुआ। बरबाद किया हुआ।

विनत-सर्व० [हि० वा = उत्त] प्रथम पुरुष बहुवचन सर्वनाम का वह रूप जो उसे कारक चिह्न लगाने के पहले प्राप्त होता है। जैसे,—विन ने, विनको इत्यादि।
ग्रन्थ० दे० “विना”।

विनत-वि० [सं०] (१) नीचे की ओर प्रवृत्त। झुका हुआ। (२) टेढ़ा पड़ा हुआ। वक्र। (३) संकुचित। सिकुड़ा हुआ। (४) विनीत। नम्र। (५) शिष्ट। शिक्षित।
संज्ञा पुं० (१) सुग्रीव की सेना का एक बंदर। (२) शिव। महादेव।

विनतक-संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्वत का नाम।

विनतडोङ्गा-संज्ञा स्त्री० दे० “विनति”। उ०—स्वामी तमों हों संग न मेल्हों विनतडोङ्गा कहैस।—दादू।

विनता-वि० स्त्री० [सं०] कुबड़ी या खंज। (स्त्री)

संज्ञा स्त्री० (१) दक्ष प्रजापति की एक कन्या जो कश्यप की स्त्री और गरुड की माता थी। (२) एक प्रकार का भयानक फोड़ा जो प्रमेह या बहुमूत्र के रोगियों को होता है।

विशेष—जिस स्थान पर यह फोड़ा होता है, वह स्थान मुरदा हो जाने के कारण नीला पड़ जाता है। सुश्रुत आदि प्राचीन ग्रंथों में प्रमेह के अंतर्गत इसकी चिकित्सा लिखी है। यह प्रायः घातक होता है। इसमें अंग बहुत तेज़ी के साथ सूड़ता चला

जाता है। यदि बढ़ने के पहले ही वह स्थान काटकर अलग कर दिया जाय, तो रोगी बच सकता है। (३) एक राक्षसी जो व्याधि लाती है। (महाभारत) (४) एक राक्षसी जिसे रावण ने सीता को समझाने के लिये नियुक्त किया था।

विनतासूनु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अरुण। (२) गरुड।

विनति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) झुकाव। (२) नम्रता। विनय। शिष्टता। सुशीलता। (३) अनुनय। प्रार्थना। विनती। (४) निवारण। शोक। (५) दमन। शासन। दंड। (६) विनियोग।

विनती-संज्ञा स्त्री० दे० “विनति”।

विनद-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पेड़। विन्याक वृक्ष।

विनमन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विनत] (१) नम्र करना। झुकाना। (२) लचाना।

विनम्र-वि० [सं०] (१) झुका हुआ। (२) विनीत। सुशील।
संज्ञा पुं० तगर का फूल।

विनय-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) व्यवहार में दीनता या अधीनता का भाव। नम्रता। प्रणति। आजिज़ी। (२) शिक्षा। (३) प्रार्थना। विनती। अनुनय। (४) शासन। तंत्रीह। (स्मृति) (५) नीति। उ०—नमत सबै करि विनय, विनय मत सबै बखानत।—गोपाल।
संज्ञा पुं० (१) वणिक्। बनिया। (२) बला। बरियारा। (३) जितेंद्रिय। संयमी।

विनयधर-संज्ञा पुं० [सं०] पुरोहित।

विनय-पिटक-संज्ञा पुं० [सं०] आदि बौद्ध शास्त्रों में से एक।

विशेष—आदि बौद्ध शास्त्र जो पाली भाषा में हैं, तीन भागों में विभक्त हैं—विनय-पिटक, सूत्र-पिटक और अभिधर्म-पिटक। ये तीनों “त्रिपिटक” नाम से प्रसिद्ध हैं। बुद्धदेव ने अपनी शिष्यमंडली को भिक्षुधर्म के जो उपदेश दिए थे, वही विनय-पिटक में संगृहीत हैं। इसके संकलन के संबंध में यह कथा है कि बुद्धभगवान् तथा सारिपुत्र, मौद्गलायन आदि प्रधान प्रधान शिष्यों के निर्वाण लाभ करने पर बौद्ध शास्त्र के लुप्त होने का भय हुआ। इससे महाकश्यप ने अजातशत्रु के राजत्व काल में राजगृह के पास वैभार पर्वत की सप्तपर्णी नाम की गुफा में पाँच सौ स्थविरों को आमंत्रित करके एक बड़ी सभा की, जिसमें उपालि ने बुद्ध द्वारा उपदिष्ट “विनय” का प्रकाश किया। इसके पीछे एक बार फिर गड़बड़ उपस्थित होने पर वैशाली के वलिकाराम में सभा हुई जिसमें “विनय” का फिर संग्रह हुआ। इस प्रकार कई संकलनों के उपरांत अशोक के समय में ‘विनय’ पूर्ण रूप से संकलित हुआ।

विनयवान्-वि० [सं० विनयवत्] [स्त्री० विनयवती] जिसमें नम्रता हो। शिष्ट।

विनयशील-वि० [सं०] विनययुक्त । नम्र । सुशील । शिष्ट ।
विनया-संज्ञा स्त्री० [सं०] वाट्यालक । बरियारा ।
विनयी-वि० [सं० विनयिन्] विनययुक्त । नम्र ।
विनयन-क्रि० प्र०, क्रि० स० दे० “विनयना” ।
विनयन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विनय, विनयन] नष्ट होना ।
 नाश । बरबादी ।
विनयना-क्रि० प्र० दे० “विनयना” ।
विनयना-क्रि० स० दे० “विनयना” ।
विनयन-वि० [सं०] सब दिन या बहुत दिन न रहनेवाला ।
 नष्ट होनेवाला । ध्वंसशील । अचिरस्थायी । अनित्य ।
 जैसे,—शरीर विनयन है ।
विनयनता-संज्ञा स्त्री० [सं०] अनित्यता । अचिरस्थायित्व ।
विनय-वि० [सं०] (१) नाश को प्राप्त । जो बरबाद हो गया
 हो । जो न रह गया हो । जिसका अस्तित्व मिट गया हो ।
 ध्वस्त । (२) मृत । मरा हुआ । (३) जो विकृत या खराब
 हो गया हो । जो व्यवहार के योग्य न रह गया हो । जो
 निकम्मा हो गया हो । बिगड़ा हुआ । (४) जिसका आचरण
 बिगड़ गया हो । भ्रष्ट । पतित ।
क्रि० प्र०—करना । —होना ।
विनयि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नाश । (२) लोप । (३) पतन ।
विनय-वि० [सं०] जिसे नासिका न हो । बिना नाक का ।
 नकटा ।
विनयना-क्रि० प्र० [सं० विनयन] नष्ट होना । न रहना ।
 लुप्त होना । उ०—उपजै विनयै ज्ञान जिमि पाइ सुसंग
 कुसंग ।—तुलसी ।
विनयना-क्रि० स० [हि० विनयना कास० रूप] (१) नष्ट करना ।
 (२) बिगाड़ना ।
क्रि० प्र० दे० “विनयना” ।
विना-अव्य० [सं०] (१) अभाव में । न रहने की अवस्था में ।
 बगैर । जैसे,—तुम्हारे विना यह काम न बनेगा । (२)
 छोड़कर । अतिरिक्त । सिवा । जैसे,—तुम्हारे विना और
 कौन यह काम कर सकता है ?
विनाड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक चढ़ी का साठवाँ भाग । पल ।
विनती *—संज्ञा स्त्री० [सं० विनती] विनती । विनय । उ०—
 ए गोसाईं, सुनु मोरि विनती ।—जायसी ।
विनाथ-वि० [सं०] जिसका कोई रक्षक न हो । अनाथ । उ०—
 नाथ नाथ विनाथ नाथ अनाथ नाथ सुसिद्ध ।—केशव ।
विनाम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) झुकाव । टेढ़ापन । (२) किसी
 पीड़ा द्वारा शरीर का झुक जाना । (भावप्रकाश)
विनायक-संज्ञा पुं० [सं०] गणों के नायक, गणेश । (२) गरुड़ ।
 (३) विघ्न । बाधा । उ०—लसत विनायक-केतु विनायक
 नसत निरखि रथ ।—गोपाल । (४) गुरु । (५) देवी का
 एक स्थान । (६) बुद्धदेव ।

विनायक-केतु-संज्ञा पुं० [सं०] गरुड़ध्वज । श्रीकृष्ण । उ०—
 लसत विनायक-केतु विनायक नसत निरखि रथ ।—गोपाल ।
विनायक चतुर्थी संज्ञा स्त्री० [सं०] माघ महीने की शुक्ल
 चतुर्थी । माघ सुदी चौथ । गणेशचतुर्थी ।
विशेष—दस दिन गणेश का पूजन और व्रत होता है ।
विनाश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अभाव हो जाना । अस्तित्व का
 न रह जाना । न रहना । नाश । मिटना । ध्वंस । बर-
 बादी । (२) लोप । अदर्शन । (३) बिगड़ जाने का भाव ।
 खराब हो जाना । निकम्मा हो जाना । चौपट होना ।
 खराबी । (४) डुरी दशा । तबाही । (५) हानि । नुकसान ।
विनाशक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विनाश करने वाला । क्षय
 करनेवाला । (२) बिगाड़नेवाला । खराब करनेवाला । घातक ।
विनाशन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विनाशी, विनाश्य] (१) नष्ट
 करना । ध्वस्त करना । बरबाद करना । (२) संहार करना ।
 बध करना । उ०—दससीस विनाशन बीस भुजा—तुलसी ।
 (३) खराब करना । बिगाड़ना । (४) एक असुर जो काल
 का पुत्र था ।
विनाशित-वि० [सं०] (१) नष्ट किया हुआ । ध्वस्त किया हुआ ।
 (२) मारा हुआ । (३) बिगाड़ा हुआ । खराब किया हुआ ।
विनाशी-वि० [सं० विनाशिन्] [स्त्री० विनाशिनी] (१) नष्ट
 करनेवाला । ध्वस्त करनेवाला । बरबाद करनेवाला । (२)
 बध करनेवाला । मारनेवाला । (३) बिगाड़नेवाला । खराब
 करनेवाला ।
विनाश्य-वि० [सं०] विनाश योग्य ।
विनास—संज्ञा पुं० दे० “विनाश” ।
विनासक-वि० [सं०] बिना नाक का । नकटा ।
 संज्ञा पुं० दे० “विनाशक” ।
विनासन—संज्ञा पुं० दे० “विनाशन” ।
विनासना—क्रि० स० [सं० विनाशन] (१) नष्ट करना । ध्वस्त
 करना । बरबाद करना । न रहने देना । (२) संहार करना ।
 बध करना । (३) खराब करना । बिगाड़ना ।
क्रि० प्र० नष्ट होना । बरबाद होना ।
विनिन्दक-संज्ञा पुं० [सं०] अत्यन्त निंदा करनेवाला ।
विनिन्दा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अतिशय निंदा । बहुत बुराई ।
विनिन्दित-वि० [सं०] जिसकी बहुत निंदा हुई हो । लोछित ।
विनिःसृत-वि० [सं०] निकला हुआ । जो बाहर हुआ हो ।
विनिगमक-वि० [सं०] दो पक्षों में से किसी एक पक्ष को सिद्ध
 करनेवाला ।
विनिगमना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दो परस्पर विरुद्ध पक्षों में
 से किसी एक पक्ष का युक्ति और प्रमाण द्वारा निश्चय । दो
 बातों में से किसी एक बात के ठीक होने का निर्णय जो
 विचार और तर्क द्वारा हो । (वैशेषिक) (२) सिद्धांत ।
 नतीजा ।

विनिग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नियम । बंधेज । प्रतिबंध ।
 (२) अपनी किसी वृत्ति को दबाकर अधीन करना । संयम ।
 (३) अवरोध । रुकावट । (४) व्याघात । बाधा ।
 विनिग्र-वि० [सं०] (१) नष्ट । बरबाद । (२) गुणित । गुणा
 किया हुआ ।
 विनिद्र-संज्ञा पुं० [सं०] अज्ञ का एक संहार जिससे अज्ञ द्वारा
 निद्रित या मूर्च्छित व्यक्ति की नींद या बेहोशी दूर होती है ।
 वि० जिसकी नींद खुल गई हो ।
 विनिपात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विनाश । ध्वंस । बरबादी ।
 (२) बध । हत्या । (३) अवमान । अनादर । नज़र से
 गिरना ।
 विनिपातक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विनाशकारी । (२) संहार-
 कर्त्ता । (३) अपमान करनेवाला ।
 विनिमय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक वस्तु लेकर बदले में दूसरी
 वस्तु देने का व्यवहार । अदल बदल । परिवर्त्तन । परिदान ।
 (२) गिरवी । बंधक ।
 विनियुक्त-वि० [सं०] (१) किसी काम में लगाया हुआ ।
 नियोजित । (२) अर्पित । (३) प्रेरित ।
 विनियोग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी फल के उद्देश्य से किसी
 वस्तु का उपयोग । किसी विषय में लगाना । प्रयोग । (२)
 किसी वैदिक कृत्य में मंत्र का प्रयोग । (३) प्रेषण । भेजना ।
 (४) प्रवेश । घुसना ।
 विनियोजित-वि० [सं०] (१) प्रयुक्त । नियुक्त । लगाया हुआ ।
 (२) अर्पित । (३) प्रेरित ।
 विनिर्गत-वि० [सं०] (१) निकला हुआ । जो बाहर हुआ हो ।
 वहिर्गत । (२) गया हुआ । जो चला गया हो । निष्क्रांत ।
 (३) बीता हुआ । अतीत ।
 विनिर्गम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाहर होना । निकलना । (२)
 प्रस्थान । चला जाना ।
 विनिर्माण-संज्ञा पुं० [सं०] एक कल्प का नाम ।
 विनिर्माण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विनिर्मित] विशेष रूप से
 निर्माण । अच्छी तरह बनना ।
 विनिर्मित-वि० [सं०] विशेष रूप से निर्मित या बना हुआ ।
 जैसे,—प्रस्तर विनिर्मित भवन ।
 विनिर्मुक्त-वि० [सं०] (१) बाहर निकला हुआ । वहिर्गत ।
 (२) जो खुला हो या ढँका न हो । अनाच्छन्न । (३) छूटा
 हुआ । बंधन से रहित ।
 विनिर्मोक-वि० [सं०] निर्मोक रहित । बिना पहनावे का ।
 बखर रहित । परिधान शून्य ।
 विनिवर्त्तन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विनिवर्त्तित, विनिवर्त्ती] लौटना ।
 विनिवेश-संज्ञा पुं० [सं०] प्रवेश । घुसना ।
 विनिवेशन-वि० [सं०] [वि० विनिवेशित, विनिवेशी] (१)

प्रवेश । घुसना । (२) अधिष्ठान । स्थिति । वास । रहायश ।
 विनिवेशित-वि० [सं०] (१) प्रविष्ट । घुसा हुआ । (२)
 ठहरा या टिका हुआ । अधिष्ठित । स्थापित । (३) बसा
 हुआ ।
 विनिवेशी-वि० [सं० विनिवेशिन्] [स्त्री० विनिवेशिनी] (१) प्रवेश
 करनेवाला । घुसनेवाला । (२) रहनेवाला । बसनेवाला ।
 विनिहत-वि० [सं०] (१) चोट खाया हुआ । आहत । (२)
 विनष्ट । ध्वस्त । बरबाद । (३) मरा हुआ । मृत ।
 (४) लुप्त ।
 विनीत-वि० [सं०] (१) जिसमें उत्तम शिक्षा का संस्कार
 और शिष्टता हो । विनययुक्त । सुशील । (२) व्यवहार में
 अधीनता प्रकट करनेवाला । शिष्ट । नम्र । (३) जितेंद्रिय ।
 (४) संयमी । (५) प्रहण किया हुआ । (६) सिखाया हुआ ।
 (७) दूर किया हुआ । हटाया हुआ । (८) ले गया हुआ । (९)
 जिसको तंत्रीह की गई हो । दंडित । शासित । (१०) नीति-
 पूर्वक व्यवहार करनेवाला । धार्मिक । (११) साफ़ सुथरा ।
 (कपड़ा आदि)
 संज्ञा पुं० (१) वर्णिक । बनिया । साहु । (२) निकाला हुआ
 घोड़ा । (३) पुलस्त्य के एक पुत्र का नाम । (४) दमनक ।
 दौने का पौधा ।
 विनीतता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विनीत होने का भाव । नम्रता ।
 विनीति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विनय । सुशीलता । (२)
 सद्व्यवहार । (३) सम्मान ।
 विनु†-अव्य० दे० “विना” ।
 विनुक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रशंसा । (२) एक एकाह कृत्य
 का नाम । (आश्वलायन श्रौत सूत्र)
 विनुठा†-वि० [हि० अनुठा] अनुठा । सुंदर । बढ़िया ।
 विनोक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक अलंकार जिसमें किसी
 वस्तु की हीनता या श्रेष्ठता वर्णन की जाती है । उ०—(क)
 जिय बिनु देह नदी बिनु बारी । तैसइ नाथ पुरुष बिनु
 बारी ।—तुलसी । (ख) कैसे नीके लगत ये बिनु सँकोच के
 बैन ।—बिहारी ।
 विनोद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कौतूहल । तमाशा । मनोरंजक
 व्यापार । (२) क्रीड़ा । खेल कूद । लीला । (३) प्रमोद ।
 हँसी दिल्ली । परिहास । (४) कामशास्त्र के अनुसार एक
 प्रकार का आलिंगन । (५) एक प्रकार का प्रासाद । प्रमोद-
 गृह । (६) हर्ष । आनंद । प्रसन्नता ।
 विनोदन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विनोदित, विनोदी] (१) ऐसे
 व्यापार करना जिनका उद्देश्य केवल मनोरंजन हो । आमोद
 प्रमोद करना । क्रीड़ा करना । खेल कूद करना । (२)
 हँसी दिल्ली या हास विलास करना । (३) आनंद करना ।
 विनोदित-वि० [सं०] (१) हर्षित । प्रसन्न । (२) कुतूहलयुक्त ।

विनोदी-वि० [सं० विनोदिन्] [स्त्री० विनोदिनी] (१) कुतूहल करनेवाला। आनन्द प्रमोद करनेवाला। क्रीड़ा करनेवाला। (२) खेल कूद करनेवाला। जुहलवाज़। (३) जिसका स्वभाव आनन्द प्रमोद करने का हो। आनंदी। (४) क्रीड़ा-शील। खेलकूद या हँसी ठट्टे में रहनेवाला। उ०—इयाम विनोदी रे मज्जुनिया।—सूर।

विन्यस्त-वि० [सं०] (१) रखा हुआ। स्थापित। (२) यथा स्थान बैठाया हुआ। जड़ा हुआ। (३) करीने से लगा हुआ। (४) डाला हुआ। क्षिप्त।

विन्यास-संज्ञा पुं० [सं०] बरियारा नाम का पौधा।

विन्यास-पंजा पुं० [सं०] [वि० विन्यस्त] (१) स्थापन। रखना। धरना। (२) यथा स्थान स्थापन। ठीक जगह पर क़रीने से रखना या बैठाना। सजाना। रचना। (३) जड़ना। (४) किसी स्थान पर डालना।

विपंची-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का बाजा जिसमें तार लगे रहते हैं। एक प्रकार की वीणा। उ०—(क) नवल वसंत धुनि सुनिये विपंची नाद पंचम सुरनि ठानी ओठनि अमेठिये।—देव। (ख) तंत्री वीणा वलभी बहुवि विपंची आहि।—नंददास। (२) केलि। क्रीड़ा। खेल।

विपक्ष-वि० [सं०] (१) खूब पका हुआ। (२) पूर्ण अवस्था को प्राप्त। (३) जो पका न हो। कच्चा।

विपक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विरुद्ध पक्ष। किसी बात के विरुद्ध दूसरी स्थिति। (२) शत्रु या विरोधी का पार्श्व। (३) विरोध करनेवाला दल। शत्रु पक्ष। विरोधी। प्रतिद्वंद्वी। दूसरा फरीक। जैसे,—विपक्ष में जाना। (४) प्रतिवादी या शत्रु। विरुद्ध दल का मनुष्य। (५) किसी बात के विरुद्ध की स्थापना। विरोध। खंडन। जैसे,—इसके विपक्ष में तुम्हें क्या कहना है? (६) व्याकरण में किसी नियम के कुछ विरुद्ध व्यवस्था। बाधक नियम। अपवाद। (७) न्याय या तर्क शास्त्र में वह पक्ष जिसमें साध्य का अभाव हो।

वि० (१) विरुद्ध। खिलाफ़। प्रतिकूल। (२) उलटा। विपरीत। (३) जिसके पक्ष में कोई न हो। जिसका कोई तरफदार न हो। (४) बिना पर या डैने का। पक्षहीन।

विपक्षता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विरुद्ध पक्ष का अवलंबन।

(२) विपक्ष होने की क्रिया या भाव। खिलाफ़ होना।

विपक्षी-संज्ञा पुं० [सं० विपक्षिन्] (१) विरुद्ध पक्ष का। दूसरी तरफ़ का। (२) शत्रु। प्रतिद्वंद्वी। प्रतिवादी। फ़रीक़ सानी। (३) बिना पक्ष का। बिना पंख या डैने का। उ०—गिरिहै विपक्ष बनाइ।—गुमान।

विपत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कष्ट, दुःख या शोक की प्राप्ति। भारी रंज या तकलीफ़ का आ पड़ना। आफ़त। (२) ज़ेग

या शोक की स्थिति। रंज या तकलीफ़ की हालत। संकट की अवस्था। बुरे दिन। जैसे,—विपत्ति में कोई साथी नहीं होता।

क्रि० प्र०—भाना।—पड़ना।

मुहा०—विपत्ति उठाना = संकट या कष्ट सहना। रंज या तकलीफ़ बरदाश्त करना। विपत्ति काटना = संकट या कष्ट के दिन बिताना। रंज या तकलीफ़ में रहना। विपत्ति झेलना = कष्ट या शोक सहना। (किसी पर) विपत्ति डालना = (किसी को) शोक या दुःख पहुँचाना। किसी को रंज या तकलीफ़ में डालना। (किसी पर) विपत्ति डहना = सहसा कोई दुःख या शोक उपस्थित होना। एक बारगी आफ़त आना। विपत्ति में डालना = संकट या दुःख की अवस्था में करना। विपत्ति में पड़ना = शोक, दुःख या संकट की दशा को प्राप्त होना। विपत्ति भुगतना या भोगना = शोक, दुःख या संकट सहना।

(३) कठिनाई। झंझट। बख़ेड़ा।

मुहा०—विपत्ति मोल लेना = व्यर्थ अपने ऊपर भ्रष्ट लेना। बख़ेड़े में पड़ना। विपत्ति सिर पर लेना = व्यर्थ भ्रष्ट में पड़ना। दिक्कत में पड़ना।

विपथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुमार्ग। बुरा रास्ता। (२) बग़ल का रास्ता। (३) झुरी चाल। मंद आचरण। (४) एक प्रकार का रथ।

विपद्-संज्ञा स्त्री० [सं०] विपत्ति। आफ़त। संकट।

विपदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] विपत्ति। आफ़त। दुःख, शोक या संकट। **विपन्न-वि०** [सं०] (१) जिस पर विपत्ति पड़ी हो। विपत्ति में पड़ा हुआ। मुसीबत का मारा। (२) दुःखी। आर्त। (३) कठिनाई या झंझट में पड़ा हुआ। (४) भूला हुआ। अम में पड़ा हुआ। (५) मृत।

विपरीत-वि० [सं०] (१) जो मेड़ में या भनुरूप न हो। जो विपर्यय के रूप में हो। उलटा। विरुद्ध। खिलाफ़। (२) किसी की इच्छा या हित के विरुद्ध। प्रतिकूल। जैसे,—विपरीत आचरण। (३) अनिष्ट साधन में तत्पर। रुष्ट। जैसे,—दैव या विधि का विपरीत होना। (४) हितसाधन के अनुपयुक्त। दुःखद। जैसे,—विपरीत समय। उ०—आज विपरीत समय सब ही विपरीत है।

संज्ञा पुं० (१) केशव के अनुसार एक अर्थालंकार जिसमें कार्य की सिद्धि में स्वयं साधक का बाधक होना दिखाया जाता है। उ०—राधा जू सों कहा कहौं दूतिन की मानैं सीख साँपिनी सहित विष रहित फनिन की। क्यों न परै बीच, बीच अँगियौ न सहि सकै, बीच परी अंगना अनेक आँगनि की। (यहाँ दूती को साधक होना चाहिए था, पर वह बाधक हुई।) (२) सोलह प्रकार के रति बंधों में से दसवाँ रतिबंध।

विपरीतता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विपरीत होने का भाव ।

विपरीता-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुश्चरित्रा स्त्री ।

विपरीतार्थ-वि० [सं०] जिसका अर्थ उल्टा हो ।

विपरीति-संज्ञा स्त्री० दे० "विपरीत" ।

विपरीतोपमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] केशव के अनुसार एक अलंकार जिसमें किसी भाग्यवान् व्यक्ति की हीनता वर्णन की जाय और वह अति हीन दशा में दिखाया जाय । यथा—देखिय मंडित दंढन सों, भुजदंड दोऊ असि दंड विहीनो । राजनि श्री रघुनाथ के राज कुमंडल छाँड़ि कमंडल लीनो ।—केशव ।

विपर्यय-वि० [सं०] पूर्ण रहित । बिना पत्तों का ।

संज्ञा पुं० पलाश का पेड़ । देसू ।

विपर्यय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक वस्तु का दूसरी के स्थान पर और दूसरी का पहली के स्थान पर होना । उलट पलट । इधर का उधर । जैसे,—वर्ण-विपर्यय । (२) ऐसा परिवर्तन जिसमें दो वस्तुओं की स्थिति पूर्व स्थिति से विरुद्ध हो जाय । जैसी चाहिए, उससे विरुद्ध स्थिति । और का और । व्यतिक्रम । (३) मिथ्या ज्ञान । और का और समझना ।

विशेष—योग-दर्शन के अनुसार 'विपर्यय' चित्त की पाँच प्रकार की वृत्तियों (प्रमाण, विकल्प आदि) में से एक है । जैसे, रस्सी को साँप, या सीप को चाँदी समझना । यथार्थ ज्ञान द्वारा इसका निराकरण होता है । इस 'विपर्यय' या विपरीत ज्ञान के पाँच अवयव कहे गए हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश । इन्हीं को संप्रत्य में क्रमशः तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अंधतामिस्र कहते हैं । (४) भ्रम । भूल । गलती । समझ का फेर । (५) गड़बड़ी । अव्यवस्था । (६) नाश ।

विपर्ययस्त-वि० [सं०] (१) जिसका विपर्यय हुआ हो । जो उलट पलट गया हो । जो इधर का उधर हो गया हो । (२) अस्त व्यस्त । गड़बड़ । चौपट ।

विपर्ययास-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विपर्ययस्त] (१) विपर्यय । उलट पलट । इधर का उधर । व्यतिक्रम । (२) पूर्व से विरुद्ध स्थिति । एक वस्तु का दूसरी के स्थान पर होना । (३) जैसी चाहिए, उससे विरुद्ध स्थिति । और का और । (४) मिथ्या ज्ञान । और का और समझना ।

विशेष—न्याय में अप्रमात्मक बुद्धि का नाम विपर्यास है । जैसे,—रस्सी को साँप समझना ।

विपत्त-संज्ञा पुं० [सं०] समय का एक अत्यंत छोटा विभाग जो एक पल का साठवाँ भाग होता है ।

विपचन-वि० [सं०] [वि० विपनीय, विपच्य] विशेष रूप से पवित्र करनेवाला ।

संज्ञा पुं० विद्युद् पवन । साफ़ हवा ।

विपशी-संज्ञा पुं० [सं० विपशिन] एक बुद्ध का नाम ।

विपश्यन-संज्ञा पुं० [सं०] प्रकृत ज्ञान । यथार्थ बोध । (बौद्ध)

विपश्चित्-वि० [सं०] पंडित । बुद्धिमान् । सूक्ष्मदर्शी । उ०—तेहि कारण शिव गंग तेहि गहँ विश्विपत् लोक । यहि में मज्जन किये ते मिटै महा भव शोक ।—शंकर दिग्विजय ।

विपश्यी-संज्ञा पुं० [सं० विपश्यन्] एक बुद्ध का नाम ।

विपस्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेधा । बुद्धि । (२) ज्ञान । समझ ।

विपांडुरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] महामेधा ।

विपाक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिपक्व होना । पचन । पकना । (२) पूर्ण दशा को पहुँचना । तैयारी पर आना । चाम उत्कर्ष । (३) फल । परिणाम । (४) कर्म का फल ।

विशेष—योग दर्शन में यह विपाक तीन प्रकार का कहा गया है—जाति (जन्म), आयु और भोग ।

(५) खाए हुए भोजन का पेट में पचना । खाद्य द्रव्य की पेट के अंदर रस-रूप में परिणति । (६) दुर्गति । दुर्दशा । (७) स्वाद । जायका ।

विपाट-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का वाण ।

विपाटन-संज्ञा पुं० [सं०] उखाड़ना । खोदना ।

विपाठ-संज्ञा पुं० [सं०] वाण । तीर ।

विपात-संज्ञा पुं० [सं०] पातन । नाश ।

विपातद-संज्ञा पुं० [सं०] नाश करनेवाला । नाशक ।

विपातन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गलाना । (२) नाश करना ।

विपादन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विपादित] बध । हत्या ।

विपादिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुष्ठ रोग का एक भेद । अपरस ।

विशेष—यह पैर में होता है । इससे डँगलियों के पास से ऊपर तक चमड़े में दरारें पड़ जाती हैं और बड़ी खुजली होनी है । पीड़ा के कारण पैर नहीं रखा जाता ।

(२) प्रहेलिका । पहेली ।

विपादित-वि० [सं०] विनाशित । नष्ट किया हुआ ।

विपापा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम । (महाभारत)

विपाल-वि० [सं०] (पशु) जिसका कोई पालनेवाला या मालिक न हो । (स्मृति)

विपाशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] व्यास नदी जो पंजाब में है । वि० दे० "विपासा" ।

विपासा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पंजाब की एक नदी । व्यास ।

विशेष—ऋग्वेद में इस नदी का उल्लेख शतुद्री (शतकज) के साथ है ।

विपिन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वन । जंगल । (२) उपवन । वाटिका ।

वि० भयानक । डरावना ।

विपिनचर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वन में रहनेवाला । वनचर ।
(२) जंगली आदमी । (३) पशु पक्षी आदि ।

विपिनतिलका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्ण वृत्ति जिसके प्रत्येक चरण में नगण, सगण, नगण और दो रगण (न, स, न, र, र अर्थात् III, IIS, III, SIS, SIS) होते हैं ।

विपिनपति-संज्ञा पुं० [सं०] वन का राजा, सिंह । उ०—
जिमि भेरी दल लै विपिन-पति, रिसि दुचंग मन में धरत ।
तिमि लख्यो प्रवीन उताल गति सुर सिंगार करि समर रत ।
—गोपाल ।

विपिनविहारी-संज्ञा पुं० [सं० विपिन + विहारी] (१) वन में विहार करनेवाला । वनचारी । (२) कृष्ण का एक नाम । उ०—दरसन पाइ थकित भई सारी । कहत भये तब विपिनविहारी ।—विश्राम ।

विपुंसक-वि० [सं०] पुंसत्व रहित । पुरुषत्व से हीन ।

विपुंसी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जिसकी चेष्टा, स्वभाव या भावना पुरुषों की सी हो ।

विपुत्र-वि० [सं०] [स्त्री० विपुत्रा] पुत्र-रहित । पुत्र-हीन ।

विपुल-वि० [सं०] [स्त्री० विपुला] (१) विस्तार, संख्या या परिणाम में बहुत अधिक । (२) बृहत् । बड़ा । अगाध । बहुत गहरा ।

संज्ञा पुं० (१) सुमेरु पर्वत का पश्चिमी भाग । (१) मगध देश की प्राचीन राजधानी राजगृह के पास की एक पहाड़ी । (३) हिमालय । (४) एक देवी-पीठ । देवी का एक प्रधान स्थान जहाँ की देवी का नाम विपुला है । (५) रोहिणी से उत्पन्न वसुदेव के एक पुत्र का नाम । उ०—विपुल विपुल-बल चलयो रचत रन में पुल सर को ।—गोपाल ।

विपुलक-वि० [सं०] (१) बहुत चौड़ा । (२) जिसे रोमांच न हो । पुलक-रहित ।

विपुलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] आधिक्य । बहुतायत । बड़ाई ।

विपुलपार्श्व-संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्वत का नाम ।

विपुलमति-वि० [सं०] बहुत बुद्धिवाला । बहुत बुद्धिमान् ।
संज्ञा पुं० एक बोधिसत्व का नाम ।

विपुलस्कंध-संज्ञा पुं० [सं०] अर्जुन का एक नाम ।

विपुला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पृथ्वी । वसुन्धरा । (२) एक प्रकार का छंद, जिसके प्रत्येक चरण में भगण, रागण और दो लघु होते हैं । (३) आर्या छंद के तीन भेदों में एक भेद जिसके प्रथम चरण में १८, दूसरे में १२, तीसरे में १४ और चौथे में १३ मात्राएँ होती हैं । (४) विपुल नामक पर्वत की अधिष्ठात्री देवी । (५) एक प्रसिद्ध सती जो 'बहुला' के नाम से प्रसिद्ध है ।

विपुलाईल-संज्ञा स्त्री० [सं० विपुल + आई (हि० प्रत्य०)]
विपुलता । अधिकता । अगाधता ।

विपुलाखवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] घृतकुमारी । खी कुवार । ग्वारपाठा ।

विपुष्पित-वि० [सं०] हर्षित । प्रफुल्ल ।

विपूय-संज्ञा पुं० [सं०] मुंजवृक्ष । मूँज ।

विपोहनाळ-क्रि० सं० [सं० वि० + पोत] (१) पोतना । लीपना । (२) नाश करना । मिटाना । उ०—उद्योति जगै जमुना सी लगै जग लाल विलोचन पाप विपोहै ।—केनव । (३) दे० "पोहना" ।

विप्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्राह्मण

विशेष—जो यजन याजन आदि कर्म पूर्ण रीति से करता हो, वह विप्र है । विशेष दे० "ब्राह्मण" ।

(२) पुरोहित । यज्ञ करानेवाला । (३) वेद मंत्रों को जाननेवाला । कर्मनिष्ठ । (४) शिरीष वृक्ष । सरिस का पेड़ । (५) अश्वत्थ । पीपल का पेड़ । (६) पापर का पौधा जो औषध के काम में आता है । रेणुक ।

वि० मेधावी । बुद्धिमान् ।

विप्रकर्षण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विप्रकर्ष] (१) दूर खींच ले जाना । दूर हटाना । (२) किसी कर्म या कृत्य का अंत ।

विप्रकार-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विप्रकृत] (१) तिरस्कार । अनादर । (२) अपकार ।

अव्य० विविध प्रकार से ।

विप्रकाष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] नरमा या कपास का पौधा ।

विप्रकीर्ण-वि० [सं०] (१) बिखरा हुआ । छितराया हुआ । हथर उधर पड़ा हुआ । (२) अस्त व्यस्त । अव्यवस्थित । गड़बड़ ।

विप्रकृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] विप्रकार । अपकार ।

विप्रकृष्ट-वि० [सं०] (१) खींचकर दूर किया हुआ । (२) जो दूरी पर हो । दूरस्थ ।

विप्रचरण-संज्ञा पुं० [सं०] [सं० विप्र + चरण] भृगु मुनि की लात का चिह्न जो विष्णु के हृदय पर माना जाता है । उ०—
(क) उर वन माल पदिक अति शोभित, विप्रचरन चित कहैं करवै ।—तुलसी । (ख) उर मनि-हार पदिक की सोभा । विप्रचरन देखत मन लोभा ।—तुलसी ।

विप्रचित्-संज्ञा पुं० दे० "विप्रचित्ति" ।

विप्रचित्ति-संज्ञा पुं० [सं०] एक दानव जिसकी पत्नी सिंहिका के गर्भ से राहु की उत्पत्ति हुई थी ।

विप्रता-संज्ञा स्त्री० [सं०] ब्राह्मणत्व ।

विप्रतारक-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत धोखा देनेवाला ।

विप्रातपत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विरोध । मेल न बैठना । जैसे,—मनुष्यों के स्वार्थ की विप्रतिपत्ति । (मिताक्षरा) (२) ऐसा कथन जिसके अंदर दो ऐसी बातें हों जो एक-दूसरे में न हो सकती हों । परस्पर विरुद्ध वाक्य । (न्याय)

विशेष—जैसे, कोई कहे कि “वहाँ अग्नि है और नहीं है” तो उसका यह कथन विप्रतिपत्ति का उदाहरण होगा।

(३) किसी बात का बिल्कुल उल्टा निरूपण। किसी बात से ऐसा नतीजा निकालना जो ठीक न हो। विपरीत प्रतिपत्ति। असिद्धि। (४) प्रसिद्धि का अभाव। अख्याति। (५) कुख्याति। बदनामी। (६) किसी कृत्य या पूजन की वह विकृति जो प्रतिनिधि द्रव्य का नाम लेने से होती है।

विशेष—किसी कृत्य या पूजन में जो द्रव्य विहित है, उसके अभाव में यदि कोई दूसरा द्रव्य प्रतिनिधि रूप में रखा जाय, तो समर्पण वाक्य में प्रतिनिधि द्रव्य का नाम न लेकर जिसके अभाव में वह द्रव्य रखा गया हो, उसी का नाम कहना चाहिए। प्रतिनिधि द्रव्य का नाम लेने से पूजा विकृत हो जाती है।

विप्रतिपक्षमान-वि० [सं०] पाप करनेवाला। पापात्मा।

विप्रतिपक्ष-वि० [सं०] (१) विप्रतिपत्ति युक्त। संदेह युक्त।

(२) अस्वीकृत। (३) जो साबित न हुआ हो। असिद्ध।

विप्रतिषिद्ध-वि० [सं०] (१) जिसका निषेध किया गया हो।

जो मना हो। निषिद्ध। (स्मृति) (२) विरुद्ध। खिलाफ। उल्टा। (३) निवारित। वर्जित।

विप्रतिषेध-संज्ञा पुं० [सं०] दो बातों का परस्पर विरोध। मेल न बैठना।

विप्रतिसार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अनुताप। पलतावा। (२) रोष। क्रोध।

विप्रत्व-संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मणत्व।

विप्रथित-वि० [सं०] विख्यात। मशहूर।

विप्रदुष्ट-वि० [सं०] (१) पापरात। (२) कामी। (३) मन्द। नष्ट।

विप्रभुक्-वि० [सं०] लाभकारी। हितकर।

विप्रपद-संज्ञा पुं० [सं०] भृगु मुनि की लात का चिह्न जो विष्णु के वक्षस्थल पर माना जाता है। विप्रचरण।

विप्रपात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विशेष रूप से पतन। बिल्कुल गिर जाना। (२) ऊँचा ढालवाँ टीला। (३) खाई।

विप्रप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] पलाश वृक्ष।

विप्रबंधु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह ब्राह्मण जो अपने कर्म से च्युत हो। नीच ब्राह्मण। (२) गोपायन गोत्रीय एक मंत्रद्रष्टा ऋषि।

विप्रबुद्ध-वि० [सं०] (१) जागा हुआ। (२) ज्ञान प्राप्त।

विप्रमनस्-वि० [सं०] जिसका जी न लगता हो। अन्त्यमनस्क। अनमना।

विप्रमाथी-वि० [सं० विप्रमाथिन्] [स्त्री० विप्रमाथिनी] (१) खूब मथन करनेवाला। (२) ध्वस्त या नष्ट करनेवाला। (३) आक्रुत या झुंझ करनेवाला।

विप्रयाण-संज्ञा पुं० [सं०] भागना। पलायन।

विप्रयुक्त-वि० [सं०] (१) जो मिला न हो। विशिष्ट। विभिन्न। अलग। (२) बिछुड़ा हुआ। (मित्र या प्रिय से) (३) जिसका विभाग हुआ हो।

विप्रयोग-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विप्रयुक्त] (१) वियोग। विरह। जुदाई। विप्रलंभ। (२) विसंवाद। बुरा समाचार। (३) बिच्छेद। अलग होना।

विप्रराम-संज्ञा पुं० [सं०] परशुराम। उ०—वैरिन मैं विप्रराम, नीति माहिं जदुराम, वूँदी नाथ राजाराम शील माहिं राम है।—मतिराम।

विप्रलंभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अभिलषित वस्तु की अप्राप्ति। चाही हुई वस्तु का न मिलना। (२) प्रिय का न मिलना। वियोग। जुदाई। विरह। अमिलन।

विशेष—सहित्य में शृंगार रस दो प्रकार का कहा गया है—संभोग शृंगार और विप्रलंभ शृंगार। इन्हीं को संयोग और वियोग भी कहते हैं। विप्रलंभ शृंगार में नायक नायिका के विरह-जन्य संताप आदि का वर्णन होता है।

(३) अलग होना। बिच्छेद। (४) छल से किसी को किसी लाभ से वंचित करना। धोखा। छल। धूर्तता। वंचना। (५) विरुद्ध कर्म। बुरा काम।

विप्रलंभक-संज्ञा पुं० [सं०] धूर्त या धोखेबाज़ आदमी। वंचक।

विप्रलंभी संज्ञा पुं० [सं० विप्रलंभिन्] धोखेबाज़। धूर्त।

विप्रलब्ध-वि० [सं०] (१) जिसे चाही हुई वस्तु न प्राप्त हुई हो। रहित। वंचित। (२) जिसे प्रिय का समागम न प्राप्त हुआ हो। वियोग-दशा-प्राप्त। (३) जो छल द्वारा किसी लाभ से वंचित किया गया हो। प्रतारित।

विप्रलब्धा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह नायिका जो संकेत स्थान में प्रिय को न पाकर निराश या दुःखी हो।

विप्रताप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सारहीन वाक्य। व्यर्थ बकवाद। (२) विवाद। झगड़ा। (३) बुरा वचन।

विप्रलीन-वि० [सं०] बिखरा हुआ। छितराया हुआ। इधर उधर पड़ा हुआ।

विप्रलुपक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ा लालची। अति लोभी। (२) अपने लाभ के लिये लोगों को सतानेवाला। उत्पीड़क। (३) अधिक कर लेनेवाला।

विप्रलुप्त-वि० [सं०] (१) जो लुटा गया हो। अपहृत। (२) जो गायब किया गया हो। जो उड़ा लिया गया हो। (३) जिसके कार्य में विघ्न पहुँचाया गया हो।

विप्रलोक-संज्ञा पुं० [सं०] चिड़िया पकड़नेवाला। व्याध। शिकारी।

विप्रलोप-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विप्रलुप्त] (१) बिस्कुल लोप ।

(२) नाश ।

विप्रवाह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बुरे वचन । (२) व्यर्थ बकवाद ।

(३) कलह । विवाद । झगडा ।

विप्रवास-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विप्रवसित] (१) विदेश में बास ।

परदेस में रहना । (२) संन्यास आश्रम में एक अपराध जो अपने कपड़े दूसरे को देने से होता है ।

विप्रव्रजनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जो दो पुरुषों से संबंध रखे ।

विप्रश्न-संज्ञा पुं० [सं०] वह प्रश्न जिसका उत्तर फलित ज्योतिष द्वारा दिया जाय ।

विप्रश्निक-संज्ञा पुं० [सं०] दैवज्ञ । ज्योतिषी ।

विप्रष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] एक यादव का नाम जो बलराम जी का छोटा भाई लगता था ।

विप्रसारण-संज्ञा पुं० [सं०] विस्तार करना । फैलाना ।

विप्रहरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) त्याग । (२) मुक्ति ।

विप्रिय-वि० [सं०] (१) अप्रिय । (२) कटु । (३) अतिशय प्रिय । (४) वियोग ।

संज्ञा पुं० अपराध । कसूर ।

विप्रुट्-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पानी की छोटी बूँद या छीटा ।

(२) थूँक का वह छीटा जो वेद पाठ करने में उड़ता है ।

विशेष—मनुस्मृति के अनुसार ऐसा छीटा अपवित्र नहीं है ।

विप्रुष-संज्ञा पुं० [सं०] पानी की छोटी बूँद या छीटा ।

विप्रुद्धोम-संज्ञा पुं० [सं० विप्रु + होम] एक प्रकार का पूजन जो यज्ञ के अवसर पर सोम की प्राप्ति के लिये किया जाता था ।

विप्रोषित-वि० [सं०] (१) प्रवास में गया हुआ । (२) अनुपस्थित ।

विप्रोषितभर्तृका-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जिसका पति या प्रेमी परदेस गया हो ।

विप्रव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उपद्रव । हंगामा । अशांति और हलचल । (२) राज्य के भीतर जनता की अशांति और

उद्धत आचरण । बलवा । (३) दूसरे राष्ट्र द्वारा उपस्थित अशांति । परचक्र-भय । (४) उथल पुथल । अव्यवस्था ।

(५) आफत । विपत्ति । (६) विनाश । (७) शत्रु को डराने के लिये मचाया हुआ शोर गुल । डॉट डपट या

भभकी । (८) नाव का डूबना । (९) जल की बाढ़ । बढ़िया । (१०) वेदों के अपूर्ण ज्ञान द्वारा उनका अनादर ।

(११) घोड़े की बहुत तेज़ चाल ।

विप्रवा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पानी की बाढ़ । बढ़िया । (२) घोड़े की बहुत तेज़ चाल ।

विप्रवाक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विप्रवकारी । उपद्रव मचाने वाला । (२) राज्य में उपद्रव खड़ा करनेवाला । बलवाई ।

(३) जल की बाढ़ लानेवाला ।

विप्रवाही-संज्ञा पुं० [सं० विप्रवाहिन्] [स्त्री० विप्रवाहिनी] (१) उपद्रव करनेवाला । (२) जल की बाढ़ लानेवाला ।

विप्रुत-वि० [सं०] (१) छितराया हुआ । बिखरा हुआ । (२)

घबराया हुआ । आकुल । (३) क्षुब्ध । व्यग्र । दुखी ।

(४) भ्रष्ट । पतित । (५) नियम, प्रतिष्ठा आदि से च्युत ।

(६) व्यसन के कारण किसी वस्तु के अभाव में व्याकुल । व्यसनार्त ।

विप्रुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्त्रियों की एक व्याधि जिसमें उनकी योनि में नित्य पीड़ा रहती है ।

विप्रुति-संज्ञा स्त्री० [सं०] विप्रुव । हलचल । उपद्रव ।

विप्रुष्-संज्ञा पुं० दे० “विप्रुट्” ।

विप्रुसा-संज्ञा स्त्री० दे० “वीप्सा” ।

विफल-वि० [सं०] (१) जिसमें फल न लगता या लगा हो ।

फल-रहित । उ०—मुरली सुनत अबल चले । द्रवित है जल क्षरत पाहन विफल वृक्ष फले ।—सूर । (२) जिसका

कुछ परिणाम न हो । जिसका कुछ नतीजा न हो । जिससे कुछ सिद्धि न प्राप्त हो । निष्फल । व्यर्थ । बेफायदा ।

जैसे,—कोई प्रयत्न विफल होना; विफल-मनोरथ होना । (३) जिसके प्रयत्न का कुछ परिणाम न हुआ हो । अकृत-

कार्य । नाकामयाब । (४) हताश । निराश । (५) अंड-कोश-रहित ।

विफलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्य की सिद्धि न होना । असफलता ।

विफला-वि० स्त्री० [सं०] (१) बिना फल की । जिसमें फल न लगे । (२) जिसका कुछ परिणाम न निकले । (३) जो

प्रयत्न में कृतकार्य न हुई हो ।

संज्ञा स्त्री० केतकी ।

विबंध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विशेष रूप से बंधन । खूब जकड़ना । (२) आनाह रोग (अफरा) का एक भेद जिसमें

खाए हुए पदार्थ का बिना पचा रस मल रूप में पेट में रुका रहता है और दस्त नहीं होता ।

विबंधन-संज्ञा पुं० [सं०] पीठ, छाती, पेट आदि के घाव या फोड़े को कपड़े से विशेष रूप से बाँधने की युक्ति या क्रिया ।

(सुश्रुत)

विबंधवर्त्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] घोड़ों का एक रोग जिसमें उनका पेशाब बंद हो जाता है तथा पेट और नाड़ियों में जकड़ने

की सी पीड़ा होती है ।

विबंधु-वि० [सं० वि + बन्धु] (१) बंधु रहित । जिसके भाई बंधु न हो । (२) पितृहीन । अनाथ ।

विबल-वि० [सं०] (१) बल रहित । (२) दुर्बल । अशक्त । (३) विशेष बलवान् ।

विबाध-वि० [सं०] बाधा रहित ।

विबुद्ध

विबुद्ध-वि० [सं० वि + बुध] (१) जाग्रत । जगा हुआ । (२) विकसित । खिला हुआ । (३) ज्ञान-प्राप्त । सचेत ।

विबुध-संज्ञा पुं० [सं० वि + बुध] (१) पंडित । बुद्धिमान् । (२) देवता । (३) चंद्रमा । (४) एक राजा का नाम । (५) शिव । महादेव ।

विबुधतटिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] देवताओं की नदी, आकाश-गंगा ।

विबुधतरु-संज्ञा पुं० [सं०] कल्पवृक्ष ।

विबुधधेनु-संज्ञा स्त्री० [सं०] कामधेनु ।

विबुधपति-संज्ञा पुं० [सं०] देवताओं का राजा, इन्द्र ।

विबुधप्रिया-संज्ञा पुं० [सं०] देवी । भगवती ।

विबुधविलासिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) देवांगना । देवता की स्त्री । (२) अप्सरा । स्वर्ग की वेद्या । उ०—सकल सुभासिनी गुरु जन पुरजन पाहुने लोग । विबुधविलासिनी सुर मुनि जाचक जो जेहि जोग ।—तुलसी ।

विबुधबेलि-संज्ञा स्त्री० [सं०] कल्पलता । उ०—कृपा सुधा सींची विबुध बेलि ज्यौं फिरि सुख फरनि फरी ।—तुलसी ।

विबुधवैद्य-संज्ञा पुं० [सं०] देवताओं के वैद्य, अश्विनीकुमार ।

विबुधवन-संज्ञा पुं० [सं० विबुध + वन] इन्द्र का उद्यान । नंदन कानन ।

विबुधाधिप-संज्ञा पुं० [सं०] देवताओं के राजा, इन्द्र ।

विबुधान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पंडित । आचार्य्य । (२) देवता ।

विबुधापगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] देवताओं की नदी, आकाश-गंगा ।

विबुधावास-संज्ञा पुं० [सं० विबुध + आवास] (१) देवताओं का निवास स्थान, स्वर्ग । (२) देवमंदिर ।

विबोध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जागरण । जागना । उ०—चित्ता मोह सुपन विबोध स्मृति अमर्ष-गर्ब-उतसुक तासु अवहित्थ ठानिये ।—पद्माकर ।

विशेष—साहित्य के रस विधान में विबोध संचारी या व्यभिचारी भावों में से एक है ।

(२) सम्यक् बोध । अच्छा ज्ञान । (३) सचेत होना । सावधान होना । (४) होश में आना । (५) विकास । प्रफुल्लता ।

विबोधन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विबोधित] (१) जगाना । प्रबोधन । (२) ज्ञान कराना । आँख खोलना । (३) समझाना बुझाना । दारस देना ।

विबोधित-वि० [सं०] (१) जगाया हुआ । (२) ज्ञापित । जताया हुआ । बतलाया हुआ । (३) खिलाया या प्रफुल्लित किया हुआ । विकसित ।

विभंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विन्यास । गठन या रचना । (२) टूटना । (३) विभाग । (४) क्रम या परंपरा का टूटना ।

(५) भ्रमंग । भौं की चेष्टा । (६) मुख का भाव या चेष्टा ।

विभंज-वि० [सं० वि० + भज्] (१) टूटना । फूटना । (२) नाश । ध्वंस ।

विभक्त-वि० [सं० वि + भज्] (१) बँटा हुआ । विभाजित । (२) अलग किया हुआ । पृथक् किया हुआ । (३) जो अपने पिता की सम्पत्ति से अपना भाग पा चुका हो और अलग हो । संज्ञा पुं० कार्तिकेय ।

विभक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विभक्त होने की क्रिया या भाव । विभाग । बाँट । (२) अलग होने की क्रिया या भाव । अलगाव । पार्थक्य । (३) शब्द के आगे लगा हुआ वह प्रत्यय या चिह्न जिससे यह पता लगता है कि उस शब्द का क्रिया-पद से क्या संबंध है । (व्याकरण)

विशेष—संस्कृत व्याकरण में जिसे 'विभक्ति' कहते हैं, वह वास्तव में शब्द का रूपांतरित अंग होता है । जैसे,—रामेण, रामाय इत्यादि । आज कल की प्रचलित खड़ी बोली में इस प्रकार की विभक्तियाँ प्रायः नहीं हैं, केवल कर्म और सम्प्रदान कारक के सर्वनामों में विकल्प से आती हैं । जैसे,—मुझे, तुझे, इन्हें इत्यादि । संस्कृत में विभक्तियों के रूप शब्द के अंत्य अक्षर के अनुसार भिन्न भिन्न होते हैं । पर यह भेद खड़ी बोली के कारकों में नहीं पाया जाता, जिनमें कुछ विभक्तियों का व्यवहार नहीं होता, कारक-चिह्नों का व्यवहार होता है ।

विभग्न-वि० [सं० वि + भग्न] (१) टूटा फूटा हुआ । (२) अलग हुआ ।

विभग्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) धन । संपत्ति । (२) ऐश्वर्य्य । शक्ति । उ०—भव भव, विभग्न, पराभव-कारिनि ।—तुलसी ।

(३) औदार्य्य । (४) बहुतायत । आधिक्य । (५) मोक्ष । जन्म मरण से छुटकारा । (६) साठ संवत्सरों में से छत्तीसवाँ संवत्सर ।

विभववान्-संज्ञा पुं० [सं० विभवत्] [स्त्री० विभववती] (१) विभव-वाला । धनी । दौलतमन्द । (२) शक्तिशाली ।

विभवशाली-वि० [सं०] (१) विभववाला । (२) प्रतापवाला । ऐश्वर्य्यवाला ।

विभांडक-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि जो ऋष्यशृंग के पिता थे ।

विभांडिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] आहुत्य वृक्ष ।

विभांडी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नीलापराजिता । विष्णुक्रांता लता ।

विभाँति-संज्ञा स्त्री० [सं० वि० + हि० भाँति] प्रकार । भेद । किस । वि० अनेक प्रकार का ।

प्रत्य० अनेक प्रकार से ।

विभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रभा । कान्ति । चमक । (२) किरण । रश्मि । (३) शोभा । सुन्दरता ।

विभाकर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रकाशवाला । (२) सूर्य । (३) भाक का पौधा । मदार । (४) चित्रक । चीते का पेड़ । (५) अक्षि । (६) राजा ।

विभाग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाँटने की क्रिया या भाव । किसी वस्तु के कई भाग या हिस्से करना । बाँटवारा । तकसीम । जैसे,—संपत्ति का विभाग ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

(२) कई खंडों या वर्गों में विभक्त वस्तु का एक एक खंड या वर्ग । भाग । अंश । हिस्सा । बखरा । (३) पैतृक संपत्ति का कोई अंश जो किसी को नियमानुसार दिया जाय । हिस्सा । बखरा । (४) प्रकरण । अध्याय । जैसे,—ग्रंथ का विभाग । (५) कार्य क्षेत्र । मुहकमा । जैसे,—शिक्षा विभाग ।

विभागशः-क्रि० वि० [सं०] विभाग के अनुसार ।

विभागात्मक नक्षत्र-संज्ञा पुं० [सं०] रोहिणी, आर्द्रा, पुनर्वसु, मघा, चित्रा, स्वाती, ज्येष्ठा और श्रवण आदि आठ प्रकाशमय नक्षत्र ।

विभागी-संज्ञा पुं० [विभागिन्] [स्त्री० विभागिनी] (१) विभाग करनेवाला । (२) विभाग या हिस्सा पानेवाला । हिस्सेदार ।

विभाजक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विभाग करनेवाला । बाँटनेवाला । (२) गणित में वह संख्या जिससे किसी दूसरी संख्या को भाग दें । भाजक ।

विभाजन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विभाजनीय, विभाजित, विभाज्य] (१) विभाग करने की क्रिया या भाव । बाँटने का काम । (२) पात्र । बरतन ।

विभाजित-वि० [सं०] जिसका विभाग किया गया हो । जो बाँटा गया हो । जिसके खंड वा हिस्से किए गए हों ।

विभाज्य-वि० [सं०] (१) विभाग करने योग्य । (२) जिसका विभाग करना हो । जिसे बाँटना हो ।

विभात-संज्ञा पुं० [सं०] सबेरा । प्रभात ।

विभाति-संज्ञा पुं० [सं० विभा] शोभा । सुंदरता । उ०—और वनिता की ओर भूलेहूँ न देहों मन तुम जो कहत आये साह सीरी ताती में । ताको अब करिवो निवाह सो देखाऊँ तुम्हें रघुनाथ देखो देह आपनी विभाती में ।—रघुनाथ ।

विभाना-क्रि० प्र० [सं० विभा + ना (प्रत्य०)] (१) चमकना । झलकना । (२) शोभा पाना । शोभित होना । उ०—मनु फुल कमल के मधि कठी सतगुन लता विभाति है ।—गोपाल ।

विभारना-क्रि० प्र० [हि० विभाना] चमकना । झलकना । उ०—खाम बरन पट भरुन विभारैं । रवि सम तेज सुलच्छन धारैं ।—पद्माकर ।

४२१

विभाव-संज्ञा पुं० [सं०] साहित्य में वह वस्तु जो रति आदि भावों को आश्रय में उत्पन्न करनेवाली या उद्दीप्त करनेवाली हो । रस-विधान में भाव का उद्बोधक ।

विशेष—विभाव दो कहे गए हैं—आलंबन और उद्दीपन । आलंबन वह है जिसके प्रति आश्रय या पात्र के हृदय में कोई भाव स्थित हो । जैसे नायक के लिये नायिका और नायिका के लिये नायक । उद्दीपन वह है जिससे आलंबन के प्रति स्थित भाव उद्दीप्त या उत्तेजित हो । रस-भेद से आलंबन और उद्दीपन भिन्न भिन्न होंगे । जैसे, शृंगार में आलंबन होंगे नायक नायिका; हास में कोई बेहंगी आकृति या वाणी आदिवाला व्यक्ति; करुण में विनष्ट बंधु आदि या कोई पीड़ित अथवा शोचनीय व्यक्ति इत्यादि, इत्यादि । इसी प्रकार उद्दीपन भी रस भेद से भिन्न होंगे । जैसे, शृंगार में चाँदनी, फूल आदि; रौद्र में आलंबन की दुष्ट चेष्टा इत्यादि ।

विभावन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विभावनीय] (१) विशेष रूप से चिंतन । (२) साहित्य के रस-विधान में वह मानसिक व्यापार जिसके कारण पात्र में प्रदर्शित भाव का श्रोता या पाठक भी साधारणीकरण द्वारा भागी होता है ।

विभावना-संज्ञा स्त्री० [सं०] साहित्य में एक अर्थालंकार जिसमें कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति, या अपूर्ण कारण से कार्य की उत्पत्ति, या प्रतिबंध होते हुए भी कार्य की सिद्धि, या जो जिस कार्य का कारण नहीं हुआ करता, उससे उस कार्य की उत्पत्ति, अथवा विरुद्ध कारण से किसी कार्य की उत्पत्ति या कार्य से कारण की उत्पत्ति दिखाई जाती है । उ०—
(क) सुनत लखत श्रुति नैन बिनु, रसना बिनु रस लेत ।
(ख) रामकुमार सरोज से हाथन सों गहि शंभु शरासन तोड़यो ।
(ग) तव बेनी नागिनि रहै, बाँधी गुनन बनाथ ।
तऊ वाम ब्रजचंद को बदाबदी डसि जाय ।
(घ) कारे घन उमड़ि अँगारे बरसत हैं ।
(ङ) अग्निधार खवत सुधाकर बिलोकिए ।
(च) और नदी नद नैं कोकनद होत, तेरो कर कोकनद नदी नद प्रगटत है ।

विभावनीय-वि० [सं०] भावना या चिंतन करने योग्य ।

विभावरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रात्रि । रात । (२) वह रात जिसमें तारे चमकते हों । (३) हरिद्रा । हल्दी । (४) कुटनी कुटनी । दूती । (५) टेढ़ी स्त्री । चाल की औरत । (६) सुखरा स्त्री । बहुत बड़ बड़ करनेवाली स्त्री । (७) मेश वृक्ष (८) प्रचेतस की नगरी का नाम ।

विभावरीश-संज्ञा पुं० [सं०] निशापति । चंद्रमा ।

विभावसु-वि० [सं०] जिसमें प्रकाश की अधिकता हो । अधिक प्रभावाला ।

संज्ञा पुं० (१) वसुओं के एक पुत्र । (२) सूर्य । (३) भाक का पौधा । अर्क । मदार । (४) अक्षि । (५) चित्रक वृक्ष ।

चीता । (१) चंद्रमा । (७) एक प्रकार का हार । (८) एक दानव जो नरकासुर का पुत्र था । (९) एक ऋषि का नाम । (महाभारत) (१०) एक गंधर्व जिसने गायत्री से वह सोम छीना था, जो वह देवताओं के लिये ले जा रही थी ।

विभावित-वि० [सं०] (१) चिंतन किया हुआ । सोचा या विचार हुआ । (२) कल्पित । (३) निश्चित । (४) स्वीकृत । मंजूर किया हुआ ।

विभाषा संज्ञा स्त्री० [सं०] संस्कृत व्याकरण में वह स्थल जहाँ ऐसे वचन मिलते हैं कि “ऐसा न होगा” तथा “ऐसा हो भी सकता है” ।

विभास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चमक । तेज । (२) एक राग जो सवरे के समय गाया जाता है । इसे कुछ लोग भैरव राग का ही भेद मानते हैं । (३) तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार सप्तर्षियों में से एक । (४) एक देव योनि । (मार्कंडेय पुराण)

विभासक-वि० [सं०] [स्त्री० विभासिका] (१) चमकनेवाला । प्रकाशक । (२) चमकानेवाला । झलकानेवाला । (३) प्रकाशित करनेवाला । प्रकट या व्यक्त करनेवाला । ज़ाहिर करनेवाला ।

विभासना-कि० प्र० [सं० विभास + ना (हि० प्रत्य०)] चमकना । झलकना ।

विभासिका-वि० स्त्री० [सं०] चमकनेवाली ।

विभासित-वि० [सं०] (१) प्रकाशित । दीप्त । चमकता हुआ । (२) प्रकट । ज़ाहिर ।

विभिन्न-वि० [सं०] (१) छिदा हुआ । कटा हुआ । काटकर अलग किया हुआ । (२) बिल्कुल अलग । पृथक् । जुदा । (३) अनेक प्रकार का । कई तरह का । (४) और का और किया हुआ । उलटा । (५) हताश । निराश ।

विभिन्नता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विभिन्न होने का भाव । भेद । पार्थक्य । अलगाव । फर्क ।

विभीत-वि० [सं०] डरा हुआ ।

संज्ञा पुं० विभीतक । बहेड़ा ।

विभीतक-संज्ञा पुं० [सं०] बहेड़े का वृक्ष ।

विभीति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) डर । भय । (२) शंका । संदेह । उ०—नहिं तोरिहैं राम शिव को धनु यह विभीति परिहरहु ।—घुराज ।

विभीषक-संज्ञा पुं० [सं०] डरानेवाला । भयानक ।

विभीषण-वि० [सं०] बहुत डरावना । बहुत भयानक ।

संज्ञा पुं० (१) एक राक्षस जो रावण का भाई था और रावण के मारे जाने पर राम द्वारा लंका का राजा बनाया गया था ।

विशेष—यह विश्रवा मुनि द्वारा कैकसी राक्षसी के गर्भ से

उत्पन्न हुआ था और सुमाली नामक राक्षस का दौहित्र (नाती) था । एक दिन सुमाली ने कुवेर को पुष्पक विमान पर चढ़कर जाते देखा । उसे यह इच्छा हुई कि मेरे भी ऐसा ही दौहित्र होता । उसने अपनी परम रूपवती कन्या कैकसी को विश्रवा मुनि के पास भेजा । जिस समय वह गई, उस समय मुनि ध्यान में मग्न थे । वे उसका अभिप्राय समझकर बोले—“तू बड़े विकट समय में आई । इससे इस बार तुझे एक विकट आकृति का पुत्र उत्पन्न होगा” । कैकसी के बहुत विनय करने पर ऋषि ने फिर आशीर्वाद दिया—“अच्छा जा ! तेरा अंतिम पुत्र मेरे ही वंश का सा और परम धार्मिक होगा ।” वही अंतिम पुत्र विभीषण हुआ । अपने बड़े भाइयों रावण और कुंभकर्ण के साथ विभीषण ने भी घोर तप किया । जब ब्रह्मा वर देने आए, तब विभीषण ने यही वर माँगा—“मेरी मति धर्म में सदा स्थिर रहे” । ब्रह्मा ने वर दिया—“तुम बड़े धार्मिक और अमर होंगे” । वर-प्राप्ति के उपरान्त विभीषण भी रावण के साथ लंका में ही आकर रहने लगा । रावण ने जब सीताहरण किया, तब यह राम की ओर हो गया था ।

(२) नल दृण । नरसल का पौधा ।

विभीषणा-वि० स्त्री० [सं०] डरावनी । भयानक ।

संज्ञा स्त्री० एक सुहृत् का नाम ।

विभीषिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भय-प्रदर्शन । डर दिखाना । (२) भयंकर बात । भयानक कांड या इश्वर ।

विभु-वि० [सं०] (१) जो सर्वत्र वर्तमान हो । जो सब मूर्त पदार्थों में रम रहा हो । जिससे कोई स्थान खाली न हो । सर्वगत । सर्वव्यापक । जैसे,—दिक्, काल और आत्मा ।

विशेष—जीव की जाग्रत आदि चारों अवस्थाओं के चार विभु माने गए हैं । जाग्रत का विभु विश्व, स्वप्न का तेजस्, सुषुप्ति का प्राज्ञ और तुरीय का ब्रह्म कहा गया है ।

(२) जो सब जगह जा सकता हो । सर्वत्र गमनशील ।

जैसे, मन । (३) अत्यंत विस्तृत । बहुत बड़ा । महान् ।

(४) सब काल में रहनेवाला । सर्वकाल व्यापी । नित्य ।

(५) दृढ़ । अचल । चिरस्थायी । (६) शक्तिमान् ।

ऐश्वर्ययुक्त ।

संज्ञा पुं० (१) ब्रह्म । (२) आत्मा । जीवात्मा । (३) प्रभु ।

स्वामी । (४) ईश्वर । (५) शंकर । शिव । (६) विष्णु ।

(७) भृत् ।

विभुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विभु होने का भाव । सर्व-व्यापकता । (२) ऐश्वर्य । शक्ति । (३) प्रभुता । ईश्वरता ।

(४) अधिकार ।

विभूति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बहुतायत । वृद्धि । बढ़ती ।

(२) विभव। ऐश्वर्य। (३) संपत्ति। धन। (४) दिव्य या अलौकिक शक्ति जिसके अंतर्गत अणिमा, महिमा, गरिमा, लविमा, प्राप्ति, प्राकाश्य, ईशित्व और वशित्व ये आठ सिद्धियाँ हैं। विशेष—योगदर्शन के विभूतिपाद में इसका वर्णन है कि किन किन साधनाओं से कौन कौन सी विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। (५) शिव के अंग में चढ़ाने की राख या भस्म। विशेष—देवी भागवत, शिवपुराण आदि में भस्म या विभूति धारण करने का नाहात्य विस्तार से वर्णित है। (६) भगवान् विष्णु का वह ऐश्वर्य जो नित्य और स्थायी माना जाता है। (७) लक्ष्मी। (८) विविध सृष्टि। (९) एक दिव्यास्त्र जो विश्वामित्र ने राम को दिया था। (१०) प्रभुत्व। बढ़ाई। (११) सृष्टि।

विभूतिमान-वि० [सं०] [ली० विभूतिमती] (१) शक्ति-संपन्न। ऐश्वर्यशाली। (२) संपत्तिशाली। धनवान्।

विभूमा-वि० [सं० विभूमन्] ऐश्वर्यवान्। शक्तिशाली। संज्ञा पुं० श्रीकृष्ण।

विभूरसि-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि की एक मूर्ति।

विभूषण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विभूष्य, विभूषित] (१) अलंकृत करने की क्रिया। गहने आदि से सजाने का काम। (२) भूषण। अलंकार। जेवर। गहना।

विशेष—किसी शब्द के आगे लगाकर यह शब्द श्रेष्ठतावाचक हो जाता है। जैसे—रघुवंश-विभूषण।

(३) मंजुश्री का एक नाम। (बौद्ध)

विभूषणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गहनों आदि की सजावट। भूषा। (२) शोभा।

विभूषना-क्रि० सं० [सं० विभूषण] (१) अलंकृत करना। गहने आदि से सजाना। (२) सुशोभित करना। मंडित करना। (३) अपने आगमन द्वारा सुशोभित करना। उ०—कहा रीति रावरी जो रंक को विभूषी गेह, तुम सौ प्रवीन गुरु सेवा ततपर को।—दूल्हा।

विभूषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गहनों आदि की खूब सजावट। (२) भूषण। अलंकार। गहना। (३) शोभा।

विभूषित-वि० [सं०] (१) गहनों आदि से सजाया हुआ। अलंकृत। (२) (अच्छी वस्तु, गुण आदि से) युक्त। सहित। जैसे,—वे सब गुणों से विभूषित हैं। (३) शोभित।

विभूषण-वि० [सं०] विभूषित-युक्त। संज्ञा पुं० शिव।

विभूष्य-वि० [सं०] (१) विभूषित करने योग्य। सजाने योग्य। (२) जिसे गहनों आदि से सजाना हो।

विभेंटन-संज्ञा पुं० [सं० वि० + भेंट] आलिंगन करना। गले मिलना। भेंटना। उ०—एरे वाम नैन मेरे एरी भुज वाम भाजरी करकन तें ओ नाकम बिहारिहों। करिहों गुलाब

उपकार गुन मानिनी कै देखन विभेंटन मैं आगे विस्तारिहों।—पद्माकर।

विभेद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विभिन्नता। फ़रक। अंतर। (२) अनेक भेद। कई प्रकार। (३) छेदकर घुसना। घँसना। (४) काटना, तोड़ना या छेदना। (५) कटाव। छेद। दरार। (६) दो या कई खंडों में करना। विभाग। (७) एक-रूपता से अनेक रूपता की प्राप्ति। विकास। (८) मिश्रण।

विभेदक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भेदन करनेवाला। काटने या छेदनेवाला। (२) घुसनेवाला। घँसनेवाला। (३) दो वस्तुओं में भेद प्रकट करनेवाला। फ़र्क दिखाने या डालनेवाला। एक से दूसरे में विशेषता प्रकट करनेवाला। संज्ञा पुं० विभीतक। बड़ेड़ा।

विभेदकारी-वि० [सं० विभेदकारिन्] [ली० विभेदकारिणी] (१) छेदने या काटनेवाला। (२) भेद या फ़र्क करनेवाला। (३) दो व्यक्तियों में विरोध उत्पन्न करनेवाला। फूट डालनेवाला।

विभेदन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विभेदय, विभेद्य] (१) छेदना, काटना या तोड़ना। (२) छेदकर घुसना। घँसना। (३) काटकर दो या कई खंडों में करना। (४) पृथक् पृथक् करना। अलग अलग करना। (५) भेद या फ़र्क डालना या दिखाना।

विभेदना-क्रि० सं० [सं० विभेदन] (१) भेदन करना। छेदना। काटना। (२) घुसना। प्रवेश करना। उ०—लोक विभेदति वासना वासु परी मनु दीरघ में गनिये जू।—केशव। (३) भेद या फ़र्क डालना।

विभेदिनी-वि० स्त्री० [सं० विभेदिन्] (१) छेदन या भेदन करनेवाली। (२) छेदकर घुसनेवाली। (३) भेद या फ़र्क करनेवाली।

विभेदी-वि० [सं० विभेदिन्] [ली० विभेदिनी] (१) छेदन करनेवाला। काटनेवाला। (२) छेदकर घुसनेवाला। घँसनेवाला। (३) भेद या फ़र्क करनेवाला।

विभो-संज्ञा पुं० [सं० 'विभु' का संशोधन रूप] हे विभु!

विभौ-संज्ञा पुं० दे० "विभव"।

विभ्रंश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विनाश। ध्वंस। (२) पतन। भवनति। (३) ऊँचा कगार। (४) पहाड़ की चाटी पर का चौरस मैदान।

विभ्रंशित-वि० [सं०] (१) विनष्ट। ध्वस्त। (२) पतित।

विभ्रम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भ्रमण। चक्कर। फेरा। (२) भ्रम। भ्रांति। धोखा। भूठ। (३) संदेह। संशय। (४) चक्क पकाहट। घबराहट। अस्थिरता। (५) छियों का एक हाव जिसमें वे भ्रम से उलटे पलटे भूषण वस्त्र पहन लेती हैं,

तथा रह रहकर मतवाले की तरह कभी क्रोध, कभी हर्ष आदि भाव प्रकट करती हैं। (६) शोभा।

विभ्रमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बुढ़ाई। बुढ़ापा। वाढ्क्य।

विभ्रान्ति-वि० [सं०] (१) घूमता हुआ। चकर खाता हुआ। (२) भ्रम में पड़ा हुआ। विभ्रमयुक्त।

विभ्रान्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) फेरा। चक्कर। (२) भ्रम। संदेह। (३) हड़बड़ी। घबराहट।

विभ्राट्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आपत्ति। विपत्ति। संकट। (२) उपद्रव। बखेड़ा। उ०—तिलक विभ्राट् के समय गोखले विलायत में थे।—सरस्वती।

वि० प्रकाशमान्। दीप्तिमान्।

विमंडन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विमंडित] (१) गहने आदि से सजाना। (२) शृंगार करना। सँवारना। (३) अलंकार। भूषण। गहना।

विमंडित-वि० [सं०] (१) अलंकृत। सजा हुआ। (२) सुशोभित। (३) सहित। युक्त। (अच्छी वस्तु से) उ०—देखि विमण्डित दण्डिन सो भुजदण्ड हुआ असि दण्ड विहीनो।—केशव।

विमंथन-संज्ञा पुं० [सं०] खूब मथना।

विमत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विरुद्ध मत। विपरीत सिद्धान्त। उ०—उमत, विमत, न पुरान मत एक पथ नेति नेति नेति निगम करत।—तुलसी। (२) खिलाफ राय। प्रति-कूल सम्मति।

वि० विरुद्ध मतवाला।

विमति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विरुद्ध मति। खिलाफ राय। प्रतिकूल विचार। (२) उचित के विपरीत विचार। कुमति। दुर्बुद्धि। बुरा विचार। (३) असम्मति। अस्वीकृति।

विमत्सर-संज्ञा पुं० [सं०] अधिक अहंकार। उ०—तजि काम क्रोध विमत्सरालस लोभ मोह निवारि कै। छल मल कुसंगति त्यागि मद दुरवासना सनमानि कै।—विश्राम।

वि० मत्सर-रहित। अहंकार-शून्य।

विमद-वि० [सं०] (१) मद-रहित। उन्माद हीन। जो मतवाला न हो। (२) (वह हाथी) जिसे मद न बहता हो।

विमन-वि० [सं० विमनस्] अनमना। उदास। रंजीदा। खिन्न। उ०—विमन बैठि मुनि सुरसरि तीरा। तहँ आयो नारद मुनि धीरा। क्यों उदास पूछ्यौ अस व्यासै। वण्यौ व्यास सकल निज आसै।—रघुराज।

विमनस्क-वि० [सं०] (१) जिसका मन उचटा हो। जिसका मन न लगाता हो। अनमना। (२) उदास। खिन्न। रंजीदा।

विमर्दक-वि० [सं०] (१) खूब मर्दन करनेवाला। मसल डालनेवाला। (२) चूर चूर करनेवाला। पीस डालनेवाला। (३) नष्ट भष्ट करनेवाला। ध्वस्त करनेवाला।

विमर्दन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विमर्दनीय, विमर्दित] (१) खूब मर्दन करना। अच्छी तरह मलना दलना। (२) कुचलना। पीस डालना। (३) ध्वस्त करना। नष्ट करना। बरबाद करना। (४) मार डालना। (५) पीड़ित करना। (६) अभिभव। प्रस्फुटन। स्फुरण। जैसे, बीज फूटकर अंकुर का प्रकट होना। (सांख्य)

विमर्दनीय-वि० [सं०] मर्दन करने योग्य।

विमर्दित-वि० [सं०] (१) मला दला हुआ। (२) कुचला हुआ। (३) नष्ट किया हुआ। बरबाद किया हुआ। (४) पीड़ित। (५) अपमानित।

विमर्दी-वि० [सं० विमर्दिन्] [स्त्री० विमर्दिनी] (१) खूब मर्दन करनेवाला। (२) कुचलनेवाला। पीसनेवाला। (३) नष्ट करनेवाला। (४) बध करनेवाला। मारनेवाला।

विमर्श-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी तथ्य का अनुसंधान। किसी बात का विवेचन या विचार। (२) आलोचना। समीक्षा। (३) परखने की क्रिया। परीक्षा। (४) परामर्श। सलाह। (५) असंतोष। अधीरता।

विमर्शन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विमृष्ट, विमर्शी] (१) विवेचन करना। तर्क वितर्क करना। (२) आलोचना करना।

विमर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विवेचन। विचार। (२) आलोचना। समीक्षा। (३) नाटक का एक अंग जिसके अंतर्गत अपवाद, संकेत, व्यवसाय, द्रव, द्युति, शक्ति, प्रसंग, खेद, प्रतिषेध, विरोध, प्ररोचना, आदान और छादन का वर्णन होता है।

विशेष—दोष-कथन को अपवाद, क्रोध से भरी बात चीत को संकेत, कार्य के हेतु के उद्भव को व्यवसाय, शोक आदि के वेग में गुरु जनों के आदर आदि का ध्यान न रखने को द्रव, भयप्रदर्शन द्वारा उद्वेग उत्पन्न करने को द्युति, विरोध की शान्ति को शक्ति, अत्यंत गुण की स्तन या दोष-दर्शन को प्रसंग, शरीर या मन की थकावट को खेद, अभिलषित विषय में रुकावट को प्रतिषेध, कार्यध्वंस को विरोध, प्रस्तावना के समय नट, नटी, नाटक या नाटककार आदि की प्रशंसा को प्ररोचना, संहार विषय के प्रदर्शित होने को आदान, तथा कार्योद्धार के लिये अपमान आदि सह लेने को छादन कहते हैं।

विमल-वि० [सं०] [स्त्री० विमला] (१) निर्मल। मल रहित। स्वच्छ। साफ़। (२) बिना ऐव का। निर्दोष। शुद्ध। (३) रमणीय। सुंदर। मनोहर।

संज्ञा पुं० (१) एक उपधातु जिसके शोधन आदि की विधि रसंद्रसार में लिखी है। (२) चाँदी। (३) गत उत्सर्पिणी के ५ वें और वर्तमान अवसर्पिणी के १३ वें अर्हत् या तीर्थंकर। (जैन) (४) सुद्युम्न का पुत्र। (५) पद्मकाष्ठ। (६) सँधा वनक।

विमलक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का नग या बहुमुख पत्थर ।

विमलकीर्ति-संज्ञा पुं० [सं०] महायान पंथ के एक बौद्ध आचार्य जिन्होंने कई सूत्रों की रचना की है, जो उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

विमलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) निर्मलता । स्वच्छता । सफ़ाई । (२) पवित्रता । (३) शुद्धता । निर्दोषता । (४) रमणीयता । मनोहरता ।

विमल दान-संज्ञा पुं० [सं०] वह दान जो नित्य, नैमित्तिक और काम्य के अतिरिक्त हो और केवल ईश्वर के प्रीत्यर्थ दिया जाय । (गरुड पुराण)

विमलध्वनि-संज्ञा पुं० [सं०] छः चरणों का एक छंद जो एक दोहे और समान सवैया से मिलकर बनता है ।

विमला-वि० स्त्री० [सं०] निर्मल । स्वच्छ ।

संज्ञा स्त्री० (१) ससला का पेड़ । कोची । सातला । चर्म-कषा । (२) एक प्रकार की भूमि । (३) एक देवी का नाम जो कालिका पुराण में वासुदेव की नायिका कही गई है । (४) सरस्वती ।

विमलात्मा-वि० [सं० विमलात्मन्] शुद्ध हृदयवाला । शुद्ध मनवाला ।

संज्ञा पुं० चंद्रमा ।

विमलाशोक-संज्ञा पुं० [सं०] संन्यासियों का एक भेद ।

विमलीकरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विमल करने की क्रिया । शुद्ध करने की क्रिया । (२) मन में विचार कर ज्योति मंत्र से तीनों मलों का नाश करना । (सर्वदर्शनसंग्रह)

विमलोदका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम ।

विमांस-संज्ञा पुं० [सं०] अशुद्ध, अपवित्र या न खाने योग्य मांस । (जैसे, कुत्ते आदि का)

विमाता-संज्ञा स्त्री० [सं० विमातृ] अपनी माता के अतिरिक्त पिता की दूसरी विवाहता स्त्री । सौतेली माँ ।

विमातृज-संज्ञा पुं० [सं०] विमाता का पुत्र । सौतेला भाई ।

विमान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकाश मार्ग से गमन करनेवाला रथ जो देवताओं आदि के पास होता है । वायुयान । उड़न-खटोला । (२) मरे हुए बृद्ध मनुष्य की अस्थि जो सजधज के साथ निकाली जाती है । (३) रथ । गाड़ी । (४) अश्व । घोड़ा । (५) सात खंड का मकान । सात मंजिल का घर । (६) असम्मान । अनादर । (७) परिमाण । (८) प्राचीन वास्तु विद्या के अनुसार वह देव मंदिर जो ऊपर की ओर गावदुम या पतला होता हुआ चला जाय ।

विशेष—‘मानसार’ नामक प्राचीन ग्रंथ के अनुसार विमान गोल, चौपहला और अठपहला होता है । गोल को बेसर, चौपहले को नागर और अठपहले को द्राविड कहते हैं ।

विमानना-संज्ञा स्त्री० [सं०] अपमान । अवमानना । तिरस्कार ।

विमार्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बुरा रास्ता । (२) कदाचार । बुरी चाल । (३) झाड़ू । कूचा ।

विमित-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह चौकोर शाला या इमारत जो चार खंभों पर टिकी हो । (२) बड़ा कमरा या इमारत ।

वि० जिसकी सीमा या हद हो । परिमित ।

विमिश्र-वि० [सं०] (१) मिला हुआ । मिश्रित । (२) जिसमें कई प्रकार की वस्तुओं का मेल हो । मिला जुला ।

विमिश्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मृगशिरा, आर्द्रा, मघा, और अश्लेषा नक्षत्र में बुध की गति का नाम जो ३० दिनों तक रहती है ।

विमिश्रित-वि० [सं०] (१) मिलाया हुआ । (२) मिला जुला ।

विमुक्त-वि० [सं०] (१) अच्छी तरह मुक्त । कूटा हुआ । जो बंधन से अलग हुआ हो । (२) जिसे किसी प्रकार का प्रतिबंध या रुकावट न रह गई हो । (३) स्वतंत्र । स्वच्छंद । आजाद । (४) (हानि, दंड आदि से) बचा हुआ । (५) अलग किया हुआ । बरी । (६) परुड़ से छूटकर चला हुआ । फेंका हुआ । छोड़ा हुआ । जैसे,—विमुक्त वाण ।

विमुक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छुटकारा । रिहाई । (२) मुक्ति । मोक्ष ।

विमुख-वि० [सं०] (१) मुख रहित । जिसके मुँह न हो । (२) जिसने किसी बात से मुँह फेर लिया हो । जो किसी कार्य या विषय में दृष्टि न हो । जो किसी काम से हटा या अलग हो । अतत्पर । विरत । निवृत्त । जैसे,—कर्त्तव्य से विमुख होना । (३) जो अनुरक्त न हो । जिसे परवाह न हो । जिसने मन न लगाया हो । उदासीन । जैसे,—हरिपद विमुख । (४) जो किसी के हित के प्रतिकूल हो । जिसकी स्थिति या आचरण अनुकूल न हो । विरुद्ध । खिलाफ़ । अप्रसन्न । जैसे,—जब ईश्वर ही विमुख है, तब क्या हो सकता है ! (५) जिसकी चाह या माँग पूरी न हुई हो । अप्राप्त मनोरथ । निराश । जैसे,—उनके यहाँ से कोई याचक विमुख नहीं गया । उ०—जो ऐह्य सो भोजन पै हैं । विमुख कोउ इततें नहिं जै हैं ।—रघुराज ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

विमुखता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी बात से दूर रहना । अतत्परता । विरति । (२) विपरीतता । विरोध । अप्रसन्नता ।

विमुग्ध-वि० [सं०] (१) मोहित । आसक्त । (२) भ्रम में पड़ा हुआ । भूला हुआ । भ्रांत । (३) घबराया हुआ । डरा हुआ । (४) उन्मत्त । मतवाला । (५) पागल । बावला । (६) बेसुध ।

विमुग्धक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोहनेवाला । (२) एक प्रकार का छोटा अभिनय या नक़ल । (नाट्य-नाक़)

विमृग्यकारी

विमृग्यकारी-संज्ञा पुं० [सं० विमृग्यकारिन्] [स्त्री० विमृग्यकारिणी]

(१) मोहनेवाला। मोहित करनेवाला। (२) भ्रम में डालनेवाला।

विमृद-वि० [सं०] भानंद-रहित। उदास। खिन्न। उ०—करति केलि पिय हिय लगी, कोक कलनि अवरैलि। विमृद कुमुद लौं है रही चंदु मंद दुति देखि।—पद्माकर।
संज्ञा पुं० एक बड़ी संख्या का नाम।

विमृद-वि० [सं०] [स्त्री० विमृदा] (१) विशेष रूप से मुग्ध। अत्यंत मोहित। (२) मोह प्राप्त। भ्रम में पड़ा हुआ। चक्राया हुआ। (३) बेसुध। अचेत। (४) ज्ञान-रहित। जिसे समझ न पड़ता हो। जैसे,—किंकर्तव्य विमृद। (५) बहुत मूर्ख। जड़ बुद्धि। नादान। नासमझ।
संज्ञा पुं० एक प्रकार की संगीत-कला।

विमृदगर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] वह गर्भ जिसमें बच्चा मरा या बेहोश हो और प्रसव में बड़ी कठिनाता हो।

विमूल-वि० [सं०] (१) मूल-रहित। बिना जड़ का। (२) मूल से रहित। उच्छिन्न। निर्मूल। (३) बरबाद। नष्ट।
क्रि० प्र०—करना।—होना।

विमूलन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जड़ से उखाड़ना। उन्मूलन। (२) विनाश। ध्वंस।

विमृश्य-वि० [सं०] (१) विवेचन के योग्य। आलोचना या समीक्षा के योग्य। (२) जिस पर विवेचना या विचार करना हो। जिसकी समीक्षा करनी हो।

विमृष्ट-वि० [सं०] (१) जिस पर तर्क वितर्क या सम्यक् विचार हुआ हो। (२) जिसकी पूरी आलोचना या समीक्षा हुई हो। (३) परिच्छिन्न।

विमोक्त-वि० [सं०] (१) मल-रहित। राग-रहित। दुर्वासना रहित। (जैन) (२) ऊपरी आवरण रहित। (३) साफ़। स्पष्ट।
संज्ञा पुं० मुक्ति। छुटकारा। रिहाई।

विमोक्ता-संज्ञा पुं० [सं० विमोक्त] मुक्त करनेवाला। छुड़ाने-वाला।

विमोक्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बंधन या गाँठ आदि का खुलना। (२) छुटकारा। मुक्ति। रिहाई। (३) जन्म मरण के बंधन से छूटना। आवागमन से छुट्टी पाना। मुक्ति। निर्वाण। (४) सूर्य या चंद्रमा का ग्रहण से छूटना। ग्रहण का हटना। उग्रह। (५) किसी वस्तु का पकड़ से इस प्रकार छूटना कि वह दूर जा पड़े। प्रक्षेपण। (६) मेरु पर्वत का एक नाम।

विमोक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बंधन आदि खोलना। (२) मुक्त करना। रिहा करना। (३) हाथ से छोड़ना जिसमें कोई वस्तु दूर जा पड़े। प्रक्षेपण।

विमोक्ष-वि० [सं०] व्यर्थ न होनेवाला। न चूकनेवाला। खाली न जानेवाला। अमोक्ष।

विमोचक-वि० [सं०] (१) मुक्त करनेवाला। छुड़ाने-वाला। (२) बंधन खोलनेवाला। (३) गिरानेवाला। छोड़नेवाला। डालनेवाला।

विमोचन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विमोचनीय, विमोचित, विमोच्य] (१) बंधन, गाँठ आदि खोलना। (२) बंधन से छुड़ाना। मुक्त करना। रिहा करना। (३) गाड़ी से बैल आदि को खोलना। (४) निकालना। बाहर करना। जैसे,—अश्रु विमोचन। (५) इस प्रकार अलग करना कि कोई वस्तु दूर जा पड़े। छोड़ना। फेंकना। जैसे,—धनुष से बाण। (६) गिराना। डालना।

विमोचना-क्रि० सं० [सं० विमोचन] (१) बंधन आदि खोलना। (२) छुटकारा देना। रिहा करना। मुक्त करना। छोड़ना। (३) गिराना। टपकाना। (४) निकालना। बाहर करना। उ०—जब तैं परदेस सिधारे पिया भँसुआ अँखियानि विमोचति सी।—वेनीप्रवीन।

विमोचनीय-वि० [सं०] छोड़ने योग्य। मुक्त करने योग्य।
विमोचित-वि० [सं०] (१) खुला हुआ। जो बँधा न हो। (२) जो छोड़ दिया गया हो। मुक्त किया हुआ।

विमोच्य-वि० [सं०] (१) छोड़ने योग्य। मुक्त करने योग्य। (२) जिसे छोड़ना, खोलना या मुक्त करना हो।

विमोह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोह। अज्ञान। भ्रम। भ्रांति। उ०—मनु वसुदेव विमोह कंस से। मोचक माधव दुविद ध्वंस से।—रघुराज। (२) बेसुध होना। अचेत होना। बेहोशी। (३) बहुत लुभाना या मोहित होना। आसक्ति। (४) एक नरक का नाम।

विमोहक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोहनेवाला। मन खींचनेवाला। लुभावना। (२) मन में लोभ उत्पन्न करनेवाला। ललचाने-वाला। (३) ज्ञान या सुख हरनेवाला। (४) एक राग जो हिंदोल राग का पुत्र माना जाता है।

विमोहन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विमोहित, विमोही] (१) मोहित करना। मन लुभाना। मुग्ध करना। (२) दूसरे का मन वश में करना। (३) सुध बुध भुलाना। ऐसा प्रभाव डालना कि चित्त ठिकाने न रहे। (४) कामदेव के पाँच बाणों में से एक। (५) एक नरक का नाम।

विमोहनशील-वि० [सं० विमोहन + शील] (१) भ्रमकारी। धोखा देनेवाला। चक्र में डालनेवाला। भ्रांत करनेवाला। उ०—गिरजा सुनहु राम कै लीला। सुर हित दनुज विमोहनशीला।—तुलसी। (२) मोहित करनेवाला। लुभानेवाला।

विमोहना-क्रि० प्र० [सं० विमोहन] (१) मोहित होना। लुभा जाना। आसक्त होना। उ०—एक नयन कवि मुहमद गुनी।

सोई विमोहा जो कवि सुनी।—जायसी। (२) बेसुध होना। तन मन की सुध न रहना। (३) भ्रांत होना। धोखा खाना।

क्रि० सं० (१) मोहित करना। लुभाना। (२) ऐसा प्रभाव डालना कि तन मन की सुध न रहे। बेसुध करना। (३) भ्रांति में करना। धोखे में डालना।

विमोहा-संज्ञा स्त्री० [?] एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में दो रगण (sis) होते हैं। इसे 'जोहा' 'विजोहा' और 'विजोहा' भी कहते हैं। वि० दे० "विजोहा"।

विमोहित-वि० [सं०] (१) लुभाया हुआ। मुग्ध। उ०—तुम अस बहुत विमोहित भये। धुन धुन सीस जीव दै गये। (२) तन मन की सुध भूला हुआ। (३) मूर्च्छित। उ०—यह सुनना न पड़े सोई अच्छा है और यही कहते कहते वह विमोहित हो गई।—कादंबरी।

विमोही-वि० [सं० विमोहिन्] [स्त्री० विमोहिनी] (१) मोहित करनेवाला। जी लुभानेवाला। मन आकर्षित करनेवाला। (२) सुध बुध भुलानेवाला। ऐसा प्रभाव डालनेवाला कि तन मन की सुध न रहे। (३) मूर्च्छित या बेहोश करनेवाला। (४) भ्रम में डालनेवाला। भ्रांत करनेवाला। (५) जिसे मोह या दया न हो। जिसे ममता या स्नेह न हो। निष्ठुर। कठोर-हृदय। उ०—जिउ गँवाई सो गएउ विमोही। भा बिनु जिउ, जिउ दीन्हैसि ओही।—जायसी।

विमौट-संज्ञा पुं० [सं० वस्मीक प्रा० वन्वी + औट (प्रत्य०)] दीमकों का उठाया हुआ मिट्टी का ढूह। बाँबी। उ०—गोहर है तुम पूरव जनमा। बसे विमौट एक कहुँ बन माँ।—रघुराज।

वियंग-संज्ञा पुं० [हि० विय + अंग] दो अंगवाले, महादेव। उ०—करहि वियंगा आलिंगन। तेहि चन्द्रहि कबहुँ सालिंगन।—शंकरदिविजय।

वियङ्ग-वि० [सं० द्वि, द्वितीय, प्रा० विय] (१) दो। जोड़ा (२) दूसरा। उ०—कहत सवै कवि कनल से, मो मत नैन पखान। नतरु कत इनि विय लगत उपजत विरह कृशान।—बिहारी।

वियग्मणि-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य।

वियत्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकाश। (२) वायुमण्डल।

वि० गमनशील।

वियत्पताका-संज्ञा स्त्री० [सं० वियत् + पताका] विद्युत्। बिजली।

वियति-संज्ञा पुं० [सं०] नहुष राजा के एक पुत्र का नाम। (भागवत)

वियद्गंगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] आकाशगंगा।

वियम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) संयम। इंद्रियदमन। (२) दुःख। क्लेश। यातना।

वियात-वि० [सं०] (१) रास्ते से भटका हुआ। पथ-भ्रष्ट। (२) गया बीता। (३) निर्लज्ज। बेहया।

वियाम-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रिय निग्रह। संयम।

वियुत्-वि० [सं०] (१) वियुक्त। अलग। (२) रहित। हीन।

वियुक्त-वि० [सं०] (१) जो संयुक्त न हो। जिसकी जुदाई हो गई हो। बिछुड़ा हुआ। वियोग प्राप्त। (२) जुदा। अलग। पृथक्। (३) रहित। हीन।

वियो-संज्ञा पुं० [सं० द्वितीय, प्रा० वीय] दूसरा। अन्य। उ०—ज्ञान स्मारत पक्ष को नाहिन कोउ खण्डन वियो।—नाभादास।

वियोग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) संयोग का अभाव। मिलाप का न होना। विच्छेद। (२) पृथक् होने का भाव। अलगाव। (३) दो प्रेमियों का एक दूसरे से अलग होना। विरह। जुदाई।

विशेष—साहित्य में शृंगार रस दो प्रकार का माना गया है—संयोग शृंगार (या संभोग शृंगार) और वियोग शृंगार (या विप्रलम्भ शृंगार)। वियोग की दशा तीन प्रकार की होती है—पूर्वराग, मान और प्रवास।

(४) गणित में राशि का व्यवकलन।

वियोगांत-वि० [सं०] (नाटक या उपन्यास आदि) जिसकी कथा का अंत दुःख-पूर्ण हो।

विशेष—आधुनिक नाटक दो प्रकार के माने जाते हैं—सुखांत और दुःखांत। इन्हीं को कुछ लोग संयोगांत और वियोगांत भी कहते हैं। भारतवर्ष में संयोगांत या सुखांत नाटक लिखने की ही चाल पाई जाती है; दुःखांत का निषेध ही मिलता है। पर पूर्वकाल में दुःखांत नाटक भी लिखे जाते थे, इसका आभास कालिदास के पूर्ववर्ती महाकवि भास के नाटकों से मिलता है।

वियोगिन-संज्ञा स्त्री० दे० "वियोगिनी"।

वियोगिनी-वि० स्त्री० [सं०] जो अपने पति या प्रिय से वियुक्त हो। जो अपने प्यारे से बिछुड़ी हुई हो। जिसका पति या नायक पास में न हो और जो उसके न रहने से दुःखी हो।

वियोगी-वि० [सं० वियोगिन्] [स्त्री० वियोगिनी] जो प्रिया से वियुक्त हो। जो प्रियतमा से बिछुड़ा हुआ हो। विरही।

संज्ञा पुं० (१) वियोगी पुरुष। (२) चक्रवाक। चकवा।

वियोजक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अलग करनेवाला। दो मिली हुई वस्तुओं को पृथक् करनेवाला। (२) गणित में वह संख्या जिसे किसी दूसरी बड़ी संख्या में से घटाना हो।

वियोजन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० वियोजनीय, वियोजित, वियोज्य] (१) मिली हुई वस्तुओं को अलग करना। जुदा करना। पृथक् करना। (२) गणित में एक संख्या में से उससे कुछ छोटी दूसरी संख्या निकालने या घटाने की क्रिया। बाक़ी।

वियोजित

वियोजित-वि० [सं०] (१) पृथक् किया हुआ। अलग किया हुआ। (२) रहित। शून्य।

वियोज्य-वि० [सं०] (१) वियोजन के योग्य। पृथक् करने योग्य। (२) जिसे अलग करना हो। जिसे जुदा करना हो। संज्ञा पुं० वह संख्या जिसमें से कोई संख्या घटानी हो। (गणित)

विरंग-वि० [सं०] (१) बुरे रंग का। बदरंग। विवर्ण। फीका। उ०—कैला करी कोकिल कुरंग बार कोर कोर कुदि कुदि केहरि कलंक लंक हडली। जरि जरि जम्बूनद विद्रुम विरंग होत, अंग फारि दाडिम त्वचा भुजंग बदली। (२) अनेक रंगों का। कई वर्णों का।

यौ०—रंग विरंग, रंग विरंगा।

विरंग काबुली-संज्ञा पुं० [का०] बायविडंग। आभीरंग।

विरंच-संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा।

विरंचि-संज्ञा पुं० [सं०] सृष्टि रचनेवाला, ब्रह्मा। विधाता।

उ०—संवि विरंचि निकाई मनोहर लाजति मूरतिवन्त बनाई। तापर तो बड़ भाग बड़े मतिराम लसैं पति प्रीति सुहाई।—मतिराम।

विरंचिसुत-संज्ञा पुं० [सं० विरंचि + सुत] ब्रह्मा के पुत्र, नारद।

उ०—सुनि विरंचि-सुति अति हरपाए। कहत सुनहु जो चहत सुहाए।—गोपाल।

विरंज फूल-संज्ञा पुं० [हि० विरंज + फूल] एक प्रकार का धान या जड़हन।

विरक्त-वि० [सं०] (१) जो अनुरक्त न हो। जिसका जी हटा हो। जिसे चाह न हो। विमुख। जैसे,—ऐसी बातों से वे सदा विरक्त रहते हैं। (२) जो कुछ प्रयोजन न रखता हो। उदासीन। (३) अप्रसन्न। खिन्न। जैसे,—उनकी बातें सुनकर वे और भी विरक्त हो गए।

संज्ञा पुं० ऐसे बाजे जो केवल ताल देने के काम में आते हैं।

विरक्तता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अनुराग का अभाव। विरक्त होने का भाव। (२) उदासीनता।

विरक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अनुराग का अभाव। चाह का न होना। जी का हटा रहना। विराग। विमुखता। (२) उदासीनता। (३) अप्रसन्नता। खिन्नता।

विरचन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विरचनीय, विरचित] प्रणयन। निर्माण। बनाना।

विरचना-क्रि० सं० [सं० विरचन] (१) रचना। बनाना। निर्माण करना। (२) अलंकृत करना। सजाना।

क्रि० अ० [सं० वि + रंचन] विरक्त होना। जी का हटना। उचटना। उ०—विरचि मन फेरि राख्यो जाइ।—सूर।

विरचयिता-संज्ञा पुं० [सं०] रचनेवाला। बनानेवाला।

विरचित-वि० [सं०] (१) बनाया हुआ। निर्मित। (२) रचा

हुआ। लिखित। जैसे,—कालिदास विरचित शकुंतला नाटक।

विरज-वि० [सं० विरजस्] (१) जोगुण रहित। सुख-वासना आदि से मुक्त। (२) जिस पर कल या गर्द न हो। निर्मल। स्वच्छ। साफ़। (३) निर्दोष। बेपेय। (४) (स्त्री) जिसका रजोधर्म बंद हो गया हो। संज्ञा पुं० (१) विष्णु। (२) शिव। (३) उत्तराष्ट्र के एक पुत्र का नाम।

विरजप्रभ-संज्ञा पुं० [सं०] एक बुद्ध का नाम।

विरजमंडल-संज्ञा पुं० [सं०] एक तीर्थ जो उड़ीसा में जाजपुर के पास माना गया है। यहाँ देवी की महाजया नामक मूर्ति है। (प्रभासखंड)

विरजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कपिस्थानी का पौधा जिसकी पत्तियाँ कैथ की पत्तियों के समान होती हैं। (२) श्रीकृष्ण की एक प्रेमिका सखी जिसने राधा के भय से नदी का रूप धारण कर लिया था।

विशेष—इसकी कथा ब्रह्मवैवर्त पुराण के श्रीकृष्ण जन्मखंड में दी हुई है। गोलोक में एक बार कृष्ण जी राधा को न देखकर विरजा नाम की एक गोपी के पास चले गए। खबर पाते ही राधा दौड़ी। श्रीकृष्ण तो अंतर्धान हो गए; और विरजा बेचारी डर के मारे नदी हो गई। जब कृष्ण इसके विरह में बहुत व्याकुल हुए, तब इसने फिर अपना पूर्व रूप धारण कर लिया।

विरजाक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] मार्कंडेय पुराण के अनुसार एक पर्वत जो मेरु के उत्तर ओर है।

विरजाक्षेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] उड़ीसा में एक तीर्थ स्थान जो जाजपुर के पास माना जाता है।

विरट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कंधा। (२) अगुरु। अगर वृक्ष।

विरण-संज्ञा पुं० [सं०] बरिन नाम की घास।

विरत-वि० [सं०] (१) जो अनुरक्त न हो। जिसे चाह न हो। जिसका मन हटा हो। विमुख। जैसे,—स्त्री या भोग विलास से विरत होना। (२) जो लगा हुआ न हो। जो लीन या तत्पर न हो। जिसने अपना हाथ हटा लिया हो। निवृत्त। जैसे,—किसी कार्य से विरत होना। (३) जिसने सांसारिक विषयों से अपना मन हटा लिया हो। विरक्त। वैरागी। (४) विशेष रूप से रत। बहुत लीन। बिल्कुल लगा हुआ। उ०—कहुँ गनक गनत, जोगी जपत जंत्र मंत्र मन विरत नित।—गुमान।

विरति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अनुराग का अभाव। चाह का न होना। (२) जी का उचटना। उदासीनता। (३) सांसारिक विषयों से जी का हटना। वैराग्य। उ०—जोग तैं विरति, विरति तैं ज्ञान।—तुलसी।

विरथ-वि० [सं०] (१) बिना रथ का। जिसके पास रथ या सवारी न हो। उ०—रावण रथी, विरथ रघुवीरा।—तुलसी। (२) रथ से गिरा हुआ। (३) पैदल।

विरथीकरण-संज्ञा पुं० [सं०] युद्ध में रथ नष्ट करके शत्रु को रथहीन करना।

विरद-संज्ञा पुं० [सं० विरद] (१) बड़ा नाम। लंबा चौड़ा या सुंदर नाम। (२) ख्याति। प्रसिद्धि। उ०—बड़े न हूँ गुनन बिनु विरद बढ़ाई पाय। कहत भट्टरा को कनक गहनों गढ़यो न जाय।—विहारी। (३) यश। कीर्ति।

विशेष-दे० “विरुद”।

वि० [सं०] बिना दाँत का।

विरदावली-संज्ञा स्त्री० [सं० विरदावली] यश की कथा। कीर्ति की गाथा। प्रशंसा के गीत।

विरदैत*-वि० [हि० विरद + ऐत (प्रत्य०)] बड़े विरदवाला। कीर्ति या यशवाला। बड़े नामवाला।

विरमण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विराम करना। रुकना। ठहरना। थमना। (२) रम जाना। मन लगाना। (३) संभोग। विलास। (४) विरत होना। निवृत्त होना। त्याग। जैसे,—अदत्तदान-विरमण। (जैन)

विरमना-क्रि० अ० [सं० विरमण] (१) रम जाना। मन लगाना। अनुरक्त हो जाना। (२) विराम करना। ठहरना। रुकना। (३) मोहित होकर रुक जाना। उ०—सूरदास कित विरमि रहे प्रभु आवत नाहि चले।—सूर। (४) वेग आदि का थमना या कम होना। उ०—विरमै नहि ताप जताए बिन, जगजीवन की अहै रीति यही। करें जाहिर जीभ सों लाज लगे जो अकाज न आज फिरै उमही। क्रि० अ० दे० “विलंबना”।

विरमाना*-क्रि० स० [हि० विरमना का स० रूप] (१) दूसरे का मन लगाना। अनुरक्त करना। (२) मोहित करके रोक लेना। फँसाना। उ०—उत कुबजा विरमायो दयामहि, इत यह दशा भई।—सूर। (३) फँसा रखना। मशगूल रखना। उ०—देति न लेति कलू हँसिके बड़ी बेर लौं बातन ही विरमावति। (४) भुलावे में रखना। भ्रम में डाले रहना। क्रि० स० दे० “विलंबाना”।

विरल-वि० [सं०] (१) जो घना न हो। जिसके बीच बीच में अवकाश हो। जिसके बीच बीच में खाली जगह हो। ‘सघन’ का उलटा। जैसे,—आगे चलकर यह वन विरल होता गया है। (२) जो पास पास न हों। जो दूर दूर पर हों। (३) जो अधिकता से न मिले। जो केवल कहीं कहीं पाया जाय। दुर्लभ। जैसे,—ऐसे लोग संसार में बहुत विरल हैं। (४) जो गाढ़ा न हो। पतला। (५) शून्य। निर्जन। (६) अल्प। थोड़ा।

४२२

विरलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का शीना या महीन वस्त्र।

विरलीकरण-संज्ञा पुं० [सं०] सघन को विरल करना।

विरद-संज्ञा पुं० [सं०] अनेक प्रकार के शब्द।

वि० शब्द-रहित। नीरव।

विरस-वि० [सं०] (१) रसहीन। फीका। नीरस। बिना स्वाद का। उ०—जल पय सरिस बिनाय, देखहु प्रीति की रीति यह। विरस तुरत ह्वै जाय, कपट खटाई परत ही। (२) जो अच्छा न लगे। विरक्ति-जनक। जी हटानेवाला। अप्रिय। अरुचिकर। (३) (काव्य) जो रसहीन हो गया हो। जिसमें रस का निर्वाह न हो सका हो।

संज्ञा पुं० काव्य में रस-भंग।

विशेष-केशव ने इसे ‘अनरस’ के पाँच भेदों में एक माना है।

विरसता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नीरसता। फीकापन। (२) रसभंग। मज़ा किरकिरा होना।

विरह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी वस्तु से रहित होने का भाव। किसी वस्तु का अभाव। किसी वस्तु के बिना स्थिति। (२) किसी प्रिय व्यक्ति का पास से अलग होना। विच्छेद। वियोग। जुदाई। (३) वियोग का दुःख। जुदाई का रंज।

वि० रहित। शून्य। बगैर। बिना।

विरहा-संज्ञा पुं० [हि० विरह] एक प्रकार का गीत जिसे अहीर और गड़रिए गाते हैं। वि० दे० “विरहा”।

विरहिणी-वि० स्त्री० [सं०] जिसे प्रिय या पति का वियोग हो। जो पति या नायक से अलग होने के कारण दुखी हो।

विरहित-वि० [सं०] रहित। शून्य। बिना। उ०—आश्रम-वरन-धरम-विरहित जग लोक-वेद मरजाद गई है।—तुलसी।

विरही-वि० [सं० विरहिन्] [स्त्री० विरहिणी] जिससे प्रिया का वियोग हो। जो प्रियतमा से अलग होने के कारण दुखी हो। उ०—विरही कहँ लौं आयु सँभारै ?—सूर।

विरहोत्कण्ठिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] नायिका भेद के अनुसार प्रिय के न आने से दुखी वह नायिका जिसके मन में पूरा विश्वास हो कि पति या नायक आवेगा; पर फिर भी किसी कारणवश वह न आवे।

विराग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अनुराग का अभाव। चाह का न होना। लगन न होना। (२) किसी वस्तु से न विशेष प्रेम होना न द्वेष। उदासीन भाव। (३) सांसारिक सुखों की चाह न रहना। विषय-भोग आदि से निवृत्ति। वैराग्य। (४) एक में मिले हुए दो राग। (एक राग में जब दूसरा राग मिल जाता है, तब उसे विराग कहते हैं)।

विरागी-वि० [सं० विरागिन्] [स्त्री० विरागिनी] (१) जिसे श

न हो । जिसे चाह न हो । जिसने मन न लगाया हो ।
उदासीन । विमुख । (२) जिसने सांसारिक विषयों से मन
हटा लिया हो । संसारत्यागी । विरक्त ।

विराज-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विराजमान, विराजित] (१)
शोभित होना । (२) वर्तमान होना । रहना ।

विराजना-क्रि० प्र० [सं० विराज] (१) शोभित होना ।
प्रकाशित होना । सोहना । फवना । (२) वर्तमान होना ।
मौजूद रहना । उपस्थित रहना । होना । रहना । (३) बैठना ।
जैसे,—आइए, विराजिए ।

विराजमान-वि० [सं०] (१) प्रकाशमान । चमकता हुआ ।
चमक दमकवाला । (२) विद्यमान । उपस्थित । मौजूद ।
जैसे,—पंडित जी यहाँ पहले ही से विराजमान हैं । (३) बैठा
हुआ । उपविष्ट ।

विराजित-वि० [सं०] (१) सुशोभित । (२) प्रकाशित । (३)
उपस्थित । विद्यमान ।

विराट्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्म का वह स्थूल स्वरूप जिसके
अंदर अखिल विश्व है अर्थात् संपूर्ण विश्व जिसका शरीर
है । विश्व-शरीरमय अनंत पुरुष ।

विशेष—इस भावना का निरूपण ऋग्वेद में इस प्रकार है—
“उस पुरुष के सहस्रों मस्तक, सहस्रों आँखें और सहस्रों
चारण हैं । वह पृथ्वी में सर्वत्र व्याप्त रहने पर भी दस
अंगुल ऊपर अवस्थित है । पुरुष ही सब कुछ है—जो हुआ
है और जो होगा । उसकी इतनी बड़ी महिमा है, पर वह
इससे कहीं बड़ा है । संपूर्ण विश्व और भूत एक पाद है,
आकाश का अमर अंश त्रिपाद है । उससे विराट् उत्पन्न
हुए और विराट् से अधिपुरुष । उन्होंने आविर्भूत होकर
संपूर्ण पृथ्वी को आगे पीछे घेर लिया ।” भगवद्गीता के
अनुसार भगवान् ने जो अपना विराट् स्वरूप दिखाया था,
इसमें समस्त लोक, पर्वत, समुद्र, नद, नदी, देवता इत्यादि
दिखाई पड़े थे । बलि को छलने के लिये भगवान् ने जो
त्रिविक्रम रूप धारण किया था, उसे भी विराट् कहते हैं ।
पुराणों में विराट् को ब्रह्मा का प्रथम पुत्र कहा है । ब्रह्मा
दो भागोंमें विभक्त हुए—स्त्री और पुरुष । स्त्री-अंश से
विराट् की उत्पत्ति हुई जिसने स्वायंभुव मनु को उत्पन्न
किया । स्वायंभुव मनु से प्रजापतियों की उत्पत्ति हुई ।
(२) क्षत्रिय । (३) कांति । दीप्ति ।

वि० बहुत बड़ा । बहुत भारी । जैसे,—विराट् सभा, विराट्
आयोजन ।

विराट् स्वराज-संज्ञा पुं० [सं०] एक दिन में होनेवाला एक
प्रकार का यज्ञ । एक प्रकार का एकाह । (श्रौत सूत्र)

विराट्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मत्स्य देश जहाँ के राजा के यहाँ
पाँचों पांडव अज्ञातवास के समय छिपे थे ।

विशेष—मनुस्मृति में मत्स्य देश का उल्लेख कुरुक्षेत्र और
पांचाल के साथ है; इससे अनुमान होता था कि वह
थानेसर के आसपास होगा । पर अब यह बात एक प्रकार से
निश्चित हो गई है कि अलवर और जयपुर के बीच का
प्रदेश ही महाभारत के समय मत्स्य देश कहलाता था ।
उक्त प्रदेश के अंतर्गत ‘वैराट’ और ‘माचवी’ दो स्थान अब
तक ‘विराट’ और ‘मत्स्य’ का स्मरण दिलाते हैं ।
(२) मत्स्य देश का राजा जिसके यहाँ अज्ञातवास के समय
पांडव नौकर रहते थे । (३) महाभारत का एक पर्व ।
(४) संगीत में एक ताल का नाम ।

विराट्-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का निम्न कोटि का हीरा
या नग जो विराट् देश में निकलता था । राजपट्ट ।
राजावत् ।

विराटज-संज्ञा पुं० दे० “विराटक” ।

विराणी-संज्ञा पुं० [सं० विराणिन्] हस्ति । हाथी ।

विरातक-संज्ञा पुं० [सं०] अजुंन वृक्ष ।

विराध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीड़ा । क्लेश । तकलीफ । (२)
पीड़ित करनेवाला । सतानेवाला । (३) एक राक्षस जिसे
दंडकारण्य में लक्ष्मण ने मारा था ।

विशेष—इसके पिता का नाम सुपर्यन्य और माता का नाम
शतद्रुता था । यह राक्षस पूर्व जन्म में तुंदुरु नामक गंधर्व
था जो वैश्रवण या कुबेर के शाप से राक्षस-योनि में उत्पन्न
हुआ था । इसके बहुत प्रार्थना करने पर वैश्रवण ने कहा
था—“अच्छा, जाओ । जब दशरथ के यहाँ भगवान्
अवतार लेंगे, तब तुम्हारा शाप छूटेगा” । (अग्निपुराण)

रामायण में लिखा है कि दंडकारण्य में विराध सीता को
लेकर भागने लगा । राम ने बहुत वाण चलाए, पर वह
थुड़ में न मारा गया और राम तथा लक्ष्मण दोनों को
उठाकर ले चला । रास्ते में फिर थुड़ होने लगा और दोनों
भाइयों ने मिलकर उसकी भुजाएँ काट डालीं । पर वह
जल्दी मरता नहीं था । अंत में लक्ष्मण ने एक बड़ा सा
गड्ढा खोदा और उसका शरीर उसमें डाल दिया गया ।
मरने के पहले इसे अपने पूर्व शरीर और शाप का स्मरण
हो आया था ।

विराधन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपकार करना । हानि करना ।
(२) पीड़ित करना । सताना । तंग करना ।

विराम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी क्रिया या व्यापार का कुछ
देर के लिये बंद होना । रुकना या थमना । ठहराव ।
ठहरना । (२) चलने की थकावट दूर करनेके लिये रास्ते में
ठहरना । चलना रोकना । सुस्ताना । दम मारना । विश्राम ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

(३) वाक्य के अंतर्गत वह स्थान जहाँ बोलते समय

ठहरना पड़ता हो। (४) छंद के चरण में वह स्थान जहाँ पढ़ते समय कुछ ठहरना पड़े। यति।

विरामब्रह्म-संज्ञा पुं० [सं०] संगीत में ब्रह्म ताल के चार भेदों में से एक भेद।

विराज-संज्ञा पुं० [सं०] विद्याल। बिछी।

विराव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शब्द। बोली। कलरव। उ०—
कान परी कोकिला की काकली कलित जो कलापिन की
कूक कल कोमल विराव की।—देव

(२) हल्ला गुल्ला। शोर गुल।

वि० शब्द रहित।

विराविणी-वि० स्त्री० [सं०] (१) बोलनेवाली। शब्द करने-
वाली। (२) रोने चिल्लानेवाली।

संज्ञा स्त्री० झाड़ू।

विरावी-वि० [सं० विराविन्] [स्त्री० विराविणी] (१) शब्द
करनेवाला। बोलनेवाला। (२) रोने चिल्लानेवाला।

विरास-संज्ञा पुं० दे० “विलास”।

विरासी-वि० दे० “विलासी”। उ०—जौ लगि कालिदि
होसि विरासी। पुनि सुरसरि होइ समुद परासी।—
जायसी।

विरिच-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा। (२) विष्णु। (३) शिव।

विरिचन-संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा।

विरिक्त-वि० [सं०] (१) जिसे विरेचन दिया गया हो। (२)
जिसका पेट लूटा हो। जिसे दस्त आ रहे हों।

विरुखा-वि० दे० “बेरुखा” या “बेरुख”।

विरुज-वि० [सं०] रोग रहित। नीरोग। स्वस्थ।

विरुभना-क्रि० प्र० दे० “उल्लभना”।

विरुत-वि० [सं०] रव-युक्त। अव्यक्त शब्द-युक्त। कूजित।
गूँजता हुआ।

विरुद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गुण, प्रताप आदि का वर्णन।
राजाओं की स्तुति या प्रशंसा जो सुन्दर भाषा में की गई
हो। यशकीर्तन। प्रशस्ति। (२) यश या प्रशंसासूचक
पदवी जो राजा लोग प्राचीन काल में धारण करते थे। जैसे,
चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य। (इसमें चंद्रगुप्त तो नाम है और
‘विक्रमादित्य’ विरुद है।) (३) यश। कीर्ति।

विरुदावली-संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी के गुण, प्रताप, पराक्रम
आदि का सविस्तर कथन। यश-वर्णन। प्रशंसा।

विरुद्ध-वि० [सं०] (१) जो हित के अनुकूल न हो। विरोध-
युक्त। प्रतिकूल। खिलाफ। जैसे,—आज कल वह हमारे
विरुद्ध है। (२) अपसन्न। वाम। (३) जो मेल में न हो।
जो एक दूसरे भिन्न या चला हो। विपरीत। जैसे,—यह बात
उस बात से सर्वथा विरुद्ध है। (४) जो उचित से सर्वथा

भिन्न हो। जो न्याय या नीति के अनुकूल न हो। विपरीत।
अनुचित। जैसे,—विरुद्ध आचरण।

क्रि० वि० प्रतिकूल स्थिति में। खिलाफ। जैसे,—आज कल
वह हमारे विरुद्ध चल रहा है।

विरुद्धकर्मा-संज्ञा पुं० [सं० विरुद्धकर्मन्] (१) विरुद्ध कर्म
करनेवाला। विपरीत आचरण का मनुष्य। बुरे चाल
चलन का आदमी। (२) केशव के अनुसार श्लेष अलंकार
का एक भेद जिसमें एक ही क्रिया के कई परस्पर विरुद्ध फल
दिखाए जाते हैं। उ०—वारुणी को राग होत सृज करत
अस्त, उदौ द्विजराज को जु होत यह कैसे हो ? इस पद का
साधारण अर्थ तो यह है कि पश्चिम दिशा के लाल होते ही
सूर्य तो अस्त होता है और चन्द्रमा उदय, यह कैसी बात
है ! पर श्लेष से इसका अर्थ होता है कि वारुणी (शराव)
की चाह होते ही शूरवीर का तो पराभव होता है, पर
वारुणी (उपनिषद् की एक विद्या) की चाह होते ही
ब्राह्मण की उन्नति होती है।

विरुद्धता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विरुद्ध होने का भाव। (२)
प्रतिकूलता। विपरीतता। उलटापन।

विरुद्धमति-कारिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक काव्य-दोष जो
ऐसे पद या वाक्य के प्रयोग से होता है जिससे वाक्य के
संबंध में विरुद्ध या अनुचित बुद्धि हो सकती है। जैसे,
“भवानीश” शब्द के प्रयोग से। ‘भवानी’ शब्द का अर्थ
ही है ‘शिव’ की पत्नी। उसमें ईश लगाने से सहसा यह
ध्यान हो सकता है कि “शिव की पत्नी” का कोई और भी
पति है।

विरुद्धरूपक-संज्ञा पुं० [सं०] केशव के अनुसार रूपक अलंकार
का एक भेद जिसमें कहीं हुई बात विलकुल ‘अनमिल’
अर्थात् असंगत या असंबद्ध सी जान पड़ती है, पर विचार
करने पर अर्थात् रूपक के दोनों पक्षों (उपमेय, उपमान) का
ध्यान करने पर अर्थ संगत ठहरता है। इसमें उपमेय का
कथन नहीं होता, इससे यह “रूपकातिशयोक्ति” ही है।

विरुद्ध हेत्वाभास-संज्ञा पुं० [सं०] न्याय में वह हेत्वाभास
जहाँ साध्य के साधक होने के स्थान पर साध्य के अभाव
का साधक हेतु हो। जैसे,—यह द्रव्य बहिमान् है; क्योंकि
वह महा हृद है। यहाँ महा हृद होना बहि के होने का
हेतु नहीं है, वरन् बहि के अभाव का हेतु है।

विरुद्धार्थ दीपक-संज्ञा पुं० [सं०] काव्यादर्श के अनुसार दीपक
अलंकार का एक भेद जिसमें एक ही बात से दो परस्पर
विरुद्ध क्रियाओं का एक साथ होना दिखाया जाता है।
जैसे,—जलकण मिली वायु ग्रीष्म-ताप को बढ़ाती और
विरह-ताप को बढ़ाती है।

विरुद्ध-वि० [सं०] (१) आरुढ़। चढ़ा हुआ। (२) अंकुरित।

जमा हुआ। बीज से फूटा हुआ। (३) जात। उत्पन्न। पैदा। (४) खूब जमा हुआ। खूब बैठा हुआ। खूब गड़ा या घँसा हुआ।

विरुद्ध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) इक्ष्वाकु के एक पुत्र का नाम। (२) एक शान्धवंशीय राजा का नाम। (३) एक लोकपाल का नाम।

विरुद्धिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] वैशाख कृष्ण एकादशी।

विरूप—वि० [सं०] [स्त्री० विरूपा] (१) कई रंग रूप का। कई शकलों का। तरह तरह का। (२) कुरूप। बदसूरत। भद्दा। (३) बदला हुआ। परिवर्तित। (४) शोभाहीन। शोभा रहित। (५) जो अनुरूप न हो। विरुद्ध। उलटा। (६) दूसरी तरह का। बिल्कुल भिन्न।

विरूपता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विरूप होने का भाव। (२) कुरूपता। बदसूरती। (३) भद्दापन। बेढंगापन।

विरूप-परिणाम—संज्ञा पुं० [सं०] एकरूपता से अनेकरूपता अर्थात् निर्विशेषता से विशेषता की ओर परिवर्तन। एक मूल प्रकृति से अनेक विकृतियों की ओर गति।

विशेष—सांख्य में परिणाम दो प्रकार के कहे गए हैं—स्वरूप परिणाम और विरूप परिणाम। विरूप-परिणाम द्वारा प्रकृति से नाना रूप पदार्थों का विकास होता है; और स्वरूप-परिणाम द्वारा फिर नाना पदार्थ क्रमशः अपने रूप छोटे हुए प्रकृति में लीन होते हैं। एक परिणाम सृष्टि की ओर अग्रसर होता है और दूसरा लय की ओर।

विरूपा—वि० स्त्री० [सं०] कुरूप। बदसूरत। उ०—शूर्पणखे जो विरूपा करी तुम तारें दियो हमहूँ दुख नारी।—केशव।

संज्ञा स्त्री० (१) दुरालभा। (२) अतिविषा। (३) यम की पत्नी का नाम।

विरूपाक्ष—वि० [सं०] जिसके नेत्र बेढंगे या डरावने हों। संज्ञा पुं० (१) शिव। शंकर। (२) शिव के एक गण का नाम। (३) रावण का एक सेनानायक जिसे हनुमान ने प्रमोद वन उजाड़ने के समय मारा था। (४) एक राक्षस का नाम जिसे सुग्रीव ने राम-रावण युद्ध में मारा था। (५) रावण का एक मंत्री। (६) एक दिग्गज का नाम। (७) एक नाग का नाम।

विरूपिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] कुरूप स्त्री। बदसूरत औरत।

विरूपि—वि० [सं० विरूपिन्] [स्त्री० विरूपिणी] (१) बदसूरत। कुरूप। (२) डरावनी सूरत का।

संज्ञा पुं० गिरगिट।

विरोक—संज्ञा पुं० [सं०] दस्तावर दवा। जुलाब। विरेचन।

विरोचक—वि० [सं०] दस्त लानेवाला। मलभेदक। दस्तावर।

विरेचन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मलभेदक औषध। दस्त लानेवाली दवा। जुलाब। जैसे,—रेंडी का तेल। (२) दस्त लाना। मल भेद करने की क्रिया।

विशेष—वैद्यक के ग्रंथों में विरेचन की विधि विशेष विस्तार से लिखी है; क्योंकि कुपित मल ही सब रोगों का कारण कहा गया है। पूरी विधि के साथ विरेचन का विधान स्नेह, स्वेदन और दमन के उपरांत किया गया है। शरद और वसंत में विरेचन विधेय ठहराया गया है। बालक, वृद्ध, क्षतप्रस्त, रोग से अत्यंत क्षीण, भयार्त्त, आंत, पिपासाार्त्त और मतवाले को विरेचन नहीं कराना चाहिए।

विरेच्य—वि० [सं०] विरेचन के योग्य। जो दस्तावर दवा देने के योग्य हो।

विशेष—वैद्यक के ग्रंथों में नीचे लिखे रोगियों को विरेचन के योग्य कहा है—गुल्म, बवासीर, विस्फोटक (चैचक), कमल रोग, जीर्ण ज्वर, उदर रोग, विष, पेट की पीड़ा, योनि और शुक्रगत रोग, स्त्रीदा, कुष्ठ, मेह, स्त्रीपद (फीलपाव), उन्माद, काश, श्वास, विसर्प इत्यादि से पीड़ित रोगियों को विरेचन देना चाहिए।

विरोक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चमक। दीप्ति। (२) रश्मि। किरन। (३) छिद्र। छेद। (४) चंद्रमा। (५) विष्णु।

विरोचन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चमकना। प्रकाशित होना। (२) दीप्तियुक्त। प्रकाशमान। (३) सूर्य की किरण। (४) सूर्य। (५) चंद्र। (६) अग्नि। (७) मदार का पौधा। आक। (८) विष्णु। (९) रोहित वृक्ष। (१०) श्योनाक वृक्ष। (११) घृत-करंज। (१२) प्रह्लाद के पुत्र और बलि के पिता।

विरोचनसुत—संज्ञा पुं० [सं०] राजा बलि।

विरोध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेल में न होना। किसी दूसरी वस्तु के साथ अत्यंत भिन्नता। विपरीत भाव। अनैक्य। जैसे,—इन दोनों भावों का परस्पर विरोध है। (२) मेल का न होना। वैर। शत्रुता। विगाड़। अनबन। जैसे,—उन दोनों का विरोध बहुत पुराना है।

यौ०—वैर विरोध।

(३) दो बातों का एक साथ न हो सकना। विप्रतिपत्ति। व्यावात। असहभाव। जैसे,—आपके कथन में पूर्वापर विरोध है। (४) उलटी स्थिति। सर्वथा दूसरे प्रकार की स्थिति। (५) नाश। (६) नाटक का एक अंग जिसमें किसी बात का वर्णन करते समय विपत्ति का आभास दिखाया जाता है। (७) एक अर्थालंकार जिसमें जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य में से किसी एक का दूसरी जाति, गुण, क्रिया या द्रव्य में से किसी एक के साथ विरोध होता है। जैसे,—“तुम्हारे विद्योग में उस कामिनी को मलयानिल दावानल हो रहा है।” यहाँ जाति के साथ जाति का विरोध है। इसी प्रकार यह

कहना गुण का द्रव्य के साथ जाति-विरोध होगा—“तुम्हारे बिना चंद्रमा विष की उबाला से पूर्ण हो गया” ।

विरोधक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विरोध करनेवाला । (२) नाटक में वे विषय जिन का वर्णन निषिद्ध हो ।

विरोधन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विरोधी, विरोधित, विरोध्य] (१) विरोध करना । बैर करना । (२) नाश । बरबादी । (३) नाटक में विमर्ष का एक अंग जो उस समय होता है, जब किसी कारणवश कार्यध्वंस का उपक्रम (सामान) होता है । जैसे,—कुक्षेत्र के युद्ध के अंत होने के निकट जब दुर्योधन बच रहा था, तब भीम का यह प्रतिज्ञा करना कि “यदि दुर्योधन को न मारूँगा, तो अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा” । सब बात ब्रज जाने पर भी भीम का यह कहना युधिष्ठिर आदि के मन में यह विचार लाया कि यदि दुर्योधन न मारा गया, तो हम सब लोग भी भीम के बिना कैसे रहेंगे !

विरोधना—क्रि० सं० [सं० विरोधन] विरोध करना । अपने विरुद्ध करना । बैर करना । शत्रुता या झगड़ा करना । उ०—साहूँ ये न विरोधिषु गुरु, पंडित, कवि, यार ।—गिरधर ।

विरोधाचरण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हित के प्रतिकूल आचरण । खिलाफ कार्यवाई । (२) शत्रुता का व्यवहार ।

विरोधाभास—संज्ञा पुं० [सं०] एक अर्थालंकार जिसमें जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य का विरोध दिखाई पड़ता है । वि० दे० “विरोध” ।

विरोधित—वि० [सं०] जिसका विरोध किया गया हो । **विरोधिता**—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विरोध । शत्रुता । बैर । (२) नक्षत्रों की प्रतिकूल दृष्टि । (फलित ज्योतिष)

विरोधिनी—वि० स्त्री० [सं०] (१) विरोध करनेवाली । बैरिन । (२) विरोध करानेवाली । दो आदमियों में झगड़ा लगानेवाली ।

विरोधी—वि० [सं० विरोधिन्] [स्त्री० विरोधिनी] (१) विरोध करनेवाला । हित के प्रतिकूल चलनेवाला । कार्य सिद्धि में बाधा डालनेवाला । (२) प्रतिद्वन्द्वी । विपक्षी । शत्रु । बैरी । दुश्मन ।

संज्ञा पुं० सात संवत्सरों में से पचीसवाँ संवत्सर ।

विरोधी श्लेष—संज्ञा पुं० [सं०] केशव के अनुसार श्लेष अलंकार का एक भेद जिसमें विलम्ब शब्दों द्वारा दो पदार्थों में भेद, विरोध या न्यूनाधिकता दिखाई जाती है । उ०—कृष्ण हरे हरये हरै संपत्ति, शंभु विपत्ति यहै अधिकार । जातक काम अकामन के हित, घातक काम सकाम सहाई । इसमें यह दिखाया गया है कि हर (शिव) दासों पर हरि की अपेक्षा अधिक कृपा करते हैं । कृष्ण धीरे धीरे संपत्ति करते

हैं और शिव विपत्ति । हरि काम को उत्पन्न करनेवाले हैं और निष्काम लोगों के हित हैं; शिव काम के घातक हैं, पर कामना रखनेवालों के सहायक है । यहाँ ‘काम’ शब्द के ‘कामदेव’ और ‘कामना’ दो अर्थ हैं ।

विरोधोपमा—संज्ञा स्त्री० [सं०] उपमा अलंकार का एक भेद जिसमें किसी वस्तु की उपमा एक साथ दो विरोधी पदार्थों से दी जाती है । जैसे,—“तुम्हारा मुख चंद्रमा और कमल के समान है” । यहाँ कमल और चंद्रमा इन दोनों उपमानों में विरोध है ।

विरोध्य—वि० [सं०] (१) विरोध के योग्य । (२) जिसका विरोध करना हो ।

विरोपण—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विरोपणीय, विरोपित, विरोप्य] (१) लेपन । लेस करना । (२) लीपना । पोतना । तह चढ़ाना । लेव चढ़ाना । (३) ज़मीन में पौधा लगाना । रोपना ।

विरोम—वि० [सं०] रोम रहित । बिना रोएँ का ।

विरोहण—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विरोहणीय, विरोहित] एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान पर लगाना ।

विरोही—वि० [सं० विरोहिन्] [स्त्री० विरोहिणी] रोपनेवाला । पौधा लगानेवाला ।

विरोही—संज्ञा स्त्री० [देश०] बाजरा, महुवा, कोदों वगैरह की एक प्रकार की जोलाई जो उनके पौधे कुछ ऊँचे होने पर भी जाती है ।

वितर्क—संज्ञा स्त्री० दे० “वृत्ति” ।

विलम्बन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कूद या लाँचकर पार करने की क्रिया । (२) उपवास करना । लंघन करना । (३) किसी वस्तु के भोग से अपने आप को रोक रखना । वंचित रहना ।

विलम्बनीय—वि० [सं०] (१) पार करने योग्य । लाँचने योग्य । (२) नीचा दिखाने योग्य । परास्त करने योग्य ।

विलम्बित—वि० [सं०] (१) जो परास्त हुआ हो । जिसने नीचा देखा हो । (२) जो विफल हुआ हो ।

विलम्ब्य—वि० [सं०] (१) पार करने योग्य । (नदी आदि) (२) परास्त होने योग्य । वश में आने योग्य । (३) करने योग्य । सहज ।

विलम्ब—वि० [सं० विलम्ब] आवश्यकता, अनुमान आदि से अधिक समय (जो किसी बात में लगे) । बहुत काल । अतिकाल । देर ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

विलम्बन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विलम्बनीय, विलंबी, विलंबित] (१) देर करना । विलंब करना । (२) लटकना । टँगना । (३) सहारा पकड़ना । टेकना ।

विलंबना-क्रि० अ० [सं० विलंबन] (१) देर करना । विलंब करना । आवश्यकता से अधिक समय लगाना । (२) रम जाना । मन लगने के कारण बस जाना । उ०—भँवर केवल रस बेधिया, अमल न भरमै जाइ । तहाँ वास विलंबिया, मगन भया रस खाइ ।—दादू । (३) लटकना । (४) सहारा लेना ।

विलंबिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का रोग जो विदग्धा-जीर्ण द्वारा उत्पन्न होता है ।

विशेष—इस रोग में खाया हुआ अन्न कफ और वायु से दूषित होकर पेट में दुःख देता है । न तो वमन होता है न मल निकलता है ।

विलंबित-वि० [सं०] (१) लटकता हुआ । झूलता हुआ । उ०—राजत रोमक की तन राजिव है रस बिच नदी सुख देनी । आगे भई प्रतिविम्बित पाइ विलम्बित जो मृगनैनी कि बेनी ।—द्विज । (२) जिसमें विलंब या देर हुई हो । संज्ञा पुं० सुस्त चलनेवाला जानवर । जैसे,—हाथी, गैड़ा, भैंस इत्यादि ।

विलंबी-वि० [सं० विलंबिन्] [स्त्री० विलंबिनी] लटकता हुआ । झूलता हुआ ।

संज्ञा पुं० साठ संवत्सरों में से बत्तीसवाँ संवत्सर ।
विलम्ब-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उदारता । (२) दान । (३) उपहार । भेंट ।

विलम्ब-वि० [सं०] (१) अचंचल में पड़ा हुआ । आश्चर्यचकित । (२) लजित । (३) घबराया हुआ । व्यस्त ।

विलम्बाण-वि० [सं०] (१) साधारण से भिन्न । असाधारण । अपूर्व । अद्भुत । (२) अनोखा । अनूठा ।

विलम्बाणता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विलक्षण होने का भाव । अपूर्वता । अद्भुतता । अनोखापन ।

विलम्बना-क्रि० अ० [सं० विकल] दुखी होना । वि० दे० 'विलम्बना' ।

*-क्रि० अ० [सं० लब्ध] ताड़ना । पता पाना । लक्ष करना ।

विलम्बाना-क्रि० स० [हि० विलम्बना का सं०] विलम्बाना का सकर्मक रूप । विकल करना । वि० दे० 'विलम्बना' ।

विलम्बा-वि० [हि० वि (उप०) + लगना] अलग । पृथक् ।

संज्ञा पुं० अंतर । भेद । फरक ।

विलम्बाना-क्रि० अ० [हि० विनग + ना (प्रत्य०)] (१) अलग होना । पृथक् होना । (२) पृथक् पृथक् दिखाई पड़ना । विभक्त या अलग दिखाई देना ।

क्रि० स० पृथक् करना । अलग करना । वि० दे० 'विलम्बाना' ।

विलम्बन-वि० दे० "विलम्बन" ।

विलम्बना-क्रि० अ० [सं० विलाप] विलाप करना । रोना ।

विलम्बाना-क्रि० स० [हि० विलम्बना का सं०] दूसरे को विलाप करने में प्रवृत्त करना । झूलाना ।

विलम्ब-वि० [सं०] (१) दिया हुआ । पाया हुआ । (३) अलग किया हुआ ।

विलम्ब-संज्ञा पुं० [सं० विलंब] देर । अवेर । विलंब ।

विलम्बना-क्रि० अ० दे० "विलम्बना" ।

विलय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विलीन होने की क्रिया या भाव । लोप । अस्त । (२) मृत्यु । मौत । (३) नाश । (४) प्रलय ।

विलयन-संज्ञा पुं० [सं०] लय को प्राप्त होना । विलीन होना ।

विलसन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चमकने की क्रिया । (२) क्रीड़ा । प्रमोद ।

विलसना-क्रि० अ० [सं० विलस] (१) शोभा पाना । (२) विलास करना । क्रीड़ा करना । (३) आनंद मनाना । वि० दे० "विलसना" ।

विलसाना-क्रि० स० दे० "विलसाना" ।

विलहवारी-संज्ञा स्त्री० [?] जिले के बन्दोबस्त का वह संक्षिप्त व्योरा जिसमें प्रत्येक महाल का नाम, काश्तकारों के नाम और उनके लगान आदि का व्योरा लिखा होता है । वितरबन्दी ।

विलाता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की चिड़िया ।

विलाना-क्रि० अ० दे० "विलाना" ।

विलाप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिलख बिलख कर या विकल होकर रोने की क्रिया । रोकर दुःख प्रकट करने की क्रिया । कन्दन । रुदन ।

विलापना-क्रि० अ० [सं० विलापन] शोक करना । विलाप करना । क्रि० स० [सं० रोपना] वृक्ष रोपना या लगाना ।

विलायत-संज्ञा पुं० [अ०] (१) पराया देश । दूसरों का देश । (२) दूरस्थ देश । दूर का देश । विशेषतः आजकल की बोलचाल में यूरोप या अमेरिका का कोई देश । जैसे,—आप दो बार विलायत हो आए हैं ।

विलायती-वि० [अ०] (१) विलायत का । विदेशी । (२) दूसरे देश में बना हुआ । (३) अन्य देश का रहनेवाला । परदेशी ।

विलायती अनन्नास-संज्ञा पुं० [हि० विलायती + अनन्नास] रामबाँस । रामबान । वि० दे० "रामबाँस" ।

विलायती कद्दू-संज्ञा पुं० [हि० विलायती + कद्दू] एक विशेष प्रकार का कद्दू, जो तरकारी के काम में आता है ।

विलायती कासनी-संज्ञा स्त्री० [हि० विलायती + कासनी] एक प्रकार की कासनी जिसकी पत्तियाँ दवा के काम में आती हैं ।

विलायती कीकर-संज्ञा पुं० [हि० विलायती + कीकर] पहाड़ी
कीकर जो हिमालय में पाँच हजार फुट की ऊँचाई तक होता है। यह बाढ़ लगाने के काम आता है। यह जाड़े के दिनों में खूब फूलता है और इसके फूलों से बहुत अच्छी महक निकलती है। युरोप में इन फूलों से कई प्रकार के इत्र आदि बनाए जाते हैं। इसे परसी बबूल भी कहते हैं।

विलायती लछुंदर—संज्ञा पुं० [हि० विलायती + छुंदर] एक प्रकार का लछुंदर जो इंग्लैण्ड के पश्चिमी ओर के प्रदेशों में बहुत पाया जाता है। यह पृथ्वी के नीचे सुरंग में रहता है और प्रायः दूध पीता है। इसे अंधकार अधिक प्रिय होता है। इस के अगले पैर चौड़े और पट्टेदार तरिछे होते हैं। इसकी आँखें छोटी, थुथना लंबा और नोकदार, बाल सघन और कोमल होते हैं। इसकी श्रवण शक्ति बहुत तेज होती है।

विलायती नील-संज्ञा पुं० [हि० विलायती + नील] एक विशेष प्रकार का नीला रंग जो चीन से आता है ।

विलायती पटुआ-संज्ञा पुं० [हि० विलायती + पटुआ] लाल
पटुआ । लाल सन ।

विलायती पात—संज्ञा पुं० [हि० विलायती + पटुआ] रामबाँस ।
कृष्ण केतकी ।

बिलायती प्याज-संज्ञा पुं० [हि० विलायती + प्याज] एक प्रकार का प्याज जिसमें गाँठ नहीं होती, सिर्फ गूदेदार जड़ होती है।

विलायती बैंगन— संज्ञा पु० [हिं० विलयती + बैंगन] एक प्रकार का बैंगन या भंडा जो इस देश में युरोप से आया है। यह क्षुप जाति की वनस्पति है जो प्रति वर्ष बोई जाती है। इसका क्षुप दो ढाई हाथ ऊँचा होता है। इसकी डालियाँ भूमि की ओर झुकी अथवा भूमि पर पसरी रहती हैं। पत्ते आलू के पत्तों के से होते हैं। डंडियों के बीच-बीच से सीकें निकलते हैं जिन पर गुच्छे में फूल आते हैं। ये फूल साधारण बैंगन के फूलों के सदृश, पर उनसे छोटे होते हैं। इनका रंग पीला होता है। फल प्रायः दो से चार इंच तक के गोलाकार और कुछ चिपटे (नारंगी के समान) होते हैं। कच्चे रहने पर उनका रंग हरा और पकने पर लाल चमकीला हो जाता है। इसकी तरकारी, चटनी आदि बनती है। स्वाद में यह कुछ खट्टापन लिए होता है। रासायनिक विश्लेषण से पता लगता है कि इसमें २३ सैकड़े लोहे का अंश होता है। अतः यह रक्त-वर्धक है। अंग्रेज लोग इसका अधिक व्यवहार करते हैं। इसे टमेटो कहते हैं।

बिलायती लहसुन-संज्ञा पुं० [हि० बिलायती + लहसुन] एक प्रकार का लहसुन जो मसाले के काम में आता है ।

विनायती सिरिस—संज्ञा पुं० [हि० विनायती + सिरिस] एक प्रकार का सिरिस जो विदेश से यहाँ आया है, पर अब यहाँ भी होने लगा है। यह नीलगिरि पर्वत पर बहुतायत से होता

है। पंजाब में भी यह पाया जाता है। इसकी छाल प्रायः चमड़ा सिद्धाने के काम में आती है।

विलायती सेम-संज्ञा की० [हि० विलायती + सेम] एक प्रकार की सेम जिसकी फलियाँ साधारण सेम से कुछ बड़ी होती हैं।

विलायन—संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक अस्त्र । कहते हैं कि जब इस अस्त्र का उपयोग किया जाता था, तब शत्रु की सेना विध्वंस करने लगती थी ।

बिलावली-संज्ञा स्त्री० [हि० बिलावल] एक रागिनी जो हिंडोल
राग की स्त्री मानी जाती है । (संगीत)

विलास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रसन्न या प्रफुल्लित करनेवाली क्रिया । (२) सुख-भोग । आनन्दमय क्रीड़ा । मनोरंजन । मनोदिनोद । (३) आनन्द । हर्ष । (४) संयोग के समय में अनेक हाव भाव अथवा प्रेमसूचक क्रियाएँ जिनसे स्त्रियाँ पुरुषों को अपनी ओर अनुरक्त करती हैं । हाव भाव । नाज नखरा । (५) किसी अंग की मनोहर चेष्टा । जैसे भूविलास, करविलास । उ०—भृकुटि विलास जागु जग होई । राम बाम दिस सीता सोई ।—तुलसी । (६) किसी चीज़ का हिलना डोलना । जैसे,—चपला का विलास । (७) आराम तलबी । अतिशय सुख भोग ।

विलासक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० विलासिका] इधर उधर
फिरनेवाला । भ्रमणशील ।

विलासिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का रूख जिसमें एक ही अंक होता है। इसका विषय संक्षिप्त और साधारण होता है।

वि० स्त्री० आनन्द देनेवाली ।

विलासिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुन्दरी युवा स्त्री । कामिनी ।
 (२) वेदया । गणिका । (३) एक वृत्त का नाम जिसके
 प्रत्येक चरण में ज, र ज, ग, ग, (।S। S।S।S।S।S)
 होते हैं ।

वितासी-संज्ञा पु० [सं० वितासिन्] [स्त्री० वितासिनी] (१) सुख भोग में अनुरक्त पुरुष । कामी । (२) जिसे आनन्द प्रमोद पसंद हो । क्रीड़ाशील । हँसोड़ । कौतुकशील । (३) पेश आराम पसंद । आराम तलब । (४) वरुण वृक्ष । वरुन ।

विलास-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का बाजा जिसमें बजाने के लिये तार लगे होते थे ।

विलिखित-वि० [सं०] (१) खरोचा हुआ । (२) लिखा हुआ ।
(३) खुदा हुआ ।

विलिगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का साँप ।

विलित-वि० [सं०] पुता हुआ । लिपा हुआ ।

विलिष्ट

- विलिष्ट-वि०** [सं०] (१) दूटा हुआ। उखड़ा हुआ। (२) जो ठीक अवस्था में न हो। अस्तव्यस्त।
- विलीक-वि०** पुं० [सं० व्यलीक] अनुचित। नामुनासिब।
- विलीन-वि०** [सं०] (१) जो अदृश्य हो गया हो। लुप्त। (२) जो मिल गया हो। जैसे, पानी में नमक विलीन हो गया। (३) छिपा हुआ। (४) नष्ट। क्षयप्राप्त।
- विलुप्त-वि०** [सं०] (१) जिसका लोप हो गया हो। नष्ट। (२) जो अदृश्य हो गया हो। जो दिखाई न पड़ता हो।
- विलुप्तयोनि-संज्ञा** स्त्री० [सं०] एक प्रकार का योनि रोग। इस रोग में योनि में सदा पीड़ा होती रहती है।
- विलुलक-संज्ञा** पुं० [सं०] (१) नाश करनेवाला।
- विलून-वि०** [सं०] कटा हुआ। अलग किया हुआ।
- विलोप-संज्ञा** पुं० [सं०] (१) शरीर आदि पर चुपड़कर लगाने की चीज़। लेप। (२) पलस्तर। गारा।
- विलोपन-संज्ञा** पुं० [सं०] (१) लेप करने या लगाने की क्रिया। अच्छी तरह लीपना। लगाना। (२) लगाने या लेप करने का पदार्थ। जैसे,—चन्दन, केसर आदि।
- विलेशय-संज्ञा** पुं० [सं०] (१) बिल या दरार में रहनेवाले जीव। जैसे साँप, बिच्छू, गोह आदि। (२) सर्प। साँप। उ०—आशीविष विषधर फणी मणी विलेशय व्याल।—नंददास।
- विलोकना-क्रि०** सं० [सं० विलोकन] (१) देखना। (२) अवलोकन करना। वि० दे० “विलोकना”।
- विलोकनि-संज्ञा** स्त्री० दे० “विलोकनि”।
- विलोचन-संज्ञा** पुं० [सं०] (१) नेत्र। नयन। आँख। (२) पुराणानुसार एक नरक का नाम जिसमें मनुष्य अन्धा हो जाता है और न देखने के कारण अनेक यातनाएँ भोगता है। (३) लोचन-रहित करने की क्रिया। आँखें फोड़ने की क्रिया। नेत्र-रहित कर देने की क्रिया।
- विलोटक-संज्ञा** पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली। बेला मछली।
- विलोडना-क्रि०** सं० दे० “विलोडना”।
- विलोना-क्रि०** सं० दे० “विलोना”।
- विलोप-संज्ञा** पुं० [सं०] (१) किसी वस्तु को लेकर भाग जाने की क्रिया। (२) हड़बट। (३) विघ्न। बाधा। (४) आघात। (५) नाश। लोप। (६) हानि। नुकसान।
- विलोपक-संज्ञा** पुं० [सं०] (१) नाश करनेवाला। (२) दूर करनेवाला। (३) लेकर भागनेवाला।
- विलोपन-संज्ञा** पुं० [सं०] विलोप करने की क्रिया।
- विलोपना-क्रि०** सं० [सं० विलोपन] (१) लोप करना। नाश करना। (२) लेकर भागना। (३) विघ्न डालना। बाधा उपस्थित करना।

विलोपी-संज्ञा पुं० [सं० विलोपिन्] [स्त्री० विलोपिनी] विलोप करनेवाला। नाश करनेवाला।

विलोप्य-वि० [सं०] विलोप करने या होने योग्य।

विलोभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रलोभन। (२) मोह। माया। भ्रम।

वि० जिसके मन में किसी प्रकार का लालच न हो। लोभ-रहित।

विलोभन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लोभ दिलाने की क्रिया। (२) मोहित या आकर्षित करने का व्यापार (३) कोई बुरा कार्य करने के लिये किसी को लोभ दिलाने का काम। ललचाना।

विलोम-वि० [सं०] (१) विपरीत। उलटा। प्रतिकूल। उ०—तुम सन कही बचन कटु बागी। अपने हाथ मीचु वहि माँगी। कहेसि विलोम-वचन तजि जाना। यहि कर काल आय नियराना।—सबल। (२) संगीत में ऊँचे स्वर से नीचे स्वर की ओर आना। स्वर का अवरोह। उतार। (३) ऊँचे की ओर से नीचे की ओर आना। संज्ञा पुं० [सं०] (१) सर्प। (२) वरुण। (३) कुत्ता। (४) रहट।

विलोमक-वि० [सं०] विपरीत। प्रतिकूल।

विलोम क्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह क्रिया जो अंत से आदि की ओर की जाय। उलटी ओर से होनेवाली क्रिया।

विलोमजिह्व-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का हाथी।

विलोम वर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] वर्ण सङ्कर जाति। दोगली जाति।

विलोमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] आँवला। आमलकी।

विलोल-वि० [सं०] (१) चंचल। (२) सुन्दर। उ०—(क) चपल विलोल डोल वह लागी। थिर न रहे चंचल वैरागी।—जायसी। (ख) चहुँटीं चिबुक चाँपि चूँवि विलोल लोचन कौं, रस में बिरस कलौ बचन मलीनो है। गहि भरि लीनौ कलू उत्तर न बाल दीनौ हाल से हवाल राउ अंक भरि लीनो है।—सूदन।

विल्व-संज्ञा पुं० [सं०] बेल वृक्ष। बेल का पेड़।

विल्व तैल-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का तेल। इसे बनाने के लिये बेल की जड़ का रस, सोंठ, मिर्च, पीपल, पीपलामूल, अपामार्ग का क्षार और जवाक्षार को बूटकर गोमूत्र के साथ तेल में डालकर मन्द आँच पर पकाते हैं। रस जलने और तेल मात्र रहने पर उतार लेते हैं। कहते हैं कि इससे कान से वधिरता, कर्ण-स्त्रावादि रोग अच्छे हो जाते हैं।

विल्वपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] बेल का पत्ता, जो शिवा पर चढ़ाने के काम में आता है। बेलपत्र।

विवेकमंगल-संज्ञा पुं० [सं०] भक्त और महाकवि सूरदास का अन्धे होने से पूर्व का नाम ।

विवेकेश-संज्ञा पुं० [सं०] आधुनिक भिलसा नगरी का प्राचीन नाम जो ग्वालियर के दक्षिण में वेतवा नदी के दाहिने किनारे पर बसी है । इसका पुराना नाम भद्रावत भी कहा जाता है ।

विवंधक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोकनेवाला । (२) कोष्ट-बद्धता । कब्जियत । कब्ज ।

विवंधन-संज्ञा पुं० [सं०] रोक । बंधन । रुकावट ।

विव-वि० [सं० द्वि] (१) दो । (२) द्वितीय । दूसरा । वि० दे० "विवि" ।

विवकृत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत बोलनेवाला । वाचाल । (२) स्पष्ट बोलनेवाला । (३) वक्ता । वाग्मी ।

विवक्ता-संज्ञा पुं० [सं० विवक्तृ] (१) कहनेवाला । (२) किसी बात को प्रकट करनेवाला । (३) दुरुस्त करने या सुधारनेवाला । संशोधन करनेवाला ।

विवक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कोई बात कहने की इच्छा । बोलने की इच्छा । (२) अर्थ । तात्पर्य । आशय । (३) अनिश्चय । शक । संदेह ।

विवक्षित-वि० [सं०] जिसकी आवश्यकता या इच्छा हो । इच्छित । अपेक्षित ।

विवदनाल-क्रि० प्र० [सं० विवाद + हि० ना] किसी वस्तु या विषय पर जबानी झगड़ा करना । शास्त्रार्थ करना । विवाद करना । जबानी झगड़ना । उ०—इमि विवदहि शारद यति राजा । सुनि विस्मित सब विदुष समाजा ।—शं० दि० ।

विवध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह लकड़ी जो वैलों के कन्धों पर उस समय रखी जाती है, जब उन्हें कोई वस्तु खींचकर ले जानी होती है । जुआठा । (२) भूसे या अनाज की राशि । (३) चौड़ी सड़क । राजमार्ग ।

विवर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छिद्र । बिल । (२) गड्ढा । दरार । गर्त । (३) गुफा । कन्दरा ।

विवरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी वस्तु को स्पष्ट रूप से समझाने की क्रिया । विवेचन । व्याख्या । (२) सविस्तर वर्णन । वृत्तान्त । बयान । हाल । (३) भाष्य । टीका ।

विवरना-क्रि० प्र० दे० "विवरना" ।

विवर्जन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) त्याग करने की क्रिया । परित्याग । (२) अनादर । उपेक्षा ।

विवर्जित-वि० [सं०] (१) मना किया हुआ । वर्जित । निषिद्ध । (२) उपेक्षित । अनादरित । (३) वंचित । रहित ।

विवर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] साहित्य में एक भाव का नाम जिसमें भय, मोह, क्रोध, लज्जा आदि के कारण नायक या नायिका के मुख का रंग बदल जाता है । खराब रंगवाला ।

वि० [सं०] (१) नीच । कमीना । (२) नीच जाति का । (३) नीच पेशा या व्यवसाय करनेवाला । (४) कुजाति । (५) जिसका रंग खराब हो गया हो । (६) रंग बदलनेवाला । (७) बदरंग । खुरे रंग का । (८) जिसके चेहरे का रंग उतरा हुआ हो । कांतिहीन ।

विवर्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समुदाय । समूह । (२) नाच । नृत्य । (३) रूपान्तर । (४) आकाश । (५) भ्रांति । भ्रम ।

विवर्त कल्प-संज्ञा पुं० [सं०] वह कल्प जिसमें लोक क्रमशः उन्नति से अवनति को प्राप्त होता है ।

विवर्तन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिभ्रमण । घूमना फिरना । (२) नाच । नृत्य ।

विवर्तवाद-संज्ञा पुं० [सं०] वेदान्त में एक सिद्धान्त जिसके अनुसार ब्रह्मा को सृष्टि का मुख्य उत्पत्ति स्थान और संसार को माया मानते हैं । परिणामवाद ।

विवर्तस्थायी कल्प-संज्ञा पुं० [सं०] वह समय जब लोक अवनति की पराकाष्ठा को पहुँचकर शून्य दशा में रहता है । कल्पान्त । प्रलय ।

विवर्तित-वि० [सं०] (१) परिवर्तित । बदला हुआ । (२) भ्रमित । घूमा हुआ । (३) उलझा हुआ । सरका हुआ । (४) अंग जिसमें मोच आ गई हो । जैसे हाथ पैर का विवर्तित होना ।

विवर्तितक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] आँख घुमानेवाला, मुर्गा । भ्रमण-शिखा ।

विवर्द्धन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बढ़ाने या वृद्धि करने की क्रिया । (२) वृद्धि । बढ़ती । उन्नति ।

विवर्द्धित-वि० [सं०] (१) बढ़ा हुआ । वृद्धि-प्राप्त । (२) उन्नति-प्राप्त । उन्नत ।

विवश-वि० [सं०] (१) जिसका कुछ वश न चले । लाचार । बेबस । मजबूर । (२) पराधीन । परवश । (३) जो काबू में न आवे । स्वाधीन । (४) जिसमें कोई शक्ति या बल न हो । अशक्त ।

विवस-वि० दे० "विवश" ।

विवस्त्र-वि० [सं०] जिसके शरीर पर वस्त्र न हो । वस्त्र-रहित । नग्न । नंगा ।

विवस्वती-संज्ञा स्त्री० [सं०] सूर्यनगरी ।

विवस्वत्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य । (२) अर्क वृक्ष । (३) सूर्य का सारथी, अरुण । (४) पंद्रहवें प्रजापति का नाम ।

विवाक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जो शास्त्रार्थ में दोनों पक्षों के तर्क को देखकर न्याय करे । न्यायधीश । (२) मध्यस्थ ।

विवाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी बात या वस्तु पर जबानी झगड़ा । वाक् युद्ध । (२) झगड़ा । कलह ।

मुहा०—विवाद उठाना = किसी बात पर मतभेद प्रकट करना और उसके उत्तर की आशा करना । फगड़ा उठाना ।

(३) मतभेद । (४) मुकदमेबाजी । अदालत की लड़ाई ।

विवादक-संज्ञा पुं० [सं०] विवाद करनेवाला । झगड़ा।

विवादास्पद-वि० [सं०] जिस पर विवाद या झगड़ा हो। विवाद योग्य। विवादयुक्त। जैसे—अभी इस विषय में कुछ निश्चय नहीं हुआ है; यह विवादास्पद है।

विवादी-संज्ञा पुं० [सं० विवादिन्] (१) विवाद करनेवाला । कहा सुनी या झगड़ा करनेवाला । (२) मुकदमा लड़नेवालों में से कोई एक पक्ष । मुद्दा और मुद्दालेह । (३) संगीत में वह स्वर जिसका किसी राग में बहुत कम व्यवहार हो ।

विवाधिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जो कंधे पर चीजें ढोकर ले जाय । (२) घूमकर चीजें बेचनेवाला । फेरीवाला ।

विवाह्य-वि० [सं०] निकाल देने योग्य ।

विवाह-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रथा जिसके अनुसार स्त्री और पुरुष आपस में दाम्पत्य सूत्र में बँधते हैं। कहीं यह प्रथा सामाजिक होती है, कहीं धार्मिक और कहीं कानून के अनुसार होती है। यह हिन्दुओं के सोलह संस्कारों में से एक संस्कार है। शादी। व्याह।

विशेष—मनुष्य जाति जब आदिम असभ्यता में थी, उस समय उसमें विवाह या पति-संवर्ण की प्रथा न थी। केवल काम वेग के कारण स्त्री पुरुषों का समागम हुआ करता था। यह प्रथा अब भी कुछ असभ्य जातियों में प्रचलित है। महाभारत में लिखा है—‘प्राचीन काल में स्त्रियाँ रंगी रहती थीं। वे स्वतंत्र और विहारिणी होती थीं और बिना व्याह किए ही अनेक पुरुषों से समागम करती थीं’। उनका यह कृत्य उस समय अधर्म नहीं समझा जाता था। सभ्यता बढ़ने पर लोगों को घर बनाने और एक ऐसे व्यक्ति को अपने यहाँ रखने की आवश्यकता हुई जो उसका प्रबन्ध कर सके। इसके लिये स्त्रियाँ उपयुक्त समझी गईं। अतः लोगों ने उनको फुसलाकर अथवा बलात् अहने यहाँ रखना आरंभ किया। उन दिनों स्त्री एक पुरुष के अधिकार में तब तक रहती थी, जब तक कोई दूसरा उससे बली पुरुष उसे बलपूर्वक छीन न ले जाता था। अतः अब ऐसा नियम बनाने की आवश्यकता हुई कि एक दूसरे की स्त्री को हरण न कर सके। पर स्त्री-स्वतंत्रता में बाधा नहीं थी। जब आर्यों की सभ्यता बढ़ी और उनमें वर्णधर्म स्थापित हो चला, तब लोग संभुक्त स्त्री को अपने यहाँ रखने की अपेक्षा असंभुक्त या कन्या को अच्छा समझते थे। कन्या के लिये कभी कभी युद्ध भी हुआ करते थे। धीरे धीरे सभ्यता बढ़ती गई और लोगों में स्त्री पुत्र की ममता अधिक होती गई। पर स्त्रियों की स्वतंत्रता बनी रही। वे एक पुरुष के अधिकार में रहकर भी अन्य की कामना करती थीं। उस समय यह व्यवहार नहीं समझा जाता था। महाभारत से पता चलता है कि इस प्रथा को उद्दालक ऋषि के पुत्र स्वतकेतु

ने उठा दिया। उन्होंने यह मर्यादा बाँधी कि पति के रहते हुए कोई स्त्री उसकी आज्ञा के विरुद्ध अन्य पुरुष से संभोग न करे। पर उस समय भी पति की अयोग्यता की अवस्था में उसके रहते स्त्रियाँ दूसरा पति कर लेती थीं। महर्षि दीर्घतमा ने यह प्रथा निकाली कि ‘यावत् जीवन स्त्रियाँ पति के अधीन रहें। पति के जीवन काल में तथा उसके मरने पर भी वे कभी पर-पुरुष का आश्रय न लें। और यदि आश्रय लें, तो पतित समझी जायँ।’ धीरे धीरे स्त्रियों की स्वतंत्रता जाती रही और वे उपभोग की सामग्री समझी जाने लगीं। यहाँ तक कि लोग उन्हें पति के मरने पर उसके शव के साथ अन्य आमोद प्रमोद की वस्तुओं की भाँति जलाने लगे जिसमें मरे हुए व्यक्ति को वे स्वर्ग में मिलें। इसी प्रथा ने पीछे सती की प्रथा का रूप धारण किया। पीछे से आर्य जाति व्यसनी हो गई। एक पुरुष अनेक स्त्रियाँ रखने लगा; यहाँ तक कि तपस्वी भी इससे नहीं बचे थे। याज्ञवल्क्य के दो स्त्रियाँ (मेत्रेयी और गार्गी) थीं। आर्य लोग अनाथ स्त्रियों को भी नहीं छोड़ते थे। इस कारण यह नियम बनाना पड़ा कि यज्ञ-रीक्षा के समय रामा अर्थात् शूद्रा से गमन न करें। पीछे से राजा वेणु ने अपने वंश की रक्षा के लिये जवर्दस्ती ‘नियोग’ की प्रथा चलाई। मनुजी ने उसकी निन्दा की है। वे लिखते हैं—‘राजर्षि वेणु के समय में विद्वान् द्विजों ने मनुष्यों के लिये इस पशु-धर्म (नियोग) का उपदेश किया था। राजर्षि प्रवर वेणु समस्त भूमण्डल का राजा था। उसी कामी ने वनों का घाल मेल किया।’ उस समय तक विवाह दो प्रकार के होते थे। एक तो छीन झपटकर, लड़ भिड़कर या यौही कन्या को फुसलाकर अपने यहाँ ले आते थे। दूसरे यज्ञों के समय यजमान अपनी कन्याएँ पुरोहितों को चाहे दक्षिणा रूप में या धर्म समझकर दे देते थे। धीरे धीरे जब विवाह की यह प्रथा अनुचित मालूम हुई, तब विवाह का अधिकार पिता के हाथ में दिया गया और पिता योग्य वरों को एक समाज में बुलाकर कन्याओं को उनमें से एक को चुनने का अधिकार देता था। यही आगे चलकर स्वयंवर हुआ। कभी कभी स्वयंवर के मौके पर भी क्षत्रिय लोग लड़कियाँ उठा ले जाते थे। विवाह के समय प्रायः वर की २५ वर्ष और कन्या की १६ वर्ष की अवस्था होती थी; अतः विधवा होने की कम संभावना रहती थी। धीरे धीरे ‘नियोग’ की प्रथा मिट गई। विधवा का विवाह भी बुरा समझा जाने लगा। सभ्यता के बढ़ने पर पुरुष लोग स्त्रियों पर कड़ी दृष्टि रखने लगे और उनकी स्वतंत्रता जाती रही। स्त्रियों की स्वतंत्रता हो जाने पर पुरुषों में बहु-विवाह की प्रथा चल पड़ी। पीछे बुद्ध के समय में एक बार स्त्रियों की

स्वतंत्रता फिर बढ़ी। पर बौद्ध मत का लोप होने पर वह फिर जाती रही। मुसलमानों के आने पर स्त्रियों की रक्षा करने के लिये हिंदुओं ने उनका जल्दी विवाह करना आरंभ किया; क्योंकि उस समय मुसलमान लोग विवाहित स्त्रियों पर बलात्कार करना धर्म-विरुद्ध समझते थे। इसी से बाल विवाह की प्रथा चली। विवाह आठ प्रकार के माने गए हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच। पर आज कल केवल ब्राह्म विवाह प्रचलित है।

पर्याय—दारकर्म। परिणय। पाणिग्रहण।

विवाहना—कि० सं० दे० “व्याहना”।

विवाहित—वि० पुं० [सं०] [स्त्री० विवाहिता] जिसका विवाह हो गया हो। व्याहा हुआ।

विवाहिता—वि० स्त्री० [सं०] जिसका पाणिग्रहण हो चुका हो। व्याही हुई।

विवाही—वि० स्त्री० [सं० विवाहिता] जिसका विवाह हो चुका हो। उ०—और सहेली सब विवाही। सो कहैं देव कतहुँ बर नहीं।—जायसी।

विवाह्य—वि० [सं०] पाणिग्रहण करने योग्य। व्याह करने योग्य। व्याहने लायक।

विविक्ल—वि० [सं० द्वि०] (१) दो। (२) दूसरा। उ०—श्रीफल कंज कली से विराजत कै विवि मौनी बसे दिगंग के। कै गिरि हेम कै संपुट साने कै राजत संभु मनो रस रंग के।—द्विज।

विविक्त—वि० [सं०] (१) पृथक् किया हुआ। (२) बिखरा हुआ। (३) पवित्र। (४) विजन। निर्जन। (५) त्यक्त। संज्ञा पुं० [स्त्री० विविक्ता] संन्यासी। श्यामी।

विविक्तचरित—वि० [सं०] जिसका आचरण बहुत अच्छा और पवित्र हो। शुद्ध चरित्रवाला।

विविक्तनाम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार हिरण्यरेता के सात पुत्रों में से एक पुत्र। (२) इसके द्वारा शासित वर्ष का नाम।

विविचार—वि० [सं०] (१) विचार रहित। विवेक रहित। उ०—हैं अपने विविचार विचार अचार विचार अपार बहाऊँ। धीरज धूरि मिले कहि केशव धर्म के धामिन धूरि जमाऊँ।—केशव। (२) आचार रहित।

विविचारी—संज्ञा पुं० [सं० विविचारिन्] [स्त्री० विविचारिणी] (१) अविवेकी। मूर्ख। बेवकूफ। (२) दुराचारी। दुश्चरित्र। बदचलन।

विविध—वि० [सं०] बहुत प्रकार का। अनेक तरह का। भौति भौति का। जैसे,—विविध विषयों से विभूषित वास्तविक पवित्र। उ०—प्रति रति गति मति एक करि,

विविध विवेक विलास। रसिकन को रसिक प्रिया, कीर्त्ती केशवदास।—केशव।

विविर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) खोह। गुफा। उ०—विविर भाव सुख पाय, पायो महाप्रसाद पुनि। तहैं के तीर्थ निकाय जाय जाय सादर क्रियो। (२) बिल। (३) दरार।

विधीत—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह स्थान जो चारो ओर से घिरा हो। बाड़ा। (२) पशुओं के चरने का स्थान जो चारो ओर से घिरा हो।

विधुध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवता। (२) पंडित। ज्ञानी।

विधुधपुर—संज्ञा पुं० [सं०] देवताओं का देश, स्वर्ग।

विधुधप्रिया—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक दूत जिसके प्रत्येक चरण में र, स, ज, ज, भ और र गण होते हैं। इसे ‘चंचरी’ ‘चंचली’ और ‘चर्चरी’ भी कहते हैं।

विधुधवन—संज्ञा पुं० [सं०] देवताओं का प्रमोद वन, मंदन कानन।

विधुधवैद्य—संज्ञा पुं० [सं०] देवताओं के चिकित्सक, अग्निनी-कुमार।

विधुधेश—संज्ञा पुं० [सं० विधुध + ईश] देवताओं का राजा, इन्द्र।

विधृत—वि० [सं०] (१) विस्तृत। फैला हुआ। (२) खुला हुआ।

संज्ञा पुं० ऊष्म स्वरों के उच्चारण करने का एक प्रयत्न।

विधृता—संज्ञा स्त्री० [सं०] योनि का एक रोग जिसमें गूलर के फल के सदृश मंडलाकार फुंसियाँ होती हैं और योनि में बहुत जलन होती है।

विधृति—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चक्र के समान घूमने की क्रिया। परिभ्रमण। (२) टीका। भाष्य।

विधृतोक्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अलंकार जिसमें श्लेष से छिपाया हुआ अर्थ कवि स्वयं अपने शब्दों द्वारा प्रकट कर देता है।

विवेक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भली बुरी वस्तु का ज्ञान। सत् असत् का ज्ञान। (२) मन की वह शक्ति जिससे भले बुरे का ज्ञान होता है। अच्छे और बुरे को पहचानने की शक्ति। (३) समझ। विचार। बुद्धि। (४) सत्य ज्ञान। (५) प्रकृति और पुरुष की विभिन्नता का ज्ञान। (६) पानी रखने का एक प्रकार का बरतन।

विवेकता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विवेक का भाव। ज्ञान। (२) सत् और असत् का विचार।

विवेकवान्—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसे सत् और असत् का ज्ञान हो। अच्छे बुरे को पहचाननेवाला। (२) बुद्धिमान्। अकृमंद।

विवेकी—संज्ञा पुं० [सं० विवेकिन्] (१) वह जिसे विवेक हो। भले बुरे

का ज्ञान रखनेवाला। (२) विचारवान। बुद्धिमान्। समझदार। (३) ज्ञानी। (४) न्यायशील। (५) वह जो अभियोगों आदि का न्याय करता हो। न्यायाधीश।
विवेचक-संज्ञा पुं० [सं०] विवेचना करनेवाला। विवेकी।
विवेचन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी वस्तु की भली भाँति परीक्षा करना। जाँचना। (२) यह देखना कि कौन सी बात ठीक है और कौन नहीं। निर्णय। (३) व्याख्या। तर्क वितर्क। (४) अनुसंधान। (५) परीक्षा। (६) सत् असत् का विचार। (७) मीमांसा।
विवेचना-संज्ञा स्त्री० “विवेचन”।
विवेचनीय-वि० [सं०] विवेचन करने योग्य। विचार करने लायक।
विवेचित-वि० [सं०] (१) जिसकी विवेचना की गई हो। निर्णय किया हुआ। (२) तै किया हुआ। निश्चित।
विश्वोक-संज्ञा पुं० [सं०] साहित्य शास्त्र के अनुसार एक हाव जिसमें क्षिप्रों संयोग के समय प्रिय का अनादर करती है।
विशंक-वि० [सं०] जिसे किसी प्रकार की शंका या भय न हो। निःशंक। निर्भय। निडर।
विशंकट-वि० [सं०] (१) बहुत बड़ा या विस्तृत। विशाल। (२) भयानक। डरावना।
विशंकीय-वि० [सं०] जिससे किसी प्रकार की शंका हो। डरने योग्य।
विशंका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आशंका। भय। डर। (२) आशंका का अभाव।
विशंकी-वि० [सं० विशंकिन्] जिसे किसी प्रकार की आशंका या भय हो।
विशंक्य-वि० [सं०] आशंका या भय करने के योग्य।
विश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल की डंठी। मृणाल। (२) चाँदी। (३) मनुष्य। आदमी।
संज्ञा स्त्री० कन्या। लड़की।
विशद्-वि० [सं०] (१) स्वच्छ। विमल। (२) साफ। स्पष्ट। (३) जो दिखाई पड़ता हो। व्यक्त। (४) सफेद। (५) प्रसन्न। खुश। (६) सुंदर। मनोहर। खूबसूरत। (७) अनुकूल।
संज्ञा पुं० (१) सफेद रंग। (२) भागवत के अनुसार जयद्रथ के एक पुत्र का नाम। (३) कलसी। (४) बृहती। बड़ी कटाई। बनभंडा।
विशय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) संशय। संदेह। शक। (२) आश्रय। सहारा।
विशयी-संज्ञा पुं० [सं० विशयिन्] वह जिसे किसी प्रकार की शंका या संदेह हो।

विशर-संज्ञा पुं० [सं०] मार डालना। वध।
विशरण-संज्ञा पुं० [सं०] मार डालना। हत्या करना। वध करना।
विशरद्-संज्ञा पुं० दे० “विशारद”।
विशर्जन-संज्ञा पुं० [सं०] वायुत्याग। पादना।
विशल्यकर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्विषी।
विशल्यकृत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पलासी लता। (२) आस्फोता या हरपरवाली नामक लता।
विशल्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गुडूच। (२) अग्निशिखा नामक वृक्ष। (३) दंती वृक्ष। (४) नागदंती। (५) एक प्रकार की तुलसी जिसे रामदंती भी कहते हैं। (६) एक नदी का नाम। (७) लक्ष्मण की स्त्री का नाम। (८) निशोथ। (९) पाटला। (१०) खेसारी।
विशस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मार डालना। हत्या करना। वध। (२) खड्ग।
विशसन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मार डालना। हत्या करना। (२) भागवत के अनुसार एक नरक का नाम। (३) खड्ग।
विशस्त-वि० [सं०] (१) जो मार डाला गया हो। (२) काटा हुआ। (३) जिसे किसी प्रकार का भय न हो।
विशस्ता-संज्ञा पुं० [सं० विशस्त] (१) मार डालनेवाला। हत्या करनेवाला। (२) चांडाल।
विशस्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] मार डालना। हत्या।
विशस्पति-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।
विशांपति-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।
विशाकर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भद्रचूड़। लंकासीज। (२) दंती। (३) हाथी शूंडी। (४) पादर या पाटला का वृक्ष।
विशाख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्तिकेय। (२) धनुष चलाने के समय एक पैर आगे और एक उससे कुछ पीछे रखना। (३) माँगनेवाला। याचक। (४) पुनर्नवा। गद्दहपरना। (५) सुश्रुत के अनुसार वह अपस्मार रोग जो स्कंद नामक ग्रह के प्रकोप से हो। (६) पुराणानुसार एक देवता का नाम जिनका जन्म कार्तिकेय के वज्र चलाने से हुआ था। (७) कार्तिकेय के छोटे भाई का नाम। (८) शिव।
वि० जिसमें शाखाएँ आदि न हों।
विशाखग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] बेल का पेड़।
विशाखज-संज्ञा पुं० [सं०] नारंगी का पेड़।
विशाखपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] बालकों को होनेवाला एक प्रकार का रोग। (वैद्यक)
विशाखयूप-संज्ञा पुं० [सं०] नृसिंह पुराण के अनुसार एक प्राचीन देव का नाम। कुछ लोग इसे मन्दास प्रांत का आधुनिक विशाखपत्तन मानते हैं।

विशाखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अश्विनी आदि सत्ताईस नक्षत्रों में से सोलहवाँ नक्षत्र जो मित्र गण के अंतर्गत है और जिसे राधा भी कहते हैं। इसमें चार तारे हैं और इसका आकार तोरण का सा है। यह नक्षत्र दो भागों में बँटा हुआ है, इसलिये इसके दो देवता इंद्र और अग्नि हैं। (२) एक प्राचीन जनपद जो कौशांबी के पास था। (३) सफेद गदहपुरा। (४) काली अपराजिता।

विशालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुनर्नवा। गदहपुरा। (२) नीली अपराजिता। (३) करेला।

विशप-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

विशाय-संज्ञा पुं० [सं०] पहरेदारों का पारी पारी से खोना।

विशायक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की लता जिसे विशाकर भी कहते हैं।

विशारद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो किसी विषय का अच्छा पंडित या विद्वान् हो। (२) वह जो किसी काम में बहुत कुशल हो। दक्ष। (३) वह जिसे अपनी शक्ति पर भरोसा हो। (४) वकुल वृक्ष। मौलसिरी।

वि० (१) प्रसिद्ध। मशहूर। (२) श्रेष्ठ। उत्तम। (३) अभिमानी। घमंडी।

विशारदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) केवाँच। कौँड। (२) धमासा। दुरालभा।

विशाल-वि० [सं०] (१) जो बहुत बड़ा और विस्तृत हो। लंबा चौड़ा। (२) जो देखने में सुंदर और भव्य हो। (३) प्रसिद्ध। मशहूर।

संज्ञा स्त्री० (१) एक प्रकार का मृग। (२) चिड़िया। पक्षी। (३) पेड़। वृक्ष। (४) रामायण के अनुसार राजा इक्ष्वाकु के पुत्र का नाम जिसने विशाला नाम की नगरी स्थापित की थी। (५) पुराणानुसार एक पर्वत का नाम।

विशालक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कैथ। कपित्थ। (२) गरुड़। (३) एक यक्ष का नाम।

विशालता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विशाल होने का भाव।

विशालत्वक्-संज्ञा पुं० [सं०] छतियन।

विशालदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की लता।

विशालनेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम।

विशालपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्रीताल नामक वृक्ष। द्विताल। (२) मानकंद। मानकचू।

विशालफलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] निष्पावी। बरसेमा।

विशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) इंद्रवारुणी नामक लता। इंद्रायन। (२) महेंद्रवारुणी। (३) पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम। (४) दक्ष की एक कन्या का नाम। (५) पोई का साग। (६) एकांगी। मुरानासी। (७) ककणा नामक बाक।

विशालाक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव। शिव। (२) विष्णु। (३) गरुड़। (४) छतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम। वि० जिसकी आँखें बड़ी और सुंदर हों।

विशालाक्षी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह स्त्री जिसकी आँखें बड़ी और सुंदर हों। (२) पार्वती। (३) देवी का एक रूप या मूर्ति। (४) चौंसठ योगिनिचों में से एक योगिनी का नाम। (५) नागदंती। हाथीशुंडी।

विशाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अजमोदा। (२) पलाशी लता।

विशिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बाल। रेत।

विशिख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रामसर या भद्रसुंज नामक वास। (२) वाण। (३) वह स्थान जिसमें रोगी रहता हो।

विशिरस्क-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार मेरु पर्वत के पास के एक पर्वत का नाम।

विशिष्ट-वि० [सं०] (१) मिला हुआ। युक्त। (२) जिसमें किसी प्रकार की विशेषता हो। विशेषता-युक्त। जैसे,—कुछ विशिष्ट कर्म ऐसे होते हैं, जिनके लिये मनुष्य को प्रायश्चित्त तक करना होता है। (३) विलक्षण। अद्भुत। (४) जो बहुत अधिक शिष्ट हो। (५) यशस्वी। कीर्तिशाली। (६) प्रसिद्ध। मशहूर।

संज्ञा पुं० सीसा नामक धातु।

विशिष्टचरित्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम।

विशिष्टता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विशिष्ट का भाव या धर्म। (२) विशेषता।

विशिष्टपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] ग्रंथिपर्णी। गठियन।

विशिष्टाद्वैत-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रसिद्ध दार्शनिक सिद्धांत जिसके अनुसार यह माना जाता है कि जीवात्मा और जगत् दोनों ब्रह्म से भिन्न होने पर भी वास्तव में भिन्न नहीं हैं। इस सिद्धांत में यद्यपि ब्रह्म, जीवात्मा और जगत् तीनों मूलतः एक ही माने जाते हैं, पर फिर भी तीनों कार्य रूप में एक दूसरे से भिन्न और कुछ विशिष्ट गुणों से युक्त माने जाते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार जीव और ब्रह्म का वही संबंध है, जो किरण और सूर्य का है; अर्थात् किरण जिस प्रकार सूर्य से निकली हुई है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म से निकल हुआ है; और जिस प्रकार किरण से सूर्य बहुत बड़ा है, उसी प्रकार जीव से ब्रह्म भी बहुत बड़ा है। इसमें ब्रह्म को एक भी माना जाता है और अनेक भी। वास्तव में द्वैत और अद्वैत दोनों वादों के मध्य का यह मार्ग है; अर्थात् इसमें उन दोनों वादों में सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की गई है। यह वाद रामानुजाचार्य का चलाया हुआ है और भेदाभेदवाद या द्वैताद्वैतवाद भी कहलाता है।

विशिष्टी-संज्ञा स्त्री० [सं०] शंकराचार्य की मतता का नाम।

विशीर्ण-वि० [सं०] (१) सूखा हुआ । (२) दुबला पतला ।
(३) बहुत पुराना । जीर्ण ।

विशीर्णपर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] नीम का पेड़ ।

विशील-वि० [सं०] (१) जिसका शील या चरित्र अच्छा न हो । (२) दुष्ट । पाजी ।

विशुद्धि-संज्ञा पुं० [सं०] कश्यप के एक पुत्र का नाम ।

विशुद्ध-वि० [सं०] (१) जो बिल्कुल शुद्ध हो । जिसमें किसी प्रकार की मिलावट आदि न हो । (२) सत्य । सच्चा ।
संज्ञा पुं० तंत्र के अनुसार शरीर के अंदर के छः चक्रों में से पाँचवा चक्र जो गले में माना जाता है । कहते हैं कि इस में सोलह दल होते हैं और शिव तथा आकाश इसमें निवास करते हैं ।

विशुद्धचरित्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम ।

वि० जिसका चरित्र बहुत शुद्ध हो ।

विशुद्धचारी-संज्ञा पुं० [सं०] विशुद्धचरित्र वह जिसका चरित्र बहुत शुद्ध हो ।

विशुद्धता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विशुद्ध होने का भाव या धर्म । पवित्रता ।

विशुद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] विशुद्ध होने की क्रिया या भाव । शुद्धता । पवित्रता ।

विशुचिका-संज्ञा स्त्री० दे० “विस्चिका” ।

विशृङ्खल-वि० [सं०] (१) जिसमें शृङ्खला न हो या न रह गई हो । शृङ्खला-रहित । (२) जो किसी प्रकार दबाया या रोका न जा सके ।

विशृंग-वि० [सं०] जिसे शृंग न हों । शृंग-रहित ।

विशेष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भेद । अंतर । फरक । (२) प्रकार । तरह । ढंग । (३) नियम । कायदा । (४) विचित्रता । (५) व्यक्ति । (६) सार । निचोड़ । (७) तारतम्य । मुना-सिबत । (८) वह जो साधारण के अतिरिक्त और उससे अधिक हो । अधिकता । ज्यादाती । (९) अवयव । अंग । (१०) वस्तु । पदार्थ । चीज । (११) तिल का पौधा । (१२) साहित्य में एक प्रकार का अलंकार जिसके तीन भेद कहे गए हैं । पहला वह भेद है जिसमें बिना किसी आधार के ही भाष्य का वर्णन होता है । जैसे,—बिनु बारिद बिजुरी बिना बारि लसत युग मीन । बिधु ऊपर तम तोम यह निरखी रीति नवीन । दूसरा भेद वह है जिसमें थोड़ा सा ही काम करने पर बहुत बड़ा काम या लाभ हो । जैसे,—पाह चुके फल चारिहू करत गंगजल पान । तीसरा भेद वह है जिसमें एक चीज का अनेक स्थानों में होना वर्णित होता है । जैसे,—घर बाहर अब ऊरधौ सब ठाँ राम ललाय । (१३) वैशेषिक दर्शन के अनुसार सात प्रकार के पदार्थों में से एक प्रकार का पदार्थ ।

विशेष-कणाद ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ माने हैं । “विशेष” वे गुण हैं जिनके कारण कोई एक पदार्थ शेष दूसरे पदार्थों से भिन्न समझा जाता है । दो वस्तुओं में रूप, रस और गंध आदि में जो अंतर होता है, वह इसी “विशेष” गुण के कारण होता है । रूप, रस, गंध, स्पर्श, स्नेह, द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और शब्द ये वैशेषिक गुण या विशेष गुण कहलाते हैं । कणाद के दर्शन में इन्हीं विशेष पदार्थों या गुणों आदि का विवेचन है; इसी लिये वह “वैशेषिक दर्शन” कहलाता है ।

विशेषक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) माथे पर लगाया जानेवाला तिलक । टीका । (२) तिलक वृक्ष । तिलपुष्पी । (३) चित्रक । (४) साहित्य में एक प्रकार का पद्य जिसमें तीन श्लोकों या पदों में एक ही क्रिया रहती है; इसलिये उन तीनों श्लोकों या पदों का एक साथ ही अन्वय होता है । वि० विशेषता उत्पन्न करनेवाला । विशेष रूप देनेवाला ।

विशेषज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसे किसी विषय का विशेष ज्ञान हो । वह जो किसी बात का खास तौर पर जानकर हो । किसी विषय का पारदर्शी ।

विशेषण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो किसी प्रकार की विशेषता उत्पन्न करता या बतलाता हो । (२) व्याकरण में वह विकारी शब्द जिससे किसी संज्ञा की कोई विशेषता सूचित होती है, अथवा उसकी व्याप्ति मर्यादित होती है । जैसे,—“वीर मराटे” या “चपल बालक” में “वीर” और “चपल” शब्द विशेषण हैं । जब विशेषण किसी संज्ञा के साथ लगता है, तब उसे विशेष्य-विशेषण कहते हैं; और जब वह क्रिया के साथ लगता है, तब उसे विधेय-विशेषण कहते हैं । जैसे,—“हमें तो संसार सूना देख पड़ता है” । यहाँ “सूना” विधेय विशेषण है । साधारणतः विशेषण तीन प्रकार के होते हैं—(१) सार्वनामिक विशेषण; जैसे,—“वह आदमी चला गया” में “वह” सार्वनामिक विशेषण है । (२) गुणवाचक विशेषण; जैसे,—नया, पुराना, सुडौल, सूखा, खराब आदि । और (३) संख्यावाचक विशेषण; जैसे,—आधा, एक, चार, दसवाँ ।

विशेषता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विशेष का भाव या धर्म । खस-सियत । खासपन । जैसे,—आपकी बातों में यह विशेषता है कि तुरंत प्रभाव डालती हैं ।

विशेषमति-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम ।

विशेषित-वि० [सं०] (१) जो खास तौर पर अलग किया गया हो । जो “विशेष” किया या बनाया गया हो । (२) जिसमें विशेषण लगा हो ।

विशेषी-वि० [सं० विशेषिन्] जिसमें कोई विशेष बात हो। विशेषतायुक्त।

विशेषोक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] काव्य में एक प्रकार का अलंकार जिसमें पूर्ण कारण के रहते हुए भी कार्य के न होने का वर्णन रहता है। जैसे,—(क) भलि इन लोयन की कछु उपजी बड़ी बलाय। नीरे भरे नित प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुजाय। (ख) तमकि ताकि तकि शिव धनु धरहीं। उठत न कोटि भाँति बल करहीं—तुलसी।

विशेष्य-संज्ञा पुं० [सं०] व्याकरण में वह संज्ञा जिसके साथ कोई विशेषण लगा होता है। वह संज्ञा जिसकी विशेषता विशेषण लगाकर सूचित की जाय। जैसे,—मोटा आदमी या काला कुत्ता में “आदमी” और “कुत्ता” विशेष्य हैं।

विशेष्यासिद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह हेत्वाभास जिसके द्वारा स्वरूप की असिद्धि हो।

विशोक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अशोक वृक्ष। (२) युधिष्ठिर के एक अनुचर का नाम। (३) पुराणानुसार ब्रह्मा के एक मानसपुत्र का नाम।

वि० जिसे शोक न हो। शोक रहित।

विशोकता-संज्ञा स्त्री० [सं०] शोक रहित होने का भाव या धर्म।

विशोक षष्ठी-संज्ञा स्त्री० [सं०] चैत्र शुक्ला षष्ठी।

विशेष—कहते हैं कि इस दिन व्रत करने से मनुष्य को शोक नहीं होता।

विशोका-संज्ञा स्त्री० [सं०] योग दर्शन के अनुसार वह चित्त-वृत्ति जो संप्रज्ञात समाधि से पहले होती है। इसे ज्योतिष्मती भी कहते हैं।

विशोध-वि० [सं०] विशुद्ध करने योग्य। साफ करने लायक।

विशोधन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अच्छी तरह साफ करना। (२) विष्णु।

विशोधनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ब्रह्मा की पुरी का नाम। (२) नागदंती। (३) नीली नामक पौधा। (४) पान। तांबूल।

विशोधिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नागदंती। (२) नीली। (३) जमालगोटा।

विशोधिनीबीज-संज्ञा पुं० [सं०] जमालगोटा।

विशोधी-वि० [सं० विशेषिन्] बिलकुल शुद्ध करनेवाला। विशुद्धि करनेवाला।

विशोष-संज्ञा पुं० [सं०] नीरसता। शुष्कता। रूखापन।

विशोषण-संज्ञा पुं० [सं०] अच्छी तरह सोखना।

विशोषी-संज्ञा पुं० [सं० विशेषिन्] अच्छी तरह सोखनेवाला।

विश-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह जिसने जन्म लिया हो। प्रजा। (२) कन्या। लड़की।

विशपति-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० विश्पती] (१) राजा। (२) वैश्यों का प्रधान, मुखिया या पंच।

विश्यापर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का वृक्ष।

विश्रंभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विश्वास। एतबार। (२) प्रेमी और प्रेमिका में रति के समय होनेवाला झगड़ा। (३) प्रेम। मुहब्बत। (४) हत्या। मार डालना। (५) स्वच्छंदतापूर्वक घूमना फिरना।

विश्रब्ध-वि० [सं०] (१) जो उद्धत न हो। शांत। (२) जिसका विश्वास किया जाय। विश्वसनीय। (३) जिसे किसी प्रकार का भय न हो। निर्भय। निडर।

विश्रब्धनवोदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] साहित्य में नवोदा नायिका का एक भेद। वह नवोदा नायिका जिसका अपने पति पर कुछ कुछ अनुराग और कुछ कुछ विश्वास होने लगा हो। उ०—जाहि न चाह कहूँ रति की सुकछु पति को पतियान लगी है। त्यों पदमाकर आनन में रहि कानन भौंह कमान लगी है। देति पिया न चुबै छतियाँ बतियान में तो सुस्वयान लगी है। प्रीतमै पान खवाइबे को परजंक के पास लौं जान लगी है।—पद्माकर।

विश्रम-संज्ञा पुं० दे० “विश्राम”।

विश्रवण-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

विश्रवा-संज्ञा पुं० [सं० विश्रवस्] एक प्राचीन ऋषि जो पुत्रस्य मुनि के पुत्र थे और उनकी पत्नी हविर्भू के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। कुबेर इन्हीं के पुत्र थे और इन्हीं की पत्नी हलविदा के गर्भ से जनमे थे।

विश्रांत-वि० [सं०] जिसने विश्राम कर लिया हो। जो थकावट उतार चुका हो।

विश्रांति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विश्राम। आराम। (२) पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम। कहते हैं कि जनार्दन ने यहीं आकर विश्राम किया था।

विश्राम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अधिक समय तक कोई काम या परिश्रम करने के कारण थक जाने पर रुकना या ठहरना। श्रम मिटाना। थकावट दूर करना। आराम करना। उ०—किय विश्राम न मगु महिपाला।—तुलसी। (२) ठहरने का स्थान। उ०—प्यारी की ठोही को बिंदु दिनेस किबौं विसराम गोविंद के जी को। (३) आराम। चैन। सुख। उ०—कोउ विश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिन। चलै कि जल बिनु नाव कोटि जतन पचि पचि मरिय।—तुलसी।

विश्राव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत अधिक प्रसिद्धि। शोहरत। (२) ध्वनि। (३) क्षरना, बहना या रसना। क्षरण।

विश्रि-संज्ञा स्त्री० [सं०] मृत्यु। मौत।

विश्री-वि० [सं०] (१) जिसकी श्री नष्ट हो गई हो। शोभाहीन। (२) भद्दा। कुरूप।

विश्रुत-वि० [सं०] (१) जो जाना या सुना हुआ हो। (२) प्रसिद्ध। विख्यात। मशहूर।

विश्रुतात्मा-संज्ञा पुं० [सं० विश्रुतात्मन्] विष्णु ।

विश्रुति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रसिद्धि । शोहरत । (२) झरना, बहना या रसना ।

विश्रिष्ट-वि० [सं०] (१) जो अलग हो गया हो । जो मिला हुआ न हो । जिसका विश्लेषण हो चुका हो । (२) विकसित । खिला हुआ । (३) जो प्रकट हो । प्रकटित । (४) जो खुला हुआ हो । मुक्त । (५) थका हुआ । शिथिल ।

विश्रिष्टसंधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वैद्यक के अनुसार हड्डी टूटने का एक प्रकार । (२) शरीर के अंगों की किसी संधि का चोट आदि के कारण टूटना ।

विश्लेष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अलग होना । पृथक् होना । (२) वियोग । बिछोह । (३) शिथिलता । थकावट । (४) किसी की ओर से मन हट जाना । (५) विकास ।

विश्लेषण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पदार्थ के संयोजक द्रव्यों का अलग अलग करना । (२) वायु के प्रकोप से छोड़े या वाव में होनेवाली एक प्रकार की वेदना ।

विश्वन्तर-संज्ञा पुं० [सं०] भगवान् बुद्ध का एक नाम ।

विश्वंभर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सारे विश्व का पालन या भरण करनेवाला, परमेश्वर । (२) विष्णु । (३) एक उपनिषद् का नाम ।

विश्वंभरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी ।

विश्वंभरेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार हिमालय के एक शिव लिंग का नाम ।

विश्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चौदहो भुवनों का समूह । समस्त ब्रह्मांड । वि० दे० "ब्रह्मांड" । (२) संसार । जगत् । दुनिया । (३) सोंठ । (४) बोल नामक गंध द्रव्य । (५) देवताओं का एक गण जिसमें ये दस देवता हैं—वसु, सत्य, क्रतु, दक्ष, काल, काम, धृति, कुरु, पुरुवा और माद्रवा । ये धर्म के पुत्र और दक्ष की कन्या विश्वा के गर्भ से उत्पन्न माने जाते हैं । (६) जीवात्मा । (७) विष्णु । (८) शिव । (९) शरीर । देह ।

वि० (१) समस्त । सब । (२) बहुत । अधिक ।

विशेष—इन अर्थों में इस शब्द का व्यवहार यौगिक शब्द बनाने के लिये उनके आरंभ में होता है ।

विश्वक-वि० [सं०] समस्त । पूरा ।

विश्वकटु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिकारी कुत्ता । (२) खल । दुष्ट । पाजी । (३) शब्द । आवाज ।

विश्वकर्त्ता-संज्ञा पुं० [सं० विश्वकर्त्तृ] संसार को उत्पन्न करनेवाला, परमेश्वर ।

विश्वकर्म-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो सब प्रकार के कार्य करने में चतुर हो ।

विश्वकर्मजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सूर्य की पत्नी संज्ञा का एक नाम ।

विश्वकर्मा-संज्ञा पुं० [सं० विश्वकर्म्मन्] (१) समस्त संसार की रचना करनेवाला, ईश्वर । (२) ब्रह्मा । (३) सूर्य । (४)

एक प्रसिद्ध आचार्य अथवा देवता जो सब प्रकार के शिल्प-शास्त्र के आविष्कर्त्ता और सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता माने जाते हैं ।

पुराणानुसार ये आठ वसुओं में से प्रभास नामक वसु के पुत्र थे और देवताओं के लिये विमान तथा प्रासाद आदि

बनाया करते थे । आग्नेयास्त्र इन्हीं का बनाया हुआ माना जाता है । महाभारत में ये सर्वश्रेष्ठ शिल्पी और अमर कहे

गए हैं । रामायण के अनुसार इन्होंने राक्षसों के लिये लंका बनाई थी । वेदों में ये सर्वदर्शी, सर्वनियंता और

विश्वज्ञ कहे गए हैं । वेदों में कहीं कहीं "विश्वकर्मा" शब्द इंद्र, सूर्य, प्रजापति, विष्णु आदि के अर्थ में भी

आया है । महाभारत के अनुसार इनकी माता का नाम लावण्यमयी था; और सूर्य की पत्नी संज्ञा इन्हीं की कन्या

थी । कहते हैं कि जब सूर्य के प्रखर ताप को संज्ञा न सह सकी, तब इन्होंने उसका आठवाँ अंश काट लिया

और उससे सुदर्शन चक्र, त्रिशूल आदि बनाकर देवताओं में बाँटे । सृष्टि की रचना करने के कारण ये प्रजापति और

त्वष्टा भी कहे जाते हैं । भाद्रपद की संक्रांति को इनकी पूजा हुआ करती है । कारु । तक्षक । देववर्द्धन । (५) शिव

का एक नाम । (६) चरक के अनुसार शरीर में की चेतना नामक धातु । (७) बड़ई । (८) मेमार । राज । (९) लोहार ।

विश्वकर्म्मेश-संज्ञा पुं० [सं०] एक शिवलिंग का नाम ।

विश्वकाय-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

विश्वकाया-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा ।

विश्वकारक-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

विश्वकारु-संज्ञा पुं० दे० "विश्वकर्मा" ।

विश्वकार्य-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य की सात प्रधान ज्योतियों का समूह ।

विश्वकूट-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार हिमालय की एक चोटी का नाम ।

विश्वकृत्-संज्ञा पुं० दे० "विश्वकर्मा" ।

विश्वकृष्टि-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो सब लोगों को अपने सगे संबंधी के समान समझता हो ।

विश्वकेतु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अनिरुद्ध का एक नाम । (२) पुराणानुसार एक पर्वत का नाम ।

विश्वकोश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह कोश या भांडार जिसमें संसार भर के सब पदार्थ आदि संगृहीत हों । (२) वह ग्रंथ जिसमें संसार भर के सब प्रकार के विषयों आदि का विस्तृत विवेचन या वर्णन हो ।

विश्वकोष-संज्ञा पुं० दे० "विश्वकोश" ।

विश्वकृशेन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु । (२) पुराणानुसार

सेरहवें मनु का नाम । (३) कालिका पुराण के अनुसार एक चतुर्भुज देवता जो शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किए रहते हैं और जो विष्णु का निर्मादय धारण करनेवाले माने जाते हैं ।

विश्वकशेना-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रियंगु नामक वृक्ष । कँगनी ।

विश्वक्षय-संज्ञा पुं० [सं०] विश्व या ब्रह्मांड का नाश । प्रलय ।

विश्वगंगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बरार प्रदेश की एक छोटी नदी का नाम ।

विश्वगंध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बोल नामक गंध द्रव्य । (२) प्याज ।

विश्वगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी ।

विश्वगंधि-संज्ञा पुं० [सं०] भागवत के अनुसार पृथु के पुत्र का नाम ।

विश्वग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा । (२) भागवत के अनुसार मरीचि के पुत्र का नाम जिसका जन्म पूर्णिमा के गर्भ से हुआ था ।

विश्वगर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु । (२) शिव । (३) पुराणानुसार रैवत के एक पुत्र का नाम ।

विश्वगुरु-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

विश्वगोप्ता-संज्ञा पुं० [सं० विश्वगोप्ता] (१) विष्णु । (२) इंद्र । (३) वह जो समस्त विश्व का पालन करता हो ।

विश्वग्रथि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हंसपदी लता । (२) लाल लज्जालू ।

विश्वग्वात-संज्ञा पुं० दे० "विश्वग्वायु" ।

विश्वग्वायु-संज्ञा पुं० स्त्री० [सं०] वह वायु जो सब जगह समान रूप से चलती हो । ऐसी वायु अनेक प्रकार के दोष और उत्पात उत्पन्न करनेवाली मानी जाती है ।

विश्वचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार बारह प्रकार के महादानों में से एक प्रकार का महादान । इसमें एक हजार पल का सोने का एक चक्र या पहिया बनवाया जाता है जिसमें सोलह आरे होते हैं; और तब यह चक्र कुछ विशिष्ट विधानों के अनुसार दान किया जाता है ।

विश्वचक्रात्मा-संज्ञा पुं० [सं० विश्वचक्रात्मन्] विष्णु ।

विश्वचक्षु-संज्ञा पुं० [सं० विश्वचक्षुस्] ईश्वर ।

विश्वजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सौंठ ।

विश्वजित्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का यज्ञ । (२) वरुण का पाश । (३) महाभारत के अनुसार एक प्रकार की अग्नि । (४) एक दानव का नाम । (५) सत्यजित् के पुत्र का नाम । (६) वह जिसने सारे विश्व पर विजय प्राप्त की हो ।

विश्वजीव-संज्ञा पुं० [सं०] ईश्वर ।

विश्वज्योतिष-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्र-प्रवर्तक ऋषि का नाम ।

४२४

विश्वतनु-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

विश्वतुलसी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बबुई तुलसी । वन-तुलसी ।

विश्वतृप्त-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

विश्वतोया-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंगा नदी ।

विश्वदासा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अग्नि की सातों जिह्वाओं का एक नाम ।

विश्वदेव-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्रकार के देवता जिनकी पूजा नांदीमुख आदि में होती है ।

विश्वदेवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नागवला । गंगैरन । (२) लाल दंडोत्पल ।

विश्वदैव, विश्वदैवत-संज्ञा पुं० [सं०] उत्तराषाढा नक्षत्र, जिसके देवता विश्वदेव माने जाते हैं ।

विश्वधर-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

विश्वधाम-संज्ञा पुं० [सं० विश्वधामन्] (१) ईश्वर । (२) स्वदेश ।

विश्वधार-संज्ञा पुं० [सं०] शाकद्वीप के राजा मेधातिथि के एक पुत्र का नाम ।

विश्वधारा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक नदी का नाम ।

विश्वधारिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी ।

विश्वधेनु-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम ।

विश्वनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । महादेव । (२) काशी के एक प्रसिद्ध ज्योतिर्लिंग ।

विश्वनाभ-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

विश्वनाभि-संज्ञा स्त्री० [सं०] विष्णु का चक्र ।

विश्वपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईश्वर । (२) श्रीकृष्ण ।

विश्वपत्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुई आँवला ।

विश्वपा-संज्ञा पुं० [सं०] ईश्वर ।

विश्वपाणि-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम ।

विश्वपात-संज्ञा पुं० [सं०] ईश्वर ।

विश्वपावन-संज्ञा स्त्री० [सं०] तुलसी ।

विश्वपूजिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] तुलसी ।

विश्वप्रकाशक-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य ।

विश्वप्रबोध-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

विश्वप्स-संज्ञा पुं० [सं० विश्वप्सन्] (१) अग्नि । (२) चंद्रमा । (३) सूर्य । (४) देवता । (५) विश्वकर्मा ।

विश्वप्सा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अग्नि ।

विश्वबंधु-संज्ञा पुं० [सं०] शिव । महादेव ।

विश्वबाहु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु । (२) महादेव ।

विश्वबीज-संज्ञा पुं० [सं०] विश्व की मूल प्रकृति या माया ।

विश्वबोध-संज्ञा पुं० [सं०] भगवान् बुद्ध का एक नाम ।

विश्वभद्र-संज्ञा पुं० दे० "सर्वतोभद्र" ।

विश्वभर्ता-संज्ञा पुं० [सं० विश्वभर्तृ] ईश्वर ।

विश्वभव-संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्म जिससे सारे विश्व की सृष्टि हुई है ।

विश्वभाव, विश्वभावन-संज्ञा पुं० [सं०] ईश्वर ।
 विश्वभुज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईश्वर । (२) इंद्र ।
 विश्वभुजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक देवी का नाम ।
 विश्वभेषज-संज्ञा पुं० [सं०] सोंठ ।
 विश्वमया-संज्ञा स्त्री० [सं०] अग्नि की सात जिह्वाओं में से एक जिह्वा का नाम ।

विश्वमहेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] महादेव ।
 विश्वमाता-संज्ञा स्त्री० [सं० विश्वमातृ] समस्त विश्व की माता, दुर्गा ।
 विश्वमुखी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पार्वती का एक नाम ।
 विश्वमूर्ति-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।
 विश्वमोहन-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।
 विश्वयोनि-संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा ।
 विश्वरथ-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार राजा गाधि के एक पुत्र का नाम ।

विश्वरद-संज्ञा पुं० [सं०] मग या भोजक ब्राह्मणों का एक धार्मिक ग्रंथ जिसे वे अपना वेद मानते थे और जो भारतीय आर्यों के वेदों का विरोधी था ।

विश्वरुचि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महाभारत के अनुसार एक प्रकार की देवयोनि । (२) एक दानव का नाम ।
 संज्ञा स्त्री० अग्नि की सात जिह्वाओं में से एक जिह्वा का नाम ।

विश्वरूप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु । (२) शिव । (३) पुराणानुसार त्वष्टा के एक पुत्र का नाम । (४) भगवान् श्रीकृष्ण का वह स्वरूप जो उन्होंने गीता का उपदेश करते समय अर्जुन को दिखाया था ।

विशेष—श्रीकृष्ण ने उस अवसर पर अर्जुन को यह दिखाया था कि इस समस्त विश्व या ब्रह्मांड में सूर्य, चंद्रमा, तारे, ग्रह आदि जो कुछ हैं, वे सब मेरा ही स्वरूप हैं ।

(५) पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम ।

विश्वरूपक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काला अगर । (२) खिरनी ।
 विश्वरूपी-संज्ञा पुं० [सं० विश्वरूपिन्] विष्णु ।
 विश्वरोचन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाड़ी या नारीच नामक साग ।
 (२) कचूर या पेचुक नामक साग ।

विश्वलोचन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य और चंद्रमा ।
 विश्वलोप-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक ऋषि का नाम ।
 विश्ववर्णा-संज्ञा स्त्री० [सं०] भुईं आँवला ।
 विश्ववार-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ में सोम का एक संस्कार ।
 विश्ववारा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अग्नि गोत्र की एक स्त्री जो ऋग्वेद के पाँचवें मंडल की कुछ ऋचाओं की ऋषि मानी जाती है ।
 विश्ववास-संज्ञा पुं० [सं०] संसार । जगत् । दुनिया ।

विश्वविद्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो विश्व की सब बातें जानता हो । बहुत बड़ा पंडित । (२) ईश्वर ।

विश्वविद्यालय-संज्ञा पुं० [सं०] वह संस्था जिसमें सभी प्रकार की विद्याओं की उच्च कोटि की शिक्षा दी जाती हो, परीक्षाएँ ली जाती हों और जो लोगों को विद्या संबंधी उपाधियाँ आदि प्रदान करती हो । यूनिवर्सिटी ।

विश्ववृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

विश्वव्यापी-संज्ञा पुं० [सं० विश्वव्यापिन्] ईश्वर ।

वि० जो सारे विश्व में व्याप्त हो ।

विश्वश्रवा-संज्ञा पुं० [सं० विश्वश्रवस्] एक मुनि जो कुवेर और रावण आदि के पिता थे ।

विश्वसंभव-संज्ञा पुं० [सं०] ईश्वर ।

विश्वसन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह स्थान जहाँ ऋषि मुनि विश्राम करते हों । (२) विश्वास । एतवार ।

विश्वसनीय-वि० [सं०] विश्वास करने के योग्य । जिसका एतवार किया जा सके । जैसे—(क) हमें यह समाचार विश्वसनीय सूत्र से मिला है । (ख) आपकी सब बातें बहुत विश्वसनीय हैं ।

विश्वसहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अग्नि की सात जिह्वाओं में से एक जिह्वा का नाम ।

विश्वसाली-संज्ञा पुं० [सं० विश्वसालिन्] ईश्वर ।

विश्वसाम-संज्ञा पुं० [सं० विश्वसामन्] एक वैदिक ऋषि का नाम जो आश्विन गोत्र के थे और जो अनेक वैदिक मंत्रों के द्रष्टा थे ।

विश्वसारक-संज्ञा पुं० [सं०] कंकारी वृक्ष ।

विश्वसित-वि० [सं०] विश्वास करने के योग्य । विश्वसनीय । विश्वस्त ।

विश्वस्त-संज्ञा पुं० [सं०] ईश्वर ।

विश्वस्त-वि० [सं०] जिसका विश्वास किया जाय । विश्वसनीय ।

विश्वस्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विश्वा ।

विश्वस्था-संज्ञा स्त्री० [सं०] शतावर ।

विश्वहर्ता-संज्ञा पुं० [सं० विश्वहर्तृ] शिव ।

विश्वहेतु-संज्ञा पुं० [सं०] विश्व को उत्पन्न करनेवाले, विष्णु ।

विश्वा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दक्ष की एक कन्या जो धर्म को ब्याही थी और जिससे वसु, सत्य, क्रतु आदि दस पुत्र उत्पन्न हुए थे । (२) एक मान जो २० पल का होता है । (३) अतिविषा । अतीस । (४) शतावर । (५) पीपल । (६) सोंठ । (७) शंखिनी । चोरपुष्पी ।

विश्वाक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] ईश्वर ।

विश्वाची-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक वैदिक अप्सरा का नाम । (२) एक प्रकार का रोग जिसमें वायु के कारण कंधे से

ऊँकियों तक सारा हाथ न तो फैलाया जा सकता है और न सिकोड़ा जा सकता है।

विश्वातीत-संज्ञा पुं० [सं०] ईश्वर

विश्वात्मा-संज्ञा पुं० [सं० विश्वात्मन्] (१) विष्णु। (२) शिव। (३) ब्रह्मा।

विश्वाद्-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि।

विश्वाद्-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का कषाय जो सोंठ, बाला, क्षेत्रपपंटी, मोखा, लाल चंदन आदि से बनाया जाता है और जो उवर की प्यास, कै तथा दाह आदि को कम करनेवाला माना जाता है।

विश्वाधार-संज्ञा पुं० [सं०] परमेश्वर।

विश्वाधिप-संज्ञा पुं० [सं०] परमेश्वर।

विश्वानर-संज्ञा पुं० दे० "वैश्वानर"।

विश्वाभू-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

विश्वामित्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रसिद्ध ब्रह्मर्षि जो गांधिज, गांधेय और कौशिक भी कहे जाते हैं।

विशेष—विश्वामित्र कान्यकुब्ज के पुरुवंशी महाराज गांधि के पुत्र थे, परंतु क्षत्रिय कुल में जन्म लेने पर भी अपने तपो-बल से ब्रह्मर्षियों में परिगणित हुए। ऋग्वेद के अनेक मंत्र ऐसे हैं जिनके द्रष्टा विश्वामित्र अथवा उनके वंशज माने जाते हैं। इनका विश्वामित्र नाम ब्राह्मणत्व प्राप्त करने पर पड़ा था; नहीं तो इनका पहला क्षत्रिय-दशा का नाम विश्वरथ था। ऋग्वेद में अनेक मंत्र ऐसे मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि ये यज्ञों में पुरोहित का कार्य करते थे, और वृत्ति के संबंध में इनमें तथा वशिष्ठ में बहुत समय तक बराबर झगड़े बखड़े होते रहते थे। पुराणों में लिखा है कि राजा गांधि को सत्यवती नाम की एक सुंदरी कन्या उत्पन्न हुई थी। वह कन्या उन्होंने ऋचीक ऋषि को दे दी थी। ऋचीक ने एक बार दो अलग अलग चरु तैयार करके अपनी स्त्री सत्यवती को दिए थे और कहा था कि इसमें से यह एक चरु तो तुम खा लेना जिससे तुम्हें ब्राह्मणों के गुण से संपन्न एक पुत्र होगा; और यह दूसरा चरु अपनी माता को दे देना जिससे उन्हें क्षत्रियों के गुणवाला एक बहुत तेजस्वी पुत्र उत्पन्न होगा। इसी बीच में राजा गांधि अपनी स्त्री सहित वहाँ आए। सत्यवती ने वे दोनों चरु अपनी माता के सामने रख दिए और उनका गुण बतला दिया। माता ने समझा कि ऋचीक ने अपनी स्त्री के लिये बढ़िया चरु तैयार किया होगा; इसलिये उसने उसका चरु तो आप खा लिया और अपना उसे खिला दिया। इससे उसके गर्भ से तो विश्वामित्र का जन्म हुआ, जिसमें क्षत्रिय होने पर भी ब्राह्मणों के से गुण थे; और सत्यवती के गर्भ से जमदग्नि का जन्म हुआ जो ब्राह्मण होने पर भी क्षत्रियों

के गुणों से संपन्न थे। विश्वामित्र को कुलः, लोक, देवराज, देवश्रवा, हिरण्यक्ष, गालव, जय, अष्टक, वच्छव, नारायण, नर आदि सौ पुत्र उत्पन्न हुए थे, जिनके कारण इनके कौशिक वंश की बहुत अधिक वृद्धि हुई थी। कहते हैं कि एक बार जब विश्वामित्र ने बहुत बड़ा तप किया था, तब इंद्र तथा समस्त देवताओं ने भयभीत होकर मेनका नामक अप्सरा को उसका तप भंग करने के लिये भेजा था। इसी मेनका से विश्वामित्र को शकुंतला नामक कन्या उत्पन्न हुई थी जो दुश्मंत को व्याही गई थी। यह भी प्रसिद्ध है कि इक्ष्वाकु वंश के राजा त्रिशंकु ने एक बार सशरीर स्वर्ग जाने की कामना से एक यज्ञ करना चाहा था। परंतु उनके पुरोहित वशिष्ठ ने कहा कि ऐसा होना असंभव है। इस पर त्रिशंकु ने विश्वामित्र की शरण ली और विश्वामित्र ने उन्हें सशरीर स्वर्ग पहुँचा दिया। यह भी कहा जाता है कि विश्वामित्र बहुत बड़े क्रोधी थे और प्रायः लोगों को शार दे दिया करते थे। राजा हरिश्चंद्र के सत्य की सुप्रसिद्ध परीक्षा लेनेवाले भी यही माने जाते हैं। पुराणों में इनके संबंध में इसी प्रकार की और भी अनेक कथाएँ प्रचलित हैं।

विश्वामित्रप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] नारियल का पेड़।

विश्वामित्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत के अनुसार एक नदी का नाम।

विश्वायन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो विश्व की सब बातें जानता हो। सर्वज्ञ। (२) ब्रह्मा।

विश्वाराज-संज्ञा पुं० [सं०] ईश्वर।

विश्वावसु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक गंधर्व का नाम। (२) विष्णु। (३) एक संवत्सर का नाम। संज्ञा स्त्री० रात।

विश्वास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह धारणा जो मन में किसी व्यक्ति के प्रति उसका सद्भाव, हितैषिता, सत्यता, इदृता आदि अथवा किसी सिद्धांत आदि की सत्यता अथवा उत्तमता का ज्ञान होने के कारण होती है। किसी के गुणों आदि का निश्चय होने पर उसके प्रति उत्पन्न होनेवाला मन का भाव। एतबार। यकीन। जैसे,—(क) मैं तो सदा ईश्वर पर विश्वास रखता हूँ। (ख) उन्हें आपका पूरा पूरा विश्वास है। (ग) आप विश्वास रखें, ऐसा कभी न होगा।

क्रि० प्र०—करना।—मानना।—रखना।—होना।

मुहा०—विश्वास जमाना = किसी के मन में विश्वास उत्पन्न करना या दृढ़ करना। विश्वास दिलाना = किसी के मन में विश्वास उत्पन्न करना।

(२) मन की वह धारणा जो विषय या सिद्धांत आदि की सत्यता का पूरा पूरा प्रमाण न मिलने पर भी, उसी

विश्वासकारक

सत्यता के संबंध में होती है। जैसे,—(क) बहुत से अशिक्षित भूत प्रेत पर विश्वास रखते हैं। (ख) और धर्मों की अपेक्षा बौद्ध धर्म पर उनका कुछ अधिक विश्वास है। (३) केवल अनुमान के आधार पर होनेवाला मन का दृढ़ निश्चय। जैसे,—मेरा तो यही विश्वास है कि वह अवश्य आवेगा।

विश्वासकारक-वि० [सं०] (१) विश्वास करनेवाला। यकीन करनेवाला। (२) मन में विश्वास उत्पन्न करनेवाला। जिससे विश्वास उत्पन्न हो।

विश्वासघात-संज्ञा पुं० [सं०] किसी के विश्वास के विरुद्ध की हुई क्रिया। अपने पर विश्वास करनेवाले के साथ ऐसा कार्य करना जो उसके विश्वास के बिल्कुल विपरीत हो।

विश्वासघातक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो किसी के मन में अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करके भी उसका अपकार करे। विश्वास करने पर भी धोखा देनेवाला। धोखेबाज।

विश्वासन-संज्ञा पुं० [सं०] विश्वास। एतबार। यकीन।

विश्वासपात्र-संज्ञा पुं० [सं०] जिस पर भरोसा किया जाय। विश्वास करने के योग्य। विश्वसनीय।

विश्वासस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसका विश्वास किया जाय। विश्वास-भाजन।

विश्वासिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसका विश्वास किया जाय। विश्वसनीय।

विश्वासी-संज्ञा पुं० [सं० विश्वासिन्] (१) वह जो किसी पर विश्वास करता हो। विश्वास करनेवाला। (२) वह जिसका विश्वास किया जाय।

विश्वास्य-वि० [सं०] (१) विश्वास करने योग्य। विश्वसनीय। (२) जिसका विश्वास किया जाय। विश्वास-भाजन।

विश्वाह्वा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सोंठ।

विश्वेदेव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि। (२) देवताओं का एक गण जिसमें इंद्र, अग्नि आदि नौ देवता माने जाते हैं। वैदिक युग में लोग इन्हें मनुष्यों के रक्षक, शुभ कर्मों के फल देनेवाले और विश्व के अधिपति मानते थे। अग्नि पुराण में ये दस कहे गए हैं और इनके नाम इस प्रकार बतलाए गए हैं—ऋतु, दक्ष, वसु, सत्य, काम, काल, भुवि रोचक, आद्रव और पुरुरवा। (३) पुराणानुसार एक असुर का नाम।

विश्वेभोज-संज्ञा पुं० [सं० विश्वेभोजस्] इंद्र।

विश्वेदेव-संज्ञा पुं० [सं० विश्वेदेवस्] अग्नि।

विश्वेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) विष्णु। (३) उत्तरा-षाढ़ा नक्षत्र जिसके अधिपति विश्व नामक देवता माने जाते हैं।

विश्वेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईश्वर। (२) शिव की एक मूर्ति का नाम।

विश्वैकसार-संज्ञा पुं० [सं०] काश्मीर के एक प्राचीन तीर्थ का नाम।

विश्वौषध-संज्ञा पुं० [सं०] सोंठ।

विषंड-संज्ञा पुं० [सं०] कमल की नाल। मृणाल।

विष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह पदार्थ जो किसी प्राणी के शरीर में किसी प्रकार पहुँचने पर उसके प्राण ले लेता हो अथवा उसका स्वास्थ्य नष्ट करता तो। गरल। जहर।

विशेष-वैद्यक में स्थावर और जंगम ये दो प्रकार के विष माने गए हैं। स्थावर विष वृक्षों, पौधों और खानों आदि में से निकला हुआ माना जाता है; और जंगम विष वह कहलाता है जो अनेक प्रकार के जीवों के शरीर, नख, दाँत या डंक आदि में होता है। कुछ विष कृत्रिम भी होते हैं और रासायनिक क्रियाओं से बनाए जाते हैं। चिकित्सा में अनेक विषों का प्रयोग, बहुत थोड़ी मात्रा में, अनेक रोगों को दूर करने और दुर्बल रोगी के शरीर में बल लाने के लिये किया जाता है।

मुहा०—के लिये दे० “जहर”।

(२) वह जो किसी की सुख-शांति आदि में बाधक हो।

मुहा०—विष की गाँठ = वह जो अनेक प्रकार के उपद्रव और अपकार आदि करता हो। खराबी पैदा करनेवाला। जैसे,—यही तो विष की गाँठ है; सब झगड़ा इन्हीं का खड़ा किया हुआ है।

(३) जल। (४) पद्मकेशर। (५) कमल की नाल। (६) बोल नामक गंध द्रव्य। (७) बछनाग। (८) अतीस। (९) कलिहारी।

विषकंट-संज्ञा पुं० [सं०] इंगुदी।

विषकंटक-संज्ञा पुं० [सं०] दुरालभा।

विषकंटका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बंध्या ककोटी। बॉस ककोटी।

विषकंटकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बॉस ककोटी।

विषकंट-संज्ञा पुं० [सं०] शिव। महादेव।

विषकंटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बगला।

विषकंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भैंसा कंद। (२) हिंगोट। इंगुदी।

विषकन्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह कन्या या स्त्री जिसके शरीर में इस आशय से कुछ विष प्रविष्ट कर दिए गए हों कि जो उसके साथ संभोग करे, वह मर जाय।

विशेष—प्राचीन काल में राजाओं के यहाँ बाल्यावस्था से ही कुछ कन्याओं के शरीर में अनेक प्रकार से विष प्रविष्ट करा दिए जाते थे, जिनके कारण उनके शरीर में ऐसा प्रभाव आ जाता था कि जो उनके साथ विषय करता था, वह मर जाता था। जब राजा को अपने किसी शत्रु को गुप्त

रूप से मारना अभीष्ट होता था, तब वह इस प्रकार की विषकन्या उसके पास भेज देता था, जिसके साथ संभोग करके वह शत्रु मर जाता था।

विषगंधक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का वृण जिसमें भीनी भीनी गंध होती है।

विषगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] काली अपराजिता।

विषगिरि-संज्ञा पुं० [सं०] वह पर्वत जिस पर उत्पन्न होनेवाले वृक्ष और पौधे आदि जहरीले होते हैं।

विषघ-वि० [सं०] विष का नाश करनेवाला।

विषघा-संज्ञा पुं० [सं०] गुडुच।

विषघातक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिससे विष का प्रभाव दूर होता हो।

विषघाती-संज्ञा पुं० [सं० विषघातिन्] (१) वह जिससे विष का प्रभाव नष्ट होता हो। (२) सिरिस का पेड़।

विषघन-वि० [सं०] विष का प्रभाव दूर करनेवाला। विषनाशक।
संज्ञा पुं० (१) सिरिस का वृक्ष। (२) भिलावाँ। (३) चंपा का वृक्ष। (४) भूकदंब। (५) गंध-तुलसी।

विषघ्ना-संज्ञा स्त्री० [सं०] अतिविषा। अतीस।

विषघ्निका-संज्ञा स्त्री० [सं०] सफेद अपामार्ग या चिचड़ा।

विषघ्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हिलमोचिका या हिलंच नामक साग। (२) बन तुलसी। बड़ई तुलसी। (३) इन्द्रवारुणी। (४) भुईं आँवला। (५) लाल पुनर्नवा। गदहपूरना। (६) हलदी। (७) महाकरंज। (८) वृश्चिकाली नाम की लता। (९) देवदाली या पीतघोषा नाम की लता। (१०) कठकेला। (११) सफेद अपामार्ग। (१२) रास्ना।

विषचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] चक्रोर पक्षी।

विषजिह्व-संज्ञा पुं० [सं०] देवताड़ नामक वृक्ष।

विषज्वर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वैद्यक के अनुसार वह ज्वर जो विष के कारण उत्पन्न हुआ हो। ऐसे ज्वर में दाह होती है, दस्त आते हैं, भोजन की ओर रुचि नहीं होती, प्यास बहुत लगती है और रोगी मूर्च्छित हो जाता है। (२) भैंसा।

विषण्ण-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साँप।

विषण्ण-वि० [सं०] जिसका चित्त दुःखी हो। जिसे विषाद, शोक या रंज हो।

विषण्णता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विषण्ण या दुःखी होने का भाव। (२) मूर्खता। बेवकूफी।

विषण्णांग-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

विषतंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार वह प्रक्रिया जिसके द्वारा साँप आदि का विष दूर किया जाता है।

विषतरु-संज्ञा पुं० [सं०] कुचला।

विषता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विष का भाव या धर्म। जहरीलापन।

विषतिदु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुचला। (२) कुरीछ।

विषतैल-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का तेल जो कहुए तेल में गोमूत्र, हलदी, दारु हलदी, बच, लालचंदन, मजीठ आदि डालकर बनाया जाता है और जिसका व्यवहार कुष्ठ आदि रोग दूर करने के लिये होता है।

विषधंत-संज्ञा पुं० [सं०] बिली।

विषधंतक-संज्ञा पुं० [सं०] साँप।

विषधंश-संज्ञा पुं० [सं०] बिली।

विषधंष्ट्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) साँप का वह दाँत जिसमें जहर होता है। (२) सर्प कंकालिका नाम की लता। (३) नागदमनी।

विषध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हीरा कसीस। (२) सफेद रंग। (३) अतिविषा। अतीस। (४) बादल।

वि० विर्मल। स्वच्छ। साफ।

विषदमूला-संज्ञा स्त्री० [सं०] माकंदी नामक पौधा जिसके पत्तों का साग होता है।

विषदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अतिविषा। अतीस।

विषदाता-संज्ञा पुं० [सं० विषदातृ] वह जो किसी को मार डालने या बेहोश करने के अभिप्राय से जहर दे।

विषदुष्ट-वि० [सं०] जो जहर मिलाकर खराब कर दिया गया हो।

विषदूषण-वि० [सं०] विष दूर करनेवाला।

विषद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] कुचला।

विषधर-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० विषधरो] साँप।

विषघात्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] जरकारा ऋषि की स्त्री मनसा देवी का एक नाम।

विषध्वंसी-संज्ञा पुं० [सं० विषध्वंसिन्] नागर मोथा।

विषनाशन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिरिस का पेड़। (२) मानकंद।
वि० जो विष को दूर करता हो। विषनाशक।

विषनाशिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सर्प कंकाली नाम की लता। (२) बाँझ ककोटी। (३) गंधनाकुली।

विषपत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी जहरीले बीज का छिलका। (२) कोई जहरीला पत्ता।

विषपान्नग-संज्ञा पुं० [सं०] जहरीला साँप।

विषपुच्छ-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० विषपुच्छी] विरहू।

विषपुट-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

विषपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीला पद्म। (२) भलसी का फूल। (३) मैनफल का पेड़।

विषपुष्पक-संज्ञा पुं० [सं०] मदन नामक वृक्ष। मैनफल।

विषप्रशमनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बाँझ ककोटी।

विषप्रस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक पर्वत का नाम।

विषमन्त्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी वंती।

विषयभद्रिका

विषयभद्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी दंती ।
विषयभुजंग-संज्ञा पुं० [सं०] जहरीला साँप ।
विषयमंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो विष उतारने का मंत्र जानता हो । (२) सँपरा ।
विषयम-वि० [सं०] (१) जो सम या समान न हो । जो बराबर न हो । असमान । (२) (वह संख्या) जिसमें दो से भाग देने पर एक बचे । सम या जूस का उल्टा । ताक । (३) जिसकी भीमांसा सहज में न हो सके । बहुत कठिन । जैसे,—विषय समस्या । (४) बहुत तीव्र । बहुत तेज । (५) भीषण । विकट । जैसे,—विषय विपत्ति ।
संज्ञा पुं० (१) संकट । विपत्ति । आफत । (२) वह वृत्त जिसके चारों चरणों में बराबर बराबर अक्षर न हों, बल्कि कम और ज्यादा अक्षर हों । (३) एक अर्थालंकार जिसमें दो विरोधी वस्तुओं का संबंध वर्णन किया जाता है या यथा-योग्य का अभाव कहा जाता है । उ०—(क) कहाँ मृदुल तन तीव्र को सिरस प्रसून महान । कहाँ मदन की लाय यह अँव सम दुसह समान । (ख) खड्गलता अति स्याम तें उपजी कीरति सेत । (४) संगीत में ताल का एक प्रकार । (५) पहली, तीसरी, पाँचवीं आदि विषय संख्याओं पर पड़नेवाली राशियाँ । (६) वैद्यक के अनुसार चार प्रकार की जठराग्नि में से एक प्रकार की जठराग्नि जो वायु की अधिकता से उत्पन्न होती है । कहते हैं कि जब जठराग्नि विषय होती है, तब कभी तो भोजन बहुत अच्छी तरह पच जाता है और कभी बिल्कुल नहीं पचता ।
विषयमकरण-संज्ञा पुं० [सं०] चारों समकोणोंवाले चतुर्भुज में किसी दो बराबर के कोणों के सामने की रेखा ।
विषयमकोण-संज्ञा पुं० [सं०] वह कोण जो सम न हो । समकोण से भिन्न और कोई कोण ।
विषयमचतुष्कोण-संज्ञा पुं० [सं०] वह चौकोर क्षेत्र जिसके चारों कोण समान न हों । विषयम कोणवाला चतुष्कोण ।
विषयमच्छद-संज्ञा पुं० [सं०] छतिवन का पेड़ ।
विषयमज्वर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का ज्वर जो होता तो निर्य है, पर जिसके आने का कोई समय नियत नहीं होता । इसमें ताप-मान भी सदा समान नहीं रहता और नाड़ी की गति भी सदा एक सी नहीं रहती, बराबर बदलती रहती है । इसलिये इसे विषयमज्वर कहते हैं । ज्वर का यह रूप किसी साधारण ज्वर के बिगड़ने अथवा पूरी तरह अच्छे न होने पर कुपथ्य करने के कारण होता है । वैद्यक में इसके अनेक भेद कहे गए हैं । जैसे—संतत, सतत, तृतीयक, चतुर्थक आदि । (२) लाड़ा देकर आनेवाला ज्वर । जुड़ी बुखार । (३) क्षय रोग में होने-वाला ज्वर ।

विषयमता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विषय होने का भाव । असमानता । (२) वैर । विरोध । द्वेष ।
विषयमत्रिभुज-संज्ञा पुं० [सं०] वह त्रिभुज जिसके तीनों भुज छोटे बड़े हों, समान न हों ।
विषयमत्व-संज्ञा पुं० [सं०] विषय होने का भाव । विषयमता ।
विषयमनयन-संज्ञा पुं० [सं०] शिव । महादेव ।
विषयमनेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] शिव । महादेव ।
विषयमपलाश-संज्ञा पुं० [सं०] छतिवन का वृक्ष ।
विषयमर्दनिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंधनाकुची ।
विषयमवल्कल संज्ञा पुं० [सं०] नारंगी ।
विषयमशरण-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव का एक नाम ।
विषयमविशिष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव का एक नाम ।
विषयमवृत्त-संज्ञा पुं० [सं०] वह वृत्त या छंद जिसके चरण या पद समान न हों । असमान पदोंवाला वृत्त ।
विषयमशिष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] प्रायश्चित्त आदि के लिये व्यवस्था देने के संबंध का एक दोष जो उस समय माना जाता है, जब कोई भारी पाप करने पर हल्का प्रायश्चित्त करने की या हल्का पाप करने पर भारी प्रायश्चित्त करने की व्यवस्था दी जाती है ।
विषयमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हरबेरी । (२) एक प्रकार का बछनाग ।
विषयमाक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] शिव । महादेव ।
विषयमाग्नि-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार की जठराग्नि । कहते हैं यह अग्नि कभी तो खाए हुए पदार्थों की अच्छी तरह पचा देती है और कभी बिल्कुल नहीं पचाती ।
विषयमाधुर-संज्ञा पुं० [सं०] श्रृंगी विष । सींगिया ।
विषयमायुध-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव ।
विषयमाशन-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार ठीक समय पर भोजन न करके समय के पहले या पीछे अथवा थोड़ा या अधिक भोजन करना जिसके कारण शरीर में आलस्य या दुर्बलता होती है ।
विषयमुष्क-संज्ञा पुं० [सं०] मैनाफल ।
विषयमुष्टि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जीवन्ती । (२) बकायन । (३) मोठी नीम । वोड़ा नीम । (४) कलिहारी । (५) कुचला ।
विषयमुष्टिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बकायन ।
विषयमूला-संज्ञा स्त्री० [सं०] शिरामलक । शिर आँवला ।
विषयमृग्यु-संज्ञा पुं० [सं०] चकोर पक्षी ।
विषयमेक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] महादेव ।
विषयमेधु-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव ।
विषयक-अव्य० [सं०] विषय का । संबंधी । जैसे,—इस पत्र में राजनीति विषयक बातें अधिक रहती हैं ।
विषयता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विषय का भाव या धर्म ।

विषयपति-संज्ञा पुं० [सं०] किसी जनपद या छोटे प्रांत का राजा या शासक ।

विषयाधिप-संज्ञा पुं० [सं०] किसी छोटे प्रांत का राजा या शासक ।

विषयी-संज्ञा पुं० [सं० विषयिन] (१) वह जो भोग विलास या विषय आदि में बहुत अधिक आसक्त हो। विलासी। कामी। (२) राजा । (३) कामदेव । (४) जिसके पास बहुत अधिक विषय या धन संपत्ति हो। धनवान। अमीर ।

विषरूपा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अतिविषा। अतीस। (२) मीठी नीम। घोड़ा नीम। (३) खेकसा।

विषल-संज्ञा पुं० [सं०] विष। जड़र।

विषलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) इंद्रवारुणी नाम की लता। (२) मृणाल। कमलनाल।

विषलांगल-संज्ञा पुं० [सं०] कलहारी।

विषवंचिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] विच्छ नामक पौधा।

विषवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] इंद्रवारुणी नाम की लता।

विषविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] मंत्र आदि की सहायता से हाड़ फूँककर विष उतारने की विद्या।

विषविधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन व्यवहार शास्त्र के अनुसार एक प्रकार की परीक्षा या दिव्य जिससे यह जाना जाता था कि अमुक व्यक्ति अपराधी है या नहीं। वि० दे० "दिव्य"।

विषवृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] गूलर।

विषवैद्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो मंत्र तंत्र आदि की सहायता से विष उतारता हो।

विषवैरिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्विषी नामक घास।

विषशालुक-संज्ञा पुं० [सं०] कमलकंद। भसींद।

विषशूक-संज्ञा पुं० [सं०] भीमरोल नामक कीड़ा।

विषशृंगी-संज्ञा पुं० [सं० विषशृंगि] भीमरोल नामक कीड़ा।

विषसंयोग-संज्ञा पुं० [सं०] सिंदूर। सेंदुर।

विषसूचक-संज्ञा पुं० [सं०] चकोर नामक पक्षी।

विषहंता-संज्ञा पुं० [सं० विषहंत] सिरिस का पेड़।

वि० जिससे विष का प्रभाव दूर हो। विषनाशक।

विषहंत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अपराजिता। (२) निर्विषी।

विषह-वि० [सं०] जो विष का नाश करता हो। विषघ्न।

संज्ञा पुं० (१) देवदाली। (२) निर्विषी।

विषहर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह औषध या मंत्र आदि जिससे विष का प्रभाव दूर होता हो। (२) भटेउर। चोरक। धनहर।

विषहरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) देवदाली। बंदाल। (२) निर्विषी। (३) मनसा देवी का एक नाम।

विषहरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मनसा देवी का एक नाम।

विषहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) देवदाली। बंदाल। (२) निर्विषी।

विषहारक-संज्ञा पुं० [सं०] मुई कंद।

विषहारिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्विषी नामक घास।

विषांकुर-संज्ञा पुं० [सं०] तीर।

विषांगना-संज्ञा स्त्री० दे० "विषकन्या"।

विषांतक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिससे विष का नाश हो।

(२) शिव का एक नाम।

विषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अतिविषा। अतीस। (२) कलि-हारी। (३) कड़वी कंदूरी। (४) कड़वी तरोंई। (५) काकोली। (६) दुद्धि। अह्नु।

विषाक्त-वि० [सं०] जिसमें विष जिला हो। विष युक्त। विषपूर्ण। जहरीला।

विषाख्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] अतीस।

विषाण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुट या कूट नामक ओषधि।

(२) हाथी दाँत। (३) पशु का सींग। (४) मेढ़ा सिंगी।

(५) वाराहीकंद। गेंठी। (६) ऋषभक नामक ओषधि।

(७) सूअर का दाँत। (८) इमली।

विषाणांत-संज्ञा पुं० [सं०] गणेशजी का दाँत।

विषाणिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मेढ़ा सिंगी। (२) सातला नाम का थूहर। (३) काकड़ा सिंगी। (४) आवर्त्तकी या भगवतवल्ली नाम की लता। (५) सिंघाड़ा। (६) ऋषभक नामक ओषधि। (७) काकोली।

विषाणी-संज्ञा पुं० [सं० विषाणि] (१) वह जिसे सींग हो। सींगवाला। (२) हाथी। (३) सूअर। (४) साँड़। (५) सिंघाड़ा। (६) ऋषभक नामक ओषधि।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) क्षीर काकोली। (२) ऋषभक नामक ओषधि। (३) मेढ़ासिंगी। (४) वृश्चिकाली।

विडाती। (५) इमली। (६) सिंघाड़ा। (७) विष। जहूर। (८) भगवतवल्ली या आवर्त्तकी नाम की लता।

विषाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खेद। दुःख। रंज। (२) जड़ या निश्चेष्ट होने का भाव। (३) काम करने को बिल्कुल जी न चाहना। (४) मूर्खता। बेवकूफी।

विषादनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पलाशी नामकी लता। (२) इंद्रवारुणी।

विषादिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विषाद का धर्म या भाव।

विषादिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पलाशी नाम की लता। (२) इंद्रवारुणी।

विषादी-संज्ञा पुं० [सं० विषादि] वह जिसे विषाद हो। विषाद-युक्त।

विषादू-संज्ञा पुं० [सं०] हलाहल विष खानेवाले, शिव।

विषानन-संज्ञा पुं० [सं०] साँप।

विषापह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोला नामक वृक्ष। (२) वह जिससे विष का नाश हो।

विषापहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) इंद्रवाकणी। इंद्रायन। (२) निर्विषी। (३) नागदमन। (४) भर्कपत्रा। इसरौल। (५) सर्पकंकाली। (६) सर्पदंष्ट्रा। इस्पंद। (७) त्रिपर्णी नामक कंद।

विषायका-संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्विषी।

विषायुध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साँप। (२) वह भस्त्र जो जहर में बुझाया गया हो।

विषार-संज्ञा पुं० [सं०] साँप।

विषाराति-संज्ञा पुं० [सं०] काला धतूरा।

विषारि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महाचंचु या चंच नामक साग। (२) धीकरंज।

वि० जिससे विष का नाश होता हो।

विषाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की मछली जिसका मांस वायु और कफ को बढ़ानेवाला माना जाता है।

विषाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साँप। (२) जहर में बुझाया हुआ भस्त्र।

विषास्य-संज्ञा पुं० [सं०] साँप।

विषास्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] भिलावाँ।

विषी-संज्ञा पुं० [सं० विष्] (१) विषपूर्ण वस्तु। जहरीली चीज़। (२) विषधर सर्प। जहरीला साँप।

वि० [हि० विष] विषपुक्त। जहरीला।

विषुव-संज्ञा पुं० दे० “विषव”।

विषुवद-संज्ञा पुं० [सं०] वाण। तीर।

विषुप-संज्ञा पुं० दे० “विषुव”।

विषुव-संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष के अनुसार वह समय जब कि सूर्य विषुव रेखा पर पहुँचता है और दिन तथा रात दोनों बराबर होते हैं। ऐसा समय वर्ष में दो बार आता है। एक तो सौर चैत्र मास की नवीं तिथि या अंग्रेज़ी २१ मार्च को; और दूसरा सौर आश्विन की नवीं तिथि या अंग्रेज़ी २२ सितंबर को।

विशेष—दे० “विषव रेखा”।

विषुवरेखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्योतिष के कार्य के लिये कल्पित एक रेखा जो पृथ्वी तल पर उसके ठीक मध्य भाग में बड़े बल में या पूर्व पश्चिम पृथ्वी के चारों ओर मानी जाती है। यह रेखा दोनों मेरुओं के ठीक मध्य में और दोनों से समान अंतर पर है। आकाश में इस रेखा से उत्तर की ओर मेघ से कन्या तक की पहली छः राशियाँ और दक्षिण की ओर तुला से मीन तक की छः राशियाँ हैं। इसे निरक्ष वृत्त भी कहते हैं।

विषूचक-संज्ञा पुं० [सं०] विसृचिका नामक रोग।

विषूचिका-संज्ञा स्त्री० दे० “विसृचिका”।

विषूषधी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नागदंती।

विष्कंध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो गति को रोकता हो। (२) बाधा। विघ्न।

विष्कंधाजीर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अजीर्ण रोग जिसमें रोगी के शरीर में शूल के समान पीड़ा होती है, उसका पेट फूल जाता है और वह मल या अपान वायु का त्याग नहीं कर सकता।

विष्कंभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फलित ज्योतिष के अनुसार सत्ताइस योगों में से पहला योग जो आरंभ के पाँच दंडों को छोड़कर शुभ कार्य के लिये बहुत अच्छा समझा जाता है। कहते हैं कि इस योग में जन्म लेनेवाला मनुष्य सब बातों में स्वाधीन और भाई बंधु आदि से सदा सुखी रहता है। (२) विस्तार। (३) बाधा। विघ्न। (४) साहित्य-दर्पण के अनुसार नाटक का एक प्रकार का अंक जो प्रायः गर्भांक के समीप होता है। जो कथा पहले हो चुकी हो अथवा जो अभी होनेवाली हो, उसकी इसमें मध्यम पात्रों द्वारा सूचना दी जाती है। यह दो प्रकार का होता है—शुद्ध और संकीर्ण। जब एक या अनेक मध्यम पात्र इसका प्रयोग करते हैं, तब यह शुद्ध कहलाता है। और जब मध्यम तथा नीच पात्रों द्वारा इसका प्रयोग होता है, तब इसे संकीर्ण कहते हैं। शुद्ध विष्कंभक में मध्यम पात्रों का वार्त्तालाप संस्कृत भाषा में और संकीर्ण विष्कंभक में मध्यम तथा नीच पात्रों का वार्त्तालाप प्राकृत भाषा में होता है। शुद्ध का उदाहरण मालती माधव के पाँचवें अंक में कुंडला कृत प्रयोग और संकीर्ण का रामाभिन्द में क्षपणक और कापालिक कृत प्रयोग है। (५) योगियों का एक प्रकार का बंध। (६) वाराह पुराण के अनुसार एक पर्वत का नाम। (७) वृक्ष। पेड़। (८) अर्गल। व्योढ़ा।

विष्कंभक-संज्ञा पुं० दे० “विष्कंभ”।

विष्कंभो-संज्ञा पुं० [सं० विष्कंभिन] (१) शिव जी का एक नाम। (२) अर्गल। व्योढ़ा।

विष्क-संज्ञा पुं० [सं०] वह हाथी जिसकी अवस्था बीस वर्ष की हो गई हो।

विष्कर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पक्षी। चिड़िया। (२) अर्गल। व्योढ़ा। (३) एक दानव का नाम।

विष्कल-संज्ञा पुं० [सं०] सूखर।

विष्कलन-संज्ञा पुं० [सं०] भोजन। आहार।

विष्किर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पक्षी। चिड़िया। (२) वे पक्षी जो भस्त्र को हथर उधर छितराकर नखों से कुरेदकर खाते हैं। जैसे, कबूतर, मुरगा, तीतर, बटेर आदि। (३)

दर्वीकर नामक जाति के साँपों के अंतर्गत एक प्रकार का साँप ।

विष्कुंभ-संज्ञा पुं० दे० “विष्कुंभ” ।

विष्टप-संज्ञा पुं० [सं०] भुवन । लोक ।

विष्टप-संज्ञा पुं० [सं०] स्वर्ग लोक ।

विष्टभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाधा । रुकावट । (२) एक प्रकार का रोग जिसमें मल रुकने के कारण रोगी का पेट फूल जाता है । अनाह । विबंध । (३) आक्रमण । चढ़ाई ।

विष्टभन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोकने या संकुचित करने की क्रिया । (२) वह जो रोकता या संकुचित करता हो ।

विष्टभी-संज्ञा [सं० विष्टभिन्] वह पदार्थ जिससे पेट का मल रुके । (वैद्यक)

विष्टर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आक । मदार । (२) वृक्ष । पेड़ । (३) पीठ । (४) कुशा का बना हुआ आसन ।

विष्टरश्रवा-संज्ञा पुं० [सं० विष्टरश्रवस्] विष्णु । नारायण ।

विष्टरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गुंडासिनी नामक वास ।

विष्टराश्र-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार पृथु के एक पुत्र का नाम ।

विष्टरुहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पीली केतकी ।

विष्टारपंक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का वैदिक छंद जिसके प्रथम और चतुर्थ चरणों में १२ वर्ण होते हैं ।

विष्टारवृद्धती-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वैदिक छंद का नाम जिसके पहले और चौथे चरणों में ८ और दूसरे तथा तीसरे चरणों में १० वर्ण होते हैं ।

विष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह काम जो बिना कुछ पुरस्कार दिए कराया जाय । बेगार । (२) वेतन । तनख्वाह । (३) काम । (४) वर्षा । (५) फलित ज्योतिष के ग्यारह चरणों में से सातवाँ चरण जिसे विष्टिभद्रा भी कहते हैं ।

विष्टिकर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल के राज्य का वह बड़ा सैनिक कर्मचारी जिसे अपनी सेना रखने के लिये राज्य की ओर से जागीर मिला करती थी । (२) अत्याचारी ।

विष्टिभद्रा-संज्ञा स्त्री० दे० “विष्टि” । (५)

विष्टिव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्रकार का व्रत ।

विष्टा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मल । मैला । गुह । पालना ।

विष्टाभुक्-संज्ञा पुं० [सं०] सूअर ।

विष्टाभुशी-संज्ञा पुं० [सं०] सूअर ।

विष्टारुहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पीली केतकी ।

विष्टेष्टा-संज्ञा स्त्री० [सं०] हड्डी ।

विष्णु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हिंदुओं के एक प्रधान और बहुत बड़े देवता जो सृष्टि का भरण पोषण और पालन करनेवाले तथा ब्रह्मा का एक विशेष रूप माने जाते हैं ।

४२५

विशेष-भारतवर्ष में विष्णु को देवता रूप में बहुत दिनों से मानते चले आते हैं और इनकी उपासना बहुत अधिकता से होती आई है । ऋग्वेद में यद्यपि विष्णु गौण देवता माने गए हैं, पर ब्राह्मण ग्रंथों में इनका महत्त्व बहुत अधिक है । ऋग्वेद में विष्णु विशाल क्षीरवाले और युवक माने गए हैं और कहा गया है कि ये त्रि-विक्रम अर्थात् तीन कदमों अथवा डगों से सारे विश्व को अतिक्रमण करनेवाले हैं । पुराणों के वामन अवतार का यही बीज रूप है । कुछ लोगों ने इन तीनों डगों या कदमों का अर्थ सूर्य का दैनिक उदय, मध्य और अस्त माना है, और कुछ लोग इसका अर्थ भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक लेते हैं । इसके अतिरिक्त ये नियमित रूप, बहुत दूर तक और जल्दी जल्दी चलनेवाले माने गए हैं । यह भी कहा गया है कि ये इंद्र के मित्र थे और वृत्र के साथ युद्ध करने में इन्होंने इंद्र को सहायता दी थी । विष्णु और इंद्र दोनों मिलकर वातावरण, अंतरिक्ष, सूर्य, उषा और अग्नि के उत्पादक माने गए हैं; और विष्णु इस पृथ्वी, स्वर्ग और सब जीवों के मुख्य आधार कहे गए हैं । ऋग्वेद और शतपथ ब्राह्मण में कुछ ऐसी कथाएँ भी हैं जो पौराणिक काल के बराबर, मत्स्य तथा कूर्म अवतार का भी मूल या आरंभिक रूप मानी जा सकती हैं । वैदिक काल में विष्णु धन, वीर्य और बल देनेवाले तथा सब लोगों का अभीष्ट सिद्ध करनेवाले माने जाते थे । पुराणों के अनुसार विष्णु समय समय पर पृथ्वी का भार हलका करने के लिये, संसार में शांति और सुख की स्थापना करने के लिये और दुष्टों तथा पापियों का नाश करने के लिये अवतार धारण किया करते हैं । विष्णु के कुल चौबीस अवतार कहे गए हैं जिनमें से दस मुख्य माने गए हैं (दे० “अवतार”) । भिन्न भिन्न पुराणों में विष्णु के संबंध में अनेक प्रकार की कथाएँ और उनकी उपासना आदि का बहुत अधिक माहात्म्य मिलता है । विष्णु के उपासक वैष्णव कहलाते हैं । इनकी स्त्री का नाम श्री या लक्ष्मी कहा गया है; और ये युवक, श्याम वर्ण और चतुर्भुज माने गए हैं । ये चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किए रहते हैं । इनके शंख का नाम पांचजन्य, चक्र का नाम सुदर्शन और गदा का नाम कौमोदकी है । इनकी तलवार का नाम नंदक और धनुष का नाम शार्ङ्ग है । इनका वाहन वैनतेय नामक गरुड़ माना जाता है । पुराणों में इनके एक हजार नाम कहे गए हैं; और उन नामों का जप बहुत शुभ फल देनेवाला माना जाता है । नारायण, कृष्ण, वैकुण्ठ, दामोदर, केशव, माधव, गोविंद, पीतांबर, जनार्दन, चक्रपाणि, श्रीपति, मधुसूदन, हरि आदि इनके प्रसिद्ध नाम हैं । (२) अग्नि । (३) वसुदेवता । (४) बारह आदित्यों में से

विष्णुधर्मोत्तर-ब्रह्मा पुं० [सं०] एक उपपुराण का नाम जो विष्णु पुराण का एक अंग माना जाता है।

विष्णुश्रत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन ऋषि का नाम ।

(२) एक प्रकार का आशीर्वाद-वचन जिसका अभिप्राय है कि यह सुनकर विष्णु तुम्हारा मंगल करें।

विष्णुसंहिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रसिद्ध स्मृति का नाम।

विष्णुसर्वज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रसिद्ध आचार्य जो सायण के गुरु माने जाते हैं।

विष्णुस्मृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रसिद्ध स्मृति जिसका उल्लेख याज्ञवल्क्य आदि ने किया है।

विष्णुहिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तुलसी का पौधा। (२) मरुआ।

विष्णुत्री-संज्ञा पुं० [सं०] पक्षी। चिड़िया।

विष्णुधर्मा-संज्ञा पुं० [सं० विष्णुधर्म] स्वर्ग।

वि० जिसे किसी प्रकार की स्वर्धा या मत्सर आदि न हो।

विष्णुफार-संज्ञा पुं० [सं०] धनुष की टंकार।

विष्य-वि० [सं०] जो विष देकर मार डालने योग्य हो। जहर देकर मार डालने लायक।

विष्वक्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो सदा इधर उधर घूमता फिरता रहे। (२) दे० "विषुव"।

विष्वक्पर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] भुईं आँवला।

विष्वक्सेन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु का एक नाम। (२) एक मनु का नाम जो मत्स्य पुराण के अनुसार तेरहवें और विष्णु पुराण के अनुसार चौदहवें हैं। (३) शिव का एक नाम। (४) एक प्राचीन ऋषि का नाम। (५) पुराणानुसार शंकर के एक पुत्र का नाम।

विष्वक्सेना-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रियंगु।

विसंकट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंगुदी या हिंगोट नामक वृक्ष। (२) सिंह। शेर।

वि० विशाल। बड़ा।

विसंज्ञ-वि० [सं०] जिसे संज्ञा न हो। बेहोश।

विसंधिक-वि० [सं०] जिनकी संधि न हो सकती हो।

विसंवाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विरोध। (२) डाँट डपट।

वि० विलक्षण। अद्भुत।

विस-संज्ञा पुं० [सं०] कमल की नाल। मृणाल।

विसकंठिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का छोटा बगला।

विसकुसुम-संज्ञा पुं० [सं०] कमल।

विसग्रंथि-संज्ञा पुं० [सं०] कमलकंद। भसींड़।

विसज-संज्ञा पुं० [सं०] कमल।

विसदृश-वि० [सं०] (१) जो सदृश या समान न हो। विपरीत। विरुद्ध। उलटा। (२) विलक्षण। अद्भुत। अजीब।

विसनाभि-संज्ञा पुं० [सं०] कमलिनी। पद्मिनी।

विसप्रसून-संज्ञा पुं० [सं०] कमल।

विसम-वि० दे० "विषम"।

विसमता-संज्ञा स्त्री० दे० "विषमता"।

विसर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दान। (२) त्याग। (३) मरु का

त्याग करना। शौच। (४) व्याकरण के अनुसार एक वर्ण जिसमें ऊपर नीचे दो बिंदु होते हैं और जिनका उच्चारण प्रायः अर्ध ह के समान होता है। इसका रूप यह होता है—(५) सूर्य का एक अयन। (६) मोक्ष। (७) मृत्यु। (८) प्रलय। (९) वियोग। बिछोड़। (१०) दीप्ति। चमक। (११) वर्षा, बारद और हेमंत ये तीनों ऋतुएँ।

विसर्जन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परित्याग। छोड़ना। ड०—अब मुझे प्राण विसर्जन करने में तनिक भी आगा पीछा नहीं।—राधाकृष्ण। (२) किसी को यह कहकर भेजना कि तुम जाकर अमुक कार्य करो। (३) विदा होना। चला जाना। प्रस्थान करना। (४) पौडशोपचार पूजन में अंतिम उपचार; अर्थात् आवाहन किए हुए देवता से पुनः स्वस्थान-गमन की प्रार्थना करना। (५) समाप्ति। अंत। ड०—कथा विसर्जन होती है सुनौ बीर हनुमान। (६) दान।

विसर्प-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें उदर के साथ साथ सारे शरीर में छोटी छोटी फुंसियाँ हो जाती हैं।

विसर्पण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फेंकना। (२) फोड़े आदि का फूटना। (३) फेंकना।

विसर्पिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] विसर्प नामक रोग।

विसर्पिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] यवत्रिका। शंखिनी।

विसर्पी-वि० [सं० वितर्पित] प्रसरणशील। फैलनेवाला। ड०—उठ उठ छाँते भागु तौ लौं अभागे। मम बचन विसर्पि सर्प जौ लौं न लागे।—केशव।

विसल-संज्ञा पुं० [सं०] बृक्ष का नया पत्ता। पल्लव।

विसलवकृत-संज्ञा पुं० [सं०] भद्रबल्ली।

विसवर्म-संज्ञा पुं० [सं० विसवर्मन्] वैद्यक के अनुसार आँखों का एक प्रकार का रोग जिसमें त्रिदोष के प्रकोप के कारण पलकों में सूजन हो आती है और उसमें छोटी छोटी फुंसियाँ हो जाती हैं जिनमें से पानी बहा करता है।

विसवासह-संज्ञा पुं० [सं०] जावित्री।

विसवासा-संज्ञा स्त्री० [सं०] जावित्री।

विसशालूक-संज्ञा पुं० [सं०] कमलकंद। भसींड़।

विसार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मछली। (२) निर्गम। निरुल्ला। (३) विस्तार। फैलाव। (४) प्रवाह। बहाव। (५) उत्पत्ति।

विसारिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] माषपर्णी। मखवन।

विसिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमलिनी। पद्मिनी। मृणाल। (२) संज्ञा पुं० दे० "व्यसनी"।

विसुकृत-संज्ञा पुं० [सं०] धर्म-विरुद्ध कार्य। पाप। गुनाह।

विसृचिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का रोग जिसे कुछ लोग "हैजा" मानते हैं।

विशेष—वैद्यक के अनुसार इस रोग में पहले पेट में दर्द होता है, और फिर रोगी को बहुत से दस्त आते हैं। शरीर

जलन होती है और प्यास बहुत लगती है; छाती और सिर में पीड़ा होती है; भ्रम, सूछा और कंप होता है; जँभाई आती है; निर्बलता बहुत होती है; सूत्र बंद हो जाता है; नाड़ी मंद पड़ जाती है; आँखें बँट जाती हैं; शरीर का रंग पीला पड़ जाता है और आवाज बदल जाती है। साथ ही वायु आदि के प्रकोप के कारण सारे शरीर में सड़ियाँ चुभने की सी पीड़ा होती है; इसी से इसे विसूचिका कहते हैं। कुछ लोग इसे "हैजा" भी मानते हैं, पर अधिकांश डाक्टर आदि इसे हैजे से भिन्न समझते हैं। उनका मत है कि यह विसूचिका रोग अजीर्ण के कारण होता है; और हैजा एक प्रकार के विषाक्त जीवाणुओं के शरीर में प्रवेश करने से होता है।

विस्वी-संज्ञा स्त्री० [सं०] विसूचिका नामक रोग।

विसूरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दुःख। रंज। शोक। (२) चिंता। फिक्र। (३) विरक्ति। वैराग्य।

विरुष्ट-वि० [सं०] (१) जिसकी सृष्टि या रचना विशेष प्रकार से हुई हो। विशेष रूप से बनाया हुआ। (२) फँका हुआ। (३) त्यागा हुआ। छोड़ा हुआ। (४) भेजा हुआ। संज्ञा पुं० विसर्ग जो इस प्रकार लिखा जाता है—।

विस्तीर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] वास्तविक अहंसा।

विस्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोना। (२) एक प्रकार का परिमाण जो एक कर्ष के बराबर होता है। (३) ८० रत्ती सोना।

विस्तंज-संज्ञा पुं० [सं०] कुंदुरु।

विस्तर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दे० "विस्तार"। (२) प्रेम। (३) समूह। (४) आसन। (५) संख्या। (६) आधार। (७) शिव का एक नाम।

वि० बहुत। अधिक। विशेष।

विस्तरता-संज्ञा स्त्री० [सं०] बहुत या अधिक होने का भाव।

विस्तार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लंबे या चौड़े होने का भाव। फैले होने का भाव। फैलाव। जैसे—(क) इस मकान का विस्तार कम है। (ख) तुम बातों का बहुत अधिक विस्तार करते हो। (२) पेड़ की शाखा। (३) गुच्छा। (४) शिव का एक नाम। (५) विष्णु का एक नाम।

विस्तारता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विस्तार का भाव। फैलाव।

विस्तारी-संज्ञा पुं० [सं०] विस्तारि। (१) वह जिसका विस्तार अधिक हो। (२) वरगद। बड़।

विस्तीर्ण-वि० [सं०] (१) जो दूर तक फैला हुआ हो। विस्तृत। (२) विशाल। बहुत बड़ा। (३) विपुल। बहुत अधिक।

विस्तीर्णकर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] हाथी।

विस्तीर्णता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विस्तीर्ण होने का भाव। विस्तार। फैलाव।

विस्तीर्णपर्य-संज्ञा पुं० [सं०] मानकद।

विस्तीर्णभेद-संज्ञा पुं० [सं०] ललितविस्तर के अनुसार एक छंद का नाम।

विस्तृत-वि० [सं०] (१) जो अधिक दूर तक फैला हुआ हो। लंबा चौड़ा। विस्तारवाला। जैसे,—यहाँ आप लोगों के लिये बहुत विस्तृत स्थान है। (२) यथेष्ट विवरणवाला। जिसके सब अंग या सब बातें बतलाई गई हों। जैसे,—इस ग्रंथ में नाटक के स्वरूप का बहुत विस्तृत वर्णन है। (३) बहुत बड़ा या लंबा चौड़ा। विशाल।

विस्तृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) फैलाव। विस्तार। (२) व्याप्ति। (३) लंबाई, चौड़ाई और ऊँचाई या गहराई। (४) वृत्त का व्यास।

विस्फार-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० विस्फारित] (१) धनुष की टंकार। कमान का शब्द। (२) धनुष की डोरी। (३) विस्तार। फैलाव। (४) स्फूर्ति। तेज़ी। (५) विकास। (६) काँपना। बार बार हिलना।

विस्फारक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सन्निपात वज्र जो बहुत ही भयंकर होता है और जिसमें रोगी को खाँसी, मूर्च्छा, मोह और कंप आदि होता है।

विस्फुरणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] तेंदुआ या तेंदुक नामक वृक्ष।

विस्फूर्जन-संज्ञा पुं० [सं०] किसी पदार्थ का फैलना या बढ़ना। विकास।

विस्फूर्जनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] तेंदुआ या तेंदुक नामक वृक्ष।

विस्फुलिंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का विष। (२) आग की चिनगारी।

विस्फोट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पदार्थ का गरमी आदि के कारण उबल या फूट पड़ना। जैसे,—ज्वालामुखी पर्वत का विस्फोट। (२) कोई ज़हरीला और बहुत खराब फोड़ा।

विस्फोटक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फोड़ा, विशेषतः ज़हरीला फोड़ा। (२) वह पदार्थ जो गरमी या आघात के कारण भभक उठे। भभकनेवाला पदार्थ। (३) शीतला का रोग। चेचक।

विस्फोटन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पदार्थ का उबाल आदि के कारण फूट बहना। (२) जोर का शब्द।

विस्मय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आश्चर्य। ताज्जुब। (२) साहित्य में अद्भुत रस का एक स्थायी भाव जो अनेक प्रकार के अलौकिक या विलक्षण पदार्थों के वर्णन के कारण मन में उत्पन्न होता है। (३) अभिमान। गर्व। शेखी। (४) संदेह। शक। वि० जिसका गर्व नष्ट या चूर्ण हो गया हो।

विस्मरण-संज्ञा पुं० [सं०] स्मरण न रहना। भूल जाना।

विस्मापन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गंधर्वनगर। (२) कामदेव का एक नाम।

वि० जिसे देखकर विस्मय हो। आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला।

विस्मारक-वि० [सं०] भुला देनेवाला। विस्मरण करानेवाला।

विस्मरण-संज्ञा पुं० [सं०] लीन हो जाना । लय हो जाना । नष्ट हो जाना ।
 विस्मित-वि० [सं०] जिसे विस्मय या आश्चर्य हुआ हो । चकित ।
 विस्मृत-वि० [सं०] जो स्मरण न हो । जो याद न हो । भूला हुआ ।
 विस्मृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] भूल जाना । विस्मरण ।
 विस्म-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विश्वास । यकीन । एतबार । (२) केलि के समय स्त्री और पुरुष में होनेवाला झगडा । (३) बध । हत्या ।
 विस्मसिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का उपकरण जिससे यज्ञ में आहुती दी जाती थी ।
 विस्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ी मूली । (२) मांस के जलने की गंध । चिरायँध ।
 विस्त्रांध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्याज । (२) गोदंती हरताल ।
 विस्त्रांधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गोदंती हरताल । (२) प्याज । (३) हाऊ बेर । हनुषा ।
 विस्त्रांधि-संज्ञा पुं० [सं०] गोदंती हरताल ।
 विस्त्राण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहना । (२) क्षरना । क्षरण । रसना ।
 विस्त्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वृद्धावस्था । बुढ़ापा ।
 विस्त्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हाऊ बेर । हनुषा । (२) चरबी ।
 विस्त्राम-संज्ञा पुं० दे० "विश्राम" ।
 विस्त्राव-संज्ञा पुं० [सं०] भात का माँड़ । पीच ।
 विहंग संज्ञा पुं० [सं०] (१) पक्षी । चिड़िया । उ०—सुखी परेवा जगत में तू ही एक विहंग ।—विहारी । (२) सोना मक्खी । (३) वाण । तीर । (४) मेघ । बादल । (५) चंद्रमा । (६) सूर्य । (७) एक नाग का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है ।
 विहंगम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पक्षी । चिड़िया । (२) सूर्य ।
 विहंगमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सूर्य की एक प्रकार की किरण । (२) ग्यारहवें मन्वन्तर के देवताओं का एक गण । (३) बहँगी में की वह लकड़ी जिसके दोनों सिरों पर बोझ लटकाया जाता है ।
 विहंगराज-संज्ञा पुं० [सं०] गरुड़ ।
 विहंगिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बहँगी जिस पर कहार बोझ ढोते हैं ।
 विहग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पक्षी । चिड़िया । उ०—पाहन पशु विटप विहग अपने कर लीन्हें । महाराज दशरथ के रंक राव कीन्हें ।—तुलसी । (२) वाण । तीर । (३) सूर्य । (४) चंद्रमा । (५) ग्रह ।
 विहृ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वियोग । बिछोह । (२) दे० "विहार" ।
 विहृण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विहार करने की क्रिया । चलना । फिरना । घूमना । (२) वियोग । बिछोह । (३) फैलना ।

विहृ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ । (२) युद्ध । लड़ाई ।
 विहृसित-संज्ञा पुं० [सं०] वह हास्य जो न बहुत उच्च हो, न बहुत मधुर । मध्यम हास्य ।
 विहृत-संज्ञा पुं० [सं०] पंडित । विद्वान् ।
 वि० (१) घबराया हुआ । व्याकुल । (२) जिकका हाट टूटा हुआ हो ।
 विहायस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकाश । (२) दान । (३) पक्षी । चिड़िया ।
 विहार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मन बहलाव के लिये धीरे धीरे चलना । टहलना । घूमना । फिरना । (२) रति क्रीड़ा । संभोग । (३) रति-क्रीड़ा करने का स्थान । (४) बौद्ध भ्रमणों के रहने का मठ । संघाराम ।
 विहारी-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० विहारिणी] (१) वह जो विहार करता हो । विहार करनेवाला । (२) श्रीकृष्ण का एक नाम ।
 विहित-वि० [सं०] (१) जिसका विधान किया गया हो । जैसे,—यह कार्य शास्त्रविहित है । (२) किया हुआ । (३) दिया हुआ ।
 विहित-संज्ञा स्त्री० [सं०] कोई काम करने की आज्ञा । विधान ।
 विहीन-वि० [सं०] (१) रहित । बगैर । बिना । (२) त्यागा हुआ । छोड़ा हुआ ।
 विहीनता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विहीन होने का भाव या धर्म ।
 विहीनर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम ।
 विहुंडन-संज्ञा पुं० [सं०] शिव के एक अनुचर का नाम ।
 विहृत-संज्ञा पुं० [सं०] साहित्य में छियों के दस प्रकार के स्वाभाविक अलंकारों में से एक प्रकार का अलंकार ।
 विहृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ज्वरदस्ती या बलपूर्वक कुल ले लेना या कोई काम करना । (२) विहार । क्रीड़ा । (३) खोलने की क्रिया ।
 विहृल-वि० [सं०] भय या इसी प्रकार के और किसी मनोवेग के कारण जिसका चित्त ठिकाने न हो । घबराया हुआ । व्याकुल ।
 विहृलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विहृल होने की क्रिया या भाव । व्याकुलता । घबराहट ।
 विहृती-संज्ञा पुं० [सं०] विहृति । वह जो विहृल हो गया हो । वह जो बहुत घबरा गया हो ।
 वीक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु । (२) पक्षी । चिड़िया । (३) मन ।
 वीकाश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एकांत स्थान । (२) प्रकाश । रोशनी ।
 वीक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] दृष्टि ।
 वीक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० वीक्षणीय] देखने की क्रिया । निरीक्षण ।

वीक्षणाय-वि० [सं०] जो देखने योग्य हो। दर्शनीय।
 वीक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] देखने की क्रिया। वीक्षण। दर्शन।
 वीक्ष्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विस्मय। आश्चर्य। (२) वह जो
 कुछ देखा जाय। दृश्य। (३) वह जो नाचता हो। नाचने-
 वाला। नर्तक। (४) घोड़ा।
 वि० देखने योग्य। दर्शनीय।
 वीचि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लहर। तरंग। (२) बीच की
 खाली जगह। अवकाश। (३) सुख। (४) दीप्ति। चमक।
 वीचितरंग न्याय-संज्ञा पुं० दे० “न्याय”।
 वीचिमाली-संज्ञा पुं० [सं० वीचिमालिन्] समुद्र।
 वीची-संज्ञा स्त्री० [सं०] तरंग। लहर।
 वीचीकाक-संज्ञा पुं० [सं०] जलकौआ।
 बीज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूल कारण। (२) शुक्र। वीर्य।
 (३) तेज। (४) अन्न आदि का बीज। बीआ। (५) अंकुर।
 (६) फल। (७) आधार। (८) निधि। खजाना। (९)
 तत्त्व। (१०) मूल। (११) मज्जा। (१२) तांत्रिकों के
 अनुसार एक प्रकार के मंत्र जो बड़े बड़े मंत्रों के मूल तत्त्व
 के रूप में माने जाते हैं। प्रत्येक देवी या देवता के लिये ये
 मंत्र अलग अलग होते हैं। जैसे,—ह्रीं, श्रीं, क्लीं आदि।
 (१३) बीज गणित।
 बीजक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विजयसार या पियासाल नामक
 वृक्ष। (२) विजौरा नीबू। (३) सफेद संहिजन। (४)
 बीज। बीआ। (५) दे० “बीजक”।
 बीजकर-संज्ञा पुं० [सं०] उड़द की दाल जो बहुत पुष्टिकारक
 मानी जाती है।
 बीजकर्कटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] ककड़ी।
 बीजकसार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विजयसार के बीज। (२)
 विजौरा नीबू का सार या सत्त।
 बीजका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुनक्का।
 बीजकाह-संज्ञा पुं० [सं०] विजौरा नीबू का पेड़।
 बीजकृत्-संज्ञा पुं० [सं०] वह औषध जिसके खाने से वीर्य
 बढ़ता हो। वीर्य बढ़ानेवाली दवा।
 बीजकोश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमलगट्टा। (२) सिंघाड़ा।
 (३) फल, जिसमें बीज रहते हैं।
 बीजकोशक-संज्ञा पुं० [सं०] अंडकोश।
 बीजगणित-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का गणित जिसमें अज्ञात
 राशियों को जानने के लिये उनके स्थान पर अक्षर आदि
 रखकर कुछ सांकेतिक चिह्नों आदि की सहायता से गणना
 की जाती है। यह साधारण अंकगणित की अपेक्षा जटिल
 होता है, पर इसके द्वारा अज्ञात राशियों का पता लगाने में
 बहुत सहायता मिलती है।
 बीजगर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] परवल।

बीजगुप्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] लेम।
 बीजद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] विजयसार या असन नामक वृक्ष।
 बीजधान्य-संज्ञा पुं० [सं०] धनियाँ।
 बीजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पंखा झलना। हवा करना। (२)
 पंखा। (३) चँवर। (४) चकोर। (५) लोध का पेड़।
 बीजपादप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पियासाल। विजयसार। (२)
 भिलावाँ।
 बीजपुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] किसी वंश का आदि या मूल पुरुष
 जिससे वह वंश चला हो।
 बीजपुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मरुआ। (२) मैनफल। (३)
 ज्वार।
 बीजपूर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विजौरा नीबू। (२) चकोतरा।
 (३) गलगल।
 बीजपूर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विजौरा नीबू। (२) चकोतरा।
 बीजपेशिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] अंडकोश।
 बीजफलक-संज्ञा पुं० [सं०] विजौरा नीबू।
 बीजमातृका-संज्ञा स्त्री० [सं०] कमलगट्टा।
 बीजमार्गी-संज्ञा पुं० [सं० बीजमार्गिन्] एक प्रकार के वैष्णव जो
 पश्चिम भारत में पाए जाते हैं। ये लोग निर्गुण उपासक
 होते हैं और देवी देवताओं का पूजन नहीं करते।
 बीजरत्न-संज्ञा पुं० [सं०] उड़द की दाल।
 बीजरेचक-संज्ञा पुं० [सं०] जमालगोटा।
 बीजरेचन-संज्ञा पुं० [सं०] जमालगोटा।
 बीजवर-संज्ञा पुं० [सं०] उड़द। माष।
 बीजवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] महादेव। शिव।
 बीजवृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] विजयसार। पियासाल। (२) भिलावाँ।
 बीजसार-संज्ञा पुं० [सं०] बायबिडंग।
 बीजसू-संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी।
 बीजस्नेह-संज्ञा पुं० [सं०] पलाश। ढाक।
 बीजांकुर न्याय-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का न्याय। वि०
 दे० “न्याय”।
 बीजाख्य-संज्ञा पुं० [सं०] जमालगोटा।
 बीजाम्ल-संज्ञा पुं० [सं०] वृक्षाम्ल। महादा।
 बीजाविक-संज्ञा पुं० [सं०] ऊँट।
 बीजी-संज्ञा पुं० [सं० बीजिन्] (१) वह जिसमें बीज हों। (२)
 पिता। (३) चौलाई का साग।
 बीजोदक-संज्ञा पुं० [सं०] आकाश से गिरनेवाला ओला।
 विनोरी।
 बीज्य-वि० [सं०] (१) जो बोलने के योग्य हो। (२) जो अच्छे
 कुल में उत्पन्न हुआ हो। कुलीन।
 बीटा-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का खेल
 जो बालक लकड़ी के एक छोटे ढंढे से खेला करते थे। कुछ

लोगों का यह भी मत है कि यह खेलने के लिये बना हुआ धातु का एक गोला होता था।

वीटि-संज्ञा स्त्री० [सं०] पान का बीज।

वीटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] लगाया हुआ पान का बीड़ा।

वीटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पान का बीड़ा।

वीणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्राचीन काल का एक प्रसिद्ध बाजा जिसका प्रचार अब तक भारत के पुराने ढंग के गवैयों में है। इसमें बीच में एक लंबा पोला दंड होता है, जिसके दोनों सिरों पर दो बड़े बड़े तूँबे लगे होते हैं; और एक तूँबे से दूसरे तूँबे तक, बीच के दंड पर से होते हुए, लोहे के तीन और पीतल के चार तार लगे रहते हैं। लोहे के तार पक्के और पीतल के कच्चे कहलाते हैं। इन सातों तारों को कसने या ढीला करने के लिये सात खूंटियाँ रहती हैं। इन्हीं तारों को झन्कार कर स्वर उत्पन्न किए जाते हैं। बीन।

विशेष—प्राचीन भारत के तत्त जाति के बाजों में वीणा सब से पुरानी और अच्छी मानी जाती है। कहते हैं कि अनेक देवताओं के हाथ में यही वीणा रहती है। भिन्न भिन्न देवताओं आदि के हाथ में रहनेवाली वीणाओं के नाम अलग अलग हैं। जैसे,—महादेव के हाथ की वीणा लंबी, सरस्वती के हाथ की कच्छपी, नारद के हाथ की महती और तुंबुरु के हाथ की कलावती कहलाती है। इसके अतिरिक्त वीणा के और भी कई भेद हैं। जैसे,—त्रितंत्री, किन्नरी, विपंची, रंजनी, शारदी, रुद्र और नादेश्वर आदि। इन सब की आकृति आदि में भी थोड़ा बहुत अंतर रहता है।

पर्याय—वलकी। परिवादिनी। ध्वनिमाला। वंगमल्ली। घोष-वती। कंठकृणिका।

(२) विद्युत्। बिजली।

वीणादंड-संज्ञा पुं० [सं०] वीणा में का लंबा दंड या तुंबी का बना हुआ वह अंश जो मध्य में होता है। इसे प्रवाल भी कहते हैं।

वीणापाणि-संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती।

वीणाप्रसेव-संज्ञा पुं० [सं०] वह गिलाफ जो वीणा पर उसकी रक्षा के लिये चढ़ाया जाता है।

वीणाभिद्-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की वीणा।

वीणावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सरस्वती। (२) एक अप्सरा का नाम।

वीणावरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की मक्खी।

वीणावाद-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो वीणा बजाता हो। वीनकार।

वीणास्थ-संज्ञा पुं० [सं०] नारद।

वीणाहस्त-संज्ञा पुं० [सं०] शिव। महादेव।

वीतंस-संज्ञा पुं० [सं०] वह जाल, फंदा या इसी प्रकार की और सामग्री जिससे पशु और पक्षी आदि फँसाए जाते हैं।

वीत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वे हाथी, घोड़े और सैनिक आदि जो युद्ध करने के योग्य न रह गए हों। (२) अंकुश के द्वारा मारना। अंकुश का प्रहार करना। (३) सांख्य के अनुसार अनुमान के दो प्रकारों में से एक।

विशेष—सांख्य में अनुमान के तीन भेद कहे गए हैं—पूर्ववत् या केवलान्वयी, शेषवत् या व्यतिरेकी और सामान्यतोदृष्ट या अन्वयव्यतिरेकी। इनमें से पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट अनुमान तो वीत कहलाते हैं और शेषवत् को अवीत कहते हैं। वि० दे० “अनुमान”।

वि० (१) जिसका परि त्याग कर दिया गया हो। जो छोड़ दिया गया हो। (२) जो छूट गया हो। मुक्त। (३) जो बीत गया हो। जो समाप्त हो चुका हो। (४) जो निवृत्त हो चुका हो। जो (किसी बात से) रहित हो। जैसे,—वीतराग। (५) सुंदर।

वीतदंभ-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसने दंभ या अहंकार का परि त्याग कर दिया हो। जिसका अभिमान नष्ट हो गया हो।

वीतभय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसका भय छूट गया हो। (२) विष्णु।

वीतभीत-संज्ञा पुं० [सं०] एक असुर का नाम।

वीतमल-वि० [सं०] (१) जो कोई पाप न करे। पाप-रहित। (२) जिसमें किसी प्रकार का कलंक या मल आदि न हो। विमल।

वीतराग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसने राग या आसक्ति आदि का परि त्याग कर दिया हो। वह जो निस्पृह हो गया हो। (२) बुद्ध का एक नाम। (३) जैनों के प्रधान देवता का एक नाम।

वीतशोक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसने शोक आदि का परि त्याग कर दिया हो। (२) अशोक नामक वृक्ष।

वीतसूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञोपवीत। जनेक।

वीतहव्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रसिद्ध वैदिक ऋषि जो अंगिरा के वंश में थे। (२) शुनक के पुत्र का नाम।

वि० यज्ञ में आहुति देनेवाला। जो आहुति या हव्य देता हो।

वीतहोत्र-संज्ञा पुं० दे० “वीतिहोत्र”।

वीति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गति। चाल। (२) दीप्ति। चमक। आभा। (३) गर्भ धारण करने की क्रिया। (४) खाने या पीने की क्रिया। (५) यज्ञ। (६) बोड़ा।

वीतिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जेठीमधु। मुलेठी। (२) नीलिका।

वीतिहोत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि। (२) सूर्य। (३) पुराणा-नुसार राजा प्रियव्रत के एक पुत्र का नाम। (४) हैहय वंश के एक राजा का नाम। (५) वह जो यज्ञ करता हो।

वीती-संज्ञा पुं० [सं० वीतिन्] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

वीथिका-संज्ञा स्त्री० दे० “वीथी”।

वीथी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दृश्य वाक्य या रूपक के २७ भेदों में से एक भेद जो एक ही अंक का होता है और जिसमें एक ही नायक होता है। इसमें आकाशभाषित और शृंगाररस की अधिकता रहती है। प्राचीन काल में ऐसे रूपक अलग भी खेले जाते थे और दूसरे नाटकों के साथ भी। इसके नीचे लिखे १३ अंग माने गए हैं—(१) उद्घातक (२) अद्वलित (३) प्रपंच (४) त्रिगत (५) छलन (६) वाक्केली (७) अधिबल (८) गंड (९) अवस्यंदित (१०) नालिका (११) असत्प्रलाप (१२) व्याहार और (१३) मृदद। धनंजय ने अपने दशरूपक में वीथी के उक्त तेरह अंगों का उल्लेख करके कहा है कि सूत्रधार इन वीथ्यंगों के द्वारा अर्थ और पात्र का प्रस्ताव करके प्रस्तावना के अंत में चला जाय और तब वस्तु-प्रपंचन आरंभ हो। साहित्यदर्पण के अनुसार वीथी के अंग ही प्रहसन के भी अंग हो सकते हैं। अंतर केवल यही है कि वीथी में तो इनका होना आवश्यक है, पर प्रहसन में ऐच्छिक होता है। अतः कहा जा सकता है कि वीथी और प्रहसन दोनों प्रस्तावना के ऐसे अंशों को कहते थे जिनमें हास्य रस की अधिकता होती थी और जिनके द्वारा सामाजिकों या दर्शकों के मन में अभिनय के प्रति रुचि या उत्कंठा उत्पन्न की जाती थी। (२) मार्ग। रास्ता। सड़क। (३) वह आकाश मार्ग जिससे होकर सूर्य चलता है। रवि-मार्ग। (४) आकाश में नक्षत्रों के रहने के स्थानों के कुछ विशिष्ट भाग जो वीथी या सड़क के रूप में माने गए हैं। जैसे,—नागवीथी, गजवीथी, ऐरावती वीथी, गोवीथी, मृगवीथी आदि।

विशेष—आकाश में उत्तर, मध्य और दक्षिण में क्रमशः ऐरावत, जरदभव और वैश्वानर नामक तीन स्थान माने गए हैं; और इनमें से प्रत्येक स्थान में तीन तीन वीथियाँ हैं। इस प्रकार कुल नौ वीथियों में सत्ताईस नक्षत्र समान भागों में विभक्त हैं; अर्थात् प्रत्येक वीथी में तीन तीन नक्षत्रों का अवस्थान माना गया है।

वीथ्यंग-संज्ञा पुं० [सं०] रूपक में वीथी के अंग जो १३ माने गए हैं। वि० दे० “वीथी” (१)।

वीध्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकाश। (२) अग्नि। (३) वायु।

वीनाह-संज्ञा पुं० [सं०] वह जँगला या ढकना आदि जो कूँ के ऊपर लगाया जाता है।

वीपा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बिजली।

वीरकरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक नदी का नाम, जिसे वीरकरा भी कहते हैं।

वीरंवर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोर। (२) जंगली पशुओं के साथ होनेवाला युद्ध। (२) एक प्राचीन नदी का नाम।

वीर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो साहसी और बलवान् हो। शूर। बहादुर। (२) योद्धा। सैनिक। सिपाही। (३) वह जो किसी विकट परिस्थिति में भी आगे बढ़कर उत्तमतापूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करे। (४) वह जो किसी काम में और लोगों से बहुत बढ़कर हो। जैसे,—दानवीर। कर्मवीर। (५) पुत्र। लड़का। (६) पति। खसम। (७) भाई। (स्त्री०) (८) महाभारत के अनुसार दुनायु नामक दैत्य के पुत्र का नाम। (९) विष्णु। (१०) जिन। (११) साहित्य में शृंगार आदि नौ रसों में से एक रस जिसमें उत्साह और वीरता आदि की परिपुष्टि होती है। इसका वर्ण गौर और देवता इंद्र माने गए हैं। उत्साह इसका स्थायी भाव है और धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क और रोमांच आदि इसके संचारी भाव हैं। भयानक, शांत और शृंगार रस का यह रस विरोधी है। (१२) तांत्रिकों के अनुसार साधना के तीन भावों में से एक भाव। कहते हैं कि दिन के पहले दस दंड में पशु पाव से, बीच के दस दंड में वीर भाव से और अंतिम दस दंड में दिव्य भाव से साधना करनी चाहिए। कुछ लोगों का यह भी मत है कि पहले १६ वर्ष की आयु तक पशु भाव से, फिर ५० वर्ष की आयु तक वीर भाव से और इसके उपरांत दिव्य भाव से साधना करनी चाहिए। (१३) तांत्रिकों के अनुसार वह साधक जो इस प्रकार वीर भाव से साधना करता है। दिन रात मद्य पीना, पगलों की सी चेष्टा रखना, शरीर में भस्म लगाए रहना और अपने इष्ट देव को मनुष्य, बकरी, भेड़ या भैंसे आदि का बलिदान चढ़ाना इनका मुख्य कर्तव्य होता है। (१४) वह जो किसी काम में बहुत चतुर हो। होशियार। (१५) कर्मठ। कर्मशील। (१६) यज्ञ की अग्नि। (१७) सींगिया नामक विष। (१८) काली मीर्च। (१९) पुष्करमूल। (२०) काँजी। (२१) खस। उशीर। (२२) आलबुखारा। (२३) पीली कटसरैया। (२४) चौलाई का साग। (२५) वाराहीकंद। गेंडी। (२६) लताकरंज। (२७) कनेर। (२८) अर्जुन नामक वृक्ष। (२९) काकोली। (३०) सिंदूर। (३१) शालिपर्णी। सरिवन। (३२) लोहा। (३३) नरसल। नरकट। (३४) भिलावॉ। (३५) कुश। (३६) ऋषभक नामक ओषधि। (३७) तोरई।

वीरक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सफेद कनेर। (२) वह जो किसी निंदित देश का निवासी हो। (३) पुराणानुसार चाक्षुष मन्वंतर के एक मनु का नाम।

वीरकरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक नदी का नाम जिसे वीरकरा भी कहते हैं।

वीरकर्म-संज्ञा पुं० [सं० वीरकर्मन्] वह जो वीरों की भाँति काम करता हो। हीरोचित कार्य करनेवाला।

वीरकाम-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसे पुत्र की कामना हो। पुत्र की इच्छा रखनेवाला।

वीरकुक्षि-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जो वीर पुत्र प्रसव करती हो।

वीरकेतु-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार पांचाल के एक राजकुमार का नाम।

वीरकेशरी-संज्ञा पुं० [सं० वीरकेशरिन्] वह जो वीरों में सिंह के समान अथवा बहुत श्रेष्ठ हो।

वीरकेशरी-संज्ञा पुं० दे० "वीरकेशरी"।

वीरगति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह उत्तम गति जो वीरों को रणक्षेत्र में मरने से प्राप्त होती है। (कहते हैं कि युद्ध-क्षेत्र में वीरतापूर्वक लड़कर मरनेवाले लोग सीधे स्वर्ग जाते हैं।) (२) स्वर्ग।

वीरचक्रेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

वीरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुश, दूर्भ, काँस और दूब आदि की जाति के तृण। (२) उशीर। खस। (३) पुराणानुसार एक प्रजापति का नाम जिनकी कन्या असिकी का विवाह दक्ष से हुआ था। इस कन्या के गर्भ से पाँच हजार वीरपुत्र उत्पन्न हुए थे जिनसे सृष्टि बढ़ी थी। (४) एक प्राचीन ऋषि का नाम।

वीरणक-संज्ञा पुं० [सं०] एक नाग का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है।

वीरतर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शर। तीर। बाण। (२) उशीर। खस।

वीरतरु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अर्जुन वृक्ष। (२) तालमखाना। (३) भिलावाँ। (४) शर नामक तृण। (५) पियासार नामक वृक्ष।

वीरता-संज्ञा स्त्री० [सं०] वीर होने का भाव। शूरता। बहादुरी।

वीरद्युम्न-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक राजकुमार का नाम।

वीरधन्वा-संज्ञा पुं० [सं० वीरधन्वन्] कामदेव का एक नाम।

वीरनायक-संज्ञा पुं० [सं०] उशीर। खस।

वीरपट्ट-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक विशेष प्रकार का पहनावा जो युद्ध के समय पहना जाता था।

वीरपत्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वैदिक काल की एक नदी का नाम। (२) वह जो किसी वीर की पत्नी हो।

वीरपुत्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भौंग। भंग। (२) एक प्रकार का महाकंद जिसे धारणी भी कहते हैं।

वीरपर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] सुरपर्ण। माचीपत्री।

वीरपान-संज्ञा पुं० [सं०] वह पान जो वीर लोग युद्ध का श्रम मिटाने के लिये करते हैं।

वीरपुष्पी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) महाबला। सहदेव। (२) सिंदूर-पुष्पी। लटकन।

वीरप्रमोक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन तीर्थ का नाम।

वीरप्रसू-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जो वीर संतान उत्पन्न करती हो।

वीरबाहु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम। (३) रावण के एक पुत्र का नाम।

वीरभद्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा। (२) उशीर। खस। (३) शिव के एक प्रसिद्ध गण का नाम जो उनके पुत्र और अवतार माने जाते हैं। कहते हैं कि दक्ष का यज्ञ नष्ट करने के लिये शिवजी ने अपने सुँह से इनकी सृष्टि की थी। वीरभद्र ने बहुत से रुद्रों की सृष्टि करके दक्ष का यज्ञ नष्ट किया था।

वीरभद्रक-संज्ञा पुं० [सं०] खस। उशीर।

वीरभद्र रस-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का रस जो सज्जिपात के लिये बहुत उपकारी माना जाता है।

वीरभुक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] आधुनिक वीरभूम का प्राचीन नाम।

वीरमणि-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार देवपुर के एक प्राचीन राजा का नाम जिसके पुत्र स्वमांगद ने रामचंद्रजी के यज्ञ का घोड़ा पकड़ लिया था। इस पर शत्रुघ्न और हनुमान आदि ने इससे युद्ध किया था। कहते हैं कि इस युद्ध में महादेवजी भी वीरमणि की ओर से लड़े थे और उन्होंने शत्रुघ्न को अपने पाश में बाँध लिया था। तब रामचंद्र ने आकर उन्हें और अपना घोड़ा छुड़ाया था।

वीरमत्स्य-संज्ञा पुं० [सं०] रामायण के अनुसार एक प्राचीन जाति का नाम।

वीरमर्दन-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक दानव का नाम।

वीरमर्दल-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का ढोल जो युद्ध के समय बजाया जाता था।

वीरमाता-संज्ञा स्त्री० [सं० वीरमातृ] वह स्त्री जो वीर पुत्र प्रसव करती हो। वीरजननी। वीरप्रसू।

वीरमार्ग-संज्ञा पुं० [सं०] स्वर्ग।

वीरमुद्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का छल्ला जो प्राचीन काल में पैर की बीचवाली उँगली में पहना जाता था।

वीररज-संज्ञा पुं० [सं० वीररजस्] सिंदूर।

वीरराघव-संज्ञा पुं० [सं०] रामचंद्र का एक नाम।

वीररेणु-संज्ञा पुं० [सं०] भीमसेन का एक नाम।

वीरललित-संज्ञा पुं० [सं०] वीरों का सा, पर साथ ही कोमल स्वभाव।

वीरलोक-संज्ञा पुं० [सं०] स्वर्ग।

वीरवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] मांसरोहिणी नाम की लता।

वीरवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] देवदाली नाम की लता।

वीरवह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो घोड़ों द्वारा खींचा जाय। (२) रथ।

वीरविलावक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो शूद्रों से धन आदि लेकर हवन करता हो।

वीरवृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भिलावौ। (२) अर्जुन नामक वृक्ष। (३) महाशालि। देवधान्य। (४) बिल्वान्तर या बेलन्तर नामक वृक्ष। (५) सावौ नामक धान्य। (६) शाल वृक्ष।

वीरवेतस-संज्ञा पुं० [सं०] अमलबेत।

वीरव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो अपने संकल्प पर सदा दृढ़ रहता हो। वीरतापूर्वक अपने संकल्प का पालन करने-वाला। (२) वह ब्रह्मचारी जो बहुत ही निष्ठा तथा आचार-पूर्वक रहता हो। (३) पुराणानुसार मधु के एक पुत्र का नाम जो सुमना के गर्भ से उत्पन्न हुआ था।

वीरशय-संज्ञा पुं० [सं०] वीरों के सोने का स्थान, रणभूमि। युद्ध-क्षेत्र। लड़ाई का मैदान।

वीरशयन-संज्ञा पुं० [सं०] वीरों के सोने का स्थान, रणभूमि।

वीरशय्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] रणभूमि।

वीरशाक-संज्ञा पुं० [सं०] बथुआ नामक साग।

वीरशैव-संज्ञा पुं० [सं०] शैवों का एक भेद।

वीरसू-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जो वीर पुत्र प्रसव करती हो। वीर-जननी।

वीरसेन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा नल के पिता का नाम। (२) आरूक या भाड़ नाम की जड़ी जो हिमालय में होती है। (३) आलुबुखारा।

वीरस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] वह पशु जिसका यज्ञ में बलिदान हो।

वीरस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साधकों का एक प्रकार का आसन जिसे वीरासन कहते हैं। (२) स्वर्ग, जहाँ वीर लोग मरने पर जाते हैं।

वीरहा-संज्ञा पुं० [सं० वीरहत्] (१) विष्णु। (२) वह अग्निहोत्री ब्राह्मण जिसकी अग्निहोत्रवाली अग्नि आलस्य आदि के कारण बुझ गई हो।

वि० वीरों को मारनेवाला।

वीरहोत्र-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन प्रदेश का नाम जो विंध्य पर्वत पर था।

वीरांतक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो वीरों का अंत या नाश करता हो। (२) अर्जुन नामक वृक्ष।

वीरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुरामाँसी। मुरा। (२) क्षीर का-कोली। (३) मुई आँवला। (४) एलुवा। (५) केला। (६) बिदारी कंद। (७) काकोली। (८) शतावर। (९) घो कुआँर। (१०) ब्राह्मी। (११) अतीस। अतिविष। (१२) मदिरा। शराब। (१३) शीशम का पेड़। (१४) गंभारी नामक वृक्ष। (१५) पृथिवी। पिठवन। (१६) खिरंदी।

(१७) कुटकी। (१८) जदामाँसी। बालछड़। (१९) आँवला। (२०) वह स्त्री जिसके पति और पुत्र हों। (२१) महाभारत के अनुसार एक प्राचीन नदी का नाम।

वीराचारी-संज्ञा पुं० [सं० वीराचारिन्] एक प्रकार के वाममार्गी या शाक्त जो अपने इष्ट देवताओं की वीर भाव से उपासना करते हैं। ये लोग मद्य को शक्ति और मांस को शिव स्वरूप मानते हैं; और इन दोनों के भक्तों को भैरव समझते हैं। ये लोग चक्र में बैठकर पूजन करते हैं और बीच बीच में किसी स्त्री को काली मानकर उस पर मद्य, मांस आदि चढ़ाते हैं। ये लोग प्रायः शव या मृत शरीर लाकर उस की पूजा करते और उसी के द्वारा अनेक प्रकार के साधन और पूजन करते हैं।

वीराट्ट-संज्ञा पुं० [सं०] अर्जुन नामक वृक्ष।

वीरान-वि० [फा०] (१) उजड़ा हुआ। जिसमें आबादी न रह गई हो। जैसे,—यह बस्ती बिल्कुल वीरान हो गई है। (२) जिसकी शोभा नष्ट हो गई हो। श्रीहीन।

वीराना-संज्ञा पुं० [फा०] वह स्थान जहाँ किसी प्रकार की आबादी न हो। उजाड़ जंगल।

वीरानी-संज्ञा स्त्री० [फा०] वीरान या उजाड़ होने का भाव।

वीरास-संज्ञा पुं० [सं०] अमलबेत।

वीरारूक-संज्ञा पुं० [सं०] आरूक या भाड़ नाम की जड़ी जो हिमालय में होती है।

वीराशंसन-संज्ञा पुं० [सं०] वह युद्धभूमि जो बहुत ही भीषण और भयानक जान पड़ती हो।

वीराष्टक-संज्ञा पुं० [सं०] कार्तिकेय के एक अनुचर का नाम।

वीरासन-संज्ञा पुं० [सं०] बैठने का एक प्रकार का आसन या मुद्रा जिसका व्यवहार प्रायः पूजन और तांत्रिकों आदि के साधन में होता है। इसमें बाएँ पैर और टखने पर दाहिनी जाँघ रखकर बैठते हैं।

वीरिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वीरण प्रजापति की कन्या असिनी जो दक्ष को व्याही थी। (२) वह स्त्री जिसे पुत्र हो। पुत्रवती। (३) एक प्राचीन नदी का नाम।

वीरुध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वृक्ष और वनस्पति आदि। (२) ओषधि। (३) विस्तृता या गुल्मिनी नाम की लता।

वीरुधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दवा के रूप में काम में आनेवाली वनस्पति। ओषधि।

वीरेश-संज्ञा पुं० [सं०] शिव। महादेव।

वीरेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] शिव। महादेव।

वीरोपजीविक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो अग्निहोत्र के द्वारा अपनी जीविका का निर्वाह करता हो।

वीर्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शरीर के सात धातुओं में से एक धातु जिसका निर्माण सब के अंत में होता है और जिसके कारण

शरीर में बल और कांति आती है। इसे चरम धातु भी कहते हैं। यह स्त्री-प्रसंग के समय अथवा रोग आदि के कारण यों ही सूत्रेन्द्रिय से निकलता है। कुछ लोगों का मत है कि वीर्य दो प्रकार का है—शीत और उष्ण। और कुछ लोगों का मत है कि यह आठ प्रकार का होता है—उष्ण, शीत, स्निग्ध, रुक्ष, विशद, पिच्छिल, मृदु और तीव्र। वि० दे० “शुक”।

पर्या०—शुक। तेज। रेत। बीज। इन्द्रिय।

(२) दे० “रज”। (३) वैद्यक के अनुसार किसी पदार्थ का वह सार भाग जिसके कारण उस पदार्थ में शक्ति रहती है। किसी वस्तु का मूल तत्त्व। (४) पराक्रम। बल। शक्ति। सामर्थ्य। (५) अन्न आदि का बीज। बीआ।

वीर्यकृत-संज्ञा पुं० [सं०] बलवान्। ताकतवर।

वीर्यकृत्-वि० [सं०] जो बल या वीर्य उत्पन्न करता हो। बल-कारक।

वीर्यज-संज्ञा पुं० [सं०] लड़का। बेटा। पुत्र।

वीर्यतम-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बहुत बड़ा बलवान हो।

वीर्यधर-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार प्लक्ष द्वीप में रहनेवाले एक प्रकार के क्षत्रिय।

वीर्यवत्-वि० [सं०] (१) बलवान्। मजबूत। (२) मांसल। हृष्ट पुष्ट।

वीर्यशुल्क-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० वीर्यशुल्का] वह प्रतिज्ञा या प्रण जो वीर्य संबंधी हो। जैसे,—यह प्रतिज्ञा करना कि जो पुरुष (या स्त्री) अमुक कार्य करेगा, उसके साथ इस स्त्री (या पुरुष) का विवाह होगा।

वीर्यसह-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्यवंशी राजा सौदास के पुत्र कल्माषपाद का एक नाम।

वीर्यहारी-संज्ञा पुं० [सं० वीर्यहारिन्] एक यक्ष का नाम जो दुःसह नामक यक्ष की कन्या के गर्भ से किसी चोर के वीर्य से उत्पन्न हुआ था। कहते हैं कि जो लोग कदाचारी होते हैं, या बिना हाथ पैर धोए रसोई घर में जाते हैं, उनके घर में यह यक्ष अपने और दो भाइयों के साथ रहता है।

वीर्यांतराय-संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के अनुसार वह पाप कर्म जिसका उदय होने से जीव हृष्ट पुष्टांग होते हुए भी शक्ति-विहीन हो जाता है और कुछ पराक्रम नहीं कर सकता।

वीर्या-संज्ञा स्त्री० दे० “वीर्य”।

वीहार-संज्ञा पुं० दे० “विहार”।

वृत्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्तन का अगला भाग। (२) बौड़ी। हेंडी।

वृत्ताक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बैंगन। (२) पोई का साग।

वृत्ताकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बनभंडा। (२) बैंगन।

वृद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समूह। छुंड। (२) सौ करोड़ की

संख्या। (३) एक मुहूर्त का नाम। उ०—भाव शुद्ध भूत दिन जानो। वृद्ध मुहूर्त में पहिचानो।—विश्राम।

वृंदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तुलसी। (२) राधिका के सोलह नामों में से एक नाम।

वृंदाक-संज्ञा पुं० [सं०] परगाछा नाम का पेड़।

वृंदार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवता। (२) श्रेष्ठ व्यक्ति।

वृंदारण्य-संज्ञा पुं० [सं०] वृंदावन।

वृंदावन-संज्ञा पुं० [सं०] मथुरा जिले का एक प्रसिद्ध प्राचीन तीर्थ जो भगवान् श्रीकृष्णचंद्र का क्रीड़ा-क्षेत्र माना जाता है। कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने अपनी अत्रिकांश बाल लीलाएँ यहीं की थीं। पुराणों में वृंदावन के संबंध में अनेक प्रकार की विलक्षण कथाएँ आदि पाई जाती हैं। महमूद गजनवी ने वृंदावन और उसके आस पास के अनेक स्थानों को बिल्कुल नष्ट भ्रष्ट कर डाला था; और बहुत दिनों तक यह उसी दशा में पड़ा रहा। पर पीछे से चैतन्य महाप्रभु ने यमुना के किनारे वर्तमान वृंदावन नामक नगर की स्थापना की थी। इस नगर में इस समय हजारों बड़े बड़े मंदिर हैं और दूर दूर से यात्री लोग यहाँ दर्शनों के लिये आते हैं।

वृंदावनेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण का एक नाम।

वृंदावनेश्वरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] राधिका का एक नाम।

वृंहण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह पदार्थ जो पुष्टिकारक हो। बल-वर्धक द्रव्य। (२) भावप्रकाश के अनुसार एक प्रकार का धूम्र-पान। (३) असंगंध। (४) मुनका। (५) सुई-कुम्हड़ा। (६) चरक के अनुसार सूर्य के मांस में पकाया हुआ जौ का सत्त।

वृंहणवस्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] भावप्रकाश के अनुसार एक प्रकार की वस्ति जिसे निरुह या निरुद्ध भी कहते हैं। वि० दे० “निरुद्धवस्ति”।

वृक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुत्ते की जाति का एक मांसाहारी पशु। भेड़िया। (२) शृगाल। गीदड़। (३) कौवा। (४) क्षत्रिय। (५) चोर। (६) वज्र। (७) अगस्त का पेड़। (८) गंधा-बिरोजा।

वृककर्मा-संज्ञा पुं० [सं० वृककर्म्मन्] एक असुर का नाम।

वृकखंड-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

वृकगर्त-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन जनपद का नाम।

वृकग्राह-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

वृकजंभ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

वृकदेव संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक राक्षस का नाम।

इसी की कन्या सानंदिनी कुंभकर्ण को व्याही थी।

वृकदंस-संज्ञा पुं० [सं०] कुत्ता।

वृक्षदीप्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम ।

वृक्षदेव-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार वसुदेव के एक पुत्र का नाम ।

वृक्षदेवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार देवक की कन्या और वसुदेव की पत्नी, देवकी का एक नाम ।

वृक्षधूप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह धूप जो अनेक प्रकार के सुगंधित द्रव्यों की सहायता से तैयार किया गया हो ।

(२) सरल वृक्ष का निर्यास । तारपीन ।

वृक्षधूत्त-संज्ञा पुं० [सं०] गीदड़ ।

वृक्ष निवृत्ति-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम ।

वृक्षवंधु-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम ।

वृक्षरथ-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार कर्ण के एक भाई का नाम ।

वृक्षल-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार विलिखि के एक पुत्र का नाम ।

वृक्षला-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाड़ी ।

वृक्षवंचिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक ऋषि का नाम ।

वृक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अंबछा या पाड़ा नाम की लता । (२) प्राचीन काल का एक परिमाण जो दो सुपों के बराबर होता था ।

वृक्षाक्षी-संज्ञा स्त्री० [सं०] निसोथ ।

वृक्षाजिन-संज्ञा पुं० [सं०] वैदिक काल के एक ऋषि का नाम ।

वृक्षायु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जंगली कुत्ता । (२) चोर ।

वृक्षाराति, वृक्षारि-संज्ञा पुं० [सं०] कुत्ता ।

वृक्षाश्व-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल के एक ऋषि का नाम ।

वृक्षाश्वकि-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्रप्रवर्त्तक ऋषि का नाम ।

वृक्षास्य-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार कृष्ण के एक पुत्र का नाम जिन्हें वृक्षाश्व भी कहते थे ।

वृक्षोदर-संज्ञा पुं० [सं०] भीमसेन का एक नाम ।

विशेष—कहते हैं कि भीमसेन के पेट में वृक्ष नाम की विकट अग्नि थी; इसी से उनका यह नाम पड़ा ।

वृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] गुरदा ।

वृक्षरु-संज्ञा पुं० [सं०] मूत्राशय । गुरदा ।

वृक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] हृदय ।

वृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वनस्पति या उद्भिज्ज के अंतर्गत वह बड़ा क्षुप जिसका एक ही मोटा और भारी तना होता है और जो जमीन से प्रायः सीधा ऊपर की ओर जाता है । पेड़ । द्रव्य । द्रुम । विटप ।

विशेष—प्रायः लोग बोल चाल में वृक्ष और क्षुप अथवा वृक्ष और दूसरी छोटी वनस्पतियों में कोई अंतर नहीं रखते

और उनमें से अधिकांश को प्रायः वृक्ष ही कहा करते हैं । पर क्षुप और वृक्ष में यह अंतर है कि क्षुप तीन चार हाथ से अधिक ऊँचा नहीं होता; और न उसमें कोई एक मुख्य तना होता है । उसकी जड़ से ही कई डालियाँ निकलकर इधर उधर फैल जाती हैं । परंतु वृक्ष में एक मुख्य और भारी तना होता है जो पहले कुछ ऊँचाई तक सीधा ऊपर की ओर जाता है; और तब उसमें से चारों ओर डालियाँ निकलती हैं । पर फिर भी कुछ बड़े क्षुप ऐसे होते हैं जो अपने आकार प्रकार के कारण ही वृक्ष कहलाते हैं । वृक्ष में कुछ ठोस काठ का रहना भी आवश्यक होता है; पर केले में काठ का कोई अंश न रहने पर भी उसे लोग प्रायः वृक्ष ही कहते हैं । कुछ वृक्ष ऐसे होते हैं जिनके सब पत्ते वसंत ऋतु के आरंभ में झड़ जाते हैं; और तब फिर नए पत्ते निकलते हैं । ऐसे वृक्ष "पतझड़" वाले वृक्ष कहलाते हैं । और कुछ वृक्ष ऐसे होते हैं जिनमें पुराने पत्ते पत्तों के गिरने से पहले ही नए पत्ते निकल आते हैं । ऐसे वृक्ष सदाबहार कहलाते हैं । वृक्षों में प्रायः अनेक प्रकार के फल लगते हैं जिन्हें लोग खाते हैं, और उनकी लकड़ी से तरह तरह की चीजें (जैसे,—मेज, कुर्सी, दरवाजा, हल, गाड़ी आदि) बनाई जाती हैं । इनकी पत्तियाँ आदि औषधि रूप में, रंग निकालने और चमड़ा सिझाने के काम में आती हैं । वृक्ष प्रायः बीजों से और कभी कभी पनीरी के द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं ।

पद्यर्थां—महीरुह । शाखी । विटपी । पादप । तरु । पलाशी । द्रुम । आगम । स्थिर । नग । अग । कुज । क्षितिरुह । महीज । शाल ।

(२) किसी प्रकार का क्षुप या पौधा अथवा कोई कुछ बड़ी और ऊँची वनस्पति । (३) वृक्ष से मिलती जुलती वह आकृति जिसमें किसी चीज का मूल अथवा उद्गम और उसकी अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ आदि दिखलाई गई हों । जैसे,—वंश-वृक्ष ।

वृक्षकंद-संज्ञा पुं० [सं०] विदारीकंद ।

वृक्षक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छोटा पेड़ । (२) पेड़ । द्रव्य । (३) कुटज का पेड़ ।

वृक्षकुक्कुट-संज्ञा पुं० [सं०] जंगली कुत्ता ।

वृक्षचर-संज्ञा पुं० [सं०] बंदर ।

वृक्षतक्षक-संज्ञा पुं० [सं०] गिलहरी ।

वृक्षधूप-संज्ञा पुं० [सं०] सरल या चीड़ का पेड़ ।

वृक्षनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] बड़ का पेड़ ।

वृक्षनिर्यास-संज्ञा पुं० [सं०] पेड़ में से निकलनेवाला किसी

प्रकार का रस या तरल द्रव्य ।

वृक्षपाक-संज्ञा पुं० [सं०] बड़ का पेड़ । वट ।

वृक्षपाल-संज्ञा पुं० [सं०] जंगली झाल ।

वृक्षमतिष्ठा-संज्ञा स्त्री० [सं०] रसुतिर्गो आदि के अनुसार पुष्प-फल की प्राप्ति के लिये अश्वत्थ आदि के वृक्ष लगाने की क्रिया ।

वृक्षमहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परगाछा नाम का पौधा । वि० दे० “परगाछा” । (२) बंदाक । बंदा ।

वृक्षमेरी-संज्ञा पुं० [सं०] वृक्षमेदिर् [कुल्हाड़ी] ।

वृक्षमूल-संज्ञा पुं० [सं०] पेड़ की जड़ ।

वृक्षमूलिक-वि० [सं०] वृक्ष की जड़ या मूल से संबंध रखनेवाला ।

वृक्षराज-संज्ञा पुं० [सं०] परजाता । पारिजात ।

वृक्षराज-संज्ञा पुं० [सं०] पीपल का पेड़ ।

वृक्षहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परगाछा नाम का पौधा । (२) रुद्रवंती । बंदष्टा । बंदाक । (३) अमरवेल । (४) जतुका नाम की लता । (५) विदारीकंद । (६) ककही या कंवी नाम का पौधा । (७) पुष्करमूल ।

वृक्षवाटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बाग । बगीचा । उपवन ।

वृक्षशायिक-संज्ञा पुं० [सं०] लंगूर ।

वृक्षशायिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] गिलहरी ।

वृक्षसंकट-संज्ञा पुं० [सं०] वह पगडंडी जो घने वृक्षों के बीच से गई हो ।

वृक्षसारक-संज्ञा पुं० [सं०] द्रोणपुष्पी । गुमा ।

वृक्षस्नेह-संज्ञा पुं० [सं०] पेड़ में से निकलनेवाला निर्यास या तरल द्रव्य ।

वृक्षादन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुल्हाड़ी । (२) अश्वत्थ वृक्ष । (३) पियाल का पेड़ । (४) मधुमक्खी का छत्ता ।

वृक्षादनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विदारीकंद । (२) बंदा । बंशा । बंदाक ।

वृक्षामय-संज्ञा पुं० [सं०] लास ।

वृक्षाम्ल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हमली । (२) चुक नामक खटाई । (३) अमड़ा । (४) अमलवेत । (५) अमलकूटा ।

वृक्षायुर्वेद-संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसमें वृक्षों के रोगों आदि की चिकित्सा का वर्णन हो ।

वृक्षार्हा-संज्ञा स्त्री० [सं०] महामेदा ।

वृक्षालय-संज्ञा पुं० [सं०] पक्षी । चिड़िया ।

वृक्षोत्पल-संज्ञा पुं० [सं०] कनियारी या कनकचंपा का पेड़ ।

वृक्ष्य-संज्ञा पुं० [सं०] पेड़ का फल ।

वृज-संज्ञा पुं० दे० “व्रज” ।

विशेष—“वृज” के यौगिक आदि के लिये दे० “व्रज” के यौ० ।
वृजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकाश । आसमान । (२) दुष्कर्म । पाप । (३) लड़ाई । युद्ध । (४) निपटारा । निराकरण । (५) ताकत । शक्ति । बल । (६) बाल । (७) शत्रु । दुश्मन ।

वि० कुटिल । टेढ़ा ।

वृजन्य-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत ही सीधा साधा आदमी । वह जो परम साधु हो ।

वृजि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) व्रजभूमि । (२) मिथिला प्रदेश । तिरहुत ।

वृजिन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाप । गुनाह । उ०—देव अखिल मंगल भवन निविड संसय समन दमन वृजिनाटवी कष्ट-हर्ता ।—तुलसी । (२) दुःख । कष्ट । तकलीफ । (३) खाल । चमड़ा । (४) खून । लहू । रक्त । (५) बाल ।

वि० (१) कुटिल । टेढ़ा । (२) पापयुक्त ।

वृत्त-वि० [सं०] (१) जो किसी काम के लिये नियुक्त किया गया हो । मुकर्रर किया हुआ । (२) ढका हुआ । छाया हुआ । (३) जिसके संबंध में प्रार्थना की गई हो । (४) जो मंजूर किया गया हो । स्वीकृत । (५) गोल ।

वृत्तपत्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुत्रदात्री नाम की लता ।

वृत्ताक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] मुरगा ।

वृत्तिकर-संज्ञा पुं० [सं०] विक्रंत नाम का वृक्ष ।

वृत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह जिससे कोई चीज घेरी या ढकी जाय । (२) नियुक्त करने की क्रिया । नियुक्ति । (३) छिपाने की क्रिया ।

वृत्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चरित्र । चरित । (२) वेदों और शास्त्रों के अनुकूल आचार रखना । (३) आचार । चाल-चलन । (४) स्तन के आगे का भाग । (५) सफेद वजार । (६) गुंडा नाम की वास । (७) अंजीर । (८) सतिवन । (९) कलुआ । (१०) समाचार । वृत्तांत । हाल । (११) बड़ों के आदर, इंद्रिय-निग्रह और सत्य आदि की ओर होनेवाली प्रवृत्ति । (१२) महाभारत के अनुसार एक नाग का नाम । (१३) जीविका का साधन । वृत्ति । (१४) वह छंद जिसके प्रत्येक पद में अक्षरों की संख्या और लघु गुरु के क्रम का नियम हो । वर्णिक छंद । जैसे,— इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, मालिनी आदि ।

विशेष—पद्यों के विचार से वृत्त तीन प्रकार के होते हैं ।

जिस वृत्त के चारों पद समान हों, वह सम वृत्त कहलाता है; जिसमें चारों पद असमान हों, वह विषम वृत्त कहलाता है; और जिसके पहले और तीसरे तथा दूसरे और चौथे पद समान हों, उसे अर्द्ध समवृत्त कहते हैं ।

(१५) एक प्रकार का छंद जिसके प्रत्येक चरण में बीस वर्ण होते हैं । इसे गंडका और दंडिका भी कहते हैं । (१६) वह क्षेत्र जिसका घेरा या परिधि गोल हो । मंडल । (१७) वह गोल रेखा जिसका प्रत्येक बिंदु उसके अंदर के मध्य-बिंदु से समान अंतर पर हो । (१८) दे० “वृत्रासुर” ।

वि० (१) बीता हुआ । गुजरा हुआ । (२) दृढ़ । मजबूत । (३) जिसका आकार गोल हो । वर्तल । (४) मृत । मरा

हुआ। (५) जो उत्पन्न हुआ हो। जात। (६) निष्पन्न। सिद्ध। (७) ढका हुआ। आच्छादित।
वृत्तक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह गद्य जिसमें कोमल तथा मधुर अक्षरों और छोटे छोटे समासों का व्यवहार किया गया हो। (२) छंद।
वृत्तकर्कशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] खरबूजा।
वृत्तकोशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] देवदाली नाम की लता।
वृत्तकोष-संज्ञा पुं० [सं०] पीली देवदाली।
वृत्तखंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी वृत्त या गोलार्ध का कोई अंश। (२) मेहराब।
वृत्तगंधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह गद्य जिसमें अनुप्रासों और समासों की अधिकता हो। वह गद्य जिसमें पद्य का आनंद आता हो।
वृत्तगुंड-संज्ञा पुं० [सं०] दीर्घनाल या गोंदला नाम की घास।
वृत्तचेष्टा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्वभाव। प्रकृति। मिजाज। (२) आचरण। चाल चलन।
वृत्ततंडुल-संज्ञा पुं० [सं०] यवनाल। जवनाल।
वृत्तपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] पुत्रदात्री नाम की लता।
वृत्तपर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पाठा। पादा। (२) बड़ी शण-पुष्पी।
वृत्तपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिरिस का पेड़। (२) कदम या कदंब का पेड़। (३) जलबेत। (४) सुई कदंब। (५) सदा-गुलाब। सेवती। (६) मोतिया। (७) मल्लिका।
वृत्तपुष्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नागदमनी। (२) सदा गुलाब। सेवती।
वृत्तफल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोई गोलाकार फल। (२) काली मिर्च। (३) अनार। (४) बेर। (५) कैथ। कपित्थ। (६) लाल अपमार्ग। लाल चिचड़ा। (७) करंज का पेड़। (८) तरबूज। (९) खरबूजा।
वृत्तफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बैंगन। भंटा। (२) कड़वी ककड़ी। (३) आँवला।
वृत्तबंध-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो वृत्त या छंद के रूप में बाँधा गया हो।
वृत्तभोजन-संज्ञा पुं० [सं०] गंडीर या गिंडनी नाम का साग।
वृत्तमल्लिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सफेद आक। (२) त्रिपुर-मल्लिका।
वृत्तवत्-वि० [सं०] जिसका आचरण उत्तम हो। सदाचारी।
वृत्तबीज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मिंडी। तरोई। (२) लोबिया। राजमाष।
वृत्तबीजका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अरहर नामक दाल। (२) पांडुफली। पांडुरफली।
वृत्तबीजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अरहर नाम का अन्न।

वृत्तशाली-संज्ञा पुं० [सं० वृत्तशालिन्] वह जिसका आचरण उत्तम हो। सदाचारी।

वृत्तश्लाघी-संज्ञा पुं० [सं० वृत्तश्लाघिन्] (१) वह जिसे अपने काम का अभिमान या श्लाघा हो। (२) क्षत्रिय।

वृत्तस्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसका चरित्र शुद्ध हो। सदाचारी। (२) वह जो दूसरों का उपकार करता हो। परोपकारी।

वृत्तांत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी बीती हुई बात या घटी हुई घटना का विवरण। समाचार। हाल। जैसे,—(क) इस घटना का सारा वृत्तांत समाचारपत्रों में छप गया है। (ख) अब आप कुछ अपना वृत्तांत सुनाइए। (२) प्रक्रिया। (३) संपूर्णता। समस्तता। (४) प्रस्ताव। (५) आख्यान। (६) अवसर। मौका। (७) भाव।

वृत्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) क्षिंशरीट नाम का क्षुप। (२) रेणुका। रेणु-बीज। (३) प्रियंगु। (४) मांसरोहिणी। (५) सफेद सेम। (६) नाग-इमनी। (७) ननुआ।

वृत्तानुवर्त्ती-संज्ञा पुं० [सं० वृत्तानुवर्त्तिन्] वह जिसका आचरण शुद्ध हो। सदाचारी।

वृत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह कार्य जिसके द्वारा जीविका का निर्वाह होता हो। जीविका। रोजी।

क्रि० प्र०—करना।—लगना।—होना।

(२) वह धन जो किसी दीन, विधवा या छात्र आदि को बराबर, कुछ निश्चित समय पर, उसके सहायतार्थ दिया जाय। उपजीविका।

क्रि० प्र०—देना।—पाना।—मिलना।

(३) सूत्रों आदि का वह विवरण या व्याख्या जो उनका अर्थ स्पष्ट करने के लिये की जाती है।

विशेष—हमारे यहाँ सूत्रों आदि की व्याख्या के वृत्ति, भाष्य, वार्त्तिक, टीका और टिप्पणी ये पाँच भेद किए गए हैं। इनमें से वृत्ति उस व्याख्या को कहते हैं, जो कुछ संक्षिप्त होती है और जिसकी रचना गंभीर होती है।

(४) विवरण। वृत्तांत। हाल। (५) नाटकों में विषय के विचार से वर्णन करने की शैली जो चार प्रकार की कही गई है और जो भिन्न भिन्न रसों के लिये उपयुक्त मानी गई है। जैसे,—कौशिकी वृत्ति, शृंगार रस के लिये; सात्वती वृत्ति वीर रस के लिये; आरभटी वृत्ति रौद्र और वीररस रस के लिये; और भारती वृत्ति शेष अन्य रसों के लिये। जहाँ अच्छी वेशभूषावाली नायिका, बहुत सी स्त्रियों और नृत्य-गीत तथा भोग-विलास आदि का वर्णन हो, उसे कौशिकी; जहाँ वीरता, गानशक्ति, दया, सरलता आदि का वर्णन हो, उसे सात्वती; जहाँ माया, ईदजाल, संग्राम, क्रोध आदि का वर्णन हो; उसे आरभटी; और जहाँ संस्कृत-बहुल कथोप-

कथन हो, उसे भारती वृत्ति कहते हैं। इन चारों वृत्तियों के भी कई अर्वांतर भेद माने गए हैं। (६) व्यवहार। (७) वह जो किसी दूसरे पर आश्रित या अवलंबित हो। आधेय। (८) योग के अनुसार चित्त की अवस्था जो पाँच प्रकार की मानी गई है—क्षिप्त, सूद, विशिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। (९) व्यापार। कार्य्य। (१०) स्वभाव। प्रकृति। (११) कर्तव्य। (१२) संहार करने का एक प्रकार का ऋण। उ०—सारचि माली वृत्ति नाम पुनि अतिमाली नौ।—पद्माकर।

वृत्तिकार-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसने किसी सूत्र-ग्रंथ पर वृत्ति लिखी हो।

वृत्तिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] वृत्ति का भाव या धर्म।

वृत्तिरुशना-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार रुद्र की एक स्त्री का नाम।

वृत्तिस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो अपनी वृत्ति पर स्थित हो। (२) गिरगिट।

वृत्तेर्वारु-संज्ञा पुं० [सं०] खरवृजे की बेल।

वृत्त्य-वि० [सं०] जो नियुक्त करने के योग्य हो। मुकर्रर करने के क़ाबिल।

वृत्त्यनुप्रास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँच प्रकार के अनुप्रासों में से एक प्रकार का अनुप्रास जो काव्य में एक शब्दालंकार माना जाता है। इसमें एक या कई व्यंजन वर्ण एक ही या भिन्न भिन्न रूपों में बार बार आते हैं। उ०—अति भारी कारी घटा, कारी बारी बैस। (२) इसमें र और व ये दो व्यंजन कई बार अतएव हैं, अतः यह वृत्त्यनुप्रास हुआ।

वृत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंधेरा। (२) मेघ। बादल। (३) शत्रु। दुश्मन। (४) पुराणानुसार त्वष्टा के पुत्र एक दानव या असुर का नाम जिसे इंद्र ने मारा था। इसी को मारने के लिये दधीचि ऋषि की हड्डियों का वज्र बनाया गया था। कहते हैं कि एक बार इंद्र ने विश्वरूप पुरोहित को मार डाला था। उसके पिता त्वष्टा ऋषि ने इसका बदला चुकाने के लिये यज्ञ करके इसे उत्पन्न किया। जब इसने इंद्र पर आक्रमण किया, तब इंद्र देवताओं सहित इंद्रपुरी में भाग गए। पर अंत में विष्णु की सम्मति से इंद्र ने दधीचि ऋषि से उनकी हड्डियाँ माँगीं और उन्हीं हड्डियों का वज्र बनाकर इससे लड़ना आरंभ किया। जब इंद्र ने इसके दोनों हाथ काट डाले, तब यह इंद्र को उनके हाथी ऐरावत सहित निगल गया। तब इंद्र इसका पेट फाड़कर बाहर निकले और इसका सिर काट डाला। देवी भागवत में इसकी कथा विस्तार के साथ दी गई है। वेदों में भी वृत्र असुर का उल्लेख है; पर वहाँ जो कुछ वर्णन मिलता है, उससे आलंकारिक रूप में मेघ और संघकाह आदि के संबंध में ही

“वृत्र” शब्द आया हुआ जान पड़ता है। वृत्रासुर। (५) एक पर्वत का नाम।

वृत्रखाद-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र का एक नाम, जिन्होंने वृत्र नामक असुर को मारा था।

वृत्रघ्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वृत्र नामक असुर को मारनेवाले, इंद्र। (२) वैदिक काल के एक देश का नाम जो गंगा के तट पर था।

वृत्रघ्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार पारिपात्र नामक कुल-पर्वत से निकली हुई एक नदी का नाम।

वृत्रतूर्य-संज्ञा पुं० [सं०] युद्ध। लड़ाई।

वृत्रत्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वृत्र का भाव या धर्म। (२) शत्रुता। दुश्मनी।

वृत्रनाशन-संज्ञा पुं० [सं०] वृत्र नामक असुर को मारनेवाले, इंद्र।

वृत्रभोजन-संज्ञा पुं० [सं०] गंडीर या गुँदरी नामक साग।

वृत्रवैरी-संज्ञा पुं० [सं०] वृत्रवैरिन् वृत्र को मारनेवाले, इंद्र।

वृत्रशंकु-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पत्थर का खंभा। (वैदिक)

वृत्रशत्रु-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

वृत्रहा-संज्ञा पुं० [सं०] वृत्रासुर को मारनेवाले, इंद्र।

वृत्रारि-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

वृत्रासुर-संज्ञा पुं० दे “वृत्र” (४)।

वृथा-वि० [सं०] बिना मतलब का। निष्प्रयोजन। व्यर्थ। फज़ूल।

क्रि० वि० बिना मतलब के। बेफ़ायदा।

वृथात्व-संज्ञा पुं० [सं०] वृथा होने का भाव या धर्म।

वृथामांस-संज्ञा पुं० [सं०] वह मांस जो किसी देवी या देवता को चढ़ाया गया हो। ऐसा मांस खाने का निषेध है।

वृद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनुष्य की तीन अवस्थाओं में से एक अवस्था जो युवावस्था के उपरांत और सब के अंत में आती है। यह अवस्था प्रायः ६० वर्ष के उपरांत आती है। इसमें मनुष्य दुर्बल और क्षीण हो जाता है, उसके सब अंग शिथिल हो जाते हैं, शरीर की धातुएँ तथा इंद्रियाँ आदि भी बराबर क्षीण होती जाती हैं, और इसके अंत में मृत्यु आ जाती है। बुढ़ापा। जरा। (२) वह जो इस अवस्था में पहुँच गया हो। बुढ़ा। (३) पंडित। विद्वान्। (४) शैलज नामक गंधद्रव्य। (५) वृद्धावस्था।

वृद्धकंट-संज्ञा पुं० [सं०] इंगुदी का पेड़।

वृद्धकाक-संज्ञा पुं० [सं०] द्रोण काक। पहाड़ी कौवा।

वृद्धकावेरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम।

वृद्धकृच्छ्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कृच्छ्र रोग।

वृद्धकेशव-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार सूर्य की एक मूर्ति का नाम।

वृद्धगंगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] हिमालय की एक छोटी नदी का नाम।

वृद्धगोनस-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का साँप ।

वृद्धता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वृद्ध का भाव या धर्म । बुढ़ापा । (२) पांडित्य ।

वृद्धतिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाठा । पाढ़ा ।

वृद्धत्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वृद्ध होने का भाव या धर्म । बुढ़ापा । (२) पांडित्य ।

वृद्धशर-संज्ञा पुं० दे० "वृद्धदारक" ।

वृद्धदारक-संज्ञा पुं० [सं०] विधारा नामक क्षुप ।

वृद्धद्युम्न-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम ।

वृद्धधूप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिरिस का पेड़ । (२) सरल का वृक्ष ।

वृद्धधूमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] लिसोड़ा ।

वृद्धनाभि-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसकी तोंद आगे को निकली हो । तोंदल ।

वृद्धपराशर-संज्ञा पुं० [सं०] एक धर्मशास्त्रकार का नाम ।

वृद्धप्रपितामह-संज्ञा पुं० [सं०] दादा का दादा । परदादा का पिता ।

वृद्धवत्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ककही या कंघी नामक पेड़ । (२) महाबला ।

वृद्धवृहस्पति-संज्ञा पुं० [सं०] एक धर्मशास्त्रकार का नाम ।

वृद्धबौधायन-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन धर्मशास्त्रकार का नाम ।

वृद्धमनु-संज्ञा पुं० [सं०] एक धर्मशास्त्रकार का नाम ।

वृद्धयाज्ञवल्क्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक धर्मशास्त्रकार का नाम ।

वृद्धयुवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुटनी । (२) धात्री । दाई ।

वृद्धराज-संज्ञा पुं० [सं०] अमलबेत ।

वृद्धवशिष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] एक धर्मशास्त्रकार का नाम ।

वृद्धवासिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गीदड़ ।

वृद्धवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] आम का पेड़ ।

वृद्धविभीतक-संज्ञा पुं० [सं०] अमड़ा ।

वृद्धविष्णु-संज्ञा पुं० [सं०] एक धर्मशास्त्रकार का नाम ।

वृद्धशाकल्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम ।

वृद्धश्रवा-संज्ञा पुं० [सं० वृद्धश्रवस्] इन्द्र ।

वृद्धश्रावक-संज्ञा पुं० [सं०] कापालिक ।

वृद्धसूचक-संज्ञा पुं० [सं०] कपास ।

वृद्धहारीत-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन धर्मशास्त्रकार का नाम ।

वृद्धांगुलि-संज्ञा स्त्री० [सं०] अँगूठा ।

वृद्धांत-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो सम्मान या प्रतिष्ठा करने योग्य हो । आदरणीय ।

वृद्धा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह स्त्री जो अवस्था में वृद्ध हो गई हो । बुढ़ी । (२) अँगूठा । (३) महाश्रावणिका ।

वृद्धाचल-संज्ञा पुं० [सं०] मदरास प्रांत के एक तीर्थ का नाम ।

वृद्धात्रि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम ।

वृद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बढ़ने या अधिक होने की क्रिया या भाव । बढ़ती । ज्यादाती । अधिकता । जैसे,—धन-धान्य की वृद्धि, संतान की वृद्धि, यज्ञ की वृद्धि । (२) व्याज । सूद । (३) वह अशौच जो घर में सन्तान उत्पन्न होने पर होता है । (४) अम्युद्ध । समृद्धि । (५) एक प्रसिद्ध लता जो अष्टवर्ग के अंतर्गत मानी गई है । कहते हैं कि यह कोश-यामल देश में कोशल पर्वत पर पाई जाती है । इसके कंद पर सफेद रोएँ और कहीं कहीं छेद होते हैं । इसका फल कपास की गाँठ के समान होता है, जो लता में दाहिनी ओर निकलता है । आजकल यह ओषधि नहीं मिलती । वैद्यक में यह मधुर, शीतल, वीर्यवर्द्धक, गर्भ धारण करानेवाली और रक्त-पित्त, खाँसी तथा क्षय रोग को नष्ट करनेवाली मानी गई है ।

पर्याय—योग्या । ऋद्धि । सिद्धि । लक्ष्मी । पुष्टि । वृद्धि-दात्री । मंगल्या । श्री । सम्पद् । जनेष्टा । भूति । सुख । जीवभद्रा ।

(६) राजनीति में कृषि, वाणिज्य, दुर्ग, सेतु, कुंजरबंधन, कन्याकर, वलादान और सैन्यसन्निवेश इन आठो वर्गों का उपचय । वर्द्धन । स्फाति । (७) फलित ज्योतिषमें विष्कंभ आदि २७ योगों के अंतर्गत ग्यारहवाँ योग । कहते हैं कि इस योग में जन्म लेनेवाला व्यक्ति विनयी, धन का अच्छा उप-योग करनेवाला और माल खरीदने तथा बेचने में बहुत चतुर होता है ।

वृद्धिकर्म-संज्ञा पुं० [सं०] नांदीमुख श्राद्ध । वृद्धि-श्राद्ध ।

वृद्धिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ऋद्धि नाम की ओषधि । (२) सफेद अपराजिता । (३) अर्कपुष्पी ।

वृद्धिजीवक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो वृद्धि या व्याज से अपना निर्वाह करता हो । सूद से अपना निर्वाह करनेवाला ।

वृद्धिद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जीवक नामक क्षुप । (२) शूकरकंद । वि० वृद्धि देनेवाला ।

वृद्धिपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का शस्त्र जो सात अंगुल का होता था और जिसका व्यवहार चीर फाड़ में छेदने आदि के लिये होता था । इसका आकार प्रायः छुरे के समान होता था ।

वृद्धियोग-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष के सत्ताहस योगों में से एक योग ।

वृद्धिश्राद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] नांदीमुख नाम का श्राद्ध । वि० दे० "नांदीमुख" ।

वधसानु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुरुष । आदमी । (२) कृति । काम ।

वधु-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक सूत्रकार जिससे भर-द्वाज मुनि को बहुत सी गौएँ मिली थीं ।

वृष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अहसा । (२) चूहा ।

संज्ञा पुं० दे० “वृष” ।

वृषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की ओषधि ।

वृश्चन-संज्ञा पुं० [सं०] वृश्चिक । बिच्छू ।

वृश्चिक-संज्ञा पुं० [सं०] लाल गदहपूरना ।

वृश्चिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिच्छू नामक प्रसिद्ध कीड़ा जिसके डंक में बहुत तेज ज़हर होता है । वि० दे० “बिच्छू” । (२) गोबर में उत्पन्न होनेवाला कीड़ा । शूककीट । (३) पुनर्नवा । गदहपूरना । (४) मदन वृक्ष । मैनफल । (५) वृश्चिकाली या बिच्छू नाम की लता । (६) ज्योतिष में मेष आदि बारह राशियों में से आठवीं राशि जिस के सब तारों से प्रायः बिच्छू का सा आकार बनता है । विद्यासा नक्षत्र के अंतिम पाद से आरंभ होकर अनुराधा और ज्येष्ठा नक्षत्रों के स्थितिकाल तक यह राशि मानी जाती है । भारतीय फलित ज्योतिष के अनुसार यह राशि शीर्षोदय, श्वेतकर्ण, कफ प्रकृति, जलचर, उत्तर दिशा की अधिपति और अनेक पुत्रों तथा स्त्रियों से युक्त मानी गई है । कहते हैं कि इस राशि में जन्म लेनेवाला मनुष्य धन जन से युक्त, भाग्यवान्, खल, राजसेवा करनेवाला, सदा दूसरों के धन की अभिलाषा करनेवाला, उत्साही और वीर होता है ।

पृथ्वी—सौम्य । अंगना । युग्म । सम । स्थिर । पुष्कर । सरीसृपजाति । ग्राम्य ।

(७) फलित ज्योतिष के अनुसार मेष आदि बारह लक्षों में से आठवाँ लक्ष जो वृश्चिक राशि के उदय के समय माना जाता है । कहते हैं कि जो बालक इस लक्ष में जन्म लेता है, वह बहुत मोटा ताज़ा, खर्चीला, कुटिल, माता-पिता के लिये अनिष्टकर, गंभीर और स्थिर प्रकृतिवाला, उग्र स्वभाव का, विश्वासी, हँसमुख, साहसी, गुरु और मित्रों से शत्रुता रखनेवाला, राजसेवा करनेवाला, दुःखी, दाता, नीचप्रकृति और पित्त-रोगी होता है । (८) अगहन मास जिसमें प्रायः सूर्योदय के समय वृश्चिक राशि का उदय होता है ।

वृश्चिकपत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पोई नाम का साग ।

वृश्चिकप्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] पोई नाम का साग ।

वृश्चिकर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूसाकानी । आलुकर्णी ।

वृश्चिकविषापहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नकुलकंद । (२) रास्ना ।

वृश्चिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बिछुआ या बिच्छू नाम की घास । (२) पिठवन । (३) सफेद पुनर्नवा ।

वृश्चिकाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] बिच्छू नाम की लता जो प्रायः सारे भारत में पाई जाती और बारह मास हरी रहती है । इसके पत्ते ५-६ अंगुल लंबे, जुकीले और अंडाकार होते हैं और उन पर तथा डंडलों पर एक प्रकार के रोएँ होते हैं

जिनके जारीर में लगने से बहुत तेज जलन होती है । इसकी जड़ का प्रयोग ओषधि रूप में होता है । वैद्यक में यह कड़वी, चरपरी, बल तथा रुचि बढ़ानेवाली, तथा खोसी, श्वास और ज्वर को दूर करनेवाली मानी गई है ।

वृश्चिकेश-संज्ञा पुं० [सं०] वृश्चिक राशि के अधिष्ठाता देवता ।

वृश्चिकपत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पूतिका । पोई ।

वृश्चिकपत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वृश्चिकाली । (२) मेदासिंगी ।

वृश्चिकपर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वृश्चिकाली । (२) मेदासिंगी ।

वृश्ची-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुनर्नवा । गदहपूरना ।

वृश्चीर-संज्ञा पुं० [सं०] सफेद गदहपूरना ।

वृश्चीव-संज्ञा पुं० [सं०] गदहपूरना । पुनर्नवा ।

वृष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गौ का नर । साँड़ । (२) वामनाक्ष

के अनुसार चार प्रकार के पुरुषों में से एक प्रकार का पुरुष जो शंखिनी जाति की स्त्री के लिये उपयुक्त समझा जाता है । कहते हैं कि ऐसा पुरुष अनेक गुणों से युक्त, अनेक प्रकार के रतिबंधों का ज्ञाता, सुंदर और सत्यवादी होता है । (३) धर्म जिसके चार पैर माने जाते हैं और जो इसी कारण साँड़ के रूप में माना जाता है । (४) पुराणानुसार ग्यारहवें मन्वन्तर के इंद्र का नाम । (५) चूहा । (६) अहसा । (७) श्रीकृष्ण का एक नाम । (८) शत्रु । दुश्मन । बैरी । (९) काम । (१०) ऋषभ नामक ओषधि । (११) पति । स्वामी । (१२) गेहूँ । (१३) धमासा । (१४) नदी में होनेवाला भिलाव । (१५) ज्योतिष में मेष आदि बारह राशियों में से दूसरी राशि जिसमें कृत्तिका नक्षत्र के तीन पाद, पूरा रोहिणी नक्षत्र और मृगशिरा नक्षत्र के पहले दो पाद हैं । यह राशि श्वेत वर्ण, वात प्रकृति, वैश्य, चार पैरोंवाली और दक्षिण दिशा की स्वामिनी मानी जाती है । कहते हैं कि जो व्यक्ति इस राशि में जन्म लेता है, वह सुंदर, दाता, क्षमाशील, स्त्रैण और निर्भय होता है तथा आरंभिक अवस्था में धन, बंधु, संतति आदि से रहित और अंतिम अवस्था में इन सब बातों से सुखी रहता है । (१६) फलित ज्योतिष में मेष आदि बारह लक्षों में से दूसरा लक्ष । कहते हैं कि इस लक्ष में जन्म लेनेवाले मनुष्य के ओंठ और नाक मोटी तथा ललाट बहुत चौड़ा होता है; वह वात-श्लेष्म प्रकृति का, भाग्यवान्, खर्चीला, माता-पिता को कष्ट देनेवाला और बुरे कामों की ओर प्रवृत्ति रखनेवाला होता है । ऐसे मनुष्य को पुत्र कम और कन्याएँ अधिक होती हैं । इसकी मृत्यु किसी पशु या बलवान् व्यक्ति के द्वारा अथवा जल, शूल, पर्यटन आदि के कारण अथवा भूखों रहने से होती है ।

वृषक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साँड़ । (२) महाभारत के अनुसार गांधार के एक राजकुमार का नाम । (३) एक प्रकार का नाम । (४) अहसा । (५) ऋषभ नामक ओषधि । (६)

धमासा । दुरालभा । (७) भिलावों । (८) गेहूँ । (९) चूड़ा ।
 वृषकर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुदर्शन नाम की लता । (२) एक प्रकार का विधारा ।
 वृषका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नदी का नाम ।
 संज्ञा पुं० [सं०] शिव । महादेव ।
 वृषकेतु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव या महादेव, जिनकी ध्वजा पर बैल का चिह्न माना जाता है । (२) कर्ण के एक पुत्र का नाम । (३) लाल गदहूरना ।
 वृषक्रतु-संज्ञा पुं० [सं०] वर्षा करनेवाले, इंद्र ।
 वृषखादि-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो सोम पान करता हो ।
 वृषगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ककही या कंवी नाम का पौधा । (२) एक प्रकार का विधारा ।
 वृषगंधिका-संज्ञा स्त्री० दे० "वृषगंधा" ।
 वृषगण-संज्ञा पुं० [सं०] वैदिक ऋषियों का एक गण या समूह ।
 वृषचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में एक प्रकार का चक्र जिसमें एक बैल बनाकर उसके भिन्न भिन्न अंगों में नक्षत्र आदि रखते हैं और तब उसके द्वारा खेती संबंधी शुभाशुभ फल आदि निकालते हैं ।
 वृषण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र । (२) कर्ण । (३) विष्णु । (४) सौँड़ । (५) घोड़ा । (६) वृक्ष । (७) पीड़ा का ज्ञान या उससे होनेवाली वेदोशी । (८) अंडकोष । पोता ।
 वृषणकच्छु-संज्ञा स्त्री० [सं०] अंडकोश के आस पास होनेवाली वह फुंसियाँ आदि जो मैल और पसीने आदि के कारण हो जाती हैं और जिनमें खुजली होती है ।
 वृषणश्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रसिद्ध वैदिक राजा का नाम । (२) इंद्र के घोड़े का नाम ।
 वृषदंशक-संज्ञा पुं० [सं०] बिल्ली ।
 वृषदर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महाभारत के अनुसार कश्मीर के एक राज-कुमार का नाम । (२) पुराणानुसार शिव के एक पुत्र का नाम । (३) श्रीकृष्ण का एक नाम ।
 वृषदेवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वायुपुराण के अनुसार वसुदेव की एक स्त्री का नाम ।
 वृषद्वीप-संज्ञा पुं० [सं०] बृहत्संहिता के अनुसार एक द्वीप का नाम ।
 वृषध्वज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । महादेव । (२) गणेश । (३) पुराणानुसार एक पर्वत का नाम । (४) वह व्यक्ति जो बहुत पुण्यशील हो । पुण्यात्मा ।
 वृषध्वजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा का एक नाम ।
 वृषध्वाना-संज्ञा स्त्री० [सं०] नागरमोथा ।
 वृषध्वान्दी-संज्ञा स्त्री० दे० "वृषध्वान्दी" ।

वृषनामा-संज्ञा पुं० [सं० वृषनामन्] अडूसा ।
 वृषनाशन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विदंग । वायविदंग । (२) पुराणानुसार श्रीकृष्ण का एक नाम ।
 वृषपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । महादेव । (२) नपुंसक । हिजड़ा । षंड ।
 वृषपत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बस्तांची या छागलांची नाम की ओषधि जो विधारा का एक भेद है ।
 वृषपर्णिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] भारंगी । ब्राह्मणयष्टिका ।
 वृषपर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मूसाकानी । आलुपर्णी । (२) उटुवरपर्णी । दंती । (३) सुदर्शना नाम की लता ।
 वृषपर्व-संज्ञा पुं० [सं० वृषपर्वन्] (१) शिव । महादेव । (२) महाभारत के अनुसार एक दैत्य का नाम । (३) विष्णु का एक नाम । (४) कसेरू । (५) एक प्रकार का तृण । (६) भैंगरा ।
 वृषप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।
 वृषभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बैल या सौँड़ । (२) साहित्य में वैदर्भी रीति का एक भेद । (३) कान का छेद । (४) ऋषभ नाम की ओषधि । (५) कामशास्त्र के अनुसार चार प्रकार के पुरुषों में श्रेष्ठ पुरुष जो शंखिनी जाति की स्त्री के लिये उपयुक्त कहा गया है । (६) सूर्य की वीथियों में से एक वीथी का नाम । (७) एक प्राचीन तीर्थ का नाम । (८) श्रीकृष्ण के एक सखा का नाम । (९) एक यूथपति बंदर का नाम जो राम-रावण युद्ध में लड़ा था ।
 वृषभकेतु-संज्ञा पुं० [सं०] शिव का एक नाम ।
 वृषभगति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । महादेव । (२) वह सवारी जो बैल के द्वारा खींची जाती हो ।
 वृषभतीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन तीर्थ का नाम ।
 वृषभत्व-संज्ञा पुं० [सं०] वृषभ होने का भाव या धर्म ।
 वृषभता ।
 वृषभधुजल-संज्ञा पुं० दे० "वृषभध्वज" ।
 वृषभध्वज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । महादेव । (२) एक प्राचीन पर्वत का नाम ।
 वृषभध्वजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी दंती । बैंगडेर ।
 वृषभपल्लव-संज्ञा पुं० [सं०] अडूसा ।
 वृषभधी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सूर्य की वीथियों में से एक वीथी का नाम ।
 वृषभार्क-संज्ञा पुं० [सं०] शिव । महादेव ।
 वृषभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन नदी का नाम ।
 वृषभाक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।
 वृषभाक्षी-संज्ञा स्त्री० [सं०] इंद्रवाहणी लता । इनारू ।
 वृषभान-संज्ञा पुं० दे० "वृषभानु" ।

वृषभानु-संज्ञा पुं० [सं०] श्री राधिकाजी के पिता का नाम जो पुराणानुसार नारायण के अंश से उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम सुरभानु और माता का नाम पद्मावती था। ये गोकुल के बड़े सरदार थे और पहले रावल ग्राम में रहते थे, जहाँ राधिका का जन्म हुआ था। पर अंत में कंस के उपद्रव के कारण वहाँ से बरसाने में जा बसे थे।

विशेष—इस शब्द के साथ “कन्या” या उसका पर्यायवाची शब्द लगाने से उसका “राधिका” अर्थ होता है।

जैसे,—वृषभानुसुता, वृषभानुनंदिनी।

वृषभानुनंदिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] राधिका।

वृषभानुसुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] वृषभानु की कन्या, श्रीराधिका।

वृषभासा-संज्ञा स्त्री० [सं०] इंद्र की पुरी अमरावती का एक नाम।

वृषभेक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

वृषभूल-संज्ञा पुं० [सं०] भूसे की जड़।

वृषय-संज्ञा पुं० [सं०] आश्रय।

वृषरवि-संज्ञा पुं० दे० “वृषभानु”।

वृषरुद्र-संज्ञा पुं० [सं० वृषरुद्रन्] शिव। महादेव।

वृषल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शूद्र। (२) वह जिसे धर्म आदि का कुछ भी ध्यान न हो। पाप और दुष्कर्म करनेवाला। (३) बौद्ध। (४) सम्राट् चंद्रगुप्त का एक नाम। (५) गाजर। (६) शलगम।

वृषलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] वृषल होने का धर्म या भाव। वृषलपन।

वृषलांछन-संज्ञा पुं० [सं०] शिव। महादेव।

वृषली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्मृतियों आदि के अनुसार वह कन्या जो रजस्वला तो हो गई हो, पर जिसका अभी विवाह न हुआ हो। कहते हैं कि ऐसी कन्या का पिता बड़ा पातकी होता है और उसे उस कन्या की भ्रूणहत्या करने का पाप लगता है। (२) वह स्त्री जो अपने पति को छोड़कर पर-पुरुष से प्रेम करती हो। (३) शूद्र जाति की स्त्री। वृषल की स्त्री। (४) वह स्त्री जो पाप या दुष्कर्म करती हो। (५) नीच जाति की स्त्री। (६) वह स्त्री जो मासिक धर्म से हो। रजस्वला स्त्री। (७) वह स्त्री जो मरी हुई संतान उत्पन्न करती हो।

वृषलीपति-संज्ञा पुं० [सं०] वह पुरुष जिसने ऐसी कन्या के साथ विवाह किया हो जो विवाह से पहले ही रजस्वला हो चुकी हो। वृषली का पति। (कहते हैं कि ऐसे पुरुष को श्राद्ध आदि करने का अधिकार नहीं होता।)

वृषलोचन-संज्ञा पुं० [सं०] चूहा। मूसा।

वृषवत्-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम।

वृषवासी-संज्ञा पुं० [सं० वृषवासिन्] केरल देश के वृष पर्वत पर

बसनेवाले, शिवजी। उ०—इनके घर लेहो अवतारा।

वृषवासी हर हृदय विचारा।—शंकर दि०।

वृषवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] शिव। महादेव।

वृषवीभत्स-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की कौँछ या केवौँच।

वृषवृष-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम।

वृषशत्रु-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

वृषशिर-संज्ञा पुं० [सं०] वैदिक काल के एक असुर का नाम।

वृषशील-संज्ञा पुं० दे० “वृषल”।

वृषशुष्म-संज्ञा पुं० [सं०] वैदिक काल के एक ऋषि का नाम जो जनुर्गर्ग के पोते थे।

वृषपंड-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रवर-कार ऋषि का नाम।

वृषसव-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसने यज्ञ करने के लिये मंगल-स्नान किया हो।

वृषसार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सफेद बड़। (२) देवकुंभी। बड़ा गूमा।

वृषसाह्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नदी का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है।

वृषसृक्की-संज्ञा पुं० [सं० वृषसृक्किन्] भीमरोल या भृंगरोल नाम का कीड़ा।

वृषसेन-संज्ञा पुं० [सं०] भागवत के अनुसार कर्ण के एक पुत्र का नाम।

वृषस्कंध-संज्ञा पुं० [सं०] शिव। महादेव।

वृषांक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। महादेव। (२) साधु। धर्मात्मा। (३) जल में होनेवाला भिलावाँ। (४) नपुंसक। हिजड़ा। (५) मोर।

वृषांकज-संज्ञा पुं० [सं०] डमरू।

वृषांचन-संज्ञा पुं० [सं०] शिव। महादेव।

वृषांड-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक असुर का नाम।

वृषांतक-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

वृषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मूसाकानी। आलुपर्णी। (२) केवौँच। कौँछ। (३) उदुंबरपर्णी। दंती। (४) बड़ी दंती। (५) असगंध। (६) मालकंगनी। (७) गौ।

वृषाकपायी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जीवंती। डोही। (२) शतावर। (३) लक्ष्मी। (४) गौरी। (५) इंद्र की पत्नी, शची।

वृषाकपि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) विष्णु। (३) अग्नि। (४) इंद्र। (५) सूर्य।

वृषाकर-संज्ञा पुं० [सं०] उड़द। माष।

वृषाकृति-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

वृषाक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

वृषाणक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। महादेव। (२) शिव के एक अनुचर का नाम।

वृषाणी-संज्ञा पुं० [सं० वृषाणि] ऋषभक नाम की ओषधि जो अष्टवर्ग में है।

वृषादनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] इंद्रवारुणी। इमार।

वृषादर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] भागवत के अनुसार शिवि के एक पुत्र का नाम।

वृषादित्य-संज्ञा पुं० [सं०] वृष राशि के सूर्य। ज्येष्ठ मास की संक्रांति के सूर्य।

वृषाद्रि-संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्वत का नाम जो डेरल देश में है।

वृषायण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। महादेव। (२) चटक या गौरैया नामक पक्षी।

वृषारणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंगा का एक नाम।

वृषारव-संज्ञा पुं० [सं०] वे जंतु जिनकी बोली बहुत कर्कश हो। जैसे,—शिल्ली, मेढक आदि।

वृषाशील-संज्ञा पुं० दे० "वृषल"।

वृषाश्रिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंगा का एक नाम।

वृषासुर-संज्ञा पुं० [सं०] भस्मासुर दैत्य का एक नाम जिसने शिव से वर पाकर शिव ही को भस्म करके पार्वती को लेना चाहा था। वृकासुर। वि० दे० "भस्मासुर"।

वृषाहार-संज्ञा पुं० [सं०] चूहों को खानेवाली, बिल्ली।

वृषाही-संज्ञा पुं० [सं० वृषाहिन्] विष्णु।

वृषी-संज्ञा पुं० [सं० वृषिन्] मोर।

वृषेद्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साँड़। (२) बैल।

वृषोत्सर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्रकार का धार्मिक कृत्य जिसमें लोग अपने मृत पिता आदि के नाम पर साँड़ पर चक्र दागकर उसे छोड़ देते हैं। ऐसे छोड़े हुए साँड़ों से किसी प्रकार का काम नहीं लिया जाता। कहते हैं कि जिन पितरों के नाम पर साँड़ छोड़े जाते हैं, वे स्वर्ग पहुँच जाते हैं। अशौच समाप्त होने के दूसरे दिन यह कृत्य करने का विधान है।

वृषोत्साह-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु का एक नाम।

वृषोदर-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

वृष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार कुकुर के एक पुत्र का नाम।

वृष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आकाश से जल बरसना। वर्षा। बारिश। मेह। (२) ऊपर से बहुत सी चीजों का एक साथ गिरना या गिराया जाना। जैसे,—पुष्पवृष्टि। (३) किसी क्रिया का कुछ समय तक लगातार होना। जैसे,—उनके बैठते ही चारों ओर से उन पर कटु वचनों की वृष्टि होने लगी।

वृष्टिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] शणपुष्पी। बनसनई।

वृष्टिघ्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटी इलायची।

वृष्टिजीवन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह देश जहाँ की खेतीबारी केवल वर्षा पर ही निर्भर हो। (२) चातक पक्षी।

वृष्टिभू-संज्ञा पुं० [सं०] मेढक।

वृष्टिमान-संज्ञा पुं० [सं०] वह यंत्र जिसके द्वारा यह जाना जाता है कि कितनी वृष्टि हुई। यह एक छोटा सा लंबा नल होता है, जिसमें वर्षा का जल भरता है। उसी जल की ऊँचाई इंचों आदि से नापकर निश्चय किया जाता है कि अमुक समय में इतने इंच वर्षा हुई।

वृष्टिवैकृत-संज्ञा पुं० [सं०] बृहत्संहिता के अनुसार बहुत अधिक वृष्टि होना या बिलकुल वृष्टि न होना, जो उपद्रव आदि का सूचक समझा जाता है।

वृष्ण-संज्ञा पुं० [सं०] वैदिक काल के एक प्राचीन ऋषि का नाम।

वृष्णि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ। बादल। (२) यादव वंश। उ०—वृष्णि कुल कुमुद राकेश राधारमन कंस बंसाटवी धूमकेतू।—तुलसी। (३) श्रीकृष्ण। (४) इंद्र। (५) अग्नि। (६) वायु। (७) उद्योति। (८) गौ। (९) मेढ़ा। वि० (१) प्रचंड। उग्र। तेज। (२) पामर। नीच।

वृष्णिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

वृष्णिकगर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

वृष्ण्य-संज्ञा पुं० [सं०] वीर्य।

वृष्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह चीज जिससे वीर्य और बल बढ़ता हो। (२) वह चीज जिसके सेवन से मन में आनंद उत्पन्न होता हो। (३) ईख। ऊख। (४) उड़द की दाल। (५) ऋषभ नामक ओषधि। (६) आँवला। (७) कमल की नाल। मृणाल।

वृष्यकंदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बिदारी कंद। (२) मूली।

वृष्यगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वृद्धदारक। बिधारा। (२) बस्तांची नाम की लता। (३) ककड़ी। अतिबला।

वृष्यगंधिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] ककड़ी। अतिबला।

वृष्यचंडी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूसाकानी। आलुकर्णी।

वृष्यपर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] विदारीकंद। भुईँ-कुम्हड़ा।

वृष्यफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] आँवला।

वृष्यवहिला-संज्ञा स्त्री० [सं०] विदारी कंद। भुईँकुम्हड़ा।

वृष्यवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] विदारीकंद।

वृष्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अष्टवर्ग की ऋद्धि नामक ओषधि। (२) शतावर। (३) आँवला। (४) केवौंच। कौंड। (५) भुईँ-आँवला। (६) विदारीकंद। (७) ककड़ी। अतिबला। (८) बड़ी दंती। बैंगड़ेरा।

वृहच्चु-संज्ञा पुं० [सं०] महाचंचु नामक साग।

वृहच्छक्रमेद-संज्ञा पुं० [सं०] जयंती। जैत।

वृहच्छित्त-संज्ञा पुं० [सं०] बिजौरा नीबू।

वृहच्छुद-संज्ञा पुं० [सं०] अखरोट।

वृहच्छुफरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सफरी नाम की मछली।

वृहच्छुल्क-संज्ञा पुं० [सं०] सिगावा नाम की मछली।

बृहच्छालपर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] महाशालपर्णी । बड़ी सरिवन ।

बृहच्छिबी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सेम ।

बृहज्जीरक-संज्ञा पुं० [सं०] मँगरैला ।

बृहज्जीवन्ती-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी जीवन्ती ।

बृहज्जीवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी जीवन्ती ।

बृहत्तिका-संज्ञा स्त्री० दे० "बृहती" ।

बृहती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कंटकारी । छोटी कटाई । (२) बनभंटा । बड़ी कटाई । (३) बैंगन । (४) वैद्यक के अनुसार एक मर्मस्थान जो छातिथी के ठीक पीछे पीठ में दोनों ओर होता है । इस मर्मस्थान पर आघात लगने से बहुत अधिक रक्त निकलता है और प्रायः मनुष्य मर जाता है । (५) विश्वावसु नामक गंधर्व की वीणा का नाम । (६) वाक्य । (७) एक प्रकार का छंद जिसके प्रत्येक चरण में भगण, मगण और सगण होता है । जैसे,—भाव सुपूजा कारज जू । प्रातः गई सीता सरजू । कण्ठमणी मध्ये सु जला । दूट परीं खोजै अबला ।—काव्यप्रभाकर ।

बृहतीपति-संज्ञा पुं० [सं०] बृहस्पति ।

बृहतीफल-संज्ञा पुं० [सं०] बनभंटा ।

बृहत्-वि० [सं०] बड़ा । भारी । महान् । जैसे,—भापने यह बहुत बृहत् कार्य उठाया है ।

बृहत्कंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णुकंद । (२) गाजर ।

बृहत्कालशक-संज्ञा पुं० [सं०] महाकासमर्द नाम का क्षुर । कसौदी ।

बृहत्काश-संज्ञा पुं० [सं०] उलूक नाम का तृण । खगड़ा ।

बृहत्कुक्षि-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसका पेट आगे की ओर निकला हो । तोंदल ।

बृहत्कोशानकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] ननुआँ । तरौई ।

बृहत्खर्जूरिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] छुहारा ।

बृहत्ताल-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीताल या हिंताल नाम का वृक्ष ।

बृहत्तित-संज्ञा पुं० [सं०] छोटा पाठा ।

बृहत्तिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाठा । पाढ़ा ।

बृहत्तृण-संज्ञा पुं० [सं०] बोंस ।

बृहत्त्वक्-संज्ञा पुं० [सं०] सप्तपर्ण या सतिवन नामक वृक्ष ।

बृहत्त्वच-संज्ञा पुं० [सं०] नीम का पेड़ ।

बृहत्पंचमूल-संज्ञा पुं० [सं०] बेल, सोनापाठा, गंभारी, पाँडर, और गनियारी इन पाँचों का समूह ।

बृहत्पत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथीकंद । (२) पठानी लोध । (३) बथुआ नाम का साग ।

बृहत्पत्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) त्रिपर्णी कंद । (२) कासमर्द । कसौदी ।

बृहत्पत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] त्रिपर्णी कंद ।

बृहत्पर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] पठानी लोध ।

बृहत्पर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] महाशणपुष्पी । बड़ी बनसनई ।

बृहत्पाटली-संज्ञा स्त्री० [सं०] धत्रा ।

बृहत्पाद-संज्ञा पुं० [सं०] बट का वृक्ष । बरगद ।

बृहत्पारेवत-संज्ञा पुं० [सं०] बड़ा पारेवत वृक्ष ।

बृहत्पाली-संज्ञा पुं० [सं० वृहत्पालिन्] बन-जीरक । काली जीरी ।

बृहत्पीलु-संज्ञा पुं० [सं०] महापीलु नामक वृक्ष । पहाड़ी अल-रोट ।

बृहत्पुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) केला । (२) सफेद कुम्हड़ा । पेठा ।

बृहत्पुष्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] शणपुष्पी । बन-सनई ।

बृहत्पुष्पी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सन । सनई ।

बृहत्फल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुम्हड़ा । (२) कटहल । (३) जामुन । (४) चिचड़ा ।

बृहत्फला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कद्दू । लौकी । (२) कड़वी लौकी । (३) महेन्द्रवारणी । इनारन । (४) बड़ा जामुन । (५) सफेद कुम्हड़ा । पेठा ।

बृहद्ग-संज्ञा पुं० [सं०] हाथी ।

बृहद्ग-संज्ञा पुं० [सं०] कमरख का पेड़ ।

बृहद्देला-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी इलायची ।

बृहद्गृह-संज्ञा पुं० [सं०] बृहद्गृह या कारुष नामक प्राचीन देश ।

बृहद्गृह-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल के एक देश का नाम जो विंध्य पर्वत के पश्चिम में मालव देश के पास था । कारुष देश ।

बृहद्गोल-संज्ञा पुं० [सं०] तरबून ।

बृहद्दन्ती-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी दन्ती । द्रवन्ती ।

बृहद्दल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पठानी लोध । (२) सप्तपर्ण । सतिवन । (३) श्रीताल या हिंताल नामक वृक्ष । (४) लाल लहसुन । (५) लजालू । लजावन्ती ।

बृहद्दला-संज्ञा स्त्री० [सं०] लजावन्ती । लजालू ।

बृहद्द्राणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] द्रोण नामक परिमाण ।

बृहद्द्वान्य-संज्ञा पुं० [सं०] यावनाल । ज्वार ।

बृहद्द्वदर-संज्ञा पुं० [सं०] बड़ा बेर ।

बृहद्द्वला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पीतपुष्पा । सहदेई । (२) पठानी लोध । (३) लजालू । लजावन्ती ।

बृहद्द्वीज-संज्ञा पुं० [सं०] आभ्रातक । अमड़ा ।

बृहद्भंडी-संज्ञा स्त्री० [सं०] त्रायमाणा नाम की लता ।

बृहद्भट्टारिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा का एक नाम ।

बृहद्भानु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि । (२) सूर्य । (३) भागवत के अनुसार सत्यभामा के एक पुत्र का नाम । (४) चित्रक । चीता ।

बृहद्भ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र । (२) यज्ञपात्र । (३) साम-

वेद के एक अंग का नाम । (४) भागवत के अनुसार शत-धन्वा के एक पुत्र नाम । (५) देवरात के एक पुत्र का नाम । (६) एक प्रकार का मंत्र ।

वि० [श्री० वृहद्रथ] जिसके पास बहुत से रथ हों ।

वृहद्रथ-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नदी का नाम ।

वृहद्रथ-संज्ञा पुं० [सं०] उल्लू पक्षी ।

वृहद्रथ-संज्ञा पुं० [सं०] सोनामक्खी ।

वृहद्रथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पशुनी लोभ ।

(२) सप्तपर्ण । सतिवन ।

वृहद्रथ-संज्ञा स्त्री० [सं०] करेला ।

वृहद्रथ-संज्ञा पुं० [सं०] देवधान्य । पुनेरा ।

वृहद्रथ-संज्ञा स्त्री० [सं०] महेंद्रवारुणी । इनारु ।

वृहद्रथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाहु । बाँह । (२) अर्जुन ।

वृहद्रथ-संज्ञा स्त्री० [सं०] अर्जुन का उस समय का नाम जब

वे वनवास के उपरान्त अज्ञातवास के समय राजा विराट के

यहाँ श्री के वेष में रहकर उसकी कन्या को नाच गाना

सिखाते थे ।

वृहद्रथ-संज्ञा पुं० [सं०] नरसल । नरकट ।

वृहद्रथ-संज्ञा पुं० [सं०] महानिब । बकायन ।

वृहद्रथ-संज्ञा पुं० [सं०] गोल मिर्च ।

वृहद्रथ-संज्ञा स्त्री० [सं०] कुलफा नामक साग ।

वृहद्रथ-संज्ञा पुं० दे० "वृहस्पति" ।

वृहद्रथ-संज्ञा पुं० [सं०] साठी धान्य ।

वृहद्रथ-संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण भारत के एक पर्वत का नाम ।

वृहद्रथ-संज्ञा पुं० दे० "वृहद्रथ" ।

वृहद्रथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार की मछली । भाकुर ।

(२) युवक । जवान । (३) विदूषक । मसखरा । (४) जौहरी ।

वृहद्रथ-संज्ञा पुं० [सं०] अच्छी तरह ढूँढना या देखना ।

वृहद्रथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रवाह । बहाव । (२) शरीर में से

मल मूत्र आदि निकलने की प्रवृत्ति । (३) किसी ओर

प्रवृत्त होने का जोर । तेजी । (४) शीघ्रता । जल्दी । (५)

आनंद । प्रसन्नता । खुशी । (६) कोई काम करने की इच्छा

प्रतिज्ञा या पक्का निश्चय । (७) उद्योग । उद्यम । (८) प्रवृत्ति ।

हुकाव । (९) वृद्धि । बढ़ती । (१०) महा उद्योतिष्मती ।

(११) लाल इनारु । (१२) झुक । वीर्य । (१३) न्याय

के अनुसार चौबीस गुणों में से एक गुण जो आकाश, जल,

तेज, वायु और मन में पाया जाता है । संसार में जो कुछ

गति देखी जाती है, वह इसी गुण के कारण होती है और

उक्त पाँचों में से किसी न किसी के द्वारा होती है ।

वृहद्रथ-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेगपूर्वक चलनेवाली, नदी ।

वेगदर्शी-संज्ञा पुं० [सं० वेगदर्शिन] रामायण के अनुसार एक बंदर का नाम ।

वेगधारण-संज्ञा पुं० [सं०] मल, मूत्र या शरीर के इसी प्रकार के और किसी वेग को रोकना जो स्वास्थ्य के लिये हानि-कारक होता है ।

वेगनाशन-संज्ञा पुं० [सं०] बलेमा । कफ । (कहते हैं कि शरीर से निकलनेवाला मल आदि इसी के कारण कुछ रुकता है; इसी लिये इसका यह नाम पड़ा है ।)

वेगनिरोध-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर के मल-मूत्र आदि वेगों को रोकना । वेगधारण ।

वेगरोग-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर के मल-मूत्र आदि वेगों को रोकना । वेगधारण ।

वेगवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] दक्षिण भारत की एक नदी का नाम ।

वेगवान्-वि० [सं०] वेगपूर्वक चलनेवाला । तेज चलनेवाला ।

संज्ञा पुं० विष्णु ।

वेगवाहिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गंगा । (२) पुराणानुसार एक प्राचीन नदी का नाम ।

वेगविधात-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर से निकलते हुए मल-मूत्र आदि वेगों को सहसा रोक लेना जो स्वास्थ्य के लिये हानि-कारक समझा जाता है ।

वेगसर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तेज चलनेवाला घोड़ा । (२) खच्चर ।

वेगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी मालकौंगनी । महाउद्योतिष्मती ।

वेगित-वि० [सं०] जिसमें वेग हो । वेग-युक्त ।

वेगिहिरण-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकरी मृग ।

वेगी-संज्ञा पुं० [सं० वेगिन] (१) वह जिसमें बहुत अधिक वेग हो । (२) बाज नाम का पक्षी ।

वेगाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] सोमराजी ।

वेग-संज्ञा पुं० [सं०] स्वाहा ।

विशेष—वैदिक काल में यज्ञों आदि में स्वाहा के स्थान में वेद शब्द का व्यवहार होता था ।

वेगचंदन-संज्ञा पुं० [सं०] मलयागिरि चंदन ।

वेगमिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह रोटी या कचौड़ी जिसमें उड़द की पीठी भरी हो । वेदई ।

वेण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनु के अनुसार एक प्राचीन वर्ण-संकर जाति जिसकी उत्पत्ति वैदेहक माता और अंबष्ठ पिता से मानी गई है । (२) सूर्यवंशी राजा पृथु के पिता का नाम ।

वेणयोनि-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की लता ।

वेणवी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसके पास वेणु हो । (२) शिव का एक नाम ।

वेणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रामायण के अनुसार एक प्राचीन

नदी का नाम जिसे पर्णाक्षा भी कहते हैं । (१) उशीर । खस ।

वेणि-संज्ञा स्त्री० [सं०] देवदाली । बंदाल ।

वेणिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महाभारत के अनुसार एक प्राचीन जनपद का नाम । (२) इस देश का निवासी ।

वेणिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्त्रियों के बालों की गूथी हुई चोटी । वेणी ।

वेणिवेधनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] जोंक ।

वेणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्त्रियों के बालों की गूथी हुई चोटी । (२) जल का प्रवाह । पानी का बहाव । (३) भीड़-भाड़ । (४) देवदाली । (५) एक प्राचीन नदी का नाम । (६) भेड़ । (७) देवताड़ ।

वेणीग-संज्ञा पुं० [सं०] खस । उशीर ।

वेणीफल-संज्ञा पुं० [सं०] देवदाली का फल ।

वेणीमूल-संज्ञा पुं० [सं०] खस । उशीर ।

वेणीमूलक-संज्ञा पुं० [सं०] उशीर । खस ।

वेणीर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीम का पेड़ । (२) रीठा ।

वेणीस्कंध-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक नाग का नाम ।

वेणु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाँस । (२) बाँस की बनी हुई वंशी । (३) दे० "वेण" ।

वेणुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह लकड़ी या छड़ी जिससे गौओं, बैलों आदि को हाँकते हैं । (२) अंकुश । आँकुस । (३) छोटी वंशी । बाँसुरी । (४) इलायची ।

वेणुकर्कर-संज्ञा पुं० [सं०] कनेर का पेड़ ।

वेणुका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बाँसुरी । वंशी । (२) एक प्रकार का वृक्ष जिसका फल बहुत जहरीला होता है । (३) हाथी को चलाने का प्राचीन काल का एक प्रकार का दंड जिसमें बाँस का दस्ता लगा होता था ।

वेणुकार-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बाँस से बाँसुरी बनाता हो । वंशी बनानेवाला ।

वेणुकीय-वि० [सं०] वेणु संबंधी । वेणु का ।

वेणुग्रन्थ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की ओषधि ।

वेणुजंघ-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन मुनि का नाम ।

वेणुज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह चीज जो बाँस से उत्पन्न हुई हो । (२) बाँस के फूल में होनेवाले दाने, जो चावल कहलाते हैं और जो पीसकर ज्वार आदि के आटे के साथ खाए जाते हैं । बाँस का चावल । (३) गोल मिर्च ।

वेणुजमुक्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] बाँस में होनेवाला एक प्रकार का गोल दाना जो प्रायः मोती कहलाता है ।

वेणुदत्त-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन कृषि का नाम ।

वेणुदारि-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक राजकुमार का नाम ।

वेणुन-संज्ञा पुं० [सं०] मिर्च ।

वेणुनिःसृत-संज्ञा पुं० [सं०] ईख । ऊख ।

वेणुनिर्लेखन-संज्ञा पुं० [सं०] बाँस की छाल ।

वेणुप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महाभारत के अनुसार एक प्राचीन देश का नाम जो रेणूप भी कहलाता था । (२) इस देश का निवासी ।

वेणुपत्रक-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का साँप ।

वेणुपत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] वंशपत्री । हिंगुपर्णी ।

वेणुपुर-संज्ञा पुं० [सं०] आधुनिक बेलगाँव का प्राचीन नाम ।

वेणुबीज-संज्ञा पुं० [सं०] बाँस के फूल में होनेवाले छोटे दाने जो ज्वार आदि के आटे के साथ पीसकर खाए जाते हैं । बाँस का चावल ।

वेणुमंडल-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार कुशाद्वीप के एक वर्ष का नाम ।

वेणुमती-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार पश्चिमोत्तर देश की एक नदी का नाम ।

वेणुमय-वि० [सं०] बाँस का बना हुआ ।

वेणुमान-संज्ञा पुं० [सं०] वेणुमत् । (१) पुराणानुसार एक वंश का नाम । (२) पुराणानुसार एक पर्वत का नाम ।

वेणुमुद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] तांत्रिकों की एक प्रकार की मुद्रा ।

वेणुयव-संज्ञा पुं० [सं०] बाँस के फूलों में होनेवाले दाने जो ज्वार आदि के साथ पीसकर खाए जाते हैं । बाँस का चावल । वैद्यक में यह रुक्ष, शीतल, कषाय और कफ, पित्त, मेद, क्रिमि तथा विष आदि का नाशक तथा बल और वीर्यवर्धक कहा गया है ।

वेणुवंश-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक राजा का नाम ।

वेणुवन-संज्ञा पुं० [सं०] राजगृह के पास का एक उपवन । राजा बिंबिसार ने गौतम बुद्ध को बुलाकर यहीं ठहराया था ।

वेणुवाद-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो वंशी बजाता हो । बाँसुरी बजानेवाला ।

वेणुवीणाधरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कालिकेय की एक मातृका का नाम ।

वेणुहोत्र-संज्ञा पुं० [सं०] ऋग्वेद के एक पुत्र का नाम ।

वेणय-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार विंध्य पर्वत से निकली हुई एक नदी का नाम ।

वेणवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार पारिपात्र पर्वत की एक नदी का नाम ।

वेणवातट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महाभारत के अनुसार एक प्राचीन देश का नाम जो वेण या वेणवा नदी के तट पर था । (२) इस देश का निवासी ।

वेत-संज्ञा पुं० दे० "वैत" ।

वेतन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह धन जो किसी को कोई काम करने के बदले में दिया जाय। पारिश्रमिक। उजरत। (२) वह धन जो बराबर कुछ निश्चित समय तक, प्रायः एक मास तक, काम करने पर मिले। तनखाह। दर-माहा। महीना।

क्रि० प्र०—देना—पाना।—मिलना।

(३) चाँदी।

वेतन भोगी-संज्ञा पुं० [सं० वेतनभोगिन्] वह जो वेतन लेकर काम करता हो। तनखाह पर काम करनेवाला।

वेतस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वैत। (२) जल-वैत। (३) बड़वानल।

वेतसक-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन जनपद का नाम।

वेत-पत्रक-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार प्राचीन काल का एक प्रकार का शस्त्र जो प्रायः एक अंगुल मोटा और चार अंगुल लंबा होता था। इसका व्यवहार चीरफाड़ में होता था।

वेतसाम्ब-संज्ञा पुं० [सं०] अम्बवेत।

वेतसिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक नदी का नाम।

वेतसी-संज्ञा स्त्री० दे० "वेतस"।

वेतसु-संज्ञा पुं० [सं०] वैदिक काल के एक असुर का नाम।

वेता-संज्ञा स्त्री० दे० "वेतन"।

वेताल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) द्वारपाल। संतरी। (२) शिव के एक गणाधिप। (३) पुराणों के अनुसार भूतों की एक प्रकार की योनि। इस योनि के भूत साधारण भूतों के प्रधान माने जाते हैं। ये प्रायः स्मशानों आदि में रहते हैं। बैताल। (४) वह शव जिस पर भूतों ने अधिकार कर कर लिया हो। (५) लप्पय के छठे भेद का नाम जिसमें ६५ गुरु और २२ लघु कुल ८७ वर्ण या १५२ मात्राएँ, अथवा ६५ गुरु और १८ लघु कुल ८३ वर्ण या १४८ मात्राएँ होती हैं।

वेतालग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का भूतग्रह। कहते हैं कि जिस पर इस ग्रह का आक्रमण होता है, उसमें बहुत से दोष आ जाते हैं। वह प्रायः कौपता रहता है, सच बोलता है और फूल, माला तथा सुगंधि आदि बहुत पसंद करता है।

वेता-वि० [सं०] जाननेवाला। ज्ञाता। जानकार। जैसे,—तत्त्ववेत्ता, शास्त्रवेत्ता।

वेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वैत।

वेत्रक-संज्ञा पुं० [सं०] रामसर। सरपत।

वेत्रकार-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो वैत के सामान बनाता हो।

वेत्रकीय-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान या देश जहाँ वैत की अधिकता हो।

वेत्रकूट-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार हिमालय की एक चोटी का नाम।

वेत्रगंगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] हिमालय से निकली हुई एक नदी का नाम।

वेत्रधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) द्वारपाल। संतरी। (२) लठैत। लठबंद।

वेत्रमूला-संज्ञा स्त्री० [सं०] यवत्तिका। शंखिनी।

वेत्रवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेतवा नदी जो मालवे से निकलकर कालपी के पास यमुना में मिलती है।

वेत्रहा-संज्ञा पुं० [सं० वेत्रहन्] इंद्र।

वेत्रावती-संज्ञा स्त्री० दे० "वेत्रवती"।

वेत्रासन-संज्ञा पुं० [सं०] वैत का बना हुआ किसी प्रकार का आसन।

वेत्रासुर-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्रसिद्ध असुर का नाम जो प्रागज्योतिषपुर का राजा था। इसने पहले समस्त संसार को जीतकर फिर इंद्र, अग्नि और यम पर विजय प्राप्त की थी। अंत में इंद्र ने इसे मार डाला था। कहते हैं कि यह सिंधुद्वीप नामक राजा का पुत्र था और वेत्रवती नदी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था।

वेत्रिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महाभारत के अनुसार प्राचीन काल के एक जनपद का नाम। (२) इस जनपद का निवासी। (३) द्वारपाल। संतरी।

वेत्री-संज्ञा पुं० [सं० वेत्रिन्] (१) द्वारपाल। संतरी। (२) चोबदार। असा-बरदार।

वेदंड-संज्ञा पुं० [सं०] हाथी।

वेद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी विषय का, विशेषतः धार्मिक या आध्यात्मिक विषय का, सच्चा और वास्तविक ज्ञान। (२) वृत्त। (३) वित्त। (४) यज्ञांग। (५) भारतीय आर्यों के सर्वप्रधान और सार्वमान्य धार्मिक ग्रंथ जिनकी संख्या चार है और जो ब्रह्मा के चारों मुखों से निकले हुए माने जाते हैं। आग्नेय। श्रुति।

विशेष—आरंभ में वेद केवल तीन ही थे—ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद (दे०)। इनमें से ऋग्वेद पद्य में है और यजुर्वेद गद्य में; और सामवेद में गाने योग्य गीत या साम हैं। इसी लिये प्राचीन साहित्य में "वेदत्रयी" शब्द का ही अधिक प्रयोग देखने में आता है; यहाँ तक कि मनु ने भी अपने धर्मशास्त्र में अनेक स्थानों पर "वेदत्रयी" शब्द का ही व्यवहार किया है। चौथा अथर्ववेद पीछे से वेदों में सम्मिलित हुआ था और तब से वेद चार माने जाने लगे। इस चौथे या अंतिम वेद में वाति तथा पौष्टिक अभिचार,

प्रायश्चित्त, तंत्र, मंत्र आदि विषय हैं। वेदों के तीन मुख्य भाग हैं जो संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक या उपनिषद् कहलाते हैं। संहिता शब्द का अर्थ संग्रह है; और वेदों के संहिता भाग में स्तोत्र, प्रार्थना, मंत्र-प्रयोग, आशीर्वादात्मक सूक्त, यज्ञ-विधि से संबंध रखनेवाले मंत्र और अरिष्ट आदि की शांति के लिये प्रार्थनाएँ आदि सम्मिलित हैं। वेदों का यही अंश मंत्र भाग भी कहलाता है। ब्राह्मण भाग में एक प्रकार से बड़े बड़े गद्य ग्रंथ आते हैं जिनमें अनेक देवताओं की कथाएँ, यज्ञ संबंधी विचार और भिन्न भिन्न क्रतुओं में होनेवाले धार्मिक कृत्यों के व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक महत्व का निरूपण है। इनमें कथाओं आदि का जो अंश है, वह अर्थवाद कहलाता है; और धार्मिक कृत्यों की विधियों-वाले अंश को विधि कहते हैं। वनों में रहनेवाले यति, संन्यासी आदि परमेश्वर, जगत् और मनुष्य इन तीनों के संबंध में जो विचार किया करते थे, वे उपनिषदों और आरण्यकों में संगृहीत हैं। इन्हीं में भारतवर्ष का प्राचीनतम तत्त्वज्ञान भरा हुआ है! यह मानो वेदों का अंतिम भाग है; और इसी लिये वेदांत कहलाता है। वेदों का प्रचार बहुत प्राचीन काल से और बहुत विस्तृत प्रदेश में रहा है; इसलिये काल-भेद, देश-भेद और व्यक्ति-भेद आदि के कारण वेदों के मंत्रों के उच्चारण आदि में अनेक पाठभेद हो गए हैं। साथ ही पाठ में कहीं कहीं कुछ न्यूनता और अधिकता भी हो गई है। इस पाठ-भेद के कारण संहिताओं को जो रूप प्राप्त हुए हैं, वे शाखा कहलाते हैं; और इस प्रकार प्रत्येक वेद की कई कई शाखाएँ हो गई हैं। चारों वेदों से निकली हुई चार विद्याएँ कही गई हैं; और जिन ग्रंथों में इन चारों विद्याओं का वर्णन है, वे उपवेद कहलाते हैं। प्रत्येक वेद का एक स्वतंत्र उपवेद माना जाता है। इसके अतिरिक्त शिक्षा, कल्य, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छंद ये छः वेदों के अंग या वेदांग कहलाते हैं।

वेदों का स्थान संसार के प्राचीनतम इतिहास में बहुत उच्च है। इनमें भारतीय आर्यों की आरंभिक आध्यात्मिक, सामाजिक और नैतिक सभ्यता का बहुत अच्छा दिग्दर्शन है। भारतीय आर्य या हिंदू लोग इन्हें अपौरुषेय और ईश्वर-कृत मानते हैं। लोगों का विश्वास है कि ब्रह्मा ने अपने चारों मुखों से वेद कहे हैं; और जिन जिन ऋषियों ने जो मंत्र सुनकर संगृहीत किए हैं, वे ऋषि उन मंत्रों के द्रष्टा हैं। प्रायः सभी संप्रदायों के लोग वेदों को परम प्रामाण्य मानते हैं। स्मृतियों और पुराणों आदि में वेद देवताओं आदि के मार्गदर्शक, नित्य, अपौरुषेय और अप्रमेय कहे गए हैं। ब्राह्मणों और उपनिषदों में तो यहाँ तक कहा गया है कि वेद सृष्टि से भी पहले के हैं और उनका विस्मरण

प्रजापति ने किया है। कहा जाता है कि वेदों का वर्तमान रूप में संग्रह और संकलन महर्षि व्यास ने किया है; और इसी लिये वे वेद-व्यास कहे जाते हैं। विष्णु और वायुपुराण में कहा है कि स्वयं विष्णु ने वेद-व्यास का रूप धारण करके वेद के चार भाग किए और क्रमशः पैल, वैशंपायन, जैमिनि और सुमंत इन चार ऋषियों को दिए। वेदांती लोग वेदों को ब्रह्म से निकला हुआ मानते हैं; और जैमिनि तथा कपिल इन्हें स्वतःसिद्ध कहते हैं। वेदों के रचना-काल के संबंध में विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद है। मैक्समूलर आदि कई पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि वेदों की रचना ईसा से प्रायः हजार डेढ़ हजार वर्ष पहले उस समय हुई थी, जिस समय आर्य लोग आकर पंजाब में बसे थे। परंतु लोक-मान्य तिलक ने ज्योतिष संबंधी तथा अन्य कई आधारों पर वेदों का समय ईसा से लगभग ४५०० वर्ष पूर्व स्थिर किया है। बुहलर आदि विद्वानों का मत है कि आर्य सभ्यता ईसा से प्रायः चार हजार वर्ष के पहले की है और वैदिक साहित्य की रचना ईसा से प्रायः तीन हजार वर्ष पहले हुई है; और अधिकांश लोग यही मत मानते हैं।

वेदक-वि० [सं०] ज्ञान करानेवाला। परिचय करानेवाला।

वेदकर्त्ता-संज्ञा पुं० [सं० वेदकर्त्तृ] (१) वह जिसने वेदों की रचना की। वेदों का रचयिता। (२) सूर्य। (३) शिव। (४) विष्णु। (५) वर पक्ष के बड़े बड़े लोग जो विवाह हो चुकने के उपरांत वेदी पर बैठे हुए वर और बधू को आशीर्वाद देने के लिये जाते हैं।

वेदकार-संज्ञा पुं० [सं०] वेदों का रचयिता।

वेदकुम्भ-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक आचार्य का नाम।

वेदकौलेयक-संज्ञा पुं० [सं०] शिव का एक नाम।

वेदगंगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दक्षिण भारत की एक नदी का नाम जो कोरहापुर राज्य से निकलकर कृष्णा नदी में मिलती है।

वेदगर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा। (२) ब्राह्मण।

वेदगर्भा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सरस्वती नदी। (२) रेवा नदी।

वेदगर्भापुरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन तीर्थ का नाम।

वेदगाथ-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन ऋषि का नाम।

वेदगुप्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्रीकृष्ण का एक नाम। (२) भागवत के अनुसार पराशर के एक पुत्र का नाम।

वेदगुह्य-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

वेदजननी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सावित्री जो वेद की माता मानी जाती है।

वेदज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो वेदों का ज्ञाता हो। वेद

जाननेवाला । (२) वह जो ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर चुका हो ।
 ब्रह्मज्ञानी ।
 वेदतीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन तीर्थ का नाम ।
 वेदत्व-संज्ञा पुं० [सं०] वेद का भाव या धर्म ।
 वेददर्शी-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन मुनि का नाम ।
 वेददर्शन-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो देखने में वेदों का स्वरूप जान पड़े ।
 वेददर्शी-संज्ञा पुं० [सं० वेददर्शिन्] वह जो वेदों का ज्ञाता हो ।
 वेददान-संज्ञा पुं० [सं०] वेद पढ़ाना ।
 वेददीप-संज्ञा पुं० [सं०] महीधर का किया हुआ शुक्ल यजुर्वेद का भाष्य ।
 वेदन-संज्ञा पुं० दे० "वेदना" ।
 वेदना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुःख या कष्ट आदि का होनेवाला अनुभव । पीड़ा । व्यथा । तकलीफ । (२) बौद्धों के अनुसार पाँच स्कंधों में से एक स्कंध । (३) चिकित्सा । इलाज । (४) चमड़ा ।
 वेदनिंदक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो वेदों की निंदा करता हो । वेदों की बुराई करनेवाला । (२) नास्तिक । (३) भगवान् बुद्ध का एक नाम । (४) बौद्ध धर्म का अनुयायी ।
 वेदनीय-वि० [सं०] (१) जानने योग्य । (२) कष्ट-दायक । जो वेदना उत्पन्न करे ।
 वेदपारग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो वेदों का ज्ञाता हो । (२) वह जो वैदिक कर्मों का ज्ञाता हो ।
 वेदफल-संज्ञा पुं० [सं०] वह फल जो वैदिक कर्म करने से प्राप्त होता है ।
 वेदवाहु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्रीकृष्ण का एक नाम । (२) पुलस्त्य का एक नाम ।
 वेदवीज-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण ।
 वेदभू-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार देवताओं के एक गण का नाम ।
 वेदभृत्-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम ।
 वेदमंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेदों में आए हुए मंत्र । (२) पुराणानुसार एक जनपद का नाम । (३) इस जनपद का निवासी ।
 वेदमाता-संज्ञा स्त्री० [सं० वेदमातृ] (१) गायत्री । सावित्री । (२) दुर्गा । (३) सरस्वती ।
 वेदमातृका-संज्ञा स्त्री० [सं०] सावित्री ।
 वेदमित्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक आचार्य का नाम ।
 वेदमुंड-संज्ञा पुं० [सं०] एक असुर का नाम ।

वेदमूर्ति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो वेदों का बहुत बड़ा ज्ञाता हो । (२) सूर्य ।
 वेदयज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] वेद पढ़ना । वेद-पाठ ।
 वेदरहस्य-संज्ञा पुं० [सं०] उपनिषद् ।
 वेदवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राजा कुशाब्धज की कन्या का नाम । कहते हैं कि यही दूसरे जन्म में सीता हुई थीं । (२) पुराणानुसार पारिपात्र पर्वत की एक नदी का नाम । (३) अप्सरा । (४) दक्षिण भारत की एक नदी का नाम ।
 वेदवदन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा । (२) व्याकरण ।
 वेदवाक्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेद में का कोई वाक्य । (२) ऐसी बात जो पूर्ण रूप से प्रामाणिक हो और जिसका खंडन न हो सकता हो ।
 वेदवादी-संज्ञा पुं० [सं० वेदवादिन्] वह जो वेदों का अच्छा ज्ञाता हो ।
 वेदवास-संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण ।
 वेदवाह-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो वेदों का ज्ञाता हो ।
 वेदवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य ।
 वेदविद्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो वेदों का ज्ञाता हो । वेदज्ञ । (२) विष्णु का एक नाम ।
 वेदवृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन आचार्य का नाम ।
 वेदवैनाशिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम ।
 वेदव्यास-संज्ञा पुं० दे० "व्यास" (१) ।
 वेदव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो वेदों का अध्ययन करता हो ।
 वेदशिर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भागवत के अनुसार कृशाश्व के एक पुत्र का नाम । (२) पुराणानुसार एक प्रकार का अश्व । संज्ञा पुं० [सं० वेदशिरस्] पुराणानुसार मार्कण्डेय के एक पुत्र का नाम जो मूर्धन्या के गर्भ से उत्पन्न हुआ था । कहते हैं कि भार्गव लोगों का मूल पुरुष यही था ।
 वेदशीर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम ।
 वेदश्रवा-संज्ञा पुं० [सं० वेदश्रवस्] एक प्राचीन ऋषि का नाम ।
 वेदश्री-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन ऋषि का नाम ।
 वेदश्रुत-संज्ञा पुं० [सं०] भागवत के अनुसार वसिष्ठ के एक पुत्र का नाम ।
 वेदश्रुति-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नदी का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है ।
 वेदसार-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।
 वेदसिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक नदी का नाम ।
 वेदस्पर्श-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन वैदिक आचार्य का नाम ।
 वेदस्मृता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नदी का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है ।
 वेदस्मृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेदस्मृता नदी का एक नाम ।

वेदांग—संज्ञा पु० [सं०] (१) वेदों के अंग या शाख जो छः हैं और जिनके नाम इस प्रकार हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छंद । इनमें से व्याकरण को लोग वेदों का मुख, शिक्षा को नाक, निरुक्त को कान, ज्योतिष को आँख, कल्प को हाथ और छंद को पैर मानते हैं । (२) सूर्य का एक नाम । (३) बारह आदित्यों में से एक आदित्य ।

वेदांत—पंज्ञा पु० [सं०] (१) उपनिषद् और आरण्यक आदि वेद के अंतिम भाग जिनमें आत्मा, परमात्मा, जगत् आदि के संबंध में निरूपण है । ब्रह्म-विद्या । अध्यात्म । ज्ञानकांड । (२) छः दर्शनों में से प्रधान दर्शन जिसमें चैतन्य या ब्रह्म ही एक मात्र पारमार्थिक सत्ता स्वीकार किया गया है; जड़ जगत् और जीव कोई अतिरिक्त या अन्य पदार्थ नहीं माने गए हैं । उत्तर मीमांसा । अद्वैतवाद

विशेष—यद्यपि इस सिद्धांत का आभास वेद के मंत्र भाग में कहीं कहीं पाया जाता है, पर इसका आधार उपनिषद् ही हैं जिनमें जीव, जगत् और ब्रह्म आदि का निरूपण है । उपनिषदों में जिस प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' आदि जीवात्मा और परमात्मा की एकता प्रतिपादित करनेवाले महावाक्य हैं, उसी प्रकार पंचमहाभूतों में से पृथ्वी, जल और अग्नि ब्रह्म के मूर्त रूप तथा वायु और आकाश अमूर्त रूप कहे गए हैं । इस प्रकार उनमें जीवात्मा और जड़ जगत् दोनों का समावेश ब्रह्म के भीतर मिलता है जो अद्वैतवाद का आधार है । आगे चलकर उपनिषद् की इस ब्रह्म विद्या का दार्शनिक ढंग से निरूपण महर्षि वाद-रायण के 'ब्रह्मसूत्रों' में हुआ है, जिन पर कई भाष्य भिन्न भिन्न आचार्यों ने अपने अपने मत के अनुसार रचे । तीन भाष्य मुख्य हैं—शंकराचार्य का (शारीरक), रामानुज स्वामी का और वल्लभाचार्य का । इनमें से शंकर का भाष्य ही सब से प्रसिद्ध और चिन्तन-पद्धति में बहुत आगे बढ़ा हुआ है । अतः 'वेदांत' शब्द से साधारणतः शंकर का अद्वैतवाद ही समझा जाता है । शेष दो भाष्य साम्प्रदायिक माने जाते हैं ।

जगत्, जीव और ब्रह्म या परमात्मा इन तीनों वस्तुओं के स्वरूप तथा इनके पारस्परिक संबंध का निर्णय ही वेदांत शास्त्र का विषय है । न्याय और वैशेषिक ने ईश्वर, जीव और जगत् (या जगत् के मूल-द्रव्य परमाणु) ये तीन तत्व मानकर ईश्वर को जगत् का कर्त्ता ठहराया है, जो सर्वसाधारण की स्थूल भावना के अनुकूल है । वैशेषिक के अनुसार जगत् का मूल रूप परमाणु हैं जो नित्य हैं और जिनके ईश्वर-प्रेरित संयोग से सृष्टि होती है । इसके आगे बढ़कर सांख्य ने दो ही नित्य तत्व स्थिर किए—

पुरुष (आत्मा) और प्रकृति; अर्थात् एक ओर असंख्य चेतन जीवात्माएँ और दूसरी ओर जड़ जगत् का अव्यक्त मूल । ईश्वर या परमात्मा का समावेश सांख्य-पद्धति में नहीं है । सृष्टि के विकास की सूक्ष्म तात्त्विक विवेचना सांख्य ने ही की है । किस प्रकार एक अव्यक्त प्रकृति से क्रमशः आपसे आप जगत् का विकास हुआ, इसका पूरा ज्योरा उसमें बताया गया है; और जगत् का कोई कर्त्ता है, नैयायिकों के इस सिद्धांत का खण्डन किया गया है । पुरुष या आत्मा केवल द्रष्टा है, कर्त्ता नहीं । इसी प्रकार प्रकृति जड़ और क्रियामयी है । एक लँगड़ा है, दूसरी अंधी । असंख्य पुरुषों के संयोग या सांख्य से ही प्रकृति सृष्टि-क्रिया में तत्पर हुआ करती है ।

वेदांत ने और आगे बढ़कर प्रकृति तथा असंख्य पुरुषों का एक ही परम तत्व ब्रह्म में अविभक्त रूप से समावेश करके जड़ चेतन के द्वैत के स्थान पर अद्वैत की स्थापना की । वेदांत ने सांख्यों के अनेक पुरुषों का खंडन किया और चेतन तत्व को एक और अविच्छिन्न सिद्ध करते हुए बताया कि प्रकृति या माया की 'अहंकार' गुण-रूपी उपाधि से ही एक के स्थान पर अनेक पुरुषों या आत्माओं की प्रतीति होती है । यह अनेकता माया-जन्य है । सांख्यों ने पुरुष और प्रकृति के संयोग से जो सृष्टि की उत्पत्ति कही है, वह भी असंगत है; क्योंकि यह संयोग या तो सत्य हो सकता है अथवा मिथ्या । यदि सत्य है, तो नित्य है; अतः कुभी टूट नहीं सकता । इस दशा में आत्मा कभी मुक्त हो ही नहीं सकती । इसी प्रकार की युक्तियों से पुरुष और प्रकृति के द्वैत को न मानकर वेदांत ने उन्हें एक ही परम तत्व ब्रह्म की विभूतियाँ बताया । वेदांत के अनुसार ब्रह्म जगत् का निमित्त और उपादान दोनों हैं ।

नामरूपात्मक जगत् के मूल में आधारभूत होकर रहनेवाले इस नित्य और निर्विकार तत्व ब्रह्म का स्वरूप कैसा हो सकता है, इसका भी निरूपण वेदांत ने किया है । जगत् में जो नाना दृश्य दिखाई पड़ते हैं, वे सब परिणामी और अनित्य हैं । वे बदलते रहते हैं, पर उनका ज्ञान करने-वाला आत्मा या द्रष्टा सदा वही रहता है । यदि ऐसा न होता तो भूत काल में अनुभव की हुई बात का वर्तमान काल में अनुभूत विषय के साथ जो संबंध जोड़ा जाता है, वह असंभव होता (पंचदशी) । इसी से ब्रह्म का स्वरूप भी ऐसा ही होना चाहिए, अर्थात् ब्रह्म चित्स्वरूप या आत्मस्वरूप है । नाना ज्ञेय पदार्थ भी ज्ञाता के ही सगुण, सोपाधि या मायात्मक रूप हैं, यह निश्चित करके ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत वेदांत ने हटा दिया है । ब्रह्मस्वरूप का विवेचन वेदांत के पिछले ग्रंथों में ज्योरे के साथ हुआ है ।

जगत् और सृष्टि के संबंध में वेदांतियों ने नैयायिकों के 'आरंभवाद' (ईश्वर सृष्टि उत्पन्न करता है) और सांख्यों के 'परिणामवाद' (सृष्टि का विकास उत्तरोत्तर विकार या परिणाम द्वारा अव्यक्त प्रकृति से आपसे आप होता है) के स्थान पर 'विवर्तवाद' की स्थापना की है जिसके अनुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त या कल्पित रूप है। रस्सी को यदि हम सर्प समझें तो रस्सी सत्य वस्तु है और सर्प उसका विवर्त या भ्रांतिजन्य प्रतीति है। इसी प्रकार ब्रह्म तो नित्य और वास्तविक सत्ता है और नामरूपात्मक जगत् उसका विवर्त है। यह विवर्त अभ्यास द्वारा होता है। जो नामरूपात्मक दृश्य हम देखते हैं, वह न तो ब्रह्म का वास्तव स्वरूप ही है, न कार्य या परिणाम ही, क्योंकि ब्रह्म निर्विकार और अपरिणामी है। अभ्यास के संबंध में कहा जा सकता है कि सर्प कोई अलग पदार्थ है, तब तो उसका आरोप होता है। अतः इस विषय को और स्पष्ट करने के लिये 'दृष्टि-सृष्टि-वाद' उपस्थित किया जाता है जिसके अनुसार माया या नामरूप मन की वृत्ति है। इनकी सृष्टि मन ही करता है और मन ही देखता है। ये नामरूप उसी प्रकार मन या वृत्तियों के बाहर की कोई वस्तु नहीं हैं, जिस प्रकार जड़ चित् के बाहर की कोई वस्तु नहीं है। इन वृत्तियों का शमन ही मोक्ष है।

इन दोनों वादों में कुछ त्रुटि देखकर कुछ वेदांती 'अवच्छेदवाद' का आश्रय लेते हैं। वे कहते हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् की जो प्रतीति होती है, वह एकरस या अनवच्छिन्न सत्ता के भीतर माया द्वारा अवच्छेद या परिमित के आरोप के कारण होती है। कुछ अन्य वेदांती इन तीनों वादों के स्थान पर 'बिंब-प्रतिबिंब-वाद' उपस्थित करते हैं और कहते हैं कि ब्रह्म प्रकृति यः माया के बीच अनेक प्रकार से प्रतिबिंबित होता है जिससे नामरूपात्मक दृश्यों की प्रतीति होती है। अंतिम वाद 'अजातवाद' है जिसे 'प्रौढ़वाद' भी कहते हैं। यह सब प्रकार की उत्पत्ति को—चाहे वह विवर्त के रूप में कही जाय चाहे दृष्टिसृष्टि या अवच्छेद या प्रतिबिंब के रूप में—अस्वीकार करता है और कहता है कि जो जैसा है, वह वैसा ही है और सब ब्रह्म है। ब्रह्म अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन शब्दों द्वारा हो ही नहीं सकता; क्योंकि हमारे पास जो भाषा है, वह द्वैत ही की है; अर्थात् जो कुछ हम कहते हैं, वह भेद के आधार पर ही।

यद्यपि ब्रह्म का वास्तविक या पारमार्थिक रूप अव्यक्त, निर्गुण और निर्विशेष है, पर व्यक्त और सगुण रूप भी उसके बाहर नहीं है। पंचदशी में इन सगुण रूपों का विभेद प्रतिबिंब-वाद के शब्दों में इस प्रकार समझाया गया है। रजोगुण की प्रवृत्ति से प्रकृति दो रूपों में विभक्त होती है—

सत्त्व-प्रधान और तमःप्रधान। सत्त्वप्रधान के भी दो रूप हो जाते हैं—शुद्ध सत्त्व (जिसमें सत्त्वगुण पूर्ण हो) और अशुद्ध सत्त्व (जिसमें सत्त्व अंशतः हो)। प्रकृति के इन्हीं भेदों में प्रतिबिंबित होने के कारण ब्रह्म को 'जीव' कहते हैं।

वेदांत या अद्वैतवाद से साधारणतः शंकराचार्य प्रतिपादित अद्वैतवाद लिया जाता है जिसमें ब्रह्म स्वगत, सजातीय और त्रिजातीय तीनों भेदों से परे कहा गया है। पर जैसा ऊपर कहा जा चुका है, बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य के भाष्य भी हैं। रामानुज के अद्वैतवाद को 'विशिष्टाद्वैत' कहते हैं; क्योंकि उसमें ब्रह्म को चित् और अचित् इन दो पक्षों से युक्त या विशिष्ट कहा है। ब्रह्म के इसी सूक्ष्म चित् और सूक्ष्म अचित् से स्थूल चित् (जीव) और स्थूल अचित् (जड़) उत्पन्न हुए। अतः रामानुज के अनुसार ब्रह्म केवल निमित्त कारण है; उपादान हैं जड़ (स्थूल अचित्) और जीव (स्थूल चित्)। इस मत के अनुसार जीव को ब्रह्म का अंश कह सकते हैं, पर शंकर मत से नहीं; क्योंकि उसमें ब्रह्म सब प्रकार के भेदों से परे कहा गया है।

वल्लभाचार्य जी का अद्वैत 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है; क्योंकि उसमें रामानुज-कृत दो पक्षों की विशिष्टता हटाकर अद्वैतवाद शुद्ध किया गया है। इस मत के अनुसार सत्, चित् और आनन्दस्वरूप ब्रह्म अपने इच्छानुसार इन तीनों स्वरूपों का आविर्भाव करता रहता है। जड़ जगत् भी ब्रह्म ही है, पर अपने चित् और आनन्द स्वरूपों का पूर्ण तिरोभाव किए हुए तथा सत् स्वरूप का कुछ अंशतः आविर्भाव किए हुए है। चेतन जगत् भी ब्रह्म ही है जिसमें सत्, चित् और आनन्द इन तीनों स्वरूपों का कुछ आविर्भाव और कुछ तिरोभाव रहता है। माया ब्रह्म ही की शक्ति है जो उसी की इच्छा से विभक्त होती है; अतः मायात्मक जगत् मिथ्या नहीं है। जीव अपने शुद्ध ब्रह्मस्वरूप को तभी प्राप्त करता है जब आविर्भाव और तिरोभाव दोनों मिट जाते हैं; और यह बात केवल ईश्वर के अनुग्रह से ही, जिसे 'पुष्टि' कहते हैं, हो सकती है।

रामानुज और वल्लभाचार्य केवल दार्शनिक ही न थे, भक्तिमार्गी भी थे।

वेदांतसूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] महर्षि बादरायण कृत सूत्र जो वेदांत शास्त्र के मूल माने जाते हैं। वि० दे० "वेदांत"।

वेदांती-संज्ञा पुं० [सं० वेदांतिन्] वह जो वेदांत का अच्छा ज्ञाता हो। वेदांत का पूरा पंडित। ब्रह्मवादी।

वेदाग्रणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती।

वेदात्मा-संज्ञा पुं० [सं० वेदात्मन्] (१) विष्णु। (२) सूर्य।

वेदादि-संज्ञा पुं० [सं०] प्रणव या ओंकार का मंत्र।

वेदादिवीज-संज्ञा पुं० [सं०] प्रणव या ओंकार का मंत्र ।

वेदाधिदेव-संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण ।

वेदाधिप-संज्ञा पुं० [सं०] चारों वेदों के अधिपति ग्रह जो इस प्रकार हैं—ऋग्वेद के अधिपति बृहहस्पति, यजुर्वेद के शुक्र, सामवेद के मंगल और अथर्ववेद के बुध ।

वेदाध्यक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण का एक नाम ।

वेदार-संज्ञा पुं० [सं०] गिरगिट ।

वेदाश्व-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नदी का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है ।

वेदि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) यज्ञ कार्य के लिये साफ करके तैयार की हुई भूमि । वेदी । (२) किसी शुभ कार्य के लिये बनाकर तैयार की हुई भूमि । (३) उँगली की एक प्रकार की मुद्रा । (४) अंघ्रि । (५) वह अँगूठी जिस पर किसी का नाम अंकित हो ।

वेदिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी शुभ कार्य के लिये साफ करके तैयार की हुई भूमि । वेदी । (२) जैन पुराणों के अनुसार एक नदी का नाम ।

वेदिजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] द्रौपदी का एक नाम ।

वेदित-वि० [सं०] (१) जो कुछ बतलाया या सूचित किया गया हो । निवेदित । (२) जो देखा गया हो ।

वेदितव्य-वि० [सं०] जो जानने के योग्य हो । ज्ञातव्य ।

वेदित्व-संज्ञा पुं० [सं०] वेदित होने का भाव । ज्ञान ।

वेदिष्ठ-वि० [सं०] जो सब बातें जानता हो । सर्वज्ञ ।

वेदी-संज्ञा पुं० [सं० वेदिन्] [स्त्री० वेदिनी] (१) पंडित । विद्वान् । (२) ज्ञाता । जानकार । (३) वह जो विवाद करता हो । (४) ब्रह्म ।

संज्ञा स्त्री० (१) किसी शुभ कार्य के लिये, विशेषतः धार्मिक कार्य के लिये तैयार की हुई ऊँची भूमि । जैसे,—विवाह की वेदी, यज्ञ की वेदी । (२) सरस्वती ।

वेदीतीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन तीर्थ का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है ।

वेदीश-संज्ञा पुं० [सं०] वेदों के स्वामी, ब्रह्मा ।

वेदुक-वि० [सं०] (१) जाननेवाला । ज्ञाता । (२) प्राप्त करने वाला । पानेवाला । (३) जो कुछ मिला हो । प्राप्त ।

वेदेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] वेदों के स्वामी, ब्रह्मा ।

वेदोदय-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य ।

वेदोपकरण-संज्ञा पुं० [सं०] वेदांग ।

वेदोपनिषद्-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक उपनिषद् का नाम ।

वेदव्य-वि० [सं०] जो वेधने या छेदने के योग्य हो । वेधा जाने के योग्य । वेध्य ।

वेद्य-वि० [सं०] (१) जो जानने या समझने के योग्य हो ।

(२) जो कहने के योग्य हो । (३) जो स्तुति करने के योग्य हो । (४) जो प्राप्त करने के योग्य हो ।

वेद्यत्व-संज्ञा पुं० [सं०] ज्ञान । जानकारी ।

वेध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी लुकीली चीज से छेदने की क्रिया । वेधना । विद्ध करना । (२) मंत्रों आदि की सहायता से ग्रहों, नक्षत्रों और तारों आदि को देखना ।

यौ०—वेधशाला ।

(३) ज्योतिष के ग्रहों का किसी ऐसे स्थान में पहुँचना जहाँ से उनका किसी दूसरे ग्रह में सामना होता हो । जैसे,—युतवेध, पताकी वेध । (४) गहरापन । गंभीरता ।

संज्ञा पुं० [सं० वेधस्] (१) ब्रह्मा । (२) विष्णु । (३) शिव । महादेव । (४) सूर्य । (५) पंडित । विद्वान् । (६) सफेद मदार । (७) दक्ष आदि प्रजापति ।

वेधक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेध करनेवाला । (२) वह जो मणियों आदि को वेधकर अपनी जीविका चलाता हो । (३) धनियाँ । (४) कपूर । (५) अम्लबैत ।

वेधनिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह औजार जिससे मणियों आदि में छेद करते हैं ।

वेधनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह औजार जिससे मणियों आदि में छेद करते हैं । वेधनिका । (२) हाथी का अंकुर ।

वेधमुख्य-संज्ञा पुं० [सं०] कचूर ।

वेधमुख्यक-संज्ञा पुं० [सं०] हलदी का पौधा ।

वेधमुख्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] कस्तूरी ।

वेधशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ ग्रहों और नक्षत्रों आदि का वेध करने के यंत्र आदि रखे हों । वह स्थान जहाँ नक्षत्रों और तारों आदि को देखने और उनकी दूरी, गति आदि जानने के यंत्र हों ।

वेधस-संज्ञा पुं० [सं०] हथेली के अँगूठे की जड़ के पास का स्थान जिसे ब्रह्मतीर्थ भी कहते हैं । (आचमन के लिये इसी गड्ढे में जल लेने का विधान है ।)

वेधसी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन तीर्थ का नाम ।

वेधा-संज्ञा पुं० [सं० वेधस्] (१) ब्रह्मा । उ०—सहस्र अब्द बीते तब वेधा । वरं ब्रूहि भाखेड अति मेधा ।—गिरधर । (२) विष्णु । (३) शिव । (४) सूर्य । (५) पंडित । (६) सफेद मदार । (७) दक्ष आदि प्रजापति । (८) एक यादव का नाम जो अगाध या अगंत का पुत्र था ।

वेधालय-संज्ञा पुं० दे० “वेधशाला” ।

वेधित-वि० [सं०] जो वेधा गया हो । जिसमें छेद किया गया हो । बिधा हुआ ।

वेधिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जोंक । (२) मेथी ।

वि० वेधनेवाली । छेदनेवाली ।

वेधी-संज्ञा पुं० [सं० वेधिन्] [स्त्री० वेधिनी] (१) वह जो वेध करता हो। वेध करनेवाला। (२) अम्लवैत।

वेध्य-वि० [सं०] (१) जिसे वेध किया जाय। (२) जो वेध करने के योग्य हो।

वेन्ना-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक पवित्र नदी। (महाभारत)

वेन्य-संज्ञा पुं० दे० “वेन”।

वि० सुंदर। खूबसूरत।

वेपथु-संज्ञा पुं० [सं०] कौपने की क्रिया। कँपकँपी। कंप।

वेपन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कौपना। कंप। (२) वात रोग।

वेमक-संज्ञा पुं० [सं०] एक स्वर्गीय ऋषि।

वेर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शरीर। देह। बदन। (२) कुंकुम। केसर।

वेरक-संज्ञा पुं० [सं०] कपूर।

वेरट-संज्ञा पुं० [सं०] वेर नामक फल।

वि० (१) मिलाया हुआ। मिश्रित। (२) नीच।

वेला-संज्ञा पुं० [सं०] उपवन। बाग।

वेलन-संज्ञा पुं० [सं०] हींग।

वेला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) काल। समय। वक्त। (२) समय का एक विभाग जो दिन और रात का चौबीसवाँ भाग होता है। कुछ लोग दिनमान के आठवें भाग को भी वेला मानते हैं। (३) मर्यादा। (४) समुद्र का किनारा। (५) समुद्र की लहर। (६) वाक्। वाणी। (७) मसूड़ा। (८) भोजन। खाना। (९) रोग। बीमारी।

वेलाकूल-संज्ञा पुं० [सं०] ताम्रलिस देश का एक नाम।

वेलाज्वर-संज्ञा पुं० [सं०] मरने के समय आनेवाला ज्वर।

वेलाधिप-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में दिनमान के आठवें भाग या वेला के अधिपति देवता।

विशेष—रवि, शुक्र, बुध, चंद्र, शनि, बृहस्पति और मंगल ये क्रमशः वेलाधिप होते हैं। जिस दिन जो वार होता है, उस दिन की पहली वेला का वेलाधिप उसी वार का ग्रह होता है; और फिर पीछे की वेलाओं के अधिपति उक्त क्रम से शेष ग्रह होते हैं। जैसे,—रविवार की पहली वेला के वेलाधिप रवि, दूसरी के शुक्र, तीसरी के बुध, चौथी के चंद्र आदि होंगे। इसी प्रकार बुधवार की पहली वेला के वेलाधिप बुध, दूसरी के चंद्र, तीसरी के शनि, चौथी के बृहस्पति आदि होंगे।

वेलायनि-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्रप्रवर्त्तक ऋषि।

वेलावलि-संज्ञा स्त्री० दे० “बिलावलि”।

वेलाविच्छ-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल के एक प्रकार के राज-कर्मचारी। (राजतरंगिणी)

वेलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ताम्रलिस का एक नाम। (२) नदी तट के भास पास का प्रदेश।

वेल्ह-संज्ञा पुं० [सं०] विडंग।

वेल्हगिरिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] ग्रियंगु।

वेल्हज-संज्ञा पुं० [सं०] मिर्च।

वेल्हन-संज्ञा पुं० [सं०] चोड़ों का जमीन पर लोटना।

वेल्हनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दल्ली दूब। माला दूब।

वेल्हभव-संज्ञा पुं० [सं०] मिर्च।

वेल्हरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) काला विधारा। (२) माला दूब।

वेल्हहल-संज्ञा पुं० [सं०] लंपट। दुराचारी। बदचलन।

वेल्हल-संज्ञा स्त्री० [सं०] लता। बेल।

वेल्हलका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पोई का साग। उपोदिका।

वेल्हकाख्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बेल का पेड़। (२) बेल के फल का गूदा।

वेल्हितक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साँप।

वेल्ही-संज्ञा स्त्री० [सं० वेल्हि] बेल। लता।

वेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कपड़े लत्ते और गहने आदि पहन कर अपने आपको सजाना। (२) किसी के कपड़े लत्ते आदि पहनने का ढंग।

मुहा०—किसी का वेश धारण करना = किसी के ढंग के कपड़े लत्ते पहनना। किसी के रूप रंग और पहनावे आदि की नकल करना। जैसे,—(नटों आदि का) राजा का वेश धारण करना।

(३) पहनने के वस्त्र। पोशाक। जैसे,—अब आप अपना वेश उतारिए।

यौ०—वेशभूषा = पहनने के कपड़े आदि। पोशाक।

(४) कपड़े का बना हुआ घर। खेमा। तंबू। (५) घर।

मकान। (६) वेश्या का घर। (७) दे० “प्रवेश”।

वेशकुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुलटा स्त्री। दुश्चरित्रा स्त्री। (२) वेश्या। रंडी।

वेशता-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेश का भाव या धर्म। वेशत्व।

वेशत्व-संज्ञा पुं० [सं०] वेश का भाव या धर्म। वेशता।

वेशधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसने किसी दूसरे का वेश धारण किया हो। वह जो भेष बदले हुए हो। छद्मवेशी। (२) जैनों का एक संप्रदाय।

वेशधारी-संज्ञा पुं० [सं० वेशधारिन्] (१) वह जिसने वेश धारण किया हो। वेश धारण करनेवाला। (२) वह जो तपस्वी न हो, पर तपस्वियों का सा वेश धारण करता हो। (३) पुराणानुसार एक संकर जाति।

वेशन-संज्ञा पुं० [सं०] प्रवेश करना।

वेशनद-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल की एक नदी का नाम।

वेशयुवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेश्या। रंडी।

वेशवधू-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेश्या। रंडी।

वैश्वनिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैश्या । रंडी ।
 वैश्ववार-संज्ञा पुं० [सं०] नमक, मिर्च, धनिया आदि मसाले ।
 वैश्ववास-संज्ञा पुं० [सं०] वैश्या का घर । रंडी का मकान ।
 वैश्वस्त्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैश्या । रंडी ।
 वैश्विक-संज्ञा पुं० [सं०] शिवपविद्या । हाथ की कारीगरी ।
 वैश्वी-संज्ञा पुं० [सं०] वैश्विन् । वह जो वैश्व धारण किए हो । वैश्व धारण करनेवाला ।
 वैश्वीजाता-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुत्रदात्री नाम की लता ।
 वैश्व-संज्ञा पुं० [सं०] घर । मकान ।
 वैश्वकलिंग-संज्ञा पुं० [सं०] चटक पक्षी । गौरैया ।
 वैश्वकूल-संज्ञा पुं० [सं०] चिचिडा । चिचड़ा ।
 वैश्वमनकुल-संज्ञा पुं० [सं०] छहूँदर ।
 वैश्वभू-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जो मकान बनाने के लिये उपयुक्त हो; अथवा जिस पर मकान बनाया जाय ।
 वैश्ववास-संज्ञा पुं० [सं०] रहने का घर । मकान ।
 वैश्वस्त्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैश्या । रंडी ।
 वैश्वमांत-संज्ञा पुं० [सं०] घर के अंदर का वह भाग जिसमें खियाँ रहती हैं । अंतःपुर । जनानखाना ।
 वैश्व-संज्ञा पुं० [सं०] वैश्या के रहने का मकान । रंडी का घर ।
 वैश्वगंगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कुलटा स्त्री । बदचलन औरत ।
 वैश्व्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जो नाचती गाती और धन लेकर लोगों के साथ संभोग करती हो । गाने और कसब कमाने-वाली औरत । रंडी ।
 पय्या-वारस्त्री । गणिका । रूपाजीवा । क्षुद्रा । शूला । वारविलासिनी । लज्जिका । कुंभा । कामरेखा । पय्यांगना । वारवधू । भोग्या । स्वरवीथिका ।
 वैश्व्याचार्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो वैश्याओं के साथ रहता और उन्हें परपुरुषों से मिलाता हो । रंडियों का दलाल । भड्डा ।
 वैश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] गदहा ।
 वैश्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दे० "वैश" । (२) रंगमंच में पीछे का वह स्थान जहाँ नट लोग वैश्व रचना करते हैं । नेपथ्य । (३) वैश्या का घर । रंडी का मकान । (४) कर्म । (५) कार्य-परिचालन । काम चलावा ।
 वैश्वकार-संज्ञा पुं० [सं०] किसी चीज को लपेटने का कपड़ा । वेष्टन । वेठन ।
 वैश्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कासमई नाम का क्षुप । कसौदी । (२) परिचर्या । सेवा ।
 वैश्व-संज्ञा स्त्री० [सं०] धनियाँ ।
 वैश्वधारी-संज्ञा पुं० दे० "वैशधारी" ।
 वैश्ववार-संज्ञा पुं० [सं०] नमक, मिर्च, धनियाँ आदि मसाले ।

वैश्वधी-वि० [सं०] (वेदमंत्र) जिसमें सुंदर और ललित वाक्य हों ।
 वैश्विका-संज्ञा स्त्री० [सं०] चमेली ।
 वैश्वी-संज्ञा पुं० दे० "वैशी" ।
 वैष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वृक्ष का किसी प्रकार का निर्यास । (२) गोंद । (३) धूप का पेड़ । धूपसरल । (४) श्रीवेष्ट । गंधा विरोजा । (५) सुश्रुत के अनुसार सुँह में होनेवाला एक प्रकार का रोग । (६) दे० "वेष्टन" ।
 वैष्टक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गंधाविरोजा । श्रीवेष्ट । (२) गोंद । (३) वृक्ष का किसी प्रकार का निर्यास । (४) सफेद कुम्हड़ा । पेठा । (५) कुम्हड़ा । (६) छाल । वरकल । (७) उष्णीष । पगड़ी । (८) प्राचीर । परकोटा । चहारदीवारी । वि० चारों ओर से ढकने या आवृत करनेवाला । वेष्टन करनेवाला ।
 वैष्टकापथ-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन शिव-स्थान का नाम ।
 वेष्टन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह कपड़ा आदि जिससे कोई चीज लपेटा जाय । वेठन । (२) घेरने या लपेटने की क्रिया या भाव । (३) मुकुट । (४) उष्णीष । पगड़ी । गुग्गुलु । (५) गूगल । (६) कान का छेद ।
 वेष्टनक-संज्ञा पुं० [सं०] स्त्री-प्रसंग करने का एक प्रकार । एक तरह का रतिबंध ।
 वेष्टनवेष्टक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रतिबंध ।
 वेष्टवंश-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बाँस जिसे बेडर बाँस कहते हैं । रंघवंश ।
 वेष्टय-वि० [सं०] वेष्टन करने योग्य । वेठन आदि से लपेटने लायक ।
 वेष्टसार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्रीवेष्ट । गंधाविरोजा । (२) धूप का पेड़ । सरलकाष्ठ । धूपसरल ।
 वेष्टा-संज्ञा स्त्री० [सं०] हरे । हरीतकी ।
 वेष्टित-वि० [सं०] (१) नदी या परकोटे आदि से चारों ओर से घिरा हुआ । (२) कपड़े आदि से लपेटा हुआ । (३) रुका हुआ । रुद्ध ।
 वेष्टन-संज्ञा पुं० [सं०] मटर, चने आदि की दाल पीसकर तैयार किया हुआ आटा । वेसन ।
 वेष्टर-संज्ञा पुं० [सं०] गदहा ।
 वेष्टवार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीसा हुआ जीरा, मिर्च, लौंग आदि मसाला । (२) एक प्रकार का पकाया हुआ मांस । विशेष—पहले हड्डियाँ आदि अलग करके खाली मांस पीस लेते हैं; और तब गुड़, घी, पीपल, मिर्च आदि मिलाकर उसे पकाते हैं । यही पका हुआ मांस वेष्टवार कहलाता है ।

वैकि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन गोत्रप्रवर्त्तक ऋषि का नाम ।

वैदवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन काल की एक जाति का नाम । इस जाति के लोग बहुत युद्ध-प्रिय होते थे ।

वैध्य-वि० [सं०] (१) विंध्य प्रांत का । (२) विंध्य पर्वत का ।

वैकंकत-संज्ञा पुं० दे० "विकंकत" ।

वि० जो विकंकत की लकड़ी आदि से बना हो । विकंकत का ।

वैकल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह हार या माला जो एक ओर कंधे पर और दूसरी ओर हाथ के नीचे रहे । जनेऊ की तरह पहना जानेवाला हार या माला । (२) इस प्रकार माला पहनने का ढंग ।

वैकटिक-संज्ञा पुं० [सं०] रत्न-परीक्षक । जौहरी ।

वि० विकट संबंधी । संबंधी विकट का ।

वैकट्य-संज्ञा पुं० [सं०] विकट होने का भाव या धर्म । विकटता ।

वैकतिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो रत्नों की परीक्षा करता हो । रत्न-परीक्षक । जौहरी ।

वैकथिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो अपने संबंध में बहुत बड़ा कर बातें कहा करता हो । शेखीबाज । सीटनेवाला ।

वैकरंज-संज्ञा पुं० [सं०] संकर जाति का एक प्रकार का साँप । ऐसा साँप जो फनवाले और बिना फनवाले साँपों के योग से उत्पन्न हुआ हो ।

वैकर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वात्स्य मुनि का एक नाम । (२) एक प्राचीन जनपद का नाम जिसका उल्लेख वेदों में है ।

वैकर्णयिन-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो वैकर्ण या वात्स्य मुनि के वंश में उत्पन्न हुआ हो ।

वैकर्त्तन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य के एक पुत्र का नाम । (२) कर्ण का एक नाम । (३) सुग्रीव के एक पूर्वज का नाम । (४) वह जो सूर्य वंशी हो ।

वि० सूर्य संबंधी । सूर्य का ।

वैकर्म-संज्ञा पुं० [सं०] विकर्म या अपकर्म का भाव । दुष्कृत्य ।

वैकल्प-संज्ञा पुं० [सं०] विकल्प का भाव ।

वैकल्पिक-वि० [सं०] (१) जो किसी एक पक्ष में हो । एकांगी । (२) जिसमें किसी प्रकार का संदेह हो । संदिग्ध ।

(३) जो अपने इच्छानुसार ग्रहण किया जा सके । जो चुना जा सके ।

वैकल्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विकल होने का भाव । विकलता । घबराहट । (२) कातरता । (३) टेढ़ापन । (४) अंगहीन होने का भाव । (५) न्यूनता । कमी । (६) अभाव । न होना ।

वि० अधूरा । अपूर्ण ।

वैकायन-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन गोत्रप्रवर्त्तक ऋषि का नाम ।

वैकारिक-वि० [सं०] जिसमें किसी प्रकार का विकार हुआ हो । बिगड़ा हुआ । विकृत ।

संज्ञा पुं० विकार । बिगाड़ ।

वैकार्य-संज्ञा पुं० [सं०] विकार का भाव या धर्म ।

वि० जिसमें विकार हो सकता या होता हो । विकार के योग्य ।

वैकालिक-वि० [सं०] जो अपने उपयुक्त समय पर न होकर असमय में उत्पन्न हो ।

वैकुण्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु का एक नाम । (२) पुराणानुसार विष्णु का धाम या स्थान । वह स्थान जहाँ भगवान् या विष्णु रहते हैं । पुराणानुसार यह धाम सत्यलोक से भी ऊपर है । यह धाम सब से श्रेष्ठ माना गया है और कहा गया है कि जिन्हें विष्णु मोक्ष देते हैं, वे इसी धाम में निवास करते हैं । यहाँ रहनेवाले न तो बुढ़े होते हैं और न मरते हैं । (३) वैकुण्ठ में रहनेवाले देवता । (४) स्वर्ग । (क०) (५) इंद्र । (६) सफेद पत्तोंवाली तुलसी ।

वैकुण्ठ्य-संज्ञा पुं० [सं०] वैकुण्ठ का भाव या धर्म ।

वैकुण्ठीय-वि० [सं०] वैकुण्ठ संबंधी । वैकुण्ठ का ।

वैकृत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विकार । खराबी । (२) बीभत्स रस । (३) बीभत्स रस का आलंबन । जैसे,—खून, गोदत, हड्डी आदि ।

वि० (१) जो विकार से उत्पन्न हुआ हो । (२) जो सहज में ठीक न हो सके । दुःसाध्य ।

वैकृत उजर-संज्ञा पुं० [सं०] वह उजर जो ऋतु के अनुसार स्वाभाविक न हो, बल्कि किसी और ऋतु के अनुकूल हो ।

विशेष—साधारणतः वर्षा ऋतु में वायु, शरद् ऋतु में पित्त और वसंत ऋतु में कफ कुपित होता है । यदि वर्षा ऋतु में वायु के प्रकोप से उजर हो, तो वह वैकृत उजर कहा जायगा ।

वैकृतिक-वि० [सं०] नैमित्तिक ।

वैकृत्य-संज्ञा पुं० [सं०] बीभत्स रस ।

वैक्रमीय-वि० [सं०] विक्रम का । विक्रम संबंधी । जैसे,—वैक्रमीय संवत् ।

वैक्रांत-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मणि जिसे चुन्नी कहते हैं ।

वैक्रिय-वि० [सं०] जो विकने को हो । बेचा जाने योग्य । विक्री का ।

वैखरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कंठ से उत्पन्न होनेवाले स्वर का एक विशिष्ट प्रकार । ऐसा स्वर उच्च और गंभीर होता है

और बहुत स्पष्ट सुनाई पड़ता है । (२) वाक्-शक्ति ।
(१) वाग्देवी ।

वैज्ञानस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो वानप्रस्थ आश्रम में हो ।
(२) प्राचीन काल के एक प्रकार के ब्रह्मचारी या तपस्वी
जो प्रायः वन में रहा करते थे ।

वैज्ञानसि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन गोत्रप्रवर्तक ऋषि
का नाम ।

वैज्ञानसीय-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक उपनिषद् का नाम ।

वैगंधिक-संज्ञा पुं० [सं०] गंधक ।

वैगलेय-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार भूतों का एक गण ।

वैगुण्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गुणहीन होने का भाव । विगुणता ।
(२) अपराध । दोष । (३) नीचता । बाह्यातपन ।

वैग्रहिक-संज्ञा पुं० [सं०] विग्रह या शरीर संबंधी । शरीर का ।

वैघ्रात्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो घात करने के योग्य हो । मार
डालने लायक ।

वैवक्षय-संज्ञा पुं० [सं०] विचक्षण या निपुण होने का भाव ।
विचक्षणता । निपुणता । होशियारी ।

वैचिर्य-संज्ञा पुं० [सं०] चित्त की आंति । भ्रम । अन्यमनस्कता ।

वैचित्र-संज्ञा पुं० [सं०] विचित्रता । विलक्षणता ।

वैचित्र्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विचित्र होने का भाव । विचित्रता ।
विलक्षणता । (२) विभिन्नता । भेद । फर्क । (३) सुंदरता ।
खूबसूरती ।

वैचित्र्यवीर्य-संज्ञा पुं० [सं०] विचित्रवीर्य की संतान, घट-
राष्ट्र, पांडु और विदुर आदि ।

वैद्युत-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम ।

वैद्युति-संज्ञा स्त्री० [सं०] विद्युत होने का कार्य या भाव ।
पतन । गिरना ।

वैजनन-संज्ञा पुं० [सं०] वह मास जिसमें किसी स्त्री को संतान
उत्पन्न हो । प्रसव-मास ।

वैजन्य-संज्ञा पुं० [सं०] विजन होने का भाव । विजनता ।
एकांत ।

वैजयंत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र की पुरी का नाम । (२)
इंद्र । (३) घर । (४) अग्निमंथ नामक वृक्ष । अरणी ।

वैजयंतिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो पताका या झंडा उठाता हो ।
झंडा उठानेवाला ।

वैजयंतिका-संज्ञा स्त्री० दे० "वैजयंती" ।

वैजयंती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पताका । झंडी । (२) जयंती
नामक वृक्ष । (३) एक प्रकार की माला जो पाँच रंगों की
और छटनों तक लटकती हुई होती थी । कहते हैं कि यह
माला श्रीकृष्ण जी पहना करते थे ।

वैजयिक-वि० [सं०] विजय संबंधी । विजय का ।

वैजयी-संज्ञा पुं० दे० "विजयी" ।

वैजयन-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि जो एक वैदिक शाखा
के प्रवर्तक थे । वैजयन । वैजन ।

वैजात्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विजातीय होने का भाव । (२)
विलक्षणता । अद्भुतता । (३) बद-चलनी । लंपटता ।

वैजिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आत्मा । (२) हेतु । कारण ।

वि० (१) बीज संबंधी । बीज का । (२) वीर्य संबंधी ।
वीर्य का ।

वैज्ञानिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो विज्ञान का अच्छा ज्ञाता
हो । विज्ञान जाननेवाला । (२) निपुण । दक्ष । होशियार ।
वि० विज्ञान संबंधी । विज्ञान का । जैसे,—वैज्ञानिक
विवेचन, वैज्ञानिक खोज ।

वैज्ञान्य-संज्ञा पुं० [सं०] पाप और कुकर्म करते हुए भी ऊपर
से साधु बने रहना ।

वैज्ञान्य-संज्ञा पुं० [सं०] वैज्ञान्यतिन् वह तपस्वी या साधु
जो वास्तव में पापी और कुकर्म हो । दुष्ट और नीच धर्म-
ध्वजी ।

वैदूर्य-संज्ञा पुं० दे० "वैदूर्य" ।

वैण-वि० [सं०] वेणु संबंधी । बाँस का ।

वैणु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाँस का फल । (२) बाँस का वह
डंडा जो यज्ञोपवीत के समय धारण किया जाता है । (३)
वंशी । वेणु ।

वि० वेणु संबंधी । बाँस का ।

वैणुविक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो वेणु बजाता हो । वंशी बजाने-
वाला ।

वैणुवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वंशलोचन ।

संज्ञा पुं० [सं०] वैणविन् (१) वह जो वेणु बजाता हो ।
(२) शिव का एक नाम ।

वैणिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो वीणा बजाता हो । वीनकार ।

वैणुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो वेणु बजाने में चतुर हो ।
वंशी बजानेवाला । (२) हाथी का अंकुस ।

वैणुकीय-वि० [सं०] वेणु संबंधी । वेणु का ।

वैणुय-संज्ञा पुं० [सं०] वेद की एक शाखा का नाम ।

वैण्य-संज्ञा पुं० [सं०] राजा वेणु के पुत्र पृथु का एक नाम ।

वैतंडिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बहुत अधिक वितंडा करता
हो । व्यर्थ का झगड़ा या बहस करनेवाला ।

वैतंडी-संज्ञा पुं० [सं०] वैतंडिन् पुराणानुसार एक प्राचीन ऋषि
का नाम ।

वैतंसिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो मांस बेचता हो । मांसिक ।
बूचड़ । कसाई ।

वैतथ्य-संज्ञा पुं० [सं०] विफल होने का भाव । विफलता ।

वैतनिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो वेतन लेकर काम करता हो ।
तनखाह लेकर काम करनेवाला । नौकर । भत्य ।

वैतरणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रसिद्ध पौराणिक नदी जो यम के द्वारा पर मानी जाती है। कहते हैं कि यह नदी बहुत तेज बहती है, इसका जल बहुत ही गरम और बदबूदार है, और उसमें हड्डियाँ, लहू तथा बाल आदि भरे हुए हैं। यह भी माना जाता है कि प्राणी को मरने पर पहले यह नदी पार करनी पड़ती है, जिसमें उसे बहुत कष्ट होता है। परंतु यदि उसने अपनी जीवितवस्था में गोदान किया हो, तो वह उसी गौ की सहायता से सहज में पार उतर जाता है। पुराणों में लिखा है कि जब सती के वियोग में महादेवजी रोने लगे, तब उनके आँसुओं का प्रवाह देखकर देवता लोग बहुत डरे और उन्होंने शनि से प्रार्थना की कि तुम इस प्रवाह को ग्रहण करके सोख लो। शनि ने उस धारा को ग्रहण करना चाहा, पर उसे सफलता नहीं हुई। अंत में उसी धारा से यह वैतरणी नदी बनी। इसका विस्तार दो योजन माना गया है। पापियों को यह नदी पार करने में बहुत कष्ट होता है। (२) उड़ीसा की एक नदी का नाम जो बहुत पवित्र मानी जाती है।

वैतस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुरुष की मूर्चेन्द्रिय। लिंग। (२) अम्लबैत।

वैतसेन-संज्ञा पुं० [सं०] राजा पुरुरवा का एक नाम जो वीतसेना के पुत्र थे।

वैतालय-संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्वत का नाम।

वैतानिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह हवन या यज्ञ आदि जो श्रौत विधानों के अनुसार हो। (२) वह अग्नि जिससे अग्निहोत्र आदि कृत्य किए जायें।

वैताल-संज्ञा पुं० [सं०] स्तुति-पाठक। वैतालिक।

वि० वेताल संबंधी। वेताल का।

वैतालिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन आचार्य का नाम जो ऋग्वेद की एक शाखा के प्रवर्तक थे।

वैताल रस-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का रस जो गंधक, मिर्च और हरताल आदि के योग से बनता है और जो साक्षिपातिक ज्वर तथा मूर्च्छा आदि में उपयोगी माना जाता है।

वैतालिक-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का वह स्तुति-पाठक जो प्रातःकाल राजाओं को उनकी स्तुति करके जगाया करता था। स्तुति-पाठक।

वैताली-संज्ञा पुं० [सं०] वैतालिक का कर्त्तिकेय के एक अनुचर का नाम।

वैतालीय-संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्णवृत्त जिसके पहले तथा तीसरे चरणों में चौदह और दूसरे तथा चौथे चरणों में सोलह मात्राएँ होती हैं।

वि० वेताल संबंधी। वेताल का।

वैतृण्य-संज्ञा पुं० [सं०] तृष्णा से रहित होने का भाव।

वैदभ-संज्ञा पुं० [सं०] शिव का एक नाम।

वैद-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम जो विद नाम ऋषि के पुत्र थे।

वि० विद्वान् या पंडित संबंधी।

संज्ञा पुं० दे० "वैद्य"।

वैद्यक-संज्ञा पुं० दे० "वैद्यक"।

वैद्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विद्वान् या पूर्ण पंडित होने का भाव। पांडित्य। विद्वत्ता। (२) कार्यकुशलता। पटुता। (३) चतुरता। चालाकी। (४) रसिकता। (५) शोभा। (६) हाव भाव।

वैद्य-संज्ञा पुं० [सं०] विद्वान् या पूर्ण पंडित होने का भाव। पांडित्य। विद्वत्ता।

वैदत-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो किसी विषय का अच्छा ज्ञाता हो। जानकार।

वैदनुत-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम।

वैदर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विदर्भ देश का राजा या शासक। (२) दमयंती के पिता भीमसेन का एक नाम। (३) रुक्मिणी के पिता भीष्मक का एक नाम। (४) वह जो बातचीत करने में बहुत चतुर हो। (५) बातचीत करने की चतुराई। वाक्-चातुरी। (६) एक रोग जिसमें मसूड़े फूल जाते हैं और उनमें पीड़ा होती है। वि० (१) जो विदर्भ देश में उत्पन्न हुआ हो। (२) विदर्भ देश का।

वैदर्भक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो विदर्भ देश का निवासी हो।

वैदर्भी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) काव्य की एक रीति। वह रीति या शैली जिसमें मधुर वर्णों के द्वारा मधुर रचना होती है। यह सब से अच्छी समझी जाती है। (२) अगस्त्य ऋषि की स्त्री का एक नाम। (३) दमयंती। (४) रुक्मिणी।

वैदल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मिट्टी का वह पात्र जिसमें भिख-मंगे भीख माँगते हैं। (२) एक प्रकार की पीठी।

वैदारिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सक्षिपात ज्वर। इसमें वायु का प्रकोप कम, पित्त का मध्यम और कफ का अधिक होता है; रोगी की हड्डियाँ और कमर में पीड़ा होती है; उसे भ्रम, क्लान्ति, श्वास, खाँसी और हिचकी होती है; और सारा शरीर सुन्न हो जाता है। ऐसा सक्षिपात जल्दी अच्छा नहीं होता।

वैदिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो वेदों में बतलाए हुए कर्मकांड का अनुष्ठान करता हो। वेद में कहे हुए कृत्य करनेवाला। (२) वह जो वेदों आदि का अच्छा ज्ञाता हो। वेदों का पंडित।

वि० (१) जो वेदों में कहा गया हो। (२) वेद संबंधी।

वेद का। जैसे,—वैदिक काल।

वैदिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बनजायुन।

वैदिश-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो विदिशा का निवासी हो।

वैदुल-संज्ञा पुं० [सं०] बेंत की जड़।

वैदुष-संज्ञा पुं० [सं०] विद्वान्। पंडित।

वैदुष्य-संज्ञा पुं० [सं०] विद्वत्ता। पांडित्य।

वैदूर्य-संज्ञा पुं० [सं०] धूमिल रंग का एक प्रकार का रत्न या बहुमूल्य पत्थर जिसे “लहसुनिया” कहते हैं। दे० “लहसुनिया”।

विशेष—फलित ज्योतिष के अनुसार इस रत्न के अधिष्ठाता देवता केतु माने गए हैं; और कहा गया है कि जब केतु ग्रह खराब या बिगड़ा हुआ हो, तो यह रत्न धारण करना चाहिए। हमारे यहाँ इसकी गणना महारत्नों में है। सुतार, वन, अद्रच्छ, कलिल और व्यंग ये पाँच इसके गुण और कर्कर, कर्कश, त्रास, कलंक और देह ये पाँच इसके दोष कहे गए हैं। कुछ लोगों का मत है कि यह रत्न विदूर पर्वत पर होता है, इसी से वैदूर्य कहलाता है। वैद्यक के अनुसार यह अम्ल, उष्ण, कफ तथा वायु का नाशक और गुल्म तथा शूल को शांत करनेवाला है।

पर्याय—केतुरत्न। अभ्ररोह। विदूररत्न। विदूरज। खराब्जाकुर।

वैदेशिक-वि० [सं०] विदेश संबंधी। विदेश का।

वैदेश्य-वि० दे० “वैदेशिक”।

वैदेह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा निमि के पुत्र का नाम। कहते हैं कि जब राजा निमि निःसंतान मर गए, तब धर्म का लोप हो जाने के भय से ऋषियों ने अरणी से मथकर इन्हें, राज्य करने के लिये, उत्पन्न किया था। (२) वनिक। सौदागर। (३) प्राचीन काल की एक वर्णसंकर जाति जिसका काम अंतःपुर में पहरा देना था। मनु के अनुसार इस जाति की उत्पत्ति ब्राह्मणी माता और वैश्य पिता से है।

वैदेहक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वनिक। व्यापारी। (२) वैदेह नामक वर्णसंकर जाति।

वैदेहिक-संज्ञा पुं० दे० “वैदेह” (२) और (३)।

वैदेही-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विदेह राजा जनक की कन्या, सीता। (२) वैदेह जाति की स्त्री। (३) रोचना। (४) पीपल। पिप्पली।

वैद्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पंडित। विद्वान्। (२) वह जो आयुर्वेद का ज्ञाता हो और उसके अनुसार रोगियों की चिकित्सा आदि करता हो। भिषक्। चिकित्सक। (३) वासक वृक्ष। (४) एक जाति जो प्रायः बंगाल में पाई जाती है।

है। इस जाति के लोग अपने आप को “अंबष्ठ संतान” कहते हैं।

वि० वेद संबंधी। वेद का।

वैद्यक-संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसमें रोगों के निदान और चिकित्सा आदि का विवेचन हो। चिकित्सा शास्त्र। आयुर्वेद। वि० दे० “आयुर्वेद”।

वैद्यनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] बंगाल का एक प्रसिद्ध तीर्थ जो संथाल परगने के अंतर्गत है। यहाँ इसी नाम का शिव का एक प्रसिद्ध मंदिर है।

वैद्यमाता-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यमातृ। वासक वृक्ष। अडूसा।

वैद्यराज-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो अच्छा वैद्य हो। वैद्यों में श्रेष्ठ।

वैद्यसिंही-संज्ञा स्त्री० [सं०] वासक वृक्ष।

वैद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] काकोली।

वैद्यानि-संज्ञा पुं० [सं०] वैदिक काल के एक ऋषि-पुत्र का नाम।

वैद्युत-वि० [सं०] विद्युत् संबंधी। बिजली का।

संज्ञा पुं० (१) विद्युत् का देवता। (२) पुराणानुसार शाल्मलि द्वीप के एक वर्ष का नाम।

वैद्युतगिरि-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम।

वैद्रुम-वि० [सं०] विद्रुम संबंधी। मूँगे का।

वैद्य-वि० [सं०] जो विधि के अनुसार हो। कायदे या कानून के मुताबिक। ठीक। जैसे,—वैद्य आंदोलन। वैद्य हिंसा।

वैधर्म्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विधर्मी होने का भाव। (२) वह जो अपने धर्म के अतिरिक्त अन्यान्य धर्मों के सिद्धांतों का भी अच्छा ज्ञाता हो। (३) नास्तिकता।

वैधवा-संज्ञा पुं० [सं०] विधु अर्थात् चंद्रमा के पुत्र, बुध।

वैधवेय-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो विधवा के गर्भ से उत्पन्न हुआ हो। विधवा का पुत्र।

वैधव्य-संज्ञा पुं० [सं०] विधवा होने का भाव। रूँडापा।

वैधस-संज्ञा पुं० [सं०] राजा हरिश्चंद्र का एक नाम जो राजा वैधस के पुत्र थे।

वैधातनिक-संज्ञा पुं० दे० “वैधात्र”।

वैधात्र-संज्ञा पुं० [सं०] सनत्कुमार, जो विधाता के पुत्र माने जाते हैं।

वैधात्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] ब्राह्मी नाम की जड़ी।

वैधुमाद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नगरी का नाम जो शाल्व देश में थी।

वैधूर्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विधुर होने का भाव। हताश या कातर होने का भाव। (२) अम। संदेह। (३) कंपित होने का भाव।

वैधूत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो विद्युति का पुत्र या संतान हो। (२) ग्यारहवें मन्वंतर के एक इंद्र का नाम।

वैधृतवाशिष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] एक साम का नाम ।

वैधृति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ज्योतिष में विष्कम्भ आदि सत्ताईस योगों में से एक योग जो अशुभ माना जाता है । इस योग में यात्रा अथवा कोई शुभ कार्य करना वर्जित है । (२) भागवत के अनुसार एक देवता जो विधृति के पुत्र हैं ।

वैधेय-वि० [सं०] (१) विधि संबंधी । विधि का । (२) संबंधी । (३) मूर्ख । बेवकूफ । ना समझ ।

वैध्यत-संज्ञा पुं० [सं०] यम के एक प्रतिहार का नाम ।

वैन-संज्ञा पुं० [सं०] राजा वेन के पुत्र पृथु का एक नाम ।

वैनतक-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का पात्र जिसमें घी रखा जाता था और जिसका व्यवहार यज्ञों में होता था ।

वैनतेय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विनता की संतान । (२) गरुड़ । (३) अरुण ।

वैनतेयी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वैदिक शाखा का नाम ।

वैनत्य-वि० [सं०] जिसका स्वभाव विनीत हो । नम्र ।

वैनद-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नदी का नाम ।

वैनभृत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन गोत्र प्रवर्त्तक ऋषि का नाम । (२) एक वैदिक शाखा का नाम ।

वनयिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विनय । प्रार्थना । (२) वह जो शास्त्रों आदि का अध्ययन करता हो । (३) प्राचीन काल का एक प्रकार का रथ जिसका व्यवहार युद्ध में होता था । वि० विनय संबंधी । विनय का ।

वैनायक-वि० [सं०] विनायक या गणेश संबंधी ।

संज्ञा पुं० भागवत के अनुसार भूतों का एक गण ।

वैनायिक-वि० [सं०] विनायक संबंधी ।

संज्ञा पुं० वह जो बौद्ध धर्म का अनुयायी हो । बौद्ध ।

वैनाशिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फलित ज्योतिष में जन्म-नक्षत्र से तेईसवाँ नक्षत्र । (२) जन्म नक्षत्र से सातवाँ, दसवाँ और अठारहवाँ नक्षत्र । ये तीनों नक्षत्र अशुभ समझे जाते हैं और निधन-तारा कहलाते हैं । इन नक्षत्रों में यात्रा करना वर्जित है । (३) बौद्ध ।

वि० (१) विनाश संबंधी । (२) परतंत्र । पराधीन ।

वैनीतक-संज्ञा पुं० [सं०] ऐसी सवारी जिसे कई आदमी मिलकर उठाते हों । जैसे, — डोली, पालकी, सामजाम आदि ।

वैनेय-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक शाखा का नाम ।

वैन्य-संज्ञा पुं० [सं०] राजा वेन के पुत्र पृथु का एक नाम ।

वैपरीत्य-संज्ञा पुं० [सं०] विपरीत होने का भाव । विपरीतता । प्रतिकृष्टता ।

वैपश्चित-संज्ञा पुं० [सं०] ताक्ष्य नामक ऋषि का एक नाम जो विपश्चित ऋषि के वंशज थे ।

वैष्यत-संज्ञा पुं० [सं०] वैदिक काल के एक ऋषि का नाम ।

वैपादिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] विपादिका नामक रोग ।

वैपार-संज्ञा पुं० दे० “व्यापार” ।

वैपारी-संज्ञा पुं० दे० “व्यापारी” ।

वैपित्र-संज्ञा पुं० [सं०] वे भाई बहन आदि जिनकी माता तो एक ही हो, पर पिता अलग अलग हों ।

वैपुल्य-संज्ञा पुं० [सं०] विपुल होने का भाव । विपुलता । अधिकता ।

वैफल्य-संज्ञा पुं० [सं०] विफल होने का भाव । विफलता । नाकामयाबी ।

वैबाध-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का सिक्का । (२) वह अश्वत्थ वृक्ष जो खैर के वृक्ष में से निकला हो ।

वैबोधिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो रात के समय पहरा देता, घंटा बजाता और सोए हुए लोगों को जगाता हो ।

वैभंडि-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्रप्रवर्त्तक ऋषि का नाम । जिन्हें विभांडि भी कहते हैं ।

वैभव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) धन-संपत्ति । दौलत । विभव । ऐश्वर्य । (२) महिमा । महत्त्व । बड़प्पन । (३) सामर्थ्य । शक्ति । ताकत ।

वैभवशाली-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसके पास बहुत अधिक धन-संपत्ति हो । विभववाला । मालदार ।

वैभविक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो कोई काम करने की अच्छी सामर्थ्य रखता हो । समर्थ ।

वैभांडिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्रप्रवर्त्तक ऋषि का नाम ।

वैभार-संज्ञा पुं० [सं०] राजगृह के पास के एक पर्वत का नाम । इसे वैहार भी कहते थे ।

वैभाषिक-वि० [सं०] (१) विभाषा संबंधी । (२) वैकल्पिक । संज्ञा पुं० बौद्धों के एक संप्रदाय का नाम ।

वैभूतिक-वि० [सं०] विभूति संबंधी । विभूति का ।

वैभोज-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन जाति का नाम । महाभारत के अनुसार दुह्यु के वंशज वैभोज कहलाते थे । ये लोग सवारी आदि का व्यवहार करना नहीं जानते थे और न इन लोगों में कोई राजा हुआ करता था ।

वैभ्राज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवताओं का उद्यान या बाग । (२) पुराणानुसार मेरु के पश्चिम में सुपार्श्व पर्वत पर के एक जंगल का नाम । (३) पुराणानुसार एक पर्वत का नाम । (४) एक लोक का नाम जो स्वर्ग में माना जाता है ।

वैमनस्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विमन या अन्यमनस्क होने का भाव । (२) वैर । द्वेष । दुश्मनी ।

वैमल्य-संज्ञा पुं० [सं०] विमल होने का भाव । विमलता ।

वैमात्र-वि० [सं०] [स्त्री० वैमात्रा] विमाता से उत्पन्न । सौतेला ।

जैसे,—वैमात्र भाई ।

वैमात्रेय-वि० [सं०] [स्त्री० वैमात्रेयी] विमाता से उत्पन्न । सौतेला ।

वैमानिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो विमान पर चढ़कर अंतरिक्ष में विहार करता हो । (२) वह जो आकाश में विहार करता हो । आकाशचारी । (३) वह जो उड़ सकता हो ।

वैमित्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्तिकेय की एक मातृका का नाम ।

वैमुख्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विमुख होने का भाव । विमुखता । (२) विपरीतता । प्रतिकूलता । (३) अप्रसन्नता । नाराजगी । (४) भागना ।

वैमृध-संज्ञा पुं० [सं०] युद्ध करनेवाले, इंद्र ।

वैमृध-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो युद्ध विद्या में बहुत निपुण हो । युद्ध कुशल ।

वैमेष्य-संज्ञा पुं० [सं०] विनिमय । परिवर्तन । बदला ।

वैम्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्र-प्रवर्तक ऋषि का नाम ।

वैयमक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन जाति का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है ।

वैयर्थ्य-संज्ञा पुं० [सं०] व्यर्थ होने का भाव । व्यर्थता ।

वैयशन-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम ।

वैयश्व-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक ऋषि का नाम जो विश्वमनस् के पिता थे ।

वैयसन-वि० [सं०] व्यसन से उत्पन्न । व्यसन का ।

वैयाकरण-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो व्याकरण शास्त्र का अच्छा ज्ञाता हो । व्याकरण का पंडित ।

वि० व्याकरण संबंधी । व्याकरण का ।

वैयाख्य-संज्ञा स्त्री० दे० "व्याख्या" ।

वैयाघ्र-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का रथ जिस पर शेर या चीते की खाल मढ़ी होती थी । इसे द्वैप भी कहते थे ।

वि० व्याघ्र संबंधी । व्याघ्र का ।

वैयाघ्रपद्य-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल के एक गोत्र-प्रवर्तक ऋषि का नाम ।

वैयाघ्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का आसन ।

वैयास-वि० [सं०] व्यास संबंधी । व्यास का ।

वैयासकि-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो व्यास के गोत्र या वंश में उत्पन्न हो ।

वैयासिक-वि० [सं०] व्यास का बनाया हुआ (ग्रंथ आदि) ।

वैयास्क-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की वैदिक छंद ।

वैरंडेय-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन गोत्र-प्रवर्तक ऋषि का नाम ।

वैर-संज्ञा पुं० [सं०] शत्रुता । दुश्मनी । द्वेष । विरोध ।

क्रि० प्र०—करना ।—मानना ।—रखना ।—होना ।

वैरकर, वैरकारक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो किसी के साथ वैर करता हो । दुश्मनी करनेवाला ।

वैरक्त-संज्ञा पुं० [सं०] विरक्त होने का भाव । विरक्तता । वैराग्य ।

वैरत-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन जाति का नाम ।

वैरता-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैर का भाव । शत्रुता । दुश्मनी ।

वैरदेय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह वैर या शत्रुता जो किसी के शत्रुता करने पर उत्पन्न हो । (२) वैदिक काल के एक असुर का नाम ।

वैरपुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसके साथ वैर हो । शत्रु । दुश्मन ।

वैरह्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विरह होने का भाव । विरलता । (२) एकांत ।

वैरशुद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी के वैर का बदला चुकाना । दुश्मनी का बदला लेना ।

वैरस्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विरस होने का भाव । विरसता । (२) हृष्टा का न होना । अनिच्छा ।

वैराग-संज्ञा पुं० दे० "वैराग्य" ।

वैरागिक-वि० [सं०] जिसके कारण विराग उत्पन्न हो ।

वैरागी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसके मन में विराग उत्पन्न हुआ हो । वह जिसका मन संसार की ओर से हट गया हो । विरक्त । (२) उदासीन वैष्णवों का एक संप्रदाय । इस संप्रदाय के लोग रामानुज के अनुयायी होते हैं और श्रीकृष्ण अथवा रामचंद्र की उपासना करते हैं । ये लोग प्रायः भिक्षा माँगकर अपना निर्वाह करते हैं और अखाड़े बनाकर रहते हैं । बंगाल के कुछ वैरागी विवाह करके गृहस्थों की भाँति भी रहते हैं ।

वैराग्य-संज्ञा पुं० [सं०] मन की वह वृत्ति जिसके अनुसार संसार की विषयवासना तुच्छ प्रतीत होती है और लोग संसार की झंझटें छोड़कर एकांत में रहते और ईश्वर का भजन करते हैं । विरक्ति ।

वैराज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विराट् पुरुष । परमात्मा । (२) एक मनु का नाम । (३) एक प्रकार का साम । (४) भागवत के अनुसार अजित के पिता का नाम । (५) सत्ताहसर्वे कल्प का नाम । (६) तपोलोक में रहनेवाले एक प्रकार के पितृ । कहते हैं कि ये कभी आग से नहीं जल सकते । (७) दे० "वैराज्य" ।

वैराजक-संज्ञा पुं० [सं०] उन्नीसवें कल्प का नाम ।

वैराज्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल की एक प्रकार की

शासन प्रणाली जिसमें एक ही देश में दो राजा मिलकर शासन करते थे। एक ही देश में दो राजाओं का शासन। (२) वह देश जहाँ इस प्रकार की शासन प्रणाली प्रचलित हो।

वैराट-वि० [सं०] (१) विराट संबंधी। विराट का। (२) विस्तृत। लंबा चौड़ा।

संज्ञा पुं० (१) इंद्रगोप नाम का कीड़ा। वीरबहूटी। (२) महाभारत का विराट पर्व।

वैराटक-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार शरीर में किसी स्थान पर होनेवाली वह गॉँट जो जहरीली हो।

वैराट्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] जैनियों के अनुसार सोलह विद्या-देवियों में से एक विद्यादेवी का नाम।

वैरातक-संज्ञा पुं० [सं०] अर्जुन या कोह नाम का वृक्ष।

वैराम-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन जाति का नाम।

वैरिचि-वि० [सं०] विरिचि या ब्रह्मा संबंधी। ब्रह्मा का।

वैरिच्य-संज्ञा पुं० [सं०] सनक आदि ऋषि जो ब्रह्मा के पुत्र माने जाते हैं।

वैरि-संज्ञा पुं० [सं०] वैरी। शत्रु। दुश्मन।

वैरिण-संज्ञा पुं० [सं०] वैरी। शत्रु। दुश्मन।

वैरिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैर का भाव। शत्रुता। दुश्मनी।

वैरिवीर-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार दशरथ के एक पुत्र जिनका दूसरा नाम इलविल भी है।

वैरूप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन प्रवरकार ऋषि का नाम। (२) एक प्रकार का साम।

वैरूपाक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो विरूपाक्ष के गोत्र या वंश में उत्पन्न हुआ हो।

वैरूप्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विरूप का भाव या धर्म। विरूपता। (२) विकृत होने का भाव।

वैरेचन-वि० [सं०] विरेचन संबंधी। विरेचन का।

वैरोचन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बुद्ध का एक नाम। (२) राजा बलि का एक नाम। (३) सूर्य के एक पुत्र का नाम। (४) अग्नि के एक पुत्र का नाम।

वैरोचनि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बुद्ध का एक नाम। (२) राजा बलि का एक नाम। (३) सूर्य के एक पुत्र का नाम।

वैरोचि-संज्ञा पुं० [सं०] राजा बलि के पुत्र बाण दैत्य का एक नाम।

वैरोट्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] जैनियों की सोलह विद्यादेवियों में से एक विद्यादेवी का नाम।

वैरोद्धार-संज्ञा पुं० [सं०] किसी के वैर का बदला चुकाना। वैर-मुक्ति।

वैल-संज्ञा पुं० [सं०] बेल नामक वृक्ष या उसका फल।

वैलक्षर्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विलक्षण होने का भाव। विलक्षणता। (२) विभिन्न या अलग होने का भाव। विभिन्नता।

वैलक्ष्म-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लज्जा। संकोच। शर्म। (२) विस्मय। आश्चर्य। ताज्जुब। (३) स्वभाव की विलक्षणता।

वैलस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] श्मशान। मरघट।

वैल्व-संज्ञा पुं० [सं०] बिल्व या बेल नामक फल। श्रीफल।

वि० बिल्व या बेल नामक फल के संबंध का। बेल का।

वैवधिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो अनाज आदि बेचकर अपना निर्वाह करता हो। गल्ले का व्यापारी। (२) दूत। (३) बोझ देनेवाला। मजदूर।

वैवर्ण्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विवर्ण या मलिन होने का भाव। मलिनता। (२) सौंदर्य या लावण्य का अभाव। (३) स्त्रियों के आठ प्रकार के सात्विक भावों में से एक प्रकार का भाव।

वैवर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] किसी पदार्थ का चक्र या पहिए के समान घूमना।

वैवश्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विवश होने का भाव। विवशता। लाचारी। (२) दुर्बलता। कमजोरी।

वैवस्वत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य के एक पुत्र का नाम। (२) एक रुद्र का नाम। (३) शनैश्चर। (४) पुराणानुसार एक मनु का नाम। आजकल का मन्वंतर इन्हीं मनु का माना जाता है। इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, कश्यप, नरिष्यंत, पृषध्र, नाभाग और कवि ये दस इनके पुत्र माने गए हैं। (५) पुराणानुसार वर्तमान मन्वंतर का नाम। इस मन्वंतर के अवतार वामन, पुरंदर इंद्र, देवता आदिथ्यगण, वसुगण, रुद्रगण, मरुद्गण आदि और ऋषि कश्यप, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि कहे गए हैं। (६) एक तीर्थ का नाम।

वैवस्वतद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] मोगरा चावल।

वैवस्वती-संज्ञा स्त्री० [सं०] दक्षिण दिशा जो वैवस्वत मनु की मानी गई है।

वैवाह-वि० [सं०] विवाह संबंधी। विवाह का।

वैवाहिक-संज्ञा पुं० [सं०] कन्या अथवा वर का स्वसुर। समधी।

वि० विवाह संबंधी। विवाह का।

वैवाह्य-वि० [सं०] (१) विवाह संबंधी। विवाह का। (२) जो विवाह के योग्य हो।

संज्ञा पुं० वह समारोह या उत्सव जो विवाह के अवसर पर हो।

वैवृत्त-संज्ञा पुं० [सं०] उदात्त आदि स्वरों का क्रम।

वैशंपायन-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रसिद्ध ऋषि का नाम जो वेद-

व्यास के शिष्य थे। कहते हैं कि महर्षि व्यासदेव की आज्ञा से इन्हीं ने जन्मेजय को महाभारत की कथा सुनाई थी।
वैशद्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विशद होने का भाव। विशदता।
(२) निर्मल या स्वच्छ होने का भाव। निर्मलता।

वैशाली-संज्ञा स्त्री० दे० "वैशाली"।

वैशाख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मथानीमें का ढंडा। मंथन दंड।
(२) लाल गदहपुरना। (३) बारह महीनों में से एक महीना जो चंद्र गणना से दूसरा और सौर गणना के अनुसार पहला महीना होता है। इस मास की पूर्णिमा विशाखा नक्षत्र में पड़ती है, इसी लिये इसे वैशाख कहते हैं। चैत के बाद का और जेठ के पहले का महीना। (४) एक प्रकार का ग्रह जिसका प्रभाव घोड़ों पर पड़ता है और जिसके कारण उसका शरीर भारी हो जाता और वह कौंपने लगता है।

वैशाखो-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह पूर्णिमा जो विशाखा नक्षत्र से युक्त हो। वैशाख मास की पूर्णिमा। (२) लाल गदहपुरना। (३) पुराणानुसार वसुदेव की एक स्त्री का नाम।

वैशाख्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

वैशारद-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो किसी विषय का अच्छा ज्ञाता हो। विशारद। पंडित।

वैशाख्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विशारद या पंडित होने का भाव। (२) निर्मलता। स्वच्छता। सफाई।

वैशाल-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

वैशाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन बौद्ध काल की एक प्रसिद्ध नगरी जो विशाल नगरी या विशालपुरी भी कहलाती थी। कहते हैं कि राजा तुणविंदु के पुत्र विशाल ने यह नगरी बसाई थी। जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर का जन्म यहीं हुआ था और बुद्ध भगवान् कई बार यहाँ गए थे। किसी समय यह नगरी बहुत प्रसिद्ध थी और यहाँ बौद्धों की बहुत प्रधानता थी। यहाँ का लिच्छवी राजवंश इतिहासों में प्रसिद्ध है। यहाँ जैनियों का भी तीर्थ था। विद्वानों का मत है कि आधुनिक मुजफ्फरपुर जिले का बसाढ़ नामक गाँव प्राचीन वैशाली का ही अवशेष है।

वैशालीय-संज्ञा पुं० [सं०] जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर का एक नाम।

वैशालेय-संज्ञा पुं० [सं०] तक्षक, जो विशाल के वंशज माने जाते हैं।

वैशिक-संज्ञा पुं० [सं०] साहित्य के अनुसार तीन प्रकार के नायकों में से एक प्रकार का नायक। वह नायक जो वेश्याओं के साथ भोग-विलास करता हो। वेश्यागामी नायक।

वि० वेश संबंधी। वेश का।

वैशिक्य-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन जाति का नाम।

वैशिजाता-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुत्रदात्री नाम की लता।

वैशीपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वेश्या का पुत्र।

वैशेषिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छः दर्शनों में से एक जो महर्षि कणाद कृत है और जिसमें पदार्थों का विचार तथा द्रव्यों का निरूपण है। पदार्थ विद्या।

विशेष—महर्षि कणाद का एक नाम उलूक भी है, इससे इसे 'औलूक्य दर्शन' भी कहते हैं। यह दर्शन न्याय के ही अंतर्गत माना जाता है। सिद्धांत-पक्ष में 'न्याय' कहने से दोनों का बोध होता है; क्योंकि गौतम में प्रमाण-पक्ष प्रधान है और इसमें प्रमेय-पक्ष लिया गया है। ईश्वर, जगत्, जीव आदि के संबंध में दोनों के सिद्धांत एक ही हैं। यह दर्शन गौतम से पीछे का माना जाता है। गौतम ने मुख्यतः तर्क-पद्धति और प्रमाण-विषय का ही निरूपण किया है, पर कणाद उससे आगे बढ़कर द्रव्यों की परीक्षा में प्रवृत्त हुए हैं। नौ द्रव्यों की विशेषताएँ बताने के ही कारण इनके दर्शन का नाम वैशेषिक पड़ा। नौ द्रव्य ये हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। इनमें से पृथ्वी, जल, तेज और वायु नित्य भी हैं और अनित्य भी; अर्थात् परमाणु-अवस्था में तो वे नित्य हैं और स्थूल अवस्था में अनित्य। आकाश, काल, दिक् और आत्मा नित्य और सर्वव्यापक हैं। मन नित्य तो है, पर व्यापक नहीं, क्योंकि वह अणु-रूप है। द्रव्यों की विशेषता इसी प्रकार कणाद ने बताई है।

गौतम ने सोलह पदार्थ माने थे, पर कणाद ने छः ही पदार्थ रखे—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। अंधकार आदि को इन छः के अंतर्गत आता न समझकर पीछे से एक सातवाँ पदार्थ 'अभाव' भी बढ़ाया गया। द्रव्यों के उद्देश (परिगणन), लक्षण और परीक्षा के उपरान्त कणाद ने गुण और कर्म को लिया है जो द्रव्यों में रहते हैं। संख्या, पृथक्त्व, बुद्धि, सुख, दुःख इत्यादि २४ गुण गिनाए गए हैं। उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदि पाँच प्रकार की गतियाँ कर्म के अंतर्गत ली गई हैं। अब रहा 'सामान्य'। वह द्रव्य, गुण और कर्म इन्हीं तीनों में सत्ता के रूप में पाया जाता है। पाँचवाँ पदार्थ 'विशेष' पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणुओं में तथा शेष पाँच द्रव्यों में पाया जाता है। 'विशेष' अनंत होते हैं। 'समवाय' जहाँ कहीं पाया जायगा, वही रहेगा; अतः वह एक ही है।

वैशेषिक का परमाणुवाद प्रसिद्ध है। द्रव्यखंड के टुकड़े करते करते जब ऐसा टुकड़ा रह जाता है जिसके और टुकड़े नहीं हो सकते, तब वह परमाणु कहलाता है। परमाणु नित्य और अक्षर हैं। इन्हीं की योजना से सब

पदार्थ बनते हैं और सृष्टि होती है। आकाश को छोड़ कर जितने प्रकार के भूत होते हैं, उतने ही प्रकार के परमाणु होते हैं; जैसे—पृथ्वी-परमाणु, जल-परमाणु, तेज-परमाणु और वायु-परमाणु। वैशेषिक में दो परमाणुओं के योग को द्व्यणुक कहते हैं। आगे चलकर यही द्व्यणुक अधिक संख्या में मिलते जाते हैं, जिससे नाना प्रकार के पदार्थ बनते हैं; जैसे, तीन द्व्यणुओं से त्रसरेणु, चार द्व्यणुओं से चतुरणुक इत्यादि। कारण-गुण पूर्वक ही कार्य के गुण होते हैं; अतः जिस गुण के परमाणु होंगे, उसी गुण के उनसे बने पदार्थ होंगे। पदार्थों में जो नाना भेद दिखाई पड़ते हैं, वे सन्निवेश-भेद से होते हैं। तेज के संबंध से वस्तुओं के गुण में बहुत कुछ फेरफार हो जाता है।

परमाणुओं के बीच अंतर की धारणा न होने के कारण वैशेषिकों को “पीलुपाक” नाम का विलक्षण मत ग्रहण करना पड़ा। इस मत के अनुसार बड़ा भाग में पड़कर इस प्रकार लाल होता है कि अग्नि के तेज से बड़े के परमाणु अलग अलग हो जाते हैं और फिर लाल होकर मिल जाते हैं। बड़े का यह बनना और बिगड़ना इतने सूक्ष्म काल में होता है कि कोई देख नहीं सकता।

परमाणुओं का संयोग सृष्टि के आदि में कैसे होता है इस संबंध में कहा गया है कि ईश्वर की इच्छा या प्रेरणा से परमाणुओं में गति या क्षोभ उत्पन्न होता है और वे परस्पर मिलकर सृष्टि की योजना करने लगते हैं। ऊपर जो नौ द्रव्य कहे गए हैं, उनमें ‘आत्मा’ भी है। आत्मा दो प्रकार का कहा गया है—ईश्वर और जीव। ईश्वर की सत्ता और कर्तृत्व मानने के कारण ही न्याय और वैशेषिक भक्तों और पौराणिकों के आक्षेपों से बचे रहे हैं।

और दर्शनों के समान इस दर्शन पर भाष्य नहीं मिलते। प्रज्ञस्तपाद का “पदार्थधर्म संग्रह” नायक ग्रंथ वैशेषिक सूत्रों का भाष्य कहा जाता है; पर वह वास्तव में भाष्य नहीं है, सूत्रों के आधार पर बना हुआ अलग ग्रंथ है।

(२) कणाद का अनुयायी। वैशेषिक दर्शन का माननेवाला।

वैशेष्य-संज्ञा पुं० [सं०] विशेष का भाव। विशेषता।

वैश्य-संज्ञा पुं० [सं०] भारतीय आर्यों के चार वर्णों में से तीसरा वर्ण जो “द्विजाति” के अंतर्गत और उसमें अंतिम है। इनका धर्म यजन, अध्ययन और पशुपालन तथा वृत्ति कृषि और वाणिज्य है। आज कल अधिकांश वैश्य प्रायः वाणिज्य-व्यवसाय करके ही जीविका निर्वाह करते हैं। विशेष—“वैश्य” शब्द वैदिक “विश” से निकला है। वैदिक काल में प्रजा मान को विश कहते थे। पर जब बाद

में वर्णव्यवस्था हुई, तब वाणिज्य-व्यवसाय और गोपालन आदि करनेवाले लोग वैश्य कहलाने लगे। आजकल इन वैश्यों में देश और वंश आदि के भेद से अनेक जातियाँ और उपजातियाँ पाई जाती हैं। जैसे,—अग्रवाल, ओसवाल, रस्तोगी, भाटिए आदि।

वैश्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैश्य का भाव या धर्म। वैश्यत्व। वैश्यभद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बौद्धों की वैश्या और भद्रा नाम की दो देवियाँ।

वैश्यसव-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सव या यज्ञ।

वैश्यस्तोम-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ।

वैश्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वैश्य जाति की स्त्री। (२) हलदी।

वैश्रम्भक-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार देवताओं के एक उद्यान या बाग का नाम।

वैश्रवण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुबेर। (२) शिव। महादेव।

वैश्रमणाल्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुबेर के रहने का स्थान। (२) वट वृक्ष। बड़ का पेड़। बरगद।

वैश्रवणोदय-संज्ञा पुं० [सं०] वट वृक्ष। बरगद का पेड़।

वैश्व-वि० [सं०] विश्वदेव संबंधी। विश्वदेव का।

संज्ञा पुं० उत्तराषाढा नक्षत्र का एक नाम।

वैश्वजनीन-वि० [सं०] विश्व भर के लोगों से संबंध रखने-वाला। समस्त संसार के लोगों का।

संज्ञा पुं० वह जो समस्त विश्व या संसार के लोगों का कल्याण करता हो।

वैश्वज्योतिष-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम।

वैश्वदेव-संज्ञा पुं० [सं०] वह होम या यज्ञ आदि जो विश्वदेव के उद्देश्य से किया जाय। इसमें केवल पके हुए अन्न से विश्वदेव के उद्देश्य से आहुति दी जाती है और ब्राह्मणों को भोजन कराने की आवश्यकता नहीं होती।

वैश्वदेवत-संज्ञा पुं० [सं०] उत्तराषाढा नक्षत्र जिसके अधिष्ठाता विश्वदेव माने जाते हैं।

वैश्वदेविक-वि० [सं०] विश्वदेव संबंधी। विश्वदेव का।

वैश्वमनस-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम।

वैश्वयुग-संज्ञा पुं० [सं०] कलित ज्योतिष के अनुसार बृहस्पति के शोमकृत, शुभकृत, क्रोधी, विश्वावसु और परामव नामक पाँच संवत्सरों का युग या समूह। इनमें से पहले दो संवत्सर शुभ और शेष दो अशुभ माने जाते हैं।

वैश्वानर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि। (२) चित्रक या चीता नाम का वृक्ष। (३) पित्त। पित्ता। (४) परमात्मा। (५) चेतन।

वैश्वानर चूर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का चूर्ण जो सेंधा नमक, अजवायन और हरे आदि से बनाया जाता है।

यह आमवात, शूल और गुल्म आदि के लिये बहुत उपयोगी माना जाता है।

वैश्वानर मार्ग-संज्ञा पुं० [सं०] अग्निकोण या पूर्व और दक्षिण के बीच का कोना जो वैश्वानर का मार्ग माना जाता है।

वैश्वानर वटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार की गोली जो पारे, गंधक, ताँबे, लोहे, शिलाजीत, सोंठ, पीपल, चित्रक तथा मिर्च आदि के योग से बनाई जाती है और जो पेट के रोगों में उपकारी मानी जाती है।

वैश्वानरविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक उपनिषद् का नाम।

वैश्वसिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिस पर विश्वास किया जाय। एतवार करने के काबिल। विश्वस्त।

वैश्वी-संज्ञा स्त्री० [सं०] उत्तराषाढ़ा नक्षत्र।

वैषम-संज्ञा पुं० [सं०] विषम होने का भाव। विषमता।

वैषम्य-संज्ञा पुं० [सं०] विषम होने का भाव। विषमता।

वैषयिक-वि० [सं०] विषय संबंधी। विषय का।

संज्ञा पुं० वह जो सदा विषय वासना में रत रहता हो। विषयी। लंपट।

वैषुवत-संज्ञा पुं० [सं०] विषुव संक्रांति।

वैष्णिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह पशु या पक्षी जो चारों ओर घूम फिरकर आहार प्राप्त करता हो।

वैष्टम्भ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम।

वैष्टत-संज्ञा पुं० [सं०] होम की भस्म।

वैष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वर्ग। (२) वायु। (३) विष्णु।

वैष्णव-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० वैष्णवी] (१) वह जो विष्णु की आराधना करता हो। विष्णु की उपासना करनेवाला। (२) हिंदुओं का एक प्रसिद्ध धार्मिक संप्रदाय। इस संप्रदाय के लोग प्रधानतः विष्णु की उपासना करते हैं और अपेक्षाकृत विशेष आचार विचार से रहते हैं।

विशेष—भारतवर्ष में विष्णु की उपासना बहुत प्राचीन काल से चली आती है। महाभारत के समय में यह धर्मपांचरात्र या नारायणीय धर्म कहलाता था। पीछे यही भागवत धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ और इसमें वासुदेव या कृष्ण की उपासना प्रधान हुई। नारायणीय आख्यान में लिखा है कि पहले नारायण ने इस धर्म का उपदेश ब्रह्मा को किया था। ब्रह्मा ने नारद को, नारद ने व्यास को और व्यास ने शुकदेव को यह धर्म बतलाया था; और तब शुकदेव से सर्वसाधारण में प्रचलित हुआ था। शंकराचार्य ने इस मत को अवैदिक सिद्ध करना चाहा था, जिसका रामानुजाचार्य ने खंडन किया। बीच में इस धर्म का कुछ हास हो गया था; पर चैतन्य, रामानुजाचार्य, बल्लभाचार्य आदि आचार्यों ने इस धर्म का फिर से बहुत अधिक प्रचार किया; और इस समय यह भारत के मुख्यसंप्रदायों में से एक है। यह

धर्म भक्ति-प्रधान है और इसमें विष्णु ही उपास्य हैं। आज कल इस संप्रदाय की अनेक शाखाएँ और प्रशाखाएँ निकल आई हैं—चैतन्य, बल्लभ इत्यादि। अधिक संप्रदाय विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण के उपासक हैं। कुछ संप्रदायवाले माथे पर के तिलक के अतिरिक्त दाँव, चक्र, गदा, पद्म आदि चिह्न भी तप्त धातु से शरीर में अंकित कराते हैं।

(३) यज्ञ कुंड की भस्म। (४) विष्णु पुराण।

वि० विष्णु संबंधी। विष्णु का।

वैष्णवत्व-संज्ञा पुं० [सं०] वैष्णव होने का भाव या धर्म। वैष्णवता।

वैष्णवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विष्णु की शक्ति। (२) दुर्गा। (३) गंगा। (४) अपराजिता या कोयल नाम की लता। (५) शतावर। (६) तुलसी। (७) पृथ्वी। (८) श्रवण नक्षत्र। (९) एक प्रकार का साम।

वैष्णव्य-वि० [सं०] विष्णु संबंधी। विष्णु का।

वैसर्गिक-वि० [सं०] जो विसर्जन करने या त्यागने योग्य हो। त्याज्य।

वैसर्जन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विसर्जन करने या उत्सर्ग करने की क्रिया। (२) वह जो विसर्जित या उत्सर्ग किया जाय। (३) यज्ञ की बलि।

वैसर्प-संज्ञा पुं० [सं०] विसर्प नामक रोग।

वैसादश्य-संज्ञा पुं० [सं०] असदृश या असमान होने का भाव। असमानता। विषमता।

वैसारिण-संज्ञा पुं० [सं०] मछली।

वैसृप-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक दानव का नाम।

वैस्तारिक-वि० [सं०] विस्तार संबंधी। विस्तार का।

वैस्वर्य्य-संज्ञा पुं० [सं०] स्वर का विकृत होना। गला बैठना।

वैहंग-वि० [सं०] विहंग संबंधी। विहंग का।

वैहार-संज्ञा पुं० [सं० वैभार] एक पर्वत जो मगध में राजगृह के पास है। वैभार।

वैहार्य्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसके साथ हँसी मजाक आदि का संबंध हो। जैसे,—साला, सरहज, साली आदि।

वैहासिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो सब को हँसाता हो। विद्व-पक। भाँड़।

वोक्काण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बृहत्संहिता के अनुसार एक देश का नाम। (२) इस देश का निवासी।

वोट-संज्ञा पुं० [अं०] वह सम्मति जो किसी सार्वजनिक पद पर किसी को निर्वाचित करने या न करने, अथवा सर्व-साधारण से संबंध रखनेवाले किसी नियम या कानून आदि के निर्धारित होने या न होने आदि के विषय में प्रकट की जाती है। किसी सार्वजनिक कार्य आदि के होने अथवा न होने आदि के संबंध में दी हुई अलग अलग राय। छद्म।

विशेष—आज कल प्रायः सभा समितियों में निर्वाचन के संबंध में या और किसी विषय में सभासदों अथवा उपस्थित लोगों की सम्मतियाँ ली जाती हैं। यह सम्मति या तो हाथ उठाकर या खड़े होकर या कागज आदि पर लिखकर प्रकट की जाती है। इसी सम्मति को वोट कहते हैं। आज-कल प्रायः म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों तथा काउन्सिलों आदि के चुनाव में कुछ विशिष्ट अधिकार प्राप्त लोगों से वोट लिया जाता है। भारतवर्ष में प्राचीन बौद्ध काल में और उसके पहले भी इससे मिलती जुलती सम्मति देने की प्रथा थी, जिसे छंदस् या छंद कहते थे।

क्रि० प्र०—देना।—मँगना।

वोटर—संज्ञा पुं० [वं०] वह जिसे वोट या सम्मति देने का अधिकार प्राप्त हो। वोट या सम्मति देनेवाला।

यो०—वोटर लिस्ट।

वोटर लिस्ट—संज्ञा स्त्री० [वं० वोट + लिस्ट] वह सूची जिसमें किसी विषय में वोट देने के अधिकारियों के नाम और पते आदि लिखे रहते हैं। वोट देनेवालों की सूची।

वोटा—संज्ञा स्त्री० [सं०] दासी। मजदूरनी। दाई।

वोड़—संज्ञा पुं० [सं०] सुपारी।

वोड़—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गोह नामक जंतु। गोनस सर्प। (२) एक प्रकार की मछली।

वोड़—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वोड़ ऋषि। (२) कदम का पेड़।

वोड़ा—संज्ञा स्त्री० [सं०] ऋषभक नाम की ओषधि।

वोड़ू—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि जिनके नाम से तर्पण के समय जल दिया जाता है।

वोद—वि० [सं०] आर्द्र। गीला।

वोदार—संज्ञा पुं० [सं०] मुरदासिगी। कंकुष्ट।

वोदाल—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली जिसे बोहारी कहते हैं।

वोरक—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो लिखता हो। लेखक।

वोरट—संज्ञा पुं० [सं०] कुंद का फूल या पौधा।

वोरव—संज्ञा पुं० [सं०] बोरो धान।

वोल्लाह—संज्ञा पुं० [सं०] वह घोड़ा जिसकी दुम और अयाल के बाल पीले रंग के हों।

वोहित—संज्ञा पुं० [सं०] बड़ी नाव। जहाज।

व्यंकुरा—वि० दे० "निरंकुरा"।

व्यंग—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेटक। (२) भाव प्रकाश के अनुसार एक प्रकार का छुद् रोग जिसमें क्रोध या परिश्रम आदि के कारण वायु कुपित होने से मुँह पर छोटी छोटी काली फुंसियाँ या दाँते निकल आते हैं। (३) वह जिसका कोई अंग टूटा हुआ या विकृत हो। विकलांग। (४) दे० "व्यंग्य"।

व्यंगक—संज्ञा पुं० [सं०] पर्वत।

व्यंगता—संज्ञा स्त्री० [सं०] व्यंग का भाव।

व्यंगत्व—संज्ञा पुं० [सं०] किसी अंग का न होना या खंडित होना। खंज।

व्यंगार्थ—संज्ञा पुं० दे० "व्यंग्य"।

व्यंगुष्ठ—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का गुल्म।

व्यंग्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शब्द का वह अर्थ जो उसकी व्यंजना वृत्ति के द्वारा प्रकट हो। व्यंजना शक्ति के कारण प्रकट होनेवाला साधारण से कुछ विशिष्ट अर्थ। गूढ़ और छिपा हुआ अर्थ। वि० दे० "व्यंजना"। (२) वह लगती हुई बात जिसका कुछ गूढ़ अर्थ हो। ताना। बोली। चुटकी।

क्रि० प्र०—कहना।—छेड़ना—बोलना।—सुनाना।

व्यंजन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्यक्त या प्रकट करने अथवा होने की क्रिया। (२) दे० "व्यंजना"। (३) चिह्न। निशान। (४) अवयव। अंग। (५) मूँछ। (६) दिन। (७) पेड़ के नीचे का स्थान। उपरथ। (८) तरकारी और साग आदि जो दाल, चावल, रोटी आदि के साथ खाए जाते हैं। (९) साधारण बोलचाल में, पका हुआ भोजन। (१०) वर्णमाला में का वह वर्ण जो बिना स्वर की सहायता से न बोला जा सकता हो। हिंदी वर्णमाला में "क" से "ह" तक के सब वर्ण व्यंजन हैं।

व्यंजनहारिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक प्रकार की अमंगल-कारिणी शक्ति जो विवाहता लड़कियों के बनाए हुए खाद्य पदार्थ उठा ले जाती है।

व्यंजना—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रकट करने की क्रिया। (२) शब्द की तीन प्रकार की शक्तियों या वृत्तियों में से एक प्रकार की शक्ति या वृत्ति जिससे शब्द या शब्द-समूह के वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से भिन्न किसी और ही अर्थ का बोध होता है। शब्द की वह शक्ति जिसके द्वारा साधारण अर्थ को छोड़कर कोई विशेष अर्थ प्रकट होता हो। जैसे,—यदि कोई कहे कि "तुम्हारे चेहरे पर पाजी-पन झलक रहा है" और इसके उत्तर में दूसरा व्यक्ति कहे कि "मुझे आज ही जान पड़ा कि मेरे चेहरे में दर्पण का गुण है" तो इससे यह अर्थ निकलेगा कि तुमने मेरे दर्पण रूपी चेहरे में अपना प्रतिबिम्ब देखकर उसमें पाजी-पन की झलक पाई है। शब्दों की जिस शक्ति से यह अभिप्राय निकला, वही व्यंजना शक्ति है। इसके शाब्दी और आर्थी दो भेद माने गए हैं और इन दोनों भेदों के भी कई उपभेद किए गए हैं।

व्यंतर—संज्ञा पुं० [सं०] जैनों के अनुसार एक प्रकार के पिशाच और यक्ष आदि।

व्यंश—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार विप्रचित्ति के पुत्र का नाम जो सिद्धिका के गर्भ से उत्पन्न हुआ था।

व्यंशक-संज्ञा पुं० [सं०] पर्वत । पहाड़ ।

व्यंश-संज्ञा पुं० [सं०] एक राक्षस का नाम ।

व्यंसक-संज्ञा पुं० [सं०] धूर्त । चालाक ।

व्यंसन-संज्ञा पुं० [सं०] उगने या धोखा देने की क्रिया ।

व्यक्त-वि० [सं०] (१) दिखाई देता या झलकता हुआ । प्रकट । जाहिर । (२) साफ । स्पष्ट । (३) स्थूल । बड़ा । (४) दुष्ट । पाजी ।

संज्ञा पुं० (१) विष्णु । (२) मनुष्य । आदमी । (३) कृत्य । कार्य । काम । (४) सांख्य के अनुसार प्रधान, अहंकार, इन्द्रियाँ, तन्मात्र, महाभूत आदि चौबीस तत्व जो पुरुष से उद्भूत माने गए हैं ।

विशेष—सांख्य के मत से प्रकृति अव्यक्त और पुरुष व्यक्त है ।

व्यक्तगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नीली अपराजिता । (२) सोनजुही । (३) पिप्पली । पीपल ।

व्यक्तगणित-संज्ञा पुं० दे० “अंकगणित” ।

व्यक्तता-संज्ञा स्त्री० [सं०] व्यक्त होने का भाव ।

व्यक्तदृष्टार्थ-संज्ञा पुं० [सं०] वइ जो देखी हुई बात कहे । चरमदीद गवाह ।

व्यक्तभुज-संज्ञा पुं० [सं०] समय । वक्त ।

व्यक्त राशि-संज्ञा स्त्री० [सं०] अंकगणित में वह राशि या अंक जो व्यक्त किया या बतला दिया गया हो । ज्ञात राशि ।

व्यक्तरूप-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

व्यक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) व्यक्त होने की क्रिया या भाव । प्रकाशित या दृश्य होना । प्रकट होना । (२) मनुष्य या किसी और गरीरवारी का सारा शरीर, जिसकी पृथक् सत्ता मानी जाती है और जो किसी समूह या समाज का अंग समझा जाता है । समष्टि का उलटा । व्यष्टि । (३) मनुष्य । आदमी । जैसे,—कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो सदा दूसरों का अपकार ही किया करते हैं ।

विशेष—यद्यपि यह शब्द संस्कृत में स्त्री लिंग है, तथापि हिंदी में “मनुष्य” या “आदमी” के अर्थ में यह प्रायः पुल्लिंग ही बोला और लिखा जाता है ।

(४) भूत मात्र । (५) वस्तु । पदार्थ । चीज । (६) प्रकाश ।

व्यक्तीकृत-वि० [सं०] जो व्यक्त किया गया हो । प्रकट किया हुआ ।

व्यक्तीभूत-वि० [सं०] जो व्यक्त किया गया हो । प्रकट किया हुआ ।

व्यग्र-वि० [सं०] (१) घबराया हुआ । व्याकुल । (२) डरा हुआ । भयभीत । (३) काम में फँसा हुआ । (४) उद्यमी । उद्योगी । (५) आसक्त । (६) आग्रही ।

संज्ञा पुं० विष्णु ।

व्यग्रता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) व्यग्र होने का भाव । (२) व्याकुलता । घबराहट ।

व्यजन-संज्ञा पुं० [सं०] हुवा करने का पंखा ।

व्यज्य-वि० [सं०] जिसका बोध शब्द की व्यंजना शक्ति के द्वारा हो ।

संज्ञा पुं० दे० “व्यंग्य” ।

व्यडंबक-संज्ञा पुं० [सं०] रेंड का पेड़ । एरंड ।

व्यड-संज्ञा पुं० दे० “व्याडि” ।

व्यति-संज्ञा पुं० [सं०] वीड़ा ।

व्यतिकार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्यसन । (२) विनाश । बरबादी । (३) मिश्रण । मिलावट । (४) व्याप्ति । (५) संबंध । लगाव । तमस्लुक् । (६) समूह । झुंड ।

व्यतिक्रम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्रम में होनेवाला विपर्यय । सिलसिले में होनेवाला उलट-फेर । (२) बाधा । विघ्न ।

व्यतिक्रमण-संज्ञा पुं० [सं०] क्रम में विपर्यय करना । सिलसिले में उलट फेर करना ।

व्यतिक्रांत-वि० [सं०] जिसमें किसी प्रकार का विपर्यय हुआ हो ।

व्यतिक्रांति-संज्ञा स्त्री० [सं०] क्रम में होनेवाला विपर्यय । व्यतिक्रम ।

व्यतिचार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाप कर्म करना । पाप का आचरण करना । (२) दोष । ऐव ।

व्यतिपात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत बड़ा उत्पात । भारी उपद्रव या खराबी । (२) दे० “व्यतीपात” ।

व्यतिरिक्त-वि० [सं०] (१) भिन्न । अलग । (२) बड़ा हुआ । क्रि० वि० अतिरिक्त । सिवा । अलावा ।

व्यतिरिक्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] व्यतिरिक्त होने का भाव या धर्म । विभिन्नता ।

व्यतिरेक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अभाव । (२) भेद । अंतर । भिन्नता । (३) वृद्धि । बढ़ती । (४) अतिक्रम । (५) एक प्रकार का अर्थालंकार जिसमें उपमान की अपेक्षा उपमेय में कुछ और भी विशेषता या अधिकता का वर्णन होता है । उ०—(क) कहत सबै बँदी दिए अंक दस गुनो होत । तिय लिलार बँदी दिए अगनित बढ़त उदोत । (ख) निज परिताप द्रवहि नवनीता । पर दुख द्रवहि सु सत्त पुनीता ।

व्यतिरेकी-संज्ञा पुं० [सं० व्यतिरेकि] (१) वह जो किसी को अतिक्रमण करके जाता हो । (२) वह जो पदार्थों में विभिन्नता उत्पन्न करता हो ।

व्यतिषंग-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० व्यतिषक] (१) मिश्रण । (२) विनिमय । बदला ।

व्यतिषक्त-वि० [सं०] (१) मिला हुआ । (२) आसक्त ।

व्यतिहार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विनिमय । परिवर्तन । बदला ।
(२) गाली गलौज । (३) मारपीट ।

व्यतीकार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्यसन । (२) विनाश ।
बरबादी । (३) मिथुन ।

व्यतीत-वि० [सं०] बीता हुआ । गत । जैसे,—बहुत दिन
व्यतीत हो गए, वहाँ से कोई उत्तर नहीं आया ।

व्यतीपात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत बड़ा उत्पात । भारी उप-
द्रव । जैसे,—भूकंप, उल्कापात आदि । (२) अपमान ।
बेइज्जती । (३) ज्योतिष में विष्कंभ आदि सत्ताईस योगों
में से सत्रहवाँ योग जिसमें यात्रा अथवा किसी प्रकार का
शुभ काम करने का निषेध है । (४) एक प्रकार का योग
जो अमावास्या के दिन रविवार या श्रवण, धनिष्ठा, आर्द्रा,
अश्लेषा अथवा मृगशिरा नक्षत्र होने पर होता है । इस
योग में गंगा स्नान का बहुत माहात्म्य है ।

व्यतीहार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विनिमय । परिवर्तन । बदला ।
(२) आपस में गाली गलौज, मार पीट या इसी प्रकार का
और कोई काम करना ।

व्यत्यय-संज्ञा पुं० दे० “व्यतिक्रम” ।

व्यत्यास-संज्ञा पुं० दे० “व्यतिक्रम” ।

व्यथक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो व्यथा उत्पन्न करता हो । पीड़ा
देनेवाला ।

व्यथन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्यथा । पीड़ा । तकलीफ । (२)
वह जो व्यथा उत्पन्न करता हो । पीड़ा देनेवाला ।

व्यथा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पीड़ा । वेदना । तकलीफ । (२)
दुःख । क्लेश । (३) भय । डर ।

व्यथित-वि० [सं०] (१) जिसे किसी प्रकार की व्यथा या
तकलीफ हो । (२) दुःखित । रंजीदा । (३) जिसे किसी
प्रकार का शोक प्राप्त हुआ हो । (४) भीत । डरा हुआ ।

व्यथ्य-वि० [सं०] (१) व्यथा देने योग्य । (२) भय उत्पन्न
करनेवाला । भयानक ।

व्यधन-संज्ञा पुं० [सं०] वेधने की क्रिया । विद्ध करना ।
बीधना ।

व्यधिक्षेप-संज्ञा पुं० [सं०] निंदा । शिकायत ।

व्यपदेश-संज्ञा पुं० [सं०] निंदा । शिकायत ।

व्यपनय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विनाश । बरबादी । (२) छोड़
देना । त्याग ।

व्यपनयन-संज्ञा पुं० [सं०] छोड़ देना । त्याग ।

व्यपरोपण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० व्यपरोपित] (१) झुठाना ।
(२) काटना । (३) जड़ से काटना । (४) दूर करना ।
हटाना ।

व्यपवर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अलग होना । (२) छोड़ना ।
त्याग ।

व्यपवर्जन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० व्यपवर्जित] (१) छोड़ना ।
त्याग । (२) निवारण । (३) देना । दान ।

व्यपेक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आकांक्षा । इच्छा । चाह । (२)
अनुरोध । आग्रह ।

व्यपोह-संज्ञा पुं० [सं०] विनाश । बरबादी ।

व्यभिचार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बुरा या दूषित आचार । कदा-
चार । बदचलनी । (२) स्त्री का पर-पुरुष से अथवा पुरुष
का पर-स्त्री से अनुचित संबंध । छिनाला ।

व्यभिचारिता-संज्ञा स्त्री० दे० “व्यभिचार” ।

व्यभिचारी-संज्ञा पुं० [सं० व्यभिचारिन्] [स्त्री० व्यभिचारिणी]
(१) वह जो अपने मार्ग से गिर गया हो । मार्ग-भ्रष्ट । (२)
वह जिसका चाल चलन अच्छा न हो । बदचलन । (३)
वह जो पर-स्त्रियों से संबंध रखता हो । पर-स्त्री-गामी ।
(४) दे० “संचारी” (भाव) ।

व्यभिहास-संज्ञा पुं० [सं०] उपहास । ठट्ठा । मजाक ।

व्यय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पदार्थ का विशेषतः धन आदि
का इस प्रकार काम में आना कि वह समाप्त हो जाय ।
किसी चीज का किसी काम में लगना । खर्च । सरफा ।
खपत । जैसे,—(क) उनका व्यय १००) मासिक है ।
(ख) व्यर्थ अपनी शक्ति व्यय मत करो । (२) नाश । बर-
बादी । (३) दान । (४) छोड़ देना । परित्याग । (५) बृह-
स्पति के चार के एक वर्ष या संवत्सर का नाम । (६) महा-
भारत के अनुसार एक नाग का नाम ।

व्ययक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो व्यय करता हो । व्यय करने-
वाला ।

व्ययशील-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बहुत अधिक खर्च करता हो ।
खर्चीले स्वभाव का । शाह-खर्च ।

व्यथित-वि० [सं०] खर्च किया हुआ । व्यय किया हुआ ।

व्यथी-संज्ञा पुं० [सं० व्यथिन्] वह जो बहुत व्यय करता हो ।
खूब खर्च करनेवाला । शाह-खर्च ।

व्यर्थ-वि० [सं०] (१) जिसका कोई अर्थ या प्रयोजन न हो ।
बिना मतलब का । निरर्थक । (२) जिसका कोई अर्थ या
मतलब न हो । बिना माने का । अर्थ-रहित । (३) जिसमें
किसी प्रकार का लाभ न हो ।
क्रि० वि० बिना किसी मतलब के । फजूल । योही । जैसे,—
वह दिन भर व्यर्थ घूमा करता है ।

व्यर्थता-संज्ञा स्त्री० [सं०] व्यर्थ होने का भाव ।

व्यतीक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह अपराध जो काम के आवेग
के कारण किया जाय । (२) अपराध । कसूर । (३) डाँट
छपट । फटकार । (४) दुःख । कष्ट । तकलीफ । (५) पीठ-
मई । विट । (६) विलक्षणता । अद्भुतता ।
वि० (१) जो अच्छा न लगे । अभिय । (२) दुःख देनेवाला ।

कष्टदायक। (३) बिना जान पहचान का। अपरिचित।
 (४) विलक्षण। अद्भुत। अजीब।
 व्यवकलन-संज्ञा पुं० [सं०] एक अंक या रकम में से दूसरा अंक या रकम घटाना। बाकी निकालना।
 व्यवकीर्ण-वि० [सं०] अलग किया हुआ। निकाला हुआ। जुदा किया हुआ।
 व्यवच्छिन्न-वि० [सं०] (१) अलग। जुदा। (२) विभाग करके अलग किया हुआ। विभक्त। (३) निर्धारण किया हुआ। निश्चित।
 व्यवच्छेद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पृथक्ता। पार्थक्य। अलगभाव। (२) विभाग। खंड। हिस्सा। (३) विराम। ठहरना। (४) निवृत्ति। छुटकारा।
 व्यवच्छेदक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो व्यवच्छेद या अलग करता हो।
 व्यवदान-संज्ञा पुं० [सं०] किसी पदार्थ को शुद्ध और साफ करने की क्रिया। संस्कार। सफाई।
 व्यवधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] व्यवधान। परदा।
 व्यवधान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह चीज जो बीच में पड़कर आड़ करती हो। परदा। (२) भेद। विभाग। खंड। (३) विच्छेद। अलग होना। (४) खतम होना। समाप्ति।
 व्यवधायक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो आड़ में जाता हो। छिपनेवाला। गायब होनेवाला। (२) वह जो किसी को ढकता या छिपाता हो। आड़ करने या छिपानेवाला।
 व्यवधारण-संज्ञा पुं० [सं०] अच्छी तरह अवधारण या निश्चय करना।
 व्यवधि-संज्ञा पुं० [सं०] व्यवधान। परदा। आड़। ओट।
 व्यवशाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छोड़ देना। (२) त्याग। (३) पीछे की ओर गिरना या हटना।
 व्यवसर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पदार्थ के विभाग करने की क्रिया। बाँट। (२) मुक्ति। छुटकारा।
 व्यवसाय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह कार्य जिसके द्वारा किसी की जीविका का निर्वाह होता हो। जीविका। जैसे,—दूसरों की सेवा करना ही उसका व्यवसाय है। (२) रोजगार। व्यापार। जैसे,—भाजकल कपड़े का व्यवसाय कुछ मंदा है। (३) कोई कार्य आरंभ करना। (४) निश्चय। (५) प्रयत्न। उद्योग। कोशिश। (६) उद्यम। काम धंधा। (७) इच्छा। विचार। कल्पना। (८) अभिप्राय। मतलब। (९) विष्णु का एक नाम। (१०) शिव का एक नाम।
 व्यवसायी-संज्ञा पुं० [सं० व्यवसायिन्] (१) वह जो किसी प्रकार का व्यवसाय करता हो। व्यवसाय करनेवाला। (२) रोजगार करनेवाला। रोजगारी। (३) वह जो किसी कार्य का अनुष्ठान करता हो।
 व्यवसित-वि० [सं०] (१) जिसका अनुष्ठान किया गया हो।

व्यवसाय किया हुआ। (२) जो कोई काम करने के लिये तैयार हो। उद्यत। तत्पर। (३) जो निश्चय किया जा चुका हो। निश्चित।

व्यवसिति-संज्ञा स्त्री० [सं०] व्यवसाय। रोजगार।

व्यवस्था-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी कार्य का वह विधान जो शास्त्रों आदि के द्वारा निश्चित या निर्धारित हुआ हो।

मुहा०—व्यवस्था देना = पंडितों आदि का यह बतलाना कि अमुक विषय में शास्त्रों का क्या मत अथवा आज्ञा है। किसी विषय में शास्त्रों का विधान बतलाना।

(२) चीजों को अलग अलग सजाकर या ठिकाने से रखना।

(३) प्रबन्ध। इंतजाम। जैसे,—विवाह की सब व्यवस्था अपने ही हाथ में है। (४) स्थिर होने का भाव। स्थिरता। स्थिति।

व्यवस्थाता-संज्ञा पुं० [सं० व्यवस्थातृ] (१) वह जो व्यवस्था करता हो। व्यवस्था या इंतजाम करनेवाला। (२) वह जो यह बतलाता हो कि अमुक विषय में शास्त्रों की क्या आज्ञा है। शास्त्रीय व्यवस्था देनेवाला।

व्यवस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उपस्थित या अस्थिर होना। व्यवस्थिति। (२) व्यवस्था। इंतजाम। प्रबंध। (३) विष्णु का एक नाम।

व्यवस्थानप्रकृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] बौद्धों के अनुसार एक बहुत बड़ी संख्या का नाम।

व्यवस्थापक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो यह बतलाता हो कि अमुक विषय में शास्त्रों का क्या मत है। व्यवस्था देनेवाला। (२) वह जो किसी कार्य आदि को नियमपूर्वक चलाता हो। (३) वह जो व्यवस्था या इंतजाम करता हो। प्रबंधकर्त्ता। इंतजामकार।

व्यवस्थापत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह पत्र जिसमें किसी विषय की शास्त्रीय व्यवस्था या यह विधान लिखा हो कि अमुक विषय में शास्त्र की क्या आज्ञा या मत है।

व्यवस्थापन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी विषय में शास्त्रीय व्यवस्था देना या बतलाना। यह बतलाना कि अमुक विषय में शास्त्रों की क्या आज्ञा अथवा मत है। (२) किसी विषय में कुछ निश्चय, निर्धारण या निरूपण करना।

व्यवस्थापनीय-वि० [सं०] व्यवस्थापन करने के योग्य।

व्यवस्थापित-वि० [सं०] (१) जिसके संबंध में कुछ निश्चय या निरूपण किया गया हो। व्यवस्था किया हुआ। (२) जो नियमपूर्वक लगाया, रखा या किया गया हो। (३) जो नियम के अनुसार हो। नियमित।

व्यवस्थाप्य-वि० [सं०] जो व्यवस्थापन करने के योग्य हो।

व्यवस्थित-वि० [सं०] जिसमें किसी प्रकार की व्यवस्था या

नियम हो। जो ठीक नियम के अनुसार हो। कायदे का। जैसे,—वे सभी काम व्यवस्थित रूप से किया करते हैं। व्यवस्थिति—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) उपस्थित या स्थिर होना।

व्यवस्थान। (२) व्यवस्था। इंतजाम।

व्यवहार—संज्ञा पुं० [सं०] अभियोगों आदि का नियमानुसार विचार। मुकदमे की सुनाई या पेशी। व्यवहार।

व्यवहर्त्ता—संज्ञा पुं० [सं० व्यवहर्त्ता] वह जो व्यवहार शास्त्र के अनुसार किसी अभियोग आदि का विचार करता हो। न्यायकर्त्ता।

व्यवहार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्रिया। कार्य। काम। (२) आपस में एक दूसरे के साथ बरतना। बरताव। जैसे,—हमारा उनका इस तरह का व्यवहार नहीं है। (३) व्यापार। रोजगार। (४) लेनदेन का काम। महाजनी। (५) झगड़ा। विवाद। (६) न्याय। (७) शर्त। पण। (८) स्थिति। (९) दो पक्षों में होनेवाला वह झगड़ा जिसका फैसला अदालत से हो। मुकदमा।

व्यवहारक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसकी जीविका व्यवहार से चलती हो। वह जो न्याय या वकालत आदि करता हो। (२) वह जो वयस्क हो गया हो। बालिग।

व्यवहारजीवी—संज्ञा पुं० [सं० व्यवहारजीविन्] वह जो व्यवहार या वकालत आदि के द्वारा अपनी जीविका चलाता हो।

व्यवहारज्ञ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो व्यवहार शास्त्र का ज्ञाता हो। व्यवहार जाननेवाला। (२) वह जो पूर्ण वयस्क हो गया हो। बालिग।

व्यवहारत्व—संज्ञा पुं० [सं०] व्यवहार का भाव या धर्म।

व्यवहारदर्शन—संज्ञा पुं० [सं०] किसी अभियोग में न्याय और अन्याय अथवा सत्य और मिथ्या का निर्णय करना।

व्यवहारपाद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्यवहार के पूर्वपक्ष, उत्तर, क्रिया पाद और निर्णय इन चारों का समूह। (२) इन चारों में से कोई एक जो व्यवहार का एक पाद या अंश माना जाता है।

व्यवहार मातृका—संज्ञा स्त्री० [सं०] वे क्रियाएँ जिनका व्यवहार में उपयोग होता है। व्यवहार शास्त्र के अनुसार होनेवाली कार्यवाहियाँ। जैसे,—मुकदमा दायर होना, पेश होना, गवाहों का बुलाया जाना, उनकी गवाही होना, जिरह और बहस होना, फैसला होना आदि। मिताक्षरा के अनुसार ऐसी क्रियाएँ संख्या में तीस हैं।

व्यवहार मूल—संज्ञा पुं० [सं०] अकरकरा। अकरकरहा।

व्यवहार विधि—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह शास्त्र जिसमें व्यवहार संबंधी बातों का उल्लेख हो। वह शास्त्र जिसमें व्यवहार या मुकदमों आदि का विधान हो। धर्मशास्त्र।

व्यवहार शास्त्र—संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसमें यह बतलाया

गया हो कि वादी और प्रतिवादी के विवाद का किस प्रकार निर्णय करना चाहिए, अभियोग किस प्रकार सुनना चाहिए और किस अपराध के लिये किसना दंड देना चाहिए। धर्मशास्त्र।

व्यवहारसिद्धि—संज्ञा स्त्री० [सं०] व्यवहार शास्त्र के अनुसार अभियोगों का निर्णय करना।

व्यवहारस्थान—संज्ञा पुं० [सं०] व्यवहार का विषय या पद। व्यवहारासन—संज्ञा पुं० [सं०] वह आसन जिस पर अभियोगों का विचार करते समय विचार करनेवाला बैठा है। विचारासन। न्यायासन।

व्यवहाररूपद्व—संज्ञा पुं० [सं०] वह निवेदन जो वादी अपने अभियोग के संबंध में राजा अथवा न्यायकर्त्ता के सम्मुख करता हो। बालिश। फुरियाद।

व्यवहारिक—वि० [सं०] (१) जो व्यवहार के लिये उपयुक्त या ठीक हो। व्यवहार-योग्य। (२) इंगुदी। हिंगोट।

व्यवहारिक जीव—संज्ञा पुं० [सं०] वेदांत के अनुसार विज्ञान-मय कोष जो ज्ञानेंद्रिय के साथ बुद्धि के संयुक्त होने से होता है।

व्यवहारिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) संसार में रहकर उसके सब व्यवहार या कार्य करना। (२) इंगुदी का पेड़। (३) झाड़ू।

व्यवहारी—संज्ञा पुं० [सं० व्यवहारिन्] व्यवहार करनेवाला।

व्यवहार्य—वि० [सं०] जो व्यवहार करने के योग्य हो। काम में लाने लायक।

व्यवहित—वि० [सं०] जिसके आगे किसी प्रकार का व्यवधान या परदा पड़ गया हो। आड़ या ओट में गया हुआ। छिपा हुआ।

व्यवहृत—वि० [सं०] (१) जिसका आचरण या अनुष्ठान किया गया हो। (२) जिसका व्यवहार शास्त्र के अनुसार विचार किया गया हो। (३) जो काम में लाया गया हो।

व्यवहृति—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह लाभ जो व्यापार में होता है। रोजगार में होनेवाला नफा। (२) वाणिज्य। व्यापार। रोजगार। (३) कुशलता। होशियारी।

व्यवाय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) तेज। (२) स्त्री-प्रसंग। संभोग। मैथुन। (३) शुद्धि। (४) परिणाम। फल। नतीजा। (५) आड़। ओट। परदा। (६) विघ्न। बाधा। खलल।

व्यवाय शोष—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का राजयक्ष्मा या तपेदिक जो बहुत अधिक स्त्री-प्रसंग करने से होता है।

व्यवायी—संज्ञा पुं० [सं० व्यवायिन्] (१) वह जिसे स्त्री-प्रसंग की बहुत अधिक कामना रहती हो। कामुक। (२) वह जो बीच में किसी प्रकार का व्यवधान या परदा करता हो। आड़ या रोक करनेवाला। (३) वह ओषधि जो

शरीर में पहुँचकर पहले सब नाड़ियों में फैल जाय और तब पचे। जैसे,—भौं या अफीम।

व्यश्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन ऋषि का नाम जो ऋग्वेद के कई मंत्रों के द्रष्टा थे। (२) एक प्राचीन राजा का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है।

व्यष्टका-संज्ञा स्त्री० [सं०] कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा।

व्यष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] समूह या समाज में से अलग किया हुआ प्रत्येक व्यक्ति या पदार्थ। वह जिसका विचार अकेले हो, औरों के साथ न हो। समष्टि का एक विशिष्ट और पृथक् अंश। समष्टि का उलटा।

व्यसन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विपत्ति। आफत। (२) दुःख। कष्ट। तकलीफ। (३) पतन। गिरना। (४) विनाश। नष्ट होना। (५) कोई बुरी या अमंगल बात। (६) वह प्रयत्न जिसका कोई फल न हो। व्यर्थ का उद्योग। (७) विषय-वासना के प्रति होनेवाला अनुराग। विषयों के प्रति आसक्ति। (८) दुर्भाग्य। बह्किस्मती। (९) अयोग्य या असमर्थ होने का भाव। (१०) वह दोष जो काम या क्रोध आदि विकारों से उत्पन्न हुआ हो। जैसे,—शिकार, जूआ, स्त्री-प्रसंग, नृत्य आदि देखना और गीत आदि सुनना।

विशेष—मनु ने व्यसनों की संख्या १८ बतलाई है और उनमें से १० व्यसन कामज तथा ८ क्रोधज कहे हैं। मनु की यह भी आज्ञा है कि राजा को इन सब प्रकार के व्यसनों से बचना चाहिए।

(११) किसी प्रकार का शौक। किसी विषय के प्रति विशेष रुचि या प्रवृत्ति। जैसे,—उन्हें केवल लिखने पढ़ने का व्यसन है।

व्यसनार्त्त-वि० [सं०] जिसे किसी प्रकार की दैवी या मानुषी पीड़ा पहुँची हो।

व्यसनिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] व्यसनी होने का भाव या धर्म। व्यसनित्व।

व्यसनी-संज्ञा पुं० [सं० व्यसनिन्] (१) वह जिसे किसी प्रकार का व्यसन या शौक हो। (२) वेश्यागामी। रंडीबाज।

व्यस्त-वि० [सं०] (१) घबराया हुआ। व्याकुल। (२) काम में लगा या फँसा हुआ। (३) फैला या छाया हुआ। व्याप्त। (४) फँका हुआ। (५) इधर उधर, आगे पीछे या ऊपर नीचे किया हुआ। (६) हर एक। अलग अलग। पृथक्।

व्यस्तक-वि० [सं०] जिस में हड़्डी न हो। बिना हड़्डी का।

व्यस्तपद-संज्ञा पुं० [सं०] व्यवहार शास्त्र में मालिश होने पर कृण न चुकाना, बल्कि कुछ उन्न करना।

व्यह-संज्ञा पुं० [सं०] कल का बीता हुआ दिन।

व्याकरण-संज्ञा पुं० [सं०] वह विद्या या शास्त्र जिस में किसी भाषा के शब्दों के शुद्ध रूपों और वाक्यों के प्रयोग के

नियमों आदि का निरूपण होता है। भाषा का शुद्ध प्रयोग और नियम आदि बतलानेवाला शास्त्र।

विशेष—व्याकरण में वर्णों, शब्दों और वाक्यों का विचार होता है; इसी लिये इसके वर्ण-विचार, शब्द-साधन और वाक्य-विन्यास ये तीन मुख्य विभाग होते हैं। व्याकरण के नियम प्रायः लिखी हुई और प्रचलित भाषा के आधार पर निश्चित किए जाते हैं; क्योंकि बोलने में लोग प्रायः प्रयोगों की शुद्धता पर उतना अधिक ध्यान नहीं रखते। व्याकरण में शब्दों के अलग अलग भेद कर लिए जाते हैं; जैसे,—संज्ञा, क्रिया, विशेषण, सर्वनाम आदि; और तब इस बात का विचार किया जाता है कि इन शब्द-भेदों का ठीक ठीक और शुद्ध प्रयोग क्या है। हमारे यहाँ व्याकरण की गणना वेदांग में की गई है।

व्याकर्त्ता-संज्ञा पुं० [सं० व्याकर्त्तृ] सृष्टि की रचना करनेवाला, परमेश्वर।

व्याकार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पदार्थ का बिगड़ा या बदला हुआ आकार। (२) व्याख्या।

व्याकीर्ण-वि० [सं०] जो चारों ओर अच्छी तरह फैलाया गया हो।

व्याकुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो भय या दुःख के कारण इतना घबरा गया हो कि कुछ समझ न सके। बहुत घबराया हुआ। विकल। (२) जिसे किसी बात की बहुत अधिक उत्कंठा या कामना हो। (३) कातर।

व्याकुलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) व्याकुल होने का भाव। विकलता। घबराहट। (२) कातरता।

व्याकृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] छल। धोखा। फरेब।

व्याकृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रकाश में लाने का काम। (२) व्याख्या करने का काम। व्याख्यान। (३) रूप में परिवर्तन करने का काम।

व्याकोश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विकास। (२) स्फुटित होना। खिलना।

व्याक्रोश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी का तिरस्कार करते हुए कटाक्ष करना। (२) चिल्लाना। चिल्लाहट।

व्याक्षेप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विलंब। देर। (२) आकुल होने का भाव। घबराहट।

व्याख्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह वाक्य आदि जो किसी जटिल पद या वाक्य आदि का अर्थ स्पष्ट करता हो। किसी बात को समझाने के लिये किया हुआ उसका विस्तृत और स्पष्ट अर्थ। टीका। व्याख्यान।

विशेष—शास्त्रों या सूत्रों आदि की जो व्याख्या होती है, उसके वृत्ति, भाष्य, वार्त्तिक, टीका, दिप्पणी आदि अनेक भेद माने गए हैं।

(२) वह ग्रंथ जिसमें इस प्रकार अर्थ-विस्तार किया गया हो। (३) कहना। वर्णन।

व्याख्यागम्य-संज्ञा पुं० [सं०] वादी के अभियोग का ठीक ठीक उत्तर न देकर इधर उधर की बातें कहना। (व्यवहार)

वि० जो व्याख्या अथवा टीका आदि की सहायता से समझा जा सके।

व्याख्यात-वि० [सं०] जिसकी व्याख्या की गई हो।

व्याख्यातव्य-वि० [सं०] जो व्याख्या करने के योग्य हो।

व्याख्याता-संज्ञा पुं० [सं० व्याख्यातृ] (१) वह जो किसी विषय की व्याख्या करता हो। व्याख्या करनेवाला। (२) वह जो व्याख्यान देता हो। भाषण करनेवाला।

व्याख्यान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी विषय की व्याख्या या टीका करने अथवा विवरण बतलाने का काम। (२) बोलकर कोई विषय समझाने का काम। भाषण। (३) वह जो कुछ व्याख्या रूप में या समझाने के लिये कहा जाय। भाषण। वक्तृता।

व्याख्यानशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ किसी प्रकार का व्याख्यान आदि होता हो।

व्याख्या स्वर-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्वर जो न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा। मध्यम स्वर।

व्याख्येय-वि० [सं०] जो व्याख्या करने के योग्य हो। वर्णन करने या समझाने लायक।

व्याघट्टन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अच्छी तरह रगड़ने का काम। संवर्षण। रगड़। (२) मथना। बिलोना।

व्याघात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विघ्न। खलल। बाधा।

क्रि० प्र०—पड़ना।—होना।

(२) आघात। प्रहार। मार। (३) ज्योतिष के विष्कंभ आदि सत्ताइस योगों में से तेरहवाँ योग जिसमें किसी प्रकार का शुभ कार्य करना वर्जित है। पर कुछ लोगों का मत है कि इसके पहले छः दंडों को छोड़कर शेष समय में शुभ काम किए जा सकते हैं। कहते हैं कि इस योग में जो बालक जन्म ग्रहण करता है, वह साधुओं के काम में विघ्न करनेवाला, कठोर, झूठा और निर्दय होता है। (४) काव्य में एक प्रकार का अलंकार जिसमें एक ही उपाय के द्वारा अथवा एक ही साधन के द्वारा दो विरोधी कार्यों के होने का वर्णन होता है। उ०—(क) जासों काटत जगत के बंधन दीन दयाल। ता चितवनि सों तियन के मन बाँधे गोपाल। (ख) नाम प्रभाव ज्ञान शिव नीके। कालकूट फल दीन अमी के। (ग) रण से हुवे को अमर भागत कादर कूर। यहै चाह चित करि नहीं बिचलत साँचे सूर। (घ) मिलत एक दाखन दुख देहीं। बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं।

व्याघ्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाघ या शेर नामक प्रसिद्ध हिंसक जंतु। वि० दे० “शेर”। (२) लाल रेंड। (३) करंज।

व्याघ्रकूड-संज्ञा पुं० [सं०] लाल रेंड।

व्याघ्रखड्डा-संज्ञा पुं० [सं०] बाघ या शेर का नाखून जो प्रायः बालकों के गले में उन्हें नजर लगने से बचाने के लिये पहनाया जाता है।

व्याघ्रघोष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणनुसार एक प्राचीन देश का नाम। (२) इस देस का निवासी।

व्याघ्रघंटा-संज्ञा स्त्री० [सं०] किंकिणी या गोविंदी नाम की लता जो कोंकण प्रदेश में अधिकता से होती है। वैद्यक के अनुसार यह पित्तवर्धक, उष्ण, रुचिकर और विष तथा कफ की नाशक मानी गई है।

व्याघ्रघंटी-संज्ञा स्त्री० दे० “व्याघ्रघंटा”।

व्याघ्रचर्म-संज्ञा पुं० [सं०] बाघ या शेर की खाल जिस पर प्रायः लोग बैस्ते हैं, या जो शोभा के लिये कमरों आदि में लटकाई जाती है।

व्याघ्रतरु-संज्ञा पुं० [सं०] लाल रेंड।

व्याघ्रतल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल रेंड। (२) नखी या व्याघ्रनख नामक गंध द्रव्य।

व्याघ्रतला-संज्ञा स्त्री० [सं०] नख या व्याघ्रनख नामक गंध द्रव्य। बगनहा।

व्याघ्रता-संज्ञा स्त्री० [सं०] व्याघ्र का भाव या धर्म।

व्याघ्रदंष्ट्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का गुल्म।

व्याघ्रदल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नख या व्याघ्रनख नामक गंध द्रव्य। बगनहा। (२) लाल रेंड।

व्याघ्रदला-संज्ञा स्त्री० दे० “व्याघ्रदल”।

व्याघ्रनख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाघ या शेर का नाखून जो प्रायः बच्चों के गले में उन्हें नजर से बचाने के लिये पहनाया जाता है। (२) नख या बगनहा नामक प्रसिद्ध गंध द्रव्य।

वि० दे० “नख”। (३) थूहर। (४) एक प्रकार का कंद।

व्याघ्रनखक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्याघ्रनख। (२) नाखून के द्वारा लगी हुई चोट। नखक्षत।

व्याघ्रनखी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नख या बगनहा नामक गंध द्रव्य। वि० दे० “नख”।

व्याघ्रनादक-संज्ञा पुं० [सं०] गीदड़।

व्याघ्रपद-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पेड़। (बृहत्सं०)

व्याघ्रपद्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का गुल्म। (२) वशिष्ठ गोत्र के एक प्राचीन ऋषि का नाम जो ऋग्वेद के कई मंत्रों के द्रष्टा थे।

व्याघ्रपाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विकंकत या कंटाई नामक वृक्ष।

(२) एक प्राचीन ऋषि का नाम।

व्याघ्रपादपी-संज्ञा स्त्री० [सं०] विकंकक। गर्जाहुल।

व्याघ्रपाद्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विककृत या कंटाई नामक वृक्ष।

(२) विकटक। गर्जाहुल। (३) एक प्राचीन ऋषि का नाम।

व्याघ्रपुच्छ-संज्ञा पुं० [सं०] रेंद।

व्याघ्रपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] नख या बगनहा नामक गंध द्रव्य।

व्याघ्रपुष्पि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन गोत्र-प्रवर्त्तक ऋषि का नाम।

व्याघ्रभट्ट-संज्ञा पुं० [सं०] एक राक्षस का नाम।

व्याघ्रमुख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिल्ली। (२) पुराणानुसार एक पर्वत का नाम। (३) बृहत्संहिता के अनुसार एक देश का नाम। (४) इस देश का निवासी।

व्याघ्ररूपा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वंश्या कर्कटी। बन-ककोड़ा।

व्याघ्रलोम-संज्ञा पुं० [सं०] व्याघ्रलोमन् ऊपरी ओंठ पर के बाल। मूँछ।

व्याघ्रवक्ता-संज्ञा पुं० [सं०] व्याघ्रवक्त्र (१) बिल्ली। (२) शिव का एक नाम।

व्याघ्रसेवक-संज्ञा पुं० [सं०] शृगाल। गीदड़।

व्याघ्रहस्त-संज्ञा पुं० [सं०] लाल रेंद।

व्याघ्राक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्तिकेय के एक अनुचर का नाम। (२) पुराणानुसार एक राक्षस का नाम।

व्याघ्राजिन-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

व्याघ्राट-संज्ञा पुं० [सं०] लवा नामक पक्षी। अग्नि चिड़िया। वि० दे० "लवा"।

व्याघ्रादनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] निसोथ।

व्याघ्रायुध-संज्ञा पुं० [सं०] नख नामक गंधद्रव्य।

व्याघ्रास्य-संज्ञा पुं० [सं०] बिल्ली।

व्याघ्रिस्त्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] बौद्धों की एक देवी का नाम।

व्याघ्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कंटकारी। छोटी कंटाई। (२) एक प्रकार की कौड़ी। (३) नखी नामक गंधद्रव्य।

व्याघ्रीयुग-संज्ञा पुं० [सं०] बृहती या बनभंटा और कंटकारी, इन दोनों का समूह।

व्याज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मन में कोई और बात रखकर ऊपर से कुछ और करना या कहना। कपट। छल। फरेब। धोखा।

यौ०—व्याजनिंदा। व्याजस्तुति। व्याजोक्ति।

(२) बाधा। विघ्न। खलल। (३) विलंब। देर।

संज्ञा पुं० दे० "व्याज"।

व्याजनिंदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह निंदा जो व्याज अर्थात् छल या कपट से की जाय। ऐसी निंदा जो ऊपर से देखने में स्पष्ट निंदा न जान पड़े। (२) एक प्रकार का शब्दालंकार जिसमें इस प्रकार निंदा की जाती है।

व्याजस्तुति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्तुति जो व्याज अथवा किसी बहाने से की जाय और ऊपर से देखने में स्तुति न जान पड़े। (२) एक प्रकार का शब्दालंकार जिसमें इस प्रकार

स्तुति की जाती है। इस में जो स्तुति की जाती है, वह ऊपर से देखने में निंदा सी जान पड़ती है।

व्याजोक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह कथन जिसमें किसी प्रकार का छल हो। कपट भरी बात। (२) एक प्रकार का अलंकार जिसमें किसी स्पष्ट या प्रकट बात को छिपाने के लिये किसी प्रकार का बहाना किया जाता है। छेकापद्धति से इसमें यह अंतर है कि छेकापद्धति में निषेधपूर्वक बात छिपाई जाती है और इसमें बिना निषेध किए ही छिपाई जाती है। उ०—(क) भूप प्रतापमानु भवनीसा। तासु सचिव मैं सुनहु सुनीसा। (ख) बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूप किशोर देखि किन लेहू।

व्याडंब-संज्ञा पुं० [सं०] लाल रेंद।

व्याड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साँप। (२) बाघ। शेर। (३) इंद्र का एक नाम।

वि० धूर्त्त। वंचक।

व्याडायुध-संज्ञा पुं० [सं०] नख नामक गंध द्रव्य।

व्याडि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन का नाम जिन्होंने एक व्याकरण बनाया था।

व्याट्युची-संज्ञा स्त्री० [सं०] जल-क्रीड़ा।

व्यादान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फैलाव। विस्तार। (२) उद्घाटन। खोलना।

व्यादिश-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु का एक नाम।

व्याध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो जंगली पशुओं आदि को मारकर अपना निर्वाह करता हो। शिकारी। (२) प्राचीन काल की एक जाति जो जंगली पशुओं को मारकर अपना निर्वाह करती थी। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के अनुसार इसकी उत्पत्ति सर्वस्वी माता और क्षत्रिय पिता से है। (३) प्राचीन काल की श्वर नामक नीच जाति।

वि० दुष्ट। पाजी। लुच्चा।

व्याधभीत-संज्ञा पुं० [सं०] मृग। हिरन।

व्याधास-संज्ञा पुं० [सं०] वज्र।

व्याधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रोग। बीमारी। (२) आफत। संश्रुत। (३) कुड़ या कुट नाम की ओषधि। (४) साहित्य में एक संचारी भाव। विरह या काम आदि के कारण शरीर में किसी प्रकार का रोग होना।

व्याधिखड्ग-संज्ञा पुं० [सं०] नख नामक गंध द्रव्य।

व्याधिघात-संज्ञा पुं० [सं०] अमलतास।

व्याधिघ्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिस से किसी प्रकार की व्याधि का नाश होता हो। (२) अमलतास।

व्याधिजित्-संज्ञा पुं० [सं०] अमलतास।

व्याधित-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसे किसी प्रकार की व्याधि हुई हो। रोगी। बीमार।

व्याधिनाशन

व्याधिनाशन-संज्ञा पुं० [सं०] चोब-चीनी ।

व्याधिरिपु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अमलतास । (२) एक प्रकार का अमलतास जिसे कर्णिकर कहते हैं ।

व्याधिविपरीत-संज्ञा पुं० [सं०] ऐसी औषध जो व्याधि के विपरीत गुण करनेवाली हो । जैसे,—दस्त लाने के समय कठिजयत करनेवाली दवा ।

व्याधिस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर । बदन । जिस्म ।

व्याधिहन्ता-संज्ञा पुं० [सं०] व्याधिहंतु । वाराही कंद । शूकर कंद । गेंदी ।

वि० जिससे रोग का नाश हो । रोगनाशक ।

व्याधिहर-वि० [सं०] व्याधि को दूर करनेवाला । जिससे रोग नष्ट होता हो ।

व्याधो-संज्ञा स्त्री० दे० “व्याधि” ।

व्याध्य-संज्ञा पुं० [सं०] शिव का एक नाम ।

वि० व्याधि संबंधी । व्याधि का ।

व्यान-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर में रहनेवाली पाँच वायुओं में से एक वायु जो सारे शरीर में संचार करनेवाली मानी जाती है । कहते हैं कि इसी के द्वारा शरीर की सब क्रियाएँ होती हैं, सारे शरीर में रस पहुँचता है, पसीना बहता और खून चलता है, आदमी उठता, बैठता और चलता फिरता है और आँखें खोलता तथा बंद करता है । भावप्रकाश के मत से जब यह वायु कुपित होती है, तब प्रायः सारे शरीर में एक न एक रोग हो जाता है ।

व्यानदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह शक्ति जो व्यान वायु प्रदान करती है ।

व्यापक-वि० [सं०] (१) जो बहुत दूर तक व्याप्त हो । चारो ओर फैला हुआ । जैसे,—यह एक सर्वव्यापक सिद्धांत है । (२) जो ऊपर या चारो ओर से घेरे हुए हो । घेरने या ढकनेवाला । आच्छादक ।

व्यापकन्यास-संज्ञा पुं० [सं०] तांत्रिकों के अनुसार एक प्रकार का अंगन्यास । इसमें किसी देवता का मूल मंत्र पढ़ते हुए सिर से पैर तक न्यास करते हैं ।

व्यापत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] मृत्यु । मौत ।

व्यापद्-संज्ञा स्त्री० [सं०] मृत्यु । मौत ।

व्यापन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फैलाव । विस्तार । (२) दूर तक फैलना । विस्तृत होना । (३) चारो ओर से या ऊपर से घेरना या ढकना । आच्छादन करना ।

व्यापना-क्रि० प्र० [सं०] व्यापन] किसी चीज के अंदर फैलना । व्याप्त होना । जैसे,—(क) तुम्हें भी इस समय मोह व्यापता है । (ख) ईश्वर घर घट में व्यापता है । (ग) उस के सारे शरीर में विष व्याप गया है ।

संयो० क्रि०—जाना ।—रहना ।

व्यापनीय-वि० [सं०] व्यापन करने के योग्य ।

व्यापन्न-वि० [सं०] (१) जो किसी प्रकार की विपत्ति में पड़ा हुआ हो । आफत में फँसा हुआ । (२) मरा हुआ । मृत ।

व्यापाद्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मन में दूसरे के अपकार की भावना करना । किसी की बुराई सोचना । (२) मार डालना । (३) नष्ट करना । बरबाद करना ।

व्यापादक-वि० पुं० [सं०] (१) वह जो दूसरों की बुराई करने की इच्छा रखता हो । (२) वह जो हत्या या विनाश करता हो ।

व्यापादन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी को कष्ट पहुँचाने का उपाय सोचना । (२) मार डालना । वध । हत्या । (३) नष्ट करना । बरबाद करना ।

व्यापादनीय-वि० [सं०] मार डालने या नष्ट करने योग्य ।

व्यापार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कर्म । कार्य । काम । जैसे,—(क) संसार में दिन रात अनेक प्रकार के व्यापार होते रहते हैं । (ख) सोचना मस्तिष्क का व्यापार है । (२) न्याय के अनुसार विषय के साथ होनेवाला इंद्रियों का संयोग । (३) पदार्थों अथवा धन के बदले में पदार्थ लेना और देना । क्रय विक्रय का कार्य । रोजगार । व्यवसाय । जैसे,—(क) भाजकल कपड़े का व्यापार बहुत चमक रहा है । (ख) वे रुई, सोने, चाँदी आदि कई चीजों का व्यापार करते हैं । (४) सहायता । मदद ।

व्यापारण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आज्ञा देना । (२) किसी काम में । नियुक्त करना ।

व्यापारी-संज्ञा पुं० [सं०] व्यापारिन् । (१) वह जो किसी प्रकार का व्यापार करता हो । (२) व्यवसाय या रोजगार करनेवाला । व्यवसायी । रोजगारी ।

वि० [सं०] व्यापार + ई (प्रत्य०)] (१) वह जो किसी प्रकार का व्यापार करता हो । (२) व्यवसाय या रोजगार करनेवाला । व्यवसायी । रोजगारी ।

वि० [सं०] व्यापार + ई (प्रत्य०)] व्यापार संबंधी । व्यापार का । जैसे,—व्यापारी बोलचाल, व्यापारी भाव ।

व्याप्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) व्याप्त होने की क्रिया या भाव । चारो ओर या सब जगह फैला हुआ होना । (२) न्याय के अनुसार किसी एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का पूर्ण रूप से मिला या फैला हुआ होना । एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में अथवा उसके साथ सदा पाया जाना । जैसे,—भाग में धूँएँ की या तिल में तेल की व्याप्ति है ।

यौ०—व्याप्ति ज्ञान ।

(३) आठ प्रकार के ऐश्वर्यों में से एक प्रकार का ऐश्वर्य । शेष सात ऐश्वर्यों के नाम ये हैं—अणिमा, लबिमा,

प्राकाम्य, महिमा, ईशित्व, वशित्व और कामावसायिता ।
व्याप्ति ज्ञान-संज्ञा पुं० [सं०] न्याय के अनुसार वह ज्ञान जो
 साध्य को देखकर साध्यवान् के अस्तित्व के संबंध में अथवा
 साध्यवान् को देखकर साध्य के अस्तित्व के संबंध में होता
 है । जैसे,— धूर्त को देखकर यह समझना कि यहाँ आग
 भी होगी ।

व्याप्तित्व-संज्ञा पुं० [सं०] व्याप्ति का भाव या धर्म ।

व्याप्य-वि० [सं०] व्याप्त करने के योग्य । व्यापनीय ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसके द्वारा कोई काम हो ।
 साधन । हेतु । (२) कुट या कुड़ नामक ओषधि । (३) दे०
 “व्याप्ति” ।

व्याम-संज्ञा पुं० [सं०] लंबाई की एक नाप ।

विशेष—दोनों हाथों को जहाँ तक हो सके, दोनों बगल में
 फैलाने पर एक हाथ की उँगलियों के सिरे से दूसरे हाथ
 हाथ की उँगलियों के सिरे तक जितनी दूरी होती है, वह
 व्याम कहलाती है ।

व्यामिश्र-संज्ञा पुं० [सं०] दो प्रकार के पदार्थों या कार्यों को
 एक में मिलाने की क्रिया ।

व्यामोह-संज्ञा पुं० [सं०] मोह । अज्ञान ।

व्यायाम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह शारीरिक श्रम जो केवल
 शरीर का बल बढ़ाने के उद्देश्य से किया जाता है । कसरत ।
 जोर । जैसे,—डंड, बैठकी करना या मुगदर, डंबल आदि
 हिलाना । (२) पौरुष । (३) परिश्रम । मेहनत । (४)
 व्यापार । काम ।

व्यायामिक-वि० [सं०] व्यायाम का । व्यायाम संबंधी ।

व्यायामी-संज्ञा पुं० [सं०] व्यायामिन् । (१) वह जो व्यायाम करता
 हो । कसरत करनेवाला । कसरती । (२) वह जो बहुत
 परिश्रम करता हो । परिश्रमी । मेहनती ।

व्यायोग-संज्ञा पुं० [सं०] साहित्य में दस प्रकार के रूपकों में
 से एक प्रकार का रूपक या इत्य काव्य । इसकी कथावस्तु
 किसी ऐसे ग्रंथ से ली जानी चाहिए, जिससे सब लोग
 भली भाँति परिचित हों । इसके पात्रों में स्त्रियाँ कम और
 पुरुष अधिक होते हैं । इसमें गर्भ, विमर्ष और संधि
 नहीं होती । इसमें एक ही अंक रहता है और कौशिकी
 वृत्ति का व्यवहार होता है । इसका नायक कोई प्रसिद्ध
 राजर्षि, दिव्य और धीरोद्धत होना चाहिए । इसमें
 शृंगार, हास्य और शांत के सिवा और सब रसों का
 वर्णन होता है ।

व्यारोष-संज्ञा पुं० [सं०] क्रोध । गुस्सा ।

व्यालंब-संज्ञा पुं० [सं०] लाल रेंद ।

व्याल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साँप । (२) दुष्ट या पाजी हाथी ।
 (३) बाघ । शेर । (४) वह बाघ जो शिकार करने के लिये

सधाया गया हो । (५) राजा । (६) विष्णु का एक नाम ।

(७) दंडक छंद का एक भेद । (८) कोई हिंसक जंतु ।

वि० (१) दूसरों का अपकार करनेवाला । (२) दुष्ट ।
 पाजी ।

व्यालक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दुष्ट या पाजी हाथी । (२)
 हिंसक जंतु ।

व्यालकरज-संज्ञा पुं० [सं०] नख या बगनहा नामक गंध द्रव्य ।

व्यालखड्ग-संज्ञा पुं० [सं०] नख या बगनहा नामक गंध द्रव्य ।

व्यालगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाकुली नामक कंद ।

व्यालग्राह-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो साँपों को पकड़ता हो ।
 सँपेरा ।

व्यालग्राही-संज्ञा पुं० [सं०] व्यालग्राहिन् । वह जो साँप पकड़ने
 का काम करता हो । सँपेरा ।

व्यालग्रीव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बृहत्संहिता के अनुसार एक
 देश का नाम । (२) इस देश का निवासी ।

व्यालजिह्वा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कँगही या कंवी नामक पौधा ।
 महासमंगर ।

व्यालता-संज्ञा स्त्री० [सं०] व्याल का भाव या धर्म । व्यालत्व ।
 व्यालपन ।

व्यालरज-संज्ञा पुं० [सं०] व्याल का भाव या धर्म । व्यालता ।
 व्यालपन ।

व्यालदंष्ट्र-संज्ञा पुं० [सं०] गोखरु का पौधा ।

व्यालनख-संज्ञा पुं० [सं०] नख या बगनहा नामक गंध द्रव्य ।

व्यालपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] खेतपापड़ा ।

व्यालपत्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] खेतपापड़ा ।

व्यालपाणिज-संज्ञा पुं० [सं०] नख या बगनहा नामक गंध
 द्रव्य ।

व्यालप्रहण-संज्ञा पुं० [सं०] नख या बगनहा नामक गंध द्रव्य ।

व्यालबल-संज्ञा पुं० [सं०] नख या बगनहा नामक गंध द्रव्य ।

व्यालमृग-संज्ञा पुं० [सं०] बाघ । शेर ।

व्यालायुध-संज्ञा पुं० [सं०] नख या बगनहा नामक गंध द्रव्य ।

व्यालि-संज्ञा पुं० [सं०] व्यादि नामक एक प्राचीन ऋषि जिन्होंने
 एक व्याकरण बनाया था ।

व्यालिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो साँपों को पकड़कर अपनी
 जीविका चलाता हो । सँपेरा ।

व्यालीढ़-संज्ञा पुं० [सं०] साँप के काटने का एक प्रकार । साँप
 का वह काटना जिसमें केवल एक या दो दाँत लगे हों और
 घाव में से खून न बहा हो ।

व्यालुप्त-संज्ञा पुं० [सं०] साँप के काटने का एक प्रकार । साँप
 का वह काटना जिसमें दो दाँत भरपूर बैठे हों और घाव में
 से खून भी निकला हो ।

व्यास-

व्यास-संज्ञा पुं० स्त्री० [सं० वेत्ता] रात के समय का भोजन । रात का खाना ।

व्यावर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] विभाग करना । हिस्सा लगाना । विभक्त करना । बाँटना ।

व्यावर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चक्रवर्द्ध । चक्रमर्द । (२) आगे की ओर निकली हुई नाभि । नाभिकण्टक ।

व्यावर्त्तक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो व्यावर्त्तन करता हो । पीछे की ओर लौटानेवाला ।

व्यावर्त्तन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जो पराङ्मुख किया गया हो । (२) पीछे की ओर लौटाया या मोड़ा हुआ ।

व्यावहारिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्यवहार । (२) वह जो व्यवहार शास्त्र के अनुसार अभियोगों का विचार करता हो । (३) राजा का वह अमात्य या मंत्री जिसके अधिकार में भीतरी और बाहरी सब तरह के काम हों ।

वि० (१) व्यवहार संबंधी । व्यवहार या बरताव का । (२) व्यवहार शास्त्र संबंधी । व्यवहार शास्त्र का ।

व्यावृत्त-वि० [सं०] (१) छूटा हुआ । निवृत्त । (२) मना किया हुआ । निषिद्ध । (३) दूटा हुआ । खंडित । (४) अलग किया हुआ । विभक्त । (५) जो मन में पसंद किया गया हो । मनोनीत । (६) चारों ओर से घेरा हुआ । (७) ऊपर से ढका हुआ । आच्छादित । (८) जिसकी प्रशंसा या स्तुति की गई हो ।

व्यावृत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) खंडन । (२) आवृत्ति । (३) मन से चुनने या पसंद करने का काम । (४) चारों ओर से घेरना । (५) स्तुति । प्रशंसा । तारीफ़ । (६) मनाही । निषेध । (७) बाधा । खलल । (८) निराकरण । निर्णय । मीमांसा । (९) नियोग ।

व्यासंग-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत अधिक आसक्ति या मनोयोग ।

व्यास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पराशर के पुत्र कृष्ण द्वैपायन जिन्होंने वेदों का संग्रह, विभाग और संपादन किया था । कहा जाता है कि अठारहों पुराणों, महाभारत, भागवत और वेदांत आदि की रचना भी इन्होंने की थी ।

विशेष—इनके जन्म आदि की कथा महाभारत में बहुत विस्तार के साथ दी है । उसमें कहा गया है कि एक बार मत्स्यगंधा सत्यवती नाव खे रही थी । उसी समय पराशर मुनि वहाँ जा पहुँचे और उसे देखकर आसक्त हो गए । वे उससे बोले कि तुम मेरी कामना पूरी करो । सत्यवती ने कहा—महाराज, नदी के दोनों ओर ऋषि मुनि आदि बैठे हुए हैं और हम लोगों को देख रहे हैं । मैं कैसे आपकी कामना पूरी करूँ । इस पर पराशर मुनि ने अपने तप के बल से ऊँचा आवाज़ दिया जिससे चारों ओर

अँधेरा छा गया । उस समय सत्यवती ने फिर कहा—महाराज, मैं अभी कुमारी हूँ; और आपकी कामना पूरी करने से मेरा कौमार नष्ट हो जायगा । उस दशा में मैं किस प्रकार अपने घर में रह सकूँगी ? पराशर ने उत्तर दिया—नहीं, इससे तुम्हारा कौमार नष्ट नहीं होगा । तुम मुझसे वर माँगो । सत्यवती ने कहा कि मेरे शरीर से मछली की जो गंध आती है, वह न आवे । पराशर ने कहा कि ऐसा ही होगा । उसी समय से उसके शरीर से सुगंध निकलने लगी और तब से उसका नाम गंधवती या योजनगंधा पड़ा । इसके उपरांत पराशर मुनि ने उसके साथ संभोग किया जिससे उसे गर्भ रह गया; और उस गर्भ से इन्होंने व्यासदेव की उत्पत्ति हुई । इनका जन्म नदी के बीच के एक टापू में हुआ था और इनका रंग बिलकुल काला था; इसलिये इनका नाम कृष्ण द्वैपायन पड़ा । इन्होंने बचपन से ही तपस्या आरंभ की और बड़े होने पर वेदों का संग्रह तथा विभाग किया; इसलिये ये वेदव्यास कहलाए । पीछे से जब शांतनु के साथ सत्यवती का विवाह हुआ, तब अपने पुत्र विचित्रवीर्य के मरने पर सत्यवती ने इन्हें बुलाकर विचित्रवीर्य की विधवा पत्नियों (अंबिका और अंबालिका) के साथ नियोग करने की आज्ञा दी, जिससे द्युतराष्ट्र और पांडु का जन्म हुआ । विदुर भी इन्होंने के वीर्य से उत्पन्न हुए थे । ये पराशर्य, कानीन, वादरायण, सत्यभारत, सत्यव्रत और सत्यरत भी कहलाते हैं ।

(२) पुराणानुसार वे अष्टाद्वीस महर्षि जिन्होंने भिन्न भिन्न कल्पों में जन्म ग्रहण करके वेदों का संग्रह और विभाग किया था । ये सब ब्रह्मा और विष्णु के अवतार माने जाते हैं; और इनके नाम इस प्रकार हैं—स्वयंभुव, प्रजापति या मनु, उशना, बृहस्पति, सविता, मरुतु या यम, इंद्र, वसिष्ठ, सारस्वत, त्रिधाम, ऋषभ या त्रिवृष, सुतेजा या भारद्वाज, अंतरिक्ष या धर्म, वष्टवन् या सुचक्षु, त्र्यारुणि, धनंजय, कृतंजय, ऋतंजय, भरद्वाज, गौतम, उत्तम या हर्यत्न, वाचश्रवा या नारायण (इन्हें वेण भी कहते हैं), सोममुख्यायन या तृणविंदु, ऋक्ष या वाल्मीकि, शक्ति, पराशर, जातूकर्ण और कृष्ण द्वैपायन । (३) वह ब्राह्मण जो रामायण, महाभारत या पुराणों आदि की कथाएँ लोगों को सुनाता हो । कथावाचक । (४) वह देखा जो किसी बिलकुल गोल रेखा या वृत्त के किसी एक स्थान से बिलकुल सीधी चकरकर दूसरे सिरे तक पहुँची हो ।

(५) विस्तार । फैलाव ।

व्यासकूट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महाभारत में आए हुए वेद-व्यास के कूट श्लोक । (२) वे कूट श्लोक जो सीताहरण

होने पर रामचंद्रजी ने मातस्यवान् पर्वत पर कहे थे और जिनसे उन्हें कुछ शांति मिली थी।

व्यासक्त-वि० [सं०] जो बहुत अधिक आसक्त हुआ हो। जिसका मन बेतरह भा गया हो।

व्यासगीता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक उपनिषद् का नाम।

व्यासता-संज्ञा स्त्री० [सं०] व्यास का भाव या धर्म। व्यासत्व।

व्यासतीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम।

व्यासत्व-संज्ञा पुं० [सं०] व्यास का भाव या धर्म।

व्यासमूर्ति-संज्ञा पुं० [सं०] शिव का एक नाम।

व्यासवन-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन वन का नाम।

व्याससूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वेदांत सूत्र।

व्यासस्थली-संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन पवित्र तीर्थ का नाम।

व्यासारण्य-संज्ञा पुं० [सं०] व्यासवन नामक प्राचीन वन।

व्यासाङ्ग-संज्ञा पुं० [सं०] व्यास का आधा भाग। किसी वृत्त के केंद्र से उसके किसी छोर तक की रेखा।

व्यासासन-संज्ञा पुं० [सं०] वह आसन जिस पर कथा कहने-वाले व्यास बैठकर कथा कहते हैं।

व्यासिद्ध-वि० [सं०] (१) मना किया हुआ। निषिद्ध। (२) रुका हुआ। अवरुद्ध।

व्यासीय-वि० [सं०] व्यास संबंधी। व्यास का।

व्याहृत-वि० [सं०] (१) मना किया हुआ। निवारित। निषिद्ध। (२) व्यर्थ।

व्याहृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] बाधा डालना। खलल पहुँचाना।

व्याहरण-संज्ञा पुं० [सं०] कथन। उक्ति।

व्याहार-संज्ञा पुं० [सं०] वाक्य। जुमला।

व्याहन-वि० [सं०] कहा हुआ। कथित।

व्याहृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कथन। उक्ति। (२) भूः, भुवः स्वः इन तीनों का मंत्र। (कहते हैं कि जहाँ और कोई मंत्र न हो, वहाँ इसी व्याहृति मंत्र से काम लेना चाहिए।)

व्युच्छिस्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] विनाश। बरबादी।

व्युच्छेत्ता-संज्ञा पुं० [सं०] व्युच्छेत् विनाश करनेवाला। बरबाद करनेवाला।

व्युत्क्रम-संज्ञा पुं० [सं०] क्रम में उलट फेर होना। व्यतिक्रम। गढ़बढ़ी।

व्युत्क्रांता-संज्ञा स्त्री० [सं०] पहेली।

व्युत्थान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) त्वतंत्र या स्वाधीन होकर काम करना। (२) किसी के विरुद्ध आचरण करना। खिलाफ चलना। (३) रुकावट डालना। रोकना। (४) समाधि। (५) एक प्रकार का नृत्य। (६) योग के अनुसार चित्त की क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त ये तीनों अवस्थाएँ या चित्त-भूमियाँ

जिनमें योग का साधन नहीं हो सकता। इन भूमियों में चित्त बहुत चंचल रहता है।

व्युत्पत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी पदार्थ आदि की विशिष्ट उत्पत्ति। किसी चीज का मूल उद्गम या उत्पत्ति स्थान। (२) शब्द का मूल रूप। वह शब्द जिससे कोई दूसरा शब्द निकला हो। (३) किसी विज्ञान या शास्त्र आदि का अच्छा ज्ञान। जैसे,—दर्शन शास्त्र में उनकी अच्छी व्युत्पत्ति है।

व्युत्पन्न-वि० [सं०] (१) जिसका संस्कार हो चुका हो। संस्कृत। (२) जिसका किसी विज्ञान या शास्त्र में अच्छा प्रवेश हो। जो किसी शास्त्र आदि का अच्छा ज्ञाता हो।

व्युत्पादक-वि० [सं०] व्युत्पत्ति करनेवाला। उत्पन्न करनेवाला।

व्युत्पादन-संज्ञा पुं० [सं०] व्युत्पत्ति।

व्युपदेश-संज्ञा पुं० [सं०] ठगने या धोखा देने का काम। ठगी।

व्युपरम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शान्ति। (२) छुटकारा। निवृत्ति। (३) स्थिति।

व्युपशम-संज्ञा पुं० [सं०] अशान्ति।

व्युष-संज्ञा स्त्री० [सं०] सूर्य के उदय होने का समय। प्रातः-काल। सवेरा।

व्युषिताश्व-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक राजा का नाम।

व्युष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रभात। तड़का। (२) दिन। (३) फल।

वि० जला या झुलसा हुआ।

व्युष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) फल। (२) समृद्धि। (३) स्तुति। प्रशंसा। (४) प्रकाश। उजाला। (५) प्रभात। तड़का। (६) दाह। जलन। (७) इच्छा। कामना। खादिश।

व्यूक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन देश का नाम। (२) इस देश का निवासी।

व्यूह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो व्यूह बनाकर खड़ा हो। (२) वह जिसका विवाह हो चुका हो। विवाहित।

वि० (१) स्थूल। मोटा। (२) उत्तम। बढ़िया। (३) तुल्य। समान। (४) दृढ़। मजबूत।

व्यूढि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विन्यास। सजावट। (२) स्थूलता। मोटाई।

व्यूत-वि० [सं०] बुना हुआ।

व्यूति-संज्ञा स्त्री० [सं०] कपड़े आदि बुनने की क्रिया। बुनाई।

व्यूह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समूह। जमवट। (२) निर्माण। रचना। (३) तर्क। (४) शरीर। बदन। (५) सेना। फौज। (६) परिणाम। नतीजा। (७) युद्ध के समय की जानेवाली सेना की स्थापना। लड़ाई के समय की अलग

अलग उपयुक्त स्थानों पर की हुई सेना के भिन्न भिन्न अंगों की नियुक्ति। सेना का विन्यास। बलविन्यास। विशेष—प्राचीन काल में युद्ध क्षेत्र में लड़ने के लिये पैदल, अश्वारोही, रथ और हाथी आदि कुछ खास ढंग से और खास खास मौकों पर रखे जाते थे; और सेना का यही स्थापन व्यूह कहलाता था। आकार आदि के विचार से ये व्यूह कई प्रकार के होते थे। जैसे,—दंड व्यूह, शकट व्यूह, वराहव्यूह, मकरव्यूह, सूचीव्यूह, पद्मव्यूह, चक्रव्यूह, वज्रव्यूह, गरुडव्यूह, श्येनव्यूह, मंडलव्यूह, धनुव्यूह, सर्वतोभद्रव्यूह आदि। राजा या सेना का प्रधान सेनापति प्रायः व्यूह के मध्य में रहता था; और उस पर सहसा आक्रमण नहीं हो सकता था। जब इस प्रकार सेना के सब अंग स्थापित कर दिए जाते थे, तब शत्रु सहसा उन्हें छिन्न भिन्न नहीं कर सकते थे।

(८) किसी प्रकार के आक्रमण या विपत्ति आदि से रक्षित रहने के लिये की हुई ऊपरी योजनाएँ।

व्यूहन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) युद्ध के लिये भिन्न भिन्न स्थानों पर सैनिकों की नियुक्ति करना। सेना को स्थापित करना। व्यूह रचना। (२) मिलाना।

व्यूहमति-संज्ञा पुं० [सं०] कलित विस्तर के अनुसार एक देवपुत्र का नाम।

व्यूहराज-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम।

व्योम संज्ञा पुं० [सं० व्योम्] (१) आकाश। अंतरिक्ष। आसमान। (२) जल। पानी। (३) मेघ। बादल।

व्योमकेश-संज्ञा पुं० [सं०] शिव का एक नाम।

व्योमकेशी-संज्ञा पुं० [सं० व्योमकेशिन्] शिव का एक नाम।

व्योमगंगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] आकाश गंगा।

व्योमगमनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह विद्या जिसके द्वारा मनुष्य आकाश में उड़ सकता हो। आसमान में उड़ने की विद्या।

व्योमचर-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो आकाश में विचरण करता हो। आकाशचारी।

व्योमचारी-संज्ञा पुं० [सं० व्योमचारिन्] (१) देवता। (२) पक्षी। चिड़िया। (३) वह जो आकाश में विचरण करता हो।

व्योमधूम-संज्ञा पुं० [सं०] मेघ। बादल।

व्योमनासिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] भारती नामक पक्षी।

व्योमपाद्-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु का एक नाम।

व्योममंडल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकाश। आसमान। (२) पताका। ध्वजा। झंडा।

व्योममुद्गर-संज्ञा पुं० [सं०] वह शब्द जो हवा के बहुत जोर से चलने से होता है। हूँका।

व्योममृग-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा के दसवें घोड़े का नाम।

व्योमयान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह यान या सवारी जिस पर

चढ़कर मनुष्य आकाश में उड़ सकता हो। विमान। (२) हवाई जहाज।

व्योमरत्न-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य।

व्योमवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] आकाशवल्ली या अमरबेल नाम की लता।

व्योमवरिता-संज्ञा स्त्री० [सं० व्योमसरित्] आकाश गंगा। मंदाकिनी।

व्योमस्थली-संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी। जमीन।

व्योमाम-संज्ञा पुं० [सं०] गौतम बुद्ध का एक नाम।

व्योमारि-संज्ञा पुं० [सं०] विश्वदेवता।

व्योमोदक-संज्ञा पुं० [सं०] वर्षा का जल। बरसात का पानी।

व्योमिक-वि० [सं०] व्योम संबंधी। व्योम या आकाश का।

व्योष-संज्ञा पुं० [सं०] सोंठ, पीपल और मिर्च इन तीनों का समूह। त्रिकटु।

व्रज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जाना या चलना। व्रजन। गमन। (२) समूह। झुंड। (३) मथुरा और वृंदावन के आस

पास का प्रांत जो भगवान श्रीकृष्णचंद्र का लीलाक्षेत्र है और जो इसी कारण बहुत पवित्र माना जाता है। पुराणों आदि के अनुसार मथुरा से चारों ओर ८४-८४ कोस तक की भूमि व्रज भूमि कही गई है; और इसकी प्रदक्षिणा का बहुत अधिक माहात्म्य कहा गया है।

व्रजन-संज्ञा पुं० [सं०] चलना। जाना। गमन।

व्रजनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

व्रज भाषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मथुरा, आगरा, इटावा और इनके आस पास के प्रदेशों में बोली जानेवाली एक प्रसिद्ध भाषा जिसकी उत्पत्ति शौरसेनी प्राकृत से हुई है। उक्त जिलों के पश्चिम या दक्षिण में यही भाषा राजस्थानी का रूप धारण कर लेती है। इस भाषा का प्राचीन साहित्य बहुत उच्च और बढ़ा है और इधर चार पाँच सौ वर्षों में उत्तर भारत के अधिकांश कवियों ने प्रायः इसी भाषा में कविताएँ की हैं, जिनमें से सूर, तुलसी, बिहारी आदि अनेक कवियों ने तो बहुत अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है। यह भाषा बहुत ही कर्ण-मधुर मानी जाती है। खड़ी बोली में जो संज्ञाएँ, विशेषण और भूतकृदंत आदि आकारांत होते हैं, वे इस भाषा में प्रायः ओकारांत हो जाते हैं; और कारक चिह्न भी प्रायः ओकारांत ही होते हैं। जैसे,—बोड़ो, चढ्यो, को, सों, मों आदि। इसके कारक चिह्न निज के हैं, जो न खड़ी बोली में मिलते हैं और न अवधी में। भाषा विज्ञानी की दृष्टि से यह भाषा अंतरंग समुदाय की सब भाषाओं में मुख्य मानी जाती है।

व्रजमंडल-संज्ञा पुं० [सं०] व्रज और उसके आस पास का प्रदेश।

व्रजमोहन-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण ।
 व्रजराज-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण ।
 व्रजलाल-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण ।
 व्रजवल्लभ-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण ।
 व्रजरूपति-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण ।
 व्रजेंद्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नंदराय । (२) श्रीकृष्ण ।
 व्रजेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण ।
 व्रज्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घूमना फिरना । पर्यटन । (२) गमन । जाना । (३) आक्रमण । चढ़ाई । (४) एक ही तरह की बहुत सी चीजें एक स्थान पर एकत्र करना । (५) दल । (६) रंगभूमि । नाट्यशाला ।
 व्रण-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर में होनेवाला फोड़ा ।
 व्रणकृत्-संज्ञा पुं० [सं०] भिलावाँ ।
 व्रणग्रन्थि-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह गाँठ जो फोड़े के ऊपर हो जाती है । वैद्यक में इसकी गणना रोगों में होती है ।
 व्रणजिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] गोरखमुंडी ।
 व्रणरोपण-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार फोड़े में से दूषित मांस आदि निकल जाने पर ऐसी क्रिया करना जिसमें वह भर जाय । फोड़े का घाव भरने की क्रिया ।
 व्रणशोधन-संज्ञा पुं० [सं०] कमीला ।
 व्रणशेष-संज्ञा पुं० [सं०] फोड़े या घाव आदि में होनेवाली वह सूजन जिसके साथ में पीड़ा भी हो ।
 व्रणह-संज्ञा पुं० [सं०] रेंद का वृक्ष ।
 व्रणहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गुडुच ।
 व्रणहृत्-संज्ञा पुं० [सं०] कलिहारी या कलियारी नामक पेड़ ।
 व्रणायाम-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का वात रोग जिसमें मर्मस्थान के फोड़े में सारे शरीर की वायु एकत्र होकर व्याप्त हो जाती है । यह रोग असाध्य माना जाता है ।
 व्रणारि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बोल नामक गंध द्रव्य । (२) अगस्त नामक वृक्ष ।
 व्रणी-संज्ञा पुं० [सं०] व्रणित्] वह जिसे व्रण हुआ हो । व्रण का रोगी ।
 व्रणीय-वि० [सं०] व्रण संबंधी । व्रण या फोड़े का ।
 व्रत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भोजन करना । भक्षण । खाना । (२) किसी पुण्यतिथि को अथवा पुण्य की प्राप्ति के विचार से नियमपूर्वक उपवास करना ।
 विशेष—प्रायः हिंदू लोग या तो व्रत के दिन कुछ नहीं खाते, या केवल फल खाते हैं और या केवल कोई एक विशिष्ट पदार्थ खाकर रहते हैं । साधारणतः प्रत्येक एकादशी को जो व्रत किया जाता है, उसमें लोग केवल फल ही खाते हैं; पर प्रदोष आदि के व्रत में अन्न भी खाया करते

हैं । कुछ विशिष्ट तिथियों के व्रत भी विशिष्ट प्रकार के हुआ करते हैं । जैसे,—निर्जला एकादशी के व्रत में जल तक ग्रहण न करने का विधान है । कुछ विशिष्ट वारों को उन के देवताओं के उद्देश्य से भी व्रत किया जाता है । कुछ व्रत ऐसे भी होते हैं जो कई कई दिनों बल्कि महीनों तक चलते हैं । जैसे,—चांद्रायण, चातुर्मास्य व्रत आदि । कुछ बड़े बड़े व्रत ऐसे भी होते हैं जिनके अंत में अथवा दूसरे दिन विशेष विधानपूर्वक पारण किया जाता है । कुछ व्रत ऐसे भी हैं जिनका विधान केवल स्त्रियों के लिये है । जैसे,—जीवपुत्रा या हरितालिका व्रत । व्रत से एक दिन पहले से ही लोग कुछ विशेष आचारपूर्वक रहते हैं ।

क्रि० प्र०—करना ।—रखना ।

(३) कोई काम करने अथवा न करने का नियमपूर्वक, दृढ़ निश्चय । किसी बात का पक्का संकल्प । जैसे,—ब्रह्मचर्य व्रत, पातिव्रत, पत्नीव्रत ।

व्रतचर्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी प्रकार का व्रत करने या रखने का काम ।

व्रतचारिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] व्रतचारी होने का भाव या धर्म ।
 व्रतचारी-संज्ञा पुं० [सं०] व्रतचरिन्] वह जो किसी प्रकार के व्रत का आचरण या अनुष्ठान करता हो । व्रत करनेवाला ।
 व्रतती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विस्तार । फैलाव । (२) लता ।
 व्रतधर-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसने किसी प्रकार का व्रत धारण किया हो । व्रत करनेवाला ।

व्रतपक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भाद्रपद मास का शुक्ल पक्ष । (२) एक प्रकार का साम ।

व्रतभिक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह भिक्षा जो बालक को यज्ञोपवीत के समय माँगनी पड़ती है ।

व्रतसंग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] वह दीक्षा जो यज्ञोपवीत के समय गुरु से ली जाती है ।

व्रतस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसने किसी प्रकार का व्रत धारण किया हो । (२) ब्रह्मचारी ।

व्रतस्नातक-संज्ञा पुं० [सं०] तीन प्रकार के ब्रह्मचारियों में से में से एक प्रकार का ब्रह्मचारी । वह ब्रह्मचारी जिसने गुरु के यहाँ रहकर व्रत तो समाप्त कर लिया हो, पर बिना वेद समाप्त किए ही घर लौट आया हो ।

व्रतादेश-संज्ञा पुं० [सं०] उपनयन नामक संस्कार । यज्ञोपवीत ।
 व्रतादेशन-संज्ञा पुं० [सं०] वेदों का वह उपदेश जो उपनयन संस्कार के बाद ब्रह्मचारी को दिया जाता है ।

व्रतिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसने किसी प्रकार का व्रत धारण किया हो । व्रत का आचरण करनेवाला ।

व्रती-संज्ञा पुं० [सं०] व्रतिन्] (१) वह जिसने किसी प्रकार का व्रत धारण किया हो । व्रत का आचरण करनेवाला । (२)

वह जो यज्ञ आदि करता हो। यजमान। (३) ब्रह्मचारी।

(४) एक प्राचीन ऋषि का नाम।

व्रतेयु-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार रौद्राक्ष के एक पुत्र का नाम।

व्रतेश-संज्ञा पुं० [सं०] शिव का एक नाम।

व्रतोपह-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम।

व्रत्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसने कोई व्रत धारण किया हो। (२) ब्रह्मचारी।

व्रश्चन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोना, चाँदी आदि काटने की छेनी। (२) वह दुरादा जो लकड़ी आदि चीरने पर गिरता है। (३) कुल्हाड़ी। (४) छेदने या काटने की क्रिया।

व्राचड़-संज्ञा स्त्री० [अप०] (१) अपभ्रंश भाषा का एक भेद जिसका व्यवहार आठवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक सिंध प्रांत में था। (२) पैशाचिका भाषा का एक भेद।

व्राज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुत्ता। (२) दल। समूह। (३) जाना। गमन।

व्राजपति-संज्ञा पुं० [सं०] दल या समूह का नायक।

व्रात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समूह। दल। (२) मनुष्य। आदमी। (३) वह परिश्रम जो जीविका के लिये किया जाय।

व्रातजीवन-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो शारीरिक परिश्रम करके अपना निर्वाह करता हो।

व्रात्य-वि० [सं०] व्रत संबंधी। व्रत का।

संज्ञा पुं० (१) वह जिनके दस संस्कार न हुए हों। (२)

वह जिसका उपनयन या यज्ञोपवीत संस्कार न हुआ हो।

ऐसा मनुष्य पतित और अनार्य्य समझा जाता है और उसे वैदिक कृत्य आदि करने का अधिकार नहीं होता। शास्त्रों में ऐसे व्यक्ति के लिये प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

विशेष—प्राचीन वैदिक काल में “व्रात्य” शब्द प्रायः परब्रह्म का वाचक माना जाता था; और अथर्ववेद में “व्रात्य” की बहुत अधिक महिमा कही गई है। उसमें वह वैदिक

कार्यों का अधिकारी, देवप्रिय, ब्राह्मणों और क्षत्रियों का पूज्य, यहाँ तक कि स्वयं देवाधिदेव कहा गया है। परंतु परवर्ती काल में यह शब्द पतित और निकृष्ट का वाचक हो गया।

(३) वह पुरुष जो असवर्ण माता-पिता से उत्पन्न हो। दोगला। वर्ण-संकर।

व्रात्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] व्रात्य का भाव या धर्म। व्रात्यत्व।

व्रात्यत्व-संज्ञा पुं० [सं०] व्रात्य का भाव या धर्म। व्रात्यता।

व्रात्ययाजक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो व्रात्यों को यज्ञ कराता हो।

व्रात्यस्तोम-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का यज्ञ जो व्रात्य या संस्कार-हीन लोग किया करते थे।

व्रीड-संज्ञा पुं० [सं०] लज्जा। शरम।

व्रीडा-संज्ञा स्त्री० [सं०] लज्जा। शरम।

व्रीहि-संज्ञा पुं० [सं०] धान। चावल।

व्रीहिकांचन-संज्ञा पुं० [सं०] मसूर।

व्रीहितुंदिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] देवधान्य।

व्रीहिद्रोण-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का गुल्म।

व्रीहिपर्णिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] शालिपर्णी।

व्रीहिभेद-संज्ञा पुं० [सं०] चेना धान।

व्रीहिमुख-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार प्राचीन काल का एक प्रकार का शस्त्र जिसका व्यवहार शस्त्र चिकित्सा में होता था।

व्रीहिराजक-संज्ञा पुं० [सं०] चेना धान।

व्रीहिश्रेष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] शालि धान्य।

व्रीही-संज्ञा पुं० [सं०] व्रीहिवत् वह खेत जिसमें धान बोया हो। संज्ञा पुं० दे० “व्रीहि”।

व्रीह्यगार-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ पर बहुत सा धान रखा जाता हो। धान का गोदाम।

व्रीह्यपूप-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का पृश्ना जो चावल को पीसकर बनाया जाता था।